Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलाई, 2009 ■ बीस रुपये

र्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

JUL-DEC-

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

131843

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE FIRST PRIVATE UNIVERSITY OF CENTRAL INDIA

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

(A statutory University under section 2(f) of the UGC ACT)

www.cvru.ac.in

ADMISSION ANNOUNCEMENT 2009-10

B.E.

INFORMATION TECHNOLOGY
ELECTRONICS AND COMMUNICATIONS
COMPUTER SCIENCE AND ENGINEERING
ELECTRONICS & ELECTRICAL ENGINEERING

Courses Approved by AICTE & NCTE

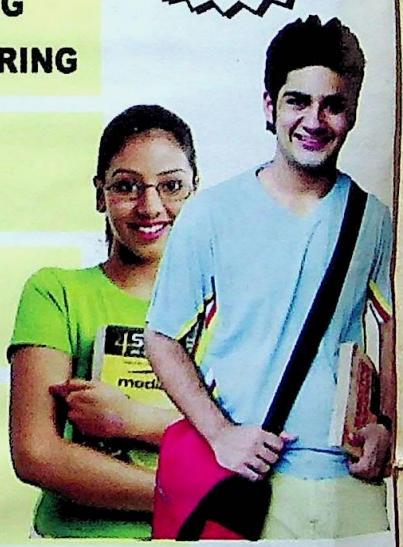

DIPLOMA PROGRAMMES
DCA, PGDCA, PGDBM

DEGREE PROGRAMMES
B. Ed., B. P. Ed, BCA, BBA, B. Com

POST GRADUATE PROGRAMMES
MBA, M. Ed., M. P. Ed., M. Sc. I.T., M.Com.,
M. Phil. in various Departments

(B.E & B. Ed. Admission as per counseling rules)

FACILITIES WITH A DIFFERENCE

- Come to Learn - go to serve - CVRU Campus.
- The Real Strength - our Faculty..
- IT Enabled Services-For Admissions and Administration.
- Vibrant Societies and Forums
- Rare and Rich Collection-Our Gigantic Library.
- Total Learning Concept - Our Labs and Workshops.
- Bus and Hostel facility.

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Kargi Road (Kota), Bilaspur (Chhattisgarh), Pin-495113, Ph.: 07753-253737, 253728, 202582
e-mail : cvruraipur@yahoo.co.in Website : www.cvru.ac.in

Join CVRU Courese for A Bright Future

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

संस्थापक सम्पादक

विभूति नारायण राय

सम्पादक

कुंवर पाल सिंह ◻ नमिता सिंह

सह-सम्पादक

◻ अजय बिसारिया ◻ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

प्रबन्ध सम्पादक : **राजीव श्रीवास्तव**

सलाहकार : **वेद शर्मा, बीकानेर**

विशेष सहयोग : **परवेज़ फ़ातिमा**

शब्दांकन : **बिसारत अली**

रेखांकन : **डॉ. राजेन्द्र परदेसी, लखनऊ**

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ◻ जुलाई, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय

28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001

टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114

Web. : www.khabarexpress.com

Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; ◻ वार्षिक : 200/-; ◻ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ◻ आजीवन : 2000/- ◻ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँ। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796250) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

Gurukul Library Kangri Uni. Haridwar-249404 (U.K.)

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से **वर्तमान साहित्य**, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में

131843

पाठक मंच/2

अपनी बात/8

पुण्य स्मरण : गीतकार नईम

मोहब्बत नींद में चलने की बीमारी नहीं होती/वशिष्ठ अनूप/11

प्रेमचंद जयंती के अवसर पर

प्रेमचंद की परंपरा/जबरीमल्ल पारख/13

कहानी

वीरांवाली/कमल कुमार/18

धर्म के लिए ही तो जा रही हूँ/चंद्ररेखा ढडवाल/22

मुआवज़ा/राजनारायण/38

आकाश पर मत थूको/संजय कुमार/43

संस्मरण

जल जमुनाजी का पानी रे/शिवरतन थानवी/25

कविताएँ/ग़ज़लें/गीत/दोहे

अपना भरोसा/देवेन्द्र कुमार मिश्रा/2

पुष्पिता अवस्थी की कविताएँ/28

राकेश भारतीय की कविताएँ/36

ग़ज़लें/रामबहादुर चौधरी 'चंदन'/46

राजीव जैन की कविताएँ/52

पद्मा मिश्रा की कविताएँ/57

लेख

समकालीनता की सीमाएँ/विजय बहादुर सिंह/30

मूल्य और साहित्य/मृदुला गर्ग/32

सांस्कृतिक क्षितिज पर एक शहर

रतलाम इतिहास की परछाईयों के बीच..../अनिल धीमान/47

उपन्यास अंश

चंदा की सराय/तारिक़ छतारी/49

पास पड़ोस : तेलुगु कहानी

शो केस/अनिशेट्टि श्रीधर/53

आज की बात

कवि सम्मेलन : इतिहास और दशा/वीरेन्द्र जैन/59

दलाल संस्कृति/सुंदर लोहिया/61

लघुकथा

मज़दूरी/गजेन्द्र नामदेव/62

दलित-पिछड़ा संदर्भ

अब सांस्कृतिक संघर्ष की बारी है/धर्मचंद्र विद्यालंकार/63

पुस्तक समीक्षा

परवाज़ घायल पंखों की ऊँची उड़ान/नवीन जोशी/66

'बनास के बहाने स्वयं प्रकाश की पड़ताल'/रमेश खत्री/68

विलुप्त होती लोक संस्कृति..../मूलचंद गौतम/70

जीवन के स्वीकार की कविताएँ/विजय शर्मा/71

स्त्री पुरुष कामनाओं का अद्यतन..../प्रेम शशांक/72

पाल कालीन संस्कृति : एक धरोहर/डा0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता/74

पत्तियों ने खोल दिये अपने हरे दिल/डा0 रमाकांत शर्मा/75

पतन का राजनीतिकरण व समाजीकरण/स्वामी नित्यानंद/76

सांस्कृतिक समाचार/78

समय संवाद

जनतंत्र के रखवाले साधारण-जन को सलाम/कुंवरपाल सिंह/79

131843

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□

'वर्तमान साहित्य' की पाँच वर्षों की यात्रा अनेक उपलब्धियों और संभावनाओं से भरपूर है। अनेक नयी प्रतिभाओं को मंच मिला। स्थापित रचनाओं की प्रौढ़ रचनाएँ छपीं। सबसे बड़ी बात यह रही कि नारी मुक्ति के नाम पर सिर्फ़ देहमुक्ति की रचनाएँ नहीं छपीं और धर्मनिरपेक्षता पर भी बहस एक आयामी या एकांकी नहीं रही। इसके पीछे निश्चय ही आप लोगों का एक सुनिश्चित विजन विद्यमान रहा है।

वेदप्रकाश अमिताभ, अलीगढ़

□

जून अंक में प्रकाशित नमिता जी का लेख 'अपनी बात' अच्छा लगा जिसमें महिला और बाल कल्याण मंत्रालय की समीक्षा करते हुए उन्होंने महिला और बाल कल्याण मंत्रालय की पीड़ित महिलाओं और बच्चों को लाभ पहुँचाने वाली सरकारी योजनाओं की जानकारी दी है तथा प्रताड़ित और पीड़ित महिलाओं को अपना हक़ प्राप्त करने का रास्ता बताया है और हौसला भी दिया है। उन्होंने मंत्रालय कार्यों की समीक्षा भी की है। इस विषय में मैं एक सुझाव भी देना चाहता हूँ ऐसे लेखों की (समीक्षात्मक) रिपोर्ट संबंधित मंत्रालयों को भी भेजी जानी चाहिए जिससे कि मंत्रालयों में अपने कार्यों के प्रति जागरुकता बनी रहे उन्हें महसूस कराया जाते रहना ज़रूरी है कि मंत्रालयों के कार्यों की समीक्षा जनता वर्तमान साहित्य संस्था कर रही है।

''कविता और पाठकों में सीधे संबंध की ज़रूरत'' शीर्षक से लिखे गये लेख में श्री वीरेन्द्र जैन ने अच्छी टिप्पणी की है कि प्रिंट मीडिया टी0वी0 मीडिया में माइकल जैक्सन जैसे कलाकारों को प्रोत्साहित किया जा रहा है, उन्हें विभिन्न संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किया जा रहा है या यूँ कहें कि उन्हें कृत्रिम पैर लगाकर साहित्य के उच्च शिखर पर महिमामंडित किया जा रहा है। ऐसे कलाकारों, कवियों और लेखकों का आम जनता के सुख-दुख, आवश्यकताओं या भावनाओं से कोई सरोकार नहीं होता। इससे जेनुइन कलाकार और साहित्यकार भी कुंठित होता है।

जनवादी कहानी 'अवधारणा का सवाल' शीर्षक से डा0 अमरनाथ का लेख पाठकों पर अपना विशेष प्रभाव छोड़ता है।

'हिना चली गयी' एकांकी घटना पर आधारित 'पहला क़दम' शीर्षक से रेशमा ख़ान ने बहुत कम शब्दों में बहुत मारक क्षमता वाला प्रभावशाली लेख लिखा है। यह लेख प्रेरणा दायक है।

समय संवाद में 'कबिरा ई घर प्रेम का' शीर्षक से प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह ने बहुत प्रभावशाली ढंग से याद किया है। साथ ही साथ संदेश भी दिया है कि घृणा की राजनीति का वातावरण अधिक दिनों तक ज़िंदा नहीं रह सकता। प्रेम सामाजिक संबंधों को दृढ़ बनाता है। सद्भाव पैदा करता है। घृणा व्यक्ति समाज और देश को कमज़ोर करके दुर्भाव और अविश्वास पैदा करती है और अव्यवस्थित बना देती है।

ओंकार सिंह, मुरादाबाद

□

'वर्तमान साहित्य' का मई अंक। कई रचनाओं के कारण पठनीय ही नहीं, विचारणीय और संग्रहणीय भी लगा। 'अंधेरे में सुगंध' कहानी, 'नवजागरण ठहरा हुआ, स्त्रियों का अस्मितावाद' लेख अच्छे लगे। सबसे अधिक और विचारोत्तेजक 'ब्रह्मचर्य व्रत और उसके प्रयोग' लगा। गांधी को लेकर इतनी छवियां हैं जनमानस में, शायद ही किसी विश्वपुरूष की हों। उनके व्यक्तित्व के विवादग्रस्त प्रसंगों को लेकर भी काफी कुछ भिन्न-भिन्न मतों से लिखा जाता रहा है। नईम को श्रद्धांजलि पर स्मरण तथा उनकी उद्धृत रचना बहुत अच्छी लगीं। सर्वाधिक पठनीय है डा0 वशिष्ठ अनूप का मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' विषयक लेख। बड़ी गंभीरता तथा सूक्ष्मता से उस कविता के रेशे-रेशे को उद्घाटित करते हुए उसकी अर्थवत्ता और तत्कालीन संदर्भ में प्रासंगिकता को रेखांकित किया है।

डा0 कृष्णचन्द्र गुप्त, मुजफ़्फ़रनगर

□

'वर्तमान साहित्य' का मई 2009 अंक। 'वर्तमान साहित्य-कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कृत कैलाश चन्द्र जी की कहानी 'अंधेरे में सुगंध' वाकई में एक लाजवाब कहानी है। इस कहानी को तो प्रथम पुरस्कृत होना ही चाहिये था। कहानी में कथाकार ने नक्सली बनने की जो गहराई में जाकर एक गहन विवेचनात्मक कथ्य बुना है वह पठनीय भाषा शैली में कहानी लंबी होने के बावजूद एक ही सीटिंग में पढ़ने को पाठक को मजबूर कर देता है। कहानीकार को बधाई दें।

शशिभूषण बड़ोनी, मसूरी (उत्तराखंड)

□

मई 2009 अंक। सावली की कहानी फर्जी मुठभेड़ की असली दास्तान है। आदिवासियों में शिक्षा की ललक है। प्रश्न किया जा सकता है-सफेदपोश अफसर कब सुधरे हैं? अनेकानेक नेताओं पर भ्रष्टाचार का मामला लंबित क्यों हैं? जल-जंगल- ज़ोरू-ज़मीन का संघर्ष पिछले चार सौ सालों से आंध्र-उड़ीसा-कालाहांडी में चल रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? मूल समस्या को राजस्व अमला नहीं समझता ? पारख जी कहते हैं कहानी में ''कुछ हद तक यथार्थवाद कमजोर हुआ है''। बिल्कुल नहीं। कहानी गढ़ने-पढ़ने के लिए जिस कला कौशल की ज़रूरत होती है, वह 'अंधेरे में सुगंध' में सुगंधित है। आदिवासियों ने पिछले 15 वर्षों से एक बात दोहराई है कि–''पुलिस हमारी सुरक्षा के लिए है या हम पर अत्याचार करने के लिए?'' इसका उत्तर तंत्राचार के पास आज तक हासिल क्यों नहीं हो पाया? सूरज पालीवाल का पहला वाक्य ही सहमति प्रगट नहीं करता। 'अंधेरे में सुगंध' नक्सलवाद का समर्थन नहीं करती ? यह कहानी कहाँ कमजोर है? जैसे कफ़न की कमज़ोरी है-अच्छा ख़ासा कुनबा था और कुनबे में बुधिया के कफ़न के लिए घीसू को महाजन के पास जाना पड़ा। कुनबा कई पीढ़ियों का होता है और अनेकानेक परिवार साथ रहते हैं-क्या कफ़न की व्यवस्था नहीं कर सकते थे? वैसे ही इस कहानी में बंदूक से बंदूक की समस्या हटने वाली नहीं। हाथ मिलाकर कुनबा बनाने से सफलता मिलेगी, न कि आदिवासियों के रीतिरिवाज़ और संस्कृति पर हमला करके। बंदूक आख़िर आदिवासियों के पास पहुँची तो पहुँची कैसे ? पुलिस विभाग चोरी से गोला बारूद बंदूक बेचता है। मान लो थानों में हमलाकर हथियार लूटा पर आखिर यह कब तक चलेगा। कहीं न कहीं पानी में छेद है। कहानीकार ने मीडिया को इसलिए दूर कर दिया कि चैनलवालों की वसूली बढ़ जाती है। कमाने के चक्कर में वास्तविकता के अलावा काल्पनिक कथा में चैनल अपने अनुसार घसीट ले जाता है। जिन स्थलों को पालीवाल जी कहानी का कमजोर पक्ष मान रहे हैं उन तथ्यों के बिना कहानी का कथानक कैसे मजबूत होता? और रोचकता पाठक की कैसे बढ़ती।

भारतीय नारियों व पोलैंड की स्त्रियों में शोषण लगभग समान है। पोलैंड में सुधारात्मक व्यवस्था सख़्त कायदों से संभव हुई है। राजेश कुमार ने रंगमंच को रंगीन किया। गांधी जी का कस्तूरबा से झगड़ा होना, प्रयोगधर्मी होना, एक प्रकार से महिला शोषण और तिरस्कार ही साबित होता है। अच्छे अंक के लिए बहुत बधाई।

यशवंत मेश्राम, राजनांदगांव (छ0ग0)

□

आपकी पत्रिका दिलचस्प है। एक अंक नारी-विमर्श पर केंद्रित था तो दूसरा दलित चिंतन पर और तीसरे में कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत कहानी पढ़ने को मिली। मैं तो कहूँगा कि तीनों में ही दलित समस्या उठायी गयी है। 'दलित' शब्द का उपयोग आमतौर पर सीमित अर्थ में किया जाता है। वह पहले के शूद्र अथवा अछूत का पर्यायवाची बन गया है। विशिष्ट नेता या नेत्री अपना निजी अजेंडा आगे बढ़ाने के लिए उससे फ़ायदा उठाते हैं। (मैं काशीराम और मायावती के योगदान से इंकार नहीं कर रहा जिनकी बदौलत आज दलित अपना सिर ऊँचा उठाकर चलने में समर्थ हो गये हैं) मेरी समझ में भेद चाहे वर्ण का हो चाहे वर्ग का या लिंग का और चाहे ऐतिहासिक विकास के क्रम में पिछड़ जाने का। जो लोग शोषण के शिकार बनते हैं, वे सभी दलित हैं। जहाँ तक सोशल इंजीनियरिंग की बात है तो चाहे लोहिया का 'अजगर' रहा हो, चाहे सोलंकी का 'खाम', चाहे गोविन्दाचार्य की जोड़-तोड़ रही हो, चाहे मायावती (मिश्रा) की सूझ-बूझ, वे राजनीतिक शतरंज की चालें भर रही हैं। नोट करने की बात यह भी है कि 'द्विजों' की तुलना में आज यादवों, जाटों जैसी दरम्यानी जातियाँ ही दलितों पर कहीं अधिक अत्याचार करती है। नारियों के लिए रिज़र्वेशन के मामले में भी ये ही तबके सबसे बड़ी बाधा बने हुए हैं। बहरहाल एक बात तय है कि अगर किसी एक का समर्थन किया जायेगा तो दूसरे से लड़ना ज़रूर होगा। इससे बचा नहीं जा सकता।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका साहित्य की भाषा में उग्र सामाजिक समस्याओं को उठा रही है।

राधेश्याम दुबे, नई दिल्ली

□

वर्तमान साहित्य का मई, 09 अंक पढ़ा। कहानियाँ और कविताएँ भी अच्छी लगीं। देवी प्रसाद मौर्य का आलेख अच्छा लगा। आलेख विद्वतापूर्ण है। साथ ही आजकी शून्य होती स्थिति पर काफी गंभीर रूप से फोकस भी किया गया है।

सच्चिदानंद विशाख, पटना

□

अप्रैल अंक के आपके संपादकीय को पढ़कर में विचलित थी। जातिगत दबावों को किस तरह झेलना होता है। आपने एक संवेदनशील अध्यापिका की तरह उस लड़की का मार्गदर्शन किया। लेखक सिर्फ़ लेखनी से उपदेश देता फिरे नाकाफी है। आज में फिर विचलित हूँ। गुजरात के एक छात्रावास में महिला वार्डन ने उस दलित लड़की को इतना सताया कि उसने आत्महत्या कर ली। उधर पाटन के ही आदिवासी लड़कियों के छात्रावास में एक छात्रा का छह अध्यापक शोषण कर रहे थे। उस लड़की ने एफ0आई0आर0 करा दी। सामाजिक दवाब व पिता के दवाब में उस लड़की ने भी आत्महत्या की बात सोची लेकिन एक समाज सेविका व महिला पुलिस अधिकारी की हिम्मत ने उसे बचा लिया। यहाँ तक कि उन छह अध्यापकों को सजा भी हो गई। आपके प्रयास से पत्रिका लोगों को जीवन जीने की प्रेरणा देती चले, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ,

नीलम कुलश्रेष्ठ, वड़ोदरा

□

वैसे तो 'वर्तमान साहित्य' का हर अंक विशेषता लिये होता है किन्तु अंबेडकर जयंती के अवसर पर दलित चिंतन-केंद्रित अंक कुछ अधिक ही गुणवत्ता एवं विशेषता लेकर आया। संपादकीय में सटीक दृष्टांत के माध्यम से आपने दलितों की वर्तमान स्थिति को तो उद्घाटित किया ही है, उनको मुख्य धारा में लाने के लिए किस तरह के प्रयास होने चाहिए ? यह भी संकेतित किया है। यह आपके चिंतन का ही परिणाम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संबोधन' के अंतर्गत ग0बा0 सरदार के 'दलित साहित्यकारों को विद्रोह का झंडा फहराना चाहिए' में दलित साहित्य के वैशिष्ट्य-उद्घाटन के साथ ही विद्रोही तेवर वाले दलित साहित्य को रेखांकित किया गया है तो सुभाष गाताड़े के 'नये प्यादे, पुरानी गुलामी' में दलित एवं हिन्दुत्व के अंतर्संबंधों की बिन्दुवार पड़ताल की गयी है। इनके अलावा डा0 शिवकुमार मिश्र के 'वर्ग और वर्ण : संदर्भ दलित-विमर्श', सोनवणे राजेंद्र 'अक्षत' के 'आदिवासी विमर्श', रामगोपाल भावुक के 'शंबूकवध और भवभूति' शीर्षक लेख नयी व उपयोगी जानकारी देते हैं। संजयकुमार द्वारा 400 वर्ष पूर्व हीरा डोम रचित 'अछूत की शिकायत' शीर्षक कविता की समीक्षा एवं उसकी प्रासंगिकता की चर्चा को पुनर्मूल्यांकन की कहा जायेगा। शकील सिद्दीकी के 'प्रतिरोध के नये क्षेत्र : साहित्य, दलित और मुस्लिम दलित लेख में व्यक्त पेशकश कि हिन्दू दलितों की तरह मुस्लिम दलितों की भी व्यथा-कथा कही-सुनी जाये, विचारणीय है।

कमल चोपड़ा की कहानी 'दुर्गंध' एक नितांत कड़वे सच को प्रत्यक्ष करती है। विशेषतः उसकी अंतिम पंक्तियाँ कि 'प्राब्लम आपकी नाक में नहीं है, दिमाग में है। इन्सानियत के कुछ सेल्स डेड हैं, जो बदबू दे रहे हैं। किसी साइक्रिटिस्ट को दिखायें।' पंजाबी कहानी 'सूली पर सत्य' मार्मिक तो है ही, प्रासंगिक भी है। सूरजपाल चौहान रचित आत्मकथा 'मैंने ऐसा जीवन नहीं जिया' के अंश में दृष्टांतों द्वारा आभिजात्य वर्गीय दलितों की सोच को एक विद्रूप के रूप में यथावत अभिव्यक्त किया गया है।

कुँवरपाल सिंह जी के 'दलित विमर्श की सीमाएँ' लेख में संयोजित विचार निसंदेह समग्र दलित चिंतन को एक पूर्णता देते हैं। इतने ज्ञानपरक एवं सार्थक अंक के लिए आपको और आपके सहयोगियों को बहुत-बहुत बधाई।

डा0 मृदुला शुक्ल, खैरागढ़

□

वर्तमान साहित्य का अप्रैल 2009 अंक मिला। संपूर्ण अंक सभी दृष्टि से पठनीय, संग्रहणीय और उत्कृष्ट बन पड़ा है। दलित साहित्य की दृष्टि से यह अंक चिंतन के नये आयाम खोल देता है।

प्रा0 सोनवणे राजेंद्र 'अक्षत', बीड़-431122-04 (महाराष्ट)

□

'वर्तमान साहित्य' का अप्रैल अंक। दलित साहित्य 'लेखन' और 'विमर्श' वस्तुतः मराठी के दलित-साहित्य की देन है जिसका मूल रूप से श्रेय कमलेश्वर और उनके द्वारा संपादित 'सारिका' पत्रिका को है। कमलेश्वर जी ने सन् 1972 के दौर में 'सारिका' के दलित साहित्य विशेषांक प्रकाशित किये थे। परंतु हिन्दी में दलित साहित्य के अभियान के इस बिल्कुल शुरूआती पक्ष को प्रायः परिदृश्य से बाहर ही रखा जाता है। 'दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच' (वर्तमान साहित्य' मई, 2009) में राजेश कुमार ने भी यह उपेक्षा बरती है जबकि 2 मार्च, 1958 को बंगाली हाई स्कूल, दादर के सभागार में हुए दलित साहित्य लेखकों के पहले सम्मेलन का उल्लेख उन्होंने अपने लेख में किया है। इसके बावजूद यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह मराठी दलित लेखकों का पहला सम्मेलन था।

राजेश कुमार का लेख दलित साहित्य में रंगमंच की अवधारणा से संबंधित है। इस नाते हिन्दी में लिखे दलित साहित्य में नाटक और रंगमंच विषयक सामग्री की भी पड़ताल करनी चाहिये थी। सच तो यह है कि जिस मनोभूमि के साथ हिन्दी में दलित साहित्य का लेखन हो रहा है उसकी खुद की एक तो ज़मीन नहीं है, दूसरी वह मराठी जितनी पुख्ता भी नहीं है। भक्तिकालीन संतों-कवियों के लेखन को परवर्ती तथा प्रेमचंद, निराला, उग्र आदि के माध्यम से लिखे गए साहित्य में दलितों के पक्ष और अरवाज को सीधे-सीधे अस्पृश्य-समाज से न जुड़े होने की दृष्टि से देखा जाता है। परिणाम यह हुआ है कि इस सबको 'कथाक्रम' के एक आयोजन में श्रीलाल शुक्ल जी द्वारा सबसे पहले रखे गए दो शब्दों-'स्वानुभूत' एवं 'सहानुभूत' में से 'सहानुभूत' के दायरे में बेल दिया जाता है अब।

दलित को अस्पृश्य के घेरे में लेकर फतवे की तरह कहा जाता है कि भोगने वाला ही दलित जो लिखेगा, वही वस्तुतः दलित साहित्य माना जायेगा। परंतु लेखन जिस गहरी संवेदना और आवेग का समुच्चय होने के साथ-साथ समर्थ, सक्षम और सटीक अभिव्यक्ति का विषय है, वह यदि भोक्ता में नहीं है तो 'सहानुभूत' की कोटि का ही सही, हिन्दी का वंचितों, पीड़ितों, उत्पीड़ितों की अभिव्यक्तियों को मुखरित कर देने वाला लोकसाहित्य से लेकर भक्तिकाल व आधुनिक से लेकर समकालीन समय में भी किया जा रहा है सशक्त लेखन। दलित लेखकों की नयी जमात या उनके पैरोकारों के ख़ारिज कर देने मात्र से निरर्थक तो नहीं हो जाएगा।

'दलित साहित्य की अवधारणा' में 'रंगमंच' की मौजूदगी भी ठोस और व्यावहारिक हुनर बिना नहीं होगा। राजेश कुमार ने 'सखाराम बाइण्डर, महाब्राह्मण, सूर्यस्त पुरुष, एक और द्रोणाचार्य, कोर्ट मार्शल' आदि का उल्लेख करते हुए इन्हें 'दलित मुद्दों को मुनाफे की होड़ तथा वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने वाले यथास्थितिवादी नाटकों की श्रेणी में रखा है। दलित 'रंगमंच' है नहीं, उसकी बात कर रहे हैं वह और फिर स्वर वही कि 'यह तो मनुवादी है।' आखिर दलित नाटक-रंगमंच और दलित रंगमंच के सन्धि- सक्रिय रंगकर्मी हैं कहाँ, सैद्धांतिक और जबानी-जमा खर्च वाली बातों से तो दलित रंगमंच न तो खड़ा होगा नहीं उभरेगा या पुख्ता होगा। विचार के स्तर पर राजेश कुमार का सोचना ठीक है पर सक्रिय रंगकर्म और वह भी सार्थक दलित नाटकों के बग़ैर दलित 'रंगमंच' को क्या अवधारणा की है। विषय वस्तु बने रहना है।

बंधु कुशावर्ती, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□

'वर्तमान साहित्य' का मार्च अंक। नारी विमर्श पर केंद्रित अंक में बहुत कुछ अच्छा और नया पढ़ने को मिला। मानव-संसाधन की जननी नारी पर अनवरत चर्चा के साथ यह भी ज़रूरी है कि इस साझा तरफदारी को उस वर्ग तक पहुँचाया जाए जो इनके हकों पर कुंडली मारे बैठा है। सुधा अरोड़ा, मैथिलीप्रसाद भारद्वाज अलका पाण्डेय तथा अन्य रचनाकारों का आभार। साक्षरता, संगठन और संघर्ष नारी-नियति निर्धारण में महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। नमिता जी के शब्दों में 'स्त्री अधिकारों की लड़ाई अभी लंबी है'। 'नैल्लोर' जैसे उदाहरण प्रेरक हैं।

'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' की रचनाकार सुमन राजे जी का 'स्मरण' अवसर के अनुकूल है। 'विरासत' (प्रेम शशांक) में 'अंगारे वाली' रशीद जहाँ की चर्चा ने 'काग़जी है पैरहन' (इस्मत) के शाहिद अहरारवी प्रसंग को ताजा कर दिया। नसीमा द्वारा बेटे असलम के सामने दोज़ख और जन्नत की प्रस्तुत की गई पहचान प्रगतिशीलता में मील की पत्थर बनी रशीद जहाँ जैसी शख़्सीयत से ही संभव है। 'समय संवाद' में राष्ट्रीय विकास के अंतविर्रोधों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सिंह साहब ने भगतसिंह के फाँसी प्रसंग में गांधी जी को क्लीन चिट दिलवा दी है। 'हंस' के मार्च अंक में सुरेन्द्र प्रसाद तो गांधी जी को फांसी दिलवाने' तक लिख गए हैं। एक और अच्छे अंक हेतु बधाई।

डा0 मधुसूदन शर्मा, अरुणाचल

□

'वर्तमान साहित्य' का मार्च अंक नारी विमर्श पर केंद्रित है। हमेशा की तरह ही नमिता जी के संपादकीय ने बहुत ज्वलंत ओर जीवंत मुद्दों से जूझते हुए वैचारिक संघर्ष पैदा किया है। 'अपनी बात' शीर्षक में वह वस्तुतः सबकी बात करते हुए 'समय-सापेक्ष' सवाल उठाते हुए दायित्व-बोध की बात करती हैं। एक ओर भारत हर स्तर पर वैश्विक होने की दमतोड़ होड़ में लगा हुआ है जबकि वह भूल गया है शायद कि भ्रष्टाचार का मधुमेह और बेईमानी का रक्तचाप उसे अस्वस्थ होने के कारण कभी वैश्विक नहीं बनने देगा। नारी अस्तित्व को पछियाकर कभी कोई पुरुष, परिवार और समाज आगे नहीं निकल सका है। तीसरी दुनिया और दक्षिण एशियाई देशों की बहुत सी अपनी कठिनाईयाँ हैं लेकिन भारत की बेईमानी भ्रष्टाचार, स्त्री और बाल-शोषण घटनाओं ने जो बुरकाति अर्जित की है कि हम लोग आपस में तो एक दूसरे को मुंह दिखाने लायक ही नहीं हैं और विदेशों में भी किसी से आँख मिलाने के काबिल नहीं बचे हैं। भारतीय संस्कृति सदा से अर्धनारीश्वर की संस्कृति रही है। उसे कभी स्त्री और पुरुष की आँखों से विच्छेद करके नहीं देखा गया। फिर आज क्यों? जबकि हम सब अपने को आधुनिक कहते नहीं अघाते हैं।

सभी कहानियाँ और कविताएँ प्रभावशाली और अपने समय को अभिव्यक्त करती है। सचेत संपादन और प्रहारक संपादकीय के लिए मैं संपादक के साथ-साथ इसके पाठकों को भी बधाई देती हूँ। भाई कुंवर पाल जी अपने लेख को पत्रिका के अंतिम लेख के रूप में परोसते हुए प्रायः अपने आसपास को देखने की दृष्टि पैदा करते हैं। अपने बहाने से उन्होंने हम सबकी भी भगत सिंह से मुलाकात करवायी।

सुधा अरोड़ा जी का आलेख अपने समय में आज को उजागर करते हुए वैचारिक प्रश्न खड़ा करता है। पिछड़े देशों के समाज में आज भी स्त्रियों की यही स्थिति है। उनके 'विरोध' और 'विद्रोह' को पागलपन के खाते में डालकर उन्हें पागलखाने में ठूँस दिया जाता है। विश्व की वौद्धिक स्त्रियाँ भी अनेक तरह के दमन-चक्र के भीतर अपने अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई लड़ रही है। उनका संघर्ष भी बहुत कठोर और पेचीदा है। फिर भी वे एकाकी युद्धरत हैं।

पुष्पिता अवस्थी, द निदरलैंड

□

'वर्तमान साहित्य' पढ़ना एक वैचारिक उष्णता के भीतर से होकर गुज़रना है। जब अधिकांश हिन्दी पत्रिकाएँ अभी भी साहित्यिक कलावाद से बाहर नहीं देख पा रहीं, ऐसे में 'वर्तमान साहित्य' का अपने समय की बर्बरता से रु-ब-रु होना और उसकी घातक सूक्ष्मता का उद्घाटन करना आश्वस्त करता है।

मदन केशरी, नई दिल्ली

□

दलित अंक पर

'वर्तमान साहित्य' का अप्रैल अंक दलित-चिंतन पर केंद्रित है। इसमें समय के कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं। सब मिलाकर इसमें दलित-चिंतन का व्यापक परिदृश्य नज़र आता है, लेकिन इस साहित्यिक पत्रिका में इस विषय पर इतनी ज़्यादा विचार-सामग्री हो गयी है कि सृजनात्मक विधाएँ दब-सी गयी हैं।

दलित-साहित्य और दलित-राजनीति को हम देखते हैं, तो उनमें एक बड़ा अंतर नज़र आता है। इस वक़्त दलित राजनीति जहाँ सभी जातियों की अगुवाई कर रही है और सभी जातियों के साथ न्याय करने का दावा, वहीं दलित-साहित्य जातिगत आधार पर दलितों के अन्याय, शोषण का हल्ला। यह विकट विरोधाभास है। सुभाष गाताड़े अपने लेख में दो बार कहते हैं कि तब से अब तक गंगा-जमुना में बहुत पानी बह चुका है। अंबेड़कर का संपना था कि जाति-प्रथा समाप्त हो। दलित-राजनीति यह नहीं कर रही है और दलित-साहित्य कर नहीं पा रहा है। जाति नहीं समाप्त होने वाली, तो जातियों में समरसता ही स्थापित हो, यह भी ग़नीमत होगी।

दलित साहित्यकारों का कहना है कि दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अलग है और उसको परखने के लिए आलोचना की अलग कसौटी होनी चाहिए। यह एक विशेषाधिकारवादी माँग है। साहित्य में विशेषाधिकार नहीं चलता और न इसकी माँग करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। सवर्ण और दलित-साहित्य का भेदभावी स्वरूप कृत्रिम और निहितार्थात्मक है। इसके पीछे अलगाववादी साहित्यिक राजनीति है। नहीं तो क्या तथाकथित सवर्ण साहित्य जातिप्रथा की महानता बखानता है? क्या वह छुआछूत को मान्यता देता है ? क्या वह अन्याय, शोषण का समर्थन करता है? वह भी मानवीय और लोकतांत्रिक मूल्यों की ही बात करता है। इसलिए, जो उसकी कसौटी है, वही दलित-साहित्य की भी कसौटी होगी। आख़िर दलित-लेखक या कवि क्या प्रकृति, प्रेम और संस्कृति से परहेज़ करता है? मेरी समझ से तो नहीं। हाँ, यह है कि संपादक-आलोचक दलित लेखकों की उपेक्षा करते हैं।

केशव शरण

एस 2/564, सिकरौल, वाराणसी-221002

□

'अँधेरे में सुगंध' के बहाने

कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत एवं चयनित कहानियों पर चर्चा करने के पूर्व मैं कमलेश्वर जी के परिवार वालों को शत-शत नमन करना चाहता हूँ, जिन्होंने प्रतिवर्ष इस कहानी प्रतियोगिता का आयोजन करवाने का निर्णय करके कमलेश्वर जी की स्मृति को ताज़ा रखने का उचित फ़ैसला किया। साथ ही, संयोजक की भूमिका निभाने के लिए 'वर्तमान साहित्य' परिवार भी धन्यवाद का पात्र है।

संदर्भित अंक में पुरस्कृत कहानी 'अँधेरे में सुगंध' एक बेहतर कहानी है। कहानीकार कैलास चन्द्र ने इस कहानी के माध्यम से नक्सली समस्या को बड़ी ही संजीदगी से उठाया है। वस्तुतः, झारखंड, छत्तीसगढ़ सहित कई राज्य नक्सली समस्या से बुरी तरह ग्रस्त हैं। पहाड़ों, जंगलों में बसने वाले ग़रीबों की परवाह करने वाला कोई नहीं है। सरकारें आती हैं, चली जाती हैं, परंतु उनकी ग़रीबी, लाचारी, भुखमरी किसी लाइलाज बीमारी की तरह बरकरार रहती है। ऊपर से उन पर पुलिसिया आतंक निरंतर हावी रहता है। इन आदिवासिसयों को (जो निर्दोष होते हैं) उग्रवादी बताकर झूठी मुठभेड़ में मारकर पुलिसकर्मी अपनी पदोन्नति पाते रहते हैं। साथ ही, उनकी बहन-बेटियाँ भी इन पुलिसकर्मियों के वहशीपन का शिकार होती रहती हैं। कुछ तथाकथित कुलीन वर्गों के शक्तिसंपन्न संभ्रांत परिवारों के व्यक्तियों द्वारा भी आदिवासियों की ज़मीन पर ग़ैर-कानूनी ढंग से कब्ज़ा कर लिया जाता है तथा वे महिलाओं को अपनी हवस का शिकार बनाने से भी गुरेज़ नहीं करते। ऐसी स्थिति में वे हथियार न उठाएँ, तो क्या करें ? कहानीकार ने इन आदिवासियों की समस्याओं को गहराई से समझा है। यही कारण है कि उनकी कहानी किसी न किसी रूप में नक्सलियों का समर्थन करती है।

लेकिन, यह नक्सली समस्या का केवल एक पक्ष है। दूसरा पक्ष बिल्कुल विपरीत तस्वीर पेश करता है। वास्तविकता यह है कि अब नक्सली अपने सिद्धांतों से भटक गये हैं या यों कहें, आज उनके पास कोई सिद्धांत है ही नहीं, तो ग़लत न होगा। एक रटी-रटायी बात कही जाती है कि उन ग़रीबों तक विकास की किरण नहीं पहुँच पायी है। वे आज भी भूखे, नंगे, बेरोज़गार, शोषित, पीड़ित हैं इसीलिए नक्सली बनते हैं, हथियार उठाते हैं। सवाल है कि क्या सचमुच केवल दीन-दुखी ही नक्सली बनते हैं? नहीं; नक्सलियों के गिरोह में वैसे लोग भी शामिल होते है जिन्होंने कभी ग़रीबी का ढंग नहीं झेला है। अच्छे खाते-पीते घरों के लड़के भी इसमें शामिल होते हैं। यह भी कहना ज़रूरी लगता है कि केवल आदिवासी ही नक्सली नहीं हैं, बल्कि अन्य जातियों के लोग भी शामिल हैं, आदिवासी तो बदनाम हैं। किसी नक्सली वारदात को अंजाम देने में बड़े ही सुनियोजित तरीक़े से इन भोले-भाले आदिवासियों को आगे कर दिया जाता है, ताकि मुठभेड़ होने पर पुलिस की गोलियों से मर सकें। इसके विपरीत, इनका संचालक दूर किसी बड़े शहर में ए0सी0 कमरे में बैठकर निर्देश देता रहता है।

ये आदिवासी विकास की किरण से कोसों दूर हैं, यह हक़ीक़त है, मगर यह भी उतनी ही हक़ीक़त है कि नक्सली विकास होने देना नहीं चाहते। स्कूल नहीं बनने देंगें, सड़क-पुल नहीं बनने देंगे, बने-बनाये पुल-पुलियों, रेलवे लाइनों को उड़ा देंगे, तो आख़िर विकास होगा कैसे ? विकास का कोई भी काम होने लगे, तो लेवी लेने पहुँच जाते हैं। नहीं मिलने पर जान से मार देते हैं। आख़िर क्यों ? इसका सीधा-सा जवाब है कि उनसे सैकड़ों मील दूर बैठे आकाओं का आदेश होता है कि लेवी के रूप में मोटी रकम वसूलकर उन तक पहुँचायी जाए। हमें यह मानना पड़ेगा कि यह समस्या आज एक उद्योग का रूप ले चुकी है। यही वजह है कि आज इसके कई संगठन बन चुके हैं। सीधे-सादे आदिवासी नक्सलियों को समझना होगा कि उनके द्वारा वसूली जाने वाली लेवी की रक़म से किसका फ़ायदा होता है। वास्तविकता यह भी है कि नक्सलियों ने किसी ग़रीब की सेवा नहीं की, उल्टे उन्होंने भी उनका शोषण ही किया, सताया, तड़पाया, उनको रेता गया, यहाँ तक कि उन्होंने भी महिलाओं की इज़्ज़त लूटी। जिसने उनकी ग़लत बात न मानी, उसे पुलिस का मुख़बिर बताकर मार डाला। यही कारण है कि उनका जन-समर्थन उतना नहीं है, जितना होना चाहिए। जो उनका समर्थन करते हैं, उनके भय से, आतंक से करते हैं। आजकल ये नक्सली बात-बात पर बंद का आह्वान कर देते हैं, क्यों? क्या इन ग़रीबों के रहनुमाओं को यह पता नहीं कि ऐसे बंद से आम आदमी को कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ता है? आजकल तो वे आम आदमियों को निशाना बनाने लगे हैं, उनका अपहरण करके फिरौती वसूलने लगे हैं। आख़िर वे कौन-सा आदर्श पेश करना चाहते हैं ? सरकार की नीतियों से, पुलिस की कार्य-प्रणाली से उनका विरोध तो समझ में आता है, पर उनके पास आम-आदमी की बेहतरी का, ग़रीबों के उत्थान का कौन-सा विज़न है, यह क्यों नहीं बताते? साफ़ है कि इनके आका आदिवासियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इस्तेमाल करके अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।

अब कहानी 'अँधेरे में सुगंध' की बुनावट पर कुछ शब्द—कहानी दमदार है, इसमें कोई शक नहीं। इसके लिए कहानीकार बधाई के पात्र हैं। उन्होंने अपने वक्तव्य में यह स्वीकार किया है कि इस कहानी में 'आधी हक़ीकत आधा फ़साना है।' कहानी में इतनी स्वतंत्रता तो होती ही है कि उसमें अपनी कल्पना को भी शामिल किया जाए, लेकिन लेखक की कल्पना पाठक की पकड़ में आसानी से आ जाए, तो यह कहानी का कमज़ोर पक्ष ही कहा जाएगा। लॉकअप में बंद सावली जब जसराम के ख़िलाफ़ कुछ बताने को तैयार नहीं हुई, तो पुलिसवाले क्या तरीक़ा अपनाते हैं; इसकी एक बानगी देखिए—"....एक या दो पुलिस वाले सावली को लेकर बाज़ार जाते और उसका मन जीतने के लिए उसे भेंट देते—क्रीम पाउडर, टिकुली, चूड़ियाँ, ब्लाउज, कंघी, काजल, रिबन, चोटी, रंग-बिरंगे रूमाल, ख़ुशबूदार तेल-फुलेल, बटुआ, गिलट की पायलें और करधन। अद्‌भुत प्रेम प्रदर्शन करते।" यह प्रसंग कहीं से भी वास्तविक नहीं लगता। दूसरी असंगत बात दारोग़ा की सावली द्वारा हत्या करने वाली है। कहानी में पहले बताया जा चुका है कि सावली लॉकअप से भागकर नक्सलियों से जा मिली। ऐसे में दारोग़ा द्वारा गणतंत्र दिवस पर सावली को राजधानी लाना और उसके द्वारा दारोग़ा की हत्या करना मेरी कल्पना से परे है।

सावली के साथ जिस तरह का अत्याचार हुआ, उसे जानकर किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के मन में सहानुभूति जाग सकती है, पर डी0एस0पी0 का उसकी यादों में खोया रहना भी कहानी को कमज़ोर बनाता है।

आदिवासी महिलाओं को अपनी रोज़ी-रोटी जुटाने में ही पसीने छूटते रहते हैं। वे ख़ास अवसरों पर ही अपने जूड़ों में फूल लगाती हैं। ऐसे में एक नक्सली महिला का, जिसे अपनी ही ज़िंदगी का भरोसा नहीं है, फूलों की सुगंध फैलाते चलना बिल्कुल बेमानी है, कोरी कल्पना है। उसी तरह कहानी के अंत में गाँव से सावली का निकल भागना, वह भी बिल्कुल डी0एस0पी0 के क़रीब से; अँधेरे में सुगंध बिखेरते हुए और डी0एस0पी0 का सब कुछ जानते चुपचाप उसे जाने देना उसकी कर्तव्यहीनता को दर्शाता है। इन छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया जाता तो कहानी और प्रभावशाली हो सकती थी।

धनपाल चन्द्र 'निर्धन'
श्मशान रोड, चीरागोड़ा, धनबाद (झारखंड)

आवश्यक सूचना

वर्तमान साहित्य का साधारण मूल्य 18 से बढ़कर 20 रुपये हो गया है। यह कीमत जुलाई-2009 से लागू होगी। जिन सदस्यों ने अपना वार्षिक चंदा जून-2009 तक भेज दिया है। उन्हें एक वर्ष तक पत्रिका भेजे गये मूल्य पर ही मिलेगी।

अब जो नये सदस्य होंगे उनका वार्षिक चंदा 230/- रुपये का मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट होगा। बाहर का चैक पाँच सौ रुपये से कम का स्वीकार नहीं करते हैं। संस्थागत चंदा 300/- रुपये है। आजीवन व्यक्तियों को 2000/- तथा संस्थाओं को 2500/- रुपये देय होगा।

वर्तमान साहित्य रेलवे के सभी बड़े स्टेशनों पर स्थित ए.एच. व्हीलर्स के पास उपलब्ध है।

संपादक
वर्तमान साहित्य
28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-1
रामघाट रोड, अलीगढ़
E-mail : vartmansahitya@gmail.com
vartmansahitya@yahoo.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

आधुनिक विज्ञान की खोजों ने दुनियाँ का चेहरा ही बदल दिया। इसमें बेतार का तार और सूक्ष्म तरंगों (माइक्रोवेव) की खोज बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसके फलस्वरूप आज बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ मानव समाज को मिली हैं। इन खोजों के साथ विश्वप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीश चंद्र बोस का नाम जुड़ा है।

अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने हाल ही में एक अवसर पर अपने संबोधन में अमरीकी बच्चों को चेताया है कि वे विज्ञान और गणित की पढ़ाई में पिछड़ रहे हैं जब कि हिन्दुस्तानी (और चीनी) कमर कस कर मेहनत करते हैं और आगे आ रहे हैं। वे टी0वी0 देखना और वीडियो गेम खेलना कम करें और पढ़ाई की ओर ज़्यादा ध्यान दें।

इसमें दो राय नहीं कि हमारे लोगों को अगर उचित सुविधा और अवसर मिलें तो वे बड़े काम कर दिखाते हैं। हम लगातार अखबारों में पढ़ते रहते हैं। अंग्रेजी भाषा संबंधी प्रतियोगिताएँ हों, विज्ञान के क्षेत्र में नये कारनामे हों, नयी खोजें हों... विदेशों में हिन्दुस्तान का नाम चमकता ही रहता है। दूसरी ओर यह भी सच है कि हम अभी भी गुलाम मानसिकता के दबाव में रहते हैं। दुनिया के दूसरे बड़े नामों और उनकी उपलब्धियों के प्रभामंडल में ऐसे खो जाते हैं कि अपनी महान विभूतियों को याद करना भी भूल जाते हैं।

सर जगदीश चंद्र बोस की महान वैज्ञानिक खोजों के महत्व को रेखांकित करते हुए कैंब्रिज यूनिवर्सिटी और रॉयल साइंस अकादमी ने संयुक्त रूप से उनके जन्म के डेढ़ सौ वर्ष के उपलक्ष्य में उन्हें स्मरण किया और बड़ा कार्यक्रम किया। उनका जन्म 30 नवंबर 1858 में मुंशीगंज जिले में (अब बांग्ला देश) हुआ था। सेंट ज़ेवियर कॉलेज से स्नातक की डिग्री के बाद वह कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में भौतिक शास्त्र के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। वहीं उन्होंने वायरलेस ध्वनि संकेतों की महत्वपूर्ण खोज करने में सफलता प्राप्त की। वह ब्रिटिश शासनकाल था और किसी हिन्दुस्तानी के लिए स्वतंत्र रूप से ख्यात उपलब्धि हासिल करना आसान नहीं था। दरअसल उनकी नियुक्ति ही प्रेसीडेन्सी कॉलेज के प्रिंसिपल के घोर विरोध के बावजूद हुई थी। कॉलेज के रोज़मर्रा के कामों का अधिकतम बोझ, ढंग की उचित प्रयोगशाला और उपकरणों का अभाव तथा वित्तीय साधनहीनता... किसी का भी मनोबल गिराने और उसे कमजोर बनाने का कारण बन सकते थे। उस पर से अपमानित करने के लिये जहाँ उनके समकक्ष योरोपीय सहकर्मियों का वेतन तीन सौ रुपये था, वहीं उनका वेतन सौ रुपया प्रतिमाह निर्धारित किया गया। जगदीश चंद्र बोस ने विरोध स्वरूप तीन वर्ष तक भेदभावपूर्ण वेतन अस्वीकार करते हुए काम किया। अंत में निदेशक समेत प्रिंसिपल को उनके विरोध के सामने झुकना पड़ा और उन्हें पिछले वर्षों के पूरे वेतन की राशि प्रदान करते हुए वेतन संबंधी भेदभाव समाप्त करना पड़ा। गांधीवादी सत्याग्रह का शायद यह प्रारंभिक स्वरूप था। अपने वेतन का अधिकांश हिस्सा उन्हें अपने शोध संबंधी कार्यकलापों में ही खर्च करना पड़ता था। कॉलेज परिसर में ही चौबीस वर्गफुट पर एक छोटे से कमरे में बनी प्रयोगशाला, नौसिखिये लुहार की मदद से तैयार कराये गये उपकरण...। महान वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, जिन्होंने दुनिया के रंगढंग बदल कर उसे बृहत्तर विकास की ओर अग्रसर किया, अक्सर ऐसी ही कठिनाइयों से भरे महान लोगों की मेहनत का परिणाम रहे हैं। जिन्होंने प्राकृतिक विज्ञान के छिपे रहस्यों की खोज के लिये पूरा जीवन समर्पित कर दिया। सचमुच ये वैज्ञानिक संत परंपरा के ही माने जायेंगे। चाहे प्रारंभिक खगोल विज्ञानी ज्योदार्नो ब्रूनो हो जिसने धरती और सौरमंडल के संबंध को उजागर किया और अपनी खोजों के लिये धर्मगुरुओं के कारण चिता में जलकर जान गंवानी पड़ी या गैलीलियो हो जिन्हें जनता के सामने अपमानित होना पड़ा और अपनी खोज को मृत्युपर्यंत छिपा कर रखना पड़ा। उनका बलिदान सत्य की खोज के लिये ही था। रेडियो धर्मिता और रेडियम जैसे चमत्कारी तत्व के खोजी मैडम क्यूरी और उनके पति पियरे क्यूरी ने भी बेहद कठिन परिस्थितियों में जीवन यापन करते हुए अपनी खोज में सफलता पाई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगदीश चंद्र बोस ने भी समस्त विपरीत परिस्थितियों में, अन्याय का प्रतिरोध करते हुए, दस वर्ष के भीतर रेडियो तरंगों की खोज कर दुनियां के सामने बड़ी संभावनाओं के द्वार खोल दिये।

आज रेडियो तरंग और बेतार के तार के आविष्कारक के रूप में अक्सर मारकोनी का नाम लिया जाता है। वास्तव में इसका श्रेय जगदीश चंद्र बोस को है। 1888 में विद्युत चुंबकीय तरंगों की उपस्थिति सिद्ध की जा चुकी थी। जगदीश चंद्र बोस इस ओर आकर्षित हुए। दरअसल विद्युत चुंबकीय तरंगों के भिन्न-भिन्न तरंग दैर्घ्य (आकार) के अनुसार उनकी संरचना, गुण और ऊर्जा में परिवर्तन हो जाता है। बोस ने बिद्युत चुंबकीय तरंगों का तरंग दैर्घ्य मिलीमीटर स्तर तक कम करके सूक्ष्म तरंग के क्षेत्र में क्रांतिकारी खोज की। इस प्रकार निर्मित माइक्रोवेव (सूक्ष्मतरंग) की गति और ऊर्जा का उन्होंने 1895 में कलकत्ता में सार्वजनिक प्रदर्शन किया। मिलीमीटर स्तर की माइक्रोवेव के जरिये एक निश्चित दूरी पर रखे गन पाउडर को प्रज्ज्वलित कर दिया और एक घंटी के द्वारा ध्वनि भी पैदा की। लोगों के बीच में यह एक चमत्कार था लेकिन विज्ञान की दुनियां में रेडियो तरंगों के बाद सूक्ष्म तरंग के निर्माण और उनके उच्च स्तरीय ऊर्जा के गुण की स्थापना थी। बंगाली भाषा में लिखे अपने एक लेख में बोस ने इसे "अदृश्य आलोक" कहा जो ईंट की दीवारों, इमारतों को भी भेद सकती है अतः इसका प्रयोग तार जैसे माध्यम के बिना ही संदेश प्रसारण के लिये हो सकता है।' बिनातार की सूक्ष्म तरंगों द्वारा संदेश प्रसारण, सूचना तकनीक के क्षेत्र का पहला क्रांतिकारी कदम था।

लोगों ने बोस को सलाह दी कि वे प्रयोग में आने वाले अपने संयंत्र को सुधार करके उसे पेटेन्ट करायें ताकि उनकी इस खोज का व्यापक उपयोग हो और समस्त तटीय क्षेत्र रोशनी से जगमगा उठें।

जगदीश चंद्र बोस के संस्कार भारत की लोकधर्मी परंपरा से अनुप्राणित थे। उन्होंने अपने संयंत्र को विकसित करने की बात तो स्वीकार की लेकिन अपनी खोज को पेटेंट कराने से इंकार कर दिया। उनका कहना था कि उनकी वैज्ञानिक खोज समाज के विकास के लिये है। कोई भी इसको ग्रहण करे और आगे काम बढ़ाये। बोस के सार्वजनिक प्रदर्शन के लगभग दो साल बाद मई 1897 में मारकोनी ने रेडियो तरंगों से प्राप्त संकेतों का प्रयोग किया। इससे पहले 1896 में बोस एक व्याख्यान देने लंदन गये थे। वहाँ मारकोनी रेडियो तरंगों का प्रयोग ब्रिटिश पोस्ट आफिस में कर रहे थे। बोस की दिलचस्पी व्यवसायिक टेलीग्राफी में नहीं थी। वहाँ उन्होंने अपने नये निर्मित 'आयरन-मरकरी-आयरन' उपकरण की घोषणा करते हुये उसे टेलीफोन संसूचक के रूप में सक्षम घोषित किया।

बोस की खोज मारकोनी से दो वर्ष पहले की थी।

जगदीश चंद्र बोस की वैज्ञानिक खोजें सिर्फ भौतिकी तक सीमित नहीं थीं। पेड़-पौधों से संबंधित पादप क्रियाविज्ञान में उन्होंने पूर्व प्रचलित सिद्धांत को नकारते हुए कहा कि पौधों में द्रव्य का संचरण उसकी जीवित कोशिकाओं की विद्युत-यांत्रिकीय स्पन्दन प्रक्रिया द्वारा होता है।

उनकी एक अन्य विश्वप्रसिद्ध महत्वपूर्ण खोज पौधों की जीवों से तुलना संबंधी है। उन्होंने कहा कि जंतुओं के स्नायुतंत्र के समान ही पेड़-पौधों का संवेदी तंत्र होता है। अर्थात पेड़-पौधों में भी वैसे ही जीवित तंतु होते हैं और वह विभिन्न उद्दीपनों का भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ सुमधुर संगीत से जहाँ उनका अच्छा विकास होता है वहीं शोर शराबे से विकास बाधित होता है। इस संबंध में छुई-मुई के पेड़ के ऊपर स्पर्श का प्रभाव जग प्रसिद्ध है। बाहरी उद्दीपनों का प्रभाव नापने के लिये उन्होंने एक यंत्र क्रेसकोग्राफ का निर्माण भी किया।

बोस के पूरे वैज्ञानिक कैरियर की जो बात सबसे ज़्यादा आकर्षित करती है वह है उनका निष्काम भाव से काम करना। उन्होंने कभी अपने किसी काम को पेटेंट कराने की नहीं सोची। जो कुछ उपलब्धि है वह समाज को, दुनियां को समर्पित।

मेरा हमेशा यह मानना रहा है कि पढ़ाई किसी भी अध्ययन क्षेत्र की हो, सामाजिक दायित्व बोध बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसको विकसित करने का दायित्व स्वाभाविक तौर से घर-परिवार और माँ-बाप का ही होता है। दायित्व बोध के अभाव में अणु ऊर्जा, अणु बम में बदल जाती है, मानवीयता भ्रष्ट होकर भस्मासुर और तालिबान का रूप ग्रहण कर लेती है।

जगदीश चंद्र बोस के पिता यद्यपि डिप्टी मजिस्ट्रेट और असिस्टेंट कमिश्नर जैसे उच्च पदों पर रहे लेकिन उन्होंने बेटे की शिक्षा की शुरूआत शुद्ध देसी स्कूल से कराई। भगवान चंद्र बोस ब्रह्म समाज आंदोलन के नेताओं में से एक थे। उनका मानना था कि अंग्रेज़ी भाषा की जानकारी से पहले हरएक को अपनी मातृभाषा का ज्ञान होना ज़रूरी है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने समाज और अपने लोगों से ज़मीनी परिचय होना भी ज़रूरी है। 1915 में अपने एक व्याख्यान में स्वयं बोस ने अपने बचपन के बारे में विस्तार से बताते हुए कहा कि इस ज़माने में जब अंग्रेज़ी स्कूलों में बच्चों को भेजना अभिजात्य होने की पहचान थी (जो आज भी है) वे एक स्थानीय बंगाली स्कूल में भेजे गये। उनके सहपाठियों में एक ओर उनके पिता

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के एक मुस्लिम अर्दली का बेटा बैठता था तो दूसरी ओर एक मछुआरे का बेटा बैठा हुआ होता था। वे उनके बाल मित्र भी थे जो साथ खेलते थे। चिड़ियों, जानवरों और पानी में पाये जाने वाले जीव-जंतुओं की दिलचस्प कहानियाँ बोस को अपने इन मित्रों के माध्यम से ही सुनने को मिलती थीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि घर-परिवार परंपरागत था और शहर के प्रतिष्ठित संभ्रांत परिवार के रूप में जाना जाता था लेकिन उनके ये सहपाठी-मित्र जब उनके साथ घर आते तो उनकी माँ अपने बेटे के समान ही उनसे व्यवहार करतीं और सबको खिलाती-पिलातीं। उन बच्चों के साथ कभी किसी प्रकार का जातिगत भेदभाव नहीं किया गया। बोस को कभी नहीं लगा कि ये बच्चे निम्न जाति के हैं या अस्पृश्य हैं। उन्हें कभी ये आभास नहीं हुआ कि हिन्दू-मुस्लिम दो अलग समुदाय हैं अथवा दो समुदायों के बीच कोई समस्या भी उठ खड़ी होती है। अपनी भाषा के प्रति यह उनका प्रेम ही था कि वे बंगला भाषा में पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखते रहते थे। उन्होंने अनेक विज्ञान कथाएँ भी लिखीं। आज भी मैं देखती हूँ तो लगता है कि विशिष्टता बोध के बीच पले-बढ़े, संभ्रांत और कुलीन परिवारों के बच्चों में शायद ही कोई बहुत बड़ा वैज्ञानिक, शोधकर्त्ता अथवा समाज को किसी रूप में, किसी क्षेत्र में नई दिशा देने वाला बन पाया हो। अंग्रेजियत के बोझ से लबालब, अपने समाज से कटे लोग बड़ी कंपनियों, व्यापारिक संस्थानों या सत्ता प्रतिष्ठानों में मैनेजर हो सकते हैं, डाक्टर, इंजीनियर बन कर पैसा तो कमा सकते हैं लेकिन कुछ नया करके, समाज को नई राह दिखाने, वाले कितने होते हैं.... कहना मुश्किल है।

नवजागरण काल का उदारवादी समय, ब्रह्मसमाज का समाज सुधारक, आंदोलनकारी स्वरूप और उसका प्रभाव तथा माता-पिता की विवेक सम्मत वैचारिकता और व्यवहार जगदीश चंद्र बोस को मिला जिसने उन्हें एक उच्चकोटि का वैज्ञानिक बनाया और साथ ही सामाजिक रूप से सचेत, आत्मभिमानी तथा निष्काम कर्म में विश्वास करने वाला व्यक्तित्व प्रदान किया।

अपनी जड़ों से जुड़ाव और सामाजिक दायित्व का बोध प्रतिभा को चार चाँद लगा देता है और व्यक्ति को सही मायने में बुलंदियों तक पहुँचाता है। महान वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस को स्मरण करते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है।

0 0 0

सुप्रसिद्ध रंगमंचकर्मी हबीब तनवीर का पिछले दिनों निधन हो गया। साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में वे अपने आपमें एक संस्था थे। वर्तमान साहित्य परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रृद्धांजलि।

हबीब तनवीर के ऊपर विशेष सामग्री हम अगले अंक में दे रहे हैं।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोहब्बत नींद में चलने की बीमारी नहीं होती

वशिष्ठ अनूप

हिन्दी नवगीत और ग़ज़ल के सशक्त हस्ताक्षर नईम अब हमारे बीच नहीं हैं। विगत 09 अप्रैल को मस्तिष्काघात से उनका निधन हो गया। वे एक हँसमुख, उत्साही, विनम्र, मिलनसार और जीवंत इन्सान थे। नईम मध्य प्रदेश के राधागंज, देवास में रहते थे। उनका जन्म 01 जनवरी, 1935 को हुआ था। वे डा0 शंभुनाथ सिंह द्वारा संपादित 'नवगीत दशक-1' (1982) और नवगीत अर्धशती के यशस्वी गीतकार थे। उनके इस आकस्मिक प्रस्थान से हिन्दी साहित्य, विशेषकर गीत विधा की अपूरणीय क्षति हुई है। 'पथराई आँखें', 'बातों ही बातों में', 'लिख सकूँ तो', 'पहला दिन मेरे आषाढ़ का'—उनके प्रकाशित नवगीत-संग्रह हैं। भारतीय ज्ञानपीठ से उनका नया संग्रह 'उजाड़ में परिंदे' शीघ्र ही आने वाला है। उनके नवगीत कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में लगे हैं। वे शासकीय महाविद्यालय, देवास में हिन्दी के प्राध्यापक थे।

साहित्य और समाज के विषय में नईम का सुचिंतित दृष्टिकोण था। नवगीत के विषय में उन्होंने लिखा है—"संदर्भों को बदलने के परिणामस्वरूप जो नये संबंध पनपे, उनका परिणाम नवगीत है। ज़िंदगी में जो भी लय है, वह सब नवगीत में है।... क्लासिकल के साथ लोकगीतों से जो जीवन्तता कुमार गंधर्व ने ग्रहण की है, वही नवगीतों में दिखायी देती है।"

नईम के गीतों का विस्तार गाँव से लेकर शहर तक है। उनके गीत—घृणा, द्वेष, हिंसा, धर्म के नाम पर सांप्रदायिकता, संघर्ष और रक्तपात—इन सबका शिकार होता एवं ज़लालत की ज़िंदगी जीता आम आदमी, चोरों लुटेरों तथा हत्यारों से घिरा, उन्हें संरक्षण देता हुआ और उससे नाभिनाल वह रक्षक व शासक प्रभु-समुदाय तथा अँगूठा कटवा चुके मेहनतकश वर्ग की यातनाओं से अत्यंत तल्ख तेवर में हमारा साक्षात्कार कराते हैं। इन गीतों में रूप, रस, गंध, प्रकृति, सौंदर्य और प्रेम के स्वर भी सुनायी पड़ते हैं, किंतु इनके बीच से बार-बार और बरबस फूट पड़ने वाली सामान्यजन की पीड़ा अक्सर हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। हर प्रकार से वंचित व्यक्ति की सुबह, दोपहर, शाम और रात हर मौसम में यातनादायी होती है :

दुर्घटना-सी भोर/ हादसे-से सूरज-दिन
मिमियाती शामें, दोपहरी जैसे बाघिन...
बूढ़ी हुई समय से पहले/ उम्र अभागिन
धरती के पृष्ठों पर ऋतुएँ लिखी रह गयीं,
बिन बाँचे पत्रों-सी अपनी व्यथा सह गयीं
मावस तो मावस पूनम ज्यों उलटी नागिन।

जीवन-संघर्ष में मानव-निर्मित परिस्थितियों के हाथों बार-बार पराजित और अपमानित तथा मर-मरकर जीने के लिए विवश ग़रीब आदमी की त्रासदी को नईम ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

आत्माएँ गिरवी रख, सुविधाएँ ले आए।
लोथड़ा कलेजे का, वनबिलाव चीलों में,
गंगा की गोदी में या कि ताल-झीलों में,
क्वाँरी माँ जैसे अपना बच्चा दे आए।

नईम ने किसानों के जीवन को भी क़रीब से देखा है। किसान, जो सब कुछ उगाता है, सबका अन्नदाता है, वह स्वयं दाने-दाने को मोहताज़ होता जा रहा है। कभी वह सेठों, महाजनों, सूदखोरों और व्यवस्था के हाथों छला जाता है और कभी बाढ़, सूखा, अकाल व प्रकृति की अन्य महामारियों के हाथों। 'गोदान' के होरी एवं अन्य किसानों की भाँति उसकी सारी इच्छाओं, आशाओं और सपनों का 'गोदान' हो जाता है। यहाँ तक कि उसके 'आषाढ़ का पहला दिन' भी सामान्य न होकर कभी सूखे का होता है, कभी बाढ़ का। घिसटती हुई ज़िंदगी जीने वाले किसानों से कोई कुशल-क्षेम पूछे तो क्या लिखेंगे वे ? झूठ बोलेंगे—'अत्रकुशलम् तत्रास्तु' या नईम के शब्दों में सच का बयान करेंगे :

बंधु लिखी है/ मैंने उनको कुशल-क्षेम की पाती आज।
आजी को कुछ कम दिखता है/ बाबा पकड़े खाट पड़े,
काँकड़ वाला खेत बिक गया/ मँहगाई के हाट चढ़े।
जाने कब से लगा हुआ है/ घर में साढ़े साती राज...
पग-पग पानी डग-डग रोटी/ वाली मालव धरती ये,
मूल छोड़कर/ जुगों-जुगों तक/ ब्याज रहेगी भरती ये,
नई चिरई परदेश/ न गाये/कोकिल गान प्रभाती आज।

नईम की दृष्टि हर प्रकार के शोषण और विद्रूपता पर रही है। धर्म के मर्म को भी वे जानते थे। सामान्य आदमी को जो यह बताते हैं कि संसार मिथ्या, असार और क्षणभंगुर हैं, वे संत-महंत, मौलवी और पुरोहित भी आम आदमी को लूटने-खसोटने में पीछे नहीं हैं। पैसे को हाथ का मैल बताने वाले 'मैल' से ज़्यादा लगाव रखते हैं। अनेक मामलों में इसका पर्दाफ़ाश हो चुका है। ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्माधीश भी शोषक शक्तियों की ही कड़ी हैं। धर्म, नस्ल, वर्ण, क्षेत्र, भाषा, जाति आदि में बाँटकर अपना हित साधने का इनका लंबा इतिहास है, रहा है :

भद्रलोक संसारी ये महंत/ गर्व और गौरव तोता रटंत
हरि अनंत हरि से कुछ ज़्यादा ही/ जीवन गाथाएँ इनकी अनंत
इतिहासों के घटिया चरणों में/ रंग नस्ल, जाति और वर्णों में
बाँटते रहे जन को निराधार/ पांडु पुत्र, कौरव और कर्णों में।

नईम के गीतों में प्रकृति बहुत जीवंत और आत्मीय रूप में प्रस्तुत हुई है। इनमें कहीं कपास के खेत पीली पगड़ी और हरा अँगरखा पहने कच्ची उम्र के मालवी दूल्हे जैसे लगते हैं, तो कहीं अमलतास के पेड़ भीलों के दूल्हों जैसे सजे लगते हैं, और कहीं चीवर पहने, रास्ता भूले श्रमणों से दिखायी पड़ते हैं :

पीली पगड़ी, हरा अँगरखा/ पहने खेत कपास के
कच्ची उम्र मालवी दूल्हों जैसे नन्हें पौधे।।
नज़र न धरती की लग जाए/बिजुरी बनजारिन कौंधे...
उतरे चैत चढ़े वैशाखों/ अमलतास औघड़ फूले,
इस माटी से उस डूँगर तक/ जैसे भीलों के दूल्हे...

नईम का प्रकृति-प्रेमी गीतकार वहाँ अधिक सशक्त और दृढ़ होकर सामने आता है, जहाँ वह प्रकृति के अंधाधुंध दोहन और विनाश से अत्यधिक मर्माहत है। वह प्रकृति को वरदान देना चाहता है। उसकी इच्छा है कि मेरी भी उम्र लेकर ये जीवित रहें। कटते हुए वृक्षों को देखकर कवि को लगता है कि जैसे कर्ण से छलपूर्वक उसका कवच छीना जा रहा है, जैसे क्रौंच का वध किया जा रहा है, जैसे साकेत में ही सीता का हरण हो रहा है। इसलिए वह कहता है कि विंध्य, सतपुड़ा, अमरकंटक आदि इतिहास के जीवित कथानक हैं। नर्मदा इन पाषाण-पुत्रों की बहन है। इन्हें बचाओ, इन्हें अभय दो :

वनों को निर्वृक्ष होते देखना/ कितना कठिन है
देखना निष्प्राण होते मनों को कितना कठिन है।
एक किरिया-कर्म की पूरी बुनावट
मौत की नज़दीक आती हुई आहट
वृक्ष-वध का दृश्य स्वर यह
देखना कितना कठिन है।
छीनता रक्षा कवच छल से करण का
चश्मदीद गवाह हूँ अपने मरण का
आज तो साकेत में ही/ देखना सीता हरण है।

नईम ने गीत के अलावा हिन्दी में स्तरीय ग़ज़लें भी लिखी हैं। उनकी ग़ज़लें परंपरागत ग़ज़ल से कथ्य और शिल्प- दोनों ही स्तरों पर अलग हैं। जैसे प्रेम के संदर्भ में यह मान्य धारणा है कि प्रेम पहली नज़र में या अनायास, अकस्मात किसी से भी हो जाता है और यह भी कि प्रेम-जगत् में बाक़ी चीज़ों का कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन, नईम का अनुभव इससे अलग है और आज के युग के हिसाब से एकदम ठीक है। अब प्रेम अंधा नहीं होता। उनका एक शेर देखें :

मोहब्बत बाख़बर रहकर सफ़र करने का जज़्बा है,
मोहब्बत नींद में चलने की बीमारी नहीं होती।

ऐसा लगता है कि मृत्यु से कुछ दिन पहले ही उन्हें मृ का आभास होने लगा था। 'वर्तमान साहित्य' के अप्रैल 2009 अं में छपी उनकी ग़ज़लों को देखकर ऐसा ही लगता है:

जीना है गोल-मोल तो मरना सपाट है,
अपने से ही ऐ ज़ीस्त मेरा दिल उचाट है।
कातना किसके लिए, बेसूद फिर धुनना है क्या!
उठ गये चरखे ठिये करघे पे फिर बुनना है क्या!

ऐसे यशस्वी कवि और नेक इन्सान को कोटिशः नमन

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ0प्र0)

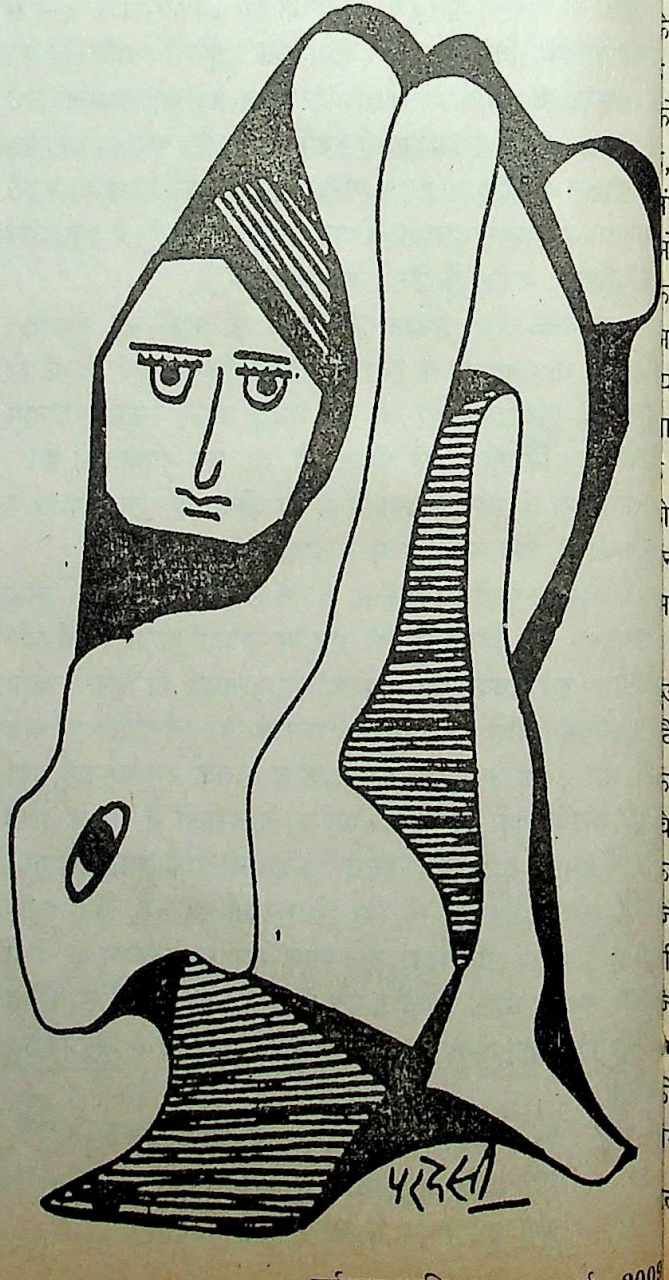

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद की परंपरा

जवरीमल्ल पारख

हिंदी आलोचना में कथा साहित्य की परंपरा और मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में प्रेमचंद के कथा साहित्य को प्रस्तुत किया जाता रहा है। हिंदी कथा साहित्य की पूरी परंपरा को प्रेमचंद पूर्व का कथा साहित्य, प्रेमचंद का कथा साहित्य और प्रेमचंद के बाद के कथा साहित्य के रूप में भी रखा जाता है। इस तरह कथा साहित्य की परंपरा में प्रेमचंद की केंद्रीय स्थिति का पता चलता है। हिंदी साहित्य के इतिहास और आलोचना में प्रेमचंद की यह केंद्रीय स्थिति निर्विवाद रही है। इसके बावजूद यह भी सही है कि प्रेमचंद के साहित्य के मूल्यांकन की कोशिशें बहुत विश्वसनीय नहीं रही हैं। यदि एक ओर प्रगतिशील और मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रेमचंद को प्रगतिशील साहित्य के ऐसे प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया है, जो न सिर्फ़ अपने में परिपूर्ण है बल्कि न तो जिसकी बराबरी संभव है और न ही जिसका विकास किया जा सकता है। तो दूसरी ओर, गैर प्रगतिशील आलोचकों ने प्रेमचंद को दोयम दर्ज़े का कलाविहीन लेखक करार देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने आरोप लगाया कि प्रेमचंद के साहित्य में समाज की प्रमुखता है और व्यक्ति की उपेक्षा है, व्यापकता है लेकिन गहराई नहीं है, मनुष्य के बाहरी जीवन के चित्रण पर ही बल है और आंतरिकता अनुपस्थित है और उनके पात्रों में सामान्यता और प्रातिनिधिकता तो व्यक्त होती है, लेकिन वैयक्तिक विशिष्टता नहीं दिखाई देती। इस तरह इन लेखकों और आलोचकों ने अपने को प्रेमचंद की परंपरा से अलगाने की कोशिश की।

प्रेमचंद संबंधी इन दो ध्रुवीय आलोचनाओं का परिणाम यह हुआ कि प्रेमचंद की परंपरा के संबंध में आत्मनिष्ठ और संकीर्णतावादी रवैया ही देखने को मिला। प्रेमचंद के कथा साहित्य के किसी कमजोर पक्ष को सामने लाने की हल्की सी कोशिश को भी प्रेमचंद विरोधी के साथ-साथ प्रगतिवाद विरोधी और मार्क्सवाद विरोधी करार दे दिया गया। किसी लेखक को ऐसे प्रतिमान में बदल देना जिसकी बराबरी संभव ही नहीं है, वह स्वयं उस लेखक को ऐसी प्रतिमा में बदल देना है जिसकी पूजा तो की जा सकती है लेकिन जिसके साथ किसी तरह का रिश्ता बनाना संभव नहीं रहता। प्रेमचंद के साथ रिश्ता तभी बन सकता है जब प्रेमचंद के साहित्य को निरंतर आने वाली रचनात्मक चुनौतियों के बरक्स रखकर समझने का प्रयास करते रहें। लेकिन अफसोसनाक यह है कि इस बात को समझने का प्रयास बहुत कम हुआ है कि प्रेमचंद का साहित्य जिन मूल्यों का पक्षधर है, बाद के लेखकों ने उन मूल्यों को अपने साहित्य द्वारा स्वीकार किया या अस्वीकार किया? यदि स्वीकार किया, तो उन्होंने उसे आगे बढ़ाया या उसका यथावत अनुकरण किया? यदि अस्वीकार किया तो इस अस्वीकार करने के पीछे दृष्टि प्रतिगामी थी या प्रगतिशील?

प्रेमचंद की परंपरा को पहचानने के लिए इन प्रश्नों को सामने रखने की बजाए सामान्यतः इसे प्रेमचंद के साहित्य की विषय-वस्तु में सीमित कर दिया गया। जैसे ग्रामीण जीवन पर लिखने वाले लेखक को प्रेमचंद की परंपरा में मान लिया जाता है। इसी तरह किसानों और मजदूरों के जीवन पर आधारित साहित्य भी प्रेमचंद की परंपरा में सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। इसका निहितार्थ यह भी है कि वे लेखक जिनके लेखन में ग्राम्य जीवन का चित्रण नहीं है, किसान और मजदूर की बजाए शहरी मध्यवर्ग को केंद्र में रखा गया है, तो उन्हें प्रेमचंद की परंपरा में स्वीकार नहीं किया जाता। यही वजह है कि प्रेमचंद की बाद की पीढ़ी के जैनेंद्र कुमार, यशपाल, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी को अन्य कारणों के अलावा इस कारण से भी प्रेमचंद की परंपरा के अंतर्गत नहीं माना गया। प्रेमचंद के कथा साहित्य के बारे में यह धारणा भी बहुत बलवती है कि उनका मुख्य बल पात्रों की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों और उनसें उपजे अंतर्विरोधों पर रहता है इसलिए किसी ऐसे साहित्य में जिनमें पात्रों की वैयक्तिक विशिष्टताओं, यौन आचरणों और सांस्कृतिक संदर्भों को भी महत्त्व के साथ चित्रित किया गया है, तो उसे प्रायः प्रेमचंद की परंपरा में परिगणित नहीं किया जाता। हिंदी में इस वजह से भी बहुत से कथाकारों को प्रेमचंद की परंपरा से बहिष्कृत कर दिया गया। जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल आदि पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया, तो रेणु के साहित्य में जिनमें ग्रामीण जीवन का विशद और जटिल चित्रण है, यह कहकर प्रेमचंद परंपरा से बाहर कर दिया गया कि इसमें वर्गीय समझौता परस्ती और प्रगतिशील परंपरा का विरोध है।

प्रेमचंद की परंपरा को संकीर्ण अर्थों में लेने के पीछे मुख्य कारण स्वयं प्रेमचंद के साहित्य की संकीर्णतावादी विवेचना थी। मसलन, प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' का उदाहरण लिया जा सकता है जिसके नायक होरी की तुलना प्रेमचंद से की गई। डॉ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामविलास शर्मा ने लिखा था, "अगर मेहता से होरी को जोड़ा जा सके तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत कुछ प्रेमचंद से मिलता-जुलता होगा। मेहता को यदि उन्होंने अपने विचार दिये हैं तो होरी को बराबर परिश्रम करते रहने की दृढ़ इच्छा-शक्ति" (प्रेमचंद और उनका युग, संस्करणः 1967, पृ. 111)। यानी होरी में "बराबर परिश्रम करते रहने की दृढ़ इच्छाशक्ति" का होना उसके नायक बनने के लिए पर्याप्त है। कमोबेश यही बात डॉ. शिवकुमार मिश्र ने भी लिखी और इसी आधार पर उन्होंने जैनेंद्र, अज्ञेय आदि के पूरे लेखन को प्रेमचंद की परंपरा से बाहर कर दिया। वे लिखते हैं, "गोदान उपन्यास, जिसके नायक होरी की जिजीविषा और जिंदा रहने के लिए जिसका संघर्ष हमें प्रेमचंद की खुद अपनी जिजीविषा और अपने संघर्ष की याद दिलाता है" (प्रेमचंदः विरासत का सवाल, संस्करणः 1992, पृ. 79)। लेकिन क्या यह होरी का सही आकलन है? क्या वास्तव में वह संघर्षशील और दृढ़ इच्छाशक्ति वाला नायक है? अगर होरी की तुलना रंगभूमि के नायक सूरदास से करें तो इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि होरी को प्रेमचंद ने एक संघर्षशील और आशावादी नायक की तरह चित्रित नहीं किया था। संघर्षशील नायक का अर्थ यदि यह है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो जीवन में आने वाली मुसीबतों को झेलता हुआ अपना जीवनयापन करे, तो निश्चय ही होरी एक संघर्षशील नायक है। लेकिन यदि संघर्षशील नायक का अर्थ ऐसे व्यक्ति से है जो अपने जीवन में आने वाली चुनौतियों में सही और गलत का निर्णय करके सही विकल्प चुने और उसके लिए हर तरह की मुसीबतें झेलने के लिए तैयार रहे, तो वह संघर्षशील नायक नहीं है। होरी अधिकांश मामलों में समझौतावादी रास्ता अख्तियार करता है। होरी कायर व्यक्ति नहीं है, उसमें मानवीय सहानुभूति और विरोधी परिस्थितियों में भी हिम्मत न हारने का साहस भी है। लेकिन उसमें धर्मभीरुता और सामाजिक मर्यादा का डर ज़रूर है जो उसे साहस के साथ खड़ा होने से रोकती है। प्रेमचंद ने उसे ऐसे किसान के रूप में चित्रित किया था, जो परिस्थितियों के धक्के झेलता हुआ इधर से उधर डोलता रहता है। उसमें अच्छे और बुरे की पहचान करने का विवेक है, लेकिन वह अपनी लड़ाई में अकेला है और इसी वजह से वह अपने को कमजोर महसूस करता है और इसी कारण वह समझौता करने और बलशालियों के आगे झुकने में ही भलाई समझता है। सूरदास भी होरी की तरह अपने संघर्ष में अकेला है लेकिन वह समझौता नहीं करता और अकेले ही संघर्ष करता है। उसकी लड़ाई में कोई शामिल हो या न हो वह इस बात की चिंता नहीं करता। होरी सूरदास की तरह संघर्ष नहीं कर सकता इसका कारण यह भी है कि वह सूरदास की तरह अकेला नहीं है। उस पर अपने परिवार के पालन-पोषण की ज़िम्मेदारी भी है और यही तथ्य उसको कमजोर भी बनाता है। ऐसे चरित्र को क्या आदर्श नायक माना जाना चाहिए, केवल इसलिए कि प्रेमचंद ने होरी की मृत्यु के कुछ क्षणों पहले की मनःस्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया थाः 'जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानो उनके चरणों पर लोट रही थीं कौन कहता है जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों में उसकी विजय है उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएँ हैं।' यह बहु मुमकिन है कि प्रेमचंद होरी की मनःस्थिति का चित्रण करते हु दरअसल अपने जीवन संघर्ष पर टिप्पणी कर रहे हों और व लिखकर जैसे वह खुद निराशा और टूटन से उबरने की कोशिश क रहे हों। लेकिन इन पंक्तियों के बावजूद होरी एक औसत किस के रूप में ही सामने आता है। शायद अधिकांश किसान आंदोलनों और सामूहिक संघर्षों के अभाव में ऐसे ही होते हों होरी का महत्त्व उसके नायकत्व में नहीं है बल्कि उस त्रासदी में जिससे होरी की तरह के किसानों को एक शोषणकारी व्यवस्था जीते हुए हर क्षण गुजरना पड़ता है। होरी का किसान से मज़ बनना उस त्रासदी की पराकाष्ठा है और प्रेमचंद इसी त्रासदी एहसास अपने पाठकों को कराना चाहते हैं। यदि प्रेमचंद ने अप संपूर्ण साहित्य में किसी पात्र को नायक की तरह चित्रित किया तो वह सूरदास है। सूरदास में वे सब विशेषताएँ हैं जिसे आलोच जबरन होरी पर थोप रहे हैं और फिर उसे प्रेमचंद के जीवन संघ के साथ एकमेक करने का प्रयास करते हैं। यही गलती वे मेह के संदर्भ में भी करते हैं।

यह सही है कि मेहता पूँजीपतियों और ज़मींदारों द्वारा कि जाने वाले शोषण का विरोध करता है, लेकिन उसके स्त्री लोकतंत्र संबंधी विचार प्रतिक्रियावादी हैं। मेहता स्त्री को पुरुष श्रेष्ठ मानता है, बराबर नहीं। वह क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श घोषित करता है जिसे नारी प्राप्त चुकी है लेकिन पुरुषों को अभी प्राप्त करना है (गोदान, संस्कर 1970, पृ. 161)। वह वोट को नये युग का मायाजाल मानता और स्त्रियों को उसके छलावे में न आने की सलाह देता है (व पृ. 163)। वह नारी के पश्चिमी आदर्श को गलत मानता है। न स्वतंत्रता को विलासिता का दूसरा रूप तथा घर से बाहर के जी को उच्छृंखलता समझता है (वही, पृ. 164)। वह प्रेम विवाह विरोधी है (वही, पृ. 165)। सेवा और त्याग को भारतीय नारी सबसे बड़ा आभूषण समझता है (वही, पृ. 164)। मेहता तलाक अधिकार का विरोध करता है (वही, पृ. 63)। क्या यह माना कि यही प्रेमचंद के विचार हैं और यदि ऐसा है तो हमें मानना कि प्रेमचंद के स्त्री और लोकतंत्र संबंधी विचार प्रतिगामी प्रतिक्रियावादी हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। प्रेमचंद ने 1931 1934 के बीच में ऐसी कई टिप्पणियाँ लिखीं जिनमें उन्होंने मुक्ति और स्त्री अधिकारों का लगातार समर्थन किया। स्वयं मेह प्रेमचंद की नज़र में कोई आदर्श पात्र नहीं थे अन्यथा वह माल जो मेहता के कारण सेवा को अपने जीवन का आदर्श बनाती स्त्री संबंधी उसके विचारों को जानने के बाद उसकी नज़रों से जाता है (वही, पृ. 316)। वह उससे मित्रता का संबंध तो र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, लेकिन उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करती।

प्रेमचंद ने कथा साहित्य के साथ-साथ साहित्य के उद्देश्य और उसके विभिन्न पक्षों पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया था। प्रेमचंद ने साहित्य के संदर्भ में यथार्थवाद के बारे में विचार करते हुए न तो यथार्थवाद को और न ही आदर्शवाद को पूरी तरह अंगीकार किया बल्कि एक नयी धारणा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रस्तुत की थी। इसके बावजूद प्रेमचंद को आदर्शवादी, यथार्थवादी और आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी मानने वाले आलोचकों के तीन खेमे बन गये। प्रेमचंद ने कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः अपने समकालीन जीवन यथार्थ को ही प्रस्तुत किया। यह कहना सही नहीं है कि प्रेमचंद ने सिर्फ किसानों और मजदूरों से संबंधित यथार्थ को ही विषय बनाया था। इसके विपरीत उन्होंने पूंजीपति, राजा, ज़मींदार, शिक्षित और शहरी मध्यवर्ग, ग़रीब किसान, मिल मज़दूर, खेतमज़दूर, भिखारी, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, ब्राह्मण, ठाकुर, दलित आदि समाज के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुषों को चित्रित किया है, उन्हें अपने साहित्य में जगह दी है, उनके जीवन यथार्थ से अपने कथा-साहित्य को निर्मित किया है। लेकिन प्रेमचंद का महत्त्व तत्कालीन सामाजिक यथार्थ के बहुआयामी पक्षों को चित्रित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि महत्त्व उसमें निहित उस रचना दृष्टि का है जो यथार्थ के अंतर्विरोधों को न सिर्फ़ उभारकर सामने लाती है, वरन एक वैकल्पिक यथार्थ की संभावना की ओर संकेत भी करती है। इस बात को प्रायः भुला दिया जाता है कि प्रेमचंद जिस समय लिख रहे थे, उस समय की विशिष्ट परिस्थितियों ने उनके लेखन की दिशा को तय करने में अहम भूमिका निभाई थी। इन परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तित होने वाला यथार्थ ही नहीं बल्कि वे विभिन्न विचार सरणियाँ भी शामिल हैं, जिनका प्रेमचंद पर प्रभाव भी पड़ा और जिनके बारे में प्रेमचंद ने अपनी राय भी बनाई। प्रेमचंद यह अच्छी तरह जानते थे कि उनका देश दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ है, जिससे मुक्ति सबसे पहली अनिवार्यता है। लेकिन विदेशी दासता से मुक्ति के इस लक्ष्य को हासिल करने के मार्ग में वे जिन बाधाओं को उपस्थित देख रहे थे, उनसे संघर्ष करते हुए और राष्ट्र की मुक्ति के उच्चतम लक्ष्य को कभी भी नज़रों से ओझल न होने देते हुए उन्हें लेखन करना है, इस बात को वे अच्छी तरह समझते थे। प्रेमचंद ने 'गबन' में जब जॉन और गोविंद का सवाल उठाया था, तो उनके दिमाग में यही बात थी कि सत्ता परिवर्तन का अर्थ विदेशी हुक्मरानों की ज़गह देशी हुक्मरानों को बैठाना नहीं है बल्कि इसका अर्थ गुणात्मक रूप में ऐसी राजसत्ता को स्थापित करना है जो पददलित और शोषित जनता के उत्थान से प्रतिबद्ध हो। प्रेमचंद के लिए पददलित और शोषित जनता से तात्पर्य सिर्फ आर्थिक शोषण और उत्पीड़न भोगने वाली जनता से नहीं था बल्कि धर्म, संप्रदाय, ज़ाति, लिंग आदि के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव और उत्पीड़न से भी था। यदि उनका बल सिर्फ आर्थिक शोषण पर होता, तो सिलिया और मातादीन, निर्मला और गोबर में और ऐसे बहुत से चरित्र और प्रसंग उनकी कलम से जन्म नहीं लेते जिनमें गैरबराबरी और दासता के कई जटिल और सूक्ष्म रूप दिखाई देते हैं। प्रेमचंद के साहित्य से स्पष्ट है कि वे आजाद भारत को शोषण मुक्त ही नहीं बल्कि समानता पर आधारित लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष भारत के रूप में भी देखना चाहते थे।

जिस वर्ष प्रेमचंद का देहावसान हुआ उसी वर्ष प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन का उद्घाटन भी किया था। उस अवसर पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया था, उसमें उन्होंने उस साहित्य परंपरा को अस्वीकार किया था जिसे हम रीतिवाद के नाम से जानते हैं। लेकिन इसके विपरीत जिस साहित्य परंपरा का उन्होंने समर्थन किया वह किसी सीमित दायरे में कैद कोई संकीर्णतावादी परंपरा नहीं है। न तो प्रेमचंद का ऐसा उद्देश्य था और न ही प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के पीछे ऐसा कोई संकीर्णतावादी उद्देश्य था। वह लेखकों का एक ऐसा व्यापक संगठन था जिसमें उन सब लेखकों के लिए गुंजाइश थी जो स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करते थे और जो किसी भी तरह के शोषण और उत्पीड़न का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। प्रेमचंद ने भी अपने व्याख्यान में इसी विचार को पेश किया था। प्रेमचंद ने कहा था कि 'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं' (साहित्य का उद्देश्य, पृ. 13)। प्रेमचंद के इस कथन में साहित्य की जो परिभाषा निहित है वह संकीर्णतावादी विचारों पर आधारित नहीं है। उसमें हर तरह के साहित्य के लिए गुंजाइश है जो मानव प्रगति में किसी भी तरह का योगदान देता हो जिससे मानव की सौंदर्याभिरुचि का विकास हो। स्पष्ट कहें तो प्रेमचंद उस साहित्य को साहित्य मानते हैं जो मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनने की प्रेरणा देता है। इसी आधार पर उन्होंने जैनेंद्र कुमार की रचनाओं की प्रशंसा की थी।

प्रेमचंद के उपर्युक्त कथन का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रेमचंद ने दलित और उत्पीड़ितों के पक्षधर साहित्य को अपनी नज़रों से ओझल कर दिया था। लेकिन इस बात को भी उन्होंने व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत किया है। वे इसी व्याख्यान में आगे कहते हैं, 'जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है- चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है' (वही, पृ. 13)। ये दलित, पीड़ित और वंचित सिर्फ किसान और मजदूर ही नहीं, जाति, धर्म, नस्ल और लिंग के आधार पर दमन और उत्पीड़न का शिकार होने वाले व्यक्ति और समूह भी हो सकते हैं। ऐसे सभी लेखक जो इन प्रश्नों को अपने साहित्य में जगह देते हों और इस आधार पर होने वाले दमन और उत्पीड़न का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विरोध करते हों, क्या उन्हें प्रेमचंद की परंपरा में परिगणित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया जाना चाहिए? प्रेमचंद की परंपरा पर विचार करते हुए सिर्फ़ वर्गीय उत्पीड़न और शोषण महत्त्वपूर्ण क्यों हो जाता है? जाति, धर्म और लिंग के आधार पर होने वाले उत्पीड़नों का चित्रण करने वाले साहित्य को प्रेमचंद की परंपरा के नाम पर दरकिनार कैसे किया जा सकता है? लेकिन हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने ठीक यही किया और इसी आधार पर जैनेंद्र कुमार, हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु आदि को या तो प्रेमचंद की परंपरा में गिना ही नहीं गया या उन्हें प्रेमचंद परंपरा का विरोधी करार दे दिया गया? इन आलोचकों से उस उदारता की तो अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी कि जिस हद तक अज्ञेय और दूसरे आधुनिकतावादी लेखक धर्मनिरपेक्षता और लोकतांत्रिक मानव मूल्यों का पक्ष ले रहे थे, उस हद तक उनके साहित्य के महत्त्व को स्वीकार करते। इसके विपरीत ऐसे संपूर्ण साहित्य को प्रगतिविरोधी घोषित करते हुए प्रेमचंद परंपरा से बहिष्कृत कर दिया गया। इसी संकीर्णतावाद का नतीजा है कि आज जब दलित साहित्य एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में हिंदी में स्थापित हो चुका है, उसने अपने को प्रेमचंद की परंपरा से अलगा लिया है। इसके लिए दोषी प्रेमचंद नहीं बल्कि वे प्रगतिशील आलोचक हैं जिन्होंने भारतीय समाज की सारी जटिलताओं और अंतर्विरोधों को नकारते हुए वर्गीय प्रश्नों पर ही बल दिया। यहाँ तक कि वर्ग संघर्ष के जटिल रूपों को चित्रित करने वाले लेखन को भी अस्वीकार कर दिया गया।

यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि अपने को प्रेमचंद की परंपरा में बताने वाले हमारे एक महान आलोचक ने प्रगतिशील परंपरा के नाम पर तुलसीदास से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक को तो शामिल किया लेकिन उसमें न कबीर के लिए जगह थी और न ही मीरा के लिए। तुलसीदास के रामचरित मानस को धर्मभीरु हिंदू जनता धार्मिक ग्रंथ के रूप में पूजती है, इसलिए तुलसीदास को महानायक घोषित कर दिया गया। इसी जनता के नाम पर भारतेंदु से लेकर निराला तक को महिमामंडित किया गया लेकिन उनके लेखन में सांप्रदायिकता और ब्राह्मणवादी प्रभाव की अनदेखी की गई। इसके विपरीत जिन लेखकों ने अपने लेखन में लगातार सांप्रदायिकता और ब्राह्मणवाद पर प्रहार किया उन यशपाल, रांगेय राघव, मुक्तिबोध जैसे लेखकों के लेखन को अश्लील, अस्तित्ववादी, रहस्यवादी, पुनरुत्थानवादी आदि कहकर नकार दिया गया। डॉ. रामविलास शर्मा ने वेदों से लेकर आज तक जिस कथित हिंदी जातीय परंपरा का महिमामंडन किया है, उसमें बौद्धों, सिद्धों, नाथों, निर्गुणपंथियों के लिए कोई जगह नहीं है। यही नहीं आधुनिक हिंदी साहित्य की परंपरा में भी वे उर्दू को ही नहीं हिंदी के राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, अमृतराय को शामिल नहीं करते। क्या हिंदी की कथित जातीय परंपरा से इन सब को बहिष्कृत करके प्रेमचंद की परंपरा का निर्माण किया जा सकता है? जो प्रेमचंद सदैव हिंदी-उर्दू की एकता और मिली जुली संस्कृति के समर्थक रहे, उसी प्रेमचंद की परंपरा के सबसे बड़े पैरोकार रामविलास शर्मा हिंदी जाति की बात करते हैं और उर्दू को भूल जाते हैं, और जो मिलीजुली संस्कृति को भ्रमपूर्ण अवधारणा मानते हैं।

हिंदी की आलोचना का दुर्भाग्य यह रहा है कि वह रचनात्मक लेखन की तुलना में वैचारिक रूप से पिछड़ी रही है। हिंदी की प्रगतिशील आलोचना गहरे रूप में किसानवाद, पितृसत्तावाद, ब्राह्मणवादी परंपरावाद की शिकार रही है। आधुनिकतावादी आलोचना तो इस मामले में उससे दो क़दम आगे रही है। प्रमाण के तौर पर रामस्वरूप चतुर्वेदी से लेकर कृष्णदत्त पालीवाल तक के आलोचना कर्म को देखा जा सकता है। नारी मुक्ति के संबंध में ही नहीं व्यापक रूप में स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में इनके विचार अत्यंत दकियानूसी और स्त्री विरोधी रहे हैं। सुनीता, दादा कामरेड और वोल्गा से गंगा की जो आलोचना रामविलास शर्मा ने की है, उससे जाहिर है कि उनमें लोकतांत्रिक और समतावादी नज़रिये से स्त्री-पुरुष संबंधों को समझने की कोशिश भी नहीं की गयी थी। 'सुनीता' और 'दादा कामरेड' के छोटे से प्रसंगों को ही पूरे उपन्यास के मूल्यांकन का आधार बनाकर वे आलोचकीय ईमानदारी का परिचय भी नहीं देते। वे इस बात को भूल जाते हैं कि स्त्री मुक्ति के जो प्रश्न प्रेमचंद के समय प्रासंगिक थे, प्रेमचंद की बाद की पीढ़ी के लिए उनमें कई नये प्रश्न और नये पहलू जुड़ गये थे। 1930 तक आते-आते मध्यवर्ग में शिक्षित स्त्रियों का एक ऐसा समूह अस्तित्व में आ चुका था, जिनके लिए स्त्री मुक्ति के प्रश्न शिक्षा, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि से आगे जा चुके थे। शिक्षित स्त्रियाँ न सिर्फ आज़ादी के आंदोलन में भाग लेने लगी थीं, वे नौकरी के लिए घर से बाहर निकलने लगी थीं। इस प्रक्रिया में बहुत स्वाभाविक था कि उनके अपने मित्र होते, दांपत्य संबंध भी ठीक उसी तरह के नहीं हो सकते थे, जैसे प्रेमचंद के समय थे। यहाँ तक कि कामकाजी महिलाओं की अपनी समस्याएँ भी थीं। इन सबसे भी बड़ी बात यह थी कि अब एक ऐसी स्त्री सामने आ रही थी जिसका अपना नज़रिया था और जो यह समझती थी कि स्त्री के जीवन के बारे में फैसला लेने का अधिकार किसी ओर को नहीं स्वयं स्त्री का है। प्रश्न नैतिकता और अनैतिकता का नहीं स्वत्व का है। स्त्री की इस स्वतंत्र चेतना को 1930-35 के दौरान महादेवी वर्मा द्वारा 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के अंतर्गत लिखे गये लेखों से समझा जा सकता है। इसी स्वतंत्र होती चेतना की कशमकश और स्वत्व के लिए स्त्री के संघर्ष को पहचान कर यशपाल और जैनेंद्र कुमार ने अपने कथा साहित्य में जगह दी थी। जैनेंद्र के उपन्यास की नायिकाओं को समझा ही नहीं जा सकता यदि स्त्री के इस बदले हुए दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया जाता। जब रामविलास शर्मा 'सुनीता' उपन्यास में सुनीता को अपने पति के मित्र हरिप्रसन्न के सामने नग्न होते देखकर इतना विचलित हो जाते हैं कि वे और कुछ देख ही नहीं पाते, तो इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे उस बदलाव को देख ही नहीं पा रहे थे जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में घटित हो रहा था। जिन आलोचकों के लिए यशपाल, जैनेंद्र, राहुल, अज्ञेय आदि का खुलापन बर्दाश्त नहीं हुआ और उसे अश्लील कहकर भर्त्सना योग्य समझा, वे बाद की पीढ़ी के साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंधों के चित्रण को क्या समझ पाते? स्वयं प्रेमचंद ने अपने लेखन में कई बार स्त्री की यौन इच्छाओं को भी पूरी सहानुभूति और साहस के साथ चित्रित किया था। लेकिन प्रगतिशील आलोचना उसे रेखांकित करने से कतराती रही। क्या यह महज संयोग है कि जिन लेखकों को जनविरोधी, अश्लीलता का प्रचारक, व्यक्तिवादी और आधुनिकतावादी कहकर बदनाम किया गया उनमें से अधिकांश लेखक आज़ादी की लड़ाई में सक्रिय रहे। यशपाल और अज्ञेय ने क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लिया था, जैनेंद्र कांग्रेस में 1946 तक सक्रिय रहे और आंदोलनों में भाग लेकर जेल भी गये और राहुल सांकृत्यायन तो किसान आंदोलन के अग्रणी नेता रहे और आजादी की लड़ाई में भाग लेते हुए लाठियाँ भी खाईं।

जो बात स्त्री के बारे में सच है वही दलित और ग्रामीण जीवन के बारे में भी सच है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि फणीश्वरनाथ रेणु ने मैला आंचल के माध्यम से ग्रामीण यथार्थ को अपनी पूरी जटिलता और जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया था। यह सही है कि रेणु का संबंध समाजवादी आंदोलन से था और वे उसमें सक्रिय भी थे। उन्होंने नेपाल में राणाशाही के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था। उन्होंने अपने उपन्यास में किसानों के शोषण का ही मार्मिक चित्रण नहीं किया था, एक संस्था के रूप में धर्म के घिनौने रूप का भी पर्दाफाश किया था। उन्होंने दलितों और स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न को गहरी सहानुभूति और मार्मिकता से चित्रित किया था। उन्होंने आज़ादी के बाद के भारत में राजनीति में प्रवेश कर रही भ्रष्ट प्रवृतियों को भी उजागर किया और ऐसा करते हुए उन्होंने समाजवादियों को भी नहीं बख्शा था। लेकिन रेणु को प्रेमचंद की परंपरा का लेखक नहीं माना गया। शायद इसलिए कि वे समाजवादी थे और प्रगतिवाद और मार्क्सवाद का समर्थन नहीं करते थे? रेणु को भी प्रेमचंद की परंपरा से बाहर खदेड़ने के लिए वही पद्धति अपनायी गयी जो जैनेंद्र, यशपाल, राहुल आदि के लेखन की आलोचना करने के लिए अपनायी गयी। यानी कि उनके लेखन से दो-चार पंक्तियों को संदर्भों से काटकर उद्धृत करना और फिर मजाक उड़ाते हुए उनको कमतर लेखक घोषित करना। इसी संकीर्णतावादी प्रवृत्ति ने नयी कविता की धारा का भी दोषपूर्ण मूल्यांकन किया। मुक्तिबोध ने अपने लेखों के द्वारा लगातार इस बात को उजागर किया था कि नयी कविता में दो तरह की धाराएँ हैं लेकिन प्रगतिशील आलोचना ने पूरी नयी कविता को ही प्रगति विरोधी करार दिया। यहां तक कि स्वयं मुक्तिबोध को भी नहीं बख़्शा गया। उन्हें अस्तित्ववादी और रहस्यवादी कहा गया। मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह जैसे कवियों को प्रगतिशील परंपरा में शामिल करने के लिए 1970 के दशक में उभरे जनवादी साहित्यिक आंदोलन का इंतजार करना पड़ा।

प्रेमचंद की परंपरा का अर्थ यह कदापि नहीं है कि जनवाद और प्रगतिशीलता के नाम पर सब कुछ को शामिल कर लिया जाए। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इसमें राहुल, यशपाल, मुक्तिबोध, रांगेय राघव, रेणु और रघुवीर सहाय के लिए भी जगह न हो। प्रेमचंद की परंपरा का अर्थ यह कदापि नहीं है कि परंपरा को मनमाने ढंग से परिभाषित किया जाए। प्रेमचंद का सावधानीपूर्वक और पूर्वाग्रह मुक्त होकर अध्ययन करने वाला पाठक आसानी से इस बात को पहचान सकता है कि प्रेमचंद की परंपरा बौद्धों, सिद्धों, नाथों और निर्गुण परंपरा का स्वाभाविक विकास है। इस परंपरा में लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष मूल्य के लिए तो जगह है लेकिन ब्राह्मणवाद और सांप्रदायिकता के लिए कोई जगह नहीं है। प्रेमचंद की परंपरा जितनी प्रगतिशील है उतनी ही आधुनिक भी है। वह सबसे पहले दलित और स्त्री की मुक्ति की परंपरा भी है। इस दृष्टि से यदि प्रेमचंद की परंपरा मेहनतकशों की मुक्ति का समर्थन करने वाले साहित्य से जुड़ती है, दलित और स्त्री मुक्ति के आंदोलनों से भी जुड़ती है। वह शिक्षित मध्यवर्ग के उस अंतःसंघर्ष से भी जुड़ती है जो मुक्तिबोध सहित कई रचनाकारों की रचनात्मकता का आधार रहा है। यदि प्रेमचंद की परंपरा में दलित साहित्य और स्त्री मुक्ति के साहित्य के लिए जगह नहीं है, यदि इस परंपरा में मध्यवर्ग का आत्मसंघर्ष नहीं है, तो स्वयं प्रेमचंद का इस परंपरा से कोई संबंध नहीं है।

जे-1, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नयी दिल्ली-110068

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरांवाली

कमल कुमार

एक ख़ाकी वर्दी अचानक मेरे पैरों पर झुकी, उसने पालागन किया। उठी, तो पल भर को हैरानी से जड़ जैसी हो गयी थी।

"जी, मैडम" वह मेरे गले मिली थी और फिर कंधे पर सिर रखकर ठहर-सी गयी थी। उसका सिर सहलाया.....उसने चेहरा उठाया। उसकी आँखें गीली थीं।

"मैडम जी, जो आपके कारण होआ। मैं बन गयी, मैडम जी।"

"नहीं, इसमें तेरी अपनी मेहनत थी, अपनी लगन थी, अपनी हिम्मत थी।"

"नहीं मैडम जी, मेरे पिच्छे तो आप थी...," वह भावुक हो गयी थी।

"तेरी पुलिस की वर्दी को यह आँसू नही फबते। चल, पोंछ, कोई देख लेगा तो क्या कहेगा?"

वह हँसी थी, "आप भी मैडम जी, वैसी की वैसी ही हैं, जरा भी नी बदली।"

"क्यों, लेकिन तू तो बदल गयी वीरांवाली, तूने तो मेरा सिर ऊँचा कर दिया।"

वह ख़ुश थी, "मेरी पोस्टिंग यहीं की चौकी में हुई है," कहते हुए उसके चेहरे पर धूप-सी खिली थी।

"अब तो तू छाती तानकर जीप में घूमेगी। पर, तेरे ससुराल वालों का क्या हुआ?"

"उनका क्या होना था, वैसे ही हैं। पर अब मेरा आदमी मेरे साथ है।"

वह बोली, "मैं जब दिल्ली में ट्रेनिंग में थी, वह मेरे पास आया था। हमारी बात हुई आपस में। मैंने उसे सब बताया। उसने मुझसे माफ़ी माँगी। बस, मेरे भाग खुल गये। अब हम साथ ही हैं।"

"यहाँ भी तेरी जीत हुई वीरांवाली।"

"आपकी और ऊपर वाले की मेहर है मैडम जी।"

टेलीफ़ोन की घंटी बजी, वह भी खड़ी हुई.... "चलती हूँ मैडम जी, आपका ऑफ़िस का वक़्त है। फेर आऊँगी, आपसे मिलूँगी। अब तो मैं यहीं हूँ।"

"ज़रूर आना, आती-जाती रहना।"

वह पैरों पर झुकी थी, उसे रोका था।

"नहीं बस आप आशीर्वाद देती रहें," वह कुर्सी से उठकर चली गयी थी... पर मेरे मस्तक में पाँच साल पहले की वीरांवाली आकर बैठी थी। पढ़ाई में होशियार, ज़िम्मेदार, कॉलेज के दूसरे कार्यक्रमों में भी हिस्सा लेती। संयत और मेहनती। उसके बी0ए0 का दूसरा साल था। जब-तब उसके घर से कभी सास-ससुर, कभी देवर कॉलेज में आ जाते और झगड़ा करते। दफ़्तर में घुस आते थे।

"इसनूँ कॉलेज ते निकालो। हमने नीं पढ़ाना इस नूँ।"

इस जगह पर रोज़ यही क़िस्सा था। इसलिए मैं जान गयी थी कि ऐसे केसों का क्या करना होता है। मैंने वीरां को बुलाया था, "यह तेरी सास शिकायत लेकर आयी है, क्या करना है? निकाल दूँ कॉलेज से। कहना नहीं मानती... क्यों री?"

वह रुआँसी-सी आ खड़ी हुई थी। सासू उसे देखकर भड़की थी—"चल, गर चल, हो गया, पढ़ाई का नाटक।"

"आप जाओ, कॉलेज के बाद ई आऊँगी।"

"चल तू, हमने नी पढ़ाना तन्नौ। पड़ के क्या तू कलक्टर बनेगी। चूल्हा फूँकना है। सो इबी फूँक, चल। तेरे ससुरे की तबीयत ठीक नी, चल।"

"सारा काम करके आयी हूँ, मैडम जी। सुबह साढ़े चार बजे उठती ऊँ। गोबर गड्ढे माँ डाला, पशुओं का दाना-पानी किया। घर की सफाई, कपड़ों की धुलाई, दूध बलो के, फिर सब्जी बना के, टिक्कड़ सेंक के आयी हूँ। इब क्या बचा? यो बुढ़िया तो मेरी जान लेके बी चैन नी लेगी। जा... अब कॉलेज पूरा करके आऊँगी।"

मैंने उसकी सास और देवर को समझाया था, "छोरी आपकी पढ़ना चाहती है, तो पढ़ने दो। घर भी देख रही है।"

काफ़ी चक्-चक् के बाद वे चले गये थे। जाते-जाते धमकी दे गये थे--"इस बदचलन छोरी नू ज्यादा सिर चढ़ाने की जरूरत नीं। नाम काट इसका कॉलेज ते। अपनी गर-गिरस्ती सँभालेगी।

बात यहाँ ख़त्म नहीं हुई थी। वीरांवाली के घर से रोज़ कोई न कोई झगड़ने के लिए आ जाता था। उसने वीरां को बुलाया था, पूछा था तो वह सुबकी थी, "इब क्या बताऊँ मैडम जी। मेरा आदमी फौजी है। बाहर बॉर्डर पर पोस्टिंग है। वो तो छुट्टी मां ही आवै है। यो सास जो मन्नो... बदचलन कैन लागरी ऐ। इब आप इसकी सच्चाई वी सुन लो। यो ससुरा रात नू मेरे कमरे मां आवै, कहै मन्नौ खुश कर, जो इस गर माँ रैना ऐ तो। उसको गालियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देके भगाया...कुएँ मां कूदने की धमकी दी। तो यो मरो देवरा आके रात नूँ दरवाज़ा खटखटावै, कैवै, यो बुढ्ढा तेनू पसंद ना, तो तू मेरे पास आजा। दुखी होके सासू के पास गयी, उसनूं बतायी सारी महाभारत। तो वो मां की जाई, खुराँट औरत बोली, 'तो क्या होया- तेरी इस जवान देह नूँ फँकना क्या हमने। जरा सा घर के मरद नूँ खुश कर देगी, तो क्या हो जाएगा। घट जाएगी तू। राँड, मैं जानू न तन्ने। कॉलेज के वहाने क्या करै ऐ तू?''

''बकवास करै ए। खबरदार जो मेरे पर इलजाम लगाया। अपने इस लौंडे नूँ बोल, मुझे छोड़ आया करेगा ले आया करेगा। यो घर है या रंडीखाना, गुस्से में पैर पटकती मैं बाहर आयी थी। ननदों की शादी ब्याह हो गया। इब आदमी मेरा है नी। ये तीनों जन मेरी ज़िंदगी हराम करने लागरे ऐं। सोचूँ हूँ मैडम जी, पढ-लिख जाऊँ अपने पैरों पर खड़ी हो जाऊँ, तो इस नरक ते छुट्टी मिलै।''

मुझे विश्वास नही हुआ था। अपने ही घर में औरत का यह हाल। पर पता चला यह तो यहाँ के घरों की सच्चाई है। दिन भर औरत ढोर की तरह घरों में काम करती है। पशुओं का दाना-पानी, नहलाना, धुलाना, गोबर थापना, उनके लिए चरी काटना। घर के जो सारे काम हैं, वे तो हैं ही। फिर जहाँ घरों में नल या हैंडपंप नहीं हैं, वहाँ दूर जाकर कुओं से पानी लाना। चूल्हा जलाने के लिए बालन लाना। फिर जहाँ खेती का काम है, वहाँ खेतों में जाकर हल तो नहीं चलातीं, बाक़ी सारे काम औरतें करती हैं। पर, इस पर भी घरों में शांति नहीं। चिल्ल-पों मची रहती है।

मैं शाम को कॉलेज के बाद घर जाती, तो देखती कि औरत सिर पर संदूकची या गठरी, एक बच्चा गोद में, एक पेट में और एक हाथ पकड़े आती और आदमी आगे-आगे बीड़ी सिगरेट पीता चलता और थोड़ी देर बाद पीछे मुड़कर हाँक लगाता, ''चल इब। पैर बढ़ा...।''

न वह सामान उठाता न बच्चा, पर ऐंठ उसकी देखते ही बनती।

एक दिन सुबह-सुबह कॉलेज पहुँची तो हंगामा मचा था। वीरां के सास-ससुर और देवर तीनों बाहर बैठे थे। मुझे देखते ही झपटे—''इब देख लो मैडम जी, इस बदजात छोरी नूँ सिर चढ़ाने का किया हुआ? देखया आपने?''

''क्या हो गया?''

''घर छोड़कर भाग गी राँड। हमने तो आपनूँ पैले ही कहया था...।''

कब भागी? कहाँ गयी?''

''भागी होगी अपने आशिक के साथ और कहा गी होएगी. दो दिन होगे। परसों कॉलेज ते गर नहीं आई। बाद में पता चला, अपने कपड़े-लत्ते भी सवेरे ही लेगी थी।''

मुझे विश्वास तो नहीं हुआ था। पर कहा, ''चलो चली गयी, आपकी भी जान छूटी। रोज़ का लड़ाई-झगड़ा। जाने दो जहाँ गयी। उसकी क़िस्मत...''

''आप उसका कॉलेज ते नाम काट दो। घर तो उसने छोड़ दिया, कॉलेज न छोड बै। हम जानै उसनूँ। जान बसै उसकी कॉलेज मां। पता नी आप उसनूं क्या पट्टी पढाओ। आपकी बी शिकायत करेंगे मिनिस्टर के पास। छोरियाँ नूँ भड़कान लगरी आप। शै देवें आप उना नूँ। उनकी घर-गृहस्थी मां आग लगावै।''

''आप जाइए फिर, मेरी शिकायत करिए। मिनिस्टर के पास जाइए। मेरे पास क्यों आये आप। यह शिक्षा की संस्था है। यहा आपकी छोरियाँ को पढ़ाया जाता है, लिखाया जाता है। अच्छी शिक्षा दी जाती है। इस तरह कॉलेज पर इल्जाम लगाने का आपका कोई हक नहीं बनता। जाइए आप, जो करना हो कर लीजिए।''

''देख लेंगे आपनूँ भी मैडम जी,'' देवर एक नये अंदाज़ में मेरे सामने खड़ा हो गया था। आँखें तरेर, गुस्से से मुँह फुला के घूर रहा था।

''आपनूँ तो मैंन्नें यहाँ ते....''

एक पल के लिए मेरे पैर काँपे थे। ज़मीन पैरों के नीचे से हिली थी। यहाँ इस तरह के अपराध आम बात है। अपने जाटपने पर उतर आएँ ये, तो कुछ भी नुकसान कर सकते हैं। पर पता नहीं क्यों और कैसे, मैं ज़ोर से चिल्लायी थी—''चुप!'' एक थप्पड़ उसके मुँह पर दे मारा था, ''ख़बरदार जो एक भी शब्द बोला तूने। जानती हूँ मैं तुम्हें। तीन साल से कॉलेज में बी.ए. में फेल होते रहे। अब पढ़ाई छोड़कर आवारागर्दी करते हो। गुंडई पर उतरोगे, हाँ...। एक फ़ोन ही काफ़ी है तुम्हारे लिए। जाओ यहाँ से। पढ़ना नहीं, तो बाप के साथ खेती-बाड़ी में काम सँभालो। नहीं तो कोई काम-धंधा ढूँढो और करो... समझे।''

तीर निशाने पर लगा। उसको इसकी उम्मीद नहीं थी। वह 23-24 साल का युवक थोड़ा भयभीत लगा। कुछ बुदबुदाया था—''मन्नै न पढ़ना तो...''

''खेती है तुम्हारे घर की, खेती में काम करो।''

''मन्ने ना अच्छी लागे खेती-बाड़ी।''

''तो काम-धंधा करो।''

''मिलै क्या काम?''

''क्यों नहीं मिलेगा? ढूँढोगे तो मिलेगा।

वह विवश-सा लगा। मुझे कुछ सूझा था, ''बात करना मुझसे फ़ोन पर ऑफ़िस में। सोचूँगी तुम्हारे वास्ते, पर पहले बंदा बनो। बड़ों से बातचीत करने की तमीज़ सीखो, समझे। हीरो बनना छोड़ो। यह फ़िल्म के हीरो बनने से नहीं होगा कुछ भी।''

वह थोड़ा सकुचाया था।

जाओ अब आप लोग। मुझे दफ़्तर का काम देखना है।

वे उठकर चले गये। वह मुड़कर आया, ''कब फ़ोन करूँ?''

''कर लेना दो-तीन दिन बाद। पता करती हूँ।''

वे चले गये तो चैन की साँस ली थी, लेकिन सवाल यह था कि वीरां कहाँ गयी। अभी सोच ही रही थी कि वीरां सामने आ खड़ी हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैडम जी मैंने सब सुन लिया। यहीं छिपी खडी थी। मन्नो पता था यह सब होएगा। क्या करती, वहाँ रैके। वो तो मुझे रंडी बनाने पर तुले थे। इनका कैना नहीं माना, तो इनोने मेरे आदमी नूँ बुलाया, कै मां घणी बीमार ऐ। फौजी छुट्टी लेकै आ बी गया। इन सबने मिलके क्या-क्या बोल्या। क्या पट्टी पढ़ाई उननूँ क्या बताऊँ आपनूँ। इब वो तो नहीं यहाँ। जाट का दिमाग तो होवै ना। अपना मत्था तो लगाया नीं। जो सुना उसनूँ मान लिया और फेर उस जालिम ने जो मेरा हाल करा।"

उसने अपनी कमीज उठाकर दिखायी-सारी पीठ लहू-लुहान थी।

"डंडा लेकै कूट्या था। पागल कुत्ते नूँ मारैं जैसे। बाल खींचे। धौल-मुक्के। जो हाथ में आया मन्नो मार्या कसाई ने। भथेरा चीखी, ये सब झूठ बोलैं। पर वै क्यों मानै था, 'हाँ तू सच की पुतली। यो मेरे माँ, बाप, भाई-सब झूठै। तू बदचलन लुगाई आशिकाई करै ऐ। मां रौकै कै तो तू गाली बकै। समझै कै मेरा आदमी बाहर, तो तू गुलछर्रे उड़ावै। राँड, तेरी तो मैं आज सारी हड्डियाँ तोड़ँगा। तन्नो सबक सिखाके ई जाऊँगा। ना रहेगा बाँस अर न बजेगी बाँसुरी, ठैर तू राँड जावै कहाँ... मैडम जी, मन्नो कुछ सूझा था के इस आदमी पर भूत सवार है। मेरा जिंदा बचना मुश्किल है। मैं तो डयोढ़ी का दरवाजा खोल कै बाहर नूँ भागी। बाहर गली मां आके पीछे नूँ भागी जान बचाने के वास्ते। आग्गे, चाची का दरवाजा खुला था। भागकर अंदर घुसी। चाची मुझे देखके चमकी थी, उसके पैरों आँ गिरके बोली थी, जान बचा दे मेरी, चाची। वो मन्नो आज नी छोड़ेगा। चाची को पता थी मेरे घर की राम कहानी। उसने मुझे ढोरों के छप्पर के नीचे छिपा दिया था। सास और मेरा आदमी वहाँ आये थे, ढूँढते होए। चाची ने कहा था, मन्नो क्या पड़ी थारै घर की महाभारत मां पड़ने की। मारो या रक्खो थारी बहू। तुम जानो। यो मेरा घर खुला पड़या है, देख लो। यहाँ नहीं आयी वो। उन्होंने इधर-उधर नज़र घुमायी थी। चाची ने फटकारा था—किसी कुएँ में कूद मरी होगी वो थारे घर की महाभारत ते तंग आकै। जाओ कुआँ मां झाँककर देखो, राक्षस कहीं के।

"वे चले गये थे। सुबह साढ़े चार बजे उठकर चाची ने मन्नो अपने छोटे छोरे के साथ ताई के पास भेज दिया था "जा-ये तन्ने छोड़ने वाले नीएँ। अपनी जान बचा ले।" यहीं पास के गाँव में मेरी बड़ी विधवा ताई ऐ। बच्चे उसके बाहर चले गये, नौकरी पर। छोरियों के ब्याह होगे। अकेली है, चल-फिर नहीं सकती। उसके पास चली गयी। कहा उसे—ताई तेरी सेवा का जिम्मा मेरा। खाना, कपड़ा, सफ़ाई-धुलाई बाजार-हाट सब करूँगी। बस सिर पर छत दे दे। वह मान गयी।"

"ठीक है। अच्छा रहा। जहाँ चाह वहाँ राह, बीबी। अब तू चैन से..."

चैन कहाँ मैडम जी, इन राक्षस नूँ पता तो चलना ई ए। देखो फेर क्या होवैगा।"

"तेरे लिए कोशिश कर रही हूँ वीरां। तेरे दूसरे साल में अंक अच्छे आ जाएँ, तो स्कॉलरशिप मिल जाएगा।"

"जैसे-तैसे यो डेढ़ साल निकल जाएँ। पढ़ लूँ मैडम जी। इस नरक ते छूट जूँ बस"—वह बिलबिलायी थी।"

"तू बहादुर छोकरी है, चिंता न कर। कुछ-न-कुछ हो जाएगा।"

कुछ दिन ठीक चला था। वह समय पर कॉलेज आती। कक्षाएँ पूरी करती। कॉलेज का काम लाइब्रेरी में बैठकर पूरा करती। फिर साँझ होने से पहले घर चली जाती।

एक दिन सुबह वह काँपती हुई-सी आयी।

"मैडम कल मेरे पीच्छे ते वे ताई के यहाँ गये थे। ताई ने मना किया, तो मेरे रस्सी पर सूखते कपड़ों और अंदर पड़ी किताबों ते समझ गये। ताई नूँ गालियाँ दीं। मेरी किताब-कापियाँ, कपड़े उठाकर बेड़े में रखकर उनमाँ आग लगा दी, और ताई नै कहा—शाम को आएँगे उस रंडी को ले जाने।"

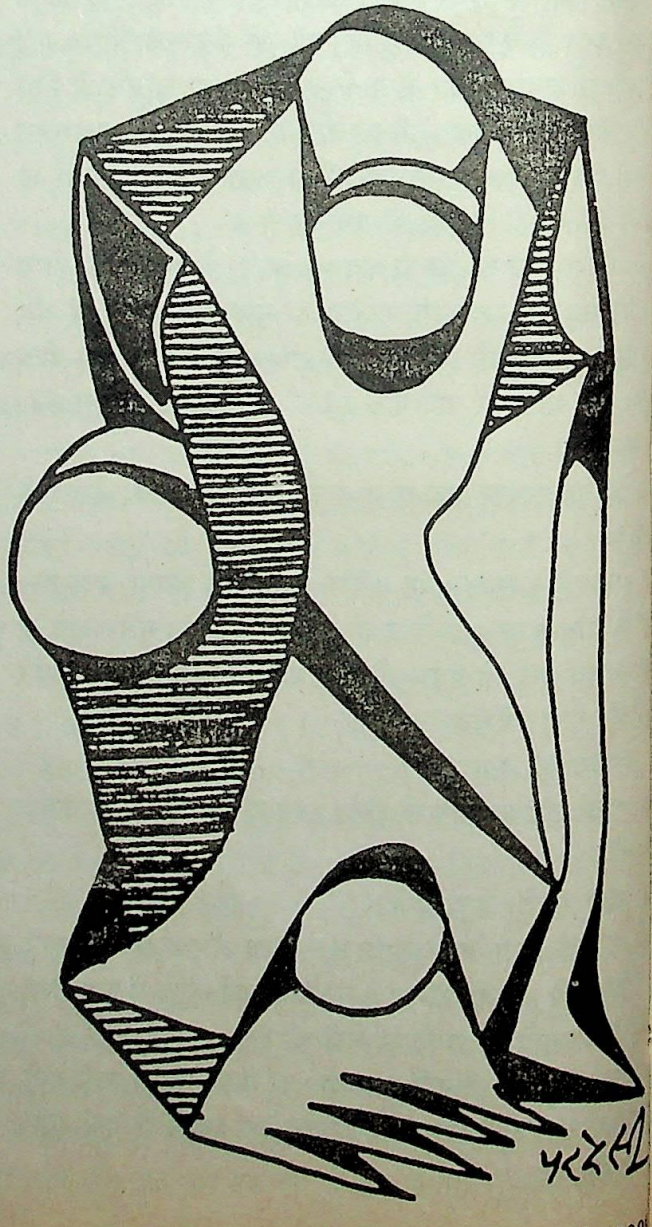

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरां घर पहुँची तो आँगन का हाल देखकर समझ गयी थी।

"ताई ने कह्या था—जा बेटी अपने माँ के धोरे चली जा—ये न छोड़न लागै तन्नो।' मेरा मन तो नी था। पर माँ ऐ, तो कोख जाइ पर तरस करेगी। सुबह सार उठकै बस पकड़ के वहाँ पहुँची। माँ मन्नो देखके ऐसे होगी थी जैसे साँप सूँघ गया हो। माँ नूँ बताया, अपनी देह दिखायी। पीठ पर के घौ दिखाये, पर उस पर उलटा असर होया था, 'तू है ई भागा फुट्टी। जहाँ जाएगी, वहाँ यो ही होएगा। थारा नाम वीरांवली रखा था, अपने पीच्छे छोरियों की लेन लगा दी। इब यहाँ ते तो तू उलटे पैर चली जा छोरी। तन्नो अंदर ना आण दूँ मैं। इस घर माँ तीन छोरियाँ और हैं तेरी पलौठी की। घर का सारा झाड़-पोंछ कर जो था, तेरे ब्याह में लगाया था। इब तू फेर यहाँ मेरे मूड़ पर सवार होण लागरी।"

"मेरी बात तो सुन तू माँ।"

"मैं कुछ न सुणूँ, तू जा। दरवाजे के बीच माँ खड़ी होगी। मन्नै अंदर बी नी आन दिया। सो माँ, इब जाऊँगी, तो कहाँ जाऊँगी। तू सोचदी क्यों नीं।"

"मन्नो कुछ नी पता। तू जा। जिद्द न कर। मैं तेरी इन बातों मां नी आन लगी। अपने घर जा। जो कहै सास-ससुरा वही कर। औरत की जून अपने पापां का फल भोग।"

"पर माँ, वो तो मन्नो वैश्या बनान लागरे।"

"मां एक पल रुकी थी—"जो मरद जात छत देवै सिर पर पेट के वासते अन्न देवै। उसकी चाह पूरी करने मां कोई पाप नी। तू जा इब।"

"मैं भी जिद्द करके वहीं बरामदे में बैठी रही। पर उसने अपनी कोखजनी नूँ अंदर नी आण दिया। भूखी-प्यासी शाम तक दरवाजे पर बैठी रही। आखिर सोचा, इसते क्या होएगा। माँ ने तो अपना फैसला सुना दिया। माँ और सास दोनों माँ फरक कहाँ रहा था। सो उठकर बस पकड़कर कॉलेज आ गयी। चौकीदार को समझाया। उसे बताया कि उसकी जान खतरे में है। सुबह जब तक मैडम जी आती है तब तक उसको अंदर आने दे। चौकीदार पहले तो माना नहीं था। फिर अकेली छोरी रात नूँ कहाँ जाएगी... उसने गेट खोल दिया। मैं अंदर आगी थी। बरामदे में कोने में छिपकर बैठी रही थी, रातभर। सुबह आपके आने के इंतजार में।"

मैं चिंता में पड़ गयी थी। अब क्या किया जाए। वीरां का आखिरी साल था। सात-आठ महीने बचे थे। कॉलेज में हॉस्टल नहीं था लड़कियों का। तब लगा था, हॉस्टल का होना लड़कियों के वास्ते कितना ज़रूरी है, जहाँ सुरक्षित रह सकें अपनी पढ़ाई पूरी कर सकें।

बहुत सोच-विचार के बाद—वहाँ कॉलेज के कामगरों के कुछ घर थे, जहाँ माली, चौकीदार, एक चपरासी का परिवार रहता था, किसी तरह से कोशिश करके एक छोटे कमरे और किचन का प्रबंध वीरां के लिए किया था।

वीरां कह रही थी, "मैडम जी मन्नै मेनत-मजदूरी ते डर न लगै। मन्ने आपके दफ्तार की सफाई का काम दे दो। वहीं करूँगी, कॉलेज की पढ़ाई के बाद। आप सुबेरे आएँगी, तो दफ़्तर और बरामदा सब चकाचक मिलेगा। आप दिहाड़ी पर कामगार वी तो रखै हें। मैं कर दूँगी।"

वीरां की फ़ीस माफ़ हो गयी थी। स्कॉलरशिप के दौ सौ रुपये और जो भी दिहाड़ी का काम होता, उससे उसका खाना-पीना चल जाता। किताबों के लिए, कपड़े-लत्ते के लिए उसकी मदद मैंने कर दी थी।

121843

वह डर के मारे कॉलेज के गेट से आठ महीने कॉलेज के गेट से बाहर ही नहीं निकली। दिन में कक्षाएँ चलतीं। कॉलेज के बाद मेरे दफ़्तर का और स्टाफ़ रूम की सफ़ाई का उसका ज़िम्मा था। वह सफ़ाई करती, धूल झाड़ती, घड़ों में पानी भरती, मेज़-कुर्सी, सजावट का सामान—सब चमका देती। फिर अपने कमरे में जाकर पढ़ती-लिखती और सुबह कक्षाओं में जाती।

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar 249404 (U.A.)

पता चला था कि एक दिन ढूँढते हुए वे शाम को कॉलेज भी आये थे। गाँव की किसी छोरी ने बता दिया था कि वह कहीं मरी-खपी नहीं। ज़िंदी-जागदी कॉलेज मां रैही ऐ। पर चौकीदार ने खदेड़ दिया था और धमकाया था कि अगर वे यहाँ आये तो वह पुलिस नूँ बुलाएगा।

"चल कदी तो बाहर निकलेगी राँड, फेर देखेंगे उन्नू," वे लौट गये थे।

इम्तिहान हो गये थे। परीक्षाओं का परिणाम आने में देर थी। कॉलेज की छुट्टियाँ भी होनी थीं। वीरां का क्या होगा। तभी पता चला कि दिल्ली में एन0सी0सी0 का एक कैंप लगना था। वीरां एन0सी0सी0 की छात्रा तो थी ही, सो उसके लिए वहाँ फ़ोन करके कहा। वीरां चली गयी। फिर रिजल्ट आया, तो आयी थी अपनी मार्कशीट और सर्टिफ़िकेट लेने। कह रही थी, कि एन0सी0सी0 वालों ने उसे चुन लिया है—ट्रेनिंग के वास्ते। मैं भी ख़ुश थी, चलो एक रास्ता तो मिला। रास्ता मिला, तो कहीं पहुँचेगी ज़रूर। यूँ भी कई बार उसका ध्यान आता था। फिर मैं अपने रोज़मर्रा के व्यस्त जीवन में सब भूल भी गयी थी। आज अचानक वीरांवाली का इस वर्दी में आ खड़ा होना... उसके चेहरे पर उसका अपना अर्जित किया आत्मविश्वास था। सारी अग्नि- परीक्षाओं से गुज़रकर वह अपने पूरे विश्वास के साथ खड़ी थी। सिर उठाये, गर्दन सीधी किये। लगा था कि यह तो उसकी ही नहीं, मेरे जीवन की भी सार्थकता थी। उसकी रोंगटे खड़े कर देने वाली ज़िंदगी पर उसका साहस... सोचकर ही आँखें भर आयी थीं...

"जी-मैडम, आपकी तबीयत ठीक है न"

सामने चपरासी खड़ा था, "बिल्कुल ठीक है"

मैं वर्तमान में लौटी "लाओ, काग़ज़ लाओ।

फ़ाइल खोलकर काग़ज़ उलटने-पलटने लगी थी।

डी-34, प्रेस एन्कलेव
साकेत, नई दिल्ली-17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म के लिए ही तो जा रही हूँ

चन्द्ररेखा ढडवाल

चुनावों के लिए करीब क़रीब छह महीने रहे होंगे, जब सवाणी गाँव में यह ख़बर घर-घर की चर्चा बन गयी कि इस बार किसी महिला को सरपंच बनाया जाएगा। इधर-उधर जहाँ भी चार जन इकट्ठे होते, यही बात चलती। सबसे ज़्यादा बड़े चौधरियों के घर लोगों का ताँता बँधने लगा। इनके यहाँ के मर्द सुबह नाश्ते-पानी के बाद ड्योढ़ी में हुक्का गुड़गुड़ाने बैठते, तो दोपहर का खाना तो ठीक, शाम के चाय-नाश्ते के बाद रात के खाने तक का सारा बंदोबस्त भी यहीं पर होता। बीच में तो कई हाथ थे, पर अंदर रसोई तक गुसाईं की ही पहुँच थी। भीतर वह पंडित जी, ड्योढ़ी में गुसाईं और बीच में मालिकों वाली अकड़ दिखाता ओए-तोए करता कारिंदा।

"यह क्या सुन रहे है मालिक, अब घर की औरतें दाल-चावल की चिंता छोड़ कर पंची करेंगी?

"तुम हुक्का लो! बात करते हैं। दो दिन बाद विधायक का दौरा है, देखें क्या कहता है?"

"बात क्या करनी जी, दो टूक कहो उससे कि भाई, औरत ज़ात खिलाये-पिलाये, बच्चे जने, बच्चे पाले और बाक़ी जो उसका धर्म, सो निभाये...," मुणसी वीर सिंह कोर्ट-कचहरी में रहते जजों की तरह फ़ैसला सुना कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

"बात तो तुम्हारी सवा सोलह आने सही है। पर, अगर क़ानून ही बना दिया गया हो, तो विधायक भी क्या कर लेगा।"

"क़ानून सरकार बनाती है और जनता तुड़वाती है। धरना देकर बैठ जाएँगे विधायक के घर के आगे। हमारे गाँव की राजनीति नीं चले ज़नानियों के चलाये।"

"सो तो कहेंगे ही। पर, अगर चारों खाने बात नहीं बनी, तब के लिए भी कुछ सोचना तो पड़ेगा ही। न हो तो बड़ी चौधराइन को खड़ा कर देंगे। पहले का सब काम तुम निबटा लोगे। बाद में सरपंची हम देख लेंगे।"

"बड़ी मालकिन जा पाएँगी घर-घर? जब से ब्याह कर आयीं, जात-बिरादरी के न्योतों पर शादी-जनेऊ में भी पालकी में ही निकली हैं घर से," गुसाईं ने जैसे फ़रियाद की।

"पालकी में या पैदल, वे निकलेंगी ही क्यों मरदूद। वे तो चूल्हा-चौका देखते जीत लेंगी सरपंची। बीस सालों से घर की जागीर रही है। ऐसे ही जाने देंगे क्या?"

"वो तो है। पर, सुना है कि हरिजन टोले में मंगतू की औरत सुखवंती के पीछे लगे हैं—अपना राज पार्टी के पिछलग्गू।"

"यह तो और भी अच्छी कही वीर सिंह, विरोधी पार्टी गठजोड़ करके वह तो खड़ी होने से पहले ही बैठ गयी समझो। चौधरी के ठहाके में बड़े सारे स्वर आ मिले, पर गुसाईं चुप ही रहा। उसे सच ही लग रहा था कि यह ग़लत होगा। चींटी तक के लिए पुण्य कमाने की इच्छुक चौधराइन को कहाँ झोंकने की सोच रहे हैं मालिक। फिर, ब्याह के बाद दाड़िम पूज कर आयी नयी-नवेली सुखवंती ने सबसे पहले इन्हीं के सामने धरती पर अपना पल्लू बिछाकर सिर नवाया था। कितनी ही बार बचा हुआ सालन-भात ही नहीं। तीज-त्योहार पर बनी खीर-पूरी भी गुसाईं के हाथ उसके बेटे के लिए भिजवायी है मालकिन ने। अब दोनों आमने-सामने खड़ी होंगी क्या? सुखवंती की क्या हिम्मत? हिम्मत क्या, वह बेचारी मन से ही नहीं चाहेगी ऐसा। फिर मंगतू को भी समझ होनी चाहिए कि दो-दो सांडों से काहे को भिड़ना। एक तो गाँव का चौधरी, दूसरा हाकिम। नहीं हुआ, तो वह समझा देगा। आँख की अँगुली डालकर दिखा देगा सच्च कि चौधरियों की ज़द्दी जागीर सरपंची। यूँ ही नहीं किसी की झोली में डाल देंगे। मन ही मन जमाखर्च करके गुसाईं ने चैन की साँस ली और दोपहर को घड़ी भर सुस्ताने के लिए पिछवाड़े के बरामदे में पड़ी बान की नंगी चारपाई पर जा लेटा।

चौधरी के धकियाये बड़ी चौधराइन और पता नहीं किस-किस के बहकावे सुखवंती आमने-सामने आ ही गयीं। गुसाईं के देखते-देखते दो टोले जैसे दो अखाड़ों में तब्दील हो गये। मंगतू के गोबर से लिपे आँगन में पड़ी चारपाइयों पर साइकिल या स्कूटर ही नहीं, कार और जीप से उतर-उतर कर भी बैठले लगे अपना राज पार्टी के कार्यकर्ता। चौधरियों के घर तो राज-दरबार पहले से ही लगता था। एक तरफ़ चौधरी और सरकार, दूसरी तरफ़ अपना राज पाट। चौधराइन और सुखवंती तो कहीं थी ही नहीं और पार्टियों तक एक नौकर की पहुँच नहीं होती। मालकिन से कुछ कहना फ़िज़ूल था। वे कहतीं कि उन्हीं से कहो, जो कहना है। दूसरी तरफ़, ऐसे समय में सुखवंती से बात करता, तो जाने क्या कहानी बन जाती। धीरे-धीरे चुनावी रँग में रँग गया या रँगे जाने पर मजबूर हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुसाईं भी। अपनी जात बिरादरी में चौधराइन के लिए वोट भी माँगे। पर, जब कोई-कोई बड़बोला दबे सुर में ही सही, कह ही देता कि बहुत दफ़े देख लिए उसके मालिक, अबकी बार दूसरों को देख लिया जाए, तो चुप रह जाता वह। उसे भी लगता था कि सुखवंती ज़्यादा अच्छी तरह निभा सकेगी सरपंची का किरदार... फिर, वह भी उसको अपने दुख-तकलीफ़ बता सकेगा। दो बोल हँसी-ठिठोली भरे भी कह लेगा। देखा जाए, तो असल भाई-बिरादर तो उसके भी उसी टोले वाले ही हैं। जन्म से अगर बिरादरी मानी जाती हो, तो चौधरी कभी तो बिठाये उसे अपनी बराबरी में और थमाये उसके भी हाथ में हुक्का। 'जात न पूछो साधू की', पंक्ति की लयात्मक तर्ज़ पर वह बड़बड़ाया, 'जात न पूछो गुसाईं की।'

चुनाव वाले दिन पंचायत घर के बरामदे में बैठे चौधरी मूँछो पर ताव देते रहे और लोग उन्हें पाँव-लागूँ कहते भीतर जा-जाकर मतपेटी भरते रहे। छोटे चौधरी भी आज भली सी सूरत बनाये अंदर-बाहर घूम रहे थे। दोपहर बाद तो मंगतू भी चौधरी के पास आ बैठा। सुखवंती आख़िरी मत पड़ने तक भीतर ही रही। पाँच बजे से थोड़ा ऊपर ही रहा होगा समय, जब वह बाहर आयी। मालिक से गज भर दूर खड़े होकर धरती पर माथा नवा कर उसने आँख के इशारे से मंगतू को चलने के लिए कहा। "चलूँ मालिक," कहकर वह हाथ जोड़ता उठ खड़ा हुआ। ऐसे सौहार्दपूर्ण माहौल की उम्मीद नहीं थी गुसाईं को। उसे लगा कि रामराज आ गया अपने गाँव में। गाँधी बाबा देखते, तो खुश हो जाते। शेर, बकरी एक ही घाट पर पानी ही नहीं पी रहे हैं, एक साथ उठ-बैठ भी रहे हैं। रोक नहीं सका वह अपनी तसल्ली "हैं तो बहुत शरीफ़ दोनों जन, बस ज़रा 'अपना राज' वालों के चक्कर में आ गये थोड़ा।" जाते हुए मंगतू और सुखवंती को देखते मालिक की टेड़ी होती भवें गुसाईं ने केवल देखी ही नहीं, दो धारदार चाकुओं सी उतर गयीं वे उसकी छाती में। यूँ ज़बान से वह मीठा ही बोले कमोबेश—"हाँ, अपनी औक़ात समझते हैं और अपनी ज़मीन पर ही रहते हैं।" उनके चेहरे पर सब निबट जाने का संतोष और संभावित जीत की खुशी फैल गयी।

ठंडे पानी का भरा हुआ लोटा एक ही साँस में गले से उतारकर झुँझलायी सी बोली सुखवंती—"क्यों जी, तुम काहे को भरी दुपहरी से ही चौधरी की झोली में जा पड़े थे, अपने लोगों को हौसला देने की जगह।"

उसे देखते बड़ी मीठी-सी हँसी हँसा मंगतू—"वाह भागवान! तूँ तो सच्च में ही सरपंचनी बनने की सोच रही है। अरी कारज था, सो निभ गया। हम कहाँ ठहरेंगे मालिकों के आगे?"

"तुम यहाँ क्या कर रही हो अम्मा? वहाँ तो गिनती भी शुरू हो गयी।"

"हमें क्या करना है गिनती से बेटा," उत्तर मंगतू ने दिया और ज़मीन पर पड़ी सफा पर लेट गया। सुखवंती ने लोटा वहीं पर रखा और बेटे के साथ हो ली।

पंचायत घर के सामने की खुली जगह में रखे मूड़े पर बैठे चौधरी हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। उनके आजू-बाज़ू क़रीब-क़रीब साठ-सत्तर लोग सुबह-सुबह की हाजती मुद्रा में बैठे थे और लगभग इतने ही लोग खड़े भी थे। सुखवंती पहुँची ही थी कि भीतर से निकलकर आये एक आदमी ने उसे किनारे ले जाकर फुसफुसाते हुए कहा—"तुम सत्तर वोटों से आगे हो और यह नतीजा चौधरी टोले का है। जीत तो पक्की समझो, पर अभी तुम धीर धरो। क्या पता, हमारे ही लोग बिक गये हों और नतीजा पलट दें।"

"तब कौन सी हमारी गद्दी छिन जाएगी ननकू भय्या। फिर सावी का बप्पा तो चाहता ही नहीं कि हम जीतें।"

"अच्छा, तो फिर रात-रात भर घूम कर यूँ ही घर-घर गुहार लगाता रहा दुई महीने से।"

एक-एक घर टोह लिया था सुखवंती ने। नतीजा कुछ-कुछ तो जानती ही थी, पर अपनी जीत का ऐलान सुना, तो समायी मुश्किल हो गयी। पल्लू होंठों में दबाये, घर की तरफ़ भागी। कितने ही लोग उसके साथ हो लिये। मंगतू गेंदे के फूलों का हार लेकर खड़ा था आँगन में। सबके सामने हार पहनकर लाज सी लगी, तो झुककर पाँव छू लिये उसने पति के। फिर अचानक उठ खड़ी हुई और हिचकियाँ लेकर रोते हुए लगी खुद को पतारने, "मैं निगोड़ी समझी कि तुम चाहते ही नहीं थे कि मैं जीतूँ।"

"सो तो मैं नहीं ही चाहता था।"

भरी-भरी आँखों में हँसी चमकी, तो मंगतू को देखते झूठ-मूठ त्योरियाँ चढ़ा लीं उसने।

चौधरियों के घर लगभग रात भर पंचायत होती रही। गुसाईं ने मालिकों का रुख़ देखा, तो चाय-पानी करती मालकिन और बहू के पास आकर दबी आवाज़ में बोला—"अब यह तो जनता का फ़ैसला है। इसमें इतना भी दुख क्यों करना।"

"अरे! घड़ी भर का है यह गुस्सा-गिला। कल तक ठंडा जाएँगे। मेरी सुनो, तो अच्छा ही हुआ। मेरे बूते की नहीं थी प्रधानगी।

"नहीं थी, तो हाँ काहे को कर दी थी। चौधरी ख़ानदान की इज़्ज़त लुट गयी उस... के हाथों और इनके बूते की नहीं थी प्रधानगी।"

"अब उसे काहे को गाली दे रही है। तूने बेटा जना था, तो जच्चा-बच्चा दोनों की दो बख़त मालिश करने को आती थी सुखवंती।"

"उसकी सेवा हमारा टका। मुफ़्त में नहीं करती थी।"

"ऐसी कौन सी अशर्फ़ियाँ लुटा दीं तुमने बहू। किसी का किया नहीं भूलते।"

"पिछला किया-दिया तो बराबर समझो। पर अबके किये का भुगतान तो करेंगे ही जेठी दी," कहते बाहर निकल गयी वह।

लच्छन अच्छे नहीं लग रहे। सोचते-सोचते गुसाईं भी उठ गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक नया ठसका आ गया सुखवंती की चाल-नुहार में। यूँ बातचीत में वह पहले से भी हलीम लगने लगी। मंगतू पल-पल उससे चुप और सबर की मिन्नत करता। छोटा सावी ज़रूर गर्दन तानकर रहने लगा था संगी-साथियों में। मंगतू तो उसे भी नींवा होकर रहने की ही सीख देता, पर सुखवंती बरज देती, "इसमें मत रोपो अपना डर-भय। हमने बहुत कर ली उनकी गुलामी।"

पंद्रह-बीस दिन बाद चौधरी पहले ही की तरह पंचायत घर के बरामदे में बैठने लगे। भीतर कभी-कभार सुखवंती होती, तब भी पाँच-सात अपने लँगोटियों के साथ उनका हँसी-ठट्ठा चलता रहता। पंचायत सचिव या अन्य संबंधित कर्मचारी आता, तो उसे 'सुखवंती जी' भले ही कह देता, पर 'प्रधानजी' संबोधन आज भी चौधरी के लिए ही इस्तेमाल होता। उनकी देखा-देखी अधिकांश लोग भी यही कहने लगे। और तो और, आम इजलास के दिन भी चौधरी अपने दस-बीस चेले-चाँटो को लेकर बरामदे के एक ओर बैठ गया। सुखवंती पास से गुज़री, तो चौधरी ने कहा "हमसे नहीं, इससे कहो अपनी बात भाई।"

"हम तो आप ही से कहेंगे मालिक, अब राँडों के आगे तो दुखड़ा रोने से रहे।"

"क्यों, राँड के आगे रोना क्यों नहीं रोया जाता। राँड का दूध पीकर ही यह गज भर की ज़बान पायी है।"

देवरानी हक्की-बक्की सुखवंती को लगभग घसीट कर भीतर ले गयी। आम इजलास के बाद वह सीधी पुलिस चौकी पहुँची। अपनी शिकायत दरोगा को लिखाकर लौटी, तो रास्ते में मिलने वाले हर छोटे बड़े से हँस कर बोली वह। इसके बाद जब-जब पंचायत लगी, चौकी से एक सिपाही बरामदे में कुर्सी लगाकर बैठा। टोले में ही नहीं, पूरे गाँव में फुट भर ऊँचा हो गया उसका क़द। जिस दिन उसने स्कूल में टोले के बच्चों को बस्ते के साथ बोरी ले जाने से बरज दिया और मास्टर जी को उपलब्ध टाटों पर ही अन्य बच्चों के साथ इन्हें भी बिठाना पड़ा, उस दिन तो शहर के अख़बार-नवीस भी उसका फ़ोटू खींचकर ले गये।

बताता गुसाईं निंदा की तर्ज़ पर ही, लेकिन सुखवंती का किया-धरा बड़ी मालकिन तक राई-रत्ती पहुँच रहा था। उन्हें अच्छा लगता या बुरा, यह तो पता नहीं, पर हर बार वे ठंडी साँस भरकर उसके सामने से हट जातीं। अपने घर के मर्दों को जानती थीं। जूँ नहीं रेंगने देते वे कान पर और सुखवंती तो आये दिन एक के बाद एक घोड़ा दौड़ा रही थी...

हलकाये कुत्ते-सा बदहवास भागता आता गुसाईं घर की ड्योड़ी पर पहुँचते गिर ही पड़ा।

"अनर्थ हो गया मालकिन। मंगतू और सुखवंती की सिर कटी लोथें उन्हीं के आँगन में पड़ी हैं।"

"और बिटुआ?" पूछते, चौधराइन की साँस जैसे रुक गयी।

"सावी, मामा के गाँव गया हुआ है।"

"तूँ कब से ख़बरनवीस बन गया रे! फिर गाँव के हर कुत्ते-बिल्ले के मरने-जीने का स्यापा हमारे घर क्यों?"

"परमेश्वर से डरो चौधर जी। कुत्ते-बिल्ले नहीं, दो हँसते-खेलते मानुस मरे हैं। एक घर उजड़ा है। एक बच्चे के माँ-बाप नहीं रहे हैं," खुल गयी गुसाईं की जुबान भी।

"अनोखे वे ही नहीं मरे। बहुत होती हैं ऐसी वारदातें। यह मरण-पुराण बाँचना छोड़कर रसोई देख।"

"आज न जलेगा चूल्हा। चल गुसाईं बिट्टुआ को लिवाने चल मेरे साथ। ख़बर पाकर पता नहीं कैसा तो बेहाल होगा।"

"यह क्या लछ्छन दिखाने लगीं जेठी दी? अपने साख संबंधियों के बीच है बच्चा, वे सँभालेंगे," छोटी चौधराइन ने बड़ी-बूढ़ी की तरह टोका।

"और नहीं तो क्या! छिनाल की औलाद! जहाँ पड़ा है, पड़ा रहने दे। तेरा कोख जना तो है नहीं कि..."

"लो दिखा दी चौधरी। कोख जना मानकर ही पालूँगी उसे। धन्य भाग मेरे, राह दिखा दी।"

"बौरा गयी है। धर्म भ्रष्ट करेगी... अपना और हमारा।"

"धर्म के लिए ही तो जा रही हूँ। तुम पर उस रखवाले की गाज न गिरे। आज भी यही चाह रही हूँ चौधरी। मैं सुखवंती का घर सँभालते उसके बेटे को पैरों पर खड़ा करूँगी, तो क्या पता कट ही जाए तुम्हारा पाप।"

"जो करना है, सो कर, पर यह अंट-संट क्या बोले जा रही है? किसी का किया-धरा हम पर क्यों आएगा?" चौधरी की जीभ में सलवटें पड़ने लगीं।

"यह दुनिया जहान को बताना। मैं तो तभी से जान रही हूँ थोड़ा-थोड़ा करके, जबसे वह थानेदार कभी एक, तो कभी दो को लेकर रात-रात भर तुम्हारे साथ बैठकर खा-पी रहा है। पत्नी हूँ तुम्हारी, सो जुबान नहीं खोलूँगी। पर, तुम्हारा दिया खाया-पहना न जाएगा मुझसे...", कहते कहते लगभग भागकर ड्योड़ी लाँघ गयीं वे। साथ-ही निकल गया गुसाईं भी... "ये अपना राज-पाट छोड़ सकती हैं, तो क्या मैं अपनी गुलामी भी नहीं?"

पीछे-पीछे आती छोटी बहू मन-मन भारी होते पाँव लिये आँगन में ही रुकी रह गयी।

227 श्याम नगर, धर्मशाला (हि0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल जमुनाजी का पानी रे

शिवरतन थानवी

मैं किसी समय गाँव के स्कूल में प्राथमिक शिक्षक हुआ करता था। समय बदला और मैं स्कूलों के शीर्ष कार्यालय में निदेशक के चैंबर के ठीक सामने वाले कक्ष में संयुक्त निदेशक के पद पर बैठा। जहाँ कभी था, उससे काफ़ी आगे गया, किंतु शिक्षा की दुनिया का हाल आगे नहीं गया। आज पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो पाता हूँ कि स्कूलों की सूरत सुधरी नहीं, उल्टे बिगड़ी है। समाज आगे नहीं, पीछे गया है।

मैं जब गाँवों-शहरों के स्कूलों में शिक्षक था, तो जो दृश्य वहाँ देखे, उनमें नक़ल की शर्म थी, शंका थी। एक गाँव में शिक्षक था, तब मेरे एक पढ़े-लिखे विद्वान लेखक मित्र आये और मेरे स्कूल में कोई भाषा-परीक्षा का केंद्र खुलवाकर उसका ज़िम्मा मुझे देने का प्रस्ताव लाये। मैं जानता था उन केंद्रों की हालत। ये केंद्र न केवल परीक्षा-केंद्रों पर नक़ल करवाते थे, बल्कि कहीं-कहीं तो घरों पर भी उत्तर-पुस्तिकाएँ भेज दिया करते थे, जहाँ परीक्षार्थी के मित्र और संबंधी प्रश्नों के उत्तर लिख देते थे या लिखवा देते थे। मैंने विनम्रतापूर्वक न केवल उनको मना कर दिया, बल्कि उनसे भी अनुरोध किया कि वे इसमें रूचि न लें, क्योंकि इन केंद्रों पर निश्चित तौर से नक़ल होती है और नक़ल को प्रोत्साहन देना न तो शिक्षा है और न ही साहित्य-सेवा। वे बड़े साहित्यकार थे (और आज भी हैं) पर मानते नहीं थे कि भाषा का विकास भाषा-प्रयोग से होगा, परीक्षाओं से नहीं।

समय आगे बढ़ा। मैं एक बड़े शहर में पहुँचा। दसवीं की परीक्षाएँ चल रही थीं और मैं जिस कक्ष में निरीक्षण या इन्विजिलेशन कर रहा था, उस कक्ष में बड़ी उम्र के कुछ परीक्षार्थी भी बैठे थे, किशोर उम्र के परीक्षार्थियों के बीच। ताक-झाँक करते देखा तो मैं उन्हें टोक चुका था। थोड़ा समय बीता कि मेरे एक शिक्षक मित्र आये और संदेशा लाये कि अमुक कक्ष में अमुक लोग मुझे दूध पीने को बुला रहे हैं, मैं वहाँ जाऊँ और वे मेरी जगह मेरी ड्यूटी कर लेंगे। मैं भाँप गया। मैंने जाने से मना किया तो वे कान में कहते हैं—'हमारे ही जाति भाई हैं, नौकरी पक्की हो जाएगी।' अब समझा। तो, वे बड़ी उम्र वाले परीक्षार्थी 'शिक्षक' थे। मैंने संदेशवाहक मित्र के कान में अर्ज़ कर दिया- "फिर तो इन्हें खुद ही ईमानदारी रखनी चाहिए, हम इन्हें ग़लत रास्ते जाने का मौक़ा क्यों दें?"

एक ऐसी ही घटना एक और शहर के बड़े स्कूल की है। स्थानीय परीक्षा की कॉपी में नंबर बढ़ाने की। विधायक व निदेशालय से लेकर प्रिंसिपल तक नंबर बढ़ाने का इशारा करते नज़र आये। शिक्षा में अशिक्षा की मिलावट के लिए सहमत न होने का वह प्रकरण इतना गंभीर बन गया कि मुझे जीवन-भर का दुख दे गया। घर से मेरा ट्रॉंसफ़र छह सौ किलोमीटर दूर एक ऐसे गाँव में कर दिया गया, जहाँ कच्ची ईंटों के झोंपड़ों में रहना था। बारिश में झोंपड़े की छत टपकती थी और रातें मूँज की चारपाई पर गुज़ारनी होती थीं- पत्नी-बच्चों समेत। लेकिन, वहाँ जितना पढ़ा, उतना कहीं नहीं पढ़ा। शिक्षा और साहित्य की पुस्तकों से भरे मेरे पीपे और साहित्यिक पत्रिकाओं से भरा स्कूल का बक्सा। मैं धन्य हुआ।

आज तो मुझे मेरी मौसी याद आती हैं, जो मेरी माँ भी थीं। हमारे इधर 'ताई' शब्द नहीं है। ताई को 'बड़ी माँ' कहते हैं, सो वह माँ से भी बड़ी थी। 'बड़ी माँ' थी और मौसी भी थी और सचमुच हमें माँ से भी अधिक प्यार करती थी। हम दोनों भाइयों को, रमेश को और मुझको, बहुत प्यार करती थी। सो उसकी हर बात हमको बहुत प्यारी लगती थी। जब वह पूजा करने बैठती तो हम सब बहन-भाई परसादीया भगत बनकर पास बैठ जाया करते थे। वह गाती थी, कई भजन। हमें एक भजन ख़ूब याद रहा- सोने रूपे री झारी मँगा दूँ, भर लावे राधा प्यारी रे, काची रे केळ रो दांतण मँगाय दूँ, जळ जमनाजी रो पाणी रे, खीर खांड रो अमरित भोजन जीमावे जसोदा माई रे.....। कृष्ण और राधा की एक बड़ी रंगीन तस्वीर वह मोमाई (मुंबई) से लायी थी। वह मैंने आज भी सँभाल कर रखी है। ताऊ जी और ताई जी, 'अखिलम् मधुरम्' के साक्षात् स्वरूप थे। उनके कोई संतान नहीं हुई।

हम सभी भाई-बहनों को वे अपनी संतान मानते थे। ताऊ जी का 'गीता' और 'विष्णु सहस्रनाम' पढ़ना और ताई जी का 'जल जमुना जी रो पानी' भजन गाना हमारे कानों में अमृत घोलता था। कितनी जीवनी शक्ति थी इन दोनों के इस पाठ में और इस भजन में। याद करके हमारे रोम-रोम में जाने कितनी अच्छी बातें, सुंदर बातें, मधुर बातें गुंजायमान होती रहती हैं। दोनों गये, किंतु हमारा जीवन शिक्षा, साहित्य और संगीत से लबालब कर गये। दो मीठे बोल थे- उनकी शिक्षा, दो सुंदर शब्द थे - उनका साहित्य और राधा-कृष्ण की तस्वीर तथा 'घुटरन चलत' बालकृष्ण लाल की छोटी-सी मूर्ति के आगे तन्मय होकर गाये भजन के दो स्वर थे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका अमर संगीत- सोने अपेरी झारी मँगा दूँ, भर लावे राधा प्यारी रे.... जळ जमना जी रो पाणी रे.....। 'जल' शब्द द्योतक है उस पानी का, जो प्रामाणिकता, शुद्धता और स्तरीयता से परिपूर्ण हो। 'जळ जमुना जी रो पाणी रे' कहा तो इस अर्थ में कहा कि हे भगवान, मैं आपके लिए उस पानी की झारी लायी हूँ जो शुद्ध है; प्रामाणिकता है, स्तरीय है इस कारण 'जल' है। कहते हैं कि देश के कई भागों में 'पानी' पिलाना या देना अशुद्ध-अशुभ प्रयोग माना जाता है और 'जल' शब्द का प्रयोग शुद्ध-शुभ मानते हैं।

आज को देखो और जो बीता उस कल को देखो। यह जीवन स्वच्छ-मधुर कैसे बनता है, कैसे बनेगा, यह भी सोचो। इसी का चिंतन हमारी सतत् अनवरत जीवन-पर्यंत शिक्षा है। साहित्य और संगीत हमारे जीवन में किसी तरह किंचित्-किंचित् स्थान पाता रहे, तो हमारा जीवन हरा-भरा बना रहेगा।

मैं समय-समय पर पिछले अख़बारों का ढेर लेकर बैठ जाता हूँ। एक बार पढ़कर फेंक नहीं देता हूँ। सवेरे आज के दैनिक (कई हिन्दी और कई अंग्रेज़ी) पढ़ता हूँ और दोपहर साल भर की ढेरियाँ, चार-छह माह की ढेरियाँ, कभी किसी की और कभी किसी की-लेता हूँ और खूब उलट-पुलट कर आनंद प्राप्त करता हूँ।उसी संदर्भ से, नक़ल के प्रसंग की एक कथा और है।

एक अख़बार का पृष्ठ खुला। सबसे ऊपर तीन कॉलम का शीर्षक था- 'सीवरेज ट्रीटमेंट प्लांट दो साल से बंद, गंदा पानी यमुना में'। इस ख़बर के बाद थोड़ा नीचे चार कॉलम का शीर्षक था- 'संयुक्त शिक्षा निदेशक की आख़िर बलि ले ली नक़ल माफिया ने।' प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी कभी (अभी बीस साल पहले) संयुक्त शिक्षा निदेशक था, अब बताओ इस 'भूत' हुए 'पूर्व' संयुक्त शिक्षा निदेशक को नक़ल की चिंता सताएगी कि नहीं? वे दिन याद आएँगे कि नहीं? बदन में सिहरन दौड़ेगी कि नहीं?

मुझे याद आया। कभी राजस्थान राज्य के तमाम पुस्तकालयों को मैं देखता था। पुस्तकों में, पुस्तकालयों में, शिक्षा में और साहित्य में होश सँभाला, तब से मेरी गहरी रूचि है। तब भी थी। सो, मैंने अपने दफ्तर में पूछा कि राज्य के सहायता-प्राप्त पुस्तकालयों का मेरी इस कुर्सी ने क्या कभी निरीक्षण किया है? "33 साल पहले हुआ था।" मैंने सरकार से कहा, सरकार ने स्वीकृति दी और मैं विधिवत् टीम बनाकर चल पड़ा पूरे राज्य का ओर-छोर सँभालने। उस वक्त का यह अनुभव है।

एक शहर में एक स्वयंसेवी संस्था का निरीक्षण किया, जो भाषा और साहित्य की सेवा करती है और पुस्तकालय भी चलाती है। निस्संदेह पुस्तकालय भी समाज में भाषा और साहित्य की चेतना के विकास का अच्छा साधन है। पुस्तकालय और संस्था के भवन का निरीक्षण करते हुए जब हम एक कमरे से दूसरे कमरे में गये, तो बीच में एक हॉल पड़ता था। वह पूरा हॉल परीक्षार्थियों से भरा हुआ था। नियमानुसार डेस्कें दूर-दूर थीं। भाषा-साहित्य संबंधी ही कोई परीक्षा होगी। हमने परीक्षा का नाम नहीं पूछा। संस्था के पदाधिकारियों ने जो कहा, वह सुन लिया। उन्होंने बताया होगा, क्या परीक्षा हो रही थी और यह भी बताया होगा कि उनकी संस्था के काम में पुस्तकालय के संचालन के अलावा यह समाज-सेवा उर्फ़ साहित्य-सेवा कम भाषा-सेवा भी शामिल है। जो कहा हो, मेरी पूरी टीम उन परीक्षार्थियों के बीच से गुज़री। हमारी टीम में तीन सदस्य थे- एक स्टेट लाइब्रेरियन, एक उधर का ज़िला शिक्षा अधिकारी और एक मैं स्वयं- उपनिदेशक समाज-शिक्षा। लगभग सभी परीक्षार्थी नक़ल कर रहे थे, अपनी-अपनी सामग्री से। हम बिना एक शब्द बोले उनके बीच से निकल गये और अगले कमरे में जाकर पुस्तकालय निरीक्षण का काम पूरा करने लगे। पुस्तकालय बहुत पुराना है। मूल्यवान पुस्तकों का अनमोल अच्छा संग्रह है और पाठक खूब आते हैं। लेकिन, थोक के भाव जो नक़ल देखी थी, उसमें मेरा जो अंतः करण व्यथित हुआ, वह आज भी हो रहा है। आज प्रसंग आया है, तो कह रहा हूँ।

न भी कहता, पर जब देखता हूँ कि यह प्रवृत्ति घट नहीं रही, बढ़ रही है, तो विवश होता हूँ कहने को। आप जैसा रूचिवान पाठक-श्रोता देखता हूँ, तो कहता हूँ कि भाई सँभालो, रोको, यमुना का पानी गंदा हो रहा है, संयुक्त शिक्षा निदेशक की बलि चढ़ रही है नकल पर। न गंगा-यमुना को गंदा होने दो और न शिक्षा की ज्योति में तमस का प्रवेश होने दो। कैसा अद्भुत संयोग है कि दोनों ख़बरें एक ही पृष्ठ पर छपी हैं। एक ख़बर कहती है- 'यमुना को स्वच्छ रखने के लिए जापान की सहायता से यमुना एक्शन प्लान के तहत एक प्लांट लगा था। इसके अनुसार शहर का सारा गंदा पानी साफ करके ही यमुना में डाला जाना था। अमुक ने यह प्लांट पूर्व नगरपालिकाध्यक्ष को एक भव्य समारोह में सौंपा था। इस सीवरेज ट्रीटमेंट प्लांट से साफ होकर पानी यमुना में जाता था। दो साल से यह बंद पड़ा है और सारा गंदा पानी सीधे ही यमुना में जा रहा है।'

दूसरी ख़बर कहती है- 'संयुक्त शिक्षा निदेशक की आख़िर बलि ले ली नक़ल माफ़िया ने। अमुक नक़ल माफ़िया और संयुक्त शिक्षा निदेशक के बीच बीते नौ महीने से चल रहे टकराव में नकल माफ़िया ने संयुक्त शिक्षा निदेशक अमुक जी को निलंबित कराकर अपना दबदबा क़ायम कर लिया है।'

(जनसत्ता, 9 दिसंबर, 07, पृ0-4

कठिनाइयाँ होंगी, किंतु यमुना का पानी गंदा न रहे और नकल कराने की प्रवृत्ति का विद्या-केंद्रों में प्रवेश न हो, यह तो हमारा एक सर्वसम्मत संकल्प होना ही चाहिए। क्यों हम खुद पर काबू नहीं रख पाते हैं? यह कैसा समय आया है?

समय तो आया है, तभी तो गंगा, यमुना को गंदा न करने की योजना वर्षों तक हवा खाने लगती है और शिक्षक, विद्वान तथा समाजसेवी नक़ल करने-कराने में सहज ही सम्मिलित होने लगते हैं। भ्रष्ट आचरण की सीमाओं का अब कोई अंत न रहा। कुछ लोग कहते हैं कि उनका शिक्षाधिकारी जब भी निरीक्षण करने आता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता - "बढ़िया साबुन, बढ़िया तेल ला दो।" ला देते विद्यालय वाले। कोई शिक्षाधिकारी कहता-"मेरी कार में तेल की टंकी फुल करवा दो, टायर डलवा दो।" संस्था-प्रधान बेचारा क्या करता। जो कहा जाता सब करवाता। संस्था-प्रधान भी एक जैसे नहीं होते। एक संस्था-प्रधान ऐसे देखे, जो हर व्यापारी- दूकानदार से तो चौथ वसूलते ही, हर शिक्षक से भी हर बिल (मेडिकल आदि) पर दस रुपये वसूल करना अपना परम धर्म समझते। याद रहे, तब घी था पाँच रुपये किलो।

सोचो, गंगा-यमुना कितनी गंदी होती जा रही हैं? कहाँ है गंगा-यमुना और शिक्षा का, समाज का ट्रीटमेंट प्लाँट? व्यक्ति क्या उपाय करेगा? समाज क्या उपाय करेगा?

मेरी मौसी उर्फ़ बड़ी माँ तो गाती थी कि वह सोने-चाँदी की झारी में अपने कृष्ण-कन्हैया को यमुना का पानी लाकर पीने को देगी, जो स्वच्छ, शुद्ध और पवित्र होने के कारण 'जल' कहा जाएगा, लेकिन समाज और शिक्षा की गंगा-यमुना जब इतनी गंदी हो चुकी हो, तो वह उस भजन को गाकर क्या करे? अपनी झारी में यमुना का यह पानी लाकर वह क्या करे?

यमुना का पानी स्वच्छ और मधुर, पवित्र और शुद्ध जल बने तो कितना अच्छा होगा!!

मोची स्ट्रीट, फलोदी, जोधपुर- 342301 (राजस्थान)

कविता

अपना भरोसा

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

जो राम भरोसे चला
वो कब तक और कितना चला
और भरोसा तो मन की बात है
जब कहीं कभी टूटा
तो गिरा ही गिरा
जो अपने भरोसे चला
भले बैसाखियों से चला
वो धीरे ही चला
मगर चला, तो चला....

भरोसे की भैंस
दे भी सकती है दूध
भैंस है तो अपनी
राम भरोसे बस
रहना ही रहना है
जो करना है
राम ने ही करना है
तुम्हें तो बस
भरोसा करना है।

तुम्हारे हाथ हैं,
पैर हैं, दिल है
दिमाग़ है, आँखें हैं, कान हैं
और क्या चाहिए राम से
ज़्यादा लालच ज़्यादा स्वार्थ
ज़्यादा कायरी
राम तोड़ते नहीं है,
छोड़ देते हैं तुम्हें
दिये शरीर के भरोसे
तुम चाहे जैसा समझो
अपना भरोसा भी
राम का ही भरोसा समझो।

जैन हार्ट क्लीनिक के सामने
एस.ए.एफ. क्वार्टर्स, बाबू लाईन, परासिया रोड
छिंदवाड़ा (म0प्र0) 480001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्पिता अवस्थी की कविताएँ

प्रकाश पर्व

अँधेरे आकाश के
स्तब्ध कैनवास पर
बनाया जाता है–
प्रकाश पर्व का अविस्मरणीय चित्र
बच्चों की नन्हीं हथेलियों से तैयार
पटाख़ों के जख़ीरे से

सितारों सजित अंतरिक्षी छाती पर
धरती से छूटते हैं... बेधते हैं–
चकाचौंधी पटाख़े
नभ में बनाते हैं–रोशनी की अल्पना

रंगीन रोशनी छिटकती है–
पाँखुरी की तरह
और पटाख़े गूँजते हैं–चीख़ बनकर

आकाशी आँखों में
पटाख़ी रंगीन रोशनी
रचती है–
प्रकाश का आनंद-सुख

पटाँख़ां का
उठता हुआ उजला शोर
धरती पर खींच लाना चाहता है–
स्वर्ग का सुख...
धरती का हर्ष...
दीपावली पर्व पर

लेकिन
कब से और क्यों
सभ्यता ने रच दी
अभिव्यक्ति के लिए
पटाख़ों की भाषा ?
खुशी की ध्वनि के लिए
रंगीन बमों के शब्द
जो युद्ध और विध्वंस की भाषा हैं!

शत्रुता की कहानी के लिए
तोप और बंदूकों की शब्दावली
मिसाइल का आक्रमण
चोरी छुपे गोलाबारी
विश्व और खाड़ी-युद्धी
इराकी, ईरानी और पाकिस्तानी
धरती के विध्वंसक शोर का हदस जगाऊ
ऐतिहासिक इतिहास जिसमें बंद

क्या शब्द-यात्री मनीषियों की
इज़ारों वर्षो की
पीढ़ी-दर-पीढ़ी की
कई भाषाओं का शब्द-पोषण
अधूरा है ?

प्रेमानुभूति के लिए शराब
सुखानंद के लिए झिलमिलाती रोशनी
नफ़रत और आनंद के लिए
विध्वंसघोषी बम समानार्थक
युद्धवंशक ध्वनियाँ
क्योंकर हर्ष भाषा बन गयीं
सभ्यता का
यह कैसा फ़लसफ़ा है ?

दीपावली और नये वर्ष के
हर्ष-प्रदर्शन में
खून की कमाई को
तब्दील करते हैं–
बारूदी रोशनी
और धमाके के शोर से
विध्वंस की गूँज में
सुनायी देती है–
कई जीवन की साँसें
और कई सपनों की बुझी हुई
स्याह राख

मधुवन के लिए

बच्चे
अपने खिलौनों में
छोड़ जाते हैं–अपना खेलना।
निश्छल शैशव
कि खिलौने
जीवंत और जानदार
लगते हैं–बच्चों की तरह।

बच्चों के
अर्थहीन बोलों में होता है–
जीवन का अर्थ
ध्वनि-रोर में रचते हैं–
जीवन का भाष्य
जिसे रचती है–आत्मा।

बच्चों की
गतिहीन गति में होती है–
सबकुछ छू लेने की आतुरता
उनके तलवों से
धरती पर छूट जाती है–
उनके आवेग की गति
कि उनके सामने न होने पर भी
वे चलते हुए लिपट जाते हैं–
यहाँ-वहाँ से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों के पास
होती है अपनी एक विशेष ऋतु
जिसमें वे खिलते हैं—खेलते हैं
और फलते हैं—
हम सबके मधुवन के लिए।

कैनवास

बच्चा
अपने सपनों की दीवार पर
पाँव के तलवे बनाता है
लावा के रंग में
और उसी में सूरज उगाता है।

आकाश उसका
नीला नहीं पीला है,
सूरज उसके लिए
पीला नहीं लाल है।

पेड़ का रंग उसने
हरा ही चुना है,
उसी में उसका मन भरा है।

बच्चे ने
सपनों के रंग बदल दिये हैं—
अपने काल के कैनवास के लिए।

छोर से परे

समुद्र के निनाद में है—
बच्चों की ध्वनि-तरंग, प्रतिध्वनि,
लहरें
जैसे कि उनके ही उठे हुए हाथ।

बच्चों में होता है—
समुद्र का अछोर कोलाहल
आकुल और व्याकुल
माँ के आँचल के भी
छोर से परे।

संसद-सवाल

पार्लियामेंट प्रश्न
पी हुई सिगरेट का टुकड़ा है
जिसका धुआँ
जी लिया है—
संसद के फेफड़ों ने।

चिटख़ती हुई चिनगारी की तरह
संसद से दौड़ते हैं सवाल
मंत्रालयों के सचिवों की
सुविधाभोगी मेज़ों से।

संसद के फूले हुए नथुनों से
छोड़ी हुई साँस की तरह
फुफकारते हुए दौड़ते हैं—
पार्लियामेंट-प्रश्न
दूर-दूरस्थ राजदूतावासों की
फ़ैक्स-मशीन और कंप्यूटर तक का
हो जाता है जीना हराम।

पार्लियामेंट क्वेश्चन
संसद-सवाल
चुने हुए लोगों की
अमन-चैन की व्यवस्था में
खलल डालने वाले
कारकों के विरुद्ध होती है—
एकल कार्यवाही।

संसद के सांसद
वातानुकूलित कक्षों की तरह
वातानुकूलित रखना चाहते हैं—
अपना दिल-दिमाग़
और उसकी धड़कनें।

आम जनता के
आँसू के पारे को
अपने थर्मामीटर का
हिस्सा नहीं बनाना
चाहते हैं वे।

आम जनता के जीवन-वन में
पल रहे जंगलराज से बेफ़िक्र
देश की चिंता को बेखबर
विश्व चिंताओं के साथ
खड़े दिखना चाहते हैं वे।

देश के प्रतिनिधि नेता
विदेश और विश्व की चिंता में
घुले जा रहे हैं वे।

विदेशी-मुद्रा के बिना
कैसे चलेगा उनका घर-द्वार।

गाँधीवादी खादी वस्त्रों के भीतर
विदेशी जाँघिये और जुरावें
उनको बनाये रखती हैं—विदेशोन्मुखी।
पाश्चात्य देशों की सुगंध में
पलती है—आचरण-संहिता।
बियर और वाइन की
आत्मानंदी रंगीन शामों में
भूल जाते हैं—देश की सिसकियाँ
और भुलावे के लिए तैयार करवाते हैं—
पार्लियामेंट क्वेश्चन....
व्यवस्था को चुप करने के लिए
कुछ झाड़ पिलाते रेडिमेड़ क्वेश्चन।

सिर्फ़
मंत्रालयों, अख़बारों और मीडिया में
यह जताने के लिए कि
संसद के भीतर
सांसद बेसुध नहीं
जागे हुए है—देश के लिए।

संसद-सवाल
प्रजा के विरुद्ध
लेकिन,
प्रजा के समर्थन का
लोकतंत्री दरबारी राग है।

P.O. Box 1080, 1810 KB
ALKMAAR, THE NEATHERLANDS

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीनता की सीमाएँ

विजय बहादुर सिंह

हिन्दी-उर्दू भाषाएँ ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम समाज भी सदियों से एक साथ मिलकर बैठते आए हैं। 1857 की बात छोड़ दें, अमीर खुसरो और शहंशाह अकबर के ज़माने से, कबीर और नानक के ज़माने में भी यह एका खूब दिखाई देता है। अभी जो फ़िल्म जोधा और अकबर आई थी, उसके पीछे किसी समाज या जाति या धर्म को अपमानित किए जाने की साजिश नहीं थी। एक संदेश था जो जातिवादी राजनीति की कंट्टरता के चलते उसके हुल्लड़ और शोर में खो गया। यह एक दुखद तथ्य है कि बेहद ज़रूरी बातें और सवाल उन लोगों के द्वारा किए जाने वाले हो-हुल्लड़ में खो जाते हैं जो धर्म, जाति, भाषा या सत्ता की राजनीति कर रहे हैं। लेखकों का एक बड़ा समूह इस राजनीति में शामिल तो नहीं है पर इसकी गंभीरता और आसन्न संकटों पर विचार करने को एकजुट नहीं होता। लेखक भी कई-कई समूहों, संगठनों, विचारों, विचारधाराओं यहाँ तक कि काव्य-शैलियों, साहित्य रूपों के समूहों में बँटे हुए हैं। जैसे कि वे किसी और समाज के लिए सोच और लिख रहे हों। कोई गीत लिखने के नाम पर अलग है तो कोई प्रगतिशील होने के नाम पर। कोई राष्ट्रीयता और संस्कृति के अंधे प्रेम के नाम पर अलग है तो कोई स्वयं को अति आधुनिक, उत्तर आधुनिक, वामपंथी या फिर दक्षिणपंथी बताता हुआ अलग बैठा और रूठा हुआ है। किसी को यह गुमान है कि साहित्य अकादमी, पद्मश्री, ज्ञानपीठ, शिखर सम्मान पा चुका है तो उसका वर्ण साहित्य में अब अग्निहोत्रीय या वाजपेयियों का हो चुका है और साहित्य का अति उच्च ब्राह्मण होने के नाते औसत या फिर छोटे लेखकों के बीच, जो उसकी निगाह में साहित्य के शूद्र या फिर अछूत हैं—बैठने से उसकी प्रतिभा को छूत लग जाएगी। कोई यह मानकर चल रहा है कि मुक्त गद्य वृत्त ही एकमात्र श्रेष्ठ शैली है जैसे कि किसी अंतरराष्ट्रीय कंपनी का कोई ब्राण्ड। किसी को इस बात का मुगालता है कि साहित्य वही है, जिसे प्रसाद-निराला और अज्ञेय-शमशेर ने लिख दिया है या फिर उन्हीं की तर्ज़ पर स्वयं उसका अपना किया हुआ काम।

समकालीन लेखकों का यह घनघोर दंभ उनके बीमार मानस का परिचायक है। पिछले युगों से चले आते जातिवाद और वर्णवाद तथा हमारे अपने इस समय की राजनीति और सत्तावाद को ग़ौर से देखें तो सहज ही अनुभव होगा कि लेखकों के लिए विदीर्ण कर डालने वाले सामाजिक अनुभव उतने अहम् नहीं रह गए हैं जितनी कि वह आत्म-प्रतिष्ठा जो लेखन को एक अवसर और कैरियर के रूप में देखती है। मुक्तिबोध और धूमिल जैसे कवियों के कुछ बयानों पर सोचें तो यह दुखद सच हाथ आता है कि लेखकों का एक बड़ा तबका साहित्य को लोक के उत्कर्ष के साधन के रूप में नहीं, आत्म-विज्ञप्ति और आत्म-प्रतिष्ठा के रूप में प्रयुक्त कर रहा है। इसलिए ऐसे लेखक सामने नहीं आ पा रहे हैं समाज जिन्हें अपने दुखों का विश्वसनीय प्रवक्ता मान सके। या फिर वे लेखक जो उसकी खोई हुई उम्मीदों और बिखरे हुए सपनों को फिर से रच सकें। आश्चर्य तो यह है कि जो लेखक स्वयं को सबसे ज़्यादा जुझारू और क्रांतिकारी प्रदर्शित करते हैं, अवसरवाद और समझौतों की योजनाएँ या चोर-सूचियाँ उनके साथ चला करती हैं। और इन योजनाओं की साकारता और सूचियों की पूर्ति उन्हें जितना आह्लादित करती है उतनी वे राष्ट्रीय नाकामियाँ उन्हें व्यथित नहीं कर पातीं जिनसे किसी समय का चेहरा दाग़दार और स्याह हो उठा है। लेखक का यह चरित्र बेहद गर्हित है।

समकालीन भारतीय समाज केवल समकालीनता के बने-बनाए लक्षणों के आधार पर पहचाना नहीं जा सकता। ये लक्षण चाहे कथित आधुनिक बौद्धिकों द्वारा गिनाए जाते हों, चाहें उन लोगों द्वारा जिनकी आधुनिकता, बौद्धिकता यहाँ तक कि राष्ट्रीयता भी अधकचरी और संदिग्ध है। ये सारे लोग कल समकालीन भी माने जाएँगे कि नहीं, यह भी एक सवाल है। उदाहरण के लिए जिन दिनो मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल और प्रसाद-निराला लिख रहे थे, हरिऔध, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' औ पं0 रामनरेश त्रिपाठी जैसे बड़े और सच्चे लोग भी लिख रहे थे पर आज जब उस काल की याद की जाती है, इनको याद करने की कोई खास ज़रूरत महसूस नहीं होती। ये सब निश्चय ही समकालीनता के गवाहों के रूप में मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद आदि के साथ हों, किन्तु उसकी भीतरी सतहों को समझने में हमारी मदद बहुत कम करते हैं। इसी तरह निबंधकार रामचन्द्र शुक्ल और कवि प्रसाद-निराला की बहसों और विवादों की याद करें तो जो सबसे बड़ी बहस सामने आती है वह बुद्धिवाद और हृदयवाद अथवा तर्कवाद और भाववाद की है। चिंतामणि के निबंध बुद्धिवाद को केन्द्रीयता प्रदान करते हैं तो कामायनी सधन सूक्ष्म संवेदनात्मकता को। यद्यपि यह बहस एक अर्थ में नई भी है किंतु जब धर्म, दर्शन, लोक-विज्ञान, विज्ञान और समाजशास्त्र द्वारा रचित लोक जीवन फिर भी किन्हीं कारणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चलते अभावग्रस्त और विपन्न रह गयी होंगी, कविय और कलाएँ आगे आई होंगी। शुक्ल जी का यह कालजयी कथन मुझे बार-बार याद आता है कि जिनकी कोई दवा नहीं है उनकी दवा कविता (अर्थात् साहित्य) है।

कथित आधुनिक समाज भी एक हतूचेत, बीमार समाज है। ऊपर से ज़रूरत से ज़्यादा स्वस्थ शिशु किन्तु भीतर से एकदम बेचैन, अस्त-व्यस्त, भागमभाग में पड़ा हुआ। कहीं जाने को बेचैन पर कहाँ जाना है, इसकी ख़बर तक नहीं। जो लोग फिर भी ख़बरची बने हुए हैं, उनको अपने ही साथियों और प्रतिस्पर्धियों से ख़तरा लगता है और अपने पाश्विक-अस्तित्व को बचाए और बनाए रखने के लिए उनका सबसे बड़ा जीवन-मूल्य टी0आर0पी0 और मुनाफा है। इस आधुनिकतम् माने जाने वाले क्षेत्र में जिन लोगों ने कभी अगुवाई की थी उनके दर्द भरे बयान मुझे याद आते हैं जो चौंकानेवाले हैं। प्रसिद्ध पत्रकार रामकृपाल सिह ने एक बातचीत में श्री जवाहरलाल कौल से कह ही डाला कि 'टी0वी0 की अपनी सीमाएँ हैं। लिखित शब्द पाठक को अर्थ समझने और उस पर सोचने को जितना अवसर देता है, टी0वी0 का बिंब नहीं दे सकता। वह एक बार कानों से या आँखों से टकराकर गायब हो जाता है।'' इसे मैं अगर इस चौथे खंभे की आत्म-स्वीकृति मान लूँ तो इस खुशफहमी में भी जी सकता हूँ कि लेखक का रचा और बरता हुआ शब्द प्रायः टिकने की नियति से जुड़ा होता है क्योंकि वे चेतना की गहरी सतहों से उपजता है। वह न तो कामकाजी दिमाग़ की पैदाइश होता है न तात्कालिक माँगों के दबाव से चलकर आता है। हज़ारों सालों के दरम्यान किसी जीवन-प्रवाह की धड़कन बने जीवन-संगीत की प्रतिगूँज बने शब्द का यह अस्तित्व, उस ऐतिहासिक गतिशीलता, मूल्यवत्ता और कला-बोध को चरितार्थ करता है जिसे एक पूरा राष्ट्र अपनी पहचान के रूप में धारण किए रहता है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि अद्यतन हिन्दी साहित्य में वैचारिक एकांगिताएँ बढ़ती जा रही हैं और रूढ़ और जड़ अभिव्यंजनाओं की भरमार हो रही है। अगर कोई सर्जक इस घेरे को तोड़कर आगे आता है तो साहित्यिक रूढ़िवादियों का एक समूह उसे लेखक मानने से ही परहेज करने लगता है। इसके कई बेढब उदाहरण इतिहास में हैं। कबीर मध्यकाल में हैं जिन्हें एक संस्कृतज्ञ ने कहा कि वाराणसी के पण्डित लोग उन्हें कवि कहाँ मानते हैं? बीसवीं सदी में 'वाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारूचन्द्रलेख' यहाँ तक कि 'कितने पाकिस्तान' जैसी कृतियों को उपन्यास न मानने वाले लोग मौजूद हैं। इसी तरह दुष्यंत की ग़ज़लों को भी ग़ज़ल न मानने का दुराग्रह लिए कुछ संगठन और समूह चल रहे हैं। इनके नेताओं और साथी-लेखकों की शायद यह समझ बनी है और काम कर रही है कि आलोचना का शस्त्र आगे और मौलिक रचना का व्याकरण पीछे है। यह मुगालता भी कि आलोचक पहले और कृतिकार बाद में है। यानी आलोचक प्रजापति और सर्जक उसकी प्रजा है। किसी भी साहित्य में आलोचक की ऐसी उपस्थिति ख़तरनाक तो है ही, अनैतिक भी मानी जाएगी। हिन्दी समाज आज ऐसी मिथ्या उपस्थितियों से त्रस्त है। शायद इसका एक कारण इस प्रकार की सर्जनात्मक प्रतिभाओं की अनुपस्थिति है जो अपने कृतित्व से कथित आलोचकों को निस्तेज करने की पहल करती है। सर्जना की मर्यादा और सौंदर्य इसी में है कि नए आलोचक नई सहृदयता अथवा विदग्धता के साथ जन्म ले सकें। अगर ऐसा संभव नहीं हो पा रहा है तो यह चिंतनीय स्थिति बन जाती है।

मैं फिर इस बात पर लौटना चाहता हूँ कि धर्म, राजनीति, विज्ञान और प्रौद्योगिकी मनुष्य की ईजाद होकर भी आज उसके खिलाफ़ खड़े हैं। इलैक्ट्रॉनिक चैनल कहने को उत्तर-आधुनिक प्रौद्योगिकी के हिस्से हैं पर वे ख़तरनाक रूप से अंधविश्वास और धार्मिक-मानसिक कट्टरताएँ परोस रहे हैं। यह जो समाज अभी तक न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, धर्मात्मा-दुरात्मा की पदावली में सोचता-विचारता था, फायदे-नुकसान के मुहावरों की शरण में चला गया है। कुछ भ्रामक और कथित रूप में नई अवधारणाओं ने इस पर ऐसा बौद्धिक आतंक जमा रखा है कि यह उस जाल से निकल नहीं पा रहा है। पहले हमें अर्थ महत्त्वपूर्ण लगा करता था, आज भाषा और लिपि महत्त्वपूर्ण लगने लगे हैं। हम अपनी सीमित और कोडीफाइड आइडेन्टिटीज़ के लिए अपनी राष्ट्रीय पहचानों को तिलांजलि देने को तैयार हैं। नए और आधुनिक का भूत हमें इतना परेशान और बेचैन किए हुए है कि हम अपनी ही परिपूर्णता या संपूर्णता को व्याघातकारी मानने लगे हैं। हमें यह समझने में भी मुश्किल आ रही है कि परंपरा का विकास ही आधुनिकता और आधुनिकता का स्फुरण ही परंपरा की पुनर्नवता और गति है।

आज तो हम यह भी भूल गए हैं कि संस्कृत, अरबी, फ़ारसी के साथ व्रज भाषा और अवधी के बावजूद हिन्दवी और रेख़्ता को क्यों इस समाज ने जन्म दिया और अपनाया? क्यों कुछ मुसलमान कवि व्रजी-अवधी में उतरे क्यों कुछ हिन्दू शायर उर्दू की तरफ गए? उनका यह प्रस्थान क्यों ज़रूरी था? क्यों खुद तुलसीदास जैसा असाधारण संस्कृतज्ञ अवधी में आया, क्यों फारसीदाँ ग़ालिब उर्दू या रेख़्ता में? क्यों आर्य समाज के संस्थापक दयानंद हिन्दी में सत्यार्थ प्रकाश लिखते हैं और क्यों मराठी भाषी लतामंगेशकर हिन्दी की महान गायिका हैं? आज जबकि 32-35 प्रतिशत आबादी अंग्रेज़ी को अपना जीवन-साधन और गौरव-पहचान बनाए हुए है, साठ-पैंसठ प्रतिशत भारतीय समाज हिन्दी और अन्य प्रांतीय भाषाओं में हँस-रो और गा रहा है। और यह समाज जितना ऋग्वेद का है, उतना ही रामायण-महाभारत का भी। उतना ही बुद्ध-गाँधी और अंबेडकर का भी। उतना ही महावीर, गुरुनानक आदि का भी। ईसा मसीह और मोहम्मद साहब का भी। इस समाज को चंद फार्मूलों और किताबी मुहावरों के बल पर समझना अपने दिवालियेपन का परिचय देना है। हिन्दी के लेखक जितनी जल्दी इससे उबरें, भारतीय समाज का सौभाग्य उतनी ही जल्दी उदित होगा।

निदेशक, भारतीय भाषा परिषद, 36-ए, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य और साहित्य

मृदुला गर्ग

मूल्य विघटन की हर तरफ़ चर्चा है और उसके लिए आधुनिकीकरण को ज़िम्मेदार ठहराने का रिवाज़। इसलिए, मुझे यह आवश्यक लगता है कि एक बार साहित्य के संदर्भ में भी इस विषय पर बात की जाए।

जब हम मूल्यों की बात करते हैं, तो ज़रूरी है कि सबसे पहले हम शाश्वत मानवीय मूल्यों और काल-स्थान सापेक्ष व्यावहारिक मूल्यों के बीच अंतर करें। सनातन या शाश्वत जीवन-मूल्यों का संबंध, मनुष्य के आंतरिक जीवन या उसकी अंतश्चेतना से होता है। ऐसे कुछ मूल्य हैं—मानवीय संवेदना, करुणा, न्याय-प्रियता, कर्मठता, समता-मूलक दृष्टि आदि। पर, इन चिरंतन मानवीय मूल्यों में प्रमुख है-विवेक। दरअसल, मनुष्य को पशु से अलग करने वाला कोई तत्त्व है, तो यही है। पशु-पक्षी हों या स्वयं प्रकृति, वे अपना हर काम सहज ज्ञान या अंतर-बोध से करते हैं। मनुष्य अकेला ऐसा जीव या प्राणी है, जो सोच-विचार कर विकल्पों के बीच चुनाव कर सकता है, करता है। जब नहीं करता, तभी मूल्यों का विघटन आरंभ हो जाता है।

अपने विवेक का इस्तेमाल करके ही मनुष्य समय-समय पर उन जीवन-मूल्यों को भी प्रतिपादित करता है, जिनका संबंध, हमारे व्यावहारिक जीवन से होता है और जो काल या स्थान सापेक्ष होते हैं। काल-स्थान सापेक्ष इसलिए, क्योंकि ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से अलग-अलग देशों, विभिन्न सामाजिक और राष्ट्रीय इकाइयों में, अलग-अलग तरह की संस्कृतियों ने जन्म लिया। अपनी विशिष्ट अस्मिता को बनाये रखने के लिए, उन्होंने विभिन्न प्रकार के नैतिक तंत्रों का निर्माण किया। जो मूल्य बतौर नैतिकता-बोध उन्होंने विकसित किये, उन्होंने समाज का स्वरूप और उसके भिन्न घटकों के अंतःसंबंध निर्धारित किये। उसके अंतर्गत, परिवार, समाज, राजतंत्र, सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप भी आता है और उनके घटकों के परस्पर संबंध भी। जैसे पीढ़ियों के बीच के संबंध, मालिक-मातहत के बीच के संबंध, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के आपसी संबंध, परिवार के सदस्यों के आपसी संबंध, समाज के अनेक वर्गों के बीच के संबंध। यह भी क़ाबिले ग़ौर है कि हमारा देश, दुनियाँ का अकेला देश है, जहाँ वर्ग-विभेद में जाति-विभेद भी जुड़ जाता है। असलियत यह है कि एक बार हम समता-मूलक दृष्टि को त्यागकर विषम समाज बना लें, तो वर्ग और जाति की विषमता क़रीब-क़रीब ख़ुद को उजागर करती है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि, जहां तक समानता के सनातन मानवीय मूल्य का सवाल है, जैसे ही समाज की स्थापना एक राजनीतिक इकाई के रूप में हुई, इस मूल्य का विघटन हो गया। और फिर, हर काल और स्थान में वह विघटित ही रहा।

मेरे लिए अचरज की बात यह है कि जब हम आधुनिकता या आधुनिकीकरण की बात करते हैं, तो यह कैसे भूल जाते हैं कि इस आधुनिक युग की या आधुनिकीकरण की सबसे बडी देन असमानता व विषमता के ख़िलाफ़ लड़ी गयी लड़ाई है। एक लंबी, सशक्त, व्यापक और भावाकुल लड़ाई। यह सही है कि सत्ता में भागीदारी और आर्थिक समानता का दर्शन ज़्यादातर किताबों में ही बंद रहा। साम्यवादी और समाजवादी राजनीतिक तंत्रों में भी व्यावहारिक तौर पर वह लागू नहीं हुआ। फिर भी, मार्क्सवाद का दूरगामी और व्यापक प्रभाव हुआ। उसके द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण और समानता के सिद्धांत के राजनीतिक मूल्यांकन करने के कारण ही समाज के कमज़ोर तबक़ों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जाग्रत हुई। उस चेतना का विकास हुआ। उसी की वजह से लोकतांत्रिक देशों में कल्याणकारी सरकारें बनीं। वे नागरिकों को रोज़गार शिक्षा व स्वास्थ्य आदि मूल सेवाएँ मुहैया करवाने का काम करने को मजबूर हुई।

यह दीगर है कि निरंकुश शासन समाप्त नहीं हुआ। कभी वह सैनिक शासन के रूप में प्रकट हुआ, फ़ासीवाद के रूप में, कभी एक दलीय शासन के रूप में उभर कर आया तो कभी, संसार के सबसे पुराने सत्ता-स्रोत धर्म के पुनर्स्थापन या कठमुल्लापन के रूप में।

यह एक विडंबना ही मानी जाएगी कि हम लोग, जब विघटित मूल्यों की बात करते हैं, तो समचेता-भाव स्थापित करने वाले आधुनिकता के इस महान प्रयास को भुला देते हैं। उसके बजाय, व्यवहार के रूप में जो बदलाव आ रहे हैं, उन्हें मूल्यों का विघटन मान लेते हैं और उसे आधुनिकता के माथे मढ़ देते हैं। यानी हम अपना ध्यान व्यावहारिक परंपराओं या रूढ़ियों के विघटन पर केंद्रित रखते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार के विघटन को लें। उस पर हमारे यहाँ बराबर शोक-सभाएँ चला करती हैं। सवाल यह है कि यह मूल्य का विघटन है या सामाजिक संरचना में परिवर्तन? यही बात विवाह-संस्था पर भी लागू होती हैं। तलाक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वृद्धि मूल्यों का विघटन है या सामाजिक संघटन के एक घटक परिवार की परिकल्पना में परिवर्तन? याद रहे कि यह घटक, स्त्री-पुरुष संबंध से परिचालित है, इसलिए सबसे अधिक परिवर्तनशील है। ये ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर विचार आवश्यक है और समाजशास्त्री, समय-समय पर, उन पर विचार करते भी रहते हैं।

मैं उसके मूल में स्थित प्रवृत्ति पर बात करना चाहती हूँ। असल समस्या इसलिए पैदा होती है, कि हम-आप जैसे आम जन अपने नैतिक मूल्य अपने विवेक का प्रयोग करके निर्धारित नहीं करते। जिनके पास सत्ता व शक्ति होती है, वे समूह समाज का आचरण निर्धारित करते हैं और बाक़ी लोग, उन्हें अक्षुण्ण नैतिक मूल्य मानकर स्वीकार कर लेते हैं। देखें कि यह समर्थ सत्ता-स्रोत कौन से हैं? आधुनिक युग में उनके स्वरूप में क्या अंतर आया है? और साहित्य की इस विघटन के निषेध में क्या भूमिका है?

हर संस्कृति में, सत्ता और उससे उत्पन्न मूल्य-व्यवस्था और निषेध तंत्र का पहला घटक धर्म रहा है। शुरू में, साहित्य समेत हर लोक और शास्त्रीय कला का स्रोत आध्यात्मिक चिंतन था, इसलिए शब्द और साहित्य की उत्कृष्टता को ईश्वर और अध्यात्म से जोड़कर देखा जाता था। जो शाब्दिक अभिव्यक्ति ईश्वरीय सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाती थी, उसे निंदायोग्य मान लिया जाता था। समय के साथ इसमें परिवर्तन आया। अनेक देशों में, अध्यात्म को ईश्वर से न जोड़कर सनातन या शाश्वत मानवीय मूल्यों से जोड़कर देखा जाने लगा।

जहाँ तक हमारे देश का सवाल है, हमारे यहाँ चिंतन के क्षेत्र में तो यह परंपरा आदिकाल से थी कि अध्यात्म का संबंध आस्तिक होने या ईश्वर के अस्तित्त्व में आस्था रखने से नहीं हैं, मानवीय मूल्यों में आस्था से है। हिन्दू, जैन और बौद्ध सभी दर्शन-शास्त्रों में इसका प्रावधान था। पर, व्यावहारिक रूप में ईश्वर और धर्म के नाम पर ही सत्ता पर कब्ज़ा किया जाता था। और उसका निर्वाह, कर्मकांड के आधार पर होता था। धर्म से हस्तांतरित होकर जब सत्ता भौतिक स्रोतों के हाथ में आयी, तो अधिनायक तंत्र तथा औपनिवेशिक शक्तियाँ सत्ता पर काबिज़ हो गयी। लंबे समय तक काबिज़ रहीं। फिर आया लोकतंत्र। सैद्धांतिक रूप से यह आम इन्सान के विवेक के जागरण और प्रभुत्व का युग होना चाहिए था, पर ऐसा हुआ नहीं। इसलिए, कि समानता की जो लंबी लड़ाई आधुनिक काल में लड़ी गयी, वह अंततः विफल रही। जब अधिकांश मतदाता निर्धन, निरक्षर और मूक हों, जैसे हमारे देश में हैं, तो नेतृत्व का मूल्यांकन करने का सामर्थ्य भी गिने-चुने लोगों के पास रहता है। हालाँकि निरक्षर होने का अर्थ अनजान या नादान होना नहीं है। हमारे मतदाता हर चुनाव के समय यह सिद्ध करते हैं। पर, त्रासदी यह है कि, हमारी व्यवस्था इतने व्यापक रूप से भ्रष्ट हो चुकी है कि सत्ता पर वर्चस्व पाने के लिए जो उम्मीदवार सामने आते हैं, उनमें से एक भी जन साधारण से सत्ता बाँटने को तैयार नहीं होता। विकल्प ही न हों, तो मतदाता के चुनाव का अर्थ भाथरा हो जाता है। आम जन के पास मत देने का अधिकार तो है, पर व्यावहारिक तौर पर वह निरर्थक बन चुका है।

सत्ता पर नियंत्रण समाज के एक छोटे समर्थ-समृद्ध हिस्से का रहता है। फ़ासीवादी देशों की तरह हमारे यहाँ भी सक्षम वर्ग या जाति की सहमति को बहुमत मान लिया जाता है। यही तथाकथित बहुमत मूल्यों का निर्धारण करता है और वही उनका विघटन भी करता है। आज स्थिति यह है कि भ्रष्टाचार इतना सर्वव्यापी हो गया है कि उस से संबंधित कोई घटना हमें मूल्य-विघटन की घटना नहीं लगती। यानी, इस संदर्भ में हमने अपना विवेक इस्तेमाल करना छोड़ दिया है।

विवेक का त्याग मूल मानवीय मूल्य के ह्रास को रोकने में विफल रहा है। क्या इसका एक अर्थ यह नहीं है कि हमारे देश में आधुनिक लोकतंत्र स्थापित ही नहीं हुआ? वैसे, आधुनिकीकरण ने अपनी सकारात्मक भूमिका भले न निभायी हो, नकारात्मक भूमिका बखूबी निभा रहा है। यूँ कि पिछले चार-पाँच दशकों में धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सत्ता के अलावा पूरी दुनिया में, एक नया निषेध-तंत्र तैयार हुआ है। वह पहले तीनों से अधिक व्यापक और सूक्ष्म प्रभाव वाला है—यह तंत्र है, विज्ञापन अनुप्रेरित बाज़ार का।

लोकतंत्र अपने यहाँ भले दो कौड़ी का हो, बाज़ार के नियंत्रण को हमने सौ-फ़ी-सदी आत्मसात कर लिया है। बाज़ार के नियंत्रण का सबसे ख़तरनाक पहलू यह है कि प्रत्यक्ष में वह स्वतंत्रता का पक्षधर बनता है, आपको चुनने के लिए आमंत्रित करता है, ग्राहक को सर्वोपरि बतलाता है। पर, परोक्ष में आपके विवेक को कुंठित करता है। आपको सर्वेक्षण द्वारा सिद्ध की गयी बहुमत की राय को अपनी राय मानने के लिए उकसाता है और इस काम को तकनीक के इतने सूक्ष्म ताने-बाने के साथ करता है कि विज्ञापन के संदेश आपके अवचेतन में प्रवेश कर जाते हैं और उस पर कब्ज़ा जमा लेते हैं। अपने यहाँ सर्वेक्षण की महिमा को देखते हुए यह अचरज का विषय नहीं है कि, विज्ञापन की दुनियाँ में भारत ने ख़ूब नाम कमाया है।

यहाँ एक पारिभाषिक विद्रूप को इंगित करना चाहती हूँ। हिन्दी सहित्यकारों ने एक नया शब्द ईजाद किया है, बाज़ारवाद। दरअसल बाज़ार का वाद से कुछ लेना-देना नहीं होता, हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी कोई स्वायत्त विचारधारा नहीं होती। इसीलिए, अर्थशास्त्र में इस शब्द का कोई वजूद नहीं हैं। बाज़ार हर प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में मौजूद रहता है। चाहे वह सामंतवाद हो, पूँजीवाद, समाजवाद या साम्यवाद। हाँ, उसका स्वरूप हर व्यवस्था में भिन्न होता है। बाज़ार का स्वरूप, प्रभाव या आतंक व्यवस्था का वाद अवश्य तय करता है, पर बाज़ार स्वयं वाद नहीं बन सकता। कन्ज़्यूमरिज्म की तर्ज़ पर उपभोक्तावाद समझ में आता है। यह उस स्थिति में बदलाव को दर्शाता है, जब उपभोक्ता के माँग लेकर बाज़ार में आने पर उस माँग के अनुरूप वस्तुओं की आपूर्ति करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। अब स्थिति में उलट-फेर हो गया है। अब विज्ञापन तय करता है कि उपभोक्ता किन वस्तुओं की माँग करेगा। विज्ञापन गैरज़रूरी वस्तुओं के उपभोग को इस तरह ज़रूरी बनाकर पेश करता है कि आम आदमी भी उसकी गिरफ़्त में आ जाता है। यह विज्ञापन अनुप्रेरित बाज़ार एक प्रकार का निषेध तंत्र तैयार करता है। लगता है उसके सर्वव्यापी आतंक से घबराकर, हिंदी के लेखकों ने उसे वाद का दर्ज़ा दे दिया है।

पर, मानक शब्दों का विवेकहीन भ्रामक प्रयोग भाषा और साहित्य का अवमूल्यन करता है और वह भी समाज में मूल्य-विघटन का कारण बनता है। इसी तरह का एक अन्य बहुप्रचलित शब्द है, स्त्री-विमर्श। जब भी कोई स्त्री रचना या विरोध करती है, उसे विमर्श का नाम दे दिया जाता है, चाहे उसमें सैद्धांतिक विचार नाममात्र को न हो। रचित अनुभव और अधिकार के लिए उठी आवाज़ के भीतर से ही विमर्श उभरता है, चाहे वह स्त्रीवादी हो अथवा पुरुषवादी और वह रचना या आवाज स्त्री या पुरुष, साक्षर या निरक्षर किसी की हो सकती है। पर, स्त्री के हर उद्‌गार को स्त्रीवादी विमर्श का नाम देना शब्द और साहित्य-आलोचना का अवमूल्यन है जो, जैसा मैंने पहले कहा मूल्य-विघटन का एक पहलू है। इस प्रसंग पर लंबी बात यहाँ अवांतर होगी, प्रसंग अवांतर नहीं है, विषय का एक पहलू है। विवेक का हनन पहला और सबसे घातक मूल्य-विघटन है। उसके फलस्वरूप संवदेनशीलता का भी ह्रास होता है जो आज के युग का मूल संकट है। संवेदनशीलता नष्ट होती है, तो करुणा, न्यायप्रियता, कर्मठता-सबका क्षय होना आरंभ हो जाता है। बाज़ार का निषेध-तंत्र हमारे अवचेतन को इस तरह वशीभूत करता है कि धीरे-धीरे स्वतंत्र चिंतन करने की, अपने निर्णय स्वयं लेने की हमारी इच्छा ही कुंद हो जाती है। हम अपनी राजनीतिक समझ, पक्ष-विपक्ष, नैतिक मूल्य, सौंदर्यबोध, रुचि-अरुचि, जीवन-शैली सब मीडिया में आयोजित कार्यक्रमों से उधार लेने लगते हैं।

इसका एक दुखद रूप 26 नवंबर, 2009 को हुई मुंबई आतंकवादी वारदात के दौरान् देखने को मिला। हादसे को तमाशा बनाने के चक्कर में टी.वी. चैनल भूल गये कि जो वे दिखला रहे थे, उसे हमलावर भी देख रहे थे। उससे मुसीबत में फँसे लोगों की सुरक्षा को ख़तरा बढ़ रहा था। मुठभेड़ करते जवानों की मुश्किल और जानलेवा हो रही थी। सबसे अचरज और दुख तब हुआ, जब नारायण मूर्ति जैसे आला नागरिक से पूछा गया कि मुल्क के बाहर से वह हादसा देखने पर सबसे यादगार क्षण क्या लगा तो उनका जवाब था कि टी.वी. कवरेज़ बहुत बढ़िया था। बाज़ार के प्रकोप और बाज़ार की माँग पर पत्रकारिता के तमाशाई मीडिया बन जाने से उत्पन्न, संवेदनहीनता को वह एक वाक्य परिभाषित कर गया।

इस पूरे प्रकरण में साहित्य की क्या भूमिका है? हमारे यहाँ आमतौर पर उसे दशा और दिशा की संज्ञा दी जाती है। मुझे इस पद से हमेशा परेशानी होती आयी है। साहित्य की दशा भले कभी कम सशक्त कभी अधिक सशक्त हो जाए, पर उसकी दिशा तो हमेशा वही रहती है। आख़िर साहित्य की दिशा, उसका प्रयोजन, उसका मर्म है क्या? साहित्य का प्रयोजन, दिशा, मर्म कोई है तो यह कि वह हर समय और स्थल पर हमें विवेक को रूढ़ नैतिकता के ऊपर रखने की प्रेरणा देता है। यानी, अपने मूल्य स्वयं चुनने के लिए स्वतंत्र बनने की शिक्षा देता है। हमें दीक्षित करता है कि हम सत्य को एकांगी न मानें। उसके किसी एक प्रचारित या लोकप्रिय पक्ष को देखकर संतुष्ट न हों। शब्द-संयोजन को एकार्थी मान कर ग्रहण न करें।

सवाल उठता है, क्या आज का साहित्य इस दिशा में अग्रसर है या व्यवस्था के अन्य घटकों की तरह उसकी दशा भी विरूपित हो गयी है? कुछ हद तक साहित्य भी विज्ञापन और प्रचार पर निर्भर हो गया है। प्रकाशक पाठक के बजाय ख़रीदार चाहता है, भले वह सरकारी ख़रीद का भंडारण हो, जहाँ किसी पाठक का कभी दख़ल न हो। इस काम को अंजाम देने के लिए कृति का कथ्य प्रायोजित किया जाता है। पश्चिम में पेशेवर दलाल यह काम करते हैं, हमारे यहाँ वह सामाजिक सरोकार के नाम पर किया जाता है। बिला

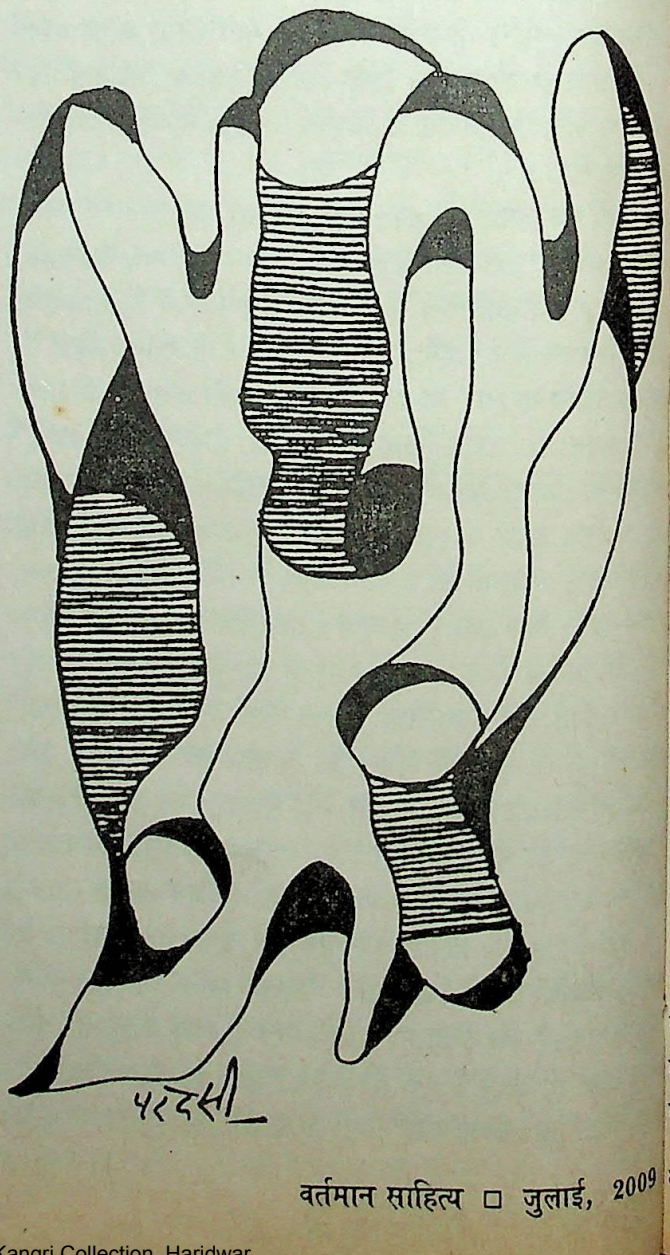

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरी पैठ, सतही विवरणों के आधार पर समाज-सुधार या स्त्री-सशक्तीकरण के नुस्ख़े सुझाने वाले साहित्य को बहुत जल्दी बाज़ार अपहृत कर लेता है और व्यवस्था का अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए देह-मुक्ति का नारा बाज़ार का एक मोटा हथियार बन चुका है, जिसकी शिकार स्त्री है, वही जिसने मुक्ति का नारा दिया था। हमें याद रखना होगा कि व्यवस्था केवल राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक नहीं होती, सांस्कृतिक और साहित्यिक भी होती है। साहित्य के सत्ताधीशों की बनायी व्यवस्था की दशा भी वही है। वह कहीं परंपरा की तानाशाही से पीड़ित है, तो कहीं, बाज़ार से संचालित। जब तक हम साहित्यिक व्यवस्था को परंपरा की तानाशाही से मुक्त नहीं करेंगे, तब तक व्यवस्था के यथार्थ को ईमानदारी से चित्रित नहीं कर सकेंगे। मैं परंपरा को समूल छोड़ने के लिए नहीं कह रही हूँ, मात्र उसे परिवर्तनशील मानने की दरख़्वास्त कर रही हूँ। अगर आप संस्कृति को अपरिवर्तनीय मानते हैं, तो आप यथार्थ में तेजी से आ रहे बदलावों को पकड़ नहीं पाएँगे। जो मूल्य किसी समय में प्रासंगिक रहे होते हैं, वे एक समय पर आकर रूढ़ होकर, निरर्थक बन जाते हैं। विवेक के अभाव में उनका स्वीकार और अस्वीकार-दोनों मूल मानवीय मूल्यों का विघटन करते हैं।

संयुक्त परिवार का ही उदाहरण लें। गाँव की आर्थिक व्यवस्था चरमरायी, तो कामकाज के लिए संयुक्त परिवार के सदस्यों को अलग-अलग शहरों में जाकर अलग घर बसाने पड़े। फिर, जब पुरुष के साथ स्त्री भी घर से बाहर कामकाज के लिए जाने लगी, तो कई जनों की सलाह से रोज़मर्रा का जीवन-यापन कठिन होने लगा। तब एक शहर में रहते हुए भी, एकल परिवार रखने का रिवाज़ हो गया। अगर हम इसके भीतर मूल्य-विघटन न देखकर परिवर्तन देखें, तो परिवार के आपसी स्नेह-सौहार्द्र में कमी नहीं आएगी। पर, उसके लिए ज़रूरी है कि हम लीक तोड़ने से न डरें। नयी राह पकड़ने से न कतराएँ। पुरातन के सकारात्मक तत्त्व को बिना नकारे, नये को अपनाने को प्रस्तुत होंगे, तो अलग रहकर भी साथ चलने के लिए तैयार होंगे। यह भी उस बदलते हुए यथार्थ का हिस्सा है, जिसका चित्रण साहित्य करता है।

साहित्य जब यथार्थ का चित्रण करता है, तो उसमें व्यवस्था का विरूपित रूप, ख़ुद-ब-ख़ुद उजागर हो जाता है। अगर नहीं होता, तो वह चित्रण, प्रासंगिक और प्रामाणिक नहीं बन पाता। परंपरा में कुछ सनातन है, तो यही है। व्यवस्था द्वारा नये-नये निषेधतंत्रों का आविष्कार और साहित्य द्वारा एक के बाद एक का निषेध।

साहित्य का दूसरा मर्म है—उसका वैविध्य। क्योंकि लेखक की विवेक-प्रेरित निजी दृष्टि उसके कथ्य और शिल्प, दोनों को गढ़ती है और उनके अनुरूप उसकी भाषा को भी, इसलिए हर लेखक एक अलग इकाई होता है, और हर कृति भी। इसलिए, साहित्य का किसी एक विचार-संहिता के तहत अनुशीलन या मूल्यांकन उसकी दशा और दिशा-दोनों को उसके मूल सत्व से विलग कर देता है। जब व्यवस्था विकृत हो जाती है और उसके विकल्पों की खोज विफल होने लगती है, तब साहित्य एक काल्पनिक विकल्प का अनुसंधान करता है। यह लेखन गहरे मोहभंग की उपज होता है, जैसा आज का बहुत-सा लेखन है। सार्थक मोहभंग केवल बाह्य व्यवस्था से नहीं, ख़ुद अपने आचरण से भी होता है। ऐसा लेखन विद्रूप का चित्रण करके पाठक को उससे विमुख करता है, और मानवीय मूल्यों की ओर आकृष्ट करता है। हिन्दी में मनोहर श्याम जोशी का लेखन इसका बेजोड़ उदाहरण है। जगदंबा प्रसाद दीक्षित, नमिता सिंह, चित्रा मुद्गल, पंकज बिष्ट, चंद्रकांता, उदय प्रकाश, असग़र वजाहत, कुणाल सिंह, चंदन पांडेय आदि अनेक लेखक विद्रूप को आत्मसात किये पात्रों के माध्यम से कथा कहते हैं। दूसरी ओर, विनोद कुमार शुक्ल, मंजुल भगत, राजी सेठ, अनामिका आदि लेखक रोज़मर्रा के जीवन में संगति की तलाश करके उसे बचाये रखने का प्रयास करते हैं।

हमारे पास अभी भी काफ़ी ऐसे लेखक बचे हुए हैं, जो अपने-अपने तरीक़े से, व्यवस्था के निषेध और मानवीय मूल्यों को अभिव्यक्त कर रहे हैं। जब तक साहित्य में ऐसा अंश बचा रहेगा, जो तमाम प्रचार-प्रसार-नकार के बावजूद रूढ़ का निषेध और विवेक का सशक्तीकरण करता है, तो हमें और कुछ नहीं तो मूल्यों के विघटन से लड़ने के लिए औज़ार ज़रूर मिलते रहेंगे।

ई.-421 (भूतल), जी.के.-2, नई दिल्ली

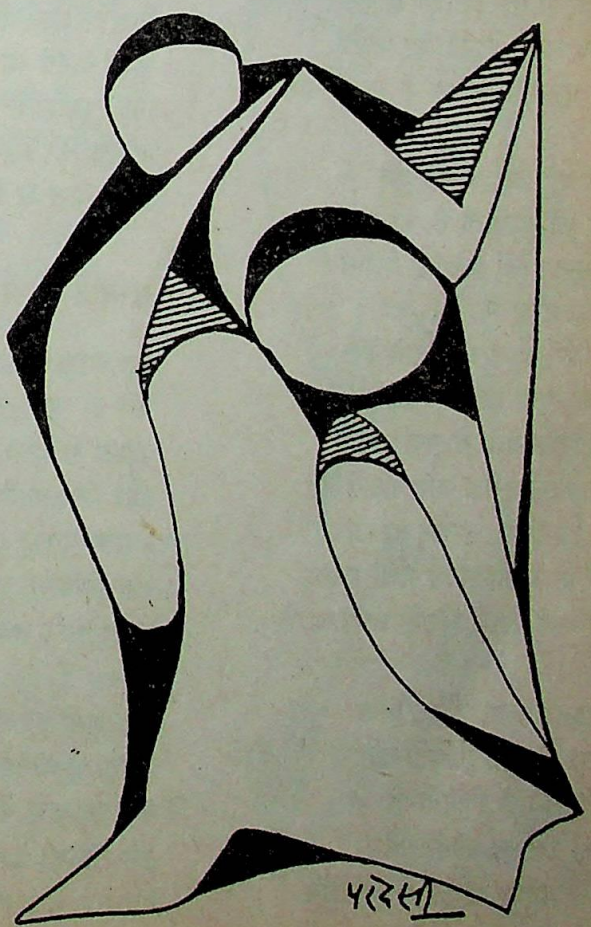

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राकेश भारतीय की कविताएँ

नदी के नाम पर निबंध

नदी किनारे कहीं भी
घूमते-फिरते मिल जाएँगे–
यही था बाबा का पता
बाप बौड़ियाये थे उम्र भर
पर परेशानी में पड़ने पर
हमेशा याद कर लेते थे
फेंटे में बँधी हुई नदी
और बाबा और बाप के साथ
नदी को भी बहुत पहले
परछत्ती पर फेंक चुकी पीढ़ी
हैरान हो गयी है उस बच्चे से
जो किसी फ़ोटोफ़रोश कोलंबस से
ख़रीद लाया है नदी के फ़ोटो
और पूछता फिर रहा है उसका पता

काल को जैसे लाँघते हुए
बच्चे को दिखाती है फ़ोटो
बिस्मिल्ला खाँ शहनाई बजाते हैं
और बनारस में उतर रही
शाम के क़दम थम जाते हैं
निराला एक कविता कहते हैं
और इलाहाबाद से गुज़र रहे
बादल चौंक-चौंक कर रुकते हैं
लहर दर लहर, अक्स दर अक्स
फ़ोटो के सम्मोहन से बँधा हुआ
बच्चा नदी तक पहुँचने लपकता है

पर बहुत अलग है हक़ीक़त
वो राग-रागिनी, कविता-कहानी
गुम हो गये हैं ज़िंदगी से
न कोई रस, न कोई नदी
बस आयातित मवाद से लबालब
एक नाला हर ओर बहता है
भटकते हुए बच्चे का पाँव
फच्च से जिसमें जा पड़ता है
और उसकी सफ़ेद कमीज़ पर
हिन्दुस्तान का एक गँदला नक़्शा
चप्प से छप जाता है

रोओ मत बच्चे, रोओ मत
पूछकर आओ एक बार
फिर अपने माँ-बाप से
कहाँ है फ़ोटो की नदी ?
वह नदी आख़िर कहाँ है ?
और वे भी न बता पाएँ तो
लिखना शुरू करो एक निबंध
'हुआ करती थी कभी एक नदी'
नहीं, गुम होती भाषा में नहीं
अंग्रेज़ी में लिखना शुरू करो
'देयर वाज़ अ रिवर...'

सन्नाटे में सेंध

रात गहरा चुकी है
नींद से माते हुए पेड़
कोटरों में दुबके हुए परिंदे
और पत्तों के बिस्तर पर
आराम फ़रमा रहे कीट-पतंगे
सब मिलकर बुन चुके हैं
सन्नाटे की सर्वव्यापी चादर...

हवा थमी हुई है
उमस के थप्पड़ों से पस्त
पहरेदार कुत्ते भौंकते भी नहीं
इस निठल्ले प्रहर में बस एक
दुबराया चाँद ही व्यस्त लगता है
फेंकने में मरियल-सी चाँदनी
जिसमें कुछ भी नहीं दिखता ठीक से
सिवाय सोती हुई घास के सिर के...

तभी एक परिंदे के
अचानक फड़फड़ा उठे पंख
सेंध लगाते हैं सन्नाटे में
और... और कोई तो नहीं
मगर वक़्त की मार से
बेवक़्त जागता हुआ एक आदमी
अँधेरे में आँखें गड़ा देता है...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पता नहीं परिंदा भटक कर
वापस खोज रहा था ठिकाना
या अँधेरे की आड़ में
कर रहा था कोई जासूसी
पर कुछ पल बीतते ही
उसके शांत हो जाने के साथ
सन्नाटा फिर से पसर जाता है...

सुबह आने में अभी
देर है एक प्रहर की
किसी भी प्राणी में अभी
जागने की हलचल नहीं है
बस परिंदे की कारस्तानी से
उचलापचाल हो गया परेशान आदमी
सन्नाटे को सूँघने की एक
आख़िरी कोशिश कर रहा है....

उदासी

बाहर है बरसात
खिड़कियों के शीशों पर
तबला बजाती हुई
अंदर उमस है
पर तकलीफ़ दे रही है
उमस से भी ज़्यादा उदासी।

बहुत बड़ा है ब्रह्मांड
पृथ्वी भी बड़ी है
कितनी सारी ऋतुएँ यहाँ
और उनके कितने-कितने मिज़ाज
पर रूप-रस-गंध-स्पर्श के
हर मुकम्मल अहसास से मरहूम मैं
कभी एक इंच बायें खिसकता
कभी दो इंच दायें खिसकता
इंच-इंच महसूस करता रहता हूँ
अपने अपाहिज़ होने के मायने

आधा दरवाज़ा खोलकर
कभी झाँक पड़ता है कोई
मेरे होने की तसल्ली कर
आ भी जाता है अंदर
बैठता है पास बिस्तर के
करता है कुछ कथा-वार्ता
जो अच्छा ही लगता है
पर जैसे ही उसकी आँखों में
झलकता है उसका जताना कि
वो समझ रहा है मेरी उदासी
मैं और उदास हो जाता हूँ
आख़िर हूँ मैं जिस हाल में
उस हाल में हुए बिना ही
कोई कैसे समझ पाएगा मेरी उदासी ?

अनाहूत

सब कुछ सामान्य ही लगता हुआ
सिवाय उसकी आँखों पर चढ़े हुए
एक अदद काले चश्मे और
उसका हाथ पकड़ कर साथ-साथ
चल रहे एक कमसिन लड़के के

अभी-अभी ग़ाज़ियाबाद उतर गये
यात्री से खाली हुई बर्थ पर
अधलेटा होकर कहा उसने लड़के से
'बताना, जब गुज़र जाए तिलक ब्रिज'
और हथेली पर ठुड्ढी टिकाकर
डूब गया, पता नहीं किस सोच में

जैसे ही कहा उससे लड़के ने
'अभी अभी गुज़रा है तिलक ब्रिज'
तुरंत सीधे बैठ कर पैंट की
पिछली जेब से निकाली उसने कंघी
और अंदाज़ से ही जुल्फ़ें सँवारते
फिर हाथ से उन्हें थपथपा कर
उनके सँवर जाने पर आश्वस्त होते
वह हल्के से हँसा और बोला
'दिल्ली! आ ही गया मैं तुम्हारे यहाँ'
सवाल ही नहीं उठता कि दिल्ली जैसे
बेग़ैरत और बेमुरव्वत शहर को उस जैसे
किसी अंधे का कभी कोई इंतज़ार होगा
तो फिर तिलक ब्रिज से ही तैयार
और ज्योति से हीन आँखों के बावजूद
जुल्फ़ों को करीने से सँवारकर वह
किस दिल्ली की बात कर रहा है ?
किस दिल्ली से मिलने जा रहा है ?

ज़रूरतों का सवाल

ज़रूरत से ज़्यादा ज़मीन धँसाने में
या आसमान में अपनी टोपी अड़ाने में
एक-दूसरे से होड़ करने में लगी
अट्टालिकाओं में अक्सर जाना पड़ता है
अपनी या अपने जैसों की किन्हीं
छोटी-बड़ी ज़रूरतों के सिलसिले में
पर उनकी बंद-बंद हवाओं में व्याप्त
बंददिमाग़ी के तमाम पहरों के बावजूद
अक्सर परेशान कर देता है ये सवाल
कहीं घूम-फिर कर मैं वहीं तो नहीं
पहुँचता रहता हूँ जहाँ नये-नये तरीक़ों से
उन ज़रूरतों को कभी न ख़त्म होने देने की
नित नयी साजिशें होती रहती हैं ?

एफ-117, प्रगति विहार हॉस्टल
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुआवज़ा

राज नारायण

एक कंकालनुमा जिस्म तेज़ी से चलता जा रहा था, चने-मसूर से लहलहाते खेतों के बीच से गुज़रने वाली पगडंडी पर। सत्तर साल की बुढ़िया कमली। गाँव-क़स्बे की दादी। लो, हवाई चप्पल का फ़ीता ही टूट गया। अब क्या करूँ? फेक दूँ? नहीं, मैं बायें हाथ में टाँग लूँगी और चार आना दे कभी सिलवा लूँगी। यह सोच, चप्पल उठा चल पड़ी। पर, दफ़्तर में इसे कहाँ-कहाँ ढोये फिरूँगी? क्यों न पगडंडी के किनारे, बेर की सघन झाड़ी में छिपा दूँ, और वह वहाँ छिपाकर आगे बढ़ी।

अचानक उसके तलवे में तेज़ चुभन महसूस हुई। तलवे उठा, एड़ी के सहारे तीन क़दम चल एक धूल-भरी टूटी पुलिया पर बैठ गयी। 'उफ़'...देखा, एक छोटी कील धँसी है। अपनी तर्जनी उँगली और अँगूठे से पकड़ उसे निकाल फेंका और भगवान को धन्यवाद किया कि ख़ून नहीं बहा।

कई दरारों वाली पुलिया पर से उठ चलने को हुई ही थी कि उसकी नज़र अपने गाँव की ओर घूम गयी। उसे लगा, मज़दूरों-किसानों का यह गाँव आज भी वहीं है, जहाँ था—चालीस साल पहले। सीमेंट-ईंटों से बने सफ़ेद पुताई वाले मकान दो-तीन ज़रूर हैं, शेष अभी फूस की झोंपड़ी और खपरैल वाले ही हैं। पिछड़ों और मेहनतकशों की रिहाइशों का टोला है—उदास, रौनक़हीन। शहर कहाँ से कहाँ पहुँच गया और मेरी ससुराल गोपालपुर ढूह-सा पड़ी है—थिर, जड़...

कमली आगे बढ़ी, सोचती हुई, 'अच्छा हुआ इस रास्ते से निकल आयी। रोड से गयी होती, तो कम से कम दो घंटे ज़्यादा समय लगता घूम-घाम कर पहुँचने में।' नगेसरी ने सही समझाया था।

पगडंडी-मेंड़ से हो कच्ची रोड पर आ गयी। अब क्या है? आधा घंटा और लगेगा जिलाधीश के दफ़्तर तक जाने में।

दफ़्तर पहुँचते-पहुँचते लगभग ग्यारह बज गये। बाप रे! इतना बड़ा दफ़्तर! पचासों कमरों वाला पंखों और कुर्सियों से भरा साइकिल, स्कूटरों से घिरा। कमली के पैर ठिठक गये। किधर जाए, पूरब के कमरे में या दक्खिन के? किससे पूछे? एक हॉल में घुसने लगी, तो स्टूल पर बैठे दायें अँगूठे से खैनी मलते हुए एक कलूटे दरबान ने टोका, "ऐ बुढ़िया, इधर किधर?"

"बेटा, साहब जी से मिलवा दऽ नऽ। एगो जरूरी काम हे।"

"साहब नहीं हैं आज। कल आना," कह खादी वर्दीधारी दरबान ने टरका दिया उसे। अब वह दूसरे कमरे में घुसी और टाइपिस्ट के पास पहुँची। टाइप में लगी उँगलियों को रोक कर उसने पूछा—"क्या है?"

"मुआवजा लेवे ला है।" कमली घिघियाती बोली।

"मुआवज़ा? काग़ज़ पत्र कुछ है? दिखाओ।"

"इ ल S अखबार बउआ। एही में सब कुछ छप्पल हे।"

स्थानीय चारपेज़ी 'दैनिक ज्वाला' अख़बार के तीसरे पेज़ में ठीक ऊपर, दायीं तरफ़ कोने में छपा था— "मुख्यमंत्री ने आश्वासन देते हुए कहा—"अपराधियों को अवश्य पकड़ा जाना चाहिए, ताकि जनता को पुलिस दहशत से छुटकारा मिल सके। विवेक होनहार और तेज़-तर्रार युवक था। उसके निधन से मुझे गहरा आघात लगा है। उसके शोक-संतप्त परिवार को पचास हज़ार की अनुग्रह-राशि दी जाएगी और अन्य घायल लोगों को पाँच-पाँच हज़ार ।"

टाइपिस्ट एक ही साँस में पढ़कर बोला—"मंत्री जी ने पचास हज़ार देने की घोषणा की है, यह सही है। पर माता जी, बात दस साल पुरानी है। वो मंत्री जी भी नहीं रहे। इतने सालों में सरकार कई बार मौसम की भाँति बदली । अब तो कुछ नहीं हो सकता।"

"का कहइत हऽ बेटा?" बुढ़िया की साँस रुकने सी लगी। अपनी पनीली नज़रें टिका अनुरोध किया, "कुछ तो कर बेटा।"

"माता जी, एक ही रास्ता है, अब आप अपने इलाक़े के थाने से लिखवा लाइए एक प्रमाण-पत्र कि विवेक आपका ही बेटा है, उसका देहांत पुलिस की लाठी से हुआ है।"

"अच्छा बेटा! सुखी रह।"

कमली लौट पड़ी, पिचके मुँह पर उम्मीद की आभा के साथ। उसकी चाल में फुर्ती थी, चपलता थी। बेसहारे को सहारे की उम्मीद जो थी। पुलिया पर बैठ कमली सुस्ताने लगी। देखा, सूरज उसी की तरह बूढ़ा हो चला है, कमज़ोर। अच्छा हुआ, शाम होते-होते पहुँच गयी अपने इलाके में।

अकस्मात उसकी नज़र अपने खेत की ओर चली गयी, 'रब्बी फसलें लहलहा रहल हे। रामफलवा से पूछऽ हीतो सीधे कहे हे, बैंक तो कुछ ने होए। कहाँ से दूक....झूठ बोलता है। खेत बटाई पर हे, मगर दे कुछ नहीं...कमीना....हजार दो हजार भी दे दे, तो दफ़्तर में धक्का खाने की नौबत न आवे, का करीं? खेत रहते भूखे मरइ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही। किस्मत ही खराब हे।' वह टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी पर गोजी टेकती बढ़ती जा रही थी।

शोख-चंचल बकरियाँ कुलाँचें भर रही थीं। दो टेढ़ी सींगें टकराने लगीं, जिनकी गर्दनों में बँधी पीतल की छोटी-छोटी घंटियाँ बजने लगीं—टुनुर..टुनुर...। कुछ और आगे बढ़ने पर एक काला कुत्ता भौंकता उसकी ओर बढ़ा। पहले तो डरी, फिर धत्...धत् दुत्कारते डंडा उठा फटकारा। वह डरकर भागा पूरब की ओर खेतों में। पगडंडी से कुछ दूर खेतों के बीच एक पेड़ है महुए का। यही साक्षी है बलात्कार का। पेड़ को ऊपर से नीचे तक एक बार देखा, लगा यह पेड़ पक्का मनहूस है और रुककर साँस ली। गले में फँसे बलग़म को खँखार कर फेंका....थू....

ख़ून के लाला गोल धब्बे-सा सूरज डूब गया। अँधेरा छाने लगा। कमली लाठी टेकती पहुँच गयी, कच्ची गली के अनेक मोड़ों को पार करती हुई । धोती के खूँट में बँधी चाभी से पीतलिया ताला खोला। कोने में झट गोजी फेंक खटिया पर बैठ गयी। उसे लगा, अंग-अंग टूट रहा है। सो लेट गयी। तीन-चार मिनट आराम कर, अँधेरे में मोरी के पास जा दायें हाथ से पानी उलीच दोनों पैरों को रगड़-रगड़कर पखारा। मुँह पर पानी का छींटा दे आँचल से पोंछा। ताज़ा दम हो ताखे से माचिस ले ढिबरी बार सोचने लगी, क्या पकाऊँ? अरे हाँ, कल भी जाना है प्रमाण-पत्र लाने । क्यों न कुछ ज्यादा ही पका ले? आलू के भुरते के साथ माँड-भात इस वक़्त खा लेगी और सुबह बासी बचा-खुचा निगल चली जाएगी।

कमली थकी-माँदी थी, मगर उदास-हताश न थी। कल थाने जाएगी ज़रूर, उसने अपना मन बना लिया था।

आँखों में नींद न थी। ढिबरी के मंद होते जा रहे प्रकाश में वह मूँज की बनी खटिया पर लेटी थी, पर थी बेचैन। करवट पर करवट बदलती, पर राहत नहीं मिल रही थी। वह उठ बैठी। 'अयं! ढिबरी बुत गेल...मिट्टी के तेल खतम हो गेल हे। बोतल तो खाली है,' बुदबुदाती फिर खटिया पर लेट आँखें बंद कर नींद लाने की कोशिश करने लगी। पर नींद कहाँ? अकस्मात बलात्कार और लाठीचार्ज़ की घटनाएँ धीरे-धीरे मानस में उभरने लगीं। अनिल ने पूरा क़िस्सा बताया था आँखों देखे हाल-जैसा। तेरह साल की गोरी गंगिया ने रो-रोकर बयान किया था कि जब गन्ने के खेत की पगडंडी के पास गइया के लिए हरी-हरी दूब घास छील रही थी, तो अचानक दो सिपाही आये। एक झट मुँह बंद कर गन्नों के बीच ले गया धमकाता हुआ कि हल्ला करेगी, तो इसी बंदूक के हत्थे से मुँह थूड़ दूँगा...चुप...साली...और बारी-बारी से...और काँपती-डरती-रोती-कलपती दौड़ आयी ख़ून के धब्बों वाली साड़ी में, अपने बाप-चाचा-भाई के पास। यह ख़बर गाँव-पड़ोस में आग की तरह फैल गयी।

विवेक के नेतृत्व में गाँव वालों की एक बैठक हुई। उसने भाषण देते हुए कहा, "प्यारे भाइयो, गाँव की इज़्ज़त पर पुलिस का सीधा हमला है। चुप बैठेंगे, तो कल दूसरे सिपाही भी हाथ डालेंगे। कोई माँ-बहन नहीं बचेगी। कल जुलूस निकलेगा, पर बिना लाठी-डंडे के। ख़ाली हाथ। यह जानते हैं, अपराधी पुलिस है, इसलिए कोई गाली नहीं देगा सिर्फ़ नारा लगाएँगे....नारा... न्याय की माँग करेंगे... लड़ाई लड़ेंगे अहिंसात्मक तरीक़े से...

भीड़ ने एक स्वर से कहा, "ऐसा ही होगा।"

दूसरे दिन ठीक आठ बजे फुल पैंट-बुशर्ट में विवेक निकल पड़ा था घर से। आँगन बुहारती कमली ने पूछा—"बेटा सुबह-सुबह कहाँ जाते हऽ?"

"अपराधी को सज़ा दिलवानी है माँ।"

"बेटा, घर में बइठ के इमतिहान की तैयारी करऽ नऽ। जुलूस-फुलूस में कहाँ भागत फिरत रहत हऽ।"

"नहीं माँ, परीक्षा से आज यह काम ज़्यादा ज़रूरी है," कहकर निकल गया।

कमली रह गयी हकबकायी। केवल देखती, एकटक अपने जवान बेटे की चौड़ी प्रशस्त पीठ को, उसके तेज़ी से उठते-गिरते पैरों को।

जुलूस कॉलेज परिसर से चल पड़ा। आगे-आगे विवेक और गंगिया का बाप... सैकड़ों लहराती तनी मुट्ठियों के साथ... गगनभेदी नारे लगने लगे... "अपराधी को सज़ा दो... बलात्कारी को फाँसी दो... गुंडागर्दी नहीं चलेगी—नहीं चलेगी—नहीं चलेगी।"

जैसे-जैसे जुलूस आगे बढ़ता गया, आस-पास के गाँवों के युवकों के जत्थे शामिल होते गये। जैसे हहास भरती बाढ़ का पानी लिये नदी मिलती हो बड़ी नदी में। कुछ ने देखते-देखते पत्थर के गोल-गोल ढोंके और डालियों से रोड जाम कर दिया। भीड़ अनियंत्रित होती जा रही थी। कुछ उद्दंड उपद्रवी तत्त्वों ने फल वाले के ठेले लूट लिये, दुकानों को तोड़-फोड़ दिया। ट्यूब-टायर की दूकान में आग लगा दी। जुलूस में आयी युवतियों के साथ छेड़खानी और गुंडागर्दी भी शुरू हो गयी।

पोस्ट ऑफ़िस की सुरक्षा में खड़ी लट्ठधारी पुलिस की क़तार देख उत्तेजित भीड़ का क्रोध उभर आया...पत्थर-ईंट जो कुछ भी हाथ लगा, फेंके जाने लगे...घायल होते ही पुलिस ने कसकर लाठीचार्ज किया, निर्ममता से। विवेक दोनों हाथ उठाकर क्रुद्ध भीड़ से शांत रहने की अपील करने लगा। अचानक पुलिस की लाठी की चोट लगी। माथे पर बहते ख़ून को एक हाथ से रोकते हुए वह डटा रहा। भीड़ से आवाज़ आयी, "विवेक बाबू ज़िंदाबाद...पुलिस मुर्दाबाद...और कुछ ही मिनटों में पुलिस ने एक राउंड गोली चला दी, बदरी की टाँग में गोली लगी, मगर विवेक तो वहीं धराशायी हो गया, सजीला, होनहार, उगता सूरज डूब गया। कमली रोती-सुबगती रही, लेटी-लेटी।

अँधेरी रात को चीर रहा था गली के एक बूढ़े कुत्ते का रुदन... हों... हों... ओं...

कमली को लगा, कोई कुछ अशुभ घटने वाला है।

दूसरे दिन पुलिस स्टेशन गयी। उसने देखा, एक सिपाही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दनादन बीड़ी फूँक रहा है, गेट से सटी लकड़ी की कुर्सी पर बैठा नाक से धुँआ निकालता। पूछा, "कहाँ घुसी जा रही है बुढ़िया?"

"इनिसपिटर साहेब से प्रार्थना करे ला है बचवा।"

गंदी, तेल के दाग़ों वाली, थिगलियों से भरी धोती में लिपटी बुढ़िया पर दया आ गयी सिपाही को। इज़ाज़त दे दी अंदर जाने की—"जाओ, मगर पाँच मिनट में ही लौट आना, समझीं।"

थाने के खरंजे लगे परिसर में बैठे पुलिस इन्स्पेक्टर हुड़दंगी राय जाड़े की मीठी गुनगुनी धूप का मज़ा लेते हुए अख़बार का पन्ना पलट रहे थे—टेबिल पर टाँगें फैलाये। बुढ़िया अपनी लाठी ज़मीन पर रखकर बैठ गयी।

"बोलो बुढ़िया, क्या काम है?"

दोनों हाथ जोड़ दीनता भरे स्वर में बोली, "मुआवजे के लिए एक कागज पर लिख देव साहब कि तारीख 15 दिसंबर, 85 को विवेक बाप का नाम शिवानंद, गाँव गोपालपुर का मारा गया था।" अख़बार पढ़ते ही हुड़दंगी राय को वह पुराना हादसा याद हो आया। उन दिनों वहाँ से सौ किलोमीटर दूर एक देहाती थाने में पोस्टेड थे। अच्छा, तो इसी का बेटा था जिसकी वजह से मेरा मौसेरा भाई तलवार सिंह नौकरी से निकाल दिया गया और पाँच साल सश्रम कठोर सज़ा भुगतने के बाद अब बेकार बैठा मक्खियाँ मार रहा है। भौजी ने तो उसके जेल जाते ही आत्महत्या कर ली थी, गर्दन में दुपट्टा लपेट फैन में बाँधकर। वह सोचने लगा, उस लौंडे को क्या ज़रूरत थी क़स्बा बंद करवाने की, 'अपराधी को सज़ा दो... नहीं तो गद्दी छोड़ दो', नारा लगाते हुए लीडर बनने की...साला, नेता बनना चाहता था ब्लडी, स्टुपिड चैप...नहीं...नहीं कोई प्रमाणपत्र नहीं देगा...क्या कर लेगी मरियल बुढ़िया? हुड़दंगी राय का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। कड़कती आवाज में चिल्लाये, "ओ बुढ़िया, भाग यहाँ से. .. डायन... देर करोगी तो... हवालात में डाल दूँगा... चोरनी. ..।" और गुस्से में अख़बार फेंक दिया, जो ठीक उसके पास गिरा। वह बैठी रही—दीनता की, बेबसी की मूर्ति बनी। मिमियाती हुई बोली, "खायेला कुछ न हे...अन्न का एको दाना घर में न हे...भूखे मरइत ही।"

इतना सुनते ही उसकी क्रोधाग्नि और भड़क उठी, जैसे उसमें घी का कनस्तर उलट पड़ा हो—"रामचरन, किधर गये? निकाल इस भूतनी को।"

दो हट्टे-कट्टे सिपाही कंधे पर बंदूक रखे दौड़े आये और उस जर्जर शरीर वाली कमज़ोर औरत को उसकी बाँह पकड़े खींचते गेट के बाहर धकेल गये, जैसे मरखने बैल को बाहर कर गये हों। रामचरन बोला, "अरे नंदू, तू बैठा-बैठा बीड़ी फूँकता रहता है। देखता नहीं, कैसे-कैसे लोग कैंपस में घुस आते हैं? साहब तुमसे बेहद नाराज़ हैं।" कहकर लोहे का गेट बंद कर दिया।

आहत-टूटी कमली को लगा कि अब रुकना ठीक नहीं। क़िस्मत अच्छी थी, सिपाहियों ने पीटा नहीं। वह भीतर से बेहद डर गयी थी। रोती-बिसूरती लौट पड़ी, अपनी क़िस्मत को कोसती, पुलिसवालों के बाप-दोनों को गरियाती..बद्दुआ देती, "देह में पिल्लू पड़े...घुन लगे।"

कमली लौट आयी थाने से, पर बेहद हारी-थकी थी। किसी तरह रात को ढिबरी जला खिचड़ी पकायी कंडे की आग पर और जल्दी-जल्दी कौर निगलकर पेट भर लिया। 'घर में न चावल था, न दाल। कल क्या खाएम', सोच में पड़ गयी, 'देखल जतइ... सबके दाता राम हथ,' बुदबुदाती अल्मुनियम के लोटे का पानी पी बैठ गयी, खटिया पर।

आज भी कमली की आँखें खुलीं छह बजे। चिड़ियों की चहचहाहट के बीच। कहीं दूर मंदिर से ध्वनि विस्तारक का मधुर भक्ति गीत आ रहा था—'ऊँ जय जगदीश हरे।' वह ढीली मूँज की रस्सी से बनी झुलंग खटिया पर बैठी रही। लगा, उसमें उठने की ताक़त नहीं रह गयी है। अचानक उसका दहशत भरा मन थाने की ओर चला गया, "मुछैल कुत्ता, धकियाता हे। सब मेरी तरह निपूता हो जा...जवानी में कोढ़ लगे, कैंसर हो जा...।" बरामदे में धूल थी, आँगन में आम के दो-चार सूखे पत्ते गिरे पड़े थे। अब मैं साफ़-सफ़ाई कैसे करूँ? बाल्टी उठी, नहीं, किसके लिए करूँ? विवेक के बाबू होते तो पत्ते चुन फें आते...बेटे की हूक में ही घुलते-घुलते गये और साल आते-आ चल बसे...हार्ट अटेक से...

अएँ कौन है? गंगिया का बाबू होगा, बदरी। मुँह लुक में क्यों आया...किवाड़ पर बजती ज़ंजीर की झनझनाहट सुन वह आगे बढ़ी, धीरे-धीरे। भीतर की किल्ली खोली तो अनुम ठीक निकला, बोली—"आओ बदरी।"

"परनाम चाची, आया हूँ फूल लेकर, विवेक बाबू याद करने। आज 15 दिसंबर है न," कहकर वह लँगड़ा एक पैर घिसटता चल रहा था, एक हाथ में लोटे में पानी दूसरे में फूल ले। ताख़ पर रखे विवेक के फ़ोटो को दोनों से उठाया, तो आँखें डबडबा गयीं। लाल गमछे से पड़ी धूल प्यार से साफ़ किया। लगा कि वह बेजान काग़ज़ के फ़ोटो नहीं, विवेक बाबू का ही मुँह पोछ रहा है। जल से अभि कर उसने पीले-पीले फूल चढ़ाये, फिर श्रद्धापूर्वक हाथ बोला, "चाची मेरे लिए तो आज ही शहीद दिवस है। वि भाई मेरी बेटी की... क़स्बे की इज़्ज़त आबरू के लिए श हो गये।"

"हाँ बेटा, आज ही ओकर जनम दिन भी हे। अ करलऽ तू आ गेलऽ याद करे। आज ऊ पैंतीस साल के जाइत...ऊ चल गेल, रोयेला छोड़ गेल...सपना देखऽ हली अँगना में बिआह के गीत गूँजइत हे... पोता-पोती किलकारि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलजार रहत, पर अब तो चारों तरफ बीरानगी आउर मनहूसियत छैले हे।''

''सच कहती हैं चाची जी, आज वे रहते तो बड़े नेता या अफ़सर बनते। हम ग़रीबों को सहारा मिलता। पर, भगवान को तो कुछ और ही मंजूर था। कोई क्या करे? अच्छा चलता हूँ'', कह आगे बढ़ा, फिर पीछे मुड़ बोला, ''चाचीजी, आज भी कई जवान हैं इस गाँव में, पर सब साले पियक्कड़-आवारा हैं। विवेक बाबू जैसा मिलनसार, निडर और ईमानदार लड़का कहाँ?''

कमली कुछ क्षणों तक देखती रही। कल ही तो लौटी है थाने से दुत्कार-फटकार खा। क्या आज भी दफ़्तर जाए और विनती करे। सोचती रही। आज मंगलवार है, शुभ दिन है। सोम-शनिवार नहीं, जो पूरब जाने वालों के लिए अशुभ होता है।

लगभग दो घंटे में चल पड़ी कंबल लपेटे, बिना नहाये-खाये। उसी जानी-पहचानी पगडंडी पर और हाँफती-काँपती-खाँसती दफ़्तर पहुँय गयी। बाँयीं ओर एक कमरे में बैठे काला जैकेट पहले एक अधेड़ चश्माधारी क्लर्क को अख़बार दे बोली, ''अनुग्रह राशि दिलवा दऽ बेटा।''

तीसरे पन्ने पर उसकी नज़र टिक गयी। बोला, ''हाँ, छपा है, मगर माता जी, यह घटना दस साल पुरानी है।'' इतना कहकर वह पढ़ने लगा।

''तो विवेक आपका ही बेटा था?'' एक सवाल उछाल दिया।

''हाँ, हमरे कोख के जनमल लाडला हल।''

''यह इसलिए पूछा कि इन दिनों अख़बारों में झूठी ख़बरें भी खूब छप रही हैं।''

''मगर बेटा, ई सोलहो आना सच हे। चला-चली की बेरा में झूठ कइसे बोलम।''

''माता जी, दस साल पुराना काग़ज़ खोजने पर भी कहाँ मिलेगा, फट-फटा गया होगा। आपको उसी समय आना था न।''

अचानक नागेश की सलाह याद हो आयी। कहाँ झाँका आज तक। सुना, कलकतिया बाबू बन गया। आज आता तो जरूर दिवा देता। कहा था, ''मौसी जी, आप दफ़्तर चलकर पचास हज़ार की रकम ले लें। सरकार दे रही है आज। कल क्या हो, कौन जाने?'' हम ही साफे इन्कार कर देली हल ई कहके कि ऊ नोट हमर बेटा के ख़ून में सनल लाल-लाल लगे हे, सरकार अप्पन धन रखे....फूटी कौड़ी भी न लेम।''

मंगलदेव ने अपनी राय ज़ाहिर की थी, ''चाची जी, रुपये न लेना चाहें, तो कोई बात नहीं। उस धनराशि से गाँव में स्कूल बनवा दीजिए। लड़कियों के लिए...''

''बेटा, अइसन सरकार से का लेना-देना, जेकर पुलिस बर्बर-व्यभिचारी होय?'' हमर फैसला सुन सब निरुत्तर हो गेल

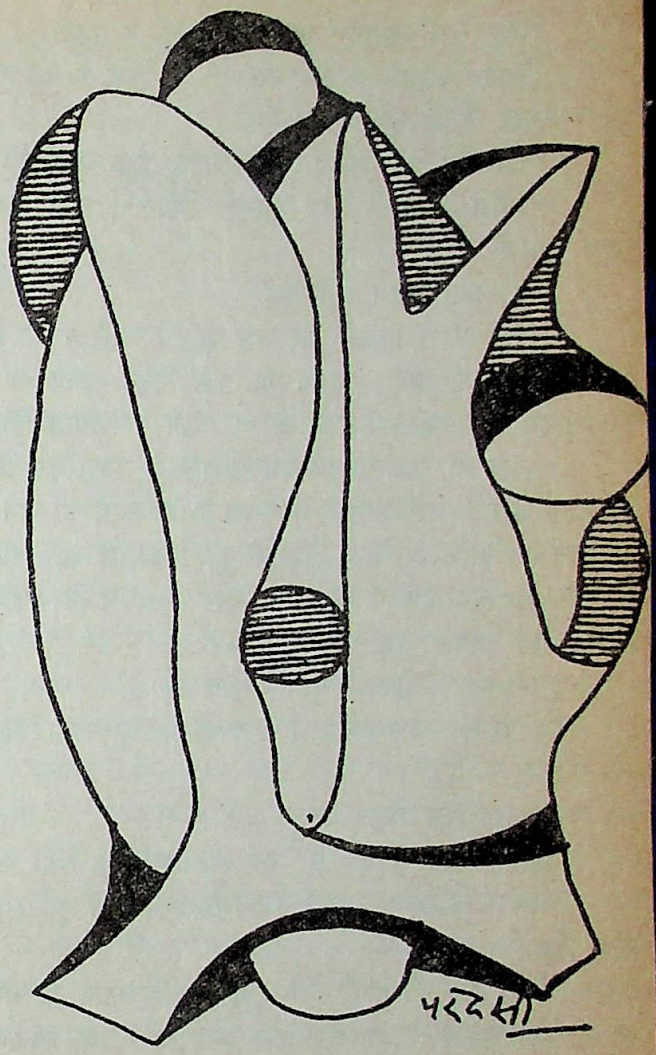

हल, मौन...। नागेश तेरहवीं के बाद कभी पूछने भी नहीं आय कि मौसी कइसे रहे हे।

''अब का करीं? बताओ बबुआ?'' बदहवास कमली के पपड़ियाये होठों से फूटा।

''मैं क्या कहूँ'' कहकर एक क्लर्क ने अख़बार उसकी ओर बढ़ा दिया। कोने में बैठा एक दूसरा साँवले चेहरे का क्लर्क उन दोनों की बातों को ध्यापनपूर्वक सुन रहा था, अपनी नज़र फ़ाइलों पर घुमाते हुए। उसे लगा, आज मुट्ठी गरम हो सकती है। मुस्कान बिखेरता, शालीनता टपकाता बोला, ''माता जी, इधर आइए।''

''आप बैठिए माता जी, मैं आपके बेटे के समान हूँ। खड़ी न रहिए। अच्छा नहीं लगता,'' शीरीं आवाज़ में कहकर झट बगल में पड़ी कुर्सी बढ़ा दी।

संकोच करती धीरे-धीरे कमली बैठ गयी, यह सोचती हुई कि इस दफ़्तर में भले आदमी भी हैं।

''आप बेफ़िक्र रहिए माता जी। पचास हज़ार का चेक मिल जाएगा कल।''

''बेटा कउनो तरीके से दिलवा द। कम से कम मुड़ बुढ़िया के रोटी त मयस्सर होय।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"और कोई काग़ज़-पत्तर है?" क्लर्क ने पूछा।

"आउर कइसन कागज बउआ? जो कुछ हे बस एही हे," कमली ने दो टूक जवाब दिया।

"ठीक है। आज जाइए। कल आइए, ठीक बारह बजे।"

"अच्छा! जात ही बेटा, जुग-जुग जिअ...। फलऽ...फूलऽ खूब तरक्की करऽ"

गोजी उठा चलने लगी वह।

टेबिलों में से निकल द्वार तक पहुँचने वाली ही थी कि पीछे से आवाज़ आयी, "माता जी, एक मिनट सुनिए तो।"

वह लौट पड़ी—"का हे बेटा?" चेहरे पर हुलास लिए।

"माता जी, एक बात बताना तो भूल ही गया। ज़रा और नजदीक आइए," दायें हाथ से आने का इशारा करते हुए बोला।

"का कहत हऽ बेटा," पूछती हुई टेबिल से सट गयी।

"पचास हजार में से कम-से-कम आधी रकम चढ़ानी होगी," वह अत्यंत मंद स्वर में बोला।

"मतलब?" चौंककर पूछा कमली ने।

"ऑफ़िस के इन देवताओं के चरणों पर फूल-मिठाई नहीं चढ़ाएँगी?"

"तो, पच्चीस हजार रिस्वत चाहे हे तू?"

'रिश्वत कौन माँगता है? यह तो सेवा-शुल्क है।"

"सर्म न आउ?" उसकी रोष भरी आवाज़ से पूरा हॉल गूँज उठा।

"किस बात की शर्म? इस कुर्सी के लिए माता जी, मैंने भी तो तीस हज़ार चटाया था ऊपर वालों को। जब अफ़सरों को नहीं है लाज-शर्म, तो मैं क्यों करूँ? आपको माता जी क्या मालूम कि ऊपर से नीचे तक घूसखाऊ बैठे हैं।"

"गोली खावे हम्मर बेटा, आउ पैसा चाहीं तोरा के? घूसखोर, बेईमान।"

"अरी बुढ़िया, तुमने भी तो गोली नहीं खायी। फिर अनुग्रह राशि क्यों?" क्लर्क ने तल्ख़ी भरी आवाज़ में कहा और दो-तीन बार ऐंठ-मसलकर अख़बार फेंक दिया, जो नाचता हुआ उसकी धोती से टकराकर पैरों पर गिरा। उपेक्षा, तिरस्कार से टूटी कमली ने झुककर अख़बार उठा लिया और अपनी काँख में दबा चल पड़ी, आहिस्ते-आहिस्ते।

"भाग जा, अब इधर न आना कभी," ऐसी फटकार सुन क्रोध में उन्मत्त हो अपनी छोटी गोजी उठा ली।

"तोरा जइसन घूसखोर के आज नऽ छोड़म...जान गेली तू सब एको पैसा न देबे।"

पीछे से उठी लकड़ी एक हाथ से पकड़ते हुए एक जींसधारी क्लर्क बोला, "बुढ़िया पागल हो गयी। इस कुतिया को भगाओ।"

उस कमरे के सारे क्लर्क उठ खड़े हुए और "भगाओ.. .. भगाओ इस पगली को" चिल्लाने लगे।

टूटी-थकी कमली हाँफती हॉल से बाहर दीवार से सट धम्म से बैठ गयी और रोने लगी...रोती रही, कलपती रही.. मन ही मन शाप देती रही, "तू निस्संतान हो जा। भिखारी हो जा. .. भगवान तोरा कोढ़ दे दे...कुत्तो,...आक् थू...।"

'अब का करीं? केकरा पास जाईं? काउन इजहार सुनत?' सोचती-बिसूरती रही निराश, किंकर्त्तव्यविमूढ़।

कई घंटे बीत गये। कमली के कानों से अचानक एक कड़कती आवाज़ टकरायी, "बुढ़िया कब तक बैठी रहेगी, छह बजने को आये।"

"दउड़त-दउड़त थक गेलीं कोई न सुने हे।"

" तो मैं क्या करूँ, जाओ... भागो। दफ़्तर बंद करना है।"

कमली जैसे हठ पर उतर आयी। वहाँ से उठ अब परिसर में ही मेन गेट के पास बैठ गयी।

"ताला लगाना है, बाहर जाओ अब। सुनती हो या नहीं?" कहता हुआ तेज़ी से आ पहुँचा। वह टस से मस न हुई। दरबान ने देखा कि यह हिल नहीं रही है, तो ग़ुस्से में हाथ पकड़कर घसीटता-खींचता रहा, और दो-तीन मिनटों में ही उस ज़िंदा कंकाल को रोड पर धकियाकर छोड़ दिया। भीतर से गेट में ताला लगा वह दो-तीन मिनटों में ही ग़ायब हो गया।

कमली को लगा कि उसे चक्कर आ रहा है। वह गिर पड़ी कटे बेजान पेड़ की तरह, गेट के पास, बाउंड्री वॉल से सटे कोने में, जो पान की पीक, अधजली बीड़ी, सिगरेट, मूँगफली के छिलकों आदि से भरा हुआ था।

दिसंबर की सर्दी अपनी पूरी जवानी पर थी। तेज़ हवा के साथ आसमान से बूँदा-बाँदी शुरू हो गयी थी। रोड पर इक्का-दुक्का ऑटो रिक्शा कभी-कभार गुज़र जाता था। बिजली गुल थी। लोग-बाग अपने-अपने दड़बों में घुस चुके थे। चारों ओर था सन्नाटा, निस्तब्धता और सूनापन। घुप्प अँधेरे में ठिठुरते-काँपते लावारिस कूँ...कूँ करते कुत्ते अपनी प्राण-रक्षा के लिए गरम आश्रय की तलाश करने लगे। शहर नींद के आगोश में डूब गया था, कल की ज़िंदगी जीने के लिए।

कोहरे में डूबी सुबह के धुँधलके में राहगीरों ने देखा, एक बुढ़िया पड़ी है, गर्दन एक ओर लटकी है, पोपले मुँह से फिचकुरें बह रही हैं... चश्मा नीचे गिरा पड़ा है... एक पीला फटा अख़बार भीगा फैला है... कोटरों में धँसी आँखें पथरायी हैं... उसके मुँह पर अनगिनत मक्खियाँ भिनक रही हैं, और मुड़े सूखे पैरों के पास एक मरियल खजुआया कुत्ता उसके काले फटे कंबल में सो रहा है—बेख़बर। बुढ़िया की बेजान देह पर... एक शहीद की माँ की लाश पर मातम में डूबे बोगनबेलिया के बरसाये ताजे फूल पड़े थे—अश्क भरे लाल-लाल।

नारायणीयम्, 227, पंडितवाड़ी, फ़ेज़-2
देहरादून-248007 (उत्तरांचल)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश पर मत थूको

संजय कुमार

शाम का वक़्त था। समाचार पत्र 'सत्य' के डाक संस्करण को अंतिम रूप देने में समाचार संपादक त्रिभुवन जी पूरे जोश ख़रोश से लगे थे। आम दिनों की तरह आज पेज छोड़ने को लेकर अफरा-तफरी और कोलाहल वाला माहौल नहीं था। दफ़्तर में हर ओर एक अज़ीब तरह की खामोशी थी। सभी की निगाहें सम्मेलन कक्ष में प्रबंधन कमेटी की चल रही बैठक पर लगी थीं। त्रिभुवन जी को लेकर ही बैठक चल रही थी। अचानक सम्मेलन कक्ष के बाहर लगे कॉल बेल की आवाज़ से, दरवाजे के पास टेबिल पर बैठा ऊँघ रहा चपरासी रामदीन हड़बड़ाया, उसकी आदत थी कि दफ्तर आते ही वह बैठे-बैठे ही ऊँघने लगता था। हड़बड़ाते हुए जितनी तेज़ी से वह अंदर गया उतनी ही तेजी से बाहर आया और सीधे त्रिभुवन जी के पास जाकर बोला 'सर आपको अंदर बुलाया जा रहा है।

सुबह से ही त्रिभुवन जी को लेकर प्रबंधन की बैठक चल रही थी। त्रिभुवन जी सुबह दस बजे से ही दफ़्तर आये हुए थे। जाँच का दौर भी चल रहा था। अखबार में ही काम करने वाली एक लड़की ने उन पर उत्पीड़न का आरोप लगाया था। उम्र ढ़ल रही थी फिर भी उन में काम करने के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण और ग़ज़ब का जज़्बा था। उन्होंने 'हूँ' कहा और डाक संस्करण के प्रूफ पर 'ओके' करते हुए अपने फाऊंटेन पेन के ढक्कन को बंद किया, उठे और सम्मेलन कक्ष की ओर बढ़ गये। अंदर जाते हुए उनके चेहरे पर कोई भाव नहीं था। थोड़ी देर बाद वे अंदर से बाहर आये फिर भी उनके चेहरे पर कोई शिकन या भाव नहीं था। हाँ, उन्होंने अपने खादी के कुरते के कोने से अपने मोटे फ्रेम के चश्मे को ज़रूर पोंछा और केविन में आकर टेबिल का दरवाज़ा खोलकर कुछ किताबें और आलेख की प्रतियों को झोले में डाला, तभी प्रबंधक के पी0ए0 महेश ने आकर एक लिफ़ाफ़ा थमाया। बीस साल से अख़बार को अपने खून पसीने से सींचते आ रहे समाचार संपादक त्रिभुवन जी को आज प्रबंधन बोर्ड ने बाहर का रास्ता दिखला दिया था। त्रिभुवन जी ने लिफ़ाफ़े को खोलकर देखा भी नहीं, उसे वहीं फाड़ा और डस्टबीन में डालते हुए झोले को कंधे पर रख दरवाज़े की ओर चल पड़े। त्रिभुवन जी की खबर संपादकीय विभाग होते हुए रिर्पोटिंग और नीचे मशीनरूम तक पहुँच गई थी। सभी की निगाहें ख़ामोश थीं। चाह कर भी कोई सामने आने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। केवल रामदीन सामने आया और हाथ जोड़कर उसने त्रिभुवन जी को प्रणाम किया।

उसकी आँखें भर आयी थीं। यूनियन चाह कर भी कुछ नहीं कर पाया। सचिव रामप्रकाश, त्रिभुवन जी से आँख नहीं मिला पा रहा था। मिला भी तो गेट के बाहर। रामप्रकाश लंबे समय से पत्रकारों की यूनियन का सचिव बना हुआ है। तीन-चार साल में जो हालात बदले थे उससे यूनियन का वजूद ही ख़त्म हो गया था। प्रबंधन हावी था और पुराने लोगों को निकालने की जब मुहिम चली तो यूनियन ने विरोध भर ज़रूर किया था। विरोध का नतीजा यह हुआ कि रामप्रकाश को छोड़कर सभी का तबादला इधर-उधर कर दिया गया। वर्षों से एक जगह पर जमे पत्रकारों में खलबली मच गई थी। वैसे ही अख़बार में गाहे-बगाहे पत्रकारों को 'वी0आर0एस0' दिये जाने से कोहराम मचा हुआ था। लेकिन स्वभाव से शांत और काम के प्रति समर्पित त्रिभुवन जी को हटाने के पीछे 'वी0आर0एस0' का मामला नहीं था बल्कि, मामला महिला-उत्पीड़न का था।

सभी जानते थे कि त्रिभुवन जी ग़लती को बर्दाश्त नहीं करते थे। वे अख़बार के एक-एक शब्द की गरिमा पर ध्यान देते थे और इसकी अहमियत को समझाते हुए ग़लती करने वाले को डाँटते हुए बताते-सिखाते भी थे। कई रिपोर्टर/ उपसंपादक को उन्होंने बहुत कुछ सिखाया था। यही नहीं, उनसे सीखे लोग आज दूसरी जगहों पर बेहतर काम कर रहे थे। त्रिभुवन जी की डाँटने और सिखाने की आदत उन्हें तब मंहगी पड़ी, जब सुनीता से उनका वास्ता पड़ा। ऊँची जाति और हाईप्रोफाइल परिवार की सुनीता ने हाल ही में अख़बार ज्वाईन किया था। 'हाईफाई' में रमी पच्चीस वर्षीया सुनीता के पास अख़बार का कोई अनुभव नहीं था। बस उसे शौक था मीडिया में काम करने का और जैसा कि मीडिया में होता है, जुगाड़-संस्कृति को उसने भी अपनाया और अपने अप्रोच से अख़बार में उपसंपादक के पद पर आ गई। पहले तो उसे फीचर पेज से जोड़ा गया। छह माह के बाद सुनीता ने संपादक से कह कर अपनी डयूटी प्रादेशिक पेज पर करवा ली। वहीं पर पत्रकारिता में डिग्री हासिल किये कई नये लड़के-लड़कियाँ प्रशिक्षु के तौर पर काम कर रहे थे। उन्हें वहीं का वहीं छोड़ सुनीता को कुछ ही दिनों में उपसंपादक बना दिया गया। ख़ैर! सभी का पाला त्रिभुवन जी से पड़ता था। सुनीता का भी पाला त्रिभुवन जी से पड़ने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिभुवन जी सभी पेज देखते और ओ0के0 करते थे, तभी फाइनल के लिए संपादक के पास जाता था। पहले ही दिन सुनीता ने जो पेज देखा था, उसमें काफी ग़लतियाँ मिलीं। प्रूफ़ का मामला हो या फिर समाचार के चयन का, बिना सीनियर के पूछे वह ख़बर पेज पर लगा देती। लगाती भी क्यों नहीं, संपादक जी जो मेहरबान थे? सभी जान गये थे कि उसकी पहुँच कहाँ तक है। संपादक से नजदीकियों को लेकर चर्चा दबी जुबान से होने लगी थी।

एक दिन तो उसने बिना त्रिभुवन जी को पेज दिखाये सीधे संपादक से ओ0के0 करवा कर प्रेस में भिजवा दिये। बात त्रिभुवन जी के पास पहुँची तो वे सीधे संपादक के पास गये और अपनी आपत्ति जताई। संपादक दिनेश्वर जी उनका आदर करते थे। उन्होंने बताया कि सुनीता ने कहा कि उन्होंने देख लिया है। फिर क्या था, त्रिभुवन जी ने सबके सामने सुनीता की जमकर खिंचाई कर दी। सुनीता को इस की उम्मीद नहीं थी। सबके सामने त्रिभुवन जी की डाँट से वह अंदर ही अंदर तिलमिला उठी। चेहरे का भाव बदल गया। नथुने फड़फड़ाये और चेहरा लाल हो उठा। ठीक आधे घण्टे बाद दफ़्तर का माहौल बदला हुआ था। हुआ यूँ कि सुनीता आपा खोते हुए सीधे त्रिभुवन जी के कक्ष में जाकर गाली गलौज करने लगी। यही नहीं उन्हें देख लेने की धमकी भी दे डाली। सुनीता की तेज़ आवाज़ ने लोगों को चौंका दिया था। त्रिभुवन जी ही नहीं, वहाँ कापी चेक करवा रही सरोज एवं दीपक भी आवाक् रह गये। तमतमाई हुई सुनीता तेज़ी से निकलती हुई संपादक के कक्ष में गई और उसने त्रिभुवन जी पर गाली गलौज देने और उत्पीड़न का आरोप लगाया। संपादक दिनेश्वर जी ने उसे किसी तरह से शांत किया और समझा-बुझाकर घर भेज दिया।

दूसरे दिन जैसे ही त्रिभुवन जी दफ़्तर आये संपादक ने उन्हें बुलाया। सुनीता ने उन पर उत्पीड़न का आरोप लगाते हुए प्रबंधक को शिकायत कर दी थी। उसकी एक प्रति संपादक के पास भेज दी गई थी। दिनेश्वरजी ने उन्हें समझाते हुए कहा-'कई लोगों का फोन आ चुका है जिसमें कई राजनेता शामिल हैं। मामले को आगे बढ़ाने के पहले आप उससे माफ़ी माँग लें।' दिनेश्वरजी ने आश्वासन दिया कि वे स्थिति को संभाल लेंगे। सिद्धांतों पर चलने वाले त्रिभुवन जी ने दो टूक जवाब दिया-'जब मैंने कोई ग़लती नहीं की बल्कि ग़लती उसकी है, और उल्टे मुझसे ही आप माफी माँगने को कह रहे हैं।' दिनेश्वर जी ने सोच लेने की सलाह त्रिभुवन जी को दी। शाम होते ही प्रबंधन की ओर से ज्ञापन मिला और दो दिन के भीतर जवाब देने को कहा गया। त्रिभुवन जी ने घटना की चर्चा करते हुए उसी दिन जवाब दे दिया। घटना के दौरान् कक्ष में उपस्थित सरोज, दीपक को गवाह बनाते हुए लिखा कि उन्होंने किसी तरह का अभद्र व्यवहार नहीं किया है। सरोज, दीपक के नाम आने से प्रबंधन ने उनसे स्पष्टीकरण माँगा। दोनों ने ही त्रिभुवन जी का समर्थन किया। मामले को हाथ से जाते देख सुनीता ने मामले को आगे बढ़ाने के लिए राजनीतिक पहुँच का इस्तेमाल किया। एक मंत्री महोदय ने फोन कर संपादक और प्रबंधक को हड़काया और त्रिभुवन जी के खिलाफ़ कार्रवाही की माँग कर दी। बात त्रिभुवन जी के पास पहुँची, त्रिभुवन जी ने मंत्री को फोन लगा कर घटना से अवगत कराया। चूँकि राजनेता जानते हैं कि अखबार का इस्तेमाल कैसे किया जाता है। त्रिभुवन जी का फोन मिलते ही वे कहने लगे कि देखिये, मुझे तो घटना के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। वह लड़की आपके चीफ़ रिपोर्टर के साथ मेरे पास आयी थी। खैर! मंत्री जी ने तुरंत ही संपादक और प्रबंधक को फोन कर अपने को मामले से अलग कर लिया।

दफ़्तर में अब सभी को बात समझ में आ गयी थी कि इसके पीछे चीफ़ रिपोर्टर मदन का हाथ था। बात ज़्यादा पुरानी नहीं है जब मदन ने एक महिला रिर्पोटर स्वाति के साथ बदतमीजी की थी। जब से स्वाति ने अखबार ज्वाइन किया था, मदन के मातहत उसे काम करना पड़ा था। दोनों साथ-साथ कवरेज के लिए जाते थे। बात यह थी कि मदन खुद उसे सिखाने के ख्याल से ले जाते थे। एक दिन सीढ़ी के नीचे चपरासी रामदीन ने दोनों को अस्त-व्यस्त स्थिति में देख लिया था। दोनों सकपका गये थे। बात भला कैसे छुपती। चर्चा होने लगी थी। स्वाति अब मदन से कटी-कटी रहने लगी थी। उसने अपनी ड्यूटी डेस्क पर लगवा ली थी। कई बार उसका मोबाइल बजता, लेकिन नंबर देख वह नहीं उठाती। एक दिन वह त्रिभुवन जी के पास बैठकर पेज पर चर्चा कर रही थी, तभी मदन आये। दरवाजे के पास से ही उसे बुलाया लेकिन उसने सुनकर अनसुनी कर दी। जब स्वाति उठकर जा रही थी तभी मदन ने उसका हाथ पकड़ लिया। स्वाति ने काँपते हुए उसे छोड़ने का आग्रह किया लेकिन मदन ने नहीं छोड़ा। बल्कि, उसे अपनी ओर खींचकर पकड़ा और धमकी भरे लहजे में कहा-'चुपचाप मेरी बात मानो, नहीं तो तुम्हारा वह हाल करुँगा कि तुम कहीं की नहीं रहोगी।' इस बीच अचकचाये त्रिभुवन जी ने उठकर मदन को रोकने की कोशिश की तो उसने साफ़ कहा-'सर! मामला हमारा है, आप बीच में न पड़ें। त्रिभुवन जी ने पुनः उसे चेताया यह दफ़्तर है और आप ग़लत कर रहे हैं, स्वाति को छोड़ें। स्वाति ने अपने को मदन के चंगुल से छुड़ाया और रोते हुए डेस्क पर चली गयी। मदन भी दाँत पीसता चला गया।

दूसरे दिन दफ़्तर का माहौल गर्म था। स्वाति ने मदन के खिलाफ़ शिकायत कर दी थी। जाँच प्रक्रिया शुरू हुई। त्रिभुवन जी के कमरे में घटना घटी थी। ऐसे में स्वाति ने उनका ज़िक्र कर दिया था। अलबत्ता उनसे भी पूछा गया। जो सच्चाई थी त्रिभुवन जी ने बता दी। स्थानीय स्तर पर मामले को दबाने की कोशिश भी हुई। स्वाति शिकायत की प्रति मुख्यालय दिल्ली और महिला आयोग के पास भेज चुकी थी। महिला आयोग ने कार्यवाही की जानकारी माँग ली। ऐसे में पूरी कार्यवाही की कापी दिल्ली भेजनी पड़ी। चीफ़ रिपोर्टर मदन को हटाने की कवायद होने लगी। लेकिन मदन ने अपनी पहुँच और जातीय समीकरण के बल पर नौकरी बचा ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन, उसका तबादला रोहतास ब्यूरो में कर दिया गया। तीन माह के बाद स्वाति ने नौकरी ही छोड़ दी। स्वाति के जाते ही मदन ने अपना तबादला पुनः पटना करवा लिया। जबसे वह पटना आया था, त्रिभुवन जी को घेरने की फिराक़ में रहता था। सुनीता का इस्तेमाल कर त्रिभुवन जी से उसने बदला ले लिया था।

त्रिभुवन जी घर पहुँचे। कॉल बेल बजायी। आज पत्नी सुनयना ने 'आ रही हूँ' कि आवाज़ लगाये बिना ही तुरंत दरवाज़ा खोला। पूछने की ज़रूरत महसूस नहीं की कि क्या हुआ। शांत त्रिभुवन जी को देखकर वह समझ गयी थी। त्रिभुवन जी लकड़ी की बनी ईज़ीचेयर पर बैठ गए, मोटे फ्रेम के चश्मे को पास के ही टेबिल पर रखा और आँखें बंद कर ईज़ीचेयर पर झूलने लगे। पानी लीजिये सुनयना ने आवाज़ दी। बिना आँखें खोले उन्होंने कहा-'टेबिल पर रख दो और चाय बना दो।' सुनयना थोड़ी ही देर में चाय बना लायी। टेबिल पर रखकर धीरे से कहा 'चाय'। त्रिभुवन जी ने आँखें खोलीं और पहले पानी पिया और फिर चाय का प्याला उठाया। त्रिभुवन जी को वह पहली बार इस तरह से उदास देख रही थी। उसने धीरे से कहा-'अपने को कमजोर मत बनाइये। अभी तो लड़ाई लड़नी है।' त्रिभुवन जी ने कुछ नहीं कहा बस एक टक उसे देखा। इस बीच त्रिभुवन जी की लड़की दिशा जो दिल्ली में एक महिलाओं की पत्रिका में सीनियर उपसंपादक थी और एक राष्ट्रीय अंग्रेज़ी में रिपोर्टर बेटा स्वाधीन ने फोन पर त्रिभुवन जी से बात की। दोनों ने ही प्रेस काउंसिल में शिकायत करने की सलाह दी। त्रिभुवन जी ने हाँ-हूँ में जवाब दिया।

अगले दिन सुबह पटना से प्रकाशित सभी अख़बारों में त्रिभुवन जी को लेकर ख़बर छपी थी। सभी ने त्रिभुवन जी के योगदान की चर्चा की थी। साथ ही उन्हें हटाने के पीछे राजनीति को भी उठाया था। एक अख़बार ने 'सत्य पर असत्य' की विजय बताते हुए पूरे घटनाक्रम को ही छाप दिया था। अख़बार पढ़ते-पढ़ते कई फोन आ चुके थे। सभी संवेदना प्रकट करते हुए लड़ाई लड़ने की सलाह दे रहे थे। बस त्रिभुवन जी 'अच्छा', 'हाँ', 'देखते हैं', और 'हूँ' में जवाब देते जाते। एक सप्ताह बाद सरोज और दीपक त्रिभुजन जी से मिलने घर पर आये। दोनों को अख़बार से निकाल दिया गया था। उनका कसूर यह था कि उन्होंने त्रिभुवन जी का साथ दिया था। सुनयना से अब रहा नहीं गया। उसने त्रिभुवन जी से कहा कि भले ही आप सच के लिए न लड़ें लेकिन इन दोनों का क्या कसूर था ? इनके लिए आपको लड़ना होगा, सत्य के लिए लड़ना होगा, नहीं तो महिला उत्पीड़न के नाम पर ग़लत फ़ायदा उठाने वालों का मनोबल ऊँचा होगा और महिला-सशक्तिकरण कमजोर होगा। ख़ामोशी से बात सुन रहे त्रिभुवन जी ने अख़बार पर से नज़र हटायी और चश्में के भीतर से झाँकते हुए सरोज को कहा -'टेबिल पर काग़ज-क़लम है ले आओ।' सुनयना, सरोज व दीपक की आँखों में चमक आ गयी। तेज़ी से सरोज अंदर गई और काग़ज-क़लम ले आयी।

त्रिभुवन जी बोलते गहे और सरोज लिखती गई। प्रेस काउंसिल को भेजा जाने वाला आवेदन का ड्राफ़्ट तैयार हो गया। दीपक ड्राफ़्ट लेकर टाइप कराने चला गया। शाम में दीपक ने ही आर0एम0एस0 में जाकर स्पीड-पोस्ट से आवेदन को भेज दिया। ठीक 20 दिन बाद त्रिभुवन जी के पास एक पत्र आया जिसमें अख़बार के प्रबंधन से नये सिरे से जाँच करवाने का आग्रह किया गया था। त्रिभुवन जी के आवेदन ने 'सत्य' के दफ़्तर में खलबली मचा दी थी। क्योंकि, उन्होंने सुनवाई के लिए प्रेस काउंसिल से हस्तक्षेप करते हुए खुद से जाँच की माँग की थी जिसे काउंसिल ने स्वीकार कर लिया था। आख़िर में सुनवाई का दिन भी आया। दिल्ली से प्रेस काउंसिल, राज्य महिला आयोग, अख़बार प्रबंधन, संपादक और शहर के चर्चित पत्रकार-साहित्यकार राधेश्याम जी की अध्यक्षता में बोर्ड गठित हुआ। सुनवाई गेस्ट हाउस में सुबह 10 बजे शुरू हुई। एक-एक कर सभी लोग आये। त्रिभुवन जी के साथ सरोज और दीपक थे तो वहीं सुनीता के साथ मदन। करीब तीन घंटे तक सुनवाई चली। सभी ने अपना-अपना पक्ष रखा। त्रिभुवन जी और सुनीता को रुकने को कहा गया। अंदर फैसले पर गहन विचार विमर्श चल रहा था। सोफ़े पर बैठे त्रिभुवन जी इत्मिनान से प्रेमचंद का कहानी संग्रह पढ़ रहे थे। उन्होंने 'ठाकुर का कुआँ' कहानी ज्यों ही ख़त्म की, अंदर से बुलावा आया। कोने में मदन के साथ सिगरेट का क़श ले रही सुनीता तेज़ी से अंदर गई। वहीं त्रिभुवन जी ने किताब सरोज को थमायी, धीरे से उठे और अंदर गये। फैसला आ चुका था राधे श्याम जी ने अदब से त्रिभुवन जी को बैठने का आग्रह किया। फैसला त्रिभुवन जी के पक्ष में गया था। उन्हें वापस अख़बार में रखने का फैसला सुनाया गया। साथ ही सरोज तथा दीपक को भी वापस काम पर रखते हुए सुनीता पर कार्यवाही की अनुशंसा की गई थी। फैसले से सुनीता अवाक् हो गई। उसने अपने पक्ष में फैसला करवाने के लिए पूरी ताक़त लगा दी थी।

अगले दिन त्रिभुवन जी अपने पुराने अंदाज़ में दफ़्तर गये। सभी ने उनका स्वागत किया। खुद दिनेश्वर जी उन्हें केबिन तक ले गये। उधर सुनीता का तबादला मुजफ़्फरनगर कर दिया गया था। वह कोने में बैठ कर काम कर रही थी। मदन कहीं नज़र नहीं आ रहा था। त्रिभुवन जी की वापसी से सबसे ज़्यादा खुश रामदीन उनकी टेबिल पर पानी का ग्लास रख वापस जा रहा था, तभी अपने फाउंटेन पेन से कुछ लिख रहे त्रिभुवन जी ने आवाज़ दी-'रामदीन रुकना।' रामदीन ने कहा 'जी' और चूनौटी निकाली। खैनी निकाल कर बनाने लगा। त्रिभुवन जी जब दफ़्तर आते थे, पानी देने के बाद रामदीन ही उन्हें खैनी देता था। आज वह बिना खैनी दिये जा रहा था। रामदीन की आँखों में आँसू आ गये थे। उसने खैनी बढ़ायी, खैनी लेते हुए त्रिभुवन जी ने उसे दो लिफ़ाफ़े थमाये। एक संपादक और दूसरा प्रबंधक के नाम, कहा-'हाथ ही में देना।' रामदीन के जाने के बाद त्रिभुवन जी ने अपने झोले को कंधे पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा और केबिन से निकल कर पहले संपादकीय, फिर रिर्पोटिंग विभाग के साथियों के पास पहुँचे। फिर हालचाल पूछा। वे सुनीता से भी मिले। अभी नीचे मशीन रूम में लोगों से मिल ही रहे थे कि रामदीन आया उसने रुआँसा होते हुए हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा-'सर, आप जा रहे हैं...।' त्रिभुवन जी उसकी ओर मुखातिब हुए, मुस्कुराये और कहा-'खैनी तो खिला दो रामदीन...।' भर्राई आवाज़ में हाँ... हाँ कहते हुए चूने को खैनी में मिलाया और हथेली पर मलने लगा। जंगल की आग की तरह त्रिभुवन जी द्वारा दिये गये इस्तीफे और सुनीता के तबादले को रद्द करने की खबर फैल चुकी थी। त्रिभुवन जी मेन गेट पार कर रहे थे कि पीछे से आवाज़ आई 'सर'...। त्रिभुवन जी पीछे मुड़े, दरवाजे के पास के पिलर के पीछे सुनीता खड़ी थी। उन्होंने सुनीता से कहा हाँ कहो...। सुनीता, त्रिभुवन जी के पास आयी, उनके चरण छुये। आँखों में आँसू लिये भर्राइ आवाज़ में कहा-'सॉरी सर।' त्रिभुवन जी ने उसे उठाया और कहा 'मन लगाकर काम करो', और वे दफ़्तर से बाहर गये।

समाचार संपादक,
आकाशवाणी, पटना-800020 (बिहार)

ग़ज़ल

ग़ज़लें

रामबहादुर चौधरी 'चंदन'

(1)

दिल खोलकर हँसना यहाँ आसान नहीं है,
वह कौन है कह दे जो परेशान नहीं है।

इस वक़्त का हर रोज़ ही देखे हैं तमाशा,
नंगा हुआ फ़ैशन उसे परिधान नहीं है।

बैठा है खुद को बेचने ज़ालिम ये ज़माना,
घर कौन है जिसमें खुली दूकान नहीं है।

नेमत जहाँ का प्यार है हर दिल का भरोसा,
चालाकियों का यह कोई सामान नहीं है।

तक़दीर लिखता है जहाँ मौसम का महाजन,
है खेत तो लेकिन वहाँ खलिहान नहीं है।

(2)

क्या करें इस ज़िंदगी में हादसे क्या कम हुए,
छोड़ दी ख़ुशियों ने तो ये ग़म मेरे हमदम हुए।

साथ उसने इस तरह हर पल निभायी दोस्ती,
धूप गर दिन में बने तो रात को शबनम हुए।

ज़ख़्म यादों के हरे होकर कभी जब टीसते,
दर्द की बेचैनियों में अश्क़ ही मरहम हुए।

नाचती है नींद भी जब ख़्वाब के सुर ताल पर,
गीत गाया बेख़ुदी ने साँस के सरगम हुए।

एक नाज़ुक सच छिपाया था ज़माने से मगर,
दर्द में भी मुस्कुराना प्यार के परचम हुए।

(3)

कैसी ये हवा गर्म होके आयी है,
बारूद सरे राह में बिछायी है।

हमने तो दुआ ज़िंदगी की माँगी थी,
उसने तो कसम मौत की ही खायी है।

जाना भी अगर चाहें तो कहाँ जाएँ
अपनी थी जो दुनिया हुई परायी है।

रहती है कहाँ ज़िंदगी सुखी कोई,
बंदूक से जिसने भी की सगाई है।

इस वक़्त के अंदाज़ का भी क्या कहना,
जेहन में ज़हर, बात में मिठाई है।

फुलकिया, बरियारपुर, मुंगेर-811211

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास की परछाईयों के बीच आधुनिकता का संघर्ष

अनिल धीमान

रतलाम का नाम सुनते ही नमकीन स्वाद ज़बान पर आने लगता है। और क्यों न हो, यह है ही ऐसा शहर। जो भी एक बार यहाँ के नमकीन का स्वाद चख लेता है, वो ताउम्र उसे भूल नहीं सकता। केवल यही पहचान नहीं है इस शहर की, जो इसकी ख्याति बताती है। यहाँ की और भी चीज़ें हैं जो लुभाती हैं, बरबस यहाँ से गुज़रने वाले हर व्यक्ति को।

हम आगे बढ़ने से पहले इसके इतिहास को टटोलते हैं। यह वो शहर है, जिसकी शान अकबर के दरबार तक भी हुआ करती थी। जहाँ आज़ादी के उस 1857 के दौर में अनेक वीरों ने सरेराह बलिदान दिया और जिसका बखान आज तक आम महफ़िलों में नहीं हो सका। कहा जाता है कि सन् 1909 के आसपास देश का पहला महिला संगठन यहीं पर बना था। यहाँ राष्ट्रीय कवि गीतकार 'प्रदीप' का अल्हड़पन बीता था। आज के इस दौर ने शहर के उन लम्हों को भी भुला दिया, जिसकी वजह से यह शहर अन्य शहरों से अलग अपनी पहचान रखता था। आज यह शहर प्रदेश के उन शहरों में शुमार नहीं हो पाया, जिसका यह हक़दार था। ऐसा क्यों ? ये तो वे ही बता सकते हैं, जिन्होंनें बीते 60 बरसों से यहाँ की अवाम का नमक खाया और अनेक बार विश्वास जीतकर विधान सभा/संसद तक पहुँचे। उन्हीं की मेहरबानी से ये दिन नसीब हुए हैं, ख़ैर...!

सन् 1658 में रतलाम राज्य की स्थापना हुई। इतिहास गवाह है कि 'रतलाम राज्य' महज़ उपहार स्वरूप दी गयी एक भेंट थी राजा रतन सिंह को। 'फ़तेहाबाद', वर्तमान में 'फ़तेहाबाद चंद्रावती गंज', जोकि मीटर गेज रेल का जंक्शन है, यहाँ मराठों को शिकस्त दी गयी थी। तभी से इस जगह का नाम फ़तेहाबाद पड़ा। युद्ध ये लौटते वक़्त जीत की ख़ुशी में दिल्ली के शहंशाह ने रतन सिंह को तोहफ़े स्वरूप रतलाम की जागीर सौंपी थी। राजा रतन सिंह के नाम 'रतन' से ही उस समय रतनपुर, रत्नपुरी, रत्तलाम और फिर रतलाम पड़ा इसका नाम। लेकिन, 1738 ईस्वी में भी 'रतलाम' हिन्दुस्तान के नक़्शे पर मौजूद था। शहर का इतिहास यह भी कहता है कि यहाँ अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत का बिगुल भी बजा था। इसी बग़ावत के चलते शहर के कई क्रांतिकारियों को एक साथ सरेराह मौत के घाट उतार दिया गया था। आज भी उस जगह को शहीद चौक के नाम से जाना जाता है। हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही क़ौमों का असर दिखता है यहाँ। आज़ादी से ठीक 59 बरस पहले, ब्रिटिश काल में सन् 1878 को बांबे से दिल्ली मुख्य 'ब्राड गेज़' रेलमार्ग से शहर को जोड़ दिया गया था। दूसरा कारण था ब्रिटिश काल की प्रमुख छावनियों 'महू' और 'नीमच' के बीच में शहर का बसा होना। यहाँ से गुज़रने वाली मीटर गेज़ लाइन (जयपुर से सिकंदराबाद), जोकि अब तक देश की सबसे लंबी मीटर गेज़ लाइन का स्थान रखती थी, से भी इस शहर की पहचान हुआ करती थी। किंतु, अब यह लाइन केवल अकोला से रतलाम तक ही सिमट कर रह गयी है।

लगभग 351 वर्ष के इस शहर के सांस्कृतिक योगदान की बात करें, तो यह साबित होता है कि यहाँ की भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान का अपना एक अलग ढंग है। क्यों न हो, यहाँ की सीमाएँ राजस्थान, गुजरात से लगी हैं। लेकिन, इस शहर (रतलाम राज्य) पर देश आज़ाद होनं तक राठौर राजाओं का आधिपत्य रहा और इसलिए भी यहाँ की भाषा-बोली, खाने-पीने और पहनावे में राजस्थानी लहज़ा झलकता है।

मालवांचल का महत्त्वपूर्ण शहर होने के साथ इसने आज़ादी के बाद न केवल प्रदेश की राजनीति में अपना स्थान बनाया, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी अपने दख़ल को क़ायम रखा। इस क्षेत्र से किसी न किसी रूप में देश की सरकार में न सही, तो प्रदेश की हर सरकार में मंत्री पद पर ज़रूर उपस्थिति रही है, लेकिन कोई भी जन-नेता यहाँ का सुचारु विकास नहीं कर पाया।

1990 में प्रदेश में सबसे पहले साक्षर शहर का दर्ज़ा पाने वाला शहर रतलाम आज भी अपने विकास की बाट जोह रहा है। यहाँ 1930-34 में अनेक बड़े उद्योगों की स्थापना की गयी थी, मसलन प्रदेश की चुनिंदा सूती कपड़ा मिलों में से एक 'सज्जन मिल' सूती कपड़ा मिल की स्थापना रतलाम के आख़िरी शासक के नाम पर की गयी थी। पेपर मिल, चीनी मिल, (पाटरीज़) कारखाना, स्टील, केमिकल्स और न जाने ऐसे कई उद्योग सरकारी ख़ज़ाने से लाये गये थे।

कहा जाता है कि यहाँ की कपड़ा मिल का सूती कपड़ा देश ही, नहीं विदेशों में बहुत सराहा जाता रहा है। लगभग ढाई हज़ार मज़दूरों को रोज़गार देने वाली यह कपड़ा मिल 1990 का दशक आते-आते दम तोड़ने लगी थी। मज़दूर यूनियनों, स्थानीय नेताओं, राज्य के नेताओं और राष्ट्रीय स्तर के नेताओं ने अपने फ़ायदे के लिए यहाँ काम करने वाले ढाई हज़ार कामगारों को धोखा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देया। 1990 के बाद ढाई हज़ार मज़दूरों में से लगभग 200 मज़दूरों की नौकरी नयी मशीन लगाने के बहाने छीन ली गयी, जो कपड़े की छपाई का काम किया करते थे। एक दौर वो भी आया, जब बाक़ी बचे कामगारों को एक साथ भूख से लड़ने को छोड़ दिया गया। वो लड़ाई आज भी जारी है। कुछ जो बचे थे, वे अपने रोते बच्चों, परिवारों की आस और भूख-प्यास लिये शहर से पलायन कर गये। कुछ कामगार अपनी उम्र से हार गये और दुनिया को अलविदा कर गये। ऐसे ही बहुत सारे उद्योग, जो कभी इस शहर के ही नहीं, अन्य राज्यों यू0पी, बिहार, केरल से आये परिवारों को भी पालते थे, आज वो सब राजनीति के दंगल में खंडहर बनकर रह गये हैं।

ऐसे ही इस्पात, कॉपर वायर इन्डस्ट्रीज, देश की एक मात्र विटामिन-सी और ऐसी ही जीवन रक्षक दवा कंपनियाँ देश की आलथक नीति की बलि चढ़ गयीं। इनमें से कुछ कंपनियाँ जानबूझ कर बंद करा दी गयीं और कंपनी की ज़मीन पर आलीशान और भव्य मंदिरों का निर्माण कराकर मज़दूरों के हक़ को छीन लिया गया।

रतलाम शुरू से ही व्यापारिक शहर रहा है। यहाँ के स्वर्ण आभूषणों का काम पूरे देश में जाना जाता है। ग़र आप ख़रे सोने की चाहत रखते हैं, तो आपको खरा सोना (24 केरेट) रतलाम में ही मिल सकता है। यहाँ के बने आभूषणों को अगर देश के किसी अन्य शहर में बेचा जाए, तो उसकी क़ीमत अन्य शहर में बने आभूषणों से ज़्यादा ही मिल जाएगी। दूसरी तरफ़, रतलामी नमकीन जिसने खाया, वो शहर का नाम भूल जाएगा, लेकिन यहाँ के आदर-सत्कार व नमकीन के स्वाद को नहीं भुला पाएगा।

इस शहर में मिली-जुली संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। एक ठेठ मालवी बोली की मिठास, दूसरी राजस्थान की संस्कृति व पहनावे का सौंदर्य, जो इस शहर को विरासत में मिला है। तीसरी झलक बाहर से आकर बसे उन लोगों की, जो किसी समय यहाँ आये थे दो वक़्त की रोटी कमाने। आज भी पुराने शहर के लोगों की बोलचाल की आम भाषा मालवी ही है। नये शहर के व्यक्ति को पुराने शहर के व्यापारी उसके रहन-सहन, पहनावे और बोली से पहचान लेते हैं। आज भी पुराने शहर में अधिकतर घरों की बनावट रजवाड़ों के दौर की ही दिखायी देती है। यह बात और है कि आज के शापिंग मॉल के इस दौर में शहर की बेशुमार कही जाने वाली इमारतों को धराशायी कर दिया गया है।

पश्चिम रेलवे का प्रमुख जंक्शन रतलाम रेलवे को हर साल करोड़ों रुपये की आय और अधिक मुनाफ़ा देने वाला डिवीज़न है। रतलाम को चार चाँद लगाने वाली पहचान वक़्त के साथ-साथ ख़त्म हो गयी, जैसे-डायमंड क्रॉसिंग, शहर से 18 किमी दूर स्थित प्रसिद्ध 'केक्टस गार्डन' एशिया स्तर पर जाने जाते रहे हैं। एक चीज़ बची है—'लोकोमोटिव' डीज़ल शेड (डीज़ल इंजन मरम्मत कारखाना), जो अपने अच्छे काम को लेकर आज भी प्रसिद्ध है।

बात करें यहाँ के रीति-रिवाज़ों, त्योहारों की, तो सांप्रदायिक सद्भाव की मिसाल इस शहर के जन्म से ही पलती आयी है। दीवाली, राखी, होली या फिर नवरात्र का गरबा आदि-ऐसा कोई भी त्योहार नहीं, जिसमें मुस्लिम समाज के लोग शामिल न होते हों और जब कभी ईद या मोहर्रम हो, तो हिन्दू व अन्य समाज के लोग छबिलों में शरबत न पीते और पिलाते हों। यहाँ ये मेल-जोल देखते ही बनता है। शहर में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और जैन समुदाय के लोग बरसों से एक साथ रहते आये हैं।

ऐसा कभी नहीं सुना कि यहाँ कभी सांप्रदायिकता ने अपने पाँव पसारे हों। जब दौर बाबरी मस्ज़िद गिरने का था, तब भी हिन्दू-मुस्लिम एकता ने मिसाल क़ायम की थी। एक ओर जहाँ प्रदेश के अन्य शहरों भोपाल आदि में दंगे फैल चुके थे, तब यहाँ की अवाम एक साथ थी। इसका श्रेय यहाँ की जनता को जाता है।

यहाँ का रंगकर्म लगभग 40 बरस पुराना है। इनमें प्रमुख जनामं, युगबोध एवं प्राची जैसे नाट्य-दल आज से एक दशक पूर्व सक्रिय हुआ करते थे, जिन्हें इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा प्रसारित सास-बहू जैसे धारावाहिकों ने ग्रहण लगा दिया है। उन मंचों को, जहाँ कभी रंगकर्म के कलाकारों ने अपने हक़ में कर रखा था, आज वहाँ व्यावसायिक प्रतिस्पर्धाओं का जमावड़ा लगता है।

इस शहर ने अब तक कई फ़नकार दिये जैसे शायर-गीतकार फैज़ रतलामी; ख्यात प्रेस फ़ोटोग्राफ़र, 'नई-दुनिया' गजानन शर्मा (मायडियर), जो शो-मेन राजकपूर के अच्छे दोस्तों में हुआ करते थे; राष्ट्रीय स्तर के साहित्यकार प्रो. जय कुमार जलज, जिन्होंने 'एक जतन और अभी' जैसी अनेक रचनाओं को गढ़ा, गीतों को रचा; साहित्यकार प्रो. अज़हर हाशमी; साहित्यकार एवं रंगकर्मी प्रो. रतन चौहान; अलीक; हास्य-व्यंग के कवि पीरूलाल बादल, जिन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनायी और साथ ही जनामं, रतलाम के संस्थापक नाटककार सी.पी. मिश्र एवं नाटककार एवं लेखक यूसुफ जावेदी युगबोध नाट्य-संस्था के संस्थापक ओ0पी0 मिश्रा। ऐसे और भी कई जनवादी साहित्यकारों व जनकवियों लेखकों एवं रंगकर्मियों की भूमि रहा है यह शहर।

यहाँ आयोजित होने वाले राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर के कवि-सम्मेलनों की एक खास बात है—शहर में चाहे ठंड कितनी भी हो, लोग रजाइयाँ लेकर आते है, रात नौ से सुबह छह बजे तक कवियों को कविता-पाठ करना ही पड़ता है।

हर तरह से फ़िट यह शहर आज तकनीकी शिक्षा के अच्छे संस्थानों, रोज़गार के अवसरों, औद्योगिक पुनर्विकास, यातायात की सुविधाओं, अन्य आवश्यक मूलभूत सुविधाओं को तरस रहा है। फिर भी, यह शहर मेज़बानी व आदर-सत्कार नहीं भूला है। वक़्त कैसा भी हो मिलकर समस्याएँ हल करती है यहाँ की अवाम। जब प्रयास किये जाते हैं चर्च जलाने के तो वो यह भूल जाते हैं कि, जिन दिलों में वो नफ़रत का बीज़ बोना चाहते हैं, उनकी नींव कमज़ोर नहीं। आज भी 'पग-पग रोटी, डग-डग नीर' की कहावत को चरितार्थ करते हुए यह शहर ज़िंदा है।

ए-06 मिनाल एन्क्लेव, गुलमोहर, भोपाल-26

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चंदा की सराय

तारिक़ छतारी

बो सीदा हवेली सुनहरी धूप में नहाकर तरोताज़ा हो चुकी थी। सकीना बेगम दोपट्टे के कोने में रेज़गारी बाँधे आँगन में टहल रही थी।

"अभी तक नहीं आया!", वह सदर दरवाज़े के मोटे किवाड़ों की तरफ़ देखते हुए बड़बड़ायी और देर तक बड़बड़ाती रही, "ज़रा काम पड़े, फिर देखो नख़रे। मालिक जो ठहरे चंदा की सराय के।"

चंदा की सराय हवेली की पुश्त पर थी। रास्ता ज़रा घूम कर था, मगर छत से सराय का आँगन साफ़ दिखायी देता था।

"जरा देखूँ....", यह कहती हुई सकीना बेगम हवेली का ज़ीना चढ़ने लगीं।

सकीना बेगम के वालिद मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग के सुर्ख़ पत्थर वाले बड़े आँगन में छिड़काव करते-करते शकूरा सक्के ने तीन मश्कें खाली कर दी थीं। अंजुमन शाह वली क़लंदर के सदर होने की हैसियत से मिर्ज़ा साहब उर्स के मौक़े पर कई साल से एक नौ उम्र (कम उम्र) क़व्वाल प्यारे मियाँ को बुलाते थे। शाह वली कलंदर के कुल (फ़ातिहा) के बाद मिर्ज़ा साहब के आँगन में महफ़िले-समाँ (गाने की महफ़िल) का एहतिमाम (प्रायोजन) होता। क़स्बे के चुनिंदा सामईन (सुनने वाले) जमा होते। इधर लाला जयंती प्रसाद बैठे हैं, उधर अकबर अली खाँ मौजूद हैं, तो सामने बाँकेलाल, बुंदा रंगरेज़ और चन्नीलाल अत्तार।

हंडों की दूधिया रोशनी से हवेली जगमगाने लगती और शब के आख़िरी पहर तक प्यारे मियाँ क़व्वाल की सुरीली आवाज़ में अमीर ख़ुसरो का कलाम मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग की हवेली में गूँजता रहता ...दुराये नैना, बनाये बतियाँ... सितार, पखावज़, दफ़, ढोलक और तबले पर सधे हुए साजिंदे सुर-ताल मिलाते-मिलाते बदहवास हुए जा रहे थे और प्यारे मियाँ क़व्वाल हारमोनियम लिये झूम-झूम गाये जा रहा था। मिर्ज़ा साहब उसके बिल्कुल क़रीब बैठे थे। लोग चाक की जेब ने नोट निकालते और अपनी जगह से उठकर मिर्ज़ा साहब की ख़िदमत में पेश करते। मिर्ज़ा साहब मुस्कुराते हुए प्यारे मियाँ के हारमोनियम पर रख देते और वह झुककर बहुत अदब से सलाम करता। इसी तरह देर रात तक सिलसिला चलता रहा। इस महफ़िल में आज ठाकुर बंसिया भी मौजूद था और बार-बार नोट मिर्ज़ा साहब पर न्योछावर करके प्यारे मियाँ के हारमोनियम पर डाल देता था। यह सब मिर्ज़ा साहब को सख़्त नागवार गुज़र रहा था। एक तो बग़ैर बुलाये आ गया है और नोट मिर्ज़ा साहब के वसीले (माध्यम) से न देकर बराहेरास्त (सीधे) प्यारे मियाँ को दे रहा है। थोड़ी देर वह बर्दाश्त करते रहे, फिर जो उसने नोट प्यारे मियाँ के आगे डाला, तो अचानक मिर्ज़ा साहब का मज़बूत हाथ उठा और हारमोनियम पर इस तरह पड़ा कि सारे सुर मिलकर एक हो गये और साजिंदों के ताल... कोई इधर तो कोई उधर।

"तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ
न आए आवें न भेजें पतियाँ
ज़िहाले मिसकीं मकुन तग़ाफुल.....

अब प्यारे मियाँ ख़ामोश था और मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग के सुर, ताल, थाप, राग, अलाप और तान अपना दायरा बनाकर रक़्स (नृत्य) कर रहे थे। मिर्ज़ा साहब पहले घुटनों के बल उठे, फिर खड़े हो गये और दोनों हाथ आसमान की तरफ़ उठा दिये।

"सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ..." उस रात उन्हें ऐसा हाल आया था कि वे घंटों नाचते रहे। किसी के थामें नहीं थमते थे। जब सब हार गये, तो प्यारे मियाँ ने उन्हें पकड़ा... कुछ ढीले पड़े। रफ़्ता-रफ़्ता गिरफ़्त में आने लगे और फिर प्यारे मियाँ ने उन्हें अपनी बाँहों में भरकर गोद में सुला लिया।

महफ़िल ख़त्म हुई, लोग रुख़्सत हुए, हंडे बुझने लगे, मगर प्यारे मियाँ क़व्वाल सारी रात, जो हज़ारों रातों से लंबी थी, मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग को आग़ोश में लिये आँगन में बिछी चाँदनी पर बैठा शबनम में भीगता रहा। दोनों बीमार हुए और फिर प्यारे मियाँ अपना घर-बार छोड़कर हवेली के मर्दाने में हमेशा के लिए आन बसा। साजिंदे छूटे, साज़ छूटा, मगर मिर्ज़ा साहब की सोहबत सब पर भारी थी। वह उम्र में मिर्ज़ा साहब से बहुत कम था, लेकिन दोनों में दोस्ती ऐसी कि उनकी अल्फ़ लैला क़स्बे भर में मशहूर हो गयी। यह क़िस्सा तूल पकड़ता, अगर बीच में जमुना ठकुराइन न आयी होती।

नाज़िमे दरगाह ने रसावल छोटे-छोटे सिकोरों में जमाकर सीनियों (ट्रे) में रखना शुरू कर दिया था। जुमेरात की फ़ातिहा होगी, फिर तबर्रुक (प्रसाद) तक़सीम होगा दरगाह के वसी-ओ-अरीज़ (लंबे-चौड़े) दीवान का सहन झाड़ पोंछकर साफ़ कर दिया गया था। एक बेसुरा मुक़ामी क़व्वाल कोने में बैठा किसी माहिर गवैये की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह एक हाथ कान पर रखे और दूसरा हाथ आसमान की तरफ़ उठाये बेवक़्त का राग अलाप रहा था। बराबर बैठा शख़्स हारमोनियम तो बजा रहा था, मगर आवाज़ कहीं, साज़ कहीं। वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद क़व्वाल को गाता छोड़कर उठ जाता और पीकें थूकने के बहाने अहाते के दो-चार चक्कर काटता, फिर बड़े एहतिमाम से वापस आकर बैठता, हारमोनियम सँभालता, चमड़े के बैलोज़ में हवा भरती, बटन उँगलियों के नीचे दबते-उभरते, सुर निकलते, मगर हारमोनियम बजे या क़व्वाल तन्हा गाये, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था।

मिर्ज़ा साहब अली बेग प्यारे मियाँ के साथ दीवान के आबनूसी सुतून (खंभे) से लगकर बैठ गये। चारों कोनों में रखे ऊदसोज़ (ख़ुशबूदार लकड़ी जलाने की अँगीठी) अहाते की सिहर लगी (जादुई) फ़िज़ा में सुरमई धुएँ का जाल बुन रहे थे। अक़ीदतमंद मज़ार पर अगरबत्तियाँ जलाते, कुछ लोग कपड़े की, तो कुछ फूलों की चादर चढ़ाते और सहन में आकर बैठ जाते। क्या जात-पाँत, क्या मज़हब व मिल्लत और कैसे भेदभाव? वाह वली क़लंदर शाह—हर जुमेरात का यही नज़ारा होता। वह देखिए बुर्क़ों पर बुर्क़े अहाते में घुसे चले आ रहे हैं। स्याह रेशमी बुर्क़े, कत्थई और पीले, साटन और लेडी मिलटन के... एक नक़ाब वाले, दो नक़ाब वाले और तीन नक़ाबों वाले बुर्क़े, सफेद लट्ठे के चिड़िया छाप बुर्क़े। बुर्क़ों से निजात मिलती, तो सस्ते रेशम से कढ़ी सफ़ेद और आसमानी चादरें नज़र आने लगतीं। ये चादरें बुर्क़ों से ज़्यादा बड़ी होतीं और क़ायनात के सरबस्ता राज़ों को हिसार में लिये रूहों के मरग़ोलों (झुंड) की तरह कभी नज़र आतीं, तो कभी नज़रों से ओझल हो जातीं। दिल वालों की नज़र से ये पर्दानशीं तो महफूज रहतीं, मगर उनकी पहुँचियाँ और चूड़ियाँ फिसल फिसलाकर उस वक़्त पर्दे से बाहर निकल आतीं, जब वे मज़ार की जाली पर मन्नत के धागे बाँध रही होतीं। पहुँचियों की बनावट और चूड़ियों की खनखनाहट से नौजवान लड़के उनके हुस्न का अंदाज़ा लगाते और एक-एक चूड़ी पर दस-दस आशिक़ हो जाते। दुआओं का सिलसिला शुरू होता। किसकी दुआ कुबूल हो, किसकी रद्द। सब कुछ ख़ल्तमलत (गड़बड़), बस आहें भरकर रह जाते... फिर दूसरी जुमेरात आ जाती।

हिन्दू औरतों में जिस्म का पर्दा तो नहीं था, मगर नज़रों का ऐसा पर्दा कि आप लाख फड़फड़ाहएँ वे टस से मस नहीं। एक जुमेरात को बाहर से आये ज़ायरीन (तीर्थ यात्रियों) के लिए तश्त में सजाकर नान-गोश्त ले जाया जा रहा था कि एक चील आयी और झपट्टा मारकर एक बोटी उड़ा ले गयी। मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग ने ऊपर देखा और काले खाँ से बंदूक छीनकर उड़ती चील पर चला दी। चील गिरी और फ़र्श पर ढेर हो गयी। 'छम-छम छमा-छम...' मिर्ज़ा साहब ने देखा। पैरों में पायल, माथे पे झूमर, बाँहों में बाज़ूबंद, हँसुली, हार, छल्ले, बिछुवे, नथ और कमरज़ेब (करधनी)... चुनरी के रंग इतने कि गिने न जाएँ। घाँघरा टखनों से बालिश्त भर ऊँचा। बालिश्त भर की पिंडलियाँ गज़ भर की मालूम हो रही थीं।

'ये कौन बला है?' उन्होंने सोचा, मगर बआवाज़ बुलंद पीछे से आवाज़ आयी—"ठकुराइन..."

बंदूक चले अरसा गुज़र चुका था, मगर आवाज़ अब गूँजी—"ठाकुर बंसीदास की जोरू..."

फ़र्श पर पड़ी चील फड़फड़ायी।

"डाके में उठा लाया है। पत्नी मर गयी। अब यही ठकुराइन है। जमुना ठकुराइन..."

चील ने आख़िरी साँस ली और बेदम हो गयी।

"जमुना ठकुराइन... जमुना ठकुराइन..."

जैसे कोई उनके सर में बंदूक की गोलियाँ दाग रहा हो। मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग के होंठ हिले और धीरे से निकला—"जमुना ठकुराइन..." उन्हें कहीं दूर कृष्ण की मुरली के सुर सुनायी देने लगे, मगर फ़ौरन ही उनकी भँवें सिकुड़ीं और त्योरियाँ चढ़ गयीं।

"जमुना ठकुराइन और ठाकुर बंसिया? डाकू ठाकुर बंसिया?"

0 0 0

सूरज चढ़े देर हो चुकी थी, मगर अभी हवेली को कोहरे ने अपने आग़ोश में समेट रखा था। मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग दीवानख़ाने में बिछे तख़्त पर मसनद (तकिया) लगाये फ़र्शी हुक्का पी रहे थे। हवेली की रूकार (सामने) के उस दर्जे का दरवाज़ा भी दीवानख़ाने में खुलता था, जिसमें प्यारेमियाँ क़व्वाल रहता। काले खाँ हुक्के पर चिलम जलाकर एक कोने में जा बैठे थे।

"मियाँ प्यारे..." मिर्ज़ा साहब ने आवाज़ दी।

"आ रहे हैं..." कोठरी से आवाज़ आयी।

"भई हो चुका सिंगार। अब आ भी जाओ।"

प्यारे सर्द आह भरते हुए नशिस्तगाह (बैठक) में दाख़िल हुआ।

"अब कहाँ सिंगार मिर्ज़ा साहब... न गाना, न बजाना... न सुर, न ताल..."

"क्या गाने-बजाने की बहुत चाहत है?"

"मेरी यह मजाल?"

"अगर चाहते हो, तो महफ़िल सजाएँ?"

"यह आप..." प्यारे सहम गया।

भई हम कोई तुम्हारे दुश्मन हैं? हम तो चाहते थे कि यह भांडपन छोड़कर कोई शरीफ़ाना धंधा करो। घर के ही इतने काम हैं। अब तुम हमारे साथ हो, तो यहाँ-वहाँ झोली फैलाने की क्या ज़रूरत है।"

"तो फिर महफ़िल सजाने वाली बात?"

"शौकिया गाने में तो कोई हर्ज़ नहीं, कभी-कभी गा लिया करो।"

"मगर साजिंदे?"

"हमने इंतज़ाम कर दिया है... क्यों काले खाँ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जी सरकार....", काले खाँ न कुछ सुन रहे थे, न समझ रहे थे। 'जी सरकार' उनका तकिया कलाम था। सवाल कुछ भी हो, जवाब में उन्हें यही कहना होता।

हैरत से प्यारे मियाँ की आँखें फैल गयीं, "इंतज़ाम कर दिया है?"

"हाँ, कल हमने तुम्हारे गाँव कारिंदा भेजकर ख़बर करवा दी थी। बस सब आते ही होंगे। आज रात ख़ास महफ़िल जमेगी।"

प्यारे मियाँ के चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ गयी। उँगलियाँ थिरकने लगीं, निगाहें तिरछी हुईं और होंठों पर फ़रेबी मुस्कुराहट की कलाबाज़ियाँ साफ़ दिखायी देने लगीं। मिर्ज़ा साहब ने प्यारे मियाँ की कलाई पकड़कर अपने पास बिठा लिया और आहिस्ता से बोले—"प्यारे तुम ख़ुद जाकर ठाकुर बंसीदास और जमुना ठकुराइन को दावत देकर आओ।"

"क्या? ठाकुर बंसिया को?"

"हाँ प्यारे...", उन्होंने प्यारे इस तरह कहा कि सातों सुर एक सुर में ढल गये। फिर लय बदली और बोले—"कहना कि बस घर के लोग होंगे। और यह बात ख़ास तौर से कहना कि बेगम साहिब और हमारे दोनों बच्चे भी ठकुराइन के संग क़व्वाली सुनेंगे, और क़व्वालियाँ अंदर महल में होंगी..."

0 0 0

एक ज़माने बाद हरमसरा (औरतों के रहने की जगह) का फ़ानूस उतारा गया, शीशे साफ़ हुए, मोमबत्तियाँ लगायी गयीं और उजाला रहते उन्हें रोशन करके रस्सी खींच दी गयी। बड़ा कमरा जगमगा उठा। मसहरियाँ, तख़्त, मोंढ़े, मेज़ें और सिंगारदान बाहर निकाल दिये गये और ऊनी कालीनों के ऊपर ज़री की चादरें बिछाकर जगह-जगह गुलदान और ख़ासदान (पान रखने के बर्तन) रख दिये गये। छह नलियों वाले पेचवान (हुक्के) की फ़र्शी कमरे के बीचोंबीच जगा दी गयी। आतिशख़ाना आग की लपटों और दहकते अंगारों से दमकने लगा। आतिशख़ाने के बराबर वाले दरवाज़े पर जाली का महीन पर्दा पड़ा था। दरवाज़े के उधर दोहरे दालान में ख़्वातीन (औरतों) के लिए जाज़म के ऊपर कश्मीरी नगदे बिछा दिये गये थे। जमुना ठकुराइन को पर्दे के उस तरफ़ बैठना था। इधर मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग के साथ ठाकुर बंसीदास, गोपाल सूबेदार, वकील देवीसरन और दारोग़ा सत्यप्रकाश के बैठने का इंतज़ाम था। ख़ादिमों के लिए जुनूबी (दक्षिणी) दरवाज़े से लगी गुलाम गर्दिश में छींट के छापे वाली मोटी दरियाँ बिछा दी गयी थीं। साजिंदे आ चुके थे। प्यारे मियाँ यूँ ही बैठा-बैठा तबले पर मढ़ी खाल के मरकज़ (बीच) की स्याही को अपनी उँगलियों से इस तरह थपथपा रहा था, जैसे कमरे की औंघती फिज़ा को जगाने की कोशिश कर रहा हो। तबलची ने चांटी और डग्गा अपनी तरफ खींचा और ठोंकपीट कर तबले को संगत के लिए चाक-चौबंद बना लिया कि अंदर से मिर्ज़ा साहब आये और प्यारे मियाँ क़व्वाल के पास बैठ गये। मिर्ज़ा साहब ने प्यारे को ग़ौर से देखा। उसका चेहरा पहले से ज़्यादा खिला हुआ महसूस हुआ। आँखें मुस्कुरा रही थीं और होंठ भीगे हुए थे। प्यारे ने गर्दन को झटका दिया, तो बालों का छज्जा अपनी जगह से ऐसे उठा, जैसे घटा उठती है और पेशानी पर इस तरह बिखर गया, जैसे सावन बरसता है।

"क्या हुआ," मिर्ज़ा साहब ने उसकी तरफ़ झुकते हुए पूछा।

"दोनों आएँगे... ठकुराइन तैयार नहीं थीं। मैंनें मिन्नत की, तो मान गयीं।"

वह बड़े राज़दाराना अंदाज़ में बोल रहा था और यूँ ही बेसबब हारमोनियम से बेसुरी आवाज़ें निकाल रहा था। वह जो कुछ कह रहा था, उसकी बाज़गश्त (गूँज) हारमोनियम के बेतरतीब सुरों के साथ मिलकर मिर्ज़ा साहब की रगों में उतरती जा रही थी।

सूबेदार आये, वकील साहब आये और दारोग़ा जी भी आ गये, मगर नहीं आये तो ठाकुर बंसीदास और ठकुराइन। मिर्ज़ा साहब के चेहरे पर ग़ुस्से और उदासी के तास्सुरात आँख मिचौली खेलने लगे। प्यारे ने ग़ज़ल छेड़ी। ग़ज़ल ख़त्म हुई। कौन सी ग़ज़ल थी? कब शुरू हुई, कब ख़त्म? मिर्ज़ा साहब को कुछ ख़बर नहीं। वे उठे और लंबी गुलाम गर्दिश पार करते हुए ड्योढ़ी के रास्ते सदर दरवाज़े से बाहर निकल गये। सामने मैदान था। मैदान के उस तरफ़ शाह वली कलंदर का मज़ार। संगमरमर की जालियों से रोशनी छन रही थी। वे चबूतरे पर खड़े थे कि दो साये नज़र आये। ठाकुर बंसीदास और जमुना ठकुराइन। वे फ़ौरन पलटे और सत्यप्रकाश दारोग़ा के क़रीब आकर बैठ गये। ठाकुर बंसी कमरे में दाखिल हुआ, तो मिर्ज़ा साहब ने बेनियाज़ी से उधर देखा और बैठने का इशारा करके नज़रें झुका लीं। जमुना ठकुराइन सदर दरवाज़े से घर के आँगन में दाख़िल हुई और दालान में पर्दे के उस तरफ़ बेगम मिर्ज़ा के क़रीब जाकर बैठ गयीं। बेगम साहिबा के सामने शमा (मोमबत्ती) रोशन थी। ठकुराइन को जगह देने की ख़ातिर दामन समेटा तो शमादान जाली के पर्दे के क़रीब रख दिया। अब रोशनी ठकुराइन के चेहरे पर पड़ रही थी।

प्यारे मियाँ ने ग़ज़ल छेड़ी, ठुमरी गायी और दादरा सुनाया। वह गाता रहा, लोग सुनते रहे। आधी रात होने को थी। प्यारे ने न इससे पहले ऐसा गाया था और न उसके बाद गा सका। जब वह सुर खींचता तो गुमान होता कि अरब के हज़ारों बरस पुराने सहराओं (रेगिस्तानों) में किसी मुग़न्नी (गायक) ने गीत छेड़ दिया है और किसी क़दीम (पुराने) साज़ पर उसकी संगत कर रही है हिन्दुस्तान के जंगलों में भटकती कोई जोगन... साजिंदे हैरत में थे और सर्द रात में भी पसीने-पसीने हो गये थे। फिर क्या था, गीत-संगीत के ऐसे सुर मिले कि तानपूरे का तार टूटा, तबले की डोरियाँ ढीली पड़ गयीं, सारंगिये के हाथ से गज़ छूटा और हारमोनियम का पर्दा हाँफ़ने लगा कि मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग की निगाहें जमुना ठकुराइन की चितवन से जा टकरायी थीं। दोनों की आँखों के सामने चिन्गारियाँ रक़्स (नृत्य) करने लगीं। ठकुराइन ने पहलू बदला, शमादान से हाथ टकराया और जाली के महीन रेशमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्दे ने आग पकड़ ली। महफ़िल शोलाज़ार (आग ही आग) हो गयी। सब बाहर निकले और मिर्ज़ा साहब अंदर दौड़े। वे अपने हाथों से ठकुराइन की चुनरी में लगी आग बुझा रहे थे। जितनी चुनरी की आग बुझती, उतने ही ठकुराइन के बदन के शोले भड़कते। बदन ठकुराइन का जल रहा था और राख होते जा रहे थे मिर्ज़ा आशिक़ अली बेग।

लोगों ने समझा आग पर क़ाबू पा लिया गया है। महफ़िल बर्ख़ास्त हुई, सब अपने-अपने घरों को वापस हो गये, मगर दारोग़ा सत्यप्रकाश मिर्ज़ा साहब की हवेली के एक गोशे (कोने) में मौजूद थे।

"आइए दरोग़ा जी..."

"जी आया..."

और मिर्ज़ा साहब ने आगे बढ़कर तिजोरी के दोनों पट खोल दिये।

लिप्यंतरण : हिना आफ़रीन

उर्दू विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0)

कविता

राजीव जैन की कविताएँ

आरोह

ज़िंदगी और मौत
—मैं नहीं जानता इनमें
कौन सुंदर है।

पिंजरे में बंद
कौन किसकी उपासना
करता है
अंधे क़िले में बंद
लोहे के शब्द
गरजते हैं आप
गरज गरज
नित्य मुझसे बातें करते हैं
आख़िर मैं किसे आवाज़ देता हूँ,
किसे संबोधित कर हार जाता हूँ,
कौन है, जो राग को लय बनाने
स्वयं को प्रस्तुत करता है...
कोई नहीं!

सोचता हूँ
अपने को ही संबोधित करता रहूँ,
तुम्हारी याद
मुझे निराशा से वंचित कर दे,
कह सकूँ
सिर्फ़ लिखता हूँ,
दुखी नहीं हूँ...

कहीं भी जीवन
मृत्यु से अलग नहीं होता
इस नारीपन को स्वीकार
करूँ या नहीं
मैं नहीं जानता।

मेरे हृदय के कर्कश स्वर

न मैं पृथ्वी के वास्ते पैदा हुआ,
न मैं आकाश के वास्ते पैदा हुआ,
मैं तो लाश के वास्ते पैदा हुआ...
मेरे हृदय के कर्कश स्वर!
एक बार फिर सम्मुख आकर
प्राण-रागिनी की तरह मुझे जला
मेरे गीतकार को अमर कर दो...

मैं जहाँ हूँ तुम्हारी स्मृति के सिवा
मेरा अस्तित्त्व नहीं है,
बेजान कीड़ों का जमघट है,
पर स्वयं को जलाकर मिटाता हूँ
तो एक राग पैदा होता है...
आदमी हूँ, किंतु आदमी के हाथों
बनायी आदमी की तस्वीर
देखकर जी डरता है...
जब छटपटाती छिपकलियाँ
पतंगों को निगलती हैं
तब प्रकाश से जी डरता है...

देखता हूँ पिघला हुआ मोम
आकृति नहीं बन पाया
काली सड़क चीख़ रही है
काले पत्थर चीख रहे हैं
जो नहीं चिल्लाता, मैं हूँ...
सपने नहीं जले, किंतु वे
मेरा अस्तित्त्व जला गये।

पी-6-ए, हौज़ख़ास एन्क्लेव, नई दिल्ली-16

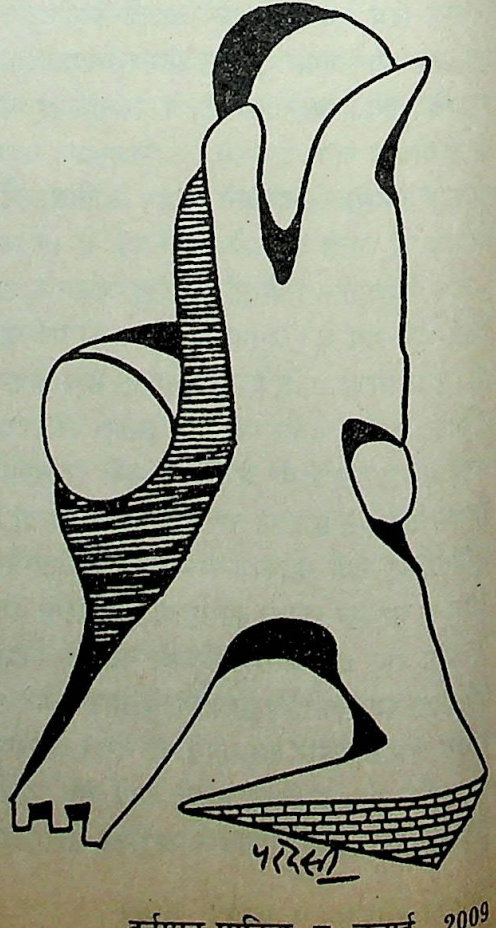

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शो केस

अनिशेट्टि श्रीधर

वह भवन... समाजवाद पर पूँजीवादी शक्तियों की जीत का प्रतीक लग रहा है।

वह भवन... 'प्रगति के लिए स्वार्थ एक अत्यावश्यक तत्त्व है'—अयान रैन्ड के इस वाक्य की टीका-सा लग रहा है!

वह भवन... देखने से लग रहा है कि उसे मानव-समूह में निहित सामर्थ्य, स्वार्थ, बेइमानी और शोषण— इन सबके सम्मिश्रण से बनाया गया हो!

वह इमारत अमीरों के लिए ईर्ष्या तथा ग़रीबों के लिए भय का कारण एक साथ बन सकती है।

उस भवन में और उस भवन की मलिका हारिका में ज़्यादा अंतर नहीं है। हारिका उस भव्य गृह की स्वामिनी है। ठाट-बाट में, गर्व एवं गौरवशाली रूप में दोनों समान हैं। लेकिन, हारिका का पति समीर तो उस भवन का मालिक नहीं, बल्कि उस घर में आये एक गुमराह व्यक्ति की तरह दिखायी देता है।

जब तक समीर घर आया, केयर टेकर दोनों बच्चों को नहलाकर तैयार कर चुकी थी। हारिका अभी कंपनी से आयी नहीं।

महाराजाओं के भवन जैसे उस घर में ही सारी सुविधाएँ हैं। होम थियेटर, जिम, स्विमिंग पूल... बहुत विशाल लॉन सब कुछ है। समीर आज बच्चों को बाहर ले जाने के लिए हारिका को बहुत प्रयत्न के बाद राज़ी कर सका। समीर का कहना है कि बच्चों को बाहर की दुनिया के बारे में ज्ञान होना चाहिए, लेकिन हारिका ही यह तय करती है कि उन्हें किस दुनिया का ज्ञान हो। आज सारा परिवार मिलकर आइमैक्स थियेटर को जाने वाला है।

आज सुबह से समीर का मन बहुत उदास है। घर आने के बाद देखा कि जाने को सब लोग तैयार हैं, इसलिए वह 'न' नहीं कर सका।

जब तक समीर तैयार होकर आया, बच्चे समीर की शादी की सी.डी. देखने में लग गये। समीर और हारिका का विवाह कहीं दस साल पहले हुआ था। उन दिनों में उस विवाह का खर्चा था—लगभग एक करोड़ रुपये! लोगों ने कहा कि सिर्फ़ भोजन के लिए तीस लाख लग गये होंगे। विवाह में उपस्थित सारे मेहमानों को शरमाना पड़ा था कि वे जो गिफ़्ट लेकर आये, उनसे कई गुना ज़्यादा क़ीमती गिफ़्ट उन्हें मिले। ख़ासकर, विवाह का भोजन-तो देखते ही बनता था। सारे लोगों ने इतना खाया... इतना खाया, फिर भी जितना खाया गया, उससे भी ज़्यादा भोजन बाहर फेंक दिया गया। उस दिन समीर को यह सब बहुत बोझिल मालूम हो रहा था।

उसी समय समीर के दोस्त सुशील का विवाह हुआ था, इस विवाह से अधिक आदर्श रूप में। सुशील ने जिस लड़की से प्यार किया, वह सुशील के परिवार को पसंद नहीं आयी थी, इसलिए सुशील ने अपने दोस्तों की मदद लेकर रजिस्ट्रार ऑफ़िस में उस लड़की से विवाह किया। सारे दोस्तों ने मिलकर विवाह का बजट तैयार किया। कुल मिलाकर लगभग पाँच लाख रुपये हुए।

सुशील ने कहा—"समीर, मेरा विवाह ऐसा होगा कि सब लोग दंग रह जाएँगे।"

उसने अपने विचार समीर के सामने रखे। योजना के मुताबिक सुशील का विवाह एक मंदिर में संपन्न हुआ और रजिस्ट्रार ऑफ़िस में बाक़ी कार्यक्रम पूरा हो गया। कार्यालय में सब लोगों को मिठाइयाँ बाँटी गयीं। इसका ख़र्चा हुआ लगभग पाँच हजार रुपये। बाक़ी पाँच लाख रुपये सुशील ने एक अनाथाश्रम को दे दिये!

समीर को सुशील का वह विवाह सदा के लिए याद रह गया। लेकिन, उसका अपना विवाह... जब भी वह अपने विवाह की सी0डी0 देखने बैठता, उसे लगता है कि वह मंगल-कार्यक्रम नहीं, बल्कि उसकी मातमपुरसी हो रही है!

आज फिर बच्चे वही सी0डी0 देख रहे, तो समीर को गुस्सा आ गया। उसने बेटी से कहा, "क्यों सुप्रिया, कितनी बार कहा कि वह सी0डी0 मत देखा करो!"

"सॉरी पापा... छोटी बहन ज़िद कर रही थी, इसीलिए..."

इतने में हारिका वहाँ आ गयी।

"क्या हो जाता... हाँ? बच्चों की समझ में आएगा कि हमारी औक़ात क्या है। उनके विचार भी उसी के मुताबिक बनेंगे। पैसे की अहमियत उनकी समझ में आएगी," आते ही उसने कहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हाँ... आएगी ज़रूर। इसके साथ-साथ 'पैसा ही सब कुछ है' यह भावना भी उनके दिमाग़ में घर कर जाएगी। ये भी कल तुम्हारी तरह सारे नाते-रिश्तों को पैसे के ज़रिये तौलने लगेंगी! चलो...उनसे तुम्हारा क्या वास्ता?" समीर हमेशा की तरह मन में ही ये बातें कहता रहा, बाहर कहने की हिम्मत उसमें नहीं है!

आइमैक्स थियेटर में सिनेमा चल रहा है। अमीरों के जीवन की समस्याओं को बहुत ही रिच स्टाइल में प्रस्तुत किया है निर्देशक ने। सारे दर्शक अपने जीवन की सारी समस्याओं को कुछ घंटों के लिए भुलाकर उन फ़िल्मी समस्याओं में लग गये है और हीरो के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करने लगे हैं।

इन्टरवेल का समय।

"पापा...मुझे कोल्ड्रिंक चाहिए," सुप्रिया ने कहा समीर से। अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए फ़िल्मी सितारों को करोड़ों रुपये देकर वह सारा खर्चा आम जनता के सिर पर थोपने वाली कोल्ड्रिंक कंपनियों से समीर सख़्त नफ़रत करता है। फिर भी बेटी की माँग वह ठुकरा न सका। बाहर जाकर देखा, तो लोग कुछ ऐसे दिखायी दिये जैसेकि वे यहाँ फ़िल्म देखने नहीं, बल्कि कुछ-न-कुछ खाने के लिए आये हों। समीर ने पर्स निकालते हुए पूछा—"कितने का है यह कोल्ड्रिंक?" जवाब मिला—"एक सौ पच्चीस रुपये साहब!"वही बोतल बाहर बारह रुपये में मिल जाएगी!

पर्स निकालते वक़्त समीर को पर्स में रखी अपने पिताजी की तस्वीर दिखायी पड़ी। वह तस्वीर बहुत ही नाजुक अवस्था में है। उसमें से समीर के पिताजी का चेहरा बहुत ही मासूम और करुण दिखायी दे रहा है।

समीर वापस आकर सुप्रिया को समझाने लगा—"देखो बिटिया... बाहर जाने के बाद मैं तुम्हें कोल्ड्रिंक ज़रूर पिलाऊँगा... ओके?" हारिका पति का मन ताड़ गयी।

"समीर! मैं कितनी बार कह चुकी... बाहर अगर तुम एक लाख रुपये देकर पिलाओगे तो भी उन्हें तसल्ली नहीं होगी... बच्चे यहीं पर पीना चाहते हैं और तुम्हें पैसे की पड़ी है? सिर्फ़ पैसा होने से कुछ नहीं होने वाला... उन पैसों को ख़र्च करना भी जानें, तब न?

"चल री... हम जाकर पियेंगे," कहते हुए बच्चों को साथ लेकर वह बाहर चली गयी।

समीर की तरफ़ बच्चों ने दीनता भरी आँखों से देखा। समीर ने पर्स में रखी अपने पिताजी की तस्वीर की ओर देखा। उसकी आँखों में आँसू आ गये। वह मन मसोसकर रह गया।

समीर की माँ... उसकी मौत का कारण था—आर्थिक अभाव। जब समीर दस साल का था, तब उसकी माँ की तबीयत ख़राब हो गयी और दवाई के लिए पर्याप्त पैसे नहीं थे। बहुत पैसा क़र्ज़ में लेकर ख़र्च करने के बावजूद वह चल बसी।

समीर के पिताजी किसी सरकारी कंपनी में मज़दूर का काम करते थे। सरकार ने नुक़सान का बहाना बनाकर कंपनी को बंद कर दिया। मज़े की बात यह है कि किन लोगों से नुक़सान आता है—यह बात सरकार को भी मालूम है। उसके बाद उस कंपनी से बाहर धकेल दिये गये बाक़ी कर्मचारियों की तरह समीर के पिता भी कई तरह के काम करते रहे, लेकिन किसी भी नौकरी में वे टिक नहीं सके।

समीर की अक्ल पर पिता को बड़ा विश्वास था। अपनी औक़ात से बढ़कर उन्होंने समीर को किसी अच्छे स्कूल में दाख़िल करवाया। ख़ुद भूखे रहकर बेटे को पैसे भेजते रहे। समीर जब पंद्रह साल का हो गया, तब वे भी चल बसे।

उनकी मौत पर लोगों ने कहा—"बेटे पर इतना प्यार भी न हो कि ख़ुद भूखा रह जाए। भूख ने ही बीमारी की तरह इस बेचारे को खोखला बना डाला।"

समीर ने बहुत मेहनत की। छात्रवृत्ति पाते हुए, दोस्तों की मदद लेते हुए, छोटे-मोटे काम करते हुए, ट्यूशन लेते हुए... जैसे-तैसे उसने इन्टरमीडिएट की शिक्षा प्राप्त की और उसे आई.आई.टी. में भी प्रवेश मिल गया। पढ़ाई के तुरंत बाद ही हारिका ग्रुप ऑफ कंपनीज़ में उसे अच्छी-ख़ासी नौकरी भी मिल गयी। समीर ख़ूब मेहनत करके कंपनी में उच्च पद प्राप्त करता गया। तभी हारिका से उसका प्रेम हुआ और हारिका ने भी उसके अतीत का वर्तमान से कोई नाता न जोड़कर उससे प्यार किया। लेकिन, समस्या यह है कि हारिका बहुत ही आडंबर पसंद औरत है, जबकि समीर एक साधारण क़िस्म का आदमी। समीर उससे निभ नहीं पा रहा था।

सुप्रिया—उनकी बड़ी बेटी पाँच साल की है, तो छोटी की उम्र एक साल है। समीर यह रिश्ता अब भी बर्दाश्त कर रहा है—मात्र इन दोनों बेटियों की वजह से।

फ़िल्म समाप्त हो गयी। बाद में समीर और हारिका ने अपनी संतानों समेत एक फ़ाइव स्टार होटल में भोजन किया। चार लोगों के भोजन के लिए पाँच हज़ार रुपयों का ख़र्चा! छोटी ने तो बिलकुल नहीं खाया। एक कौर मुँह में रखके सब कुछ छोड़ दिया। बिल भरते वक़्त समीर के दिल में बहुत कंपन हुआ।

"समीर यह क्या... गाड़ी इस तरफ़ क्यों चला रहे हो?" हारिका ने घबराहट भरी आवाज़ में पूछा।

"अब हम माहिम (मुंबई में एक प्रांत) की तरफ़ जाने वाले हैं," समीर ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

"माहिम की तरफ़ से क्यों? वहाँ से तो फ़ासला बहुत बढ़ जाएगा न? अगर तुम्हारा कोई काम हो, तो देख लो... बच्चे हैं न हमारे साथ?" हारिका ने कहा।

समीर कुछ नहीं बोला। वह कुछ निश्चित ढंग से कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चला रहा था। उसकी निस्तब्धता देख, हारिका भी मौन रह गयी। वह सोचने लगी... आज समीर ऐसा क्यों है.....आज सुबह भी ऑफ़िस नहीं आया।

कार अब माहिम में प्रवेश करके निम्नमध्यवर्गीय जनावासों से गुज़रने लगी। हारिका की समझ में कुछ नहीं आ रहा है। वह प्रांत, वह वातावरण हारिका को विलकुल अच्छा नहीं लग रहा... लेकिन समीर चुपचाप बैठे ऐसे कार चला रहा है, जैसेकि वह उस प्रांत से बहुत परिचित हो।

अब उनकी कार एक तंग गली में मुड़कर एक सस्ते क़िस्म के होटल के सामने जा रुकी।

उस होटल के सामने ठीक दरवाज़े पर कुछ फुटपाथ टाइप के लोग बैठे हुए हैं। वे लोग छोटे-मोटे काम करके जीविका चलाने वाले साधारण मज़दूर हैं। दीनता, दरिद्रता, दुःख, लज्जा, अपमान, भूख, अपराध एवं न्यूनता—इन सबको अपने दिलोदिमाग़ में शतप्रतिशत भरकर मुरझाये हुए मज़दूर हैं।

समीर उन्हीं की ओर देखने लगा। समय मिनटों के रूप में पिघलता जा रहा है।

"समीर... तुमने गाड़ी यहाँ क्यों रोक दी? यहाँ क्या काम है?" हारिका ने गुस्से में पूछा।

समीर ने कार की खिड़की खोली। बाहर रखे उसके हाथ में एक सौ का नोट है! वहाँ बैठे हुए लोगों में से एक आदमी दौड़ता हुआ आया और समीर के हाथ का नोट लेकर चला गया। उसके साथ-साथ उसके पास बैठे हुए चारों लोग होटल के अंदर चल दिये।

अब होटल के दरवाज़े के सामने लोगों की एक और टोली आकर बैठ गयी। चेहरों में कोई अंतर नहीं... वही दीनता। समीर उन्हीं की तरफ़ ध्यान से देख रहा है।

"समीर... कौन हैं ये लोग? उन्हें तुमने पैसे क्यों दिये?" हारिका ने पूछा।

"ये लोग कौन हैं—यह मैं भी नहीं जानता। यह चैरिटी होटल है। यहाँ बहुत सस्ते में, मतलब सिर्फ़ दस रुपये में भोजन मिलता है। इतना ही नहीं—इन्हें पैसे मिलने तक होटल के सामने बैठने भी देते हैं, इसलिए इन जैसे होटल्स को चैरिटी होटल्स कहते हैं। बड़ा मुनाफ़ा तो नहीं मिलेगा... फिर भी माहिम के अंदर ऐसे होटल्स चालीस साल से चल रहे हैं," समीर ने सोचते हुए कहा।

"अच्छा.... तो यह है बात! ये लोग बेगर्स हैं। तुमने उन्हें पूरा सौ का नोट कैसे दे दिया... क्या ये लोग तुम्हें जानते हैं?" हारिका के स्वर में अब कुछ व्यंग्य मिला हुआ है।

"मुझे ही नहीं हारिका... वहाँ बैठे हुए लोगों में से एक भी दूसरे को नहीं जानता। बगल में बैठे आदमी का नाम, उसकी जात, उसका मज़हब, उसका गाँव... कुछ भी नहीं जानता। यह भी नहीं जानता कि बगल वाले आदमी का काम क्या है.

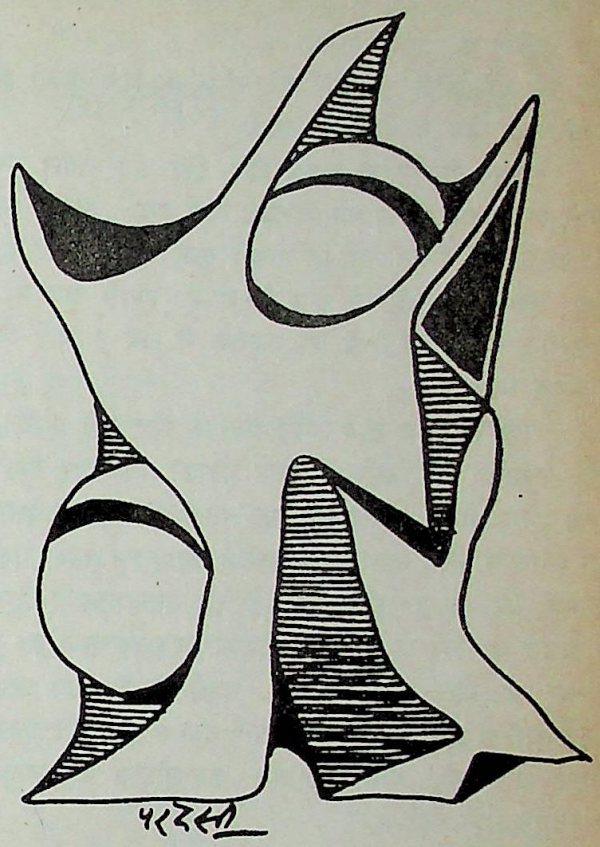

.. उसकी शादी हुई कि नहीं... उसके बाल-बच्चे हैं कि नहीं... वे जानते हैं सिर्फ़ एक बात—भूख! हारिका... ये लोग नहीं जानते कि मेहनतकश हाथों को रोज़गार देने का दायित्व सरकारों का है। लेकिन, एक बात उन्हें साफ़-साफ़ मालूम है—यहाँ बैठे हुए आदमी की जेब में फूटी कौड़ी तक नहीं मिलेगी, लेकिन पेट भर भूख मिलेगी। अपनी इस हालत का ज़िम्मेदार कौन है, यह उन्हें मालूम नहीं। शायद इन सबको इसका भान भी नहीं कि अपनी और इन सबकी हालत के पीछे भी कोई कारण हो सकता है," समीर आवेश में कहे जा रहा है, "हारिका क्या कहा तुमने? ये लोग बेग्गर्स हैं?... तुम ग़लत हो। इनका पेशा भीख माँगना नहीं हे। ये लोग झख मारकर यहाँ आ बैठते हैं। यहाँ आनेवालों में हर कोई हर रोज़ नहीं आएगा। किसी की नौकरी अचानक चली गयी... दिन भर मज़दूरी करने पर भी किसी को पैसा नहीं मिला... हाथ में फूटी कौड़ी तक नहीं... लेकिन बेचारा पेट यह सब कहा जानता है? रोज़ की तरह भूख लगी है! तब ये लोग यहाँ आकर होटल के सामने बैठ जाते हें और किसी ने कुछ दिया, तो एक जून का खाना खा पाते हैं।"

"लेकिन ये लोग इस तरह होटल के दरवाज़े पर ही क्यों बैठते हैं? यह तो बहुत ही भद्दा लगता है!"

"हारिका... तुम भी कैसी बातें करती हो? अगर इन जैसे लोग अंदर बैठकर खाएँ तो पैसे कौन देगा? रास्ते से जानेवाले लोग समझेंगे कि सबके पास पैसे हैं... इसलिए मज़े में बैठकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खा रहे हैं। हमारे देश में ग़रीबी के लिए भी अच्छा-ख़ासा शो केस चाहिए न... ताकि ग़रीबी का ठीक से प्रदर्शन हो... और खुद को बुद्धिजीवी समझने वाले लोगों के दिल पिघलें और उनके हाथ जेब में पर्स तक जाएँ!"

"तुमने उनको सौ रुपये दिये, ठीक है। लेकिन उनके चेहरों पर तनिक भी आभार दिखायी दिया क्या... बोलो? उसने सौ रुपये ऐसे लिये जैसे कि तुमसे क़र्ज़ वसूल करता हो... देखो, ऐसे लोगों को पैसे देना बेकार है। हमारी दया पर ये लोग ऐश करेंगे," हारिका की आवाज़ में अब न जाने कैसे. .. क्रोध मिल गया।

"हारिका... ये लोग हमारे पैसों से ऐश नहीं करेंगे। मैं नहीं समझता कि किसी से भीख माँगकर लिये हुए पैसे से खाया हुआ भोजन उनको स्वादिष्ट लगता है। पेट की शरारत कुछ समय के लिए टाली जा सकती... बस... हम उनका उद्धार तो नहीं कर रहे न। मुझे लगता है, यह खाना उनकी बीमारी के इलाज के लिए दी गयी दवा है, जो बहुत अस्थायी है। तुम आभार की बात कहती हो न... पहले ही ये लोग अपनी कमज़ोरियों से झुक गये हैं—तुम अपनी दया से इन्हें और झुकाना चाहती हो?" हाँ.....एक बात और। इन होटल्स में महिलाओं के लिए प्रवेश नहीं है।"

"तब तो हम बच गये। नहीं तो तुम मुझे ही नहीं, बच्चों को भी इसी होटल में लेकर आते... फिर भी तुमने पैसे दे दिये न, गाड़ी निकालो, अब भाषण क्यों झाड़ते हो?" हारिका की आवाज़ में नारी सहज कोमलता तनिक भी नहीं है।

हारिका को अचानक अपनी बेटियों की याद आयी। उसने पीछे मुड़कर देखा तो बड़ी लड़की सुप्रिया आँखें फाड़कर दरवाज़े पर बैठे लोगों की तरफ़ ही देख रही थी। उसे अब सारी बातें समझ में आ रही हैं। उसके मन में भय, वेदना और करुणा जैसे अनेक भाव पैदा होकर उसे झाकझोर देने लगे।

"सुप्रिया स्टॉप लुकिंग एट दोज़ सिकेनिंग फेज़ेज़," हारिका ने ऊँचे स्वर में बेटी को डाँटा।

समीर ने अब एक और सौ का नोट बाहर किया। एक आदमी तुरंत उसे लेकर होटल में चला गया।

हारिका इसे देखकर चिल्लायी, "समीर... यह कैसा पागलपन है? क्या तुम क्रेज़ी हो? अपना पागलपन मुझ पर और मेरे बच्चों पर भी चढ़ाना चाहते हो क्या? आर यू टेकिंग रिवेंज आन मी?"

समीर के चेहरे में कोई परिवर्तन नहीं। हारिका ने दोनों बेटियों को कार से निकालकर रास्ते में जाती टैक्सी में धकेल दिया। बेटियाँ 'पापा' करके रोने लगीं, तो उसने दोनों को चुप करते हुए रोष में कहा, "उसी भिखारी का बेटा ही तो है... और किसके गुण आएँगे?" हारिका की आवाज़ में अब रोष की मात्रा ज़्यादा है।

समीर को लगा कि अपने ही सिर पर बिजली गिर पड़ी! सारा संसार किसी अणुबम के विस्फोट के कारण ध्वस्त हो रहा हो—ऐसा मालूम हुआ। उसने हारिका से बहुत प्रेम किया लेकिन अब उस प्रेम के स्थान पर पिताजी की याद आने लगी, जिनको हारिका ने अभी-अभी भिखारी कहा! समीर ने सोचा कि अब हारिका के साथ निभना मुश्किल है, कंपनी की नौकरी से भी इस्तीफ़ा दिया जाए। अगले ही दिन उसने अपनी नौकरी के लिए त्यागपत्र लिखकर हारिका की टेबिल पर रख दिया। ऑफ़िस से बाहर आकर वह सोचने लगा, 'हारिका ने कल क्या कहा? मैं एक भिखारी का बेटा हूँ... यही न? क्या मैं सच में एक भिखारी का बेटा हूँ?' उसे कल सुबह की घटना फिर से याद आ गयी। उस घटना के बाद ही उसने माहिम जाने का निश्चय किया।

वह कल सुबह एक समाचार ढूँढते हुए पुस्तकालय में से पंद्रह साल पुराना 'द हिन्दू' दैनिक निकालकर पढ़ रहा था। तब एक होटल के बारे में छपे समाचार पर उसकी नज़र गयी। एक जून के भोजन के लिए इतने दीन बने हुए लोगों के बारे में पढ़कर उसका दिल पिघल गया। समाचार के साथ छपे फ़ोटो की तरफ़ उसने नज़र दौड़ायी। दैनिक बहुत पुराना पड़ गया था और उस पर बहुत धूल जम गयी थी। फ़ोटो को उसने ध्यान से देखा तो उसका दिल मुँह को आ गया। फ़ोटो में हंगर केफे के सामने बैठे कुछ लोगों के चेहरे अस्पष्ट दिखायी दे रहे थे। उसने और ध्यान से देखा... होटल के सामने बैठे पाँच लोगों में बीचवाला आदमी समीर को जाना-पहचाना सा लग रहा था। अचानक समीर को लगा कि उस पर बिजली गिर पड़ी और सारा संसार किसी अणुबम के विस्फोट के कारण चूर-चूर हो गया। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। बीच में बैठे व्यक्ति का जाना-पहचाना चेहरा... उसकी फटी पुरानी कमीज़... वह कोई और नहीं—उसका पिता ही था!

समीर के दिल में से कोई चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है—"तुम्हारे पिता जैसे कई लोग अभी हैं, उन्हें तुम्हारी ज़रूरत है—हॉरिका ग्रुप ऑफ़ कंपनीज़ से भी ज़्यादा!

(24 अगस्त, 2008 'आंध्रज्योति' के रविवार विशेषांक में प्रकाशित)

(मुंबई के माहिम प्रांत में इस प्रकार के होटल सच में मौजूद हैं। ये हंगर केफ़ चालीस साल से चल रहे हैं। 'द हिन्दू' 18.6.2008 तारीख़ के दैनिक में इनके बारे में पढ़कर आँखों में आँसू आ गये। उसी प्रेरणा से यह कहानी लिखी - लेखक)

अनुवाद-दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, आंध्र लोयोला कॉलेज,
विजयवाड़ा - 520008, कृष्णा ज़िला - आंध्र प्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्मा मिश्रा की कविताएँ

दहलीज़ पर खड़ी औरत

दहलीज़ पर खड़ी औरत
क्या सोचती है ?
नम आँखों से निहारती हुई
आकाश का कोना-कोना,
उड़ने को आकुल-व्याकुल
पंख तोलती है, तलाशती है राहें
मुक्ति के उस द्वार की...

स्वप्न भरी आँखें,
नापना चाहती है—क्षितिज के ओर-छोर,
पर पैरों को लहूलुहान कर जाती है
...परंपराओं की बेड़ियाँ,
दहलीज़ के इस ओर...
घर है, ममता है... जीवन का वर्तमान है
और, दहलीज़ के उस पार
उसका स्वप्न पलता है,
आगत भविष्य की रंगीनियाँ हैं,
मुक्ति है.... संभावनाओं का खुला आकाश भी...

पर, यहीं पर रोकती हैं भावनाएँ,
द्वंद्व सा मचता हृदय में
क्या करूँ उस मुक्ति का,
जो छीन लेगी पाँव के नीचे धरा।
और, जब साँझ होगी,
तब अँधेरी कालिमा में....
कौन होगा साथ मेरे...
रोशनी बनकर नये प्रभात की ?
और फिर लौटते क़दमों से कैसे पा सकूँगी—
सुख-स्वप्न मेरा?

बस! यही वो घर मेरा, संसार मेरा,
सोचती है... और फिर कोर आँचल के भिगोती,
बालती दहलीज़ पर,
एक दिया उम्मीद का इस आस में
कि फिर कभी
पंख पाकर उड़ सकूँगी...
साथ मेरा घर, मेरे सपने, मेरे अपने,
मेरा संसार होगा।
बस, यही एक स्वप्न जीती जा रही है,
दहलीज़ पर खड़ी औरत!

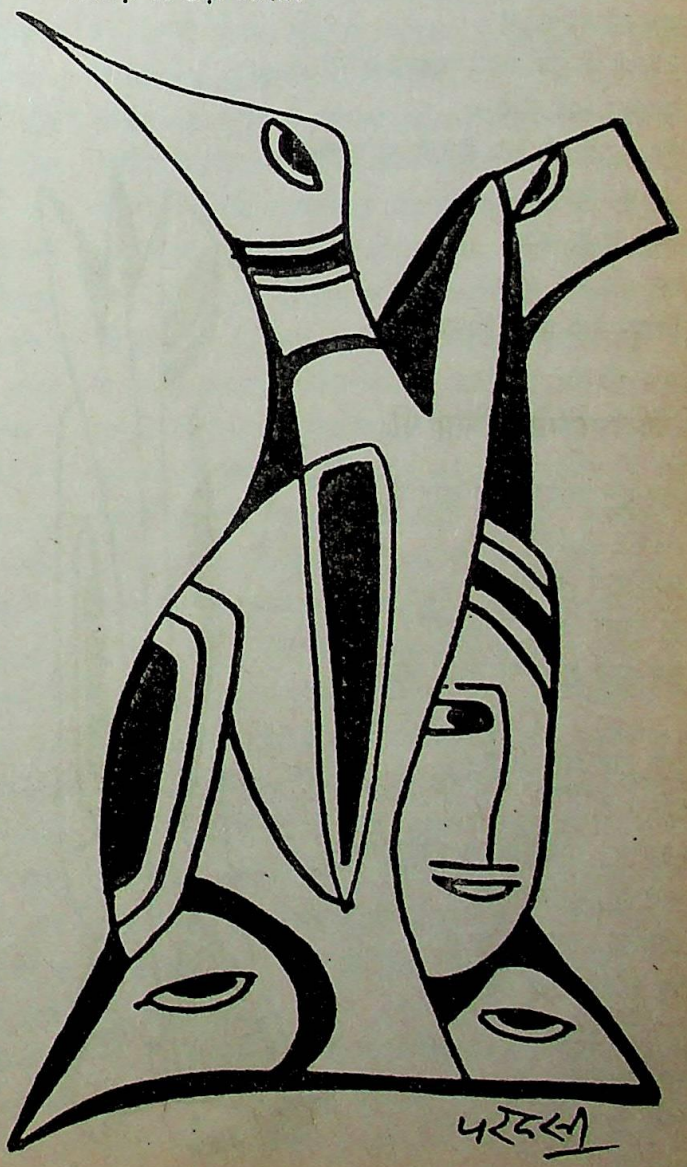

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसोई के धुँआते अँधेरों में

रसोई के धुँआते अँधेरों में,
जलते चूल्हे की रोशनी के बीच,
गर्म पतीले से उठती भाप...
...धुँधला कर देती है... 'सब कुछ'।
आँखों में धुएँ की जलन है,
या आँसुओं की नमी ?
जान नहीं पाती औरत!

मिर्च-मसालों में डूब गये सपनों को
कतरा-कतरा तरासती औरत—
सुबह से शाम तक....
कहाँ खो गयी है कविता ?
ढूँढ नहीं पाती औरत!

अक्षर-अक्षर सँजोती
मन की मंजूषा में,
ज़िंदगी के ढेरों सपने सजाती औरत
पहचान नहीं पाती—
कि करछी की धार तेज़ है या क़लम?
पेट की ज्वाला में
भस्म होती, क्षुधा
तन-की, मन की।
बिसार नहीं पाती औरत!

जीवित रहेगी कविता भी

मन की धड़कनों की तरह ही होते हैं
कविता के शब्द भी
कहीं लय बिगड़ी,
तो बिसर जाती है ज़िंदगी।
सब कुछ शून्य-सा नज़र आता है।

जब तक धड़कने हैं—
जीवन है;
हृदय है, तो जीवित है कविता भी—
प्यार भी, संवेदना भी
इसीलिए... भटकाओ मत,
इस लयात्मकता को
जिलाये रखो,
पल-दर-पल;
तभी तो झूमती, गुनगुनाती
हृदय में
जीवित रहेगी
कविता भी।

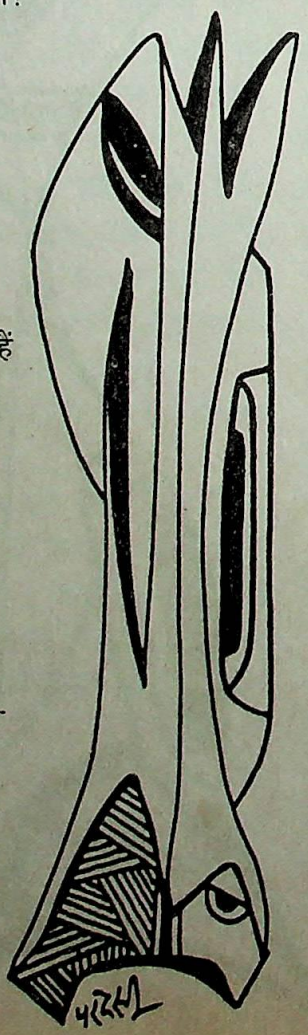

सतरंगी ख्वाब की तरह

टिमटिमाते दिये की लौ की तरह
अस्त होते हुए
सूरज की कालिमा...
धीरे-धीरे फैल रही है
पेड़ों की ऊपरी शाखाओं पर,
खेतों पर,
मीलों दूर तक फैले, चरागाहों के ऊपर
वैसे ही... चुपके-चुपके
उतर रही है रात

यादों के दिये....
वैसे ही झिलमिला उठे हैं,
जैसे घरों को रोशन करती
रोशनी की मीनारें
या मिट्टी के घरौंदों में
अँधेरे से जूझता,
एक दिया... टिमटिमाता-सा
आसमान की डूबती लालिमा के बीच
उजाले की परतें...
...लुप्त हो रही हैं,
धीरे-धीरे धरती के दामन पर,
उतर रही है रात

जानती हूँ मैं... कि डूबते सूरज के साथ
अस्त नहीं होती ज़िंदगी।
न डूबते हैं कभी शब्द-भावनाएँ...
यादों की यह सुरमई शाम
छाने लगी है
मानस पटल पर
अंतर की गहराइयों में...
पर मैं डूबने नहीं दूँगी
अपने अस्तित्त्व के सूरज को
डूबकर भी निकल आऊँगी
एक नये सूरज के साथ
लहरों के साथ-साथ छलक जाऊँगी
आँखों में....
मोतियों से सतरंगी ख़्वाब की तरह।

एल0आई0जी0-114 (रो हाउस), आदित्यपुर-2, जमशेदपुर-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि-सम्मेलन : इतिहास और दशा

वीरेन्द्र जैन

कभी कवि-सम्मेलन, साहित्यिक-कार्यक्रम हुआ करते थे। इनमें निराला, बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे गरिमा वाले लोग जाते थे और इस तरह की भागीदारी के लिए उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। साहित्य जगत में रचनाएँ अच्छी या बुरी तो होती थीं, किंतु केवल विधा-भेद के कारण ही उनका मूल्यांकन नहीं किया जाता था। ऐसा माना जाता था कि कविता का मर्म कवि के मुँह से ही सुनकर जाना जा सकता है। भावों के उतार-चढ़ाव का स्वरों के उतार-चढ़ाव से संबंध जोड़ा जाता था।

कवि सम्मेलन के आयोजन और कवियों के नाम जानकर साहित्य में रुचि रखने वाला जन-समुदाय उत्साहित हो जाता था। उन्हें देखने, लेने के लिए अनेक लोग स्टेशन तक जाते थे और अपने आपको धन्य समझते थे। कवियों की आवभगत के लिए होड़ लगी रहती थी व उनका बारातियों जैसा ध्यान रखा जाता था। उनके खाने-पीने आदि के चर्चे किंवदंतियों की तरह कहे-सुने जाते थे। अतिथि-सत्कार में वर्जित वस्तुएँ तक घर में आने पर कोहराम नहीं मचता था। नगर के अनेक लोगों को उनकी कविताएँ कंठस्थ होती थीं व कवि-सम्मेलन के दौरान् उन कविताओं के लिए आग्रह किया जाता था। ऐसे आग्रह अपने को साहित्य-विज्ञ दर्शाने व अपनी पसंदगी पर श्रेय लेने के लिए भी किये जाते थे। कवि-सम्मेलनों के बाद भी कवियों को दो-एक दिन रोका जाता था तथा नगर के संभ्रांतों के यहाँ गोष्ठियाँ आयोजित होती थीं, जिनमें विशिष्ट लोग भाग लेते थे। कवि, पारिश्रमिक से अधिक इस सम्मान की चाहत रखते थे और उसी से अपने को धन्य समझते थे। पीछे की ओर बड़े-बड़े बाल व उन्हें मोड़दार बनाकर रखने के लिए कवि अलग से पहचाने जाते थे। खादी के कलफ़ लगे कुर्ते-पाजामे या कुर्ता- धोती में वे पहचान में आ जाते थे। सम्मेलन-मंच पर सरस्वती का चित्र या मूर्ति अवश्य ही रखी जाती थी। मंच पर सफ़ेद धुली चादर व गाव तकियों से भव्यता तथा सात्विकता झलकती थी। नगर के वरिष्ठ साहित्यकार को कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया जाता था व मुखर कवि को संचालन सौंपा जाता था। सम्मेलन में सबसे पहले मधुर कंठ से रचना पढ़ने वाले कवि या कवयित्री को सरस्वती-वंदना पढ़ने के लिए आमंत्रित किया जाता था। सबसे पहले स्थानीय कवियों से रचना-पाठ करवाया जाता था, जिससे उन्हें बाहर से आये कवियों के सामने अपनी प्रतिभा दर्शाने का अवसर मिलता था। वहीं आमंत्रित कवियों को श्रोताओं की रुचि और स्तर को समझने में मदद मिलती थी और वे तदनुसार ही अपनी रचनाओं का चुनाव करके सुनाते थे। कवियों को कनिष्ठता से वरिष्ठता के क्रम में बुलाया जाता था। हास्य-कवियों का स्तर नीचा माना जाता था व गीत को सम्मान दिया जाता था। जिन गीतों में जीवन-दर्शन बोलता था, वे विशेष सम्मान पाते थे।

क़स्बों में मनोरंजन के साधनों का अभाव था। सामान्य तौर पर एक-दो सिनेमा हॉल ही मनोरंजन के लिए उपलब्ध होते थे, जिनमें अच्छी घोषित फ़िल्में कभी-कभी आ पाती थीं और सप्ताह-दो सप्ताह लगी रहती थीं। सिनेमा देखना किसी किशोर द्वारा सरेआम सिगरेट पीने जैसा अर्धनैतिक काम माना जाता था। नाटकों के नाम पर केवल रामलीला होती थी और वह भी साल में एक बार होती थी। अख़बार और पत्रिकाएँ कम थीं तथा उनके ग्राहक भी कम थे। हिन्द पाकेट बुक्स के आने से पहले साहित्यिक पुस्तकों की ख़रीद का वातावरण नहीं बना था। बहुत कम और संपन्न लोगों के पास ही अपना पुस्तकालय या पुस्तकों की आलमारी होती थी। कहीं-कहीं एकाध छोटा-मोटा पुस्तकालय होता था, जो क़स्बे के गिने-चुने पाठकों की मानसिक भूख़ शांत करता था। इनमें भी रवींद्रनाथ टैगौर, शरतचंद्र, मुंशी प्रेमचंद आदि गिने-चुने साहित्यकारों की पुस्तकें उपलब्ध होती थीं। कविता की पुस्तकें और भी कम। घरों में पुस्तकों के नाम पर केवल धार्मिक पुस्तकें ही उपलब्ध होती थीं। समय काटने के लिए वरिष्ठ जन इन्हीं का घोंटा लगाते रहते थे। ऐसी दशा में कवि-सम्मेलन संवेदना, ज्ञान और मनोरंजन के ताज़ा झोंके की तरह लगते थे। विशेष रूप से क़स्बों में इनका बड़ा महत्त्व था। कवि-सम्मेलन के नाम पर सहजता से चंदा एकत्रित हो जाता था। क़स्बों के बड़े स्कूल, कॉलेज या धर्मशालाओं के प्रांगण इस काम के लिए उपलब्ध रहते थे। नगर के बड़े से बड़े सेठ, नेता या सामाजिक कार्यकर्ता भी मंच पर बैठने का प्रयास नहीं करते थे। उनके बैठने के लिए मंच के सामने की ओर विशेष व्यवस्था रहती थी।

1962 में चीन के साथ सीमा-विवाद पैदा कर दिया गया। तिब्बत में हुई क्रांति के बाद भागकर आये हुए दलाई लामा को भारत में शरण दी गयी व अमेरिका द्वारा पोषित नेताओं के इशारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भारत सरकार को इस बात के लिए विवश किया गया कि वह उन स्थानों पर चौकियाँ स्थापित करे, जहाँ पर सैनिकों का रहना संभव ही नहीं था तथा चीन द्वारा बनाये जा रहे तिब्बत मार्ग को रोक दे। अपनी सैन्य-क्षमता का उचित आकलन किये बिना भावुक दबावों में वैसा ही किया गया, जिसके जवाब में चीन ने हमारी कमज़ोर सैन्य-शक्ति को पीछे खदेड़ दिया। इस पराजय-भाव से उबरने के लिए भावुक ओजस्विता भरे गीत और कविताएँ थोक के भाव में रचे गये और उन्हें सुनाये जाने के लिए जगह-जगह कवि-सम्मेलन आयोजित किये गये, जो राष्ट्रभक्ति और राष्ट्र की सुरक्षा से जुड़े होने के कारण समुचित भीड़ जुटाने में सफल हुए। यह वह समय था, जब देश एक मोड़ पर था व ग़लत दिशा में मुड़ गया था। जो फ़िल्म उद्योग विकास, परिवर्तन और चेतना जगाने वाली 'नया दौर', 'मदर इन्डिया', 'प्यासा', 'जागते रहो', 'श्री चार सौ बीस' जैसी फ़िल्में बना रहा था, वहीं हालीवुड ने घुसपैठ कर ली। गुरुदत्त, राजकपूर, बलराज साहनी, ख्वाजा अहमद अब्बास, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, ए.के. हंगल, शैलेंद्र की दुनिया में शम्मीकपूर, देवआनंद, जॉय मुखर्जी, राजेंद्र कुमार, मनोज कुमार आदि हावी हो गये। साहित्य में नागार्जुन, शील, केदारनाथ अग्रवाल के स्थान पर अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि का आधिपत्य हो गया। सामाजिक मूल्यों को निर्मूल्य कर दिया गया व व्यक्तिगत कुँठा, संत्रास आदि प्रमुख तत्त्व होने लगे। पश्चिमी देशों के साहित्य और आलोचना-पद्धति ने विश्वविद्यालयों और पाठ्यक्रमों में जगह घेर ली। कला, साहित्य व संस्कृति या तो अमृता प्रीतम की नायिकाओं की तरह उदासी से घिरी रहीं या फिर धूम-धड़ाके वाली पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में घिर गयीं।

ऐसे माहौल में साहित्य की वाचिक परंपरा के प्रतीक कवि-सम्मेलन ने भी अपना रूप बदला, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस सतही संवेदनाओं वाले समाज का निर्माण हुआ, उसे वैसी ही कविताएँ भी चाहिए। देश में विकास के नाम पर मचायी गयी लूट और बंदरबांट में एक नव धनाढ्य वर्ग उदित हुआ, जो ठेकेदार, छुटभैये राजनीतिज्ञ, डीलरशिप वाले व्यापारी व भ्रष्ट नौकरशाहों के रूप में पहचाना गया। सहज धन प्राप्ति की आशा में कवि-सम्मेलनों के संयोजकों ने इन लोगों से संपर्क किया, तो उन्हें बहुत आसानी हो गयी। ये लोग लूट की कमाई में से छोटा सा टुकड़ा फेंकने को तैयार हो गये और अपनी पसंद के कवियों की सूची भी देने लगे। ये कवि कवि होने की जगह भड़ैती करके सेठों की तोंदों को गुदगुदाने वाले लोग थे या उनके लिए बिस्तर पर जाने से पहले पढ़ी जाने वाली अश्लील किताबों के विकल्प जैसी रचनाएँ करने वाले थे। कवियों को पैसा अच्छा मिलने लगा, तो किसी समय के अति संभावनाशील कवि भी समझौता करने लगे व ऐसे कवियों के साथ मंच पर जाने में उन्हें कोई परहेज़ नहीं रह गया। कुछ ने तो अपनी रचनाओं का स्तर भी गिरा दिया।

कवियों को अच्छे होटलों में रुकने के लिए सूचना और पता दिया जाता व उनका रिज़र्वेशन टिकिट तैयार रहता। न कोई लेने आने वाला, न छोड़ने वाला। जिस तरह शादी-ब्याह के बाद नाचने-गाने वाले किन्नरों को ईनाम दिया जाता है, उसी तरह उन्हें पारिश्रमिक का लिफ़ाफ़ा थमा आयोजक अपनी कार में बैठकर चले जाते। इस पतन का सिलसिला यहीं तक सीमित नहीं रहा। इस तरह से प्राप्त धन ने इन तथाकथित कवियों को मद्यपान करने वाले कलाकार की जगह शराबी बना दिया। लगातार सफ़र करने के दौरान् ये लोग आपस में जुआ भी खेलने लगे। कुछ कॉल-गर्ल मानसिकता की लड़कियों ने इन कवियों से संपर्क किया, तो उनमें से कुछ सुंदर और मधुरकंठी लड़कियों को ये गीत-ग़ज़ल लिखकर देने लगे और कवयित्री बनाकर अपने साथ कवि-सम्मेलनों में ले जाने लगे। मधुमिता शुक्ल हत्याकांड ने बहुत कुछ प्रकट कर दिया है, पर उससे बहुत अधिक अभी दबा हुआ है। इस रैकेट ने अनेक संभावनाशील कवयित्रियों को काव्य-क्षेत्र में आने से रोक दिया तथा जो इस क्षेत्र के कांडों से परिचित हो चुकी हैं, वे आना भी नहीं चाहतीं। यह क्षेत्र अब संस्कृति से मनोरंजन की ओर खिसक गया है। नव धनाढ्य युवा वर्ग डांस बार में जाने या कवि-सम्मेलन में जाने के बीच किसी एक का चुनाव करते समय दोनों को बराबरी पर रखकर चलता है।

एक ओर तो कविता को नयी कविता ने नुकसान पहुँचाया व दूसरी ओर मंचीय कविता ने पत्र-पत्रिकाओं व अकारमिक जगत में नयी कविता को थोप दिया गया है। प्रत्येक ऐसा कवि समीक्षक भी है व वे एक-दूसरे की कविताओं की तारीफ़ करते रहते हैं व समीक्षा लिखते रहते हैं। विश्वविद्यालयों और पुरस्कार समिति पर अधिकार करके ये सारे सेमिनार और पुरस्कार एक दूसरे को ले-दे लेते हैं और अपने लोगों की पुस्तकें कोर्स में लगवाने जैसे धंधे चलाते रहते हैं। प्रबुद्ध श्रोताओं-पाठकों के लिए उनकी पसंद व ग्राह्यता की कविता दूभर हो गयी है। कविता, जो आदमी को आदमी होने की तमीज़ सिखाने वाली विधा मानी जाती है, से आदमी को दूर कर दिया गया है। नयी आर्थिक नीतियों से पैदा हुई उपभोक्ता संस्कृति उसे लोक-साहित्य व लोक-जीवन से पहले ही तोड़ चुकी है। ले, देकर फ़िल्मी गीत-संगीत बचा था, पर उसमें भी भयंकर प्रदूषण घर कर चुका है। कवि का महत्त्व घट गया है व कवि के रूप में अपना परिचय देने वाले व्यक्ति को सामने वाला एक कुटिल व उपहास वाली दबी मुस्कान के साथ देखता है। परिचय के बाद तो व्यक्ति बात करने में भी संकोच करने लगता है।

कविता को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए एक उचित कार्यनीति पर कार्यान्वयन योजना बनाना ज़रूरी हो गया है, जिसे लेखकों के संगठन कर सकते हैं।

2/1 शालीमार स्टर्लिंग
रायसेन रोड, अप्सरा सिनेमा के पास
भोपाल (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलाल संस्कृति

सुंदर लोहिया

दलाल आम प्रचलित भाषा में उस आदमी को कहा जाता है, जो बेचने और ख़रीदने वालों के बीच तालमेल साधकर सौदा तय करवाता है और उसके बदले में सुविधा शुल्क के तौर पर पैसे वसूल करता है। बेचने वालों में कई तरह के लोग होते हैं और ख़रीदने वालों में भी इसी प्रकार कई तरह के ख़रीदार शामिल रहते हैं। जब बेचनेवाला किसान हो और खरीदनेवाला दूकानदार तो दलाल का नाम आढ़तिया होता है। इसी तरह जब बेचने वाला न्याय का जानकार हो और ख़रीदने वाले को न्याय पाने के लिए उसकी सेवाओं की ज़रूरत हो, तो दोनों में तालमेल साधकर सुविधा शुल्क के नाम पर पैसा वसूलने वाले को मुन्शी कहा जाता है। लेकिन 'दलाल' शब्द का इस्तेमाल वेश्याओं के पेशे से ज़्यादा जुड़ा हुआ है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है, जो बेचने वाले और ख़रीदने वाले दोनों से ही पैसे ऐंठ लेता है। इसीलिए, 'दलाल' शब्द बदनाम भी हुआ होगा।

पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ दलाल का रुतबा भी बढ़ गया। रुतबा इतना बढ़ गया कि जहाँ दलाली का धंधा एक सम्मानजनक पेशे के तौर पर चलता है, उस स्थान को दलाल स्ट्रीट के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। आज भी जिस जगह पर बेचने और ख़रीदने वाले-दोनों से ही कमीशन बटोरा जाता हो, उसे बहू बाज़ार की तर्ज़ पर शेयर बाज़ार कहा जाता है। शेयर बाज़ार आज की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का दिल है, जिसकी धड़कनें पूँजीपतियों के रक्तचाप की तरह यदि बेतहाशा ऊपर उठती जाएँ, तब भी जानलेवा होती हैं और यदि नीचे लुढ़कती जाएँ, तब भी मौत से पहले की चीख़-पुकार तथा हाय-तौबा मच जाती है। दुर्भाग्य से यदि कहीं इस बाज़ार में ठहराव आ जाए, तो उन्हें लगता है कि विकास की गति थम गयी है। इसलिए, दलाल संस्कृति लोगों को मानसिक तौर पर अस्थिर और बेचैन बनाती है। इस संस्कृति में पलने वाले लोग असुरक्षित और भीड़ में भी अकेला महसूस करते हैं। यह सामाजिक असुरक्षा और अकेलापन पूँजीवाद की देन है।

आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देशों में कुछ पेशेवर लोगों का ऐसा समूह तैयार हो जाता है, जो सरकार की नीतियों में पेशेवर तरीक़ों से हस्तक्षेप करके उन्हें उन कंपनियों के हित में साधने की कोशिश करता है, जो उसे इस काम के लिए कमीशन देते हैं। अमेरिका में इस धंधे को लॉबिंग कहते हैं और ऐसे लोगों की वहाँ माँग बनी रही है। शेयर बाज़ार में उछाल आए, तो भी दलालों की चाँदी और गिरावट में भी ये लोग कम मात्रा में चाँदी कूट लेते हैं। इस तरह यह सदाबहार संस्कृति है। समाज के सुख-दुख से इसका कोई रिश्ता-वास्ता नहीं होता। इस संस्कृति में जो रँग जाते हैं, उनका गुरु-पीर सिर्फ़ पैसा होता है। लॉबिंग करने वाले देश के हित-अहित के बारे में नहीं सोचते। वे केवल काम के बदले मिलने वाली रक़म पर ही नज़र रखते हैं। हमारे देश में भी हथियारों की ख़रीद में ऐसे पेशेवर लोगों का हाथ रहा है।

तीसरी दुनिया के मुल्कों में दलाल-संस्कृति भी पिछड़ी हुई होती है। उनके धंधे भी पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था के मुताबिक छोटे-मोटे होते हैं। यहाँ दलाली को आमतौर पर नफ़रत की नज़र से देखा जाता है, इसलिए भी यहाँ इस धंधे में पश्चिमी देशों की तरह विकास नहीं हो पाया। एक मुहावरा है हमारे यहाँ, जिसके मुताबिक कोयले की दलाली में हाथ-मुँह काले। दलाली वाले धंधों को कोयले की तरह अपना रंग चढ़ा देने वाला मान कर आधुनिकतावादियों के मुताबिक हमारे समाज ने अपनी पिछड़ी हुई मानसिकता का परिचय ही दिया है। नवउदारवादी अर्थ-शास्त्रियों का ख़्याल है कि दलाल संस्कृति की उपेक्षा करके हमने अपने सामाजिक विकास के दरवाज़े ही बंद कर रखे थे। अब मुक्त बाज़ार की समर्थक नीतियाँ अपनाकर वे इस देश की अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने की जुगाड़ कर रहे हैं।

यह इसी दलाल संस्कृति का कमाल है कि बाज़ार और बाज़ार के इशारों पर काम करने वाले सरकारी महकमों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर किसान जिन बीजों को ख़रीदता है, उनके फ़ेल हो जाने पर आत्महत्या का रास्ता अपना लेता है और कंपनियों के शेयर का भाव गिर जाए, तो सरकार जनता की जमापूँजी को लेकर उनकी मदद के लिए दौड़ पड़ती है। किसानों के क़र्ज़ मुआफ़ी का ढिंढोरा ऐसा पीटा जाता है, मानो 60 हज़ार करोड़ उन्होंने किसानों के खेतों में डाल दिये हों! उसके हाथ तो एक भी पैसा नहीं आया, सिवाय क़र्ज़ मुआफी के काग़ज़ के टुकड़े के। हाँ, उसे क़र्ज़ की चिंता से राहत अवश्य मिली। इससे उसकी आर्थिक स्थिति पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। बैंकों की आर्थिक स्थिति ज़रूर सुधर गयी। किसानों के नाम पर बैंकों को लाभ पहुँचा कर भी तो देशहित का काम किया गया, लेकिन शेयर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाज़ार में पैसा उँडेल कर सरकार ने सटोरियों को जनता के पैसे से सट्टा खेलने के लिए प्रोत्साहित ही किया।

अब अगर इन दोनों राहत-कार्यों की तुलना करें, तो साफ़ नज़र आएगा कि उत्पादन में यथाशक्ति अपना योगदान कर रहे किसान की मदद महज़ काग़ज़ का एक टुकड़ा बन कर रह जाती है और अनुत्पादक काम में संलिप्त सटोरिये अपना धंधा उसी तरह चलाने में क़ामयाब हो जाते हैं। इससे यह बात साफ़ तौर पर समझ में आ जाती है कि सरकार उत्पादक तबकों के बजाये अनुत्पादक तबकों के प्रति सहानुभूति दिखा रही है। ऐसे में सकल घरेलू उत्पाद की दर में बढ़ोत्तरी पर विश्वास भी कैसे किया जा सकता है?

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि देश में किसानों की संख्या अधिक होते हुए भी लोकतांत्रिक तरीक़े से चुनी हुई सरकार बहुसंख्यक आबादी की उपेक्षा कैसे कर पा रही है? वैसे तो इस स्थिति के लिए कई कारण ढूँढे जा सकते हैं—जैसे कृषि के कामों में मशीनों के इस्तेमाल से खेतिहर किसानों की संख्या में बढ़ोत्तरी और बड़े भूस्वामियों का छोटे पूँजीपति के तौर पर उभरना। लेकिन, सबसे बड़ा कारण है—दलाल संस्कृति के इस दौर में किसानों के पास संसद में उनके हित की वकालत करने वाले या तो प्रभावहीन हैं या नगण्य। किसानों के पास सांसद तो हैं, पर दलाल नहीं, क्योंकि किसानों के पास दलाली के पैसे अदा करने की क्षमता नहीं है। आर्थिक नव उदारवाद के इस दौर में सरकारी सहायता भी तो क्रय-विक्रय की वस्तु बन गयी है, इसलिए यह उसे आसानी से उपलब्ध हो जाती है, जो इसके दलालों की जेब गर्म कर सके। जिस दिन भारतीय किसान भी इस दलाल संस्कृति का हिस्सा बन जाएगा, वह दिन लोकतंत्र की समाप्ति का दिन होगा। अतः लोकतंत्र की पक्षधर जमातों को दलाल संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष जारी रखना होगा।

47/10 खनक गली, मंडी, हिमाचल प्रदेश

लघु-कथा

मज़दूरी

गजेंद्र नामदेव

कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का खामियाजा उन्हें इस बार फिर भुगतना पड़ा। कॉलेज में पढ़ रहे एक बड़े नेता-पुत्र की नकल पकड़ने के एवज़ में उन्हें बतौर सज़ा आदिवासी क्षेत्र में स्थानांतरित किया गया था। गृहनगर से लगभग पाँच सौ किलोमीटर दूर।

क़स्बे से बाहर लगभग दो किलोमीटर दूर बने कॉलेज के सामने ही उन्हें एक क्वार्टर मिल गया। काफ़ी दिनों से खाली पड़े क्वार्टर की सफ़ाई के लिए एक मज़दूर लगा दिया। पचास रुपये रोज़ मज़दूरी देने पर आस-पास के लोगों ने उन्हें उलाहना दिया—"अरे भई, बीस रुपये रोज़ के काम के पचास रुपये क्यों दे रहे हैं? इससे तो इनके भाव बढ़ जाएँगे। हमसे तो पूछा होता।"

लेकिन वे जीतरा के काम से ख़ुश थे। दूसरे दिन एक मित्र के घर रात्रि-भोज था। वे कॉलेज से सीधे ही उसके घर जा पहुँचे। दिसंबर की कड़कड़ाती ठंड और रात के अँधेरे ने उन्हें वहीं रुकने पर मज़बूर कर दिया। सुबह पाँच बजे जब वे टहलते हुए घर पहुँचे तो दालान में कुछ पोटलीनुमा चीज़ दिखी। उन्होंने पास जाकर देखा तो पोटली जीतरा में बदल खड़ी हो गयी। अचानक मुँह से निकला—"अरे तुम रात में घर नहीं गये क्या?"

उन्हें आश्चर्य था, इतनी ठंड में भी यह जीव बिना गरम कपड़ों के दालान में पड़ा रहा।

"हुजूर मजूरी नहीं मिली थी।"

"अरे मैं तुम्हें आज दे देता," वे खीझ उठे।

"हुजूर, मजूरी मिलती तो चाऊर, नौन, तेल ले जाता। तब घरवाली खाना बनाती। हुजूर, बच्चे भूखे होंगे," उसकी आँखों में विवशता साफ़ झलक रही थी।

उन्होंने झट से सौ का नोट निकाल जीतरा के हाथ पर रख दिया। धुँधकले में भी उसकी आँखें टिमटिमा उठीं। चेहरे पर मुस्कान की रेखाएँ लिए जीतरा लंबे-लंबे डग भरता चला जा रहा था।

उनकी आँखें ओझल होने तक जीतरा का पीछा करती रहीं।

भूगोल विभाग, शासकीय स्वशासी स्नातक महाविद्यालय, छिंदवाड़ा (म0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब सांस्कृतिक संघर्ष की बारी है

धर्मचंद्र विद्यालंकार

(क) सामाजिक संघर्ष

किसी भी सभ्य समाज अथवा जाति-वर्ग को अपनी अस्तित्त्व-रक्षा के लिए दोहरे-तिहरे संघर्ष की आवश्यकता होती है। यथा, सामाजिक संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष और आर्थिक संघर्ष। लेकिन, इन सबके बाद में बारी आती है सांस्कृतिक संघर्ष की। सर्वप्रथम, हम सामाजिक संघर्ष की बात करें, तो उसे हम सामाजिक न्याय के रूप में ही पाते हैं। जिस प्रकार से समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान और गरिमा अक्षुण्ण रहनी चाहिए, वैसे ही प्रत्येक समाज को भी समाज में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता हासिल होनी चाहिए। भारत जैसे विशेषकर हिन्दू धर्म से आबद्ध जाति-समाज में संपूर्ण समाज वर्ण विभाजित रहा है। ऊपर के दोनों-तीनों अनुत्पादक वर्गों ने ही सारी शक्ति-संरचना पर अपना वर्चस्व बना लिया है। क्योंकि इन्हीं सवर्णों के पास देश के सकल संपदा साधन भी संचित रहे हैं, अतएव समाज में सम्मानित भी वही रहे हैं। यह अनायास नहीं है कि पुरोहितों ने और धर्माचार्यों ने अपने आर्य-ग्रंथों में सामंतों को ही श्रीमंत या सामंत कहा है और उन्हें ही अपनी आजीविका को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए नर से नारायण दिखाया है।

अतएव, किसी भी जाति या वर्ग का सर्वप्रथम संघर्ष अपने सामाजिक अस्तित्त्व का ही होना चाहिए। मनुष्य कोरा माँस-पिंड भर नहीं है कि उसे पशुवत् खान-पान मिल जाए, तो वह सर्वथा संतुष्ट हो जाएगा। नहीं, उसे अपने और अपने जाति, वर्ग या समुदाय के लिए एक सामाजिक सम्मान और पहचान भी मिलनी चाहिए। तभी हम बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जाति-वर्गों में सांस्कृतिक समुत्थान की प्रक्रिया को प्रभावी रूप में पाते हैं। यथा, ग्वाले और अहीर स्वयं को यादव बताने-लिखने लगे, तो गुर्जरों ने भी स्वयं को वीर और क्षत्रिय मानना आरंभ कर दिया था।

जैसे बढ़ई जैसे शिल्पकार वर्ग भी स्वयं को विश्वकर्मा, धीमान् और जांगिडा ब्राह्मण बताने लगे थे और अपने नामांत में शर्मा जैसा सम्मानसूचक संबोधन जोड़ने लगे थे। इसका कारण क्या था ? यही कि समाज में इन पिछड़े वर्गों को सम्मान हासिल नहीं था। अतएव, इन्होंने उसको पाने हेतु ही ऐसा किया। उसका एक उदाहरण हम यह भी ले सकते हैं कि 1932 ई0 में राजस्थानी जाटों ने स्वयं को उच्च क्षत्रिय हिन्दू सिद्ध करने के लिए सीकर में एक वृहद् यज्ञ का आयोजन किया था। उसमें उन्होंने संयुक्त पंजाब के माल मंत्री चौ0 छोटूराम जी को विशेष अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। परंतु, स्थानीय राजपूत जागीरदार ने चौधरी छोटूराम को हाथी पर बैठाकर शोभा-यात्रा निकालने की अनुमति प्रदान नहीं की थी, बल्कि रातों-रात ही सुसज्जित हाथी को उठवा दिया था। जब जाट समाज के लोगों ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार रेजीडेंट जयपुर स्टेट के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था, तभी चौ0 छोटूराम को वहाँ पर हाथी पर बैठने दिया गया था। राजपूत सामंत अथवा ज़मींदार हाथी और घोड़े की सवारी को स्वयं के लिए ही आरक्षित मानते थे। शेष किसानों और शिल्पकार वर्गों के लोगों को वे यह सम्मान देने को तैयार नहीं थे।

अतएव, सर्वप्रथम संघर्ष सामाजिक सम्मान और समानता की समुपलब्धि का ही होना चाहिए और होता भी है। यद्यपि, आर्थिक अवस्थिति में बदलाव के साथ भी सामाजिक सम्मान में वृद्धि होती है। उदाहरण के तौर पर, उत्तर प्रदेश में चौ0 चरण सिंह के राजस्वमंत्रीत्व काल (1952 ई0) में जैसे ही ज़मींदारी-उन्मूलन का क़ानून पास हुआ और पिछड़े वर्ग के किसान स्वयं भूधर (खुदकाश्त) बने, तो उन्होंने भी अपने नामों के साथ चौधरी (जाट-गूजर-अहीर) और ठाकुर या राजपूत (लोधे) जैसे सम्मानजनक विशेषण अथवा विरुद् जोड़ लिये थे। यह संस्कृतिकरण किंवा ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया आर्थिक बदलाव से भी संभावी हुई थी।

(ख) राजनीतिक अथवा आर्थिक संघर्ष

किसी भी जाति-वर्ग का दूसरा संघर्ष राजनीतिक और आर्थिक ही होता है, क्योंकि आर्थिक समानता और स्वतंत्रता ही शेष समानताओं की जननी है। उसके बिना कई बार राजनीतिक और सामाजिक समानता भी ज़बानी जमा-खर्च मात्र रह जाती है। वर्णबद्ध हिन्दू समाज में भी जिन सवर्णों को सम्मानीय माना गया था, उसका एक बड़ा कारण उनका संपत्ति-संचय भी था। यह कहना नहीं होगा कि भारत की तीस प्रतिशत बड़ी जोतों पर आज भी द्विज जातियों का ही एकाधिकार है, जबकि सत्तर प्रतिशत मध्यम और निम्न दर्जे की जोतों में ही दलित और अन्य पिछड़े वर्गों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्सेदारी है। बिहार जैसे प्रांत में, जहाँ पर उत्तर प्रदेश की भाँति ज़मींदारी-उन्मूलन क़ानून प्रभावी ढंग से क्रियान्वित नहीं हो पाया था, आज भी बहुत से द्विजाति लोगों के पास हज़ारो बीघा ज़मीनें हैं, जबकि वे उन पर शारीरिक श्रम भी नहीं करते हैं और जिन जाति-वर्गों के पास किंचित भी भूस्वामित्व नहीं है, वही उन पर अपना श्रम-स्वेद बहाते हैं। यह कैसी विचित्र विडंबना है, जबकि धर्माचार्य इसी को ईश्वरीय-न्याय मानते हैं।

आज हरियाणा अथवा पंजाब और गुजरात तथा महाराष्ट्र के किसान यदि संपन्न हैं, तो उसका कारण उनका भूस्वामी होना ही है। दूसरे वे राजनीतिक रूप से भी सशक्त हैं। संयुक्त पंजाब में तो स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व 1923 ई0 में ही किसानों की पार्टी—ज़मींदारा-लीग की सरकार बन गयी थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने वार्षिक अधिवेशनों में जिन स्वर्णिम संकल्पों को पारित करती थी, पंजाब की किसान सरकार उससे पूर्व ही उनका क्रियान्वयन करके उनका कायाकल्प कर चुकी थी। तत्कालीन पंजाब सरकार का ऋण विमुक्ति क़ानून इस शृंखला का सर्वाधिक क्रांतिकारी नियम-विधान था, जिससे वहाँ के कोटि-कोटि किसान ऋण-जाल से उबर गये थे।

यदि आजपर्यंत पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) और पूर्वी पंजाब से लेकर हरियाणा तक का किसान सर्वाधिक संपन्न और राजनीतिक रूप से सजग है, तो यह केवल उसकी आर्थिक और सामाजिक सजगता का ही पुण्य परिणाम है। राजस्थान में इस जागरूकता का अभाव था। तभी वहाँ का किसान सामंती शोषण के शिकंजे में देर तक कराहता रहा। जब हरियाणा और पंजाब का किसान आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष में सलंग्न था, तब तक भी राजस्थानी किसान सामाजिक स्वतंत्रता का ही संघर्ष कर रहा था, क्योंकि उसे सिंह-संज्ञांत नाम रखने की आज़ादी नहीं थी। हाथी-घोड़े पर सवारी करने की अनुमति सामंती शासन द्वारा उसे नहीं थी। उसकी बहन-बेटियों को काँच की चूड़ियाँ तक पहनने की स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं थी। किसानों को द्विजता का प्रतीक यज्ञोपवीत अथवा जनेऊ पहनने का भी अधिकार हासिल नहीं था। अतएव, राजस्थानी जाट-किसान शेखावाटी और मारवाड़ अंचल में इसी सामाजिक संघर्ष में उलझे हुए थे।

और तो और, सामंती शासन-व्यवस्था में उन्हें ज़रा भी राजनीतिक अधिकार हासिल नहीं थे। यथा, वे अपना राजनीतिक संगठन किसान-सभा बनाकर अपने उचित अधिकारों की माँग तक नहीं उठा सकते थे। तभी तो वे जाट-सभा जैसे सामाजिक संगठनों के नाम से ही किसान-सभा का काम करते थे। इसका सबसे पुष्ट प्रभाव यह है कि शेखावाटी की जाट सभा के प्रधान यदि सरदार हरलाल सिंह (जाट) थे, तो उसके महामंत्री एक ब्राह्मण व्यक्ति-ताड़केश्वर शर्मा थे। बाद में पं0 चुन्नीलाल शर्मा बने, जोकि डाबडा कांड (1947) में सामंतों के आक्रमण में शहीद भी हुए थे। एक ओर राजस्थानी किसान अपने सामाजिक और आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित थे, दूसरी ओर हमारा सवर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए ही संघर्षरत था। यह आकस्मिक नहीं है कि राजस्थान में सारे संघर्ष बजाय विदेशी शासन के देशी सामंतों के ही विरुद्ध किये गये।

उपर्युक्त तथ्यों का साक्ष्य स्वयं श्री राम किशोर शर्मा नामक राजस्थानी लेखक ने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता संग्राम और किसान आंदोलन' में दिया है। क्योंकि वहाँ के किसानों को वर्ष में नाम मात्र का राजस्व वसूलने वाले विदेशी शासन से संभवतः उतनी शिकायत नहीं थी, जितनी कि सैकड़ों प्रकार के लाग-बाग वसूलने वाले देशी रजवाड़ों और उनके जागीरदारों या ज़मींदारों से थी। अतएव, चाहे बिजौलिया (उदयपुर रियासत) में लड़ा गया 1915 ई0 का किसान-संघर्ष हो अथवा शेखावाटी का सुदीर्घ संघर्ष या फिर डावड़ा और गोठड़ा जैसे गाँवों के लोमहर्षक संघर्ष हों—सभी में किसानों का सीधा संघर्ष देशी रजवाड़ों से था और देशी रजवाड़े ही विदेशी शासन को स्वीकार कर रहे थे, अतः प्रकारांतर से वे उनके भी विरुद्ध थे ही।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात जब लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित उत्तरदायी शासन स्थापना की बात आयी, तो प्रजा-परिषद के नाम से शहरों में संघर्षरत एक भद्रवर्गीय नागरिक संगठन ने जाट (किसान) सभा को अपने साथ मिलाकर अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विलय करा लिया था, क्योंकि देशी रजवाड़ों में कांग्रेस पर पूर्णतः प्रतिबंध था। लेकिन, जैसे ही विदेशी जुए से किसान जनता को मुक्ति मिली, तो देशी सामंत और पुरोहित ही राष्ट्रीय स्वरूप धारण करके उसके स्वयंभू स्वामी बन बैठे। जिससे एक तो किसानों का स्वतंत्र नेतृत्व विकसित नहीं हो सका, दूसरे उन्हें प्रदेश की राज-सत्ता से भी सदैव के लिए बेदख़ल कर दिया गया। आज पर्यंत भी वही षडयंत्र राजस्थान के बहुसंख्यक जाट किसानों के साथ जारी है, इसीलिए सर्वाधिक संख्या में इस जाति-वर्ग के विधायकगण रहते भी वहाँ पर उन्हें प्रदेश सरकार का नेतृत्व नहीं सौंपा जाता। वहाँ पर आज भी अल्पतंत्र और कुलीन तंत्र हावी है। सवर्ण भद्र वर्ग आज भी सामंती और ब्राह्मणवादी विचारों से संचालित है। अब उसमें नयी पूँजीवादी प्रवृत्ति और जुड़ गयी है।

(ग) सांस्कृतिक संघर्ष

जिन प्रदेशों के किसानों और पिछड़े वर्गों ने राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता हासिल कर ली है, उन्हीं को अब सांस्कृतिक समानता प्राप्त करने की आवश्यकता है। पंजाब-हरियाणा से लेकर उत्तर-प्रदेश, बिहार और गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु व केरल तक भी प्रादेशिक स्तर पर आज दलित और पिछड़े किसान शक्ति-संरचना में सहभागी हैं, अतः सुचारू रूप से राजसत्ताओं का संचालन भी कर रहे हैं। इन पिछड़े किसान और दलित-वंचित वर्गों में से ही प्रताप सिंह और चौ0 बंसीलाल तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान के कुंभाराम आर्य जैसे कुशल वक्ता, विद्वान नेता और प्रशासक भी निकलकर आये, तो चौ0 चरणसिंह और देवीलाल जैसे कृषक नायक राष्ट्रीय स्तर पर भी चमके। लेकिन, आजकल किसान बजाय वर्ग के जो जातियों के रूप में बँट रहा है, उसी ने उसके राजनीतिक नेतृत्व को बौना बना दिया है। दूसरे, प्रतिपक्ष के रूप में उनकी भूमिका के समाप्त होते ही उसका शून्य स्थान धर्म की राजनीति करने वाले उन्हीं सामंती-मनुवादी और पूँजीवादी लोगों ने हथिया लिया है।

यह कहना नहीं होगा कि भले ही दलित और पिछड़े राजनीतिक और सामाजिक रूप से अब कुछ जागरुक और सशक्त हो गये हैं, तदपि सांस्कृतिक रूप से वे अब भी पिछड़े ही हैं, क्योंकि धार्मिक और सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संस्थानों से उन्हें जान-बूझकर पुरोहित वर्ग ने सदैव दूर ही रखा है। कारण, कि वह उनका आरक्षित और अभिरक्षित अभयारण्य था, जिसके माध्यम से वे सामंतों के शोषण को भी ईश्वरीय न्याय बताकर अपनी आजीविका का अनवरत उद्योग कर सकते थे। यही क्यों, अपनी जन्मजात श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए वे धर्म-ग्रंथों के आधार पर हिन्दू समाज को चर्तुवर्ण में विभाजित कर सकते थे। बिना कोई उत्पादन या अर्जन किये भी पुरोहित वर्ग सुख-सुविधापूर्ण जीवन अपनी सांस्कृतिक सर्वोच्चता के चलते जीता रहा है। उसके इस दैवी विधान में आज भी कोई व्यवधान नहीं है।

जहाँ तक सांस्कृतिक संघर्ष का सवाल है, हमारे समक्ष दो ही प्रकार के मंतव्य हैं। एक तो यह है कि कमेरे वर्ग धर्म-कर्म के फेर में ही न पड़ें और पूरे पुरोहितवादी प्रपंच को ही अस्वीकार कर दें। यह मार्ग भारतीय वाम दलों का भी रहा है, जिसको भारत जैसे धर्मप्राण राष्ट्र में आंशिक सफलता ही मिल पायी है, क्योंकि पुरोहित वर्ग अपने वर्गहितों पर कुठाराघात होते देखकर सुसंगठित हो जाता है और इस प्रकार की परिवर्तनमूलक बात करने वाले वर्गों या दलों अथवा व्यक्तियों को वह नास्तिक और अधार्मिक घोषित कर देता है। इसका लाभ तत्काल सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी दलों और शक्तियों को मिलता है। भारतीय ब्राह्मण-पुरोहित तो इतना चंट-चालाक है कि वह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन-चक्र को भी अपने धर्म-चक्र से अवरुद्ध कर देता है। मंडल आयोग की अनुशंसाओं के क्रियान्वयन से जो एकजुटता पिछड़े किसानों, दलितों और अल्पसंख्यकों की बनी थी, मंडल के विरुद्ध कमंडल-कांड करके भारतीय भद्र वर्ग ने कमेरी जनता को धर्म और संप्रदायों में बाँट दिया। उसी का परिणाम यह हुआ कि जो सांप्रदायिक शक्तियाँ अभी तक राजनीति के हाशिए पर थीं, वही केंद्रीय धुरी बनकर प्रदेशों और केंद्रीय सरकारों में भी सत्तासीन हो गयीं। इसलिए, संस्कृति अथवा धर्म शोषक और वंचक वर्गों के हाथों में एक अमोघास्त्र की भाँति रहा है। जिसके आधार पर उन्होंने सदैव अपने उत्पादक प्रतिपक्षियों को भी असुर ही बताया है, तो स्वयं को अनुत्पादक रहते हुए भी देवदल में परिगणित कराया है। सामंतों के संपत्ति-संचय को पूर्वजन्मों का पुण्यफल बताया है, तो निर्धनों की दुरवस्था का कारण बजाय उनके शोषण व अज्ञान को बताने के, उनके विगत जन्मों में कृत पापबोध को ही उत्तरदायी ठहराया है। इस प्रकार से धर्मध्वजी पुरोहित-वर्ग ने समाज में कर्मफल, पुनर्जन्म और भाग्यवाद को बढ़ावा देकर असमानता और अन्याय का ही प्रकारांतर से सशक्त समर्थन किया है।

अतएव, यदि हम आज धर्म मात्र का ही विरोध करते हैं, तो प्रपंची पुरोहित-वर्ग हमें धर्म-विरोधी घोषित करके समाज की मुख्य धारा से अलगा देगा। वामदलों के पूर्वी और दक्षिणी सीमांतों तक संकुचन का यह भी प्रबल कारण रहा है। ऐसी स्थिति में दूसरा मंतव्य यही है कि दलित और पिछड़े वर्गों को अपना ही स्वतंत्र धार्मिक-तंत्र खड़ा करना चाहिए और एक स्वस्थ विकल्प देना चाहिए। हमें जँचता है कि यही सकारात्मक सन्मार्ग है। भारतवर्ष में पिछले ढ़ाई हज़ार वर्षों से ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के मध्य में सतत संघर्ष जारी है। ब्राह्मण संस्कृति यदि वर्णधर्म, पुनर्जन्म, भाग्यवाद पर आधारित है, तो भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा प्रवर्तित श्रमण संस्कृति श्रम, करुणा (जीवदया) और समता तथा कर्मवाद जैसे लौकिक मूल्यों पर आधारित है। उसमें स्वर्ग-नरक और यज्ञ-याग का भी खटराग नहीं है, जिससे कि पुरोहित वर्ग की वृत्ति जुड़ी हुई हो, अतएव समता की स्थापक श्रमण-संस्कृति ही स्वीकार्य होनी चाहिए।

भारत का इतिहास इस बात का गवाह है कि जब तक श्रमण-संस्कृति का व्यापक प्रभाव भारतीय जन-जीवन और शासन-प्रशासन पर रहा, तभी तक भारत ने समुन्नति के शीर्ष शिखरों को छुआ। मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की चहुँमुखी प्रगति का उत्कृष्ट उदाहरण हमारे समक्ष है। जब से हमने पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणवादी किंवा मनुवादी संस्कृति का सहारा लिया है, तभी से भारत गुलाम और ग़रीब बना है। इसी हिन्दू अथवा राजपूत काल में जन्मजात जातिगत व्यवस्था सुदृढ़ हुई, तो बाल-विवाह और सती-प्रथा का भी प्रचलन हुआ। पुनर्विवाह अथवा विधवा-विवाह इसी क्रूर काल में प्रतिबंधित हुए। विधवाओं के विवाह रचाने वाले जाति-वर्गों को ही ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारों ने शूद्र व वर्षल और कुजात तथा दासीपुत्र कहा है। हमारी आज की मध्य किसान जातियाँ वही हैं। शूद्रों में भी सद्शूद्र और असतशूद्र (अछूत) का भेद था। अतएव हमें विषमतामूलक विभाजनकारी ब्राह्मणकारी संस्कृति को त्यागकर समतामूलक श्रमण संस्कृति को ही अपनाना होगा।

वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
गो0ग0द0स0 धर्म कॉलेज, पलवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परवाज़-घायल पंखों की ऊँची उड़ान

नवीन जोशी

शायद आपने फ़्लेविया एग्निस का नाम सुना हो या उन्हें जानते भी हों। वे मुंबई में रहती हैं और महिलाओं के हक़ के लिए देशभर में लड़ने वाली वकील और सक्रिय कार्यकर्त्री हैं। 'घरेलू हिंसा' पर उन्होंने काफ़ी काम किया है—एक तरह से दिशा देने वाला शोध। 'मजलिस' संस्था की मार्फ़त फ़्लेविया महिलाओं और बच्चों को क़ानूनी मदद दिलाती हैं। क़ानून की कई किताबें उन्होंने लिखी हैं और आत्मकथा भी। यह आत्मकथा 'माई स्टोरी ऑवर स्टोरी, रिबिल्डिंग ब्रोकन लाइव्स' काफ़ी चर्चित रही। पत्रकार साथी नासिरुद्दीन हैदर खाँ ने हाल ही में इसका हिन्दी अनुवाद पेश किया है, 'परवाज़' नाम से। 'परवाज़' पढ़ी तो अहसास हुआ कि फ़्लेविया की आज की क़ामयाबी, शोहरत और महिलाओं के हक़ के लिए लड़ने के अपने जुनून के पीछे घरेलू हिंसा की कितनी लंबी यातना और उससे उबरने की कैसी जद्दोज़हद छुपी है।

शुरुआती पन्नों में ही वे लिखती हैं—"पहली बार जब उन्होंने कहा, 'मैं तुम्हारी पिटाई करूँगा' तो मैंने सोचा, वे मज़ाक़ कर रहे हैं। ये अल्फ़ाज़ मेरी ज़िंदगी में किसी ने अब तक नहीं कहे थे। पहली बार उन्होंने अपने हाथ से मेरी पिटाई की तो मुझे गहरा सदमा लगा। दूसरी बार उन्होंने लकड़ी के हैंगर से मेरी पिटाई की। मैंने सोचा यह सच नहीं है, मेरे साथ ऐसा नहीं हो सकता, तीसरी बार बेल्ट का इस्तेमाल हुआ। बक्कल से नाक पर चोट लगी और नाक की हड्डी टूट गयी। मैं सन्न रह गयी, दर्द से ज़्यादा मायूसी से। इसके बारे में तो किसी ने मुझे चेताया भी नहीं था—शादी का मतलब यह भी होता है।"

यह 1967 का वाक़या है जब फ़्लेविया की शादी हुई। पति थे लंबे, खूबसूरत। बड़ी कंपनी में सहायक सचिव। तनख़्वाह चार अंकों में। लेकिन, थे वे पक्के दंभी पुरुष। देखिए—"मैं अपनी अम्मी की चिट्ठी पढ़ रही थी। इसी बीच वे आ गये। उन्होंने मुझे देखा और हुक़्म दिया—'साफ़ी गंदी पड़ी है, जाओ जाकर धोओ।' मैंने कहा—'बाद में धो दूँगी', और फिर चिट्ठी पढ़ने लगी। 'यह मेरा घर है, यहाँ मेरा हुक़्म चलेगा। बात कैसे मानी जाती है, मैं तुम्हें सिखाता हूँ।' अम्मी की चिट्ठी फाड़ दी गयी। मेरे सिर को दीवार से टकरा दिया गया। मुझे घसीटकर फ़र्श पर पटक दिया और गंदी साफ़ी के साथ मुझे गुसलख़ाने में बंद कर दिया गया। तीन घंटे बाद जब दरवाज़ा खुला, तो मेरे मुँह से निकला—'आप मेरे जिस्म को तोड़ सकते हैं, लेकिन मेरी रूह को ख़त्म नहीं कर सकते।" फ़्लेविया का प्रतिरोध पति पर कोई असर नहीं छोड़ता, बल्कि और भी पिटाई हो जाती और कभी तो इतनी ज़्यादा कि उसे सिर्फ़ फटे कपड़ों में ही घर छोड़ना पड़ता। पिटाई का कारण? फ़्लेविया अक्सर समझ ही नहीं पाती कि 'मेरी पिटाई आख़िर हुई क्यों?' कई बार माँ के यहाँ भागी, कई बार दोस्तों-रिश्तेदारों के यहाँ पर हर बार 'परिवार और घर बचाने' के नाम पर और 'बच्चों के वास्ते' फ़्लेविया को 'घर' लौटना पड़ता। 'घर बचाने', बच्चों के वास्ते, और 'समाज का हवाला' देकर स्त्री को क्या-क्या सहना पड़ता है—इसे स्त्री से अच्छी तरह कौन समझ सकता है? घर में पीटी जाती स्त्री की चीख़ को 'आपसी मामला' कहकर टाल दिया जाता है। फ़्लेविया लिखती हैं—"कई बार तो ज़बरदस्त पिटाई के बाद ख़ूबसूरत सिल्क की साड़ी पहन, मैच करती हुई ज्वेलरी और क़रीने से सँवारे गये चेहरे के साथ मैं पार्टियों में जाती या घर आए मेहमानों का दिल बहलाती। हालाँकि, मेरी रूह भारी तक़लीफ़ से कराहती रहती।" ताज्जुब नहीं कि घरेलू हिंसा कोई मुद्दा नहीं बन सका। इन वर्षों में फ़्लेविया के तीन बच्चे हुए, क्योंकि वह अंततः पत्नी थी—ख़रीदा हुआ एक जिस्म। "हर बार मेरी ज़बरदस्त पिटाई के बाद वे मुझसे समझौता करते और उसका एक ही मतलब होता.... कभी-कभी तो वे रोने ही लगते और मैं पूरी तरह उनकी बाहों में पिघल जाती।"

लेकिन, तन और धन से टूटी फ़्लेविया ने मन मज़बूत रखा, हालाँकि घायल वह भी कम नहीं था। बच्चों की परवरिश करनी थी, उन्हें पढ़ाना था और अपने हालात से भी उबरना था। पुलिस, अदालत और पादरी के सामने गिड़गिड़ाने से मदद मिलना तो दूर, इस तंत्र की स्त्री-विरोधी प्रवृत्तियों से उसका सामना होने लगा।

चर्च में हुई एक मीटिंग की मार्फ़त फ़्लेविया कुछ औरतों के संपर्क में आयी, जो बलात्कार-पीड़ित एक लड़की की मदद करना चाहती थीं। यहाँ से फ़्लेविया के लिए खिड़की खुलती है, जो उसे इस दुनिया में स्त्रियों पर हो रहे तरह-तरह के अत्याचारों के तक़लीफ़देह सिलसिले से परिचित कराती और इनसे निपटने के लिए तैयार होने का संकल्प और ऊर्जा देती है। घर में होने वाले शारीरिक-मानसिक अत्याचारों और तीन बच्चों को बेहतर नागरिक बना सकने की जद्दोज़हद के बीच टूटी-घिरी फ़्लेविया के लिए यहाँ से वह सफ़र शुरू होता है, जो उन्हें आज के इस मुक़ाम पर लाता है, जहाँ न केवल वे एक व्यक्ति के रूप में अपना स्वतंत्र और सम्मानजनक जीवन बिता रही हैं, बल्कि अनेक प्रताड़ित औरतों के लिए संरक्षण, संघर्ष और सहायता की धुरी बनी हुई हैं। लेकिन, यह सफ़र इतना आसान नहीं था, बहुत कठिन और तोड़ देने वाला था। अनेक मौक़े आये, जब फ़्लेविया को लगा कि वे हार जाएँगी, लेकिन जितनी ही विपरीत स्थितियाँ बनीं, लड़ते रहने और आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ने का फ़्लेविया का संकल्प मज़बूत होता गया। इन्हीं विकट दिनों में फ़्लेविया ने, जो ग्रेजुएट तक नहीं थीं, पढ़ाई भी जारी रखी। उस पुरुष ने, जो उनका पति था, उन्हें पढ़ने न देने और इम्तिहान से अलग रखने के लिए हर साज़िश की, बच्चों तक पर जुल्म किये; लेकिन फ़्लेविया कलेजा मज़बूत किये रहीं। बच्चों ने भी इस लड़ाई में उनका पूरा साथ दिया। वे इम्तहानों में कामयाब हुईं और जीवन में भी। फ़्लेविया ने जब 1981 में बंबई की कान्फ्रेंस में घरेलू हिंसा पर किये गये अपने अध्ययन पर पर्चा पढ़ा, तो मर्द विद्वानों की प्रतिक्रिया धक्का पहुँचाने वाली थी। कुछ ने इस अध्ययन को 'कार्यकर्ताओं की राय' कहकर ख़ारिज किया और कुछ ने कहा कि हमारे समाज में 'बीवी की पिटाई' जैसी कोई समस्या है ही नहीं, यह सब 'पश्चिमी फ़ितूर' है। ऐसे काम से तो भारतीय परिवार टूटने लगेंगे। उधर, असलियत यह थी कि फ़्लेविया जहाँ जाती—मुंबई के भद्र घरों से लेकर झोंपड़पट्टियों तक और देश-विदेश के सम्मेलनों तक—उन्हें हर जगह पतियों द्वारा बेतरह सतायी जा रही पत्नियों की डरा देने वाली कहानियाँ सुनने को मिलतीं। 1982 में जब वे माँट्रियल (कनाडा) के सम्मेलन में पर्चा पढ़ने बुलायी गयीं, तो—"मुझे यह देखकर काफ़ी ताज्जुब हुआ कि सम्मेलन में मारपीट की शिकार मैं अकेली औरत नहीं थी। मेरी मुलाक़ात एक ऐसी औरत से हुई, जिसके शौहर ने उस पर्चे की पहली कॉपी फाड़ डाली थी, जो पर्चा वह इस सम्मेलन में पढ़ने वाली थी (ठीक ऐसा ही फ़्लेविया के साथ पहले हो चुका था, जब पर्चा ही नहीं फाड़ा गया, बल्कि उधार का टाइपराइटर भी सिर पर फेंका गया था)। एक दूसरी औरत ने एक अफ़्रीकी उपन्यासकार का ज़िक्र करते हुए बताया कि किस तरह उसकी पहली पांडुलिपि उसके शौहर ने जला डाली।... हमें इस बात पर हैरत थी कि तहज़ीब, नस्ल, वर्ग और मज़हब अलग-अलग होने के बावजूद हमारे उत्पीड़न में काफ़ी समानता थी।" ये दरअसल धर्म, नस्ल या वर्ग का मसला है भी नहीं। मसला है स्त्री को तरह-तरह से दबाये रखने का, उसे दास बनाये रखने का, पुरुष के वर्चस्व का। और घर में पिटाई इसके लिए पुरुष का बड़ा हथियार रहा है। फ़्लेविया की यह आत्मकथा इस तथ्य को बड़े असरदार ढंग से सामने रखती है।

एक और आब्ज़र्वेशन देखिए—अत्याचारी पति से निजात पाने के लिए फ़्लेविया का मुक़दमा चल रहा था, जो बार-बार फ़्लेविया के ख़िलाफ़ मुड़ जाता। वजह?..."सच तो यह है कि नागरिक स्वतंत्रता के बारे में वकीलों के सोच में दो मासूम बच्चियों के सम्मान के साथ रहने, उनकी दिमाग़ी शांति, भावनात्मक सुरक्षा और शारीरिक हिफ़ाज़त की कोई जगह नहीं थी। वकील ने तर्क दिया—'अपील दायर करने वाली महिला मुक्ति-आंदोलन से जुड़ी हैं। इस बात में जो अनकहा कटाक्ष था, वह यह कि यह तो महिला की मुक्ति की बात करने वाली है, इसलिए यह अच्छी माँ बनने लायक़ नहीं है। शौहर... वकीलों की जमात... काउंसिलर... जज... नागरिक अधिकारों की वकालत करने वाले....उफ़! मर्दों का भाईचारा देखने लायक था। कितना मज़बूत है यह भाईचारा, कम से कम औरतों के ख़िलाफ़ तो है ही।"

बहरहाल, लंबे संघर्ष के बाद फ़्लेविया ने एक मुक्त इन्सान की जगह बनायी, बच्चों ने अपना आज़ाद संसार पाया और फ़्लेविया लिखती हैं—"अमरीका में आज़ादी के बाद दासों की जो हालत हुई थी, उसी तरह मुझे भी अपने को मुक्त होना सीखना पड़ा। पीट-पीट कर तोड़ दी गयी एक औरत से अलग शख़्सियत के रूप में पहचान, इस समाज में एक व्यक्ति की हैसियत—मुक्ति का यह भी तो मतलब था।" और ज़माने के लिए एक बड़ा मतलब था—'घरेलू हिंसा' को एक ज्वलंत मुद्दे के रूप में स्वीकार किया जाना और आज तो बाक़ायदा घरेलू हिंसा क़ानून (2007) बन चुका है, जो स्त्रियों के लिए एक बेहतर हथियार साबित हो सकता है।

फ़्लेविया की इस आत्मकथा का एक और सकारात्मक पक्ष यह है कि अपने पर हुए अत्याचारों को उन्होंने तरस खाये जाने के लिए या रुलाने के लिए नहीं लिखा है। पूरे विवरण इतने ऑब्जेक्टिव ढंग से लिखे गये हैं कि आप घरेलू हिंसा और उसकी प्रकृति को समझ सकते हैं और यही असली मक़सद भी है:

"आसान नहीं है अपनी रूह को उधेड़ना और अपने जज़्बात व तजुर्बों को नंगा कर देना, ताकि हर कोई उन्हें देख सके। यह काम किसी ज़ाती फ़ायदे की उम्मीद से या फिर दया का पात्र बनने के लिए नहीं किया गया। मक़सद सिर्फ़ इतना है कि मारपीट की शिकार औरतों के हालात की सच्चाई दुनिया के सामने आ सके।"

तभी वह संघर्ष, जो फ़्लेविया ने किया, कामयाब होता है और प्रेरक बनता है कि हाँ, इससे उबरा जा सकता है। बस, कोशिश करनी होगी। और अंत में, यह कि नासिरुद्दीन ने इस आत्मकथा का इतना बेहतरीन अनुवाद किया है कि जैसे आप सीधे फ़्लेविया से मुख़ातिब हों। सिर्फ़ अनुवाद नहीं है, यह एक स्त्री के संपूर्ण अस्तित्त्व के संघर्ष को शिद्दत से समझने-समझाने की मुहिम का हिस्सा है। ऐसा इसलिए हो सका कि नासिररुद्दीन ख़ुद भी स्त्रियों के मुद्दों पर व्यापक शोध-अध्ययन से जुड़े हैं और बड़ी संवेदनशीलता से उस जटिल दुनिया की गिरहें समझने में लगे हैं। किताब की भूमिका में वे लिखते हैं—"जब पहली बार मैंने उनकी ज़िंदगी के संघर्ष की कहानी अंग्रेज़ी में पढ़ी तो लगा कि इसे तो ज़्यादा से ज़्यादा हिन्दुस्तानी ज़बानों में आना चाहिए। वहीं तो ऐसी चीज़ों की सख़्त ज़रूरत है।"

हाँ, यह किताब हर भाषा में हर घर में पहुँचनी चाहिए। स्त्रियों के लिए तो यह पुस्तक ज़रूरी है ही, मर्दों के लिए भी कम ज़रूरी नहीं।

3/48, पत्रकारपुरम, गोमती नगर, लखनऊ-226010

परवाज़, फ़्लेविया एग्निस, अनुवाद और संपादन : नासिरुद्दीन हैदर ख़ाँ, दानिश बुक्स, ग़ाज़ीपुर, दिल्ली-96, मूल्य : रु. 95 मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बनास के बहाने स्वयं प्रकाश की पड़ताल'

रमेश खत्री

स्वयं प्रकाश स्वयं प्रकाश है 'न भूतो न भविष्यति'। न उनके जैसा व्यक्तित्त्व देखा और न ही उनके जैसा साहित्य कभी हो सकता है, इसके लिए स्वयं प्रकाश होना आवश्यक है और स्वयं प्रकाश होने के लिए लंबे समय तक पापड़ बेलने पड़ते हैं, जगह-जगह की खाक छाननी पड़ती है और धक्के खाने पड़ते हैं तब उनके जैसी समझ पैदा की जा सकती है, अनुभव के वितान को ताना जा सकता है। संभावना संस्थान चित्तौड़गढ़ ने अपनी साहित्यिक पत्रिका 'बनास' का प्रवेशांक ''साठ पार स्वयं प्रकाश'' शीर्षक से प्रकाशित कर संपूर्ण अंक स्वयं प्रकाश पर केन्द्रित किया है लगभग तीन सौ से भी अधिक पृष्ठों की यह पत्रिका पुस्तकाकार रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हुई और इसने साहित्य के दरवाज़े पर दस्तक दे दी।

'बनास' कुल जमा छह खंडों में विभक्त है, पहले खंड में स्वयं प्रकाश के आत्मकथ्यों को समाहित किया है, जिनमें वे अपने अंर्तमन की परतों को खोलते जाते हैं और किस तरह से कोई रचना जन्म लेती है उसका बड़ी ही बारीक़ी और बेबाकी से विवेचन करते हैं। अपने वक्तव्य में वे कहते हैं ''लिखना हर दिन मुश्किल होता जा रहा है। पहुँचना और भी मुश्किल। पूँजीवादी पत्रिकाओं का हम कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते... अभी हमने बहुत कम ऐसी रचनाएँ लिखी हैं जिन्हें पूँजीवादी पत्रिकाएँ डर के मारे छापने से मना कर दें' इससे भी आगे वे क्षुब्ध होते हुए लिखते हैं ''कभी-कभी लगता है, हम लिखकर कोई बड़ा तीर नहीं मार रहे हैं। लोग लड़ रहे हैं लहूलुहान हो रहे हैं... उनके चिथड़े उड़ रहे हैं और हम क्या कर रहे हैं ? उनके विरुद्ध गा रहे हैं। दूसरों को उनकी कहानियाँ सुना रहे हैं।''

इसी खंड में 'कहानी कैसे बनती है' में स्वयं प्रकाश अपने जीवन की एक जीवंत कारुणिक कथा का विवेचन करते हुए बताते हैं कि किस तरह से उनकी भांजी जो कि जयपुर के एस0एम0एस0 अस्पताल में भर्ती थी और डाक्टर ने उसे बकरी का दूध पिलाने की सलाह दी तो पड़ोस के पलंग पर भर्ती वृद्धा उस बच्ची के लिए अपने बेटे से दूध मँगवाने की व्यवस्था बग़ैर किसी जान-पहचान के ही किस सहजता से कर देती है और वृद्धा के डिस्चार्ज होने के उपरांत भी बच्ची के लिए बकरी का दूध लगातार आता रहता है जब उन्हें बाद में पता चलता है कि उस वृद्धा की डिस्चार्ज होने के दूसरे दिन ही मृत्यु हो गई थी किन्तु बच्ची के लिए अस्पताल में दूध तो लगातार आता रहा। यह काफ़ी कारुणिक और हृदय विदारक वाक़या बन जाता है। इसी तरह से इस खंड में ''मैंने किससे क्या सीखा'' में स्वयं प्रकाश उन सभी लोगों का आभार व्यक्त करते हैं जिनसे उन्होंने जीवन का सार तत्त्व सीखा। इसी तरह से ''मैं और मेरे पात्र'' में वे फराज़ के एक शेर का सहारा लेते हुए कहते हैं ''ढूँढ उजड़े हुए लोगों में वफ़ा के मोती। ये ख़ज़ाने मुमकिन है मुझे ख़राबों में मिले।''

पत्रिका के दूसरे खंड में उनसे लिए गये साक्षात्कार समाहित हैं। कुल जमा तीन साक्षात्कारों में स्वयं प्रकाश के मन पर आरूढ़ पर्दे हटते चले जाते हैं और साक्षात्कारकर्ता मिहिर, साधना अग्रवाल और लक्ष्मण व्यास एक-एक कर उनकी प्राथमिकताओं को उकेरने में कामयाब हो जाते हैं। इन साक्षात्कारों में स्वयं प्रकाश खुलकर अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में बताते हैं। मिहिर से बातचीत में वे बताते हैं ''इतिहास मुझे बिलकुल आकर्षित नहीं करता.... मुझे लगता है कि अतीत में जो भी रक्षणीय था उसे मनुष्यता ने किसी न किसी रूप में जीवित रखा है। शेष सब व्यतीत है। अगर हम मुर्दों को दफ़नाने या जलाने की बजाय घरों में सजाकर रखने लगें तो साँस लेना असंभव हो जायेगा।'' (पृष्ठ 29) इस खंड में उनके व्यक्तित्व के कई-कई पहलू खुलकर हमारे सामने आए हैं इन साक्षात्कारों के माध्यम से।

तीसरा खंड चिट्ठी-पत्री के रूप में है। स्वयं प्रकाश द्वारा लिखे गये पत्रों को यहाँ संग्रहीत किया गया है। प्रमुखता से काशीनाथ सिंह, नंद भारद्वाज, राजेश जोशी, सदाशिव श्रोत्रिय, कमर मेवाड़ी, कैलाश बनवासी और चरणसिंह पथिक को स्वयं प्रकाश द्वारा लिखे गये पत्रों को इस खंड में संग्रहीत किया गया है। अपने कृतित्व की अलोचना के लिए चिकोटी काटते हुए राजेश जोशी को पत्र में लिखते हैं ''तुम तो दोस्ती निभाओ। खिंचाई करो। ऐसा पत्र लिखो कि मेरी हालत खराब हो जाये। हुलिया बिगड़ जाए। खटिया खड़ी हो जाए। मैं तारीफ़ों से बहुत ऊब चुका हूँ और चुप्पियों से घबरा चुका हूँ। मेरे अच्छे दोस्त बहुत दूर हैं जिन्होंने मार-मार कर मुझे आदमी बनाया। मैं तुममें भी वही दोस्त तलाश कर रहा हूँ।'' क्या तो अच्छा होता कि यहीं पर अन्य साहित्यिक मित्रों द्वारा स्वयं प्रकाश को लिखे पत्र भी कुछ समाहित किये जाते तो एक और पहलू उभर कर सामने आता।

चौथा खंड स्वयं प्रकाश के बारे में संस्मरणात्मक आलेखों का है जिसे 'हमसफ़रनामा' शीर्षक दिया गया है। इस खंड में कुल जमा नौ संस्मरण संग्रहीत हैं जिनमें शिवराम, रमाकांत श्रीवास्तव, रेणु व्यास, सत्यनारायण, दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, संजीव, हबीब कैफ़ी, रामबक्ष और मुकुल जोशी के महत्त्वपूर्ण संस्मरण समाहित हैं। इनमें सत्यनारायण, दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, शिवराम और संजीव के आलेख मुझे काफ़ी हद तक अच्छे लगे और कहना न होगा कि कुल जमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौ संस्करणों में से यह स्वर निकलकर हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि स्वयं प्रकाश कितने संजीदा और उम्दा इंसान हैं। रमाकांत श्रीवास्तव "गाता जाए बंजारा में" लिखते हैं "साला, मैं तो साहब बन गया के पहले कई तरह के पापड़ भी बेले स्वयं प्रकाश ने। किताबों की दुकान पर और आटोमोबाइल शाप की चाकरी की... . फिल्म लाइन में भी रह चुके हैं.... यह तो समझ में आया कि यह निरंतर चलते रहना ज़िंदगी से पलायन नहीं है शायद नये अनुभव क्षेत्र में प्रवेश करके निरंतर कुछ नया पाने की जिज्ञासा हो" (93-94) इसी तरह से सत्यनारायण अपने संस्मरण "उस तरह तो नहीं ही मिल पाया" में लिखते हैं "उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए बराबर मैं सरलता और सहजता का क़ायल होता रहा हूँ.... हिंदी में इस तरह की कहानियाँ लिखने वाले स्वयं प्रकाश जी अकेले कहानीकार हैं "संजीव स्वयं प्रकाश को याद करते हुए कहते हैं "जो लोग यह फतवा देते हैं कि औरतों की कहानियाँ औरतों द्वारा ही लिखी जा सकती हैं उन्हें 'अगले जनम' को ज़रूर पढ़ना चाहिये जो प्रसव के एक विरल और विशिष्ट अनुभव को अपने पूरे शोध और संवेदना के साथ सामने लाती है, एक जीव कैसे बनता है और औरत को क्या-क्या बर्दाश्त करना पड़ता है उन तमाम बारीक डिटेल्स को पिरोते हुए खुलती और लिखती जाती है कहानी। स्वयं प्रकाश यंत्रणा के उस यथार्थ से पाठक को गुज़ारने के बाद सामाजिक यथार्थ पर आते हैं, लो संभालो तुम्हारी बेटी।" (मेरी कथा पीढ़ी के अश्वत्थ स्वयं प्रकाश 97) हबीब कैफ़ी इससे भी आगे जाते हुए कहते हैं "कहानी मेरी रूदादे जहाँ मालूम देती है, जो सुनाता है, उसी की दास्ताँ मालूम देती है।" इस तरह से अधिकांश संस्मरण दूर तक और देर तक साथ रहते हैं।

पत्रिका के बाकी बचे दो खंडों में हिंदी के नामचीन आलोचक समीक्षकों के आलेख स्वयं प्रकाश की रचना प्रक्रिया की छीछालेदर करते आपस में भिड़ते नज़र आते हैं जिनमें नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, अर्चना वर्मा, सुरेश पंडित, परमानंद श्रीवास्तव, खगेन्द्र ठाकुर, शंभू गुप्त, राजेश जोशी, गोपाल प्रधान, मधुरेश, नवल किशोर, सुधीश पचौरी, अरुण प्रकाश, भारत भारद्वाज, तरसेम गुजराल, प्रेमपाल शर्मा, मधुकर सिंह आदि हैं। "चोर के साथ-साथ चोर की माँ की भी ख़बर" में शंभू गुप्त लिखते हैं "स्वयं प्रकाश नामक व्यक्ति और लेखक का जो अक्स और असर मेरे ज़ेहन पर अरसे से रहा है और अब एकदम घनीभूत हुआ है, उसे देखते हुए ये अल्फ़ाज बहुत थोड़े और छोटे हैं। (माधव हाडा द्वारा साक्षात्कार, दो आबा, पृ0 166)

"बनास" को पढ़ने के दौरान ही इसके बरअक्स मुझे 'संबोधन' का जनवरी-मार्च 07 अंक स्मृति में कौंध गया जो स्वयं प्रकाश पर ही केन्द्रित था। मुख पृष्ठ पर ही स्वयं प्रकाश की सुंदर-सी तस्वीर के साथ रमेश उपाध्याय का संस्मरण "स्वयं प्रकाश के सठियाने पर", कमला प्रसाद का आलेख "हम मश्रव ओ हमराज है मेराः स्वयं प्रकाश" याद आ गये और इसके साथ ही स्वयं प्रकाश की कहानी "पार्टीशन" और "नेताजी का चश्मा" चलचित्र की तरह मेरी स्मृति को फ्लेश बैक में ले गई और मन संपूर्णता से लबरेज़ हो गया।

बहरहाल, अपने समय के सुपरिचित रचनाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व को अनेक कोणों से देखने समझने की दृष्टि पैदा करने का कार्य करती पत्रिका "बनास" फिलवक्त तो अनियतकालीन है किंतु बकौल संपादक इसका इसी वर्ष एक अंक और आने की संभावना है। उन्हीं से शब्द उधार लूँ तो "यह समय अगर मीडिया के विस्फोट का है तो लघु पत्रिकाओं का भी है। झूठ की चकाचौंध के बीच सच के स्याह धब्बे छिपाये नहीं जा सकते... बनास राजस्थान की एक नदी का नाम है। बड़ी नदी, पानी के बाद और साथ तरबूज देती, रेत देती, लोगों के जीवन के करीब बहने वाली नदी।" फिलवक़्त तो इसने अपने समय के सशक्त कहानीकार स्वयं प्रकाश की चहुमुँखी आभा को अपने में समेटने का कार्य किया है देखते हैं इसका अगला अंक अपने में क्या-क्या समाहित करके उपस्थित होता है। कुल मिलाकर 'बनास' का यह अंक न केवल पठनीय है अपितु संग्रहणीय भी है जो अपनी यात्रा में स्वयं प्रकाश की ओर अग्रसित होता है और मन में उत्साह जगाता है कि वर्तमान व्यावसायिक समय में भी साहित्य की विपुल संभावना बढ़ ही रही है।

'सृजन', 53/17, प्रतापनगर, जयपुर-303906

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलुप्त होती लोकसंस्कृति के पुरोधा : गिर्राज प्रसाद

मूलचन्द गौतम

बहुत बचपन में अपने घेर में दशहरे के मौके पर गिर्राज प्रसाद की मंडली के तीन स्वाँग देखे थे। क्या आवाज़ थी-छह कोस तक बिना माइक के गूँजने वाली आवाज़। नक्कारे के साथ मिलकर यह और भी बुलंद लगती थी। बारह कोस तक के रसिक को खींचती। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में जनता को रुलाती, 'अमर सिंह राठौर' में वीरता को प्रेरित करती। 'तीसरी कसम' के हीरामन की तरह नौटंकी-बाई के लिए तड़पती रूह। इसलिए जब जब डा0 रामविलास शर्मा के पारिवारिक पत्र 'सचेतक' में मैंने इन्हीं गिर्राज प्रसाद पर लिखी शरद नागर की पुस्तक का ज़िक्र देखा तो पढ़ने को मन मचल उठा, इस नायक को समग्र रूप में जानने को। क्योंकि इसके बिना पहचान अधूरी रहती। पुस्तक शरद जी ने भेजी। ऐसी ही ललक मुरादाबाद के मास्टर फिदा हुसैन 'नरसी' से मिलकर हुई थी। नब्बे वर्ष की उम्र में भी 1993 में उन्होंने सुनाया था-निर्बल के प्राण पुकार रहे जगदीश हरे-जगदीश हरे। तब प्रतिभा अग्रवाल द्वारा उन पर लिखित पुस्तक पढ़े बिना चैन नहीं मिला। ऐसे ही अमर सिंह राठौर की रानी का एक गीत स्मृति में आज भी कौंध उठता है-मरि जैयो मेरौ बैरी बाप, बिटरिया ब्याहि दई तैंने जा नर ते', 'अगले जनम मोहि बिटिया न कीजो की तरह। एक पत्नी की करुणा और पति की राजपूती आन के बीच पिसती स्त्री को दर्शकों के बीच साक्षात उपस्थित करना कोई कम कौशल नहीं। इन्हें कौन भारतरत्न देगा ? जनता के अलावा। डा0 शरद नागर ने गिर्राज प्रसाद जी के व्यक्ति और रचनाकार-कलाकार की यात्रा का जो संयोजन किया है, वह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है जो विलुप्त होती लोक-संस्कृति के आख़िरी पहचान चिह्नों को सुरक्षित रखने का बहुमूल्य प्रयत्न है। ऐसे प्रयत्न डाक्यूमेन्टरी फिल्मों द्वारा भी किये जाने चाहिए। तमाम लोक कलाकारों पर। कलाकारों को प्रकृति अपने किन्हीं खास अंदाज़ों से गढ़ती है। जैसे उनका जीवन, अभाव, स्वाभिमान, इनके अलावा और किसी तरह से संभव ही नहीं हो सकता था। कष्ट और संघर्ष जैसे उनकी प्रतिभा को सान पर चढ़ाने के माध्यम हैं। कड़ी परीक्षा। गिर्राज प्रसाद भी इसके अपवाद नहीं हैं। बड़े से बड़ा लालच और भय उन्हें रोक नहीं सकता, न कोई मोह। परिवार का मोह भी नहीं, जो जीव की बुनियादी कमज़ोरी है। जन्मजात प्रतिभा और प्रज्ञा इतनी मौलिक और उर्वरा होती है कि कोई बंधन नहीं मानती। भरतपुर के राजमहलों से लेकर ब्रज लोक-मंच तक की यात्रा में यह दिखता है। परचून की दुकान का तामझाम फिर कहाँ सधता ? नौटंकी ब्रज क्षेत्र की एक ख़ास शैली है, जिसके विकास में हाथरस के पं0 नथाराम गौड़ का विशेष योगदान रहा है। गिर्राज प्रसाद की प्रतिभा इसी शैली में पनप सकती थी। लावनी और चौबोल गायन की उनकी मौलिक बुलंदी अलग से पहचान में आती है। इसीलिए उन्हें कानपुर शैली की कृत्रिमता जँचती नहीं। ग़ज़ल, दादरा, मसनवी और डेढ़तुकी और तलफ़्फ़ुज की बारीकियाँ, रूप-सज्जा और वेशभूषा के मुकाबले 'बस मुद्दा शंख घिसकर चकरिया पर लगाओ, भैया और चलो। ज़्यादा से ज़्यादा कोयला से मूँछ बनाय लो या क़लम बना लो और चलो भैया' (पृ0 57) की सहजता ही उनका गंतव्य था। नौटंकी कार्यशालाओं में मँहगा तामझाम और बारीकियाँ रंगकर्म की बाधाएँ हैं, जिन्हें लोककलाएँ शास्त्रीय विधान की तरह निर्वाह नहीं कर सकतीं। इनके लिए बाध्यता जैसे उनकी हत्या है। बाद में नौटंकी शैली में फूहड़ता और गंदगी भी आ गयी। कथ्य से अलग, नाच-गाने की फ़रमाइशें यहाँ तक कि 'रामलीला' में भी वेश्याओं के नृत्य (संदर्भ प्रेमचंद) और मनचलों के एक-दो रुपये के इनाम पर भी मय नाम के छाप-मेरे राजा ने दयो रुपैया-ने माहौल ख़राब किया। गिर्राज प्रसाद ने जीते—जी नौटंकी की मर्यादा को भंग नहीं होने दिया, यह बड़ी बात है। फिसलन के तमाम मौकों के बावजूद। जीविका के लिए व्यवसायिकता और लोकमंगल तथा तुच्छ अर्थ लोलुपता के बीच फर्क के बिना यह सधता नहीं। त्रिमोहन लाल का अंत इसका साक्ष्य है। नौटंकी के लिए समर्पित गिर्राज प्रसाद सोते/जागते उसी की धुन में रमे रहे। आत्मानुभव से उन्होंने स्वयं उसका जो शास्त्र रचा, वह मौलिक है-नितांत अपना-परंपरा में विशिष्ट। इसीलिए उनकी धारणाएँ और चिंताएँ किताबी न होकर वास्तविक हैं। विश्व बाज़ारवाद की आँधी में समूचा लोक-जीवन विनष्ट हो रहा हो, तो नौटंकी भला कहाँ बचने वाली है। सवाल लोकभाषाओं को और उनकी संस्कृति को बुलडोज़र से बचाने का हो तो सरकारी प्रयत्न नाकाफ़ी हैं। मीडिया और फिल्मों की दुर्गति के आगे यह विलंबित पिछड़ना ही है। यही चिंता गिर्राज प्रसाद की है। डा0 शरद नागर से बातचीत में इसे उन्होंने व्यक्त भी किया है। लेकिन केवल शुभेच्छाओं और सदाशयों से काम नहीं चलता। पुस्तक में डा0 शरद नागर ने परिशिष्ट में जो सामग्री संकलित की है एवं चित्र दिये हैं, उनसे तथ्यात्मक प्रामाणिकताबदी है। अगर वे इसका संयोजन न करते तो यह कथा केवल कहने-सुनने भर तक सीमित रह जाती। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय इस तरह की पुस्तकों के सस्ते संस्करण निकाले तो निश्चित ही इनका प्रचार-प्रचार ज़्यादा होगा।

शक्तिनगर, चन्दौसी, मुरादाबाद (उ0प्र0)-202412

गिर्राज प्रसाद, डा0 शरद नागर, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बहावलपुर हाउस, नई दिल्ली। मूल्यः 200 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन के स्वीकार की कविताएँ

विजय शर्मा

यह एक संयोग ही है कि मैंने अनिल गंगल की छिटपुट रचनाएँ यहाँ-वहाँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ी थीं, उनका कविता-संग्रह 'घट-अघट' अब देख रही हूँ। किताब हाथ में लेते ही स्वाभाविक था ब्लर्ब (किताब के पीछे मुद्रित सामग्री) और फ़्लैप पढ़ा। ज़्यादातर पाठक यही करते हैं। अच्छा लगा देखकर कि हम दोनों एक ही तिथि को पैदा हुए, साल भिन्न है, तो क्या हुआ? ख़ैर ! ब्लर्ब में जन्म तिथि, शिक्षा आदि इसी तरह की सामान्य जानकारियाँ थीं। हाँ, वहाँ से यह भी पता चला कि यह उनका चौथा काव्य-संग्रह है। पहला 'भविष्य के लिए' 1989 में, दूसरा 'स्वाद' 2000 में तथा तीसरा 2001 में 'एक टिटहरी की चीख' नाम से आ चुका है। चौथा काव्य-संग्रह 'घट-अघट' नाम से शिप्रा प्रकाशन से आया है।

फिर पढ़ा फ़्लैप, फ़्लैप पर लिखा है—"अनिल गंगल जीवन-व्यवहार की भाँति रचना में भी कोलाहल और बड़बोलेपन से दूर कवि हैं। स्थितियों के रसायन को व्यक्तित्त्व और रचना में साधते और पकाते रहने वाले। ऐसा ही कवि-व्यक्तित्त्व घृणा की ऐसी तीव्र अभिव्यक्ति कर सकता है। ऐसी तीव्रता, जिसमें घृणा से अधिक भुक्तभोगी की दुस्सह यातना व्यंजित हो रही है। कविताओं का कसाव ऐसा है कि शब्द अपनी अर्थ-समृद्धि पूरी कविता के अंतर्गठन में उद्घाटित करते हैं, अलग-थलग पढ़कर नहीं। अनिल गंगल की इन कविताओं को पढ़ते हुए ऐसा लगा, मानो अवचेतन इनकी प्रतीक्षा कर रहा था।"

इतने विश्वास और अपेक्षा के साथ अनिल गंगल की प्रशंसा करने वाले का नाम देखकर मेरी अपेक्षा भी कवि से बढ़ गयी, क्योंकि जिस व्यक्ति ने ये बातें कही हैं, वह स्वयं हिन्दी का जाना-माना स्थापित-सम्मानित कवि है। ये बातें कवि विश्वनाथ त्रिपाठी ने कही हैं। इसी फ़्लैप के संदर्भ में मैंने ऊपर संयोग की बात कही है। विश्वनाथ त्रिपाठी भी लिखते हैं कि उन्हें अनिल गंगल की कविताएँ अच्छी लगती रही हैं और वे उन्हें जहाँ-तहाँ पढ़ते रहे हैं।

देखते हैं, मुझे संकलन में क्या-क्या नज़र आया। संकलन में काव्य-विषय का विस्तार है। सजीव-निर्जीव, छोटे-बड़े, मतलब की लगने वाली तमाम चीज़ों और व्यक्तियों, तरह-तरह के पेशों से जुड़े लोगों पर कवि की दृष्टि पड़ती है। वे कवि का प्रतिपाद्य बनते हैं। चप्पलें, तार, अठन्नी, साइकिल, होटल के घोड़े, खैनी, झरबेरियाँ, दुनाली, सूअर, चूहा-सभी पर कविताएँ हैं। कवि के दृष्टि-क्षेत्र में पुरखे, बीच के लोग, अस्वीकृत बेटियों के पिता, चालाक आदमी, बूढ़ा नाई, संगीतज्ञ, वैश्वण जन-सब आते हैं। ध्वनियाँ, हँसी, संबंध, सुख, भाषा, तमाशा, धर्म, राजनीति जैसे अमूर्त विषयों को भी कवि ने अपनी भाषा से मूर्त रूप प्रदान किया है।

अधिकांश कविताएँ प्रतिरोध की कविताएँ हैं। कवि आज के कोलाहल से भरे संसार में ध्वनिविहीन होने की बात करता है। पाठक को 'ख़ामोशी' फ़िल्म की याद हो आना स्वाभाविक है। आज कौन संवेदनशील प्राणी शोर से संत्रस्त नहीं है ? प्राणियों की बात छोड़ दें, वनस्पति और पर्यावरण भी इसके नकारात्मक प्रभाव से नहीं बचे हैं। नाद के बिना हमारा संसार सूना हो जाएगा। कवि उन ध्वनियों का उल्लेख करता है, जो संगीत रचती हैं, जो हमारा संसार नादमय बनाती हैं। परंतु वह विचलित है आज के ध्वनि-प्रदूषण से। उसे भविष्य की चिंता है। एक अन्य कविता में वह विरासत की बात करता है। विरासत में जो आग, जो तेज हमें सौंपा गया था, आज हमने उसका क्या किया है? वह प्रश्न पूछता है यदि हमने पिछली पीढ़ी द्वारा सौंपे गये स्वप्नों को पूरा नहीं किया, तो हम क्या जवाब देंगे? चारों तरफ़ सूखे के बावजूद इन आँखों के जोहड़ों में अभी भी पानी बचा हुआ है—यही आशावादिता, यही भविष्य के प्रति आस्था इन कविताओं की शक्ति है। कवि हारा नहीं है। उसकी संवेदना अभी सूखी नहीं है। उसे बकरियों के गले में बँधी घंटियों की टुनुन-टुनुन सुनायी देती है, पत्थर की दो चट्टियों को अँगुलियों में फँसाये चटकाते सुरों की लहर पर सवार ट्रेन में चढ़े भीख माँगते संगीतज्ञ मोहते हैं। विभिन्न युगों में कविता में आने वाली स्त्री की छवि वह प्रस्तुत करता है और अगले जनम में स्त्री बनने की कामना भी।

इन कविताओं में कचोट है, कटाक्ष है और है करारा व्यंग्य। वह उपेक्षित चीज़ों और लोगों के साथ खड़ा है और उनके सुख-दुख, उनके प्रति करुणा अपनी कविता में पिरोता चलता है। उसकी आँख से प्रशासक, चालाक और तिकड़मी आदमी—कोई नहीं बचा है। वह उनके भीतर पैठकर उनके छद्म खोलता है। आदि कवि ने करुणा विगलित होकर क्रौंच को शाप दिया था। अनिल गंगल भी यातना की पराकाष्ठा में शाप देते हैं, जिसका हवाला विश्वनाथ त्रिपाठी ने भूमिका में भाव-बोध से अर्जित संवेदना में दिया है। अरविंद अडिगा का नायक 'व्हाइट टाइगर' चीन के प्रमुख को पत्र लिखता है और भारत की स्थिति का बयान करता है। अनिल गंगल गोर्बाचोव के नाम ख़त लिखते हैं तथा रूस के पतन और वहाँ की आज की स्थिति के लिए ज़िम्मेदार होने के कारण तमाम प्रश्न करते हैं। कवि अपने देश की दयनीय दशा के लिए देश के प्रधानमंत्री को भी संबोधित करता है, भले ही खेद के साथ। इन कविताओं में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीनों देखी जा सकती हैं। रंगभेद, फ़ासीवाद, लड़ी जा रही जंग, सूचना समाज, एक स्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का बड़बड़ाना आदि कार्यकलाप कवि का ध्यान खींचते हैं और वह अपनी कविता के माध्यम से हमें उनकी दुनिया में खींच ले चलता है। कवि मेरी अपेक्षाओं पर काफ़ी हद तक खरा उतरा। इन कविताओं में समष्टि से जुड़ने, परंपरा की कड़ी बनने, समाज को बेहतर बनाने की कामनाएँ हैं। जीवन की निरंतरता के स्वीकार की ये कविताएँ आशा जगाती हैं कि प्रतिरोध जारी है, और जब तक प्रतिरोध की क्षमता है, बहुत कुछ नष्ट होने से बचा रहेगा।

151, बाराद्वारी, जमशेदपुर

घट-अघट (कविता-संग्रह), अनिल गंगल, शिप्रा प्रकाशन, दिल्ली-110053, मूल्य : 150/- रुपये

■

स्त्री-पुरुष कामनाओं का अद्यतन अध्ययन : अंतरंगता का स्वप्न

प्रेम शशांक

जिस भारतीय समाज की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में वात्स्यायन रचित कृति 'कामसूत्र' वैश्विक स्तर पर एक मुक़ाम पा चुकी हो उस समाज की नई पौध की कई पीढ़ियाँ छिटपुट देशी-विदेशी ब्लू फ़िल्मों और हिन्दी, अंग्रेज़ी व अन्य भारतीय भाषाओं में फुटपाथ पर बिकती 'डेबोनियर', फैंटेसी व चेस्टिटी सरीखी अधकचरी जानकारी व फूहड़ मनोरंजन करती पत्रिकाओं तथा लाल-नीली-पीली पन्नी मढ़ी पतली पुस्तिकाओं से अपनी कामनाओं का तृप्त कर रही हो तो इस हक़ीक़त से शर्मिन्दा ही हुआ जा सकता है। यह शर्म उस शर्मिन्दगी से भिन्न है जो हमें अपनी कामनाओं को बृहत्तर स्पेस में महसूस करने और व्यक्त करने से रोकती है जिसके बीज भारतीय समाज की संरचना में गहरे दबे हैं। इसका एक ताज़ा उदाहरण महाराष्ट्र सरकार द्वारा 'लिव इन' संबंधों में सहजीवन के भागी युवा स्त्री-पुरुषों को पति-पत्नी के क़ानूनी दायरे में लाने की सिफ़ारिश के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय समाज परम्परागत रूप में कुंठाग्रस्त और वैचारिक स्तर पर द्वन्द्वात्मक रहा है। इधर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मनोविद्- लेखक सुधीर कक्कड़ की पुस्तक 'अंतरंगता का स्वप्न' ज्ञानानुशासन की खुली खिड़कियों से ताज़ा हवा के लिए स्पेस मुहैया कराती है जिसके संदर्भ में औचित्य संधान करते हुए वह लिखते हैं-'मैंने जो ज़मीन चुनी है वह अंतरंग स्थितियों की स्वैर कल्पनाओं से बनी है। इस ज़मीन के मानचित्र में उन धुँधली कामनाओं और भयों की रेखाएँ और रंग हैं जो स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के लिए महसूस करते हैं और मौन मिलन के क्षणों में जिनका साक्षात्कार होता है। मैं न केवल इरोस यानी काम की भारतीय कथा में निहित स्वप्न (ओनीरस) की अहमियत पर जोर देना और उसके रहस्य का अनावरण करना चाहता हूँ, बल्कि मेरा मक़सद इस कथा की नायिका यानी भारतीय स्त्री के स्वप्नों पर रोशनी डालना भी है।''

भारतीय समाज के परम्परागत मानव-व्यवहार के इतिहास में जाने पर पता लगेगा कि भारतीय स्त्री-पुरुष काम-सम्बंधों के मामले में कभी सहज नहीं रहे हैं। जहाँ एक ओर ब्रह्मचर्य की अवधारणा ने काम संवेगों की प्रक्रिया को अप्राकृतिक और अनैतिक सिद्ध करते हुए इंद्रिय नियंत्रण की वैचारिकी के आलोक में समाज कुंठा का संचार किया तो दूसरी ओर 'हिन्दू मिथकों का जटि संसार साफ़ तौर पर बताता है कि स्त्री की सेक्सुअलिटी के के प्रति पुरुषों में किस तरह का डर और संशय रहा है। जबकि वात्स्यापन ने मानवीय अस्तित्व के लिए कामना का आधार जितन ही बुनियादी स्थान माना है। इसलिए भारतीय स्त्री-पुरुषों परंपरागत व्यवहार के संदर्भ में उनकी कामना का अध्ययन क चुनौतीपूर्ण नहीं है। सुधीर कक्कड़ इस तथ्य को जानते हुए कहते हैं कि भारत में अगर किसी व्यक्ति को समझना है, उस डरों और कामनाओं यानी उसकी फैंटेसी का अनकहा किस समझना है तो उसकी कहानियों को समझना होगा। हालाँकि, अपने मन में उठते प्रश्न को ज़ाहिर भी करते हैं 'सवाल यह है भारतीय लोग सुसंगत और एकीकृत संसार की निर्मिति के लि कहानी -किस्सों का इस्तेमाल क्यों पसंद करते हैं? खुद जवाब देते हैं, 'इसका कारण तो वही है जो आमतौर से सारी दुनिया लोगों के रवैये में मिलता है। अर्थात् लोग प्रायः जटिल मसलों कहानी के रूप में समझने की कोशिश करते हैं क्योंकि उन्हीं मस को अवधारणाओं के तौर पर ग्रहण करने में उन्हें दिक्कत होती भारतीय वाचिक परंपरा में किस्से की जादुई ताक़त की अहमियत है।' संभवतः इसीलिए वह स्वातंत्र्योत्तर अवधि का सर्वाधिक विख्यात उपन्यास 'मैला आँचल' (लेखक-फणीश्वरन रेणु) का हवाला देते हुए आख्यान के दूसरे माध्यमों के साथ हुए व्यक्ति और समष्टि के अर्थ और तर्क को व्यक्त करते हैं। प्रतीत होता है कि उपन्यास, फिल्में, लोककथाएँ और मिथक की निरंतरता के जिस धरातल पर आवाजाही कर रहे हैं उसके सिरे पर व्यक्तिगत नियति का खेल है और दूसरे सिरे पर सामूहि आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है।'

समीक्ष्य पुस्तक के प्रथम परिच्छेद 'एक पत्नी-दो पुरुष' और कुलटा' में सुधीर कक्कड़ भारतीय उपन्यासों क्रमशः चादर मैली सी, (राजेन्द्र सिंह बेदी), और 'मित्रो मरजानी' (कृ सोबती) को अध्ययन के केन्द्र में रखते हैं। इन दोनों उपन्यासों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायिकाएँ रानो और मित्रो अपनी मौन आकांक्षाओं और व्यवहार के लिए जिस संघर्ष से गुज़रती हैं उसे निश्चय ही भारतीय समाज के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में एक ज़मीनी हक़ीक़त से जोड़कर देखा जा सकता है। सुधीर रानो के संघर्ष को कुछ इस तरह पकड़ते हैं कि 'उपन्यास स्त्री की उस कामना के बारे में है जिसके तहत वह पति द्वारा एक औरत और एक पत्नी के रूप में अपनी मूल्यवत्ता का स्वीकार चाहती है।' तो मित्रो की उस खुली अभिव्यक्ति "देवर तुम्हारा (यानी मित्रो का पति) मेरा रोग नहीं पहचानता।...बहुत हुआ हफ्ते, पखवारे... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली-सी तड़पती है।' जैसीकि आमतौर पर अच्छी पत्नियाँ होती हैं, मित्रो की जिठानी यह सुनकर विचलित हो जाती है। उसके लिए तो औरत की देह न तो गर्व की चीज़ हो सकती है न ही आनंद का स्रोत।" सांस्कृतिक वर्जनाओं के आलोक में जब इस स्त्री-चरित्र को कसौटी पर रखते हैं तो लेखक की इस टिप्पणी के साथ खुद-ब-खुद खड़ा पाते हैं कि मैं मित्रो की कहानी को एक ऐसे सुस्पष्ट आख्यान की तरह देखता हूँ जिससे हिन्दू वैवाहिक संबंधों के दायरे में खामोश पड़ी हुई लेकिन बेहद प्रभावशाली विषयवस्तु पर रोशनी पड़ती है। इन संबधों में पत्नी को एक औरत की तरह यानी एक सेक्सुअल अस्तित्व की तरह देखने के प्रति सांस्कृतिक दिक्कत है जो एक डर की सीमा तक चली जाती है। दरअसल पत्नी को एक औरत-रूप में देखने के प्रति यह असहजता एक युगों पुरानी, लेकिन आजतक जारी उस सांस्कृतिक दो फाँक का परिणाम है जिसके तहत पति अपनी पत्नी को एक साथ माँ और कुलटा के रूप में देखता है।'

दूसरे परिच्छेद 'अँधेरे में प्रेमी' में सुधीर फ़िल्मों और कुछ सांस्कृतिक संदर्भों के आलोक में लक्ष्य की सर्जनात्मक संभावनाओं को खोजते हैं। सबसे बड़ी बात है कि वह फिल्मों को क्रियेटीविटी से जोड़कर देखते हैं। फिल्मों को लेकर भी हमारा सांस्कृतिक नज़रिया बहुत उदारवादी कभी नहीं रहा है। आज भी हम अपने बच्चों को टी0 वी0 और फिल्मों से बचाना चाहते हैं। बोर्ड-परीक्षाओं के वर्ष में काफ़ी घरों में टी0 वी0 पैक करके स्टोर वग़ैरह में रख दिया जाता है फिर टी0 वी0 और फिल्मों को परंपरागत रूप में सांस्कृतिक प्रदूषण के रूप में देखा जाता रहा है और नई पीढ़ी की पढ़ाई को लेकर हम जिस तरह से कुंठित होकर ताज़ा हवा से उसे महरूम कर रहे हैं उसके दुष्परिणाम भी दिखने शुरू हो गये हैं और इसके मुख्य घटक के रूप में हम उनके भीतर छीजती मानवीय संवेदनाओं के लक्षणों में खोज सकते हैं। ऐसी स्थिति में सुधीर कक्कड़ का फिल्मों को लेकर यह नज़रिया बेहद दिलचस्प और सर्जनात्मकता से भरा कहा जा सकता है, "मैं फिल्मों को एक सामूहिक फैंटेसी के रूप में देखता हूँ, जैसे कि लोगों का समूह कोई दिवास्वप्न देख रहा हो। यहाँ फैंटेसी का मतलब कल्पनाशीलता की उस उड़ान से है, जो कामनाओं के दम पर हमें एक ऐसी वैकल्पिक दुनिया मुहैया कराती है जिसमें हम हक़ीक़त के खिलाफ़ अपनी पुरानी जंग जारी रख सकते हैं। अरस्तू ने कहा था कि फैंटेसी के बिना कोई कामना हो ही नहीं सकती। सपने जिस सामग्री से बनते हैं, उसी को फैंटेसी कहते हैं और वह कामना और यथार्थ के बीच पुल का काम करते हुए मांग और उसके पूरे होने के बीच की खाई भरती रहती है। 'पुस्तक के तीसरे परिच्छेद' नर-नारी युद्ध में कुछ जातीय सांस्कृतिक आख्यानों के संदर्भ में छोटे-छोटे किस्सों को देखा जा सकता है। यह वैचारिक और व्यावहारिक धरातल के कई गैपों को तर्कसंगत ढंग से उठाते हैं। इन किस्सों की अहमियत को मानवीय संवेदना और चेतना के विकासक्रम में लक्ष्य किया जा सकता है।

'ग़रीबी और यौन नैतिकता' परिच्छेद में सुधीर दो निम्नवर्गीय महिलाओं बसंती और जनक के वैवाहिक यौन अनुभवों के माध्यम से उस सच को सामने लाते हैं जहाँ जोड़ी के रूप में स्त्री-पुरुष की लैंगिक भिन्नता और अस्मिता का सारादारोमदार स्त्री के पक्ष में ही रहता है। पति और परिवार को लेकर भारतीय स्त्री की संवेदना इन दोनों महिलाओं के जीवन संघर्ष में साफ़ महसूस की जा सकती है। भारतीय स्त्री का परिवार के प्रति दायित्वबोध और लगाव इतना सजग और सशक्त है कि सुधीर को सगर्व कहना ही पड़ता है कि 'दुनिया में भारत के अलावा ऐसे किसी समाज से मैं परिचित नहीं हूँ जहाँ स्त्रियाँ परंपरिक संस्कृति के आदर्शों के तहत पतिव्रता बनना चाहती हों। अर्थात् अपना पूरा जीवन वे पति के कल्याण और जरूरतों को पूरा करने के लिए समर्पित करना ही 'अच्छी' औरत होने की निशानी मानती हों।' गांधी और स्त्रियाँ' परिच्छेद में सुधीर गांधी के बचपन से लेकर वय के विकास के साथ उनके यौन विषयक नज़रिए के संदर्भ में ब्रह्मचर्य की वैचारिक और व्यवहारिक अन्तर्दृष्टियों से जूझते हुए जीवन सत्यों से टकराते हैं। दरअसल, ब्रह्मचर्य के संदर्भ में गांधी जहाँ एक ओर खुद को भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से जोड़ते हैं तो दूसरी ओर व्यक्तिगत काम-कुंठाओं से भी निजात पाते हैं। उनकी काम-कुंठा का मुख्य सूत्र वहीं है जब वह चाचा के कहने से बीमार पिता की देखभाल छोड़कर अपने कमरे में आकर संभोगरत हो जाते हैं। यह एक सहज प्रक्रिया है लेकिन कुछ ही देर बाद जब उन्हें ख़बर मिलती है कि पिता नहीं रहे तो इससे उन्हें पिता की मृत्यु के समय उनके पास न रह पाने की जो आत्मग्लानि होती है, यहीं से काम के प्रति कुंठा जन्म लेती है। ब्रह्मचर्य के प्रति आस्था और निष्ठा या काम भावना का समर्पण जो ताउम्र उनका पीछा नहीं छोड़ता, प्रयोगों के बीच पेण्डुलम की तरह जीवन भर डोलता रहता है।

गांधी के ब्रह्मचर्य को लेकर इधर एक और महत्वपूर्ण किताब आई है (महात्मा गाँधीः ब्रह्मचर्य के प्रयोग, ले0 दयाशंकर शुक्ल सागर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली) जिसके आलोक में विस्तृत विश्लेषण-संभावना की अपेक्षा पूरी होगी। लेकिन सुधीर इस लेख में गांधी के ब्रह्मचर्य के संदर्भ में ही स्त्रियों के साथ उनके संबंधों की पड़ताल करते हैं। सबसे पहले वह उन बिंदुओं पर ही रोशनी डालते हैं जिनसे गांधी के ब्रह्मचर्य की नींव पड़ती है अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय-समय पर यह विचार किन अन्तर्दृष्टियों से खाद-पानी पाता रहा है। जैसे'-

1. विषय-भोग में लिप्त व्यक्ति का दम-खम घट जाता है, वह जर्जर और कायर हो जाता है।' (पृ0 154)

2. जीभ के स्वाद पर नियंत्रण का ब्रह्मचर्य के पालने से नज़दीकी ताल्लुक है। मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि ब्रह्मचर्य का पालन अपेक्षाकृत आसान हो जाता है अगर कोई अपनी जीभ के स्वाद पर क़ाबू पा ले। (प10 156)

3.हिन्दू मिथकों में प्रेम के देवता काम को प्रायः बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है, पर गाँधी उसे ऐसा दर्जा देने के लिए तैयार नहीं थे। वे तो मानते थे कि यह देवता तो वह 'साँप' है जो मैं जानता हूँ कि मुझे काट लेगा।(पृ0 157)

4. मन के विकारों को जीतना संसार को शस्त्र-युद्ध से जीतने की अपेक्षा मुझे अधिक कठिन मालूम होता है। (पृ0 158)

गांधी के जीवन में आयीं स्त्रियों प्रेमा और मीरा के शुरुआती मनो-व्यवहारों के संदर्भ में सुधीर गांधी के ब्रह्मचर्य और आश्रम पद्धति के प्रति उनके आकर्षण के मनोवैज्ञानिक पहलुओं का परीक्षण करते हैं। गांधी और इन दोनों महिलाओं के काम के प्रति भय से ग्रसित कुंठा को जुड़ाव के केन्द्र में मानते हैं। 'पुरुषत्व/स्त्रीत्व; क्लीनिक कथा में एक नवयुवक के मनोवैज्ञानिक केस हिस्ट्री के माध्यम से सुधीर उसके यौन व्यवहारों और स्वैरकल्पनाओं का एक अध्ययन सामने रखते हैं जो भारतीय परिवारों के रहन-सहन के संदर्भ में 'प्रथमदृष्ट्या' बहुत सहज लगता है। अंत में लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि चाहे फिल्मों की चर्चा की गयी हो या लोककथाओं की, आत्मकथाएँ हों या मनोरोगियों की केस हिस्ट्री, हर जगह लैंगिक संबंध स्नेह या प्रेम के बजाय शत्रुता से अधिक आक्रांत दिखते हैं। स्त्री द्वारा पुरुष के प्रति या पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति जो स्वैरकल्पनाएँ पाली जाती हैं उनमें कामना और चाह का अंश जितना होता है उतना ही उन पर घृणा और भय का प्रभाव होता है।' बात जहाँ से शुरू हुई खत्म भी वहीं हो रही है, यह समीक्ष्य पुस्तक के अध्ययन की पाठीय सच्चाई है कि यौन व्यवहारों को लेकर भारतीय समाज में सामाजिक स्तर पर सर्व-स्वीकृति की सहजता नहीं रही है। जिनमें मनोवैज्ञानिक स्तर पर घटाटोप अँधेरा महसूस किया जाता रहा है। स्त्री हो या पुरुष जिस ढंग से यौन व्यवहार करते हैं त्रासदी से कम नहीं है। विवाह भी इसी हद में आता है। जहाँ व्यक्ति स्तर पर (स्त्री हो या पुरुष) चुनाव की स्वतंत्रता नहीं है बाकी सारी चीजें मिलन की वजहें बन जाती हैं। इसीलिए संभवतः ओशो को कहना पड़ा हो कि दुनिया की सारी समस्यओं की जड़ सेक्स है। 'लिव इन' भारतीय संदर्भ में एक खुली खिड़की की तरह है जहाँ ताज़ा हवा के प्रवेश की संभावना प्रबल है जब तक कि इसे और समस्याओं से न जोड़ दिया जाय।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि0, सेमीखेड़ा, बरेली (उ0 प्र0)-243203

अंतरंगता का स्वप्न, सुधीर कक्कड़, अनु. :अजय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 300 रूपये

■

पाल कालीन संस्कृति : एक ऐतिहासिक धरोहर

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता

वैश्वीकरण के इस दौर में आज हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को नज़रअंदाज़ कर रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध में गोते लगा रहे हैं। यह विडंबना ही है कि हमारे शैक्षिक कार्यक्रमों में बाज़ारवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति से जुड़े पहलुओं की अनदेखी की जा रही है। लेकिन इस परिवेश में भी कुछ लोग हैं जो संस्कृति के महत्व को समझ रहे हैं और इस पर गंभीर हैं। मंजु कुमारी की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'पाल कालीन संस्कृति' इसका एक नमूना है। यह पुस्तक गहन शोध पर आधारित है। इसमें पाल कालीन संस्कृति का छह अध्यायों में विस्तार से विवेचन किया गया है। लेखिका पाल कालीन संस्कृति के महत्त्व एवं वैशिष्ट्य पर लेखकीय वक्तव्य में टिप्पणी करती हैं कि—"आज का वैश्वीकरण साधनों की सुविधा की वजह से है। मगर 8 वीं से 12 वीं सदी के बीच जो सांस्कृतिक प्रसार हुआ उसे संस्कृति की शक्ति के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए। पालों की सेना हिमालय और बंगाल की खाड़ी को कभी पार नहीं कर सकी मगर उस काल की संस्कृति ने तिब्बत, चीन, इंडोनेशिया आदि में उपस्थिति दर्ज़ की। उस काल में यह कभी संभव नहीं होता अगर यहाँ नालंदा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी, वज्रासन आदि बड़े और उपयोगी शिक्षा संस्थान नहीं होते। उन देशों के संग्रहालयों में पाल-कला के नमूने आज भी मौजूद हैं। इन सूचनाओं का सबक यह है कि सिर्फ बाज़ार ही वैश्वीकरण की शर्त और शक्ति नहीं हो सकता। सांस्कृतिक तत्वों का वैश्वीकरण बिकाऊ भले कम हो, टिकाऊ निश्चित रूप से अधिक होगा।"

मंजु कुमारी ने पाल-वंश का सटीक परिचय दिया है तथा उसकी सोच को भी उजागर किया है। लेखिका ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है पाल राजाओं ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था लेकिन उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि एक अच्छी शासन व्यवस्था में धर्म का राजनीति के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग नहीं होना चाहिए। वे लिखती हैं—"पाल राजाओं द्वारा स्थापित बौद्ध विहारों की सूची लंबी है। किन्तु, इन विहारों के राजनैतिक दुरुपयोग अथवा विहारों की ओर से राजनैतिक हस्तक्षेप के उदाहरण न के बराबर हैं।" इसी का परिणाम था कि वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध तथा जैन धर्म के अनुयायी सद्भावपूर्वक रहते थे। एक समय बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। राजा से लेकर आम जनता में इसने लोकप्रियता अर्जित की। भारत में जन्मे इस धर्म ने देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर विदेश में अपने पैर जमाये। बौद्धधर्म के स्वरूप एवं विकास को लेकर विद्वानों के विभिन्न मत रहे हैं। मंजु कुमारी ने इन मतों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष दिया है कि—"बौद्ध दर्शन भारतीय आर्शचिंतन की परंपरा, उसके सामाजिक प्रयोग तथा इन दोनों की पारस्परिक अभिक्रियाओं से उत्पन्न विसंगतियों का नैसर्गिक परिणाम था।"

शिक्षा एवं साहित्य किसी भी स्वस्थ समाज के अनिवार्य उपकरण हैं। इस काल में पूर्व स्थापित एवं नवस्थापित दोनों ही प्रकार के शिक्षा संस्थानों को राजकीय सहायता मिली। विश्वविद्यालयों में शिक्षक अपने विषय में पारंगत होते थे। विश्वविद्यालय के सर्वोच्च पद का स्वामी सर्वाधिक विद्वान होता था। इसी का परिणाम था कि नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। मंजु कुमारी की यह पुस्तक प्राचीन काल की पाल कालीन संस्कृति से विस्तार से परिचित कराती है।

हिन्दी-विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, राजस्थान

पालकालीन संस्कृति, डॉ0 मंजु कुमारी, अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद, मूल्य : रु. 225 मात्र

■

पत्तियों ने खोल दिये अपने हरे दिल

डॉ. रमाकांत शर्मा

पत्र-पत्रिकाओं में छप रही कविताओं के अलावा शैलेय का एक महत्वपूर्ण कविता-संग्रह-'या' हाल ही में 2008 में प्रकाशित हुआ है। संग्रह का शीर्षक पारंपरिक शीर्षकों से कुछ अलग और भिन्न है। ठीक शैलेय की कविताओं के मूड और मिजाज़ की तरह। इन्हें छोटी कविताएं लिखना पसंद है, दीर्घ कविता की शर्ते लघुकाय कविता से पृथक और अतिरिक्त होती हे। संक्षेप में सार्थक रचना कठिन और श्रमसाध्य है। शैलेय शब्दों की फिजूलख़र्ची से बचते हैं। कम शब्दों में भी बहुत सार्थक रचते हैं। वे कविता को संवाद बनाते हैं। अपनी 'या' शीर्षक कविता में वे सिर्फ़ एक सवाल खड़ा करते हैं-सवाल का जवाब खुद सवाल दे रहा होता है।-'ज्यूं पुहुपन में बास' अथवा 'लकड़ी में आग।' कविता द्रष्टव्य है-

हताश लोगों से/बस/एक सवाल
हिमालय ऊंचा/या बछेन्द्रीपाल?

हिमालय बड़ा होगा-किंतु हिमालय पर पद-चिन्ह अंकित करने वाले से बड़ा नहीं। मिल गया न उत्तर! यह कविता मनुष्य की जय-यात्रा का शंखनाद है। कबीर ने अपने जमाने में, दोहों में सवाल खड़े किए थे-मसलनः

जो तू बाम्हन-बाम्हनी जाया
आन बाट व्है क्यूं नहीं आया?
ता चढ़ी मुल्ला बांग दे, क्या बेहरा हुआ खुदाय ?

इस अर्थ में शैलेय कबीर-परंपरा के संवाहक हैं। 'नावक के तीर' बिहारी के श्रृंगारी दोहे नहीं, कबीर के दृष्टिसम्पन्न दोहे है। गागर में सागर तो यही है। यहाँ 'अनभै-सांचा' सच्चा काव्यानुभव मर्मभेदी हुआ करता है।

कवि शैलेय की एक खूबी और है। यह कवि श्रमिक-संगठनों और आंदोलनों से जुड़ा सक्रिय संस्कृतिकर्मी भी रहा है। अवतार सिंह पाश की तरह। शैलेय को पढ़ते हुये मुझे कवि पाश बराबर याद आते रहे। शैलेय की कविताएं पाश की कविताओं का नये ढंग से विकास और संवर्धन है।

कवि शैलेय सक्रिय रचनात्मक आंदोलन की बात करते रहे हैं। इनकी कविताएं इसी रचनात्मक क्रियाशील आंदोलन की उपज है। समय की संवेदना से ऊर्जस्वित हैं। हमें यह बराबर अहसास कराती हैं कि मनुष्य से बढ़ कर कोई नहीं है। इस लोक में अगाध शक्ति और सामर्थ्य छिपी है। समाज की गतिकी को गति मेहनतकश लोक देता है। यह विजन हारे-थके का बल बनता है। मार्क्स ने भी धर्म की व्याख्या इसी अंदाज़ में की है। त्रिलोचन, नागार्जुन और विजेद्र की तरह 'प्रतिरोध की क्षमता' शैलेय की कविता का भी वैशिष्ट्य है। बेहतर विकल्प की तलाश उनके कवि-स्वभाव का हिस्सा है। भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद और बाज़ारवाद के बढ़ते दौर में यही दिशा कविता की सही ज़मीन है। इसी ज़मीन पर शैलेय की कविता-फसल तैयार होती है। शैलेय का अनुभव-संसार व्यापक है। प्रकृति और मनुष्य के रिश्तों की प्रगाढ़ता यहां दिखलाई देती है। इस कवि ने झील को धीरे-धीरे कांच में तब्दील होते, पेड़ को गांठ होते, तितली को पंखों रंग को गायब होते और ताज़ा हवा को उमस मे तब्दील होते का अनुभव किया है। अनुभव की यह समृद्धि किसी कवि को बड़ा कवि बनने की ओर अग्रसर करती है। इनकी 'बिजली' कविता, अपनी दृष्टि-सम्पन्नता के कारण, सीधे दिलोदिमाग में उतर जाती है-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिजली कड़की/तब बरसे बादल
पोखर जब/भर आए ऊपर तक
चांद,/तारे,/सूरज/सब के सब उतर आए।

बादल, बरखा, चांद तारे और सूरज को अपने पक्ष में लामबंद करने के लिए बिजली की 'कड़क' ज़रूरी है। बिजली जब तक कड़केगी नहीं, न बरखा होगी, न पोखर भरेंगे। मैं ऐसी कविताओं को 'मंत्र कविता' कहना पसंद करता हूं। इसी प्रकार इनकी 'रास्ता' शीर्षक कविता अंधेरे में लालटेन की भूमिका निभाती है।

कवि ने कोमल संवदेना की कविताएं भी लिखी है। ये कविताएं भी महत्वपूर्ण है। 'गुलाबी जल के सोते वाले बादल' कविता की कुछ पंक्तियां गौरतलब हैं-

पौधे/ज्यों-ज्यों बड़े हुए
पत्तियों ने खोल दिए अपने/हरे-हरे दिल
फूल खुशबुओं की भाषा में गाने लगे
फिर तितलियां और भंवरे और/चिड़ियां क्या आई
जनमन का मौसम मकरंद हो गया।

यहां पत्तियों द्वारा अपने हरे-हरे दिल खोलना, फूल का खुशबू की भाषा में गाना और चिड़ियों का चहकना तथा इसकी फलश्रुति के रूप में जनमन का मकरंद हो जाना अनेक अर्थच्छवियों को उजागर करते हैं। यह कविता बहुआयामी-मल्टीडायमेंशनल है। केदार बाबू की तरह 'नई भाषा में नई आशा का संचार' करती हैं शैलेय की कविताएं। यही इनकी कविताओं का अनूठा वैशिष्ट्य है।

'या' कविता-संग्रह की महत्वपूर्ण कविताओं के बीच कुछ कमजोर कविताएं भी हैं। 'नज़र' शीर्षक कविता स्थिति का सरलीकरण और 'मुक्ति' कविता जटलीकरण के उदाहरण हैं। केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय ने ऐसी ढ़ेरों कविताएं लिखी हैं-जो सरलीकरण या जटलीकरण की शिकार हैं। उम्मीद है, शैलेय इस ओर पुनर्विचार करेंगे।

संकेत-बिला, बृह्यपुरी-प्रतापमंडल, जोधपुर (राज.) 342001

■

पतन का राजनीतिकरण व समाजीकरण

स्वामी नित्यानंद

जब किसी समाज में पतन को वैधता मिल जाती है तो वह गौरवांवित हो जाता है। फिर पतन के रास्ते भ्रष्ट आचरण भी शिष्ट आचरण कहलाने लगता है। राजनीति और समाज में बेईमानी, भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी इतने घुल-मिल गये हैं कि इन पर व्यंग्य लिखना अपने आप में व्यंग्य है। ये शोध का विषय हो सकता है कि किस क्षेत्र में विकृति नहीं है। इसे बिडंबना ही कहा जायेगा कि भ्रष्टाचार निरोध किसी राजनीतिक दल के एजेन्डे में नहीं है। राजनीतिक व सामाजिक सुधार की चिंता शायद ही किसी को हो। सभी व्यवस्थाएँ सड़ांध मार रही हैं। कुछ साहित्यकार विशेषकर व्यंग्यकार इस सड़ांध को सूँघ लेते हैं और अपनी रचनाओं में फैला देते हैं। जिससे पाठक भी उन्हें महसूस कर सकें। यद्यपि व्यंग्य की हालत साहित्य में वही है जो जातिवादी समाज में दलित की है। तथापि परसाई जी का कहना रहा कि व्यंग्य अब शूद्र से क्षत्रिय हो गया है।

बहरहाल इसी क्षत्रियता का नमूना संतोष खरे की नई व्यंग्य पुस्तक "प्रपंच तंत्र' में देखने को मिलता है। विष्णु शर्मा के 'पंचतंत्र' की तर्ज पर समकालीन राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्थाओं को कथासूत्र में ढाल कर रोचक ढंग से पेश किया है। धूर्त नेता को अपने पुत्रों की धूर्तता की ट्रेनिंग (राजनैतिक शिक्षा) दिलवाने की इच्छा हुई। सो किसी (भूत) पूर्व मंत्री की शरण में पुत्रों को सौंप दिया। इसी आमुख से यह वर्तमान पंचतंत्र प्रारंभ होता है। दलाली और टैक्सचोरी की कला साधने के बाद राजनीति भी धन कमाने का ज़रिया हो सकती है। गयाराम नेता के चमचे मनसुख को सूत्रधार बनाकर समस्त कथाएँ पिरोयी गई हैं। दूसरों के कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप करने पर दरबारी लाल जैसा हाल होता है, यह बताते हुए मनसुख आगे की कथाएँ सुनाता जाता है। निरर्थक चेष्टा में मंत्री को टिकट दिलाने की तरकीब बताते हुए मनसुख का कहना है कि बुद्धिमानी से परिस्थिति को अनुकूल बनाया जा सकता है।

'पोल ही पोल' में संदेह है कि विश्वासघात संभव है। कहा जा सकता है, घात वहीं होता है जहाँ विश्वास होता है। पुरानी कहावत है कि जिनके घर शीशे के होते हैं वे दूसरे के घर पर पत्थर नहीं फेंका करते, इसे समझाया गया है पत्रकार का अनादर नामक कथा में। क्षति का कारण अपने स्वयं के दोष भी हो सकते हैं यह मर्म समझाया है मनसुख ने 'आदर्शवादी बनने का परिणाम' कथा में। हालाँकि चमचों का आदर्शवादी रुझान उत्तर आधुनिक समय में भी कोई नयी बात नहीं, फिर भी चमचा और आदर्शवाद का अंतर्विरोध ही व्यंग्य का मर्म है। सुनियोजित षड़यंत्र को ब्रह्म भी नहीं जान पाते इसे मनसुख उजागर करता है 'षड़यंत्र का परिणाम' में। जजों का भ्रष्टाचार में लिप्त रहना अब कोई मुद्दा नहीं रहा। बुद्धि और दूरदर्शितावाद से काम न लेने का क्या परिणाम हो सकता है इसे मनसुख बतलाता है 'मूर्खता का परिणाम' में, वि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे धन और सत्ता के मद में अपनी औकात भूल जाती है। मनसुख का कहना है कि किसी के स्वाभाव की ठीक-ठीक जानकारी न हो तो ऐसे लोगों को आश्रय देने पर कुसंगति का फल भुगतना पड़ सकता है। स्वाभाव की ठीक जानकारी कैसे हो इसे स्पष्ट नहीं किया गया है, हालाँकि ये एक अलग विषय है।

अपनों को त्यागकर परायों को अपनाना नष्ट होने का कारण हो सकता है। इसे मनसुख अजनबी साथी में स्पष्ट करता है। पर सवाल है कि इस वैश्वीकरण के समय में अपना-पराया का भेद क्या बचा रह गया है ? सच तो ये है कि अपने-पराये को समझना एक जटिल सामाजिक व राजनैतिक विषय रहा है। आगे नीच जनो का साथ, जैसे को तैसा, लाभ-हानि, स्वार्थ-सिद्धि, साथी से द्रोह, दलाली के सिद्धांत आदि कथाओं के माध्यम से मनसुख समकालीन परिदृश्य उपस्थित करता है। नेता, विधायक, सांसद, मंत्री (राजनैतिक तंत्र), अफ़सर (प्रशासनिक तंत्र), पत्रकार, साहित्यकार, शिक्षक (शिक्षा तंत्र), वकील, जज (न्यायिक तंत्र) और व्यापारी (उद्योग तंत्र) इन्हीं विषयों पर समस्त व्यंग्य हैं।

यद्यपि पुस्तक किशोरों और युवकों के लिए सरल भाषा में सुपाठ्य है, पर इसमें प्रौढ़ता का अभाव है। पुस्तक की कथाओं में वर्णित तथ्यों से अब सुविज्ञ पाठक काफ़ी पहले से ही परिचित है। वर्तमान सभी तंत्रों की कार्य प्रणाली भी दिन के उजाले की तरह साफ़ है। अनभिज्ञ पाठकों के लिए संतोष खरे ने महतश्रम कर के पुस्तक प्रस्तुत की है। जब तक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक विकृतियाँ जन्म लेती रहेंगी व्यंग्यकार उन्हें निशाना बनाने से चूकेंगे नहीं। संतोष खरे भी उनमें से एक हैं।

बी-5, गिरिराज वाटिका, रमणरेती, वृन्दावन (उ0प्र0)-281121

प्रपंचतंत्र, संतोष खरे, मेधा बुक्स, दिल्ली, मूल्य : 100 रुपये

'अप्रतिम' द्वारा आयोजित द्वितीय
शैलेश मटियानी स्मृति द्वितीय अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता

प्रतियोगिता के नियम

- ☐ कहानी टंकित होनी चाहिए।
- ☐ कहानीकार के लिए आयु-सीमा एवं कहानी के लिए शब्द-सीमा नहीं है।
- ☐ एक प्रतियोगी केवल एक कहानी भेज सकता है।
- ☐ कहानी के साथ फ़ोटो, जीवन-परिचय, लिफ़ाफ़ा और पता लिखा पोस्टकार्ड आदि न भेजा जाए।
- ☐ परिणाम के संबंध में 'अप्रतिम' का निर्णय अंतिम होगा।
- ☐ प्रतियोगिता के लिए पुरस्कारों का विवरण निम्नवत है :

प्रथम पुरस्कार	: रु0 5000/-
द्वितीय पुरस्कार	: रु0 2500/-
तृतीय पुरस्कार	: रु0 1500/-
सांत्वना पुरस्कार (दो)	: रु0 1000/-

- ☐ पुरस्कृत कहानियाँ 'अप्रतिम' वार्षिकी में प्रकाशित की जाएँगी।
- ☐ कहानी निम्न पते पर दिनांक 31 अगस्त, 2009 तक भेजी जाएँ।

संपादक 'अप्रतिम'
पोस्ट बॉक्स नं0 3, पी0ओ0 गोमती नगर, लखनऊ (उ0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की मशाल जलती रहे

प्रसिद्ध आलोचक चिंतक डा0 नामवर सिंह ने इप्टा और प्रगतिशील लेखक संघ, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित बारहवें मुक्तिबोध नाट्य समारोह एवं कला-उत्सव में 10 जनवरी को चित्रकार स्व0 आसिफ़ की कला-प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। इसी क्रम में मंच पर दीप प्रज्वलित कर नौ दिवसीय नाट्य समारोह का शुभारंभ करते हुए कहा, ''असल चीज है नाटक। भरत वाक्य के रूप में भाषण होना चाहिए इसलिए दिल पर पत्थर रखकर आपका आदेश स्वीकार करता हूँ। मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ कि मुक्तिबोध जी की स्मृति में हो रहे इस समारोह को देखने के लिए ज़िंदा हूँ। कार्यक्रम का संचालन अरुण काठोटे व युवा आलोचक जयप्रकाश द्वारा किया गया। मंच पर रमेश मुक्तिबोध, दिवाकर मुक्तिबोध सहित कहानीकार काशीनाथ सिंह, ख्यातिलब्ध कवि राजेश जोशी, प्रलेसं के महासचिव प्रभाकर चौबे, इप्टा के अध्यक्ष मिनहाज असद, राजेश श्रीवास्तव, आनंद हर्षुल, आलोक वर्मा, रवीन्द्र शाह और संयोजक सुभाष मिश्रा उपस्थित थे।

नाट्य समारोह के पहले दिन विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' का मंचन किया गया। कथा गायन वाचन की लुप्त होती हुई शैली द्वारा अजय कुमार ने दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया।

दूसरे दिन अपने व्याख्यान में नामवर सिंह ने कहा, 'राम की शक्ति पूजा' के ऐसे समर्थ पाठ के बाद भाषण, कयामत नहीं हिमाकत है। 'संस्कृति और राजनीति' का अर्थ वह नहीं है जो शब्दकोश में लिखा है। अर्थ वह होता है जो लोक में प्रचलित होता है। अध्यक्षीय आसंदी से विनोद कुमार शुक्ल ने अपनी कविताओं का पाठ किया। 'कविता विमर्श' के अंतर्गत रामकुमार तिवारी, हरिओम राजौरिया, एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, नवल शुक्ल और राजेश जोशी ने अपनी-अपनी चुनी हुई कविताएँ सुनाईं।

प्रस्तुति : महावीर अग्रवाल

'सापेक्ष' ए-14, आदर्श नगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़)-491003

रेणु, राजकपूर और तीसरी कसम

अ. प्र. सिं. विश्वविद्यालय, रीवा के हिन्दी विभाग के सभागार में एक व्याख्यान का आयोजन किया गया जिसका विषय 'रेणु राजकपूर और तीसरी कसम' था। व्याख्यान-सभा में प्रसिद्ध आलोचक, चिंतक एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी मुख्य अतिथि थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता चर्चित कवि एवं रीवा विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. दिनेश कुशवाह ने किया। विशिष्ट अतिथि के रूप में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उपाचार्य डॉ. वेद प्रकाश मौजूद थे।

आचार्य त्रिपाठी ने कहा कि रेणु व आंचलिकता में एक अंर्तसंबंध है। फणीश्वर नाथ रेणु ही ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने साहित्यमें आंचलिकता को प्रवेश कराया।

कार्यक्रम में वागीश्वरी सम्मान-2008 से सम्मानित कवि एवं हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. दिनेश कुशवाह ने आये हुए अतिथियों एवं साहित्य प्रेमियों का स्वागत करते हुए विषय का आधार वक्तव्य दिया। उन्होंने कहानी-कथ्य संक्षिप्त में बताते हुए कहानी तथा फिल्म के मर्म को उद्घाटित किया।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पधारे विशिष्ट अतिथि डॉ. वेद प्रकाश ने आचार्य त्रिपाठी के व्याख्यान को हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा और फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी कला का मणिकांचन योग बताया। इस अवसर पर डॉ. कैलाश तिवारी के कविता संग्रह 'कोई तो दीप जला' का विमोचन आचार्य त्रिपाठी द्वारा किया गया। कार्यक्रम का संचालन कृष्णगोपाल सिंह एवं आभार प्रदर्शन डॉ. वृजेश कुमार द्विवेदी ने किया।

प्रस्तुति : कृष्णगोपाल सिंह

शोध छात्र - हिन्दी विभाग, अ0प्र0 सिंह विश्वविद्यालय रीवा, म0प्र0 486003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनतंत्र के रखवाले साधारण-जन को सलाम

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

मई 2009 का चुनाव कई दृष्टियों से रेखांकित करने लायक है। इस चुनाव ने सिद्ध कर दिया है, जनतांत्रिक मूल्यों और धर्म-निरपेक्षता की रक्षा साधारण-जन ही कर सकता है। खाते-पीते उच्च-वर्ग के लोग बातें बहुत करते हैं, जनतंत्र और साधारणजन के प्रति उनका रवैया बड़ा हेय है। वे उन्हें निपट गँवार, अनपढ़ और पैसे देकर खरीदे जा सकने वाला समझते हैं। साधारणजन जिनके पास बैठने से उन्हें बदबू आती है। ऐसे लोगों ने ही टी0वी0 और अन्य संचार माध्यमों पर अपने 'सर्वे' दिखाये। बीजेपी और काँग्रेस को एक तराजू पर तोल रहे थे। फ़र्क़ की आशा भी उन्हें उन्नीस-बीस की थी। इनमें सबसे ऊपर आडवाणी जी थे, जिन्हें लगता था कि अब दिल्ली दूर नहीं है। उन्होंने नरेन्द्र मोदी को 'रोड कैचर' के रूप में पेश किया है। गुजरात में जीत के बाद उनका विश्वास दृढ़ हो चला था कि मोदी चुनावी नैया पार करायेंगे और हिन्दुत्व और मुस्लिम-विरोध हमारे काम आयेगा। वरुण गांधी जैसे अपरिपक्व युवा ने जिस तेज़ी से ज़हर उगला उसका असर भारतीय जन-मानस पर उल्टा पड़ा। ये लोग भारतीय जनता को जानते ही नहीं। जनता शालीनता की भाषा समझती है। उसके पास धैर्य और विवेक दोनों हैं। समय पर अपने विवेक का इस्तेमाल कर निर्णय लेने में वह निपुण है। उसे समझने में हमारे बहुत से राजनेता और देश के पत्रकार, टी0वी0 चैनलों पर बहस करने वाले बुद्धिजीवी सफल नहीं हो सके। वे केवल देश के मध्यवर्ग को जानते हैं जो दुलमुल यक़ीन तथा भीरुता का शिकार हैं। यह वर्ग ऊँची-ऊँची बातें करता है लेकिन काम उसका परंपरावादियों जैसा है जो अंततः रूढ़िवाद की सीमा तक जाता है। जनतंत्र में मध्यवर्ग काफ़ी महत्वपूर्ण है और वही मीडिया की राय बनाता है। यह वर्ग अपने अंतर्विरोधों से परिचित नहीं है। वह अपनी हर बुराई और स्वार्थपरता को कुतर्कों के कुहासों से ढक देता है। स्वहित में सार्वजनिक हितों और सरोकारों की अनदेखी करता है। यही शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति एक सीमा पर जाकर उसे अँधेरे बंद कमरों में धकेल देती है। देश के छोटे-बड़े नौकरशाह इसी वर्ग से आते हैं जो देश चलाने का दंभ पाले हुए हैं। एक सीमा पर यही नौकरशाही संवेदनाहीन हो जाती है। इनकी कुटुंब-वत्सलता इन्हें भ्रष्ट बना देती है। देश के विकास और जनहित के कार्यों में इनकी रुचि नहीं रह जाती। निर्माण कार्यों में 'कमीशन' पर इनकी दृष्टि रहती है। राजनेता, ठेकेदार और नौकरशाह की तिकड़ी देश के विकास की गति को धीमा करते हैं और व्यापारी वर्ग मुनाफ़े की कीमत पर जनता का न केवल शोषण कर रहा है अपितु मिलावटी उत्पादों से उसे मौत का सामान बेच रहा है। कोई सरकार इन पर अंकुश नहीं लगा पायी है। एक मशहूर कहावत है- चाँदी का जूता सब पर भारी पड़ता है। इन्होंने दो ही चीजों में नाम कमाया है-एक भ्रष्टाचार में, दूसरा सुस्ती और निकम्मेपन में।

इन नौकरशाहों, राजनेताओं और व्यापारी-वर्ग को साधारण जन की शक्ति का अहसास नहीं है। वे उसे पैसे से खरीदने का निरंतर प्रयास करते हैं जबकि, जनता को कोई थोड़ी-सी भी राहत पहुँचाता है या उसके घावों पर मरहम लगाता है तो वह उसकी कृतज्ञ हो जाती है। काँग्रेस सरकार के कुछ कार्यक्रमों ने साधारण-जन को बहुत लाभ पहुँचाया है। जहाँ भी उसके कार्यकर्ताओं, नेताओं ने उन कार्यक्रमों/ योजनाओं को ठीक से लागू किया, वहाँ की जनता ने उन्हें जिताया। एक बड़ा काम और हुआ है। जनता ने उन सभी अपराधी-तत्वों को, जिनसे आम आदमी भयाक्रांत था, उन्हें देश के साधारण-जन ने संसद नहीं पहुँचने दिया। वर्ना चुनाव-आयोग और देश की संसद भी उन्हें रोक नहीं पायी थी। बड़बोले और भ्रष्ट नेताओं को भी जनता ने नहीं बख़्शा। जनता ने लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान, सुश्री मायावती और अन्य ऐसे ही प्रधानमंत्री पद के दावेदार नेताओं का स्वप्न भंग कर दिया। यादववाद के प्रवर्तक मुलायम सिंह 39 से 25 की संख्या तक ही सिमट कर रह गए। जनता विकास चाहती है, नव-निर्माण चाहती है। भेदभाव, भ्रष्टाचार भाई-भतीजावाद और निकम्मेपन से अब उबरना चाहती है।

देश के चुनावों में जातिवाद पर बहुत ज़ोर दिया गया। लालू प्रसाद यादव की पराजय व्यक्ति की पराजय है, जिसके विषय में प्रचारित किया गया कि–"जब तक समोसे में आलू, बिहार में रहेगा लालू'। वे यादव बहुल क्षेत्र से ही चुनाव हारे। वहाँ जातिवाद चला नहीं। नीतीश कुमार बिहार में विकास तथा गुण्डई/ दबंगई विरोधी मुद्दे पर चुनाव जीते। एक आश्चर्यजनक बात और है, बेगूसराय से पहली बार एक भूमिहार नेता के मुक़ाबले अनवार उल् हक़ चुनाव जीते। यह ऐतिहासिक जीत थी। परंपरा से उलट जहाँ से, केवल भूमिहार प्रत्याशी ही विजयी होते रहे हैं। साधारणजन न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांप्रदायिक है, न जातिवादी। जातिवाद और सांप्रदायिकता राजनीतिक पार्टियों की रणनीति है, जनता की नहीं। विद्वेष और घृणा के वातावरण में जनता का दम घुटता है। राजनीतिक दलों के नकारात्मक प्रचारों का जनता स्वागत नहीं करती। देश का मतदाता स्वस्थ लोकतांत्रिक परंपराओं में विश्वास करता है और एक परिपक्व लोकतंत्र की दिशा में अग्रसर हो रहा है। देश की जनता को अपढ़ और मूर्ख समझने वाले, राजनेता, पत्रकार और बुद्धिजीवी इससे सबक लें।

बंगाल में सब लोग अचंभे में हैं। वे भी, जो कम्युनिस्ट नहीं हैं। केरल में मुख्यमंत्री और पार्टी में खुले मतभेद थे। खुली तक़रार थी। पोलित ब्यूरो ने कोई सक्षम कार्यवाई नहीं की। जनभावनाओं को न जानने के कारण मतभेदों की अनदेखी की। जनता उसी दल को पसंद करती है जो दलीय स्तर पर एकमत होकर काम करता है। जनता गुटबाजी को पसंद नहीं करती। केरल में हार का यही कारण है। बंगाल की बात अलग है। उसे समझने के लिए हमें पार्टी के इतिहास और सामाजिक संरचना में जाना पड़ेगा। पिछले 35 वर्षों तक वहाँ बिना रुकावट के पार्टी का शासन रहा। दुनिया की पहली सरकार थी जो जनतांत्रिक तरीकों से शासन कर रही थी। इन 33 वर्षों में काफी बदलाव आया। ग़रीबों के बच्चों को भूमि मिली, वे संपन्न बने और शहरों में आ गये। इसके कारण गाँवों में सी0पी0एम0 के परिवार कम हो गए। शहर में आने के बाद उन युवाओं को कोई राजनीतिक ट्रेनिंग नहीं मिली। त्याग, बलिदान और संघर्ष उनके लिए अतीत की चीज़ हो गये। पार्टी के नाम पर वे व्यक्तिगत लाभ उठा रहे थे। महत्वाकांक्षाओं को पूरा कर रहे थे। जनता के बीच जाने के बजाय वे पार्टी-हैड क्वार्टर में जाना अधिक पसंद करते थे। वहाँ ग़लत बयानी से काम लेते थे। ऐसे बातूनी लोग जन संगठनों पर भी क़ाबिज़ हो गए। संगठनों को अपनी मुठ्ठी में कर लिया। पढ़े लिखे और कर्मठ लोगों को हाशिए पर कर दिया। साथ ही, अनेक असामाजिक तत्त्व पार्टी में घुए गए और छुटभैये नेताओं का समर्थन भी हासिल कर लिया।

नंदीग्राम और सिंगूर में पार्टी के नाम पर असामाजिक तत्त्वों ने लोगों पर अत्याचार किया। यह सही है कि वहाँ जनमानस को आघात पहुँचा। तृणमूल कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने नक्सलाइटों के साथ मिलकर सी0पी0एम0 के कार्यकर्ताओं को मारा-पीटा। कार्यालय में तोड़फोड़ की। यह सब आज भी जारी है। लालबाड़ी में आज नक्सलवादी, तृणमूल कांग्रेस को दी गयी मदद के बदले में सहायता की माँग कर रहे हैं। समर्थन मांग रहे हैं।

हार का कारण यह भी था कि बंगाल में विकास की कुंजी नौकरशाहों के हाथ में देखी गयी। हिन्दुस्तान के दूसरे-नौकरशाहों की तरह वे भी संवेदना हीन, भ्रष्ट और निकम्मे सिद्ध हुए। गाँवों में कोई विकास कार्य या तो हुए ही नहीं या भ्रष्टाचार का शिकार हो गए। वहाँ ग्रामीण रोज़गार योजना को लागू ही नहीं किया गया। देश के अन्य भागों में जहाँ भी यह योजना लागू हुई, ग़रीबों को लाभ हुआ। बंगाल की सरकार जन-भावनाओं को क्यों नहीं जान सकी ? बुद्धिजीवी और पत्रकार बड़ी संख्या में पार्टी के साथ थे, फिर भी तसलीमा नसरीन को बंगाल से निकाल दिया। परिणामस्वरूप, इन लोगों ने पार्टी का विरोध किया और तसलीमा के मुद्दे पर विरोध में आ गए। इसकी भरपायी करना मुश्किल होगा। सोमनाथ चटर्जी के साथ जो व्यवहार हुआ उससे बंगाल का भद्रजन बहुत आहत हुआ। वह पार्टी से विमुख हो गया। कामरेड प्रमोद दास गुप्ता बंगाल में पार्टी के सेक्रेटरी थे। उन दिनों जब हम कोलकाता गये थे तो देखा, वे सुबह 10 से 6 बजे शाम तक पार्टी के दफ़्तर में बैठते थे। गाँवों से आये हुए पार्टी कार्यकर्ताओं की बात गौर से सुनते थे। नोट्स लेते थे। दूसरे दिन संबंधित विभाग के मंत्री को बुलाते थे, उनसे शिकायतों पर की गयी कार्यवाही के बारे में पूछते थे। इससे पार्टी का जनता से निरंतर सीधा जुड़ाव बना रहता था। मंत्री भी सजग रहते थे। बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योतिबसु भी वहाँ बैठकर विचार-विमर्श करते थे। इससे, पार्टी, सरकार और जनता के बीच निरंतर संवाद बना रहता था और समस्याओं का निराकरण होता था। प्रमोद दास गुप्ता के बाद कॉमरेड अनिल विश्वास ने इस परंपरा को कायम रखा। वर्तमान समय में पार्टी नेतृत्व का रवैया उन दोनों से अलग है। वे दफ़्तर में बैठना अधिक पसंद करते हैं। कुछ लोगों पर अंधविश्वास करते हैं। किसी भी पार्टी के लीडर के लिए यह रवैया स्वस्थ नहीं है।

प्रसन्नता की बात है कि बंगाल के प्रश्न पर विचार मंथन और आत्मालोचन चल रहा है। इस प्रक्रिया के सकारात्मक परिणाम होंगे।

कुँवरपाल सिं

भूल सुधार

वर्तमान साहित्य के जून-2009 अंक में पृष्ठ संख्या 59 पर प्रकाशित 'दो कविताएँ' के लेखक 'यकम' हैं। उनका नाम त्रुटिपूर्ण 'यमक' छप गया है। इस भूल के लिए खेद है।

संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

वर्तमान साहित्य–कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009

वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009 के लिए मौलिक, अप्रकाशित कहानियाँ आमंत्रित हैं। पुरस्कार राशि रु0 11,000=00 है, जो कमलेश्वर जी के परिवार ने इस प्रयोजन हेतु 'वर्तमान साहित्य' को प्रदान की है।

कहानियाँ साफ़ टाइप की हुई हों तथा तीन प्रतियों में हों। कहानी की हर प्रति पर लेखक का नाम व पता अवश्य हो। 3.कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 सितंबर, 2009 है। लिफाफे पर **'वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार'** अवश्य लिखें।

कहानियों का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जायेगा। चयनित कहानी पर पुरस्कार जनवरी, 2010 में प्रदान किया जाएगा।

कहानियाँ संपादक, वर्तमान साहित्य को निम्नलिखित पते पर भेजें।

संपादक 'वर्तमान साहित्य'

28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001

दूरभाष : 0571-2742038, 94122-72762

ई-मेल से भेजी कहानी प्रतियोगिता में स्वीकार नहीं की जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण

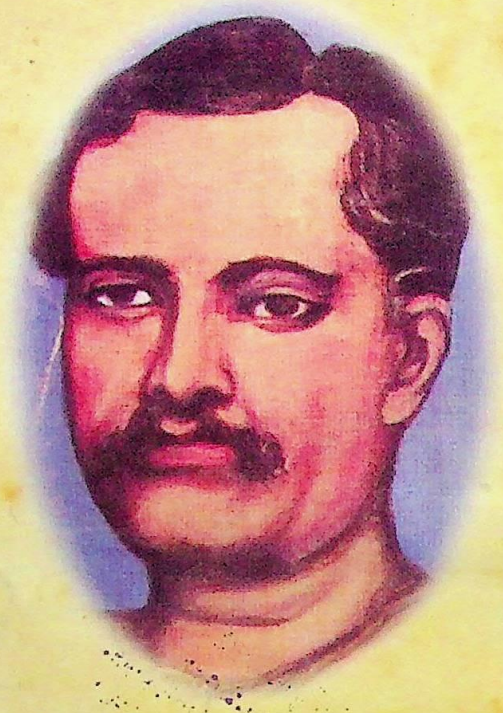

चन्द्रकांता पढ़ने के लिए
बहुत पुरुष नागरीय वर्णमाला सीखते हैं और
जिनको कभी हिन्दी सीखना ना था
उन लोगों ने भी इसके हिन्दी सीखी

देवकीनंदन खत्री

(1861 - 1913)

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रवीण नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

अगस्त, 2009 ■ बीस रुपये

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

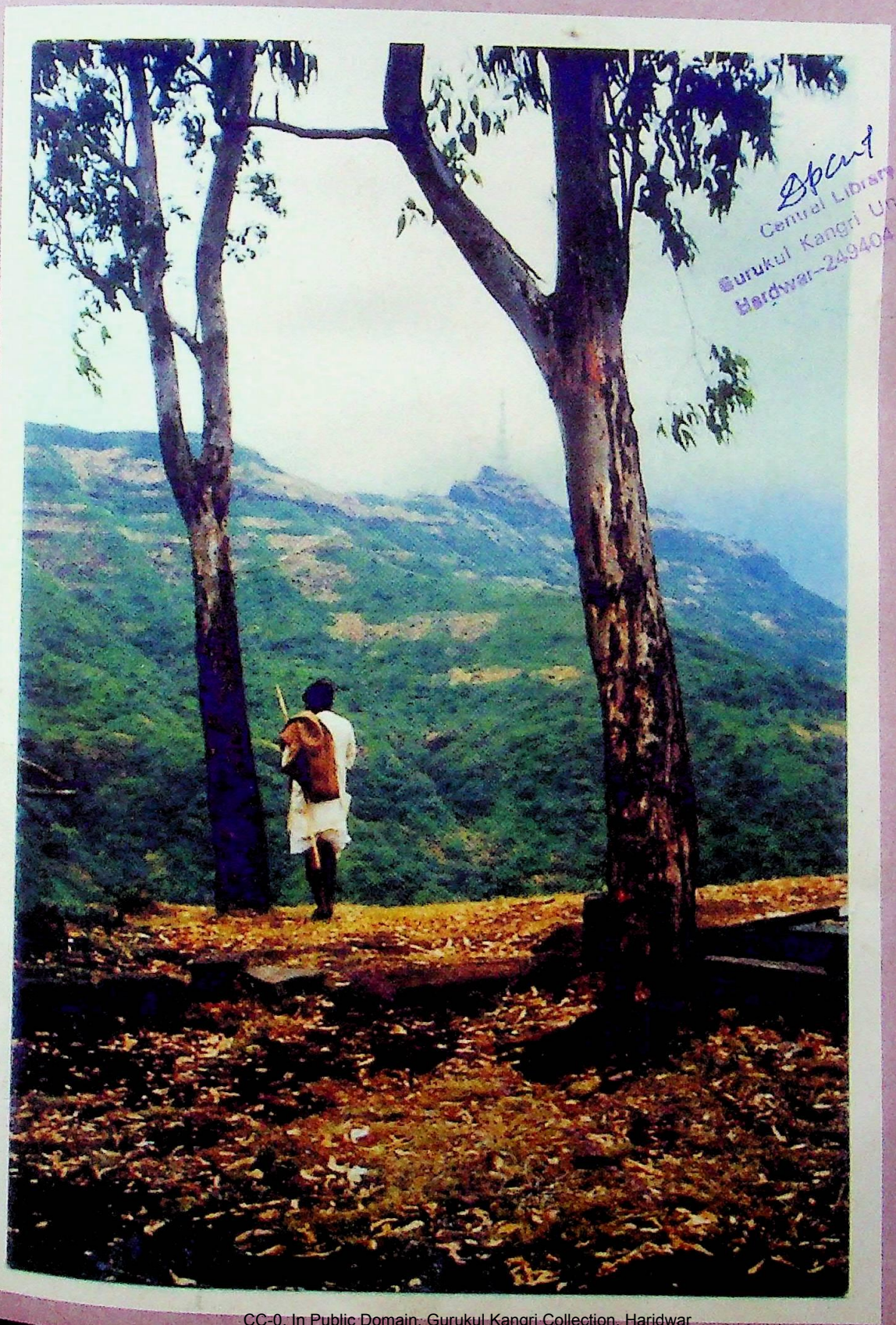

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मरण

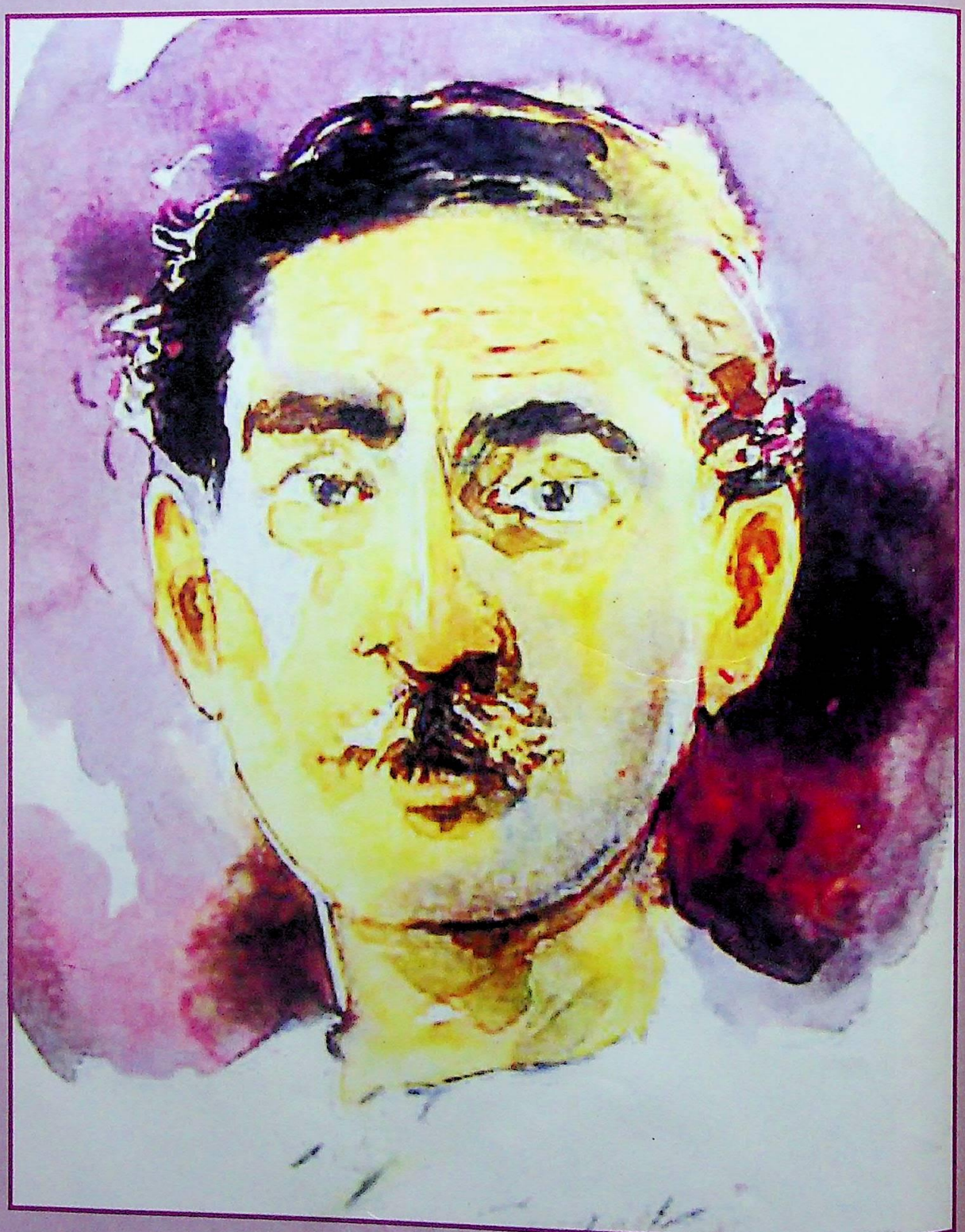

मुंशी प्रेमचन्द

31 जुलाई, 1880-8 अक्तूबर, 1936

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और संघ की पत्रिका

वर्ष 26 ☐ अगस्त, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; ☐ वार्षिक : 200/-; ☐ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ☐ आजीवन : 2000/- ☐ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
राजेन्द्र पाल सिंह ☐ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
अजय विसारिया ☐ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

प्रबन्ध सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव
सलाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर
विशेष सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा
मुखांकन : बिसारत अली
रेखांकन : सिद्धेश्वर, पटना, बिहार

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से **वर्तमान साहित्य**, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। तंपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

इस अंक में

...क मंच/2

...नी बात/3

...रण

...ा : बेशुमार यादें/मोहन नेपाली/5

...शताब्दी के अवसर पर
...म्बी की भारतीयता संबंधी इतिहास-दृष्टि/देवीप्रसाद मौर्य/7

...नी
...त में है बलुआ/प्रमोद भार्गव/12
...स सरहद पर कब से मुंतज़िर हूँ, सुब्हे परदा का/
जाफ़र मेहदी ज़ाफ़री/17
...ा/डा0 हरि सिमरन कौर/21
...की माँ का डर/नीहारिका/25

...ता/पद/ग़ज़ल
...पद/यश मालवीय/30
...ं/इन्दु श्रीवास्तव/31
...ताएँ/मेजर गौतम राजरिशी/47
...ताएँ/अलीक/48
...रचना/डॉ. स्मृति सिंह/57
...ताएँ/अरुण शीतांश/62
...ता/रोज़लीन/62
...ा/नित्यानंद 'तुषार'/63
...ं/डा0 बी0पी0 दुबे/64

...रण
...ा ही सही.../कुमार पंकज/32

उर्दू कहानी
कैसे-कैसे लोग थे जिनसे रस्म-ए-वफ़ा की बात चली/
सैय्यद मुहम्मद अफ़ज़ल/36

पुनर्परीक्षण का क्रम
प्रसाद और आकाशदीप/पुष्पपाल सिंह/50

ललित निबंध
बुल्लेशाह की ज़मीन का फेरा/विजय शर्मा/54

लेख
भारत में एक खिलाड़ी था..../दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव/58

पास-पड़ोस
प्रतिभा शतपथी की औड़िया कविताएँ/60

आज की बात
बदलते रिश्ते, बदले सामाजिक मूल्य/डॉ. कुसुम मीतल/65

पुस्तक समीक्षा
उत्तराखंड आंदोलन की यह 'यमुना'/नवीन जोशी/67
हिन्दी उपन्यासों पर भरोसेमंद समीक्षा कार्य/प्रेम शशांक/69
बाज़ारवाद के विरुद्ध सार्थक हस्तक्षेप-'परिवार'/
गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव/71
भारतीय पत्रिकारिता कोश/राजीव श्रीवास्तव/72
प्रेमचंद के विविध आयाम/देवेन्द्र गुप्ता/73

सांस्कृतिक समाचार/75

समय संवाद
शिक्षा में भ्रष्टाचार/कुँवरपाल सिंह/79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□

'वर्तमान साहित्य' के जुलाई-2009 अंक के संपादकीय में महान वैज्ञानिक जे0सी0 बोस को याद करने के लिए साधुवाद स्वीकारें। बोस पर क़ायदे से किया हुआ कोई भी शोधकार्य वैश्विक बौद्धिक परंपरा से जुड़ने के ठेठ भारतीय अंदाज, जिसका एक सिरा आध्यात्म तक जाता है को स्पष्ट करेगा, अभी तक यह कार्य प्रतीक्षित है। आप चाहतीं तो इसे इंगित करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर और बोस के पत्राचार के माध्यम से (देथा जी के 'रुंख' में प्रकाशित हैं) साहित्य और विज्ञान के पारस्परिक सहयोग के बिन्दुओं को उद्वेलित कर सकती थीं पर आपने जितना किया, उतना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। लीक से हटकर यह संपादकीय लिखने के लिए एक बार पुनः साधुवाद।

संजीव, नई दिल्ली

□

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई-2009 अंक पढ़ा। संपादकीय भी पढ़ा जो युवाओं के लिये प्रेरणादायक हैं। मृदुला गर्ग का आलेख 'मूल्य और साहित्य' बहुत ही स्तरीय लगा। मैं मृदुला जी के इस तर्क से सहमत हूँ कि लोग रूढ़ियों और कुरीतियों के विघटन को भी मूल्यों का विघटन मान लेते हैं। जबरीमल्ल पारख का आलेख भी अच्छा लगा। उनकी यह आपत्ति भी उचित लगी कि प्रेमचंद की परंपरा का यह अर्थ नहीं कि राहुल, यशपाल और अब बड़े लेखकों के लिए कोई जगह न हो। विजय बहादुर सिंह का आलेख बहुत सशक्त है। उनकी यह चिंता उचित है कि हिन्दी साहित्य में वैचारिक एकांगिताएँ बढ़ती जा रही हैं और रूढ़ और जड़ अभिव्यंजनाओं की भरमार हो रही है। राकेश भारतीय और पद्मा मिश्रा की कविताएँ अच्छी लगीं।

सच्चिदानंद विशाख, पटना

□

जून अंक के संपादकीय में जो प्रश्न उठाये गये हैं वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हैं। सामाजिक विकास की नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन में जो गैप है, उसकी ओर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है। इन विषयों को अगर संबंधित विभाग और मंत्रालय तक पहुँचाया जाय तो कुछ समस्या का समाधान हो सकता है। अंक की सभी कहानियाँ अच्छी लगीं। कविताएँ भी प्रभावित करती हैं। जनवादी कहानी : अवधारणा का सवाल में डा0 अमरनाथ ने महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाये हैं। वीरेन्द्र जैन का कविता संबंधी लेख भी अच्छा है।

ओंकार सिंह, मुरादाबाद

□

'वर्तमान साहित्य' का जून अंक मिला। हमेशा की तरह यह भी प्रभावित करता है। नवीन जोशी की दही बाबा कहानी मार्मिक है। कहानियाँ सभी बहुत अच्छी हैं। विशेष रूप से ढूँ (दया हीत) और रूस में एक लेखक रहता था (अशोक प्रभावित करती है। चमेली जुगरान ने आज की समस्या समस्या को अपनी कहानी 'होमवर्क' में उठाया है। संतोष चौ ऋषिवंश की कविताएँ प्रभावित करती हैं। सूरज पालीवा कॉलम समसामयिक कहानियों के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण स्त

विष्णु प्रभाकर का स्मरण करते हुए सुनील विक्रम उनके संपूर्ण रचनाक्रम पर प्रकाश डाला है।

अमिता बंसल,

□

'वर्तमान साहित्य' समय से मिल रहा है। जून अंक के मुख छाया पीला अमलताश सहज ही ध्यान आकर्षित करता है। साहित्य की रचनाएँ तो महत्वपूर्ण हैं, इसके मुखपृष्ठ भी आकर्षक और सुरुचिपूर्ण होते हैं। इसके लिये आपको और साहित्य परिवार को बधाई।

अपूर्व जोशी,

□

'वर्तमान साहित्य' का जून, 2009 अंक मिला। अंक में जोशी की कहानी 'दही बाबा' आज की वास्तविकता से करती है। प्रेमरंजन अनिमेष की कहानी 'काग़ज का हवाई भी अच्छी लगी। लेख में वीरेन्द्र जैन का 'कविता और सीधे संबंध की ज़रूरत' में सही कहा गया है कि कविता सीधा पाठक से है जब तक पाठक कविता के सही अर्थ पहचानेगा उसका मन कविता की ओर नहीं लगेगा। कवि परमेन्द्र की कविता आज जो हो रहा है वह उस पर सटीक है। सत्यनारायण भटनागर की लघुकथा 'मित्रता' में सही कि 'मित्रता के बिना सफलता का आनंद कहाँ'। शम्सी-शम्स की ग़ज़लें बहुत ही सुंदर लगीं। अंत में आदरणीय प्रोफ़ेसर ने अपने समय संवाद 'कबिरा ई घर प्रेम का' में कहा है कि की युवा पीढ़ी अपने आपको 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, न कोय/ ढ़ाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय' की तर्ज़ हो रही है जो कि ग़लत है।

ब्रजेश कुमार सिंह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी होती है और एक साथ अनेक स्तरों पर चलने वाली होती है। जिनकी गतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। आज के वैश्विक परिदृश्य में किसी भी विकासशील देश के नीतिगत निर्णय अपने समाज के हितों और आम जनता की आशा-आकांक्षा के उतने अनुरूप नहीं होते जितना उस पर पड़ने वाले वैश्विक स्तर के आदान-प्रदान से और दबंग देशों की वर्चस्ववादी राजनीति से उपजे दबाव होते हैं। मोटे तौर पर साम्राज्यवादी वैश्विक परिदृश्य में राजनीतिक और आर्थिक नीतियाँ अपने राष्ट्रीय विकास की गति और दिशा को सूचित करती हैं।

लगभग दो दशक पहले देश में नयी आर्थिक नीति की शुरूआत हुई जिसने देश के विकास का चेहरा ही बदल दिया। बड़े कारपोरेट घरानों के साथ-साथ बड़े व्यापारियों और पूँजीपति घरानों का वर्चस्व इतना बढ़ा कि सार्वजनिक उपक्रम के संस्थान नीलाम होने लगे। अपनी (जनता की) पूँजी निजी क्षेत्र के उपक्रमों, संस्थानों में निवेशित होने लगी। जैसे पूरा देश देशी-विदेशी पूँजीपतियों और व्यापारियों के हाथों में ठेके पर दे दिया गया हो या गिरवी रखने की मंशा हो। हमारी घरेलू नीतियाँ योरोप-अमरीका में बैठे लोग बनाने लगे। बताया गया कि हमारे देश का हित इसी में है। ये अलग बात है कि खुद वे देश अपने यहाँ इससे बिल्कुल उलटी नीतियों के नियामक हैं। अब जो कर्ज़ देगा, वह छड़ी लेकर अपनी मर्जी की नीतियाँ भी बनवायेगा। इस संदर्भ में एक किस्सा याद आता है। बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर ने आह्वान किया कि दलित वर्ग के लोग जो परंपरागत रूप से मुर्दा जानवर उठाने का काम करते चले आ रहे थे, अब यह कार्य नहीं करेंगे। इस पर सवर्ण समाज में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बौद्धिक स्तर पर कुछ लोगों ने दलितों को समझाने की कोशिश की। अनेक लेख लिखे गये जिसमें कहा गया कि मुर्दा जानवर उठाना कितना फायदेमंद है। मुर्दा जानवर उठाने वाले उसकी खाल, सींगों से और गोश्त से कितना कमा सकते हैं। इस पर बाबा साहब ने लिखा कि मुर्दा जानवर उठाना अगर इतना ही लाभकारी है तो अच्छा होगा अगर सवर्ण समाज खुद यह लाभ उठाये।

विदेशी सरकारें अपने यहाँ कृषि, तेल और अन्य उत्पादन वाले उद्योगों को भारी सब्सिडी देती हैं लेकिन सारी बंदिशे हिन्दुस्तान और इस जैसे विकासशील देशों के लिये होती हैं। पिछले बीस सालों में देश की अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन हुआ वह आज एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकी है जो मेहनत कश आम जनता के हितों की बलि देकर पूँजीपतियों द्वारा संचालित हो रही है। इस नयी अर्थव्यवस्था से पिछले पंद्रह वर्षों में जहाँ नौ भारतीय अरबपति थे अब उनकी संख्या 2008 में बढ़कर 53 हो गयी। दस शीर्ष कॉरपोरेट घरानों की परिसंपत्ति इस दौरान तीन गुना हो गयी जो अनुमानतः 10 लाख करोड़ से भी ज़्यादा है।

इस पूरे राजनैतिक-आर्थिक परिदृश्य का प्रभाव हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर किस रूप में पड़ रहा है, यह मध्यवर्गीय समाज के तेजी से बदलते रूप-रंग से ज़ाहिर होता है। सांस्कृतिक जीवन में हमारे मनोरंजन के साधनों का इस्तेमाल जिस रूप में हो रहा है, उससे लगता है कि जैसे यह भी किसी खास सोच से संचालित है। इसके साथ व्यापार तो जुड़ा है लेकिन इसके साथ एक राजनीतिक सोच के सांस्कृतिकरण की मंशा भी नज़र आती है। मीडिया के कुछ चैनलों की लगातार आलोचना होती रही है कि वे अंधविश्वास फैलाने वाली घटनाओं का प्रचार करते हैं। भूत-प्रेत, झाड़फूंक, टोना-टोटका जैसे क्रियाकलापों को अतिरंजित कर रहे हैं। इस पर लगातार बहसें हुईं, सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ और कुछ प्रतिरोधात्मक निर्णय भी लिये गये। इसी के समानांतर कुछ चैनलों के लोकप्रिय धारावाहिकों में ऐसे तत्त्वों को, घटनाओं-विवरणों को बहुत महीन तरीके से समावेशित किया जा रहा है, उस ओर शायद लोगों का ध्यान नहीं जा रहा है। विश्व की साम्राज्यवादी ताकतें धार्मिकता को हथियार बनाकर, (विशेष रूप से एशियाई मुल्कों में) अपना वर्चस्व का शिकंजा मज़बूत कर रही हैं। यह अलग बात है कि हवन करते अब खुद के भी हाथ जलने लगे हैं। विश्वस्तर पर तालिबानी आतंकवाद इसका एक उदाहरण है। वर्चस्ववाद बरास्ता धार्मिक कट्टरता हमारे राजनीतिक परिदृश्य में भी फूलफल रहा है, लेकिन मनोरंजन की दुनियाँ के पटल पर पाखंडपूर्ण और अवैज्ञानिक आस्थाओं की स्थापना में इसी वर्चस्ववाद की भावना निहित है। अभी एक सुसंयोजित कहानी वाले धारावाहिक में विवाह के लिये लड़के और लड़की के बीच उनका मांगलिक होना एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बना हुआ है। लड़की इसलिये शादी के लिये मज़बूर की जा रही है कि प्रस्तावित लड़का भी मांगलिक है। अगर उसने अपनी पसंद से शादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तो उस ग़ैर मांगलिक लड़के की जान पर बन आयेगी।

यहाँ यह कहने की ज़रूरत नहीं कि दर्शक वर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से में जहाँ, परंपरागत रूप से यह मान्यताएँ चली आ रही हैं, उन्हें इससे बल मिलता है जो अवैज्ञानिक सोच, पिछड़ी हुई संकीर्ण मानसिकता और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को जन्म देता है। इसी क्रम में जब एक ही गोत्र में शादी करने वाले जोड़ों की जान के ग्राहक कुछ समुदाय बनने लगते हैं तो यह भी उसी तरह की परंपरावादी, प्रतिगामी सोच का फल होता है। बाल विवाह रोकने के लिये निरे सरकारी और ग़ैर सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं। भंवरी देवी इसी बाल विवाह को रोकने के कारण जलालत और यातना का शिकार हुई लेकिन बाल विवाह पर आधारित एक सीरियल पूरे धूमधड़ाके से चल रहा है। एक युवा राजनैतिक महिला नेत्री जो स्वयं एक मशहूर टी0वी0 कलाकार हैं, उनके द्वारा बनाये गये और अभिनीत सीरियल में पूरी कथा ज्योतिष और गुरुजी द्वारा की गयी भविष्यवाणियों पर आधारित थी। एक लड़की का संघर्ष और अपनी योग्यता के बल पर अपने अस्मिता की खोज की अच्छी खासी कहानी का कबाड़ा तो हुआ ही, पूरे सीरियल का अंग-भंग हो गया और संदेश गया कि भाग्यवाद और गुरु की भविष्यवाणी ही सब कुछ है, बाकी सब निरर्थक। टी0वी0 आज का ऐसा माध्यम है जिसने हर घर आँगन और अंतःपुर में कब्जा कर रखा है। विशेष रूप से मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग में यह सीरियल पूरी श्रद्धा और आस्था के साथ देखे और गुने जाते हैं। रोज़मर्रा की ज़िंदगी में इन सीरियलों के दृष्टांत उद्धरित होते हैं। ऐसे में जो काम हर शहर, कस्बे में आये दिन नित नये बाबा, बापू और गुरुजी लोग अपने प्रवचनों, कथाओं के ज़रिये कर रहे हैं वही ये कुछ सीरियल बारीकी के साथ कर रहे हैं। उद्देश्य सबका एक है। आम जनता के संकट, रोजमर्रा की मुसीबतें, मंहगाई, बेरोजगारी, अव्यवस्था की आपाधापी और अराजकता से उपजी परिस्थितियाँ... संगठन और सामूहिक संघर्ष के द्वारा ही जिनका निराकरण संभव है लेकिन हमारे मीडिया द्वारा मुहैया कराया गया मनोरंजन तो कुछ अलग ही सुझा रहा है...।

इसीलिये, विचारधारात्मक बदलाव राजनीति के स्तर पर होते हैं। आर्थिक नीतियों में बदलाव नई राजनीतिक दिशा की राह दिखाता है लेकिन सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी होती है। व्यवस्था के बदलाव का प्रभाव सामाजिक जीवन पर धीरे-धीरे पड़ता है। सामाजिक अधिसंरचना में होने वाले बदलाव में साहित्यिक और सांस्कृतिक अवयव महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनका प्रभाव भी धीरे-धीरे आकार ग्रहण करता है।

अभी एक ताजा टी0वी0 कार्यक्रम 'राखी का स्वयंवर' देखकर यह बात और स्पष्ट दिखाई देती है। नितांत मध्यवर्गीय युवा और उनकी परंपरावादी मध्यवर्गीय मांओं की जो बातचीत टी0वी0 पर सुनी, उससे लगा कि शायद अब वह समय आ गया है जब खालिस मध्वर्गीय नैतिकता के मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। यह सवाल यह नहीं है कि ये अच्छा हो रहा है या बुरा। जो हो रहा है वह तो होना ही है। अब मध्यवर्ग के सामने शायद इसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। सेलिब्रिटी का संग-साथ और ग्लैमर की दुनियां का आकर्षण तथा पुराने जीवन मूल्य व नैतिक आस्थाओं के आग्रह के बीच द्वंद अब धीमा हो रहा है।

जहाँ यह द्वंद अभी बरकरार है, जहाँ दो तरह की दुनियाँ के बीच रस्साकशी अभी चल रही है वहाँ प्रेम और विवाह के बीच परिवारीजनों द्वारा, पंचायतों द्वारा मौत के फरमान सुनाये जा रहे हैं। नये बन रहे समाज का खुलापन, अपना जीवन अपनी तरह से जीने की आकांक्षा के बीच पुराने सामंती मूल्यों और परंपरावादी नैतिकता के नियम-धरम के बीच की टकराहट इन सामाजिक हत्याओं और अपराध के रूप में सामने आ रही है। कुछ महीने पहले नॉयडा-दिल्ली मार्ग पर अपने सहपाठी के साथ उसकी कार में जा रही मैनेजमेंट की एक छात्रा का बलात्कार वहाँ आसपास के क्षेत्र के कुछ लड़कों ने किया। उन लड़कों का अपना परंपरागत, सामंती बंधनों का जकड़ा परिवेश। दूसरी ओर अपने सहपाठी के साथ स्वच्छंद घूमती लड़की। यह अपराध भी इसी द्वंद से उपजा दिखाई देता है। आज महानगरों में 'लिव इन रिलेशनशिप' का चलन तेज़ी से बढ़ रहा है। इन लड़के-लड़कियों में अधिकांशतः छोटे शहरों, कस्बों के जिनका सामाजिक परिवेश नितांत मध्यवर्गीय है। नये बन रहे समाज की नयी ज़रूरतों, आर्थिक दबावों और साथ ही मुक्त वातावरण की आकांक्षा से उपजी ये परिस्थितियाँ हैं। इसके बरअक्स बढ़ती धार्मिकता और कट्टरपंथ, रूढ़िवादी सोच के नये रूप और यथा स्थितिवाद का समर्थन करती नयी प्रवृत्तियाँ और नया बन रहा सांस्कृतिक वातावरण... यह दोनों ही इस नयी वैश्विक संस्कृति के जन्म ले रहे हैं। क्या यह माना जाय कि यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं या नये अंतर्द्वन्दों को रेखांकित कर रहे हैं ?

(नमिता सिंह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दद्दा : बेशुमार यादें

मोहन नेपाली

राष्ट्र की महिमा का गान, अतीत गौरव के चित्र एवं सम्पूर्ण देशवासियों को अपनी स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता के लिए आत्मोसर्ग के भाव से उद्दीप्त करने वाले प्रथम राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त 20वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों की अग्रिम पंक्ति के महान कवि थे। राष्ट्रकवि स्व. श्री मैथिलीशरण गुप्त न केवल साहित्यकार थे, बल्कि जाने-माने वैद्य भी थे। पुरानी पसरट निवासी वैद्य मुंशी देशराज जी ने 1986 में मुझे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के संदर्भ में अनेक संस्मरण सुनाये थे।

तब मुंशी देशराज जी की उम्र लड़कपन की थी। चिरगांव में मुंशी दद्दा के पीछे रहते थे, व उनके भतीजे के साथ पढ़ने जाया करते थे। धीरे-धीरे दद्दा के यहाँ मुंशी जी का आना-जाना शुरू हो गया। वे उनके परिवार में घुल-मिल गये। दद्दा उन्हें इतना स्नेह करते थे कि मुंशी देशराज को उन्हें अपना पुत्र तुरन्त मानने लगे थे। मुंशी जी पर उन्हें इतना विश्वास हो गया था कि उन्होंने अपना सारा आयुर्वेद का ज्ञान उन्हें सिखला दिया था।

अंग्रेज गवर्नर मैकडानल के नाम पर झाँसी में हाईस्कूल की स्थापना हुई थी। इस स्कूल में अनेक प्रसिद्ध राजनेता खिलाड़ी, साहित्यकार, स्वतंत्रता सेनानी यथा मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा, आत्माराम गोविन्द खेर जैसे लोग पढ़ चुके थे। आजादी के बाद जब इसका नामकरण बदलकर मैथिलीशरण गुप्त के नाम पर करने की चर्चा शुरू हुई और उसकी भनक दद्दा को लगी, तो उन्होंने तुरन्त झाँसी के कलेक्टर को पत्र लिखा था कि मैकडानल हाईसकूल का नाम उनके नाम पर नहीं, बल्कि विद्यालय के प्रधानाचार्य ऋषि की तरह महान, तपस्वी महापुरूष, श्रद्धेयश्री विपिन बिहारी बनर्जी के नाम पर किया जाये और अन्त में हुआ भी यही।

दद्दा की 10 संताने हुई। 9 संताने व परिवार के अन्य व्यक्तियों की मौतें उन्ही के सामने हुई। दसवी सन्तान श्री उर्मिलाचरण गुप्त ही शेष बचे, जो उनके साहित्यिक जीवन की अच्छी याद रखे हैं। इतनी मौते होने पर उनका जीवन जिस विषाद से भरा उसकी करूणा की उपज ने 'साकेत' को जन्म दिया। इसीलिये तो वे उर्मिला की वेदना को इतने भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर पाये। उनका वैभव विपुल था। उनके परिवार में जब भी शादियाँ होती थीं, तो आतिशबाजी का शानदार प्रदर्शन होता था।

दद्दा की शादी में जब आतिशबाजी का प्रदर्शन हुआ और बारात दतिया पहुँची तो भव्य आतिशबाजी देखकर वहाँ से गुजर रहें महाराज दतिया व महाराज बिजावर अचम्भे में पड़ गये थे। आतिशबाजी बनाने वाले उनके यहाँ नौकरी किया करते थे। उनका काम था कि एक शादी में आतिशबाजी बनायी और जब तक दूसरी शादी आयी वे आतिशबाज़ी ही बनाते रहते। दद्दा के बड़े भाई स्व. श्री रामकिशोर गुप्त की शादी झाँसी में मशहूर सेठ पन्नालाल के यहाँ होनी थी। पन्नालाल महारानी झाँसी के समय के जाने-माने सेठ कहलाते थे। उनके यहाँ घोड़ों की फौज थी। एक बार एक इत्र वाला जब उनके यहाँ इत्र बेचने गयी तो उन्होंने उसे सारे घोड़ों को इत्र लगाने के आदेश दे दिये थे। उन्हीं के नाम पर आज भी मुहल्ला पन्नालाल कहलाता है। चिरगांव से सेठ पन्नालाल के यहाँ जब बारात आयी तो तीन दिन लग गये। बारात बैलगाड़ियों से आयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। तब चिरगांव से झाँसी तक सड़क के दोनों ओर आतिशबाजी लगायी गयी थी।

बारात आगे बढ़ती जाती थी और आतिशबाजी चाहे दिन हो अथवा रात चलती रहती थी। हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा दद्दा को अपना बड़ा भाई मानती थी। जब तक दद्दा जिन्दा रहे वे हर रक्षाबंधन पर उनको राखी बांधती थी। अगर दद्दा चिरगांव में होते थे तो वे चिरगांव आती थी। तब न जाने कितने लोग उस दृश्य को देखने के लिए दद्दा के निवास पर पहुँच जाते थे और दो साहित्यकारों का अनूठा स्नेह देखकर बुन्देलखण्डी कह उठते थे...'बेन भयूया हों तो ऐसे हों'।

वाराणसी के साहित्य मनीषी श्री रायकृष्णदास से जब दद्दा का परिचय हुआ तो महादेवी जी से भी उनका परिचय हुआ था। दद्दा और उपन्यास सम्राट वृन्दावन लाल वर्मा जिन्हें बुन्देलखण्डवासी 'बाबू' के नाम से पुकारते थे, एक प्राण दो देह थे। सप्ताह के शनिवार का दिन शायद ही ऐसा जाता हो जब चिरगांव में दद्दा का दरबार न लगता हो। दद्दा के यहाँ चिरगांव में जब भी बाबू वृन्दावन लाल वर्मा आते थे तो चिरगांव के पास भरतपुरा में फूलचन्द पुरोहित के यहाँ जरूर जाते थे। वहीं से वे बंदूक लेकर बेतवा के किनारे घनघोर जंगल में शिकार के लिए निकल जाते थे। शिकारबाजी का उन्हें बड़ा शौक था और बेतवा से तो जैसे दोनों को अपार मोह था। चिरगांव में विख्यात क्रांतिकारी व पत्रकार स्व. श्री गणेश शंकर विद्यार्थी भी खूब आया जाया करते थे। तब उनकी आवभगत का काम दद्दा मुंशी देशराज पर ही छोड़ देते थे। विद्यार्थी जी भी तब पैदल ही बेतवा के लिए निकल पड़ते थे। वे रास्ते भर पेड़ों से बेर तोड़ते थे और खाते चले जाते थे। न हुआ तो किसी किसान से बैंगन ही ले लेते और कच्चा खा जाते। तब एक पैसे में दो सेर बैंगन मिला करते थे।

खण्डेराव गेट के बाहर गीता मंदिर में जब बाबू वृन्दावन लाल वर्मा का जन्म दिवस मनाया गया तब दद्दा ने यह कविता पढ़ी थी-

मेरा वृन्दावन सदा फला-फूला रहे।
इसमें मुरली की मधुर गुंजित कला रहे।।

यह सुनते ही वर्मा जी दद्दा के चरणों पर गिर पड़े, और दद्दा ने उन्हें गले लगा लिया था। मुंशी देशराज जी के यहाँ हर वर्ष दद्दा एवं बाबू का जन्म दिवस मनाया जाता था जिसमें प्राय: दोनों ही उपस्थित होते थे।

11 नवम्बर 1964 को 11 बजे उन्होंने जो अंतिम कविता लिखी उससे साफ है कि वे अपनी अंतिम यात्रा पर जाने के लिए तैयार थे।

प्राण न पागल हो तुम यों,
पृथ्वी पर है वह प्रेम कहां।
मोहमयी छलना भर है।
भटको न अहो तुम और यहां।
ऊपर को निरखो अब तो,
बस मिलता है चिर मेल वहां।
स्वर्ग वहीं, अपवर्ग वहीं, सुखवर्ग वहीं।
निजवर्ग जहाँ।

एक बार दिल्ली में जब मैथिलीशरण गुप्त को नयी रेशमी जेकेट में झांसी के वरिष्ठ पत्रकार स्व. श्री रामसेवक रावत ने देखा तो उन्होंने दद्दा से कहा यह तो आपको खूब फल रही है। दद्दा ने वह जैकेट तुरन्त उतार कर श्री रावत को यह कहकर दे दी कि जब तुमको यह अच्छी लग रही है तो तुम ही पहनो। मुंशी देशराज वैद्य का वह अपने साहित्यिक दरबार में अपने साहित्यकार बंधुओं से यह कहकर परिचय कराते थे कि मुंशी जी तो हमारे पारिवारिक वैद्य हैं। ऐसे थे हमारे महान दद्दा!

पत्रकार, झाँसी (उ

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–
vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोसम्बी की भारतीयता संबंधी इतिहास-दृष्टि

देवीप्रसाद मौर्य

दामोदर धर्मानंद कोसम्बी (31 जुलाई, 1907–29 जून, 1966) एक प्रकांड विद्वान थे। गणित विषय के गंभीर प्राध्यापक होने की उनकी ख्याति जीवनपर्यंत रही, परंतु प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति की नृतत्वशास्त्रीय ढंग से जो व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की, उससे हमारे यहाँ ऐतिहासिक अनुसंधान की एक नयी विधि के विकास का रास्ता खुल गया। किसी भी मानव समाज के ऐतिहासिक विकास-क्रम में परिस्थितियों और व्यवस्था की परस्पर अंतर्क्रिया में अतीत का प्रभाव वर्तमान में प्रकट होता है। इतिहास केवल घटनाओं और तिथियों का संकलन भर नहीं है, उसे जब एक ऐतिहासिक क्रिया के रूप में देखा जाता है, तो वर्तमान समाज की तमाम समस्याओं के निराकरण की यथार्थपरक दृष्टि साफ़ हो जाती है। ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता की गति संबंधित समाज के भीतर होने वाली उत्पादन विधि और उसके विविध संबंधों के स्वरूपों से तय होती हैं। कार्ल मार्क्स की इतिहास-दृष्टि का उपयोग कोसम्बी जी ने भारतीय समाज की पाँच हज़ार वर्षो से भी ज़्यादा पुरानी नव-सभ्यता को समझने के लिए किया है। ऐसे इतिहास-लेखन में उनका लक्ष्य अतीत का गौरवगान अथवा व्यथा-कथा कहना नहीं था, बल्कि निसंग भाव से वर्तमान समय और समाज के अंतस्तल को समग्रता से समझने की कोशिश थी, ताकि समाजवादी नवनिर्माण के आगामी प्रयत्नों और परियोजनाओं को यथार्थ के धरातल पर प्रतिफलित किया जा सके।

प्रो. कोसम्बी के लेखन में हर कहीं ज्ञान की शाखाओं (नृतत्वशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, भाषाशास्त्र, जैविक और भौतिक विज्ञान (पोषण विज्ञान भी), मुद्राशास्त्र तथा समाजशास्त्रीय मानव-व्यवहार की विविधता और उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम के साथ सहसंबंध दिखायी देते हैं। ज्ञान की इस बहुविध क्षमता के कारण ही वे दस हज़ार वर्ष के पहले के मानव-समूहों के व्यवहार तथा परस्पर संबंधात्मक अस्तित्त्व को तार्किक ढंग से व्याख्यायित कर सके, जिससे सामान्य इतिहासकार बचते रहे हैं। वे आदि मानव की खाद्य-संग्राहक प्रवृत्ति से अन्न-उत्पादक स्थायी निवासी की तरह विकसित होने की स्थितियों का अध्ययन करते हैं।

कोसम्बी इतिहास को साम्राज्यों, राजवंशों, युद्धों अथवा शासकों की कथाओं की तरह बिल्कुल ही नहीं देखते बल्कि इसके केन्द्र पर वे आदि जन-जातियों के खानपान, स्थानीय आबोहवा, उपज, मानव-जीवन को प्रभावित करने वाली स्थितियों और विभिन्न मानव-समूहों के अंतर्संबंधों तथा विग्रहों के रूप में स्वाभाविक तौर पर विकसित होते हुए देखते हैं। उन्होंने क्षेत्र अनुसंधान के आदिम प्रवृत्तियों एवं रीति-रिवाज़ों, पुरात्त प्रमाणों-यथा मुद्राओं और बहुस्तरीय उत्खननों, किवदंतियों के बहुविध प्रयोगों से इतिहास के उलझे तारों को सुलझाने के यथार्थपरक प्रयत्न किये हैं। उनके लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद का मार्गदर्शक सिद्धांत है–उत्पादन के साधनों और संबंधों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है।' प्रागैतिहासिक पाषाण औज़ारों, मृत्भाण्डों, चित्रित धूसर पके भाण्ड, ओपदार काले भाण्ड, ताम्रधातु के औज़ार से लेकर लौह खनिज एवं औज़ारों के सीमांकन के भीतर दस सहस्र वर्षों के मध्य एशिया से लेकर भारतीय प्रायद्वीप पर बसने वाली आदिम जातियों और परवर्ती सभ्यताओं के विकासक्रम को हम कोसम्बी के काम में देखते हैं।

कोसम्बी एक प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी की तरह अपने इतिहास-लेखन का उद्देश्य स्पष्ट करते हैं–"इतिहास लिखने के बजाय इसे बदलना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।" भारतीय संसदीय लोकतंत्र में समाज-निर्माण के काम को राजनीतिज्ञों के भरोसे छोड़ने की बनिस्बत वे यह ज़्यादा ज़रूरी समझते हैं कि भारतीय इतिहास की प्रमुख धाराओं को परिभाषित कर उस दिशा में सकारात्मक प्रयास किये जाएँ। उनके पिता प्रो. धर्मानंद कोसम्बी अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त बौद्ध विद्धान थे, इस वजह से ही डॉ. डी. डी. कोसम्बी भारतीय समाज के सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को गहरे ढंग से सहजतापूर्वक समझ सके। अपनी शोध-प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारतीय सांस्कृतिक इतिहास पर उन्होंने 1942 से लेकर 1956 तक एक सौ से अधिक शोध-प्रबंध लिखे, जो उनकी तीन किताबों–'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ 'इन्डियन हिस्ट्री' (1956), 'मिथ एन्ड रियलिटी' (1962) और 'कल्चर एन्ड सिविलिज़ेशन ऑफ़ एनसिएन्ट इन्डिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन, (1965) में संकलित है। उनकी तीसरी किताब प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का गंभीरतापूर्वक विहंगावलोकन करती है, वे चाहते भी थे कि गंभीर अध्येता उनके इस काम को समझकर आगे बढ़ाएँ। हम यहाँ इसी किताब के हिन्दी अनुवाद 'प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक ऐतिहासिक रूपरेखा' को संदर्भित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए प्रो0 कोसम्बी की इतिहास-दृष्टि को व्याख्यायित करने की कोशिश कर रहे हैं। यह इतिहास-ग्रंथ अपना एक प्रतिमान स्थापित कर चुका है और हमारी रुचि भारत की सामाजिक सांस्कृतिक संरचना में अंतर्निहित अंतर्विरोधों को समझने की है, अस्तु हम इतिहास विषय की सूक्ष्मता की बनिस्बत लेखक के तत्संबंधी निष्कर्षों पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी तक भारतीय भूभाग का अधिकांश हिस्सा सघन वनों से आच्छादित था। खाद्य सामग्री संग्रह करके जीवनयापन करने वाले आदिम मानव-समूह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। ये सभी मानव-समूह मातृ-सत्तात्मक थे, उनकी अपनी कोई मातृदेवी होती थी, और कभी-कभी उनका अपना टोटम (चिह्न) भी परिस्थिति और जीवन-रक्षा के साधन के रूप में तय हो जाता था। मानव-जाति की प्रजातियों का निर्धारण शरीर की संरचना, वर्ण और भाषा के आधार पर किया जा सकता है, परंतु प्रागैतिहासिक काल का सही काल-निर्धारण आसान काम नहीं है। दक्षिण भारत में प्रागैतिहास तब तक बना रहा, जब उत्तर में ऐतिहासिक साम्राज्यों का उदय हो चुका था। किंतु, इतना तो तय है कि प्रागैतिहासिक काल में ही भारत के पूर्वी भाग में यूनान और बर्मा के रास्तों से आदिम मानव-समूह आ चुका था, यह प्रजाति द्रविडों और नागों से भिन्न थी। भारत की सभी आदिम भाषाएँ एक ही भाषा परिवार की नहीं है। मोटे तौर पर उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है:

1. उत्तर और पश्चिम की भाषाओं का इन्डो आर्य परिवार, जिसमें पंजाबी, हिन्दी, बंगाल, गुजराती, मराठी और उड़िया का समावेश है।

2. दक्षिण की द्रविड भाषाएँ-तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तुलु

3. ऑस्टो एशियाई भाषा परिवार, जिसमें अधिकांश आदिम भाषाओं को ले सकते हैं—मुंडारी, उराव, संथाली आदि।

माना यह जाता है कि आदिवासियों को द्रविडों ने दूरदराज़ के जंगलों में धकेल दिया और बाद में आर्यों ने द्रविडों को भी दक्षिण की ओर भगा दिया। मोटे तौर पर, इन प्रजातियों को आर्य, द्रविड, निषाद और किरात कहते हैं, परंतु कोसम्बी जी सीधे-सीधे उन्हें नहीं बताते हैं, वे विविध लक्षणों के आधार पर ही प्रजाति तय करते हैं। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि भील भारत में आर्य पूर्व के लोग हैं और संभवतः वे द्रविड नहीं हैं।

भारतीय भूभाग पर पहली बार अन्न-उत्पादन का काम सिन्धु नदी की घाटी में शुरू हुआ। यानी कि पश्चिमी पंजाब और सिंध में इसका समय है 3000-1700 ई.पू.। परंतु जब जंगल काटने के बाद उत्पादन के लिए ज़मीन कम पड़ने लगी, तो खेती का असली विस्तार बहुत बाद मे पूर्व की ओर सिंधु घाटी से काफ़ी दूर गंगा नदी की घाटी में हुआ और इसके साथ कबीले स्थायी रूप में बसकर ग्राम बनाने लगे। इन ग्रामों के बनने के बाद उत्पादन कामों के लिए विविध कर्म और शिल्प हेतु कर्मकारों की ज़रूरत पड़ी। यह विस्तार कोई हज़ार वर्ष चलता रहा। लगभग 700 ई.पू. तक वहाँ अन्न-संग्राहक, अन्न-उत्पादक साथ-साथ बने रहे। आश्रमवासी और भिक्षु संघ दरअसल अन्न-संग्राहक परंपरा के ही अवशेष हैं।

भारतीय समाज की सभ्यता और संस्कृति की जो विशेषता बतायी जाती है, वह है—विविधता में एकता। भू-भाग पर ज्ञात-अज्ञात लगभग दस सहस्राब्दी के मानव-के विकास-क्रम में कभी भी पूर्ण रूप से विनाश की स्थिति बनी है। इसकी निरंतरता एक विस्मयकारी घटना है। मेसोपोटे बेबीलोनिया, मिस्र आदि सभी प्राचीन मानव सभ्यताएँ, जो सात सहस्राब्दी पूर्व विद्यमान थीं और जिनका संबंध सिंधु की तत्कालीन सभ्यता से था, काफ़ी समय पहले नष्ट हो थीं। उन भूभागों पर अवस्थित आज की अरबी या ईरानी सभ्य का इतिहास पूर्व सभ्यताओं से पूरी तरह विच्छिन्न है, भारतीय भू-भाग की सिंधु घाटी सहित विभिन्न समाजों की सभ्य ने आपस में घुलते-मिलते निरंतर विविधता में एकता के को बनाये रखा। सिंधु घाटी सभ्यता को नगरीय सभ्यता जाता है, जबकि उसके बाद के हज़ार वर्षों में अन्न-उ ग्रामीण समाज विकसित हुए। कोसम्बी मानते हैं कि भा पवित्र नदी गंगा के तट पर या इसके समीप ईसा-पूर्व सहस्राब्दी तक किसी महत्त्वपूर्ण शहर की स्थापना नहीं और तब तक सिंधु घाटी की सभ्यता विस्मृति के गर्भ में हो चुकी थी।

कोसम्बी सिंधु घाटी की संस्कृति को कांस्य युग की हैं—मोटे तौर पर नागर सिंधु संस्कृति का काल हम 300 से 2000 ई.पू.मान सकते हैं। सिंधु सभ्यता के दो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा को बाह्य आक्रमणकारियों ने मुँह में धकेला। उनकी सिंचाई की व्यवस्था—नहरों को तह किया गया और उनके नगरों (क़िलों) की संरचना को किया गया—ऋग्वेद के कई मंत्रों के पाठ से स्पष्ट है सभ्यता का व्यापारिक संबंध जल-संवहन के माध्यम से मेसो से था। पुरातात्त्विक प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ है कि का सभ्यताओं—मेसोपोटेमिया, बेबीलोनिया, मिस्र आदि का ढाँचा लगभग एक जैसा था। सिंधु-सभ्यता समुद्र के किनारे ही विकसित हुई और अन्य संस्कृतियों से एकरूपता के वाणिज्यिक ढंग से संबद्ध रही। ऐसा माना गया है कि सहस्राब्दी ईसा पूर्व इन सभी सभ्यताओं के मूल सर्जक (अनातोलिया) और जेरिको (फ़िलस्तीन) से विभिन्न दि जाकर बसे और स्थानीय परिस्थिति के अनुसार सभ्यता विकास किया। सिंधु घाटी की सभ्यता के विध्वंस का मध्य एशिया के पशुचारी कबीलों के द्वारा (जिन्हें बाद कहा गया) किये गये आक्रमण को बताया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी सहस्राब्दी में प्रारंभ और अंत में दो बड़े समूहों के रूप में मध्य एशिया के आधुनिक उज़बेकिस्तान क्षेत्र से वे लोग भारतीय भू-भाग पर आये और यहाँ के लोगों की जीवन-पद्धति पर पहले तो आक्रामक बने, परंतु धीरे-धीरे उनके शिल्प तथा साधनों को स्वीकार करते हुए वे भी अन्न-उत्पादक बन गये। मूल बात जो कोसम्बी जी बताना चाहते हैं, वह यह है कि मध्य एशिया से निकलने वाले पशुचारी उतने सुसंस्कृत नहीं थे, जितने कि सिंधु संस्कृति के नगर-नियोजन और प्रारंभिक कृषि कर्म करने वाले स्थानीय लोग थें। अधिकांश इतिहासकार सिंधु सभ्यता को स्थानीय लोगों के द्वारा विकसित की गयी मानते हैं, नृतत्वशास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार उनका मानना है कि वे लोग द्रविड थे और उनके वाणिज्यिक संबंध अन्य सुमुन्नत नगर-संस्कृतियों से थे। आशय स्पष्ट है कि ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में जब मध्य एशिया से आर्य कबीले पश्चिमोत्तर भारत में आये, तब यहाँ उन्हें पहले से ही आवाद सभ्यताओं का सामना करना पड़ा था। यह सच है कि सप्तसिंधु प्रदेश में आर्यों की सभ्यता का विकास हुआ और इस विकास-क्रम में अन्य प्रजातियाँ भी सहयोगी बनीं। परंतु, इस संभ्रम का कोई आधार नहीं है कि आर्य लोग भारत के ही आदि निवासी रहे हैं। आर्य भाषा परिवार के समाज यूरोप से मध्य एशिया तक पाये जाते हैं, परंतु यूरोप में ही फ़िनीशी, हंगेरियन तथा बास्क भाषाएँ आर्य परिवार की नहीं हैं। हिब्रू और बरसी को आर्य भाषा परिवार का नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से सिंधु सभ्यता के आर्य भाषा परिवार से भिन्न परिवार का होना सिद्ध होता है। स्वाभाविक है कि प्राचीन सिंधु संस्कृति मेसोपोटेमियाँ आदि संस्कृतियों से संबद्ध थी, तो हमारे यहाँ पुराणों में वर्णित असुर, दैत्य, यक्ष, निषाद (नाग), जो प्रजातियाँ अपने सांस्कृतिक व्यवहार में यज्ञ को अपना केंद्रीय कर्मकांड नहीं मानती थीं, उनके और आर्य संस्कृति के बीच संघर्षों की कथाओं का आधार वास्तविक है।

कोसम्बी जी ऋग्वेद को प्राचीनतम ग्रंथ स्वीकार करते हैं और इसके अधिकांश हिस्सों के 1500-1200 ई.पू. भारतीय पश्चिमोत्तर प्रदेश—सप्तसिंधु प्रदेश में ही रचे जाने को भी स्वीकारते हैं। आर्य सभ्यता के विषय में वे ऋग्वेद के पाठों का ही विश्लेषण करते हैं—इंद्र ने आर्य मुखिया अभ्यावर्तिन चायमान के लिए हरियूपीया के बचे-खुचे वरशिखों को मार डाला। नष्ट किया गया वह कबीला वृचीवंतों का था। इंद्र ने इनके 130 कवचधारी योद्धाओं को यव्यावती (रावी) के तट पर मिट्टी के घड़े की तरह चकनाचूर कर दिया। इस वर्णन का संस्कृत पाठ ऋग्वेद के छठे मंडल के सत्ताइसवें सूक्त के पाँचवे और छठे मंत्र में देखा जा सकता है। ऋग्वेद में वर्णित पणियों का संबंध फिनीसियों से बताया जाता है, इस शब्द की व्युत्पत्ति वणिक कर्म से की जाती है। बारह आदित्यों में से एक त्वष्ट्रा को कोसम्बी सिंधु सभ्यता के साथ संबद्ध करके देखते हैं और रेखांकित करते हैं कि आर्यों का शिल्प-कौशल बहुत अधिक नहीं बढ़ाए था, इसलिए वे ग़ैर-आर्य त्वष्ट्रा (विश्वकर्मा) जैसे शिल्पज्ञ को यथा उचित सम्मान देते हुए उसका उपयोग करते थे। त्वष्ट्रा ऋग्वेद के मंत्रसृष्टा ऋषि हैं, उनके पुत्र त्रिसिरा त्वाष्ट्र को तैत्तरीय संहिता में असुर का भानेज बताया गया है। प्रहलाद का पुत्र विरोचन इसका मामा था। वैदिक साहित्य में वर्णित इंद्र का प्रबल शत्रु विश्वकप भी यही है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वर्णित ग़ैर आर्य (राक्षस) नमुचि, शंवर, वृत्र तथा दस राजाओं का भरतगण से युद्ध जैसे विवरणों से यह साफ़ है कि आर्यों का स्थानीय समाज और सभ्यता से लंबा संघर्ष चला है। जिन दस गणों से आर्य कबीले के भरतगण का संघर्ष हुआ, उनमें ही भृगु, पक्थ, यदु, पुरु, तुर्वश भी थे। पक्थ आज के अफ़ग़ानिस्तान के पश्तो बोलने वाले पठान हैं और महाभारत महाकाव्य ययाति के पुत्रों यदु पुरु, तुर्वश आदि (जो कि भृगु के वंशज हैं) के विस्तार की कथा है।

आर्य सभ्यता को कोसम्बी पितृसत्तात्मक बताते हैं, जबकि अन्य ग़ैर आर्य कबीले और समाज मातृसत्तात्मक थे। लंबे नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन में उन्होंने भारतीय सभ्यता को पितृ सत्तात्मक और मातृसत्तात्मक सभ्यताओं के सम्मिलन के रूप में दिखाया है। हमारे यहाँ के सारे पुराण चौथी शताब्दी के आस-पास लिखे गये हैं, उनमें जो देवी-देवताओं की कथा है, उसके पीछे ऐतिहासिक स्तर पर सभ्यताओं के संविलयन को देखा जा सकता है। हिन्दुओं की प्रत्येक जाति के लोग मिथकों के महानायकों से अपने संबंध बताते हैं। हम देखते हैं कि शिव को उमा या दुर्गा से, विष्णु को लक्ष्मी से और तमाम ज्ञात-अज्ञात देवियों को सम्मान सहित पुरुष देवों के साथ मिलाने के बाद जो संस्कृति विकसित हुई, उसमें समन्वय की अपार क्षमता है। इसी कारण, बहुत बाद के विदेशी आक्रमणकारी भी हिन्दू समाज में पूरी तरह घुलमिल गये। जातियों के फैलाव को विभिन्न कबीलों के अन्न-संग्राहक से अन्न-उत्पादक बनने की प्रक्रिया में कृषि समाज के लिये आवश्यक श्रम और कौशल विभाजन में ही देखा जा सकता है। ऋग्वेद में दास और दस्यु वर्ग का भी उल्लेख है। ये आर्यों द्वारा जीते गये विरोधी कबीले के लोग थे, जिन्हें प्रारंभ में गोत्र (गाय का बाड़ा) में पशुओं के साथ बाँधकर रखा गया और उन्हें निम्न तथा घृणित सेवा-कार्यो के लिए विवश किया गया। जो भाग जाते थे, वे विद्रोही दस्यु बन जाते थे। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बहुत बाद में रूढ़ हुई थी, हालाँकि यूरोप जैसी दास-प्रथा हमारे यहाँ देखने में नहीं आती है, परंतु आदिम सभ्यता में हारे हुए अथवा खरीदे हुये दासों को परिवार में रखा जाता था। व्रात्यों का ज़िक्र कोसम्बी ने नहीं किया है, जबकि वहाँ आर्य, व्रात्य और दास का प्रारंभिक वर्ग-विभाजन देखने में आता है। ये व्रात्य भी दास रखते थे, समाज में व्रात्यों के सम्मानीय होने के प्रमाण हैं। आर्यों से अलग जो गण अयज्वान (यज्ञ कर्म न करने वाले) हैं, वे ही आर्यों के प्रतिस्पर्धी हैं। (ऋ.1,33,4.5)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. कोसम्बी अपने नृतत्वशास्त्रीय तरीके को कांस्ययुगीन सभ्यता के विवेचन के साथ कोसल और मगध के राजतंत्र के उदय और फिर मौर्य साम्राज्य के राजत्व तक बौद्ध धर्म-दर्शन तथा कौटिल्य के ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' के पाठों के आधार पर विस्तारित करते हैं। वे दक्षिण विहार में लौह खनिज की खोज को उन्नत कृषि तथा शास्त्र-निर्माण के कारण प्रबल साम्राज्य बनने की प्रक्रिया में देखते हैं। एक महत्वपूर्ण तथ्य यहाँ यह प्रकट होता है कि जंगलों की सफ़ाई कर कृषि-योग्य भूमि बनाने की प्रक्रिया में आर्यों के समूह पश्चिमोत्तर प्रांत को छोड़कर हिमालय की तराई के रास्ते से बढ़ते हुए पूर्व में गंगा की घाटी में बसते हैं ये इक्ष्वाकुवंशी आर्य ही बाद में भारत के यशस्वी इतिहास की रचना करते हैं—जनक, राम, महावीर, बुद्ध के रूप में।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है को कोसम्बी इतिहास को राजाओं के युद्ध, वंशावली अथवा उन पर लिखे गये महाकाव्यों के आधार पर लिखना पसंद नहीं करते, इसलिए स्वाभाविक तौर पर हम उनके इस ग्रंथ में प्राचीन भारत के कई प्रमुख नायकों के बारे में किसी तरह की चर्चा नहीं देखते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' का उल्लेख वे स्रोत सामग्री के रूप में करते ज़रूर हैं, परंतु आयोध्या के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और अन्य कई भागवत पुराण के चरितों का यहाँ कोई ज़िक्र नहीं है, जबकि उनके होने संबंधी धारणा के नृतत्वशास्त्रीय आधार इस लेखन में ढूँढे जा सकते हैं। वे इतिहास के प्रवाह को मानव-समाज की जैविक प्रवृत्ति की तरह तलाशते हैं, इसलिए मानव-समूहों के पश्चिमोत्तर क्षेत्र से भारत के पूर्वीय क्षेत्र की ओर प्रयाण में ऋग्वेद कालीन भारत और फिर उत्तर वैदिक युग के कबीलों के द्वारा स्थायी समाज-रचना करते हुए देखते हैं। वे नागों और आर्यों के बीच द्वंद्व को यदुनायक कृष्ण, जो स्वयं इंद्र विरोधी नायक हैं; के उदय की तरह, उसके बाद श्रमणों के भिक्खु संघों और गृहपतियों के शासन के बीच गौतम बुद्ध तथा उनके धम्म के विकास को परिभाषित करने के बाद लौह युग के प्रभाव में सामंती राजतंत्र को गुप्त साम्राज्य में परिपुष्ट होते हुए बताते हैं। यहीं उन्हें भारतीय समाज पूरी तरह ग्रामीण समाज बनता दिखायी देता है, जहाँ विविध शिल्प-कौशल प्रवीण प्रजा जातियों-कारीगर और सेवा प्रदान करने वाली जातियों के साथ कृषिकर्मियों (कम्मी) का समूह वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हुआ स्वकेंद्रित ग्राम राज्य को प्रतिफलित करता है और यहीं से भारतीय समाज का पुराण युग भी शुरू होता है।

सामंती समाज के बदलते सामाजिक संज्ञान को समझने के लिए कोसम्बी जी की भाषा में हम देखें—ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे बची-खुची कबीलाई और श्रेणी जातियों में भी प्रवेश किया। यह प्रक्रिया आज तक चालू है... कबीलाई देवताओं को ब्राह्मण धर्म में प्रतिष्ठित देवताओं के समकक्ष मान लिया गया और जिन कबीलाई देवताओं को आत्मसात करना कठिन था, उन्हें प्रतिष्ठित बनाने के लिए नये ब्राह्मण धर्म की रचना की गयी... न केवल कृष्ण को बल्कि बुद्ध और आदिम मत्स्य, कच्छप तथा वराह टोटेममूलक देवताओं को भी विष्णु (नारायण) का अवतार घोषित कर दिया गया। वानरमुख हनुमान राम का स्वामी भक्त सहचर-सेवक बन गया। विष्णु (नारायण) ने पृथ्वी को मस्तक पर धारण करने वाले शेषनाग का उपयोग छत्र-शय्या के लिए किया। सामंती समाज में इन देवी-देवताओं का एक प्रकार से राज दरबार ही खड़ा कर दिया गया। नागों और आर्यों के पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया के साथ वर्ग-संरचना का, जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था, उदय हुआ... अंधविश्वास पर अधिक ज़ोर देने का था निरर्थक अनुष्ठानों का बेशुमार फैलाव। मध्य युग के ब्राह्मण राजमंत्रियों ने 'धर्मशास्त्र' के आधार पर जिन दो पुस्तकों की रचना की, वे 'अर्थशास्त्र' (कौटिल्य) से नितांत भिन्न हैं। हैं—भट्ट लक्ष्मीधर (लगभग 1175 ई.) की 'कृत्यकल्पतरु' और हेमाद्रि (लगभग 1275 ई0) की 'चतुर्वर्ग चिंतामणि'। दोनों संहिताओं में प्रत्येक तिथि पर्व के लिए अनुष्ठानों के विधानों से भरमार है.... यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दोनों पुस्तकों रचना के पच्चीस-पच्चीस साल के भीतर ही उनसे संबंधित राज्यों (कन्नौज, देवगिरि) को मुसलमानों की अपेक्षाकृत सेनाओं ने ही पूरी तरह नष्ट कर दिया। भारतीय समाज मध्यकालीन इतिहास के पराजय-बोध और हताशा के इस दौर किसी मौलिक चिंतन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। कोसम्बी के आगे के संस्कृत साहित्य के समीक्षात्मक निबंध यह तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है।

पिछले ढाई हज़ार वर्षों से भारतीय (हिन्दू) समाज की विशिष्ट पहचान बनी हुई है—जाति-व्यवस्था। लगभग पांच हज़ार जाति-समूहों के लोग चालीस पचास पीढ़ियों से अपने पैतृक शिल्प-धंधों में लगे हुए हैं। सामाजिक उत्पादन की यह विधि अपने आप में अनोखी है, इसके तहत शासक-वर्ग को उनके श्रम में अतिरिक्त उत्पादन के लिए श्रमिकों पर किसी भी प्रकार दबाव डालने की ज़रूरत नहीं पड़ती। श्रम-विभाजन का यह तरीक़ा ही एशियाई उत्पादन-प्रणाली के नाम से मार्क्सवादी में जाना जाता है। कार्ल मार्क्स ने एशियाई समाजों के भीतर इस तरह के आत्मनिर्भर विकेंद्रित उत्पादन की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। प्रो. कोसम्बी यूरोपीय सामंती व्यवस्था में दासों की स्थिति से अलग भारतीय समाज के शोषित कमेरे वर्ग की दास के मार्क्सवादी सामाजिक विकास-क्रम के दूसरे चरण को अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। उत्पादन के अतिरिक्त श्रम का शोषण तो मार्क्स की व्याख्या के अनुरूप ही है, किंतु वर्ण-धर्म व्यवस्था के कारण दास की स्थिति में रहने वाला शूद्र, जो समाज का बहुसंख्यक हिस्सा (75 प्रतिशत से ज़्यादा) है, आज तक धार्मिक विश्वासों के कारण अपने श्रम को शासक के वैभव-विलास के लिए समर्पित करता है, बिना किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के-यह होता है मनुवादी धर्म-शास्त्रों के निर्देश के अनुसार। धर्मशास्त्रों में शूद्र का कर्तव्य सवर्णों की सेवा करना निर्धारित किया गया है। उसे किसी तरह के धार्मिक संस्कारों का नियमित पालन करना ज़रूरी नहीं है—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, जो संस्कारवान यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनकी सेवा करने के पुण्य लाभ से उसे अगले जन्म में उच्च वर्ण प्राप्त होगा। वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था का कठोर अनुशासन भारतीय समाज में ठीक कब से लागू हुआ, यह बताना आसान काम नहीं है, किंतु कोसम्बी सामंती व्यवस्था के गुप्त काल से पूरी तरह प्रभावशाली होने की पुष्टि करते हैं। उसी समय समाज के छोटे-छोटे बिखरे कबीलों को भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अंदर पुराण-कथाओं, धार्मिक कर्मकांडों तथा विविध तीर्थस्थलों, पर्वों और अनुष्ठानों के ज़रिये चतुराई से बाँध लिया गया। पुरोहितों ने व्रातस्टोम संस्कार और वर्णसंकर सिद्धांत के साथ विदेशियों और आदिवासियों को राजपूत या किसी अन्य जाति का बनाकर हिन्दू समाज में समेट लिया।

सामाजिक शोषण और अन्याय को गहरे ढंग से समझने के लिए वर्ण और जाति के भेद को अच्छी तरह समझा जाना चाहिए। वर्ण की शास्त्रीयता के अनुसार सामाजिक विभाजन चार स्तरों पर किया गया—ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह सुविधाजनक सामान्य विभाजन था, जो जन्म के आधार पर नहीं बल्कि अपने स्वभाव और कर्म के अनुसार किसी भी वर्ण को स्वीकार करने की अनुमति देता था—ऐसे बहुत से उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं। फिर भी, शूद्र के निम्न और अस्पृश्य हेय कार्यों को लोग विवशता से ही करते थे। उस समय तक दासों का क्रय-विक्रय होता था, परंतु शूद्र दास नहीं कहे जाते थे, क्योंकि शूद्रों की सामाजिक स्वीकृति के बाद उनके हितों का ख़्याल यथा—खाद्यान्न दान, सामाजिक सुरक्षा और आवश्यक सेवाओं के बदले उचित पुरस्कार (नेग) दिये जाते थे। धोबी, नाई, मोची, चांडाल आदि ऐसे ही शूद्र थे। ईसा पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दी तक ऐसे व्यवहार में किसी तरह की दुविधा नहीं थी। समाज का सामान्य भाग सामाजिक उत्पादन के काम, शिल्प-कौशल व्यवसाय, पशुपालन आदि में लगा रहता था—यह वर्ग ही वैश्य वर्ग माना जाता था। 'वैश्य' शब्द 'विश' का विशेषण है, जोकि सम्मानीय ढंग से पूरे समाज, समूह या गण के लिए प्रयुक्त होता था। कारीगरी के आधार पर तो जातियों का अस्तित्व तो ऋग्वेद काल से ही दिखायी देता है। प्रारंभिक कृषि-समाज में जबकि लोहे के उत्पादन-साधन नहीं बने थे, अतिरिक्त उत्पादन हेतु विकेंद्रित शिल्प-कौशल से समाज की समृद्धि के लिए ऐसी व्यवस्था उपयोगी सिद्ध हुई। दिक़्क़त यह है कि भारतीय सभ्यता ने, जोकि मूलतः कृषि-सभ्यता है, अपने विविध उत्पादन के साधनों में पिछले ढाई हज़ार सालों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। खेत जोतने के हल, सिंचाई की आदिमकालीन विधियाँ, कृषि-कर्म के अन्य उपयोगी यंत्र, जो ढाई हज़ार साल पहले उपयोग में आते थे, वे आज भी सुदूर देहातों में काम में लाये जाते हुए देखे जा सकते हैं। पत्थर की चकिया, सिलबट्टा, मूसल आदि की मांगलिक अवसरों पर अभी भी ज़रूरत होती है।

वर्तमान समय में, जबकि भारतीय संविधान के अनुसार जाति, संप्रदाय आदि मानव के द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था को पूरी तरह ग़ैर-कानूनी करार दिया गया है, तब भी जाति, छुआछूत ऊँच-नीच की सामाजिक रूढ़ियों संबंधी बर्बर घटनाएँ होती रहती हैं। भारत सरकार के पिछड़ा वर्ग आयोग (1980) के अनुसार 5.52 प्रतिशत, 3.90 प्रतिशत और 1.83 यानी केवल 11.25 प्रतिशत ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनिये हैं, बाक़ी सभी हिन्दू जातियाँ धर्मशास्त्र के अनुसार शूद्र कोटि में मानी जाती हैं। कोसम्बी पुस्तक के प्रारंभ में ही जाति-व्यवस्था के भारतीय समाज में बहुत गहरे स्तर तक पैठे होने के तथ्य पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। सामंती व्यवस्था और मानसिकता के बने रहते लोगों से आधुनिक मूल्य-चेतना की अपेक्षा करना दिवास्वप्न देखने जैसा ही है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि पुरातन समाज के तमाम सामाजिक सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को ध्यान में रखकर ही आधुनिक स्वतंत्र भारत का यह वस्तुगत इतिहास यहाँ प्रस्तुत किया गया है, ताकि सामाजिक नवनिर्माण की प्राथमिकताएँ तय की जा सकें। कोसम्बी के लिए अपनी व्यक्तिगत जाँच-पड़ताल में यह देखना कष्टकर ही रहा है कि वर्तमान भारतीय समाज आज भी कबीलाई और ग्रामीण स्तर पर है। प्राचीन भारत की लंबी इतिहास-प्रक्रिया को वे सामंतवाद की गुप्तकालीन समाज-व्यवस्था तक ही लाकर हमारे सामने हिन्दुस्तानी समाज के सामाजिक परिवर्तन के मूलभूत प्रश्न उठाते हैं। उनकी मुख्य चिंता आधुनिक औद्योगिक पूँजी-निर्माण के साथ सामान्य जनता की आधुनिक सामाजिक चेतना के निर्माण की है। पूँजीपतियों और बुद्धिजीवियों की औपनिवेशिक मानसिकता उन्हें क्षुब्ध करती है, इसलिए ही वे भारत के अतीत के विश्लेषण से समाज की दास मनोवृत्ति-सामंती मानसिकता को उजागर करते हैं। दुनियाँ के पिछड़े समाजों में सामाजिक जड़ों और परंपरा के मद्देनज़र आधुनिक विकास-प्रक्रिया को किस तरह बढ़ाया जाए, यह समझने के लिए ही कई विदेशी भाषाओं में कोसम्बी के हर ग्रंथ के अनुवाद हुए हैं। हमारे सामने पचास वर्ष पूर्व रखे गये सवालों और चिंताओं में कोई ज़्यादा बदलाव नहीं आया है। जिस तरह से देश में सामंतवादी राजनीति आज सामाजिक सांस्कृतिक मसलों को सुधारने की बनिस्बत और अधिक विभ्रम पैदा कर रही है, ऐसी स्थिति में समाज के बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में काम कर रहे लोगों के लिए प्रो. कोसम्बी अभी भी चुनौती बने हुए हैं।

91, हीरा नगर, इन्दौर-452010

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दहशत में है बलुआ

प्रमोद भार्गव

बलुआ दहशत में है। इससे पहले बलुआ ने अब तक के जीवन में कभी अंदरूनी भय का अनुभव नहीं किया था। उसकी मेड़ से लगे खेतों की टुकड़ियों को ख़रीदने का जो सिलसिला विधायक राजाराम ने शुरू किया है, वह थम ही नहीं रहा। पाँच सहरियों को तीस साल पहले मिले पट्टों की ज़मीन को बेचने की मंजूरी कलेक्टर से लेकर एक के बाद एक रजिस्ट्री करा कैसे जागीर पसारता जा रहा है, जैसे ज़मींदारी चली आ रही हो। वाकई लोकतंत्र के तो ये नेता जैसे जागीरदार ही बन बैठे। ये आला अहलकार भी अजब हैं, वैसे तो चिरी अँगुलियों पे पैसा लेकर भी मुश्किल से मूतेंगे, लेकिन जा विधायक के इशारे पर कैसे पटवारी, गिरदावर, तहसीलदार, एस0डी0ओ0 और कलेक्टर तक काग़ज़ी खानापूर्ति में लग हाथों-हाथ मंजूरी देने में लगे हैं? वरना ग़ैर-आदिवासी को विक्रय से वर्जित भूमिस्वामी की ज़मीन बेचना क्या आसान है? लेकिन ये अहलकार चाँदी के जूते और नेताओं की फटकार के आगे कैसे भीगी बिल्ली बन मनमाफ़िक क़लम चला देते हैं।

बलुआ सहर की बैचेनी तब से और बढ़ गयी, जब ट्यूबवैल की मशीन का बर्मा उसके खेत की बगल से घरघराता हुआ गहराई में उतरने लगा। उसे तो लग रहा है यह बर्मा धरती की छाती में नहीं, उसी की छाती में उतर रहा है। मशीन पातालतोड़ है, सो बर्मा तो जाएगा अमोख पानी लाने, सात-आठ सै फीट की गहराई तक, पर उसके गेंत और अन्य छोटे-छोटे गेंतों में जो कुए-कुइयाँ हैं, उन सबका पानी जई ट्यूबवैल में समा जाएगा। सो बलुआ की फिकर मुनासिब है। बलुआ ने अपनी यह चिंता बंदूकधारी सुरक्षा गार्ड के साथ खड़े विधायक राजाराम को जतायी भी—"एम0एल0ए0 साहब गरीबन पे किरपा करो... जा ट्यूबवैल को चार-छह पगहिया बीच में खों खिसका के खुदवाय लेओ, तासै हमरे कुआँ-कुइयाँ में भी पानी बनो रहे.... ।"

"अब मैं का बताऊँ बलुआ, तूने देखो नई का, पंडत ने जहीं अच्छो पानी शोधो है। कहते हैं, जा पाइंट पे चार इंची पानी है। अब गुणी-ज्ञानी पंडत की बात कैसे टालूँ... ।"

"अरे महाराज धरती की कोख में तो सबहीं जगह पानी है। कहीं बौत भई, तो दो हाथ ऊपर तो कहीं-दो हाथ नीचे..... । पंडत का बतावेगो ।"

सहर की इतनी हिमाकत? पंडित गैसे गुनइया पर ही सवाल उछाल रहा है। विधायक जी की आँखें चमकीं, चेहरे पर रौब प्रक हुआ और फिर वाणी में चुनौती भरी ठसक बैठ गयी, "वा..रे...कुप बलुआ... तो में तो बढ़ी अकल आ गयी... तूने तो पत्र...ई बाँ दओ। पंडतई पे चैलेंज करने लग गओ...। शगुन-अशगु विचार-महुरत सब अकारथ! अकारण भये? अब तो लगत ज्ञान-धर्म गाँव के सहरियन सेई सीखन पड़ेगो...?"

फिर विधायक ने आँखें तरेरीं, "मूरख...! जबान लंबी म कर...., धरम-ईमान से कुछ भय खा.... ।"

लाचार बलुआ क्या करता, अपना-सा मुँह लेकर रह गया न्याय की बात कह जाने पर भी खिल्ली उड़ी। अन्य किसी ने में हाँ भी नहीं मिलायी, जबकि कल हानि आजू-बाजू के सभी वालों को उठानी पक्की है? अकेला पड़ा बलुआ कुछ देर चु साधे-खड़ा रहा, फिर पराजय का बोध लिये खिसक लिया। इस सिवाय उस असहाय के पास चारा भी क्या था।

अपने गेंत में आकर मडैया की थुमिया के छेद में खु चिलम व माँठ पर लटकी गाँजे की थैली उठाते हुए भीतर काम- में लगी घरवाली को हेला देते हुए बोला, "ला..., सुनरी तो की राख से कुरेदकर अंगारा लेआ... चिलम सुलगाऊँ..." और उकडूँ बैठ गया।

तेज़ कशों के साथ सुलगती-बुझती चिंगारी के संग उ मन में विचार कौंधने लगे... भय धरम-ईमान का नहीं, अ बेईमानी के धन से सहर-चमारों की भूमि हड़प बीघों में पसरा फा बना लिया है। राशन की दूकानें भी सब हड़प लईं। हमरे का का लंप का सबै तेल मोटरमालिकों को बेच दे रहे हैं... बी0पी0ए का गेहूँ-चावल सीधे बाजार में बेच दे रहे हैं। गोला पे बसें-जीपें इनकी ई दौड़ रई हैं। गरीब के हित की हर स्कीम इनकी बपौ बन गयी। जा सरकार के तो नेता और उनके लरका-बच्चा, कुटुंब-कुनबा तो जैसे...ई पइसा कमाने की होड़ में पागलपन हद तक लग गये। कितेक दौलत खड़ी कर लई? मुकतान जाय तो ऊपरई दिखन लगी... एकाध करोड़ की तो ऐन होगी। नई अबैई पाँच साल पैले का हतो जापे? सायकल पाछे बुकरे-बुक लादकर मीट मारकेट में बेचत्तो.....। रुख-रुख बुकरे-बुकरि के पत्ते-पत्ती तोड़त फिरत्तो...? अब देखों सीधे मौं बात करवे कतरावे....? दौलत ने कैसो घमंडी बना दओ....। अबकी से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बारी आवेगी, तब साले को देखेंगे? फिर बलुआ ने जैसे खुले आसमान में सिर उठाकर टेर लगायी, "हे रामजी! सुनो तो सही, इन्हें थोड़ी-बौत धरम रक्षा की बुद्धि तो देऊ...।"

फिर वह गुस्से में आकर चिलम बुझाकर, थुमरिया के छेद में खुरची और घुल्ले से लटकी कुल्हाड़ी उठाकर, मेड़ पर खड़े एक लंबे-तगड़े बबूल के पेड़ को काटने में भिड़ गया। पेड़ के तने पर कुल्हाड़ी के प्रहार उसके शरीर में खद्बदा रहे लावे के प्रतिफलन थेया ज़रूरत का सबब-इस हक़ीक़त से रू-ब-रू होने के लिए थोड़ी साँस थाम लें....

तो गाँव और सहराने से दूर थोड़ा अलग-थलग पाँच बीघे का यह खेत बलुआ सहर का है। ऐन राह पर पाँच जरीब की पट्टी होने के कारण इसकी क़ीमत अमोल है। आमतौर से अटलपुर के अन्य सहरियाओं के पास ऐसी सिंचित कामीदा ज़मीन नहीं है। पर, बलुआ आम सहरियों की तरह आलसी और भाग व भागवान भरोसे बैठा रहने वाला इंसान भी नहीं रहा। हाड़तोड़ मेहनती होने के साथ बला की फुर्ती है उसके गठीले बदन में। फसल की निराई, गुड़ाई, फलदार रुखों की कटाई छटाई में लगा ही रहता है। उसी के जोड़ की उसे संयोग से घरवाली भी मिल गयी। संयोग इसलिए, क्योंकि बलुआ का विवाह माता-पिता की मर्ज़ी से नहीं हुआ था। उनके समाज में चलित 'हरण' प्रथा से उसने फुल्ली से ब्याह रचाया था। इस प्रथा को 'भगेली' भी कहा जाता है।

हुआ यूँ कि जब वह चौदह-पंद्रह साल का था, मसें उभर रही थीं, तब वह बदरवास के साप्ताहिक हाट-बाज़ार में गया था। वहीं साज-शृंगार का सामान ख़रीद रही लगभग उसकी ही उम्र जितनी फुल्ली से उसकी आखें चार हुईं। बड़ी आँखें, गोल चेहरे और ठोड़ी पर तीन बिंदियों के गुदने के निशान वाली छोरी एकाएक ही बलुआ को भा गयी। बलुआ पटवा की उस दूकान पर नये डिजाइन की कंघी ख़रीदने पहुँचा था। दोनों परस्पर खोने-सामने लगे। फिर, जैसे पटवन अम्मा ने उनकी किशोरजन्य खुमारी को झटका दिया, "कहाँ खो गये रे बचुओ, जल्दी करो। दिखत नईया का? हाट-बाजार में कितनी भीड़ उमड़ रई...है।" फिर दोनों की जैसे तंद्रा टूटी। चेतना लौटी। दोनों मुस्कुराये। बलुआ की हिम्मत बढ़ी। पूछा, "तेरो नाम का है?

"फुलविया!" वह चकोर-सी चहकी।

"कौन गाँव की हो?"

"काहे...? भगेली करने की मंशा है का?"

"कछु, कछु हो तो रई है... तैई मंशा भी तो जता...?"

"पूरनमासी की संझा को सेमरी के ताल की पार पर महुवा के नीचे आ जा। बछेरुओं को पानी पिलाने के बहाने आऊँगी... दम हो तो हाथ पकड़ ले जा...।"

"पक्को वचन है...?"

"जो झूठ निकरै, तो गैल चलतै जहाँ भी मिल जाऊँ पकर कै पिटली की नाई गरो मरोड़ दैइये...! जब जानै चीं बोल जाऊँ...!"

और फिर पूरनमासी की प्रतीक्षा में दोनों तिर्र-बिर्र हो गये।

पूरनमासी की संझा....

फुलविया छेरी-बदुरेओं को तालाब में पानी पिलाने के बहाने अपनी एक गुइयाँ के साथ निकल आयी थी। सजी-धजी भी अपने हिसाब से ख़ूब थी। घाँघरे के ऊपर सलूका पहने हुए थी। गले में चाँदी की हँसुली थी।

महुवा के नीचे आकर जब उसने अटलपुर की गैल पर नज़र दौड़ायी तो तालाब के पार के छोर पर बना-ठना उसे बलुआ नज़र आया। उसकी आँखें जैसे हँसने लगीं। वह रस-विभोर हो गयी। उसने साथ आयी सखी से कहा, "सुन रामवती, हमरी बाई से कहिना अटलपुर का बलुआ फुल्ली का भगेली बना ले गये....।" और फिर उतावली फुल्ली बलुआ की ओर बढ़ चली...। बलुआ भी अपने सिर से एक ब्याँत ऊँचा तेल पिलाया लट्ठ लिए खड़ा था। उसने कमर में लिपटे सफ़ेद अँगोछे के ऊपर कमीज़ पहनी हुई थी और सिर पर साफ़ा बँधा था। जब फुल्ली बगल में आ गयी, तो दोनों ने परस्पर हथेलियाँ मिला अंगुलियाँ कसकर जकड़ लीं।

"बिजली सी दमक रई हो फुलविया..." बलुआ बोला।

"तम कौन कम लगत हो, लट्टू से चमकत हो...।"

फिर दोनों मुक्त गगन की शीतल छाँह में परस्पर खुलते हुए आदमी ऊपर एक हाथ लंबे ज्वार के खेतों में बिला गये। अब वे मनु-श्रद्धा थे, आदम-हव्वा थे, कामदेव-रति थे। मानव-सृष्टि की रचयिता जोड़ी उच्छृखल प्रकृति की गोद में अठखेलियाँ करती निमग्न थी। रात चढ़ आयी, तो दिन में हरिया-तोतों से रखवाली के लिए खेत में बनायी गयी मचान पर चाँदनी ओढकर सोये। चिड़ियों की चहचहाट के बीच उठे तो नदिया किनारे दिशा-फारिग हुए। भूख लगी, तो ज्वार के भुट्टे तोड़े, सेके और फिर गुनगुने दाने निकाल खाये।

मुक्ताकाश में स्वच्छंद विचरण करते हुए पेट की भूख सालने लगी, तो दरिया किनारे पहुँच वहाँ फैली झरबेरियों से बेर तोड़े। फुल्ली ने किनारे के सपाट पटपरे पर बेरों को कुचलकर बुरचन बनाया। फिर उस बुरचन को दरिया के पानी में धीरे-धीरे डालने लगी। जब मछलियों के झुंड बुरचन के टुकड़े झपटने इकट्ठे हो गये, तो हाथ में बाँस की फंचट लिए खड़े बलुआ ने झुंड पर फंचटी की फटकारें मारी। चार-छह फटकारों में ही चार-छह मछलियाँ जल की सतह पर चित्त पड़ी थीं। फुल्ली ने फुर्ती में मरी-अधमरी मछलियाँ समेटीं और फरिया के छोर में बाँध लीं। आग जलायी। मछलियाँ सेकीं और खाने लगे। जब अघा गये, तो जूठन चील-कौवों को छोड़ दी।

थोड़ी ही देर में पेट के भीतर उठी जठराग्नि ने दोनों को अलसा दिया। हाथ में हाथ लिए आगे बढ़े। दरिया जहाँ ऊँची पथरीली खड़ी चट्टानों के बीच से गुज़रता है, वहाँ पानी कुछ गहरा है और ओट भी है। आसपास के ग्रामों की महिलाओं के नहाने-धोने के लिए यह स्थल आरक्षित होने के कारण सयाने और वृद्ध पुरुष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्यादा का पालन करते हुए इस घाट से अक्सर गुज़रते नहीं हैं। दो फर्लांग दूर पगडंडी से ही गुज़र जाते हैं। हाल ही में चौमासा बीतने के कारण गाँव-पुरवा के कुएँ-पोखर, ताल-तलैये लबालब हैं, इसलिए भी इतनी दूर आकर नहाने-धोने की भला क्या ज़रूरत? सो डग नापते चले आ रहे बलुआ-फुलविया के डग इस मनोरम स्थल पर थम गये। आसमान से सूरज देव चटकीली धूप फेंक रहे थे और भीतर जठराग्नि सुलग रही थी। सो दोनों मारक उमस महसूस कर रहे थे। दोनों जैसे बिना प्रकट किये ही एक-दूसरे की भावनाएँ भाँप रहे थे। बलुआ ने सिर से उतार साफ़ा नीचे धरा, तो फुल्ली ने चुनरी धर दी। बलुआ ने कमीज़ उतार धरी, तो फुल्ली ने पोलका उतार धरा। कोई संकोच नहीं, कोई लाज-शरम नहीं, निर्बंध देहें हिलोर उठीं, तो दोनों चट्टान के शिखर पर चढ़े और छलाँग लगा दी। फिर मटरगश्ती का जुनून चलता रहा। डूबे-उतराये, तरा-ऊपर हुए। तैराकी में कौन कितना माहिर है, सो किनारों को तुरत-फुरत पकड़ने की होड़ मची। फिर शरीरों ने थकान अनुभव की, तो किनारे पर जा बैठे। थोड़ा सुस्ताये। फिर मार की चिकनी मिट्टी को शरीर पर साबुन की तरह मलने लगे। फिर दोनों ने बेफ़िक्री के लिए चहूँ ओर आँखें फेरीं। जब निश्चिंत हो लिये कि निकट कोई मानव-आहट नहीं है, तो दोनों ने कमरबंध भी खोल दिये। फिर दोनों चिकनी मिट्टी में लोट-पोट हुए। लट्ट-पट्ट। चित्त-पट्ट। गुत्थम-गुत्था। शरीर चूर-चूर हो गये। जठराग्नि ठंडी पड़ गयी। उमस जाती रही। तब उठे। पानी में उतरे। मल-मल कर मिट्टी अंग-अंग से धोयी। बाहर आये। वस्त्र धोकर निचोड़े। गीले ही पहने और चल दिये।

तीन दिन, तीन रात सेंमरी और अटलपुरल के बीच पसरी सहरियों की छोटी-छोटी टुकड़ियों में यही क्रम चलता रहा। चूँकि 'भगेली' कर वरण करने का समाज में रिवाज़ था, इसलिए उनके द्वारा परंपरा का निर्वाह बिना किसी खुटके के जारी रहा। खेतों पर काम कर रहे सहरिया दंपत्ति उन्हें दुलारते-पुचकारते, बहलाते-फुसलाते, सुभाषीश देते। खेत-खड़ियों से मक्का-ज्वार के भुट्टे, फूटें-ककड़ी, कचरिहा-मकोई तोड़ खाने को मनाही न करते। इस तरह, प्रकृति की गोद में प्राकृतिक भोग-उपभोग करते हुए उनके तीन दिन, तीन रातें बड़े ही अलमस्त मौज-मस्ती में बीते।

फिर दोनों जोन-जुनइया के भिनसारे में गाँव आ गये। बलुआ ने फुल्ली को अपने घर के पिछवाड़े सार की देहरी पर बिठाया, फिर खुद मुख्य द्वार से घर में घुसा। माँ ने बेटे को देखा तो ख़ुश हो गयी। आँगन में खाट पर लेटे पति को झकझोरा, "ए उठो तो मोड़ा बहू लै आओ।" और सार की ओर दौड़ पड़ी।

किवरिया खोलीं तो फुल्ली देहरी पर फरिया ओढ़े गुड़ी-मुड़ी बैठी थी। बलुआ की माँ बोली, "आय गै सीते अब बाहर काहे बैठे, मार थोरी डारेंगे तो खों।"

लड़की जब चुप्पी साधे रही, तो पिता बोले, "अब आय गै सीते, तो भगै की मत सोच, रहन देव। परेम से रह।"

और फिर फुल्ली के पीछे खड़े बलुआ ने हाथ ऊँचा कर लोटा भर पानी छप्पर पर उड़ेला, जिसकी धार फुल्ली ने अपने झेली। शगुन पूरा हुआ। बहू घर में आ गयी। पिता बाहर दौड़े पटल, कोटवार को ख़बर की। पूरे सहराने में ख़बर फैल गई मंगल उल्लास सहराने में हिलोर उठा।

शाम को जश्न मना। तीन-चार बलिष्ठ युवा जंगल गये कुल्हाड़ियों से एक जंगली सुअर और दो खरहों (खरगोश) शिकार कर लाये। कुछ लोगों ने महुवा की दारू उतारी। ढोल-ढम बजे। औरतें नाचीं। फिर सबने कुल्हड़ों में भर-भर दारू पी। खाया। आधी रात तक लुक्कों की रोशनी में जश्न चलता बरगद के नीचे वाली सहराने की धरती धमकती रही।

समय बीता। फुल्ली लरकोरी हुई। बलुआ बाप बना। बलुआ के पिता ने खाट पकड़ी, तो उठे नहीं। तीन दिन देसी-दवा-दारू लेते सरग सिधार गये। उनके पीछे ही माँ भी चल बसी। बलुआ ने दोनों दफ़ा अपने सामर्थ्य के अनुसार मृत्यु-भोज दिया। रीति-रिवाज़ का बढ़े-बुज़ुर्गो के कहे मुताबिक़ पालन किया।

एकाध महीना बीतने के बाद पटवारी रामजी दादा ने फोती नामांतरण करके ख़सरे की नक़ल दी। तब उसे ख़्याल आया कि बरी के बगल से उसकी पाँच बीघा पड़त भूमि भी है। सीलिंग क़ानून के मार्फ़त यहाँ के ज़मींदार की हज़ार-बारह सौ बीघा ज़मीन सरकार ने अपने कब्ज़े में ले ली थी, फिर भूमिहीनों के बीच कलेक्टर की निगरानी में पट्टे बाँटे गये थे। तब कलेक्टर ने पाठशाला में दो दिन का कैंप लगाया था और अटलपुर, बरखेड़ा, सेमरी व वंडखेरे के एक-एक सहरिया को बुला-बुलाकर पट्टे दिये थे। बाक़ी भूमि के पट्टे अन्य जातियों के भूमिहीनों को बाँट दिये गये।

अब क्या था, जहाँ चाह वहाँ राह! बलुआ ने बंजर भूमि को उपजाऊ भूमि में बदल देने की ठान ली। कुल्हाड़ी हाथ में ली। ज़मीन की सूर करने पूरे पंद्रह दिन, दिन-दिन भर लगा रहा। फुल्ली सिर पर कोडरी, कोडरी पर जल भरा मिट्टी का घड़ा उस पर छन्ने में बँधी ज्वार की रोटियाँ, चटनी, हरी मिरच, की दो गाँठें और बच्चे को कइयाँ लिए दोपहर शुरू होने से चली आती।

बच्चा काम में बाधा न बने, नज़र में भी रहे, इतनी दूर बिछाकर बिठा देती। उसकी मुट्ठी में झुनझुना थमा देती। के बतौर कुछ चिकने गोल पत्थर के ढेले डाल देती, फिर आदमी के बराबर काम में जुट जाती। झाड़-झंखाड़ घसीट-घसीट ज़मीन की सीमा से बाहर करती। बबूल-छौले के ढूँढ एक इकट्ठा करती, जिससे सूखने पर जलावन के काम आएँ। सूरज सिर चढ़ आता, तो दोनों बच्चों को उठा बरी के पेड़ की में दुपहरिया बिलमाने आ जाते। वहीं रोटी-पानी खाते-पीते। को सिरहाना बना एक-दूसरे के विपरीत लेट लगा थकान मिटा फुल्ली बालक को छातियों से चिपटा धोती के पल्लू में छिपा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब सूरज ढ़लान पकड़ता, तो दोनों उठते। कुल्ला करते, मुँह धोते और काम में जुट जाते। देखते-देखते लोग-लुगाई की मेहनत रंग लायी। बंजर भूमि मैदान में तब्दील हो गयी। फिर दोनों की जुगल जोड़ी खेत की बागड़ करने में जुट गयी। बलुआ ओव से ज़मीन में गड्ढे करता। सूखी मिट्टी नरम करने की दृष्टि से गढ़े में पानी डालता और फिर पूरी ताक़त से ओव धाँसता। जब एक कतार में आठ-दस गड्ढे हो जाते, तो वे उनमें जार गाढ़ने का सिलसिला शुरू कर देते। फुल्ली सिंगारी में बिंधा-बिंधा कर जार लाती और बलुआ उन्हें गड्ढों में धाँसता। जार जब कम पड़ गये, तो बलुआ अपने काका के लड़के के संग बैल-गाड़ी लेकर जंगल गया और शाम होते-होते जारों से गाड़ी भर लाया। सूर और बागड़ से निपटने के बाद उसने खेत में कुरे से खरार लगायी, जिससे खर-पतवार की जड़ें उखड़कर वैशाख-जेठ के ताप से सूखकर अंकुरण की क्षमता खो दें और जब पहली बारिश हो, तो धरती जल सोख ले। और फिर असाढ़ लगने के बाद पहली बारिश ने ही खेत-खुड़िएँ पानी से लबालब कर दिये। बतर आने पर बलुआ और फुल्ली की जोडी ने खेत में ज्वार बोयी। आधेक बीघे में मक्का बोयी। कार्तिक पौष में जब ज्वार के भुट्टे पके, तो बलुआ की बाँछें खिल गयी। एक बीघे में दो-ढ़ाई गाड़ी के मान से फसल निकली। साल भर के खाने और बीज के लायक ज्वार कुटीला में सुरक्षित रखने के बाद बची ज्वार बलुआ गाड़ी में पाल लगाकर बदरवास की मंडी में बेच आया। लौटते में उसने फुल्ली के लिए चाँदी की झुमकियाँ ख़रीदीं और मुन्ने के लिए झबला। घर आने पर जब बलुआ ने फुल्ली के हाथ पर एक हज़ार ऊपर दो सौ रुपये, झुमकियाँ और बेटे के अंग के लिए झबला रखा, तो फुल्ली पुलक गयी। रोम-रोम खिल गया। फुल्ली ने बलुआ की चौड़ी छाती पर सिर रख दिया और फिर दोनों गोबर लिपी निखन्नी धरती पर ही लोट-पोट हो गये।

आमद होने पर बलुआ की हौसला-अफ़ज़ाई हुई। फुल्ली की भी उम्मीद बढ़ी। और फिर दोनों खेत के बीचों बीच कुआँ खोदने में लग गये। डेढ़ महीने में दोनों ने मिलकर आठ हाथ चौड़ा और सोलह हाथ गहरा कुआँ खोद डाला। इतनी गहराई पर ही चार-चार झिरें निकल आयी। धरती से चार हाथ नीचे से ही पुर्तील पटपरे की परतें थीं, सो कुएँ की बँधाई में भी ज़्यादा पैसा ख़र्च नहीं हुआ। पत्थर खदान बैलगाड़ी से पहुँच वह दो गाड़ी चिंखारी तोड़ लाया। सिंध नदी से दो गाड़ी बजरी भर लाया। बदरवास जाकर चार बोरी सीमेंट गाड़ी में लाद लाया। कारीगर लगाकर चार दिन में कुएँ की चिनाई कराकर ऊपर घाट बनवा दिया। कुएँ में ऐसा अमोख पानी निकला कि दिन-रात रेहट-चरस चलाओ, टूटता ही नहीं।

लेकिन अब... हालात भयावह होते जा रहे हैं...

विधायक के खेत में नलकूप के उत्खनन से बलुआ चिंतित आशंकित है। उसके कुएँ का अमोख पानी टूटकर नलकूप की पाताल तोड़ गहराई में समा जाएगा। उसकी चिंता वाजिब है, क्योंकि जल की तो नीचे की ओर बहने की प्रवृत्ति है। इस समस्या से छुटकारा पाये, तो भी कैसे? शिकायत भी करे, तो किससे? एम0एल0ए0 के खिलाफ कौन सुनेगा उसकी? आखिर इस कमीन खों वोट देने से क्या फायदा हुआ? सोच तो ये थी कि छोटी जाति से है, तो छोटी जातियों, दलित-हरिजनों, गरीब-गुरजन के हित साधेगो? पर जे तो बई लेन पर चल निकरो है, जा लेन पे बामन-ठाकुर थे। ज़मीनदारी फैलाने में लगो है नीच... कमीन।

बलुआ के मग़ज़ में आ-जा रहे द्वंद्वों अंतर्विरोधों ने उसकी बेचैनी बढ़ा दी। भीतरी आक्रोश का उबाल दाँत मींसने, कटकटाने, होंठ भींचने अथवा पूरी ताक़त से मुट्ठियाँ जकड़ लेने में दिखाई देता। फुल्ली जब भाँप लेती कि गहरी चिंता में रहकर मग़ज़मारी में लगे हैं, तो वह कोई न कोई काम कर लेने के बहाने टोक देती, "चिंता में काहे पड़े हो...? कछु काम में मन नई रमरओ तो जे बबूल तीन दिन से कटो पड़ो है, जइये बदरवास लै जाके आरा मशीन पे चिरवा लाओ। तासे हल के हरष, पहराई और खुरीता बन जावैं। पुरानो हल टूटो पड़ो है, खेत में पानी भी पूरो लगो जातै-जमीन काय सै जोतेगो?"

फुल्ली की बात पर बलुआ ने ग़ौर किया। बोला, "बदरवास तो मैं चलो जात हीं... पर मोय फिकर जे सता रई है कि जा विधायक को टूबवैल दिन-रात भल-भल पानी फेंक रओ है, कहीं अपने कुआँ को पानी न उतर जावे... ता वजे से मेरो कुछ काम-धाम में मनई नई लग रओ....?"

"फिजूल की चिंता-फिकर छोड़ो...। धरती की कोख में का पानी को टोटो है... सो पानी सूख जाओगो? फिर हाथ-पाँव टूट गये का...? रोजगार गारंटी में मजूरी कर खाएँगे...

"हाँ..., तोय धरी ए मजूरी...? महीना-महीना भर काम करै बैठे हैं..., पूछ आ एकई ए मजूरी मिली हो...? कारड सरपंच..., सचिव ने घर में धर लये... जा विधायक की शह पे गुलछर्रे मार रये हैं....। जे भी भ्रष्टाचार में शामिल हैं...। तबहीं दो-तीन बेर मजूरी नई मिलने की शिकात एसडीओ, कलक्टर तक कर आए. .. आज तलक सुनी काऊ ने? बावरी..., तोय दुनियादारी की कछु खबर नई है...? नेता, ऐलकार सब हब्सी हो गए हैं, हब्सी...! इनकी भूख तरप्त होने की बजाय और... और बढ़त जा रई है... लकइया लग जाय इन सब में...., मोए चैन परै।"

"अब जैसी भी हालत होएगी निबटेंगे..."

बलुआ ने बदरवास पहुँचकर आरा-मशीन पर गाड़ी बिलमायी, तो नयी मुसीबत में घिर गया। रेंजर जैसे उसी के लिए खड़ा था। फटकार के लहज़े में बोला, "काय रे, कौन से जंगल से काट लाओ?"

"जंगल से काहे काटा होगा...,जे तो मेरे खेत की मेंड से काटो है... हल बनाने को चिरवाने लाओ है।"

"ला, दिखा खसरे की नकल, वामें पेड़ इंद्राज है का...? नई तो बेट्टा... पेड़ समेत बैलगाड़ी जपत होगी और दो हजार को जुर्मानो ठुकवे के बाद कलक्टर के जहाँ से गाड़ी छूटेगी..."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैंने का पेड़ चुराओ है, जो गाड़ी जपत होगी और दंड मिलेगो... तुमपे का सबूत है कि जे पेड़ रैंज को है?"

बलुआ के पलटवार से रेंजर तिलमिला गया। बोला, "अच्छा... चोरी और सीनाजोरी...! ठहर अभी पंचनामा बनाकर सब सामान जप्त करता हूँ... तब तेरी अकल ठिकाने लगेगी।"

रेंजर बैग से काग़ज़-कार्बन निकालकर पंचनामा बनाने का उपक्रम करने में लीन हो गया। इसी बीच आरा मशीन का मालिक बलुआ का हाथ पकड़कर थोड़ा बगल में को ले जाकर बोला, "काहे को कोरट-कचेरी के चक्कर में पड़तो है... सरकार से कोई जीतो है...? पाँचेक सौ रुपये का इंतजाम कर ला, जहीं निपटाये देता हूँ... नहीं तो काग़ज़ का पेटा भर गया, तो बैलगाड़ी जप्त होगी और जुर्माना ठुकेगो सो अलग..."

"मेरो कछु दोष होय तब न पइसा दऊं। खेत की मेड़ पे चल के देख लेवे रेंजर कि सच्चाई का है...? सच्चाई को तो जमानोई जात रओ..."

"फिर ऐसा कर रेस्ट हाउस में विधायक जी बैठे हैं, उनसे मोबाइल से बात करा दे। मुफत में काम हो जाएगो।"

बलुआ को यह बात कुछ जँची, पर एम0एल0ए0 से मदद माँगने में उसे अपनी ठसक पर असर पड़ता नज़र आ रहा था। फिर उसने कुछ लापरवाही से सोचा... 'विधायक तो हमरेई वोटन से बनो है, गुजारिस करवे में का जात है...।'

और वह रेस्ट हाउस पहुँच विधायक के सामने खड़ा था। विधायक राजाराम ने उसे देखकर भेद भरी चुटकी ली, "काय रे बलुआ, कैसो आओ, बोल फटाफट..."

"एम0एल0ए0 साहब, हल बनावे खों बबूल चिरवाने आरा पे लाओ तो... रेंजर धमक आओ...। बोलतो है, जंगल से चोरी से काट के लाओ है। बैलगाड़ी समेत जप्ती होगी...। जबकि मैंने बा दिना... तुमरेई आँखन देखी मेड़ पर लगो बबूल काटो तो..."

"हाँ...हाँ मोय सब पतो है... तू काय फिकर करता है... अभी फटकार लगाता हूँ... देखें कौन कमीन रेंजर है..."

विधायक ने एक मिनट मोबाइल पर रेंजर से गुटर-गू की। बात पूरी हो जाने पर बलुआ से बोले, "जा बबूल चिरवा ले जा., रेंजर अब कछु नई बोलेगो... डपट दओ सारे खों मैंने।"

"बड़ी किरपा करी महाराज..."

"पर सुन बलुआ..., काहे खों खेती-किसानी की मगजमारी में लगो है..., जमीन मोय बेच दै और परेम से महरारू समेत मेरे यहाँ महींदारी कर। तेरी मंशा रहे, तो तेरे खेत ए तूई अधबटाई से करत रईए... दरअसल तेरो खेत मेरे फारम की सूरत बिगाड़ रओ है... जै खेत वई लेने में शामिल हो जाएगो, तो मेरे खेत को माजनों सुधर जाएगो... जे वादो रओ, तोय जीवन भर कोई परेशानी नई होन दंगो... जा सोच-विचार लै...।"

बलुआ बिना कुछ उत्तर दिये चल दिया। रेंजर के संकट से तो वह छूट गया था, लेकिन विधायक की मंशा उसे परेशान किये जा रही थी। पेड़ चिराकर लौटते में वह तोल रहा था कि यह क कहीं उस पर दबाव बनाने की चाल तो नहीं थी? खुद के खेत माजनों सुधार के खों दूसरों के जीवन का कोई माजनो बिगाड़ें ..। जे कैसी उलटबाँसी है। मालिक से खेत बिकवा के महीं करवे की कह रओ है, का सहरिया ने सफा ई मूरख समझ ल अकल पाछें थोरे ई लगी है।

गाँव-गेंत की ओर बढ़ते हुए बलुआ को आज न बैलों के में बँधी घंटारी सुनायी दे रही थी। न उसे घोंसलों में लौ कतारबद्ध पक्षियों का कलरव सुनाई दे रहा था। रास्ता चलते कि पहचान वाले ने जै रामजी की, तो उसके उत्तर में भी उ बमुश्किल हुँकर ही भरी, बराबरी से प्रसन्न मन से 'जै रामजी' नहीं की। ऊहापोह की मनस्थिति से गुज़र रहा बलुआ बैलों को हाँका नहीं लगा रहा था। वे गाँव-घर की गैल के अभ्यस्त थे, अपने मन से परस्पर तालमेल बिठाये गाड़ी खींचे ले जा बदरवास से लौटते में ऐसा कई बार हुआ है कि बलुआ की आ लग जाने के बावजूद बैलों ने गाड़ी ठिकाने लगा दी, पर आज बलुआ खुली आँखों के बाद भी सूनमटान था।

गाड़ी जब गेंत के टटा के बगल में रुकी, तो फुल्ली बिगाड़े टटा खोले ही खड़ी थी... रुआँसी-सी। बोली, "कुआँ पानी उतर गओ..." और फरिया के पल्लू से आँखों से छलक आँसू पोंछने लगी।

बलुआ का माथा ठनका। कुशंका सही साबित भई। वह को लगा, 'का वाकई उसे विधायक के खेत को माजनों सुध के लाए खेत बेचनो होगो? तीस-पैंतीस साल पहले जिस महीं का जुआ उसने बाप की गर्दन से उतारो थो... का उस जुए अपनी गर्दन पर लादने के हालात फिर से धनी लोगों और नेत ने पैदा कर दए? का गाँव में जमींदारी जनता राज का मुह लगाकर फिर से वजूद में आ गई?... पर इतनी आसानी से तो अपने खेत की सूरत बिगाड़ लेने की शर्त पर विधायक के खेत सूरत सुधरने नहीं देगा... हम तो सोच रये थे लोकतंत्र की बढ़ने के साथ जीवन की सरलता बढ़ेगी पर यहाँ तो मुश्किलें रई हैं।'

फ़िलहाल तो कुएँ का पानी क्या उतरा, बलुआ और के चेहरों का पानी ज़रूर उतर गया।

शाही निवास, शंकर कॉलोनी, शिवपुरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं इस सरहद पर कब से मुंतज़िर हूँ, सुब्हे परदा का

जाफ़र मेहदी जाफ़री

आज़ादी हर साल अपने हमराह यक़ीनन बहुत सारी ख़ुशियाँ लेकर आती है, लेकिन हमें वह अहसास भी दिलाती है कि हम कल तक गुलाम थे और जब गुलामी के जिन्न ने दामन छोड़ा, तो बँटवारे के साये ने गिरेबान पर हाथ डाल दिया, जिससे ज़मीन के सीने पर एक लकीर खिंच गयी; एक भाई, एक भाई से जुदा हो गया और उसने अपने दरम्यान काँटों भरी सरहद बना ली। वह सरहद जिसने बनते वक़्त भी बहुत से बेगुनाह और मासूम इन्सानों का ख़ून पिया और आज भी जब-तब इन्सानियत का लहू माँगती है। इसकी फ़िज़ाओं में मौत और बारूद की बू है, जो कभी आतंकवाद और कभी घुसपैठ बनकर माहौल को गंदा करती है और मुहब्बतों पर सवालिया निशान लगा देती है। रिश्ते कभी बनते हैं ...कभी बिगड़ते हैं...और छोड़ जाते हैं अपने बीच एक गाँठ...

मेरे सोच के तार मोबाइल की घंटी ने तोड़ दिये। भारी मन से हैलो कहा और फिर उछल कर बिस्तर से खड़ा हो गया। कराची से अहमद भाई का फ़ोन था—"अफ़रोज़ कैसे हो? घर में सब ठीक है, अम्मा कैसी हैं?"

"अरे, अहमद भाई आप? हम सब ठीक हैं...आप कैसे हैं? कब आ रहे हैं?"

"मैं ठीक हूँ, मुझे हिन्दुस्तान का वीज़ा मिल गया है, परसों दिल्ली के लिए फ़्लाइट है। इन्शाअल्लाह जल्द मुलाक़ात होगी, अम्मा से बता देना।"

"रुकिए, मैं अभी अम्मा से बात कराता हूँ।"

मैं दौड़ता हुआ अम्मा के कमरे में पहुँचा, "अम्माँ भाई का फ़ोन है कराची से, लीजिए बात कीजिए।"

मैंने मोबाइल अम्मा की तरफ़ बढ़ाया। उन्होंने काँपते हुए हाथों से फ़ोन थामा और कान से लगा लिया। गोरा चेहरा ख़ुशी के रंग से सुर्ख़ हो गया। जज़्बातों ने ऐसी यलग़ार की कि ज़बान गूँगी हो गयी, थरथराते होठों से सिर्फ़ इतना ही निकला—"बेटा, अब जल्दी आ जाओ।"

और आँखों के समंदर से मोतियों की लड़ियाँ निकलने लगीं। उन्होंने फ़ोन मुझे वापस कर दिया और अपना सफ़ेद दुपट्टा अपने चेहरे पर डाल लिया। शायद वे अपना रोना मुझसे छिपाना चाहती थीं। लेकिन, जब कुछ देर बाद उनको महसूस हुआ कि मैं अभी तक उनके पलंग के पास ही खड़ा हूँ, तो उन्होंने अपने आँसुओं को दुपट्टे से ही पोंछा और धीरे से उठकर बैठ गयीं। मैंने उन्हें गले से लगाया और पास ही बिस्तर पर बैठ गया। अम्मा अपनी भावनाओं पर क़ाबू करती हुई धीरे से बोलीं—"अहमद आ रहा है, कब तक पहुँच जाएगा?"

"बस चौथे दिन आ जाएँगे।'

"चार दिन...?" अम्मा ने एक आह भरी, फिर अपने सवाल का ख़ुद ही जवाब भी दे दिया—"चलो ठीक है, जहाँ चालीस साल का एक लंबा अरसा इंतज़ार में गुज़ार दिया, वहाँ चंद दिन और सही...." फिर कुछ सोचते हुई बोलीं—"इन मुए लीडरों ने अपनों को अपनों से जुदा कर दिया। कैसी सियासत खेली कि जीते जी हड्डियों से गोश्त अलग हो गया..."

"हाँ अम्मा, काश यह बँटवारा न हुआ होता तो कितना अच्छा होता?" अम्मा ने नज़र उठाकर मेरी तरफ़ देखा और इस अंदाज़ में बोलीं जैसे कोई राज़ की बात बता रही हों—"सब कहते हैं कि जो कुछ हुआ, वह अल्लाह की मरज़ी से हुआ, लेकिन मैं कहती हूँ कि ये सब कमबख़्त मारे गोरों की साज़िशों का नतीजा था, नासपीटों ने दो क़ौमों के बीच साही का काँटा रख दिया, न जाने कौन सा लालच उनके दिलों में समाया हुआ था।' मैंने देखा है वह बँटवारा, वह मारा-मारी, वह नफ़रतें, वे नोच-खसोट..जो कुछ हुआ बहुत ग़लत हुआ। कैसा भरा-पूरा घर था। ज़मींदारी के दिन थे, सुकून ही सुकून था... फिर सब कुछ ख़त्म हो गया। बहुत से लोग इस देस को छोड़कर एक नये देस को चले गये। कुछ पहुँचे, कुछ न जाने कहाँ खो गये। तुम्हारे अब्बा ने तो जाने से इन्कार कर दिया था। उन्हें अपनी ज़मीन, अपने वतन से प्यार था। कहते थे कि इसी मिट्टी से पैदा हुआ हूँ, इसी में दफ़्न हो जाऊँगा, लेकिन अपना घर अपना देस छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। एक अरसा गुज़र गया... जो नये देस गया, फिर लौटकर न आया। शक्लें देखने को तरस गये एक दूसरे की। अब तो बस उनकी याद ही है।"

अम्मा एक साँस में टुकड़े-टुकड़े ज़िंदगी के वर्क़ उलटती चली गयीं। आज एक आवाज़ ने उनके दबे हुए दर्द को फिर से छेड़ दिया था। मैंने अम्मा को बिस्तर पर लिटाते हुए कहा—"अम्मा अब आप आराम करिए।"

"अरे बेटा, अब आराम तो क़ब्र में ही मिलेगा।"

"देखिए ऐसा न कहिए, मुझे अच्छा नहीं लगता।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"क्यों, डर गया?" अम्मा ने हँसते हुए कहा।

मुझे हमेशा से माँ की यह हँसी बहुत ख़ूबसूरत लगती थी, क्योंकि उनकी इस हँसी में ख़ुशी और शर्म का मिला-जुला एक ऐसा संगम होता था, जिससे उनके नूरानी चेहरे का हुस्न बहुत बढ़ जाता था। मैंने झूठ-मूठ का गुस्सा दिखाते हुए कहा—"बस, अब तो कहा है, आगे से कभी न कहिएगा, मैं आपके बग़ैर ज़िंदा न रह पाऊँगा।"

"अरे तौबा कर, मरें तेरे दुश्मन। आज ख़ुशी का दिन है अच्छी-अच्छी बातें कर।"

अम्मा ने प्यार से मुझे डाँटा और ख़ामोश हो गयीं। मैं उनका चेहरा तकने लगा, जहाँ न जाने कितने रंग आ और जा रहे थे। मैं उन रंगों में घुल-मिलकर उनके दिल के रंग को समझने की कोशिश कर रहा था। वे अब भी बहुत कुछ कहना और सुनना चाह रही थीं। उनका दिल आज उबाल खा रहा था।

"जानता है तू... आज बैठा दिल उठ आया है... ये अहमद की एक नादानी ने क्या गुल खिला दिया है..."

"हाँ आप ठीक कहती हैं, लेकिन वह सब हुआ कैसे था?" मैं अनजान बनते हुए बोला, क्योंकि अब मैं यह चाहता था कि अम्मा बोलती रहें, जिससे उनके अंदर का दुख अलफ़ाज़ का जामा पहनकर बाहर निकल आए और उनके दिल का बोझ कुछ हल्का हो जाए।

"अरे हुआ क्या था...?" अम्माँ ने एक गहरी साँस लेकर बोलना शुरू किया—"अहमद अपनी बड़ी बहन ज़हरा को बहुत चाहता था, वह उस ज़माने में ढाके में रहती थी, जहाँ उसके शौहर हादी का बहुत अच्छा कारोबार था। अहमद उन दिनों कलकत्ते गया हुआ था, अपने यार-दोस्तों के कहने पर। लड़कपन कर बैठा। मज़ाक़ ही मज़ाक़ में सरहद पार करके पाकिस्तान पहुँच गया। न वीज़ा न पासपोर्ट और जा पहुँचा ढाका... बहन-बहनोई के पास। वे सब उसे देखकर दंग रह गये और फिर ख़ुदा का क़हर देखो.. .दोनों मुल्कों में जंग छिड़ गयी। बंगलादेश बन गया । वह वहाँ जाकर फँस गया। जब तेरे बहन-बहनोई अपने बच्चों को लेकर कराची भागे, तो अहमद को भी साथ लेते गये, क्योंकि और कोई रास्ता भी नहीं था। बस, वह इस देश का होकर भी दूसरे देश का हो गया। वह दिन है और आज का दिन, सूरत देखने को आँखें तरस गयीं... अब इतने दिनों के बाद कहता है कि मैं आ रहा हूँ, वह भी अकेला। न बहू साथ आ रही है, और न बच्चे। लेकिन अभी तो चार दिन बाक़ी हैं, कैसे कटेंगे?" उन्होंने बेबसी से मेरी तरफ़ देखते हुए कहा।

"अम्मा तुम परेशान न हो। ये दिन भी जल्द ही कट जाएँगे। मैं पुखराज से कहकर आपके लिए चाय बनवाता हूँ, दिल ठहर जाएगा।"

अब मेरा दिल भी भारी होने लगा था कि कहीं मेरे आँसू न बहने लगें। अगर ऐसा हुआ तो फिर अम्मा को सँभालना मुश्किल हो जाएगा। मैं उनके पास से उठा और घर के बाहर निकल गया। छोटी-सी गली को पार किया और कोठी के पीछे का दरवाज़ा खोलकर अंदर दाख़िल हो गया। यह कोठी पूरे बलरामपुर में 'हैदर साहब की कोठी' के नाम से मशहूर है। बीस-पच्चीस बीघा ज़मीन में बनी तक़रीबन डेढ़ सौ साल से अपने अंदर न जाने कितनी कड़वी-मीठी कहानियाँ समेटे, आज भी वक़्त की सुनामी को बरदाश्त करती हुई गिरते-पड़ते बूढ़े की तरह अपने लाग़र क़दमों को टेके खड़ी है और लोगों के लिए इबरत की तस्वीर है। इसके अंदर आज भी मेरे रिश्तेदारों के तीन-चार घर आबाद हैं। पहले जहाँ सैकड़ों लोग रहा करते थे, वहीं अब हर घर में दो या तीन लोग रह गये हैं, जो आपस में ही एक-दूसरे के गड़े मुर्दे उखाड़ते रहते हैं।

इसी कोठी में एक बहुत बड़ा-सा आँगन था, जिसके बीचोंबीच इस इलाक़े का सबसे ऊँचा, सबसे मोटा नीम का पेड़ था, जिसकी ऊँचाई आठ-दस मंज़िला इमारत के बराबर थी और उसके तने की मोटाई बरगद और पीपल के तनों को भी शर्मिंदा कर देती थी। इसके चारों तरफ़ ईंटों का एक गोल चबूतरा बना हुआ था, जो इसकी ख़ूबसूरती में इज़ाफ़ा करता था। इतना हसीन नीम का पेड़ मैंने अपनी ज़िंदगी में कहीं भी, कभी भी नहीं देखा। इस जगह को हम सब नीम का नीचा कहते थे।

जब मैं कोठी के बड़े हॉल और बड़े दालान को पार करता हुआ नीम के नीचे पहुँचा, तो पल भर में हज़ारों यादें इश्क़पेचाँ की बेल बनकर मेरे वजूद से आकर लिपट गयीं। मेरे क़दम रुक गये। वैसे तो मैं रोज़ ही यहाँ आकर बैठता था, रोज़ ही यहाँ से गुज़रता था, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि यादों और गुज़री हुई बातों ने मेरा घेराव किया हो, लेकिन आज की बात कुछ और थी। एक फ़ोन था, एक आवाज़ थी जिस पर एक बिछड़ा हुआ भाई था; उसके साथ गुज़ारे हुए लम्हे थे, जो नींद से जगा रहे थे और मैं आँखें फाड़-फाड़ कर चारों तरफ़ उन खोये हुए पलों को ढूँढ रहा था, जो कहीं दूर हो गये थे और अब एक-एक करके किसी नक़्शो-निगार की तरह उभर-उभर कर मेरी आँखों के सामने आ रहे थे। गुज़रा हुआ कल ..आज फिर से ज़िंदा हो रहा था... मेरा बचपन मेरे सामने खड़ा था।

हम सब भाई-बहनों का सारा छुट्टियों का वक़्त इसी नीम के नीचे गुज़रता था। बाहर की दुनिया कैसी है, हम सब जानते नहीं थे। हम सबको नीम के नीचे से दिली लगाव था। जब कभी हमारी पतंगें फट जातीं, तो हम सब उन पतंगों को चिपकाने के लिए इसी नीम के पेड़ से गोंद निकाला करते थे और अम्मा इसके तने की छाल मँगवाकर कूट-पीसकर बहुत अच्छा दाँतों का मंजन बना देती थीं। यही वह जगह थी, जहाँ हम सब 'साबर' गेंद और पत्थर की चपटी गिट्टियों से 'सात गिट्टियाँ' खेल खेला करते थे। कभी बहनों के साथ बैठकर पत्थरों के पाँच छोटे टुकड़ों से गुट्टे भी खेलते थे। कभी सब लोग मिलकर 'आँख मिचौली' का खेल खेलते थे और चोर पकड़े जाने पर ख़ूब शोर मचाते।

कभी हम सब, जिसमें आठ-दस लोग होते थे, एक-दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ पकड़कर एक घेरा बनाते, जिसके बीचोंबीच कोई खड़ा होता। फिर घूम-घूम कर हम सब नाचते हुए गाते :

हरा समंदर, गोपी चंदर
बोल मेरी मछली कितना पानी।
इतना पानी।

बीच वाला कभी पैर तक, कभी सीने तक और कभी गले तक इशारा करके जवाब देता और हम सब हँस पड़ते। यह सिलसिला उस वक़्त तक चलता रहता, जब तक हम लोग थक न जाते । न जाने क्यों तब इस खेल में बड़ा मज़ा आता था। मैं आगे बढ़ा और उस दीवार को ग़ौर से देखने लगा, जहाँ इतना अरसा गुज़र जाने के बाद आज भी तारकोल से खिंची हुई वह काली लकीर धुँधली-सी नज़र आ रही थी, जिसे हम सब विकेट बनाते थे और साबर की गेंद और एक डंडे के साथ क्रिकेट खेला करते थे। ईमानदारी और बेईमानी के बीच लड़ाई-झगड़े भी होते थे, डंडे टूटते थे, गेंद फेंकी जाती थी, कोई रूठता था, कोई मनाता था। कोई बड़ा आकर डाँटता था और हम सब अपने-अपने घर भाग जाते थे। दूसरे दिन फिर नया डंडा, फिर नयी गेंद, फिर वही खेल और फिर वही ऊधमबाज़ी।

अहमद भाई कराची में रहकर भी नीम के पेड़ को बहुत याद करते हैं। फ़ोन पर जब भी मेरी-उनकी बात होती है, वे यहाँ का ज़िक्र ज़रूर करते हैं। कोई भी बात नीम के नीचे के बग़ैर पूरी नहीं होती। यहाँ से जुड़ी उनकी हर बात, हर खेल मुझे याद है। 'मुग़ले आज़म' नयी-नयी रिलीज़ हुई थी। हम सबने देखी थी। उसके बाद अहमद भाई कभी अकबर बनते, तो कभी सलीम और हम सब जलाने के लिए आयी हुई लकड़ियों से खूब तलवारबाज़ी करते । एक दिन तो बड़ी तफ़रीह हुई थी, जब अहमद भाई अकबर बने नीम के नीचे चबूतरे पर बैठे हम सब पर रौब झाड़ रहे थे, तभी ऊपर पेड़ पर बैठे कौए यां चील ने सफ़ेद-सफ़ेद बीट उनके सर पर कर दिया, जिससे उनका पूरा चेहरा लथ-पथ हो गया। वह थू-थू करते पानी की तलाश में इधर-उधर भागने लगे और उनका यह हाल देखकर हम सब ज़ोर-ज़ोर से हँस पड़े और काफ़ी देर तक उनका मज़ाक़ उड़ाते रहे । फ़ोन पर वे अक्सर इस वाक़ये का ज़िक्र करते हैं और खूब हँसते हैं।

एक आवाज़ ने मेरे अंदर खिलते हुए फूलों को तोड़कर बिखेर दिया। मैंने चौंककर देखा, सामने सग़ीर खड़ा हँस रहा था।

'अफ़रोज़ भाई, तुम्हें क्या हो गया है? कभी हँसते हो, कभी खुद से बातें करते हो। कभी तुम्हारे हाथ चलते हैं, कभी चारों तरफ़ कुछ तलाश करते हो। आख़िर तुम्हें हो क्या रहा है?''

''तुम न समझोगे, यहाँ खड़े-खड़े एक बार फिर मैं अपना पूरा बचपन जी गया...ख़ैर छोड़ो, परसों अहमद भाई की फ़्लाइट है।''

''क्या अहमद भाई घर आ रहे हैं?''

''हाँ, वो आ रहे हैं,'' मैंने उसकी आँखों में देखते हुए कहा—''सग़ीर हम उन्हें क्या जवाब देंगे? नीम के नीचे से उन्हें बड़ा प्यार है, जब वो इसके बारे में पूछेंगे, तो हम क्या बताएँगे?''

सग़ीर ने नज़रें नीची कर लीं और मैं उसका शाना थपकता हुआ बाज़ार की तरफ़ बढ़ गया।

आज घर में सवेरे से ही काफ़ी चहल-पहल थी। ऐसा लगता था जैसे दुनिया की सारी खुशियाँ, सारी रौनकें घर में ही सिमट आयी हों। हम सब नहा-धोकर तैयार हो चुके थे। पुखराज ने भी सबको नाश्ता करा दिया और दोपहर का खाना भी तैयार कर चुकी थी। अज़ीज़, रिश्तेदार घर में जमा होने लगे थे, जिन्हें पुखराज दौड़-दौड़कर कभी पानी, कभी चाय और कभी नाश्ता करा रही थी। चारों तरफ़ एक ख़ुशगवार माहौल था। सभी बड़ी बेचैनी से अहमद भाई के आने का इंतज़ार कर रहे थे।

अम्मा हल्के नीले रंग का ग़रारा और उस पर सफ़ेद जंम्पर और हल्के नीले रंग के दुपट्टे से ही सर को ढँके अपनी स्टील की छड़ी को टेकती हुई कमरे से निकलकर दालान की कुर्सी पर आकर बैठ गयी थीं और सबसे हँस-हँसकर बातें कर रही थीं। आज जितनी ख़ुश वो मुझे कभी न दिखी थीं। उनका गोरा रंग, जिसमें हल्की सी लाली और उस पर उनकी दिलफ़रेब हँसी। चेहरे पर पड़ी उम्र की लकीरें इस बात का गुमान कराती थीं, जैसे मलमल के कपड़े पर किसी ने क़ुरान की आयतें लिख दी हों। आज वे मुझे दुनिया की सबसे हसीन बूढ़ी औरत लग रही थीं। उनकी निगाह बार-बार घड़ी की तरफ़ उठती, लेकिन घड़ी की सुइयाँ खिसकने का नाम ही नहीं ले रही थीं। उन्होंने मुझे आवाज़ दी—''अरे तू कब स्टेशन जाएगा?''

''अम्मा बस जा रहा हूँ....एक बजे ट्रेन है।''

मैंने सबको ख़ुदा हाफ़िज़ कहा और कार लेकर स्टेशन पहुँच गया। कुछ देर बाद ट्रेन भी मेरी धड़कनों की तरह धड़धड़ाती हुई प्लेटफ़ार्म पर आ गयी। मेरी नज़रें अहमद भाई को ढूँढ रही थीं। अचानक एक डिब्बे के दरवाज़े पर वो खड़े नज़र आये। हम दोनों ने एक साथ हाथ हिलाकर एक-दूसरे को पहचानने की गवाही दी। वक़्त की दीवार भी हम दोनों के बीच हाइल न हो सकी। ट्रेन रुकी। वो कूदकर और मैं दौड़कर एक-दूसरे के गले से लिपट गये। एक ज़माने की दूरियाँ पल भर में ख़त्म हो गयीं। हम दोनों एक-दूसरे के बदन की गर्मी और ख़ुशबू को महसूस कर रहे थे। दोनों को ही यह यक़ीन नहीं आ रहा था कि एक बार फिर हम दोनों मिल गये हैं। बेहद ख़ुशी हो रही थी।

कार में बैठकर हम दोनों घर के लिए रवाना हुऐ। रास्ते में अहमद भाई एक-एक चीज़ को बहुत ग़ौर और चकचोहट से देख रहे थे और पहचान रहे थे। इतने दिनों में बहुत कुछ बदल गया था। फिर भी बहुत कुछ उनका अपना अब भी बाक़ी था। उनके पास जानने और बताने को बहुत सारी बातें थीं, जिन्हें वे एक साँस में ही कह डालना और जान लेना चाहते थे। कभी-कभी वे इन रास्तों पर कुछ इस अंदाज़ से देखने लगते, जैसे कुछ ढूँढ रहे हों, मगर मिल न रहा हो। वे कह रहे थे—''अफ़रोज़...मैं बहुत ख़ुश हूँ। जबसे मुझे वीज़ा मिला है, मैं ठीक से सो नहीं पाया हूँ। ख़ुशी के मारे आँख ही नहीं लगती। बस दिल चाह रहा था कि एक मिनट भी ज़ाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये बग़ैर उड़कर यहाँ पहुँच जाऊँ। जब मेरा पहला क़दमं इस ज़मीन पर पड़ा, तो मेरी आँखें भीग गयीं। मेरा जी चाहा कि मैं चीख़ना शुरू कर दूँ। चारों तरफ़ दौड़ूँ, एक-एक का शाना पकड़ कर कहूँ—'मैं अहमद हूँ, मुझे पहचानों, मैं यहीं पैदा हुआ हूँ। मैं खो गया था, अब वापस आ गया हूँ। मुझे अपना लो, मैं भी तुम लोगों में से एक हूँ....यह मेरा वतन है, तुम तसव्वुर नहीं कर सकते कि मेरी क्या हालत हो रही है...''

''हाँ भाई, मैं समझ सकता हूँ''

इसी तरह हम लोग हाल और गुज़रे हुए पलों को पकड़ते और छोड़ते हुए घर पहुँच गये।

अहमद भाई भागते हुए घर के अंदर पहुँचे। अम्मा ने देखा और अपनी दोनों बाहें फैला दीं और वे उन बाहों के घेरे में समा गये। दोनों एक-दूसरे को गले लगाये खड़े थे और बदन थरथरा रहे थे। आँखों से आँसुओं की बारिश हो रही थी। ज़बानें ख़ामोश थीं, लेकिन फिर भी बहुत कुछ कह रही थीं। उन हिचकियों उन सिसकियों की भी अपनी एक आवाज़ थी। दोनों एक-दूसरे से कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह रहे थे। एक तरफ़ गुस्सा था, शिकवे थे, शिकायतें थीं; दूसरी तरफ़ ग़म था, शर्मिंदगी थी, बेबसी थी। चारों तरफ़ एक गीला-गीला सन्नाटा फैला हुआ था, जिसे तोड़ते हुए मैंने अम्मा से कहा—

''अम्मा, भाई भूखे हैं, क्या खाना न खिलाओगी?''

''क्यों नहीं, चलो बेटा हाथ-मुँह धोकर खाना खा लो।''

''आज तो मैं आपके हाथ से ही खाना खाऊँगा,'' अहमद भाई ने मुस्कुराकर कहा।

''ज़रूर मेरे बच्चे, मैं तुझे अपने हाथों से ही खिलाऊँगी।''

समंदर जो कुछ लम्हों के लिए अपनी रफ़्तार भूल गया था, उसकी मौजों में फिर से हलचल पैदा हो गयी। सब लोग बोलने लगे। हँसी-मज़ाक़ और सवाल-जवाब में वक़्त का पता ही नहीं चला कि कब दोपहर शाम में और शाम ढलकर रात की गोद में पहुँच गयी और आसमान पर सितारे इस घर की ख़ुशी देखकर हँसने लगे।

अहमद भाई अम्मा के पलंग पर उनका हाथ अपने हाथों में पकड़े बैठे हुए थे और अल्फ़ाज़ की डोर नयी-पुरानी बातों की पतंग के सहारे बढ़ती ही जा रही थी। वे कह रहे थे—''नीम का नीचा भी मुझे वहाँ बहुत याद आता था। अब तो नीम का पेड़ काफ़ी बूढ़ा हो गया होगा? क्या अब भी वह फल देता है? क्या पहले की तरह अब भी निमकोरियों का सोना उसके नीचे बिखरा रहता है?... अफ़रोज़ तुम्हें याद है, उसके मोटे तने से दस मुहर्रम को कितनी मदद मिलती थी। हम लोग मोटे-मोटे रस्से बाँधकर औरतों और मर्दों का रास्ता अलग कर देते थे। नीम के नीचे 'अजाख़ाने' की 'ज़ियारत' करने के लिए हज़ारों की भीड़ इकट्ठा होती थी। दूर-दूर से लोग आते थे। 'मरसिया' पढ़ती हुई देहाती औरतें, घंटियाँ और मोर के पर लगाये 'पैक' रात भर आते रहते थे... क्या अब भी नीम के नीचे ऐसा ही होता है?'' उन्होंने ख़ुश होते हुए सवालिया नज़र से मेरी तरफ़ देखा और मैं नज़रें चुराने लगा।

जवाब अम्मा ने दिया—''बेटा, पुराने साथियों में वही नीम का पेड़ बचा था, अब वह भी साथ छोड़ गया। अब कैसा का नीचा...''

''क्या... कैसे...?'' भाई ने घबराकर कहा, ''क्या में गिर गया?''

''हाँ, वह एक आँधी ही थी...जिसने दिमाग़ों की चूलें दीं। मैंने तो बहुत रोका था, लेकिन सग़ीर ने एक न सुनी, पेड़ कटवाकर ही दम लिया। नीम का पुराना दरख़्त अपनी जड़ों हमेशा के लिए अलग हो गया।''

यह सुनकर भाई का चेहरा पीला पड़ गया, आँखों की न जाने कहाँ ग़ायब हो गयी। अंदर कहीं बहुत गहरे से एक उठा, जिसमें एक तड़प, एक घुटन, एक कसक, एक अनकहा टूटता-फूटता, बिखरता हुआ, हुमक-हुमक कर काँपते थरथराते से बाहर निकलने के लिए बेचैन नज़र आने लगा, जिसे वे कुव्वते बरदाश्त से दबाने की कोशिश करते नज़र आये, जिस्म का कारवाँ उनकी ज़ेहनी कैफ़ियत की चुग़ली खा रहा

वे अम्मा के पास लेटते हुए धीमी-सी आवाज़ में बोले—नीम रहा, न नीम का नीचा...सब ख़त्म हो गया। हमने पहचान खो दी... मुहाज़िर हो गये... न यहाँ के रहे, न वहाँ . अम्मा मुझे बहुत नींद आ रही है....मुझे अपने पास सुला . मैं बहुत थक गया हूँ।''

''आ, मेरे बच्चे, मैं तुझे थपककर सुला दूँ। मेरा बस चले तुझे अपने आँचल में हमेशा के लिए ऐसा छिपाऊँ कि फिर कहीं भी न जाने दूँ।''

देखते ही देखते अहमद भाई किसी मासूम बच्चे की तरह के सीने से लिपट कर गहरी नींद सो गये और अम्मा बो रहीं—''लेकिन तुझे छुपाऊँ भी तो कैसे छुपाऊँ, क्योंकि मेरा भी हर उस माँ के आँचल की तरह तार-तार है, जिसका अपना जिगर का टुकड़ा सरहद के इस पार या उस पार है। अब मेरे में वह ताक़त कहाँ, जिसमें तू पनाह पा सके। अब तो अल्लाह यही दुआ है कि ऐ ख़ुदा! तू कोई मसीहा भेज दे, जो अमन प्रेम की ऐसी बीन बजाये, जिससे सरहद का नाग हमेशा-हमेशा लिए पिटारे में बंद हो जाए।''

अम्मा ने झुककर भाई के माथे को चूमा और ख़ामोश गयीं। मैं भी यह सोचता हुआ उनके पास से उठ गया कि— ज़मीन के नीचे बरसों से फैली नीम की जड़ें फिर से धरती का चीरें और कोई एक कोंपल फूटे और एक बार फिर नीम का आबाद हो जाए।

85-मक़बरे आलिया, गोलागंज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदला

डॉ हरि सिमरन कौर

सुषमा ने अपने बेडरूम को आज अच्छी तरह से सजाया-संवारा है। शायद ज़िंदगी में पहली बार एक अच्छा बैड कवर बिछा कर, तकिए और कुशन रखकर, ताज़े फूलों का गुलदस्ता भी रखा है। यह वही बेडरूम है जहाँ उसके शराबी पति ने उसे कई बार मारा था। घर में रोज कलेश, लड़ाई झगड़ा। बेटियाँ जब छोटी थीं, सहम जाती थीं पर फिर धीरे-धीरे उन्हें आदत हो गयी थी। पति अपनी सारी तनख्वाह शराब में झोंकता था। सुबह दस से पाँच तक फैक्ट्री की नौकरी, शाम को शराब का दौर, सुषमा के लिए मार-पीट तथा गालियाँ, यही उसकी दिनचर्या थी। रोज मार खाकर भी सुषमा उस शराब पीने से हटा नहीं पायी थी। याद है उसे वह दिन जब वह सुषमा से पैसे छीन कर शराब खरीदने गया था, ट्रक से टकराकर मर गया था। सुषमा ने राहत की साँस ली थी, सारा कलेश कट गया पर सामने खड़ी थी समस्या-इन दो जवान होती बेटियों का क्या होगा? फैक्ट्री का मैनेजर घर आया था अफ़सोस करने पर उसकी नज़र सुषमा पर टिकी थी। उसी की मदद से सुषमा को फैक्ट्री में नौकरी मिली। अहसान मानती है वह उसका, नहीं तो क्या होता।

आज सुबह से सुषमा खुश है। घर को झाड़-पोछ कर सँवारा है। बेटियों को सहेली के घर भेज दिया है। मैनेजर खाने पर आमंत्रित है। सुषमा ने अपने बालों को अच्छी तरह डाइ किया है, चौड़े बार्डर वाली लाल साड़ी लो-नैक का ब्लाउज, मेकअप से लिपा-पुता चेहरा, परफ्यूम से नहाई सुषमा बार-बार स्वयं को दर्पण में निहार रही है। मुँह में लौंग-इलायची चबा रही है, पायरिया से सड़े दतों की बदबू मिटाने के लिए। इंतजार है एक पराये मर्द का। पर वह पराया कैसे हुआ? सुषमा को नौकरी देने वाला उसे आने-बहाने अपने कमरे में बुलाने वाला और उसके कंधों पर हाथ रख हौसला देने वाला। पास रखी मैगजीन उठाकर देखने लगी है। स्त्री-पुरुष संबंधों पर एक लेख किसी पुरुष द्वारा लिखा गया है। स्त्री के लिए नियम और कानून बनाने वाला पुरुष, इन्हीं नियमों के सहारे स्त्री को बंधक बना कर रखने वाला पुरुष, वेदों का हवाला दे रहा है–'पति अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिए पत्नी का पाणिग्रहण करता है। अतः पत्नी उसे मन की भावनाओं को समझ कर तदनुकूल व्यवहार करे। पत्नी की परपुरुष के प्रति आसक्ति उसका सबसे बड़ा नैतिक अपराध माना जाता है और मनु का आदेश है कि वह मन, वचन और कर्म से कभी भी व्यभिचार न करे... सुषमा का स्त्री मन एक बार काँप उठा है पर वर्षो से दबी नफ़रत जोर मार रही है–

'नैतिक अपराध की परिभाषाएँ स्त्री के लिए ही क्यों हैं? पुरुष मन, वचन और कर्म से कुछ भी करे वह उसका अधिकार है और स्त्री कुछ करे तो व्यभिचार?'

सुषमा मैगजीन दूर रख देती है। मैनेजर के अहसानों का हिसाब लगा रही है। सामने पति की तस्वीर टंगी है–

'आज बदला लूँगी मैं तेरे अत्याचारों का, दुष्ट! बहुत मार सही मैने तेरी। तभी तो तू सड़क पर कुत्ते की मौत मरा', तस्वीर को घूरते हुए सुषमा ने पति की अल्मारी खोली। बहुत सँभाल कर रखी हुई उसकी अंग्रेज़ी शराब की बोतल निकाली-और मेज पर रख दी। रसोई से एक अच्छा गिलास ले आयी। बर्फ़ मैनेजर के आने पर निकाल लेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बहुत शौक था न तुझे शराब पीने का। इस शौक में तुझे बेटियों की ज़रूरतें, घर की ज़रूरतें, सब कुछ भूल जाता था'

याद है सुषमा को, उसके यह कहने पर कि बेटियाँ बड़ी हो रही हैं, इनका कुछ सोचो, उसने बहुत मार खायी थी। बड़ी बेटी बीस वर्ष की हो गयी है और छोटी अठारह की। मैनेजर ने आश्वासन दिया है—

'चिंता न करो सुषमा। अब यह मेरी ज़िम्मेदारी है।' सुषमा खुश है। उसे आज बदला लेना है एक गैर-जिम्मेदार इंसान से। आज उसे ऐसे पुरुष से मिलना है जो उससे प्यार जताता है, हमदर्दी करता है और उसकी समस्याएँ सुलझाता है। दरवाजे पर घंटी बजी है। सुषमा उठकर बैठरूम में टंगी पति की तस्वीर को पिछली कोठरी में डाल आयी है। कैसे मिल पाएगी पराये पुरूष को उसकी तस्वीर के सामने? मन में यह भय बार-बार त्रस्त कर रहा है कि अपने अहसानों के एवज में वह कुछ भी माँग सकता है। सुषमा इस भय से क्षणभर में मुक्त हो रही है-

'उसने क्या दिया था तुझे? न प्यार, न विश्वास और न हमदर्दी। सारी उम्र एक वस्तु की तरह इस्तेमाल ही तो किया था। अनेकों बार मारा। गंदी गालियाँ दी। दो कमरों का मकान तक न बनवा सका और बेटियों के भविष्य की चिंता न कीं।'

सुषमा मैनेजर को सीधे बेडरूम में ले आयी। प्यार और अपनत्व की भूखी सुषमा मैनेजर की बाहों में झूल रही है, मन का आक्रोश धोना चाहती है, किसी को अपना बनाकर।

'वाह क्या बात है! लाल साड़ी में बहुत सुंदर लग रही हो।'

सुषमा शरमा रही है। नयी-नवेली दुल्हन की तरह दिल का एक पुराना घाव भी ताज़ा होता महसूस हो रहा है। लाल साड़ी तो उसने विवाह के दिन भी पहनी थी, सुहागरात के समय लाल साड़ी में दमकती सुषमा शराबी पति के वहशीपन से काँप गयी थी, विरोध करने पर पहले दिन ही उसकी मार की शिकार हुयी थी सुषमा! अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति की चाह। मैनेजर के हाथ उसके बालों को सहला रहे हैं। सुषमा ने उसके कंधे पर सिर रखा है' कुछ क्षणों की इस तृप्ति का अपार संतोष एवं सुख-यह सहारा तो उसे कभी नहीं मिला था।

'आज मैं बदला लूंगी। तेरी हर दुष्टता का हिसाब लूंगी' प्यार करने वाले पुरुष का साथ क्या इतना सुखद होता है? उसने यह जाना ही नहीं था।

'अरे! मै तो भूल ही गयी, आप क्या पीना पसंद करेंगे?'

'जो आप पिलाना चाहोगी, पर एक शर्त' मेनेजर ने निहाल होते हुए कहा। सुषमा ने महसूस किया कि परायी स्त्री को सहज ही प्राप्त कर लेना पुरुष की बड़ी खुशी होती है, उसने झट से पूछ लिया।

'वह क्या'

'आप, आप भी मेरे साथ पिएँगी'

सुषमा एक स्त्री-एक कमज़ोर स्नायुओं वाला जीव-भावनाओं एवं भावुकताओं में बह जाने वाला प्राणी। निकट आने वाले पुरुष की इच्छानुसार चलने वाली स्त्री, क्योंकि बिना प्यार के जीवन जी सकना उसका स्वभाव नहीं होता। बदला लेने को आतुर सुषमा दूसरा गिलास लाकर अपने मनपसंद पुरुष का साथ दे रही है। मन में तूफान उठ रहा है-

'इसी शराब के लिए तूने मुझे यातनाएँ दीं, मिट्टी में मिलाया, आज मैं भी पीकर देखूँगी इसमें क्या है जो रिश्ते-नाते फर्ज, ज़िम्मेदारियाँ सब कुछ भुला देती है?' आँखों के सामने नशे में धुत पति खड़ा है। सुषमा उसकी ओर नहीं देखना चाहती। कानों में मैनेजर की मीठी बातें सुनाई दे रही हैं। एक नया पुरुष जो उसकी हर मुश्किल को आसान कर सकता है। जिन सुखों के लिए वह तरसती रही, उसकी बेटियों ने अच्छा खा-पहन कर नहीं देखा, माँ मजबूरियों को समझते हुए कुछ नहीं माँगा-वे सारे अभाव अब दूर हो जाएँगे। सुषमा को अपना घर आज अच्छा लग रहा है। वह मैनेजर के साथ सट कर बैठी-स्वयं को उन स्त्रियों की तरह महसूस कर रही है जो सारे के प्यार की कमी को पराए मर्दों से पूरी करती है—अतृप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावनाओं से कुंठित स्त्रियाँ। पर यहाँ उसे जो सुकून मिल रहा है, उसे छोड़ पाना भी संभव नहीं। वह उठकर एक मधुर-गीत की टेप चलाती है। मैनेजर की बढ़ती नजदीकी उसे अच्छी लग रही है, वह स्वयं को एक सुखद लोक में उड़ता महसूस कर रही है। बीस वर्ष पति की वहशियत की शिकार आज पुरुष का साहचर्य पाकर खिल गई है।

आधी रात के बाद मैनेजर अपने घर के लिए निकलता है। सुषमा सारी चिंताओं से मुक्त हो आराम से सोना चाहती है। अपने यातनापूर्ण अतीत को भूलकर, नशे की खुमारी में। दरवाज़ा बंद करके बेडरूम में लौटती सुषमा पिछली कोठरी में जाकर पति की तस्वीर हाथ में लेकर जोर से हँसती है। उसे वहीं पटक कर आराम से सो जाती है।

अगली सुबह उसे बड़ी मोहक लग रही है। मन में पूर्ण तृप्ति एवं विश्वास है कि उसकी मुश्किलें अवश्य हल होंगी। उसे फैक्ट्री पहुँचने की जल्दी है और वह भी पूरी सज-धज के साथ। बेटियाँ घर लौट आई हैं-

'मम्मी आपकी मीटिंग कैसी रही? काफी देर हो गई होगी?''

'हाँ, फैक्ट्री में ऑफिसरों की ज़रूरी मीटिंग थी, स्टाफ को भी साथ रहना ही पड़ता है।'

बड़ी बेटी माँ को ध्यान से देख रही है। विधवा माँ की तैयारी, सज-धज और निरंतर बढ़ता मेक-अप। सुषमा बेटी से नज़र नहीं मिला रही, शायद अपने अपराध या 'सो-काल्ड' व्यभिचार के कारण। पर इसका उत्तर भी उसके पास है-वह जो कर रही है वह इन्हीं के लिए तो है। एक अनजाना भय उसे बार-बार झकझोरता है पर वह स्वयं को सँभाल लेती है। 'मुझे इनके पिता की तरह ग़ैर-ज़िम्मेदार नहीं बनना। मैं इनके लिए सब कुछ करूँगी', अपने अपराध-बोध को कर्तव्य पालन के साथ जोड़ रही है सुषमा।

सुषमा का संसार बदल गया है। परायी स्त्री का साथ पुरुष को इतना सुख दे सकता है, यह उसने कभी जाना ही नहीं था। माँ को याद कर रही है सुषमा। पति की मृत्यु पर माँ ने रोते हुए कहा था-'मेरी बेटी का घर टूट गया'। घर का टूटना-ज़िंदगी के टूटने का पर्याय। मेरा घर तो पहले दिन ही टूट गया था माँ, मैंने तो उस टूटे घर को रोज़ जोड़ने का प्रयास किया था। मुझे जीवित रहने के लिए एक कमजोर पत्नी और एक कमजोर माँ बनना पड़ा। बहुत जी लिया कमजोर बनकर फिर भी यह घर और ये बच्चियाँ मुझे उससे नहीं बाँध सके जिसके साथ सात फेरे लिए थे। अब सुषमा कमजोर नहीं रहेगी, बदला लेना है उसे। वह जानती है जब बसे हुए घर टूटते हैं तो घाटे में पुरुष ही रहता है। स्त्री तो जहाँ जाए वहीं घर बना लेती है। पर जहाँ से चली जाती वह घर टूट जाता है। अब उसे नए सिरे से घर बनाना है।

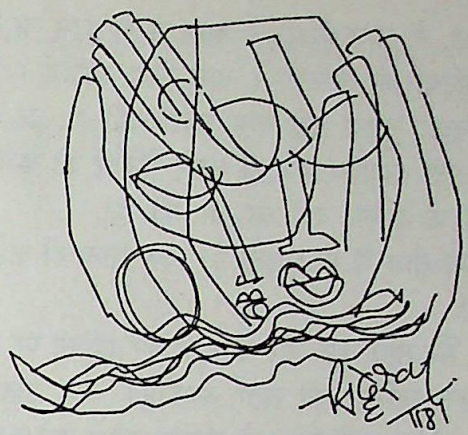

सुषमा की बेटी का विवाह तय हो गया है। सारा इंतजाम मैनेजर ने कर दिया है पर विवाह लड़के के शहर में होगा। फैक्ट्री में बड़ी चर्चा है। सुषमा की बेटी का विवाह धूमधाम से हुआ है। हर कोई जानना चाहता है और सुषमा का उत्तर है–

'विवाह तो धूमधाम से ही करना था, पति बहुत बड़ी जायदाद छोड़ गए हैं। गाँव में सौ एकड़ ज़मीन का ठेका आता है। मेरे ससुर सौ गाँवों के सरदार थे।' सुषमा की आँखों में घूम रही है ससुर की एक सीलन भरी किराये की कोठरी और पति का वह घर जिसमें उसे बीस वर्ष नरक भोगा था। आँखों के सामने है लगभग पचास वर्ष का दुहाजू दामाद, दो बच्चों का बाप। सुषमा का दिल काँप रहा है पर कान दूसरों की बातों पर हैं–

'अरे वाह! जिसके पास इतना कुछ हो उसे इस फैक्ट्री की क्लर्की करने की क्या ज़रूरत?' एक सहयोगी की टिप्पणी पर सुषमा शर्म महसूस कर रही है पर उसके पास हर बात का जवाब है–

'घर से बाहर आकर ही दुनियादारी पता लगती है'। इस रईसी और दुनियादारी का हिसाब लगाते लोगों की हँसी का अर्थ सुषमा जानती है पर उसे किसी की परवाह नहीं है। बड़ी बेटी का विवाह कर छोटी को हॉस्टल भेज कर सुषमा खुश है। उसने मैनेजर की इच्छानुसार घर बदल लिया है। घर में ऐशो-आराम की लगभग सभी चीजें आ गयी हैं। अपने अतीत को भूलने का प्रयत्न करती सुषमा अब स्वयं को बड़े लोगों के बराबर समझने लगी है। बड़ा सुकून मिल रहा है पति से बदला लेने में। उसके साथ रह कर न अच्छा खाया, न पहना, केवल गालियों और मार से पेट भरा। अब वह सुखी है। बेटियों को यह महसूस नहीं होना देना चाहती कि वे अनाथ हैं। बड़ी बेटी का कन्यादान उसने मैनेजर से कराया था। छोटी बेटी के सामने मैनेजर का गुणगान करती है पर वह सुनना नहीं चाहती। पति की जिस बुरी आदत से सुषमा को एतराज था वही आदत मैनेजर में भी है। बेटी हैरान है कि माँ चुप क्यों है? शायद वह माँ की बदला लेने वाली बात को समझ नहीं पाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सुषमा, मैं आज फैक्ट्री के काम से देहरादून जा रहा हूँ, कहो तो बिटिया को हॉस्टल से साथ लेता आऊँगा।' मैनेजर की बात सुनकर सुषमा बुरी तरह घबरा गयी है। वह इन्कार नहीं कर सकती क्योंकि आज ही उसने मैनेजर को बताया था कि छुट्टियों के कारण बेटी घर आ रही है।

'आपके साथ मैं भी चलती हूँ?' वह इतना ही कह पायी है।

'नहीं, मेरे साथ कुछ और लोग भी हैं। वापिसी पर अकेला रहूँगा, इसलिए बिटिया को लेता आऊँगा।' क्या उत्तर देगी सुषमा-मैनेजर के अहसानों तले दबी, मजबूर, उसके प्रत्येक व्यवहार को चुपचाप सहने को अभिशप्त। पर बच्ची? क्या करे वह?

सुषमा बहुत परेशान है। सुबह जाकर रात तक लौटने का प्रोग्राम था पर मैनेजर अभी तक नहीं लौटा। उसका मोबाइल भी बंद है। आँखों के सामने बच्ची का चेहरा घूम रहा है, मैनेजर के अहसान याद रहे हैं। रात के दो बज चुके हैं। सुबह बेटी ने फोन पर कहा था कि वह मैनेजर के साथ नहीं आना चाहती। बड़ी मुश्किल से सुषमा ने उसे राजी किया था। वह जानती है कि बेटी तो मैनेजर के नाम से भी नफ़रत करती है पर माँ की ज़रूरतों को समझती हुई चुप रहती है। जब कभी घर आती है बहुत कुछ देखती है और समझती है, पर बेसमझ बने रहने का अभिनय करती है। माँ द्वारा उल्टा कर रखी पिता की तस्वीर को वह चुपके से अपने साथ ले गयी है। पिता-ख़ून का रिश्ता-माँ उसे भुला सकती है, दोनों में जो रिश्ता था वह ख़ून का नहीं था।

सुषमा बेचैन है वह किससे पूछे, क्या करे। मोबाइल बजाता है—'सुषमा, मेरी गाड़ी ख़राब हो गयी है, रास्ते में एक होटल में रुक रहा हूँ। बिटिया की चिंता मत करना, मेरे साथ है।' मैनेजर की आवाज़ लड़खड़ा रही है, शायद नशे में धुत है। सुषमा काँप उठी है वह मैनेजर को बड़ी निकटता से जानती है। पति से बदला लेने वाली और अतिरिक्त हौसले वाली सुषमा डर से काँप रही है। इस समस्या का कोई हल नहीं है। उसके पास-एक निर्बल, निसहाय और अकेली स्त्री। सामने पड़ी तस्वीर पर नज़र पडती है-फैक्ट्री के किसी समारोह में मैनेजर के पास खडी सुषमा, फिरोजी सिल्क की साड़ी में चमचमाती, काले चमकते बाल, गहरे मेक-अप से पुता चेहरा। फोटो को इनलार्ज करवा के बढ़िया सुनहरे फ्रेम में लगवाकर अपने बेडरूम में रखा था सुषमा ने, शायद इसी फोटो की वजह से बेटी-कभी इस बेडरूम में नहीं सोती। सुषमा की बेचैनी बढ़ रही है। मैनेजर का मोबाइल फिर बंद है। सुबह होने को है, सुषमा ने सारी रात आँखें मे गुज़ारी है। नज़रें फिर उसी तस्वीर पर हैं। मैनेजर के कंधे से सटी सुषमा दुनियाँ की नज़रों से बेपरवाह, प्रसन्न और बिंदास।

'सुषमा! तू नहीं बना पाएगी अपना जीवन अपनी मर्ज़ी से। यह हक तो पुरुष के पास है', सुषमा आज फैक्ट्री नहीं जा पायी। बेटी का इंतजार है। दोपहर के दो बजे घर के सामने मैनेजर की कार आकर रुकी है। बिटिया लड़खड़ाती हुई चली आ रही है। सुषमा से लिपट कर रो रही है—

'माँ, मेरे पापा क्यों मर गए? माँ मुझे मेरे पापा चाहिए।' बेटी का पीला चेहरा और रुलाई सुषमा को बहुत कुछ बता रहा है। वह बदला लेकर भी हार गयी है। लगभग बेहोश सी हो आयी है। बेसुधी के सामने पति दिखाई दे रहा है—

'ले चुकी बदला? ले चुकी बदला? पति का हाथ गरदन पर महसूस कर रही है और उसकी मार शरीर पर अनुभव हो रही है। वह चीख उठती है—

मारो, मुझे मारो, पर एक बार लौट आओ। नहीं संभलेगा यह जीवन तुम्हारे बिना। बच्ची को सीने से चिपकाए रो रही है। उसे बेडरूम में ले जा रही है।

'सुषमा, तू किससे बदला ले रही थी? बदला तो तुझसे ही लिया गया है'-सारे अहसानों का बदला एक ही वार में पूरा हो गया। तू हार गयी सुषमा, तू हार गयी है' सुषमा की आँखों के सामने अँधेरा है। हाथ गोद में अधलेटी बच्ची के सिर पर है। क्या होगा इस बच्ची का? पति से बदला तो ले लिया, अब मैनेजर से कैसे लोगी? सिर घूम रहा है.... बड़ी बेटी का दुहाजू पति... शादी के दिन से दो बच्चों की सेविका बनी-बेटी का उदास चेहरा... मासूम बच्ची की चीखें... उसका ख़त्म होता भविष्य... मैनेजर द्वारा दिए सुख, ऐशो-आराम...।

बच्ची को सीने से चिपकाए सुषमा फिरोज़ी चमचमाती साड़ी में मैनेजर के कंधे से सटी सुषमा को पहचानने की कोशिश कर रही है। आँखों के सामने सब कुछ गड़मड हो रहा है तस्वीर पर बड़े अक्षरों में लिखा दिखाई दे रहा है- 'बदला'।

पंजाबी यूनीवर्सिटी, पटियाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेटी की माँ का डर

नीहारिका

नयी-नवेली दुल्हन सुमन का सास परछन कर रही है। राजेश उनका इकलौता बेटा है। बड़ी साध से बहू लायी हैं वे। रस्म के अनुसार पड़ोसन के नन्हे बेटे को उसकी गोद में डालती वे सुमन की बलाएँ ले लेती हैं। "ऐसा ही बेटा हमें देना साल भर के अंदर", वे बोल उठीं।

"हाँ-हाँ बेटा ही होगा इसे भी। आपके परिवार की तो यही परंपरा रही है। भैया और चाचा सबके बेटे ही हुए हैं। फिर इसे बेटी कैसे हो सकती है? परिवार की परंपरा निभाना बहू!" रिश्ते की कोई बुआ बोलीं।

शादियों की खुशियों को जैसे हल्का-सा ढटका लगा। कहीं मन में एक तनाव-सा पैदा हुआ सुमन के। कैसे गारंटी दे कि बेटा ही होगा। वह भी इतनी जल्दी। अभी तो ससुराल की दहलीज़ पर पाँव भी नहीं रखे हैं और अभी से इतनी अपेक्षाएँ? ख़ैर देखा जाएगा, सोचती वह सास द्वारा बतायी जा रही रस्मों को निभाने लगी।...

सुहाग-सेज पर बैठी सुमन अपने दिल की धड़कनों को सँभालती राजेश का इंतज़ार कर रही हे। राजेश ने आते ही उसे बाँहों में भर लिया और फिर माँ की नसीहत दोहरा दी "जानती हो सुमि? माँ-बाबू जी की बड़ी हसरत है पोते को गोद में खिलाने की। हमारा भी तो कर्त्तव्य है न कि हम उनकी इच्छाओं को पूरा करें। साल के भीतर ही एक प्यारा-सा गुड्डा माँ की गोदी में डाल देना। निहाल हो उठेंगी वे। राजेश बोलते रहे और सुमन कहीं अपने ही सोच में गुम हो गयी कि उसकी हसरतों, इच्छाओं के बारे में तो कुछ पूछा ही नहीं राजेश ने। उसकी भी कितनी हसरत थी कि वह अपने जीवनसाथी के साथ पूरे देश का चक्कर लगाएगी, पहाड़ों पर घूमेगी, नदियों में तैरेगी, समुद्र में गोते लगाएगी और भी जाने क्या-क्या? लेकिन यहाँ तो सब उसे केवल अपनी-अपनी हसरतें बता रहे हैं, उसकी हसरत क्या है, इससे किसी को कोई सरोकार नहीं। राजेश को भी नहीं, जो उसके जीवन-साथी हैं। माँ की आवाज़ कानों में फुसफुसा जाती है, "वहाँ सबकी बात मानना, सबकी इच्छाओं का ध्यान रखना, जैसा सब कहें वैसा ही करना।" माँ ने भी कब उसको सिखाया कि अपनी इच्छा का भी मान रखना, उन्हें पूरा करना? कभी भी नहीं। फिर उसमें कहाँ से हिम्मत आये अपनी इच्छाओं का मान रखने की। सास की हसरतों और पति की इच्छा के आगे वह समर्पित हो जाती है।

महीना बीतते न बीतते सुमन के पाँव भारी होने की ख़बर से पूरा परिवार प्रफुल्लित हो उठा। तीन महीने बीतते ही सास सोनोग्राफ़ी कराने के लिए ज़ोर देने लगीं। बेटा ही होना चाहिए, होगा ही, लेकिन फिर भी एक बार टेस्ट करा लेने में क्या हर्ज़ है? पता तो चल जाए। फिर हम भी निश्चिंत हो जाएँ।

सास के इस कथन से सुमन सहम गयी। अगर उसके गर्भ में पल रहा शिशु बेटा न होकर बेटी हुआ तो? ज़रूर सास कहेंगी कि उसे ख़त्म कर दो। अपने पति राजेश से भी उसे किसी प्रकार की मदद की संभावना नहीं दिखती। अपने दिमाग़ से कुछ भी तो नहीं सोचते। जैसा और जो माँ-बाप कह दें, बस वही सही है वही ब्रह्मवाक्य है। सुमन किसी न किसी बहाने से सोनोग्राफ़ी कराना टालती रही, लेकिन एक दिन सास वाकई नाराज़ हो उठीं।

"क्यों नहीं सुनतीं तुम कोई बात? आख़िर क्यों टालती जा रही हो? कारण क्या है? जितने ज़्यादा दिन चढ़ जाएँगे, उतनी ही अधिक समस्या होगी।"

उनकी इस बात से तो सुमन और भी डर गयी। उनकी कही बात का आशय अच्छी तरह समझ रही है वह। सोनोग्राफ़ी कराने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। लेकिन, रुटीन चेकअप में भी जब डॉक्टर ने सोनोग्राफ़ी कराने को कह दिया, तब तो कोई उपाय नहीं बचा उसके पास। रुआँसी-सी हो उठी वह। लेकिन सास बहुत ही खुश हो गयीं, "यही तो, कितने दिनों से इससे कह रही हूँ कि सोनोग्राफ़ी करा लो, लेकिन इसे न जाने किस बात का डर लग रहा है?"

परंतु डॉक्टर बहुत अनुभवी हैं। सुमन का चेहरा देख कर ही समझ गयीं कि केवल टेस्ट कराने से ही वह नहीं डर रही है, बात कुछ और भी है। बहुत ही स्नेह से बोलीं, "क्यों डर रही हो बेटी? कुछ भी डरने की बात नहीं है। चलो एक बार तुम्हारा चेकअप कर लेती हूँ, फिर तो डर नहीं लगेगा न?"

वे उसे लेकर अंदर के कमरे में चली गयीं। डॉक्टर को अकेला पाते ही सुमन का डर आँसुओं के रूप में बह निकला। "डॉक्टर! इन लोगों को केवल बेटा ही चाहिए। सोनोग्राफ़ी से अगर पता चला कि मेरा बच्चा बेटी है, तो ये निश्चित रूप से उसे मार डालेंगे। मुझे और मेरे बच्चे को बचाने का वादा कीजिए, तभी मैं टेस्ट कराऊँगी, वर्ना कभी नहीं", वह हिचकियाँ ले-ले कर रो उठी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर वही समस्या। आज दस में से आठ भावी माताओं के सामने यही समस्या है। कभी पहला बच्चा बेटा चाहिए, कभी पहला हो या चौथा सारे बच्चे केवल बेटे ही होने चाहिए, कभी चूँकि पहले अनजाने में बेटियाँ हो चुकी हैं, इसलिए अब केवल बेटा ही चाहिए। सोनाग्राफ़ी की पद्धति कितने आवश्यक व लाभदायक कारणों से विकसित हुई थी और आज वह केवल बच्चे के लिंग-निर्धारण का ज़रिया बन गयी है। कभी-कभी तो भावी माँ की भी मर्ज़ी होती है, लेकिन प्रायः वह भी ससुराल वालों या पति के दबाव में ही बच्चे का लिंग-परीक्षण करवाती हैं और बेटी होने पर उसे ख़त्म करने पर मजबूर हो जाती हैं। लेकिन, डॉक्टर इसके बिल्कुल ख़िलाफ़ हैं। वे खुद भी तो एक स्त्री हैं, बच्ची को जन्म देने वाली भी स्त्री है। एक स्त्री होकर वे दूसरी स्त्री और उस अजन्मी स्त्री के प्रति कैसे अन्याय कर सकती हैं? अपने ही जीवन दृष्टांत से वे भली भाँति समझती हैं कि बेटी को अगर प्रोत्साहित किया जाए, तो वह कहीं से भी बेटों से कमतर नहीं होती। आज वे शहर की एक लब्धप्रतिष्ठ कुशल चिकित्सक हैं, तो अपने माँ-बाप और सास-ससुर की दुलारी बेटी। ईश्वर की ही अनुकंपा थी कि उन्हें अत्यंत सुलझे माँ-बाप के बाद सास-ससुर और पति भी बेहद समझदार और सुलझे हुए मिले। उन्होंने बहू को बेटी माना, तो बहू ने भी उन्हें अपने माँ-बाप का ही सम्मान दिया। आज सिर्फ़ कमरे अलग-अलग हैं, लेकिन दोनों पक्षों के माँ, पिता और पति तथा बच्चों के साथ सबके दिल मिले हुए हैं। अपनी परवरिश और सही देखभाल तथा मार्गदर्शन से उनमें इतनी आत्मशक्ति है कि न कोई अनुचित कार्य करती है, न सहन करती हैं। लगता है सुमन की सास को उनके अन्य गुणों और योग्यताओं के साथ इस गुण के विषय में जानकारी नहीं थी, वर्ना वे अपनी इस विचारधारा के साथ अपनी बहू को यहाँ कभी न लातीं।

डॉक्टर ने बेहद दृढ़ता के साथ सुमन के सिर पर हाथ फेरा, "तुम बिल्कुल भी चिंता मत करो। मैं ऐसा कुछ भी नहीं होने दूँगी। लेकिन, तुम्हें तो पता है, बच्चे के सही विकास, उसके शरीर के सभी अंगों की ठीक-ठाक बनावट और अनेक बीमारियों की जानकारी के लिए भी सोनोग्राफ़ी करनी ही पड़ती है। तुम इन ज़रूरतों की ख़ातिर सोनोग्राफ़ी करा लो, बाकी मैं सब सँभाल लूँगी।"

डॉक्टर की इन आश्वस्तिकर बातों ने सुमन को निश्चिंत कर दिया, लेकिन जिसका डर था वही हुआ। सुमन के गर्भ में एक स्वस्थ बेटी ही साँसें ले रही थी। न चाहते हुए भी सास ने सिर पकड़ लिया। फिर वे सुमन को कितनी ही समझदारी भरी नसीहतें देती रहीं। बस पहलौटी का बेटा हो जाए, फिर अगला बच्चा चाहे बेटी हो या बेटा उन्हें कोई ऐतराज़ न होगा। आख़िर इस परिवार की यही तो परंपरा रही है और परंपराओं का निर्वाह करना बेटे-बहू का ही तो उत्तरदायित्व होता है। बाहर से दिखने में बेहद आधुनिक विचारों वाली सास की इन बातों को सुन कर सुमन आश्चर्यचकित हो जाती। पति भी जब-तब दबाव डालते रहते, कभी प्यार से, कभी घुड़क कर। सुमन सब सुनती, सब बर्दाश्त करती और अपने उभरे पेट पर हल्के से हाथ फेर मन में ही बुदबुदा उठती, "तू मत घबराना बेटी, तेरी माँ तुझे कोई नुकसान नहीं होने देगी।"

डॉक्टर ने अपने आश्वासन को सही करते हुए एबॉर्शन करने से साफ़ इन्कार कर दिया। "सुमन की हालत ऐसी नहीं है कि एबॉर्शन किया जा सके। उसको कुछ हो गया तो उसके ज़िम्मेदार आप ही होंगे। यह भी हो सकता है कि वह आगे कभी बच्चे को जन्म ही न दे पाए",उनका दो टूक कथन होता।

बेटे का चाहे कितना भी लालच हो, लेकिन सुमन के ससुराल वाले कहीं न कहीं भगवान से डरते भी थे, कहीं समाज में अपनी 'आधुनिक' 'सुलझे हुए समझदार लोग' की छवि से बँधे हुए भी थे, सो सुमन की अजन्मी बेटी सुरक्षित रह गयी। समय पर उसने एक स्वस्थ प्यारी-सी गदबदी बेटी को जन्म दिया। सास-ससुर का मुख म्लान हो उठा, शायद अब भी उन्हें किसी चमत्कार की आशा थी, लेकिन सुमन ने उसे अपने हृदय से लगा लिया, उसके माथे को चूम लिया। इन नौ महीनों में कितना डरती रही वह बार-बार अपनी बेटी को खो देने के डर से जीती रही। आज उसे अपनी गोदी में पा वह भगवान के प्रति कृतज्ञ हो उठी। अस्पताल से घर आते समय श्रद्धा से डॉक्टर के पाँव छू लिये उसने। वही तो उसकी बेटी की जीवनरक्षक थीं।

"समय पर सारे टीके वगैरह लगवाती रहना", उन्होंने प्यार से हिदायत दी।

बेटी को लेकर घर आ गयी सुमन। धीरे-धीरे सब सामान्य हो गया। उसकी किलकारियों से घर भरा-भरा लगने लगा। छोटी-सी गुड़िया की तरह सब उससे खेलते रहते, खिलाते रहते। बेटी के प्रति सबका प्रेम और दुलार देख कर और महसूस कर सुमन निश्चिंत होने लगी। लेकिन, तभी समाचार-पत्र में एक ख़बर चर्चा का विषय बन गयी। अपनी तीन माह की पोती के साथ उसके दादा ने दुराचार करने की कोशिश की, जिससे पोती की मृत्यु हो गयी। जिसने भी इस समाचार को सुना हाय! हाय!, थू-थू कर उठा। फिर तो जितने मुँह उतने क़िस्से। अपने ही चाचा-मामा या रिश्तेदार या पड़ोसी द्वारा दुधमुँही बच्चियों के शोषण के न जाने कितने क़िस्से। सुमन काँप-काँप उठती। नौकर या किसी पुरुष रिश्तेदार की गोद में जाते ही बच्ची की चीख़ या रोना उसे विचलित कर देता। अब वह कभी भी उसे अकेला नहीं छोड़ती। न उसे दादा के पास, न पिता के पास। किसी पर भी तो विश्वास नहीं होता। एक डर-सा बना रहता है। जाने कब रक्षक ही भक्षक बन जाए। थोड़ी बड़ी हो जाए बेटी, ताकि माँ को अपनी बात बता सके, तब जा कर वह निश्चिंत हो सकेगी।

हँसती-खेलती नीला बड़ी होती रही। उसकी हरकतें देख-देख सुमन मुदित होती रहती। बहुत ही प्यारी बच्ची है नीला। किसी को भी तंग नहीं करती, हमेशा खुश रहती है। अपनी तोतली बोली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पटर-पटर खूब बातें करती है। माँ के कंधे के पीछे से झाँ-झूँ करना बहुत पसंद है उसे । सुमन हर क्षण बिल्कुल चौकन्नी रह कर उसका पालन -पोषण कर रही है। अपनी बेटी से बिल्कुल दोस्त की तरह व्यवहार करती है, ताकि वह अपनी हर बात उसके साथ बाँट सके। हर वक़्त उसे नसीहतें देती रहती है, "ये करना, ये नहीं करना। ऐसे करना, वैसे नहीं।"

कभी-कभी उसे खुद भी लगता है कि इतनी छोटी है नीला, क्या सचमुच उसकी वर्जनाओं को समझ भी पा रही है। "अंकल या भैया से सट कर मत बात करो, किसी के कमरे में अकेले मत जाओ, "पैर ढँक कर लेटो", वगैरह-वगैरह।

धीरे-धीरे बड़ी होती नीला स्कूल भी जाने लगी। सुमन का डर बिल्कुल भी कम नहीं होता। "स्कूल में टॉयलेट अकेले मत जाना, किसी खाली क्लासरूम में या किसी कोने में अकेले मत जाना।" कॉलोनी में खेलने निकलती तो "किसी के घर के अंदर मत जाना। घरों के बाहर जो खाली जगह है, बस वहीं खेला करो और कुछ-कुछ देर में मेरे पास भी आया करो।" जितनी देर नीला खेलने जाती वह अपनी बालकनी में ही कुछ-कुछ करती रहती, ताकि नीला की आवाज़ कानों में आती रहे।

नीला के किसी दादा, किसी अंकल, किसी भैया पर उसे विश्वास नहीं होता। कैसे हो? अपना ही बचपन याद आता है। वो थे न एक अंकल... जाने क्या तो नाम था। पिता जी के बहुत अच्छे मित्र थे। उन्हें बच्चों से बहुत प्यार था। अक्सर केवल बच्चों के लिए पार्टी का आयोजन करते। उनकी न तो पत्नी थी, न बच्चे। घर में कोई नौकर चाकर भी नहीं था। इसलिए जब सब बच्चे पहुँच जाते, तो वे लड़कों को तरह तरह का सामान लाने के लिए बाज़ार भेज देते और लड़कियों के साथ दुलार करने लगते। छोटी छोटी बच्चियाँ उस दुलार में छिपे उनके कुत्सित भाव को तो समझ भी नहीं पातीं, मन में कहीं डर, कुछ झिझक और कुछ लालच भी होता। लालच उस सामने वाले ताले जड़े रहस्यमय कमरे का था। उसी में से तो अंकल कभी रंग-बिरंगी काँच की चूड़ियाँ, कभी बालों की क्लिप, सुनहरे रूपहले रिबन और जाने क्या क्या लाते थे। सारी लड़कियों को उनकी पसंद की चीज़ें मिलती थीं। अंकल कहते थे कि वो पूरा कमरा तरह-तरह की चीज़ो से भरा हुआ है। मन में कितना लालच होता था कि एक बार इन उपहारों से भरे कमरे को देख पाती, तो? लेकिन अंकल उस अँधेरे कमरे में अकेले ही जाते, उसे अंदर से बंद कर लाइट जलाते और फिर जैसे जादू की छड़ी से एक से एक सुंदर और नायाब उपहार निकाल कर उन मासूम बच्चियों की आँखों में कल्पना की आस भर देते। जब तक इन बच्चियों के भाई मिठाई, लस्सी, तरबूज़ और जाने क्या क्या लिये लौटते, अंकल बिल्कुल एक अच्छे अंकल की तरह सब लड़कियों को कहानी सुना रहे होते या उनसे कविता, गाना वगैरह सुन रहे होते। न भाइयों को भान होता, न माँ-बाप को। माँ -बाप के सामने तो वे एक निहायत शरीफ़, नेकदिल, बच्चों को बहुत बहुत प्यार करने वाले, एकाकी और निरीह इन्सान थे। फिर भी नन्हीं-सी सुमन को वे कभी अच्छे नहीं लगते। लेकिन, पिता जी उन्हें इतना आदर-मान देते थे कि कुछ कहने में भी डर लगता। एक दिन बड़ी हिम्मत करके उसने इस पार्टी में जाने से मना किया था। वो भी केवल मम्मी से। पिता जी से तो कहने का सवाल ही नहीं उठता।

"लेकिन क्यों नहीं जाएगी तू वहाँ? कितना प्यार करते हैं अंकल। कितनी सारी गिफ़्ट्स देते हैं। बेचारे अकेले हैं न, इसीलिए तो बार-बार बच्चों को बुलाते रहते हैं। बच्चों से बहुत लगाव है उनको। फिर क्यों नहीं जाना चाहती तू?" मम्मी ने कहा तो वह अपने आप को रोक नहीं पायी-"लेकिन मम्मी! वो गंदा-गंदा काम करने को कहते है। भैया लोगों को तो भेज देते हैं सामान लाने के लिए बाज़ार और फिर हम लोगों से... यहाँ-वहाँ बॉडी पर हाथ फेरते हैं, मुझे नहीं अच्छा लगता। मैं नहीं जाऊँगी।"

मम्मी सन्न रह गयी थीं, लेकिन फिर उन्होंने कभी भी उन अंकल के घर जाने को नहीं कहा। शायद पिता जी से भी बताया हो, क्योंकि जब भी अंकल शिकायत करते कि आजकल रानी बिटिया ने तो आना ही छोड़ दिया है, पापा बात टाल जाते, "जाना ही नहीं चाहती, तो क्या करें?"

उस घटना को याद कर सुमन कहीं भी बिटिया को अकेला नहीं भेज पाती। किसी का दुलार-प्यार उसे आश्वस्त नहीं करता। कौन जाने सबके सामने वात्सल्य की वर्षा करने वाला शख़्स आड़ में कौन-सी घिनौनी हरकत कर बैठे? वह तो माँ से इतना खुली थी के उन्हें यह सब बता भी सकी, वर्ना उसके पड़ोस वाली टुन्नी जाने कितने दिन तक जाती ही रही थी उन अंकल के घर। थी भी तो कितनी चुप्पी! दोस्तों में ही खुल कर नहीं बोल पाती थी, तो माँ से क्या बोलती? कितनी ही बार तो सुमन ने उसे हिम्मत दिलायी थी कि देख मैंने तो अपनी मम्मी को बता दिया है, तू भी बता दे। लेकिन, उसकी हिम्मत ही न होती। अंत में 'सुमन नहीं जाती है, तो मेरा भी मन नहीं करता वहाँ जाने का' कह कर जान बचायी थी उसने।

बड़ी होती बेटी को कितनी हिदायतें देती, कितनी टोका-टाकी करती रहती है सुमन । खुद को भी बुरा लगता है। बेटी बेटे में कभी भी फ़र्क़ नही किया उसने, लेकिन फिर भी कहीं न कहीं फ़र्क़ करना ही पडता है। अभी नया-नया साइकिल चलाना सीखा है नीला ने। गुलाबी रंग की नयी नकोर साइकिल पर तितली-सी उड़ती फिरती है। लेकिन, सुमन की हिदायतें उसकी रंग-बिरंगी कल्पनाओं को बदरंग करती रहती हैं "नीला! सुनसान रास्तों पर मत जाना... लड़कों के पास से अतिरिक्त सावधानी से निकलना. .. साइकिल चलाने स्कर्ट पहन कर मत जाओ..." और भी कितना कुछ। जितना माँ टोकती है उतना ही नीला की आकांक्षाओं के पंख फैलते जाते हैं- "माँ! घर में टमाटर ख़त्म हो गये हैं क्या? मैं ले आऊँ?" नीला को बहाना चाहिए साइकिल चलाने का । सुमन इसे खूब समझ रही है। उसके उत्साह को रोकना भी नहीं चाहती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह - "आँ? टमाटर तो हैं अभी। लेकिन बिस्कुट और नमकीन लेती आ। शाम को एक अंकल -आंटी आने वाले हैं। और बेटा, दूकान के अंदर मत जाना। बाहर से ही लेना सब कुछ। चाहे दूकानदार कुछ भी कहे, अंदर मत जाना।" 'रोटी, कपड़ा और मकान' जैसी जाने कितनी फ़िल्मों के दृश्य सुमन को अंदर ही अंदर डराते रहते हैं।

"ओ0 के0 मम्मा। मैं बिल्कुल भी नहीं जाऊँगी। तुम ज़रा भी चिंता मत करो", नीला मम्मी को आश्वस्त करती है। माँ की ऐसी हिदायतें सुनना उसकी आदत बन चुकी है। एक अच्छी बच्ची की तरह वह उन हिदायतों का पालन भी करती है। बस कभी-कभी माँ की टोका टाकी बुरी लगती है। कभी कभी गुस्सा भी आता है, लेकिन फिर उनके प्यार के आगे सब भूल जाती है वह। इन सबसे इतर वह एक बहुत ही अच्छी माँ हैं। हमेशा उसकी सुरक्षा, उसके हितों के लिए चट्टान-सी अड़ जाती हैं। कितनी ही बार दादी को बड़बड़ाते सुन चुकी है, "लड़की को इतने मँहगे और अच्छे स्कूल में क्या पढ़ाना? बेटा होता तो बात दूसरी थी। इसे तो एक दिन ससुराल चले जाना है। इस समय इतना पैसा खर्च करने से तो अच्छा होता कि जमा करती और ढेर-सारे दहेज के साथ बेटी को विदा करती। दहेज से ही तो लड़की की शान बनती है ससुराल में।"

कभी कभी तो दादी की बड़-बड़ इतनी बढ़ जाती कि नीला के लिए बरदाश्त करना मुश्किल हो जाता। लेकिन माँ उसे सँभाल लेतीं, "तू दादी की बातों पर क्यों ध्यान देती है? अपने गुणों, अपनी क़ाबलियत को इतनी धार दे कि वही तेरा दहेज बने, वही शान!"

"लेकिन माँ..."

"कुछ नहीं, बस तू अपनी पढ़ाई वगैरह पर ध्यान लगा। बाकी मैं देख लूँगी," माँ प्यार से सिर पर हाथ फ़ेरतीं।

माँ का यह दृढ़ रूप उसे अभिभूत कर देता। उसके हितों के लिए इतनी दृढ़ माँ समाज की कुरूपताओं के चलते अंदर से कितना डरती रहती है, इसे नीला बखूबी समझती है। कभी राह चलती लड़की का लड़के दुपट्टा खींच देते हैं, तो कभी हाथ पकड़ लेते हैं। उनकी छींटाकशी, छेड़छाड़ को लड़की बरदाश्त न करे, तो मुँह पर तेजाब फेंक देंगे कि सारी उम्र तड़पते ही बीत जाए। दिल्ली के गार्डन में डॉक्टर लड़की के साथ रेप की घटना से तिलमिला उठती है वह। कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं लड़कियाँ, न घर-परिवार में, न समाज में। बार बार नीला को सावधान करती है, समझाती है। अंदर से ताक़त जुटाने को कहती रहती है। नीला सब समझती है, लेकिन माँ की तरह डरती नहीं। उसका बिंदासपन सुमन को काफ़ी हद तक निश्चिंत भी करता है, लेकिन इतना बिंदासपन ससुराल में कौन बरदाश्त करेगा, सोच कर डर भी जाती है वह।

नीला ने एक अच्छी सम्मानित नौकरी कर ली है। उसके साथ का विनोद उससे बहुत प्रभावित है। दोनों ही एक दूसरे को खूब पसंद करते है, तो माँ बाप को भी ऐतराज़ नहीं होता। हाँ विनोद की माँ को थोड़ा संदेह है। नीला अकेली बेटी है, तो उन्हें लगता है कि उसे भी बेटी ही होगी। विनोद ने मज़ाक में ही कहा उससे यह बात- "नीला! तुम तो माँ को एक बेटा ही दोगी न।

नीला तुनक उठी। बचपन से सुनती आ रही है बेटा बेटा!! बेटा!!! सबको बेटा ही चाहिए, तो बेटों का जन्म हो कैसे? जब बेटी पैदा ही नहीं होगी, तो बेटे को जन्म कौन दे किस्से-कहानियों और फ़िल्मों में दिखाये जाने के बावजूद समस्या की भयावहता की ओर किसी का ध्यान क्यों नहीं जाता परिवार संस्था चलेगी कैसे, अगर बेटियाँ ही न हों? कितना प्यार क्यों न हो उसे विनोद से, लेकिन उसकी यह बेटे की बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगी नीला को। गुस्से से बोल उठी "अब भी मौक़ा है। विनोद। किसी ऐसी लड़की से ब्याह कर जो तुम्हें और तुम्हारे घरवालों को सिर्फ़ बेटा ही देने की गारंटी सके। मैं तो ऐसी कोई गारंटी नहीं दूँगी। यह तो प्रकृति निर्णय है। उसे ही करने देना उचित है। कहीं चार बेटियाँ होती हैं, तो कहीं न कहीं चार बेटे भी पैदा हो जाते हैं। प्रकृ स्वयं ही अपना सामंजस्य बनाये रखती है। हम खुद ही दखलंदाजी करके उसके सामंजस्य को बिगाड़ते हैं और फिर रोते हैं। पहले अच्छी-ख़ासी व्यवस्था को बिगाड़ देंगे, फिर सुधारने के लिए भाषण, सेमिनार और गोष्ठियों का आयो करेंगे, जहाँ सब मिल कर बिगड़ी हुई व्यवस्था पर सिर धु असंभव और काल्पनिक उपाय ढूढ़ेंगे, लेकिन करेंगे वही, कि यह व्यवस्था और भी ज़्यादा बिगड़ती रहे। यही हमारा राष्ट्र चरित्र होता जा रहा है। लेकिन, मैं इस दोगलेपन से अंतर्मन घृणा करती हूँ। मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकूँगी। तुम ज विचारधाराओं वाली साथी खोज लो, जो तुम्हारे इस क़िस्म के निर्णय में तुम्हारा साथ दे सके," बोलते-बोलते हाँफ उठी लेकिन, उसे यह ज़रूरी लगा कि आज और अभी ही इस में बात कर लेना, अपना मंतव्य स्पष्ट कर देना चाहिए। इस तरह की बातें बार बार उठती रहेंगी और धीरे धीरे शादीशुदा जीवन में ज़हर घोलती रहेंगी। शुरू से ही वह तनाव में देखती रही है। नीला के हितों की रक्षा करने बढ़ावा देने में वे हमेशा अकेले ही लड़ती रहीं। घर से, और समाज से। पिता या घर के और सदस्यों ने कभी भी माँ-बेटी को सपोर्ट नहीं किया। उनका हमेशा एक ही होता, "तुम्हें ही बेटी का बहुत चाव था, तुम्हीं भुगतो।"

उनके इस कथन ने माँ को हर बार अंदर से चक किया, नीला की भावनाओं को ठेस पहुँचायी लेकिन निरंतर दृढ़ होती रहीं। अपनी ज़मीन को और मजबूती आसमान को विस्तार देती रहीं। लेकिन, नीला माँ की आक्षेप या लाँछन सुनने-सहने को तैयार नहीं। विनोद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निर्णय कर ले कि उसे क्या चाहिए?

नीला की बातें सुन विनोद अवाक् रह गया। लेकिन, उसे अपनी ग़लती का भी अहसास हो गया। नीला जैसी लड़की से इस तरह बातें करना सरासर अपमान ही नहीं अपराध करने जैसा है और उससे यह अपराध हो ही गया है, तो उसका निराकरण करने में उसे तनिक भी देर नहीं करनी चाहिए।

"सॉरी नीला! मुझे माफ़ कर दो। मुझे ऐसा कहना ही नहीं चाहिए था। बस माँ ने कहा था, तो मेरे मुँह से निकल गया। लेकिन, आज के बाद तुम्हें मुझसे कोई शिकायत न होगी। मुझे तुम्हारे जैसी विचारधारा वाली साथी ही चाहिए, जो मेरा साथ तो दे, लेकिन मेरी ग़लतियों पर मेरा ध्यान भी खींचे और मुझे वह ग़लती न करने दे", विनोद ने नीला को मना ही लिया।

नीला और विनोद की शादी धूमधाम से हो गयी। दहेज की तरह कुछ भी न तो दिया गया, न लिया गया। बस ऐसा लगा, जैसे एक घर छोड़ कर नीला दूसरे घर में शिफ्ट हो गयी। नीला की शादी से संबंधित सभी आशंकाओं को विराम लगा। सास ससुर नीला को बेटी की तरह प्यार करते, उसके गुणों की सराहना करते। साल बीतते-बीतते नीला ने अगली खुशख़बरी सुना दी। सुमन का हृदय धड़क उठा। माँ से नानी के पद पर प्रोन्नत होने जा रही थी वह, लेकिन मन किन्हीं जानी-अनजानी आशंकाओं से काँप उठा था। विनोद और नीला की विवाह पूर्व की नोंक झोंक के बारे में सुन चुकी थी वह, इसीलिए और ज़्यादा डरती है। उस समय तो विवाह पूर्व के प्रेम की खुमारी थी, जो प्रेम के अलावा कुछ भी सोचने नहीं देती, समझने नहीं देती। लेकिन, बच्चे का जन्म तो पति-पत्नी दोनों को ही वास्तविकता के धरातल पर ले आता है। नीला के जन्म के पहले से ही उसने जो दुविधा और संत्रास झेला था, उसे याद कर वह नीला के प्रति चिंतित हो उठती। लेकिन, उसका डर निर्मूल निकला। एक बार जो हुआ, सो हुआ। विनोद या उसके घरवालों ने भी दुबारा कभी बेटे-बेटी की बात नहीं की। नीला की सोनोग्राफ़ी हुई तो ज़रूर, लेकिन केवल गर्भस्थ शिशु के सही विकास, जन्मगत बीमारियों वगैरह की जानकारी के लिए ही हुई। न किसी ने डॉक्टर से बच्चे के लिंग के बारे में पूछा, न किसी ने बताया। सबको एक स्वाभाविक-सी जिज्ञासा होती रही कि बेटा होगा या बेटी? नीला की सास ने खूब शौक से गोदभराई की रस्म की। वे बार-बार नीला की बलाएँ लेतीं, उसे आशीर्वाद देतीं, एक स्वस्थ शिशु को जन्म देने के लिए।

तभी एक हादसा हो गया। नीला पैर फिसल जाने के कारण गिर पड़ी। बस ग़नीमत यही रही वह साइड से गिरी थी। और घुटना मुड़े-मुड़े ही एक-दो कलैया खा गयी थी। लेकिन, उस वजह से शिशु का जन्म समय से पूर्व ही कराना पड़ा। सुमन की तो साँस ही जैसे अटक गयी। ऑपरेशन थियेटर के बाहर सारे रिश्तेदार गुमसुम से एकत्र थे, तभी डॉक्टर ने कहा, "केस क्रिटिकल हो गया है। अगर हमें माँ-बच्चे में से किसी एक को बचाना पड़े, तो किसे बचाना चाहेंगे आप?"

"यह कैसा बेतुका प्रश्न है? मेरी बच्ची को ही बचाना चाहिए आपको" सुमन के गले में यह बात आकर अटक गयी। विनोद और उसकी माँ आगे आ गये थे। सुमन निरूपाय-सी हो उठी। लेकिन, विनोद और उसकी माँ एक-साथ ही बोल उठे, "नीला को, माँ को ही बचाइए डॉक्टर! और हर हाल में बचाइए।"

"मैं उसे खो कर नहीं जी सकूँगा डॉक्टर!" विनोद बुदबुदाया। उसकी आवाज़ भर्रा उठी थी।

सुमन सबकी गतिविधियाँ और हाव-भाव देख-परख रही थी। काफ़ी जद्दोजहद और भाग दौड़ के बाद नीला की स्थिति क़ाबू में आयी थी। डॉक्टरों, नर्सों और दाइयों के आने-जाने से यह तो लग रहा था कि बच्चे का जन्म हो चुका है, लेकिन कोई कुछ बता नहीं रहा था, सो सब डरे हुये थे। सबसे ज़्यादा तो सुमन ही। अंत में जब सहन नहीं हुआ, तो विनोद ने एक नर्स को रोक कर पूछ ही लिया, "क्या हुआ सिस्टर? कैसी है नीला? आप कुछ बोलती क्यों नहीं?" उसने नर्स को झकझोर दिया।

"क्या कहें? इतनी परेशानी और भागदौड़ हुई आप लोगों की। इतना पैसा ख़र्च हुआ। कैसे बताएँ कि बेटी हुई है। पहला बच्चा है आपके परिवार का। लेकिन क्या किया जाय? भगवान की मर्ज़ी....पहले से सोनोग्राफ़ी से पता कर लेते, तो आज यह मुसीबत न आती", नर्स की बकवास पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया विनोद ने "कैसी है नीला?" पूछा उसने।

"ठीक है। बेटी की माएँ हमेशा ठीक ही रहती हैं, जाइए मिल लीजिए", नर्स ने सहानुभूति से कहा।

विनोद और उसकी माँ पूरे उत्साह से कमरे के अंदर बढ़ गये। पीछे-पीछे पूरा परिवार। नीला की सास ने प्यार से नन्हीं-सी पोती को सीने से लगा लिया। विनोद नीला के बालों को प्यार से सहलाता उसे देख रहा था। सुमन का जी जुड़ा गया। आज जा कर उसकी तपस्या सफल हुई। उसकी बेटी ने एक इंसान के रूप में समाज में, घर-परिवार में अपनी जगह बनायी है। वह न बेटी है, न बेटा। वह स्वयं में संपूर्ण है। उसका अपना स्थान है, अपना सोच है। वह प्यार और सम्मान पा रही है, अपने गुणों के बलबूते पर, न कि इसलिए कि वह बेटी या बेटा है। अपना हक़ ले पा रही है वह, क्योंकि वह अंदर से दृढ़ है। उसे अपने हक़ के लिए किसी से गिड़गिड़ाने या भीख माँगने की ज़रूरत नहीं।

सालों-साल से चले आ रहे सुमन के डर ने आज अंतिम साँस ली है।

द्वारा- श्री अजय श्रीवास्तव
सहायक अधीक्षण पुरातत्वविद्
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण
पुरातत्त्व संग्रहालय, सारनाथ, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन पद

यश मालवीय

(1)

क्या कपड़े, क्या चप्पल साधो!
दाना ही जब नहीं पेट में, क्या आने वाला कल साधो!
सावन के अंधे क्या जानें, क्या सोना, क्या पीतल साधो!
बिस्तर गोल, गोल धरती का, खाट नहीं, है खटमल साधो!
तेज़ हवा बूँदा बाँदी में, बिन दावत की पत्तल साधो!
टूटी हुई बाँह वाले भी, दिखा रहे हैं भुजबल साधो!
खेती वाला करे ख़ुदकुशी, काँधे पर लेकर हल साधो!
पुरखे देहरी पर दम तोड़ें, और पुज रहा पीपल साधो!
वक़्त कि ठहरे पानी जैसा, मन ही में है हलचल साधो!
कौन रूप का करे निहोरा, बिना आँख का काजल साधो!
क्या कपड़ा, क्या चप्पल साधो!

(2)

ऊधो ! नहीं बीतती रैन
कठिन समय में सिर पर चढ़कर बोले जहर-कुनैन।
अजब तमाशा हमने देखा, फटे रह गए नैन।
मन में लड्डू फूट रहे थे, रूँधे हुए थे बैन।
अमन चैन के नारों वाले, ख़ुद कितने बेचैन।
देख रहे दिन-रात आइना, हैं अपने ही फ़ैन।
छलक रहे हैं मदिरा वाले, भरे हुए हैं कैन।
भीतर से कायर, बाहर से, लगते सूपरमैन।
इनके कुशल रसोइए, हम हैं चूल्हा अंडा पैन।
ये हैं शासक, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, क्या जैन?
ऊधो नहीं बीतती रैन।

(3)

प्रभु जी ! तुम जीते हम हारे।
हैलोजन वाली आँखों में, चमक रहे अँधियारे।
चीख रहे हैं पंचम स्वर में, घर-आँगन-गलियारे।
चौराहे पर मरी भैंस की, कोई खाल उतारे।
आगज़नी में आगे-आगे, हैं आँखों के तारे।
पत्ती चबा रहे, मिमियाते, बकरी से उजियारे।
अट्टहास करते रातों में, ऊँचे महल-अटारे।
चुरा रहे काजल आँखों का, बादल कारे-क
उनके रंग ढंग मत पूछो, जब से श्याम सिं
उनकी पाँचों घी में, पूरे कुनबे के पौ
जनता का ही ख़ून बिखेरे, ख़ुशियों के फव्
हैं शासनादेश, फिरते ज्यों, कुत्ते मारे म
फ़सल काटकर खेतों खेतों, बोते हैं अं
कठिन व्यवस्था गन्ने जैसा, हमको पेरे-प
गलियों-सड़कों घूम रहे हैं, नंगे और उ
अपनी मौत मर रहे सपने, पतित पावनी ग
प्रभु जी ! तुम जीते हम हारे।

'रामेश्वरम्', ए-111, मेंहदौरी कॉलोनी, इलाहाबाद-211004 (उ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़लें

इन्दु श्रीवास्तव

1

तिरी बात में कितना दम है फ़कीरे
गिरस्ती बड़ी बेरहम है फ़कीरे

जो पीये वो डोले न पिये वो डोले
ये ऐसी अनोखी चिलम है फ़कीरे

शहर से निकल कर चलें जंगलों को
वहाँ पर ज़रा दर्द कम है फ़कीरे

शराफत यहाँ प्याज सी पिस रही है
इसी से मेरी आँख नम है फ़कीरे

न बुत न इबादत न जन्नत की चाहत
हमारा ख़ुदा तो सनम है फ़कीरे

2

न कोई छत न कोई रहबर मिला
रात भर चलते रहे तब घर मिला

लाल-नीली बत्तियाँ हिलती रहीं
कंपकपाता मील का पत्थर मिला

छोड़ आये थे उसे हम मुन्तजिर
लौटने पर रेत का पैकर मिला

चाँदनी सोई थी अपने दरमियाँ
जागते ही धूल का बिस्तर मिला

यां तो हरदम जख्म ही मिलते रहे
न दवा न कोई चारागर मिला

3

बोझ की मारी हुई है ज़िंदगी
इसलिए भारी हुई है ज़िंदगी

उनकी रोटी उनका पानी उनका सब
काम सरकारी हुई है ज़िंदगी

बस भिगोया और धोया हो गया
पाँच गज़ सारी हुई है ज़िंदगी

कुछ ने काटा और कुछ कटते गए
साग तरकारी हुई है ज़िंदगी

शर्म से सागर भी मीठा हो गया
इस क़दर ख़ारी हुई है ज़िंदगी

घर में उलझी और दफ़्तर में फंसी
आधुनिक नारी हुई है ज़िंदगी

4

यू भी न कर मज़ाक मेरी ज़िंदगी के साथ
वैसे भी गम जुड़े है बहुत मुफलिसी के साथ

सहरा कोई कहे मुझे कोई नदी कहे
संगम हूँ चश्म-ए-तर का मैं तिश्नालबी के साथ

होती है दर्द-ओ-गम की दवा शेर-ओ-सुखन से
रिश्ता अज़ीब दिल का है इस शायरी के साथ

कैसे न तुझे देख के सजदा करे कोई
फूलों की ताज़गी भी है पाक़ीजगी के साथ

इतना न दे कि बोझ से थम जाए ज़िंदगी
जीने दे मुझे यार मेरे, कुछ कमी के साथ

आधी गुज़र गई है तेरे इंतज़ार में
बाकी गुज़ार देंगे तेरी बेरुखी के साथ

फटती अगर तो दर्द से फट जाती ये ज़मीं
इतने हुए हैं जुल्म यहाँ आदमी के साथ

एम.आई.जी. 1/6/101, इन्दिरा नगर, रीवा (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंजिश ही सही...

कुमार पंकज

बहुत कम शख़्स ऐसे होते हैं, जिन्हें मृत्यु-भय न सताता हो। शुकदेव सिंह उन बहुसंख्यक लोगों में से थे, जिन्हें मौत का डर सताता था और ख़ूब सताता था। किसी भी समवयस्क की मौत उन्हें विचलित कर देती थी और वे किसी अन्य जीवित समवयस्क को फ़ोन कर जैसे अपने को ही ढाँढस बँधाते थे। अपने अंतिम वर्षों में वे पूर्णतः निराश और कुंठित हो गये थे। उन्हें लगता था कि उन्हें उनका प्राप्य नहीं मिल रहा है। हताशा के कारणों में व्यक्तिगत/पारिवारिक बिंदु भी थे। एक और चीज़ उनकी मानसिकता का हिस्सा बन चुकी थी और वह यह कि वे स्वयं पहले किसी घटना की कल्पना करते थे और बाद में उन्हें यह भरोसा हो जाता था कि वह घटना सत्य थी और घट चुकी थी।

जब मैं इलाहाबाद से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता बनकर आया और शुकदेव सिंह से रू-ब-रू हुआ, तो उनके नाम ने मुझे फ़ौरन हांट किया। मैंने मज़ाक में कहा कि यह तो यूनीक विभाग है, जहाँ वेद व्यास (भोलाशंकर व्यास) भी हैं और शुकदेव (शुकदेव सिंह) भी अर्थात् पिता-पुत्र दोनों। यों भी शुकदेव जी विभाग में शुकदेव मुनि के नाम से ज़्यादा जाने जाते थे। हालाँकि, इससे यह न समझ लिया जाए कि शुकदेव सिंह में व्यास-पुत्र शुकदेव की सारी खूबियाँ भी थीं। मसलन शुकदेव (व्यास-पुत्र) के लिए स्त्री-पुरुष में कोई अंतर न था। वे वासना को जीत चुके थे, उन्हें स्त्रियों के प्रति कोई आकर्षण न था, जबकि अपने शुकदेव सिंह रसिक शिरोमणि थे और यह रसिकता कम से कम सेवानिवृत्ति तक तो रही ही। इस क्षेत्र में वे बी0एच0यू0 के रामशंकर शुक्ल 'रसाल' थे। 'रसाल' जी ने जब लड़कियों को क्रीड़ा के मैदान में दौड़ते देखा और देखा कि दौड़ के दौरान् लड़कियों की लंबी चोटियाँ उनके नितंबों से बार-बार टकराती हैं, तो आदि कवि की तरह उनकी वाणी प्रस्फुटित हुई—"मानो मदन चारु चाबुक चलावे है।"

अपने शुकदेव जी में कवित्व तो था नहीं, वे ठेठ गद्य में ऐसे क़िस्से गढ़ते थे कि 'प्ले बॉय' पत्रिका का संपादक भी शरमा जाए।

शुकदेव सिंह में एक और ख़ास आदत थी। वे कबीर के अध्येता थे, लेकिन जब दुनिया कबीर पर चर्चा करने लगी, तो वे रैदास की ओर मुड़ गये। आप मोहन राकेश या ज्ञानरंजन जैसे बड़े कहानीकारों की बात कर रहे हों, तो वे रामदरश मिश्र और हिमांशु जोशी का ज़िक्र करने लगते थे। वे लीक से हटकर कुछ करना लिखना चाहते थे, लेकिन इस करतब में वे ऐसे तथाकथित उपेक्षितों को उठाते थे, जो शुद्ध मीडियॉकर थे और अपने इस करतब से शुकदेव जी खुद भी उपेक्षित होते जाते थे।

दरअसल, शुकदेव सिंह वक़्त के मारे हुए थे। कोई भी चीज़ उन्हें तयशुदा समय पर नहीं मिली, इसलिए उनके मन में एक 'निगेटिव एलीमेंट' भी सदैव समानांतर चलता रहा। जो उनके होते थे, वे भी उनकी इस मनोवृत्ति के चलते दुश्मन हो जाते थे। अब उनके छात्र-जीवन को ही ले लीजिए। जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम0ए0 के छात्र थे, तो उनके सहपाठी हुआ करते थे—विश्वनाथ त्रिपाठी। दोनों एक ही कमरे में रहते थे, दोनों ही पढ़ाई में तेज़ थे, दोनों में अक़्सर लड़ाई हो जाती थी और सूरते हाल यह होता था कि कवि केदारनाथ सिंह (वे भी सहपाठी थे) जब कमरे में प्रवेश करें, तो दोनों विप्र और क्षत्रिय अपने-अपने तख़्त पर एक दूसरे से पीठ किये यूँ बैठे नज़र आते, जैसे रीतिकालीन काव्य में वर्णित दो सौतें अनबोला किये बैठी हों। अब केदारनाथ सिंह दोनों में समझौता कराते, लेकिन यह समझौता उतना ही क्षणभंगुर होता, जितना कांतिकुमार जैन और प्रेमशंकर के बीच का संवाद। शुकदेव सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी में झगड़ा क्यों होता था, यह लाख टके का सवाल है। यदि निम्नलिखित अति तुच्छ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर मिल जाएँ, तो उपर्युक्त लाख टके के सवाल का जवाब भी मिल सकता है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

1. विष्णु खरे की ज़बान पर मिठास कब आएगी ?
2. रमेश कुंतल मेघ की आलोचना-भाषा पाठकों के लिए कब बोधगम्य होगी?
3. मदन सोनी एवं उदयन वाजपेयी आदि हिन्दी में लिखने की कृपा कब तक करते रहेंगे?
4. 'पहला गिरमिटया' पर गिरिराज किशोर को 'नोबुल प्राइज़' कब मिलेगा?
5. वे कौन सी पत्रिकाएँ हैं, जिनमें परमानंद श्रीवास्तव नहीं छपते?
6. अभिनव ओझा और भारत भारद्वाज जैसे विद्वानों से हिन्दी वालों को कब निजात मिलेगी ?
7. कमांडर कमलाप्रसाद कितने लाख किलोमीटर रेल की यात्रा कर चुके हैं ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के दिन कब सुधरेंगे ?

उम्मीद है कि कोई हातिमताई उपर्युक्त सवालों का जवाब जब खोज लेगा, तो शुकदेव सिंह-विश्वनाथ त्रिपाठी के द्वंद्व का जवाब भी स्वतः मिल जाएगा।

दरअसल, शुकदेव सिंह की मानसिक बुनावट कुछ ऐसी थी कि शायद ही किसी से उनके संबंध स्थायी या अच्छे रह पाते हों। शिवप्रसाद सिंह से लेकर त्रिभुवन सिंह तक, चंद्रबली सिंह से लेकर बच्चन सिंह तक—सभी से उनके संबंध अंततोगत्वा ख़राब ही हुए। रहे नामवर सिंह, तो शुकदेव सिंह को देखते ही नामवर जी निम्नलिखित पंक्तियों का पाठ करने लगते थे :

चक्रवर्ती के लक्षण तोरे।
देखति दया लागि अति मोरे ॥

ज़ाहिर है कि शुकदेव सिंह बेतरह कट जाते। एक तो नामवर सिंह का अंदाज़े-बयाँ और फिर वे शुकदेव जी के गुरु थे। लेकिन, एक बार तो गुरु ने अपनी सहन शक्ति खो दी। पता नहीं क्या अफ़वाह शुकदेव जी ने नामवर जी के बारे में उड़ा दी, जो उड़ते-उड़ते नामवर सिंह के कानों में पड़ ही गयी। नामवर जी मेरे छात्र की पी-एच0डी0 की मौखिकी लेने बी0एच0यू0 आये और अतिथि गृह में ठहरे। मैं उन्हें लेने पहुँचा और उन्हें लेकर निकलने ही वाला था कि बदक़िस्मती के मारे शुकदेव सिंह वहाँ पहुँच गये। नामवर जी ने जैसे ही शुकदेव जी को देखा, तो उनके चेहरे का रंग बदल गया। मैं समझ गया कि 'क़ैद में है बुलबुल, सैयाद मुस्कराए।' नामवर जी जब गुस्से में होते हैं या औपचारिक होते हैं, तो 'जी' एवं 'आप' पर उतर आते हैं। मुझे आदेश देते हुए बोले—"पंकज जी, आप ज़रा बाहर अपनी गाड़ी में मेरा इंतज़ार करिए। मुझे शुकदेव जी से अकेले में कुछ बातें करनी हैं।"

मैं 'जल तू जलाल तू, आयी बला को टाल तू' का जाप करता बाहर आ गया। लगभग 20 मिनट बाद शुकदेव जी बाहर निकले और मुझसे नज़रें मिलाये बिना सीधे अपनी गाड़ी में बैठे और चले गये। शुकदेव सिंह की हालत कैसी थी? शुकदेव सिंह की हालत ऐसी थी :

ये धुआँ धुआँ सा चेहरा, ये पस्त चाल तेरी
चिल्ला के कह रही है अभी हाल का फ़साना।

पाँच मिनट बाद नामवर जी नमूदार हुए और सीधे आकर गाड़ी में बैठ गये। चेहरे पर कसाव था, लेकिन कुछ ही पलों में वे सामान्य बातचीत करने लगे। योग करने के क्या लाभ होते हैं, इन्हें जानने के लिए किसी बाबा रामदेव के पास जाने की ज़रूरत नहीं, अपने आशाराम बापू नामवर जी काफ़ी हैं।

लेकिन, जिन गिनती के लोगों से शुकदेव सिंह की अंत तक निभती रही उनमें कुँवरपाल सिंह प्रमुख हैं। शुकदेव सिंह के 'विचलन' पर कुँवरपाल जी ने एक पत्रनुमा लेख में एकदम खरी, लेकिन बेहद तीख़ी टिप्पणी की थी, जो 'हंस' (जनवरी 2004, पृ0 52-53) में छपी थी। टिप्पणी के कुछ अंश इस प्रकार हैं—"प्रिय डा0 शुकदेव सिंह जी, संत साहित्य के शोधकर्ता और मर्मज्ञ विद्वान के रूप में मेरा आप से परिचय हुआ था।... ऐसा नहीं था कि मैं केवल आपकी सामर्थ्य जानता था, मैं आपकी सीमाओं से भी भलीभाँति परिचित था। आप में अवसरवादिता के जीवाणु तो थे, लेकिन वे अधिक सक्रिय नहीं थे। तब आप राम के साथ थे, लेकिन एक खिड़की रावण की ओर खुली रखने में आप कोई विशेष परहेज़ नहीं करते थे।... मैंने मज़ाक में आपसे यह भी कहा था कि संघ परिवार आपको कभी क्षमा नहीं करेगा। आपका नाम काले रजिस्टर में उन लोगों ने लिख दिया है। उनके पास दो रजिस्टर हैं। जब किसी को पद अथवा पुरस्कार देना होता है, तो दोनों का मिलान करके देखते हैं। काले रजिस्टर वाले व्यक्ति को झुनझुना तो दे देते हैं, लेकिन मलाई से वंचित रखते हैं। एक शर्त यह भी होती है कि निक्कर उसका कितना पुराना है, गुरु दक्षिणा कब से दे रहे हैं, नियमित हैं अथवा नहीं। बंधुवर, आपके पास तो कुछ नहीं, इसलिए व्यर्थ का चंदन घिसने से क्या लाभ ? बंधुवर, गुजरात में आप भी गये, मैं भी गया। आपको अमलतास दिखायी दिये और मुझको जली हुई बस्तियाँ, महिलाओं और बच्चों का चीत्कार, सैकड़ों अपंग लोग और शरणार्थी शिविर मिले।"

उपर्युक्त टिप्पणी के बाद भी यदि कुँवरपाल जी के साथ शुकदेव जी की निभती रही, तो इसकी वजह थी कि शुकदेव जी यह ख़ूब जानते थे कि कुँवरपाल जी विचारधारा एवं मित्रता को अलग-अलग रखते हैं। कहना होगा कि दोनों ने एक दूसरे के प्रति नज़र मैली नहीं की।

यों शुकदेव सिंह मज़ाकपसंद आदमी थे। वेज और नौनवेज—दोनों तरह के लतीफ़े गढ़ने में उन्हें कमाल हासिल था। ख़ुद पर कसा हुआ तंज भी हँसकर सहते थे। एक बार दूधनाथ सिंह इलाहाबाद से आये हुए थे, मेरी फ़िएट में सभी—यानी, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, चौथीराम यादव एवं शुकदेव सिंह—सवार थे और भेलूपुर मुहल्ले में स्थित 'कल्लू वाइन स्टोर' में 'सोमरस' ख़रीदने जा रहे थे। शाम हो चुकी थी और कार में नीम अँधेरा था। शुकदेव सिंह का साँवला रंग और भी गहरा लग रहा था। अचानक दूधनाथ सिंह बोले—"शुकदेव, जब 500 वर्ष बाद खुदाई होगी और तुम्हारी हड्डियाँ मिलेंगी, तो मालूम होगा कि तुम ठाकुर नहीं, मुसहर थे।" सबके ठहाकों के बीच शुकदेव जी का ठहाका सबसे ऊँचा था।

शुकदेव सिंह ख़ुराफ़ाती भी कम न थे 1969 में शुकदेव सिंह की नियुक्ति जब बी0एच0यू0 में हुई, तो लखनऊ के किन्हीं ओमप्रकाश त्रिवेदी ने मुक़द्दमा या कोई आपत्ति दर्ज़ कर रखी थी और इस कारण नियुक्ति-पत्र इशू नहीं हो पा रहा था। ख़ुदा की मार, कहीं ओमप्रकाश त्रिवेदी शुकदेव जी को मिल गये। शुकदेव जी ने बड़े कर्कश स्वर में त्रिवेदी को धमकाया—"बनारस से भाग जाओ, नहीं तो तुम्हारी चुटैया में एक किलो गाँजा बाँधकर गिरफ़्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करा दूँगा।'' त्रिवेदी इतने आतंकित हुए कि रातोंरात बनारस छोड़कर भाग गये। नागेन्द्रनाथ उपाध्याय तो उनके स्थायी शिकार थे। एक बार उपाध्याय जी, शुकदेव जी एवं हिन्दी विभाग के अन्य अध्यापकों का जत्था केन्द्रीय मूल्यांकन के लिए आगरा विश्वविद्यालय गया। एक धर्मशाला में सब ठहरे और उपाध्याय जी के कमरे में शुकदेव जी ने 'सोमरस' पान किया। धर्मशाला के मैनेजर को जब सुबह मालूम हुआ और जब तक वह उपाध्याय जी के कमरे में आता, तब तक शुकदेव जी ने खाली बोतलें मैनेजर के कमरे में रखवा दीं और लगे 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे' को चरितार्थ करने—''शराब पीते हो, पियो; लेकिन हैंगओवर होने पर यहाँ क्यों चले आये? जानते नहीं यह कर्मकांडी पंडित का कमरा है। पुलिस की रेड करा दूँगा।'' बेचारा मैनेजर उल्टे पाँव भागा और अपने कमरे में खाली बोतलें देखकर अपना मुँह पीटने लगा। अगले दिन शुकदेव जी का निशाना उपाध्याय जी बने। उपाध्याय जी आधी दाढ़ी बना चुके थे, तभी शुकदेव जी प्रकट हुए और बड़े गंभीर भाव से बोले—''अभी-अभी ख़बर मिली है कि वहाँ बनारस में रीडर का इन्टरव्यू फ़िक्स हो चुका है और आप यहाँ हैं। अब तो आप रह जाएँगे।'' घबराहट में उपध्याय जी के हाथ से रेज़र गिर पड़ा, जल्दी-जल्दी तौलिये से मुँह पोंछा और सामान सूटकेस में भरकर (रखकर नहीं) बनारस जाने के लिए तैयार हो गये। आधी दाढ़ी बनी हुई थी, आधी अधबनी उपाध्याय जी की धजा देखकर बाकी अध्यापकों ने किसी तरह अब तक रोकी हुई हँसी का बाँध खोल दिया। फिर क्या था, उपाध्याय जी जो शुकदेव जी पर खौंखियाये हैं।

ऐसे ही एक बार मैं शुकदेव जी के साथ परीक्षा में निरीक्षण कार्य कर रहा था। उपाध्याय जी परीक्षा सुप्रिन्डेन्ट थे। अगले बरामदे में एक अध्यापिका ड्यूटी कर रही थीं—गोरा रंग, लंबे बाल, गदगदा बदन, खुपोशाक, सुरीली आवाज़ और ख़ूबसूरत चेहरा। पुराने ज़माने की हीरोइन सुरैया की प्रतिमूर्ति थीं। पूरी फ़ैकल्टी उनकी दीवानी थी। मेरी उनसे ख़ासी पटती थी। शुकदेव जी ने मेरे कान में मंत्र फूँका और मैं पहुँचा उपाध्याय जी के पास—''गुरुवर, यहाँ बैठे-बैठे क्या कर रहे हैं, घूमिए-फिरिए। ज़रा बग़ल वाले बरामदे में परीचेहरा ही देख आइए।' उपाध्याय जी लँगड़ाते हुए गये और थोड़ी देर बाद वापस आकर मुदित मन से मुझसे बोले—''पंकज, आँखें तो उसकी मारे डालती हैं।'' उपाध्याय जी ने यह नहीं देखा कि शुकदेव सिंह बग़ल में खड़े हैं। शुकदेव उवाच—''पंडित जी, मेरी जेब में रखे टेप में आप की आवाज़ रेकार्ड हो चुकी है। शाम को आकर पंडितानी को सुनाऊँगा।'' उपाध्याय जी ने आग्नेय नेत्रों से मुझे देखा और मैं वहाँ से भागा। वैसे मुझे सपने में भी उम्मीद न थी कि खंखड़ उपाध्याय जी अंदर से इतने रसीले हैं।

शुकदेव जी का नज़ला सब पर गिरता था। काशीनाथ सिंह यौवन काल में सुदर्शन पुरुष थे और पढ़ाने के दौरान् उनकी अदाएँ कुछ छात्राओं को बेहद 'अपील' करती थीं। इतना 'अपील' करती थीं कि वे उन्हीं के निर्देशन में पी-एच0डी0 करती थीं। शुकदेव जी ईर्ष्या-ग्रस्त हो गये। तब काशीनाथ जी को ठंड बहुत लगती थी। शुकदेव उवाच—''काशीनाथ जी, जल का स्पर्श 15 अक्तूबर के बाद 15 मार्च को ही करते हैं।''

लेकिन, शिवप्रसाद सिंह के साथ तो शुकदेव जी ने हद ही कर दी। विश्वंभरनाथ उपाध्याय मेरे छात्र की मौखिकी लेने आये और शाम को 'रसरंजन' के लिए मेरे यहाँ शुकदेव सिंह एवं काशीनाथ सिंह के साथ पधारे। मैंने शिवप्रसाद सिंह को भी निमंत्रित कर लिया। वे बग़ल में ही रहते थे। अब शिवप्रसाद जी ने पूरे जीवन में भाँग भले ही पी हो, 'सोमरस' पान कभी नहीं किया था। पहला मौक़ा था। मैंने उनके लिए बीयर मँगा रखी थी। शुकदेव जी 'साकी' का काम कर रहे थे। सबकी नज़रें बचाकर उन्होंने शिवप्रसाद सिंह के गिलास में बीयर के साथ व्हिस्की मिला दी। शिवप्रसाद जी ने पूरा गिलास एक साँस में ऐसे खाली कर दिया जैसे प्यासा आदमी शिकंजी पी रहा हो। फिर अचानक शिवप्रसाद जी ने मुझे आदेश दिया—''खाना लगवाओ, मुझे जाना है।'' मैंने खाना लगवाया और शिवप्रसाद जी जब खाकर उठे, तो उनके क़दम लड़खड़ा रहे थे। मैं तब तीसरी मंज़िल पर रहता था। शिवप्रसाद जी बेहद स्थूल व्यक्ति थे। मैंने सहारा देकर किसी तरह उन्हें उतारा और उनके घर पहुँचाया। जब वापिस लौटा, तो देखा कि विश्वंभरनाथ उपाध्याय गुस्से में लाल बड़बड़ा रहे थे—''लोहिया का चेला बन रहा है, सड़ा समाजवादी, महफ़िल में बैठने की तमीज़ नहीं है, खा-पीकर चल दिया।'' उधर शुकदेव जी बड़ी मासूमियत से मुझसे पूछने लगे—''पहुँचा आये महमूद बघर्रा (गुजरात का बेहद मोटा शराबी) को। सीढ़ियों से गिरे तो नहीं। मैंने तो उन्हें सिर्फ़ कॉकटेल पिलाई थी।''

ऊपर यह बात कही जा चुकी है कि शुकदेव जी को कहीं पर चीज़ें नहीं मिलीं। शुकदेव जी उम्रसीदा हो चुके थे, लेकिन लेक्चरर ही रह गये थे। 1980 में जब हिन्दी विभाग में इन्टरव्यू हुआ, तो एक्सपर्ट रमेश कुंतल मेघ की बारहा कोशिशों के बावजूद रीडर न हो पाये। हुए नागेंद्रनाथ उपाध्याय, काशीनाथ सिंह और विश्वनाथ मिश्र। यहाँ से असली पटकथा शुरु हुई, जो इस प्रकार है (इसे इस संस्मरण का क्षेपक समझिए); सुबह बड़ी सुहानी थी, मंद-मंद बयार बह रही थी। इन्टरव्यू हो चुका था, हिन्दी विभाग के साक्षात्कारों का परिणाम सबको पलक झपकते मालूम हो जाता है, यहाँ भी सभी जान चुके थे। काशीनाथ जी शुकदेव जी के घर पोंछने उनके घर पहुँचे। उनकी पत्नी बोलीं—''उनकी तबीयत ख़राब है, इसलिए 'कबीर मंदिर' आराम करने गये हैं।'' बाबू काशीनाथ वहाँ से अपने 'डीह' अस्सी आये, लेकिन उनके माथे पर सलवटें चुकी थीं। तबीयत ख़राब थी, तो घर में आराम करते, भौजाई से में चंपी करवाते; 'कबीर मंदिर' क्या कोई आरोग्यशाला है? पर ही काशीनाथ जी ने किसी तरह यह मालूम कर लिया शुकदेव जी 'कबीर मंदिर' में भी नहीं हैं। काशीनाथ जी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया कि विपत्ति आसन्न है। लेकिन, काशीनाथ जी की विशेषता यह है कि 'संकट' में उनकी बुद्धि कसाई की गोश्त काटने वाली छुरी से भी तेज़ हो जाती है; इतनी तेज़ हो जाती है कि कायस्थ-भूमिहार खोपड़ी मिलकर भी उसका सामना न कर सकें। मन ही मन व्यूह-रचना की और फ़ौरन पहुँचे नागेंद्रनाथ उपाध्याय के घर। उपाध्याय जी ने जो काशीनाथ जी का चेहरा देखा, तो दिल लरज़ गया। काशीनाथ उवाच—"पंडित जी, अभी इलाहाबाद चलिए। लगता है, शुकदेव मुनि हाईकोर्ट गये हैं।" हाय राम! रीडरशिप ने बड़ा दुख दीना। उपाध्याय जी ने नीम बेहोशी में काशीनाथ जी के साथ बस पकड़ी और इलाहाबाद पहुँचे। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी। काशीनाथ जी की आशंका सत्य थी। यूनीवर्सिटी के वकील ने बताया कि आज मुक़द्दमा दायर हुआ है और कल सुनवाई है–स्टे के लिए। रातोंरात बी0एच0यू0 से फ़ाइल लाइए, तभी कल कुछ हो सकता है। दोनों नवनियुक्त रीडर स्टेशन आये और फ़ौरन उपलब्ध पैसेन्जर गाड़ी में बैठ गये। पैसेंजर गाड़ी, ख़समानुख़ानी, कमबख़्त हर स्टेशन पर रुकती है। उपाध्याय जी का बस चलता, तो इस पैसेंजर गाड़ी को 'राजधानी एक्सप्रेस' बना देते। राम-राम करते मुग़लसराय आया, लेकिन यह क्या ? गाड़ी तो आउटर पर रुक गयी। काशीनाथ सिंह बोले—"पंडित जी, यहीं उतरिए, नहीं तो देर हो जाएगी।" 'दोस्ती' फ़िल्म का दृश्य था—आगे-आगे काशीनाथ जी, पीछे-पीछे लँगड़ाते हुए उपाध्याय जी, दोनों तरफ़ पटरी और गिट्टियाँ... तभी ज़ोर से आवाज़ हुई और धड़ाम, उपाध्याय जी गिर चुके थे और उनके घुटने घायल हो चुके थे। काशीनाथ जी ने उन्हें उठाया और उनका हाथ पकड़कर लगभग घसीटते हुए स्टेशन की तरफ़ यूँ बढ़ने लगे—

वीर तुम बढ़े चलो
धीर तुम बढ़े चलो।

काशीनाथ जी ने उपाध्याय जी को उनके घर छोड़ा और ताक़ीद की कि तैयार रहिए, अभी दो घंटे में आता हूँ। उपाध्याय जी ने काशीनाथ जी की तरफ़ ऐसे देखा—'बाँह छुड़ावत जात हौ, निबल जान के मोहि।' बोले—"मेरे घुटनों में चोट है, टिटनेस की सुई भी लगवानी है।" काशीनाथ जी ठाकुरोचित निर्ममता से बोले—"अभी डेटॉल लगा लीजिए, टिटनेस की सुई कल शुकदेव इलाहाबाद में लगवा देंगे।"

'अभी इतने काम पड़े हैं और इन्हें घुटनों की पड़ी है'—काशीनाथ बड़बड़ाये। फिर तो उनकी फुरती देखने लायक़ थी। नामवर सिंह के दोस्त मशहूर वकील नगेंद्र सिंह को जगाया, फ़ाइल हासिल की और फिर बेताल उपाध्याय जी को ठेलकर सुबह की बस पकड़कर इलाहाबाद पहुँच गया।

हाईकोर्ट के गलियारे में जज के कमरे के सामने जब कृष्ण-सुदामा (काशीनाथ सिंह-नगेंद्रनाथ उपाध्याय) की यह जोड़ी पहुँची, तो सामने से आ रहे शुकदेव सिंह एवं श्यामसुंदर शुक्ल (रीडरशिप के दो असफल प्रत्याशी) से नज़रें मिलीं। 'उनसे नज़रें मिलीं तो ग़श आ गया।' श्यामसुंदर शुक्ल तो फ़ौरन लपककर बग़ल की लिफ़्ट में घुस गये और अंतर्ध्यान हो गये। शुकदेव सिंह 'मैया, मैं नहिं माखन खायौ' वाले अंदाज़ में लगे सफ़ाई देने—"मैं तो 'नीलाभ प्रकाशन' आया था। श्यामसुंदर शुक्ल मुझे यहाँ ज़िद करके ले आये।" शुकदेव सिंह की 'हें हें' करती मुद्रा पर काशीनाथ सिंह बिल्कुल चुप रहे और उनका चुप रहना शुकदेव को और भी शर्मिंदा कर गया। बहरहाल, तकनीकी कारणों से रिट ख़ारिज हो गयी और कृष्ण-सुदामा शुकदेव सिंह एवं श्यामसुंदर शुक्ल को लेकर वापस बनारस जाने वाली बस में बैठे। क्या दृश्य था ? मुद्दई-मुद्दालेह एक साथ। घायल उपाध्याय जी ने श्यामसुंदर शुक्ल की तरफ़ यूँ देखा—'यू टू ब्रूटस' और बोले—"यह कहावत 100 प्रतिशत सही है, 'बाँभन कुत्ता नाऊ, जात देख गुर्राऊ।"

काशीनाथ सिंह बोले—"किसी और अदालत में चलना है, वापस बनारस चला जाए।" यह सुनकर शुकदेव सिंह का साँवला चेहरा शर्म से बैंगनी हो गया। आख़िर काशीनाथ सिंह उनके 'हमप्याला—हमनिवाला' थे।

इस क्षेपक के बाद की संक्षिप्त कथा मात्र इतनी है कि शुकदेव सिंह कालांतर में रीडर-प्रोफ़ेसर तो हुए, लेकिन अध्यक्ष न बन पाने की कुंठा उन्हें अंत तक सालती रही।

शुकदेव जी को गये लगभग दो बरस हो रहे हैं। मुझे नहीं मालूम कि उनके दोस्त उन्हें याद करते हैं या नहीं, लेकिन इस संस्मरण को लिखते हुए मुझे उनकी याद शिद्दत से आ रही है और अहमद फ़राज़ का यह शेर गुनगुनाने का जी हो रहा है :

रंजिश ही सही दिल को दुखाने के लिए आ।
आ फिर से मुझे छोड़ के जाने के लिए आ ॥

प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5 (उ0प्र0)

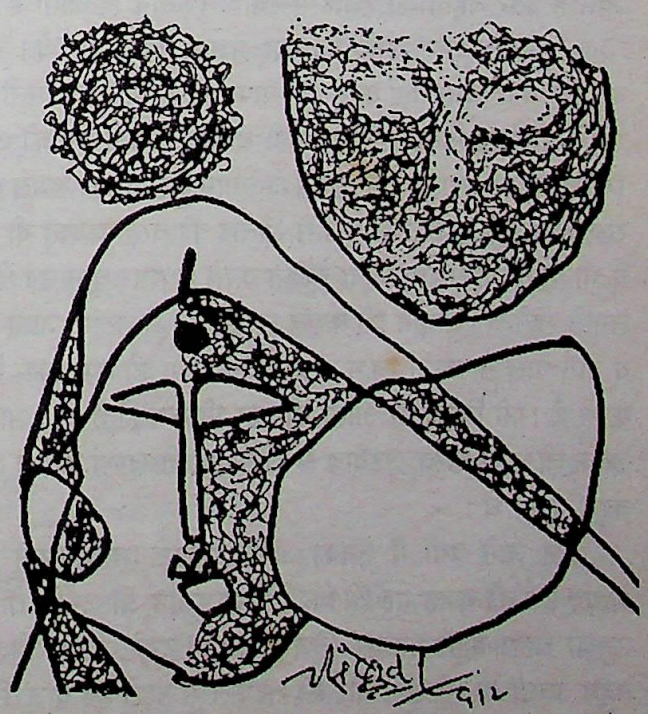

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे-कैसे लोग थे जिनसे रस्म-ए-वफ़ा की बात चली

सैय्यद मुहम्मद अफ़ज़ल

चचा कुँवारे थे या नहीं यह तो अल्लाह ही बेहतर जानता है, मगर शादी शुदा नहीं थे, यह हम सब जानते हैं। मुहल्ले की सज्जो ख़ाला के यहाँ वह बड़ी पाबंदी से जाते थे। सज्जो ख़ाला बदनाम औरत थीं और थोड़ी सी बद भी। क़स्बे के कॉलेज के उर्दू टीचर उन्हें फ़ैज़-ए-आम (आम लोगों का फायदा) कहते थे, हालाँकि मेरी इत्तिला के मुताबिक़ उत्तर प्रदेश के कई शहरों में इस नाम के कॉलेज मौजूद थे। क़स्बे के सबसे मोहतरम और मोअज़िज़्ज़ ख़ानदान से चचा का ताल्लुक़ होने की वजह से बड़े तो ख़ामोश रहते थे, मगर बच्चों और नौजवानों की ज़बान किसने पकड़ी है।

उस वक़्त मैं नवीं क्लास में पढ़ता था। मेरे कई हम जमात उनके सिलसिले में तरह-तरह की बातें करते थे, जिनमें सज्जो ख़ाला का ज़िक्र बड़े एहतिमाम से किया जाता था। क़स्बे के मुसलमान चचा से इस बात पर भी नाराज़ थे कि वे हिन्दुओं, बल्कि मेहतरों तक के यहाँ बिला तकल्लुफ़ चले जाते और खाना खा लेते थे। वैसे उनके प्रशंसकों की भी कमी नहीं थी जो उनके अच्छे स्वभाव और नर्मदिली के क़द्र दाँ थे। लोग उनसे यूँ भी जलते थे कि थानेदार और दूसरे हुक्काम उनका बहुत ख़्याल रखते थे। क़स्बे वाले समझते थे कि मियाँ की सिफ़ारिश से बहुत से बदमाश छूट जाते हैं और बहुतों का ख़्वाह-म-ख़्वाह नुक़सान हो जाता है।

उनके दुश्मन उन्हें माफ़िया मशहूर किये हुए थे। चचा बज़ाहिर कोई धंधा नहीं करते थे। पापा को जो जायदाद मिली थी, उसमें चचा का हिस्सा इसलिए नहीं था कि दादा ने उन को आक़ (बेदख़ल) कर रखा था। मगर उनकी तमाम ज़रूरतों का ख़्याल पापा रखते थे। उन्हें अपने छोटे भाई से औलाद की तरह मुहब्बत थी और वे भी पापा की सबसे ज़्यादा इज़्ज़त करते थे मगर चूना उनको भी लगाते रहते थे। बाग़ात की फ़सल उनके द्वारा से उठायी जाती थी। वे बाग़ वाले से ज़्यादा रक़म वसूल करके पापा को कम रक़म दिया करते थे। जो जिन्स घर आती थी, वह भी कम होती थी। आख़िर उनके तो सभी दोस्त अहबाब थे। फिर सज्जो ख़ाला को भी आम बहुत पसंद थे।

न जाने क्यों मैं उनको अपना आइडियल समझता था। शायद इस की वजह यह थी कि वे बेहद हसीन-ओ-जमील थे और उनका चेहरा बहुत मुनव्वर (तेजवान) था। दूसरे, उनका निशाना बहुत अच्छा था। वे छोटे बोर की राइफ़ल से उड़ते हुए बाज, गिद्ध, चीलें, तीतर और मुर्ग़ाबिया मार लेते थे। इसके अलावा, वे मुझसे बेहद मुहब्बत करते थे। मेरे बग़ैर वे शिकार पर न जाते थे, हालाँकि मेरे बड़े भाई और दूसरे हमज़ाद इस पर एतराज़ करते थे। उनका ख़्याल था कि मैं छोटा बंगू हूँ। क़स्बे के एक साहब जिनकी एक आँख नकली थी, असली बंगू थे। लोगों का ख़्याल था कि सुबह उनकी शक्ल देख लेने के बाद पूरा दिन नहूसत से भर जाता है। मगर चचा हमेशा उन सबको डाँटते और मेरी दिलजोई करते थे। मेरे भाई और हमज़ाद मेरी नहूसत से ज़्यादा अपनी बदहवासी और लालच की वजह से नाकाम रहते थे। होता यह था कि शिकार देखकर एक-दूसरे पर सबक़त ले जाने के लिए वे अंधाधुंध फ़ायर करते, फिर यह कोशिश भी होती कि ज़्यादा से ज्यादा चिड़ियाँ एक ही फ़ायर में खेत रहें। ऐसे में साँस, आँख और लबलबी के दरमियान तवाजुन बिगड़ जाता था, लिहाज़ा ठीकरा मेरे सर तोड़ा जाता था।

चचा मुझे पापा के हाथों पिटने से भी बचाते थे। यूँ तो पापा बेहद शफ़ीक़ थे मगर उनकी कुछ पाबन्दियाँ सूहान-ए-रूह बन जाती थी। मसलन मई-जून में लू से बचाने के लिए वह दोपहर में बच्चों को लेकर तहख़ाने में उतर जाते थे और आराम करते थे। उन की आँख लगते ही हम बाहर जाकर खजूरें बीनने लगते। पापा बहुत नाराज़ होकर फटकार लगाते थे। वह हम लोगों की नाफ़रमानी को हज़रत याकूब अलैहसलाम के बड़े लड़कों की नाफ़रमानी से ज्यादा मानते थे। उनका सख़्त हुक्म था कि तपती दोपहरों में हम हरगिज़ बाहर न जाऐं क्योंकि बच्चे पकड़ने वालों के गिरोह मौक़े की ताक में रहते हैं। उस ज़माने में हर साधू ही मुजरिम लगता था। मगर ऐसे में आम के बाग़ों में जाकर कौरिया तोड़ने और जामुन खाने का मज़ा ही कुछ और होता था। लिहाज़ा हम मौक़ा मिलते ही, बल्कि मौक़ा निकाल कर मुहल्ले के बच्चों के साथ भाग लेते थे।

एक शाम हम ख़ासी देर से वापस आए तो फाटक के बाहर मीर साहब खड़े थे जो जायदाद के मुख्तार-ए-आम (प्रबंधक) थे। वह बेहद काईयां मगर वफ़ादार आदमी थे। पहले वह महकमा डाक व तार में मुलाज़िम थे, फिर हमारे यहाँ आ गये थे। उन्हें देख कर हमने ज़ोर से कहा, "मीर साहब!" जवाब में वह बोले, "आज पकेगी खीर साहब!" अचानक हमें होश आया कि हम बहुत देर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से घर लौट रहे हैं। हमारी हिम्मत न हुई कि हम अन्दर दाख़िल हों क्योंकि मस्जिद के सामने तो पापा मोढ़ा डालकर बैठे हुए थे। मीर साहब की मुस्कुराहट से अज़ियतपसंदी (दुख पहुँचाना) साफ टपक रही थी। इतने में चचा बाज़ार से आते दिखाई दिए। वह फ़ौरन समझ गए कि क्या मामला है और मेरा हाथ पकड़ कर बोले "थोड़ी सी अदाकारी के लिए तैयार हो जाओ।" फिर वह मुझे तक़रीबन खींचते हुए, ज़ोर ज़ोर से डाँटते हुए फाटक से चौक तक लाए। आलम यह था कि उनके मुँह से झाग निकल रहे थे। वे चीख-चीख कर कह रहे थे कि तू बहुत बिगड़ गया है। दस-पाँच थप्पड़ जो मैंने लगाए हैं वह नाकाफ़ी हैं। अब भाई जान से मरम्मत कराऊँगा। पापा को देखते ही वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे। मैं भी आँखों पर हाथ रख कर झूठा रोना रोता रहा। मेरा यह हाल देखकर पापा का गुस्सा ख़त्म हो गया। चाचा से बोले, "मियां अब इसको काफ़ी सज़ा मिल गई है। इसे माफ़ कर दो।" फिर मुझ से कहा, "आइन्दा अगर ऐसा हुआ तो तेरी टाँगें तोड़ दूँगा।"

हमारी दो फूफियाँ हमारे साथ ही रहा करती थीं। दोनों की शादियां दो सगे भाइयों के साथ हुई थीं, मगर फूफियाँ उन को अपने से कमतर और नाक़ाबिल-ए-एतबार समझती थीं। वह लोग तक़सीम के बाद पाकिस्तान चले गए, ये लोग यहीं रह गयीं क्योंकि इन्हें वतन और ख़ानदानी क़ब्रिस्तान से मुहब्बत थी। दोनों हाफ़िज़ कुरान थीं। आमने-सामने बैठ कर दोपट्टे को सर पर एंडवा बना कर तिलावत करती थीं। हालाँकि वह हाफ़िज़ थीं मगर इत्तबा-ए-रस्म में यह ज़रूरी था। तिलावत के दौरान कुरान शरीफ़ पर नज़र भी न जाती थी। अक्सर अंदरूनी और बैरूनी मामलात पर तबसरा और गुफ़्तगू भी तिलावत के दौरान ही होती रहती थी।

पापा के पास दूर-दूर से लोग तावीज़ गन्डे लेने आते थे। बहुत से आसेब ज़दह भी आते थे। उनके बारे में पापा बताते थे कि मैंने उम्र में सिर्फ़ तीन लोग ऐसे देखे हैं जिन पर ऊपरी असर था। वरना ज़्यादातर नफ़सियाती मरीज़ थे, या सास-बहू के झगड़े में लोगों को डराने के लिए औरतें आसेबज़दगी की अदाकारी करती थीं। या इम्तहान के नतीजे से डर कर जो तलबा व तालबात ख़ुदकुशी की हिम्मत न कर पाते थे वह ऐसा करते थे।

क़स्बे की ज़्यादातर ख़वातीन के सिलसिले में फूफियों की मालूमात ख़तरनाक हद तक बढ़ी हुई थी। किसकी किससे आशनाई है, कौन किसके साथ भागी थी, इसका पूरा ब्योरा उनके दिमाग़ में रहता था। हद यह थी कि संबंधित लड़की या औरत के सामने ही यह गुफ़्तगू की जाती थी और उससे तरह-तरह के सवालात पूछे जाते थे। चूँकि आम तौर पर ये मामलात नाकामी पर ख़त्म होते थे इसलिए इश्क़ गुज़ीदा (प्रेमपीड़ित) से हमदर्दी का इज़हार और मुस्तक़बिल में होशियार रहने की ताकीद भी की जाती थी। एक दिन ऐसी ही एक लड़की आई तो बड़ी ने छोटी से पूछा-

"शद्दो, यह कौन हैं?"

"अरे आपा, तुम नहीं जानती? यह शफ़ीक़ लहसुन चोर की लड़की नफ़ीसा है जो सज्जो मालज़ादी के लड़के बुद्धू के साथ ईद के दूसरे रोज़ दरगाह के पीछे उजाड़ तहसीलदारी में गले मिल रही थी। लोगों ने देख लिया तो दोनों घर से भाग गए। सुना है कल ही वापस आई है। सज्जो उसको बहू बनाने पर राज़ी नहीं है। शायद बड़े से मोहनी का अमल करवाना चाहती है। लोग तो समझते थे कि दोनों ग़ायब होकर खुदकुशी कर लेंगे। मगर भला हो इसराईल का जिस ने अपने लड़कों के साथ उसका पता लगा लिया और थानेदार को ख़बर कर दी।

इसराईल दरगाह के पुश्तैनी ख़िदमतगार थे। जब मुहल्ले वालों के चाल चलन की तहक़ीक़ व तफ़तीश से फ़ुर्सत मिलती थी तो अपने लड़कों के साथ रौज़ों की सफ़ाई करते थे। थोड़ा बहुत फ़ातेहा दरूद भी कर लेते थे। उनका बड़ा लड़का अहमद अली हरफ़ों का बना हुआ था। उसकी ईज़ा रसानी और खुद अज़ीयती हद दर्जे को पहुँची हुई थी। एक मरतबा एयरगन की नाल अपनी हथेली पर रख कर चला चुका था। अक्सर ब्लेड से अपने जिस्म पर घाव बनाता रहता था। कभी-कभी मुर्ग़ों को साफ़ पहले करता था और हलाल बाद में। नफ़ीसा और बुद्धू ने वापस आकर दरगाह शरीफ़ में अच्छे साहब दादा के मज़ार पर हाथ रख कर साथ मरने जीने की क़समें खाई थीं।

दरगाह और ख़ानक़ाह आसपास ही थी। ये क़ादरी सिलसिले के मशहूर बुज़ुर्ग हज़रत सैय्यद शाह बरकत उल्ला मारहरवी व बिलगिरामी की दरगाह थी। उनका मज़ार बड़े रौज़े के बीच में था। यह फारसी और ब्रजकी मुतसव्वफ़ाना (अध्यात्मवाद, भक्ति) शायरी के बड़े शायर थे। जनाब वारिस किरमानी ने अपनी मुख्तबकरदा किताब 'द ड्रीम फॉरगाटेन' में उनकी जीवनी और कलाम का नमूना शामिल किया है। फ़ारसी में 'इश्की' और ब्रज में 'प्रेमी' तख़ल्लुस फरमाते थे। ब्रज में उनका दीवान 'प्रेम प्रकाश' मिसाली किताब है। लेकिन मारहरे की अवाम में दरगाह अच्छे साहब दादा के नाम से मशहूर थी जिन का मज़ार हुजूर शाह बरकतउल्ला के दाएँ तरफ़ है। उनके बाएँ तरफ़ उनके एक और पोते हज़रत साहब आलम साहब का मज़ार है जो ग़ालिब के मकतूब अलैह (जिसे ख़त लिखा जाए) थे।

हुजूर अच्छे मियाँ का असली नाम सैय्यद शाहआल-ए-अहमद था। पापा बताते थे कि सालिक के मरतबे पर फ़ायज़ थे। एक बार दरगाह की चौकी पर बैठे थे कि एक हिन्दू साधू सामने से निकला, फ़रमाया-

"कहाँ जा रहे हो?"

वह बोला- "कछला। गंगा मैय्या में स्नान करने।" आप ने फरमाया, "जो यहीं नहला दें तो?"

वह बोला- "नहला दो।" फरमाया, "आंखें बन्द कर और खोल।" अब जो उसने आंखें खोलीं तो सीने तक पानी में खड़ा था और मौज़ें उसे बहाए लिए जाती थीं। उसने एक दिलदोज़ चीख़ मारी और आप के क़दमों में गिर पड़ा। आप के हाथों पर वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुर्शरफ़-ब-इसलाम हुआ और मुलतजी (विनती की) कि मौत के बाद वहीं दरगाह की चौखट के नीचे मुझे दफ़न किया जाय ताकि लोग मेरी कब्र पर से गुज़रें और मेरे गुनाहों का बोझ कुछ कम हो। यह कहते-कहते उसकी रूह परवाज़ कर गई।

बात हो रही थी नफ़ीसा, बिन्ते शफ़ीक़ खाँ की, मगर उनका यह नाम मुद्दत हुई लोग भूल चुके थे और अब हर शख़्स उनको लहसुन चोर कहता था, सिवाए पापा और चाचा के। वह देसी पठान थे और पेशे के एतबार से सब्ज़ीफ़रोश थे। घर में ग्यारह बच्चों की फ़ौज थी और क़स्बे की साठ फीसद आबादी गोश्तख़ोर, इसलिए मफ़लूकुलहाली (बदहाली) उनका मुक़द्दर बन गई थी। अमूमन कारोबार में वह सरमाया लगाने से गुरेज़ करते थे। मगर थे बड़े मेहनती। एक मरतबा कोई ढाई बजे रात में उठ कर निकले तो गश्त के सिपाही शाहनवाज़ खाँ लोदी ने उन्हें पकड़ लिया और कड़क कर पूछा, "कहाँ जा रहे हो?" तो बोले-"साहब तहज्जुद की अज़ान देने मस्जिद जा रहा हूँ।" शाहनवाज़ खाँ मुतासिर व मरगूब (प्रभावित) होकर बोले—"जाओ-जाओ। और हां, मेरे लिए ख़ास दुआ करना।" बुज़ुर्गों का कहना है कि इस वक़्त माँगी हुई दुआएँ कभी खाली नहीं जातीं।" फिर शाहनवाज़ खाँ बड़ी हसरत से बोले- "काश एक पांच हज़ार का इनाम हमारे हाथों भी गिरफ़्तार होता कि हम भी बारी से पहले हेड साहब बनाएँ जाएँ और छोटी-मोटी तफ़्तीशें हमारे सुपुर्द हों।"

क़स्बे से निकल कर शफ़ीक़ खाँ अक्सर तहज्जुद की अज़ान तरकारी के खेतों में देते थे। वैसे उनके इस अमल को ताज़ीरात-ए-हिन्द की शब्दावली में चोरी कहा जाता है। एक दिन बल्कि एक रात वह टार्च की रोशनी में तहज्जुद की अज़ान दे रहे थे कि रखवाले चोबसिंह ने उन्हें धर लिया और कोठरी में बंद करके मीर साहब को सूचित किया। उनके पास से तक़रीबन दस किलो लहसुन बरामद हुआ। मीर साहब हमारे मुख़्तार-ए-आम थे। वह मुलाज़िमों की उस क़िस्म से ताल्लुक़ रखते थे जो पापा के सामने भी फ़सील पर बैठने की मुस्तहेक़ थी। उनकी फ़ितरत में अज़ीयत पसन्दी कूट-कूट कर भरी हुई थी। मीर साहब ने खूब उजाला हो जाने के बाद जब बाज़ार की रौनक़ शबाब पर थी, उनके हाथ बंधवाकर कस्बा दर्शन कराते हुए पापा के सामने हवेली के चौक में पेश किया। मीर साहब की गुफ़्तगू सिफ़ात से ममलू हुआ करती थी, चुनानचे इस वक़्त भी ज़बान से फूल झड़ रहे थे और उनकी नाज़ुक मार से शफ़ीक़ खाँ की स्वर्गीय नानी दादी तक बहरावर हो रही थीं।

पापा उस वक़्त बाहर ही बैठे हुए थे। फाटक से लेकर चौक तक सर ही सर दिखाई दे रहे थे। शफ़ीक़ खाँ के चेहरे पर जो कैफ़ियत थी उसे शर्मिन्दगी नहीं कहा जा सकता। उसे बेबसी और बेकसी कहना ज़्यादा मुनासिब होगा। मेरा दिल उनके लिए रहम से भर गया, मगर मैंने डर के मारे उनकी मुवाफ़िक़त (अनुकूल जाने) की हिम्मत न की। मैं भाग कर सज्जो ख़ाला के घर पहुँचा जहां चचामियां साबूदाने की खीर खा रहे थे। तमाम माजरा सुनने के बाद जैसे ही चचा ने उठना चाहा तो सज्जो ख़ाला ने, जो इस सुनहरे मौक़े पर बड़ी खुश नज़र आ रही थीं, बड़ी अदा से कहा-

"जी आपको सिफ़ारिश करने ही हरगिज़ ज़रूरत नहीं है। जैसी बेटी छिनाल है वैसा ही बाप हरामी। आप क्यों इस चक्कर में पड़ रहे हैं? हरामज़ादे की रंडी लड़की मेरे चाँद को वरग़ला (भड़का) रही है। अल्लाह बड़ा कारसाज़ है, मेरा कलेजा ठंडा हो गया। मैं आपको किसी हाल में नहीं जाने दूँगी।"

चचा का सुर्ख़ व सफ़ेद चेहरा ताँबे की तरह तपने लगा, मगर वह आपे से बाहर नहीं हुए। बहुत धीरे से बोले-"अल्लाह से डरो सज्जो अल्लाह से। हमने तुम्हें थोड़ा मुँह लगा लिया है तो इसका मतलब यह नहीं है कि हम खुदा और उसके रसूल के एहकामात को भूल गए हों। तुम जानती हो सरकार-ए-दो आलम ने क्या फ़रमाया था। अगर तुम किसी की ऐब पोशी करोगे तो ख़ुदा तुम्हारी ऐब पोशी करेगा। खुदा सरे बाज़ार किसी को रुसवा (बदनामी) न दे। इससे बेहतर तो एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मरना है।

सज्जो ख़ाला ज़िद करने लगीं, बोलीं-"उसकी लड़की रंडी है। मेरे लड़के को वरग़लाती है। जवानी उससे संभल नहीं रही है। कहीं आप का दिल तो उस पर नहीं आ गया?"

यह सुनते ही चचा का चेहरा और अधिक सुर्ख हो गया, पूरा बदन लरज़ने लगा। अब सज्जो खाला भी खौफ़ज़दा हो गई। चचा ने बहुत तल्ख़ लहजे में कहा-

—"सज्जो- तुम और इफ़्फ़त व असमत की बातें? तुम्हारे नौ लड़के और आठ लड़कियाँ हैं। कुरान पर हाथ रख कर कहो इनमें से कौन-कौन तुम्हारे नाम निहाद शौहर हमीद ख़ाँ से हैं . मेरे ख़्याल में सिर्फ़ बुद्धू। बड़ा, हकीम सहराई के कुश्तों का नतीजा है और मंझला तिलोकपुर के ज़मींदार की जायदाद... और तुम्हारी यह हसीन जमील लड़की ज़र्रीन, मौलवी बादल के अमलिया का फल है। और सुनाऊँ या जाऊँ? और मैं जो तुम्हारे यहां आ हूँ तो क्या तुम मेरे साथ नमाज़ पढ़ती हो? आइन्दा मेरे सामने कि रंडी को भी रंडी न कहना। तुम क्या समझती हो कि नफ़ीसा माहविश परी रू लड़की तुम्हारे कौए जैसे लड़के पर आशिक़ नहीं, हर्गिज़ नहीं। ग्यारह बहन भाइयों को पेट भर रोटी और ढांकने को कपड़ा सिवाए खुदा के कोई नहीं दे सकता। मगर भी वसीले बनाता है, इम्तिहान लेता है। नफ़ीसा की भूख उसकी रोटी के दर्मियान जो वसीला है वह उसका बाप है हालात का मारा हुआ कमज़ोर वसीला है। वह तुम्हारे लड़के के शादी का सिर्फ़ इसलिए इच्छुक है कि तुम्हारा लड़का बुद्धू सी.आई में मज़दूर है, हिन्दुस्तान का सबसे ज़्यादा मालदार बुद्धू उसके लिए ज़िंदगी गुज़ारने का वसीला है। इससे ज़्यादा नहीं। अगर वह मजबूर न होती तो शायद तुम्हारे लड़के बैतुल-ख़ला (टट्टी करने की जगह) में लोटा भी न रखवाती।

सज्जो ख़ाला उनका यह रूप शायद पहली बार देख रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा लगता था जैसे उनके बदन को राशा (हिलने की रोग) हो गया हो। वह मेरा हाथ पकड़ कर चौक में आए। यहां भीड़ और बढ़ गई थी। उनमें वह लोग भी शामिल थे जो मौक़ा ग़नीमत जानकर शफ़ीक़ खाँ को बुरा-भला कह रहे थे हालाँकि वह खुद ट्रेनों और बसों की लूट के माहिर थे।

मीर साहब बहुत घन गरज के साथ शफ़ीक़ की माँ बहनों को याद कर रहे थे। पापा बेहद शर्मिंदा और ख़जिल बैठे थे। ऐसा लगता था कि जैसे चोरी उन्होंने की हों। चाचा को देखकर मीर साहब को मज़ीद जोश आ गया क्योंकि अमूमन चाचा रहमदिल होने के बावजूद बदमाशों से सख़्ती से पेश आते थे। मीर साहब उनकी इस खूबी से फ़ायदा उठाना चाहते थे। कहने लगे-

"यह हरामी-नस्ल औलाद कुत्ता नुत्फा-ए-ना तहक़ीक़ रात को खेत से लहसुन चुरा रहा था। चोब सिंह ने पकड़ कर मेरे हवाले किया है। अब उसको क्या सज़ा दी जाए?"

"इसे छोड़ दिया जाए।" चाचा ने पुरसुकून अन्दाज़ में जवाब दिया। लोगों के मुँह हैरत से खुले के खुले रह गए मगर पापा के चेहरे पर रौनक़ आ गई।

"ये आप क्या कह रहे हैं मियां? इस चोर को छोड़ दिया जाए।"

"जी हाँ भाई जान।" चाचा पापा से बोले- "इसे छोड़ दिया जाए। जिस सज़ा का यह मुस्तहक़ है उससे कहीं ज़्यादा पा चुका है। इससे बड़ी सज़ा और क्या होगी कि अपने मुहल्ले वालों बल्कि पूरे क़स्बे के सामने सुबह से ये पिट रहा है और गालियां खा रहा है। अपने से कहीं ज़्यादा बड़े चोरों बल्कि डकैतों की लान-तान सुन रहा है। महज़ इसीलिए ना कि वह पकड़ा गया है।"

"मियां, आप का मतलब क्या है?" मीर साहब ने ज़रा हैरान, परेशान और ख़ौफ़ज़दा होकर पूछा।

"मैं कहना यह चाहता हूँ कि ये उस चोर से बेहतर है जिसको भाभी बेगम ने लल्ला की बीमारी के दौरान सौ रूपए कासगंज से मौसमी लाने को दिए थे और वह रूपए उसने जुए में धर दिए और जेब कटने का बहाना तराशा..... और यह उस बेईमान से भी हद दर्ज़ा बेहतर है जिसने डाकख़ाने की नौकरी में अपने पाँव के अँगूठे के निशान ग़रीबों के मनीआर्डर फार्म पर लगाकर उनकी रक़म चुराकर के उन्हें कौड़ी कौड़ी को मोहताज कर दिया जिसके नतीजे में उनके घर के लड़के उठाई गीरे बन गए और लड़कियाँ धंधा करने लगीं।"

मीर साहब बुत की तरह ख़ामोश थे।

"हम सब कहीं न कहीं चोरी करते हैं मगर गिरफ़्त में नहीं आते इसलिए बचे हुए हैं। मगर, "...आसमान की तरफ उँगली उठा कर वह बोले, "वह अलीम व ख़बीर है। उसकी गिरफ्त से कोई नहीं बच सकेगा। मैं खुद भी बड़ा गुनहगार हूँ मगर इस हक़ीक़त पर यक़ीन रखता हूँ कि वह अपने हबीब (सल) पाक के सदक़े में मुझे माफ़ कर देगा।"

यह कहकर वह हिचकियों से रोने लगे। पापा की खूबसूरत सफेद दाढ़ी भी आँसुओं से तर हो चुकी थी। उनके हुक्म पर मैंने शफ़ीक़ खाँ के हाथ साफ़े की बन्दिश से आज़ाद किए। अन्दर से अम्मी ने बुलवाकर बीच वाले दरवाज़े में तख़्त पर बिठाकर उनको गर्म-गर्म रोटियां और पतले शोरबे का गोश्त भेजा। वह खाते जाते थे और रोते जाते थे। अजीब आलम था। मैंने ज़िंदगी में इतनी तमानत फिर कभी महसूस नहीं की। अम्मी पतले शोरबे का सालन बनाने में माहिर थीं, उसमें लहसुन डालना मना था। मगर लोग बड़े बेरहम होते हैं। उस दिन के बाद किसी ने उनको उनके सही नाम से नहीं पुकारा। लोगों को अब सिर्फ़ लहसुन चोर याद रह गया था।

इस वाकिये के बाद से चाचा को एक चुप सी लग गई थी। जैसे कोई बेहद बेशक़ीमत वस्तु उन्होंने खो दी हो। अक्सर उनकी आँखें भर आती थीं मगर वह ज़ाहिर न होने देते थे। उस साल मैंने दसवीं का इम्तहान बड़े इम्तियाज़ से पास किया। मेरे पूरे बावन फीसदी नंबर आए थे। सारा घर खुशी से झूम उठा। आजकल के वालिदैन या रिश्तेदारों की तरह नहीं कि नब्बे फीसद नंबर आने पर भी ऐसे मुँह बनाते हैं जैसे बच्चा फ़ेल हो गया हो। इतनी तो हमारे क्लास में हाज़रियाँ भी नहीं होती थीं।

सबसे ज़्यादा खुश चाचा थे। उन्होंने इनाम में वहीद अन्सारी से जो कारोबार की वजह से हर साल हज करता था, एक खूबसूरत डायना एयरगन मुझे मंगवा कर दी। मेरे क़दम ज़मीन पर नहीं पड़ते थे। इसके दो कारण थे। बड़े भाई अपनी एयरगन छूने नहीं देते थे। एक मर्तबा मैंने यूँ ही उनकी एयरगन उठाई तो उन्होंने मुझे बहुत डाँटा और रूई को गुलाब जल में भिगो कर उसे देर तक पोंछते रहे। दरअसल छोटे भाई की बेतौक़ीरी किसी शायर के तख़य्युल में समा ही नहीं सकती, और अगर समा भी जाए तो अदा नहीं हो सकती। खुशी की दूसरी वजह यह थी कि उस वक़्त मेरे किसी दोस्त के पास एयरगन तो बहुत बड़ी चीज़ है, गुलेल तक न थी। उसके बारीक भेदों से आगाही हासिल करने के लिए मैंने नवाब शमसाबाद सैय्यद मुहम्मद सादिक़ साहब की मशहूर ज़माना किताब "शिकारी रायफ़ल" का विशेष अध्ययन भी शुरू कर दिया। एयरगन आते ही बड़े शिकार के मन्सूबे बनने लगे। एक साथी ने, जिसके हाईस्कूल में भूगोल में अस्सी फ़ीसद नम्बर आए थे, बताया कि तराई में हाथी बहुत खूँखार हो गए हैं। इस पर अरशद जिसके उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों में अस्सी फ़ीसद नंबर आए थे, बोला कि हाथी चरिंदा होता है। वह चाहकर भी खूँखार नहीं हो सकता।

नैनीताल तो हम वालिद साहब की बंदिश की वजह से नहीं जा सके। अलबत्ता हरियल, तीतर, फाख़्ता, ख़रगोश, चूहों और कबूतरों पर हाथ साफ़ करना शुरू कर दिया। सबसे ज़्यादा मज़ा कबूतर मारने में आता था और वह भी दरोग़ा चुंगी के घर की नीम और दीवारों पर। यह बात नहीं है कि वहां कबूतर ज़्यादा फ़र्बा (मोटा ताज़ा) और ज़्यादा स्लेटी होते थे, बल्कि असलियत यह थी कि उनकी बेटी दरमाँ जो नवीं क्लास में थी अपनी सब्ज़-सब्ज़ आँखें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में रस भर के बड़ी अदा और अपनाईयत से उनके शिकार के लिए इसरार करती थी।

कबूतर दरअसल इस हक़ीक़त की वजह से ज़्यादा शिकार होते थे कि उनका खून और गोश्त दमे और फ़ालिज के मरीज़ों के लिए अक्सीर की हैसियत रखता है। एयरगन देते वक़्त चचा ने ताक़ीद की थी कि इसका इस्तेमाल बहुत एहतियात से किया जाए क्योंकि डाक्टर पाहवा मशहूर आँखों के डाक्टर रिटायर होकर अम्बाला जा चुके हैं और क़स्बे में मूशय दायानों की आबादी बढ़ने से मुसलमानों को तकलीफ़ होगी। एक साथी ने अल्लन धुनिए का तन्दुरुस्त मुर्ग भी उसी से मारा था और उसके पर अल्लन के पुराने दुश्मन सय्यद अली के घर के आस-पास डाल दिए थे। इस पर दोनों में खूब सर फुटव्वल हुई थी जिसके नतीजे में डाक्टर निहाल, वकील गुलाम उमर और थाने वालों को फ़ायदा और खुद उन दोनों को जबरदस्त नुकसान हुआ था।

मैं कह रहा था कि चचा पहले के मुक़ाबले में गुम सुम रहने लगे थे। इधर पापा को भी तरह-तरह की बीमारियों ने घेर लिया था। वह इतनी गोलियाँ एक साथ खाते थे कि उन्हें गिनना मुश्किल होता था। मगर वह प्रसन्नचित्त रहते थे। वह चचा से भी ज़्यादा हसीन आदमी थे। हम में से कोई भी उन पर नहीं पड़ा। पड़ते भी कैसे। हम अपनी अम्मी की भी तो औलाद थे। हमारे थोड़े बहुत मंगोली खुतूत उन्हीं की देन है।

पापा जब ससुराल जाते थे तो मुहल्ले टोले से सिर्फ़ उन्हें देखने की ख़ातिर औरतें आती थीं, बाहर निकलते तो मर्द हैरान होकर रह जाते थे। बाल ज़रा जल्दी सफेद हो गए जिस की वजह यह थी कि इत्र पानी में डालकर नहाते थे। शाम को सफ़ेद बुर्राक़ कपड़ों में मोढ़े पर खामोशी से बैठते तो बच्चे उन्हें जिन्नात समझ कर सहम जाते थे। चचा को गुमसुम देखकर पापा ने उनसे कहा, तुमने शफ़ीक़ वाले मामले का ज़्यादा असर ले लिया है। अब तुम शिकार पर भी नहीं जाते हो। मेरा बहुत दिनों से तीतर खाने को दिल चाह रहा है। लाल गोश्त तो बंद हो गया है। शाम को बच्चों को ले जाकर शिकार खेल आओ। नहर किनारे तबियत का इज़मेहलाल (उदासी) भी दूर हो जाता है।

मैंने भी बहुत इसरार किया। बड़े भाई जो अलीगढ़ से रात में आए थे, उन्होंने भी खूब लल्लो चप्पो की। हद ये कि मुझे भी साथ चलने को कहा, मगर साथ ही साथ यह भी कहा, ये साथ होंगे तो शिकार तो शायद ही मिले मगर तफ़रीह हो जाएगी। चचा धीरे से मुस्कुराए और राज़ी हो गए। मैंने यह दिल खुश करने वाली ख़बर उनके अज़ीज़ दोस्त सल्लन मामू और उनके शार्गिदों यानी अमीर हसन और हफ़ीज़ उर्फ हगवा को दी। उन पर गोया शादी-ए-मर्ग (ऐसी मौत जो बेहद खुशी से हो) की कैफ़ियत तारी हो गई।

धीरे-धीरे चचा पुराने रंग में वापस आने लगे, मगर हंसते-हंसते चुप और गुमसुम से हो जाते थे जैसे कोई गुनाह कर रहे हों। पता नहीं दिल पर कितनी और कौन सी चोट लगी थी।

शफ़ीक खाँ के वाकिये के बाद से उन्होंने सज्जो ख़ाला के यहाँ जाना बंद कर दिया था। उन्होंने बार-बार बहानों से बुलवाना चाहा तो उन्होंने पैग़ाम्बर (संदेश वाहक) से साफ़ इन्कार भिजवा दिया। हालाँकि लोगों का ख़्याल था कि सज्जो ख़ाला की लड़ाई महनाज़ उन्हीं की औलाद थी। वह मुझसे सात-आठ साल बड़ी थी शायद बड़े भैया की हम उम्र थी, या उनसे थोड़ी छोटी। बिला शुब्ह वह चचा से ख़तरनाक हद तक मुशाबह थी। वह कभी-कभी हमारे घर भी आती थी। दोनों फूपियों को उससे सख़्त नफ़रत थी, मगर पापा उसे पास बिठा कर नज़र की दुआ पढ़ते और उसके माथे को चूमते थे। अम्मी भी उसे बेहद चाहती थीं, छिपा छिपा कर उसे कुछ देतीं और कपड़े बनवाती थीं। वह भी जब घर आती तो यही पूछती थी कि भाईजान कब अलीगढ़ से आएंगे। "जान" पर ज़्यादा ज़ोर होता था। और जब वह आते थे तो उसकी शेफ़्तगी (प्रेम) का आशिक़ाना अन्दाज़ देखने वाला होता था। वह भाईजान को बेतहाशा चाहती थी, शायद अम्मी भी यह बात समझती थीं। भाई जान उसे चाहते थे या नहीं इसका तो इल्म नहीं मगर उसका थोड़ा बहुत ख़्याल वह ज़रूर रखते थे।

वह उन्हें ऐसे देखती जैसे भाई जान पूराचाँद हों और वह कुमुदनी का फूल। भैया निशाने बाज़ी के मुक़ाबले में बीकानेर गए हुए थे। इसी दौरान उसकी शादी तय हुई और हो भी गई, मगर वह

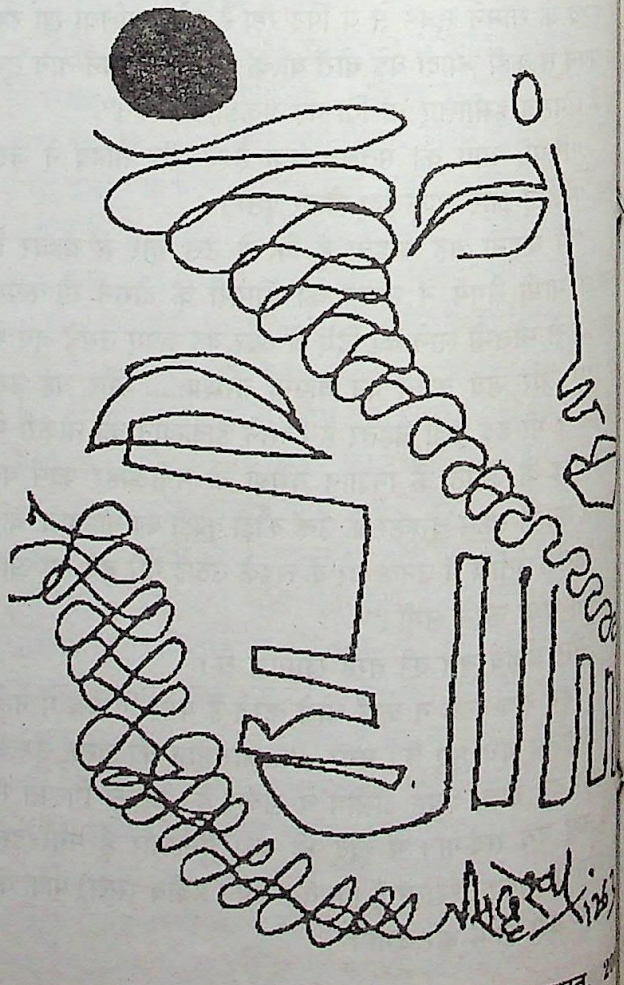

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें भी शरीक नहीं हुए। सज्जो ख़ाला बहुत रोईं, पता नहीं किस-किस से कहलाया, मगर वह टस से मस न हुए। अम्मी ख़िलाफ़-ए-मामूल इस शादी में शरीक हुईं। फूफियाँ इस पर बहुत चीं, नाराज़ होना हुईं। पापा अपने श्रद्धालुओं के बीच में गए हुए थे। मैं अम्मी के साथ था। वह अम्मी से लिपट कर फूट-फूट कर रोने लगी, इससे कहीं ज़्यादा जितना अमूमन लड़कियाँ आज़म-ए-ससुराल होते वक़्त रोती हैं। अम्मी का चेहरा शिद्दते ज़ब्त से नीला सा लग रहा था। मैंने उनको कभी रोते नहीं देखा। आज भी वह नहीं रोईं। बस जब बहुत ज़्यादा ज़ब्त करती थीं तो चेहरा नीलगूं हो जाया करता था। वह रुख़सती से पहले ही लौट आई थी। चचा को बाहर से बुलवाकर बोलीं, "छोटे, हम सब किसी न किसी के गुनहगार हैं। कोई कम और कोई ज़्यादा, मगर तुम ऐसे गुनहगार हो जो एतराफ़ भी नहीं कर सकते इसलिए ज़्यादा कर्ब सहोगे।" चचा की आंखें पुरनम हो गयीं थीं।

जैसे-जैसे मैं बड़ा हो रहा था बहुत सी चीज़ें अपने आप ही समझ में आने लगी थीं। लोग चचा के बारे में तरह-तरह की बातें करते थे। खुलकर तो किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी, मगर ख़बरें तो आ ही जाती थीं। लोग उन्हें जानी (बलात्कारी) बेईमान और थाने का दलाल कहते थे। लोग आपस में कहते कि इतना बड़ा ख़ानदान और ऐसी हरकतें। ऐसा लगता था जैसे ख़ानदानी शराफ़त उनके लिए इनाम कम अज़ाब ज़्यादा थी। मगर बहुत से लोग उनके आशिक़ भी थे। यह वह दौर था कि जब नाम निहाद छोटी ज़ात के लोगों से ताल्लुक़ रखना या उनकी खिदमत करना बुरा समझा जाता था। मगर वह किसी की परवाह नहीं करते थे। हर सुबह कई लोग दरवाज़े पर मौजूद होते थे।चचा मिट्टी की सात गोलियां बनाकर उनके ज़रिए मुक़ाम गज़ीदा से ज़हर निकालते थे, जो कुत्ते के बालों की शक्ल में बाहर आ जाता था। इलाज कराने वालों में भंगी और चमार भी होते थे, बल्कि वही लोग ज्यादा होते थे, मगर बिला भेदभाव मज़हब-व-मिल्लत सब की ख़िदमत करते। उनका दिल सोने का था जो अमूमन दुखियारों के दर्द से भरा रहता था।

ऐसा भी नहीं था कि वह गांधी वादी हों। वह आम आदमी थे और आम आदमी की तरह ही हालात पर उनका रद्देअमल भी होता था। मगर वह रियाकारी से बहुत दूर थे। लोगों को सबसे ज़्यादा उनके ग़ैर औरतों से नाजायज़ ताल्लुक़ात पर आपत्ति थी। आज सोचता हूँ तो अंदाज़ा होता है कि यह वह लोग थे, जिन्हें बक़ौल मुश्ताक युसुफी, औरत का एक्सरे भी दिखाया जाए तो हज़ार जान से आशिक हो जाते। दरअस्ल लोगों की नाराज़गी में अख़लाक़ी सख़्ती से कहीं ज़्यादा हसद को दख़ल था। मैने पहले भी अर्ज किया है कि वह, गैर शादी शुदा थे और बेहद हसीन शख़्सियत के मालिक थे। कुसूर सिर्फ़ उनका ही नहीं था। दर्जनों औरतें उनके दर्शन के लिए अपना सब कुछ लुटाने पर तैयार रहती थीं। तो क्या कुसूर उनका नहीं था?

अलीगढ़ में एक शादी की तक़रीब में एक मेजर साहब की हसीन-व-जमील बीवी ने उन्हें देखा और फ़रेफ़्ता हो गईं। सन् 65 की जंग जारी थी। मेजर साहब राजोरी में अपनी टुकड़ी संभाल रहे थे मगर यहाँ बीवी से दिल संभाले नहीं संभल रहा था। बड़ी लगावट से चचा के पास आकर खड़ी हो गईं और उनसे गुफ्तगू करने लगीं। मैं ए.डी.सी. की तरह चचा की पुश्त पर खड़ा था। एक हफ़्ते बाद क्या देखता हूँ कि वह दावनी बाँधे पापा के सामने बैठी है। पापा से उन्होंने औलाद के लिए तावीज़ की दरख़ास्त की। पापा ने कहा कि आप सात सुईयां और कुछ छुहारे मंगवाइए। तावीज़ आपको पहनना होगा और छुहारे शौहर के लिए होंगे। इतने में चचा अन्दर दाखिल हुए, उन्हें देखकर इतनी मबहूत हुईं कि सलाम करना भी भूल गयीं। इतरा-इतरा कर बोलीं, हापुड़ से आ रही हूँ। मियाँ की करामतों का बहुत शोहरा सुना था। सोचा मैं भी अपना हिस्सा ले आऊँ। पापा ने उन्हें अम्मी के सुपुर्द किया। अम्मी ने ख़ुशी-ख़ुशी उनकी ज़ियाफ़त की। वह अम्मी को भाभी बेगम कह रही थीं जो चचा के अलावा कोई नहीं कहता था।

अम्मी बहुत शानदार और बहुत ही उदार खातून थीं मगर बेहद समझदार भी थीं, समझ गईं कि छुहारे किसके हिस्से में जाएंगें। उन्होंने अम्मी से कुरेद-कुरेद कर ख़ानदान और चचा के बारे में सवालात पूछे जैसे अमूमन इब्तिदाए इश्क़ में पूछे जाते हैं। वह यह जानकर बहुत मसंरूर हुई कि चचा गैर शादी शुदा हैं। दोनों फूफियाँ अपनी जायदाद के सिलसिले में सीतापुर गयी हुई थीं वरना दो मिनट में ही चलता कर देतीं।

दोपहर के बाद पापा ने कहा कि, छोटे तुम इन खातून को जीप से सिकन्दराराव के बस स्टैन्ड पर हापुड़ वाली बस में बिठा आओ, और हाँ, राक़िमुल हुरूफ़ (लिखने वाले) की तरफ़ इशारा करके कहा, इसे भी साथ ले जाओ। चचा के साथ सफ़र के ख़ुशआइन्द ख़्यालात ने उनके चेहरे पर उजाला सा कर दिया। मैं ड्राइवर के साथ बैठ गया और वह चचा के साथ पीछे बैठ गयीं। पप्पू ड्राइवर बहरा था मगर रास्ते भर उसकी तवज्जो ड्राइविंग पर कम और मुसाफिरों की गुफ्तगू पर ज़्यादा थी। वह बहरा होने के बावजूद पूरी तरह बहरावर होने की कोशिश कर रहा था। दरअस्ल वह फूफियों का जासूस था और नमक मिर्च लगाकर उन्हें बातें बताता था। बदले में वह उसे गुटके के लिए पैसे देती थीं। बस में बैठते वक़्त उन्होंने बड़ी अदा और अपनाइयत से हमें हापुड़ आने की दावत दी और कहा कि उनके शौहर के आबाई गाँव में शिकार की सहूलियात बड़े पैमाने पर मौजूद हैं।

दूसरे हफ़्ते जब जाड़े की छुट्टियाँ शुरू हुईं तो चचा मुझे लेकर हापुड़ गए। मेरी हैसियत अब ए.डी.सी. से ज़्यादा ढाल या आड़ की हो चुकी थी। दरवाज़े पर पहुँचकर दस्तक दी गयी तो एक सालखोरदा बुढ़िया बरामद हुई। वह उनकी वफ़ादार नौकरानी थी यानी उनके मामलात मेजर साहब से छिपाकर रखती थी। उसने अंदर जाकर हमारी आमद की इत्तिला की। मेजरानी बेतहाशा दौड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई आयीं। सर पर शाल तक डालना भूल गयी थीं। वह बड़ी क़द्दावर और खूबसूरत औरत थीं। उनकी शक्ल मशरिक़ (पूरब) की औरतों से मिलती थीं। बड़े तपाक से चचा को सलाम किया और मुझे लिपटा कर खूब प्यार किया, नज़रें बराबर चचा पर थीं। सलाम और प्यार की तरतीब शायद उल्टी हो गई थीं।

मेजरानी साहिबा ख़ादमा से बोलीं, "बुआ, खूब गर्म पानी का इन्तजाम करो कि यह लोग नहा लें, थके मांदे आए हैं।"

चचा ने मेरी तरफ़ इशारा करके कहा, "ये तो नहा लेगा, मगर मुझे तो सुबह ही ज़रूरत होगी।" मेजरानी का चेहरा गुलनार हो गया।

बेहद पुरतकल्लुफ खानों का एहतिमाम किया गया। खाने के बाद उन्होंने गाढ़ा बालाईवाला दूध मुझे पीने को दिया जो जाफ़रान की खुशबू से मामूर था। उसके पीते ही मुझ पर नशा सा छाने लगा। उन्होंने मुझे ऊपरी कमरे में ले जाकर लिटा दिया। दूसरा बिस्तर शायद चचा के लिए था मगर वह नीचे से नहीं आए। मैं जल्द ही गहरी नींद में चला गया। शायद रात के दो बजे होंगे जब मेरी आँख खुली। सर बहुत भारी-भारी सा हो रहा था। इब्ने सफ़ी के नावलों के मुतालए की वजह से मेरे ज़ेहन में ये बात आई कि शायद मुझे नींद की कोई दवा दी गई थी। मैंने लिहाफ़ के अन्दर से देखा तो कमरे में हल्की रौशनी हो रही थी और वह नज़ारा सामने था जो क़ाज़ी अब्दुलसत्तार के नावेल "हज़रत जान" में जा वजा, या यूँ कहना ज़्यादा मुनासिब होगा कि जा बेजा नजर आता है। दूसरे रोज़ शाम को गाँव जाने का प्रोग्राम था कि सुबह एक शख़्स ने गांव से आकर ख़बर दी कि मेजरानी साहिबा के ससुर का हृदय गति रुक जाने से इंतक़ाल हो गया है। वह रोती पीटती रवाना होने की तैयारी करने लगीं। चचा से बहुत नाज़ से उन्होंने कहा कि चहल्लुम के बाद ज़रूर आएँ। हम भी उसी शाम घर वापस लौट आए।

यह सिलसिला बहुत दिन जारी रहा। वह अक्सर अम्मी के लिए सौग़ातें भेजतीं थीं जो कम दामों में मिलिट्री कैन्टीन से ख़रीदी जाती थीं। छुहारों का असर अभी तक शुरू नहीं हुआ था। उसकी एक सानवी वजह तो यह थी कि उनके शौहर को बाप की रहलत तक पर छुट्टी नहीं मिली थी और अस्ल वजह यह थी छुहारे मर्द को दिए जाते हैं मगर बांझपन का दूसरा नुस्खा होता है।

मार्च के दूसरे हफ़्ते की बात है। इस नहर की पटरी से शिकार खेल कर वापस आ रहे थे तो पुल के करीब सरेची की जानिब से रिक्शे पर सवार लाला काशीराम आते नज़र आए। उनका ताल्लुक़ क़स्बे के मुतास्सिब तरीन खानदान से था। उनके भाई और भतीजे शाखाएं चलाते थे और मुसलमानों के ख़िलाफ़ लोगों को बहकाते थे मगर आम हिन्दुओं पर उनका कोई असर नहीं पड़ता था।

लाला साँवले रंग के कमज़ोर शरीर के आदमी थे। वह ज़ात के एतबार से कायस्थ और पेशे के एतबार से पनवाड़ी थे। बज़ाहिर उनमें मुतासिर करने वाली कोई खूबी न थी। चचा ने उन्हें बड़े अदब से सलाम किया। इतने अदब से वह सिर्फ़ पापा या अपने पीर को सलाम करते थे। मैं और मेरे भाई हैरत के समुंदर में ग़ोताज़न थे। मगर चचा ने बताया कि लाला अपने ख़ानदान का वाहिद शरीफ़ आदमी है जो क़स्बे के अमन व अमान (शन्ति) को मुक़द्दम (सर्वोपरि) समझता है। लाला ने रिक्शा रूकवाकर उनसे साहब सलामत की। हम लोगों को हमारे सलाम पर दुआएं दीं और चचा को बरगद के दरख़्त के नीचे ले जाकर कुछ ऐसी बात कही कि चचा के चेहरे पर तरद्दु व तशवीश (चिंता, बेक़रारी, परेशानी) की लकीरे खिंच गई। लाला तो रिक्शे पर सवार होकर चले गए मगर चचा बिल्कुल ख़ामोश हो गए और तीन किलोमीटर का रास्ता ऐसे तय किया जैसे जनाज़े के साथ हों। हमारे बहुत पूछने पर भी उन्होंनें कुछ नहीं बताया। सिर्फ़ इतना कहा कि म्युनिस्पिल्टी का इन्तिख़ाब (चुनाव) सर पर है बहुत होशियार और मोहतात रहने की ज़रूरत है। अल्लाह हम सबको और हमारे क़स्बे वालों को अपने हबीब पाक (स0) के सदक़े (तुफैल) में ज़िंदा सलामत रखे, आमीन।

माह अप्रैल के दूसरे हफ़्ते में यह इन्तख़ाबात होने वाले थे। क़स्बे में मुसलमानों की तादाद, निस्बतन ज़्यादा थी। इसका फ़ायदा सग़ीर मक़सूद जुबैरी उठाना चाहते थे। उनके मुक़ाबले में रामप्रकाश शाह उम्मीदवार थे। ये मारवाड़ी बनिये थे फ़ितरतन और अमलन जराएम पेशा और मुजरिम परवर थे। अतराफ के लोधे और अहीर और क़स्बे के कुछ क़साई गुण्डे उनका दम भरते थे। वह बेहद मतमूल थे। इलाके की लावारिस ज़मीनों के वह वारिस थे, क़स्बे और उससे मुत्तसिल छोटी-छोटी ज़मीनों पर गुरबा (गरीबों) को पसीना बहाते देख कर उनका दिल रहम से भर जाता था। चुनाँचे उनकी ख़ातिर वह ऐसे रास्ते निकालते थे कि वह शहर जाकर मेहनत मज़दूरी करके पेट पाल सकें।

शाह साहब को खेतों की भुरभुरी पीली मिट्टी बहुत अच्छी लगती थी। यह बात नही थी कि वह जमालियात के तालिब इल्म हों। दरअस्ल पुरानी दस्तावेज तैय्यार करने में यह मिट्टी बहुत सहायक साबित होती थी। बस दो माह उसमें कोई क़ाग़ज दबाकर रखें। वह सौ साल पुराना मालूम होगा। कस्बे के मुसलमान मुहल्लों में उनके हरकारे उनके लिए राह हमवार करते थे। यह लोग बुनियादी तौर पर जालसाज़, मक्कार, बेरहम, ग़ासिब (जबरदस्ती किसी का अधिकार छीनने वाला) और ज़ालिम थे। इनमें एक निहायत बदगो और क़ल्ब स्याह शख़्स था जो "लम्बा हिन्दू" कहलाता था, एक अदालत के मुन्शी थे लईक़ अहमद, एक जिल्द साज़ था। रशीद बड़कन्ने (उसके बड़े-बड़े कान थे) और एक नाम निहाद हाफ़िज़ थे। हाफ़िज़ शहीदउद्दीन जो तरावीह के अवकात (समय) में शाह साहब की कोठी में इबलीस की मजलिस-ए-शूरा में हिस्सा लेते थे।

क़स्बे के लोग ज़ुबैरी साहब की शराफ़त और सादगी पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोहित थे, मगर इन बातों से कहीं इलेक्शन जीते जाते हैं? ज्यों-ज्यों इलेक्शन का दिन करीब आ रहा था माहौल बोझल और वहशतनाक होता जा रहा था। शरपसन्द लोग तमाम मुसलमानों को पाकिस्तान का जासूस क़रार दे रहे थे। इस पर मुसलमान अब्दुल हमीद और ब्रिगेडियर उसमान की दुहाई देते थे। कोशिश यह हो रही थी कि मज़हब की बुनियाद पर अवाम सियासी फ़ैसले करे। शाह साहब ने बहुत सा पैसा ख़र्च करके हाफ़िज शहीदउद्दीन की मदद से एक क़साई को भी इलेक्शन में खड़ा कर दिया था, ताकि जुबैरी साहब के वोट काटे जा सकें। इलेक्शन से तीन दिन पहले लाला काशी राम पापा से मिलने आए। वह बहुत बेचैन नज़र आते थे। पापा से बोले कि शाह साहब हर क़ीमत पर यह चुनाव जीतना चाहते हैं। जुबैरी साहब उनकी गर्द भी नहीं पा सकते। इधर शाह साहब ने अपने मुस्लिम मोहरों के ज़रिये मनिहारों, जुलाहों और क़साइयों में ऐसी-ऐसी अफ़वाहें फैला दी थी जिनसे उपरोक्त बिरादरियों में हलचल मच गई थी। मसलन क़साइयों को यह बताया गया कि क़स्बे में क़साफत (गंदिगी) को रोकने के नाम पर जुबैरी साहब कट्टीघर को तीन किलोमीटर दूर ब्रह्मणों के गाँव के करीब पहुँचा देंगे और वह किसी क़ीमत पर यह धंधा नहीं चलने देंगे, ख़्वाह वह हर दूसरे तीसरे दिन अपने ग़रीब मुसलमान दोस्तों को लागत दे कर पाए और नहारी तैयार करा के शौक से खाते हों। उन्हें यह भी बताया गया कि नई कट्टीघर पहुँचा कर पुरानी जगह पर जुबैरी साहब एक कोल्ड स्टोर खोलने के मूड में हैं, आख़िर कब तक लड़के की बेरोज़गारी देखें।

मनिहारों को इस अंदेशे से आगाह किया गया कि नकली मोती और कच्ची चूड़ी की जो खेप वह परवल नगर और फ़िरोज़ाबाद भेजते हैं उन पर चुंगी की शरह (दर) तिगुनी हो जाएगी क्योंकि क़स्बे की तरक्क़ी के लिए रूपया चाहिए। ये और बात है कि तरक़्क़ी सिर्फ़ कम्बोह मुहल्ले में ही नज़र आएगी। (कम्बोह मुहल्ला जुबैरी साहब का मुहल्ला था।)

जुलाहों को यह कहकर डराया गया कि तुम्हारी खडियाँ अब जलाव लकड़ी के काम आएंगी क्योंकि जुबैरी साहब कपड़ा बुनने के बिजली के कारख़ाने लगवाना चाहते हैं। क़स्बे के दूसरे मुसलमान कम हैसियत के थे। उनकी शाह साहब को ज़्यादा परवाह नहीं थी। इसकी सबसे बड़ी वजह यह थी कि वह किसी ऐसी बिरादरी से ताल्लुक़ नहीं रखते थे, जो "बिरादरी" की सियासी हैसियत और अहमियत से वाक़िफ़ हो। इन तमाम अफ़वाहों का मरकज़ हाफ़िज शहीदउद्दीन का घर था जहाँ उन की क़यादत में मुंशी लईक़, रशीद बड़कन्ने और लंबे हिन्दू नित नई साज़िशों के जाल बुनते थे।

इलेक्शन से दो रात पहले बहुत ज़ोर ज़ोर से बड़ा फाटक खटखटाने की आवाज़ें आने लगीं। रात का एक बजा होगा, सब सो रहे थे। चचा ने मुझे और भैया को उठाया। खुद भरी बन्दूक संभाली और हम लोगों को राइफलें पकड़ा कर चौक में आए और कड़क कर पूछा, "कौन है?" आवाज़ आई - "मियां खोलो, मैं वहीद कुरैशी हूँ। मेरे साथ दूसरे मुहल्ले वाले भी हैं।"

चचा ने रफ़ीक़ से कह कर फाटक खुलवाया। सौ सवा सौ मुसलमान जिनके हाथों में बड़ी छुरियाँ, वुगदे, लाठियाँ, कुलहाड़ियाँ और भाले थे, दनदनाते हुए अंदर आ गए। वह सब बेहद गुस्से में नज़र आ रहे थे। वहीद कुरैशी ने कहाः-

"मियाँ, अकबरी मस्जिद में बद जानवर काटकर डाला गया है। पूरी मस्जिद अपवित्र हो गई है। बहुत दिनों से देख रहे हैं कि हिन्दू गर्दी बढ़ रही है। अब पानी सर से ऊँचा हो चुका है। आज आर या पार का फ़ैसला होना है। आप सिर्फ हुक्म दें। सालों की लाशों के लिए श्मशान कम पड़ जाएगा।"

इतने में पापा भी बाहर निकल आए। बहुत से लोगों ने उनके हाथों को बोसा दिया। एक साहब रफ़ी अनवर कुरैशी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे और अपनी चिड़िया जैसी आवाज़ में बोले कि आज इस्लाम पर ये वक़्त आ गया है कि कुफ़्फ़ार हमारी इबादत गाहों के तक़द्दुस (पवित्रता) को पामाल कर रहे हैं और हम चूड़ियाँ पहने बैठे हैं। फिर बेहद जोश से बोले, मुसलमानों! उठो और आज दिखा दो कि तुम ख़ालिद बिन वलीद और तारिक़ बिन ज़्याद की फ़ौज के सिपाही हो-

शहादत है मतलूब व मक़सूद मोमिन
न माल-ए-ग़नीमत न किशवर कुशाई

उनकी ये हालत देखकर मजमे पर रिक़्क़त तारी हो गई और वह ज़ोर-ज़ोर से नारे-तकबीर बुलन्द करने लगा। हर शख़्स जोश में अंधा हो रहा था। सबके इरादे थे कि हिन्दुओं के मुहल्ले में घुस कर उनका सब कुछ तहस नहस कर दें। ईमानदारी की बात तो यह है कि मैं और मेरे भाई भी पेच-व-ताब खा रहे थे। पापा की घनी आँखें गहरी सोच में डूबी हुई थीं। वह जानते थे कि रफ़ी अनवर कुरैशी हाफ़िज़ शहीदउद्दीन का भतीजा है और उन तमाम सिफ़ात का हामिल भी जो उसके चचा का ख़ासा थीं। वह अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में पिछले सात साल से एल.एल.बी. में फेल हो रहा था। (इसे अलीगढ़ में एल.एल.बी. में पी.एच.डी. करना कहते थे) निहायत शातिर और बेएतबार क़िस्म का शख़्स था। सुकून से उसको अज़ली बैर था। वह मजमे को लेकर चलने वाला ही था कि चचा ने बेहद कड़कदार आवाज़ में उसे डाँटा और बोले, "यहाँ से कोई नहीं हिलेगा! भाईजान, आप इन्हें संभालिए। मीर साहब आप फाटक बन्द कराइये। इनमें से कोई बाहर न जाने पाए, हरगिज़। चाहे कुछ भी हो।"

फिर वह मुझे, भैया, रफ़ीक़ और गुलज़ारी मेहतर को लेकर अकबरी मस्जिद गए। वहां इमाम साहब मस्जिद के बाहर चौकी पर चिंता में बैठे थे। चचा ने उनसे पूछा कि इंसानी जान ज़्यादा कीमती शैहैया अंधी जज़्बातियत और मज़हबी जुनून? उन्होंने जवाब दिया, बिला शुब्हा इंसानी जान ज़्यादा क़ीमती है, इतनी कीमती कि तीन फाक़ों के बाद वह भी हलाल हो जाता है जो अन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटा पड़ा है। चचा ने आगे बढ़कर इमाम साहब को गले लगा लिया और कहा कि इंसानी जान हर हाल में मुक़द्दम है। मैं इस हरामी सुअर की वजह से उसको तबाह न होने दूँगा।

यह कहकर उन्होंने रमज़ान मनिहार से एक बड़ी बोरी मंगवाई और वज़ीर जुलाहे से कहा कि अपने ट्रैक्टर पर पानी के ड्रम लेकर आओ। फिर उन्होंने खुद अपने हाथों से उस बद जानवर के टुकड़े जमा करके गुलज़ारी को दिए और कहा कि तालाब किनारे गड्ढ़ा खोदकर गाड़ आओ। साथ में उन्होंने रफ़ीक़ को भी रवाना किया कि कहीं गुलज़ारी किसी और चक्कर में न पड़ जाए।

इसके बाद चचा ने मुझे और भैया को लेकर मस्जिद धुलवाकर पाक कराई। फ़ज्र का वक्त हो चला था। ज़िंदगी में पहली बार मैंने उन्हें अज़ान देते हुए देखा। वह माहौल और उनकी दिलकश आवाज़, बहुत से लोगों पर गिरया तारी हो गया। इमाम साहब ने उनसे नमाज़ पढ़ाने की दरख़ास्त की। चचा ने कहा कि इमाम साहब मैं एक बदक़माश और बदकार आदमी हूँ। दाढ़ी की सआदत से भी महरूम हूँ। मैं यह बोझ नहीं उठा सकता। मुफ़सिदों और मफ़ाद परस्तों को उनका यह अक़दाम पसन्द नहीं आया क्योंकि उनका सारा मन्सूबा ख़ाक़ में मिल गया था। ख़ैर से इलेक्शन गुज़र गया। जुबैरी साहब तवक़्क़ों के मुताबिक़ हार गए। इधर-उधर से ख़बरें आने लगीं कि कुछ लोग चचा की जान के गाहक हो गए हैं। पापा उनसे कहते थे कि ज़्यादा बाहर मत रहा करो। ख़ुसूसन रात में तो बिल्कुल ही बाहर न जाओ और जाओ भी तो मेरा रिवाल्वर लेकर जाओ। मगर वह हँस कर टाल देते थे। मैं ज़्यादा से ज़्यादा चचा के साथ लगा रहता था, भरी हुई एयरगन के साथ। गर्मी अपनी शिद्दत की इन्तेहा पर थी। बिजली की बेहद क़िल्लत। रात में नौ से सुबह पांच बजे तक बिजली रहती थी। बाग़ात सूखने लगे थे मगर रात में पानी लगवाने की हिम्मत किसी में न थी क्योंकि डकैतों का एक गिरोह वारदातें कर रहा था और कई लोगों को आम के बाग़ात से उठाकर ले गया था। चोब सिंह ने एक दिन चचा से कहा कि दिन में बिजली आती नहीं है और रात में कैसे जाऊँ? यही हाल रहा तो बाग़ जलकर राख हो जाएगा। चचा ने कहा मैं रात को बंदूक लेकर तेरे साथ आबपाशी (पानी लगाना) कराऊँगा। एक रात करीब तीन बजे वह बाग से तन्हा लौट रहे थे, बंदूक की नालें भूल से खाली रह गई थीं। बाग़ के आख़िरी छोर से ज़रा पहले उन्हें महसूस हुआ कि कोई उनका पीछा कर रहा है। पीछे मुड़कर देखते ही बड़ी तेजी से किसी ने उन पर चाकू से हमला किया। चाकू तो उनकी बायीं पसली में दिल के जरा नीचे गहराई तक उतर गया। फिर बेहद ज़हरीली आवाज़ में एक शख़्स बोला:

"मियाँ साहब, मस्जिद पाक कर रहे थे। अब जाकर हूरों से दिल बहलाओ।"

चचा ने आवाज़ से पहचान लिया कि वह इलाक़े का नामी लुटेरा और क़ातिल और क़साई था जो मालगाड़ी के डिब्बे काटकर और बसें लूट कर अपना गुज़ारा करता था। वह राम प्रकाश शाह के पास हाफ़िज़ शहीदउद्दीन की मार्फ़त पहुँचा था और फिर उनका बेहद क़रीबी आदमी हो गया था। वह उसे थाने और अदालतों से बचाते थे और ये उनके काम आता रहता था। फज्र के वक़्त लोग इधर से गुज़रे तो उन्होंने चचा को बेहोश पड़ा पाया। ख़ून बहकर बदन को जर्द कर गया था। फौरन ही उनको ट्रैक्टर पर लाद कर घर लाया गया। अम्मी और फूफिओं पर ग़शी तारी हो गई। पूरे कस्बे में कोहराम मच गया। सज्जो ख़ाला बाल बिखराए रोती चिल्लाती नंगे पाँव दौड़ती हुई आयीं और चचा के कदमों पर सर रख कर रोने लगीं। पापा उन्हें जीप में लिटाकर फौरन मिशन अस्पताल कासगंज ले गए जहाँ डाक्टर फ्रोशर की तिब्बी महारत ने उन्हें मौत के मुँह से खींच लिया। होश में आने के बाद थानेदार साहब ने क़ातिल के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि अंधेरे की वजह से मैं देख नहीं पाया, कोई लुटेरा रहा होगा।

ज़ाहिर है कि मामला सबूतों के अभाव के कारण दाख़िल दफ़्तर कर दिया गया। चचा अस्पताल में धीरे-धीरे स्वस्थ होते गए। सज्जो ख़ाला ने फूफियों की नागवारी की परवाह न करते हुए उनकी वह ख़िदमत की जो शायद उनकी असली बीवी भी न करती। मगर उन्होंने सज्जो ख़ाला से कोई बात नहीं की। उनकी इस बेतवज्जही पर ख़ाला की आँखें आँसुओं से लबरेज़ हो जाती थीं। लेकिन यह सब बेअसर था।

एक दिन मैं चचा के पांव दबा रहा था। वह आंखें बन्द किए हुए लेटे थे। दूसरे दिन उन्हें अस्पताल से छुट्टी मिलने वाली थी। अचानक सज्जो ख़ाला अपने लड़के बुद्धू के साथ कमरे में दाखिल हुई। उनके साथ एक लड़की भी थी, घूँघट काढ़े हुए, दुल्हन के कपड़ों में मलबूस सर झुकाए हुए। चचा ने नफ़रत भरी नज़रों से सज्जो ख़ाला को देखा। मगर आज वह नादिम नहीं लग रही थीं, चचा से बोलीं कि आपके डिस्चार्ज होने का इन्तज़ार कर रही थी। आज सुबह ही बुद्धू का निकाह हुआ है। मैंने शफ़ीक़ भाई के पांव पर सर रखकर उनकी लड़की मांग ली है। चूंकि सब से ज़्यादा खुशी आप को होगी इस लिए निकाह के बाद फ़ौरन ही यहां लेकर चली आई। अब आप इन दोनों को दुआ दें।"

चचा खिल उठे, जैसे सूखे धानों में पानी पड़ गया हो। उनकी अजीब कैफ़ियत हो रही थी, आंखें नमनाक थीं मगर होंठ मुस्कुरा रहे थे। फिर उन्होंने वह किया जो मैं ख्वाब में भी नहीं सोच सकता था। उन्होंने धीरे से उठकर सज्जो ख़ाला को उनके बेटे-बहू और मेरे सामने गले लगाकर बेतहाशा प्यार करना शुरू कर दिया। दोनों ही हिचकियों से रो रहे थे।

सेहतमंद होकर घर वापस आने के बाद चचा को तसव्वुफ़ (अध्यात्मवाद, सूफ़ीइज़्म) के मुताले (अध्ययन) का बेहद शौक़ हो गया था। मुतसव्वफ़ाना कलाम बहुत ज़ौक से पढ़ते थे, ख़्वाजा मीर दर्द उनके महबूब शायर थे। रहीम, खुसरो, मीर और कबीर भी ज़ेरे मुताला रहने लगे। अक्सर हज़रत मीर अब्दुल वाहिद बिलगरामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मशहूर तसनीफ़ ''सबूद सनाबिल'' का उर्दू तरजुमा पढ़ते नज़र आते थे। पेचीदा मक़ामात पर पापा से इस्तफ़ादा करते थे। पापा उन्हें शाम के बाद घर से बाहर जाने पर रोकते थे मगर वह अब भी उनकी बात पर ज़्यादा ध्यान न देते थे।

इस बार बरसात ने ज़बरदस्त धोखा दिया था। तमाम तालाब और पोखर सूख गए थे। नवम्बर का महीना आया तो हमने चचा से शिकार पर चलने की दरख़्वास्त की। फ़रमाया, पानी की कामयाबी की वजह से छोटे तालाबों में मुर्ग़ाबी नहीं आएगी और जहां उथली नहर में उसके मिलने की उम्मीद है, वह हमारी शिकारी हुदूद से बाहर है।

वहाँ के लोधे और अहीर बहुत वावैला करते हैं। वैसे भी शिकार इस साल से कानूनी तौर पर मना क़रार दिया गया है। फिर दुःखी अंदाज़ से बोले, पता नहीं कौन शिकार है और कौन शिकारी। यह गोरखधंधा अल्लाह ही जाने। मीर का एक शेर जो उन्होंनें ज़ेरे लब पढ़ा था वह मुझे आज तक याद है।

''कहे कौन सैदे रमीदा से कि इधर फिर के नज़र करे
कि नक़ाब उल्टे सवार है तेरे पीछे कोई गुबार में''

ऐसा लगा कि वे कुछ सोच रहे हैं। फिर बोले कि एक ख़ास शिकार मेरी नज़र में है। हालांकि हराम गोश्त है मगर कौओं, गिद्धों और कुत्तों का भी तो ख्याल करना पड़ता है। मेरी समझ में नहीं आया कि वह किस जानवर की बात कर रहे हैं। दरिन्दे हमारे इलाक़े में थे नहीं। फिर उनका इशारा किस तरफ़ था? सल्लन मामू ने बड़े शौक से पूछा, मियां कोई नया जानवर आ गया है? बोले, नहीं। है तो पुराना मगर अपने पालने वालों की वजह से बच रहा है। मगर कब तक? फिर वह ख़ामोश हो गए। माहौल बहुत बोझिल हो गया था। हम सबको उदास देखकर अचानक वह बहुत बशशाश लहजे में बोले, अच्छा तुम सब कहते हो तो सुबह अद्धे (छोटी ट्रेन) से अगसौली चलेंगें। वहां माधुरी नाम का एक बहुत बड़ा तालाब है। इसलिए उम्मीद है चिड़िया बड़ी होगी। और न भी हो तो वापसी में कबूतर, तीतर तो मिल ही जाएँगे। हम लोग दरिंदे वाली बात भुलाकर खुश तो हो गए मगर एक काँटा सा मेरे ज़ेहन में चुभता रहा।

फ़ज्र से पहले अद्धा पकड़ने के लिए हम स्टेशन पर पहुँच गए। चचा ने नौ टिकट के दाम सल्लन मामू को दिए। सल्लन मामू रेल का टिकट खरीदना, फ़ुजूल ख़र्ची में शुमार करते थे। यही नहीं, डब्बे में लिखी हुई महकमएं रेल (रेल विभाग) की हिदायतों पर वह पूरा ईमान रखते थे और बड़ी शिद्दत से उनपर अमल पैरा होते थे। एक हिदायत तो उनकी जान थी कि ''रेलवे की सम्पत्ति आपकी अपनी है। इसका ख्याल रखिए।'' चुनांचे नज़र-ए-बंद और बदमाशों से इस सम्पत्ति को बचाने के लिए वह हर मुमकिन तदबीर करते थे। उनके घर में तमाम पंखे और बल्ब रेल से ही आते थे।

सल्लन मामू ने सिर्फ़ मेरा और चचा का टिकट खरीद कर महकमए रेल पर बहुत बड़ा उपकार किया। बक़िया पैसों से उन्होंनें अगसौली स्टेशन पर पेड़े ख़रीदे जिनमें खोया कम और खांड ज़्यादा होती थी। माधुरी ताल भी बिल्कुल सूखा पड़ा था, सिर्फ़ एक बड़ी बतख़ जिसकी गर्दन आम बतखों से बहुत लम्बी थी तालाब की सतह पर ऐसे चल रही थी जैसे आँगन में मुर्ग़ियाँ चलती हैं। चचा मुस्कुराए और धीरे से कबीर का यह दोहा पढ़ा-

''ताल सूख पत्थर भयो हंस कहूँ न जाए
पिछली पीत के कारने पत्थर चुन चुन खाए''

सल्लन मामू ने दुर्बीन वाली राइफ़ल से उसका निशाना लिया और क़रीब था कि फ़ायर करते कि चचा ने उनके हाथ से रायफ़ल छीन ली और दरवेशों के अंदाज़ में बोले, ये आशिक़-ए-सादिक़ है। वस्ल (मिलाप) की घड़ी क़रीब है, महजूरी (वियोग, जुदाई) इसकी क़िस्मत है। यह फ़ना होने के लिए बेताब है, मगर मैं तुमको इसे मारने की इजाज़त नहीं दे सकता क्योंकि इस तरह फ़ना गैरफ़ितरी हो जाएगी। हम बड़ी हसरत से उस आशिक़-ए-सादिक़ (सच्चा प्रेमी) का दीदार करके वापस हुए। रास्ते में जंगली कबूतरों और देसी चूहों के अलावा कुछ नहीं मिला। कहीं पर एक ख़रगोश एक झाड़ी की आड़ में दुबका बैठा था। मेरा दिल बेक़ाबू होने लगा, मैंने चचा से एशारिया बाइस मांगी। चचा ने बक़िया लोगों को रोका कि कहीं आहट से वह भाग न जाए। फिर मुझे लेकर लुकते-छिपते एक पेड़ की आड़ में पहुँचे। मैंने साँस रोककर फ़ायर किया, वह वहीं ढेर हो गया।

चचा ने खुश होकर मेरे निशाने की तारीफ़ की और बोले, एक दिन तुम बड़े जानवर भी मारोगे। मैंने मौक़ा ग़नीमत जानकर कहा, ''जब आप उस दरिन्दे का शिकार करने जाएं तो मुझे भी साथ ले जाएँ। आख़िर वह है कैसा?'' चचा ने कहा कि पहले खुदा की क़सम खाओ कि किसी से कहोगे नहीं। मैंनें फ़ौरन खुदा की क़सम खा ली। स्कूल में हम इसी तरह ''खुदा'' को ''खुवा'' कहते थे और इस खुशफ़हमी में मुबतिला रहते थे कि ''खुवा की क़सम'' कहकर हमने क़सम नहीं खायी और अगर इसे तोड़ा तो हमने कोई गुनाह नहीं किया। वह बोले कि वह दो पाँव पर चलता है। उसका रंग बेहद साफ़ और आँखें बेहद सुर्ख हैं। उसके दाँत भेड़ियों से मुशाबेह (मिलते जुलते) हैं। उसका बदन मज़बूत है और चेहरे पर एक छोटी सी दाढ़ी है। अवाम उसे अद्दू क़साई के नाम से जानता है। उसी ने मुझ पर हमला किया था।

''मगर चचा आपने तो थानेदार साहब से कहा था कि आप दुश्मन को देख नहीं सके थे?''

'हाँ!' वह बोले, ''इसकी दो वजह हैं। पहला तो यह कि इसके ख़िलाफ़ कोई शहादत नहीं थी। दोयम कि मैं उसे अपने हाथ से मारना चाहता था।''

''आप उसे मारोगे?'' मैंने बहुत ताज्जुब से पूछा। ''क्यों क्या मैं इन्सान नहीं हूँ?अगर कोई मेरी जान लेने की कोशिश करेगा तो क्या मैं उसे फूल सुंघाऊँगा।'' कुछ देर ठहर कर फिर बोले,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"घबराओ मत। और हाँ तुमने राज़दारी की क़सम खाई है, याद रखना।"

जब हम क़स्बे में दाखिल हुए तो अंधेरा हो रहा था। क़स्बे से ख़िलाफ़े मामूल शोर-शराबे की आवाज़ें आ रही थीं। हर शख़्स स्टेशन की तरफ़ भाग रहा था। पूछा तो मालूम हुआ कि कासगंज वाले केबिन की तरफ़ खाई में किसी की लाश पड़ी हुई है जो गल सड़ चुकी है। शायद कई दिन हुए कोई ट्रेन से कट गया था। इतने में स्टेशन से आते हुए मीर साहब नज़र आए। उनके चेहरे पर सुर्खी दौड़ रही थी। बोले, वह अद्दू क़साई की लाश है। मैंने क़द-व-क़ामत और अक़ीक़ की अंगूठी से पहचाना है। मैंने चचा का चेहरा देखा जो हर तरह के जज़बात से आरी था। उन्होंने धीरे से 'इन्नालिल्लाहे व इन्ना इलैहे राजऊन" पढ़ा और स्टेशन की तरफ़ रवाना हो गए। वह अद्दू ही था। उसका एक हाथ और एक टांग कट कर दूर पड़े हुए थे। लाश बुरी तरह ख़राब हो चुकी थी, शायद कुत्तों और गीदड़ों ने उसे नोचा भी था। बड़ी इबरत का मुक़ाम था। चचा का चेहरा बहुत अफ़सुरदा (उदास) लग रहा था। कुछ लोग बुलंद आवाज़ में मिसरा पढ़ रहे थे कि "बोया पेड़ खजूर का तो आम कहाँ से होय।"

चचा ने खिलाफ़े उम्मीद बड़ी सख़्त आवाज़ में उन्हें डांटा और कहा, वह बख़्शने वाला है। पता नहीं किस को किस अदा पे माफ़ कर दे। आज अद्दू तुम्हें जवाब देने की हालत में नहीं है तो जो चाहो कह लो। कल उसके सामने बड़े बड़ों की घिग्घी बंध जाती थी। सब चुप हो गए, गोया सांप सूंघ गया हो। बैलगाड़ी पर लादकर अद्दू की बुरीदा लाश को थाने लगाया गया जहां बड़ी दिक़्क़त से उसका पंचनामा किया गया और फिर पोस्टमार्टम के लिए एटा रवाना कर दिया गया। मेरे नज़दीक पोस्टमार्टम की ज़रूरत नहीं थी मगर थानेदार पाबंद रूसूम व क़यूद था। शाम को जब लाश वापस आई तो इतनी बिगड़ चुकी थी कि बयान मुश्किल है। दुर्गंध इस क़द्र थी कि सगे भाई तक सौ कदम दूर खड़े हुए थे। एक हाथ और एक टांग पहले ही कट चुके थे, ऊपर से पोस्टमार्टम के लिए खोपड़ी से नाफ़ तक उसे चीर कर आरज़ी तौर पर सी दिया गया था। टाकों से सड़ा हुआ ख़ून और बदबूदार रक़ीक़ मादे बाहर रिस रहे थे।

सबसे बड़ी समस्या लाश को गुस्ल देने और दफ़न करने की था। जुलाहों की बिरादरी जो क़ब्रिस्तान कमेटी पर छाई हुई थी, उसे क़ब्रिस्तान में दफ़न करने के सख़्त ख़िलाफ थी। दरअस्ल वह उनसे चौथ वसूला करता था। जब नहलाने की बारी आई तो सब पीछे हट गए, यहाँ तक कि उसकी बिरादरी के लोग, उसके सगे भाई भी दूर-दूर रहे। हर शख़्स कोई न कोई शरई नुक्ता तलाश कर रहा था कि जिस की रू से गुस्ल कराए बग़ैर ही उसे तोप दिया जाए। कुछ लोगों ने रफ़ी अनवर कुरैशी से राबता क़ायम किया। वह बेहद संजीदा चेहरा बनाकर बोले कि मशहूर माहिर-ए- इसलामियात सैय्यद मिस्बाउलहसन की किताब "अनवारूलयक़ीन" में साफ़-साफ़ लिखा है कि 'ग़ज़वए ख़न्दक़' के बहुत से शहीदों को गुस्ल दिए बग़ैर ही दफ़न कर दिया गया था। इस पर चचा ने कहा कि वह भाईजान से तसदीक़ करेंगे। यह मुझे बहुत बाद में मालूम हुआ कि मिस्बाउल हसन और अनवारूल यक़ीन अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी के शोबए क़ानून के अध्यापक थे। सब रफ़ी अनवर कुरैशी के तजरब-ए-इल्म के क़ाएल हो गए कि उन्होंने बरवक़्त उन्हें एक रास्ता दिखाया।

अचानक पापा आ गए। लोगों ने एहतरामन उनको रास्ता दिया। सबने उनके हाथों को बोसा दिया। रफ़ी अनवर कुरैशी ने इस अन्दाज़ से हाथ चूमे जैसे रस्म अदा की जाती है। लोगों ने गुस्ल वाले मामले पर पूछा तो उन्होंने फ़रमाया कि यह ज़रूरी है। सब दम साध कर रह गए।

अचानक चचा ने फ़ैसला सुनाया कि हम खुद गुस्ल देंगे। फौरन ही हाफ़िज़ कल्लू को पानी गर्म कराने का हुक्म दिया गया, बेरी और नीम की पत्तियाँ डाल कर पानी उबाला गया। पापा ने मीर साहब को भेजकर कफ़न मँगवाया। चचा लाश उठवा कर दरगाह के पास एक कोठरी में लाए। लाश उठाने वाले मुँह पर ढ़ाठा बाँधे हुए थे, बक़िया लोग सिर्फ़ तमाशबीन की हैसियत से चल रहे थे। चचा ने पूरे शरई (धार्मिक) लवाज़मात के साथ गुस्ल दिया। न मुँह पर ढाटा बांधा, न कान और नाक में इत्र के पूए लगाए। कटी हुई टाँग और दस्तेबुरीदा को बड़ी एहतियात से गुस्ल दिया। पापा से दरख़्वास्त करके नमाज़ जनाज़ा पढ़वाई। फिर मुझे, बड़े भइया और अमज़द (चचा के बेटे) को इशारा करके जनाज़ा कन्धे पर उठाया और बाग़ की तरफ़ चले। लोगों को बड़ी हैरत हुई क्योंकि क़ब्रिस्तान तो मुख़ालिफ़ सम्त में था।

रास्ते भर हमने किसी पांचवें आदमी को कंधा नहीं बदलने दिया, हालांकि इसमें हमारी कोशिश को कम और क़स्बे वालों की बेज़ारी को ज़्यादा दख़ल था। बड़े बाग़ की छोर पर चचा के हुक्म से मीर साहब क़ब्र खुदवा चुके थे। बड़े भइया की मदद से उन्होंने लाश को एहतियात से क़ब्र में लिटा दिया, क़ब्र में अपने हाथों से अरक़-ए-गुलाब और केवड़ा छिड़का। फिर कफ़न पर से सर की गिरह खोल दी और अजब अन्दाज़ से मुस्कुरा कर आसमान की तरफ़ देखा। मैं आज तक उस मुस्कुराहट का मतलब नहीं समझ सका। तदफ़ीन के बाद कल्लू हाफ़िज़ ने दुआ के लिए हाथ उठाए। चचा की आंखें आंसुओं से लबरेज़ थीं। उन्होंने फुसफुसाहट के अंदाज़ में सौदा का शेर पढ़ा-

किस हस्ती-ए-मौहूम पे नाज़ां है तू ऐ यार
कुछ अपने शब-व-रोज़ की है तुझको ख़बर भी।

क़ब्र बिल्कुल उसी जगह थी जहां अद्दू ने चचा को चाक़ू मारा था।

अनुवाद : डा0 सीमा सग़ीर, उर्दू विभाग, अ0मु0वि0, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

मेजर गौतम राजरिशी

(1)

अब के ऐसा दौर बना है
हर ग़म क़ाबिले-गौर बना है।

उसके कल की पूछ मुझे, जो
आज तेरा सिरमौर बना है

फिर से चाँद को रोटी कहकर
आँगन में दो कौर बना है

बंद न कर दिल के दरवाज़े
ये हम सब का ठौर बना है

स्कूलों में आये जवानी
बचपन का ये तौर बना है

तेरी-मेरी बात छिड़ी तो
फिर क़िस्सा कुछ और बना है

झगड़ा है कैसा आख़िर, जब
दिल्ली-सा लाहौर बना है।

(2)

खुद से ही बाज़ी लगी है
हाय क़ैसी ज़िंदगी है

जब रिवाजें तोड़ता हूँ
घेरे क्यों बेचारगी है

करवटों में बीती रातें
इश्क़ ने दी पेशगी है

रोया जब तन्हा वो तकिया
रात भर चादर जगी है

अर्थ शब्दों का जो समझो
दोस्ती माने ठगी है

दर-ब-दर भटके हवा क्यूँ
मौसमे-आवारगी है

क़त्ल कर के मुस्कुराये
क्या कहें क्या सादगी है

(3)

ये तेरा यूँ मचलना क्या
मेरे दिल का तड़पना क्या

निगाहें फेर लीं तू ने
दिवानों का भटकना क्या

सुबह उतरी है गलियों में
आहट-आहट सहमना क्या

हैं राहें धूप से लथ-पथ
क़दम का अब कहना क्या

दिवारें गिर गयीं सारी
अभी ईंटें परखना क्या

हुआ मैला ये आईना
यूँ अब सजना-संवरना क्या

है तेरी रूठना आदत
मनाना क्या बहलना क्या

(4)

जब से मुझको तूने छुआ है
रातें पूनम दिन गेरूआ है

इक बीज पड़ा है इश्क़ का तो
नस-नस में पनपा महुआ है

टूटा है तो दर्द भी होगा
दिल तो शीशम न सखुआ है

तेरे चेहरे की रंगत से
मेरा हर मौसम फगुआ है

फेरो ना यूँ नज़रें मुझसे
बहने लगेगी फिर पछुआ है

हँस के तू ने देख लिया तो
जग ये सारा हँसता हुआ है

13 राष्ट्रीय राइफल्स, द्वारा-56 एपीओ
पिन-934513

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

अलीक

परजीवी

वह लगातार तमतमा रहा है।
वह लगातार फनफना रहा है।
रह रहकर वह
आँखें तरेर रहा है। रह रह कर वह
गुर्रा रहा है।
जैसेकि-सब कुछ चबा चबा जायेगा!
जैसेकि-सब कुछ खा जायेगा!!.
जैसेकि-सब कुछ तहस-नहस किए
ख़ूँखार और बर्बर कहलायेगा!
आतंक और दहशत में
दंगे-फ़साद वहशत में
दाँत ख़ूब किटकिटायेगा
और... रह रह कर खिलखिलायेगा!!

आँट दर आँट
कूटनीति की काट, चोखे तख़्त ओ पाट, स्वर्ग के ठाठ
राजसत्ता पर निरंतर क़ाबिज़ रहने को...
इच्छित बिगाड़ने और बदलने को...
वह क्या कुछ नहीं करता है! जी चाहा दरता है।
ख़ुद बनता है। ख़ुद बना हुआ बिगाड़ता है, सुधारता है
औरों को बना कर उदारता जताता है
तो... लाखों करोड़ों को रह रहकर सताता है।
नाज़-नख़रे सँवारता है।

दाँत और नाखूनों के बीच
सनसनीख़ेज़ हथियारों के बीच
चाक चौबंद रहता है।
फिर भी...
रह रह कर जन-साधारण से डरता है।
पपड़ाये पलस्तर-सा दिखता है और झरता है।

कौन है यह-
वर्ग-संघर्ष की रीति-नीति परिणति
जनसाधारण का 'वर्ग शत्रु' कहलवाता है।
शोषण की अनन्य मायावी चक्कियों में
बारीक-बारीक महीन-महीन पीसता है, पिसवाता है।
बतौर शोषक के ताम झाम, दाम नाम
महान् कहलवाता है।

जानो-पहचानो। समझो और समझाओ
यही है-'परजीवी'
जो बहुसंख्यक जीवन के 'रक्त देह' पलता है।
समाजवाद से जलता है
और अंततः जनक्रांतियों में मरता है।

कैसे बिसराये...

पीढ़ियों से
सदियों से
रह रह कर
जुलुम जो हुए... हम पर,
कैसे बिसराये... मन!
मुसीबतें बिन मोहलत दिए
लपक झपट कर आये
चलाये...
ज़बर लोहा हथौड़ा और घन
दन दना दन ! दन दना दन !!
जुलुम जो हुए... हम पर
कैसे बिसराये... मन।
झुक झुक कर
टूट बिखर कर
मान-अपमान.... कैसे भुलाये!

रात-दिन
चाकर तन... चाकरी किए
बजते रहे... पल-छिन
झन झना झन। झन झना झन...।
मर्यादा रुतबे, तहज़ीब की मिसालें
शान-ओ-शौकत... तेवर तनाव तोहमतें
तख़्त-ओ-ताज की ही रही!...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेड़ियों जकड़े हुए.... मुश्कें बँधे हुए...
तरह तरह... बेतरह रहे हम!
सताये गए... हर दम!!

हक़-हुकूक की इबादतें प्रार्थनाएँ
थक थक चूर हुई!
डर डर धूर हुई!!
निर्ममता... बर्बरता... क्रूरता से...
कुचला मसला रौंदा गया हर बार
रोम रोम रग रग का कण।...
पीढ़ियों से
सदियों से
रह रह कर जुलुम जो हुए हम पर
कैसे बिसराये... मन...।
कैसे बिसरे
कौर छीनी... चूल्हे बुझी...
मँहगाई तंगाई।
थोपी गई...
भूख ग़रीबी... नंगाइ!!
वहशत बरपे
रह रह कर दंगाई!!!
कैसे बिसराये...!
जली दुपहिया
उमड़े अंधड़
उड़े छप्पर छितरीं झुपड़ियाँ।

आषाढ़ छाये
इखरे-बिखरे, नख़रे नख़रे घन!
कंठ सूखे
धरती देह तपे
बरसे नहीं; झम झमा झम.... सावन!

टपरे छज्जे
आँगन चौंतरे
पत्ते पत्ते बेल बूटे
नहीं गिरी... बरसी
टप टपा टप बूँदें...
बजी नहीं, गूँजी नहीं
छन छना छन।
कैसे बिसराये मन।...

बड़ा शहर है !

बड़े आदमी
बड़ा शहर है।
दंद-फंद की
दर-ओ-दहर है !
फ़ाके, मजूरी
अटकन-भटकन, टेढ़ी तिरछन
कड़ा समर है!!
बड़े आदमी
बड़ा शहर है
अंद-मंद की
आब-ओ-बहर है।

'देश हमारा धरती अपनी'
कह कह, घिस-घिस
जबर पाटों बीच पिस-पिस
हत् अनुभव... हम हारे। रहे बेचारे!!

तपती मेहनत
ढोये पत्थर मिट्टी गारे। बोझा सारे।।
कूढ़ बख़त, मूढ़ फक़त
रह रह तीखा मारे।

कौन चुमकारे। कौन पुचकारे।
दिन जग ने
बहुविध दुःख दरद न्यारे न्यारे!!

आफ़त विपदा कौन है टारे!
उरझे मुरझे
मकड़ी जारे!!

कलह कपट छक
धोखे धूल पाँव पसारे
'सच' के नुच छुट गिर घिर घिर मिट जाने का
डर है।
कहाँ क़दर है!
सीधे-सादे कहाँ सफ़र है!!
बड़े आदमी
बड़ा शहर है!
दंद-फंद की
दर-ओ-दहर है!!

वाम स्टडी सर्कल, मातृ छाया
16 अ सुतारों का वास, रतलाम (म0प्र0)-457001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद और आकाशदीप

पुष्पपाल सिंह

श्री जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिंदी साहित्य में सर्वतोमुखी सर्जना के विरल प्रतिभा-पुरुष हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध-सभी विधाओं में उनका साहित्य-सृजन एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। उनकी कहानियाँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे हिंदी कहानी के प्रारंभिक कथा-ऋषियों में से एक हैं। अगस्त 1910 ई. की 'इन्दु' में उनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई जिसे कुछ विद्वानों ने हिन्दी की पहली कहानी का गौरव भी प्रदान किया। कहानी के क्षेत्र में वे अपनी 'आंधी', 'पुरस्कार', 'गुण्डा', 'आकाशदीप', 'व्रतभंग', 'मधुआ', 'बेड़ी' जैसी कहानियों के लिए सदैव याद किये जायेंगे। हिन्दी कहानी के प्रारंभिक युग में उनकी कहानी को एक नई शैली की कहानी कहा गया है। हिन्दी कहानी के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसे अपने जन्म के साथ ही, दो कथाऋषियों का दाय मिला, जिनके कृतित्त्व की विशिटता के कारण कहानी में प्रसाद-संस्थान (प्रसाद-स्कूल) और 'प्रेमचंद संस्थान' (प्रेमचंद-स्कूल) का प्रवर्त्तन हुआ। बड़ा विचित्र संयोग है कि हिंदी कहानी के ये दोनों महापुरुष काशी में ही अपनी कला-साधना कर रहे थे, पर विचार और कथ्य तथा भाषा-शैली में दोनों पूर्णतः अलग, सर्वथा विशिष्ट !! अचानक ध्यान आता है काशी में ही सृजनरत मध्ययुग की दो ऐसी ही प्रतिभाओं का - कबीर और तुलसी का। यदि प्रेमचंद कबीर का जनाभिमुख संस्कार ले कर आते हैं तो लोकनायक तुलसी की विराट सांस्कृतिक चेतना के प्रतिनिधि रूप में प्रसाद अवतरित होते हैं। यद्यपि काव्य और कहानी के सृजन कर्म में, फिर वह भी मध्ययुगीन साहित्य से, यह तुलना बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती किंतु प्रसाद और प्रेमचंद को पढ़ते हुए यह तुलना बहुत बार मेरे ध्यान में आती है। यह प्रश्न यहाँ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हिंदी कहानी का भविष्य प्रसाद के पग-चिन्हों पर न चल कर प्रेमचंद की डगर अख़्तियार करता है। इससे प्रसाद के कहानीकार की महत्ता कम नहीं हो जाती। उनकी कलम के अनुकरण पर भी पर्याप्त कथा-रचना हुई जिसे हम आज तक प्रसाद संस्थान की कथा- धारा के रूप में पहचान सकते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियाँ इसी संस्थान के संस्कारों से युक्त हैं।

प्रसाद के साहित्य का मूल्यांकन एक समग्र दृष्टि से करते हुए हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि उनके कलाकार की मूल संवेदना काव्यात्मक है, सर्वप्रथम वे कवि हैं, तदनंतर नाटककार, फिर कहानीकार, निबंधकार और उपन्यासकार। इस प्रकार उनके समस्त सृजन कर्म में कविता और नाटक का ताना-बाना देखा जा सकता है। गद्य में इतनी सुंदर काव्यात्मक संवेदना प्रसाद की कहानियों और नाटक में ही उपलब्ध हो सकती है, साथ ही कहानियों के संवाद, घटना क्रम और वर्णन में सर्वत्र एक रम्य नाटकीयता का अंतर्ग्रंथन है। इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इन सब साहित्य विधाओं में उनकी चेतना मूलतः ऐतिहासिक आधार लिये हुए है। इन सभी विधाओं में उनका साहित्य प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि पर खड़ा है। वे इतिहास के क्रोड़ में केवल इतिहास खोजने के लिए नहीं जाते अपितु उस भव्य सांस्कृतिक पीठिका पर वर्तमान के प्रश्नों का समाधान और भविष्य के लिए प्रेरणा खोजने जाते हैं। अपने इस गुण के कारण यह साहित्य सामयिक सत्यों का कथन शाश्वत सत्यों के रूप में करता है।

'आकाशदीप' उनकी एक ऐसी बेजोड़ सशक्त कहानी है जिसमें मानव मन के अद्‌भुत तत्त्व प्रेम का संधान करते हुए भारतीय संस्कृति के भव्य अतीत को वर्तमान के लिए प्रेरक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रेम को अद्‌भुत तत्त्व इसलिए कहा गया है कि इस महाराग को न जाने कितने कवियों, लेखकों एवं मनस्वियों ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषित और परिभाषित किया किंतु यह फिर भी अविवेचित और अपरिभाषेय रहा। प्रसाद चम्पा और बुद्धगुप्त के माध्यम से यहाँ प्रेम की इसी गुत्थी को सुलझाते हैं। प्रसाद साहित्य के प्रेमी युगल स्थायी रूप से प्रेम बंधन या कहें कि विवाह में बँध नहीं पाते हैं। उनके प्राणों में एक विकल रागिनी बजती रहती है। कहानियों के संदर्भ में चाहे 'पुरस्कार' को लें, चाहे 'व्रतभंग' को और चाहे 'आकाशदीप' को, सर्वत्र प्रेमी-प्रेमिका अलग रहने को अभिशप्त हैं। इस संबंध में एक बात और बड़ी रोचक है कि प्रसाद की कहानियों में प्रायः ही प्रेमिकाएँ विरोधी पक्ष, पिता-पक्ष के विरोधी, किसी युवक से प्रेम करती है और इस रूप में उनके हृदयों में दो विरोधी मनोभावों का द्वंद्व चलता है, प्रेम तथा घृणा या प्रेम तथा प्रतिशोध का। 'आकाशदीप' की चम्पा भी अपने प्रेम में इसी मनोवृत्ति से परिचालित है। इसलिए प्रेमी बुद्धगुप्त को उससे न अपनाते बनता है, न छोड़ते। दो विरोधियों को इस प्रकार प्रेम की भूमिका में ला कर प्रसाद कदाचित् यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि प्रेम एक विचित्र पहेली है, कब किसके प्रति आकर्षण जग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाये, नहीं कहा जा सकता। इस रूप में प्रसाद के नारी-चरित्रों का द्वंद्वमय रूप अत्यंत आकर्षक और सशक्त हो उठा है।

'आकाशदीप' कहानी का प्रारंभ अत्यंत जीवंत नाटकीय संवाद से होता है जिससे कहानी के प्रति एक कौतूहल जाग्रत होता है और प्रसाद के कहानीकार की यह बहुत बड़ी उत्सुकता, उत्कंठा और कौतूहल बना रहता है। कहानी के प्रथम और द्वितीय खंडों में एक ऐतिहासिक कहानी का धीर-गंभीर पर चाक-चिक्य' वाला वातावरण इतनी कुशलता से बुना गया है कि पढ़ कर शौर्य की भावना का संचार हो पाठक का अंग-अंग फड़कने लगता है। समुद्र के वक्षस्थल पर एक दूसरे की रज्जू काटना, बुद्धगुप्त का नायक से द्वंद्व-युद्ध, फिर पोत पर अधिकार-यह सब घटना क्रम बड़ा रोमांचक हैं। प्रसाद ने अपनी उर्वर कल्पना से अत्यंत सूक्ष्मता से दृश्यों का विवरण कल्पित कर अत्यंत जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है। इस शौर्यपूर्ण वातावरण में बुद्धगुप्त और चम्पा प्रेम-सूत्र में बंधते चले जाते हैं। उनका प्रथम मिलन और परिचय कितना अस्मिक है किंतु प्रेम-चित्रण पूर्णतः भारतीय कथाओं की परंपरा के अनुरूप है जहाँ पर मुग्ध हो कर ही युवती किसी युवक से प्रेम करने लगती है। इसीलिए पोत-नायक से हुए युद्ध के पश्चात् चम्पा बुद्धगुप्त के "क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि से कोमल करों से वेदना विहीन कर" देती है। कहना न होगा कि यही उसके हृदय में बुद्धगुप्त के लिए प्रेम का प्रथम स्फुरण है। मणिभद्र के दुर्व्यव्हार की बात सुन कर बुद्धगुप्त के हृदय में भी चंपा के लिए कोमलता जाग जाती है, उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी।"

प्रेम के मार्ग पर काफ़ी आगे जा कर चम्पा को चेत होता है कि वह अपने पिता के हत्यारे से प्रेम कर बैठी है। बस यहीं से उसके प्रेम के दो तटबंध हैं प्रेम और प्रतिशोध !! कभी वह अपने प्रेमी से इस रूप में कटु हो उठती है 'मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु !! कृपाण छिपाये रहती है। किंतु प्रेम के मदिर वातावरण में "उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का।" इस प्रगाढ़ आलिंगन के पश्चात् ही वह अपना प्रतिशोध का कृपाण समुद्र के गर्भ में विलीन कर सकी किंतु प्रेम का ज्वार उतर जाने पर चम्पा पुनः उसी प्रतिशोध की ज्वाला में जलने लगती है। विचित्र प्रेमिका है वह जो द्वंद्वों में जीती है। बुद्धगुप्त से उसका कथन "मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ", उसके प्रेमिल चरित्र की कुंजी है। यही कारण है कि बुद्धगुप्त द्वारा समस्त प्रलोभन दिये जाने पर भी वह चम्पा द्वीप को नहीं छोड़ती है। प्रेमी का नहीं, वह पिता के आदर्श का वरण कर वहीं रहती है। ध्यातव्य है कि 'पुरस्कार' में भी मधूलिका ने अपने प्रेमी राजकुमार अरुण का साथ नहीं दिया था, यह बात दूसरी है कि वह अरुण को प्राणदंड दिलवा स्वयं अपने लिए भी उसी मृत्युदंड का वरण करती है। प्रसाद की ये भव्य गरिमामय सशक्त नारी चरित्र किन विशेषताओं में अपने प्रेमी का साथ नहीं दे पाते हैं, यह विचारणीय विषय है। वस्तुतः वे स्वः को पर के लिए, व्यक्तिहित को राष्ट्र-हित के लिए सहर्ष न्योछावर करने की उत्कट कामना से पूरित हैं। उनके लिए राष्ट्र व्यक्ति से कहीं बड़ा है। महत्तर आदर्शों के लिए स्वार्थ का त्याग करने वाले प्रसाद के ये नारी चरित्र इसलिए इस प्रकार अविस्मरणीय बन जाते हैं। ये अपने बलिदान से एक मीठी-सी टीस पाठक के मन में छोड़ जाते हैं।

इन कहानियों के आकर्षण का बहुत बड़ा आधार प्रेम का अत्यंत सूक्ष्म, मधुर एवं मदिर वर्णन है, जो प्रसाद अपनी छायावादी रोमानी-वृत्ति से करते हैं। इस प्रेम-जगत् में उषा का मधुर आलोक है, तारकखचित नील अंबर है, जल-राशि का अनंत वैभव और रजत-शृंगार है, नक्षत्रों की मधुर छाया का विजन अनंत है। इन सब वर्णनों को 'आँसू', 'कामायनी' और 'अजात शत्रु' के प्रेम चित्रण के बिंबों से मिला कर देखें तो एक अद्भुत साम्य के दर्शन होते हैं। इस कथन की पुष्टि में प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है, 'इतना जल ! इतनी शीतलता ! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी ? नहीं ! तो जैसे वेला से चोट खा कर सिंधु चिल्ला उठता है, उसी समान रोदन करूँ ?" 'आकाशदीप' के इस प्रेम-चित्रण को 'आँसू' की शीतल ज्वाला जलती है, "वाडवज्वाला सोती थी इस प्रणय सिंधु के तल में शातिर रही अतृप्ति जलधि में" इन पंक्तियों के बिंबों से मिला कर देखिए। प्रसाद प्रेम के अतीन्द्रिय जगत में इसी प्रकार विचरण करते हैं-कविता में, नाटक में, कहानी में। प्रेमिका यहाँ (आकाशदीप में) एक बहकी हुई तारिका के समान प्रेमी के शून्य में उदित होती है, 'अलोक की कोमल रेखा'-सी हृदय के 'निविड तम में मुस्कराती' है।

इस प्रेम निरूपण के लिए प्रसाद की कहानियों में वातावरण अत्यंत सशक्त हो कर कहानी का अंग बनता है या कहें कथ्य उसी के माध्यम से अधिक संप्रेषित हो पाता है। इस वातावरण की कल्पना करते-करते प्रसाद का कहानीकार गद्य में कविता करने लगता है। वस्तुतः ध्यान से देखें तो कहानियों में कुछ स्थल ऐसे है जहाँ प्रसाद का कवि अपनी अभिव्यक्ति को रोक नहीं पाता है, यथा नारी का अपरूप सौंदर्य-प्रेम, देश-प्रेम, प्रकृति का विविधवर्णी सौंदर्य-इसमें भी विशेषतः उषा, संध्या, तारकखचित रात्रि, आलोड़ित-विलोड़ित होता सागर, पर्वत-मालाएँ, आदि। विवेच्य कहानी 'आकाशदीप' में समुद्र के सौंदर्य पर प्रसाद कई बार अभिभूत होते हैं, 'तारकखचित नील अंबर और नील समुद्र के आकाश में पवन उद्यम मचा रहा है।" उषा का उदय सागर में देखिए-"अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट पड़ा। सुनहली किरणों और लहरों को कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था।" ऐसे स्थलों पर मानवीकरण के बिना प्रसाद अपनी बात कह ही नहीं पाते हैं। संध्या भी इसी रूप में अवतरित होती है, "निर्जन समुद्र के उपकूल को वेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी शांत-गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था।" बुद्धगुप्त और चंपा की मिलन-रात्रि के प्रारंभ होने पर 'मोहिनी (रात्रि) के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। "प्रसाद के प्रेम-चित्रण को यह मदिर वातावरण अत्यंत मोहक रूप प्रदान करता है, किंतु दूसरी और सामान्य पाठक जो इन बिंबों तक पहुँचा नहीं पाता है, उसे इनमें दुरूहता लगती है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो इन तत्सम शब्दों में, विरल उदाहरणों को छोड़ कर, कहीं भी दुरूहता नहीं है। दुरूहता तो इन काव्यात्मक बिंबों में है जिनको आत्मसात किये बिना कहानी का रस नहीं लिया जा सकता। यहाँ आलिंगन होता है, सामान्य नहीं क्षितिज में आकाश और सिंधु का, प्रेमिका हृदय में उदित होती है सामान्यतः नहीं अपितु हृदय के शून्य में बहकी हुई तारिका-सी, सब जगह बुद्धगुप्त का अधिकार है, सामान्यतः नहीं कहा जाता अपितु 'महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं।" ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके आधार पर हम सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रसाद की भाषा कठिन नहीं है अपितु कठिन ये काव्यात्मक बिंब हैं, जो सामान्य पाठक को प्रसाद के कथा-रस का पूर्ण आस्वादन नहीं करने देते। यही उनकी 'उपलब्धि' और 'अभाव' है। वस्तुतः प्रसाद ने अपने नाटकों के संदर्भ में जो कहा था कि 'मेरे नाटक सुरुचि-संपन्न दर्शकों की माँग करते हैं", वही माँग उनकी कहानी करती है। यह काव्यात्मक संवेदना की भाषा भले हो कहानी के लिए समुपयुक्त भाषा न हो परंतु वह एक विशेष कथा-रस से परिपूर्ण है। प्रसाद-संस्थान (प्रसाद-स्कूल) में इस भाषा शैली का पर्याप्त अनुकरण हुआ है।

प्रेम और सौंदर्य-बोध जितना प्रसाद में मिलता है, उतना कदाचित् किसी अन्य कथाकार में नहीं। नील वर्ण प्रसाद को अत्यंत प्रिय है। यदि 'कामायनी' के श्रद्धा का सौंदर्यांकन करते हुए वे 'नील परिधान बीच सुकुमार खिल रहा मृदुल अधखुला अंग' कहते हैं तो 'आकाशदीप' कहानी में भी उनका यह मोह अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति पाता है, यथा "तारक खचित नील अंबर और नील समुद्र के अवकाश में...। 'उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा...। सृष्टि नील कमलों से भर उठी, आदि। नील वर्ण के पश्चात् पीत वर्ण, रक्तिम वर्ण प्रसाद के प्रिय रंग हैं। पश्चिम के पथिक (सूर्य) का मुख पीला पड़ जाता है, 'स्वर्ण-रहस्य' के प्रभाव में चंपा दीप-स्तंभ पर से देखती है, आदि। इस प्रकार प्रसाद की कहानियों में प्रेम और सौंदर्य का अंकन विभिन्न उपमाओं, रूपकों, मानवीकरण, विरोधाभासों एवं बिंबों के द्वारा अत्यंत कुशलता से हुआ है। प्रेम में त्याग और बलिदान को महत्त्व देने वाली ये कहानियाँ इसीलिए कभी भी पुरानी नहीं पड़ेंगी।

प्रसाद जिस समय साहित्य-रचना कर रहे थे, वह समय भारतीय इतिहास में सुदीर्घ दासता से उपजे नैराश्य तथा साथ ही परतंत्रता की बेड़ियों को काटने के दृढ़ संकल्प का समय है। फलतः भारतेन्दु द्वारा आधुनिक साहित्य में जिस राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात

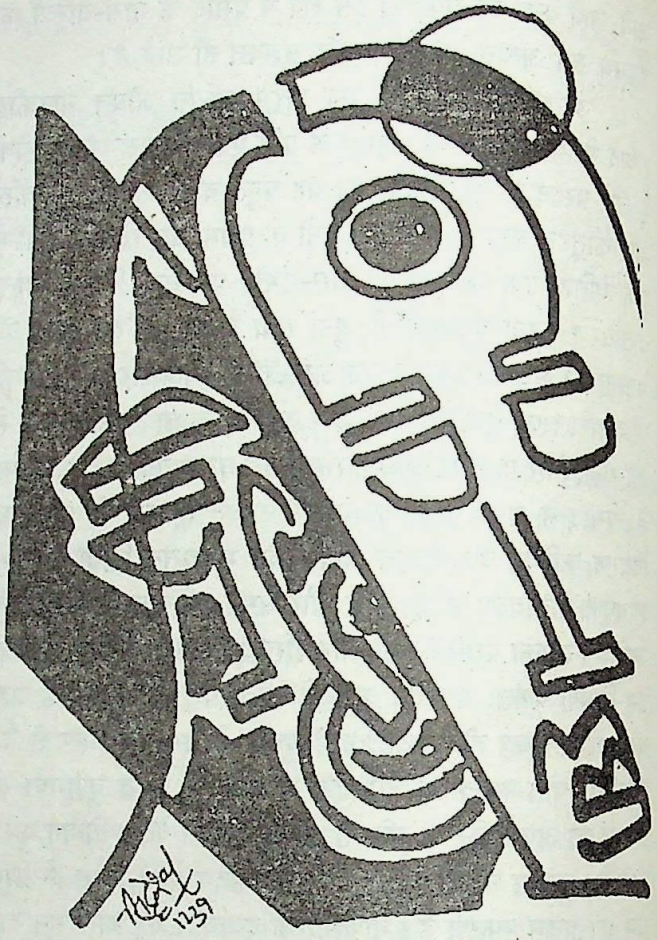

किया जा चुका था वह चेतना प्रत्येक सजग कलाकार में विद्यमान रही। प्रसाद का साहित्य परंपरा और अतीत की जिस भव्य पीठिका पर खड़ा है वह राष्ट्रीयता से ओत-प्रेत है किंतु प्रश्न की चर्चा वे एक सामाजिक प्रश्न के रूप में नहीं करते, उनका मार्ग दूसरा है, ऐसा जो शाश्वत रूप में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं का स्फुरण करता है, जो किसी भी देश और काल के पाठक के लिए प्रेरणाप्रद है। देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं से भरपूर उनके पात्र, अतीत-गौरव का जीवंत आलेखन, देश की मिट्टी के लिए ममत्व-बोध, आदि उनकी कहानियों में भरपूर रूप में व्याप्त हैं। कुछ लोगों का मानना है कि प्रसाद ऐसा नाटक में तो सफलतापूर्वक कर सके हैं, कहानी में नहीं। किंतु हम इससे सहमति न रखते हुए यह कहना चाहते हैं कि कहानी एक छोटी विधा है। इस छोटी विधा में भी उन्होंने कई रूपों में अवसर निकाले हैं कि वे राष्ट्रीयता संबंधी अपने विचारों को कथानक में अनुस्यूत कर सकें। 'आकाशदीप' में वृहत्तर भारत के सुमात्रा, जावा, बाली, चंपा, आदि द्वीपों के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंधों का संधान कर उन्हें वर्तमान के लिए प्रेरणादायी रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'आकाशदीप' जला कर अथवा दीप-स्तंभ बनवा कर इन द्वीपों में गये आत्मीयों की मंगल-कामना प्रसाद की कल्पना मात्र नहीं है। आज भी औड़ीशा आदि स्थानों में 'बोहित-बंधन' पर्व के रूप में इस सांस्कृतिक कड़ी को जीवित देखा जा सकता है जब वर्षा-ऋतु बीत जाने पर सुदूर देशों में व्यापार के लिए गये प्रिय जनों के लौटने की मंगल-कामना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जाती है। संपूर्ण 'आकाशदीप' कहानी वणिक मणिभद्र और बुद्धगुप्त की ऐसी ही व्यापारिक और सांस्कृतिक यात्रा के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। इस प्रेम-कथा में प्रसाद ने जन्मभूमि के प्रति ममता और उसकी गरिमा की अभिव्यक्ति का अवसर सहज रूप में ही खोज लिया है, "चंपा हम लोग जन्म-भूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है। स्मरण होता है कि दार्शनिकों का देश। वह महिमा की प्रतिमा। मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है, परंतु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ।" यह उद्धरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक में ऐसे ही कथन और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत का स्मरण तो कराता ही है, अंतिम पंक्ति उन भारतवासियों की भावना को भी प्रेरणा देती है जो विदेश में जा कर 'बहुत कुछ' हो कर भी अपनी ज़मीन से जुड़े बिना बुद्धगुप्त की भाँति अपने को 'कंगाल' अनुभव करते हैं। कहानी को बहुत छोटी सीमा और उसके विधागत स्वभाव की एकान्विति में राष्ट्रीयता की भावाभिव्यक्ति का ऐसा अवसर खोज निकालना प्रसाद जैसे समर्थ कलाकार के बूते की बात है।

तत्कालीन भव्य सांस्कृतिक वातावरण की जीवंत पुनर्रचना का भी प्रसाद अपनी कहानियों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करते हैं। 'आकाशदीप' में भी यह अनेकशः रूपों में होता है। इस दृष्टि से केवल यदि उनके भाषा-संस्कार पर विचार किया जाये तो कुछ रोचक तथ्य सामने आते हैं। उनके पात्र बुद्धगुप्त, मणिभद्र, चंपा, जया, आदि नामों से तो विभूषित हैं ही, तत्कालीन समय के अनुसार विभिन्न पदों के नाम भी सतर्कता से प्रयुक्त हुए हैं यथा 'महानाविक', 'पोतनायक', उसी युग के अनुसार स्थानों के नाम प्रयुक्त किये गये हैं-'ताम्रलिपि'। 'आपत्तिसूचक तूर्य का बजना' चंपा का 'शिविकारूढ़' होना, दीप स्तंभ से सामुद्रक नावों की श्रेणी का चंपा का उपकूल छोड़ना, आदि का प्रयोग कहानी को अतीत के गौरवमय प्रांगण में खड़ा कर देते हैं। पात्रों का पारस्परिक व्यवहार और वार्तालाप, संबोधन के ढंग, आदि सभी प्रखर सांस्कृतिक रंगों से रंगे हुए हैं।

इस प्रकार 'आकाशदीप' प्रसाद की एक ऐसी प्रेमकथा है जो अपने बहुआयामी संदर्भों में अत्यंत सशक्त बन पड़ी है और हिंदी कहानी के इतिहास में इसका अक्षुण्ण महत्त्व है। साथ ही यह कहानी इसलिये भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि यह प्रसाद की उन चंद कहानियों में से है जिनमें उनकी कहानी-कला के समस्त गुण एक साथ जाते हैं।

63, केसरबाग, पटियाला (पंजाब) पिन- 147001

आवश्यक सूचना

वर्तमान साहित्य का साधारण मूल्य 18 से बढ़कर 20 रुपये हो गया है। यह कीमत जुलाई-2009 से लागू होगी। जिन सदस्यों ने अपना वार्षिक चंदा जून-2009 तक भेज दिया है। उन्हें एक वर्ष तक पत्रिका भेजे गये मूल्य पर ही मिलेगी।

अब जो नये सदस्य होंगे उनका वार्षिक चंदा 230/- रुपये का मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट होगा। बाहर का चैक पाँच सौ रुपये से कम का स्वीकार नहीं करते हैं। संस्थागत चंदा 300/- रुपये है। आजीवन व्यक्तियों को 2000/- तथा संस्थाओं को 2500/- रुपये देय होगा।

वर्तमान साहित्य रेलवे के सभी बड़े स्टेशनों पर स्थित ए.एच. व्हीलर्स के पास उपलब्ध है।

संपादक

वर्तमान साहित्य

28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-1

रामघाट रोड, अलीगढ़

E-mail : vartmansahitya@gmail.com

vartmansahitya@yahoo.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुल्लेशाह की ज़मीन का फेरा

विजय शर्मा

'वतन से बिछड़े हुए लोगों को' समर्पित उपन्यास की नायिका कल्याणी जब अपने पितरों की ड्योढ़ी पर खड़ी होती है, तो 'अब कुछ भी नहीं रहा। न घर, न पेड़-पौधे। सामने वाले मैदान में सिर्फ़ जामुन का पेड़ बचा था। अकेला निःसंग जामुन का पेड़। कल्याणी अपने पुरखों की देहरी पर खुद को भी बेहद अकेली महसूस करती है। एकदम अकेली।'

हाल ही में पढ़कर समाप्त किया है बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन का ताज़ातरीन उपन्यास 'फेरा'। कल्याणी को पूर्वी बंगाल के बिगड़ते हालात में उसके घरवालों ने सुरक्षा के विचार से मैमनसिंह से दूर भेज दिया। हालात ऐसे हुए कि कलकत्ता में उसे रहते लंबा अर्सा गुज़र गया। वह मैमन सिंह लौट नहीं पायी। विवाह के बाद अपने शुभचिंतकों और पति के मना करने के बावजूद जब वह दोबारा अपने वतन में, जो अब एक नया देश बन चुका था, गयी, तो वहाँ के बदले हुए हालात, वहाँ के लोगों की ज़ेहनियत देखकर उसे इतना धक्का लगा कि वह खुद को मुँह दिखाने के काबिल न रही। हालात ऐसे हुए कि उसकी स्मृतियों का संचित कोष लुट गया और वह जीवन भर के लिए कंगाल हो गयी।

स्मृतियों का संचित कोष एक बहुत बड़ी थाती होता है, यह आपकी अर्जित संपत्ति होती है, जिसे चोर चुरा नहीं सकता, हवा बहा नहीं सकती और ख़ास करके तब जब आप अपने जन्म-स्थान से, अपने बचपन की मिट्टी से दूर हों। बचपन जिनकी गोद में, जिनके संग-साथ गुज़रा हो, उनसे दूर रहने पर कड़वी यादें भी मीठी लगती हैं। जिसकी स्मृति जितनी तीव्र होती है, उसे बचपन की गलियाँ, मुहल्ले, आस-पड़ोस, संगी-साथी, यहाँ तक कि दरो-दीवार उतनी ही तीव्रता से अपनी ओर खींचते हैं।

व्यक्ति बचपन की इन गलियों में बार-बार घूमता रहता है। वे उसे जीने की प्रेरणा देती हैं। कहीं आप ज़िलावतन हुए, तब तो ये स्मृतियाँ और भी अनमोल हो जाती हैं। बार-बार उन्हीं गलियों में लौटने को मन ललकता है। फेरा लगाने को आतुर 'कोई व्यक्ति जब अपने वतन से बिछुड़ जाता है, तब उसका अतीत उसका एक बहुत बड़ा सहारा होता है। अतीत की सुनहरी यादों में वह अपना वर्तमान गुज़ारने लगता है। उसी की ऊर्जा से वह अपने अनजाने भविष्य की ओर बेरोक-टोक चलने का साहस जुटा लेता है। अपनी मिट्टी से जुड़ी यही यादें रचनाकार को शक्ति प्रदान करती हैं, उसकी रचना का बायस बनती हैं। सलमान रुश्दी कितने ही साल विदेश में रहें, किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर लें, तसलीमा नसरीन बांग्ला देश से बाहर रहने को मजबूर हों, पर अपना देश-अपने लोग-अपनी ज़मीन उन्हें ऊर्जा देती रहेगी, सृजन को उकसाती रहेगी।

हिलाकर रख देता है कल्याणी के संग हुआ हादसा। झकझोर देता है वह पाठक को। वह अपनी ज़मीन देखने, छूने गयी थी, बड़े उत्साह के साथ। पर 'व्यक्ति यदि कभी अतीत का सामना करने की कोशिश में निकलता है, तो बस छलावा ही उसके हाथ लगता है।' भगवान न करे किसी के साथ ऐसा हो।

मैं ज़िलावतन नहीं हूँ। अब तक विदेश भी कभी नहीं गयी हूँ। फिर भी, बचपन जिन घरों, गलियों, मुहल्लों में बीता है, जिन संगी-साथियों के साथ जीवन के पहले नौ-दस वर्ष गुज़रे हैं, उन्हें छोड़ देना पड़ा, बहुत पीछे छोड़ देना पड़ा। ये आठ-नौ वर्ष कई गाँवों, क़स्बों और शहरों में गुज़रे हैं। इनमें से कई जगहों पर कई-कई बार लौटने का, लोगों से मिलने का मौक़ा मिला है। काफ़ी कुछ बदल गया है। लोग अपने आप में सिमट गये हैं।

गाँव क़स्बे और कस्बे नगर बन गये हैं। संबंधों की वो गर्माहट जो स्मृतियों में संचित है, अब वह वहाँ जाने पर नहीं मिलती है। फिर भी, जहाँ-जहाँ नहीं लौट पायी हूँ, वहाँ लौटने की, उन नदी, नहर, तालाबों, बगीचों, बाज़ारों को देखने की तमन्ना अभी भी दिल में बनी हुई है। जिन लोगों से वर्षों से मिलना नहीं हुआ है, उनसे मिलने, उनकी सुनने, अपनी सुनाने का उछाह अभी भी बना हुआ है। पत्र लिखकर या सूचना देकर नहीं, बस सामने जाकर खड़े हो जाने की, उन्हें चकित कर देने की बाल इच्छा अभी भी बनी हुई है। मन करता है उड़कर जाऊँ और पूछूँ-पहचाना मुझे? मुझे लगता है मानो उनके द्वारा पहचाने जाने में ही मेरी पहचान की सार्थकता है। शायद कल्याणी की तरह 'अतीत का सामना करने की कोशिश में बस छलावा ही हाथ लगे।' पर, मन भला किसी की कही-सुनी-पढ़ी बातों से मानता है। अपने आगे किसी की सुनता है?

मेरा मन भी सारे बंधन तोड़कर बार-बार एक क़स्बे (अब शहर, जिसमें मेरे बचपन के करीब तीन साल गुज़रे थे) में पहुँच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। कई बार उसके पास से गुज़री हूँ, पर वहाँ न जा सकी। जाने कब जाने का संयोग बनेगा? शायद न भी बने। पर वह स्थान और वहाँ के लोग सदा मेरे दिल के क़रीब रहेंगे। मेरे अपने रहेंगे। वहाँ के घर, गली, मुहल्ले, नहर-तालाब, बाग़-बगीचे, स्कूल-कॉलेज, जान-पहचान वाले, संगी-साथी—सब आज भी मेरे उतने ही क़रीब हैं, जितने तब थे। या सच कहूँ, तो पहले से ज़्यादा क़रीब हैं। सब कुछ आज भी ताज़ा है, सजीव है।

मेरा बचपन और उसकी सारी मधुर यादें सहजनवाँ (गोरखपुर), बकेवर (इटावा), अलीगढ़, और देवबंद से जुड़ी हैं। बनारस और मेरठ ननिहाल होने के कारण कई बार लौटना हुआ। गोरखपुर और अलीगढ़ ददिहाल थी, अतः बार-बार जाना होता रहा। शादी के बाद दक्षिण-यात्रा भी ख़ूब की। ससुराल जो ठहरी। काम के सिलसिले में भारत के कई और हिस्सों में भी जाना हुआ। बस नहीं लौट पायी, तो बकेवर और देवबंद। इसमें बकेवर की ख़बर भी आते-जाते लोगों से मिलती रहती है। ख़बर तो देवबंद की भी मिलती है, मगर पत्र-पत्रिकाओं से, अख़बार में छपी ख़बरों से। जो ख़बरें मिलती हैं, उनसे कभी तो छाती गर्व से चौड़ी हो जाती है, कभी सर शर्म से झुक जाता है। फिर भी मन भरता नहीं है। स्वयं जाकर देखने, लोगों से मिलने का मन करता है।

'धर्मयुग' में देवबंद पर एक फ़ीचर था। कई फ़ोटो भी छपे थे। लिखा था—देवबंद में उलेमा को शिक्षा देने का देश का सबसे बड़ा केंद्र है। कई दिन तक ख़ुशी से झूम-झूम कर मिलने-जुलने वालों को तस्वीर दिखा-दिखा कर यह समाचार बताती -सुनाती रही (बहुत कम लोगों ने पूरी बात सुनी या कोई उत्साह दिखाया), मैं जिस देवबंद को जानती हूँ, वह पचास के उत्तरार्ध का सहारनपुर जिले का एक छोटा-सा क़स्बा है, जहाँ मेरी स्कूली शिक्षा, नृत्य-गान की दीक्षा प्रारंभ हुई। जहाँ मैंने अपना पहला स्टेज कार्यक्रम दिया, माइक पर बोली। आज भी तालियों की आवाज़ सुनायी देती है मुझे।

आज भी शाह बुल्लन की गली में दौड़ती फ्रॉक पहने वह लड़की मुझे नज़र आती है। हमारे घर के ठीक पिछवाड़े बुल्लेशाह का मज़ार था। इसी से वह गली शाह बुल्लन की गली कहलाती थी, जिसमें मज़ार के अहाते के एक पेड़ पर एक जिन्न रहती थी। यह जिन्न हमेशा ताक में रहती, ज्यों ही कोई ख़ूबसूरत जवान शाम या रात को उधर से अकेला निकलता, वह पेड़ से कूदकर उसके सीने पर बैठ जाती। फिर तो वह उस जवान के सीने पर तब तक सवार रहती, जब तक कि उसका पूरा खून न चूस लेती। जवान गुमसुम रहने लगता। पीला पड़ जाता और यदि समय पर झड़वाया-फुँकवाया न जाता, तो मर भी जाता। अक्सर झाड़ने वाले के साथ जिन्न की जंग छिड़ती और उसे जवान का पीछा छोड़कर फिर उसी पेड़ पर लौट जाना पड़ता, जहाँ बैठकर वह अपना अगला शिकार तलाशती।

हमारी मकान मालकिन, जिन्हें हम सब बच्चे ताई जी, और सब बड़े भाभी जी कहकर बुलाते थे, के किशोर बेटे को उसने धर दबोचा था। वे बताती थीं कि उनका ख़ूबसूरत गबरू जवान बेटा एक रात पान खा, बेले का गजरा हाथ में लपेटे उस गली से गुज़रा। बस फिर क्या था, वह चुड़ैल तो इसी ताक में थी, धर दबोचा उसने देवेंदर भाई जी को। कितनी झाड़-फूँक की बिचारी माँ ने। कभी बताकर, कभी छिपाकर। बेटे को तो इन सब बातों पर विश्वास ही नहीं था, पर माँ कैसे यकीन न करती। उन्होंने देखा था जवान लड़के को अकेले में गुमसुम बैठे। संगी-साथियों को भूल ही गया था उनका बेटा। पीला पड़ने लगा था। तब तो वे हैरान ही रह गयीं, जब उन्होंने उसे अकेले में तरह-तरह के चेहरे बनाते, कभी-कभी मुस्कुराते देखा। वो तो भला हो मौलवी साहब का, जिन्होंने बताया कि वह एकांत पाते ही उनके बेटे के सीने से उतरकर उसके सामने खड़ी हो जाती है और पूछती है-"नाचूँ?" पता नहीं माँ ने किस जन्म में कौन से पुन्य किए थे कि उनके लड़के ने कभी उस चुड़ैल के नाचने की बात पूछने पर 'हाँ' न की। कहीं 'हाँ' कर देता, तो बस उसी दिन सब ख़त्म हो जाता। वही आखिरी रात होती उनके बेटे की। वे विधवा... फिर क्या करतीं? किसके लिए जीतीं? कितने टोटके किये ताई जी ने। लाल कच्चे सूत (कलावा) को भाई जी की लंबाई का नापकर सात कुँओं के पानी से धोकर उनके तकिए के नीचे रखा। उन पर से न्योछ कर लाल डोरा पीपल के पेड़ में बाँधा। दहलीज़ पर कील गाड़ी। कई मंदिरों, मज़ारों पर मत्था टेका। गंडा-ताबीज़ करवाया। तब जाकर छोड़ा चुड़ैल ने उनके बेटे को। उस गली से जब कभी मुझे गुज़रना पड़ता, तो गली के मुहाने से ही गायत्री मंत्र पढ़ना शुरू कर देती। एक साँस में दौड़ती हुई घर के दरवाज़े पर पहुँचकर ही साँस लेती। वहाँ से गुज़रते हुए बराबर अपने आगे-पीछे, अगल-बगल किसी साये की आहट मिलती थी। हर बार शरीर पसीने से तर-ब-तर हो जाता था।

घर के एक ओर मजार थी, तो आँगन की दीवार जैन मंदिर की ऊँची दीवार से जुड़ी थी। शाम होते ही उधर देखने में भी डर लगता था। शुरू में बिजली न थी। अतः रात की स्याही जल्दी सब चीज़ों और उनके आकार को भयावना बना देती थी। बाद में इक्का-दुक्का घरों में बिजली आयी, पर गली-मुहल्ले ज़्यादातर अँधेरे ही रहते थे। जैन मंदिर की चौड़ी दीवार पर सुबह-सुबह कभी-कदा नागा साधु दिखायी पड़ जाते थे। उनका अनोखा रिवाज़ था। जब जिस भक्त को साधु को अपने घर आमंत्रित करना होता था, वह मंदिर से अपने घर तक सूखे आटे से एक लकीर बनाता जाता था और साधु उसी के सहारे उसके घर भोजन करने जाते थे।

एक शरणार्थी बुढ़िया थी, जो खूब छींकती थी; एक बार में बीस-पच्चीस छींकें। तब तक पर्यावरण बहुत साफ़-स्वच्छ था, लोगों को पर्यावरण प्रदूषण और एलर्जी जैसी बातें ज्ञात न थीं। इनका कान्सेप्ट ही न था। पर आज सोचती हूँ, तो लगता है उसे अवश्य किसी चीज़ की एलर्जी रही होगी। वैसे एलर्जी शब्द भी पहली बार वहीं सुना था। हमारे जान पहचान की एक बहुत सुंदर लड़की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी शादी हो रही थी। उसकी ससुराल से नॉयलोन की साड़ियाँ भी आयी थीं, जो पारदर्शी होने के कारण सबके लिए एक अजूबे से कम न थीं और जब भी वह लड़की वो साड़ियाँ पहनती, उसका सारा शरीर लाल हो जाता और उसे सारे शरीर में बुरी तरह खुजली होने लगती थी। तभी किसी ने कहा था—'अरे, इसे तो नॉयलोन से एलर्जी है और आस-पास की बहुत-सी स्त्रियों ने मुँह बिचकाया था, "बाप रे कितनी नाजुक है, जो कपड़े से शरीर लाल हो जाता है, खुजली होने लगती है।" कुछ लोगों ने कहा—"अरे, ये तो पित्ती उछरी है, इसे शरीर में नमक कड़ुआ तेल मलकर कंबल उढ़ाकर धूप में बैठाओ, सब ठीक हो जाएगा" और किसी ने सुझाया था कि गेरू के गुलगुले बनाकर खिलाओ, तुरंत फ़ायदा होगा। घर वालों ने सब एक साथ कर डाला। जल्दी ही शादी होनी थी, डर था कहीं उसकी ससुराल तक ये सब बातें न पहुँच जाएँ। पता नहीं ससुराल जाकर यदि उसने वे साड़ियाँ पहनी होंगी, तो क्या हुआ होगा और वह किससे अपनी परेशानी कह पाती होगी। भला ससुराल में लड़की मुँह खोल सकती है? यही कारण है कि तमाम स्त्रियाँ तरह-तरह के रोगों से घिरी रहती हैं, पर संकोच और डर के मारे किसी से कुछ नहीं कहतीं।

देवबंद में उन दिनों हमारे आस-पास के वाशिंदे देसवाल थे। अक्सर वे ही मकान मालिक होते थे। या फिर विभाजन के बाद बसे शरणार्थी थे। ये पंजाबी बड़े मेहनती होते थे। खाली हाथ आये थे। छोटा से छोटा काम करने को तैयार रहते थे और कुछ ही सालों में फेरी लगाने से दूकान मालिक तक बन बैठे थे। ऐसे ही एक भाई जी थे, जो पहले घूम-घूम कर आवाज़ लगाकर आइसक्रीम-कुल्फ़ी बेचते थे, अब दूकान चलाते थे, जिनका गोदाम हमारे घर से सटा हुआ था। एक शरणार्थी लड़की थी, जो सुबह से दोपहर तक घर-घर जाकर कपड़े धोती, शाम को सूखे कपड़े उतार, तह लगाकर रख भी जाती। बड़े कपड़े—पैसे के एक, छोटे-पैसे के दो। साबुन, पानी, नील, टिनोपाल धुलवाने वाले के। ख़ूब मस्त रहती। ख़ूब मेहनत करती। बोलती भी ख़ूब थी। एक दिन एक घर के किसी लड़के ने उसके साथ छेड़खानी की। बता रही थी। ऐसा रैपटा दिया उसने लड़के को कि अब किसी को आँख उठाकर भी नहीं देखेगा, पर अब उसकी बला भी नहीं जाएगी उस घर में कपड़े धोने। उसे कौन-सी काम की कमी है, जो वहाँ जाए। जूती की नोंक पर रखती थी वह ऐसे लोगों को। नारी-मुक्ति का ज़माना नहीं था, पर ये शरणार्थी लड़कियाँ, औरतें देशवालियों की अपेक्षा बड़ी दबंग होती थीं। मजाल क्या कोई छू जाए उन्हें बिना उनकी मर्ज़ी के।

छूने की भली याद आयी ऐसे-ऐसे महानुभाव भी थे, जो अपनी पत्नी और बाल-बच्चों के होते हुए भी घर में काम करने वाली और उसकी बेटी दोनों पर आँख रखते थे। और तो और, उनके सुपुत्र भी उसी आया की उसी बेटी पर फ़िदा थे। सबको ख़बर थी, पर बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे। सब चुप। सब ख़ुश।

हम बच्चे भी बहुत ख़ुश होते थे, जब ताज़िया निकलता था। छतों की मुडेर भरी पड़ती थी, जब गली से ताज़िया निकलता था। ख़ूब मुस्लिम आबादी थी वहाँ पर, पर ताज़िया केवल मुसलमानों का नहीं होता था। हुजूम में हिन्दू-मुसलमान सब होते थे। छाती पीट-पीट कर रोना, दुखी होना किसी एक की बपौती नहीं था। दुलदुल घोड़ी के मुँह से गिरे चने चुन बटोरकर सब बच्चों को खिलाये जाते थे। निडर बनाने के लिए, स्वस्थ रखने के लिए सब बच्चों को ताज़िये के नीचे से निकाला जाता था। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सबमें होड़ रहती थी। मोहर्रम हम बच्चों के लिए सोग का दिन नहीं होता था। हमें बड़े-बड़े रंगीन ताज़िये देखकर बड़ा मज़ा आता था। क्या भीड़ होती थी। हंडों की रोशनी से पूरी गली, पूरा मोहल्ला जगमगा उठता था। ताज़िया और दुलदुल देखने के लिए छतों-छज्जों पर औरतें-बच्चे लदे पड़ते थे। एक बार जलूस निकल रहा था हमारे बगल घर की छज्जे की मुरेड़ भहरा पड़ी और बच्चे-औरतें सब छज्जे सहित नीचे पहुँच गये थे। अच्छा हुआ कि किसी को ज़्यादा चोट नहीं आयी थी। ख़ूब अफ़रा-तफ़री मची। ताज़िया रोककर सब लोग घायलों को बचाने दौड़ पड़े किसी ने नहीं पूछा सोचा कि जुलूस मुसलमान निकाल रहे थे और चोट हिन्दुओं को लगी थी, तब जलूस क्यों रुका और वे लोग क्यों ख़ैर पूछने के लिए रुके।

जब ईद आती थी, सेवयाँ ले आता था बुंदू हमारे लिए, जिसे हम बड़े चाव से खाते थे। वह सेंवई और दूध अलग-अलग लाता था। उसे हमारे यहाँ से ईदी मिलती थी। वह अपने पेड़ों में से एक 'गछे' हुए पेड़ से हमारे लिए आम के टोकरे भर-भर कर आम भी लाता था। बुंदी कहकर चिढ़ाता था वह मुझे। इसी नाम की उसकी एक बहन गुज़र गयी थी और वही मृत बहन नज़र आती थी उसे मुझमें। ऐसा था बुंदू से हमारा रिश्ता कि जब स्कूल ले जाते हुए मेरी छोटी बहन का पैर साइकिल के पहिए में आ गया था, तो बुंदू इतना घबरा गया मानो उसी के पैर में चोट लगी हो और इसी बुंदू की जब शादी तय हुई, तो वह सबसे पहले हमारे घर ख़बर देने दौड़ा और हम भाई-बहन बने उसके विशेष बाराती। क्या बारात थी। चूड़ीदार शेरवानी पहने, सेहरा लगाये बुंदू मियाँ ताँगे पर सवार और आगे-पीछे ताँगों, रिक्शों पर सवार बाराती। खलबली मची थी घर और ससुराल दोनों जगह, क्योंकि हम बच्चे अंडा, माँस नहीं खाते थे। कहीं ग़लती से कोई हमारे सामने खाने की कोई ऐसी-वैसी चीज़ न रख दे। विशेष मिठाई और मेवे का इंतजाम किया गया था हमारे लिए और इस सारे हंगामे में हम बुंदू से चिपके रहे। मुझे चिंता थी दुलहन की। वह मंडप में आयी ही नहीं, फेरे भी नहीं पड़े और शादी हो गयी। चिंता ज़्यादा देर नहीं रही। बारात दुलहन लेकर जब वापिस चली, तो हम दुलहन की बगल में चिपके हुए थे। बुंदू की ख़्वाइश के अनुसार सबसे पहले दुलहन के दीदार मैंने ही किये थे।

कई दिन तक हमारे खेल और बातें बुंदू की शादी से जुड़ी रहीं। हम बारात ले जाकर दुलहन लाते रहे। कितना रोया था बुंदू जब हम देवबंद छोड़कर लौह नगरी जमशेदपुर आ रहे थे। उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ नहीं आ रहा था कि हम अपनों को छोड़कर इतनी दूर क्यों जा रहे हैं। मुझे लग रहा था कि इतना रोने की क्या बात है, जब मन करेगा, मिलने चले आएँगे। क्या जानती थी कि इतनी दूर बस जाऊँगी। चाहकर भी लौटना इतना आसान न होगा। फेरा लगाने से भी ताई जी और देवेंदर भाई जी नहीं मिलेंगे। वे दोनों अब इस दुनिया में नहीं हैं। बुंदू भी पता नहीं कहाँ है, किस हाल में है। फिर भी मन फेरा लगाना चाहता है।

फेरा लगाने से याद आये मून टेलर मास्टर। कितने फेरे लगवाते थे। लहंगा सिलने दिया था, स्टेज पर जाना था। प्रोग्राम का दिन आ गया, न मालूम कितनी बार उनकी दुकान की तंग सीढ़ियाँ चढ़ीं, हर बार यही कहते कि बस अभी सिला जाता है। पहले सुबह-शाम का वायदा करते रहे, फिर घंटों और मिनटों पर बात आ गयी। पर ऐन प्रोग्राम के मौक़े पर सिलकर दे दिया था उन्होंने लहंगा। तब से अब तक न मालूम कितने और टेलर्स ने फेरे लगवाये हैं, पर उस गुलाबी साटन के लहंगे की बात ही कुछ और थी। क्या तुरपन की थी मून टेलर मास्टर ने। क्या फिटिंग थी। स्टेज पर मुझे लग रहा था कि बस मैं ही मैं थी। पक्का काम करते थे मास्टर।

पक्का काम तो नेता भी करते हैं। मुझे अख़बार की कतरन जमा करने का ख़ब्त है। साहित्य, कला, शिक्षा, फ़िल्म—जो भी जँच जाए, काटकर रख लेती हूँ। अपनी इसी जमा-पूँजी को उलट-पुलट रही थी। 'द टेलीग्राफ़' के 31 दिसंबर, 95 के वीमेन पेज़ पर एक न्यूज़ छपी थी। छोटी-सी। देवबंद में एक फ़तवा जारी किया गया था। स्त्रियाँ म्युनिसिपल पोल में चुनाव नहीं लड़ सकतीं। भला हो ज़ीनत नाज़ का, जिन्होंने सिर पर दुपट्टा डाला और कूद पड़ी मैदान में। जुट गयी प्रचार में और जीत भी गयी। बड़े खुश हुए होंगे बुल्लेशाह अपनी इस बेटी के साहस पर। मुझे भी नाज़ है इस नाज़ पर। नाज़ है अपने देश पर, जहाँ अभी भी धार्मिक कट्टरता जीत नहीं पायी है, जहाँ व्यक्ति और समाज का संवेदनशील सोच अभी भी जीवित है।

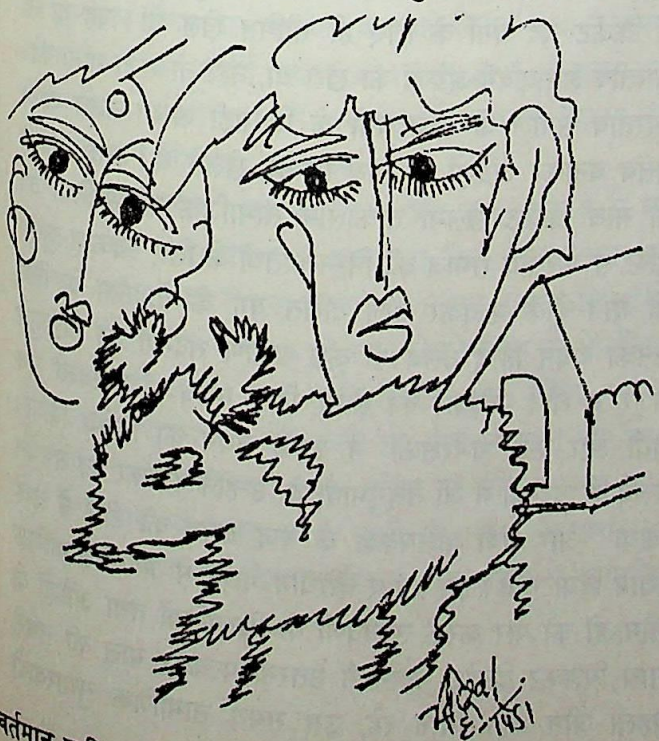

देवबंद अपने संबंधों की ऊष्मा के साथ मेरे अंदर पूरा जीवित है। कैसे भूल जाऊँ साखन की नहर में नहाकर बडे-बड़े तरबूजे खाना। कैसे भूल जाऊँ सूरजकुंड में खिलते कमल के फूलों को। कैसे भूल जाऊँ पीली कोठी और एच.ए.वी. इंटर कॉलेज को। इन्हीं शैशव-कैशोर्य की गलियों की याद बार-बार आती है। बार-बार मन फेरा लगाता है शाहबुल्लन की ज़मीन का।

151, न्यू बाराद्वारी, जमशेदपुर-831001 (झारखंड)

कविता

आदि रचना

डा0 स्मृति सिंह

संसार के होने से बहुत पहले,
आदम के फल चखने से भी बहुत पहले
सिर्फ़ मैं थी,
निराकार, निःशब्द—मैं थी।
पेड़ों की छाल के कपड़ों से भी बहुत पहले
पेड़ों की परछाईं ने मेरा तन ढका।
आदि कवि की प्रथम रचना से भी बहुत पहले
ख़ामोशी की झरती भाषा ने संगीत रचा।
भित्ति-चित्रों को उकेरने से भी बहुत पहले
चाँदनी की दूधिया नोक ने खीचीं रेखाएँ।
पत्थरों के टकराने से पैदा हुई आग से भी बहुत पहले
सूरज की रोशनी ने रोशन हर दर्रा किया।
धर्म के संस्कारों से भी बहुत पहले
कर्म-यज्ञ की समिधा ने होम किया।
क़बीलों की चहल-पहल से भी बहुत पहले
मैंने अकेले ही की निर्जन पथ की पहचान।
तुमसे मिलने से भी बहुत पहले,
मैंने जानी
प्रेम की परिभाषा
मुझसे ही।

ए-डी—2, सावित्री सदन, कबीर मार्ग,
बनी पार्क, जयपुर (राज0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में एक खिलाड़ी था...

दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव

(आजकल भारत में क्रिकेट महज़ खेल न रहकर एक जुनून, एक व्यापार, एक मोह तथा करोड़ों की राशि से जड़ा हुआ एक जुआ बन बैठा है। क्रिकेट खेल दस-पंद्रह साल पीछे राष्ट्रीय अभिमान और गौरव का भी प्रतीक था लेकिन अब इस खेल में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय सब प्रकार के भेदभाव मिटते जा रहे हैं और पैसा ही सबकुछ बनता जा रहा है। अप्रैल-मई के महीने तो आई0पी0एल0 के हलचल से पूरी तरह आतंकित हैं। लेकिन क्रिकेट खेल ही से संबंधित इस देश के कई ऐसे महारथियों को वर्तमान पीढ़ी जानती तक नहीं, जिनके लिए क्रिकेट मात्र पैसा कमाने वाला खेल न रहकर जीवन-संग्रह था और खुद को समाज में साबित करने का हथियार भी था। इस संदर्भ में भारतीय क्रिकेट के पहले दिनों से जुड़े एक महान दलित खिलाड़ी का स्मरण दिलाना इस लेख का उद्देश्य है।)

यदि आप क्रिकेट खेल के बारे में जानकारी रखते हैं तो आपको भारतीय क्रिकेट के महान खिलाड़ियों के नाम ज़रूर मालूम होंगे। बिशनसिंह बेदी, सुनील गवास्कर, गुंडप्पा विश्वनाथ, कपिलदेव, सचिन तेंदुलकर इत्यादि महान खिलाड़ियों को औसत भारतीय क्रिकेट प्रेमी अच्छी तरह से जानता है। यदि पहली पीढ़ी के भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों को याद करेंगे तो महाराज रणजीत सिंह और कर्नल सी0के0 नायडू के नाम ही अकसर सुनायी देते हैं और उन्हीं को भारतीय क्रिकेट के सर्वप्रथम दिग्गज खिलाड़ी होने का श्रेय दिया जाता है। लेकिन पल्वंकर बालू नामक खिलाड़ी के बारे में एक सामान्य भारतीय क्रिकेट प्रेमी का ज्ञान या तो बहुत कम है या नहीं के बराबर है। दरअसल पल्वंकर बालू को ही भारतीय क्रिकेट का सर्वप्रथम दिग्गज मानना उचित होगा क्योंकि रणजीत सिंह ने इंग्लैण्ड की तरफ से इंग्लैण्ड में ही क्रिकेट खेला था' पर बालू ने इसी देश में इसी देश के लिए क्रिकेट खेला... वह भी रणजीत सिंह से कई साल पहले। आजकल विज्ञापनों के सृजनकर्ताओं का कहना है कि भारतीय लोग क्रिकेट को एक धर्म मानते हैं। फिर इस देश में बालू का नाम आम क्रिकेट-प्रेमियों से क्यों वंचित रह गया... वह बड़ा रोचक विषय है।

पल्वंकर बालू का जन्म धारवाड़ में 19 मार्च, सन् 1875 ई0 को एक दलित परिवार में हुआ था। बचपन में वे अपने परिवार के साथ पुणे आ गये और वहीं पलकर बड़े हुए। वे जाति के चमार थे और बहुत ग़रीब थे। परिवार की आर्थिक स्थिति के कारण उन्हें पढ़ाई छोड़कर नौकरी करनी पड़ी जिसके फलस्वरूप वे पुणे के जिमखाना मैदान में तीन रुपये प्रतिमाह के वेतन पर काम करते थे। मैदान को साफ़ करना तथा क्रिकेट पिच को खेल के लिए तैयार रखना उनका काम था। पुणे के जिमखाना मैदान में क्रिकेट खेलने कई अंग्रेज़ आया करते थे। उन्हें देखकर पल्वंकर बालू में क्रिकेट-खेल के प्रति रुचि पैदा हुई और वे धीरे-धीरे अंग्रेज़ बल्लेबाज़ों की अनुमति लेकर बाउलिंग भी करने लगे। अपनी स्वाभाविक प्रतिभा को परिश्रम से तराशकर उन्होंने कम समयय में स्पिन बाउलिंग में निपुणता प्राप्त की। उनकी फिरकी गेंदबाजी से अंग्रेज़ खिलाड़ी हैरान रह जाते थे और देखते ही देखते उनका यश पुणे शहर में फैल गया। पुणे शहर के 'हिन्दू क्लब' क्रिकेट टीम में पल्वंकर बालू को शामित करने का प्रस्ताव भी आया था।

यह वह समय था जब भारत पराधीन था और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय क्रिकेट का श्रीगणेश नहीं हुआ था। तब भारत में क्रिकेट चंद वर्गों के लिए ही सीमित खेल था। वह या तो भारतीय शासकवर्ग-अंग्रेज़ों का खेल था, नहीं तो राजा-रईसों का। भारतीय समाज के उच्च वर्गों के खिलाड़ी अलग-अलग अपने क्लब बनाकर अंग्रेज़ों के साथ क्रिकेट खेलते थे। अतः अंग्रेज़ों के साथ क्रिकेट खेलना तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की दृष्टि से भारतीय समाज की निम्नजातियों के लिए आकाश-कुसुम ही था। चूँकि पल्वंकर बालू दलित वर्ग के थे, टीम के लिए उनका चयन हिन्दू क्लब के कुछ ब्राह्मण सदस्यों को बिलकुल मंजूर न था। पल्वंकर को लेकर हिन्दू क्लब में खलबली मच गयी और कई 'धर्मरक्षकों' ने उनके चयन का विरोध किया। क्लब के सदस्यों में जो तेलुगुभाषी थे, उन्होंने पल्वंकर का समर्थन किया और लंबी कशमकश के बाद क्लब की टीम में उन्हें स्थान दिया गया। इस प्रकार पराधीन भारत में अपनी सामाजिक सीमाओं को पार करके उच्चवर्णों के खिलाड़ियों तथा अंग्रेज़ों के साथ मिलकर क्रिकेट मैदान में उतरना पल्वंकर बालू की सबसे पहली जीत थी। ध्यान रहे, उस समय सामाजिक सुधारवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंदोलनों का प्रभाव भारत में अधिक मात्रा में नहीं था। महात्मा गांधी जी अभी दक्षिण अफ्रीका में ही थे। ऐसे में केवल अपनी प्रतिभा के बलबूते पर पल्वंकर बालू चुपचाप एक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात अनायास ही कर रहे थे।

मैदान में तो पल्वंकर ने नया इतिहास ही रच डाला। पल्वंकर के आगमन के बाद पुणे के हिन्दू क्लब ने अंग्रेज़ों के यूरोपियन क्लब की ही नहीं बल्कि सभी क्षेत्रीय टीमों की भी धज्जियाँ उड़ा दी थीं। पल्वंकर की फिरकी गेंदबाजी ने हिन्दू क्लब को अव्वल स्थान का दर्जा दिलाया। सन् 1896 ई0 में पल्वंकर ने मुंबई जाकर भारतीय सेना में ज्वाइन किया। तब से वे हिन्दू टीम के स्थाई रूप से सदस्य बन गये। सन् 1906 ई0 में अखिल भारतीय हिन्दू टीम तथा युरोपियन टीम के बीच त्रिदिवसीय, क्रिकेट मैच संपन्न हुआ। उसमें हिन्दू टीम की 110 रन की अभूतपूर्व जीत हुई। पल्वंकर बालू ने उस मैच में कुल 8 विकेट चटकाये। सन् 1911 ई0 में भारतीय क्रिकेट टीम ने इंग्लैण्ड में जाकर खेला जिसे किसी भी भारतीय क्रिकेट टीम का पहला दौरा कहा जा सकता है। (पर इस दौरे को मान्यता प्राप्त नहीं हुई।) इस अनौपचारिक शृंखला में मेज़बान टीम के विरुद्ध सारे भारतीय खिलाड़ियों ने घुटने टेक दिये लेकिन पल्वंकर बालू ने पूरे इंग्लैण्ड के दौरे में 114 विकेट चटकाये। 'हाउ ईज दाट' को छोड़कर दूसरा अंग्रेज़ी शब्द न बोलते इस अद्वितीय गेंदबाज को देखकर इंग्लैण्ड के महान क्रिकेट खिलाड़ी भी चकित रह गये। इंग्लैण्ड की कई काउण्टी टीमें पल्वंकर बालू को अपनी टीम में शामिल करने के लिये लालायित हो उठीं पर पल्वंकर ने 'ना' कह दिया। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने मात्र पैसों के लिए क्रिकेट नहीं खेला। भारत में पल्वंकर की वापसी के बाद 'मुंबई दलित संघ' ने उनके लिए भव्य सम्मान समारोह का आयोजन किया था। पल्वंकर बालू की विजय-गाथा ने समस्त दलित जाति को स्फूर्ति प्रदान की। उस सभा में एक अन्य प्रतिभासंपन्न दलित छात्र ने समारोह का स्वागत किया। उस छात्र का नाम भीमराव अंबेडकर था।

लेकिन पल्वंकर को यह गौरव और यश आसानी से नहीं मिला। अपने खेल-जीवन के शुरूआती दिनों में पल्वंकर बालू को कई अपमानों का सामना करना पड़ा। हिन्दू टीम के खिलाड़ियों ने पहले उन्हें मैदान में तो अपने साथ खेलने दिया पर पेविलियन में स्थान नहीं दिया। जब सारी क्रिकेट टीम ड्रेसिंग रूम के अंदर नाश्ता-भोजन कर रही होती तब पल्वंकर बालू को अलग से बैठकर अपने लिए रखी अलग टेबिल पर भोजन करना पड़ता था! उन्हें चाय भी अलग से दी जाती थी। फिर भी पल्वंकर ने यह साबित किया कि निरंतर परिश्रम और लगन से सामाजिक बंधनों को नकारा जा सकता है और जीवन की रूप-रेखा बदली जा सकती है। भले ही वे आभिजातवर्ग द्वारा तिरस्कृत हुए हों, पर उनकी प्रतिभा को देखकर आम जनता ने उन्हें हृदय से लगाया और असीम प्रेम दिया। सतारा शहर में एक मैच के दौरान उनके प्रदर्शन से मुग्ध वहाँ की जनता ने उन्हें गजारोहण (हाथी पर बिठाकर जुलूस निकालना) का सम्मान दिया।

क्रिकेट में पल्वंकर बालू के आँकड़े चौंकानेवाले हैं। उन्होंने कुल 33 प्रथम श्रेणी मैचों में खेलकर 179 विकेट लिये। उनकी गेंदबाज़ी की औसत लगभग 15.21 थी। यह बिशनसिंह बेदी (21.69) एवं अनिल कुंबले (25.83) जैसे महारथियों के प्रथम श्रेणी क्रिकेट की औसत से भी काफी ऊँची है। महाराजा रणजीत सिंह-जिसके खेल की प्रशंसा करते अंग्रेज़ न अघाते थे, भी पल्वंकर बालू की फिरकी गेंदों का डटकर सामना न कर पाये। भारत में खेले तीन मैचों में तीनों बार पल्वंकर की गेंदबाजी में ही आउट होकर पेविलियन को लौटे। इतने महान खिलाड़ी होने के बावजूद पल्वंकर बालू को हिन्दू टीम की कप्तानी नहीं मिली। जातिदंभ में चूर खिलाड़ियों तथा अधिकारियों के कारण उन्हें कप्तान का गौरव नहीं दिया गया। 1921 ई0 में पल्वंकर क्रिकेट से दूर हो गये और बाद में राजनीति की तरफ खिंचते गये। उन्होंने महात्मा गांधी का समर्थन किया और 1937 ई0 में संपन्न मुंबई विधानसभा-चुनाव में बाबा साहब अंबेडकर के खिलाफ चुनाव लड़ा और लड़कर हार गये। पर दोनों के बीच मात्र 2020 वोटों का अंतर था।

भारतीय खेलजगत के इतिहास में "पल्वंकर बालू" एक विस्मृत अध्याय का नाम है। उन्हें भारतीय फिरकी गेंदबाजी का आद्य भी कहा जा सकता है। निरंतर संघर्षों का सामना करते हुए उन्होंने कभी परिस्थितियों के सामने माथा नहीं झुकाया और समाज के जातिगत-वर्णगत परंपरावादियों को अपने प्रदर्शन से मुँहतोड़ जवाब प्रस्तुत किया। ऐसे महान खिलाड़ी वर्तमान पीढ़ी के लिए सतत प्रेरणास्रोत हैं। आज क्रिकेट मैदान एक फलद व्यापार-क्षेत्र सिद्ध हुआ। परिणामतः इस खेल में अब पैसा ही सबकुछ बन गया और राष्ट्रीय तथा जातीय गौरव का सवाल अब मिटने की दिशा में है। लेकिन यह जानकर हमें आश्चर्य होता है कि एक खिलाड़ी ने क्रिकेट सिर्फ पैसों के लिए नहीं खेला बल्कि अपने आप को साबित करने तथा उच्चवर्णों के खिलाफ़ सामाजिक तथा न्यायपूर्ण लड़ाई में इस खेल का धारदार उपयोग किया।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
आंध्र लोयोला कॉलेज, विजवाड़ा-520008
कृष्णा जिला-आंध्र प्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिभा शतपथी की ओड़िया कविताएँ

चिट्ठी

गिरवी पड़े हुए हैं मेरे सारे आवेग,
हँसना, रोना और बैचनी
साँस रोककर
जलाकर राखकर दिये होते
तुमको अगर न मिला होता
वो रंगीन काग़ज़ का सहारा।

बीते दिनों के
मृत सैनिक के प्रेम-पत्र की तरह
गिरती-टपकती आँखें निहारती हैं,
बैचैन शिरा तड़प उठती है
और बँट जाती है सौ टुकड़ों में
सिमट जाती हैं शिराएँ
घावों को घेरने लगे हैं कीड़े
परंतु आवेग...
हँसना, रोना और बैचनी
अब भी बरकरार हैं।

अब...
काग़ज़ के टुकड़े में कैद
जंगल के झरने का वह गीत
कँपकँपाने लगा है तब
तड़पते... तड़पते... शायद
आज़ाद हो जाएगा
और फैलाएगा हरियाली
धरती के सारे शस्य खेतों में।

सँभाल कर रखने के लिए
न पाकर सुरक्षित जगह
चिट्ठी को फाड़ते समय
मन ही मन उसने सोचा था...
जब तुम हो,
चिट्ठी की क्या ज़रूरत...।

अब तुम नहीं...
मन में कहीं बैठे गुमसुम
आवेगो...
प्रेत की उन्मुक्त हँसी की तरह
दहला रहे हैं चारों दिशाएँ
हाथ-पैरों को दबोच कर खाये जा रहे हैं

कुछ देर के बाद...
एक टहनी से दूसरी टहनी तक बँधे
अंगारे रंग के शामियाने के नीचे
रह-रह कर आहें भर रहा है
गेहुँए रंग का कपोत।

अभिसार

(1)

कोई नहीं समझा मुझे
भले-बुरे की तराजू पर तौला गया
मेरा इस तरह
सुनसान रातों के बीच
बिस्तर से ग़ायब हो जाना और
भोर को पुनः
काँपते-डरते वापस आ जाना
कैसे इसका कोई दूसरा अर्थ लगाता ?
वापस घर की दहलीज़ पर
पैर जमाते न जमाते
निंदा अपमान की बौछार की गयी मुझ पर।

मेरी ज़बान नहीं खुली, स्वर ही कहीं खो गया
उदास पति का मुख-मंडल
घूरते बच्चों की आँखों को
कैसे दिलासा दूँगी
क्यों लाँघ गयी दरवाज़ा खुला छोड़
किसके बुलावे से टूट गयी नींद ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2)
अचानक मेरी नींद टूट गयी
झरते हुए अनुच्चरित शब्दों से
कुआँरे दिनों का मेरा वह आवेग, आकांक्षा, सपना
इतना संजीदा और सतेज
कि अचानक ज़िद करने लगा...
आज की यह सुशोभित रात
फिर नहीं आएगी कभी
दीप्तिमान समय और
समय का दोहराव
रहेगा क्या यह समय कल
उठ जा, आजा...
रात बीत जाएगी...
अँधेरे में
भय, कुंठा, संकोच में एक-एक वस्त्र
उतार फेंका मैंने
दरवाज़े को खुला छोड़
पगली सी दौड़ गयी मैं।

पास की नदी के बीच में एक नौका बही जा रही थी।
अस्पष्ट छाँव की तरह दूर-दूर तक,
चंद्रमा अपने जादू को समेटे
बिखेरे दे रहा था
नदी के वक्षस्थल और दोनों किनारों के वृक्षों पर
आकाश पर एक तारे को ढूँढ़ते हुए
फिर एक को चुनकर
मेरी क़िस्मत की डोरी को पकड़कर
मुझे नचाने वाले उस तारे से कहा
बस एक बार, हाँ एक बार
मुझे अपने साथ डूब जाने की इज़ाजत दे दो।

(3)
क्या मैं नहीं जानती थी
इस तरह असमय, अकारण चले जाने से
सब निंदा-अपमान
मेरी चाहरदीवारी को चीरकर
सहज ही भेद जाएगा मेरे सीने को ?
मदमस्त यह माहौल
नौका की धीमी आवाज़,
चाँद, नदी, पगली हवा के साथ एकात्मता
क्या नहीं जानती थी कि उपलक्ष्य मात्र हैं ?

मेरा हृदय ही चाँदनी रात था
जो फैला था धरती पर सागर की तरह
नाच रहा था मेरा खून
उसके बीच मेरा प्यार
नाव बनकर बहा जा रहा था
अबोध्य छंद के साथ
मेरा आवेग काँप रहा था पवन के समान
सचमुच मेरे अलावा
और कोई मौजूद नहीं था वहाँ।

क्या कहकर समझाऊँगी
इस अघटन को
मुझे किसने पुकारा, किसको कहूँगी ?
कहूँगी तो समझेगा कौन ?

फिर भी मुझे
कहना ही होगा एक दिन
आज नहीं तो कल
धरती को सब कुछ सौंपकर जाना ही होगा
कोई राज़ यहाँ से लिया नहीं जा सकता
तो मुझे
कभी न कभी कहना ही होगा...
कभी कहना ही होगा ?
कब ? फिर किसको ? किसको ?

बी-3/2, चंद्रमा हाउसिंग कॉम्प्लेक्स
यूनिट-3, खारवेल नगर, भुवनेश्वर-1

रूपांतरण : छबिल कुमार मेहेर
सहा0 प्रबंधक राजभाषा, इंडियन ओवरसीज़ बैंक
क्षेत्रीय कार्यालय, डी पॉल स्कूल कैंपस
ब्रह्मपुर, उड़ीसा-760010

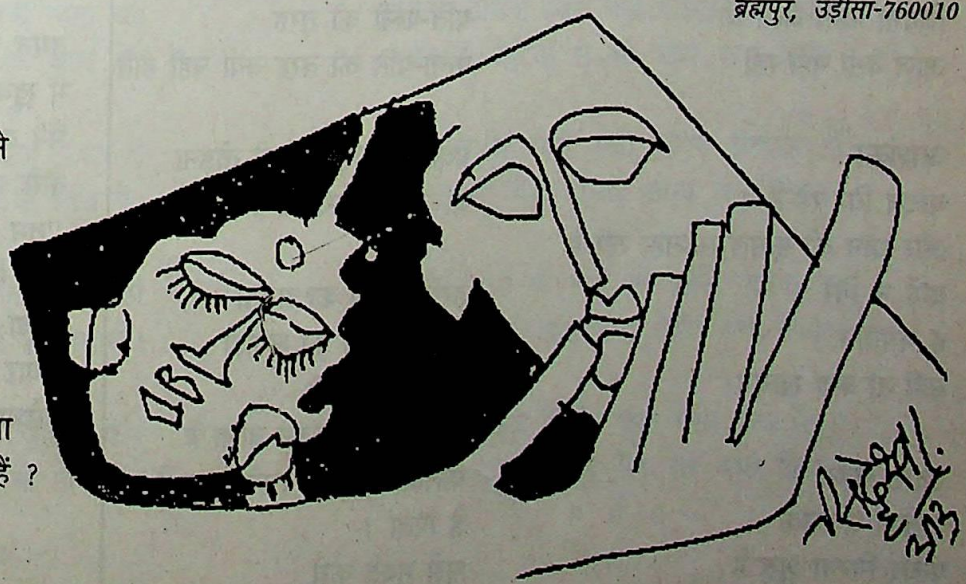

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

अरुण शीतांश

परख
ज़िंदगी की लड़ाई और बड़ाई में
एक फ़ासला तय किया है मैंने

मैंने तय किया है
कल कम खायेंगे
कुछ ग़म खायेंगे

ज़िंदगी जो कटती जा रही है
रोज़-ब-रोज़
यूँ ही फटकती जा रही है
फटती जा रही है

परसों शाम ज़िंदगी के कुछ अच्छे थे दिन
कल बुरे
आज थिएटर सा

ज़िंदगी बंद होती है
कभी खुलती है
दरवाज़ों की तरह

ज़िंदगी पहले जैसी थी
आज वैसी नहीं रही

आशंका
बादल घिर रहे हैं
और धान की फ़सल लहलहा रही है
बर्फ़ न गिरे
हे भगवान !
नहीं तो क्या खायेंगे!

उदास चेहरा
कलेजा धकधक
पत्थर गिरना शुरू है
बर्फ़ का पत्थर
नहीं रुका

हँस रही है रमबलिया बहू
अब अनाज से घर भर जायेंगे

खलिहान में टाल लग गए हैं
बच्चे उछल रहे हैं
सरक रहे हैं
छुप रहे हैं

रात में बाबा जाते हैं सोने मड़ई में
कोई दुश्मनी से आग न लगा दे
और
सब घर स्वाहा

रात की तरह
रात की तरह
दिन क्यों नहीं होते
या दिन रात की तरह

पति-पत्नी की तरह
पत्नी-पति की तरह क्यों नहीं होते

प्रकृति के नियमों को तोड़ना
या जोड़ना नहीं आया

हर रात दूध का झगड़ा
हर दिन पैसे का लफड़ा

कलह से घर डूबने वाला है
कलहीन समाज बनने वाला है
हे पिता !
मुझे मुक्त करो
ऐसे झंझावातों से
पड़ोसी हँस रहे हैं
प्रतिष्ठा गिर रही है

अमेरिका से कैसे भीख माँगू ?
रो लेना अच्छा है
हँस लेना अच्छा है

मणि भवन
संकट मोचन नगर
आरा (बिहार)

कविता

रोज़लीन

प्यार करने वाली लड़की

तुमने कहा–
मैं ख़ूबसूरत हूँ
मैंने कहा–
कैसे ?
"तुम प्यार करती हो न, इसलिए।
और मैंने कहा नहीं,
सोचा–
'प्यार करने वाली लड़की
हमेशा सफल नहीं होती।

13-बी, एच0ए0पी0, मधुबन, करनाल (हरियाणा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ल

नित्यानंद 'तुषार'

पहली ही चोट में लहजा बदल गया
जो सख़्त था बहुत इक दम पिघल गया।

कुछ ख़ास बात थी, क्या तुझपे चोट थी
कुछ शेर सुनते ही तू क्यूँ उबल गया।

मंज़िल मेरे लिये ख़ुद बेक़रार है
अच्छी भली डगर से क्यूँ फिसल गया।

सारी हक़ीक़तें नज़दीक हो गईं
दुनिया की दौड़ से बाहर निकल गया।

क्यूँ माँ की आँखों से आँसू निकल पड़े
बेटा जो 'टाय' की ख़ातिर मचल गया।

0 0 0

आज़कल उलझन जुड़ी है हर किसी के साथ में
फूल अब खिलते कहाँ हैं ताज़गी के साथ में।

ये बनावट, ये नुमाइश मार डालेगी हमें
हो सके तो जी के देखो सादगी के साथ में।

कुछ समय के बाद कोई अजनबी रहता नहीं
ज़िंदगी मैंने गुज़ारी अजनबी के साथ में।

क्या पता अगले क़दम पर जाने क्या अंजाम हो
आदमी चलता नहीं यूँ आदमी के साथ में।

ज़िंदगी का इस वजह से कुछ मज़ा आता नहीं
मौत का डर चल रहा है ज़िंदगी के साथ में।

जिसकी कुल औक़ात मेरे पाँव की जूती से कम
नाम लेता है मेरा अब वो हँसी के साथ में।

0 0 0

भले ही दुश्मनी हो पर गले मिलना ज़रूरी है
जो रिश्ता फट गया हो तो उसे सिलना ज़रूरी है।

अकड़ कर बैठने से कुछ कभी हासिल नहीं होता
अगर चाहत को पाना है बदन हिलना ज़रूरी है।

मुहब्बत की जो ख़ुशबू है वो सबको बाँध लेती है
अगर ख़ुशबू सा बनना है तो फिर खिलना ज़रूरी है।

मेरी आँखें-तेरी आँखों से कुछ कहने को आतुर हैं
ज़माना रोकता है पर हमें मिलना ज़रूरी है।

बचाएँ ख़ुद को कितना भी सदा तो बच नहीं सकते
यहाँ पर ख़ार हैं इतने बदन छिलना ज़रूरी है।

0 0 0

अपने लबों पे जिस घड़ी सच को सजा लिया
सारे जहाँ को आपने दुश्मन बना लिया।

इतने शरीफ़ आप हैं, इसका पता न था
मेरी ग़ज़ल को आपने पूरा चुरा लिया।

इतनी अधिक हवस बढ़ी दौलत की आपको
देवी सी बेटियों से भी धंधा करा लिया।

कोई कसर नहीं रखी तुमने विनाश में
मिट्टी से मैंने दोस्तो सोना बना लिया।

तुमने समय के साथ ही बदले अनेक रंग
चेहरे पे तुमने इक नया चेहरा लगा लिया।

तुमको सुकून है कि कुछ पैसा बना लिया
मुझको गुरूर है कि मैंने सर बचा लिया।

0 0 0

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यूँ आदमी पड़ा है अब आदमी के पीछे
मुश्किल ही चल रही है अब हर किसी के पीछे

जिसने जनम दिया है, क्यूँ मारता है रब वो
क्यूँ मौत आ रही है, हर ज़िंदगी के पीछे

कोई कमी नहीं है, दुनिया में रंग सारे
इक सोच ही खड़ी है इस बेबसी के पीछे

इतना यक़ीन कर ले मैं बेजुबाँ नहीं हूँ
कोई वजह रही है इस ख़ामुशी के पीछे।

बहती नदी को यारो मालूम ये नहीं है
प्यासा खड़ा हुआ है, कोई उसी के पीछे।

जिसमें छिपा हुआ है काफ़ी घना अँधेरा
सब दौड़ने लगे हैं उस रौशनी के पीछे।

तुमको पता नहीं है तुझपे फ़िदा हैं कब से
कुर्बान हो गए हैं तेरी हँसी के पीछे।

आर-64, सेक्टर-12, प्रताप विहार,
ग़ाज़ियाबाद-201009

ग़ज़ल

डा0 बी0पी0 दुबे

0 0 0

स्वयं अपराध खुलकर बोलते हैं
सजग ख़ामोश मंज़र बोलते हैं।

शिखर गुम्बद भले ही कुछ न बोलें
मगर नीवों के पत्थर बोलते हैं।

जुल्म ढाये गये फ़क़ीरों पर
परिन्दों के कटे पर बोलते हैं।

सताया किस क़दर वहशी हवा ने
व्यथायें ऊँघते घर बोलते हैं।

कटीं जिस हाल में मजबूर रातें
पलंग, तकिया व बिस्तर बोलते हैं।

जो आती है कभी मुश्किल घड़ी तो
सभी अल्लाह ईश्वर बोलते हैं।

0 0 0

उम्मीदें कम हैं उन दीदावरों से
जो हीरे तौलते हैं पत्थरों से

बचा लें गुलिस्ताँ उन परिन्दों से
उगलते आग जो अपने परों से

रहनुमा जानते मंज़िल कहाँ है
न पूछो राह नकली रहबरों से

बेचारा लुट गया वह राजपथ पर
रही अब आस क्या क़द्दावरों से

न अस्मत बच सकी तो जाँ ही दे दी
रहे सब देखते अपने घरों से।

दिलों से खेलते रहते जो अक्सर
हमें नफ़रत है ऐसे दिलबरों से।

होटल संगम के सामने, 5, सिविल लाइन, सागर-800007 (मध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलते रिश्ते, बदलते सामाजिक मूल्य

डॉ0 कुसुम मीतल

पाकिस्तान का स्विटज़रलैंड स्वात घाटी में तालीबान फ़रमान आया कि बच्चियों के स्कूल बन्द कर दिये जायें, वे घर से बाहर नहीं निकलेंगी, किसी पुरूष से बात नहीं करेंगी और पूरी तरह से पर्दे में रहेंगी। इस तरह के फ़रमान मुस्लिम देशों में आते रहते हैं। लेकिन विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र भारत में मंगलौर के पब में बैठी लड़कियों को जिस तरह हिन्दू तालीबानों ने घसीट कर तथा दौड़ा दौड़ा कर मारा वह देश के मुँह पर काला धब्बा है। 14 फरवरी 2009 को देश के विभिन्न हिस्सों में बैलेंटाइन दिवस पर प्रेमी युगलों और युवक युवतियों को साथ हिंसात्मक व्यवहार की खबरें अशोभनीय नहीं शर्मनाक भी हैं। बढ़ती पब संस्कृति, महिलाओं का वर्तित सामाजिक कार्य कलापों में खुला प्रवेश, मुक्त प्रेम प्रदर्शन तथा साथ ही नैतिक पुलिसिंग आदि घटनायें आज आम चर्चा का विषय है। यह घटनायें हमें सोचने को विवश करती हैं कि वर्तमान भारतीय समाज जिस संक्रमरा कालीन स्थिति से गुजर रहा है, सामाजिक-पारिवारिक मूल्यों का विघटन हो रहा है उसके लिये कौन से कारक उत्तरदायी हैं? क्या समाज में व्याप्त निर्मुक्तता को नैतिक पुलिसिंग द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है? क्या आपरेशन पार्क या बार और पब बन्द कराना समस्या का सही उपचार हैं?

कहते हैं इतिहास अपने आपको दोहराता है। वर्तमान सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने के लिये इतिहास के पन्नों को पलटना होगा। 18वीं शताब्दी में आधुनिक पूँजीवाद उदित हो रहा था। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ ने उस समय के परिवेश के आधार पर अर्थशास्त्र को 'धन के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया। मुक्त व्यापार, अहस्तक्षेप और कीमत यंत्र आर्थिक नीति के आधार थे। आर्थिक निर्रार्थों का मूल मंत्र था स्वःहित। उन्होंने एक आर्थिक मनुष्य की परिकल्पना की जिसके लिये धन व भौतिक उपलब्धि सर्वोपरि थी, मानवीय मूल्य गौंड़। स्टीवेन डी लेविट और स्टीफेन जे0 डबनेर के शब्दों में 'आर्थिक शक्तियों में परिवर्तन के कारण, दी हुयी परिस्थितियों में, व्यक्ति के सोच और व्यवहार में व्यापक परिवर्तन आ रहा था। इस परिवर्तन का उस समय (एडम स्मिथ) के नागरिकों पर इतना ही गहरा और आघात्मक प्रभाव पड़ा जितना कि हम वर्तमान समय में अनुभव कर रहे हैं। (फ्रीकोनॉमिक्स पे0 13)

समय के साथ पूंजीवाद व आर्थिक नीतियों में परिवर्तन आया। लम्बे समय तक समाजवाद व साम्यवाद का विश्व के बड़े, भूभाग पर बोलबाला रहा। सोवियत संघ के पतन के साथ ही अमेरिका का विश्व पर एक ध्रुबीय नियंत्रशा हो गया और 90 के दशक से पूंजीवाद अपने निर्ममतम रूप से प्रकट होने लगा। बाज़ारीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण आर्थिक नीति के मूलमंत्र हैं जिनका प्रमुख आधार हैं- मुक्त व्यापार, कीमत यंत्र और न्यूनतम हस्तक्षेप। भौतिकवाद व निहित स्वार्थ सभी मूल्यों पर हावी हो रहे हैं।

औद्योगीकरण और शहरीकरण के विकास ने पुरानी सामाजिक संस्थाओं पर गहरा आघात किया है। पुरानी संयुक्त परिवार संस्था टूट चुकी है, जिसमें छोटे बड़े सभी को संरक्षण, प्राप्त था। व्यक्तिगत परिवार आज की संस्कृति है। कार्यशील माता-पिता और बच्चों के बीच समयाभाव के कारण दूरियाँ बढ़ रही हैं। भौतिक साधनों की आपूर्ति ममता और वात्सल्य का स्थान ले रही है। इसका प्रभाव आज के युवा वर्ग पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बढ़ते शोक, उच्छृंखलता और स्वार्थ का प्रभुत्व उनके चरित्र में परिलक्षित हो रहा है।

पारिवारिक रिश्तों में इस कदर दरार आ गयी है कि बूढ़े माता-पिता, दादा-दादी को घर में स्थान मिलना मुश्किल हो गया। पिछले कुछ वर्षो से श्हतंदक कनउचपदहश (बूढ़ों को उनके आत्मीयों द्वारा बेसहारा छोड़ देना) के अनेक केस सामने आये हैं। बदरपुर के वृद्ध आश्रम में रह रहे 30 बूढ़ों की दास्ताँ, जिन्हें लावारिस सड़क से उठाकर लाया गया, इस स्थिति का द्योतक है। 100 वर्षीय करमादेवी जे.एन.यू. कैम्पस में भटक रहीं थीं। रिपोर्ट है कि देश में इस समय लगभग 81 मि0 बूढ़े हैं जिनमें से 4: परिवार के साथ रहते हैं। इनमें से अधिकांश किसी न किसी रूप में उत्पीड़न का शिकार हैं। विडम्बना यह भी है कि 6 में से 1 केस प्रकाश में आता है क्योंकि माता-पिता बच्चों को कोर्ट में खींचना नहीं चाहते।

वैश्वीकरण से विवाह संस्था को सबसे बड़ा आघात पहुँचा है। स्त्री-पुरूषों के सम्बन्धों में खुलापन आया है। नयी नारी जन्म ले रही है। वह अपने संवैधानिक और कानूनी अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही है। मोम की गुड़िया की तरह वह भोग्या वस्तु ही नहीं, स्वतंत्र प्राणी भी है। परिणाम स्वरूप पारिवारिक झगड़ों में तेजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वृद्धि आयी है और तलाक बढ़ रहे हैं।

यौन सम्बन्धों के प्रति नजरिया बदल रहा है। विशेषज्ञों का मानना है कि कोक और नोकिया की तरह सामाजिक व यौन सम्बन्धी विचारों का भी आयात हुआ है। हम यौन क्रांति के दौर से गुजर रहे हैं। लिव-इन-रिलेशनशिप, विवाह पूर्व व विवाहेतर यौन सम्बन्ध इन्हीं मूल्यों की देन हैं। कॉल सेंटर्स का अध्ययन बताता है कि सर्वेक्षण में चिन्हित 38 प्रतिशत कर्मचारी विवाह पूर्व यौन सम्बन्धों को बुरा नहीं मानते तथा 25 प्रतिशत यौन सम्बन्ध कर चुके हैं। एडवोकेट मृणालिनी नायर के अनुसार 10 वर्ष पूर्व विवाहेतर सम्बन्धों का अनुपात (पुरुष) 70 तथा (स्त्री) 30 था। आज यह अनुपात 50:50 है। इस सबका परिणाम है खून-खराबा हत्यायें तथा आत्म हत्यायें। नेशनल क्राइम ब्यूरो के रिकार्ड के अनुसार 2006 में अधिकांश हत्यायें यौन सम्बन्धों और प्रेम प्रसंगों के कारण हुयीं।

भौतिकवाद ने जिस वैभव और ग्लैमर को 21वीं सदी की पीढ़ी के सामने रखा है, उसने महत्वाकांक्षा को असीम बना दिया है। सच है कि महत्वाकांक्षा प्रगति को प्रेरित करती है किन्तु अति विनाश की ओर ले जाता है। चारों ओर (शिक्षा, व्यवसाय, उद्योग, नौकरी, पेशा और ग्लैमर की दुनियाँ जो असंतोष परिलक्षित हो रहा है, वह इसी का परिणाम है। रियल्टी शो में असफल होने पर कच्ची उम्र शिंजनी की दास्ताँ और विद्यार्थियों द्वारा आत्महत्याओं का दौर इसी का अंजाम है।

वैश्वीकरण ने हमारे सामाजिक मूल्यों पर सीधा प्रहार किया है। देह व्यापार, नशाखोरी तथा समलैंगिकता भारतीय समाज में हेय माने जाते थे। ऐसा नहीं कि यह कार्य समाज से पूर्णतया अनुपस्थित थे किन्तु छुपकर होते थे, हो रहे हैं और गैर कानूनी भी हैं। किन्तु इन पर खुल कर चर्चा हो रही है। मांग है कि देह-व्यापार और समलैंगिक विवाह को कानूनी बनाया जाये। समलैंगिक विवाह की मान्यता लिये जोर-शोर से अभियान चल रहे हैं। माँग है कि किन्नरों को स्त्री अथवा पुरुष न कहकर ट्रांसजेंडर की संज्ञा दी जाये। मांग है कि शराब पीने की कानूनी आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष की जाये।

इन सबके अतिरिक्त आर्थिक व सामाजिक विषमता, रोजगार उन्मुख शिक्षा की कमी, बेरोज़गारी, इंटरनेट, हिंसक वी.डी.ओ. गेम, लक्ष्यविहीन टी.वी. सीरियल व चलचित्र और सस्ते साहित्य ने भटकाव की स्थिति पैदा कर दी है। देश सामाजिक संक्रांति से गुजर रहा है। जघन्य हत्यायें, बलात्कार तथा अगवा करना आदि घटनायें इसी का परिणाम हैं। सामाजिक परिदृश्य को उजागर करने में मीडिया का भी बहुत बड़ा योगदान है। जो कभी पर्दे के पीछे था आज उजागर है।

सामाजिक बदलाव के परिदृश्य के कुछ धनात्मक परिणाम भी हैं। महिओं में अपने अधिकारों के प्रति जागृति आ रही है। वे पहले से अधिक मुखर हैं। दूसरी पत्नी अथवा रखैल को कानूनी हक दिलाने की दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं। ट्रांस जेंडर्स... को भी समाज में सम्मान मिला है। मध्य प्रदेश में किन्नर कमला जान पहली मेयर तथा शबनम मौसी विधान सभा के लिये निर्वाचित हुयीं। ट्रांस जेंडर करपगा तमिल फिल्म पाल में हीरोइन का रोल कर रही है।

प्रश्न है कि समाज में व्याप्त भटकाव को सुधारने के लिये क्या प्रयास किये जायें? सर्वप्रथम परिवार, विद्यालय, कार्य स्थल-व्यापक रूप में हर सामाजिक स्तर पर अर्थपूर्ण संवाद अत्यंत आवश्यक है। ग्राम पंचायत, निवासी कल्याण संघ तथा गैर सरकारी संस्थायें इस दिशा में कारगर कार्य कर सकती हैं।

परामर्श द्वारा अनेक ग़लतफहमियों और कुंठाओं का समाधान हो जाता है। सरकार तथा गैर सरकारी संस्थाओं को मिलकर परिवार तथा अन्य सभी स्तरों पर परामर्श सुविधाओं के विकास के लिये प्रयासरत होना चाहिये। वर्तमान में अनेक स्कूलों, कार्य स्थलों में तथा पारिवारिक झगड़ों को सुलझाने के लिये परामर्श केन्द्र खोले गये हैं।

जन्म से लेकर मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना समाज तथा सरकार का उत्तरदायित्व है। असहायता अनेक बुराइयों को जन्म देती है। समाज कल्याण मंत्रालय, महिला और बाल कल्याण मंत्रालय, अनेक आयोग तथा गैर सरकारी संस्थायें इस ओर सक्रिय हैं। किन्तु यह प्रयास सागर में बूंद के समान हैं। देश के सभी समर्थ नागरिकों को एक जुट होकर इस दिशा में कार्य करना होगा।

यौन शिक्षा स्कूलों में दी जाये या नहीं वाद-विवाद का मुद्दा है। हम सभी जानते हैं कि आज बच्चे अनेक माध्यमों से गलत तरीके से दूसरे शब्दों में चोर दरवाजे से यौन शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यह अस्वस्थ स्थिति है। समय की मांग है कि वैज्ञानिक तरीके से विद्यालयों में यौन शिक्षा प्रदान की जाये।

इंटरनेट, टी.वी. चैनलों की बुराइयों पर अंकुश लगाने के लिये विश्व स्तर पर उपाय किये जा रहे हैं जिनकी सफलता संदिग्ध है। स्वस्थ मूल्यों का विकास ही सर्वोत्तम कारगर उपाय है। इस कार्य के लिये परिवार प्रथम व विद्यालय द्वितीय पाठशाला हैं।

102-एफ0 कृष्णा अपरा, रेजीडेंसी, सैक्टर-61, नोयडा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तराखंड आंदोलन की यह 'यमुना'

नवीन जोशी

"आग मदमस्त हाथी की तरह चल रही थी। यह विकराल क़िस्म की विभिन्न आकृतियाँ बना रही थी। गाँव के लोग एक तरफ़ आग बुझाते तो दूसरी तरफ से आगे निकल पड़ती। लोग पीछे हट जाते। जंगल में आग और लोगों के बीच महाभारत शुरू हो गया... सुबह हो गयी थी। आग पर काबू पा लिया गया था लेकिन लोगों के चेहरे थकान, भूख और अनिद्रा से पस्त हो गये थे।... यमुना को बेचैनी होने लगी। उसने बच्ची को पन्द्रह घंटे से दूध नहीं पिलाया था। तीन माह की बच्ची भूख से बिलबिला रही होगी। यमुना को लगा कि दूध स्तनों को चीरकर बाहर निकल आयेगा।"

तीन माह की बच्ची को घर में बूढ़े ससुर के पास छोड़कर रात भर गाँव वालों के साथ अपने जंगल में लगी आग बुझाने के लिए जूझती यह यमुना त्रेपन सिंह चौहान के उपन्यास 'यमुना' की नायिका है-उत्तराखंड की आम ग्रामीण महिला। उसे पहाड़ी जीवन के लिए जंगल के मायने पता हैं। जंगल की आग गाँव के कौरू को निगल गयी। लोग उसका जला शव कंधे पर लादे गाँव लौटे हैं। पूरा गाँव बेहद उदास है पर अपना जंगल बचाने के लिए वे ऐसी बलियाँ देते आये हैं। उपन्यास का यह अत्यंत मार्मिक प्रसंग बताता है कि उपन्यासकार को उत्तराखंड के ग्रामीण समाज की गहरी समझ है।

यमुना का पति गबरू पंजाब में ड्राइवर है। घर में बूढ़े सास-ससुर और दो छोटे बच्चों के साथ थोड़ी बहुत खेती और जानवरों की ज़िम्मेदारी यमुना के कंधों पर है। सुबह मुँह अँधेरे से देर रात तक घर, जंगल और खेतों में खटना। ऊपर से परदेसी पति की चिंता। यमुना के प्राण वहीं अटके रहते। अक्सर सोचती कि उसके पति को यहीं पहाड़ में ही नौकरी क्यों नहीं मिलती।

श्रीनगर (गढ़वाल) में पढ़ने वाली अपनी भांजी रंजना की मार्फ़त यमुना का परिचय कुछ युवक-युवतियों से होता है जो किसी एनजीओ से जुड़े हैं और गाँवों में काम करना चाहते हैं। वे रंजना को संस्था की ग्रामीण इकाई का अध्यक्ष बनाते हैं। तभी देश में ओबीसी आरक्षण लागू होने के साथ ही उत्तराखंड में आरक्षण विरोधी आंदोलन में तब्दील होकर पूरे पहाड़ में फैल जाता है। रंजना के मित्रों की मार्फ़त यमुना को इस आंदोलन की लहरें तरंगित करती हैं। वह युवाओं से सुनती है-हम लड़ेंगे तो सरकार को हमारी जायज माँगें माननी पड़ेंगी। हमारा अपना उत्तराखंड राज्य होगा, हमारी सरकार होगी, हमारे लोगों को यहीं रोजगार मिलेगा।... वह संकल्प लेती है कि चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, वह उत्तराखंड राज के लिए लड़ेगी। वह दिन कितना सुंदर होगा जब उसके पति को नौकरी के लिए पंजाब नहीं जाना होगा।...

उपन्यास में एक धारा पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन के विकसित होने की है और एक धारा उत्तराखंडी समाज के जीवनानुभवों की। स्त्रियों की पहाड़-जैसे कष्टों का पहाड़ तो यमुना में है ही, उत्तराखंड के दलितों के जीवन की मार्मिक झाँकी और उससे बाहर निकलने की तड़प भी उसमें मिलती है। बढ़ती शराबखोरी से नर्क होते जीवन की दास्तां भी वहाँ है और और ग्रामीण समाज के अंधविश्वास, कुरीतियाँ, क्षुद्र राजनीति, पुरुष प्रधान समाज के अत्याचार, नई पीढ़ी की ऊर्जा और उच्छृंखलता, आदि-आदि की झलक भी उपन्यास प्रभावी ढंग से दिखाता है।

उपन्यास में एक पात्र किडू है। गाँव का ढोली। दलित। दीन-हीन। ढोली के रूप में गाँव के लिए उसकी उपयोगिता है लेकिन अछूत के रूप में उपेक्षित और दुत्कारा जाता हुआ। यमुना से उसके सहानुभूति के रिश्ते हैं। वह ख़ास मौक़ों पर गाँव के लिए ढोल बजाता है और गाँव वालों के लिए कपड़े सिलता है। किडू के कई बच्चे हैं। घर-घर से मिले थोड़े अनाज से चूल्हा जलता है। उसके बजाए ढोल से सवर्णों के देवता अवतरित होते हैं लेकिन वह सबसे उपेक्षित और वंचित हैं।

यह सराहनीय बात है कि उपन्यासकार दलितों के सामाजिक-राजनीतिक सशक्तीकरण के प्रति जागरुक है। किडू को अपने अनुभव से लगता है कि यह जो पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन है, यह कहीं न कहीं उनका आंदोलन है जो उसे अपमानित करते हैं। एक रात उसे शिवशाल और चुन्नीदास जैसे हमबिरादर मिलते हैं तो बहस होती है। किडू सशंक पूछता है-'अच्छा, आप लोग यह बताओ कि जब इनका अलग राज होगा तो हम लोग उस राज में कहाँ होंगे?'

-'यहीं होंगे।' शिवलाल बोला-'मारा जैसा चल रहा है वैसे ही चलता रहेगा।

समाज में दलित और स्त्री की समान स्थिति को लेकर भी उपन्यासकार सचेत हैं। जब चुन्नीदास किडू से कहता है कि-'हम समाज में कमजोर लोग हैं तभी हम प्रताड़ित होते रहते हैं। गुस्सा हमेशा कमजोरों पर उतरता है तो किडू पास में ही रोटी पका रही अपनी पत्नी सुरी की ओर देखता है-'जो अब भी फत-फत कर रोटी पका रही थी। किडू को लगा कि सुरी काफी कमजोर हो गयी है। क्यों ? कितना मारा है मैंने सुरी को। वह कमजोर है इसलिए मुझसे पिटती रही। सवर्णों ने मुझे अपमानित किया और मैंने इसको। अपमान का दंश कितना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरा होता है, जितना मैं जानता हूँ उससे भी ज़्यादा सुरी जानती है...।'

यह महत्त्वपूर्ण बात है। उपन्यासकार संकेत करता है कि स्त्रियों की स्थिति दलितों से भी गयी बीती है-क्या सवर्ण स्त्री और क्या दलित स्त्री। देखिए कि उपन्यास के अति सरल, दीन-हीन चरित्र किड़ू में सामाजिक-राजनीतिक चेतना के अंकुर किस तरह फूट रहे हैं। वह सवर्णों के अत्याचारों अपमानों से तो भली-भाँति परिचित है बल्कि उन्हें सहता आया है, स्वयं दलितों के बीच उभरते सामंतवाद को भी वह पहचानने लगा है-'मैं इतना जानता हूँ कि हमारी जात वालों को कुछ हो गया है। जो भी पढ़-लिखकर आगे बढ़ता है, वह अपने आप को बामण समझने लगता है। हमसे वह भी ऐसे बर्ताव करने लगता है जैसे बड़ी जात के लोग करते हैं। है न...।'

उपन्यास का समय 1994 का है जब आरक्षण विरोध से शुरू होकर पृथक उत्तराखंड के लिए जबर्दस्त आंदोलन छिड़ा था। उसी वर्ष दो अक्टूबर को रैली के लिए दिल्ली जाते उत्तराखंड आंदोलनकारियों का मुजफ़्फरनगर में बसें रोककर बर्बर दमन हुआ था। पुलिस-पीएसी और गुण्डों ने निरीह ग्रामीण महिलाओं को बसों से उतारकर उनके साथ बलात्कार किया और कई आंदोलनकारियों को गोली मार दी। उत्तराखंड राज्य आंदोलन के इतिहास का यह सबसे बर्बर और काला अध्याय है। 'यमुना' के कथानक का चरमोत्कर्ष यही प्रसंग है। यह अंतिम अध्याय पढ़ते हुए यह बर्बरता पाठक के रोंगटे खड़े कर उसे आक्रोश से भर देती है। यमुना भी अपने गाँव वालों के साथ रैली के लिए दिल्ली जा रही थी। वो रैली के बाद समय निकालकर दिल्ली से बच्चों के लिए कुछ खरीदने के सपने बुन रही थी लेकिन मुजफ़्फरनगर में रात के अँधेरे में बसें रुक गयीं। 'क्या हुआ, क्या हुआ' पूछते आंदोलकारियों पर लाठियाँ-गोलियाँ बरसने लगीं। अपनी सुरक्षा के लिए भागती यमुना को दरिन्दों ने पकड़ लिया और गन्ने के खेत में घसीट लिया। प्राणपण से जूझती यमुना की गुहार किसी ने नहीं सुनी।

पृथक उत्तराखंड की बजाय अब अपने संपूर्ण अस्तित्व के लिए यमुना का संघर्ष शुरू हो गया। हमारे पुरुष प्रधान समाज में एक स्त्री का सबसे बड़ा, कठिन संघर्ष। पत्नी तो पुरुष की सम्पत्ति है और इस संपत्ति को तो दरिन्दों ने 'लूट' लिया। क्या हम सब गवाह नहीं कि मुजफ़्फरनगर में दरिन्दों की शिकार उत्तराखंडी महिलाओं को अपने ही घर-परिवार में क्या-क्या नहीं सहना पड़ा। यमुना ने आंदोलन के दौरान् सिर्फ़ लड़ना नहीं सीखा, कुछ समझ भी विकसित की है। प्रारंभिक सदमे से उबरकर वह रंजना और उसके युवा साथियों से कहती है-'... मैं एक दम मजबूत पहाड़ी जनानी हूँ। मुजफ़्फरनगर में जो कुछ हुआ, उसे मैं अपने गालों में लगे झापड़ से ज़्यादा नहीं मानती हूँ। हम औरतों के इसी प्रकार के उत्पीड़न से पुरुष सत्ता सदा जीतती है। हम हारते जाते हैं। इस अपमान के ख़िलाफ़ मैं लड़ूँगी। तुम नौजवानों के साथ रहकर लड़ूँगी।'

यहाँ यमुना का चरित्र अद्भुत ऊँचाई पाता है और रचनाकार उपन्यास को बड़े अर्थ देता है। कथानक यहीं पर अपनी रचनात्मक श्रेष्ठता पाता और महत्त्वपूर्ण संदेश छोड़ता है।

लेकिन यमुना के चरित्र और कथानक को यह सार्थक ऊँचाई देने के बाद उपन्यासकार अचानक लड़खड़ा भी जाता है। मुजफ़्फरनगर हादसे के बाद यमुना का पति गबरू पंजाब से लौटता है और आते ही यमुना से कहता है-'मैं जानता हूँ यमुना कि तुम निर्दोष हो। तुमने कोई गलती नहीं की। तुमने इस लड़ाई में बहुत बड़ा काम किया यमुना। मेरे लिए उत्तराखंड के लिए। तुम्हारे हर घाव को मैं वीर योद्धा के जख़्म की तरह मानता हूँ। ये जख़्म भी मुझे प्यारे हैं यमुना।'

गबरू जैसे ठेठ परंपरागत पुरुष का यह क्रांतिकारी बदलाव असहज है और खटकता है। यमुना के चरित्र को एक आदर्श ऊँचाई देकर उपन्यासकार उसके पति को भी जाने क्यों देवता-सा बना देता है और बिना किसी ठोस तार्किक आधार के। एक बड़े मकसद के लिए आंदोलनरत महिलाओं के साथ, आंदोलन को पूरी तरह कुचलने के लिए साजिशन किये गये बलात्कार के मामलों में भी हमारा दंभी पुरुष-समाज कैसा बर्ताव करता है, उस पर चोट करने का महत्त्वपूर्ण अवसर उपन्यासकार यहाँ खो देता है।

लेकिन संपूर्णता में उपन्यास रोचक बना है। पहाड़ी जीवन के विविध पक्ष 'यमुना' में खिलते हैं। विवरण पठनीय हैं और कहीं भी उनमें बोझिलता नहीं है। सवर्ण यमुना और दलित किड़ू का अन्यथा आत्मीय रिश्ता भी उपन्यास में बहुत सुंदर बनकर उभरा है। मुजफ़्फरनगर कांड के बाद स्तब्ध और तन-मन से टूटी यमुना अपने घर में पड़ी है। खबर पाकर भीतर तक आहत किड़ू अपने आँगन में रात भर मशंक बाजा बजाता रहा है। मशक बाजे का करुण संगीत पूरे गाँव को दर्द से भर देता है। उस अनकहे अपमान और दर्द का यह अद्भुत साझा है।

बिल्कुल ताजा इतिहास पर एक अच्छा उपन्यास लिखने के लिए त्रेपन सिंह चौहान को बधाई दी जानी चाहिए और प्रकाशक 'साहित्य उपक्रम' को इसलिए कि 320 पेज का यह उपन्यास अच्छी छपाई में भी सिर्फ़ एक सौ रुपये में उपलब्ध कराया।

3/48, पत्रकारपुरम, गोमती नगर, लखनऊ

यमुना, त्रेपन सिंह चौहान, साहित्य उपक्रम, मूल्य : 100 रुपये मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी उपन्यासों पर भरोसेमंद समीक्षा-कार्य

प्रेम शशांक

उपन्यास के स्वरूप पर जब-जब सोचना शुरू करता हूँ/ मुझे बचपन के दिनों में की गई ये यात्रायें याद आती हैं। उपन्यास की कथा ऐसी ही एक भीड़ भरी गरुवाई, रेल-यात्रा लगती है मुझे। कुछ शुरू से बैठे हुए, कुछ चढ़ते उतरते, जान-पहचान बनाते, विचारों का आदान-प्रदान करते इतने आत्मीय होते चलते हैं कि बस और बतकही पात्रों और घटनाओं का ऐसा अटूट सिलसिला जो तब तक जारी रहता है जब तक कहानी अपने आखिरी मुकाम तक नहीं पहुँच जाती। उपन्यास भी तो एक ऐसी ही कथा-यात्रा है जीवन के अनगिन मोड़ों, उतार चढ़ावों और दिशाओं की ओर भागती रेल की तरह। यह आखिरी मुकाम है? कल्पनाओं की ताकत से रची परिपूर्णता या फिर किन्हीं उद्देश्यों का जाहिर हो उठना ? कहानी क्या सचमुच कभी ख़त्म होती है ? अगर ख़त्म होती तो शुरू कैसे हो जाती है ? लगता है कहानी तो लेखक के मंसूबों को ढोने के लिए ही प्रयुक्त की गई है। असल बात तो वे मंसूबे ही हैं जिन्होंने लेखक को लिखने की प्रेरणा ही नहीं प्रवृत्ति और ऊर्जा भी दी है। इसलिए कहानी का वैभव और उसकी गरिमा इन्हीं मंसूबों का वैभव और जीवन की गरिमा का सौंदर्य है।

विजय बहादुर सिंह (उपन्यास : समय और संवेदना) 'विवेक के रंग' (सं0 देवी शंकर अवस्थी) में उपन्यासों पर जो पुस्तक समीक्षाएँ शामिल हैं, वैसा रंग न तो किसी संपादन में दिखाई दिया और न ही किसी आलोचक की स्वतंत्र पुस्तक में नज़र आया। इसका एक कारण उपन्यासों पर प्रकाशित समीक्षाओं का पत्रिकाओं में खो जाना भी कहा जा सकता है। फिर पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा स्तंभ को जिस हलके-फुलके ढंग से लिया जाता है उससे भी इस विधा की विश्वसनीयता घटी है। पुस्तक किसी को भी समीक्षा के लिए दे दी जाती है। उपन्यास सभी पढ़ना चाहते हैं चाहे कविता के आलोचक की क्यों न हों। उपन्यास-समीक्षा के लिए यह कोई वैरियर नहीं है लेकिन यह भी सच है कि इन प्रयोगों में बहुत घटिया उदाहरण मिलते हैं। इधर वरिष्ठ आलोचक विजय बहादुर सिंह की उपन्यास-आधारित समीक्ष्य पुस्तक 'उपन्यास : समय और संवेदना' जहाँ उपन्यास-समीक्षा की विश्वसनीयता बहाल करती है वहीं पुस्तक-रूप में आने से एक अवरोध भी हटता नज़र आता है। यह निसंदेह विगत दो दशकों में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण उपन्यासों पर प्रकाशित समीक्षाओं का संग्रह है जिसे लेकर लेखक के मन में कोई द्वंद्व या दुविधा नहीं है। समीक्ष्य पुस्तक ने जगलरी तैयारी से बचते हुए समीक्षाओं को मूल रूप में देकर इस विधा की विश्वसनीयता को भी बहाल किया गया है क्योंकि लेखक ने हर उपन्यास को एक ज़रूरी स्पेस मुहय्या कराया है। प्रश्न यह है कि यदि समीक्षाओं में दम है तो फिर क्या डर ? उनकी समीक्षाओं के संदर्भ में उनके इस कथन को उद्धृत करना बेहद प्रासंगिक लगता है कि 'एक स्वप्नहीन लेखक शायद ही कभी अपने द्वारा खोजे गए यथार्थ के प्रति न्याय कर पाए। यह वही कर सकेगा जिसे जीवन की बारीक गतियों और नाटकीय करवटों का पता हो, जिसकी आँखों सपनों से भरी हुई हों।' यह कथन जितना कथाकारों के लिए सच है, आलोचकों के लिए उससे रत्ती भी कम नहीं है। क्योंकि इसका सच किसी विधा अथवा उसके प्रतिनिधि तक सीमित नहीं है बल्कि वह सीधा रचनात्मकता से जुड़ा है और रचनात्मकता हरेक के संदर्भ में ज़रूरी है।

उपन्यास की सृजनात्मकता के संदर्भ में उनका नज़रिया बेहद साफ़ है और उनके आलोचनात्मक सरोकार इस विधा से गहरे जुड़े हैं। यदि आलोचक की बात फिलहाल छोड़ दी जाये तो पाठ और पाठक के बीच एक अनिवार्य संबंध की डोर उसकी अपेक्षा की कसौटी से सामान्यतः जुड़ी होती है। फिर पाठालोचन की संभावनाएँ अनंत और निकष के सरोकार होने ही चाहिए। उपन्यास को लेकर उनकी अपेक्षाएँ उनके इस कथन से स्पष्ट होती हैं। उपन्यास हमारे समय के सबसे भरोसेमंद लेखन के रूप में हमारे हाथ आता है। वह कल्पना से कल्पना पैदा नहीं करता वरन् कल्पनाओं की मदद से हमें जीवन की सच्चाइयों के और पास ले जाता है। अपनी भाषा, मुहावरों, घटनाओं और पात्रों के सहयोग से वह जिस मानसिक दृष्टि की रचना करता है, वह हमारे समय से हमारा साक्षात्कार कराती है, हमारे संवेदनों में हलचल पैदा करती है और क्रिया-प्रतिक्रिया भाव जगाकर हमें भाव और विचार के स्तर पर सक्रिय कर देती है। शिल्प के स्तर पर ही नहीं, विचार के स्तर पर भी वह हिन्दी उपन्यास के वर्तमान परिदृश्य से संतुष्ट और संभावनाओं से भरे नज़र आते हैं, निस्संदेह इस बीच हिन्दी उपन्यास की सामाजिक चेतना प्रखर हुई है और उसका राष्ट्रीय बोध तीव्र और संपन्न हुआ है। आज़ादी, लोक जागरण, समतावादी समाज की नव रचना, जनोन्मुख गणतंत्र के आग्रहों के साथ-साथ स्त्रियों, दलित और पिछड़ों के साथ अल्पसंख्यक समाजों और वनवासियों, हरिजन-गिरीजनों की कहानी भी वह कह रहा है। हिन्दी उपान्यास धीरे-धीरे ही सही अपनी ज़मीन पर लौट रहा है और उसमें एक ख़ास तरह की क्रांतिकारी चेतना लक्ष्य की जा सकती है। समीक्ष्य पुस्तक में जिन उपन्यासों को निकष पर खरा पाया गया है उनके संदर्भ में उनके विचार से सहमत हुआ जा सकता है क्योंकि ज़मीनी हकीक़त एकदम सामने है लेकिन भविष्य के उपन्यासों के बारे में कैसे कहा और सहमत हुआ जा सकता है ? यहाँ आलोचक और भविष्य वक्ता के फ़र्क को समझना होगा जब वह कहते हैं, 'मेरा ऐसा मानना है कि परिवर्तनकारी सार्थक लेखन या तो स्त्रियाँ कर सकेंगी या फिर दलित और पिछड़े हुए। इन्हीं के पास वे अनुभव हैं जिनमें आग भी है और उत्पीड़न में भरा कसैला धुँआ भी। ये ही हैं जिन्होंने व्यवस्थावादियों के अत्याचारों को सहा है और ये ही हैं जो इनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाणिक साक्ष्य पेश कर समाज में साहित्य की गिरती हुई साख को बचा सकते हैं। अगर यातना में ही दृष्टि होती है तो यातना भी इनके ही यहाँ है।' स्त्री और दलित विमर्श की धुरी 'अनुभव की प्रामाणिकता' के संदर्भ में ही तय की गई है। इन विमर्श के संदर्भ में जब हम इस ज़रूरत को महत्व देते हैं तो एक तरह से महत्वपूर्ण पूर्व लेखन को नकार रहे होते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास की पूर्व घटनाओं से हम समझ सकते हैं कि जब भी किसी कालखंड के रचनाकर्म को पूर्व लेखन से अलगाने का प्रयास किया गया है, हकीक़त बहुत जल्द सामने आ गई है। उसका कुछ समय के शोर शराबे से ज़्यादा महत्व नहीं रहा है। जो लेखक ज़मीनी सच्चाई से जुड़े रहे हैं वे ही अंततः खुद को सिद्ध कर सके है वरना शोर-शराबे में गुम होने में देर नहीं लगती। 'अनुभव की प्रामाणिकता' का प्रश्न स्त्री और दलित के संदर्भ में पूर्व अनुभवों से ज़रा भी भिन्न नहीं है। यातना, अन्याय और वंचितों के हक की बात जब भी उठेगी निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन, मुक्तिबोध ज़रूर ही याद आयेंगे। समाज को बाँटकर देखने की कला राजनीति में सफल हो सकती है। दलित और पिछड़ों के प्रतिनिधि राजनीतिक दल इससे लाभान्वित होते देखे जा सकते हैं। ऐसे ही प्रयोग के लिए साहित्य में भी कुछ लोग सतत् सक्रिय हैं। इनमें कुछ पहचान बनाने में कामयाब भी हुए हैं। लेकिन साहित्य का हित अथवा लक्ष्य समाज की समरसता में ही निहित है। स्त्री और दलित विमर्श के संदर्भ में सर्जनात्मक विधाओं में जो भी आ रहा है पूर्व लेखन को अनिक्रमित करने में पूर्णतया विफल कहा जा सकता है क्योंकि ये किन्हीं आग्रहों से प्रेरित और संचालित जड़ों से कटा हुआ है। मात्र झंडों और बैनरों से भविष्य की कल्पना एकदम बेमानी लगती है।

समीक्ष्य पुस्तक में संग्रहित उपन्यास-समीक्षाएँ पहली ही नज़र में समीक्षा के चालू मुहावरे के बरक्स गंभीर प्रयास के रूप में नज़र आती है। विगत डेढ़-दो दशक में प्रकाशित महत्वपूर्ण उपन्यास चर्चा के केन्द्र में हैं जैसे 'उस चिड़िया का नाम' (पंकज बिष्ट), 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा), 'सूरज सबका है' (विद्यासागर नौटियाल), 'बेदखल' (कमलाकांत त्रिपाठी), 'कलिकथा वाया बाइपास' (अलका सरावगी) 'इदन्नमम' (मैत्रेयी पुष्पा), 'आवाँ' (चित्रा मुद्गल), 'बिश्रामपुर का संत' (श्री लाल शुक्ल), 'दास्तान ए लापता' (मंजूर एहतेशाम), 'बारामासी' (ज्ञान चतुर्वेदी), 'अपने-अपने राम' (भगवान सिंह), 'सात आसमान' (असग़र वजाहत), 'काल-कथा' (कामता नाथ), 'परमगति' (भगवान सिंह), 'पहला गिरमिटिया' (गिरिराज किशोर), 'कितने पाकिस्तान' (कमलेश्वर), 'काला पहाड़' (भगवान दास मोरवाल), 'आखरी कलाम' (दूधनाथ सिंह) 'सूत्रधार' (संजीव), 'कोई वीरानी सी वीरानी है' (विजय मोहन सिंह), 'नदी को याद नहीं' (सत्येन कुमार)। ये इक्कीस उपन्यास विस्तृत फलक में विमर्श के निकष से गुजरते हैं। जिस तरह से हर उपन्यास को उसके पाठ की गहनता और चुनौती के संदर्भ में ग्रहण किया है, वह समीक्षा विधा में ही संभव था, इस तरह से ये समीक्षाएँ इस विधा को दोयम दर्ज़े के उच्चारित पद-विन्यास के समक्ष एक कठिन चुनौती पेश करती भी नज़र आती हैं। समीक्षा चाहे सकारात्मक हो अथवा नकरात्मक लेखक की गंभीरता के प्रति रचनाकारों में एक विश्वास (फ्लेप की टिप्पिणियों के संदर्भ में) बहाली की प्रक्रिया को निश्चय ही विधागत संभावनाओं से जोड़कर देखा जा सकता है।' 'उस चिड़िया का नाम' के संदर्भ में वह कहते हैं, 'मानव-अनुभवों की जिस पूँजी को लेकर इस लेखक ने कथानक का ताना-बाना बुना है, वे अत्यंत पारंपारिक और लोकवृत्त परक हैं।' इस उपन्यास में पंकज बिष्ट ने बौद्धिक और सामान्यजन चरित्रों के बीच सामंजस्य बिठाते हुए जिस कौशल से किस्सागोई को जीवंत बनाया है वह अभूतपूर्व है।

'सूरज सबका है' के संदर्भ में डूबकर आत्मालाप की मुद्रा में जैसे खुद से ही संवादरत हो-'क्या यह उपन्यास है भी या नहीं? आखिर औपन्यासिकता होती क्या चीज़ है? क्या वह कथात्मक गल्प है, रस से सराबोर।' वह आगे कहते हैं कि 'कुल एक सौ चालीस पृष्ठों का यह कथात्मक लोकगाथाओं, इतिहास और कल्पना के त्रिस्तरीय ठाटों से निर्मित है जिसमें इतिहास और कल्पना के सहयोग से गाथाओं के वर्चस्व को प्रतिष्ठित किया गया है।' कहने का तात्पर्य है कि लेखक को रचनात्मकता ने जब जहाँ छुआ है, उसे खुले दिल से स्वीकारने में कोई कंजूसी नहीं की है। स्त्री-उपन्यासकारों में चर्चित चार नामों क्रमशः चित्रामुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान और अलका सरावगी में प्रभा खेतान (पीली आंधी) को छोड़कर तीन लेखिकाओं के उपन्यासों पर समीक्षाएँ है। चूँकि यह समीक्षाओं का संग्रह है इसलिए यह स्वाभाविक है लेकिन समीक्ष्य-संकलित उपन्यासों के साथ 'पीली आँधी' का स्मरण रचनात्मकता के संदर्भ में खुद ही आ गया। 'कलिकथा बाया बाइपास' की लेखिका इस उपन्यास से रातों रात हिन्दी जगत् में छा गई। यह उनका पहला उपन्यास था। सबसे ज़्यादा शिल्प के लिए इसे सराहा गया, उसके बाद इसमें कथा-कहानी, स्मृतियाँ, इतिहास, कल्पना, जादुई यथार्थवाद खोजा गया और लगभग हर चर्चा और समीक्षा में यह अपने-अपने ढंग से बताया और लिखा गया कि क्या-क्या है जो इसमें कहा गया है। इसके संदर्भ में लेखक का कहना है कि 'वे जितनी बड़ी लेखिका के रूप में उभरने की कोशिशों में हैं, उसका रहस्य इन्हीं स्मृतियों, इतिहास और उसकी नैतिक तार्किकता में है। 'इदन्नमम' मैत्रेयी पुष्पा की वह कथा रचना है जिससे व्यापक हिन्दी समाज का ध्यान खिंचा। भाषा के संदर्भ में लेखक लेखिका को आंचलिकता से जोड़ते हुए रेणु की रचनाओं का स्मरण करते हैं लेकिन वह उन्हें प्रेमचंद के बाद की धारा यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, अमृत लाल नागर की परंपरा में देखते हैं। भाषा के संदर्भ में 'आवाँ' की लेखिका चित्रा मुद्गल के बारे में वह कहते हैं कि 'वह' भले ही दिल्ली में हों पर न तो उन्हें बैसवाड़ा भूला है न मुंबई। इन दोनों ही अंचलों की बोली-बानी उनके लेखन की पूँजी है जिसका लाभ इस उपन्यास को सत्य ही मिल सका है। इस भाषा में जितनी कठोर निर्ममता है उतना ही सहेलीपन भी।' सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' की चर्चा निःसंदेह उपन्यास से आगे रही। उपन्यास के मुख्य चरित्र वर्षा वशिष्ठ और उसके संघर्ष के संदर्भ में लेखक की दृष्टि तर्कपूर्ण और प्रशंसनीय है। वह कथारस में डूबकर सराबोर तो है लेकिन लिथड़ी हुई नहीं हैं। हिन्दी के साहित्यिक रसिकों सुविज्ञ आलोचकों और कलाविदों के लिए यह रूप बहुत अभिनव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आकर्षक है।

श्री लाल शुक्ल के उपन्यास 'बिश्रामपुर का संत' पर लिखते हुए लेखक 'राग दरबारी' के रचनात्मक आलोक से बाहर निकलते हुए जिस साहस से कह जाता है कि '...इस संदर्भ में जब उनके दूसरे उपन्यासों पर हमारी निगाह जाती है तो ऐसा लगता है कि वे लगभग निःशेष हो चुके हैं और आगे की कोई और बड़ी उम्मीद उनसे करना बेकार है। हक्के-टुक्के जासूसी कथानकों को लिखने के बाद इधर उनका जो नया उपन्यास 'बिश्रामपुर का संत' आया है, यह वह तो साबित करता है कि अब उनके पास जो है, वह बचा खुचा सा है और एक थके हुए लेखक का उदाहरण प्रस्तुत करता है।' यह रचनात्मक ईमानदारी के बर-अक्स आलोचनात्मक ईमानदारी और सजग जीवन-विवेक का खरा उदाहरण है जिससे विधागत संभावनाओं के नये द्वार खुलते हैं। दक्षिण अफ्रीका में बिताये दिनों को आधार बनाकर गिरिराज किशोर 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास जिस मनोयोग से लिखते हैं कि इतिहास और जीवनी में फँसा होने के बावजूद प्रभावित करता है और लेखकीय श्रम को सलाम करने का मन करता है क्योंकि पूरा कालखंड कुछ ऐसे जीवंत हो उठता है कि पाठक खुद को उसका हिस्सा मानने लगता है।

किसी भी आलोचक के समक्ष रचना ही निकष पर होनी चाहिए और यही ईमानदारी आलोचनात्मक रचनात्मकता को जीवन देती है। समीक्ष्य पुस्तक के लेखक ने जिस ईमानदारी से इस कर्म को निभाया है उससे न केवल रचनाकारों में भरोसा जगा है बल्कि सीधा विधा को भी भरोसा दिया है।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लिमि0, सेमी खेड़ा, बरेली (उ0प्र0)

समय और संवेदना, विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 295 रुपये

■

बाज़ारवाद के विरुद्ध सार्थक हस्तक्षेप–'परिवार'

गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

प्रख्यात उपन्यासकार रामदरश मिश्र का बारहवाँ उपन्यास 'परिवार' कथ्य, शिल्प और अभिव्यक्ति के स्तर पर उनके अन्य उपन्यासों से अलग और विशिष्ट है। भारतीय पारिवारिक जीवन के यथार्थ, उतार-चढ़ावों, अंतर्विरोधों, संघर्ष और जीवन-स्पंदनों से साक्षात्कार हमें जिस कलात्मक सहजता के साथ यह उपन्यास कराता है, वह उल्लेखनीय है।

'परिवार' की कथा मुख्य रूप से सत्या और उसके परिवार के इर्द-गिर्द घूमती है। इस कथा के नैरेटर हैं–पंकज, जो सत्या के पति होने के नाते इस परिवार से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। सत्या के परिवार का दायरा आज के एकल परिवारों की तरह सीमित नहीं, बल्कि विस्तृत है, जिसमें आते हैं–उसके पिता काशीनाथ, दादा कुलदीप, माँ, छोटा भाई शंकर, भाभी, ननद, फूफा और अन्य नाते-रिश्तेदार। इस परिवार की धुरी हैं–काशीनाथ। रेलवे के लेखा-विभाग में कार्यरत काशीनाथ का जीवन अनगिनत द्वंद्वों, संघर्षों और दुखों की अग्नि-परीक्षाओं से होकर गुज़रता है।

काशीनाथ का यह संघर्षशील व्यक्तित्त्व एक मामूली आदमी की मामूलियत को गरिमा प्रदान करता है।

इस उपन्यास का अविस्मरणीय पात्र है–सत्या, जो स्वभाव से संकोची और लज्जाशील है, जिसमें भावुकता के साथ-साथ विवेक-चेतना और अस्तित्त्व-बोध का सामंजस्य भी है। अपनी विवेक-चेतना के कारण ही उसे कटु सत्य बोलने में कोई संकोच नहीं होता, बल्कि सही बात के लिए वह किसी से भी टकरा सकती है। यहाँ तक कि ईश्वर की न्यायप्रियता पर भी प्रश्नचिह्न लगाने में उसे कोई हिचक नहीं होती। वह कहती है–"दुखियों को और दुखी करते रहना ही उसका (ईश्वर का) ईश्वरत्व है, तो लानत है ऐसे ईश्वर पर।" (पृ.84) कहना न होगा कि सत्या का यह विवेक-सम्मत आक्रामक तेवर उसे एक विशिष्ट पहचान देता है।

इस उपन्यास का तीसरे महत्त्वपूर्ण पात्र हैं–कुलदीप, जो अपनी मानवीय कमज़ोरियों और अच्छाइयों के कारण हमें सर्वाधिक विश्वसनीय लगता है। कुलदीप कंजूस स्वभाव के हैं, कंजूस इतने कि अपनी नातिन (सत्या) की शादी में इसलिए सम्मिलित नहीं हुए, क्योंकि वहाँ कुछ खर्च-वर्च करना पड़ेगा। इसलिए, बीमारी का बहाना बनाकर घर पर ही पड़े रहते हैं। गाँव के ही प्राइमरी स्कूल में अध्यापन करने के कारण वे वेतनभोगी भी हैं, लेकिन अपने बड़े लड़के (काशीनाथ) से पैसा लेने के लिए वे हर महीने की पहली तारीख़ को पहुँच जाते हैं। लेकिन, कंजूस और स्वार्थी कुलदीप के चरित्र का एक मानवीय पक्ष भी है। वे गाँव के जरूरतमंद किसानों-वंचितों की मदद करते हैं, उनके आपसी झगड़े निपटाते हैं, उनकी चिकित्सकीय सहायता करते हैं। अपने इन्हीं मानवीय गुणों के कारण गाँव वालों के बीच वे देवतातुल्य सम्मान से देखे जाते हैं। कहना न होगा कि मानवीय अच्छाइयों-बुराइयों से युक्त कुलदीप जैसा हाड़-मांस का सजीव पात्र हमें हर जगह मिल सकता है।

शंकर का बौड़म चरित्र, उसकी सत्य-निष्ठा, उसका सरल-सहज प्यारा व्यक्तित्त्व भी हमारे ऊपर एक गहरी छाप छोड़ता है। कथावाचक पंकज समेत अन्य चरित्र भी उपन्यास में उभरते हैं, जैसे पंकज के मित्र बसंत पांडेय, स्वतंत्रता-संग्राम के नेता शिवानंद पांडेय, डाक्टर उमापति, काशीनाथ के भाई रामनाथ, पहलवानी के लिए चर्चित रामबहादुर आदि।

परंतु, उपन्यास का केंद्रीय विषय परिवार है। भारतीय पारिवारिक जीवन की तमाम ख़ामियाँ हैं, सीमाएँ हैं, बुराइयाँ हैं, दुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, दिक़्क़तें हैं, निराशा है, लेकिन यह भी सच है कि यही भारतीय परिवार आशा, प्रेम, संघर्ष, त्याग, बंधुत्व, सच्चाई और इन्सानियत का प्रेरणा-स्रोत भी है। समाज और राष्ट्र के निर्माण की प्राथमिक पाठशाला परिवार, जहाँ काशीनाथ, सत्या, कुलदीप जैसे हाड़-मांस के जीवंत पात्र निर्मित होते हैं। एक परिवार चलता है तो समाज और राष्ट्र विकास करता है—यही उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि है, जो उपन्यास के नैरेटर पंकज के इस कथन में ध्वनित भी होती है—" दुनिया यह कहेगी, दुनिया वह कहेगी—सोचते रहो, तो कोई क्रांतिकारी काम होगा ही नहीं। सबसे बड़ा जीवन है—अपना भी और औरों का भी। उसी की अस्तित्व-रक्षा और विकास के संदर्भ में जो रास्ता सही लगे, उस पर चलना चाहिए। रूढ़िवादी तो भूँकते रहेंगे, भूँककर कुछ देर बाद चुप हो जाएँगे और बाद में वे भी महसूस करेंगे कि एक नयी राह बन गयी है।" (प्र0 15) इस 'नयी राह' का संदेश उस बाज़ारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति के विरुद्ध एक सार्थक हस्तक्षेप है, जो हमारी सामूहिक और सामाजिक चेतना को मिटाकर हमें जड़, संवदेनशून्य और अमानवीय बनाने पर तुली है। कहना न होगा कि उपन्यास की पूरी कथावस्तु इसी 'नयी राह' की जीवन-दृष्टि से संचालित होती है। यही जीवन-दृष्टि इस उपन्यास को एक ऐतिहासिक महत्त्व भी प्रदान करती है।

उपन्यास का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है—क़िस्सागोई का शिल्प, जिसे कथावाचक पंकज के माध्यम से बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कथावाचक सत्या के परिवार के जीवन-संघर्षों का एक प्रामाणिक गवाह है। यही कारण है कि सत्या के परिवार के उतार-चढ़ाव, संघर्षों, दुख-सुख, आशा-निराशा की वस्तुपरक और मार्मिक अभिव्यक्ति हो सकी है। यह उल्लेखनीय है कि क़िस्सागोई का यह शिल्प उपन्यास की कथावस्तु को कलात्मक सहजता के साथ विकसित करता है। साथ ही यह शिल्प पाठकों के साथ एक जीवंत संवाद बनाये रखने में भी सहयोग देता है और पाठक की जिज्ञासा उपन्यास में आद्योपांत बनी रहती है। 'परिवार' निस्संदेह एक सशक्त उपन्यास है क्योंकि वह पाठकों के साथ संवाद करने के साथ-साथ उनकी जिज्ञासा, सोच और कल्पनाशीलता को भी पर्याप्त स्पेस प्रदान करता है।

डी- 1/171, सेक्टर-'एफ', जानकीपुरम, लखनऊ- 226021

'परिवार' (उपन्यास), रामदरश मिश्र, शांति पुस्तक मंदिर, मूल्य : रु0 150

■

भारतीय पत्रकारिता कोश

राजीव श्रीवास्तव

भारत में पत्रकारिता कैसे प्रारंभ हुई, किन लोगों ने किन परिस्थितियों में इसे आगे बढ़ाया तथा कैसे इसने हिन्दुस्तान की आज़ादी में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जैसे तमाम सवालों के जवाब में हमारे पास बिखरी हुई जानकारियों के अतिरिक्त आज तक कोई ऐसा प्रमाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं था, जो भारतीय पत्रकारिता और उससे संबंधित सभी पक्षों की सही एवं सटीक सूचना प्रेषित करता हो।

मगर, अब ऐसा नहीं है। विजयदत्त श्रीधर ने हाल में दो खंडों में प्रकाशित ग्रंथ 'भारतीय पत्रकारिता कोश' में हिन्दी साहित तमाम क्षेत्रीय भाषाओं की पत्रकारिता से संबंधित सभी छोटी-बड़ी घटनाओं को एक पुस्तक में समेटकर एक ऐसे बहुप्रतीक्षित दुरूह कार्य को सरल एवं सहज बना दिया है, जिसकी ज़रूरत लंबे समय से महसूस की जा रही थी।

स्वयं पत्रकारिता से अपना कैरियर प्रारंभ करने वाले विजयदत्त श्रीधर के पत्रकार-संपादक के रूप में दीर्घ अनुभव तथा ऐतिहासिक संदर्भ में भारतीय पत्रकारिता पर गहन शोध ने ही संभवतः उन्हें इस भागीरथ कार्य का बीड़ा उठाने की प्रेरणा दी होगी। पहले खंड में सन् 1780 से सन् 1900 तक के भारतीय पत्रकारिता के विभिन्न आयामों, इसकी शुरूआत, विकास-यात्रा, क्षेत्रीय भाषाओं में पत्रकारिता के जन्म तथा सामाजिक संदर्भ में इसके क्रियाकलापों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। हिन्दुस्तान में मुग़लकाल और फिर अंग्रेज़ों के शासन के दरम्यान सूचना एवं जानकारी देने के प्रारंभिक माध्यमों के अलावा पारंपरिक परिपाटी का उद्धरण देने के साथ ही विश्व में पत्रकारिता के इतिहास का उल्लेख भी इस पुस्तक में समाहित है। हिन्दी पत्रकारिता के अलावा मराठी, उर्दू, तमिल पत्रों के संदर्भों सहित तब के सामाजिक सरोकार, जातीय स्वरूप, धर्म एवं संस्कृति का प्रभाव, प्रांतीय सोच जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की व्याख्या इस पुस्तक को पत्रकारिता के समानांतर इतिहास का संवाहक भी बनाती है। स्वराज के उद्घोष और आज़ादी की अलख जगाने में पत्रकारिता की भूमिका को रेखांकित करता यह ग्रंथ अपने दूसरे खंड (सन् 1901 से 1947 तक) में इसके उत्तरोत्तर विकास स्वरूप के साथ कई नये सरोकारों का संदर्भ भी जोड़ता चलता है।

अपने शैशवकाल से ही नित नयी चुनौतियों का सामना करते हुए भारतीय पत्रकारिता का अंग्रेज़ों की दमनकारी नीतियों से लोहा लेना एक ऐसा कठिन दौर था, जिसने इसे जुझारू और निर्भीक बनने का हौसला दिया। आज़ादी के मतवाले जहाँ शस्त्र, अस्त्र एवं बाहुबल से अपनी लड़ाई लड़ रहे थे, वहीं पत्रकारिता के पोषक क़लम के सिपाही बनकर गाँव-गाँव, शहर-शहर अपनी आवाज़ बुलंद कर रहे थे। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र और पत्रिकाओं के प्रकाशन तथा मुद्रण-तकनीक की जानकारी एवं प्रांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर पर अख़बारों के चलन की जानकारी देती हुई यह पुस्तक आज़ादी की लड़ाई में लेखकों, कवियों और विभिन्न भाषा-भाषी साहित्यकारों के पत्रकारिता में अमूल्य योगदान को भी दर्शाती है।

लेखन के लिहाज़ से यह पुस्तक एक ऐसा साहित्यिक दस्तावेज़ है, जिसकी भाषा मुग्ध करती है तथा शैली मानस को पुष्ट करती है। इसे पढ़ते हुए यह आभास भी होता जाता है कि तमाम बिखरी हुई जानकारी एवं सामग्रियों को एकत्र करना कितना श्रमसाध्य और दुष्कर रहा होगा। एक ही नाम की भ्रमित करने वाली जानकारियों को स्पष्ट कर देना कोई आसान काम नहीं है। यह पुस्तक भारतीय पत्रकारिता के इतिहास और विकास-यात्रा को जितना निरूपित करती है, उतनी ही भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन की साक्षी भी है। इस ग्रंथ को अपने संग्रह में रखने से पूर्व इसके लेखक, शोधकर्ता एवं संकलक विजयदत्त श्रीधर का आभार व्यक्त करना मत भूलिएगा।

एस0 275, ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली -110048

भारतीय पत्रकारिता कोश, विजयदत्त श्रीधर, मूल्य : रु0 1600/- (दो खंड) वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

■

प्रेमचन्द के विविध आयाम

देवेन्द्र गुप्ता

प्रेमचन्द निर्विवाद रूप से हिन्दी कथा साहित्य के शिखर पुरुष हैं। उनकी लोकप्रियता का अंदाजा इसी से हो जाता है कि मृत्यु के 83 वर्ष बाद भी हिन्दी के सामान्य पाठक की पहली पसंद हैं। उनके रचना संसार पर बहुत से आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन प्रेमचन्द इतने बड़े हैं कि उन पर होने वाला कोई भी कार्य छोटा दिखाई पड़ता है। पिछले कुछ समय पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचन्द के आयाम' पढ़ने को मिली। इसका संपादन प्रसिद्ध साहित्यकार ए0 अरविंदाक्षन ने किया है। इस पुस्तक में 34 लेख संकलित हैं और ये प्रेमचन्द साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं। इस पुस्तक के संपादन में अत्यन्त कुशलता और विद्वता का परिचय दिया गया है। जिसके परिणामस्वरूप यह जहाँ प्रेमचन्द साहित्य के विविध पहलुओं से परिचित कराती है वहीं हमारे अपने समय से जोड़ती है। ए0 अरविंदाक्षन ने प्रेमचन्द की रचनात्मक क्षमता और उसके कालजयी स्वरूप को भली-भाँति पहचाना है इसका संकेत वे पुस्तक की भूमिका में ही कर देते हैं-"उनकी रचनात्मकता का भारतीय चित्रपट सदैव गतिशील रहा है। उनमें यह दूरदर्शिता भी रही कि वे भारतीय यथार्थ को उसी समय वैश्विक संदर्भ में पहचान सकते थे। यह एक रचनाकार की वह क्षमता है जिसके सहारे वे अपने समय का उल्लंघन करते हैं। प्रेमचन्द अपने समय के भी थे और आने वाले समय के भी।" प्रेमचन्द गहन संवेदना से युक्त रचनाकार थे, अपने जनजीवन से गहराई से परिचित थे इसी के कारण वह समाज का इतना सटीक चित्रण कर सके हैं। अरविंदाक्षन लिखते हैं-"वे अपनी नजदीकियों को ही नहीं बल्कि दूरियों को भी देख सकते थे।" जनसाधारण के प्रति उनमें गहरा विवास और प्रेम था। इसका प्रमाण उनका साहित्य और उसकी लोकप्रियता है। अरविंदाक्षन इसका विवेचन इन शब्दों में करते हैं कि "उनकी रग-रग में मनुय के प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति थी जिसे सरल ढंग से उनका आदर्शवाद कहा गया है।"

वरिष्ट आलोचक शिव कुमार मिश्र 'प्रेमचनद की परंपरा : प्रेमचन्द की विरासत' शीर्षक आलेख में प्रेमचंद साहित्य की गहराई से पड़ताल करते हैं ओर उनके महत्व पर टिप्पणी करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि - प्रेमचंद हिन्दी के पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपनी रचना के द्वारा हमें साहित्य और समाज एवं साहित्य और राजनीति के बीच के रिश्ते को समझने में मदद की है।" उन्होंने इसके साथ ही प्रेमचन्द को एक नये सौन्दर्यशास्त्र का प्रणेता कहा है। प्रेमचन्द अपने समय को भली-भाँति समझ रहे थे, साथ ही आने वाली परिस्थितियों को भाँप रहे थे। सुप्रसिद्ध आलोचक प्रो0 कुँवरपाल सिंह ने 'प्रेमचन्द साहित्य में स्वराज का स्वरूप' शीर्षक शोधपरक आलेख में प्रेमचन्द की स्वराज के संबंध में परिकल्पना को स्पष्ट किया है। "प्रेमचन्द के अपने स्वराज की कल्पना में किसी भी प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमता का कोई स्थान नहीं है। उनका स्वराज शोषण रहित समाज के रूप में है।" उन्होंने प्रेमचन्द के संदर्भ से इस बात पर जोर दिया कि संघर्ष के माध्यम से ही शोषण विहीन स्वराज को प्राप्त किया जा सकता है। इसके साथ ही उन्होंने पूंजीवादी और सांमती व्यवस्था के चरित्र पर भी प्रकाश डाला है। इस पुस्तक के एक अन्य महत्वपूर्ण आलेख 'प्रेमचन्द की सांस्कृतिक चेतना में' चन्द्रकांत बांदिवडेकर ने स्पष्ट किया है कि प्रेमचन्द अपनी संस्कृति से गहराई से जुड़े हुए थे। उन्होंने प्रेम, त्याग और कर्तव्य की भावना का प्रसार अपने साहित्य में किया है। इसके साथ ही भारतीय परंपराओं में उत्पन्न दूषितताओं का विरोध किया। वे लिखते हैं कि "प्रेमचन्द ग्राम्य जीवन की सादगी और सरलता के समर्थक थे और नगर सभ्यता का आक्रमण गाँव जीवन की संस्कृति के लिए वे हानिकर समझते थे।" प्रायः एक प्रश्न बार-बार उभरकर आता है कि प्रेमचन्द आज भी आम पाठको में इतने लोकप्रिय क्यों हैं? इस प्रश्न को प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने स्पष्ट किया है कि पाठक उनकी रचनाओं से सहज एकता और तादात्म्य अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। समकालीन परिवेश में प्रेमचन्द के साहित्य की प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि - "प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय समाज के आज के संकटों को पहचानने में हमारी मदद करेगा और भविष्य की राह खोजने में सहायक भी होगा। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का मुख्य उद्देश्य है - भारतीय समाज और साहित्य के जनतन्त्रीकरण की प्रक्रिया को तेज करना और मजबूत बनाना। आज इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में जबकि वह प्रक्रिया दिग्भ्रमित और बिखराव की स्थिति में है, तब जिन कथाकारों और पाठकों की चिन्ता समाज और साहित्य के जनतन्त्रीकरण से जुड़ी है, उनके प्रेरणासोत्र प्रेमचन्द आज भी हैं और कल भी रहेंगे।"

विजेन्द्रनारायण सिंह ने प्रेमचन्द की क्रांतिकारिता को तत्कालीन परिवेश में उद्घाटित किया है। इसके साथ ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सामंतवाद, साम्राज्यवाद और महाजनी सभ्यता के प्रति प्रेमचन्द के मन में गहरी घृणा की भावना थी। उनकी रचनात्मक क्षमता पर वे टिप्पणी करते हैं कि - "भारतीय वर्ग-व्यवस्था के ऊपरी पत्ते को बेधकर वे गहराई में प्रवेश करते हैं और भारतीय किसान के जीवन की बूँद-बूँद करूणा को निचोड़ कर गल्प को साहित्य में रूपांतरित कर देते हैं।" वास्तव में प्रेमचन्द ने आम आदमी की समस्याओं को समझा। भारतीय जन-जीवन का कोई पक्ष उनसे ओझल नहीं हो पाया। वे व्यवस्था के शोषण तंत्र से भली-भाँति परिचित थे। सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक डॉ0 कमला प्रसाद ने प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का मूल्याँकन करते हुए लिखा है कि -"प्रेमचन्द की कथा-यात्रा का सहकारी तत्व रहा है - जनसंपर्क। जनता को खुली आँख और आत्मीय मनोभाव से जाँचते, परखते, मुक्ति के उपलब्ध और जमाने में सक्रिय रास्तों की पड़ताल में डूबते-जहाँ पहुँचे। और जिस तरह उन्होंने रचा-वही उनकी प्रगतिशीलता है। हिन्दी और उर्दू के कथा-लेखन के जनक बनते हुए - जनता के साहित्य के कर्ता बनकर उन्होंने देश में नई संभावना को जन्म दिया।" प्रेमचन्द ने नारी जीवन से जुड़ी अनेक समस्याओं को अपने साहित्य में उठाया है। वे स्त्री-पुरुष समानता के पक्षधर थे। प्रसिद्ध आलोचक शंभुनाथ ने 'प्रेमचन्द और स्त्री प्रश्न' विषयक लेख में प्रेमचन्द की नारी दृष्टि का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने प्रेमचन्द के संदर्भ से स्पष्ट किया है कि स्त्री का जीवन पुरुष के निर्णय को ढोने के लिए नहीं बना है बल्कि उसे भी सोचने का हक है। प्रेमचन्द ने न तो रूढ़िग्रस्त धर्म संस्कारों को स्वीकार किया और न ही पश्चिम की दृष्टि को। इस संदर्भ में शंभुनाथ ने सटीक मूल्यांकन किया है कि - "प्रेमचन्द चाहते थे कि स्त्री न पुराने धर्म-संस्कारों से जकड़ी हो और न वह मातृत्व, सेवा भावना और करूणा से विमुख होकर पश्चिमी स्त्रियों की तरह चंचल, विलासप्रिय और अनुत्तरदायी बनें।" प्रसिद्ध लेखिका मृदुला गर्ग और शशिमुदीराज ने प्रेमचन्द की स्त्री दृष्टि को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया है। ये आलेख समकालीन नारी विमर्श की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं।

संकीर्ण एवं स्वार्थ की राजनीति के चलते विगत कुछ वर्षों से प्रेमचन्द पर दलित विरोधी हाने के आरोप लगाये जाते रहे हैं। हालाँकि आम पाठक इन्हें सिरे से खारिज कर चुका है। इस पुस्तक में दलित सवालों को लेकर अनेक लेखों में चर्चा हुई है। वीरेन्द्र यादव, कात्यायनी एवं विनोद तिवारी ने विस्तार से मूल्यांकन किया है। वीरेन्द्र यादव तो साफ लिखते हैं कि-"सच तो यह है कि प्रेमचन्द का दलित चिन्तन अम्बेडकर का अनुवर्ती न होकर उनका पूर्ववर्ती नहीं तो सहवर्ती था।"

भाषा की किसी भी समाज एवं देश के विकास में अहम् भूमिका होती है। प्रेमचन्द भाषा के संबंध में बेहद सचेत थे। इसी का परिणाम है कि भाषा पर उनका असाधारण नियंत्रण था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के संबंध में लिखा है कि 'वे भाषा के डिक्टेटर थे।' यह बात प्रेमचन्द पर भी लागू होती है। प्रेमचन्द का समय वह था जब देश सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक स्तर पर संघर्ष कर रहा था। एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। प्रसिद्ध कथाकार नमिता सिंह ने भाषा के मुद्दे पर प्रेमचन्द के विचारों का गहनता के साथ विवेचन एवं मूल्यांकन किया है। वे लिखती हैं - "राष्ट्रनायक गाधी के साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे भविष्यदृष्टा, जनसाहित्य के प्रणेता ने भी एक राष्ट्रभाषा के महत्व को समझा और उसके माध्यम से जनसाधारण को राष्ट्र के अहम् सवालों से जोड़ा।" इसका क्या स्वरूप हो, इस पर भी प्रेमचन्द बहुत स्पष्ट थे। वे उनके प्रयासों की सराहना करते हुए लिखती हैं - "प्रेमचन्द ने आम हिन्दुस्तानी भाा को एक राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के अथक प्रयास सराहनीय हैं तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भी हैं।" वे आगे लिखती है-"प्रेमचन्द का लेखन सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय जनमानस के प्रतिनिधि के रूप में उभरकर आने लगा, इसके साथ ही साथ उनकी भाषा भी जनसाधारण की भाषा का स्वरूप ग्रहण करने लगी जिसका निश्चित उद्देश्य था - ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक अपनी बात पहुँचाना।"

इस पुस्तक में अन्य कई महत्वपूर्ण लेख हैं जो प्रेमचन्द साहित्य के विविध आयामों से परिचित कराते हैं। वास्तव में यह पूरी पुस्तक प्रेमचन्द साहित्य के अध्ययन को नयी दिशा प्रदान करती है।

हिन्दी विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राज0)

प्रेमचन्द के आयाम, संपादक : ए0 अरविंदाक्षन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलमूत्र ढोता भारत एवं दलित दर्शन का लोकार्पण समारोह संपन्न

रविन्द्र भवन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली सभागार में दिनांक 2 अप्रैल 2009 को युद्धरत आम आदमी के विशेषांक 'मलमूत्र ढोता भारत : विचार की कसौटी पर'' एवं 'दलित दर्शन' पुस्तक के लोकार्पण समारोह का आयोजन रमणिका फाउंडेशन एवं शिल्पायन, दिल्ली द्वारा किया गया। मैला सफ़ाई कामगारों की पीड़ा एवं व्यथा पर आधारित 'मलमूत्र ढोता भारत' विशेषांक को रमणिका गुप्ता, सुशीला टाँकभोरे, डा0 सुधीर सागर, सुंदरलाल टाँकभोरे एवं हरिनारायण ने संपादित किया। विशेषांक का लोकार्पण मुख्य अतिथि माननीय वामन मेश्राम, राष्ट्रीय अध्यक्ष वामसेफ एवं 'दलित-दर्शन' पुस्तक का लोकार्पण विशिष्ट अतिथि माननीय राजेन्द्र यादव, संपादक हंस, द्वारा किया गया। मुख्य आथित्य भाषण में श्री वामन मेश्राम ने कहा गांधी जी दलित समाज के दुश्मन ही नहीं बल्कि कटिबद्ध दुश्मन थे। अंबेडकरवादी दलित चिंतक श्री भगवान दास ने कहा ''जब तक ये समाज इस गंदे पेशे से जुड़ा रहेगा तब तक उनकी इज़्जत नहीं होगी। भारत के अलग-अलग राज्य में मैला ढोने का काम भिन्न-भिन्न जाति के लोग कर रहे हैं। यह समाज गांधीयन प्रोपेगन्डा के कारण डा0 अम्बेडकर के दलित आंदोलन से नहीं जुड़ पाया, जिससे बाबा साहब के विचारों का प्रभाव इस समाज पर नहीं हुआ।''

वरिष्ठ साहित्यकार एवं हंस के संपादक श्री राजेन्द्र यादव ने विशेषांक पर विचार प्रकट करते हुए कहा कि दलितों ने ज़िंदगी के फैसले नहीं लिए हैं। इतिहास वही बनायेंगे, जो अपने फ़ैसले स्वयं लेगें। यह समाज दो तरह से मैला ढो रहा है। एक तरफ़ वह मानव मल को ढो रहा है दूसरी ओर देवी देवताओं की पूजा, हिन्दू संस्कारों का मैला ढो रहा है। यादव जी ने स्वीकार करते हुए अपराध बोध के साथ कहा ''मैं आगरा का रहने वाला हूँ। सफ़ाई करने वाले जमादार और भंगी होते थे। जघन्य किस्म का पेशा था। हम सिर्फ़ मानकर चलते हैं कि इस समाज के लोग मनुष्य हैं। इनमें घृणा, गुस्सा कुत्ते-बिल्ली की तरह है। मानसिक रूप से इस पेशे के लिए अभ्यस्त हो गए हैं। लोग इन्हें मनुष्य नहीं जानवर समझते हैं।''

राजेन्द्र जी ने धार्मिक नाटक 'उचक्का' पर चर्चा करते हुए कहा है कि नाटककार ने प्रतीकात्मक दृश्यों के माध्यम से मैला ढोने वाले इस समाज की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने समाज की वेदना को प्रकट किया है। विशेषांक की संपादक रमणिका गुप्ता ने कहा झाड़ू बुहारते लोगों में जब चेतना जाग जायेगी, तब ये दुनिया बदल जायेगी। गर्व से नहीं, शर्म से कहो हम हिन्दू हैं क्योंकि हम लोग आदमियों से अपना मैला ढुलवाते हैं। राष्ट्रीय सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन के अध्यक्ष माननीय विल्सन वैजवाड़ा ने भारत के केंद्रीय एवं राज्य सरकारों की मानसिकता पर प्रहार करते हुए कहा कि सरकार अपने दस्तावेज़ में यह शपथ-पत्र देती है कि देश में अब कोई भी मैला ढोने का काम नहीं होता है।

श्री बिजेन्द्र त्रिपाठी ने मैला ढोने वाले लोगों की व्यथा उनकी ही जुबानी, विशेषांक में डा0 सुधीर सागर द्वारा लिखित केस हिस्ट्री पर चर्चा की। केस हिस्ट्री से इस समाज की व्यथा, शोषण को समझा जा सकता है। अतिथि संपादक श्रीमती सुशीला टाँकभोरे ने कहा कि सफ़ाई कामगारों की समस्या दलितों की पीड़ा है। ये राष्ट्रीय श्रम का मुद्दा है। इस समाज को शिक्षा की आवश्यकता है। अंधेरे में भटक रहे इस समाज के लोगों को बैसाखी नहीं, विकास का रास्ता चाहिए। चर्चित दलित कथाकार अयज नावरिया ने ''मल मूत्र ढोता भारत'' विशेषांक पर आलेख पढ़ते हुए कहा कि ''ये कैसी विचित्र व्यवस्था है लोग जातीय नाम से जन्म लेते हैं और जातीय नाम से मर जाते हैं। मल मूत्र ढोने का दंश सिर्फ़ एक समाज का नहीं है, बल्कि ये संपूर्ण भारत का है।

साहित्यकार देवेन्द्र चौबे ने समकालीन इतिहास पर ज़ोर देते हुए कहा कि अब दलित साहित्य और विचार साहित्य के केंद्र में समकालीन इतिहास लिखने की आवश्यकता है। कार्यक्रम का संचालन सुंदर लाल टाँकभोरे ने सफलतापूर्वक किया। अंत में डा0 सुधीर सागर ने लोकार्पण में उपस्थित साहित्यकारों, अतिथियों को हार्दिक धन्यवाद देते हुए आभार प्रकट किया।

प्रस्तुति : डा0 सुधीर सागर, नई दिल्ली

कित्ता पानी : अनिता के कथा-संग्रह का लोकार्पण

इलाहाबाद के हिन्दुस्तानी एकेडमी के सभागार में प्रगतिशील लेखक संघ तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में कथाकार अनिता गोपेश का भारतीय ज्ञानपीठ से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित प्रथम कथा-संग्रह 'कित्ता पानी' का लोकार्पण प्रो0 नामवर सिंह के हाथों संपन्न हुआ। इस समारोह की अध्यक्षता वरिष्ठ कथाकार अमरकांत ने की। कार्यक्रम के प्रारंभ में कथा लेखिका नीलम शंकर ने सुप्रसिद्ध लेखिका अनामिका का संग्रह पर लिखा गया स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में अनिता की कहानियों की व्याख्या करते हुए कहा कि 'कित्ता पानी' की ज़्यादातर कहानियाँ आधुनिक स्त्री के त्रास से निकली हैं। मर्दवादी इतिहास ने स्त्रियों को इतना ज़रूर सिखाया है कि तंग घेरे बंदियों में कुछ नहीं रखा. .. इन्हें तोड़कर कोई प्रजातांत्रिक मूल्यों का सच्चा विकास कर सकता है। मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध समालोचक प्रो0 नामवर सिंह ने कहा कि अनिता की कहानियां रोचक होने के साथ-साथ झकझोर देने वाली हैं। वे स्त्री-पुरुष संबंध से परे जाकर आज के समाज के द्वंद को व्यक्त करती हैं। उर्दू के विख्यात समीक्षक-आलोचक एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के अध्यक्ष प्रो0 अली अहमद फ़ातमी ने कहा कि अनिता की कहानियों में ज़िंदगी के फलसफे बिखरे पड़े हैं। उनकी कहानियाँ इन फ़लसफ़ों से बाकाइदा जूझती हैं। लेकिन सिर्फ़ फ़लसफ़ों से कहानी नहीं बनती, उनमें ज़िंदगी का अक्स, ख़्यालात और फ़िक्र जब तख़्लीकी तौर पर शामिल होते हैं तो एक अच्छी कहानी साहित्य को मिलती है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार, उपन्यास-कहानीकार, अनुवादक और संस्कृतकर्मी, प्रो0 डा0 लाल बहादुर वर्मा ने कहा कि अनिता की कहानियाँ सामाजिक सरोकारों से युक्त है। इन कहानियों में हक़ीकत बयानी तो ख़ूब है थोड़े सपने भी होते तो और बेहतर होता। अपने अध्यक्षीय सम्भाषण में कथाकार अमरकांत ने कहा कि अनीता की कहानियाँ जहाँ समाज का सच उजागर करती हैं, वहीं इस धारणा की पुनर्स्थापना करती प्रतीत होती हैं कि साहित्य को किसी नियम-क़ानून के दायरों में क़ैद नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि उनकी ज़्यादातर कहानियाँ सामाजिक सरोकारों की कहानियाँ हैं।

इस अवसर पर बोलते हुए अनिता गोपेश ने अपने वरिष्ठ रचनाकारों, विशेषकर अमरकांत को याद किया जिन्होंने उन्हें लगातार लिखते रहने की प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। उन्होंने इस संग्रह को अपनी सृजनशीलता का एक पड़ाव बताया।

समारोह का समापन प्रगतिशील लेखक संघ, इलाहाबाद के अध्यक्ष एहतराम इस्लाम के धन्यवाद ज्ञापन द्वारा हुआ। इसके पूर्व हिन्दुस्तानी एकेडमी के सचिव, डा0 एस0के0 पाण्डेय ने स्वागत भाषण किया था। समारोह का संचालन प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री सुरेन्द्र राही ने किया।

प्रस्तुति : सुरेन्द्र राही, इलाहाबाद

बिना कल के आज की कल्पना बेमानी है

"पुराने का अध्ययन और विश्लेषण मुझे आज को समझने की अंतर्दृष्टि देता है। जो लोग पुराने को काबू में करके केवल आज ही आज पर जोर दे रहे हैं वे नहीं जानते कि बिना कल के आज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।"

उक्त विचार सुप्रसिद्ध आलोचक प्रो0 नित्यानंद तिवारी ने गांधी शांति प्रतिष्ठान में आयोजित विचार-गोष्ठी और वरिष्ठ कवि उद्भ्रांत की पुस्तकों के विमोचन के मौके पर व्यक्त किए।

इस अवसर पर उद्भ्रांत की पुस्तकों-'सदी का महाराग' का लोकार्पण प्रो0 तिवारी ने किया। उद्भ्रांत के नए कविता संग्रह 'हँसो बतर्ज रघुवीर सहाय' का विमोचन प्रो0 नामवर सिंह द्वारा, उद्भ्रांत द्वारा संपादित लघु पत्रिका 'आंदोलन और युवा' की भूमिका का विमोचन राजेन्द्र यादव द्वारा तथा शीतल शेटे द्वारा लिखित 'राम की शक्तिपूजा एवं रुद्रावतार' का विमोचन पंकज बिष्ट द्वारा किया गया । इस मौके पर रामप्रसाद शर्मा 'महर्षि' द्वारा लिखित पुस्तक 'ग़ज़ल और ग़ज़ल की तकनीक' का भी विमोचन संयुक्त रूप से किया गया। उल्लेखनीय है कि इन दोनों पुस्तकों का विमोचन क्रमशः श्री खगेन्द्र ठाकुर और श्रीमती विमलेश्वरी सहाय द्वारा किया जाना था लेकिन कतिपय कारणों से वे आयोजन में न आ सके।

विमोचन समारोह के बाद आयोजित विचार-गोष्ठी 'लघु पत्रिकाओं के राग और विचार की आधी सदी' पर बोलते हुए हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार एवं हंस के संपादक श्री राजेन्द्र यादव ने कहा कि समय के साथ सारी पत्रिकाएँ दलित और स्त्री-विमर्श को तरज़ीह दे रही हैं वरना उनके पिछड़ जाने का ख़तरा है। 'समयांतर' के संपादक और वरिष्ठ कथाकार पंकज बिष्ट ने कहा कि "लघु पत्रिका हमेशा सत्ता के खिलाफ़ आवाज़ उठाती है। जिस पत्रिका में यह शक्ति नहीं होती वह लघु पत्रिका की श्रेणी में नहीं आ सकती।"

बली सिंह ने इस बात पर ज़ोर दिया कि घरानों या संस्थानों से नहीं, पत्रिका का चरित्र संपादकों के सरोकारों से तय होता है। हेमंत जोशी ने इस अवसर पर सवाल उठाया कि 'इस बीच पुराने समय की याद करने का चलन जोर पकड़ रहा है। क्या यह इस बात का संकेत है कि अब उतने तीव्र और समकालीनताधर्मी आंदोलन नहीं हैं?

दूरदर्शन में अधिकारी श्री धीरंजन मालवे ने उद्भ्रांत की कविता 'रुद्रावतार' की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'यह कविता समकालीन दौर का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रो0 नामवर सिंह ने उद्भ्रांत की कविताओं के बहाने कवि की चर्चा में कहा कि 'वे अपनी बेबाकी में रिश्ता निभाने की औपचारिकता का हमेशा अतिक्रमण करते रहे हैं। उन्होंने आज के दौर की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'समयांतर' की भूमिका को साहित्य समाज के पहरेदार की संज्ञा दी।"

इससे पहले कवि उद्‌भ्रांत ने स्पष्ट किया कि 'उनकी कविताओं की व्यंजना की शक्ति की लगातार अनदेखी की जाती रही है। उन्होंने आज की आलोचना के पूर्वग्रहों के प्रति घोर असहमति जाहिर की। दूरदर्शन की समाचार वाचिका श्रीमती मंजरी जोशी ने उद्‌भ्रांत जी की तीन कविताओं 'हँसो बतर्ज़ रघुवीर सहाय', 'स्वाहा' और 'कविता के विरुद्ध' का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन पत्रकार और लेखक सुरेश शर्मा ने किया।

प्रस्तुति : रामजी यादव, नई दिल्ली

प्रवासी साहित्य से साझेपन का रिश्ता बनाएँ : कृष्णा सोबती

तेजेन्द्र शर्मा की कहानियों से गुज़रते हुए हम यह शिद्‌दत से महसूस करते हैं कि लेखक अपने वजूद का टेक्स्ट होता है। तेजेन्द्र के पात्र ज़िंदगी की मुश्किलों से गुज़रते हैं और अपने लिये नया रास्ता तलाशते हैं। तेजेन्द्र की कहानियों के ज़रिये हिन्दी के मुख्यधारा के साहित्य को प्रवासी साहित्य से साझेपन का रिश्ता विकसित करना चाहिये। ये बातें मूर्धन्य उपन्यासकार एवं कथाकार कृष्णा सोबती ने कथाकार तेजेन्द्र शर्मा के लेखन और जीवन पर केन्द्रित पुस्तक 'तेजेन्द्र शर्मा : वक़्त के आइने में' के राजेन्द्र भवन सभागार में आयोजित लोकार्पण समारोह में कही।

इस अवसर पर प्रख्यात आलोचक प्रो0 नामवर सिंह ने कहा कि "मुर्दाफ़रोश लोग हर जमात में होते हैं और पूँजीवाद में तो ऐसे शख़्सों की इंतेहा है। वे मज़हब बेच सकते हैं, रस्मो रिवाज़ बेच सकते हैं। तेजेन्द्र शर्मा ने अपनी कहानी 'कब्र का मुनाफ़ा' में वैश्विक परिदृश्य में पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति को कलात्मक अभिव्यक्ति दी है।"

इस अवसर पर राजेन्द्र यादव ने तेजेन्द्र शर्मा की कथावाचन शैली की सराहना करते हुए कहा कि तेजेन्द्र को ' आर्ट ऑफ़ नैरेशन' की गहरी समझ है। तेजेन्द्र बख़ूबी समझते हैं कि स्थितियों को, व्यक्ति के अंतर्द्वन्द्वों, संबंधों की जटिलताओं को कैसे कहानियों में रूपांतरित किया जाता है।

इससे पूर्व नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव और कृष्णा सोबती ने इस पुस्तक का लोकार्पण किया। इस पुस्तक का संपादन सुपरिचित कथाकार व रचना समय के संपादक हरि भटनागर और ब्रजनारायण शर्मा ने किया है।

बीज वक्तव्य देते हुए अजय नावरिया ने कहा कि यह पुस्तक अभिनंदन ग्रंथ नहीं है क्योंकि यहां अंधी प्रशंसा की जगह तार्किकता है। मोहाविष्ट स्थिति की जगह मूल्यांकन है। अजय ने तेजेन्द्र शर्मा की कहानियों के बहाने हिन्दी कथा साहित्य पर चर्चा करते हुए कहा कि इन कहानियों के मूल्यांकन के लिये हमें नई आलोचना प्रविधि की दरकार है।"

कार्यक्रम का संचालन अजित राय ने किया।

अभिषेक कश्यप
द्वारा-अजय नारायण, 33, सिद्धार्थ एन्क्लेव, नई दिल्ली-14

अम्बिका प्रसाद दिव्य पुरस्कार घोषित

भोपाल। शीर्ष ऐतिहासिक उपन्यासकार, कवि एवं चित्रकार स्व0 अंबिका प्रसाद दिव्य की स्मृति में, साहित्य सदन, भोपाल द्वारा दिये जाने वाले राष्ट्रीय ख्याति के दिव्य पुरस्कारों की घोषणा शनिवार 25 अप्रैल को होटल रेसीडेंसी के सभागार में आयोजित एक पत्रकार वार्ता में की गई। श्री दामोदर दत्त दीक्षित को उनके उपन्यास 'धुआँ और चीखें' के लिए पाँच हजार रुपये, श्रीमती नीलम कुलश्रेष्ठ को उनके कथा संग्रह 'हैवनली हेल' के लिये इक्कीस सौ रुपये और श्रीमती मधु प्रसाद को उनके काव्य संग्रह 'साँस-साँस वृंदावन' के लिये इक्कीस सौ रुपये राशि के दिव्य पुरस्कार प्रदान किये जाने की घोषणा निर्णायक मंडल के अध्यक्ष श्री मोती सिंह (पूर्व आई0ए0एस0) ने की। इसके अतिरिक्त श्री वेद प्रकाश कंवर (दिल्ली), श्रीमती कमल कपूर (फरीदाबाद), श्रीमती शशि जोशी (नैनीताल) श्री मधुकर अष्ठाना (लखनऊ), डा0 भरत प्रसाद (शिलांग), श्री टी0एस0 राजू शर्मा (वालाजाह), डा0 रवि शर्मा (दिल्ली), श्री घमंडीलाल अग्रवाल (गुडगाँव) और श्री सुशील सीतापुरी (लखनऊ) को उनकी श्रेष्ठ कृतियों के लिए अंबिका प्रसाद दिव्य रजत अलंकरण प्रदान किये जाने की घोषणा की गई।

जगदीश किंजल्क, द्वारा-संपादक 'दिव्यलोक', भोपाल

कहानी, कविता, प्रकृति, विज्ञान, पत्रकारिता व रंगों का संगम-सृजन 09

अलीगढ़। बाल रचनाकारों के मंच-बाल रचनाकार मण्डल द्वारा कविता, कहानी, चित्रण, कार्टूनिंग, प्रकृति-पर्यावरण , ज्ञान-विज्ञान-नवाचार व पत्रकारिता जैसे अछूते विषयों की कार्यशाला का 'सृजन-09' नाम से आयोजन किया गया।

कार्यक्रम का उद्‌घाटन बाल साहित्यकार व हास्य कवि श्री प्रेमकिशोर पटाखा व समाज सेवी श्री सुरेन्द्र वार्ष्णेय ने किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे अनोखे प्रयास को ठोस व सार्थक बताते हुए श्री पटाखा ने बच्चों के प्रति कहा–

बच्चे भर जग के उजियारे/ बच्चे नैनों के तारे
बच्चे वीणा की सरगम/बच्चे नहीं किसी से कम

कार्यशाला में कविता विधा की संदर्भदाता के रूप में पहले दिन कवयित्री डा0 इन्दिरा अग्रवाल व डा0 शशिबाला अग्रवाल ने संयुक्त रूप से कविता के बारे में बाल रचनाकारों से चर्चा की। कविता के संदर्भदाता के रूप में डा0 गोपाल बाबू शर्मा ने तीन दिन मार्गदर्शन किया। डा0 शर्मा ने मात्रा, लय, यति आदि तकनीकी विषयों पर प्रकाश डालते हुए बाल रचनाकारों से काव्य सृजन करने को कहा। कहानी जैसी बाल प्रिय विधा की संदर्भदाता के रूप में कथाकार व वर्तमान साहित्य की संपादक डा0 नमिता सिंह ने बाल कलाकारों का मार्गदर्शन किया। उन्होंने बच्चों को कहानी क्या है और उसके तत्व व स्वरूप का परिचय कराया और एक कहानी के माध्यम से व्यावहारिक चर्चा भी की तथा बाल रचनाकारों की सृजित कहानियों में आवश्यक सुधार करवाते हुए उन्हें नयी तकनीक से भी परिचय कराया।

चित्रण व कार्टूनिंग से सत्रों में सर्वाधिक बाल रचनाकारों ने भाग लिया। दिलीप कार्टूनिस्ट ने बाल कलाकारों को कार्टून का अर्थ व उसे बनाने का तरीका बताया। दीप्ती सक्सैना, प्रभा सिंह व लक्ष्मी तुरैहा ने रंग का ज्ञान, ब्रुश का प्रकार-प्रयोग, चित्रण के तरीके, रंग भरने के तरीके जैसे विषय बाल रचनाकारों को समझाए व उनके साथ उनकी आर्टशीट पर स्वयं चित्रण आदि में मदद की। ज्ञान-विज्ञान-नवाचार जैसे आधुनिक विषय पर चर्चा के लिए विज्ञानरत्न लक्ष्मण प्रसाद ने बाल रचनाकारों से कहा कि नवाचार के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्कता नहीं है बल्कि अपने आस-पास की परिस्थितियों व घटनाओं के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। प्रकृति पर्यावरण जैसे महत्वपूर्ण विषय पर बाल रचनाकारों का पर्यावरणविद् व 'हमारी धरती' के संपादक सुबोध नंदन शर्मा ने मार्गदर्शन किया। 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस पर बाल रचनाकारों ने हाथों में पौधे लेकर नागरिकों को जागरुक करने का प्रयास किया। पत्रकारिता की प्रारंभिक जानकारी के लिए बाल रचनाकार अलीगढ़ के 'दैनिक जागरण' कार्यालय पहुँचे और बाल रचनाकारों ने समाचार संकलन, संपादन, प्रकाशन के बारे में जानकारी प्राप्त की।

कार्यशाला का समापन कार्यक्रम 6 जून को आयोजित हुआ जिसमें अध्यक्ष के रूप में डा0 नमिता सिंह, मुख्य अतिथि के रूप में अभिनव प्रसंगवश के संपादक डा0 वेद प्रकाश अमिताभ व विशिष्ट अतिथि के रूप में चेतन पाण्डेय, रूप किशोर राठी उपस्थित थे। विशेष गरिमामयी उपस्थिति के रूप में प्रेमकिशोर पटाखा का आशीर्वाद पुनः काव्य रस के रूप में प्राप्त हुआ।

डा0 वेदप्रकाश अमिताभ ने कहा कि महसूस करने की क्षमता बच्चों में होती है। बाल रचनाकार नवीन अनुभव प्राप्त कर नवीन ढंग से प्रकट कर सकेंगे ऐसा विश्वास डा0 अमिताभ ने प्रकट किया। अध्यक्षीय उद्बोधन में डा0 नमिता सिंह ने कहा कि बच्चे जो रचनात्मक होते हैं, विशिष्ट होते हैं। ऐसी ही विशिष्ट प्रतिभाओं को खोजने का कार्य सृजन 09 में किया गया है। इस अवसर पर बाल रचनाकार मण्डल के नये मोनोग्राम, बाल तथा मन नामक दो चरित्रों का लोकार्पण भी किया गया। बाल रचनाकार उत्कर्ष, आशीष, मुकुल, देवाशीष, सत्यम्, प्रियंका, सुशांत, अरविंद, शुभम ने अपनी कहानियाँ प्रस्तुत कीं। बाल रचनाकारों की कलाकृतियों की प्रदर्शनी भी लगाई गयी। कार्यशाला की व्यवस्था में बाल रचनाकार अंकुर, शुभि, उर्वशी, तनिष्क, प्रतीक, अर्चित, रक्षित, शुभांगी ने सहयोग किया। कार्यक्रम का संचालन बाल रचनाकार आशीष व मुकुल ने किया।

प्रस्तुति : निश्चल

गायत्री सहाय के एकल काव्य-पाठ का आयोजन

पिछले दिनों संकट मोचन नगर में स्थित गायत्री सदन में कवयित्री गायत्री सहाय के एकल काव्य-पाठ का आयोजन किया गया। इस आयोजन की अध्यक्षता अरुण शीतांश ने की। युवा समीक्षक एवं मुख्य वक्ता अलख नारायण ने कहा कि गायत्री आभा की कवयित्री हैं। कविता के माध्यम से नारी-वेदना को रखती हैं। संचालन युवा कवि सुनील श्रीवास्तव ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन वरिष्ठ साहित्यकार जगत्नन्दन सहाय ने किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा में भ्रष्टाचार

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

प्रेमचंद ने अपने लेखों और उपन्यासों में भारतीय शिक्षा पद्धति की काफ़ी आलोचना की है। यह ऐसी शिक्षा पद्धति है जो ग़रीबों को शिक्षा से दूर करेगी और खाते-पीते लोगों को ही सुलभ होगी। उनका विचार था कि स्वतंत्रता के बाद इसमें सुधार होगा। किन्तु, आज सबसे ज़्यादा भ्रष्टाचार, पुलिस, चुंगी व्यवस्था में है, उसके बाद, ब्यूरोक्रैसी और शिक्षा-क्षेत्र में हैं। स्वतंत्रता के बाद, शिक्षा और शिक्षकों में ऐसा भ्रष्टाचार होगा, किसी ने सोचा नहीं होगा। शिक्षा ऐसे व्यवसाय का रूप ले चुकी है जिसकी जड़ों में भ्रष्टाचार है। पिछले 30 साल में ऐसी गंदगी और सड़न इस विभाग में फैल चुकी है जो उसे निरंतर इसे मरणोन्मुख कर रही है। आज शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज को शिक्षित करना नहीं अपितु, उसे डाक्टर इंजीनियर बनाकर पैसा बनाने की मशीन तैयार करना है। शिक्षा का स्वरूप ज्ञानात्मक न होकर सूचनात्मक हो गया है, जहाँ न मानवीय मूल्य हैं, न मनुष्य की गरिमा की स्थापना है। नितांत वैयक्तिक लाभ और भोग-विलास की सुविधा का माध्यम होकर रह गई है, शिक्षा।

राजनीतिक हस्तक्षेप और चुनाव की राजनीति ने शिक्षा के क्षेत्र में हर सुधार की कोशिश को नाकाम कर दिया। प्रो0 नूरुलहसन ने, जब वे शिक्षा मंत्री थे, इस ओर कुछ प्रयास किये थे। उनका प्रस्ताव था कि शिक्षा के क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र में लाया जाय, ताकि विद्यालयों, महाविद्यालयों को निजी क्षेत्र के चंगुल से मुक्त कराया जा सके। निजी शिक्षा संस्थाओं के प्रबंधकों/प्रधानाचार्यों की मनमानी-आपाधापी पर अंकुश लगाया जा सके। श्रीमती गांधी को प्रस्ताव पसंद आया। उन्होंने कैबिनेट की बैठक में विचारार्थ उसे प्रस्तुत करने को कहा। किन्तु, कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़कर, जितने भी दलों से बात की गयी, सभी ने उस प्रस्ताव का प्रखर-मुखर विरोध किया क्योंकि, अधिसंख्य सांसदों की अपनी-अपनी शिक्षण संस्थाएँ थी, उनसे जुड़े स्वार्थ थे। श्रीमती गांधी चाहती थीं, शिक्षा के मसले पर आम राय से फ़ैसला हो किन्तु राजनेताओं के हस्तक्षेप ने एक सकारात्मक विचार की भ्रूण हत्या कर दी। प्रो0 नूरुल हसन ने हार नहीं मानी। उन्होंने, सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत सेण्ट्रल स्कूलों की स्थापना की। समूचे देश में समान पाठ्यक्रम लागू किया गया जिसका परिणाम है, आज देश में सेण्ट्रल स्कूलों की शिक्षा और स्तर निजी विद्यालयों की अपेक्षा कई गुना बेहतर है।

आज विश्वविद्यालय स्तर पर भी शिक्षा को निजी क्षेत्र में सौंप दिया गया है जहाँ मेडीकल और इंजीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना की जा रही है जिससे शिक्षा के व्यवसायीकरण में तेज़ी आयी है। लाखों रुपये खर्च करके अपने पालितों को डाक्टर इंज़ीनियर बनाने वाले अभिभावक अपने पालितों को, सेवा-समर्पण या मनुष्यता का पाठ क्यों पढ़ाऐंगे? ज़ाहिर है वे खर्च की गयी राशि को यथा संभव शीघ्र ही वापिस चाहेंगे। यह व्यवसायीकरण अंततः भ्रष्टाचार को ही जन्म देता है। सुना जाता है कि आज किसी निजी इंजीनियरिंग कॉलेज की मान्यता-प्राप्त कराने के लिए 15 से 20 लाख रुपये अदा करने होते हैं। निजी मैडीकल कॉलेज की मान्यता-प्राप्त करने के लिए 50 लाख से लेकर 1 करोड़ रु0 अदा करने होते हैं। बेसिक विद्यालयों की मान्यता के लिए 25 हजार, माध्यमिक विद्यालयों के लिए 75 हजार से एक लाख रु0, महाविद्यालय की मान्यता के लिए 15 लाख ख़र्च करने होते हैं, जो निर्धारित शुल्क के अतिरिक्त है।

शिक्षा-विभाग के एक जिला-स्तरीय अधिकारी ने बात करने पर बताया कि पैसा हम ही नहीं ले रहे। यह तो ऊपर तक जाता है। एक विद्यालय में जूनियर हाई स्कूल की मान्यता प्राप्त करने के लिए अधिकारियों से संपर्क किया गया तो उन्होंने विद्यालय भवन के क्षेत्र की नाप-जोख करायी, जिसमें निर्धारित क्षेत्रफल से डेढ़ फुट की कमी पायी गयी। विद्यालय के संचालकों ने अपेक्षित धनराशि अदा नहीं की लिहाज़ा विद्यालय को मान्यता नहीं दी गयी।

इसी प्रकार परीक्षा-केन्द्रों के निर्धारण का मामला है। पैसा दीजिए-मनमाफ़िक केन्द्र लीजिए। यह भी करोड़ों की कमायी का साधन है। यही स्थिति, सर्व-शिक्षा अभियान की है। वहाँ पुस्तकें खरीदी जाती है। कोई छोटा प्रकाशक वहाँ पुस्तकें देने की हिम्मत नहीं जुटा सकता। वहाँ का संजाल ही ऐसा है। एक प्रकाशक महोदय ने 'अभियान' अधिकारियों से संपर्क साधा। पुस्तकों की आपूर्ति के लिए। अधिकारी महोदय ने 5 लाख रु0 की माँग की ताकि वे 30 लाख रु0 की पुस्तकों की 'आदेश' कर सकें। प्रकाशक महोदय ने 5 लाख रु0 मूल्य की पुस्तकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आपूर्ति 25 लाख में कर दी। रातों-रात वे 20 लाख रु0 की राशि के स्वामी बन गये। अधिकारी महोदय को जब 5 लाख की राशि 500 रु0 के नोटों में भेंट की गयी तो उन्होंने आपत्ति की कि नोट 1000/- रु0 के हों। अधिकारी महोदय, संयोग से पूजा घर में विराजे थे। प्रकाशक को वहीं तलब किया। नोट छुए नहीं। रखवा लिए। प्रकाशक ने सिर झुकाकर आशीर्वाद भी ग्रहण कर लिया।

शिक्षा के क्षेत्र में, उच्चशिक्षा का अपना एक स्तर रहा है। व्यक्ति नहीं सरकार विश्वविद्यालयों की स्थापना करती थी। विश्वविद्यालयों पर सरकार का अंकुश था। कालांतर में, बड़े कॉलेजों, आश्रमों, ट्यूटोरिल हॉलों को भी डीम्ड-यूनीवर्सिटी बनाने का गोरखधंधा शुरू हुआ। डीम्ड विश्वविद्यालयों को मनचाही स्वायत्तता प्रदान की गयी। परिणाम यह हुआ कि, शिक्षकों को बँधुआ-मजदूर बना दिया गया। अपने मनःपूत पाठ्यक्रम संचालित किये गये। शिक्षकों को छुट्टियों में कार्यस्थल पर बने रहने और ग़ैर अकादमिक कार्य करने को विवश किया जाता है। संस्थापक/ कुलपति की सनक 'कायदा-कानून' है वहाँ। परिवार के सदस्यों की शासन/ प्रशासन चलता है। ऐसे विश्वविद्यालयों में वे ही पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं जिनके द्वारा पर्याप्त धन-उगाही की संभावना हो। साहित्य और समाज विज्ञान के विषयों की उपेक्षा की जाती है। व्यावसायिक पाठ्यक्रम केन्द्र में रखे जाते हैं। शोध के नाम पर लंबी रक्म ऐंठी जाती है।

आज की खुली बाजार-व्यवस्था में, शिक्षा सर्वाधिक प्रदूषित हुई है। शिक्षा मुनाफ़े का धंधा बन गयी है। आज आवश्यकता है, शिक्षा के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन की। शिक्षा का निजीकरण बंद हो। पूर्व में लिये गए निर्णयों की समीक्षा की जाय। शिक्षकों का सम्मान बरकरार रखने के लिए नियुक्तियों में पारदर्शिता बरती जाय। जो शिक्षक एक वर्ष का वेतन 'उत्कोच' में भेंट में देगा, वह नैतिक मूल्यों, मानवीय संवेदना और चारित्रिक महत्त्व को क्यों कर समझेगा ? किसी भी उन्नत देश में व्यावसायिक शिक्षा के साथ, देश की भाषा, संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान भी कराया जाता है। हमारे देश में भी, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, गुजरात विद्यापीठ, बनस्थली विद्यापीठ जैसी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी ताकि, छात्र-छात्राओं के लिए शिक्षा का उद्देश्य केवल 'उदर-पूर्ति' का साधन/ माध्यम न रहे, अपितु वे शारीरिक, मानसिक विकास के साथ सांस्कृतिक-चेतना संपन्न बनें, देश और समाज के प्रति अपने दायित्व को समझें। सामूहिक हितों के महत्व को जानें। निजी क्षेत्र शिक्षा को व्यवसाय में बदल रहे हैं, उसका परिणाम है, आज का नौजवान पैसा फेंककर किसी वस्तु की तरह शिक्षा ग्रहण कर रहा है और साक्षर होकर खर्च किया हुआ पैसा दुगनी ताकत से वसूलना चाहता है जिसकी परिणति अंततः भ्रष्टाचार में होती है। देश के नौजवानों को केवल साक्षर बना रही है, यह शिक्षा-व्यवस्था लोग भूल गये हैं कि शिक्षा का उद्देश्य है, अनुशासित और सभ्य मनुष्य का निर्माण।

विद्यालयों/ महाविद्यालयों में रैगिंग के नाम पर छात्र हत्या / आत्महत्या कर रहे हैं। छात्रों के बीच अति-महत्त्वाकांक्षा उनमें अवसाद, एकाकीपन और हीनताबोध का संचार कर रही है। उसका दुष्परिणाम होता है कि मेधावी छात्र भी आत्म-हीनता के चलते मानसिक-रोगी बन रहे हैं।

ऐसी शिक्षा-व्यवस्था में समय रहते आवश्यक और अपेक्षित बदलाव नहीं किये गए तो इसके दूरगामी भयंकर परिणाम निकलेंगे। अतः शिक्षा के निजीकरण को रोकने और शिक्षा व्यवस्था में मूल्य आधारित आमूल चूल परिवर्तन की ज़रूरत है।

(कुँवरपाल सिंह)

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान
साहित्य
साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

वर्तमान साहित्य–कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009

वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009 के लिए मौलिक, अप्रकाशित कहानियाँ आमंत्रित हैं। पुरस्कार राशि रु0 11,000=00 है, जो कमलेश्वर जी के परिवार ने इस प्रयोजन हेतु 'वर्तमान साहित्य' को प्रदान की है।

कहानियाँ साफ़ टाइप की हुई हों तथा तीन प्रतियों में हों। कहानी की हर प्रति पर लेखक का नाम व पता अवश्य हो। 3.कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 सितंबर, 2009 है। लिफाफे पर **'वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार'** अवश्य लिखें।

कहानियों का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जायेगा। चयनित कहानी पर पुरस्कार जनवरी, 2010 में प्रदान किया जाएगा।

कहानियाँ संपादक, वर्तमान साहित्य को निम्नलिखित पते पर भेजें।

संपादक 'वर्तमान साहित्य'
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
दूरभाष : 0571-2742038, 94122-72762

ई-मेल से भेजी कहानी प्रतियोगिता में स्वीकार नहीं की जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण

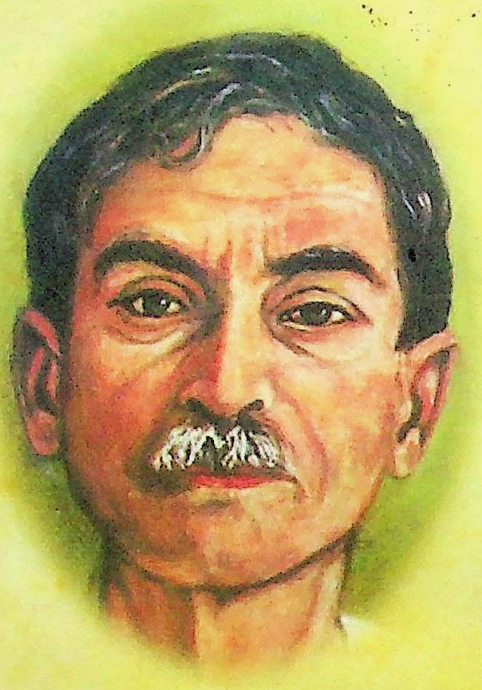

साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं
हृदय की वस्तु है।
जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है,
वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है

मुंशी प्रेमचंद
(1880 - 1936)

◇◇

दिल्ली सरकार
दिल्ली दीप - स्वयं करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिं
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितम्बर, 2009 ■ बीस रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

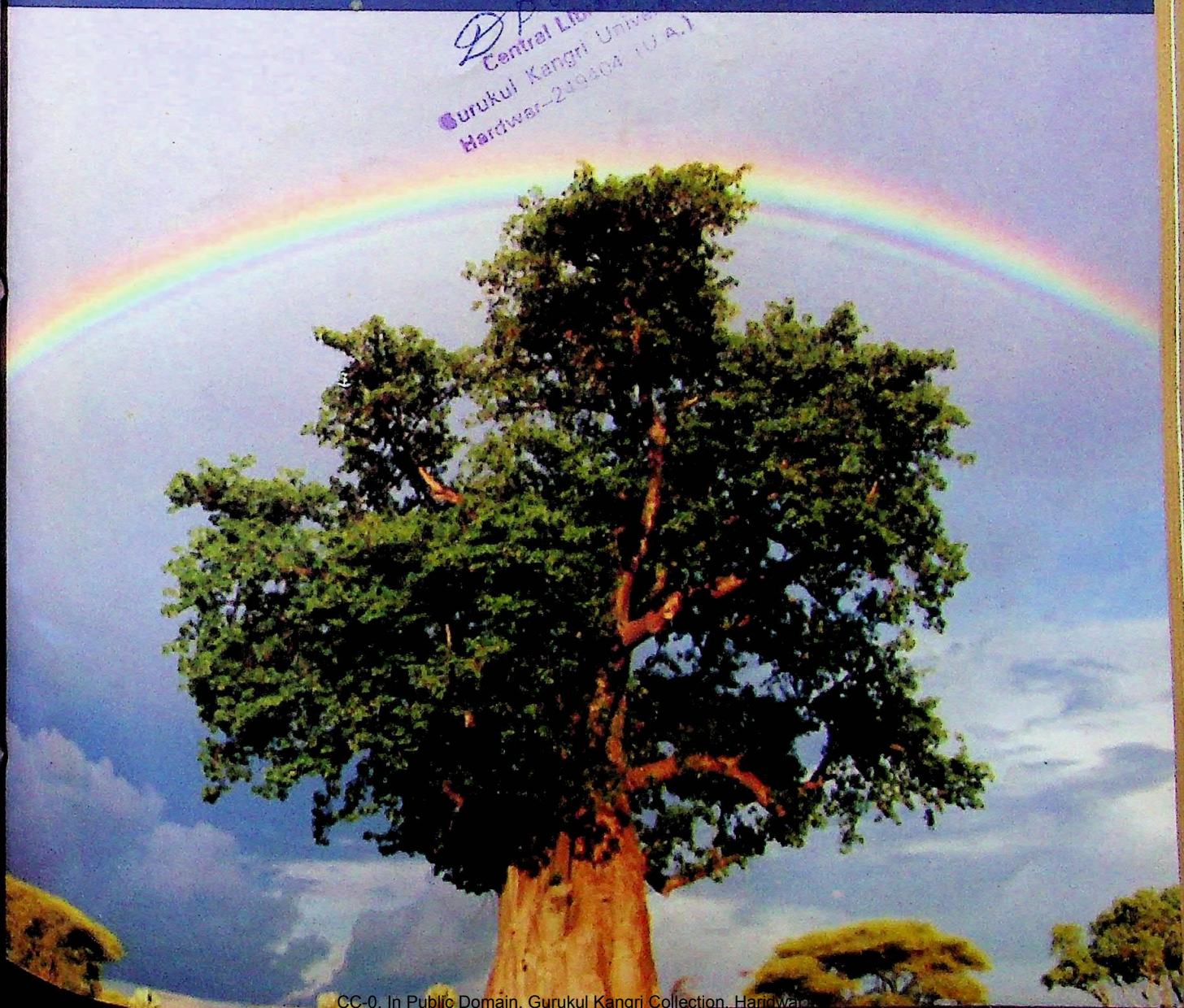

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वीरों का कैसा हो बसन्त"

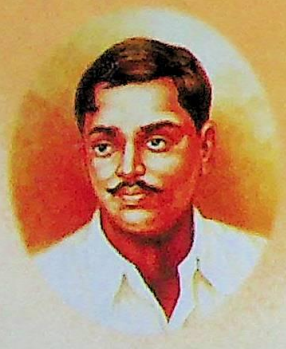

चन्द्रशेखर आज़ाद

ठाकुर रणमत सिंह

हल्दीघाटी के शिलाखण्ड
ऐ दुर्ग सिंहगढ़ के प्रचण्ड
राणा ताना का कर घमण्ड
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त
वीरों का कैसा हो बसन्त

– सुभद्रा कुमारी चौहान

राणा बख्तावर सिंह

तान्त्या भील

उदय चन्द जैन

गजानन सदाशिव पोतदार

प्रदेश के इतिहास के चमकते सितारे
हमारे पथ प्रदर्शक।

15 अगस्त, स्वतंत्रता दिवस मंगलमय हो।

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

वर्ष 26 ☐ सितम्बर, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com è vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; ☐ वार्षिक : 200/-; ☐ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ☐ आजीवन : 2000/- ☐ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
कुंवर पाल सिंह ☐ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
☐ अजय बिसारिया ☐ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

प्रबन्ध सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव
सलाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर
विशेष सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा
मुखांकन : बिसारत अली
मुखांकन : राजेन्द्र परदेसी, लखनऊ (उ.प्र.)

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

Central Library Gurukul Kangri University Haridwar

इस अंक में

पाठक मंच/2

अपनी बात/3

स्मरण : हबीब तनवीर
भारतीय रंगकर्म से भारतीयता का जाना/सत्यदेव त्रिपाठी/8
एक और शंबूक/अशोक तिवारी/13

शिक्षक दिवस के अवसर पर
शिक्षक और शिक्षा प्रशासन का संबंध/शिवरतन थानवी/14

कहानी
प्रतिबंध/द्वारकेश नेमा/17
शामगाह/वासुदेव/25
दवा/उन्मेष कुमार सिन्हा/32
खुल पंजों वाली चील/बलराम अग्रवाल/53

कविताएँ/ग़ज़ल/गीत
कविताएँ/कैलाश चन्द्र/36
कविताएँ/सतीश सागर/46
ग़ज़लें/कुमार विनोद/51
ग़ज़लें/ऋषिवंश/52
कविताएँ/सुहैल अख़्तर/60
तीन कविताएँ/केशव शरण/61
कविताएँ/कैलाश पचोरी/62

हिन्दी दिवस के अवसर पर
क्योंकि हिन्दी अभी तक ज्ञान की भाषा नहीं बन पायी है/ विनोद शाही/38

लघुकथा
मानसिकता/ओम भारद्वाज/40
कभी हारने में भी जोत है/ओम भारद्वाज/50
ऊपर से/ओम भारद्वाज/50

व्यंग्य रचना
हिन्दी दिवस और करवा चौथ/जीवन सिंह/41

डायरी
तो क्वार आ गया/रामदरश मिश्र/44

संस्मरण
न किसी की आँख का नूर हूँ/कुमार पंकज/47

पास-पड़ोस-मलयाली कहानी
देवी के बाल/सारा जोसफ/57

आज की बात
परंपरागत पंचायतें और प्रेम-विवाह/डा0 धर्मचंद विद्यालंकार/64

पुस्तक समीक्षा
जनचेतना की वाहक काव्ययात्रा/प्रेम शशांक/66
जीवन की रणभूमि में भाषा/डी0एन0 प्रसाद/67
आम औरत के सवालों पर लिखी गयी एक खास किताब/ शालिनी माथुर/68
व्यंग्य लेखन और समसामयिक यथार्थ/ डा0 वेदप्रकाश अमिताभ/70
एक साधू मिला/रूद्रदत्त चतुर्वेदी/71
स्वाधीनता आंदोलन में बुंदेलखंड का योगदान/जाहिद खान/72
लोकजीवन और प्रगतिशील मूल्यों को समर्पित कविताएँ/ नरेंद्र गौड़/73

रपट
वर्तमान साहित्य क्लब/आरती सिंह/75

सांस्कृतिक समाचार/76

समय संवाद
उच्चशिक्षा में बंधुवा मजदूर/कुँवरपाल सिंह/79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य' निरंतर मिल रहा है। अगस्त, 09 का अंक कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। संपादकीय में बहुत ही बेबाक तरीके से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है। मीडिया की अतार्किक आस्थापरक सोच पर भी उंगली उठाई गयी है। गिरते नैतिक स्तर पर चिंता करना अकारण नहीं है। कहानियाँ, कविताएँ, लेख और समीक्षाएँ तो हैं ही। महत्त्वपूर्ण है समय संवाद। अब कौन नहीं जानता कि शिक्षा में भी भ्रष्टाचार अपनी जड़ें जमा चुका है परंतु जितनी सूक्ष्मता से डा0 कुँवरपाल सिंह ने इस भ्रष्टाचार को उधेड़ा है उतना किसी ने शायद ही सोचा हो। शिक्षा क्षेत्र में उठता कौन सा क़दम नहीं है जो भ्रष्टाचार में सना हुआ नहीं है। पत्रिका दायित्व वहन करने में अपना ध्येय मानकर चल रही है।

हरपाल सिंह 'अरूष', मुजफ़्फरनगर

आपका संपादकीय महत्त्वपूर्ण लगा। सच है कि भारत में मेधा की कमी नहीं है, सिर्फ़ उचित सुविधा और अवसर की आवश्यकता है। हमें गर्व होता है कि हमारे देश के वैज्ञानिक भी समाज के लिए पूर्णतः समर्पित हैं। वे अपनी खोजों को, उपलब्धियों को स्वयं के लिए नहीं बल्कि संपूर्ण सृष्टि, मानव उत्थान के लिए अपनी मेधा को समर्पित करते हैं। अपनी उपलब्धियों को पेटेन्ट तक लेख पढ़कर दृष्टिकोण ही बदल गया। अभी तक जो भी लेख पढ़ने को मिले वे अपेक्षाकृत एकपक्षीय थे। मृदुला जी के इस लेख में संपूर्णता का अनुभव होता है। जीवन मूल्य, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, नारीवाद, नारी-विमर्श, राजतंत्र, समाज-तंत्र, सांस्कृतिकरण आदि विभिन्न पक्षों को एक जगह रख कर उनके आपसी संबंधों को बड़ी सहजता से विश्लेषित किया है। मृदुला जी की यह बात अच्छी लगी कि आज हम विवेक खोते जा रहे हैं। हमारे सारे निर्णय धर्म और इस उपभोक्ता वृत्ति पर आधारित हैं और विज्ञापन अनुप्रेरित बाजार है जिसने हमारे मन मस्तिष्क पर कब्जा कर रखा है।

संध्या मिश्रा, कानपुर

'अपनी बात' में वैज्ञानिक बोस के बहाने जो विचार व्यक्त किया है वह चक्षून्मीलक है। संभ्रांत और कुलीन परिवारों के बच्चे समाज के दिशा निर्देशक नहीं बन पाते, यह सच्चाई है। ऐसे विचारोत्तेज संपादकीय के लिर पाठकीय साधुवाद। मृदुला गर्ग, विजय बहा सिंह, धर्म चंद्र विद्यालंकार के निबंधों से इस अंक को विशिष्ट और उपादेयता मिली है, अतः गरिमा भी। इस अंक के लि बधाई। मंगलकामनाओं के साथ।

राजनारायण, देहरा

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक पाकर धन्य हुआ। इसमें आ मुझे स्थान दिया, आभार। यह भीड़ से अलग एवं ज़रूरी पत्रिका इसमें समय, समाज, साहित्य तथा राजनीति के समय सापेक्ष द की भरसक कोशिश रहती है। इसीलिए यह रचना और रचनाक की कसौटी है। संपादकीय की 'अपनी बात' से लेकर 'रू संवाद' में अपनी जड़ों से जुड़ाव को लेकर साधारणजन की श का विद्वतापूर्ण ढ़ंग से एहसास कराया गया है।

पुस्तक समीक्षाओं की सारगर्भिता और सशक्तता प्रभावि करती है। कुल मिलाकर अंक अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप दस्तावे है। परख की यह पारदर्शी दृष्टि सदैव बनी रहे-इसी शुभकामना के साथ।

रामबहादुर चौधरी 'चंदन', फुलकिया, बरियापु

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक मिला। धर्मचंद विद्यालंकार लेख 'अब सांस्कृतिक संघर्ष की बारी है' बेहद पसंद आया। छापने के लिए आपको धन्यवाद। ब्राह्मणवाद से मुक्ति सांस्कृ क्रांति के जरिये होगी, सिर्फ़ राजनीति के द्वारा नहीं।

जीतेन्द्र वर्मा,

आपको सूचित करना है कि- 'वर्तमान साहित्य', नवंबर, अंक के पृष्ठ 16 पर श्री मनोज तिवारी की कहानी (बलदेव और मैं) छपी थी। उक्त कहानी 'वागर्थ', के जुलाई 2009 में छपी देखकर श्री मनोज तिवारी से फोन द्वारा दो बार बात पहले तो उन्होंने कहा कि उक्त कहानी पूर्व में किसी पत्रि छप चुकी है, इसकी ख़बर उन्हें नहीं है। दुबारा मेरे द्वारा बत पर कि 'वर्तमान साहित्य' के नवंबर, 2008 में छपी है, कहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पत्रिका वालों ने मुझे सूचित नहीं किया।

मेरी समझ से किसी लेखक की ऐसी आदत सराहनीय नहीं है। मैं कतई मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि 'वर्तमान साहित्य' की लेखकीय प्रति उन्हें नहीं भेजी गई होगी।

'वर्तमान साहित्य' (जुलाई-2009) में 'चंदा की सराय' की भाषा आमपक्ष में नहीं है। अरबी-फारसी की बहुलता मन में खटास पैदा करती है। यही बात स्थानीय शब्दों में लबालब भरी कहानियों के संदर्भ में भी कहना चाहूँगा। पढ़ने की गति रुक जाती है। समझने के लिए भी शीर्षासन करना पड़ता है। अबूझ शब्द जहाँ तक कम रहे, उचित होगा।

(लेखकीय प्रति सदैव भेजी जाती हैं। श्री मनोज तिवारी को भी अंक प्रकाशित होते ही लेखकीय प्रति भेजी गयी।-संपादक)

चौधरी कन्हैया प्रसाद सिंह, आरा

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक मिला। आपने संपादकीय में महान वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बसु को उचित ढंग से याद किया है। वे हमारी परंपरा के श्रेष्ठतम जीवन-मूल्यों के वाहक थे। उन्होंने और सी0वी0 रमन जैसे वैज्ञानिकों ने मामूली सुविधाओं के बावजूद महान आविष्कार किये।

कवि-सम्मेलनों पर आलेख में वीरेन्द्र जैन ने लेखक संगठनों से अनावरण बदलने की गुहार की है। पर कवि-सम्मेलन वही नहीं होता जो प्रोफ़ेशनल आयोजक करवाते हैं। क्यों नहीं दस कवि मिलकर बिना किसी पत्रम्-पुष्पम् लोभ के उन आदमियों को कविताएँ सुनाने जा पहुँचते हैं जिनके पक्ष में कविताई करने का वे ढोल पीटते हैं? ड्राइंगरूमी चिंता दिखाने से कुछ नहीं होने वाला।

मेरा सुझाव है कि विश्व-साहित्य की धरोहर कविताओं-कहानियों पर आलेखों की एक श्रृंखला शुरू करें।

राकेश भारतीय, नई दिल्ली

मैं गत वर्षों से नियमित रूप से हर अंक पढ़ता आ रहा हूँ। नारी-उत्पीड़न पर केंद्रित कहानियाँ ''वीरांवाली'' और ''मुआवजा'' जी दहला देने वाली कहानियों में हैं। एक ही साथ न जाने कितने सत्य उजागर हो रहे हैं। वीरेन्द्र जैन द्वारा 'कवि सम्मेलन : इतिहास और दशा' आज के सत्य को बतलाता है। गीतकार नईम का पुण्य स्मरण वशिष्ठ अनूप के द्वारा, उनके गीतों से परिचित ही नहीं, एक साक्षात्कार कराता है। प्रकृति का दोहन-वृक्षों का कटना, अमानवीय वृत्ति है। साहित्यिक चर्चा के अंतर्गत सारे लेख-निबंध बहुत ही दमदार है।

अंक पठनीय है। वर्तमान साहित्य की अगली यात्राा उपलब्धियों एवं अगणित संभावनाओं से परिपूर्ण हो, यही मनोकामना है।

जगत्नन्दन सहाय, बिहार

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका जुलाई-2009 अंक में जबरीमल्ल पारख का 'प्रेमचंद की परंपरा' में जिन लोगों ने प्रेमचंद की रचनाओं पर दोष निकाला है उन लोगों ने प्रेमंचद की रचनाओं को समझा नहीं है। प्रेमचंद बहुत ही साधारण भाषा में लिखने वाले असाधारण व्यक्ति थे। कमल कुमार की 'वीरांवाली' कहानी बहुत अच्छी है। जब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं रहतीं हैं और शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझती हैं वहाँ स्त्रियाँ ही स्त्रियों की दुश्मन बन जाती हैं। चन्द्रलेखा ढ़ड़वाल की 'धर्म के लिए ही तो जा रही हूँ' विचारणीय है। पुरुष यह कभी नहीं चाहते कि स्त्रियाँ हमसे आगे निकलें। लेकिन गाँव हो या शहर अब पुरुषों को अपनी सोच बदलनी होगी। राजनारायण की 'मुआवज़ा' कहानी में जो निःसहाय है उन लोगों को मुआवज़ा लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। अनिशेट्टि श्रीधर की 'शो केस' कहानी बहुत अच्छी लगी। हमें स्वयं को व्यवस्था में 'शो केस' की तरह नहीं रखना चाहिए। तन, मन, धन से जो बन सके अपना सक्रिया सहयोग देना चाहिए। शिवरतन थानवी का 'जल जमुना जी का पानी रे' में शिक्षा बच्चों का भविष्य बनाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाती हैं इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा की ओर अधिकारियों को विशेष ध्यान दें। नवीन जोशी का 'परवाज़-घायल पंखों की ऊँची उड़ान' अच्छा लगा। पुरुष हमेशा स्त्रियों को दबाकर रखना चाहते हैं। अपने से ऊपर उठते देखना उन्हें पसंद नहीं आता है। कुँवरपाल सिंह के लेख में यह बात सत्य है कि जनता उसी को पसंद करती है और जिताती है जो जनता की समस्याओं को समझकर काम करता है, न कि अपनी जेबें भरता है। जनता को उसी को जिताना चाहिए जो समाज की रक्षा कर सके। सब कुछ जनता को हाथ में होता है जनता अच्छे व्यक्ति को भी चुन सकती है और बुरे व्यक्ति को भी।

जया सिंह, कानुपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

महान प्रकृति विज्ञानी चार्ल्स डार्विन का यह दूसरा जन्म शताब्दी वर्ष है। 12 फरवरी 1809 में जन्मे डार्विन ने अपनी खोजों के और गहन अध्ययन के आधार पर प्रकृति में पाये जाने वाले जीव-जंतुओं की उत्पत्ति और विकास के जो नये सिद्धांत दिये उसने धार्मिक संस्थाओं और धर्मग्रंथों में वर्णित विश्वासों के सामने प्रश्न चिन्ह ही नहीं लगाये बल्कि टकराव की स्थिति भी पैदा की। हम जानते हैं कि इन्हीं टकरावों और वैचारिक संघर्षों के बीच से ज्ञान के नये स्रोत निकले हैं जिन्होंने प्रागैतिहासिक कालीन मनुष्य को आज के समुन्नत मानव समाज में तब्दील किया है। वर्ष 2009 इस रूप में भी महत्त्वपूर्ण है कि यह संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा खगोल विज्ञान वर्ष के रूप में घोषित किया गया है। जन विज्ञान आंदोलन से जुड़ी संस्थाएँ इस अवसर को वैज्ञानिक चेतना के प्रचार और प्रसार के रूप में पूरी तरह इस्तेमाल करने के लिये प्रयत्नशील हैं। यह अवसर काल्पनिकता के आधार पर गढ़े गये, निहित स्वार्थी सामाजिक समूहों द्वारा मिथ्या चेतना और आस्थावादी चिंतन के सामने ज्ञान, विवेक और तार्किकता की स्थापना का है।

दुनियाँ के सभी धर्मग्रंथों में इस सृष्टि की रचना के अलग अलग तरीके वर्णित हैं। प्रारंभिक अवस्था में प्रकृति के अनोखे, समझ में न आने वाले व्यापार और क्रिया कलाप, जन्म और मृत्यु जैसी घटनाएँ, प्रकाश और अँधेरे की लुकाछिपी के साथ दिन और रात, बदलते मौसम जहाँ कभी आग बरसती तो कभी हिमसरीखी ठंड, पेड़- पौधे, वनस्पति, जानवरों की संगत, आसमान में चमकता सूरज तो छिटके दिखाई देते चाँद और अनगिनत तारे... और उनके बीच प्रागैतिहासिक प्राणियों का जीवन संघर्ष...। अंततः उच्चतम विकसित प्राणी के रूप में मनुष्य ने अपनी श्रेष्ठता संपूर्ण प्रकृति के मध्य स्थापित की और विकसित मनुष्य के मस्तिष्क की बौद्धिक क्षमता और चिंतन का निरंतर विकास और विस्तार हुआ। मानव सभ्यता के ऐतिहासिक विकास क्रम में सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर विकसित होते समूहों के, अलग-अलग कालखंडों में अपनी आवश्यकताओं और अनुभव के आधार पर आस्थाएँ और विश्वास भी निर्मित हुये। फिर मानव सभ्यता का विकास वर्चस्ववाद का विकास बनने लगा। संसाधनों की बहुलता और उन पर कतिपय व्यक्तियों या समूहों का आधिपत्य सामाजिक वर्चस्ववाद की आधार शिला निर्मित करने लगा। कहना न होगा कि मानव सभ्यता का विकास जहाँ एक ओर मानव समाज को विकसित और समुन्नत बना रहा था, वहीं शोषक और शोषित समूह भी निर्मित कर रहा था। सामाजिक समूहों को नियंत्रित और संयमित करने के लिये तथा वर्चस्ववादी समूहों द्वारा अपने आधिपत्य को बनाये रखने और उसके स्थायित्व तथा सुरक्षा के लिये धर्मग्रंथों के माध्यम से सामाजिक कानून और नियम बनाये गये। मानव सभ्यता के ऐतिहासिक विकासक्रम में किसी स्तर पर संभवतः यह आवश्यक भी था।

रूढ़ि होते धर्मग्रंथों की स्थापनाएँ और नियम कानून मानव की बौद्धिक जिज्ञासा और चिंतन के प्रवाह को कैसे रोक सकते थे। अपने चारों ओर प्रकृति के अनगिनत रहस्यों की जटिल गुत्थियाँ सदैव मनुष्य को चुनौती देती रही हैं। सभ्यता के विकास के अनवरत चक्रों के अनुभव मानव मस्तिष्क में गुंफित रहते हैं जो निरंतर उसे नये रास्तों को खोजने के लिये प्रेरित करते हैं। प्रकृति की चमत्कारी क्रियायें और पिंड उसे अपनी ओर खींचते रहे हैं। चाँद, सूरज, तारे, ग्रह-नक्षत्र, यह धरती और धरती से परे संपूर्ण ब्रह्मांड और इनमें अवस्थित नंगी आँखों से न दिखाई देने वाले नन्हें अमीबा सरीखे एक कोशीय जीव से लेकर विशालकाय प्राणियों तक का संसार... निरंतर नई खोजों ने हमारे ज्ञान में वृद्धि की है।

हमारी धार्मिक आस्थाएँ आहत होती हैं जब कोई नयी खोज या नया ज्ञान, उनके विरुद्ध तथ्य प्रस्तुत करता है। कोपरनिकस या गैलीलियो गैलीली या चार्ल्स डार्विन हों... ज्ञान की जिज्ञासा और अनुसंधान का श्रम, प्रयोगों के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित तार्किकता से निर्मित समाधान और सिद्धांत थे जो नये अबूझे रहस्य से पर्दा उठा रहे थे। उसे स्वीकार करना और मानव समाज के विकास में उस ज्ञान को स्थापित कर उसे जीवन का हिस्सा बनाना बौद्धिक ईमानदारी का तकाज़ा रहा है।

श्रोपशायर, इंग्लैंड में जन्मे चार्ल्स डार्विन को उनके पिता ने चिकित्सा विज्ञान पढ़ने के लिए एडिनबरा विश्वविद्यालय भेजा। आरंभ से ही प्रकृति विज्ञान में दिलचस्पी रखने वाले चार्ल्स को मेडिकल की पढ़ाई में जरा भी आनंद नहीं आया। वो कभी चर्म प्रसाधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला सीखने में दिन गुजारते तो कभी किसी प्रकृति-इतिहास अध्ययन समूह के सदस्य बन प्रकृति विज्ञान की बहसों में भाग लेते। समुद्र में पाये जाने वाले मेरुदंडविहीन जीवों के जीवन चक्र और शरीर रचना का अध्ययन उन्हें अधिक दिलचस्प लगा। एडिनबरा विश्वविद्यालय के संग्रहालय (जो उस समय योरोप का सबसे बड़ा संग्रहालय था) में वनस्पतियों के वर्गीकरण के कार्य में भी वे सहयोग कर रहे थे।

उनके पिता जो स्वयम् चिकित्सक थे, उनके द्वारा मेडिकल की पढ़ाई की उपेक्षा से बेहद नाराज हुए। अब उन्होंने उन्हें क्राइस्ट्स कालेज कैंब्रिज में बैचलर ऑफ आर्ट की डिग्री की पढ़ाई के लिये भेज दिया। उनके पिता राबर्ट डार्विन का विचार उन्हें धर्मशास्त्र के अध्ययन के लिये तैयार करने का था। डार्विन का परिवार धनी, कुलीन और उदारवादी था। उनके पिता इंग्लैंड के ऐंग्लीकन चर्च के अनुयायी थे तो माँ एकेश्वरवादी (यूनीटेरियन) आस्था की थीं (जहाँ केवल एक ईश्वर ही सर्वोच्च सत्ता है। ईसा मसीह उनके प्रतिनिधि-पुत्र हो सकते हैं लेकिन ईश्वर नहीं) चार्ल्स डार्विन और उनके भाई-बहन माँ के साथ यूनीटेरियन चर्च में प्रार्थना करने जाया करते थे।

कैंब्रिज में डिग्री प्राप्त करने के बाद डार्विन ने प्राकृतिक धर्मशास्त्र का अध्ययन किया जो प्रकृति के निर्माण में ईश्वरीय विधान का तर्क प्रस्तुत करती थी। इसके अनुसार प्रकृति में पाये जाने वाले जीवों और वनस्पतियों की संरचना में होने वाले परिवर्तनों को प्राकृतिक नियमों के अनुसार होना ही तर्क संगत माना गया जिनको अंततः ईश्वर संचालित करता है। अर्थात् नये परिवर्तन हेतु जीव-संसार की ग्रहणशीलता को मूलतः प्राकृतिक प्रक्रिया का हिस्सा मानते हुये इसके ऊपर ईश्वरीय विधान को स्वीकार करना। अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान की प्रक्रिया की तर्कपूर्ण व्याख्या करते हुए अंत में 'ईश्वर' को भी ऊपर से चस्पां कर दिया गया।

1831 में चार्ल्स एचएमएस बीगल जहाज पर सवार होकर दक्षिण अमेरिका के तटीय क्षेत्रों की यात्रा पर चले गये। उनकी यह यात्रा, जो पाँच वर्ष में पूरी हुई, उनके जीवन, उनके अध्ययन, खोज और चिंतन के लिये नया मोड़ साबित हुई। एक प्रकृति विज्ञानी के रूप में उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न मेरुदंडविहीन प्रजातियों वाले समुद्री जीवों का संग्रह कर उनका वर्गीकरण और अध्ययन किया। उन्होंने भूगर्भ विज्ञान के अपने पुराने, छूटे हुए अध्ययन को आगे बढ़ाया। उन्होंने पाया कि एक ही जंतु अलग-अलग स्थानों पर पाये जाने पर भिन्न-भिन्न परिवेश, परिस्थिति और जलवायु के आधार पर नया रूपरंग ग्रहण कर लेता है और नयी प्रजाति के रूप में विकसित होने लगता है। उदाहरणार्थ कछुए की विभिन्न प्रजातियाँ इस का संकेत देती हैं कि वे किस द्वीप के निवासी हैं। इस यात्रा के दौरान मुख्यतः गालापैगॉस द्वीप पर किये गये अध्ययनों में फिंच पक्षी पर उनका अध्ययन भी ऐसा ही था। जिन पक्षियों के बारे में उनका विचार था कि वे फिंच पक्षी के साथ अन्य प्रजातियों के पक्षियों की संकर जाति का परिणाम हैं, उन्हें भी फिंच पक्षी की लगभग 12 अलग प्रजातियाँ घोषित किया गया जो कालांतर में प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण भिन्न रूपरंग ग्रहण कर बदलाव की प्रक्रिया दिखा रही थीं।

यह डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत का एकरूपतावादी आधार था जिसमें परिवेशगत विशेषताओं और परिस्थितियों के कारण जीव-जंतुओं में होने वाले तत्वांतरण (म्यूटेशन) के फलस्वरूप रूपांतरित नयी प्रजातियों का सिद्धांत समाहित था। इसके आधार पर डार्विन ने अपना प्रसिद्ध विकासवाद का सिद्धांत स्थापित किया और निष्कर्षतः कहा कि समस्त जीव अंततः एक ही सामान्य पुरखे से उत्पन्न हुए हैं। विशाल समय के अंतराल में प्राकृतिक विकास क्रम से गुज़रते हुए वे विभिन्न जातियों और प्रजातियों के रूप में विकसित होते रहे हैं। इस विकास प्रक्रिया में प्राकृतिक परिवेश (भौगोलिक, वातावरणीय और सामाजिक) की निर्णायक भूमिका रही है। डार्विन ने इसे 'नेचुरल सलेक्शन' का नाम दिया। अर्थात् कैसे कोई प्रजाति लंबे अंतराल तक अपना अस्तित्व बचाये रखने में सक्षम रही और अनेक जीव जंतुओं की अनगिनत प्रजातियाँ कालांतर में कैसे नष्ट हो गयीं। डायनासौर और इस परिवार के अन्य विशालकाय जीव विलुप्त प्रजातियों के रूप में इसका अच्छा उदाहरण है। असंख्य विलुप्त जीवजंतुओं की उपस्थिति केवल जीवाश्म (फॉसिल्स) के रूप में उपलब्ध होती है और उनका अध्ययन खोई हुई कड़ियों को जोड़ने का काम बखूबी करता है। प्रजातियों के तत्वांतरण की क्षमता से विपरीत परिस्थितियों में भी बचे रहना डार्विन के संपूर्ण जीवजगत् के विकासवाद के सिद्धांत का मुख्य आधार है। डार्विन की पुस्तक "ऑन द ऑरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़" 1859 में प्रकाशित हुई। अपनी खोज और अध्ययन के दौरान डार्विन दूसरे वैज्ञानिकों और समाज विज्ञानियों के अध्ययन से न सिर्फ़ परिचित रहते थे बल्कि उनका समावेश उन्होंने अपने अध्ययन और सिद्धांतों के प्रतिपादन में ज़रूरत के मुताबिक किया। अध्ययन का यह विस्तार ही उन्हें यह अपेक्षित ऊँचाई दे सका।

इस संदर्भ में अर्थशास्त्री माल्थस की जनसंख्या संबंधी अवधारणा वाले लेख का उल्लेख करना उचित होगा जिसका जिक्र स्वयं डार्विन ने किया है। अक्टूबर 1838 में डार्विन ने जनसंख्या सिद्धांत पर माल्थस का प्रसिद्ध लेख पढ़ा। उस वक़्त वे अपने अध्ययन और प्रयोगों के निष्कर्षों को तरतीबवार संयोजित करने में लगे हुए थे। माल्थस ने अपने लेख में स्पष्ट किया था कि जनसंख्या पर यदि रोक न लगाई जाय तो यह ज्यामितिक आकार में बढ़ती जाती है। जल्दी हो ऐसी स्थिति आती है कि इसका आकार उपलब्ध भोजन संसाधनों से अधिक हो जाता है जिसे 'माल्थस आपदा' (माल्थस कैटॉस्ट्राफी) कहते हैं।

प्राकृतिक वरण (नेचुरल सलेक्शन) के सिद्धांत में जीव और वनस्पति जगत् में डार्विन भी कुछ ऐसा ही देख रहे थे जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाद्य संसाधनों की उपलब्धता में वे जीवित रहते और उनके अभाव में नष्ट हो जाते थे। डार्विन ने अनुभव किया कि जीव जगत् में भी हर प्रजाति अपने खाद्य संसाधनों से कहीं अधिक संतान पैदा करती है। जो संतानें नयी परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होने की क्षमता रखती है वो ज़िंदा रहती हैं और जो अक्षम होती हैं वो समाप्त हो जाती हैं। ज़िंदा बची प्रजाति अपने परिवर्तित गुणों को आगे की पीढ़ी में स्थानांतरित करती है और इससे धीरे-धीरे एक नयी प्रजाति अस्तित्व में आती है। जानवरों के अलावा डार्विन ने देखा कि यह प्रक्रिया किसान भी अपनी फसलों के साथ अपनाते हैं। इस प्रकार प्रकृति की आर्थिक संरचना में जो मजबूत है वह बचा रहता है और कमजोर बाहर धकिया दिया जाता है और नष्ट हो जाता है।

यह निरीक्षण भी डार्विन के प्राकृतिक वरण (नेचुरल सलेक्शन) और योग्यता का अस्तित्व (सरवाइवल ऑफ़ द फिटेस्ट) का आधार बना। जीव-जंतुओं की उत्पति को लेकर डार्विन ने जो प्राकृतिक विकास का सिद्धांत प्रतिपादित कर एक युगांतकारी काम किया, इसका कारण ये था कि एक प्रकृति विज्ञानी के रूप में उन्होंने वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान से लेकर भूगोल, भूगर्भ विज्ञान, पर्यावरण और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का न केवल गहन अध्ययन किया बल्कि निरंतर जीवों के, जीवाश्मों के नमूनों के विशाल संग्रहण के साथ उनका वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया और प्रकृति विज्ञान की सभी शाखाओं से मिलने वाली जानकारियों को तर्क पूर्ण वैचारिकता के साथ संयोजित किया। निश्चित रूप से इसमें उनके धार्मिक विश्वास भी आड़े आते रहे। नये अविष्कार और नया चिंतन जिन्होंने दुनिया की शक्ल बदल दी, वे इसी बौद्धिक ईमानदारी से उपजे हैं। वैचारिक चिंतन जिसकी पुष्टि तर्क और अनुभव और प्रमाण से होती है उसके सामने परंपरा और संस्कार की विरासत से मिले आस्था के बंधन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। आस्था और विश्वास के साथ नये अनुभव और चिंतन का टकराव यदि एक सतत् प्रक्रिया न होती तो समाज के इस विकसित रूप के आज हम गवाह नहीं होते।

आस्था और तर्क का यह द्वन्द समाज और राजनीति का जब हिस्सा बनने लगता है तब बौद्धिक ईमानदारी खतरे में होती है। विज्ञान तर्क सम्मत, सप्रमाण अनुभव के आधार पर सत्य की खोज का एक रास्ता है। सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य में निहित स्वार्थी समूह निश्चित रूप से वैज्ञानिक चेतना और सत्य के निष्कर्षों से असहज महसूस करते हैं।

इसीलिये एक काल्पनिक ईश्वर जिसने यह दुनियाँ बनाई, चाँद, सितारे, सूरज बनाये, यह संपूर्ण प्रकृति, जीव-जंतु बनाये, ग्रह नक्षत्र बनाये... वह सृष्टिकर्ता है। उसके अस्तित्व को चुनौती देना अधर्म है। उसकी सृष्टि को चुनौती देना, प्रश्न करना अधर्म है। उसके बारे में तर्क करना, कहाँ, क्यों! कैसे!! अधर्म है।

फिर बिना प्रश्न किये राह कहाँ खोजेंगे। ज्ञान का विस्तार कैसे होगा। वास्तव में सत्य ही विज्ञान है और सत्य ही ईश्वर का स्वरूप है। फिर इस सत्य से कैसा भय।

डार्विन के विकासवाद का भी अपने समय में आस्थावादियों द्वारा विरोध किया गया लेकिन डार्विन के सहयोगियों में अनेक वैज्ञानिक थे जो इसी प्रकार की खोजों में संलग्न थे। वे एक जुट थे और आस्थावादियों और धार्मिक कट्टरवादियों को जवाब दे रहे थे। यह जानकर क्या अजीब नहीं लगता कि आज भी डार्विन के विकासवाद पर इस्लामिक देशों में गंभीर विवाद है और सऊदी अरब तथा सूडान जैसे देशों में आज भी स्कूलों में यह विषय नहीं पढ़ाया जाता है। मिश्र में इसे हाल फिलहाल में पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। अमेरिका में भी विशेष रूप से दक्षिणी राज्यों में यह लंबे समय तक प्रतिबंधित रहा है।

इस संदर्भ में प्रसिद्ध 'स्कोप्स मुकदमे' का ज़िक्र करना समीचीन होगा। अमेरिका में 'बटलर कानून' के तहत राज्य से सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं द्वारा किसी ऐसे सिद्धांत का शिक्षण ग़ैर कानूनी था जो बाइबिल में वर्णित दुनिया के ईश्वरीय निर्माण के विचार के विरुद्ध हो और बताता हो कि मनुष्य का निर्माण प्रकृति द्वारा एक विशाल कालावधि में प्राकृतिक विकासक्रम की प्रक्रिया द्वारा हुआ।

1925 में चला यह मुकदमा अमेरिकी राज्य की शिक्षा प्रणाली में 'ईश्वरीय सृष्टि बनाम प्राकृतिक विकासवाद' सिद्धांत के रूप में चर्चित हुआ। बहुत लोगों ने परिहास के तौर पर इसे 'स्कोप्स मंकी ट्रायल' भी कहा, क्योंकि डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य जाति बंदर की एक प्रजाति से विकसित हुई है। डार्विन के समय में उसके विरोधियों द्वारा भी उनका इसी रूप में मजाक उड़ाया जाता था। उनके कार्टून बनाये जाते थे जिसमें दाढ़ीयुक्त डार्विन के चेहरे के पीछे बंदर का शरीर चित्रित होता था। अमेरिकन सिविल लिबर्टीज़ यूनियन ने इस मुकदमे को शक्ति परीक्षण के तौर पर लिया और डेटन टेनेसी हाई स्कूल के जॉन स्कोप्स नामक अध्यापक द्वारा बटलर कानून का उल्लंघन करते हुए इस मुकदमे की लड़ने का फैसला किया। जॉन स्कोप्स पर आरोप लगा कि उसने बाइबिल की संसार निर्मिति की आस्था के विरुद्ध चार्ल्स डार्विन की पुस्तक 'ऑन द औरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़' में वर्णित विकासवाद के सिद्धांत को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया। इस मुकदमे में सरकार की ओर से पैरवी की अमेरिका के राष्ट्रपति पद के तीन बार उम्मीदवार रहे और पूर्व विदेश मंत्री विलियम जेनिंग्स ब्रान ने जब कि बचाव पक्ष में मशहूर अटॉर्नी क्लेरेंस डैरो थे। उस वक़्त तक केवल दक्षिणी कैरोलिना, ऑक्लाहोमा और कैंटकी राज्यों में ही विकासवाद का सिद्धांत प्रतिबंधित था। इस मुकदमे के बाद सृष्टिवादियों ने चार्ल्स डार्विन के विकासवाद को पाठ्यक्रम में प्रतिबंधित करने का अभियान पूरे अमेरिका में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया गया। आज भी स्थिति यह है कि कट्टरपंथियों द्वारा जहाँ विकासवाद पाठ्यक्रम में शामिल है वहाँ बाइबिल की ईश्वरीय सृष्टिवादी अवधारणा को पढ़ाना अनिवार्य बनाने की कोशिश की जा रही है।

ज्ञान को सीमित करने की यह प्रक्रिया विभिन्न समाजों में चलती रही है। धार्मिक आस्थाओं के प्रति कट्टरवाद के पुनरुत्थान के साथ यह आज भी चल रही है। अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिये अथवा वर्चस्ववाद के लिये बौद्धिक विमर्श हेतु 'करो' और 'न करो' जैसे नियम लागू किये जाते रहे हैं। प्रेमचंद की कहानी 'पंच परमेश्वर' याद आती है। सारी मित्रता एक ओर, दुश्मनी एक ओर। जब पंच के सिंहासन पर विराज गये तब जो सच होगा वही कहेंगे। नफा हो या नुकसान हो।

बिल्कुल ताज़ा उदाहरण अभी भारतीय जनता पार्टी के वरिष्ठ नेता जसवंत सिंह की जिन्ना पर लिखी पुस्तक है। इतिहास किसी की बपौती नहीं है। देखना यह है कि जो प्रस्तुत किया गया है उसके क्या संदर्भ हैं, प्रमाण क्या हैं, दस्तावेज़ क्या कहते हैं। इतिहास की घटनाओं का, इतिहास पुरुषों का पुनः पुनः मूल्यांकन होता रहा है। कोई भी इतिहास पुरुष ईश्वर नहीं है कि उस पर सवाल न किया जा सके। सवाल केवल नीयत का है। बौद्धिक ईमानदारी की ज़रूरत है जो स्वार्थ और राजनीति से परे होती है। बंद समाजों में, बंद ज़हनियत के लोग कभी कोई नया काम नहीं कर सकते, देश-समाज और दुनियाँ को कुछ भी नया और आगे ले जाने वाला विचार, चिंतन अथवा आविष्कार नहीं दे सकते।

गैलीलियो हों, कॉपरनिकस हों, ये शिक्षा और संस्कार की दृष्टि से धार्मिक आस्था वाले थे, लेकिन ईमानदारी से जो उनके अनुभव थे, जो बौद्धिक चिंतन था वो उन्होंने दुनियाँ को दिया और मानव समाज के विकास में नये अध्याय जोड़े।

चार्ल्स डार्विन भी धार्मिक वातावरण में पले-बढ़े थे। उनका विज्ञान की विविध विधाओं का अध्ययन, उनके जीवन भर के प्रयोग और अनुभव, उनकी निरीक्षण पद्धति और उनसे निकले निष्कर्षों को उन्होंने ईमानदारी से प्रस्तुत किया और युगांतकारी विचार दिये जिसने इस सृष्टि की रचना को समझने में मदद की। जब आस्था और धार्मिक विश्वास आपके सोच और सरोकारों की बेड़ियाँ बन जाय तब चिंतन नष्ट हो जाता है और समाज की विकासगति रुकने लगती है।

दुनियाँ के सामने चार्ल्स डार्विन की अध्ययन पद्धति भी एक महती प्रेरणा के रूप में है। डार्विन की पुस्तक 'ऑफ़ ऑरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़' प्रकाशित हुई और आशा के विपरीत बेहद लोकप्रिय भी हुई। लेकिन उसका विरोध करने वाले भी कम नहीं थे। इंग्लैंड के ऐंग्लीकन चर्च के उदारवादी लोगों ने उसे स्वीकार करते हुए कहा कि नेचुरल सेलेक्शन का सिद्धांत भी ईश्वरीय विधान और इच्छा के तहत होता है और इस तरह उन्होंने एक बीच का रास्ता निकाला। 1870 तक डार्विन का सिद्धांत व्यापक रूप से स्वीकार्य हो चुका था।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

आवश्यक सूचना

वर्तमान साहित्य का साधारण मूल्य 18 से बढ़कर 20 रुपये हो गया है। यह कीमत जुलाई-2009 से लागू होगी। जिन सदस्यों ने अपना वार्षिक चंदा जून-2009 तक भेज दिया है। उन्हें एक वर्ष तक पत्रिका भेजे गये मूल्य पर ही मिलेगी।

अब जो नये सदस्य होंगे उनका वार्षिक चंदा 230/- रुपये का मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट होगा। बाहर का चैक पाँच सौ रुपये से कम का स्वीकार नहीं करते हैं। संस्थागत चंदा 300/- रुपये है। आजीवन व्यक्तियों को 2000/- तथा संस्थाओं को 2500/- रुपये देय होगा।

वर्तमान साहित्य रेलवे के सभी बड़े स्टेशनों पर स्थित ए.एच. व्हीलर्स के पास उपलब्ध है।

संपादक
वर्तमान साहित्य
28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-1
रामघाट रोड, अलीगढ़
E-mail : vartmansahitya@gmail.com
vartmansahitya@yahoo.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय रंगकर्म से भारतीयता का जाना...

सत्यदेव त्रिपाठी

हबीब तनवीर का जाना अनपेक्षित न था, पर 8 जून, 2009 को यह ख़बर एक आघात की तरह लगी। मन से उठी 'हाय' शब्दों में यूँ निकली—'आज भारतीय रंगकर्म से भारतीयता चली गयी...।'

जी हाँ, उनके हर नाटक को देखते हुए इस बात का गहरा अहसास होता था कि हम सच्चे अर्थों में एक भारतीय नाटक देख रहे हैं। इसका एक बड़ा कारण यह है कि हिन्दी के बाकी नाटाकें में यह अहसास प्रायः नहीं होता या कभी-कभार होता है। मराठी-बँगला आदि में प्रायः होता है—बहुत कुछ भाषा के कारण भी। किंतु, हबीब साहब में हर क्षण महसूस होता है कि 'यह है भारतीय नाटक...।' वे संस्कृत के क्लासिक 'मृच्छकटिकम्', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसंहार' करें या शेक्सपीयर ('मिड समर नाइट्स ड्रीम'—'कामदेव का अपना, वसंत ऋतु का सपना') करें, आप को नहीं बताया जाए या आपने वह न पढ़ा हो, तो क़तई नहीं जान पाएँगे, क्योंकि हबीब साहब के नाटक शैली-शिल्प, विधान-वितान, भाव-भाषा, तमीज़-अंदाज़, गीत-संगीत... हर कुछ में याने सर से पाँव तक इस क़दर खाँटी हो भारतीयता को परिभाषित करते हैं कि उन्हें देखकर भारतीयता के निकष निधारित किये जा सकते हैं। हबीब साहब ने यह भारतीय रसायन तब अपनाया, जब इप्टा से लेकर बाल नाट्य; रायपुर-अलीगढ़ से लेकर मुंबई-दिल्ली और रेडियो-फ़िल्म से लेकर राडा (रॉयल अकैडमी ऑफ़ ड्रैमेटिक आर्ट) के प्रशिक्षण तथा योरोप के तमाम स्थलों के थियेटर व कला का अनुभव-अर्जन कर चुके थे। इस सबके बाद हुआ यूँ कि वे रायपुर गये थे अपनों से मिलने-जुलने और वहीं अपने बचपन के स्कूल में 'नाचा' की एक प्रस्तुति देखने का मौक़ा मिल गया। विदेश में थियेटर के अनुभव के बाद जब उन्होंने उन कलाकारों की सहज प्राकृतिक कला देखी, तो इलहाम की तरह पाया कि यही असली रंगमंच है। तय किया कि इन्हीं के साथ अपनी शैली में थियेटर करना है। वहीं से छह कलाकारों को लेकर गये। यह फ़ैसला मामूली न था। पर, बात अंतस से निकली थी। ऐसे ही उन्होंने राडा के प्रशिक्षण में भी किया था। जहाँ जाने के लिए सब लोग तरसते हैं, उसे उन्होंने उस प्रतिष्ठित संस्थान व छात्रवृत्ति देने वाले भारतीय दूतावास आदि सबकी नाराज़गी के बावजूद एक साल बाद छोड़ दिया था। क्यों ? उन्हीं के शब्दों में सुनिए—''यदि मैं यहाँ और अधिक रुकता तो एक अभिनेता के रूप में आडंबरपूर्ण और अस्वाभाविक जाऊँगा। मैं अंग्रेज़ी में नहीं, वरन् अपनी भाषा में अपनी रंग-सक्रि को जारी रखने के लिए वापस जाऊँगा। यहाँ प्रयुक्त होने नियम और सिद्धांत मेरी भाषा में और मेरे देश में काम नहीं आ

यही बात ब्रेख़्त को लेकर भी है। ब्रेख़्त इन्हें पसंद हैं। प्र के दौरान् उन्हें ख़ासतौर पर समझने गये थे। उनसे प्रभावित हैं वही, कि अंधानुकरणपूर्वक नहीं। ब्रेख़्त को अपने देश-काल तरह भारतीय मुहावरे में ढालकर लेने के हामी हैं। ऐसा हुआ वरना एडिनबरा नाट्योत्सव में 'चरनदास चोर' देखकर कोई सम कैसे कहता—''लोकनृत्य और गीतों से सजी इस प्रस्तुति संस्कृत-परंपरा और ब्रेख़्त का अद्भुत समन्वय है।

याने भारतीयता का यह जज़्बा शुरू से ही सवार था, ऐसा फ़ैसला कराया। इस निश्चय के साथ उन्होंने 'नया थि की स्थापना की। और बस, वही खाँटी माटी उनकी पहचान ख़ासियत बनी। उन्हीं ठेठ गँवई कलाकारों के साथ वे आज काम करते रहे। अपनी भाषा को उन्होंने जड़ से उठाया—हि नहीं, छत्तीसगढ़ी। सूरदास ने ब्रज भाषा को राष्ट्रीय भाषा बना था और कहना अत्युक्ति न होगा कि हबीब तनवीर से छत्तीस को रंगमंच की राष्ट्रीय भाषा तो बनाया ही, अंतरराष्ट्रीय मंच प उसका लोहा मनवाया। जब हिन्दी तक न बोल सकने कलाकारों व एक अंचल की भाषा में बने नाटकों—चरनदास माटी की गाड़ी, मिर्ज़ा शोहरत, बहादुर कलारिन आदि... को राडा की उसी धरती पर गये, तो जो कहकर राडा को छोड़ा था, वह सिद्ध ही कर दिखाया। फ़रमाइश कर-करके 'चरनदास प्रदर्शन वहाँ कराये गये। छठे दशक से शुरू हुए उनके भारतीय रंगकर्म ने भूमंडलीकरण व बाज़ारवाद के दौर भी देखे वैसे ही पसंद किये जाते रहे—बल्कि बढ़ते रहे और इन नये से लुभाये, इसकी आड़ में अपनी भारतीयता व अपने भुलाकर भागने वाले आज के युग को मानो हबीब साहब हों कि भाई, सही अर्थों में लोकल हुए बिना ग्लोबल नहीं सकता।

इसे लोग 'लोक नाट्यकर्म' कहते हैं, पर हबीब सा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक के आगे का रंगकर्म मानते हैं। हालाँकि, इस पॉपुलर टर्म (लोक) के सामने उनका यह कहना माना नहीं जा सका-चलन में नहीं आया। यह हश्र साहित्य की उसी आँचलिकता वाला है, जो आज़ादी मिलने के बाद 'गाँवों की ओर चलो' की समझ के साथ आयी थी। वे लोग तो कहते रहे कि इसके दृश्य आंचलिक भले हों, दृष्टि आंचलिक नहीं हैं; पर वह माना कहाँ गया। हबीब साहब की रंग-दृष्टि व प्रयोग-सृष्टि को ऐसे संकीर्ण दायरे में नहीं डाला जा सका, तो यह श्रेय उनके रंगकर्म की व्यापकता को है और सुपरिणाम थियेटर-जगत् की सही समझ का—नाट्य-समीक्षा के अभाव के बावजूद। किंतु, हबीब साहब के इस लोक की ओर आने को उसी युग-प्रवाह के साथ जोड़कर ही देखा जाना चाहिए। नाम भी वही, उस दौर वाला ही है—'नयी कविता', 'नयी कहानी' और 'नया थियेटर'।

लोक के आगे की बात यथार्थ और प्रतिबद्धता की है। 'लोक' उनका माध्यम है—शैली-शिल्प है। पर, इतना पुरज़ोर व इसीलिए इतना पुरअसर है कि लोग उसी में उलझकर रह जाते हैं। उसी को उनके नाटकों का मक़सद मान लेते हैं। हबीब साहब का 'इससे आगे जाकर असली मक़सद तक पहुँचने' का आह्वान इसी यथार्थ व प्रतिबद्धता को समझने का है, पर लोग भी क्या करें? यह विधान बना ही ऐसा सटीक, मौलिक व मौजूँ है कि आदमी का उलझकर रह जाना लाज़मी है—"दिया है दिल अगर उसको, बशर है, क्या कहिए!" लेकिन जो अध्येता उससे आगे जाते हैं, वे साफ़-साफ़ देख पाते हैं कि हबीब साहब का नाट्य-कर्म वामपंथी सोच से संवलित है। 'इप्टा' के साथ उस दौर में रहना भी इसका प्रमाण है। यह इस हद तक भी है कि इनके रंगकर्म को 'पॉलिटिकल थियेटर' कहने वाले ऐसे लोग भी हैं, जिनकी आस्था मार्क्सवाद-विरोधी है या जो हबीब साहब के नाट्य-कर्म के समझ बौने होने लगते हैं। परंतु इनकी दृष्टि- बेधकता और जैसा कि कहा गया, ग़ज़ब के रंग-बोध से बने सृजन से ऐसे कथनों का संहार अपने आप होता गया।... यह सृजन मुख्य धारा से किनारे कर दिये गये लोगों की पीड़ा का चितेरा है। जाति-पाँति, धर्म-संप्रदाय, धनी-ग़रीब... जैसे भेदों को ख़त्म करके समानता व स्वतंत्रता की स्थापना पर आधारित मनुष्यता का पक्षधर है। ये मूल्य किसी लेबल के बिना भी हमारे लोक में मौजूद रहे हैं और हैं। इसी को हबीब जी ने भारतीयता के पर्याय के रूप में अपनाया व साधा है। लोगों तक पहुँचाया है, जो बखूबी पहुँचा भी है। जो इनके यहाँ प्रायः शोक या यंत्रणा बनकर नहीं, आता, व्यंग्य-विद्रूप-विनोद या विरोध बनकर आता है। ध्यातव्य है कि ये वृत्तियाँ भी हमारे लोक की हैं। सच्ची भारतीयता हर ज़ोर-ज़ुल्म से विरोध में बसती है। हबीब साहब की जुझारू वृत्ति किसी से छिपी नहीं। उनकी रंग-यात्रा में विरोधों से जूझने के जितने पड़ाव हैं, उतने शांति-सुकून के नहीं हैं। शायद इसी में उन्हें शांति-सुकून मिला करता था। वरना 'पोंगा पंडित' के ख़िलाफ़ जो कुछ हुआ कोई दूसरा होता, तो टूट भी सकता था। या तो नाटक बंद कर देता या समझौता कर लेता। हबीब साहब अस्सी पार की उम्र में भी और सांप्रदायिक शक्तियों के सत्ता-काल में भी, इससे विचलित हुए बिना इस राह पर चलते रहे और, चुपचाप नहीं, बल्कि हर प्रतिरोध पर रिऐक्ट करते रहे। प्रतिरोधी शक्तियों के पास समझ होती, तो वे देख पाते कि यदि 'पोंगा पंडित' में ब्राह्मणी लालच व कर्मकांडी ढकोसलों की पोल खोली गयी है (और यह तो तमाम हिन्दू लेखकों ने भी कितनी बार खोली है—मोटेराम की डायरी, प्रायश्चित... आदि), तो मुस्लिम कट्टरपंथियों को और अधिक बेनक़ाब करने वाला 'जिस लाहौर न देख्या' भी तो उन्होंने खेला है, जिसमें सीधा व सीरियस आक्रमण है—'पोंगा पंडित' जैसा हास्य-विनोद नहीं। विवाद ज़्यादा हुए इसी धार्मिक मामले को लेकर, पर हबीब साहब के यहाँ व्यवस्था पर चोट करने का जज़्बा ज़्यादा है, लेकिन इस पर बवाल करने का अब रिवाज़ नहीं रहा—शायद अपने बेपर्द होने के डर से व्यवस्थापक ही नहीं होने देते। 'सड़क' जैसे नाटक इस थीम के सिरमौर हैं, पर मैं यहाँ एक दुर्लभ उदाहरण देना चाहूँगा, जो एक संपूर्ण नाट्यकर्मी हबीब साहब के शायर रूप का है। कहने की बात नहीं कि वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने राज्यसभा की सदस्यता के कार्यकाल में यह मामूली-सी लगने वाली कविता सुनायी थी। आप स्वयं देखें उसकी मार्मिकता... शीर्षक है—'रामनाथ' :

रामनाथ ने जीवन पाया साठ साल या इकसठ साल
रामनाथ ने जीवन में कपड़े पहने कुल छह सौ गज़
पगड़ी पाँच, जूते पंद्रह
रामनाथ ने अपने जीवन में कुल सौ मन चावल खाया
सब्जी दस मन,
फाके किये अनगिनत, शराब पी दो सौ बोतल
अजी पूजा की दो हज़ार बार
रामनाथ ने जीवन में धरती नापी
कुल जुमला पैंसठ हज़ार मील
सोया पंद्रह साल।
उसके जीवन में आयीं, बीवी के सिवा, कुल पाँच औरतें
एक के साथ पचास की उम्र में प्यार किया
और प्यार किया नौ साल
सत्तर फुट कटवाये बाल और सत्रह फुट नाख़ून
रुपया कमाया दस हज़ार या ग्यारह
कुछ रुपया मित्रों को दिया, कुछ मंदिर को
और छोड़ा कुल आठ रुपये उन्नीस पैसे का कर्ज़...
...बस, यह गिनती रामनाथ का जीवन है
इसमें शामिल नहीं चिता की लकड़ी, तेल, कफ़न,
तेरहीं का भोजन
रामनाथ बहुत हँसमुख था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने पाया एक संतुष्ट-सुखी जीवन
चोरी कभी नहीं की—कभी कभार कह दिया अलबत्ता
बीवी से झूठ
एक च्यूँटी भी नहीं मारी—
गाली दी दो-तीन महीने में एक आध
बच्चे छोड़े सात
भूल चुके हैं गाँव के सब लोग अब उसकी हर बात

'नया थियेटर' है तो लोकाधारित, उसी से निर्मित; लेकिन उसे 'पेशेवर रंगमंच' (प्रोफ़ेशनल थियेटर) बनाने की कल्पना की हबीब साहब ने। शायद रंगमंच को पेशेवर बनाने का यह आइडिया हिन्दी थियेटर में पहली बार तभी आया। लोक और पेशे में मूलतः अंतर्विरोध रहा है (मैं आज की बात नहीं कर रहा हूँ, जब सब कुछ ही पेशे तो क्या बाज़ार में तब्दील हो गया है), पर, ऐसे अंतर्विरोधों को साधना ही तनवीर साहब को 'हबीब' रहा है और उन्होंने इसे भी करके दिखा दिया। तात्पर्य यह नहीं कि पेशे के रूप में सफल कर गये, बल्कि यह कि एप्रोच पेशेवर हो गयी। उदाहरण के लिए, जिस भी नाटक को जब कहिए, प्रस्तुत कर देने के लिए तैयार। इसकी सिद्धि के लिए जो सबसे बड़ा परिवर्तन किया हबीब साहब ने, वह प्रस्तुति की सेट के तामझाम से मुक्ति का है, जिससे कि जब जहाँ चाहो, खेल दो। इसे तकनीकी भाषा में 'प्रोसिनियम से निकालकर जनता के बीच में ला देना' भी कहते हैं। वे कहा करते थे कि कहानी को कहने में जितने भी अवरोध आते हैं, उसे बेधड़क निकाल दो। दीवारों के बीच न कला पनपती है, न कलाकार लेकिन, अब इस चर्चा को यहाँ रोक देना होगा, वरना जिस थियेट्रिकल गैलरी में जाना पड़ेगा, उसके लिए यह स्थल नहीं है।

हाँ, तो इसी सब के चलते 'माटी की गाड़ी', 'आगरा बाज़ार', 'चरनदास चोर', 'बहादुर कलारिन', 'गाँव के नाँव ससुरार मोर नाँव दमाद...' आदि जाने कितने ही नाटक हमेशा चलते रहे— फिर-फिर बनते रहे...। 'आगरा बाज़ार' पहले एक लघु रूपक था, फिर पूर्ण नाटक बन गया। 'जिस लाहौर नहिं देख्या' को 'डब्ल्यू0एस0एफ0, मुंबई' में मैंने 45 मिनट का देखा और पूरा देख चुकने के बाद मुझे भी वह अधूरा या संपादित नहीं लगा, तो पहली बार देखने वालों को क्या लगा होगा? इस नाटक को मैंने समय-समय पर घटी घटनाओं के मुताबिक इंप्रोवाइज़ करके करते देखा है और मूल संवेदना पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। सो, पेशेवर से मूलतः मेरा मतलब यह था। हाँ, दो-ढाई दर्जन कलाकारों को नौकरी देना तथा समूह के लिए स्थल व संसाधन मुहय्या करा लेना तो है, पर वह मामला ज़्यादा सरकारी है, जो यहाँ विवेच्य नहीं। हाँ, इसे लेकर प्रवाद भी कम न थे, जिसमें अफ़वाह ही ज़्यादा रही, जिसका प्रमाण शायद आगे मिल सके।

अपनी इन थियेट्रिकल मान्यताओं तथा उसे साधने वाले रंग-शिल्प व उसे साकार करने वाले उन ठेठ कलाकारों को हबीब साहब ने कैसे-कैसे साधा... आदि पर ढेरों सामग्री मौजूद है—लोगों की लिखी, खुद उनकी लिखी व तमाम साक्षात्कारों में उनकी कही। जैसे वे जमकर नाटक करते, उसी तरह जमकर लिखते-बतियाते भी, पर मेरा ही दुर्भाग्य रहा कि कई अवसरों के बावजूद कोई बातचीत तैयार न हो पायी। पहले अवसर का ज़िक्र रोचक होगा. .. मुझे गोवा (विश्वविद्यालय) में गये कुछ ही दिन हुए थे कि पंजिम की कला अकादमी में 'माटी की गाड़ी' का शो होने की ख़बर मिली। दिल बल्लियों उछलने लगा... मुंबई छोड़ने के कुछ ही दिनों पहले 'पृथ्वी नाट्योत्सव' में 'आग़रा बाज़ार' देखकर गया था—खुमारी उतरने का नाम नहीं ले रही थी। वहाँ छोटी जगह में ऐसे अवसर यूँ भी कम आते हैं और फ़ुर्सत कुछ ज़्यादा रहती है। सो, झटपट एक इंटरव्यू की योजना बना डाली। उनके आते ही जाकर मिला और शो के तुरंत बाद का समय भी मिल गया। औपचारिक अभिवादन एवं सदिच्छा-संवाद के अलावा यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। ज़ाहिर है, बेहद उत्साहित था। शो देखकर और 'चार्ज्ड' हो गया। हबीब साहब ने 'राजा का साला' की भूमिका की थी। मज़ा आ गया था। नेपथ्य में पहुँचा और पाँच मिनट में प्रशंसकों के जाने के बाद हबीब साहब ने बातचीत शुरू करने का इशारा किया और गहन मेकअप को स्वयं उतारते हुए सारे प्रश्न सुनने की इच्छा ज़ाहिर की। मैंने एक-एक सवाल पढ़ना शुरू किया—वे स्वीकार में सिर हिलाते रहे... कि 3-4 सवालों के बाद एक सवाल आ गया, जो मामला थोड़े ही दिनों पहले 'संडे मेल' में पढ़ने को मिला था—"आपके और रामचंद्र देशमुख के छत्तीसगढ़ी रंग-कर्म में क्या अंतर है और किन मुद्दों पर आप दोनों में मतभेद है?"

उनका तेवर थोड़ा-सा बदला, प्रतिप्रश्न आया—"तो, आप भी लिखने वाले हैं?"

मैं ज़्यादा कुछ भाँप न पाया और उसी रौ में कह गया—"आप जो जवाब देंगे, उसे ज़रूर लिखूँगा...."

बस, वे झटके से यूँ खड़े हुए कि मैं डर ही गया। दरवाज़े का रास्ता दिखाते हुए गरजे—"'निकल जाइए आप। मुझे कोई बात नहीं करनी आप से..." सब कुछ अचानक बदल गया। मैं चकित अवाक्... मामला समझने की कोशिश कर रहा था और वे न जाने क्या-क्या तड़कते जा रहे थे। आवाज़ सुनकर मोनिका जी (उनकी पत्नी) आयीं। उन्हें शांत किया। मुझसे पूछा कि मैंने क्या कह दिया... बताया कि उन्हें हाई बी0पी0 है। फिर पानी आया। शांत चाय भी पी गयी। उनका मेकअप उतरा। हम किसी और कमरे में बैठे। बातें हुईं। पता लगा कि रामचंद्र देशमुख लोक-नाट्य के नाम पर कमाने-खाने का धंधा करते हैं और अख़बारों वग़ैरह में अपने को हबीब साहब के प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रोजेक्ट करते हैं, जो उन्हें बहुत नाग़वार लगता है। क़ायदे से बात पूरी भी हुई, पर मैं लिख न सका—शायद जिस बेक़ायदे से शुरूआत हुई, उससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिदक गया—इतना बड़ा कलाकार इतनी-सी बात पर इतना बेक़ाबू कैसे हो सकता है, यह दंश सालता रहा। अंदर से बिदकना ऐसा रहा कि लेंस का कवर खोले बिना ही मैंने फ़ोटोज़ ले डाले थे, जिसका पता घर जाकर लगा।

यह 18 साल पहले की बात है, वरना ऐसा न होता...। पर उनके काम से इतना मुतास्सिर रहा कि उनके नाटक देखता रहा। गोवा के बाद मैं पूना चला गया। वहाँ 'थियेटर अकादमी' के फ़ेस्टीवल में भेंट हुई। उन्होंने पहचाना नहीं, मैं क्यों बताता? अच्छा ही लगा—कटु स्मृति नहीं रही। याद आता है कि 'बाल गंधर्व' में सुबह खुली बातचीत थी। बंसी कौल भी मंच पर थे, नाटक लेकर आये थे। दोनों से बातचीत शायद महेश एलकुंचवार जी कर रहे थे। कोई गीत गाने की फ़रमाइश हुई। बंसी भाई बगली काट गये, तो हबीब साहब से विनम्रतावश कहा गया कि आप अपने किसी कलाकार से गवा दीजिए। मुझे उनके शब्द याद हैं। खींचकर बोले थे—"क्यूँकर? तक़ाज़ा मुझसे हुआ है।" और अपना वो प्रिय 'पॉप्युलर' गीत सुनाया था—'सास गारी देवे, ननद मुँह लेवे, देवर बाबू मोर... सइंया गारी देवे, परोसी ग़म लेवे...।' और इन तमाम रूपों में समझ में आया 'प्रतिभाएँ जुनूनी हुआ ही करती हैं।' (कबीर के लिए द्विवेदी जी की कही बात)। नये सिरे से बात करने की इच्छा बलवती होती रही....।

आख़िरकार, भोपाल जाकर बात करने का समय लिया, पर दुर्दैव ने पीछा नहीं छोड़ा। निश्चित तारीख़ से एक सप्ताह पहले ख़बर आयी—उसी वक़्त हबीब साहब को कहीं जाना पड़ गया और बात रह गयी। भेंट हुई 2003-04 में जाकर इप्टा, रायगढ़ के नाट्योत्सव में, जो हबीब साहब पर ही केंद्रित था। मैं ख़ास प्रेक्षक के रूप में आमंत्रित था। छह दिन साथ रहने का मौक़ा मिल रहा था। पहुँच गया। फिर तो उठना-बैठना, खाना-पीना साथ होता। तमाम बातें होतीं। रिहर्सल देखते। बस, रात को सोने भर के लिए नज़रों से दूर रहते। उस वक़्त वे 80 साल के पार थे और उनकी सक्रियता हैरत में डालने वाली थी। 16-17 घंटे काम करते। स्मृति ग़ज़ब की...! सब कुछ याद। किसी भी विषय पर एकदम अपडेट। ढेरों बातें होती रहीं, पर जानबूझकर छिट-पुट ही, क्योंकि आयोजकों ने विधिवत साक्षात्कार का एक सत्र रखा था; जिसमें तमाम श्रोताओं के बीच मुझे उनसे बात करनी थी। वह समय आया भी, बातें ख़ूब जमकर हुईं। हबीब साहब अपने स्वभाव के मुताबिक़ खुलकर बोले। याद में बस गये एक उदाहरण का मोह-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ...

उनके व्यस्त कार्यक्रम को सुनते-सुनते बीच में चुहल के अंदाज़ में पूछ बैठा था—"इतने कामों के बीच शादी का समय कैसे निकाल पाए? उन्होंने तपाक से कहा—मोनिका जी के पक्ष वालों का दबाव बढ़ता जा रहा था। मेरे काम कम होने का नाम नहीं ले रहे थे। एक दिन घेराव जैसा कर लिया। बस, मैंने कैलेंडर खोला। बताया कि देखो—"ये-ये तारीखें शो की हैं। ये-ये रिहर्सलों की हैं। इस-इस दिन मीटिंग है। ये व्याख्यान हैं। ये वर्कशॉप हैं.... अच्छा लो, यह एक डेट खाली है। उस दिन करना है, तो जहाँ कहो, मैं आ जाऊँ। यह नहीं हो पाया, तो मैं कह नहीं सकता कि कितने दिन लग जाएँगे कोई खाली दिन पाने में। चुनांचे उसी दिन हो गयी। "बस! मैंने चुहल आगे बढ़ा दी—"फिर हनीमून कैसे मना?"

हबीब साहब उतने ही तपाक से—"वो तो आज तक नहीं मना।

...गरज़ कि ऐसी बहुत-सी बातें हुई थीं।

लगभग दो घंटे रेकॉर्डिंग लाइव कैमरों में दर्ज़ हुई। हबीब साहब से टुकड़ों में हुई ढेरों बातों को मिलाकर सोचा था कि बढ़िया-सी स्टोरी बनाऊँगा। उनकी कार्य-पद्धति देखी थी। अपनी टीम के साथ उनके सलूक का चश्मदीद हुआ था। बड़ा सुन रखा था कि शोषण करते हैं, उनसे नौकरों की तरह पेश आते हैं। इसीलिए, मैंने लगभग सभी सदस्यों से बातें की थीं। पहले कोई तैयार न हुआ। शायद हबीब साहब के कानों तक बात पहुँची। उन्होंने कुछ कहा होगा। फिर सबने बातें कीं—नगिन (उनकी एकमात्र संतान) ने भी। कुछ ने कम, कुछ ने ज़्यादा। पता लगा कि सभी कलाकार ख़ुश हैं। मानते हैं कि 'साहब' न होते, तो उन्हें कौन पूछता ? हबीब साहब सबकी निजी समस्याओं से भी वाक़िफ़ रहते हैं। उन्हें हल भी करते हैं। हर तरह की बातें उनसे होती हैं। एक मज़ेदार बात मालूम मालूम हुई कि रामचरन निर्मल ने एक व्यंग्य-विनोद भरी कविता लिखी है हबीब साहब पर। किसी को न बताने की शर्त पर उसने मुझे सुनायी और मैंने लिख ली। बाद में पता लगा कि सभी जानते हैं, सभी सुन चुके हैं। पता हबीब साहब को भी है—शायद सुनी भी हो। तो क्या निर्मल मुझे बना रहा था या परीक्षा ले रहा था। इस वक़्त मैंने खोजी, तो फ़ाइल में दबी पड़ी मिल गयी। आप सुनना चाहेंगे? क्या छिपाना, जब सभी जानते हैं। असली मज़ा आएगा, उन्हें जानने वालों को :

होकर कौतूहल के बस में/ गया एक दिन मैं सर्कस में
भै बिस्मय के काम अनोखे/ देखे बहु व्यायाम अनोखे
एक बड़ा-सा बंदर आया/ उसने झटपट लैंप जलाया
डट कुर्सी पर पुस्तक खोली/ आ तब तक मैना यूँ बोली-
हाज़िर है हुज़ूर का घोड़ा/ चौंक उठाया उसने कोड़ा
आया तब तक एक बछेड़ा/ चढ़ बंदर ने उसको फेरा
टेटू ने भी किया सपाटा/ टट्टर फाँदी चक्कर काटा
फिर बंदर कुर्सी पर बैठा/ मुँह में चुरुट दबाकर ऐंठा
माचिस लेकर उसे जलाया/ और धुआँ भी खूब उड़ाया
ले उसकी अधजली सलाई/ टेटू ने यों तोप चलायी

इसके आगे के संकेत मुझे भी समझ में नहीं आते, पर पढ़ लें...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मनुष्य अंत में आया/ पकड़े हुए सिंह को लाया
मनुष्य-सिंह की देख लड़ाई/ की मैंने इस भाँति बड़ाई
किसे साहसी जन डरता है/ नर नाहर को वश करता है
मेरा एक मित्र तब बोला/ भाई, तू भी है बस भोला
यह सिंही का जना हुआ है/ किंतु स्यार अब बना हुआ है
यह पिंजड़े में बंद रहा है / नहीं कभी स्वच्छंद रहा है
छोटे से यह पकड़ा आया/ मार-मार कर गया सिखाया

बता दूँ अपने दुर्भाग्य की बात। जब मुंबई आने के काफ़ी दिनों बाद तक लाइव कैमरे की रेकॉर्डिंग नहीं आयी, तो उषा व अजय आठले को फ़ोन किया। पता लगा कि वह पूरी रेकॉर्डिंग किसी हादसे का शिकार होकर नष्ट हो गयी। मन तड़पकर रह गया। यह कह-कहकर संतोष किया कि 'कुछ इच्छाएँ अधूरी रह जाएँ, तो जीवन में आस्था बनी रहती है। अब वे यादें ही ज़िंदा हैं. .. ख़ैर!

उनकी टीम में ऐसा हँसी-ख़ुशी, हास्य-विनोद का माहौल देखा लेकिन अपने जन्मप्रदेश के जनसामान्य में हबीब के प्रति जो सम्मान देखा, वह रोमांचक है। एक शाम मिलन-यात्रा निकली। यह आयोजन भी भारतीयता की उसी परंपरा का अंग है, जिसके पोषण का हामी हबीब जी का पूरा रंगकर्म है। आगे-आगे हबीब साहब पैदल ही...। साथ में, ग्रुप के कलाकार, रंगोत्सव के आयोजक व हम सब और पीछे बढ़ता हुआ हुजूम। रास्तों के दोनों तरफ़ लोग फूल-मालाएँ लिए खड़े... अपने प्रिय कलाकार को अपने हाथों देने-पहनाने को आतुर। ये जुटाये हुए लोग नहीं थे, जैसे राजनेताओं के लिए आजकल होते हैं। इनमें सच का प्यार उमड़ रहा था। होंठ प्रस्फुरित हो रहे थे, आँखें चमक रही थीं..।

हर गाँव में छोटा-छोटा मंच सजा था। मंच पर पहुँचते ही हबीब साहब पर पुष्प-वर्षा होती। गाँव के प्रधान-पंच वग़ैरह स्वागत करते—चंद शब्द हबीब साहब से सुनना चाहते। वे बोलते भी, पर अपने को व्यक्त करने के हज़ारों तरीक़ों से लैस इतने महान कलाकार को अभिव्यक्ति के ऐसे संकट से गुज़रते हुए देखना भी एक अनोखा अनुभव था। दो महाकवियों के शब्दों में—'प्रेम न हृदय समात' और इसीलिए 'कंठ : स्तंभित वाष्पवृत्ति' वाला हाल हो गया था। यह किसी भी कलाकार के लिए सबसे बड़ा गौरव है।

यह देखकर मुझे वे टिप्पणियाँ एकदम बकवास लगीं, जिनमें "हबीब अपने क्षेत्र में जा नहीं सकते। उन्होंने वहाँ के लिए कुछ नहीं किया...." वग़ैरह कहा जाता है। ऐसा कहने वाले लोग ही अब उनके जाने के बाद छत्तीसगढ़ की सरकार से उनका स्मारक बनाने के लिए प्रच्छन्न गुज़ारिशें कर रहे हैं। वह तो बनेगा ही और उसके भी निहित मक़सद होंगे—ठीक कहने वालों की ही तरह। पर उससे क्या होगा? एक सरकारी खानापूर्ति। गांधी जी तक की तमाम मूर्त्तियाँ गंदगी से भरी पड़ी हैं और फ़ाइल से चलायमान सरकार के पास सफ़ाई तक का बजट नहीं है। प्रेमचंद, ग़ालिब, निराला... सबका यही हाल है। पर ऐसी अज़ीम शख़्सियतों के स्मारक वहीं होते हैं—लोगों के दिलों में और वह बन चुका है, जो कभी धूमिल तक न होगा।

"हबीब साहब ने अपने थियेटर की कोई परंपरा नहीं छोड़ी", "'नया थियेटर' का कोई समर्थ वारिस नहीं"... जैसी आलोचनाओं के जवाब भी इसी सत्य में निहित हैं। ये परंपराएँ अवाम की यादों में अक्षुण्ण रहती हैं। कालिदास की परंपरा में दूसरे कालिदास पैदा नहीं होते। वे हर ज़हीन कवि की कविताओं में समाये होते हैं। ग़ालिब में ख़ुसरो कहाँ दिखते हैं? इसी तरह हबीब साहब की परंपरा व 'नया थियेटर' के वारिस ढेरों कलाकारों के कला-कर्म में समाये हैं। व्यक्त हो रहे हैं। उन्हें देखने के लिए नज़र चाहिए : शौक-ए-दीदार अगर है, तो नज़र पैदा कर'—हबीब साहब (दे नाटक) की तरह 'देख रहे हैं नैन...'

'नीलकंठ', एन.एस. रोड नं. ३
विलेपार्ले (पश्चिम) मुंबई-४०००५६

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता

अशोक तिवारी

एक और शंबूक

नहीं है हमला
तुम्हारे ऊपर ही हबीब
फेंके गये तमाम पत्थरों ने
घायल नहीं किया तुम्हें ही,
गालियों के शब्द-बाणों ने
नहीं भेदा है तुम्हारी ही अस्मिता को

दूसरे की खुशी में खुशी
और दुःख में
अपना दुःख तलाशती हुई
जमादारिन का लहराया हुआ
ये परचम
जाति और वर्ण भेद की
परत खोलता संविधान है हबीब
दस्तावेज़ है
जो गुँथा है एक-दूसरे में
टिके हैं दोनों
एक-दूसरे के कंधों पर
सदियों से दबी पड़ी
आवाज़ों की प्रतिध्वनि है ये
बलात्कृत हुई है जो पोंगापंडितों द्वारा
हर युग में
खलिहानों में कुचली हुई एक
बेबस, भूखी अबला की पुकार नहीं
आह्वान है ये
अपने उस वक़्त का हिसाब माँगता हुआ
लगाये हैं जिसने उसे
सिर्फ़ कोड़े ही कोड़े

जाति और धर्म की लाठियों से
नहीं हुए हो घायल
तुम ही आज पहली बार हबीब
शंबूक हो तुम
सच और हक़ के लिए
देते हुए जवाब वाल्मीकि को
देते हुए चुनौती राम को
नहीं रहेगी तपस्या अधूरी
शंबूक की इस बार

जानता ये राम भी है
और मानता है कि
धर्मग्रंथों में जीना
नशेड़ियों की दुनिया में रहना है
कोसों दूर है जो
असल ज़िंदगी के सफ़ों से!

17-डी, डी0डी0ए0 फ्लैट्स, मानसरोवर पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षक और शिक्षा प्रशासन का संबंध

शिवरतन थानवी

शिक्षा का समुचित प्रबन्ध प्रशासन न हो तो समय और जन धन की बरबादी है। उसे रोकने का पूरी दृढ़ता के साथ उपाय होना चाहिए। दृढ़ता से आगे कठोरता है। कठोरता से आगे निष्ठुरता और निर्दयता का निवास होता है। इनके भेद को जानकर कब किस पर ध्यान दें यह तय करना भी एक कला है। भले-भले भूल कर जाते हैं। विद्यालयों की हालत इतनी खराब है कि लगता है सुदृढ़ प्रशासन चाहने वाला कोई कुशल व दृष्टिवान् अधिकारी खुद शैक्षिक अध्ययन, ज्ञान और गहरी सूझ-बूझ से संपन्न होकर कठोरता एवं विनम्रता का जब तब सजग सुबद्ध समन्वय स्थापित करके असूचित आकस्मिक निरीक्षणों का कोई मजबूत सिलसिला चलाने को तैयार न हो तब तक यह हालत सुधरने वाली नहीं है।

विद्यार्थी नकल करते हैं, शिक्षक ट्यूशनों में लगे रहते हैं, खुद पढ़ते नहीं-कक्षा में पढ़ाते नहीं। ऊंची-ऊंची तनख्वाहें पाते हैं, किंतु नकल और भ्रष्टाचार में लिप्त होते देर नहीं लगाते। प्रधानाचार्य भी पीछे नहीं रहते। यह तो सरासर अशिक्षा है। शिक्षा नहीं। स्कूलों में अव्यवस्था, अन्याय और भ्रष्टाचार देखते हैं तो बहुत दुख होता है। ऐसे में उदारता और मानवीयता की बातें हर किसी को निहायत निकम्मी और नुकसानदेह लगेंगी। उनका सोचना भी सही है, किंतु सच्ची शिक्षा बड़े-बड़े तूफानों के बीच भी स्नेह, सद्भावना, और मानवीयता का एक संवेदन सुरक्षित रखना भी उतना ही जरूरी है।

छोटे स्कूल की छोटी बात है यह, पर बड़ी कोमल, शिक्षा-संसार के मर्म से जुड़ी एक छोटे शिक्षक की कथा। शिक्षा-प्रणाली के सुचारू संचालन के लिए शिक्षक का जिस तरह शिक्षार्थी से सुमधुर संबंध होना आवश्यक होता है वैसे ही शिक्षा-प्रशासन का भी शिक्षक से सुमधुर संबंध होना आवश्यक होता है। सुमधुर हो किंतु कमजोर भी नहीं हो। 'कमजोर नहीं हो' इस भाव पर कभी-कभी इतना अधिक ध्यान दे दिया जाता है कि हम 'सुमधुर' का अस्तित्व ही भूल जाते हैं। अच्छे और भले लोग भूल जाते हैं और प्रशासनिक नियमों का अतिवादी उपयोग कर बैठते हैं।

संकट में पड़ते ही क्या कोई पराया हो जाता है? कल तक जो हमारा था, अपना था, वह कभी संकट में पड़े तो हमारा क्या कर्तव्य होगा? क्या हम उसे बीच धार में छोड़ देंगे?

यह प्रश्न तब पैदा होता है जब हमारे सहयोगी, सहायक या हमारे अधिकारी पर संकट आता है। मुझे इन मामलों के कई अनुभव हुए हैं। काल्पनिक कहें या यथार्थ, कोई फर्क नहीं पड़ता। सब के पीछे कोई न कोई वास्तविकता होती है। आप यही मान कर पढ़ सकते हैं कि मैं इन सब का चश्मदीद गवाह हूं।

मान लो एक महा-महा-उच्च-अधिकारी खफा हुए शिक्षा-विभाग में उनके ही एक महा-उच्च-अधिकारी पर। आरोप लगा कर निलंबन करने को उद्यत हुए, पर आरोप क्या लगाएँ? घटना तो मालूम थी किंतु मज़बूत दस्तावेजी आधार चाहिए थे। उनके हाथ में कुछ फाइलें हैं। कुछ शिक्षाधिकारी, कोई छोटे कोई बड़े और कोई बहुत बड़े, उनके सामने बैठे हैं। महा-महा-उच्च-अधिकारी उनसे पूछते हैं कि कौन ढूंढ देगा दस्तावेज़ी आधार इन फाइलों से? मैं देख रहा हूं, मेरा एक भोला सहयोगी आगे आता है।

सहयोग अच्छा है पर अन्याय का सहयोग क्यों करो? साफ निर्दोष था वह बंधु, मन ही मन सभी जानते थे। हम लोग उन महा-महा जी के चैंबर से बाहर निकल आते हैं। हम सब औचित्य पर शंका व्यक्त कर चुके थे।

परिणाम क्या होता है? वह अधिकारी निलंबित होता है। निलंबन अवधि में ही सेवा-निवृत्त हो जाता है। कोर्ट में जाता है। सेवा-निवृत्ति के बाद बरसों तक कोर्ट-कचहरी के चक्कर लगते हैं। परेशान होता है, पर हिम्मत नहीं हारता। सरकार से मुकद्दमा जीत जाता है, हर्जाने की राशि लेता है। एक रूपया ले चाहे एक लाख ले, लेता है। अपना सारा देय भी पाता है।

देने वाले अधिकारी कोर्ट का आदेश पालन करने में टालमटोल या ढील-ढाल न करें इस को ध्यान में रखकर वह बैंड-बाजे के साथ अधिकारी के घर जा धमकता है। अधिकारी त्वरित गति से कार्रवाई करता है और उसे अपना तमाम देय प्राप्त होता है।

ध्यान रहे वह अधिकारी शिक्षक पद से शिक्षा विभाग के उच्चतम पद तक ज्ञान, अनुभव और कर्त्तव्य-निष्ठा से पहुंचा था। प्रदूषण कहीं और था, प्रभाव कोई और पर पतित हो रहा था। हम सभी जानते थे कि उनका अधिकारी निर्दोष था किंतु प्रशासन का प्रचंड प्रवाह जब किसी पर गिरता है तो बचाना आसान नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

xxx

दूसरा प्रकरण लो। काल्पनिक हो चाहे यथार्थ, ऐसा घटित हो जाए तो आप उसे कैसे देखेंगे यह सोचना है। मान लो आप एक विद्यालय में अध्यापक हैं। कभी कोई अध्यापक ट्रांसफर पर जाता है तो हर अध्यापक से चंदा ले कर एक विदाई पार्टी कर देते हैं। चंदा आता है, पार्टी होती है, और काम खत्म। हिसाब का कागज कौन रखता है? उसकी फिक्र कौन करता है? माना कि आप स्टाफ समिति के सचिव हैं, पर क्या आप हिसाब को लंबे समय तक संभाल कर रखने का कभी कष्ट उठाते हैं? लेकिन विधि-विधान एक दिन ऐसा बना कि आपका खुद का ट्रांसफर हुए भी वर्षों बीत चुके थे और आपके नए स्थान पर उस पुराने स्थान का प्रधानाचार्य पता ढूँढता-ढूँढता आता है और आपसे पूछता है कि आप उसके विद्यालय में स्टाफ-समिति के सचिव थे तब अमुक अध्यापक की विदाई पार्टी में कितना पैसा एकत्रित हुआ था और प्रधानाचार्य ने उसमें से क्या कोई राशि प्राप्त की थी? जरूर किसी ने उस प्रधानाचार्य पर कोई तोहमत लगाई है। यदि आपके पास हिसाब का कागज सुरक्षित है और आप वह कागज उसे सौंप कर आश्वस्त कर देते हैं तो आगंतुक चैन की सांस ले कर लौटेगा, क्योंकि उस पर लगे आरोपों में एक आरोप यह भी है कि उसने अमुक पार्टी का पैसा खाया था।

आप यदि लापरवाह रहे, कागज खो दिया, या यह कहने को तैयार नही हुए कि प्रधानाचार्य निर्दोष हैं, कि चंदा आपने इकट्ठा किया और सारा व्यय कार्य आपने किया, तो निश्चित ही प्रधानाचार्य पर संकट मंडराएगा।

xxx

तीसरी घटना। आप अध्यापक हैं। कुछ भूलें की। निलंबित हो गए। कारण क्या? कारण यह कि आप निलंबित यों हुए कि आप से पहले जो प्रधानाध्यापक थे वे जब निलंबित हुए तब आपने उनके साथ सखी का निर्मम व्यवहार नहीं किया। तो आप क्या करेंगे? काल्पनिक हो या वास्तविक, समझने के लिए उसे हम अक्षरशः आपके सामने रखते हैं। आप सोचिए कि संकट में पड़ते ही क्या कोई अपना था जो कल तक, वह पराया हो जाता है? ऐसे में हमारा क्या कर्त्तव्य होगा?

एक जिला शिक्षा अधिकारी मिले। वे पूरे निष्ठावान, जागरूक और मजबूत माने जाते थे। सुमधुर स्वभाव था। जिले भर में ख्याति थी पर मज़बूत रहने की कोशिश में एक घटना उनके साथ ऐसी घटित हो गई जो आज तीस साल बाद भी जब-तब उन्हें सालती रहती है, महाकष्ट देती रहती है।

आकस्मिक निरीक्षण को एक बार निकले तो एक गांव के मिडिल स्कूल गए। जो देखा वह उन्हें असंगत अनुचित लगा। स्कूल के प्रधानाध्यापक को डांटा-फटकारा और निलंबित कर दिया। उन्हें कह दिया गया था कि प्रधानाध्यापक पूर्णरूपेण प्रधान नहीं, मात्र अध्यापक ही है, कार्यवाहक प्रधान का काम कर रहा है। जो हो, उन्होंने तो यही सोचा कि मजबूती आएगी। प्रशासन से मजबूत रखना है तो कठोरता लानी पड़ेगी। ईमानदारी से वे कठोरता का प्रदर्शन कर आए।

आरोप बनाए गए। आरोपों के उत्तर आए। जांच हुई। प्रतिवेदन आया। व्यक्तिगत सुनवाई में प्रधानाध्यापक से शिक्षा अधिकारी की लंबी बात हुई। जो उत्तर लिखित में दिए थे, विनम्रता व संकोच के साथ, वे ही मंद स्वर में सुनवाई के दौरान भी अध्यापक ने व्यक्त किए। थोड़े दिन की ऊहापोह के बाद जिला शिक्षा अधिकारी जी ने उन्हें इन आरोपों से मुक्त कर दिया।

आज इस घटना को तीस बरस से अधिक हो चुके हैं। जिला शिक्षा अधिकारी जी को रिटायर हुए भी पच्चीस साल हो चुके हैं। एक दिन मिले तो चाय-नाश्ते पर अतीत की अनेक बातें हुईं। संयोग से इस घटना की बात आई। उनके मन में जो उथल-पुथल मची थी अब तक उसका विस्तार से वर्णन सुनाते हुए उन्होंने सम्भाल कर रखे तब के कुछ कागज मुझे दिखाए। आइए, हम भी उन पर एक नजर डालें और देखें कि वे क्या कहते हैं-

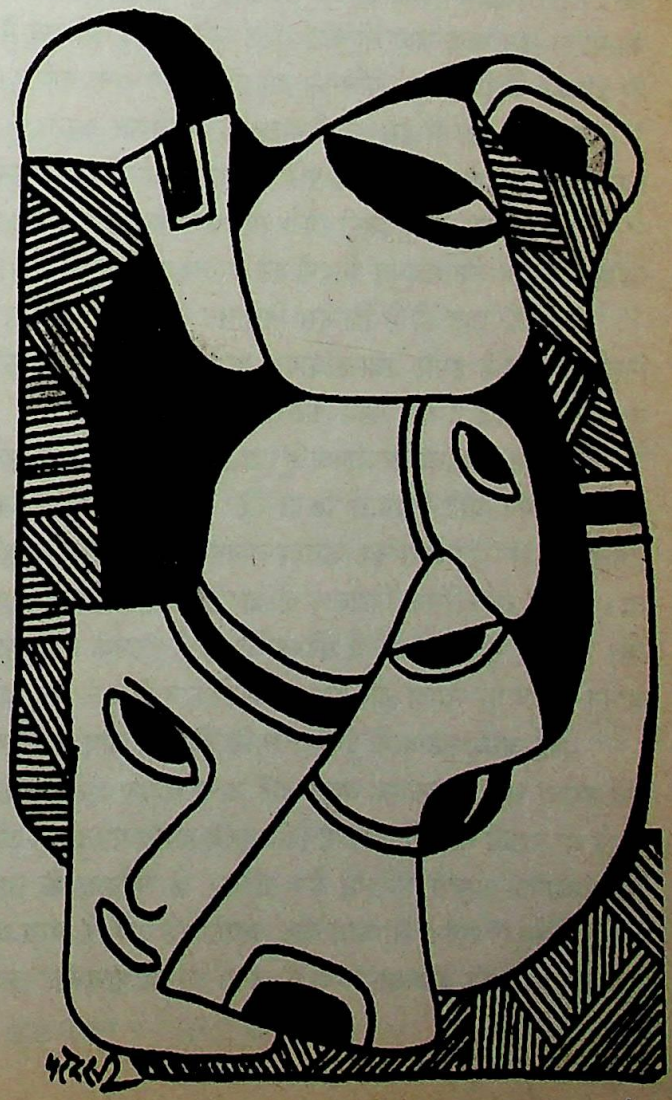

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरोप

आरोप सं. 1- इस शाला का आकस्मिक निरीक्षण करने के समय ध्यान में आया कि बिना प्रार्थना पत्र लिए अवकाश मनाने में आप अध्यापकों का सहयोग करते हैं।

आरोप सं. 2- आपसे पूर्व के प्रधानाध्यापकजी श्री अमुक को निलम्बित किए जाने पर आपने उनसे रोकड़ का चार्ज तो लिया लेकिन रकम नहीं ली सो आप नियमों का उल्लंघन निरन्तर करते आ रहे हैं।

उत्तर सं.-1 - मैं इस आरोप को सविनय अस्वीकार करता हूं। ऐसा रोज नहीं होता। कोई अकस्मात गंभीर रूप से बीमार पड़ जाए तब अर्जी से पहले रोगी के इलाज पर ध्यान जाता है। अमुक अध्यापकजी एकाएक बीमार पड़े, गंभीर रूप से और शहर जाने वाली एक बैलगाड़ी मिली तो पहला काम यही उचित लगा कि उन्हें शहर भेजा जाए। अर्जी लिखवाने की चिंता को वक्त नहीं था, परिस्थिति नहीं थी। हम विवश थे।

शिक्षकों से आत्मीयता रखने को विद्यालयी प्रबंध-प्रशासन में यह लोच रखी गई। इस उचित निर्णय पर कृपया मुझे दण्डित न करें। जिनसे सहयोग लेना है उन्हें सहयोग देना सामान्य व्यवहार का पहला अंग माना जाए तो कोई बुराई नहीं होती। मेरी राय में हर प्रबंधक के स्वभाव व नीति का यह प्रमुख अंग होना चाहिए।

उत्तर सं. 2- मैं इसे भी विनयपूर्वक अस्वीकार करता हूं। कृपया पुनः विचार करें कि जिस परिस्थितियों में और जिन सज्जन से मैंने चार्ज लिया उनसे इतनी छोटी सी रकम तत्काल दे देने का आग्रह न करना क्या सचमुच 'नियमों का निरन्तर उल्लंघन' हो गया?

आपको ज्ञात ही है कि इस विद्यालय में न कोई 'निरंतर' निलंबित हुआ है हमारे प्रधानाध्यापक पद से और न मुझे किसी ने 'निरंतर' चार्ज दे कर रकम 'निरंतर' अपने पास रखी है।

मैं एक सामान्य अध्यापक हूं। प्रशासन अनुभव से सर्वथा शून्य हूं। मैंने यही विश्वास किया कि प्रधानाध्यापक जी (निलंबित) अपना प्रशासनिक कर्त्तव्य जानते हैं। मेरा विश्वास सही था। आपके आकस्मिक निरीक्षण के बाद बिना देर किए वे आए और रकम दे गए। जो हो, वे मेरे अधिकारी हैं। उनके आगे मुझे कानून-कायदे पर ज़्यादा ज़ोर देना शोभाजनक नहीं हो सकता था।

कोई अध्यापक कभी दुर्भाग्य से निलंबित हो जाए तो उसके प्रति हमारा सलूक एकाएक बदल नहीं जाना चाहिए। कोई संकट में पड़े तो पराया नहीं हो जाता है। विद्यालय हमारा परिवार है और प्रधानाध्यापक हमारा मुखिया है। परिवार के मुखिया के साथ मानवीय सलूक रखना भी क्या कोई अपराध है? मैं तो भरत की तरह पादुका लेकर बैठा था, माया तो उन्हीं की थी, राज-पाट उन्हीं का था। बुरे दिन आते हैं तो भगवान राम को भी बनवास फिर जाया करता है। ऐसे वक्त में मुझ से कानून पर जोर देने की हिम्मत करना संभव नहीं हो सका। कृपया क्षमा कर दीजिए, मुझे दण्डित मत कीजिए।

अंत में, फिर निवेदन है कि जो हुआ वह बुरी नीयत से नहीं भली नीयत और भली निगाह से भलमनसाहत के लिए, जरूर विद्यालयी वातावरण के निर्माण के लिए हुआ है। कृपया इसे कानूनी गलती न मानें। मानना जरूरी ही हो तो कृपया माफ कर दें।

अनदेखा कैसे करेंगे

उत्तर में अध्यापकजी ने यहां अंत में एक लाइन लिखकर काट दी थी। कटी होने पर भी वह साफ दिखाई दी जा रही थी वह थी-

"परिस्थितियों को, व्यक्तियों को और विद्यालयी रिश्तों को हम अनदेखा कैसे कर सकते हैं?"

शायद अधिकारी की कोपदृष्टि के अंदेशे से यह लाइन कट गई होगी। अधीनस्थों का सैद्धान्तिक स्वर उच्च पदस्थ अधिकारियों को प्रायः उपदेशात्मक लगकर अखर जाया करता है। इसी आशंका से अध्यापकजी ने शायद यह लाइन काट दी होगी। पाठक भी भांति जानते हैं कि भले-भले लोगों को भी ऐसे दुर्दिन कभी-कभी देखने पड़ जाते हैं। शिक्षक को भी और शिक्षा-प्रबंधक या शिक्षा-प्रशासक को भी। विभाग के सर्वोच्च प्रशासक पर जो बीती उस का उदाहरण हमने इस आलेख के प्रारंभ में ही देखा है।

शिक्षाधिकारी को दबदबा बनाने के लिए शायद यों ही निलंबित करने की आदत थी, तभी तो इसी विद्यालय के पिछले प्रधानाध्यापक भी निलंबित हो चुके थे और ये अध्यापकजी जिन्होंने उनसे चार्ज लिया था, वे भी त्वरित निलंबन की चपेट में आ गए थे।

जिला शिक्षा अधिकारी काटी गई यह पंक्ति बता कर गए कि मैं न इस कटी अंतिम पंक्ति को अनदेखा कर सकता हूं न इस पूरे प्रकरण या स्पष्टीकरण को। मैं आज भी इस उत्तर को शिक्षा-प्रशासन के आंतरिक संबंधों की एक अच्छी प्रबुद्ध व्याख्या मानता हूं।

उचित कहा उन्होंने। हम ऐसी भूल फिर कभी न करें। दृष्टि से क्या यह घटना विचारणीय नहीं है?

जिला शिक्षा अधिकारी ने अध्यापकजी को अंततः आरोपमुक्त किया। यह अच्छा किया।

मोची स्ट्रीट, फलोदी 342301, जोधपुर, राज.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबंध

द्वारकेश नेमा

आश्चर्यजनक रूप से पिछले तीन दिनों में वह बिना ऊबे हुए घर में बंद था। उसका घर बहुत छोटा घर था। एक कमरा बारह बाई बारह फुट का, एक छोटा किचन जिसकी रैक और हॉट-प्लेट के प्लेटफार्म के बीच बमुश्किल सावधानी के साथ काम किया जा सकता था और बाथरूम। किचन न हो तो होटल के एक कमरा जैसा घर।

उसका पिछले तीन दिनों से घर में बंद रहना अड़ोसी-पड़ोसियों के लिए विचित्र और चौंकाने वाली बात। कोई अपने घर को कारागार में कैसे बदल सकता है। और वो भी तब, जब शहर की सबसे व्यस्त सड़क के किनारे वह घर हो। उसकी बड़ी खिड़की खुलती तो सड़क की ओर ही लेकिन सदा बंद रहती थी। इस खिड़की से सुबह का सूरज कमरे में कूद सकता था, बशर्ते मोटे पर्दे न होते। खिड़की पर पर्दा था। अखबार वगैरह पढ़ने के लिए उसने दो दीवालों पर ट्यूबलाईटें जड़ रखी थीं।

इस पूरब वाली खिड़की के खुलने से उसको कई दृश्य दिखायी पड़ सकते थे। जैसे सड़क, सड़क पर दौड़ता-भागता यातायात, मनुष्य और उसके घर से प्रायः सटे हुए खड़े सब्जी, फल, अंडे और पान-बीड़ी के एक जैसे पुराने ठेले। नया कुछ भी नहीं। जिज्ञासा शून्य दृश्य।

उसे हवा बहुत भाती थी। एक तरह से वह भाग्यशाली भी था कि साल के तीन-सौ पैंसठ दिन में से करीब दो सौ अस्सी दिन, हवा खिड़की पर दस्तक देती रहती थी और वह था कि इन दो सौ अस्सी दिन खिड़की बंद रखता था। यहाँ तक कि जून की चिकनूँ गर्मी में भी और आषाढ़ की पहली बरसात के बाद उठी उसम में भी।

घर की दूसरी खिड़की पश्चिम-मुखी थी। डूबता सूरज घर के अन्दर, गुड ईवनिंग कहने आ सकता था लेकिन खिड़की के सामने वाला छः मंजिला मकान उसे रोक देता था।

सूरज को देखे उसे अरसा हो चुका था। एक तरह से वह सूरज को भूल चुका था। ऑफिस आते-जाते उसे धूप का आभास होता पर सूरज की जगह वह कार, ट्रक, स्कूटर आदि को देखने में अधिक व्यस्त रहता।

पिछले तीन दिनों से बाहर निकलना तो दूर उसने बाहर झाँका भी नहीं था। तीनों दिन के अखबार ज्यों के त्यों पड़े थे। उसने समय जैसे रोक रखा था। यदि जैविक घड़ी से वह बँधा न होता, शौच-औच और भूख-प्यास की घंटी नहीं बजती होती तो वह पूर्णतया समय मुक्त रहता। सोता या वाद्य-संगीत के टेप-दर-टेप सुन रहा होता।

घर में बंद होने से यह हुआ कि एक तरह से अपने विरोधियों से तीन दिन कटा रहा।

यदि वह ऑफिस में होता या ऑफिस आते-जाते उनकी नज़र में फँस गया होता तो यूँ ही खाली छोड़ा जाता? विरोधी अकेला होता तो मुमकिन है, जाने देता, लेकिन अगर विरोधियों की संख्या दो से ज़्यादा होती तो वे झपटकर उसे पकड़ लेते।

यों, वह सीधा-सादा भी नहीं था। दाँव लगने पर उन्हें करारे उत्तर देता और नुकीले प्रश्नों से भेद देता। अक्सर वह जवाब के तौर पर सिर्फ हँसता। हमेशा की तरह उस बार भी वह खूब खुलकर हँसा। बात थी फिल्म सेंसर की। उनके हिसाब से फिल्म में बहुत सारे दृश्य आपत्तिजनक और जनहित विरोधी थे।

उसकी हँसी से वे सब चिढ़ पड़े थे।

"देखते क्यों हो ऐसी फिल्म? नहीं देखोगे तो कोई बनायेगा भी नहीं। देखते भी हो और न दिखाने के लिए चिल्लाते भी हो। अरे फ्री हो, मुक्त हो, फिर जनहित के बारे में सोचो।"

"वे सोचते हैं? उसे उत्तर मिला था।

"नहीं।" उसने उनकी बातें काटी। आप लोग अपनी बात-दुकानें खोलकर, ठेले खड़े करके, बाज़ार लगा कर कह रहे हो। इस बाज़ार की चीज़ें महँगी पड़ती हैं। यह बोलकर वह हँसा। उसने उनके चेहरों पर गुस्सा देखा।

"आपको भ्रम है।" उसके विरोधियों में से कोई एक बोला था।

उसने बोलकर उत्तर नहीं दिया। केवल हँसा और बड़ी देर तक हँसता रहा।

बात वहीं आयी-गयी हो गई।

उसकी उम्र अड़ाईस-तीस के आसपास रही होगी।

कमरे में बंद होने के पहले उसे लग रहा था जैसे खुद अपने पर भारी बोझ हो। हर काम बोझिल और करने में थकानभरा। जोड़-घटाने में चिड़ा हुआ-सा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंद होने के पहले ही दिन ही उसने स्थिति में परिवर्तन महसूस किया। वह क्रमशः हल्के से हल्का तर होता गया। उसे लग रहा था जैसे कि वह गौरेया में तब्दील हो रहा है। यहाँ तक कि वह कल्पना में छोटी-छोटी उड़ानें भी भरने लगा। इस घर से उस घर और मुहल्ले भर के घरों से आगे तक वह उड़ने लगा। बस कुछ दिन और बंद रहेगा तो वह चील बन जायेगा और फिर उड़ेगा, सबसे ऊपर बिना पंख हिलाये डुलाये।

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

वह बैठा हुआ टेप सुन रहा था। संगीत जाने अनजाने उसके हाथ-पाँव और सिर को हिला-डुला रहा था। वह शांत और आत्मरत था। कभी अचानक किसी ने उसके दरवाज़े को जमकर पीटा। वह उठा। उसने दरवाज़ा खोला। सामने छह फुट लंबा शैलेंद्र खड़ा था। संगीत बहार पर जैसे शामत आ गई। उसके अंदर जैसे गुस्से का विस्फोट हुआ। उसे शैलेंद्र जैसा नहीं लगा।

"तुझे मना किया था न, आने के लिए?" उसने अपने आप पर बलपूर्वक नियंत्रण करते हुए पूछा।

"अंदर चल"। शैलेंद्र अंदर धकियाते हुए कमरे में घुस गया।

अब तक वह गुस्से पर काबू पा चुका था। गुस्से की जगह आश्चर्य और प्रश्नाकुलता ने ली। अब वह शैलेंद्र को देख रहा था।

"बैठ जाओ।" शैलेंद्र ने कहा।

दूसरे के घर में भूखे बच्चे जैसा वह अपने घर में बिना प्रश्न किये बैठ गया। शैलेंद्र पूर्ववत खड़ा रहा।

"देखो", शैलेंद्र ने जब बोलना शुरू किया तो उसे लगा कि वह शिनाख्त परेड में खड़ा है। कई अज्ञात लोग उसे देखते-परखते निकल रहे हैं। आशंकाओं के दौर में वह बस पहिचाना ही जाने वाला है। "डरना मत।"

उसने सुना और डर गया।

"जब बाहर निकलो तो हँसना मत।" शैलेंद्र ने उसे चेतावनी जैसी दी। उसने पूछा "निकलोगे?"

दो-तीन दिन उसका देहरी के बाहर पाँव रखने का कोई इरादा नहीं था। बंद रहने के लिए उसने सारे प्रबंध कर लिये थे। दूध के आठ दस पैकेट फ्रीजर में ठूँस-ठाँस लिये थे। डबल रोटी, सेब, नमकीन... गरज कि भूख मिटाने वाली सब चीज़ें जमा कर रखी थी।

"क्यों" इस एक शब्द को बोलते समय उसकी आँखें मुँह की तुलना में ज्यादा आकुल दिखी।

"घबराओ मत।" शैलेंद्र ने आश्वस्त किया। "तुमने कुछ नहीं किया। तुम आँख बंद नवजात पिल्ले जैसे मासूम हो। यहाँ फोन होता तो मैं तुम्हें फोन पर ही बता देता। सड़ी-सी बात कहने के लिए मुझे यहाँ नहीं आना पड़ता।"

वह उठा और उसने टेप का स्टॉप वाला बटन दबा दिया। टेप-खामोश हो गया। शैलेंद्र सामने आकर बैठ गया। उसके अब बात लगभग तनावहीन हो चुकी थी। पहले उसे जो दिखायी देने लगा था। अब वैसी कोई संभावना नहीं दिखी। कुछ ठीक।

"क्या हुआ?" अचानक उसने दिमाग़ पर जोर डाला।

शेफाली! उसका शेफाली से प्रेम-प्रसंग चल रहा था। बहुत खूबसूरत नहीं थी। रंग से साँवली और देह से इकहरी सलवार कुरती में वह दस पंद्रह साल की ही दिखती थी। मगर वह साड़ी लपेट लेती और पूरा पेट खुला का खुला छोड़ देती जरूर बीस साल की दिखती। बित्ता भर के ब्लाउज में उसके उभर आते। विवाह को लेकर उसके माँ-बाप परेशान थे। वे फुरसत में उससे छुटकारा पा लेना चाहते थे। अपनी ओर से उन्होंने उसे और शेफाली को पूरी छूट दे रखी थी -घूमों-फिरो निर्द्वन्द्व। कोई चिंता नहीं। शेफाली ठेठ घरेलू लड़की भी नहीं फिल्म की गजब शौकीन। नयी फिल्म का पहले दिन, पहला देखने की हद तक दीवानी।

शेफाली को कुछ भी हो सकता था। नौकरी पर होती तो बात नहीं। सिंगल पैरेण्ट का काम निभा लेती। बाद में डी.एन टेस्ट कराकर अपनी संतान को बाप की कमाई का हिस्सा भी दिला देती।

मजेदार बात ये थी कि शंका-कुशंकाएँ जो उसके माँ-बाप फुसफुसाते रहते थे शेफाली ने उसे सुना दी।

इस बात को लेकर वह और वो कई दिनों तक सुविधावादी समाज की तर्कपरायणता का मज़ाक उड़ाते रहे।

वे देह के अंदर समाये प्रकृति के समय चक्र को जानते अलार्म की घंटियाँ बजतीं। वे सुनते। शेफाली हर घंटी पर जाती थी और उसे जगाने की कोशिश करती। वह जग ज़रूर पर...। नैतिकता और समाज के बीच मान्यता का प्रश्न नहीं तो वे कब से देह-घड़ी की जरूरत के हिसाब से जीने लग होते।

वह नौकरी पर था। दैनिक वेतन वाली नौकरी, जो आधा-पेट ही भर पाती थी। उसके मालिक ने उसे प्रोबेशन पीरियड नाम पर लटका रखा था। उसकी टेबल के ठीक सामने उपलब्धि का ग्राफ लटका दिया। हर सोमवार के दिन मालिक आता और कागज़ पर की रेखाओं को साँप-सीढ़ी के में ऊँचा-नीचा कर देता। रेखा उसे फुफकारती नागिन जैसी लगती थी जब उसका मुँह नीचे की ओर झुक जाता।

उसे तब अप्रत्याशित झटका लगा जब उसके मालिक कहा "जाओ सात-आठ दिन छुट्टी मनाओ और जी-भर करो। तरो-ताज़ा हो कर आना"।

कुछेक क्षण मालिक के मुँह से निकले शब्द "आराम" तरोताजा उसे तिलिस्मी मंत्र जैसे लगे। उसे लगा जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटाकर वह किसी और को नौकरी पर रखने जा रहा है। लेकिन जल्दी ही उसके मालिक ने मंत्र की अर्धाली पूरी कर दी। उसका दिल धम्म से बैठ गया। अगले वर्ष का जो लक्ष्य मालिक ने उसे बताया, वह चालू वर्ष की तुलना में दुगुना था।

तसल्लीबक्श बात इतनी थी कि मालिक ने उसके हाथ में बोनस की रकम भी रखी और मुस्कराकर कहा- 'जाओ''।

यदि वह प्रोबेशन पीरियड पर नहीं होता तो प्रश्न उठा देता एकदम दोगुना टारगेट क्यों? लेकिन वह चुप्पी लगा गया। मालिक ही हमेशा सही होता है। यही मंत्र सर्वोपरि था।

शाम के समय यह लक्ष्य-भेद और छुट्टी वाली बात उसने शेफाली को सुनायी तो वह खुश हो गई। उसे लगा कि प्रस्तावित लक्ष्य पूरा हुआ नहीं कि उसकी नौकरी पक्की तो जोड़ी पक्की! उसने भी मालिकाना अंदाज में कहा जाओ आराम करो तरोताज़ा हो जाओ।''

शेफाली के बाद शैलेंद्र ने भी कहा जाओ आराम करो। तरोताज़ा हो जाओ।

वह बहुत कुछ निश्चिंत था! न शेफाली के माँ बाप से रार और न अपने मालिक से कोई लड़ाई-झगड़ा! इन दोनों पक्षों से कोई खतरा नहीं उसने अपने आपको अभयारण्य के वन्य प्राणियों जैसा सुरक्षित और निश्शंक पाया।

''तुम अब किस चिंता में पड़ गये। बंद करो। ये सोच-विचार तुम्हारे वश की बात नहीं। तुम एकदम सीधे-सादे बुद्धू इंसान हो।''

शैलेंद्र अपना आशय स्पष्ट कर पाता कि उसने हँसना शुरू कर दिया। शैलेंद्र ने चीख कर दो-तीन बार, ''स्टाप, स्टाप'' कहा। लेकिन उसका हँसना बंद नहीं हुआ। आखिरकार उसने आगे बढ़कर उसके मुँह पर हथेली रख कर, उसकी हँसी दबा दी।

''बेवकूफ।'' शैलेंद्र ने उसे झिड़का। खिड़की बंद है, नहीं तो तुझे अभी पता चल जाता, हँसने के क्या मायने होते आज! और आने वाले दिनों में क्या मायने होंगे। खबरदार हँसना मत।''

शैलेंद्र ने मुँह पर से हथेली हटा ली। जैसे ही हथेली हटी वैसे ही उसने ''हँसना मत'' के पीछे खतरे की अविश्वसनीयता पर फिर पहले की-सी रौ में हँसना शुरू कर दिया... हो... हो...। लेकिन वह ज्यादा देर तक नहीं हँस पाया। उसकी आँखें खुली हुई थीं। और इस हँसी के दौरान वे शैलेंद्र के चेहरे पर टिकी हुई थीं।

शैलेंद्र के चेहरे पर गुस्सा और आँखों में तीखी -तरेर थी। उसकी हँसी को आपातकालीन ब्रेक जैसा लगा और एक झटके से वह रुक गई।

उसे अपनी पुरानी घटना याद आयी। एक बार उसके मालिक ने करारी डाँट पिलायी थी। बाहर से बड़ा ग्राहक आया था। शायद वह मिलिट्री में नौकरी कर चुका था। उसकी चाल में छूछा मिलिट्री पन भरा हुआ था। वह नीचे कम सीध में ज्यादा देखता था। उसे फ़र्श पर वैक्स पॉलिस नहीं दिखी। मुश्किल से दो तीन फ़ौजी क़दम ही रख पाया था कि सुट्टे से रपट पड़ा। यह देख, वह हँस पड़ा। ग्राहक ने उसे देखा जिसे उठाने के लिए वह झुका। लेकिन ग्राहक ने उसका हाथ थामने से इंकार कर दिया। वह उठा और वैसी ही चाल से मालिक के केबिन तक गया।

उसके चले जाने के बाद उसकी पेशी हुई। डाँट पड़ी। कुछ दिन में फर्श पर मोटा आलीशान ऊनी कालीन बिछवाया गया। इतना मुलायम की चलो तो दो इंच पंजे धँस जाएँ।

उसने आत्मालोचन से अपने हँसने पर पड़ी डाँट को औचित्यपूर्ण मान लिया। ग्राहक अब भगवान नहीं, वी.आई.पी. होता है। हमें उसके प्रति सम्मान का व्यवहार करना चाहिए। भगवान की तरह उससे लिफ़्ट नहीं ले सकते।

उसने तर्क ढूँढा। ग्राहक हैं तो कम्पनी है। कम्पनी है तो वह है। लेकिन बावजूद इसके हँसने के मामले में वह अक्सर गच्चा खा जाता। ग्राहक हो या मालिक उसका हँसना न रुकता, न रुक पाता। बहुत कोशिश करने पर इतना कर पाया कि सामने की बजाय पीठ पीछे हँसने लगा।

इस तरह की संशोधित हँसी पहली की तुलना में अधिक उन्मुक्त, स्वच्छंद, और लाभप्रद है। दूसरी तरह की हँसी वह कहीं भी हँस सकता था। घर, सड़क, बग़ीचा, मैदान। कहीं भी। कोई रोक-टोक नहीं। वह खुद भी फ्री और दूसरे भी फ्री।

शैलेंद्र की चेतावनी मगर उसके लिए चौंकाने वाली थी।

इस शहर में भी हँसनेवालों पर छुटपुट हमले शुरू हो गये थे।

घर आते या जाते आदमी को मान लो कोई हास्यप्रधान घटना याद आ जाये और बग़ैर हँसे उससे नहीं रहा जाय और अगर वह हँस पड़ा तो उस पर चारों ओर से अचानक हमला हो जायेगा। गली कूँचे से, घरों-दुकानों से, न जाने कहाँ-कहाँ से हमलावर निकल पड़ेंगे और बगैर पूछे-ताछे शुरू हो जायेंगे-''ये ले-ये ले...।''

हँसी जैसी नैसर्गिक, मूल मनोवृत्ति, पर प्रतिबंध! सेंसर! हँसने की संवेगात्मक जरूरत पड़ने पर भी ऊँचे अधिकारी से अनुमति लेना जरूरी होगा और उसे हँसने के लिए अक्सर कंबिंस करने लायक कारण बताना होगा।

''ये आदेश किसकी ओर से निकला है?'' उसने पूछा।

शैलेंद्र को कुछ मालूम नहीं था। दोस्त होने के नाते वह उसे सावधान भर करने चला आया था।

''हमलावर आखिर चाहते क्या हैं?'' उसने अगला प्रश्न किया।

''बाहर निकलो, हँसो और पिटो, फिर पीटने वालों से कारण पूछ लेना। शैलेंद्र ने चिढ़कर उत्तर दिया। ''अब मैं जा रहा हूँ। जो मैंने कहा उसका ध्यान रखना। कुछ लोगों ने समय को अपने कब्ज़े में कर लिया है -समझे!'

शैलेंद्र जब चला गया तो उसे हँसी के प्रतिबंध पर हँसी आई। वह मन ही मन बड़ी देर तक हँसता रहा। सोच-सोच कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हँसता रहा। समय को कुछ लोगों ने कब्ज़े में ले लिया है...।

"ज़रा सोचिये"। उसने अपने सामने एक निर्विकार काल्पनिक श्रोता गढ़ा। "आप चल रहे हैं। चलते-चलते भी आप देख रहे हैं- सब ठीक-ठीक चल रहा है। अचानक आपके दिमाग़ में कुछ आ जाये-या कोई हँसी चुटकुला याद हो आये और आप हँस पड़े-अनाक्रामक अहिंसक, हानि रहित हँसी। तो इससे क्या होगा? आप पर हमला। वो भी चौतरफ़ा। आपका क्या होगा। मरण त्यौहार!

तभी उसे याद आयी एक एनीमेशन कामेडी फ़िल्म। उसके बाजू में एक दम्पत्ति बैठा था। पति की गोद में छोटा-सा बच्चा। अपने माँ-बाप के साथ उसकी भी आँखे पर्दे पर थीं। पर्दे पर ऐनीमेटेड चूहा था-तेज़ और चतुर। बिल्ली गुस्से में उस पर झपट्टा मारती थी और चूहा कूद कर बच निकलता और अगली क्रिया में वह बिल्ली की पूँछ कुतर डालता था। दृश्य चल रहा था और गोद में बैठा बच्चा खिल-खिलाकर हँस रहा था। पूरे हाल में उस बच्चे की खिलखिलाती हँसी के उजास में मंद मुस्कान वाले उन्मुक्त हँसी वाले बूढ़ों, जवानों की हँसी देखी। बच्चे की हँसी पर उसने कुछेक को हँसते भी सुना था। बच्चा भी परिस्थितिगत विद्रूप पर, घटनाजन्य असंगत दृश्य पर हँस सकता है। दृश्य-अर्थ को समझ सकता है।

इसी सिलसिले में उसे अपना मालिक भी याद आया और उसे परे ठेल कर शेफाली। उसकी कल्पना के आकाश में शेफाली अप्सरा बनकर उड़ने लगी। उसने अपने बदन में एक उत्तेजक स्फूर्ति अनुभव की। शेफाली को जाकर यह सब बताने की तीव्र इच्छा हुई। उसने जल्दी-जल्दी दाढ़ी मूँछे बनाते समय हँसी के शत्रुओं के विरूद्ध उसने एक सावधान रणनीति भी बनायी और तय किया कि वह हँसेगा नहीं। चाहे कैसा भी हँसी-विस्फोटक दृश्य उसके सामने आये। वह हँसेगा नहीं।

अपनी रणनीतिगत सावधानी के अनुसार वह सड़क पर चल रहा था। लोग आ-जा रहे थे।

सामने से आते लोगों के चेहरे को वह सहज ही देख लेता था।

उसके आजू-बाजू से उससे आगे निकलने वालों को कभी कनखियों और कभी गर्दन घुमाघुमा कर देख लेता था। उसने अनुभव किया कि सारे चेहरे हँसी विहीन थे।

तीसरे पहर का समय होगा और दिनों के समय का तापक्रम भी सामान्य ही था। हवा रोज़ की तरह चल रही थी। गाड़ियों के पहिये मजे से धूल उड़ा रहे थे। कुछ एक कौओं की काँव-काँव उसे सुनाई दी। कुछ गोरैयाँ और कुछ गलगलियाँ भी उसे दिखाई दीं। निर्बंध कुत्ते मज़े से घूम फिर रहे थे। दुकानों ठेलों पर ग्राहकों का और दिनों जैसा जमावड़ा था। कुछ भी नया अनोखा और विचित्र नहीं। इस सबके बावजूद उसने चूँकि शैलेंद्र की बात को अमान्य नहीं किया। चुप रहा। कहीं हँसा नहीं।

सारे चेहरे गंभीर और निर्लिप्त नज़र आ रहे थे। बिल्कुल भावशून्य। दृश्यों की व्याख्याओं से चेहरों पर जो प्रतिक्रियाओं का जादू भरा खेल होता है, वह सिरे से ग़ायब था। जिस बात पर लोग को बुक्का फाड़ कर हँस पड़ना चाहिए था, वे उस पर भी नहीं हँसे। बात थी- रास्ते में गैस की टंकी लिए एक गुब्बारे वाला खड़ा था और उसी के पास आईसक्रीम का ठेले वाला। बेटा, बाप के साथ बाज़ार को निकला था। बेटा चार साल का रहा होगा। उसे गुब्बारा दिखा। उसने गुब्बारा माँगा। बाप कुछ जेब से टाइट रहा होगा। उसने उसका ध्यान और कहीं बँटाने की कोशिश की। बेटा अड़ गया। बाप को गुब्बारे की डोर बेटे के हाथ में पकड़ानी पड़ी। तभी बाजू के ठेले वाले ने ज़ोर से "आइसक्रीम" की आवाज लगा दी। बेटा आईसक्रीम पर भी अड़ गया। बेटा इकलौता होगा। बाप ने आईसक्रीम बार बेटे की ओर बढ़ा दी। बेटे ने आईसक्रीम की तलब में गुब्बारे की डोर छोड़, आईसक्रीम बार पकड़ ली। गुब्बारा आकाश में उड़ गया। गुब्बारे को रूँआसे-से देखने के चक्कर में आईसक्रीम की पकड़ ढीली पड़ गई और वह भी सड़क पर टपक पड़ी। ऐन में कड़के बाप की हालत देखने लायक थी मगर उसने ध्यान दिया। जो यह देख रहे थे, वे न तो हँसे और न ही मुस्कुराये। बच्चे का दिल दुखाये बिना चोरी से तो मुस्कुराया जा सकता था। लेकिन उन्होंने यह भी ध्यान किया। घटना के प्रति ऐसे अनजान और निर्लिप्त बन गये जैसे उनकी शरीरवीणा के सारे रस-रागों के स्रोत सूख गये हों। रेत के ढूहों ने जैसे वर्षा की बूँदे सोख ली हों। कैसी विचित्र बात थी कि सहज ऐन्द्रिकता से उन्हें अपने आप हँस पड़ना चाहिए था, वहाँ वे मुस्कुराये तक नहीं!

अब उसे हँसी के प्रतिबंध वाली शैलेंद्र की खबर पर विश्वास होने लगा था।

अब वह जल्दी-जल्दी पाँव उठा रहा था। उसे डर था कि हँस-फुलसी शेफाली को हँसी पर लगी रोक का पता नहीं होगा जबकि, उस मरघिल्ली जान में ठहाका मारकर हँसने की अद्भुत ताकत थी। हमलावरों पर विश्वास नहीं किया जा सकता था। सड़कों पर उत्पात करते-करते वे कब घरों का रूख कर लेंगे, कोई भरोसा नहीं।

जब वह शैफाली के गेट पर पहुँचा तो उसे अन्दर से उसके हँसने की आवाज़ सुनाई दी। उसने गेट का कुंडा उठाया। गेट की आवाज़ से शेफाली की हँसी बंद हो गई। उसने अनुमान लगाया कि शायद शेफाली हँसी पर प्रतिबंध से अवगत है। उसने खिड़की का, अंदर की ओर लटकता पर्दा तनिक सरकावा। क्षणांश के लिए श्यामल चन्द्रमा दिखाई दिया।

वह बरामदे की ओर बढ़ने लगा। शेफाली तब तक दरवाजा खोल बरामदे में आ चुकी थी और मोनालिसी मुस्कान के साथ उसे देख रही थी। उसने उसकी मुस्कान में, उसकी आँखों में विनोदपूर्ण की बढ़िया चमक-झलक देखी। जैसेही वह उसके समीप पहुँचा उसकी सलज्ज मुस्कान मुक्त खिलखिलाहट में बिखर गयी।

"हँसो मत।" लगभग घबराते हुए, उसने उसे सावधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए कहा। "समय बहुत ही ऐंडा बेंडा है। हँसोगी तो फँसोगी मुसीबत में पड़ जाओगी बल्कि तुम्हारे पड़ोसी और तुम्हारे साथ वालों पर भी कहर पड़ जायेगी।"

"मैं क्या करूँ, मुझे हँसी आ रही है? हँसी न आये और मैं न हँसू ये तो हो ही नहीं सकता।"

शेफाली वाक्य को किसी दीगर वाक्य से जोड़े इसके पहले ही उसने व्यवधान डालते हुए बता दिया कि हँसना मना है। शहर में लोग-बाग हँस नहीं रहे हैं। यह सुन कर और ज़ोर से हँस पड़ी। आतंकित होकर उसने दाएँ-बाएँ देखा।

उसके धक्के से घर के अंदर जाती हुई भी वह हँस रही थी और कह रही थी "जो आपको देखेगा, वह हँसेगा।"

"मुझे?"

"हाँ आपको। आप बाँयीं ओर अजीब तरह झुककर क्यों चल रहे हैं?

सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। शेफाली ने अब गंभीरता की चादर ओढ़ ली थी। उसने आशय समझने के लिए एक्सरे वाली दृष्टि से उसे देखा।

"आपको विश्वास नहीं मेरी बात पर?" उसने एक कुशल अभिनेत्री की भाव प्रवणता से कहा। "हो सकता है कि मेरे देखने में खामी हो। जरा चलकर दिखाइये।"

वह कुछ कदम चला। शेफाली ने उसकी चाल को ध्यान से परखा और निष्कर्ष सुना दिया कि उसका कहना ठीक है। उसे विश्वास नहीं हुआ। वह बाँयीं ओर झुककर क्यों चलेगा भला? उसने अपने जूतों की सोल और ऐड़ी देखी। कहीं कोई गड़बड़ी नहीं। पाँवों की लम्बाई में तो फर्क होने का सवाल ही नहीं।

शेफाली ने ढीठता से उसकी बाँह पकड़ी और वॉशबेसिन के ऊपर टँगे आइने के सामने खड़ा कर दिया।

"देखिये।" उसने निर्देश जैसा दिया।

"क्या?" उसने-आइने में देखा।

"अपनी मूँछें।" उसने कहा और ठिल-ठिलाने लगी।

दायीं ओर वाली मूँछ का सिरा कुछ ज़्यादा ही कट कर विभक्त हो गया। उसे भी हँसी आ गई। उसने उसके पापा का रेज़र ब्लेड माँगा और कहा कि वह अब मूँछें सफाचट कर रहा है।

"ना, हरगिज़ नहीं।" शेफाली का हँसना मुस्कुराना जैसे एक झटके में बंद हो गया। "यूँ मूँछों की रोज़-रोज़ की सही नाप मेरे वश की नहीं है। नौकरी पर भागना पड़ता है। इस सब के लिए पूरा समय कहाँ मिल पाता है।" उसकी दलील को शेफाली की कोर्ट ने तुरंत खारिज कर दिया। एकबारगी उसे लगा कि जैसेशेफाली को उससे कम उसकी मूँछों से ज्यादा लगाव है। उसे कुछ बुरा-सा लगा कि अपनी ही मूँछों से वह कुछ छोटा हो गया।

शेफाली ने उसके मन की बात ताड़ ली थी। बिगड़ती स्थिति को उसने खूबसूरती से सँभाला। "मूँछों के कारण आप बहुत अच्छे और स्मार्ट दिखते है। लोगों पर रौब पड़ता है। सफाचट करने की जगह आप उन्हें मिलाते क्यों नहीं!" उसने गंभीरता से राय दी।

उसने शेफाली को देखना चाहा। वह अपने पापा का रेज़र लाने के लिए अंदर मुड़ चुकी थी।

उसने अपनी मूँछों को जतन से बनाया।

जब वह बैठक में पहुँचा तो टी.वी. पर फ़िल्म आ रही थी। शेफाली सुगढ़ मूँछों में उसे देख मुस्कराई।

वह कुछ बोलता कि शेफाली के माता-पिता हाथ में झोला लिए अपने कमरे से बैठक में आ गये। उसने उन्हें प्रणाम करने के साथ ही पूछ डाला, "क्या बाहर जा रहे हैं?"

"आलू प्याज़ ख़त्म हो गये हैं।" शेफाली की माँ ने उत्तर दिया।

"अरे आलू प्याज़।" उसके मुँह से फूटा। "बग़ैर इनके काम नहीं बनता।" शेफाली की माँ ने एक तरह से स्पष्टीकरण दिया।

"तब तो जाना ही पड़ेगा" एकांत लाभ की कल्पना से उसने कहा "जाइये।" उसे शैलेंद्र की बात फिर याद आ गई। उसने उचित समझा कि शेफाली के माता-पिता को सावधान कर दिया जाये।

शेफाली के पिता हालाँकि बहुत कम हँसते थे। खादी भवन में कैशियरगीरी करते करते उनकी हँसी ग़ायब हो चुकी थी। लगातार रोकड़ के मिलान और नोटों की गिनती ने उनकी हासेन्द्रिय की धार मिटा दी थी। बहुत ही ज़रूरी होता तो अपने होठों को सायास पसार कर काम चला लेते थे। इससे उनका और सामने वालों का काम चल जाता था। शेफाली की माँ की हँसी तो जवानी की ढाल पकड़ती शेफाली ले उड़ी थी।

वह, शेफाली के माता-पिता में अपने माता-पिता को देखता था। इसलिए उन्हें सावधान करना और ज़रूरी था। अगर शेफाली के साथ समय बिताने का प्रमद आवेग उसके अंदर नहीं उमड़ा होता तोवह बोलता "लाइये, दीजिये झोला, मैं ला देता हूँ।" यह उसने नहीं कहा। लेकिन हँसी के प्रति सावधान कर दिया।

"हँसिये मत।" उसने कहा था।

"ओह। अब जाने में फ़ायदा नहीं।" शेफाली के पिता ने अपनी पत्नी से कहा। "शायद बाज़ार बंद हो गया होगा!"

"क्यूँ?"

"क्यूँ क्या! बड़ी कुर्सी पर बैठा कोई बड़ा नेता मर जाता है तो उसके सम्मान में हँसा नहीं जाता।"

"ज़रूर मरा होगा।" शेफाली ने उसके मन के चोर को पकड़ते हुए शैतानी से ज़ोर देकर कहा।

"कौन मरा?" उसने शीराज़ा बिखरते देख प्रश्न उछाला। "आज टी. वी. और न्यूज़ में साले सब गर्रा मस्ता रहे हैं।"

इसे बावजूद शेफाली के पिता मृत नेता को ढूँढने के चक्कर में अटकलें लगाने लगे। बड़ी देर बाद जाकर उन्हें शेफाली की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहेली याद आई जो एक छोटे-से अख़बार में न्यूज़ कम्पोज़ीटर थी। उसे फ़ोन किया। वहाँ से जो उत्तर मिला, उसके हिसाब से सब ठीक-ठाक था।

आश्वस्त होकर शेफाली के माता-पिता बाज़ार के लिए निकल पड़े। शेफाली खड़ी हो गई। टी.वी. पर फ़िल्म आधे से ज्यादा वक्त गुज़ार चुकी थी।

वे एक दूसरे की आँखों में मतलब ढूँढते हुए आगे बढ़ ही रहे थे कि छोटे परदे पर फ़िल्म का दृश्य बदल गया। शेफाली का बढ़ना रूक गया। वह स्क्रीन पर अटक गई।

दृश्य चल रहा था। युवक के सामने आठ-दस पहलवान जैसे लोगों के चेहरे और मछलियाँ उभरे कठोर भुजदंड दिखाये जा रहे थे।

"बंद कर दो।" उसने कहा।" तुमसे तो नकली लड़ाई भी नहीं देखी जाती।"

शेफाली ने स्विच बंद कर दिया। वह हीरो को पिटते नहीं देख सकती थी। वैसे ही उसे मारधाड़ वाली फ़िल्में पसंद नहीं थीं।

"तुम बहुत डरती हो।" उसने कहा।

"डरती नहीं।" उसने उत्तर दिया। "इतने गंदे रूप में मारधाड़ के जो हिंसक दृश्य दिखाये जाते हैं, उनसे मुझे चिढ़ है।"

उसने प्रतिवाद नहीं किया। मुस्कुराकर सोफ़े पर बैठ गया।

"क्यूँ मैं गलत कह रही हूँ?" शेफाली ने उस पर आँख गड़ाते हुए पूछा। उसे उत्तर नहीं मिला। "बोलिये ना?" अब वह उसके ठीक सामने थी। उसने उसके कंधे पकड़कर हल्के-से हिलाया। "बोलते क्यूँ नहीं?"

उसने शेफाली का हाथ पकड़ा और अपने बाजू में बिठा लिया।

वे अब आजू-बाजू में एक दूसरे से ऐसे सटे हुए खामोश बैठे थे मानो सब प्रश्नों के उत्तर मिल गये। समय का दबाव उनकी शिराओं पर बढ़ रहा था। शेफाली उसकी गोद में लुढ़क गयी थी। उसका हाथ शेफाली पर हौले-हौले घूमने लगा था। उसकी अँगुलियाँ सिर, गाल, ओंठ, गर्दन, वक्ष, पेट, जांघ तक ऐसे घूम रही थीं मानों, वह मात्र वीणा बजा रहा हो। वह शरीर के तारों को छोड़ता यथासंभव दूरी तक हाथ को ले जाता और वापिस लौटाता!

शेफाली आँख मूंदे हुए पड़ी स्पंदित हो रही थी।

एक बार उसका हाथ वक्ष प्रदेश की खूँटियों को ज़रा ज्यादा कस बैठा तो शेफाली की आँखों की खिड़की के पल्ले जरा खुले। तार टूटा। राग टूटा।

"आपकी नौकरी पक्की कब होगी?" शेफाली ने पूछा।

"अभी तो प्रोबेशन में हूँ।"

"कब खत्म होगा। प्रोबेशन?"

"जल्दी ही।"

"अगर आपके बॉस ने पीरियड बढ़ा दिया तो?"

"लेकिन वह ऐसा करेगा नहीं।"

"मान लो, अगर ऐसा ही किया तो?"

दावे के साथ वह यह कहने की स्थिति में नहीं था कि वह ऐसा नही कर सकता, इसलिए वह सोच में पड़ गया।

"मुझे बच्चा चाहिए।" शेफाली-बोली। "आपकी कच्ची नौकरी के कारण मेरा बच्चा आने से रुका हुआ है। कहें तो मैं किसी बच्चे को गोद ले लूँ?"

उसने शेफाली को उठाकर बैठा दिया और खुद उसकी गोद में लुढ़क कर बोला—"ये रहा गोदवाला बच्चा!"

शेफाली हँस पड़ी। उसे भी हँसी आ गई।

अब वे दोनों जोरदार हँसी के भागीदार थे। इस रोमेण्टिक हँसी के दौरान भी शैलेंद्र की चेतावनी उसके दिमाग में कौंध गयी। उसे लगा जैसे कि उन दोनों की हँसी बैठक पार कर बरामदे से होकर गेट के बाहर, सड़क तक जा रही है। वह हड़बड़ा कर खड़ा हो गया। बैठक का दरवाज़ा खोल-बरामदे में आ गया। दूर तक बहुत देर तक खड़े रहकर उसने हँसी का प्रभाव का आकलन किया। इस बीच शेफाली कब उसके बाजू में आकर खड़ी हो गई, उसे पता नहीं चला।

शेफाली के माता-पिता भी आलू-प्याज़ लेकर आ गये।

"बाहर सब ठीक है।" शेफाली के पिता का गेट का कुंडा उठाते हुए अपनी खोज का परिणाम सुना दिया।

"सड़कों पर लोग-बाग हँस रहे थे?" उसने पूछा।

"लोग-बाग पागल हैं जो फालतू हँसेंगे"? शेफाली ने उसकी बात काट दी।

इसी के साथ ही वह हँसी के केन्द्र में आ गया।

अपने घर लौटने के लिए जब वह वहाँ से चला तो शेफाली के पिता ने उसे सावधान किया कि वह किसी भी शर्त पर हँसी वाली बात अपने मालिक को न बताये।

उसने भी एक भावी और अच्छे दामाद की तरह हामी भर दी।

लौटते समय भी उसका ध्यान हँसी पर ही अटका रहा। वह देख-दाख कर चल रहा था। शेफाली और उसके घर के लिए कम समय कम दूरी वाला एक निर्धारित रास्ता था। इस रास्ते पर वह बादलों से पटी सावन की अमावस्या वाली रात को बिजली गुल सड़क पर बिना किसी दुर्घटना के आ-जा सकता था। सड़क पर बिजली के खंबों पर दो-दो ट्यूब लाईटें दूकानों के रोशन और साइन बोर्ड उजाले को बरसा रहे थे। अँधेरा फटक नहीं पा रहा था।

उसकी आँखें तो लोगों के चेहरों पर टिकी हुई थीं। उसके कान-लोगों के ओठों पर रखे हुए थे। अगर भूले-चूके कोई हँसे तो वह देख सके, सुन सके।

इस चक्कर में उसके पाँव जिस मोड़ पर मुड़ जाना चाहिए थे, नहीं मुड़ पाये। उसे इस बात का पता तब चला जब कॉफ़ी-हाउस के सामने पहुँच गया। उसे कॉफ़ी नहीं पीना थी, लेकिन बाहर से काँच से मढ़े चौखटों से अंदर देखने का लोभ वह नहीं त्याग पाया वह अंदर पहुँच गया। तीन टेबलों को घेरे बुद्धिजीवी चुपचाप बैठे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए थे। वे लोग उसे नहीं जानते थे। उनसे उसका कभी परिचय भी नहीं हुआ था। इन लोगों को वह शेफाली के कारण जानता था। जैसाकि शेफाली का भी इनसे कोई परिचय नहीं था।

कॉफ़ी पीते-पीते वह उनकी बहसबाज़ी देखा-सुना करता था। वे देश और समाज के मुद्दों पर लड़ा करते थे। लड़ाई के दौरान वे ठहाका मार कर हँस भी लिया करते थे। दो-तीन बार बहस के दौरान उसे लगा कि अब हुई, अब हुई हाथापाई, पर हुई नहीं।

पहली बार उसने शेफाली से कहा था- "चलो अब यहाँ मारपीट की नौबत आने वाली है।"

पर न शेफाली उठी और न उसे उठने दिया।

"बैठे रहिये, कुछ नहीं होगा। ये बौद्धिक लोग हैं।" शेफाली ने उसे समझाया। वह बैठा रहा। लड़ाई झगड़ा नहीं हुआ। आगे भी कई मौके आये, लेकिन उसने उठने की बात नहीं उठायी।

अपना प्रभाव जमाने के लिए एक दिन उसने अपने मालिक को बताया कि कॉफ़ी हाउस में बौद्धिक-वर्ग का जमावड़ा होता है।

"कौआ समाज की काँव-काँव।" उसके मालिक ने उत्तर दिया और प्रश्निल आँखों से घूरा। वह वहीं ढेर हो गया।

कॉफ़ी-हाउस की तीन टेबलों के आस-पास ये लोग अब भी जमे हुए थे। न ठहाका हँसी हँस रहे थे और न लड़ झगड़ रहे थे। तीनों टेबलों को घेरने वाली कुर्सियों पर जैसे भिन्न-भिन्न चेहरों की श्मशानी शांति जमी हुई थी।

एकाएक उसके दिमाग में हँसी का सत्यापन करने का विचार कौंधा। उसनेटाल दिया लेकिन वह बहुत देर तक इसे टाल नहीं पाया। उसे लगा कि यह सत्यापन उसकी मूलभूत आवश्यकता है। आवश्यकता की पूर्ति के बिना उसका अस्तित्व अर्थहीन, परिचयहीन हो जायेगा।

सोचा-विचारी के दौरान उसे लगा कि वह घर जाने वाली दुकान सड़क पर चल रहा है।

उसने ध्यान से देखा। सड़क खाली पड़ी थी। कभी-कभार एक दो कारें और एक-दो स्कूटर निकल जाते थे। मकान भी खत्म हो चुके थे। सड़क के दोनों ओर दुकानें थीं। जो बंद थी। उनके साइन बोर्ड के ऊपर बीमार बल्ब जल रहे थे। थोड़ी दूर और आगे जाने पर यूकेलिप्टस के ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े थे। पार्क बंद हो चुका था। उसके अंदर एक भी मनुष्य नहीं था। पार्क के गेट पर लगने वाले ठेले जा चुके थे। सड़क के एक ओर पाँच-छः गायों का गोल जमा हुआ जुगाली कर रहा था और एक साँड तनकर खड़ा हुआ था।

उसे विश्वास हो गया कि यदि वह हँसना चाहे तो हँस सकता है। कोई खतरा नहीं। उसने निश्चय किया, वह हँसेगा। इसके लिए उसने अपने आपको तैयार किया। हँसने की कोशिश की। लेकिन हँसी आयी नहीं। हँसने के लिए हास्य की सृष्टि करने वाला एक दृश्य ज़रूरी था। उसने कई फ़िल्मों के हास्य-दृश्य स्मरण कर डाले। हँसी थी कि न आना थी, न आयी। थककर उसने हँसने का विचार भी छोड़ दिया। पाँव बढ़ाते-बढ़ाते उसे अपनी मूँछें याद आयीं। उसने टेढ़ी मूँछ के कारण अपने आपको बायीं ओर झुककर चलते देखा। देखते-ही जैसे उसके अंदर हवा का बड़ा बुलबुला फूटा और अपनी पूरी ताक़त के साथ हँसी बुक्का मार कर फूट पड़ी।

वह हँस रहा था अपनी डेढ़ मूँछों पर। आजू-बाजू से एक दो स्कूटर, एक दो कारें दनदनाती निकल गयीं। कोई नहीं रुका।

अब उसने अपनी मूँछों के साथ-साथ शैलेंद्र पर भी हँसना शुरू कर दिया। हँसी की एक मदमस्ती ने उसकी संपूर्ण संज्ञा पर अधिकार कर लिया। वह और हँसी ऐसे गुत्थम-गुत्था थे कि समझ नहीं पा रहा था कि वह हँसी के बीच है या हँसी उसके बीच! वह हँस रहा था। जैसे पृथ्वी घूमती है वैसे। वह अपने बाँये पैर की जूते की ऐड़ी पर घूमा। घूमते ही उसकी हँसी रुक गई। उसने चारों ओर का दृश्य देखा।

उसे समझते देर नहीं लगी कि ये उसकी हँसी का कारण है।

उसकी आँखों के सामने जो था उससे वह सिहर उठा। क्षण भर में उसकी समझ में आ गया था कि वह आगे नहीं बढ़ सकता। आगे खतरा है।

वह देख रहा था कि सामने लोगों की संख्या बढ़ती चली जा रही है। शुरूआत मे उसे आठ-दस ही दिखे। अब आठ-दस से बढ़कर चालीस-पचास हो गये। लोगों का बढ़ना फिर भी नहीं रुका। उनका बढ़ना जारी ही रहा। उसने ध्यान लगा कर देखने की कोशिश की, आखिरकार थोड़ी देर पहले तक सुनसान पड़ी सड़क पर अचानक इतने लोग कहाँ से आ टपके? दो-चार क्षण बाद उसे दिखा कि लोग दुकानों के शटर खोल-खोलकर, खाने-पीने के ठेलों के डिब्बों, आईसक्रीम की ट्रालियों के ढक्कन उठा-उठा कर बाहर निकल रहे थे। सड़क पर पैर पड़ने के तुरंत पश्चात् वे उसकी ओर लक्ष्य साधकर बढ़ रहे थे।

उनके चेहरे कटे-फटे, खूँखार शिकारी जैसे दिख रहे थे। विकृत और घिनौने। उनकी गर्दनें कहीं मुड़ नहीं रही थीं। वे सीधी अकड़ी हुई थीं। उनकी आँखों की पलकें ग़ायब थीं।

आखिर ये हैं कौन? चाहते क्या हैं? उसने अपने दिमाग़ में ताज़ा खून दौड़ाने के लिए अपने आप पर प्रश्न दागा। हँसी पर प्रतिबंध का सत्यापन किया है, क्या इसलिए वह उनके हमले का लक्ष्य बन गया?

अचानक उसे लगा कि जैसे वह "कुछ नहीं" कोटि का क्षुद्र मनुष्य है। इसलिए सत्यापन करने वाला वह होता कौन है? कोई नहीं। उसके लिए अच्छा था कि उसे "कुछ नहीं" "कोई नहीं" के खोल में ज़िंदा पड़े रहना चाहिए। इसी खोल में शेफाली को भी बुला लेना चाहिए। शेफाली के आने के पीछे-पीछे बच्चों को भी।

लोग उसकी ओर बढ़े चले आ रहे थे। अब कुछ मिनटों और कुछ मीटरों की दूरी रह गई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"समय नहीं बचा-" उसे अब साफ़-साफ़ दिखायी देने लगा।

उसके दिमाग़ में तभी भाग पड़ने वाला जैसा कोई विचार आये इसके पूर्व ही वह भागने के लिए पीछे पलट पड़ा। पलटते ही उसके दोनों पाँवों के पंजें धरती में जड़ गये। जैसे पंजों को आरपार करता हुआ कीला ठोंक दिया गया हो। अब उसकी सारी शक्तियाँ पानी बनकर सिर नीचे तक झरती चली जा रही थीं। उसने अब अपने आगे-पीछे वाले बढ़ते लोगों को छोड़ दिया था। एक अनाम अप्रत्याशित आशा से उसने आजू-बाजू देखा।

वहाँ भी दूकानें थी। खाने-पीने के ठेले थे। आईसक्रीम ट्रालियों से वैसे ही लोग बाहर आ रहे थे जैसे कि सामने और पीछे की दुकानों, हाथ ठेलों और ट्रालियों से।

उसके लिए अब जैसे समय अटक गया था। उसे आभास हो गया था कि अब करने के लिए कुछ नहीं बचा, न वह भाग सकता है और न ही आक्रांताओं को मार सकता है।

मारने के विचार से वह कसमसा उठा। उसने अपने अंदर हिंसक भाव को शिकारी शेर जैसा, शिकार पूर्व तनते अनुभव किया।

काश, उसके पास कोई छोटा-मोटा हथियार होता। अच्छा होता अगर उसके हाथों में अनगिनत राउंड की बौछार करने वाली ए. के. फोरटी सेवन राइफल होती। विडंबना यह कि उसने कभी छोटा-मोटा चाकू तक नहीं रखा था।

जब उसके दिमाग में आत्मरक्षा का विचार लगभग खत्म हो गया तो आत्मरक्षा की जगह ऐसे भाव ने ले ली जो कुछ कर दिखाने को आमादा था।

आक्रांताओं का घेरा पूरा पक्का बन चुका था। हमलावर एक-दूसरे से इतने सटसटा कर आगे बढ़ रहे थे कि उनके बीच से किरण भी नहीं निकल सकती थी। धीरे-धीरे वह छोटे से और छोटा होता चला जा रहा था।

उसे इस बात का आश्चर्य होनें लगा कि एक अकेले को मारने के लिए वे अतनी सावधानी, इतनी सतर्कता क्यों बरत रहे हैं। उसका तो मामूली से झपट्टे से एक ही वार में काम तमाम किया जा सकता है।

अब उसे विश्वास जैसा होने लगा था जैसे कि उसके पास कोई एक ऐसा छुपा हुआ अस्त्र या शस्त्र अवश्य है जिसकी जानकारी उसे स्वंय भी नहीं थी।

"कौन-सा अस्त्र या शस्त्र हो सकता है?" उसने सोचा। वह खुद मन ही मन अपनी खाना-तलाशी लेने लगा।

वे लोग और पास आये थे। उन्होंनें अपनी कमीज़ों, बनियानों और बंडियों के अंदर छुपे हथियार बाहर निकाल लिये थे। छुरे चाकू और तलवारों की धारें चाँदी की तरह चमचमा रही थीं। कट्टे, पिस्तौल और रिवाल्वरों का काला रंग भी चमकीला था। हथियारों पर किरणें पड़ पड़ कर उचट रही थीं। उसकी आँखें उनकी मारक सीमा में आ गई थीं। चीजों का दिखना कठिन से कठिनतम हो चला था। एक तरह से वह अंधा होने के क़रीब था।

उसने अपने दोनों हथेलियों का सनशेड जैसा बनाया तो उसे बहुत साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा।

देखने के साथ उसके चौंकने की भी बारी थी। विश्वसनीयता और अविश्वसनीयता के बीच बहुत गड़बड़ी थी। विरोधियों के चेहरों को लेकर उसके सामने कोई प्रश्न नहीं था। उसके लिए उनका होना तर्क-संगत था। लेकिन अपने मित्र, सहृदय परिचित रिश्तेदारों-नातेदारों के चेहरे भी उसे दिख रहे थे। उसने उनमें तीन-चार लोगों को नाम लेकर पुकारा। आवाज़ बेकार गई।

"शायद भ्रम हो।" उसने सोचा। अपनी आँखों पर भार ज़ोर डालकर देखा। उसे एक चीज नज़र आई। सारे लोग दायीं ओर झुककर उसकी ओर बढ़ रहे थे। बायीं ओर वाली मूँछें नहीं दी दायें ओंठ के सिरे से चालू हुई काने बालों वाली पट्टी नथुनों बीचो-बीच आ कर खत्म हो गयी थी और एक सीढ़ी नीचे उतर चिकनी चमड़ी चालू हो गयी थी।

उसके अंदर अचानक विस्फोट जैसा हुआ। जैसे मोटी प वाली चट्टान टूटी और धमाकेदार आवाज के साथ उसकी हँसी फूट

वह हँस रहा था ज़ोर-ज़ोर से, स्वाभाविक ढंग से। कि किसी प्रयोजन के विशुद्ध हँसी हँस रहा था वह। हँसे जा रहा निर्भय!

उसकी ओर बढ़ने वाले ठिठक कर खड़े हो गये। वह भौंचक्की दृष्टि से कातरता से देख रहे थे।

उसकी समझ में आ गया था कि अब उन लोगों के आगे बढ़ने की ताक़त ख़त्म हो चुकी है।

एम-10, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार
(भदभदा रोड), भोपाल- 46

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शामगाह

वासुदेव

उस दिन रानी बाई जान-बूझकर अपनी खोली से देर से निकली थी। पर जब वह अपने अड्डे के क़रीब पहुँची तो चकमका गयी। खोली से निकलते वक़्त उसने क्या-क्या नहीं सोचा था, "फ़क़ीरचंद की नज़र जैसे ही मुझ पर पड़ेगी, वह खुशी से पागल हो उठेगा, मुझे क़रीब बुलाएगा, मेरी तारीफ़ करेगा, मुझे प्यार से चूमेगा, शादी की बात करेगा।... पर मैं कुछ नहीं बोलूँगी, चुपचाप घूँघट निकाल कर मुस्कुराती रहूँगी, और जब वह हाथ बढ़ाकर घूँघट उठाना चाहेगा, तब मैं उसका हाथ झटक दूँगी, फिर कहूँगी, "क्यों इतने आतुर हो? सगाई से पहले ही घूँघट उठाना चाहते हो?" मैं वहाँ से हट जाऊँगी। वह परेशान होगा... आवाज़ देगा...

आवाज़ देगा... मनुहार करेगा... गिड़गिड़ाएगा। तब मैं खिलखिलाकर हँसूगी, तेज़ी से चलकर अपने अड्डे पर पहुँच जाऊँगी और वहीं से नाम ले -लेकर इशारा करूँगी, उसे तड़पाऊँगी. ..।...वह खुश थी। भर राह उसके मुँह में बतासे फूटते रहे थे। लेकिन फ़क़ीरचंद के अड्डे के पास पहुँचने पर जब देर तक कोई आवाज़ सुनायी नहीं पड़ी ना ही कोई आहट ही हुई, तब उसकी सारी खुशियाँ अचानक काफ़ूर हो गयीं। उसने कुछ देर वहाँ ठमक कर पुकारने का प्रयास भी किया, बल्कि एक-दो बार उसका नाम लेकर पुकारा भी, पर सब व्यर्थ! वह तो वहां था ही नहीं! वह यदि वहाँ रहता, तो इतनी देर तक भला चुप कैसे रहता? वह उदास-मन लिये अपने अड्डे तक आयी, थैले से कटोरा निकाला, उसे ज़मीन पर रखा, उसमें कुछ सिक्के डाले फिर साथ लायी पॉलिथिन ज़मीन पर बिछायी और उसी पर बैठ गयी। देह पर नयी-नयी साड़ी जो थी। गंदी हो जाएगी तो! शीघ्र ही उसे लगा कि साड़ी चाहे गंदी हो जाए या फट जाए, इससे क्या फ़र्क पड़ता है? जब देखने वाला ही नहीं है, तो फिर साफ़ क्या और गंदा क्या? वह झल्लाकर मन मारे बैठी रही। पर मन भी कहाँ शांत था? वह तो बार-बार फ़क़ीरचंद की याद में भटक-भटक जाता था।... वह बुदबुदायी, "बड़ा निर्मोही निकला! कहकर भी नहीं आया!! दग़ाबाज़...!!!"

अभी कुछ ही दिनों पहले की बात है। तब रानी बाई पहली बार अपने अड्डे पर आयी थी। मंदिर था, - राम, सीता और लक्ष्मण का। वैसे तो वहाँ दिन-भर श्रद्धालुओं का आना-जाना बना रहता था। पर सुबह-शाम भक्तों की कुछ ज़्यादा ही भीड़ हो जाती थी।.. मुश्किल से पन्द्रह-सोलह की उम्र रही होगी उसकी। किशोर वय, जवानी अभी ठीक से फूटी भी नहीं थी। पर धीरे-धीरे खिल रही थी।... श्रद्धालु कुछ न-कुछ अवश्य ही उसके कटोरे में डाल दिया करते थे। गोधूलि के आस-पास वह सबको सहेज लेती थी और टोह मारती खोली को लौट जाती थी।... तभी एक दिन किसी ने एक लड़के को उसके अड्डे के क़रीब ला बैठाया था। वह दोनों पाँवों से अपाहिज था। पर सुन्दर-सा कोमल-सा खिच्चा बालक! बड़ी-बड़ी आँखें, मासूम व आकर्षक चेहरा। जो भी मंदिर के प्रांगण में भगवान के दर्शन को आता, वह उसके कटोरे में कुछ-न-कुछ ज़रूर डाल देता। पर रानी बाई को इसकी खबर नहीं थी। यह तो उसे तब पता चला, जब शाम में बगल से सिक्के के खनकने की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। आवाज़ तो बीच-बीच में भी आती रहती थी। पर तब उसका ध्यान उधर नहीं जा पाया था।... उसके कान खड़े हो गये थे। वह झटके से उठी थी और पास-आकर टोक दिया था, "तू कौन है रे? मेरे अड्डे के पास कैसे बैठ गया?"

"अपने से नही आया! मालिक बैठा गया है। "उसने धीरे-से जवाब दिया था,

"कौन मालिक?" रानी बाई ने गुस्सा व आश्चर्य से पूछा था।

"कल शाम को लेने आएगा न, तो देख लेना....।" उसका बहुत ही सहज व सीधा-सा जवाब था।

"देखेगी खाक! देख पाती, तो पहले नहीं भगा देती?... चुपचाप आकर यहाँ जम गया और अब मालिक की बात करता है।... चलो, फूटो यहाँ से...।"वह गुस्से में थी

अब तक उसने भी देख लिया था कि वह अंधी है, कि वह देख नहीं पाती। उसने भी बता दिया था, "कैसे भागूँ? मैं तो देख नहीं पाती। उसने भी बता दिया था, "कैसे भागूँ? मैं तो चल-फिर भी नहीं सकता...। मेरे तो दोनों पाँव...।"

"तो क्या तू लंगड़ा है?" गुस्सा दया का रूप लेने लगा था।

"हाँ... एकदम से अपाहिज...!!"

"ओह !"... उसने झल्लाकर कहा था, "ठीक है। मालिक से कहना। वह कल से तेरे को यहाँ नहीं बैठाए! यह हमारा अड्डा है।"

"हाँ बोल दूँगा।" उसने विश्वास दिलाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भी भला क्या करती? अपने अड्डे पर लौट गयी थी। आवाज़ से उसे पता चल गया था कि वह कोई नया लड़का है। लेकिन ये बातें भी उसके दिमाग में चक्कर काटने लगी थीं कि वह लंगड़ा है और उसको कोई मालिक भी है जो उससे भीख मंगवाता है।

दूसरे दिन वह समय से पहले ही अड्डे पर आ धमकी थी। क्या पता, वह लंगड़ा फिर से वहाँ आ बैठे? फिर तो उसकी कमाई ही मारी जाएगी। हालाँकि उससे उसकी हमदर्दी हो आयी थी। वह चाहती थी कि उसकी भी कमाई हो। लेकिन उसके अड्डे के पास नहीं बल्कि अलग। तभी वह आहट पाकर पुकारने लगी थी। उसे पता चल गय था कि वह आ गया है। वह एक बारगी बिफर पड़ी थी, "क्यों हमरी रोटी छीन रहा है बाबू? पूरे शहर में तेरे को यही एक जगह मिली थी इसको बैठाने की?... इसे कहीं अलग उठा ले जाओ न!! यह तो हमरा अड्डा है...।"

"नहीं, यह यहाँ से नहीं हटेगा! यह इसका अड्डा है!!" एक हट्टा-कट्टा बूढ़ा था। साठ से ज़्यादा की उम्र। बेतरतीब बाल, खिचड़ी दाढ़ी। बढ़ी हुई। खूँखार चेहरा। डरावना। बड़ी-बड़ी आँखें जिनमें तैर रहे कई-कई लाल डोरे। जैसे कोई जल्लाद ! ऐसे कई लड़के थे उसके कब्जे में जिनसे वह भीख मँगवाता था। उसने अपने तेवर बदलते हुए कहा था, "यह यहीं बैठेगा? जाना है, तो तू ही यहाँ से चली जा।" बड़ी अकड़ थी उसकी बातों में।

सुनकर वह भी झल्ला उठी थी। घृणा व गुस्से से भरकर उसने भी कहा था, "मैं तो पहले से यहाँ बैठती आ रही हूँ और मैं ही यहाँ से चली जाऊँ? वाह रे मरद! लगता है, यह तुमरी जमींदारी है!!"

उसकी बातों से वह एकदम से पिनक गया था। डाँटते हुए कहा था, "ए अंधी! यह अड्डा तेरे बाप ने भी तो तेरे को नहीं लिखा।"

"तो क्या तेरे बाप ने लिख दिया है?"

"ओ... तो तू ऐसे नहीं मानेगी!" उसने लपककर उसके हाथ से उसकी छड़ी छीन ली थी और उसे दो-तीन छड़ी लगा दी थी। एक छड़ी ललाट पर लगी थी और वहाँ से खून निकल आया था।

वह दर्द से चीख पड़ी थी, "बाप रे" खून निकाल दिया!! "वह ललाट पर हाथ रखकर बैठ गयी थी और चीखने-चिल्लाने तथा गालियाँ देने लगी थी।... अब तक वहाँ भिखमंगों की कोई खास आमदनी नही हुई थी। जो भक्तजन वहाँ आये हुए थे, उन्हें भिखारियों के झगड़े से क्या लेना-देना था? कुछ तो मौन दर्शक बने हुए थे और कुछ भगवान को प्रसन्न करने तथा उनसे आशीवार्द लेने में व्यस्त थे।

फ़क़ीरचंद को यह सब अच्छा नहीं लगा था। उस अंधी भिखारिन को खून बहाकर मारना और चोट खाकर उसका चीखना-चिल्लाना- इस घटना ने उसको अंदर से मथ कर रख दिया था। पर वह करता भी तो क्या? न तो वह वहाँ जा सकता था और ना ही वह वहाँ आ सकती थी। हालाँकि, वह जानता था कि उसके वहाँ बैठने से उसकी कमाई मारी गयी है। शाम को जाते समय जब वह अपने कटोरे को सिक्कों से भरा देखता था, तो उसे लगता था कि यह सारी कमाई उस अंधी भिखारिन की है जिसे उसने जबरन हड़प लिया है। कभी-कभी तो इसका मन होता था कि वह जाकर पूरा कटोरा उसके कटोरे में उँडेल दे और यहाँ से कहीं भाग जाए। पर वह वैसा कर नहीं सकता था। एक तो वह चलने से असमर्थ था, दूसरे उस राक्षस मालिक का भय। वह छटपटाकर रह जाता था। पर वह मन-ही-मन उस अंधी भिखारिन के बारे में सोचता ज़रूर था।

0 0 0

तभी किसी बूढ़ी भिखारिन ने उसे टोक दिया, "का री रनिया! आज नयी साड़ी चढ़ाई हो! कहीं कोई यार उधार मिल गया क्या?"

अचानक रानी बाई का चिंतन भंग हो गया! वह पहले तो झेंप गयी, फिर धीरे-से बोली, "मिल तो गया है दादी माँ! पर...।"

"पर क्या रानी?"

"तुम सबको पसंद न आये शायद!"

"हम सबको पसंद न आये, इससे क्या फ़र्क पड़ता है? जीवन तो तुमको गुज़ारना है उसके साथ। जो तुमको भाये सो जग को भाये...।"...बताओ न, कौन है वह?"

"ऊ...!" उसने हाथ के इशारे से बताया, "वहाँ जो बैठता है न....।"

"ऊ लंगड़ा...?"

"हाँ....,"उसने झेंपते हुए जवाब दिया।

"ठीक ही तो है। अभी छौना हे। दोनों पाँव से लाचार। तो जिंदगी कमाई होगी। जहाँ बैठ जाएगा, वहीं कंचिया बरसेगा। बात-विचार में भी सुधर है। एक बार हाथ थाम लेगा, तो ता-ज़िंदगी थामे रखेगा।"

बूढ़ी भिखारिन बोलती जा रही थी। रानी बाई मंद-मंद मुस्कुराती जा रही थी। उस मुस्कान से उसके ज़ेहन में पनप आया प्यार रूपी पौधा भी मस्ती में अठखेलियाँ करने लगा था। बूढ़ी भिखारिन वहाँ से जाने लगी। जाते-जाते ही उसने पूछ दिया, "आज मंगल है न ? दुर्गाबाड़ी में पंगत है। चलोगी नहीं?"

"चलती तो!" उसने झेंपते हुए जवाब दिया, "पर कैसे चलूं? वह आयेगा तो खोजेगा न।"

इस बार भिखारिन कुछ नहीं बोली बल्कि चुपचाप चली गयी। रानी बाई फिर से फ़क़ीरचंद की याद में खो गयी। भिखारिन ने उसके अंदर प्रेम की गुदगुदी जो पैदा कर दी थी। वह उसे महसूसने लगी।... उसने साड़ी को दाएँ हाथ से दो-तीन बार छुआ, प्यार से सहलाया, हौले से चूमा। उसे लग रहा था जैसे उस साड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के एक-एक सूत में फ़क़ीरचंद के हृदय का प्यार बसा है।... किशोर वय में यौवन की सिहरन! वह मारे खुशी के पागल होती जा रही थी।.... अभी कुछ ही दिनों पहले की तो बात है। एक शाम, जब रानी बाई फ़क़ीरचंद के क़रीब से गुज़र रही थी, तब उसने डरते-डरते ही टोका था, "तू तो मेरे पर गुस्सा हो न! पर क्या गुस्सा करने से पहले मेरी बात नहीं सुनोगी?" वह थमक गयी थी, पर कुछ बोली नहीं थी। तब उसी ने आगे कहा था, "उस दिन मालिक ने तुमको मारा था, इसमें मेरी कोई ग़लती नहीं थी। मैं तो दोनों पाँव से अपाहिज हूँ! चलना तो दूर, मैं तो उठ-बैठ भी नहीं सकता। मैं तो यहाँ बैठना भी नहीं चाहता हूँ, पर वही लादकर लाता है और यहीं पटक देता है। अलग बिठाने को कहता हूँ, तो उल्टे मारता है और गंदी-गंदी गालियाँ देता है...।"

वह कुछ नहीं बोली थी, चुपचाप जाने लगी थी। तब उसी ने आगे कहा था, "मेरे पर गुस्सा है तो थूक दो और माफ़ी दे दो। माफ़ी माँगता हूँ...।"

इस बार भी वह कुछ नहीं बोली थी और चुपचाप आगे बढ़ने लगी थी। तब उसने अनुरोध के स्वर में कहा था, "आज अच्छी कमाई हुई है। एक मुट्ठी कचिया लेती जाओ न!" उसने मुट्ठी भर कचिया कटोरे से उठा भी लिया था। कटोरे में सिक्के की आवाज़ भी हुई थी। वह सुनी भी थी। फिर भी वह रुकी नहीं थी, बल्कि तेज़ी से आगे बढ़ गयी थी। वह उसे निहारता रहा था। जब तक कि वह आँखों से ओझल नहीं हो गयी थी।

कभी-कभी राज्य के नेता की तरह ही यहाँ के मौसम का मिज़ाज भी बदलने लगता है। कहाँ तो दिन में धूप थी, और कहाँ शाम ढलते-न-ढलते तेज हवा और फिर बारिश। सड़कों पर लोगों की भीड़ छटने लगी थी। मंदिर में भक्तों और दर्शनार्थियों की आवा-जाही भी कम हो गयी थी।... अचानक रानी बाई को फ़क़ीरचंद का ख्याल आया था।... लंगड़ा है बेचारा! दोनों पैर से अपाहिज। चल भी नहीं सकता। मेघ में भीग रहा होगा! वह छटपटा उठी थी और उसकी ओर तेज़ी से चल पड़ी थी। फ़क़ीरचंद ने उसे अपनी ओर आते देख लिया था। लेकिन वह कुछ बोल नहीं पा रहा था। क्या पता, वह अपनी खोली को लौट रही हो। इस मेघ में अब मंदिर में कौन आयेगा? खाक कमाई होगी? भीगने से अच्छा है कि अपनी खोली को लौट जाये...।" तभी वह उसके क़रीब आकर थमक गयी थी, फिर पूछा था, "भीगत हो न?"

"हाँ, तो!" अचानक उसके मुख से निकल पड़ा था। पर शीघ्र ही उसने पूछ लिया था, "अपनी खोली को जा रही हो न?"

"तू मेघ में भीगो और हम खोली को जाएँ, ऐसा कैसे होगा?. ये, ओढ़ लो।" उसने हाथ के पॉलिथिन को उसकी ओर लपका दिया था।

उसने हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया था और उसको फैलाते हुए कहा था, "तुम भी आ जाओ न! हम दोनों इसी में बच जाएंगे।"

दोनों दीवाल से सटकर बैठ गये थे और सामने से पॉलिथिन को ओढ़ लिया था। कुछ क्षण तक दोनों के बीच एक रोमांचक खामोशी बनी रही थी। तभी फ़क़ीरचंद ने पूछा था, "हमरे पर तो गुस्सा था? फिर पॉलिथिन लेकर...।"

"सोचा, उसमें तुमरा कोई दोष नहीं था। सारा दोष तो उस खूँसट बुड्ढे का था...।"

"क्या नाम है तुमरा?"

"रानी... रानी बाई।"

"और तुमरा...?"

"फ़क़ीरचंद।"

"तुमरा दोनों पाँव...?"

"...टूटा-भंगा है।"

"कैसे?"

फ़क़ीरचंद धीरे-से मुस्कुराया था, कुछ क्षण तक रानी बाई को निहारता रहा था, फिर धीरे-धीरे बताना शुरू किया था, "बहुत छोटे में उस बुड्ढे ने मेरे को माँ से चुरा लिया था। फिर पत्थर मार-मारकर दोनों पाँव तोड़ दिये थे और जब घाव भर गया था, तो भीख मँगवाने लगा...।"

फ़क़ीरचंद की बातों से रानी बाई को बहुत चोट पहुँची थी। वह एकबारगी तड़प उठी थी, जैसे उस दुष्ट बुड्ढे ने पत्थर मार-मारकर फ़क़ीरचंद के नहीं बल्कि उसके पाँव तोड़ दिये हैं। पर वह बोली कुछ नहीं थी। हाँ, आगे ज़रूर पूछा था, "तुमको अपने गाँव-घर के बारे में कुछ अता-पता है या...।"

"नहीं! कोई अता-पता नहीं है। पर माँ-बाप के नाम याद हैं- माँ का नाम रमपतिया और बाप का भरोसी महतो...।" इस बार उसने एक गहरी आह भरी थी। फिर से एक खामोश चुप्पी दोनों के बीच रेंगने लगी थी।

हवा थमने लगी थी। बारिश भी। सड़कों पर आवा-जाही बढ़ गयी थी। सब में पहले भागने की होड़ जिसके कारण कभी-कभी गंदे जल के छींटे दीवाल तक जा उछलते थे जिससे रानीबाई की साड़ी पर गंदगी जमने लगी थी। फ़क़ीरचंद ने पॉलिथिन से नीचे तक ढँक लिया था, फिर पूछा था, "तुम भी कुछ बताओ न...।" का बताऊँ?" रानी बाई थोड़ा चिंतित एवं परेशान होती हुई बोली थी, "मां है, बाप नहीं। पर जब मैं अपनी कमाई करने लगी थी, तो वह भी छोड़कर अपने यार के साथ चली गयी।"

"आँख कैसे गयी?"

"सब आजे जान जाओगे, कल के लिए कुछ नहीं छोड़ोगे?"

"बताओ न ! न जाने क्यों तेरे मुख से सुनने का मन करता है।"

"बहुत गंदी कहानी है। मत सुनो...।"

"तू जब इतनी अच्छी हो, तो तेरी कहानी कैसे गंदी हो सकती है?... बताओ न।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तब तेरह-चौदह की उमर थी।" उसने बताना शुरू किया था, "उस रात माँ खोली में नहीं थी। भोज खाने गयी हुई थी, वहीं बारिश में फँस गयी थी। मैं सो रही थी। अकेली। तभी बाप आया था। नशे में धुत्त! वह माँ को खोज रहा था। फिर मेरे करीब सरक आया था। साँप की तरह। मैं कुछ समझ पाती, तब तक तो वह मेरे पर हावी हो आया था।... मेरी तो सिट्टी-पिट्टी गुम! गजब की कुवत। छुड़ाना भी मुश्किल, !!! डरकर रोने लगी थी। पर वह पापी। हार-दार कर मैं उसे काट खायी थी। काट के दर्द से वह छटपटा उठा था। पकड़ ढीली पड़ गयी थी। तब जान-प्राण का मोह छोड़कर नदी की ओर भागी थी। तभी पत्थर से टकराकर गिर पड़ी थी। मुँह के भरे। एक दाँत टूट गया था। आँख में चोट। माथे में भी। इतनी चोट कि फिर से उठकर भाग भी नहीं सकी थी। रात-भर वहीं पड़ी-पड़ी छटपटाती रही थी। दूसरे दिन से तो कुछ सूझता ही नहीं था।"

सुनकर फ़क़ीरचंद को जितना दुःख पहुँचा था, उससे कहीं अधिक गुस्सा आया था। पूछा था, "अपना बाप था?"

"मैं तो उसको अपना ही बाप समझती थी। पर उसका कहना था कि उसने मेरे को पैदा नहीं किया था। माँ कहीं से पेट लेकर आयी थी। इस आधार पर वह मेरे साथ...! उस रात वह यही सब बक रहा था...!!!"

"दुष्ट था स्साला!" फ़क़ीरचंद अभी भी गुस्से में उबल ही रहा था,

"महापापी!! आख़िर था तो बाप ही न! इतने पवित्र रिश्ते को नापाक करना चाहता था!! उसको तो नरक में भी जगह नहीं मिलेगी...!!!"

"बहुत पीता था! पीते-पीते ही मरा भी....!!"

एक बार फिर से चुप्पी पसर आयी थी। उदास व खिन्न मन दोनों अपने-अपने अंदर ही कुछ टटोलते रहे थे। तभी फ़क़ीरचंद ने पूछा था, "आँख में चोट लगी तो कोई अस्पताल नहीं ले गया?"

"कौन ले जाता? अपना कौन था?"

"मतलब कि तू भी अकेली है?"

"अब अकेली कहाँ हूँ? तू जो है साथ में!" वह हँस पड़ी थी।

"मेरे साथ तुमरा कैसे निभेगा? दोनों पैर से अपाहिज मैं।"

"अब तू अपाहिज कहाँ रहा?... और मैं अँधी कहाँ रही? मेरा पैर तुमरा पैर, तुमरी आँख मेरी आँखें! बस! अब और क्या चाहिए जीने के लिए...?"

उसने एक-एक शब्द से उसकी समझदारी छलकती थी। फ़क़ीरचंद उसकी बातों से इतना प्रभावित हुआ था कि उसने प्यार से उसका हाथ चूम लिया था।

तभी फ़क़ीरचंद का मालिक वहाँ आ टपका था। जैसे दोनों के ऊपर अचानक गाज आ गिरी हो। उन पर नज़र पड़ते ही वह मारे गुस्से के एकबारगी बरस पड़ा था, "स्साला लँगड़ा! अँधी से चोंच लड़ाता है!!... उस दिन तो यह तुमको यहाँ बैठने भी नहीं दे रही थी और आज तू इसे अपनी गोद में बैठाए चुम्मा ले रहा है!!!" उसने रानी बाई को धमकाते हुए कहा था, "का री अंधरी..! तू इस लंगड़े पर डोरे डाल रही है न? लेकिन हम ऐसा नहीं होने देंगे।... फिर कभी साथ देख लिया, तो दोनों टांग तोड़ कर रख देंगे।" वह गुस्से में तमतमाते हुए फ़क़ीरचंद को रिक्शे पर लादकर चलता बना था।

फ़क़ीरचंद के मालिक की सारी कोशिश फ़क़ीरचंद और रानी बाई को एक-दूसरे से दूर रखने की थी। जबकि जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा था, दोनों एक-दूसरे के और क़रीब होते जा रहे थे। वह चाहकर भी फ़क़ीरचंद को वहाँ से हटा नहीं पा रहा था, क्योंकि वहाँ अच्छी कमाई हो रही थी और वह मंदिर उसके डेरे के करीब भी था। किसी-किसी दिन तो वह बीच-बीच में अड्डे पर भी जा जाया करता था। वह फ़क़ीरचंद को देख लेता था, मंदिर की भीड़ का मुआयना कर लेता था और कटोरे से कमाई के सिक्के बटोरकर चला जाता था।

लेकिन इससे दोनों के बीच प्यार में किसी तरह का बदलाव नहीं आया था।

दोनों पास-पास ही बैठते थे। दूर-दूर बैठने से बीच में किसी दूसरे भिखारी अथवा दूसरी भिखारिन के बैठ जाने का डर था। कहावत है, पास रहने से प्यार बढ़ता है। वही हुआ था। दोनों अच्छे प्रेमी बन गये थे। हृदय से एक-दूसरे को चाहने लगे थे।

एक दिन फ़क़ीरचंद ने रानी बाई की ओर पॉलिथिन का एक थैला बढ़ाते हुए कहा था "रानी बाई! लो, देखो। तुमरे लिए लाया हूँ।"

"क्या है इसमें?"

"तू ही टोकर देख लो न!"

"कपड़ा लगता है! कहीं साड़ी तो नहीं!!" उसने थैले का मुँह खोलकर और हाथ से टटोलकर देखा था, फिर मारे खुशी के उछल पड़ी थी, "हमारे लिए साड़ी... कहाँ से खरीदी...?"

"सेल लगा था।... रंग-बिरंगी साड़ियाँ... कम दाम में। ले ली।... तुम्हारे लिए...।"

"मेरे लिए क्यों?"

"कोई तो मेरा नहीं है इस दुनिया में। किसके खरीदता? तुम मुझे अपनी लगती हो। इसलिए...।"

"गजब का हाव-भाव था रानी बाई का पूछा था, "साड़ी का मतलब समझते हो?"

"तू समझाओ न...।"

"हम आदिवासियों में जब कोई कुँवारा लड़का किसी लड़की को कपड़ा-लत्ता देता है, तो इसका मतलब होता उसके साथ लड़की की मँगनी हो गयी है।" कहते-कहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी।

फ़क़ीरचंद ने उसकी झेंप को भाँप लिया था। उसने उसके कोमल हाथ को अपने हाथ में लेकर प्यार से सहलाते हुए कहा था, "मँगनी तो उसी दिन हो गयी थी, जिस दिन हम दोनों मेघ से बचने के लिए दीवाल से सटकर बैठे थे।... आज तो छेका हो गया। मतलब कि हमने तेरे को अपने वास्ते छेक लिया ! अब तुम पर कोई दूसरा दख़ल नहीं जमा सकता...।"

"दूल्हे राजा! बारात लेकर कब आयेंगे दुलहिन को लेने?" रानी बाई ने हँसकर पूछा था।

"बस ! दुलहिन-रानी जब चाह लेगी...!!" इस बार दोनों ठहाका लगाकर हँस पड़े थे।

"गोधूलि की गोद में शाम झुकने को थी। मंदिर के प्रांगण में भक्तों एवं श्रद्धालुओं की भीड़ बढ़ने लगी थी। इस समय भिखारियों को अच्छी भीख मिल जाती थी। पर रानी बाई को जाना भी होता था। इसलिए फ़क़ीरचंद ने याद दिलाया, "अब तुम जाओ। पर कल यही साड़ी पहनकर आना। देखूँगा कि इस साड़ी में तू कैसी लगती है.....।"

"हाँ, देखना और बताना कि इस साड़ी में मैं कैसी लगती हूँ। इसलिए कल तू जरूर आना.....!! उसने झुककर फ़क़ीरचंद का ललाट चूम लिया था, फिर आगे बढ़ गयी थी। साथ जाने वाले भिखारिन वहाँ तक आ जो गयी थी।

कभी-कभी इंसान सोचता कुछ है और होता कुछ है। वादे के अनुसार दूसरे दिन रानी बाई फ़क़ीरचंद की दी हुई साड़ी पहनकर तो अड्डे पर आ गयी थी, किन्तु फ़क़ीरचंद उस दिन वहाँ कहाँ पहुँच पाया था? रात में ही उसके मालिक ने उसकी इतनी पिटाई कर दी थी कि वह ठीक से बैठ भी नहीं सकता था।.... सच तो यह था कि जिस दिन उसके मालिक ने उसे रानी बाई के साथ बैठा देख लिया था, उसी दिन से उसे उस पर संदेह हो आया था। कटोरे में भीख का पैसा कम भी नहीं रहता था, तब भी उसे लगता था कि उसने अंधेरी को पैसे दिये होंगे। अब उस शक़ का क्या इलाज था उसके पास? पर अब तो उस पर रोज ही शक करता था वह। चोरी का भी आरोप लगाता था। फिर डाँट-डपट, मार-गाली। फ़क़ीरचंद भी कितना बर्दाश्त करता? कब तक करता...? क्यों करता? पूरी कमाई तो उसी की रहती थी। पर बदले में उसे क्या मिलता था? न तो कभी पेट-भर दाना, न तन ढँकने को पोख्ता कपड़ा। पर मार-गाली रोज़। फिर भी कभी विरोध नहीं, कभी कोई शिकवा-शिकायत नहीं। कोई आवाज़ नहीं। लेकिन न जाने कैसे उस दिन अचानक उसके मुँह से निकल पड़ा था, हम चोरी नहीं करता, उस्ताद। हाँ, पेट घटने पर दो-चार कचिया का चना-चबेना जरूर खा लेता हूँ नहीं तो पूरी कमाई तेरे को ही देता हूँ।"

किन्तु उसके मुख से इतना निकलना था कि वह गुस्से में आग-बबूला हो उठा था। वह पागल कुत्ते की तरह उस पर टूट पड़ा था, "स्साला... मादर...! मुँह लगता है!! जवाब देता है!!! अभी बताता हूँ...! "फिर क्या था?... उस दिन उसके दम तक उसे मारा-पीटा था और कई दिनों तक उसे भूखा-प्यासा रखा था। चोटिल जगहों पर घाव बन गये थे। उसने दवा भी नहीं दी थी। तरस खाकर बगल की एक बुढ़िया भिखारिन सूजन की जगहों पर एक-दो बार हल्दी-चूना तथा ज़ख्मों पर गेंदा फूल के पत्तों का लेप चढ़ा गयी थी, बस। कभी-कभी तो वह सोचता था कि पास के नाले में लुढ़क कर जान दे दे। पर वह वैसा कर नहीं सकता था क्योंकि वह चलने में ही असमर्थ था। और, जैसे-ही वह थोड़ा मनगर हुआ था, उसने फिर से उसे अड्डे पर बैठाना शुरू कर दिया था। जब उसने अस्वस्थता के कारण वहाँ बैठने में असमर्थता दिखायी थी, तब उसने डाँटते हुए कहा था, "ख़बरदार जो नाकर-नोकर किया तो! घाव देखकर लोग तुम्हें ज़्यादा भीख देंगे।" फिर तो उसके 'न' का कोई मतलब ही नहीं रह गया था। और फिर रानी बाई से मिलने की इच्छा जो ज्वार-भाटे की तरह उफान मार रही थी उसके ज़ेहन में।... रानी बाई, उसकी साड़ी, उसके साथ किया गया वादा, उसका रूप-यौवन, उसकी मीठी-मीठी बातें, उसकी जान-लेवा मुस्कान-सब के सब उसे एक साथ आवाज़ दे रहे थे। बुला रहे थे...।

लेकिन जब वह वहाँ पहुँचा था, तो रानी बाई उससे बात तक करने को तैयार नहीं थी। गुस्सा जो था। फ़क़ीरचंद ने कई बार उसे आवाज़ भी दी, किन्तु हर बार वह अनसुनी करती रही।... पर उसका भी मन भला कब मानने वाला था! वह गुमान भी करती तो कब तक? उससे मिलने को तो वह खुद बेताब थी।... दोपहर के वक़्त, जब मंदिर में आने-जाने वाले भक्तों की भीड़ कम हो गयी, तब वह लाठी टेकती हुई आयी और उलाहने के लहजे में बोली, "तू तो बड़ा जालिम निकला रे! नेह लगाके भूल गया। मैं तड़पती रही, तू आया तक नहीं। लौटा दूँगी तुमरी साड़ी। तू बड़ा छलिया निकला...।"

उसके उसी उलाहने को सुनने के लिए तो वह बेताब था। सुनकर मन अघा गया उसका। पर ज़ख्म भी उभर आये। कहा, "खाली गुस्सा ही करोगी या हमरी भी कुछ सुनोगी?"

"का सुनूँ? तू वादा करके क्यों नहीं आया? राह निहारत-निहारत तो दीदा फूट गयी। चार-पाँच दिन कैसे बीते, तेरे को क्या पता?... मरद हो ना, औरत के दुःख को कैसे समझोगे?"

"हम समझता है रानी बाई। सब समझता है। औरत से मरद के ज़्यादा बेताबी रहती है। पर क्या करता? मेरे को तो उस रात इतना मारा... इतना मारा कि मैं ठीक से बैठ भी नहीं सकता था! देखो न सब तरफ घाव है!!"

कहते-कहते वह रोने लगा। और रानी बाई! उसका गुस्सा न जाने कहाँ काफूर हो गया? वह सारे शिकवे-शिकायत को भूलकर व्याकुल मन दोनों हाथों से उसके पूरे बदन को टटोलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी। जहाँ भी घाव मिलता, वह उसे हौले से सहलाती, उसमें गाल सटाती, उसकी जलन को महसूस करती। उसे लगता जैसे सारी चोटें उसे ही लगी हैं। वह फ़क़ीरचंद को अपनी गोद में सहेजकर जो रोना-बिलखना शुरू किया तो देर तक रोती बिलखती ही रही। जो भक्त मंदिर में पूजा-पाठ कर रहे थे, वे सब उसके आँसू और विलाप से हतप्रभ थे।... रो तो फ़क़ीरचंद भी रहा था। पर रोने से ज़्यादा वह रानी बाई के आँसू पोंछने में परेशान था। रानीबाई के हृदय-सागर से उफनकर उसकी आँखों से बाहर आने वाले आँसू का पनाला थमने को नाम ही नहीं ले रहा था।

तभी रानी बाई ने रोना बंद कर कहा, "अब हम यहाँ नहीं रहेंगे,"

"तो फिर कहाँ जाएंगे?" फ़क़ीरचंद ने उत्सुकता से पूछा।

"कोई दूसरा शहर।"

"कैसे? मैं तो लोथ हूँ। चल भी नहीं सकता...।" उसकी बातों में घोर आश्चर्य था।

"हमारे पास कुछ कचिया है।"

"मान लिया कि है। पर उससे क्या होगा?"

"बरही से लकड़ी की एक गाड़ी बनवाएंगे पहियावाली...।"

"फिर...?"

"उसी पर तुमको बिठाकर टीशन ले चलेंगे। वहीं से गाड़ी में बैठकर हमदोनों दूसरे शहर को चल चलेंगे।"

"धंधा क्या करेंगे? क्या वहाँ ऐसी जगह मिलेगी?" उसने आश्चर्य से पूछा।

किन्तु, रानी बाई ने उसी सहजता से जवाब दिया, "लकड़ी गाड़ी ही हमारा मंदिर होगी। तू उस पर बैठना, हम खींचेगे। तू राह दिखाना, हम आगे बढ़ते चलेंगे। जिसके पास से गुजरेंगे, वही पैसा देगा। इतनी कमाई होगी कि हम दोनों खा सकेंगे।... अपना धंधा होगा, किसी की गुलामी नहीं। आजादी रहेगी!... अपनी ज़िंदगी अपने अनुसार जीने की आज़ादी...।"

बड़े मनोयोग से रानी बाई की बातों को सुन रहा था फ़क़ीरचंद। उसका भी मन वैसा ही कह रहा था। पर अंदर ही अंदर वह हिचक भी रहा था। उसने सोच-विचार के बाद कहा भी, "तू तो ठीक ही कह रही है रानी बाई। पर यह सब होगा कैसे....? डर लगता है। मालिक तो जल्लाद हे। पीछे पड़ा रहता है। पता चलने पर जान ही ले लेगा...।"

"डरो नहीं फ़क़ीरचंद! हिम्मत रखो!! तब भगवान भी हमारी मदद करेगा। बस, हमलोग अब आगे का सोचें...।"

"ठीक है रानी बाई।... तू जैसा कहोगी, मैं वैसा ही करूँगा।"

रानी बाई धीरे-से मुस्कुराई। फिर प्यार से उसे चूम लिया। तब फ़क़ीरचंद ने भी हर्षित-पुलकित उसे अपने आलिंगन में भर लिया।

अब तक मंदिर में घंटी बज चुकी थी। सांध्य-पूजा शुरू हो गयी थी।

गोधूलि ढलने को थी और शाम गहराने को। अँधेरे की काली चादर धीरे-धीरे धरित्री पर तनने लगी थी। नये शहर में आने के बाद पूरा दिन खोली बनाने में ही निकल गया था। फिर पास के नाले में स्नानादि कर दोनों अभी-अभी खोली में आये थे। खुश थे सारा दिन अच्छी तरह से बीता था। नयी जगह दोनों को फल आयी थी। क्योंकि वह अपनी थी और जीने की उम्मीद भी जग रही थी।

"रानी बाई...!"

"हां, बोलो न!"

"आज तेरे को अपनी इस खोली में कैसा लग रहा है?"

"बहुत अच्छा! आज हमारी जिंदगी का नया बिहान हुआ है।"

"तू कहती थी न कि औरत मरद की शक्ति होती है। तुमने इसे सचकर दिखाया।"

"यह सब तुमरे कारण हुआ फ़क़ीरचंद। तू नहीं मिलता तो यह सब कैसे होता।"

"तब तो उस जल्लाद का नाम लो जिसके कारण हम दोनों

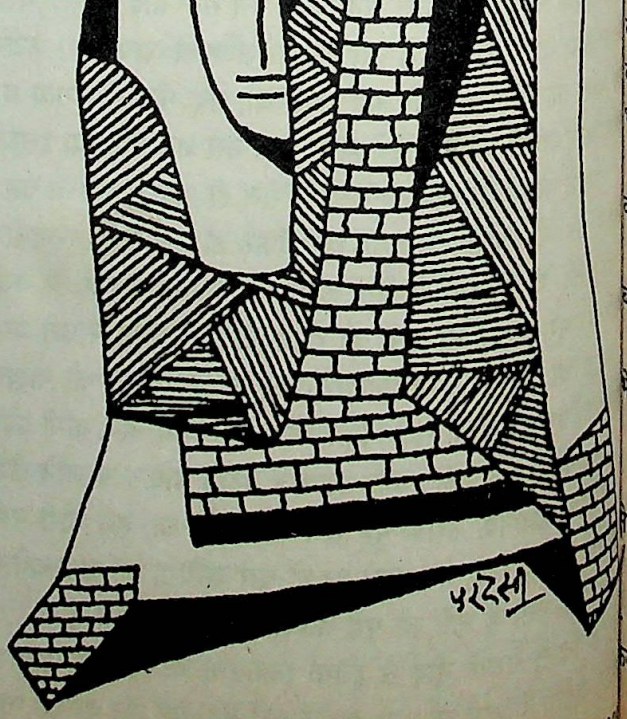

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-दूसरे के इतने करीब हुए और फिर वहाँ से भागे... ।''

''हाँ रे!... कभी-कभी बुरा आदमी भी अच्छे पल का कारण बन जाता है।''

''रानीबाई।''

''हाँ, कहो न... ।''

''आज फिर एक बार वही साड़ी पहनो न! लाल छापवाली साड़ी... ।''

रानी बाई मुस्कुरायी, फिर बोली, ''तू नहीं भी कहता, तो भी आज हम वही साड़ी पहनते।''

और जब वह उस साड़ी को पहनकर सामने आयी, तो फकीरचंद उसे एकटक देखता ही रह गया। चेहरे पर मुस्कान के भाव, होठों पर तारीफ़ के ढेरों शब्द और जेहन में उमड़ आया बेशुमार प्यार,''... बहुत सुंदर रानी बाई! यह साड़ी तुम पर बहुत फबती है।'' चलो!... हम दोनों अब मंदिर चलते हैं। उनके दरबार में हम दोनों सदा के लिए एक-दूसरे का हो जाएँगे।''

फ़क़ीरचंद लकड़ी की गाड़ी पर बैठ गया। रानी बाई उसे खींच ले चली। चलते-चलते ही रानी बाई ने पूछ दिया, ''तू भगवान से डरता है?''

''भगवान से कौन नहीं डरता है रानी बाई?''

''तुमरा बूढ़ा मालिक कहाँ डरता है? यदि वह भगवान से डरता, तो क्या तुम पर इतना अत्याचार करता?''

''इंसान भगवान से तब डरता है, जब उसके बुरे दिन आते हैं। उसके भी जब बुरे दिन आएंगे तो वह भगवान से ज़रूर डरेगा।''

उस दिन मंगलवार था। मंदिर में भक्तों व दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ी पड़ी थी। किसी सेठ ने खिचड़ी का प्रसाद चढ़ाया था। दोनों प्रसाद से ही अघा गये थे। कुछ पैसे भी मिले थे। खुश थे दोनों। जब वहाँ से चलने लगे, तो फकीरचंद ने पूछा, ''तुमने भगवान से क्या माँगा?''

''एक बच्चा! मैं माँ बनना चाहती हूँ फ़क़ीरचंद। तेरे बच्चे की माँ!''

''मैंने भी भगवान से यही माँगा है रानी बाई।... एक बच्चा!! मैं भी तुम्हारे बच्चे का बाप बनना चाहता हूँ।''

''...हमारा बच्चा न अँधा होगा न लंगड़ा। हम उसे स्कूल भेजेंगे!! उसे खूब पढ़ाएंगे।....!!! तब वह भीख नहीं माँगेगा... ।''

''भगवान हमारा सपना पूरा करे रानी बाई।''

''फ़क़ीरचंद! मैं तो तुमको देख नहीं सकती। पर बोल-विचार से लगता है कि तू बहुत अच्छा है।''

''पर मैं तो तुमको देख सकता हूँ। तू भी बहुत सुन्दर हो। छरहरा बदन, गेहुँआ रंग, घने बाल, बड़ी-बड़ी आँखें, काली कजरारी, उठी हुई छाती.बहुत सुन्दर..... ।''

''ओह मेरे फ़क़ीर! तू तो तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। तू

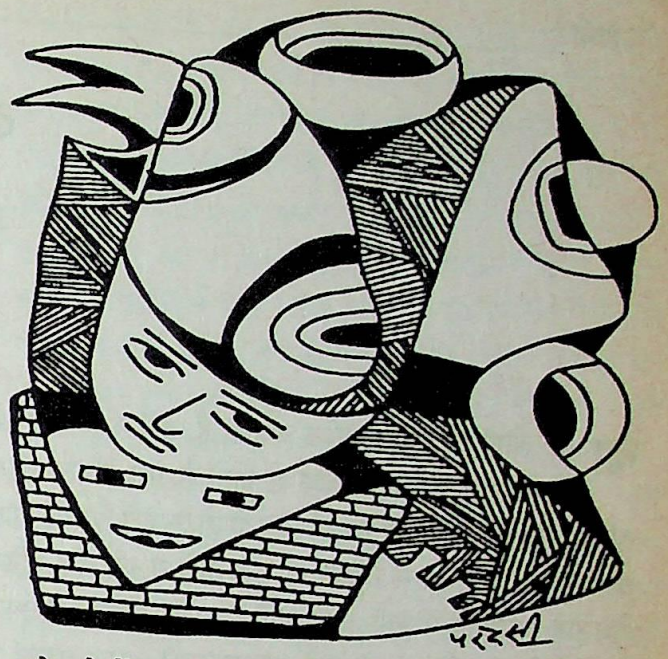

अपने बारे में कुछ बताओ न।''

''अपने बारे में क्या बताऊँ रानी बाई? पर इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि मैं तुमको संतुष्ट जरूर रख सकूँगा।

''ओह मेरे फ़क़ीर!''

अब तक दोनों खोली के करीब आ पहुँचे थे। चाँद क्षितिज पर ऊपर तक चढ़ आया था। पास के पीपल के पेड़ के पत्तों से छन-छनकर उसकी दुग्ध- धवल चाँदनी खोली को चूम रही थी। रानी बाई ने हपसकर फ़क़ीरचंद को दो-तीन बार चूमा, फिर उसे गोद में सहेजकर अंदर बिछावन पर ले आयी। बलुआही ज़मीन। उस पर सीमेंट के बोरे का बिछावन। ईंट का तकिया। पानी से भरा मिट्टी का एक घड़ा। अलमुनियम का एक गिलास और दो थाली। यही उस घर की संपत्ति थी।

जब रानी बाई ने उसे गोद से उतारकर बिछावन पर रखा तो फ़क़ीरचंद ने हँसते हुए कहा ''जब तू मुझे छूती है न, तो गुदगुदी होती है। तन-मन फुदकने लगता है गौरेया की तरह।''

''और जब तू मेरे पास होता है न तो मेरी छाती धड़कने लगती है। देह कसमसाने लगती है। लगता है, कोई पागल हाथी की तरह इसे रौंदता। तब मन होता है कि मैं तुमको अपने में समा लूँ... ।''

अब तक उसके स्पर्श से उसका पौरूष जाग उठा था। झट से बोला, ''तो सँभालो न..... ।'' और वह उससे लिपट गया।

चाँदनी भरी मोहक रात। शांत स्निग्ध। थेथर और पुटुस के गाछ से बनी टाटी के छेद से अंदर को आती चन्द्र-किरण दोनों के माथे को सहला रही थी जैसे आशीर्वाद दे रही हो। तभी अचानक पेड़ पर उल्लू के जोड़े घुघुआ उठे-

''किच-मिच-किच-मिच किच मिच... ।''

धर्मशाला कुटीर, ग्राम-अरसंडे, पत्रालय-बोड़ेया
जिला-रांची-834240 (झारखंड)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दवा

उन्मेष कुमार सिन्हा

बा की लोगों की तरह रामदेव चुप तो हैं, लेकिन सो नहीं रहे हैं। उबसन की तरह चेचक के दाग़ों से भरा साँवला चेहरा तनिक ऊपर की ओर उठा हुआ है और दो छोटी-छोटी पियराई आँखें बीतते क्वार की भोर में मद्धिम हो चुके तारों से भरे और तनिक धुँधलाये आसमान में कहीं अटक गयी हैं शायद या हृदय में उफन रही बेचैनी को दृष्टिपथ के रास्ते आसमान की अथाह गहराई में उलीच रहा है! पता नहीं, रामदेव ही जानें। कभी कोई टिटहिरी टिटि-टिटि-टिटि की कर्कश आवाज़ करती और हवा में गोते लगाती, सामने से गुज़र जाती तभी उनकी दृष्टि कुछ क्षण के लिए गतिशील होती; कुछ दूर तक उसके पीछे चली जाती या तब, जब किसी बड़े गड्ढे के कारण तेज़ झटका लगता और ध्यान ट्रॉली में नीचे ही बिछावन पर लेटे अपने बीमार बेटे पर चला जाता, और फिर... एक हूँक-सी उठती; जो दृष्टि को फिर आसमान की ओर ठेल देती।

चारों ओर बलुहा कछार का फैलाव... दूर-दूर तक कोई आदमी नहीं... केवल कहीं-कहीं अपने में डूबे हुए कृशकाय बबूल के पेड़ ऊँघते मुजहन और कहीं-कहीं दो-चार नीलगायों के झुंड, बस। सघन नीरवता रामदेव के मन से चिपटकर बेकली को और बढ़ा दे रही है। मुजहन की पतली धारदार पत्तियों के बीच में जब कभी दृष्टि उलझ जाती है, तो घबराहट बढ़ जाती है रामदेव की।

"बाऽऽ बाऽऽ"।

एक कमज़ोर और गाड़ी के हिचकोलों के कारण बिखरती पुकार!

"का बेटा!! तनिको दरदिया कम भइल बाबू?"

सारा मन आँखों में बटोरकर फ़त्ते के सर को हाथों से सहला रहे हैं रामदेव।

"नाहींऽऽ पाऽऽ नी।"

पिछले चौबीस घंटे से हो रहे लगातार पेट-दर्द ने चौदह-पंद्रह साल के फ़त्ते को इतना तोड़ दिया है कि कराहने की भी ताक़त नहीं बची है। वह अचेत हो चला है। सूजन के कारण चेहरा कुछ चिकना-सा हो गया है। फूली-फूली सी आँखें अधमुँदी हैं।

रामदेव अपनी जांघ पर उसका सर रख लिए हैं और थोड़ा ऊपर उठाकर लोटा मुंह से लगा रहे हैं.... एक घूँट... दो घूँट... बस!

"तनी अरस पी लऽ।"

सर हिलाकर मनाही।

"ए जीतन! तनी धीरे-धीरे गड़िया चलाव भइया। लइका देह थुरा जात बा एकदम।"

"अब केतना धीरे चलीं? हइ बगलिया में जवन सड़िया देखत बाड़ऽ, ओप्पर त गड़िया चलत ना बा। पोरसा-पोरसा गड़हा बा इहाँ, तऽ का होई।"

रामदेव की नज़र पचास मीटर के फ़ासले पर समानांतर रही चतुर्दिक स्वर्ण सड़क परियोजना की सिक्स लेन वाली की ओर उठ गयी है और सड़क के किनारे बनी तीन फुट दीवार के साथ घिसट रही है... रगड़ से छिल रही है...।

"जल्दी भी त पहुँचे के बा।"

रामदेव कुछ नहीं बोलते हैं। दीवार के उस ओर सड़क एक चमकती उजली कार गुज़र गयी है, बंदूक से छूटी गोली तरह, सन्न... सों। उनकी उँगलियाँ फ़त्ते के बालों में पड़ी चेतते हैं, तो चलने लगती हैं, नहीं तो जहाँ की तहाँ। पाँच-छह किलोमीटर का सफ़र तय कर चुका है। पूर्व दिशा क्षितिज पर लालिमा फैल रही है, उधर ही खोर के उस पार, की तरह दिखायी देने वाले बबूल के पेड़ कुछ स्पष्ट होने लगे झिनकू चाचा जाग गये हैं। नीले रंग की प्लास्टिक की चुनौटी सुर्ती और चूना निकालकर धीरे-धीरे हथेली पर मल रहे हैं। और भीमल, दोनों लड़के अभी सो रहे हैं। उम्र भी है सोने की रातभर के थके भी तो हैं! लगातार भाग-दौड़! सुबह-सुबह ही फत्ते के पेट में दर्द शुरू हुआ था, दायीं ओर नाभि के ऊपर। पहले दर्द धीमा था, और फिर उसने सोचा कि जैसे भोपई डॉक्टर की गुलाबी रंग वाली गोली खा लेने पर ठीक हो था, वैसे ही इस बार भी ठीक हो जाएगा, लेकिन... बारह बजे फत्ते दर्द से तड़प उठा। खेत का काम छोड़कर घर आया और ही पाकड़ के पेड़ के नीचे चारपाई पर गिर पड़ा। रामदेव पगहा भैंस के लिए बजड़ा छाँट रहे थे, दौड़कर आये। पकड़ लिया हाथों से बेटे को। वह चिल्ला रहा था। गर्दन की मोटी-मोटी तनकर उभर आयीं थीं। पूरा शरीर पसीने से लथपथ। जबड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। कभी चारपाई की पाटी पकड़ लेता कसकर, तो कभी पेट। रामदेव ने चिल्लाकर बुलाया उसकी माँ को। गाँव के भी कुछ लोग जुट आये थे तब तक। तरह-तरह के सुझाव और तरह-तरह के इलाज। फत्ते की माँ तवे से कपड़ा गरम करके पेट की सिकाई कर रही थीं। छेदन बो मेउड़ का पत्ता पीस ले आयी, और उसे देशी घी के साथ थोड़ा गरम कर छोप दिया फत्ते के पेट पर और ऊपर से गमछा लपेट कर बाँध दिया। झिनकू चाचा सोखइती करते हैं, अपने हिसाब से कुछ समझे और कोसा में सौ ग्राम कपूर जलाकर बैठ गये अघुआने। पचरा गाते हुए आवाज़ में विविधता आने लगी।

एक-डेढ़ बजे तक फत्ते को थोड़ा-सा भी आराम नहीं मिला, तो रामदेव ने भीमल को भेज दिया कसौनी बाज़ार, भोपई डॉक्टर को लिवा लाने के लिए। फत्ते को लेकर वहाँ के प्राइमरी हेल्थ सेंटर पर भी जाया जा सकता था, लेकिन वहाँ मिलता ही कौन? डॉक्टर महीने में एक ही बार आता है और उस दिन भी मरीज़ न देखकर पूरा समय फ़ाइलों और कागज़ों में ही बिता देता है।

भोपई डॉक्टर ही सहारा हैं एकमात्र। लिखते हैं वे बी.यू.एम.एस., लेकिन दवा एलोपैथिक ही देते हैं। वैसे कुछ पढे-लिखे लोग यह भी कहते हैं कि बी.ए.एम.एस. की डिग्री भी फ़र्ज़ी है, कभी वे पास ही नहीं हुए थे। फ़र्ज़ी डिग्री पाने के बाद कई साल तक वे गोरखपुर के किसी डॉक्टर के यहाँ कंपाउंडर के रूप में रहे, वहीं दवाओं के बारे में जाना। ख़ैर, उनकी कमाई में बरक्कत ही बरक्कत है। सात बजे घर छोड़ देते हैं और दो बजे तक कम-से-कम पाँच-छह गाँवों का चक्कर लगाकर अपने बरामदे में, जिसके एक ओर उनकी भैंसे रात में बाँधी जाती हैं, आकर बैठ जाते हैं और फिर जो मरीज़ आता है, उसे दवा देते हैं।

कसौनी बाज़ार वहाँ से दस किलोमीटर दूर था। साइकिल से आना-जाना... चार बज गये भीमल और भोपई डॉक्टर को आते-आते। उन्होंने फ़त्ते को देखा, पेट टटोला और दो-चार मिनट तक चुपचाप खड़े होकर समझते रहे... फिर लाल-सफ़ेद टेबलेट्स और कैप्सूल्स, लगभग दर्जन भर धर दिये रामदेव के हाथ पर। एक वोवेरान का इंजेक्शन भी दिया और ड्रिप भी चला दिया। टेबलेट्स और कैप्सूल्स से तो नहीं, बोतल देखकर लोग ज़रूर थोड़ा आश्वस्त हो गये। कुल तीन सौ रुपये हुए थे उनके। रामदेव को कल ही एक खसी के दो सौ रुपये मिले थे। उन्होंने सौ रुपये झिनकू चाचा से लेकर भोपई डॉक्टर का हिसाब किया।.... लेकिन आराम! बस दो-ढाई घंटे तक, जब तक पेन किलर (वोवरान) का असर रहा और फिर जस का तस! अब क्या हो? सात बज गये थे। फ़त्ते पहले की ही तरह दर्द से बिलबिला रहा था।

'ग़ाज़ीपुर जाना ही पड़ेगा', लोग कह रहे थे। लेकिन कैसे?.. रामदेव दौड़े बाउ साब के घर। उनके पास ट्रैक्टर-ट्राली थी। वही मिल जाए, तो चार घंटे में पहुँचा जा सकता है। लेकिन... नहीं, जीतन नहीं है, बाउसाब ने बताया। देर रात तक आएगा। तब?.. झिनकू चाचा कह रहे थे, जीतन होता भी तो क्या फ़ायदा मिलता? खड़ुकिया नाले तक ही न ट्रॉली जा पाती। पीपे का पुल तो टूटा पड़ा है। मान लो नाव मिल जाएगी, लेकिन उस पार उतरने पर शहर तक का दस किलोमीटर का फ़ासला कैसे तय होगा? छह बजे के बाद वहाँ कोई टैंपो भी तो नहीं मिलता।... रात बीत रही थी। गाँव में बिजली नहीं आयी थी अभी, लेकिन रामदेव का घर गाँव के उत्तर, एकदम बाहर था, इसलिए पाँच-छह मीटर के फ़ासले से गुज़री सिक्सलेन वाली सड़क पर जगमगाते सोडियम लैंपों की रोशनी से दरवाज़े पर कुछ उजाला था। लोग रतजगा कर रहे थे। फ़त्ते अचेत होने लगा था। उसकी माँ कभी पेट सहलातीं, कभी सर। दृष्टि अस्त-व्यस्त थी। मनौतियाँ जाने कितनी मान चुकी थीं।

झिनकू चाचा ने सुर्ती मलकर ठोकी, तो एक तीख़ी गंध मुन्नर और भीमल के नथुनों में समा गयी। दोनों कुनमुनाकर जाग गये हैं। झिनकू चाचा ने सुर्ती रामदेव की ओर बढ़ायी है, लेकिन उधर से मनाही हो गयी। उन्होंने भी अपने हिस्से की सुर्ती निचले होंठ के पीछे दबायी और बाक़ी कुर्ते की पॉकेट में रख ली।

फत्ते की कुचली हुई-सी पुकार!

"एऽऽऽ... उाऽऽऽ दाऽऽऽ"

"हाँ बेटा!" रामदेव झुक आये हैं फत्ते के चेहरे पर।

"फत्ते! बस पहुँचते बार्टी हमहन के। तनी धीर रक्ख।" मुन्नर बोलता है। फ़त्ते का हाथ उसने अपने हाथों में ले लिया है।

"बहुते दरद... बा"

किसी बीहड़ में गुम होती आवाज़!

"बस बेटा, तनिक बरदास्त करऽ। दवाई मिलते ठीक हो जइबऽ।

रामदेव महसूस कर रहे हैं कि उनकी आवाज़ किसी अंधे कुएँ में से आ रही है। केवल कहने के लिए कही गयी बात!... बहुत ऊँचाई से नीचे गिर रहे हों जैसे, एड़ी से लेकर सर तक केवल सनसनाहट! दृष्टि सिक्स लेन वाली सड़क की ओर उठी और किनारे खिंची दीवार से रगड़ खाती और सोडियम लैंप के पोलों से टकराती चली जा रही है.... और यह देखिए, अटक गयी वह, कुछ फ़ासले पर खड़े एक विशाल नीम के पेड़ की कांपती लहरदार पत्तियों में... सती माई का थान!... दोनों हाथ जुड़ गये रामदेव के... लेकिन वह है कहाँ?... वह तो समा गया इस सड़क के नीचे! धक्!! कलेजे की जगह कुछ खालीपन-सा महसूस हो रहा है रामदेव को! पलकें मुँद गयीं। दृष्टि अंतर्यात्रा पर है... एक दृश्य उजास भरते हुए फैल गया है मन में... फ़त्ते की माँ सुभावती पीली ज़मीन पर लाल फूलों की छापे वाली साड़ी पहन कर आयी हैं कड़ाही चढ़ाने, सती माई को। फत्ते के पैदा होने की खुशी में। उन्हीं की तो मनौती मानी थी! चौदह साल से सूखी पड़ी गोद सावन-भादों के धनहर खेत की तरह लहलहा उठी। बाँझ का लाँछन धुला तो निखर आया उसका रूप... दप्-दप् गोरा चेहरा! रामदेव फत्ते को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोद में लिए मुग्ध होकर देख रहे हैं उसे। बहुत अपनी लग रही है आज। बल्कि स्वयं को उसी के हिस्से की तरह महसूस रहे हैं. .. फत्ते, सुभावती और स्वयं—तीनों एक ही सजीव की छायाएँ लग रहे हैं रामदेव को। फूल की थाली में पीले सिंदूर से टीक कर रखी हैं पूड़ियाँ और राब एवँ आटे का हलवा। सुभावती सर को आँचल से ढ़ककर काले पत्थर की बनी मूर्ति को सिंदूर से टीक रही है और फिर आँचल का खूँट पकड़कर सर नवा देती है। रामदेव प्रसन्न हैं। पाँच-छह साल तक इलाज़ के लिए इधर-उधर दौड़ने में भले सुभावती के सारे गहने, दो पहिलौठी भैंसें, शीशम के दो सिल्ली पेड़ बिक गये, वे ख़ुश हैं। उनका मन तो यही कहता है कि असर सटीक दवा का ही है... लेकिन सुभावती के भरोसे को ठेस नहीं लगना चाहिए न! सारा सामान दउरी में सिर पर रखकर रामदेव लौट रहे हैं... पीछे-पीछे सुभावती भी हैं... पीली ज़मीन पर लाल फूलों के छापे वाली साड़ी में फत्ते को गोद में लिये हुए।

रामदेव ने आँखें खोल दी हैं। फत्ते का धुआँठाया गेहुँआ रंग वाला चेहरा सामने है। कराह तो नहीं बढ़ी है, लेकिन रह-रहकर शरीर में मरोड़ उठ रही है... दर्द बढ़ गया है शायद। भीमल तलवा सहला रहा है। रामदेव का हाथ फत्ते के माथे पर है।

"ए जीतन! तनी अउरी तेज़ चल," रामदेव कह रहे हैं।

"अब्बे हचका लगी त कहब धीरे चल।"

रामदेव कुछ नहीं कहते हैं। दृष्टि उठती है आकाश की ओर और चली जाती है पुनः कुछ हेरने... रामदेव के गाँव बरडीहा के लोग ही नहीं, बढ़या टिकुर, गनेसी, दुर्गापुर आदि गाँव के लोग भी सती माई के थान को घेरकर खड़े हैं। झिनकू चाचा तैश में हैं... बोल रहे हैं... "देखिए इंजीनियर साहब, चाहे जवन हो जाय, आपका सड़क सती माई के थान पर से नहीं गुज़र सकता। सती माई हमारे जान-माल की रच्छा करती हैं, हमरे बाल-बच्चन को बिपदा से बचाती हैं, अउर आप हैं कि उन्हीं के थान को नस्ट-भरस्ट करने पर लगे हैं! तनी दाहिने-बावें कर लीजिएगा सड़किया तो का पहाड़ टूट जाएगा?"

"आप समझ नहीं रहे हैं। मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता। जब सर्वे हो रहा था, तभी आप लोगों को धरना-प्रदर्शन करना चाहिए था। मुझे तो नक़्शे के हिसाब से ही काम करना है" चीफ़ इंजीनियर के चेहरे पर बौद्धिकता बेचारगी के कीचड़ में सनी हुई है। गाँव वालों की आक्रामकता का अंदाज़ा हो गया है उसे।

"हमहन के का पता, कब का नाप-जोख ले गये आप लोग। पूछा का हमसे कई? अब चाहे जो हो, माई का थान टूटने नहीं देंगे हम, अउर जो ज़बरदस्ती करेंगे तो सैकड़ों लाठियाँ तन जाएँगी, एतना जान लीजिए।"

झिनकू चाचा के समर्थन में भीड़ से घजमजायी हुई अस्पष्ट सी तीव्र आवाज़ उठी और वातावरण में फैल गयी। पचास पार गठीले बदन वाले झिनकू चाचा का जामुनी रंग वाला चेहरा और सख़्त हो गया है।

रामदेव भीड़ से निकल आये हैं। झिनकू चाचा के कंधे पर हाथ रखकर चीफ़ इंजीनियर से कह रहे हैं- इंजीनियर सा'ब! आप चिंता मत करिए, सब ठीक हो जाएगा, हम बतिया रहे हैं सबसे।

"का बतिअइब हो रामदेव! दस पास हवऽ तऽ ढेर अपने के बुद्धिमान समझे लऽ," झिनकू चाचा तमककर कहते हैं।

"पहिले एहर आवऽ, तनी दिमाग से समझले कऽ परयास करऽऽ.... सबसे कहत हइं, देखऽ लोगन! इ जवन सड़क बने जात बा, ओम्मे इन्जिनियर साब कऽ कउनों आपन फायदा बा का? आयं, ऊपर से आदेस हो गइल बा तऽ ई का करें? बोलऽ, आदेस नाऽ मनिहें तऽ नौकरी चली जाई... ठीक होई, कोहू के पेटे पर लात मारल? दूसर बात ई बा कि माई कऽ तऽ कुल दुनिए घर बा। कहाँ इहाँ, का उहाँ। अरे केहू बना दिहलस इहाँ; तऽ एहीं हो गइल थान। इ तऽ मन-विचार कऽ बात ह। अब तनी दू बिगहा फरके दे दिहल जाई; तऽ माई रिसाआ ना जइहें। ऊ तऽ सरबव्यापी हइं, इ का ना जानत होइहें कि निम्मन कार बा ई? केतना जानी के रोजगार मिली, गाजीपुर पहुँचल आसान हो जाई, पाँच घंटा के बजाय एक-डेढ़ घंटा मँ पहुँच जाइल जाई... सरकारी बस मितिहें बरसात में खड्डुकिया नाला भी ना रोक पाई हमहन के।... झूठ कहीं त बोलऽ लोगन।" रामदेव अपने प्रवचन का असर पढ़ रहे हैं लोगों के चेहरे पर। अंदर कुछ उथल-पुथल मचा है, मत-परिवर्तन में थोड़ा समय तो लगेगा ही। अविश्वासी आँखों में रह-रह के विश्वास के कुछ कतरन झलक जा रहे हैं।

"ठीके तऽ कहत हवें रामदेव", किसी ने धीमे से कहा।

"हाँ अउर का", दूसरी आवाज़ पहली से तेज़ है।

"बस अड्डा तऽ बनबे करी नऽ?... बइसे दु-चार गो गुमटी चाह-पानी कऽ तऽ रखाई सकेला सड़की के आरी-आरी," मुन्नर कह रहा है।

"बेल्कुल," रामदेव उल्लसित भाव से बोलते हैं।

"सती माई क थान अमुरतानी में बन जाय, परती में," समर्थन में यह तीसरी आवाज़ है।

और फिर, रामदेव के समर्थन में समवेत स्वर। झिनकू चाचा झल्लाकर चले जा रहे हैं। काम शुरू हो गया है। इन्जीनियर रामदेव से हाथ मिला रहा है.... रामदेव गद्गद्।'

दृश्य बदल रहे हैं... एक-दूसरे में घुल-मिल रहे हैं, पारदर्शी काँच पर बनीं तस्वीरें एक के ऊपर एक... कि ठहर गया एक दृश्य... काम के शुरू होने के लगभग तीन महीने बाद का दृश्य .. सड़क बरडीहा के बग़ल से गुज़रते हुए आगे दस किलोमीटर तक तैयार हो चुकी है, चमचमाती काली सड़क, करैत साँप-सी... काम जारी है रामदेव आज दो दिन के बाद आये हैं काम पर... और में काम के प्रति कोई ललक नहीं, बस; करना है और मजूरी लेनी है, और कुछ नहीं... एकदम चुप हैं। इंजीनियर कई बार पूछ चुका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है दो दिन न आने का कारण। क्या कहें रामदेव! तीन महीने में भीतर जो खुशी का पहाड़ खड़ा हुआ था, वह तो रेत के ढेर की तरह भरभरा कर ढह गया दो दिन पहले, जब पता चला कि यह सड़क आगे चार किलोमीटर के बाद उत्तर की ओर मुड़ जाएगी.... यानी सड़क ग़ाज़ीपुर नहीं जाएगी... यानी बरडीहा और आस-पास के पंद्रह-बीस गाँवों के लिए ग़ाज़ीपुर जाना मुसीबत ही बना रह जाएगा.... उमड़ते सावन-भादों में तो असंभव ही... कड़वाहट घुल गयी मन में... काम छोड़कर चल दिये घर, रामदेव। ठान लिया कि नहीं करेंगे इस सड़क के लिए काम... एक दिन बीता... दो दिन... शाम को झूरी आये दरवाज़े पर। कह गये कि रामदेव रिसियाये रहें, सरकार मनाने तो आएगी नहीं; उल्टे जो दो पैसा मिल रहा है मज़ूरी करके, वह भी नहीं मिलेगा। रामदेव की ज़रूरतें भी इसी तर्क के पैने धार से उनकी ज़िद को भीतर-भीतर काट रही थीं। सब तो जा ही रहें हैं... अगले दिन रामदेव भी चल दिये... काम करते समय सहेज रहे हैं अपने को... कि एक बार फिर भकटोइया का काँटा धँस गया कलेजे में... बनबना रहा है... सड़क के दोनों ओर फ़ीते से नापी हो रही है... रामदेव ने मतलब जानना चाहा था।

"दोनों ओर दीवार उठेगी, तीन फुट ऊँची।"

"काहे"

"कोई जानवर-ओनवर न आए-जाए, इसलिए। बहुत स्पीड में गाड़ियाँ चलेंगी न इस सड़क पर। एक निश्चित दूरी पर रास्ते बनेंगे, सड़क पर आने या सड़क से उतरने के लिए।"

धँस गया काँटा... समझ गये रामदेव... आसपास की सवारियाँ ढोने वाले जुगाड़ और जीप इस सड़क पर न आसानी से आ सकेंगे, न ही जहाँ-तहाँ से उतरकर अपने घर-मोकाम जा सकेंगे... बस अड्डा नहीं बनने वाला है, यह पहले ही जान गये थे... मुन्नर और लोकई को जो सपना दिखाया था उन्होंने, उसका क्या होगा? यह भी समझ चुके थे रामदेव... समझते रहें, जानते रहें रामदेव... क्या हो जाएगा? काम रुक जाएगा क्या? नहीं, यह भी जानते हैं रामदेव... तब? काम करना है!... कर रहे हैं रामदेव।

अंतर्यात्रा रुक गयी है। रामदेव सर झटक रहे हैं!... बग़ल में गुज़र रही सिक्स लेन वाली सड़क अब मुड़ रही है उत्तर की ओर। मोड़ का घेरा बड़ा है। क्रमशः दूर हो रही है सड़क.... रामदेव देख रहे हैं। एक अज़ीब तरह का सुकून मिल रहा है उन्हें। दृष्टि फत्ते पर चली गयी है। उसके बालों में उँगलियाँ चलने लगी हैं।

"बेटा!... फत्ते!... ए बाबू!... बोल बेटा!"

रामदेव अधीर हो उठे हैं।

"फत्ते!... ए फत्ते!" झिनकू चाचा हाथ से फत्ते के गाल पर थपथपाते हुए बुला रहे हैं।

"ऊँ....।"

"पानी पियब, बाबू?"

कोई जवाब नहीं।

फिर भी रामदेव चम्मच से फत्ते के मुँह में पानी डाल रहे हैं। दो-चार चम्मच... और फत्ते सर हिलाकर मना कर रहा है।

आधे घंटे की देरी हो गयी; डॉक्टर कह रहा है... सब कुछ ख़त्म... एपेंडिक्स था... ज़हर सारे शरीर में फैल चुका है... कुछ नहीं हो सकता अब।

रामदेव की आँखें काठ! ज़बान काठ! रामदेव ऊपर से नीचे तक काठ ही काठ!!

झिनकू चाचा अपनी बाँह के घेरे में लिए खड़े हैं।

दो-चार पल का अंतराल... रामदेव के पैर काँप कर लड़खड़ा गये हैं। झिनकू चाचा सँभालने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन... धप्...।

रामदेव!... ए रामदेव!... रामदेव!

महिंद्रा जीप में शव रखा हुआ है। भीमल और मुन्नर पीछे बैठे हैं। झिनकू चाचा और रामदेव आगे हैं, ड्राइवर की बग़ल में।

रामदेव सामने देख रहे हैं अनंत आकाश में... पीली ज़मीन पर लाल फूल के छापे वाली साड़ी पहने सुभावती, सर पर रखे आँचल का खूँट पकड़कर सती माई के थान पर माथा टेक रही है... काले पत्थर की बनी सती माई की छोटी-सी मूर्ति का आकार बढ़ने लगा है... विशाल!... विशालतम!... कुछ क्षणों में... माथा टेक रही सुभावती हरी-भरी, नन्हीं सी एक लता में बदल गयी है... और सती माई की विशाल मूर्ति के सहारे बढ़ रही है... गदराती जा रही है... अब तो चटक गुलाबी फूलों से लद गयी है... अनगिनत... चटक गुलाबी फूल!... झर रहे हैं रामदेव की अंजुरी में... सती माई मुस्कुरा रही हैं...।

द्वारा-डा0 के0सी0 श्रीवास्तव, म0सं0-19 क्यू, कैंट थाने के पीछे, दाउदपुर,, गोरखपुर-273001 (उ0प्र0)

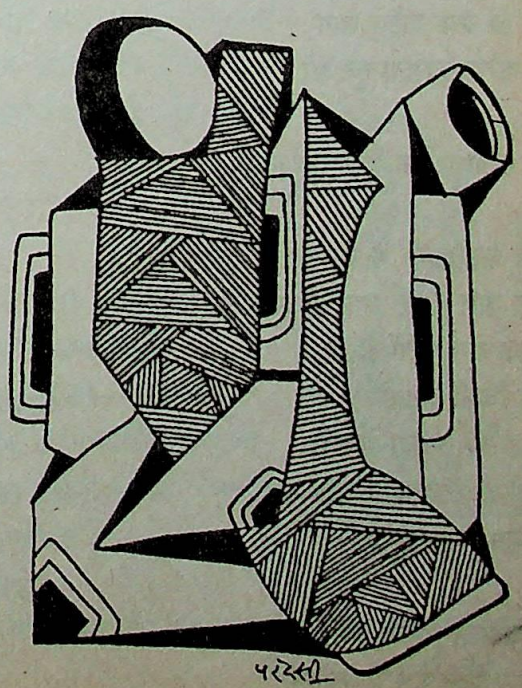

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

कैलाश चन्द्र

मैं प्रेम करना चाहता हूँ

जब मैं कहता हूँ-मैं प्रेम करना चाहता हूँ
तो बड़े ग़ैरवाजिब तरीक़े से
आँखों-आँखों में इशारे हुए
मंद स्मिति की प्रत्यंचा कस गई और
भौंहों पर अश्लीलता का निक्षेप
हल्के से थिरका
देहों में सांगोपांग
गुदगुदी का रेला आया और थम गया
कल्पनाओं में कुरपता की छाया
डोलने लगी

कहा तुमने मेरे अंतरंग
अब इस उमर में प्रेम करोगे
जब पतझड़ आकर स्थायी भाव-सा
देह की टहनियों पर बैठ गया है
औ हृदय-कानन से
बसंत मीलों दूर चला गया है
टेरने पर सुन नहीं पायेगा
कुछ बची है लोक-लाज
सोचो तो क्या कहेंगे लोग
थू-थू करेगा ज़माना तुम पर

क्या अच्छा लगेगा तुम्हें यह करते

जब मैं कहता हूँ- मैं प्रेम करना चाहता हूँ
तो वह बात केवल प्रेम की होती है
चाहे वह प्रेम फूलों से हो
अथवा किसी लड़की से
बस्ती से हो अथवा देश से
खेतों से हो अथवा अमराई से
बात सिर्फ़ प्रेम की है

एक सुकोमल टहनी की तरह उठे हाथ
झूमती लचीली देह के स्पंदन
जैसे बयार में हौले-से हिल उठता है
फूलों का पौधा
जीवन-राग से मह मह होती
उस सुगंध को
मैं भर लेना चाहता हूँ समूचा
अपने नासापुटों के भीतर
कि श्वाँस छोड़ने का मन ही नहीं करता

मैं सुवासित करना चाहता हूँ अपनी देह के सीमांत
और अपनी आत्मा
सौंदर्य की सतरंगी लड़ियों से
मैं अंतःस्थल की गहरी घाटियों को
जगमग करना चाहता हूँ, दोस्त !

हवा के सेतु पर डोलते
मधुर स्पर्श को
दिशाओं की कोरों तक
फैलाना चाहता हूँ बंधु!

दरवाज़े-खिड़कियों के फ़्रेम में कसी
उस आकुल बाट को
अपनी कविताओं के मुकाम तक
खड़ा करना चाहता हूँ, सखा !

शब्दकोश के पन्ने से खींच
प्रेम के सूखे शब्द-बीज को
उन निष्ठुर हृदयों में बो देना चाहता हूँ
भूखे पेट सोये बच्चों के लिए
अंकुआ कर जो करुणा जगाने के
काम आएगा उनके, साथी !

तो इसमें कहाँ आड़े आती है उम्र और
लोक-लाज
व्यर्थ है तब तुम्हारा तिरस्कार
और मज़ा लेने की इच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेमतलब हैं कल्पनाएँ रंगीली-रसीली
दौड़ने लगतीं हैं उन्मत घोड़े सी
मन की घाटियों में

इसमें क्या है बुराई
जब मैं कहता हूँ-मैं प्रेम करना चाहता हूँ
तो बात केवल प्रेम की होती है

प्रेम
मैं हैरान हूँ
प्रेम में क्या चेहरा
इतना प्रदीप्त हो उठता है ?

आधी रात को सूरज के उगने
की आहट सुनायी देने लगती है
घाटियों में रोशनी फैलने-पसरने लगती है
आहिस्ता-आहिस्ता
चिड़ियों के जगने की चहचहाहट सुन पड़ती है
अँगड़ाई तोड़ जाग जाता है सहसा नभ

मैं हैरान हूँ
प्रेम में क्या कमर
इतनी लचकदार हो जाती है, बाँस
कुछ भी नहीं दिखता स्थिर
झूला बन जाते पेड़, मकान, चिड़िया,
चुड़ैलें, कसमें और ख़त
घूमता आसमान और पींगें भरता क्षितिज
मक्खन-सी तैरने लगती है हँसी
भँवर पड़ने लगते बात में
देह भूलने लगती परिधि

मैं हैरान हूँ
प्रेम में क्या देह
लगने लगती फाहा
हो जाती भारहीन बहुत

मुगतलियों में बँध जाते बादल
तितलियाँ थिरकने लगीं रक्त में
हवा में बँध जाते घुँघरू
शिरदंड में लग जाते पंख
मन घूमने लगता वृन्दावन
ज्ञान में वेसुध वशीभूत

लरजने लगता तन
उड़ जाने की दुर्निवार इच्छा, मुक्त
अंबर के वातायन में असीम

मैं हैरान हूँ
प्रेम में क्या समर्पण
होता इतना आपादमस्तक परिपूर्ण
बाक़ी कुछ बचता नहीं सृष्टि में

मैं रस-आखेटक
प्रेम के मृग-शावक की आँख में
स्वयं को देखता हूँ परिपाक नेह में

प्रेम कविताएँ

एक
भँवरे ने आँख मूँदी
और बंद हो गया कमल की पाँखुरियों बीच
बौराया ऐसा, समझ बैठा
उसे ही सख़्त कारावास
रिहाई की उसकी
सुबह सूरज के सिपाही ने

दो
घास के तिनकों में ओस की बूँदों की सिहरन है
फूलों में ओस का सिंचन
अलगनी पर लटकती हैं ओस की बूँदें मोतियों-सी
फ़र्श हैं जैसे सीलन भरे, अलस्सुबह
क्या इतना व्यापती हो ओस तुम सब जगह
सबको हौले-हौले भिगो जाती हो
अनजाने

तीन
खतों में ये अक्षर आईना हैं
भावों और कल्पनाओं से
हो रहे प्रतिबिंबित
इनके बीच अपनी यादों को ढूँढना
व्यतीत का काग़ज से नेह जोड़ना है
हाथ क्या लगता है
एक कसक

बाण सागर रोड, फूलमती मंदिर के पास, तहसील-हुजूर, रीवा
जिला-रीवा (म0प्र0), पिन-486001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि हिन्दी अभी तक ज्ञान की भाषा नहीं बन पायी है

विनोद शाही

टेलीविज़न, रेडियो, इंटरनेट, फ़िल्मों व ख़ासतौर पर हिन्दी के अख़बारों के द्वारा इधर जिस तरह की हिन्दी इस्तेमाल में आ रही है, उसे देखते हुए इस फ़िक्र से भर उठना अस्वाभाविक नहीं है कि 'कहीं यह हिन्दी वालों के द्वारा ही हिन्दी को विदा कर देने' की कोशिश तो नहीं? (प्रभु जोशी, पहल-90) बेशक हिन्दी में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग तो उसकी उदारता व विकास की निशानी हो सकता है, पर तभी, जब वह भाषा के मूल ढाँचे को ही विकृत करके उसे 'हिंगलिश' बना देने वाले 'क्रियालीकरण' की हद तक न चला गया हो। अब यह जो फ़िक्र की जा रही है, वह 'रोग के लक्षणों' पर केंद्रित होकर रह जाने पर एक सार्थक बहस में नहीं बदल पाएगी। इसके लिए हमें गहरे में उतरना होगा। हिन्दी के उद्भव और विकास के सवालों को फिर से उठाना होगा और साफ़-साफ़ तय करना होगा कि हिन्दी के ज़रिये हमें जो हासिल करना है, वह कैसे और किनके द्वारा हो सकता है?

भाषा को ख़रीदो-फ़रोख़्त की वस्तु में, एक 'कमोडिटी' में बदल डालने में हमारे समय के बाज़ार और सत्ता-रूपों की गहरी दिलचस्पी है, ये सब संस्कृति तक को एक उद्योग में बदल डालने के हिस्से की तरह किया जा रहा है। भाषा के जिन रूपों का औद्योगिक पुनरुत्पादन संभव है, उन्हीं की 'क़ीमत' समाज में चढ़ती है और स्थापित होती है, भाषा को अगर विविध मानव-समाजों में सूचना के आदान-प्रदान एवं मनोरंजन की वस्तु की तरह ही अहमियत दी जाएगी, तो उसके दूसरे रूपों का अवमूल्यन तो होगा ही, यह बात गहराई में समझनी होगी कि किस तरह हमारे दौर में 'ज्ञान' को 'सूचना' में और 'भाव' (या रचनाशीलता) को 'मनोरंजन' में बदल लिया गया है। यह एक बड़ी बुनियादी बहस का अगला पड़ाव है। आधुनिक दौर की शुरूआत में भाषा पर जो बहसें छिड़ी थीं, उन्होंने हमारा ध्यान इस ओर खींचा था कि यह जो नयी सभ्यता विकास कर रही है, जो वैज्ञानिक और आधुनिक है, उसके काम केवल 'हृदय की भाषा' से नहीं सध सकते। उसे अब 'ज्ञान की भाषा' के रूप में एक नया विकास करना होगा। नये विकास का मतलब था कि मध्यकाल में जो रचनशीलता हृदय की भाव-वस्तु के आसपास केंद्रित रही, अब उसे भाषा में ज्ञान और विचार-वस्तु के मौलिक नवगठन के लिए कोशिशें करनी होंगी। हिन्दी में भी शुरूआती आलोचकों ने इसे बहस का मुद्दा बनाया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि हमारे इस नये दौर में मस्तिष्क हृदय के मुक़ाबले ज़्यादा विकसित हो गया है, जिससे इन दोनों के बीच के तालमेल में रुकावट पड़ रही है, पर वे रचनाशीलता का केंद्र हृदय को ही मानने वाले 'स्वछंदतावादी आलोचकों' में से एक थे। इसलिए उन्होंने सलाह दी थी कि हमय हृदय का मस्तिष्क के अनुरूप अंतर्विकास करना चाहिए, ताकि फ़ासला इतना ज़्यादा न रहे। फिर भी कुछ दूसरे आलोचक इस बहस को 'बौद्धिक रस' बनाम रस मानने की ज़रूरत तक खींच ले गये। पर, वह सारी बहस वहीं तक खिंचकर, आगे अटक-भटक कर ख़त्म हो गयी।

पर, जिसे हम 'हिन्दी भाषा का भाषा के तौर पर विकास' कहते हैं, उसे तो इसी 'भाषा की रचनाशीलता के अंदरूनी विकास' के सामर्थ्य के पुख़्ता होने से आना था, जहाँ से भाषा को असली वास्तविक विकास के आधार और नज़रिये मिलने थे। वहाँ इसके बाद एक बेचैन करने वाली चुप्पी दिखायी देती है। जैसे हिन्दी का अंतर्विकास अब कोई मुद्दा ही नहीं रह जाता और वे जो हिन्दी के बड़े आलोचक अपना 'ऐतिहासिक' कार्य करते हैं, वही हमारे आपके दौर की हिन्दी पथभ्रष्टता की एक बड़ी वजह बन जाता है। क्योंकि हिन्दी वालों ने कभी अपने इन बड़े (सत्तावर्चस्वी) आलोचकों के उन ऐतिहासिक कामों पर बेचैनी ज़ाहिर नहीं की। एक भयावह यथास्थिति और उसके बाद की विरूपता ने हमें आख़िरकार वहाँ पहुँचा दिया कि हमें हिन्दी को हिन्दी के रूप में बचाने की फिक्र करनी पड़ रही है। अब उस ऐतिहासिक काम को देखिए।

यह काम था ज्ञान के स्रोतों को उधार लेने का, सो चिंतन, विचार, विचारधारा और दर्शन तक अचानक हिन्दी की दुनिया पश्चिम से उधार लेकर, यहाँ आरोपित होते दिखायी देने लगे। किसी ने नहीं सोचा कि वाम, आधुनिक, उत्तर-आधुनिक की बहस हिन्दी में उठाने का मूल अभिप्राय केवल और केवल यह हो सकता है कि हम इसके बहाने से 'भारतीय वाम' या 'हिन्दी उत्तर-आधुनिकता' जैसी किसी अपनी ज़मीनी चिंतनधारा का विकास करेंगे। परंतु, हम यह काम तभी करने की सोच सकते जब हिन्दी हमारे लिए 'हमारे अपने ज्ञान के स्रोतों' की भाषा होती। तब पश्चिम के साथ और अंग्रेज़ी के साथ हिन्दी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हालात पैदा होते। यहाँ भी आचार्य शुक्ल की याद आती है। उन्होंने अपनी 'रस-मीमांसा' में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की बात उठायी है, परंतु उसे 'मूल-पाठ' में भी जगह नहीं दी। वह उस आलेख की 'पाद-टिपणी'-भर है और वहाँ क्रोचे की अच्छी ख़बर ली गयी है। शुक्ल जी ऐसा कर सके तो केवल इसलिए कि उनके सोच का आधार हिन्दी और संस्कृत के अपने ज्ञान के स्रोतों में था। वे कसौटी थे, तो तय हो सका कि इस अपनी ज़मीन में क्रोचे को ढोया भी जा सकता है कि नहीं। पर, आज़ादी के बाद के दौर में तो जैसे हालात ही उलट गये।

आज़ादी के बाद राजनैतिक गुलामी से अधूरी मुक्ति तो मिली, सांस्कृतिक गुलामी जैसे और गहरा गयी। नेहरू के दौर में ही रूस के ज़रिये आया उनका मार्क्सवाद का मॉडल कसौटी हो गया। नेहरू भी अपने चिंतन को गांधी के भीतर से आगे बढ़ाने की बजाय यूरोपीय स्रोतों से ज़्यादा ग्रहण करने लगे। फिर चीन वाला वाम आया और साथ ही यूरोप से आये—अस्तित्त्ववाद से लेकर उत्तर-आधुनिकता तक के चिंतन के मॉडल। हमने इतना भी नहीं किया कि हिन्दी की ज़मीन और प्रकृति के मुताबिक़ अपने प्रारंभिक शब्दों की मार्फ़त ही उनका अपने तरीक़े का विकास करते। इसलिए, सारी 'पारिभाषिकी' उधार की चीज़ बन कर हमारी भाषा के गले में लटके पत्थरों की तरह दमघोंटू होती चली गयी। ज्ञान की भाषा और रचनात्मक भाषा के बीच इतना बड़ा फ़ासला पैदा हो गया कि दोनों के बीच गोया तालमेल ही टूट गया। इसका नतीजा यह निकला कि रचनाशीलता को अपने 'अनुभव के स्रोतों' पर निर्भर हो सकने के लिए ज़रूरी 'ज्ञानात्मक ज़मीन' मिलनी बंद हो गयी। ऐसे हालात में अनुभव की विश्वसनीयता एवं आत्मविश्वास—दोनों खो जाते हैं। फ़ैशन, ग्लैमर, तात्कालिकता, आंदोलन का नाम लेकर उठी लहरें एवं प्रवृत्तिमूलक अनुकरण से उपजने वाले दोहराव रचनाशीलता को निर्देशित करने लायक़ हो जाते हैं। चोर-दरवाज़े से सत्ता, बाज़ार और 'पॉपुलर कल्चर' इतनी गहराई तक घुसे चले आते हैं कि रचनाशीलता का अपने 'अनुभव के स्रोतों' के साथ रह पाना और न्याय करना दूर की कौड़ी बिठाने की बात होने लगता है। यह रचनाशीलता के अंतः विखंडन के बाहरी लक्षणों की मौजूदगी का सुबूत है और इस सब को ठीक से समझना इसलिए ज़रूरी है, क्योंकि जिस मुल्क की रचनाशीलता यों संकट से घिरती है, उसकी भाषा को बिखराव से बचाना मुमकिन नहीं रह जाता।

किसी भाषा के भाषा के तौर पर जीवित रहने और विकास करने की असल वजह उसकी रचनाशीलता के स्रोतों में अकूत जल-प्रवाह का होना है। वहीं से भाषा को उसके प्राण और जीवंतता के कारण मिलते हैं। रचनाशीलता भाषा की आत्मा होती है। जब गहरी रचनाशीलता लोगों के चित्त और व्यवहार का हिस्सा होकर उनकी भाषा में मौजूद होती है, तब ही उस भाषा को वह 'जीवन-संस्कार' मिलता है, जो उसके अंतर्विकास की मूल शर्त है। इसे समझना ज़रूरी है। अमूमन भाषा को संप्रेषण-वस्तु की तरह ही देखा समझा जाता है। वह आधुनिक भाषा-मीमांसा का मूल-स्वर है। पर, वह भाषा के बाज़ार वाले पहलू और सूचना-प्रसार आदि प्रकार्यों से जुड़ी बात ज़्यादा है, जो रचनात्मकता में गहरे आयामों की व्याख्या पूरी तरह करने से चूक जाती है। इसीलिए, उस भाषा-मीमांसा में रचनाशीलता एक रहस्य की तरह है, जिसे सामान्य भाषा से अलहदा वस्तु माना जाता है और, या फिर अनेकार्थकता वाली ऐसी व्यवस्था की तरह देखा जाता है, जो भाषा के 'मनमानेपन' (आर्बिट्रेटनस) से, यानी भाषा को संकेतक व संकेतित की व्यवस्था बनाने से समझी व समझायी जाती है। यह भाषा के उथले रूपों की व्याख्या है, जो पश्चिमी भाषा-मीमांसा को भाषा के विखंडन के कगार पर ले जाकर बेबस हो गयी मालूम पड़ती है। इसीलिए, भाषा को 'जन-संस्कार' वाले पहलू से जोड़कर देखना एक विकल्प की तरह सोचने का रास्ता खोलता है। भाषा जन-संस्कार की तरह तब विकास करती है, जब उसमें रचनाशीलता परंपरा या विरासत की पुनर्व्याख्या करके नयी शक्ल में उपलब्ध कर पाने लायक़ होती है; पश्चिमी भाषा-मीमांसा को इस रास्ते की गहरी ज़रूरत इसलिए नहीं पड़ी; क्योंकि वहाँ 'ज्ञान के स्रोतों' से भाषा कभी उस तरह से अलहदा नहीं की गयी, जिस तरह भारत जैसे उपनिवेशों में उन्हीं की वजह से वह हादसे का शिकार हुई।

ज्ञान के स्रोतों से हिन्दी की अलहदगी की असल वजह औपनिवेशिक गुलामी के दौर में पड़ी है। जनजागरण वाले चिंतकों ने इसीलिए उस दौर में परंपरा के पुनरुथान की और अस्मिता के पुनरुद्धार की इतनी फ़िक्र की थी। पर, वह रास्ता अधूरा ही तय हो पाया। पुनरुत्थान की आधी ताक़त तो वैसे भी प्रतिक्रियावाद से निजात पाने में ख़र्च हो जाती है, इसलिए तब मौलिक चिंतन के रचनाशील होने के हालात बहुत माकूल मौसम नहीं पा सके। जिस चिंतन को जन-जन की गुलामी से मुक्ति के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ज्ञान-दर्शनों के विकास का रास्ता खोलना था, वह उस दौर में वेदांत और मुक्ति में केंद्रित होकर रह गया। बेशक, वही हमारी सांस्कृतिक ज़मीन थी, पर उस ज़मीन को यों तैयार किया जाना चाहिए था कि उसके भीतर से नये सामाजिक दर्शनों के जन्म की संभावनाएँ पैदा होतीं। तो, वह जो काम तब अधूरा रह गया, उसे पूरा किये बिना कैसे मुमकिन है कि हमारी रचनाशीलता वक़्त की चुनौतियों के बराबर की हो सकेगी? नवजागरण के भीतर से हमारे यहाँ छायावाद जैसी महान रचनाशीलता ने जन्म लिया था, तब हिन्दी का भी भाषा के रूप में ऐसा ज़बरदस्त प्रसार और विकास हुआ कि उसने एक नये भाषा-संस्कार की नींव डालना आरंभ कर दिया था। उधर महात्मा गांधी और इधर प्रेमचंद, प्रसाद, निराला और महादेवी जैसे रचनाकार हिन्दी को लेकर जैसे पूरे भारत की रचनाशीलता की नयी संभावनाओं की ज़मीन तैयार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने लगे थे। पर, फिर जो उत्तर-छायावादी दौर आया, उसमें भाषा अपनी इस जन-संस्कार की मुहिम से जैसे कुछ भटक सी गयी।

और फिर यह मौजूदा दौर है, अंग्रेज़ीकृत होती हिन्दी, हिन्दी जैसी ही दिखायी नहीं दे रही है? तो फिर बचाव का, लौटने का रास्ता क्या है? रास्ता वही है, जिसे छोड़ दिया गया। नवजागरण के अधूरे कामों को पूरा करने का संकल्प लेकर हमें अपने, अपनी ज़मीन के ज्ञान के स्रोतों की ओर मुड़ना होगा और उन्हें वक़्त की चुनौतियों का सामना करने लायक़ बनाने के लिए नहीं, सामाजिक दर्शनों को विकसित करने के लिए आधार बनाना होगा। मौलिक चिंतन के अभाव में रचनाशीलता की जीवंतता को ज़मीन देना संभव नहीं। वहीं से गुलामी के संस्कारों को तोड़कर एक वाक़ई आज़ाद मानसिकता वाली संस्कार-भूमि को खोज निकाला जा सकेगा, यह बात कुछ ज़्यादा ही आशावादी नज़र आ सकती है, पर रास्ता यहीं से खुलता है। नहीं खुला, तो नतीजे जो हो रहे हैं, उन्हें हम भुगतेंगे ही।

चीमानगर एक्स., मिट्ठापुर रोड
पो.आ. टावर, टाउन कॉलोनी, जालंधर- 144014

लघुकथा

मानसिकता

ओम भारद्वाज

डोगरा सर विज्ञान और गणित की कक्षाएँ लिया करते थे। मैं उन दिनों आठवीं कक्षा का छात्र था। सभी लोग उनके पढ़ाने के तरीके की तारीफ़ करते। शायद ही कोई प्रश्न हो जिसका हल उनके हाथों में न हो। तभी तो उनके पास ट्यूशन पढ़ने वालों की संख्या सैकड़ों में पहुँच रही थी। चालीस हज़ार ऊपर से कमा लेते थे वह। परंतु मुझे उनके पढ़ाने का तरीका अजीब लगता था। मैं जब भी पूछता, वह भड़क उठते'-''खोपड़ी में भूसा भरा है क्या ? इतना समझाने पर भी बात ऊपर से निकल जाती है। चालीस मिनट का पीरियड होता है इसमें क्या-क्या समझाऊँ, किस-किस को। पूछना हो तो घर पर आया करो।''

मैं दो-तीन बार उनके घर भी गया। परंतु उन्हें फुर्सत हो तब न!

''देखो भई पहले तो मुझे उन्हें पढ़ाना है जो ट्यूशन फ़ीस देते हैं। उसके बाद आपकी बारी'' उन्होंने मुझसे कहा।

मैंने सोचा मुझे ऐसे समय आना चाहिए जब ट्यूशन वाले लड़के-लड़कियाँ न हों। सो मैं एक दिन ऐसे समय गया जब सभी लोग लौट रहे थे। दरवाज़ा खुला देख मैं बाहर वाले कमरे में बैठ गया। जहाँ वह पढ़ाया करते थे। अंदर वाले कमरे में डोगरा सर किसी से बतिया रहे थे। स्वाभाविक ही मेरे कान उनकी बातों में लग गए।

''डोगरा जी, आप इतनी मेहनत कराते हैं बच्चों से फिर भी आपके स्कूल का परिणाम अच्छा नहीं रहता। क्या बात है।''

देखो भाई, ''मुफ़्त में दिमाग चाटना चाहते हैं सब।

जो बच्चे मेरे पास ट्यूशन पढ़ते हैं उन्हें तो कभी असफलता नहीं मिली। बाकी का क्या ठेका ले रखा है हमने। ये सब बाग-बगीचे वाले हैं। खाद-दवाईयों के नाम तो पढ़ ही लेंगे। ज़्यादा पढ़ लिख गये लोग तो हम लोगों के बच्चे कहाँ जाएँगे? जिनके पास दो बीघा जमीन नहीं।''

यह सुनते ही मुझे लगा कि मेरे सर पर आकाश नहीं और पांव तले जमीन। मैं दबे पाँव लौट आया।

गांव-बलन, पोस्ट-जैस, तहसील-ठियोग, जिला-शिमला (हि0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी-दिवस और करवा चौथ

जीवन सिंह

आखिर, हम इस वर्ष भी 'हिन्दी दिवस' मनाकर अपना फर्ज़ पूरा कर लेंगे। 'फिर मिलेंगे' की तर्ज़ पर अगले वर्ष हम इसी तरह फिर 'हिन्दी दिवस' मनायेंगे। हम इस रोज अंताक्षरी प्रतियोगिता करेंगे और अगले वर्ष एक बदलाव भी करेंगे कि हिन्दी-देवी की एक मूर्ति बनवाकर उसकी पूजा करवाना आरंभ करेंगे। कथा-निर्माण में दक्षता प्राप्त हिन्दी-देवी की माहात्म्य-कथा लिख देंगे, जिसे फलदायिनी कथा के रूप में पोस्टकार्डों पर लिख-लिखकर कुछ इस तरह प्रचारित कराया जायेगा कि 'हिन्दी-देवी' की पूजा करने से लोग मालामाल हो रहे हैं। जब तक कोई लोभ की बात न हो, तो कोई क्योंकर किसी की आराधना करे। जब 'हिन्दी-देवी' मालामाल करने लग जायेगी, तो दर्शनार्थियों की लंबी-लंबी लाईनें लग जायेंगी। लोग उसका मंदिर बनाने के लिए दूर-दूर से ईंटों का पूजन करके भेजेंगे। सीमेंट भेजेंगे और गुप्तदान करके सारा पुण्यलाभ अकेले-अकेले ही लूट लेंगे। लेकिन, अभी तो बेचारी हिन्दी-देवी की अपनी हालत ही पतली है। वह खुद ही गली-गली में मारी-मारी फिर रही है। हमने किसी को लज्जित-अपमानित करने के लिए कितना अच्छा मुहावरा गढ़ा है, जिसमें हिन्दी की शर्म को खूँटी पर ही टाँग दिया गया है। हमारे यहाँ बड़े फख्र से लोग एक दूसरे की हिन्दी करते हैं और हिन्दी करने के बाद ठठाकर हँसते हैं। मैंने सुना है कि हमारे देश में कुछ अंग्रेजी स्कूल तो ऐसे भी हैं जो हिन्दी बोलने वाले को अपराधी की तरह सजा देते हैं। ठीक भी है, अमीर-अफसरों के माँ-बाप अपने बच्चों को गरीबों के बच्चों के साथ नहीं खेलने देते। आम जनता की भाषा सीखने और बोलने से भी कुलीनों, अमीरों और अफ़सरों की इज्जत को बट्टा लगता है। फिर अफ़सर और जनता सभी के चेहरे एक जैसे लगने लगते हैं। कुछ फ़र्क बने रहना ज़रूरी है। छोटे-बड़े का फ़र्क, ऊँचे-नीचे का फ़र्क और अमीर-ग़रीब का फ़र्क। फिर पाँचों उँगलियाँ इकसार भी तो नहीं होती। हिन्दी, यदि फ़र्क को मिटाती है तो ऐसी हिन्दी को कौन अपने सिर चढ़ायेगा? यह तर्क कितना अच्छा है कि जब सबके मकान अलग-अलग हैं, कोठी-बंगले, जमीन-जायदाद और ओहदे अलग-अलग हैं। खान-पान की सुविधाएँ अलग-अलग हैं। वेशभूषा-परिधान अलग-अलग हैं तो सभी की भाषा एक कैसे हो सकती है? ऊँचे आदमी की ऊँची भाषा होगी और नीचे आदमी की नीची। किसान-मजूर, छोटा व्यापारी, अध्यापक, कर्मचारी अपनी भाषा में बोलने और सोचने के लिए स्वतंत्र हैं। वे खूब बोलें और हर साल हिन्दी-दिवस मनाकर अपनी हैसियत को टटोलते रहें। लोकतंत्र में सभी को सुविधा है, अधिकार है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य अमर रहे।

महात्मा गांधी को पता नहीं क्या सूझी थी कि कह गये कि देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी को बनाओ। जब क़ानून, सर्वोच्च न्याय और पार्लियामेंट तथा उससे जुड़ी नौकरशाही का ढाँचा अंग्रेज़ी-जमाने का रखा तो हिन्दी को बीच में लाकर चीजों को बेजायके में क्यों तब्दील करते हो। पार्लियामेंट और शासन संरचना के बीच अंग्रेज़ी जिस रूप में फबती है, हिन्दी बेचारी क्या खाकर उनके बीच खड़ी होगी, निरी देहातिन और किसान-मजूरों की भाषा। स्वतंत्र देश के प्रथम प्रधानमंत्री का हिन्दी के बारे में विचार ज़्यादा सही था कि हिन्दी में अभी तक दरबारी ढंग से ही चीजें चल रही हैं। जब उन्होंने अपने ये विचार प्रस्तुत किये थे, उस समय तक स्वराज्य नहीं आया था। बस, आने ही वाला था, इसलिए उन्होंने हिन्दी-वालों को खुश करने के लिए यह भी जोड़ दिया था कि स्वराज्य होने पर सरकार हिन्दी में अनुवाद का काम आरंभ करायेगी। स्वतंत्र देश की राष्ट्रभाषा-प्रेमी सरकार ने अनुवाद कराकर हिन्दी को इतना समृद्ध किया कि पढ़ने वालों को उन किताबों को छूने तक से डर लगने लगा। पर, सरकार को तो अपना वायदा निभाना था, उसने अपना वायदा इतना निभाया कि हिन्दी को भौंडे अनुवाद की लंगड़ी भाषा बनाकर घिसटते रहने को मजबूर कर दिया। स्वतंत्र देश में वह घिसट रही है और हम ताली बजा बजा कर कह रहे हैं कि वह अपने पैरों के बल चल रही है।

इस बार के हिन्दी-दिवस पर भी शहर के वही लोग बोलने वाले थे, जो अक्सर बोलते रहते हैं। मैंने देखा है कि जैसे श्राद्धपक्ष में कागलों को ढूँढ़ा जाता ह, वैसे ही हिन्दी-दिवस पर हिन्दी वालों की ढूँढ मचती है। एक सप्ताह पहले से ही लोग आ धमकते हैं। कहते हैं कि सिंह साहब! इस बार तो आपको हमारे यहाँ आकर हिन्दी का महत्त्व समझाना है। मेरे एक मित्र हैं गुप्ता जी। शहर के एक बैंक में मैनेजर हैं। दस सितंबर को हमारे घर आए। मैं उनको दरवाजे पर खड़े देखकर ही समझ गया कि मेरा मित्र 14 सितंबर के रूप में आ गया है। बोले-यार, इस बार तो आपको ही चलना पड़ेगा।

"क्यों और कोई नहीं मिला क्या?" मैंने सहजभाव से पूछा।

"नहीं यार, कोई नहीं मिला। कॉलेजों के सभी हिन्दी-अध्यापक पहले से ही बुक कर दिये गए। कहीं 'रामचरित मानस' का पाठ होगा तो कहीं कविताएँ पढ़ी जायेंगी। सरकार ने कहा है कि सभी को, इस दिवस को जोर शोर से मनाना चाहिए।" मैंने फिर प्रश्न किया कि मेरे भाई। यह कोई पर्व, उत्सव जैसा दिवस थोड़े ही है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो 'विरोध दिवस' की तरह मनाया जाना चाहिए। इस रोज़ तो धरने, जुलूस और जनसभाएँ होनी चाहिए। बासठ साल देश को आज़ाद हुए हो गये, अभी तक देश की जनता को अपनी भाषा का सम्मान हासिल नहीं हुआ। यह हमारे लिए डूब मरने की बात है। वे मेरी बात से सहमत होते हुए भी इसलिए सहमत नहीं थे कि विरोध-फिरोध तो झगड़े-झंझट का काम है। सबसे ज़्यादा सुविधा कवि-गोष्ठी में होती है। खूब चुटकुले सुनते हैं और शृंगार में डूबे हुए रसीले गीत। मनोरंजन भी हो जाता है और सरकार भी मान जाती है कि चलो अच्छा हुआ—'हिन्दी दिवस' मन गया। वे कहने लगे—'हम तो बाल बच्चे वाले आदमी हैं। विरोध, जुलूस, झगड़े-झंझटों से अपने राम कोसों दूर रहते हैं। दूसरे, हमारी भी काम करने की आदत तो अंग्रेज़ी में पड़ी हुई है। कलम पर हाथ जाते ही रोमन के अक्षर बनते हैं, देवनागरी के पचड़े में कौन पड़े? देखो यार, काम तो अंग्रेज़ी में ही सुविधा और ठसके से होता है। यह अलग बात है कि 'हिन्दी दिवस' मनाने का दिन है। इसलिए हर साल मना लेते हैं। मनाने में अपना क्या बिगड़ता है? मनोरंजन तो होता ही है, कुछ खाना-पीना चायपान हो जाता है। सब खुश होकर कहते हैं कि गुप्ता जी, ऐसा तो चलते रहना चाहिए।

मैंने मन ही मन जान लिया कि पूरे देश में लोग गुप्ता जी की तरह ही हिन्दी दिवस गंभीरता से मना-मनाकर खुश हो रहे हैं। हैं न हम भारतीय संस्कृति पर गर्व करने वाले कमाल के लोग, खेद जताने वाले दिन को भी हमने उत्सव में बदल दिया है। अब वह दिन दूर नहीं कि जब हम इस दिन को पटाखे भी फोड़ा करेंगे, फुलझड़ी चलाया करेंगे। घर पर दाल-बाटी चूरमा बनेगा और हम उमंग से खाया करेंगे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा जो बनाना है।

वैसे इस दिवस का विशेष महत्त्व इस बात में है कि हिन्दी-प्रदेशों में रहने वाले और हिन्दी बोलने वाले आम लोग यह जान जाते हैं कि जो भाषा बोल रहे हैं उसका बड़ा महत्त्व है। इस बार जब मेरे नगर में हिन्दी-दिवस मन रहा था तो एक वक्ता बहुत ओजस्वी लहजे में कह रहे थे कि पहले मैं समझता था कि यह कोई पिछड़ी भाषा है। पर जब मैंने अध्ययन किया, किताबों को उलटा-पलटा तो यह तो बहुत महत्त्वपूर्ण भाषा निकली। इसे तो बोलने वाले भी करोड़ों लोग निकल पड़े। उन्होंने यह भी बड़े अनुभव की बात बतलाई कि इसके बावजूद आज तक वोट देने वाले नागरिकों की भाषा नहीं बन पाई है। अभी तक जब हम पाँच साल में वोट देने जाते हैं तो संप्रदायों और जाति-बिरादरी में बंट कर वोट देते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि लोकतंत्र की गाड़ी वोटों के पहियों पर चलती है। हिन्दी को वोट में तब्दील कीजिए, यह दौड़ने लगेगी। यह वोटों और नोटों का जमाना है। वोट और नोट की ताकत से खोटा सिक्का भी खूब चलता है, असलियत को जानो मेरे देशवासियो ! हिन्दी का महत्त्व बहुत हो चुका। अब हिन्दी को नोटों से जोड़ने का जुगाड़ भिड़ाओ। हिन्दी अभी तक न तो नोटों की भाषा बन पाई है न वोटों की। फिर ऐसी कमजोर संस्कृति को हम ओढ़ें या बिछायें। अंग्रेज़ी, इस देश में वोटों की भाषा चाहे न सही, नोटों का खजाना तो दिलाती है। उन्होंने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा कि अपने नगर के अंग्रेज़ी माध्यम नामधारी पब्लिक स्कूलों को देख लीजिए, ऊँची-ऊँची फीसों का कलेऊ कर-करके वे इतने मोटे हो रहे हैं कि जनता का भी उनकी तरह ही बनने को जी ललचाता है। जिन लोगों के बच्चे इन स्कूलों में पढ़ रहे हैं, वे जब हम जैसे लोगों को देखते हैं तो दूर से ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। उनका स्पष्ट विचार होता है कि जब बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देश का आर्थिक विकास करने के लिए ससम्मान बुलाई जा रही हैं तो संस्कृति का विकास भी वे ही करेंगी। अब भला बतलाइये कि हिन्दी से भी कोई आर्थिक विकास कर सकता है। आर्थिक प्रगति जिस भाषा में की जायेगी, आदमी तो उसी भाषा को अपनायेगा। भाषा के मामले में भी अर्थ का ही चक्कर है। किसी ने कहा है-बाप बड़ौ न भैया, सबसे बड़ौ रुपैया।

हिन्दी दिवस पर होने वाले आयोजनों की एक विशेषता यह भी होती है कि इनमें भाग लेने वाले वही होते हैं, जो पहले से ही अपना सारा काम हिन्दी में कर रहे होते हैं या फिर जिनकी हिन्दी में काम करने की मजबूरी होती है। यद्यपि इनकी अभिलाषा भी अंग्रेज़ी में काम करने की होती है लेकिन अंग्रेज़ी से दूरी के कारण, वे हिन्दी की वकालत करते हैं। वे तो उँगलियों पर ही गिने जाने वाले होते हैं, जो अपनी भाषा को, केवल भाषा का सवाल न मानकर पूरी संस्कृति का सवाल मानकर इसे एक गंभीर मुद्दा मानते हैं। मैं कई सालों से देख रहा हूँ कि हिन्दी का महत्त्व दिखाने वाले इन जलसों में हिन्दी मास्टरों के अलावा विज्ञान, वाणिज्य, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र से जुड़े लोग एवं चिकित्सक, वकील, व्यापारी आदि भी कहीं दिखें, लेकिन अभी तक तो ऐसा कुछ नहीं। हर नगर में हर साल दस-पाँच आदमियों के सिर में खुजली चलती है और वे हिन्दी-दिवस को कनागत के किसी एक दिन की तरह मनाकर, न होने से कुछ तो हुआ, सोचकर मन से समझौता कर लेते हैं। यह सही भी है। ऊँचे लोगों को तो घोटालों से फुर्सत नहीं है। एक साँप का बिल बंद करते हैं कि दूसरे नागनाथ जी अपना फन फैलाए खड़े दिखते हैं। ईमानदार नेताओं के इतने संभावनापूर्ण युग में संस्कृति के सवालों पर गंभीरता से काम करने की फुरसत मिले तब तो। रही पढ़े लिखे विद्वानों-बुद्धिजीवियों की बात, सो उनके लिए तो महाभारत के भीष्म पितामह और गुरुवर द्रोणाचार्य पहले से ही यह परंपरा बना गये हैं कि यदि संस्कृति की द्रोपदी को उनकी आँखों के सामने नंगा किया जा रहा हो तो भी कुछ मत कहो। अपनी गर्दन झुकाये, आँखें नीची किए चुपचाप माज़रा देखते रहो। इसी में भला है।

हिन्दी दिवस सरकारी दफ़्तरों, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, बैंकों में इसलिए मनाया जाता है कि हर साल भाषा विभाग के निदेशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या किसी शासन सचिव का आदेश निकलता है कि सभी लोग हिन्दी दिवस मनायें। सरकार के मातहतों का धर्म है आदेश पालन करना, इसलिए वह किया जाता है। सरकार तो परम स्वतंत्र होती है, उसके सिर पर और कोई नहीं होता। उसे जो अच्छा लगता है वह करती रहती है। उसका काम सर्कुलर निकालना है, उन पर खुद अमल करना नहीं। सरकारों के सचिव, हिन्दी में पहले से ही अपना काम करने वालों को लगातार हिदायत देते रहते हैं कि वे हिन्दी में काम करते रहें। अपनी प्यारी भाषा हिन्दी को अपनायें और वे खुद अपना सारा काम अंग्रेज़ी में करते रहते हैं। इसी को तो कहते हैं कि पांवणे जीमते रहते हैं और रोने वाले रोते रहते हैं। हमारी सरकारों ने यह साफ़ कर रखा है कि जो लोग हिन्दी में दस्तखत नहीं करेंगे, उनको तनख्वाह नहीं दी जायेगी। इस कारण लोग हिन्दी-प्रेम की वजह से नहीं, बल्कि तनख्वाह न मिलने के डर से हिन्दी में दस्तखत करते हैं। बाबा तुलसीदास पहले ही कह गये हैं कि भय के बिना प्रीत नहीं होती है। भय चूँकि दस्तखत करने तक ही है, इसलिए लोग सारा काम अंग्रेज़ी में करते हैं और दस्तखत हिन्दी में कर देते हैं। वे जानते हैं कि काम से मतलब होना चाहिए, नाम में क्या धरा है?

हिन्दी-दिवस मनाते हुए मुझे तीन दशक से ज़्यादा बीत गये हैं। पर अब भी मेरे मन का मधुकर गुलाब के मूल में इसी आशा में अटका हुआ है कि बसंत ऋतु कभी तो आयेगी और इन डालों में कभी तो फूल लगेंगे। कभी तो फिर एक गांधी पैदा होगा, जो सच्चे मन से स्वदेशी के रास्ते पर खुद चलकर बतलायेगा। पर ऐसा होता कहाँ है? वह बहार तो अब बीत गई लगती है, जिसमें भावों के सुमनों को खिलते देखा था। अब तो रह गई है—'अपत कटीली डार।' अब वह समय आ गया है जब कि हिन्दी दिवस के नाम पर हम कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र हैं। मैंने अखबार में एक खबर पढ़ी कि एक नगर में 'हिन्दी दिवस' पर 'संयुक्त परिवार के गुण-दोषों' पर व्याख्यान माला आयोजित की गई। एक दूसरे नगर की खबर पढ़ी कि 'हिन्दी दिवस' पर शिक्षकों को वे पुरस्कार वितरित किये गये जो उन्हें 'शिक्षक दिवस' पर दिये जाने थे। एक तीसरी खबर पढ़ी कि एक बड़े महकमे के बड़े अधिकारी ने 'हिन्दी दिवस' में हिन्दी-अनुवादक का पद समाप्त करने की घोषणा की। इस तरह यह दिवस अलग-अलग रूपों में मनाया गया। हमारा उद्देश्य तो मनाना है, जैसे हम तीज-त्यौहार, राखी, गणगौर, करवा चौथ मनाते हैं। मनाना है सद्भावना दिवस और हम दौड़ लगवा देते हैं। भविष्य में हिन्दी-दिवस में दौड़ लगवाकर चायपान हो जाया करेगा और उसी को लोग मान लेंगे कि मन गया हिन्दी दिवस। इस बार मेरे शहर में यह जहाँ मन रहा था, वहाँ दो आयोजन साथ-साथ थे। पहले थी हिन्दी-दिवस पर विचार गोष्ठी, जिसमें श्रोता-वक्ताओं के अनुपात में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं था। हाँ, इतना अवश्य था कि जो बोलने वाले थे, केवल उतने ही सुनने वाले नहीं थे। कुछ ऐसे भी लोग शरमाशरमी में आ गये जो केवल सुनने के लिए ही बुलाए गये थे। गोष्ठी के बाद कवि-सम्मेलन होना था और वह लंबा चलना था, इसलिए गोष्ठी को जल्दी समेटना बहुत ज़रूरी था। इसका कारण था कि गोष्ठी के उपसंहार के समय कुछ लोग ऐसे भी आ फँसे थे, जिनको गोष्ठी में न आकर कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करनी थी। उनके चेहरों से लग रहा था कि उन्हें हिन्दी-दिवस की इस विचार गोष्ठी के चक्रव्यूह में फँसाया गया है। मैंने कवि-सम्मेलन के होने वाले भावी अध्यक्ष से निवेदन किया कि 'कुछ हमारी तक़रीर भी सुन लीजिए। हम लोग इन्हीं प्रश्नों पर विचार कर रहे हैं कि हिन्दी के सामने क्या-क्या चुनौतियाँ हैं? और उनका समाधान कैसे संभव है? उनका कहना था कि हमें तो हिन्दी दिवस के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित किया गया है। तुम्हारी इन समस्याओं-समाधानों से हमको क्या लेना देना? हम तो हिन्दी-प्रेमी हैं इसलिए कवि-सम्मेलन के लिए कुछ चंदा-वंदा दे देते हैं और ये हैं कि हमसे अध्यक्षता करा लेते हैं। हमको हिन्दी विन्दी के दूसरे पचड़ों में नहीं पड़ना है। उन्होंने मुझे सावधान करते हुए कहा कि "आप भी इन पचड़ों को छोड़ दीजिए। जो अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ना और काम करना चाहते हैं, उनको उसी में पढ़ने व काम करने दीजिए। अंग्रेज़ी जानने वालों का भाग्य खुल जाता है। वे दोनों हाथों से लक्ष्मी बटोरते हैं। वे वायुयान में उड़ते हैं और हिन्दी वाला अपनी बैलगाड़ी को हाँकता रहता है।" वे भाषा के पीछे चलने वाले अर्थशास्त्र को पूरा जानते थे। इसीलिए, उन्होंने शहर में अंग्रेज़ी माध्यम वाला एक पब्लिक स्कूल खोल दिया है। हिन्दी-प्रेम के लिए, उसकी फीस में आए हुए दो सौ इक्यावन रुपये काफ़ी हैं। वे इतने रुपये हर साल चंदा देते हैं और अपना हिन्दी-प्रेम दर्शाते हैं। हिन्दी दिवस पर कवि सम्मेलन इसलिए होता है कि कुछ बाहर के कवि होते हैं, उनको अच्छा-खासा मेहनताना मिल जाता है और स्थानीय कवियों की हुमहुमी निकल जाती है। सुनने वालों को भोजन करने के बाद पान खाने की तरह कुछ रसीली बातें सुनने की आदत पड़ जाती है। उनका मनोरंजन हो जाता है। मनोरंजन की ज़रूरत मन को हमेशा रहेगी, इसलिए हिन्दी दिवस मनाने की जरूरत भी हमेशा बनी रहेगी।

मेरी तो इच्छा है कि हमारे देश में हिन्दी-दिवस को करवा चौथ की तर्ज़ पर मनाया जाये। लोग कहानियाँ सुनें, व्रत-उपवास रखें और छलनी में से उगते चाँद को देखें। विश्वास रखें कि ऐसे भी मनता रहेगा तो कभी हिन्दी के दिन भी फिर जायेंगे। कहावत है कि बारह बरस में घूरे की भी बगदती है। हिन्दी के लिए मुझे सौ बरस भी कम पड़ते दिखाई दे रहे हैं। मुझे रहीम की इस बात में कतई दम नहीं लगता कि हम भी कहें—"रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन कौ फेर।" हम चुप ही तो बैठे हैं, कर भी क्या रहे हैं?

1/14, अरावली विहार, अलवर (राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो क्वार आ गया

रामदरश मिश्र

तो क्वार आ गया। मुझे क्वार की प्रतीक्षा रहती है, क्योंकि वह शरद का आरंभ है। विश्वास तो यही है कि क्वार में आकाश खुल जाता है और बादलों के बनजारे अपनी गठरी-मोटरी लेकर आने लगते हैं।

मैंनें बहुत पहले एक कविता लिखी थी :

चले बिदेस गठरिया बाँधे फिर बनजारे बादल।

फिर एक गीत लिखा था, जो चर्चित भी हुआ था :

बादल चले जा रहे
संध्या को लौटें मेले से जैसे राही हारे, बादल चले जा रहे
भरे-भरे पोखर-तालों में काँप रही उजली परछाईं,
धान विदा दे रहे स्तब्ध क्षण भर छाँहों को दे गलबाँहीं
प्रीति पिला परदेसी चले
रहे नयना मतवारे, बादल चले जा रहे

हाँ, बादलों का जैसे आना प्रिय लगता है, वैसे ही जाना भी। आकाश में और धरती पर बादलों की धमाचौकड़ी बहुत हो चुकी। उन्होंने फ़सलें दीं भी और लीं भी। जहाँ ली हैं, वहाँ के खेत कह रहे हैं, "भाई अब तो जाओ, अब हमें अपने प्रकोप से मुक्त करो, हमें नयी फ़सल उगाने दो।" किसान माथे पर हाथ रखे सोच रहे हैं—"कब हम तुम्हारे उत्पात से मुक्त होंगे और कब जुताई-बुवाई शुरू करेंगे।" बादलों ने जहाँ फ़सलें दी हैं, वहाँ के खेत कह रहे हैं—"आपने हमें बहुत रस दिया। हम उगे, विहँसे, बड़े हुए, अब हमें पकना है, अब आप जाइए। अगले बरस आइएगा। आप अब नहीं गये, तो हमें जाना पड़ेगा।" पकी हुई फ़सलें कहती हैं—"अब हमें खलिहान में सुरक्षित सूखने दो और जाने दो हमारे दानों को प्रतीक्षित घरों में।" अलगनियों पर फैली हुई मक्के की बालियाँ कहती हैं—"अब सूखने दो हमें क्वार की धूप में।"

प्रायः बादल चले जाते हैं क्वार का प्रारंभ होते-होते, लेकिन अब नियम कहाँ रह गये हैं? आदमी ने तो सारे नियम तोड़े ही डाले हैं, प्रकृति भी तोड़ रही है। यह शायद मनुष्य के अत्याचार का ही परिणाम हो। अब देखिए न, क्वार आ गया है, पितृपक्ष की धूम है, लेकिन बादल अभी भी आकाश में मँडरा रहे हैं और रह-रह कर वेग से या आवेग से बरसे जा रहे हैं। इससे क्वार की कटक धूप में जलने से थोड़ी राहत तो मिली है, किंतु यह राहत गाँव के लिए ठीक नहीं हैं।

बिहार अभी भी बाढ़ की चपेट में है, गुजरात में टूटकर पानी बरस रहा है। तो ख़रीफ़ की जो फ़सल सो तो गयी ही, नयी फ़सल भी कैसे आएगी? खेत धूप चाहते हैं, ताकि जुताई और बुवाई हो सके। रास्ते धूप चाहते हैं, ताकि वे अपने कीचड़ से मुक्त हो सकें और उन पर भाँति-भाँति के मेलों के लिए जाते हुए पाँव गा उठें। हाँ देखिए, क्वार-कार्तिक कितने-कितने मेलों और त्योहारों से जगमगाते महीने हैं। लगता है कि अँधेरी गुफा से निकल कर हम एक उजास भरे हँसते-खिलखिलाते मैदान में आ गये हों। नदियों का गँदला जल निखर गया है, ताल-तलैयों में कमल और कुमुद खिले हुए हैं, कास का श्वेत उल्लास नदियों और नालों के किनारे उमड़ा हुआ है। विनम्र चाँदनी में इन्हें देखिए, तो लगे कि सपनों का लोक फैला हुआ है।

जो भी हो, जैसे भी हो, क्वार का आना अच्छा लगता है। यह सही है कि उसके आते ही तमाम बीमारियाँ भी आ जाती हैं, क्योंकि यह संक्रांति काल है न, और हर संक्रांतिकाल कुछ संकट लेकर आता है, किंतु फिर भी क्वार का आना अच्छा लगता है। वह कार्तिक और फिर वसंत तक के प्यारे महीनों का अग्रदूत बनकर आता है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य का संवाद बनकर आता है। हाँ, क्वार आ गया है। इसके पंद्रह दिन पितृ-पक्ष माने जाते हैं। इसे भोजपुरी में पितरपख कहते हैं। लोग अपने पितरों को पिंडदान देते हैं। आज के ज़माने में जब कि लोग अपने बुजुर्गों का सम्मान करना भूलते जा रहे हैं, उन्हें याद तक नहीं करना चाहते, तब पितृ-पक्ष में पितरों को याद करना और उन्हें पिंडदान देना कितना महत्त्वपूर्ण कार्य लगता है। मुझे लगता है कि इस क्रिया में मूल्यवत्ता भी है, और स्वार्थ भी रूढ़ि भी, किसी भी अवसर पर अपने पूर्वजों को याद करना एक मूल्यवान कार्य है। शादी-ब्याह में या अन्य किसी मांगलिक कार्य में जो गीत गाये जाता है, उनमें पूर्वजों का नाम ले लेकर उनसे आशीष माँगा जाता है। विवाह के अवसर पर जो संध्या-भोर गाया जाता है उसमें तो बहुत रोमांचक रूप में उन्हें याद किया जात है। उन्हें जगाया जाता है और कहा जाता है कि तुम्हारे पोते, पड़पोते या पड़पोती का विवाह होने जा रहा है। बाबा जागो, उसे आशीष दो। आशीष की यह कितनी लंबी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यवान परंपरा है और इसी बहाने अपने पूर्वजों से रागात्मक संबंध बनाये रखने का सहज उपक्रम है। तो पितृ-पक्ष में भी पूर्वजों को याद किया जाता है। चिंता होती है कि वे न जाने किस हाल में होंगे, उन्हें कुछ खाने-पहनने को मिलता होगा कि नहीं। इसलिए, साल में एक बार उन्हें पिंडदान दिया जाता है और कपड़े लत्ते भी। यह सब कर्मकांड कराने वाले ब्राह्मणों को दिया जाता है और बड़ी-सी दक्षिणा भी। मान लिया जाता है कि ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जा रहा है, वह पूर्वजों को पहुँच रहा है। अब इसे कौन देखता है कि पूर्वज भूखे-प्यासे और नंगे घूम रहे हैं और ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जा रहा है, वह उन्हें पहुँच रहा है। ब्राह्मणों द्वारा अपने हित के लिए बनाया गया यह ढोंग नहीं तो और क्या है? मृतात्मा और उसके छूटे हुए परिवार के बीच ब्राह्मण कैसे बिचौलिया हो गया? जातियाँ भी तो समाज ने ही बनायी हैं। समाज में से ही कोई ब्राह्मण बन गया, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य, कोई शूद्र। ईश्वर ने थोड़े ही ये जातियाँ बनायी हैं। और ईश्वर? तो, आज ऊँच-नीच और जातिवाद के ख़िलाफ़ इतना आंदोलन हो रहा है और ऊँची जातियों के वर्चस्व को अस्वीकार करने की कोशिश की जा रही है, किंतु कर्मकांड से जुड़े ब्राह्मणत्व का वर्चस्व ज्यों का त्यों है। गाँव से लेकर तीर्थ-स्थानों तक, घर से लेकर मंदिरों तक अभी भी कर्मकांड का जलवा देखते बनता है। पितृपक्ष में तो 'गया' विशेष महत्त्व पा जाता है। मेरी स्थिति बहुत सुरक्षित रही है। मेरी दृष्टि तमाम कर्मकांडों के प्रति अविश्वासशील रही है। लेकिन मान लीजिए, हाँ मान लीजिए कि पितर लोग अपने उत्तराधिकारियों से कुछ पाने की आशा में भटक रहे हों, तो मेरे दिये बिना ही पा जाते हैं, क्योंकि मैं अपने भाइयों में सबसे छोटा हूँ। पहले बड़े भइया राम अवध जी पिंडदान देते रहे, अब मँझले भइया देते हैं। मेरे देने और न देने का सवाल ही नहीं उठता। इसी तरह गुरु-परंपरा है। यानी, हर परिवार का एक कनफुकवा गुरु होता है। मरे परिवार का भी था। अब भी होगा, किंतु मुझे हँसी आती है इस परंपरा पर। चूँकि मैं गाँव के घर में नहीं हूँ, बाहर-बाहर हूँ, इसलिए गुरु को मानने और न मानने का भी मेरे घर पर कोई असर नहीं पड़ता।

हाँ, तो क्वार आ गया। पितरों को पूजा-पाठ देकर लोग दशहरे से जुड़ जाएँगे। कृष्णपक्ष के बाद शुक्ल पक्ष। दशहरा भी हमारा इतिहास है, किंतु क्या वह इतिहास बनकर रह गया है? नहीं, वह इतिहास होकर भी ज्वलंत वर्तमान है। रामकथा तो हमारे समाज के रोम-रोम में रमी हुई है। समाज तो राम के साथ जागता है, सोता है, उठता है, बैठता है। वह राम के मूल्य को अपने आचरण में भले ही न उतार पाता हो, लेकिन वह राम से अपने को अलग नहीं पाता। दशहरे के दस दिन तो जैसे साक्षात् राममय हो उठते हैं। साथ ही साथ दुर्गापूजा का भी उल्लास चारों ओर छा जाता है। क्वार के शुक्ल पक्ष के बीतते-बीतते किसान के सामने भविष्य हँस पड़ता है—फ़सलों का भविष्य। खेतों की जुताई-बुवाई शुरू हो जाती है। हल्की-हल्की ठंडक का स्पंदन वातावरण में भर जाता है और एक नया जीवन पंख फड़फड़ाने लगता है।

फिर दीपावली की पदचाप सुनायी पड़ने लगती है। दीपावली यानी अमावस्या के अंधकार में दीपकों के प्रकाश का संतरण, राम के अयोध्या लौटने की प्रसन्न ज्योति, घर-घर में लक्ष्मी का आगमन। बहुत प्रसन्न मौसम में ज्योति का यह त्योहार अत्यंत मूल्यवान और सुंदर लगता है। इस ज्योति का महत्त्व इस बात में है कि यह मानव-निर्मित है। यह प्रकाश अंधकार से उसके संघर्ष का परिचायक है। अंधकार अमावस्या का ही क्यों न हो, हम उससे पराभूत नहीं होंगे, उसमें प्रकाश पैदा करेंगे। दीये से अंधकार के तार-तार को तोड़ेंगे। यही पुरुषार्थ लक्ष्मी का आह्वान करता है। यानी लक्ष्मी के आगमन के लिए ज़रूरी है कि मनुष्य अपने प्रकाश द्वारा अंधकार से लड़े। और, मनुष्य के इस ज्योतिर्मय पुरुषार्थ से संयुक्त होकर लक्ष्मी का आगमन मूल्यवान एवं सार्थक होता है। अर्थ और धर्म मिल जाते हैं। बहरहाल, घर में लक्ष्मी आती हों या न आती हों; घर, गली, कूचे, खेत-खलिहान कुआँ-बावड़ी सभी दीपकों की हँसी से जगमगा उठते हैं और हर आदमी में एक सपना तो जाग ही उठता है, लक्ष्मी के आने का।

दीपावली की उमंग से गुँथी चली आती है—गोवर्धन -पूजा और भइया दूज की उमंग। हमारे यहाँ ये दोनों त्योहार एक ही दिन यानी कार्तिक शुक्ल द्वितीया को ही मनाये जाते थे। दोनों के परस्पर मिल जाने से छवि में गहनता आ जाती थी। बैलों के गोबर से गोवर्धन की मूर्ति बनायी जाती थी। वहाँ पूजा के लिए बैठी औरतें सभी बहनों के भाइयों को सरापती थीं। विश्वास है कि जो सरापा जाता है, उसकी आयु बढ़ जाती है, इसलिए जिन बहनों के भाइयों को सरापा नहीं जाता था, वे बुरा मान जाती थीं। शायद इसके पीछे कोई लोक-कथा है। बहरहाल, मुझे तो वर्तमान बहुत अच्छा लगता था। गोवर्धन की पूजा करने के बाद औरतें गोबर पर टूट पड़ती थीं। पहले कौन हाथ मारकर कुछ गोबर हथिया लेता है, इसका भी महत्त्व होता था। पूजा करने बैठी औरतों में कुछ बुढ़ियाएँ चिढ़नी होती थीं। हम बच्चे भी वहाँ होते थे और पूजा के लिए लाये गये झरबेरी के काँटे उन चिड़चिड़ी औरतों पर फेंक देते थे और वे शुरू हो जाती थीं गालियों का पहाड़ लेकर। लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते थे। गोवर्धन पूजा के लिए लाये गये गोबर से ही छोटे-छोटे गोल-गोल पिंड बनाये जाते थे। उन्हें खलिहान और फिर बखार की अन्नराशि में रखते थे। विश्वास था कि इससे अन्न में बरकत होती है। गोवर्धन-पूजा के दिन का एक और समां दर्शनीय होता था। जब हम लोग रात को सोये होते थे, तब भिनसार में पटपट की आवाज़ें गूँज उठती थीं। हाँ, भिनसार में ही हर घर की औरतें हँसुए से सूप पीटती हुई घर से निकलकर खेत की ओर जाती थीं। हाँ, इसे दलिद्दर (दरिद्र) भगाना कहते थे। दलिद्दर भगाकर ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरतें जुट जाती थीं इस त्योहार के विशेष पकवान बनाने में और हम बच्चे जुट जाते थे उन्हें चखते जाने में। दालपीठा तो इस दिन का विशेष पकवान होता था। इस तमाम चहल-पहल के बीच भाई-बहन के प्यार की गतिविधियाँ तो चलती ही रहती थीं। बहनें इस दिन के लिए किसी पात्र में विशेष तौर पर उगाये गये जौ के अंकुर भाइयों के कान पर रखती थीं, इन्हें टीका लगाती थीं और भाइयों की ओर से जो पाना होता था, पाती थीं। हल्के-हल्के जाड़े के मौसम में यह सब कितना अच्छा लगता था। वह अनुभूति अभी भी मेरे प्राणों में स्पंदित है।

इस उमंग के बाद एक और उमंग। इसके तेरह दिन बाद कार्तिक पूर्णिमा का पुण्य नहान पर्व मुस्करा रहा होता था। यह पर्व गंगा में या अन्य किसी नदी में स्नान करने के लिए बुलाता है। कार्तिक पूर्णिमा का यह धार्मिक पर्व मेरे भीतर एक जीवंत राग बनकर समाया हुआ है। सरयू नदी में स्नान करने के लिए दस कोस की दूरी पर स्थित बड़हल गंज जाते थे। सच पूछिए, तो हम बच्चों के लिए नहान का विशेष महत्त्व नहीं था, महत्त्व था—खुशगवार मौसम में विराट मेले का। दस कोस की यह दूरी दो-तीन दिनों तक तमाम गाते-बजाते लोगों से भरी होती थी। इस मेले में हम लोग रात को भी घूमते थे। कहाँ चिंता थी कि सर्दी लग जाएगी या बीमार पड़ जाएँगे। मन तो इस मेले के विविध स्वरों और रंगों से भरा होता था। तो इस तरह, सौंदर्य और प्रियता का एक चक्र देकर शरद हेमंत में समा जाता था और छोड़ जाता था मेरे मन में एक बड़ी-सी कविता, जो आज तक पूरी नहीं हुई।

आर- 38, वाणी विहार, उत्तमनगर, नई दिल्ली - 110059

कविता

कविताएँ

सतीश सागर

वैलकम
सारे दरवाज़े
बंद करने के बाद
'वैलकम' का संबोधन
या तो आपके
मानसिक दिवालियेपन
का द्योतक है
या
आपके द्वारा
हमसे किया गया
भद्दा व क्रूर मज़ाक।

छोटे-छोटे प्रलोभन
ग़लत लोगों को दोगे प्रश्रय
तो वो काटेंगे ही
सही लोगों से जुड़ोगे
तो वो सराहेंगे ही
जानते यह बात सभी हैं
पर अमल कौन कर पाता है

छोटे-छोटे प्रलोभन
व्यक्ति को जीने कहाँ देते हैं
समाज के बदलाव की
बात करने वालो
पहले हँसो खुद पर
फिर हँसाओ दूसरों को
तभी समझोगे हँसने का मतलब
और अगर यह
समझ गये तो जीवन का
अर्थ भी समझ जाओगे
वरना
एक-न एक-दिन ज़रूर पछताओगे
पर तब तक बहुत
देर हो चुकी होगी
बस
तुम सिर्फ़
हाथ मलते रह जाओगे।

'सागर', सी-29, गुलमोहर पार्क
नई दिल्ली-110049

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न किसी की आँख का नूर हूँ...

कुमार पंकज

जब अंग्रेज़ों ने अंतिम मुग़ल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र को क़ैद कर रंगून भेज दिया था, तो मरने से पहले ज़फ़र के दिन कैसे बीतते होंगे? दरबार और महल की शानो-शौकत, जवानी के सुनहरे दिन एवं रंगीन रातें कितनी शिद्दत से उन्हें याद आती होंगी! अपने उस्ताद 'ज़ौक़', जिनसे वे इस्लाह लेते थे, के शेर की पहली पंक्ति उन्हें अक्सर याद आती होगी :

"अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएँगे"

07 नवंबर, 1862 को ज़फ़र यह फ़ानी दुनियाँ छोड़ कर अपनी तमाम तक़लीफ़ों से छुटकारा पा गये। जब 29 दिसंबर, 2008 को 11 बजे दिन में मुझे यह ख़बर मिली कि आज सुबह विजयपाल सिंह चले गये, तो ख़ुदा को हाज़िर-नाज़िर जानकर कहता हूं कि मुझे बेहद सुकून तो मिला ही, साथ ही, ज़फ़र की याद भी आयी। सुकून तो इसलिए मिला कि विजयपाल सिंह की मुक्ति हुई एवं ज़फ़र की याद इसलिए आयी कि विजयपाल सिंह का भी विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में एक ज़माना था, जलवा था, कहूँ कि उनके पेशाब में चिराग़ जलता था। लेकिन, ज़फ़र के साथ एक आसानी यह थी कि क़ैद में उनके साथ बेगम एवं शहजादे थे, लेकिन विजयपाल सिंह के साथ तो कोई न था। अपने जीवन के अंतिम 12 वर्ष उन्होंने अपने आवास के एक कमरे में बिस्तर पर पड़े-पड़े काटे, जहाँ भूले-भटके भी कोई न जाता था। मिर्ज़ा ग़ालिब के शब्दों मे उनकी हालत कुछ यूँ थी :

कोई उम्मीद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती
आगे आती थी हाले-दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती।

विजयपाल सिंह को कोई बीमारी न थी—न ब्लडप्रेशर, न डायबिटीज़। बीमारी उन्हें हो भी नहीं सकती थी। जिसने जीवन भर आधा पेट भोजन किया हो, और 20 किलोमीटर रोज पदयात्रा की हो, उसे रोगविहीन दीर्घायु मिलनी ही है। विजयपाल सिंह को भी दीर्घायु मिली (मृत्यु के समय उनकी अवस्था 85 वर्ष थी), लेकिन यह दीर्घायु उनके लिए तो अभिशाप ही सिद्ध हुई। बिस्तर पर पड़े हुए विजयपाल सिंह को अपने कपड़ों तक का होश नहीं रह गया था। अक्सर लुंगी भी अपने स्थान पर न होती थी, बिस्तर की चादर और तकिये का गिलाफ़ शायद शताब्दियों पहले बदला गया हो और अटैच्ड बाथरूम से दुर्गंध की लपटें आती थीं। उन्हें स्मृति-भ्रंश भी हो गया था, वह लोगों को पहचान भी न पाते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष पद स्वीकारने के बाद जब मैं उनके पास प्रणाम करने गया, तो उन्होंने रीती आँखों से मुझे देखा, पहचान-परिचय के कोई लक्षण वहाँ न थे।

विजयपाल सिंह को मैंने पहली बार जनवरी, 1947 में इलाहाबद विश्वविद्यालय में देखा था, जब वे वहाँ चयन समिति में एक्सपर्ट बनकर आये थे, सहयोगी विशेषज्ञ उनके गुरु हरवंशलाल शर्मा थे एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय थे। यों विजयपाल सिंह की तीनों किताबें—'केशव और उनका साहित्य', 'केशव का आचार्यत्व' एवं 'केशवदास' (संपादन)—मैं एम.ए. में अध्ययन के दौरान् देख चुका था। लंबे क़द, इकहरे बदन एवं सामान्य शक्ल-सूरत वाले विजयपाल सिंह के व्यक्तित्त्व में एक फुरती थी, मैं उसे स्मार्टनेस तो न कहूँगा, लेकिन डलनेस का वहाँ नामोनिशान न था। मेरी नियुक्ति नहीं हुई, होनी भी नहीं थी। वार्ष्णेय जी जो मेरे शोध-निदेशक थे, पहले ही मुझे चेतावनी दे चुके थे "इंटरव्यू में जाना मत और अगर जाओगे तो मैं किसी भी क़ीमत पर तुम्हारा होने नहीं दूँगा। वार्ष्णेय जी की प्रतिज्ञा फलीभूत हुई। कहूँ कि वार्ष्णेय जी ने मुझे दे मारा। लेकिन यह कथन कि सफलता की राह असफलता से ही निकलती है, शायद एक बड़ी सीमा तक सच है। दो महीने बाद बी.एच.यू. में इंटरव्यू हुआ और वहाँ चयन समिति में हरवंशलाल शर्मा, प्रेमस्वरूप गुप्त एवं विजयेंद्र स्नातक के साथ विजयपाल सिंह थे, जो हेड एवं डीन दोनों पदों पर थे। कुलपति सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् कालूलाल श्रीमाली थे। इंटरव्यू शुरू होने से पहले ही विजय पाल सिंह ने मुझे देखते ही अंग्रेज़ी में कुछ यूँ (विजयपाल सिंह की अंग्रेज़ी बहुत अच्छी थी और वार्ष्णेय जी तो अंग्रेज़ों के अंग्रेज़ थे) कहा—"Mr. Vice Chancellor Sir, he is a First class student and Gold Medalist. I interviewed him recently in Allahabad University. His performance was excellent but I could not appoint him due to various reasons." इंटरव्यू ख़त्म होते होते कुलपति के रूख से मुझे लग गया कि मेरी नियुक्ति हो जाएगी। इंटरव्यू में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दिलचस्प बात यह हुई कि जब विजयेंद्र स्नातक ने मुझसे यह पूछा कि यशपाल पर मैंने कौन-कौन सी किताबें देखी हैं, तो मैंने बड़ी मासूमियत से कहा कि आपके निर्देशन में यशपाल पर एक थीसिस मेरे निर्देशक वार्ष्णेय जी कें पास जँचने आयी थी, वह भी मैंने देखी है, लेकिन वह तो रिजेक्ट कर दी गयी। मेरा यह कहना था कि कुलपति समेत सभी लोग ठठाकर हंस पड़े और स्नातक जी का चेहरा उतर गया। इसे कहते हैं जवानी की मूर्खताएँ। मैं बाहर आया और वहाँ उपस्थित प्रत्याशियों में से एक महेंद्रनाथ राय ने मुझसे पूछा कि इंटरव्यू कैसा रहा? मैंने इतराते हुए जवाब दिया—"मैं तो नियुक्त हो गया।" यह सुनकर महेंद्र नाथ राय के चेहरे का रंग उड़ गया। फ़ैसला कर पाना मुश्किल है कि स्नातक जी और महेंद्र नाथ राय में किस का चेहरा ज़्यादा आभाविहीन था।

मैं विजयपाल जी के प्रति उपकृत था/हूँ। कैरियर और परफ़ारमेन्स के बावजूद न जाने कितने लोग अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते। नामवर सिंह इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इतनी प्रखर मेधा वाला व्यक्ति और भाग्योदय हुआ 1969 के आसपास जब वे जोधपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर-अध्यक्ष हुए और तब उनकी उम्र 42 वर्ष की हो चुकी थी। लेकिन, बात विजयपाल सिंह की हो रही थी। विजयपाल जी में एक अद्‌भुत गुण था। वेअपने कैंडीडेट की नियुक्ति में पद के विज्ञापन से लेकर ज्वॉइनिंग तक ज़मीन-आसमान एक कर देते थे, लेकिन प्रत्याशी के पद-ग्रहण करते ही वे उससे विमुख हो जाते थे। मुझे याद नहीं आता कि उन्होंने अपने से लाभान्वित होने वाले से कभी चाय भी पी हो। वे 'नेकी कर और दरिया में डाल' में भरोसा रखने वाले शख़्स थे।

विजयपाल जी गॉड फ़ियरिंग व्यक्ति थे, लेकिन उतने ही ज़िद्‌दी भी थे। भोलाशंकर व्यास को प्रोफ़ेसर बनाया, लेकिन उनको हेडशिप न मिले, इसका भी बराबर इंतज़ाम करते रहे। व्यास जी के सबसे बडे पुत्र की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में स्थायी नौकरी लगवा दी। अवश्य ही उनकी इस प्रवृत्ति के चलते बहुत से अयोग्यों ने भी भरपूर फ़ायदा उठाया। मसलन, उन्होंने एक लिपिक को एम.ए., पी.एचडी. करा कर लेक्चरर बना दिया जो प्रोन्नति पाकर कालांतर में प्रोफ़ेसर बन गया, हालाँकि मनसा-वाचा-कर्मणा वह लिपिक ही रहा। ऐसे ही एक ठलुए की, जिसका सहित्य से कुछ लेना-देना न था/ न है, एम.ए., पी.एच. डी, कराकर विभाग में बैक डोर एन्ट्री करा दी। उनके ऐसे करतबों और ज़िद के चलते महेश्वर और वाचस्पति जैसे न जाने कितने प्रतिभाशाली व्यक्ति बी.एच.यू. के हिन्दी विभाग में आने से रह गये। वैसे यह विजयपाल जी की ज़िद का ही नतीजा था कि काशी गौरव गया सिंह से बी.एच.यू. का हिन्दी विभाग वंचित रह गया और इस ज़िद के लिए बी.एच.यू. का हिन्दी विभाग सदैव विजयपाल जी का ऋणी रहेगा। यों भी विजयपाल जी अपने विरोधियों को कुछ न समझते थे। कहते थे कि बकरी सींग मारेगी, तो घुटनों तक ही चोट आएगी।

जब विजयपाल सिंह प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष के रूप में बी.एच. यू. आये तो कार्यवाहक अध्यक्ष भोलाशंकर व्यास ने अपने नेतृत्व में हिन्दी विभाग के लगभग सभी अध्यापकों से एक असहयोग आंदोलन उनके विरुद्ध छिड़वा दिया, लेकिन विजयपाल जी ने एक-एक कर सबको पानी पिलाया और विभागीय समिति में व्यास जी का साथ देने वाला शायद ही कोई बचा। बी.एच.यू. के सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में एक हिन्दी अध्यापक थे, जो उखाड़-पछाड़ में बेहद माहिर थे और किसी भी प्रिंसीपल को टिकने न देते थे। प्री-यूनीवर्सिटी कोर्स बंद होने पर विश्वविद्यालय ने उनका तबादला हिन्दी विभाग में स्कूल मास्टर के ही रूप में कर दिया। विजयपाल जी ने सबके सामने उनसे कहा, ज्वॉइन कर लो, लेकिन बदमाशी की, तो संकटमोचन के मंदिर में भीख माँगते नज़र आओगे। वक़्त गवाह है कि ये शैतान-शिरोमणि विजयपाल जी के रहते भीगी बिल्ली बनकर रहे, हालाँकि बाद में इन्होंने खिसियाहट में शुकदेव सिंह के साथ मिलकर इन्कम टैक्स दफ़्तर में विजयपाल जी की कुछ शिकायत कर दी, जिसके कारण विजयपाल जी को इन्क्वॉयरी झेलनी पड़ी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुकदेव सिंह की पत्नी को विजयपाल जी ने ही बी.एच.यू. के सेंट्रल हिन्दी गर्ल्स स्कूल में स्थायी अध्यापिका बनाया था।

1980 में विजयपाल जी ने अपने अध्यक्षीय कक्ष में शुकदेव सिंह को खुले खजाने कह दिया था कि देखें तुम्हें रीडर कौन बनाता है और विजयपाल जी ने अपनी धमकी को सच कर दिखाया। शुकदेव सिंह रीडर हुए, लेकिन विजयपाल जी की सेवानिवृत्ति के बाद। शुकदेव जी ने भी इसके लिए कभी विजयपाल सिंह को क्षमा नहीं किया। विजयपाल सिंह के बारे में शुकदेव सिंह ने कई लतीफ़े गढ़े जिन पर विजयपाल जी ख़ुद भी हँसते थे।

दो किस्से प्रस्तुत हैं :

1. विजयपाल सिंह अपनी कंजूसी एवं पैसे बचाने की कला के कारण प्रसिद्ध थे। एक बार शुकदेव सिंह उनके घर पहुँचे और पैसे बचाने के गुर पूछे। विजयपाल सिंह तब ट्यूब लाइट बंदकर मोमबत्ती जलाकर कापियाँ जाँच रहे थे। विजयपाल जी ने फूँक मारकर मोमबत्ती बुझा दी और बोले—"अब बताओ, क्या पूछ रहे थे?" शुकदेव जी हाथ जोड़कर खड़े हो गये बोले, "मुझे कुछ नहीं जानना/पूछना, मैं पैसे बचाने की कला सीख गया।"

2. भारतीय रेल के तृतीय श्रेणी के सामान्य (अनारक्षित) डिब्बे में फ़र्श पर अख़बार बिछाकर लेटा हुआ, प्लेटफ़ॉर्म टिकट लेकर यात्रा कर रहा व्यक्ति यदि टी.टी. के द्वारा पकड़ लिया जाए, तो वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष विजयपाल सिंह होंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि विजयपाल सिंह बेहद ज़िद्‌दी थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पता नहीं रमेश कुंतल मेघ से उन्हें क्या खुन्नस थी। एक दिन मैंने देखा कि उनके अध्यक्षीय कक्ष में मेज़ पर सौंदर्य शास्त्र पर कुछ किताबें बिखरी हुई हैं और वे नोट्स ले रहे हैं, यह एक ऐतिहासिक घटना थी। विजयपाल जी के पास पढ़ने-लिखने के लिए वक़्त ही नहीं था। महीने में 20 दिन तो वे बाहर ही रहते थे और शेष 10 दिनों मे विभाग और विश्वविद्यालय के पचड़ों में पड़े रहते थे। मैंने पूछा कि "क्या आप सौंदर्यशास्त्र पर कोई किताब लिख रहे हैं? विजयपाल जी हँसते हुए बोले—"अरे नहीं, हैदराबाद विश्वविद्यालय (सेंट्रल यूनीवर्सिटी) में प्रोफ़ेसर का इंटरव्यू है, रमेश कुंतल मेघ वहाँ एप्लीकेंट है, उसे ध्वस्त करना है।" वापस आने पर जब मैंने उनसे परिणाम पूछा, तो उनका जवाब था—"कुलपति जी.बी. सिंह (जी0बी0 सिंह पहले बी.एच.यू. में रसायन विभाग के अध्यक्ष थे और विजयपाल जी के गहरे दोस्त थे) से मैंने कहा "Ramesh Kuntal Megh is utterly confused. His answers are vague and he is quoting all the wrong books. Chandra Bhan Rawat is the best able candidate, therefore, I am proposing his name for Professorship." यह विजयपाल जी का स्वर्ण काल था। अलीगढ़ में प्रेमस्वरूप गुप्त, कुमायूँ में राजकुमार गुप्त, हैदराबाद में चंद्रभान रावत, कालीकट में मलिक मोहम्मद, औरंगाबाद में राजमल बोरा, बिहार में श्यामनंदन किशोर, दिल्ली में ओमप्रकाश और पंजाब में धर्मपाल मैनी—यत्र-तत्र सर्वत्र उनके 'समर्थक' या 'पालक बालक' अध्यक्ष पद पर सुशोभित थे। रमेश कुंतल मेघ ने इसका बदला लिया 1991 में विजयपाल-पुत्र से सवालों के गोले दाग-दागकर, जब वे बी.एच.यू. के हिन्दी विभाग में एक्सपर्ट थे। पिता पर बस नहीं चला, तो बिलो दि बेल्ट वार किया।

विजयपाल जी धुन के बड़े पक्के थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसी डिग्री कॉलेज में उनका कोई क़रीबी रिश्तेदार प्रत्याशी था और कॉलेज वाले विजयपाल जी को एक्सपर्ट के नाम की हवा नहीं लगने दे रहे थे। विजयपाल जी इंटरव्यू वाले दिन कॉलेज के गेट पर सुबह 9 बजे से ही डट गये। थोड़ी देर उमाशंकर शुक्ल (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) वहाँ रिक्शे से उतरे। लीजिए काम हो गया। उमाशंकर शुक्ल ने खुले खजाने विजयपाल जी के रिश्तेदार को नियुक्त कर दिया।

विजयपाल जी की एक और विशेषता थी। उनके पेट में कोई बात पच नहीं सकती थी। जिससे भी मिलें, उससे यही कहते थे कि किसी से कहना मत और नतीजा यह कि कुछ ही पलों में गोपनीय बात अखिल ब्राह्मांड को मालूम हो जाती थी। ऊपर लिखा जा चुका है कि विजयपाल जी के पास पढ़ने-लिखने के लिए न तो वक़्त था और शायद दिलचस्पी भी न रह गयी थी। हिन्दी विभागों के अध्यक्षों की आपसी खींचतान में विजयपाल जी के विरोधी उनकी टाँग खींचने का कोई मौक़ा जाने न देते थे। 1977 में कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय में भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन में बड़ी अशोभनीय घटना घटी। अधिवेशन में किसी गोष्ठी का संचालन कल्याणमल लोढ़ा कर रहे थे। उन्हें विजयपाल जी के शाश्वत प्रतिद्वंद्वी भोलाशंकर व्यास ने भर दिया। यों भी लोढ़ा जी व्यास जी के घनिष्ठ मित्रों में थे। विषय संभवतः था—"साहित्य में अन्य अनुशासनों की भूमिका।" लोढ़ा जी मंच से बोले—"अब मैं भारत के प्रमुख केंद्रीय विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्यतम आचार्य विजयपाल सिंह से अनुरोध करूँगा कि वे इस विषय में अपने विचार व्यक्त करें। विजयपाल जी को इसकी न पूर्व सूचना थी, न वे वक्तव्य के लिए तैयार थे। लोढ़ा जी ने व्यास जी के बहकावे में आकर बड़ी ओछी हरकत की थी। अच्छा तो यह होता कि विजयपाल जी अपने स्थान पर खड़े होकर शालीनता से कह देते कि वे विषय की तैयारी न होने के कारण वक्तव्य देने में असमर्थ हैं, लेकिन विजयपाल जी मंच पर गये, कुछ इधर-उधर की बातें की और वापिस आ गये। ज़ाहिर है कि भद्द तो हो ही गयी। यहाँ यह कहना ज़रूरी है कि विजयपाल जी प्रथम श्रेणी के छात्र रहे थे, लेकिन बाद में लिखना-पढ़ना कब छूट गया, उन्हें शायद ख़ुद भी इसका भान न रहा, लेकिन यह हालत तो दीनदयालु गुप्त, हरवंशलाल शर्मा, प्रेमस्वरूप गुप्त और केसरीनारायण शुक्ल आदि पचीसियों अध्यक्षों की थी, अकेले विजयपाल सिंह को ही क्यों दोष दिया जाए? विषयांतर होते हुए भी यहाँ एक घटना का उल्लेख ज़रूरी है। दीनदयालु गुप्त सूरदास का पद पढ़ा रहे थे—'कोउ ब्रज वाचत नाहिंन पाती।' गुप्त जी ने छात्रों से पूछा—"ब्रज में लोग पाती (पत्र) क्यों नहीं पढ़ पा रहे थे?" एक शैतान लड़के ने खड़े होकर कहा—"'सर, इसलिए नहीं पढ़ पा रहे थे क्योंकि ख़त अंग्रेज़ी में था।" दीनदयालु गुप्त में सेंस ऑफ़ ह्यूमर तो नहीं ही था, सिधाई भी चरम कोटि की थी। बोले, "नहीं भाई, सूरदास के ज़माने में अंग्रेज़ी इस देश में नहीं थी। ख़त न पढ़ पाने का कोई और कारण रहा होगा।" हिन्दी में अध्यक्षों की पहली परंपरा वह है, जिसमें रामचंद्र शुक्ल, धीरेंद्र वर्मा, केशव प्रसाद मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेंद्र, नंददुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, निर्मला जैन, कुँवरपाल सिंह, रघुवंश, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, राममूर्ति त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र, केदारनाथ सिंह, इंद्रनाथ मदान, बच्चन सिंह, भगीरथ मिश्र, रामशंकर शुक्ल रसाल, आनंद प्रकाश दीक्षित, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भोलाशंकर व्यास, शिवप्रसाद सिंह, उदयनारायण तिवारी, नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, देवेंद्रनाथ शर्मा, कल्याणमल लोढ़ा, विष्णुकांत शास्त्री, विश्वंभरनाथ उपाध्याय और देवराज उपाध्याय आदि आते हैं, तो दूसरी परंपरा सूरदास पढ़ाने वाले उपर्युक्त अध्यक्षों की भी है।

विजयपाल जी के लिए दो व्यक्ति ऐसे थे, जिनकी बात उनके लिए आदेश थी। एक थे जगन्नाथ तिवारी, जो उनके गुरु थे और दूसरे थे नगेंद्र, जिन्होंने उन्हें श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरुपति में रीडर/प्रोफ़ेसर बनाया था। नगेंद्र की पीढ़ी वह पीढी थी, जो जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय से कहीं ऊपर सिर्फ़ संबंधजीवी थी। विजयपाल जी उस पीढ़ी की अंतिम कड़ी थे।

विजयपाल जी के अवसान पर मैंने मन ही मन भगवान से यह प्रार्थना की—"या अल्लाह, अगर हरिवंशराय बच्चन जैसी लंबी उम्र दे, तो अमिताभ बच्चन जैसी पहली संतति भी दे, नहीं तो तभी उठा ले, जब हाथ-पैर एवं दिमाग़ चलना बंद होने वाले हों।" यह दुआ यदि मैंने पहले की होती तो कुबूल हो जाती और विजयपाल सिंह को लग जाती, तो इतने वर्षों तक भयंकर उपेक्षा, दुर्दशा और अकेलेपन का दंश उन्हें न झेलना पड़ता। 29 दिसंबर, 2008 को जब विजयपाल जी ने अंतिम साँस ली, तो उनके होंठों पर बहादुरशाह ज़फ़र का यह शेर यकीनन रहा होगा:

"न किसी की आँख का नूर हूँ
न किसी के दिल का क़रार हूँ,
जो किसी के काम न आ सके
मैं वो एक मुश्ते-ग़ुबार हूँ।"

प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5 (उ.प्र.)

लघुकथा

लघुकथाएँ

ओम भारद्वाज

कभी हारने में भी जीत है

चूहों ने खेत में धमा-चौकड़ी मचा रखी थी। किसान ने छोटी-छोटी आटे की कुछ गोलियाँ उनके बिलों में डाल दीं। गोली खाकर एक चूहा बिल से बाहर आकर छटपटाने लगा। ज़हर उसकी आँतों तक चला गया था। दो बिल्लियाँ शिकार को देख उस चूहे पर झपट पड़ीं। चूहा अपनी मौत मर गया। अब बिल्लियों का द्वंद्व शुरु हुआ। आखिर जीतता ताकतवर है। बड़ी बिल्ली ने चूहों को दस सैकंड में चट कर लिया और सदा की नींद सो गई। कमज़ोर बिल्ली खुशी के मारे उछल पड़ी क्योंकि उसने हारकर भी जीवन की जंग जीत ली थी।

ऊपर से

हमारे गाँव का होनहार लड़का विक्रम फौज में कर्नल हो गया। पूरे गाँव को उस पर नाज़ है परंतु उसने अभी तक शादी नहीं की।

कई रिश्ते आने लगे। आज भी एक दम्पत्ति उनके घर पधारे। लड़की का पिता पेशे से चीफ़ इंजीनियर है। मेहमान की आदर-सत्कार हुआ। बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ता गया। लड़की कर्नल साहब को पसंद आ गई। सुरेखा सेंट बीड्ज़ कॉलेज शिमला में पढ़ी है।

सगाई की सारी रस्में आज ही कर दी गईं, क्योंकि कर्नल साहब के पास छुट्टियाँ कम हैं। दो दिन बाद उन्हें कश्मीर वापस लौटना है। फिर वह विवाह के दौरान ही लंबी छुट्टियाँ लेकर आएँगे। सुरेखा की माँ ने विक्रम से उसकी आय के बारे जानना चाहा, "क्यों बेटा। कितनी सैलरी मिल जाती है आपको।"

"बीस हज़ार के लगभग।"

"और ऊपर से?" उसने फिर पूछा

"....।" विक्रम मौन ही रहा। सुरेखा की माँ ने सोचा शायद सुनायी नहीं दिया।

"हाँ बेटा, ऊपर से क्या पड़ता है।"

"ऊपर से बम गिरते हैं माँ जी।"

सुरेखा की माँ सुनकर सन्न रह गई जैसे उसने रसगुल्ले को खाते हुए अपनी ही जीभ काट ली हो।

गांव-बलन, पोस्ट-जैस, तहसील-ठियोग, जिला-शिमला (हि0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़लें

कुमार विनोद

हिरण सोने के सबकी आँखों में हरदम मचलते हैं
ये हसरत के घने जंगल हैं जिनमें हम भटकते हैं

अजब-सी एक बेचैनी लिए हरदम निगाहों में
सड़क पर भीड़ में तनहा हज़ारों जिस्म चलते हैं

नज़र बाज़ार की ऐसी मेरे घर को लगी यारो
यहां ख़्वाहिश के क़तरे अब समंदर बन उछलते हैं

हुई हर आँख पत्थर की, न हँसती है न रोती है
नज़र के सामने यूँ तो कई मंज़र बदलते हैं

कहें क्या दोष किसका है फ़िज़ा में ही ख़राबी है
शहर में चींटियों के पर ज़रा जल्दी निकलते हैं

शहर सारा आस्था से तर-ब-तर
और ऐसे में सियासत का भी डर

वक़्त है ये सर झुकाने का, मगर
आप चाहें तो कटा सकते हैं सर

मर गया चुपचाप पानी आँख का
बाढ़ के पानी की सबको है ख़बर

मैं कहाँ जाकर लिखाऊँ ये रपट
गुम हुआ बाज़ार में मेरा भी घर

लाख कोशिश की मगर बेकार सब
हो कहाँ पाया मैं ख़ुद से बेख़बर

राग मज़हब का सुनाना आ गया
हुक्मराँ को गुल खिलाना आ गया

देखकर बाज़ार की क़ातिल अदा
ख़्वाहिशों को सर उठाना आ गया

सच को मिमियाता हुआ-सा देखकर
झूठ को आँखें दिखाना आ गया

ताश के पत्तों का है तो क्या हुआ
बेघरों को घर बनाना आ गया

कुछ भी कह देता मैं कल उस शोख़ से
बीच में रिश्ता पुराना आ गया

दूर खेतों में धुआँ था उठ रहा
और हम समझे ठिकाना आ गया

नज़र में उलझनें कितनीं, दहकती आग, पानी भी
कि अंधी दौड़ में शामिल है बचपन भी, जवानी भी

डराता है मुझे इक ख़्वाब अक्सर नींद में आकर
कि जंगल में हुई तब्दील आख़िर राजधानी भी

रियाया की तरफ़ देखा, ठठाकर हँस दिया राजा
चलो, अच्छा हुआ देकर गया कुछ तो निशानी भी

सुनो, यह आग तुमको राख में तब्दील कर देगी
लगानी जानते हो तो ज़रा सीखो बुझानी भी

कभी तनहाइयों में जब मैं ख़ुद से बात करता हूँ
वो लड़की याद आती है जो थी पगली, सयानी भी

रीडर, गणित विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-136119 (हरियाणा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़लें

ऋषिवंश

उदासियाँ

ऐसी घनी उदासियाँ बहते जिगर के छा
किस जुर्म की सज़ा में दिल दर्द के हवाले।

तन्हाई में बुलाकर रो-रो बताया उसने
मरने लगे हैं बच्चे अब रोटियों के लाले।

रहता था एक पागल वीरान बस्तियों में
कुछ तंज़ भूख वाले कुछ दर्द इश्क वाले।

निकला था गाँव से जब जादू भरे थे सपने
कुछ वक़्त ने बिगाड़े कुछ खुद ने तोड़ डाले।

दर-दर भटक-भटक कर इतना समझ में आया
जिनकी सफ़ेद टोपी दिल उनके और काले।

बेटा हुआ था पैदा शहनाइयाँ बजीं थीं
होकर जवान घर से माँ-बाप को निकाले।

सारी खुदाई में बस तुम एक ही थे अपने
बाकी सभी ने जी भर अरमान थे उछाले।

सहते-सहते

सहते-सहते ग़म ये यारी हो गई
सारी दुनिया ही हमारी हो गई।

हर गली में आदमी हैं सेठ के
सेठ की भारी उधारी हो गई।

मीठी बातों के ज़माने लद गये
जुबानें सारी दुधारी हो गई।

ऐन बचपन से शुरू हो आज तक
हर फजीहत बारी-बारी हो गई।

कहने-सुनने के नहीं अब मायने कुछ
बच्चों वाली वह कुँवारी हो गई।

जबसे दिल टूटा समझ पाये यही
ज़िंदगी की सहसवारी हो गई।

दुनियादारी का भँवर कैसा भयानक
उम्र भर की गिरफ़्तारी हो गई।

आदमी होना

आदमी होना हँसी मज़ाक नहीं
और कुछ इससे दर्दनाक नहीं।

रोज़ पीना है ख़ून के आँसू
है दिखाना कि ज़िगर चाक नहीं।

क्यों तुम्हें भेज दिया मेले में
वह इरादे का बड़ा पाक नहीं।

दर्द के इतने इंतज़ाम किये
खुशी का कोई इत्तेफ़ाक नहीं।

अब नहीं ज़िंदगी से हैं रिश्ते
पर अभी तक हुआ तलाक़ नहीं।

सच तो कहना था मगर नर्मी से
इस कदर होना था बेबाक़ नहीं।

कुछ तो इंसानियत बचा रखना
अभी तलक तो शर्मनाक नहीं।

अर्से से चाहता फ़ना होना
अभी तलक तो हुआ खाक नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुले पंजों वाली चील

बलराम अग्रवाल

दोनों आमने-सामने बैठे थे- काले शीशों का परदा आँखों पर डाले बूढ़ा और मुँह में सिगार दबाए, होठों के दायें खखोड़ से फुक-फुक धुँआ फेंकता फ्रेंचकट युवा। चेहरे पर अगर सफ़ेद दाढ़ी चस्पा कर दी जाती और चश्मे के एक शीशे को हरा पोत दिया जाता तो बूढ़ा 'आलीबाबा और चालीस चोर' का सरदार नज़र आता। और फ्रेंचकट? लम्बोतरे चेहरे और खिंची हुई भवों के कारण वह चंगेज़ी-मूल का लगता था।

आकर बैठे हुए दोनों को शायद ज़्यादा वक़्त नहीं गुज़रा था, क्योंकि मेज़ अभी तक बिल्कुल खाली थी।

बूढ़े ने बैठे-बिठाए एकाएक कोट की दायीं जेब में हाथ घुमाया। कुछ न मिलने पर फिर बायीं को टटोला। फिर एक गहरी साँस छोड़कर सीधा बैठ गया।

"क्या ढूँढ रहे थे?" फ्रेंचकट ने पूछा, "सिगार?"

"नहीं...."

"तब?"

"ऐसे ही..." बूढ़ा बोला, "बीमारी है थोड़ी-थोड़ी देर बाद जेबें टटोल लेने की। अच्छी तरह पता है कि कुछ नहीं मिलेगा, फिर भी...."

इसी बीच बेयरा आया और मेज़ पर मेन्यू और पानी-भरे दो गिलास टिका गया। अपनी ओर रखे गिलास को उठाकर मेज़ पर दायीं तरफ सरकाते हुए बूढ़े ने युवक से पूछा, "और सुनाओ.... किस वजह से....?"

"सिगार लेंगे?" बूढ़े के सवाल का जवाब न देकर अपनी ओर रखे पानी-भरे गिलास से हल्का-सा सिप लेकर युवक ने पूछा।

"नहीं," बूढ़ा मुस्कराया, "बिल्कुल पाक-साफ़ तो नहीं हूँ, लेकिन कुछ चीजें मैं तभी इस्तेमाल करता हूँ जब उन पर मुझे मेरे कब्ज़े का यकीन हो जाए।"

"ऍज़ यू लाइक।" युवक भी मुस्करा दिया।

"....मैं सिर्फ तीस मिनट ही यहाँ रुक सकता हूँ।" बूढ़ा बोला।

इस बीच ऑर्डर की उम्मीद में बेयरा दो बार उनके आसपास मँडरा गया। उन्होंने उसकी तरफ जैसे कोई तवज्जो ही नहीं दी, अपनी बातों में उलझे रहे।

"मैं तहे-दिल से शुक्र-गुज़ार हूँ आपका कि एक कॉल पर ही आपने चले आने की कृपा की....।" युवक ने बोलना शुरू किया।

"निबंध मत लिखो। काम की बात पर आओ।" बूढ़े ने टोका।

"बात दरअसल यह है कि आपसे एक निवेदन करना है....."

"वह तो तुम मोबाइल पर भी कर सकते थे।"

"नहीं। वह बात न तो आपसे मोबाइल पर की जा सकती थी और न आपके ऑफिस में।" युवक बोला, "यक़ीन मानिए..... मैं बाई-हॉर्ट आपका मुरीद हूँ....।"

"फिर निबंध?"

"क्या ले आऊँ सर?" ऑर्डर के लिए उन्हें पहल न करते देख बेयरा ने इस बार बेशर्मी से पूछा।

"अँ.... बताते हैं अभी.... दस मिनट बाद आना।" चुटकी बजाकर हाथ के इशारे से उसे टरक जाने को कहते हुए युवक बोला।

"फ़िलहाल दो-कॉफ़ी रख जाओ, फीकी.... शुगर क्यूब्स अलग से।" बेयरा की परेशानी को महसूस कर बूढ़े ने ऑर्डर किया।

बेयरा चला गया।

"कॉफ़ी... तो... जहाँ तक मेरा विचार है..... आप लेते नहीं हैं।"

"तुम तो ले ही लेते हो।"

"हाँ, लेकिन दो? ....आप अपने लिए भी कुछ....।"

"नहीं, मेरी इच्छा नहीं है इस समय कुछ भी लेने की।" बूढ़ा स्वर को रहस्यपूर्ण बनाते हुए बोला, "लेकिन... दो हट्टे-कट्टे मर्द सिंगल कॉफ़ी का ऑर्डर दें, अच्छा नहीं महसूस होता। इन बेचारों को तनख़्वाह तो खास मिलती नहीं है मालिक लोगों से। टिप के टप्पे पर जमे रहते हैं नौकरी में। यह जो ऑर्डर मैंने किया है, ज़ाहिर है कि बिल-भुगतान के समय कुछ टिप मिल जाने का फ़ायदा भी इसको मिल ही जाएगा। ....लेकिन उसकी मदद करने का पुण्य कमाने की नीयत से नहीं दिया है ऑर्डर। वह सेकेण्डरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायमरीली तो अपने फ़ायदे के लिए किया है।...."

"अपने फ़ायदे के लिए?" युवक ने बीच में टोका।

"बेशक... कॉफ़ी रख जाएगा तो कुछ समय के लिए हमारे आसपास मँडराना बंद हो जाएगा इसका। उतनी देर में, मैं समझता हूँ कि तुम्हारा निबंध भी पूरा हो जाएगा। अब.... काम की बात पर आ जाओ।"

फ्रेंचकट मूलतः राजनीतिक मानसिकता का आदमी था और बूढ़ा अच्छी-खासी साहित्यिक हैसियत का। युवक ने राजनीतिज्ञ तो अनेक देखे थे लेकिन साहित्यिक कम। बूढ़े ने राजनीतिज्ञ भी अनेक झेल रखे थे और साहित्यिक भी। कुछ कर गुज़रने का जज़्बा लिए युवक राजनीति के साथ-साथ साहित्य के अखाड़े में भी ज़ोर आज़मा रहा था। उसके राजनीतिक संबंध अगर कमजोर रहे होते और वह अगर लेशमात्र भी नज़र-अंदाज़ होने की हैसियत वाला आदमी होता तो अपना ऑफ़िस छोड़कर बूढ़ा उसके टेलीफ़ोनिक-आमंत्रण पर एकदम-से चला आने वाला आदमी नहीं था।

"काम की बात यह है कि...आपसे निवेदन करना था..."

"एक ही बात को बार-बार दोहराकर समय नष्ट न करो..." सरदार वाले मूड में बूढ़ा झुँझलाया।

"आप कल हिंदी-भवन में होने वाले कार्यक्रम में शामिल न होइए, प्लीज।"

"क्यों?" यह पूछते हुए उनकी दायीं आँख चश्मे के फ्रेम पर आ बैठी। काले शीशे के एकदम ऊपर टिकी सफ़ेद आँख। गोलाई में आधा छिलका उतारकर रखी गई ऐसी लीची-सी जिसके गूदे के भीतर से उसकी गुठली हल्की-हल्की झाँक रही हो। उसे देखकर फ्रेंचकट थोड़ा चौंक ज़रूर गया, लेकिन डरा या सहमा बिल्कुल भी नहीं।

"आ....ऽ....प नहीं होंगे तो ज़ाहिर है कि अध्यक्षता की बागडोर मुझे ही सौंपी जाएगी। इसीलिए, बस...." वह किंचित संकोच के साथ बोला।

"बस! इतनी-सी बात कहने के लिए तुमने मुझे इतनी दूर हैरान किया?" यह कहते हुए बूढ़े की दूसरी आँख भी काले चश्मे के फ्रेम पर आ चढ़ी। पहले जैसी ही- गोलाई में आधी छीलकर रखी दूसरी लीची-सी।

बेयरा इस दौरान कॉफ़ी-भरा थर्मस और कप-प्लेट्स वग़ैरा रखी ट्रे को मेज पर टिका गया था। युवक ने थर्मस उठाकर एक कप में कॉफ़ी को पलटने का उद्यम करना चाहा।

"नहीं, थर्मस को ऐसे ही रखा रहने दो अभी।" बूढ़े ने धीमे लेकिन आक्रामक आवाज़ में कहा। वह आवाज़ फ्रेंचकट को ऐसी लगी जैसे कोई खुले पंजों वाली कोई भूखी चील अपने नाखूनों से उसके नंगे जिस्म को नोंचती-सी निकल गई हो। आशंकित-सी आँखों से उसने बूढ़े की ओर देखा- वह भूखी चील लौटकर कहीं वापस तो उसी ओर नहीं आ रही है? और उसकी आशंका निर्मूल न रही, चील लौटकर आई।

"कार्यक्रम का अध्यक्ष तो मैं अपने होते हुए भी बनवा दूँगा तुम्हें।..." उसी आक्रामक अन्दाज़ में बूढ़ा बोला, "मैं खुद प्रोपोज़ कर दूँगा।"

"आपकी मुझ पर कृपा है, मैं जानता हूँ।" चील से अपने जिस्म को बचाने का प्रयास करते हुए युवक तनिक विश्वास-भरे स्वर में बोला, "महत्वूपर्ण मेरा अध्यक्ष-पद सँभालना नहीं, उस पद से आपको दो-चार गालियाँ सर्व करना होगा।... और वैसा मैं आपकी अनुपस्थिति में ही कर पाऊँगा, उपस्थिति में नहीं।"

उसकी इस बात को सुनकर बूढ़े ने फ्रेम पर आ टिकी दोनों लीचियों को बड़ी सावधानी से उनकी सही जगह पर पहुँचा दिया। चील के घोंसले से मांस चुराने की हिमाक़त कर रहा है मादरचोद! -उसने भीतर ही भीतर सोचा। बिना प्रयास के ही प्रसन्नता की एक लहर-सी उसकी शिराओं में दौड़ गई जिसे उसने बाहर नहीं झलकने दिया। बाहरी हाल यह था कि अपनी जगह पर सेट कर दी गई लीचियाँ एकाएक एक-साथ उछलीं और फ्रेम से उछलकर सफ़ेदी पकड़ चुकी भवों पर जा बैठीं।

"मेरी मौजूदगी में, मुझसे ही अपनी इस वाहियात महत्वाकांक्षा को जाहिर करने की हिम्मत तो तुममें है, लेकिन गालियाँ देने की नहीं।... कमाल है।" बूढ़ा लगभग डाँट पिलाते हुए उससे बोला।

युवक पर लेकिन लीचियों की इस बार की ज़ोरदार उछाल का कोई असर न पड़ा। वह जस का तस बैठा रहा। बोला, "बात को समझने की कोशिश कीजिए प्लीज़! ....पुराना ज़माना गया। यह नए मैनेजमेंट का ज़माना है, पॉलिश्ड पॉलीटिकल मैनेजमेंट का। अकॉर्डिंग टु दैट- आजकल दुश्मन वह नहीं जो आपको सरे-बाजार गाली देता फिरे; बल्कि वह है जो वैसा करने से कतराता है..."

"अच्छा मज़ाक है....।" बूढ़ा हँसा।

"मज़ाक नहीं, हक़ीक़त है।" युवक आगे बोला, "मैं बचपन से ही आपके आर्टिकल्स पढ़ता और सराहता आ रहा हूँ। मानस-पुत्र हूँ आपका...।"

"फिर फालतू की बातें...."

"देखिए, लोगों के चरित्र में इस सदी में गज़ब की गिरावट आई है। दुनियाभर के साइक्लॉजिस्ट्स ने इस गिरावट को अण्डरलाइन किया है। आप एक मज़बूत साहित्यिक हैसियत के आदमी हैं। चौबीसों घंटे आपके चारों तरफ मँडराने, आपकी जय-जयकार करते रहने वाले आपके प्रशंसकों में कितने लोग मुँह में राम वाले हैं और कितने बगल में छुरी वाले- आप नहीं जान सकते। इस योजना के तहत उक्त अध्यक्ष-पद से मैं आपको ऐसी-ऐसी बढ़िया और इतनी ज़्यादा गालियाँ दूँगा.... लोगों के अन्तर्मन में दबी आपके खिलाफ़ वाली भावनाओं को इतना भड़का दूँगा कि खिलाफ़त की मंशा वाले सारे चूहे बिलों से बाहर आ जाएँगे.... मेरे साथ आ मिलेंगे..."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यानी कि एक पंथ दो काज।" चश्मा बोला, "साँप भी मर जाएगा और..."

"साँप? ...मैं आपके बारे में ऐसा नहीं सोच सकता।" युवक ने कहा।

"नहीं सोच सकते तो गालियाँ दिमाग़ के किस कोने से क्रिएट करोगे?"

"यह सोचना आपका काम नहीं है।"

"अच्छा। यानी कि मुझे यह कहने या जानने का हक़ भी नहीं है कि मुझे गालियाँ देने की अनुमति मुझसे माँगने वाला शख्स वैसा करने में सक्षम नहीं है।"

"कुछ बातें मौक़े पर सीधे सिद्ध करके दिखायी जाती हैं, बकी नहीं जाती।"

"यानी कि खेल में बहुत आगे बढ़ चुके हो।"

"आपके प्रति अपने मन में जमी श्रद्धा की खातिर।"

"तुम्हारे मन में जमी श्रद्धा के सारे मतलब मैं समझ रहा हूँ।" चश्मे ने कहा, "बेटा, मुझे गालियाँ बककर दिल की भड़ास भी निकाल लोगे और मेरी नज़रों में भले भी बने रहोगे, क्यों?"

उसके इस आकलन पर चंगेजी-मूल के दिखनेवाले उस युवक को लाल-पीले अंदाज़ में उछल पड़ना चाहिए था, या फिर वैसा नाटक तो कम-से-कम करना ही चाहिए था; लेकिन उसने ये दोनों ही नहीं किये। अविचल बैठा रहा।

बूढ़े ने एकाएक दोनों हथेलियों को अपने सीने पर ऊपर-नीचे सरकाकर ऊपर ही ऊपर जेबें टटोल डालीं। टटोलते-टटोलते ही वह खड़ा हो गया और ऊपर ही ऊपर पैंट की जेबों पर भी हथेलियाँ सरकाईं। फिर दायीं जेब से पर्स बाहर निकालते हुए बुदबुदाया, "शुक्र है, यह जेब में चला आया... मेज़ की दराज में ही छूट नहीं गया।"

"अरे... पर्स क्यों निकाल लिया आपने?" युवक दबी ज़ुबान में लगभग चीखते हुए बोला।

"अब... यह चला आया जेब में तो निकाल लिया।" पर्स को अपने सामने मेज पर रखकर वापस कुर्सी पर बैठते हुए बूढ़ा बोला।

"अब आप इसे वापस जेब के ही हवाले कर दीजिए प्लीज़।" युवक आदेशात्मक शाही अंदाज़ में फुसफुसाया।

"एक बात कान खोलकर सुन लो..." बूढ़ा कड़े अंदाज में बोला, "कितने भी बड़े तीसमार खाँ सही तुम... तुम्हारी किसी भी बात को मानने के लिए मजबूर नहीं हूँ मैं।"

"दिस इज़ अ रिक्वेस्ट, नॉट एन ऑर्डर, सर।" युवक ने हाथ जोड़कर कहा।

"तुम्हारी हर रिक्वेस्ट को मान लेने के लिए भी मैं मजबूर नहीं हूँ।" बूढ़ा पूर्व-अंदाज में बुदबुदाया और युवक कुछ समझता, उससे पहले ही उसने सौ रुपये का एक नोट पर्स से निकालकर कॉफी के बर्तन रखी ट्रे में डाल दिया।

"यह... यह क्या कर रहे हैं आप?" उसके इस कृत्य से चौंककर युवक बोल उठा।

"अब सिर्फ पाँच मिनट बचे हैं तुम्हारे पास।" उसकी बात पर ध्यान दिये बिना वह निर्णायक स्वर में बोला।

"यह ओवर-रेस्पेक्ट का मामला बन गया स्साला.... और ओवर-कॉन्फिडेंस का भी।" साफ तौर पर उसे सुनाते हुए बेहद खीझ-भरे स्वर में युवक बुदबुदाया, "बेहतर यह होता कि आपको विश्वास में लेकर काम की शुरूआत करने की बजाय, पहले मैं काम को अंजाम देता और आपके सामने पेश होकर बाद में अपनी सफाई पेश करता। इस समय पता नहीं आप समझ क्यों नहीं पा रहे हैं मेरी योजना को?"

"कैसे समझूँ? मैं राजनीतिक-मैनेजमेंट पढ़ा हुआ नयी उम्र का लड़का तो हूँ नहीं, बूढ़ा हूँ अस्सी बरस का। फिर, पॉलिटिकल आदमी नहीं हूँ... लिटरेरी हूँ।" दूर खड़े बेयरे को ट्रे उठा ले जाने का इशारा करते हुए चश्मे ने कहा। बेयरा शायद आगामी ऑर्डर की उम्मीद में इनकी मेज पर नज़र रखे था। इशारा पाते ही चला आया और ट्रे को उठाकर ले गया।

"न समझ पाने जैसी तो कोई बात ही इस प्रस्ताव में नहीं है।" युवक बोला, "मूर्ख से मूर्ख..."

"शट-अप....शट-अप। गालियाँ देने की इजाज़त मैंने अभी दी नहीं है तुम्हें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ओफ् शिट्।" दोनों हथेलियों में अपने सिर को पकड़कर फ्रेंचकट झुँझलाया, "यह मैं गाली दे रहा हूँ आपको?"

"तुम क्या समझते हो कि मेरी समझ में तुम्हारी यह टुच्ची भाषा बिल्कुल भी नहीं आ रही है?"

"इस समय तो आप मेरे एक-एक शब्द का ग़लत मतलब पकड़ रहे हैं।" वह दुखी अंदाज में बोला, "इस स्टेज पर मैं अगर अपनी योजना को ड्रॉप भी कर लूँ तो आपकी नज़रों में तो गिर ही गया न... विश्वास तो आपका खो ही बैठा मैं।"

इसी दौरान बेयरे ने ट्रे में बिल, बाक़ी बचे पैसे और सौंफ़-मिश्री आदि लाकर उनकी मेज़ पर रख दिए।

"ये सब अपनी जेब में रखो बेटे और ट्रे को यहीं छोड़ दो।" बकाया में से पचास रूपए वाला नोट उठाकर अपनी जेब के हवाले करके शेष रकम की ओर इशारा करते हुए बूढ़े ने बेयरे से कहा। एकबारगी तो वह बूढ़े की शक्ल को देखने लगा, लेकिन आज्ञा-पालन में उसने देरी नहीं की।

उसके चले जाने के बाद बूढ़े ने फ्रेंचकट से कहा, "बिल्कुल ठीक कहा। मेरी नज़रों में गिरने और मेरा विश्वास खो देने के जिस मक़सद को लेकर यह मीटिंग तुमने रखी थी, उसमें तुम कामयाब रहे। मतलब यह कि गालियाँ तो अब सरे-बाज़ार तुम मुझे दोगे ही। ....अब तुम मेरी इस बात को सुनो- यह रिस्क मैं लूँगा। हिंदी-भवन वाले कार्यक्रम में मैं नहीं जाऊँगा। अध्यक्ष बन जाने का जुगाड़ तुम कर ही चुके हो और मुझे गालियाँ बककर मेरे कमज़ोर विरोधियों का नेता बन बैठने का भी; ...लेकिन मैं परमिट करता हूँ कि उस कार्यक्रम के अलावा भी, तुम जब चाहो, जहाँ चाहो... और जब तक चाहो मेरे खिलाफ़ अपनी भड़ास निकालते रह सकते हो।... तुम्हारे खिलाफ़ किसी भी तरह का कोई बयान मेरी ओर से जारी नहीं होगा। हाँ, दूसरों की ज़िम्मेदारी मैं नहीं ले सकता।"

"भड़ास नहीं सर, यह हमारी रणनीति का हिस्सा है।" पटा लेने की आश्वस्ति से भरपूर फ्रेंचकट प्रसन्न मुद्रा में बोला। "हमारी नहीं, सिर्फ तुम्हारी रणनीति का।" चर्चा में बने रहने का एक सफल इंतजाम हो जाने की आश्वस्ति के साथ बूढ़ा कुर्सी से उठते हुए बोला, "बहरहाल, तुम अपने मक़सद में क़ामयाब रहे.... क्योंकि मैं जानता हूँ कि ऐसा न करने के लिए मेरे रोने-गिड़गिड़ाने पर भी तुम अब पीछे हटने वाले नहीं हो।"

युवक ने इस स्तर पर कुछ भी बोलना उचित न समझा। बूढ़ा चलने लगा तो औपचारिकतावश वह उठकर खड़ा तो हुआ, लेकिन बाहर तक उसके साथ नहीं गया। बूढ़े को उससे ऐसी अपेक्षा थी भी नहीं, शायद। समझदार लोग मुड़-मुड़कर नहीं देखा करते, सो उसने भी नहीं देखा।

'खुद ही फँसने चले आते हैं स्साले।' -रेस्तराँ से बाहर कदम रखते हुए उसने मन ही मन सोचा- 'और पैंतरेबाज़ मुझे बताते हैं।'

बाहर निकलकर वह ऑटो में बैठा और चला गया।

उसके जाते ही फ्रेंचकट जीत का जश्न मनाने की मुद्रा में धम्-से कुर्सी पर बैठा और निकट बुलाने के संकेत-स्वरूप उसने बेयरा की ओर चुटकी बजाई। उसकी आँखों में चमक उभर आयी थी और चेहरे पर मुस्कान।

एम-70, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

पुरस्कार हेतु पुस्तकें आमंत्रित

महोदय, कवियित्री स्व. डॉ. सीता श्रीवास्तव जी (1924-2009) की स्मृति में उनके परिवार द्वारा कविता के लिए 51,000 रुपये राशि का पुरस्कार आरम्भ करने का निर्णय लिया गया है।

प्रथम **'सीता स्मृति पुरस्कार'** हेतु वर्ष 2008 (1 जनवरी-31 दिसम्बर) में प्रकाशित पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ, लेखक/लेखिका के दो रंगीन चित्रों सहित भेजें। पुस्तकें भेजने की अन्तिम तिथि 15 दिसम्बर, 2009 है। लिफाफे पर **'सीता स्मृति पुरस्कार हेतु'** अवश्य लिखें।

पुरस्कृत पुस्तक का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जाएगा।

यह पुरस्कार डॉ. सीता श्रीवास्तवजी की जन्मतिथि 7 फरवरी को हर वर्ष प्रदान किया जाएगा।

पुस्तकें निम्नलिखित पते पर भेजें–

वंदना राय/ रश्मि मल्होत्रा, ए-75, शिवालिक, गीतांजलि रोड, नई दिल्ली-110017

दूरभाष : 011-26680494

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवी के बाल

सारा जोसफ

नहाने के बाद ललिता बाल बिखेरकर झाड़ती आँगन में खड़ी थी।

"बाल बाँध", सनातनन ने आज्ञा दी।

अनजाने ही ललिता के हाथ उठ गये, पर बाँधने के बजाय बाल हाथों में इकट्ठा कर एक-एक क़दम रखते हुए सनातनन की ओर बढ़ी और आँखों में ग़ौर से देखने लगी।

"बाल बाँध", सनातनन फिर चीख़ उठा।

ललिता के मुँह से हँसी फूटकर आँखों में बिखरने लगी। सनातनन का चेहरा पीला पड़ गया।

ललिता के हाथ ढीले हो गये और उसके केश चमकती काली लहरों-से पीठ पर लहलहा उठे।

सनातनन सोने के कमरे के वातायन से अबाधनिसृत केश-जाल को देख रहा था। उसे लगा, बालों से सघन तम उतर रहा है, जिससे उसकी आँखें बंद हो रही हैं, पर ललिता के नयन चमक उठते हैं।

जब वह बच्ची थी, पिता जी भी चीख़ते थे-"बाल बाँध... कहा न बाल बाँध।"

चीख़ से परेशान हो माँ तेल और कंघी लिए उसे पुकारती। देहरी पर पैर पसारकर बैठ जाती। फिर ज़बरन ललिता के बालों को झपट लेती और झाड़-झाड़कर गले के पीछे गूँथ देती।

गूँथने पर भी काले मोटे साँप की तरह बाल उसकी पीठ पर रेंगते और नितंब पर फन उठाकर मारते।

तेल से तर रेंगते साँप जैसे बाल से पिता जी को घोर वितृष्णा थी। इसलिए माँ, नानी व मौसी शिवलिंग की तरह जूड़ा बाँधकर घर के अंदर चलती थीं। माँ रात को ललिता के बालों को भी कस-बाँधकर बनाती थी।

इस सब के बावजूद पिताजी के खाने में बाल रेंगता मिल गया। पिता जी ने कौर फेंककर बाल हाथ में लिया और चीखे-चिल्लाये। उनका चेहरा पीला पड़ गया था। फिर नानी, मौसी-सभी ने बाल सँवारने के बाद हाथ लगे गुच्छों को केले के पौधों के नीचे गाड़ दिया। फिर भी, राह चलते पैरों की मोटी उँगली में बाल के उलझने से पिताजी गिरने लगे थे। डुबकियाँ लगाते वक़्त ललिता बालों के एक-एक रेशे को पानी पर बिखेर देती। पानी पर रेंगती उन नागावलियों को देख उसके रौंगटे खड़े हो जाते। गले तक पानी में डूब वह देर तक खड़ी रहती और पानी से निकलने के पहले ही भैया चीखने लगता—"अरे अपने बाल बाँध।"

ज़बरन दबाने पर भी ललिता के बाल ताड़ के जंगल की भाँति लहलहा उठते थे। सिलवटों और मोड़ों से लैस बाल नागों की तरह उसकी देह पर रेंगते रहते। रात को माँ के सोने के बाद जूड़े को खोलकर वह जुल्फ़ों को गाल और चेहरे पर बिखेर देती। सुबह उसके चेहरे, छाती, गले, बिस्तर व ज़मीन पर छितरे केश-जाल को निहारते हुए माँ चकित खड़ी रहती कि क्यों बेटी के बाल यों ढीले और शिथिल पड़े हैं?

एक दिन ललिता अपनी सहेली के घर दौड़ चली, यह सुनकर कि वह अपने खुरदरे सघन बालों को कैंची से काट-काट कर फेंक रही है। ललिता ने देखा कि वह काँपती हुई, उछल-कूद कर बालों को काट रही है। कटे बाल खुलकर पैरों में उलझे पड़े थे। फिर वही बाल धुएँ की तरह खिड़की से होकर, आँगन, पगडंडी व खेत को पारकर गिरिजाघर के आँगन तक उड़ गये।

"यह क्या है?" ललिता हाँफ रही थी।

"मुझे मठ भेज रहे हैं, सिस्टर बनने।"

सहेली ने दीवार पर टँगी ईश्वर की तस्वीर की तरफ कैंची फेंक दी। काँच टूट-टूटकर कटे बालों के अंबार पर बिंध गये। बाल का काला रक्त है। उससे ललिता के पैर भीग गये।

मुंडित सिर का बोझ ललिता ढो नहीं सकी थी। छितरे बालों के साथ वह बाहर निकली, फिर सहेली के आँगन में हाथ उठाकर कसम खायी—"मैं अपने बालों को कटने नहीं दूँगी। मैं बाल खोलकर ही चलूँगी।"

लेकिन जब पिता जी की आँखें अंगारे के समान उड़कर चोंच मारतीं, तो वह अनजाने ही जूड़ा बाँध लेती। फिर गुस्सा निकालने के वास्ते एक घुँघराला रोंयाँ उनके पान के डिब्बे में डाल देती।

गुँथे बाल की लट ललिता के नितंब चूम रही है। भाई को लगा कि यह कितना अश्लील है, उसने तुरंत आदेश दिया—"आँचल से बाल छिपाकर कॉलेज जाना। यही अच्छा है। मुझे भी राह चलनी है।"

ललिता के होंठों पर मुस्कान फूटी। उसे होंठों में दबाये और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँखों में बिखेरते हुए ललिता फुर्ती से झूमती चलती। कॉलेज के फ़ाटक पहुँचते ही आँचल का बंधन खोलकर इक्के नाग को स्वतंत्र कर देती, फिर पैर की घंटिका की आवाज़ को छितराते देहरी से अकेली चलने लगती।

कुटज के तले बाल बिखेरकर विस्फारित आँखों व चमकती हँसी के साथ ललिता अपना अविष्कार कर रही थी। फन उठाते नागों के समान उसके घुँघराले बालों का रेशा-रेशा कुटज के फूलों से लैस डालों को वलयित कर रहा था। बारिश के समान फूल बरस रहे थे। पूरा परिसर ख़ुशबूदार था। कुटज के तले लोग इकट्ठे हुए थे। भीड़ से गोविंदन ने उसे इस तरह पुकारा कि कोई सुन व देख न ले—"देवी।"

अनेक बार उसने अंजलीबद्ध होकर उसकी वंदना की, पर ललिता अनजान रही।

बाल गूँथकर आँचल में छिपाये और पैरों पर आँखें गड़ाये जो लड़कियाँ उधर से निकल रही थीं, उन्हें गोविंदन की पुकार निनाद-सी लगी। उसके अंजलीबद्ध हाथ बिजली लगे। कुटज की ओर देखते उन्हें डर लग रहा था; लेकिन दूर खड़े, ईर्ष्या व आराधना से लैस आँखों से ललिता की आरती उतारने लगीं।

ललिता फूटती मुस्कान को होंठों में दबाये आँखों में बिखराते तथा घंटिका के ताल को छितराते हुए देहरी, कॉरिडोर व सीढियों से झूमती चलती थी। वह सिर्फ़ लाल रेशमी वस्त्र और लाल पत्थर के आभूषण पहन लेती थी। अँगारे के समान चमकती सिंदूर की बिंदी भी लगाती। लाल रंग से परेशान हो पिता जी और भैया ने आदेश दिया, "ललिता तुम्हारी पढ़ाई बंद। आगे कॉलेज नहीं जाना।"

जब सनातनन के साथ ललिता की शादी हुई, तो उसकी यही इच्छा थी कि उस निरीह के सामने अपने को पूर्णतः आविष्कार कर दे। होंठों की मुस्कान को आँखों में बिखराये बिना बालों को छितराकर उसके सामने नाचने की तीव्र इच्छा हो रही थी, लेकिन सुहागरात को सिर से जुही के हार निकालने के पहले ही सनातनन ने उसे बिस्तर की ओर धकेलकर बुरी तरह भोगा।

अपनी छाती, चेहरे, चारपाई, ज़मीन व दीवार पर रेंगती नाग रूपी लटें। निकालने की कोशिश करें, तो भी निकलती नहीं है। गड़बड़ाकर सनातनन ने दीप जलाया, फिर हाँफते हुए चीखने लगा- "बाल बाँध।"

ललिता के नथुने लाल होने लगे। कान व हाथ के लाल पत्थर के आभूषण सुनहरे किनारे की लाल रेशमी साड़ी, लंबी आँखों के कोरों के आँसू—सब चमकने लगे। तेल से फूले बालों की लटें चेहरे पर रेंग रही थीं। ललाट से सिंदूर निसृत होकर नाक से झर रहा था। वह पूर्णतः चमक रही थी। सनातनन ने डर के मारे एक क़दम पीछे रखा।

अगले दिन मंदिर में प्रार्थना के दौरान ललिता पुकारने वाली थी... भगवती... कि सहसा रुक गयी... देवी की लाल नथुनी है, लाल रेशमी साड़ी, लाल पत्थर के आभूषण, जलता सिंदूर, बिखरे बालों की उछलती-कूदती लहरें, बहती आती कमल की ख़ुशबू...

फिर भी योनि के रूप में ही अवतार हुआ है!

घृणा से वह घूर रही थी कि मंदिर के अंदर अधखिले कमल जैसी भग रूपी देवी को पाकर चौंक गयी। उनके चारों तरफ़ एक मुंडित सिर से निसृत बाल रूपी बादल रेंग रहे हैं। बाल-बादल पर चढ़कर ललिता के पिता, भैया और पति सनातनन तेल मलते हुए कसरत कर रहे हैं।

ललिता की आँखें लाल-लाल हो गयीं। वह बालों को खींचते व लाल वस्त्र को चीरते हुए मंदिर से निकली। तेल से लैस उसके गाल जलते क्रोध से तमतमा रहे था।

सनातनन ओझाओं को बुलाकर लाया।

ललिता सरोवरों का सपना देखती है। लबालब भरे सरोवर में गले तक डूबकर वह बाल बिखरा रही है। चीख़ते सागर किनारे वह बाल छितराकर झूमती चल रही है। पर्वत शिखरों पर बाल-नागों के साथ रेंगते हुए वह अपना आविष्कार कर रही है।

ओझों और सनातनन से ललिता ने इन सपनों की व्याख्या करने की विनती की। कसरत से उभर आये मांसल कंधे और बाहों को दिखाते हुए सनातनन ने सपनों की व्याख्या की। साथ ही, जादूगरों को नमक एवं चावल खिलाया। ओझा ने जादू मारकर ललिता के बालों को आकृष्ट कर किंपाक की डालों में बाँध दिया।

दुपहर को सनातनन और ओझा के सोते रहते ललिता चुपके से बाहर खिसक जाती। देवी टीले के शिखर तक जाती। झुलसती धूप में बाल खोलकर खड़ी रहती, फिर धीरे-धीरे बालों को घुमाकर बिखरा देती। ललाट का सिंदूर घोलकर नाक की नोंक पर आने तक, कपोल की हल्दी भीगकर छाती पर फैलने तक वह घंटिका का ताल बिखराते हुए नाचती रहती। फिर थककर लड़खड़ाते क़दमों से टीले से उतर जाती। अनेक बार वह भगवती के सामने आ खड़ी रहती। गर्भ-गृह के हल्के प्रकाश में अधखिले कमल जैसी भग रूपी देवी की पूजा हो रही है। वह विस्फारित आँखों से देखती रहती.. ..

ओझा ने आज्ञा दी—"ललिता के बाल काटने ही होंगे"

ललिता नहाने के बाद बाल झाड़ते हुए आँगन में खड़ी थी। बेडरूम की खिड़की से खिसककर गिरते बालों को सनातनन देख रहा था कि एकाएक उसका चेहरा पीला पड़ गया। ओझा चीखने लगा—"बाल बाँध... कहा न बाल बाँध।"

ललिता को हँसी आयी। वह सिर धुनकर हँसने लगी। फिर हँसी को आँखों में बिखरते हुए चोरी छिपे सनातनन को निहारने लगी। उसने बायें हाथ से मुट्ठी भर बाल उठाकर धूप की ओर बढ़ाये। तेल से तर बाल धूप खाकर नागों के समान फड़कने लगे।

सनातनन पागल-सा खिड़की की सलाखों पर मुट्ठी से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मारता रहा। ओझों ने हाँफते हुए एक दूसरे को गले लगाया। ललिता तो तेल से तर उनींदे, चमकते व फिसलते घुँघराले बालों को धूप की तरफ़ छितराकर मदिरा की तरह उसकी गंध को पीते, कालिमा पर इठलाते व घंटिका को झनकाते झूमती रही।

सनातनन को अपनी आँखों पर भरोसा ही नहीं हो रहा था कि आँगन की तरफ़ बालों की लहरें उमड़-उमड़ कर आते हुए फन उठाकर आलोड़ित होने लगीं। नाग-फनों के बीच कुटज के फूल-सा ललिता का चेहरा घूमने लगा। धूप, हवा और शिराओं में कंपन के साथ बाल की गंध गमकने लगी।

पसीने से तरबतर हो खिड़की की सलाखों को कसकर पकड़ते हुए सनातनन घूरकर खड़ा था कि नागफनी से घिरे कुंटज के फूल के समान ललिता देवी मंदिर की ओर बेतहाशा दौड़ पड़ी।

वह उस बड़ी योनि के सामने खड़ी रही, जो खिलने के लिए बेताब कमल कली के समान थी और जिससे पद्म-गंध निसृत हो रहा था। चमकती लाल साड़ी की गिरफ़्त में सनातनन और ओझा चकित खड़े थे। बाल को झुलाते-झुलाते ललिता ने उस अधखिली कमल-कलिका का आह्वान किया।

त्रिशूल को उठाकर, घंटिका को तोड़कर, स्तनों को झपटकर फेंकते हुए और आरक्त से बाल झुलाते हुए ललिता मंदिर से भाग निकली।

मंदिर के अंदर महादेवी के प्रस्तर स्तनों से दूध फूटकर बूँद-बूँद गिरने लगा।

अनु०: एम0 षण्मुखन

'आधारशिला' पत्रिका के रजत जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित

आधारशिला अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता-2009

प्रथम पुरस्कार	:	5000/- रुपये
द्वितीय पुरस्कार	:	3000/- रुपये
तृतीय पुरस्कार	:	2000/- रुपये
पाँच सांत्वना पुरस्कार	:	1000/- रुपये (प्रत्येक)

1. कहानी काग़ज के एक तरफ स्पष्ट लिखित अथवा टंकित हो।
2. कहानी की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें, वापस भेजने की व्यवस्था नहीं रहेगी।
3. कहानी मौलिक, अप्रकाशित एवं अप्रसारित होनी चाहिए। इसका प्रमाण पत्र साथ भेजें।
4. निर्णायकों का निर्णय अंतिम और सर्वमान्य होगा।
5. पुरस्कृत कहानियाँ 'आधारशिला' के विशेषांक में प्रकाशित की जायेंगी।

रचना भेजने की अंतिम तिथि 25 अक्टूबर, 2009

संपादक-आधारशिला
बड़ी मुखानी, हल्द्वानी, नैनीताल (उत्तराखंड) पिन-263139

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

सुहैल अख़्तर

प्रेम @ साईबर वर्ल्ड

टाइम स्लॉट है एक घंटे का
और रेट रु0 25 प्रति घंटा
यह क़ीमत है
शरीर की क़ैद से बाहर
कुछ पल आज़ाद रहने की
सपनों का खोया पंख ढूँढ़ने की
लुप्त हो चुकी
आशा की किरण तलाशने की
कठोर भौतिक अस्तित्त्व से
क्षण भर मुक्ति पाने की।

स्वयं को 'प्लग इन' कर
'स्विच ऑन' करने के बाद
शरीर में प्रवाहित 'न्योरॉन'
'इलैक्ट्रानिक सिगनल' सरीखे
संचालित हो उठते हैं
भौतिक अस्तित्त्व
बदल जाता है एक 'वर्चुअल' वजूद में।

साईबर के प्रवेश-द्वार पर
उतार फेंकता हूँ
अपना नाम-व-पहचान का मुखौटा
और आई0डी0 धारण कर
टाइप करता हूँ उँगलियों से
पासवर्ड
दाख़िल होता हूँ अंदर।

सामने स्क्रीन पर है
वर्चुअल अस्तित्त्वों की सूची
अधिकांश ऑफ़-लाइन (अनुपस्थित)
कुछेक मात्र एस0एम0एस0 पर ही उपलब्ध
कुछेक उपस्थित, किंतु व्यस्त
और कुछ हैं अनजान से
उन्हें पहचानने के लिए
मैं अपने रोबोटिक मस्तिष्क पर
ज़ोर डालता हूँ
परंतु न्यौरॉनिक प्रवाह
मेरे ध्यान पर केंद्रित नहीं हो पाता।

सहसा स्क्रीन पर
खुलती है एक खिड़की–
"हैलो! कैसे हो?"
वह आवाज़ मुस्कुरा रही है–
"मुझे भूल गये क्या?
"हम म्यूज़िक रूम में मिले थे"

भावना की
एक तीव्र लहर सी उठती है
और हृदय का मोटर चल पड़ता है
घर्र-घर्र-धक्-धक्
मेरी काँपती उँगलियाँ टाइप करती हैं–
"वाह! तुम्हें मैं भूल जाऊँ?"

सपाट टेक्स्ट लाइनें
जीवित हो उठती हैं
वे आकार लेने लगती हैं
फूलों और हृदय का
सपनीली वर्चुअल दुनिया में
खिल उठते हैं बहुत सारे रंग
हरे-भरे पेड़ों पर
बस गयी हैं चहचहाटें
गुनगुना रही हैं हवाएँ
हमारे न्योरॉनिक तरंगों के
समावेश से बज उठते हैं जलतरंग से
और धड़कनों की विस्तीर्णता
नृत्य करने लगती है

"कितना मिस किया तुम्हें
कहाँ थीं इतने दिन?"
आवाज़ खिलखिला उठती है।
"पागल"
फिर स्मृतियों के द्वार खुल जाते हैं
मेरे इलेक्ट्रॉनिक स्पर्श से
वह आवाज़
रेशम सी मुलायम हो जाती है
और न्योरॉनिक प्रवाह
संतुलित होने लगता है
इससे पहले
कि साईबर स्पेस
कुछ और तरंगायित हो
टाइम स्लॉट समाप्त।

यह तब हुआ था
जब स्क्रीन की खिड़की के
दोनों ओर टाइम और स्पेस का
समन्वय मुमकिन हुआ था।
साईबर की इस पल-पल बदलती दुनिया में
फिर से उसी समन्वय की संभावना
उतनी ही कम है
जितनी मेरे फ़्लैट की खिड़की से झाँकते
इस छोटे से आकाश में
किसी अज्ञात धूमकेतु के
दोबारा देखे जाने की उम्मीद
या किसी उड़न-तश्तरी के
नज़र आने की आशा।

लेकिन, मैं
अपने टाइम-स्लॉट पर
नियमित रूप से प्लग-इन हो
भेजता रहता हूँ संदेश
अँधेरी शून्यता की क़तार की ओर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता

तीन कविताएँ

केशव शरण

देख रहे थे

जिन्हें
हारते हुए देख रहे थे
उन्हें
जीतते हुए देख रहे हैं

जिन्हें
जीतते हुए देख रहे थे
उन्हें
हारते हुए देख रहे थे

गये भी नहीं
मतदान मशीन तक
और देख रहे थे

देख रहे हैं

अब देख रहे हैं
एक नया प्रसंग :
जंग के बाद
गले मिलते
हाथ मिलाते
और सहमति की ओर कदम बढ़ाते
समुस्कान उनको

आख़िर, मैदान
किसी एक ने नहीं मारा है।

देखेंगे

कल देखेंगे
शेष समाज का रह गया सपना

कल देखेंगे
उन्होंने विकास किया
भ्रष्टाचार का कलंक मिटा दिया
अपना

एस. 2/564 सिकरौल, वाराणसी-221002

प्रिंस (देश?) गड्ढे में

यह बात सारे चैनलों ने
एक साथ चिल्ला कर कही
और देश की करोड़ों निगाहें
अपने-अपने टी0वी0 स्क्रीन पर
चिपककर रह गयीं
अगले पचास घंटे तक
गृहिणियों ने उस दिन
न चूल्हा-चौका किया
न ही घर का कोई काम-काज
वे बस गड्ढे से
प्रिंस के निकल जाने का
इंतज़ार करती रहीं।
बच्चे स्कूल नहीं गये
वे सारा दिन प्रिंस को गड्ढे में
चाकलेट और अन्य चीज़ें
खाते देखते रहे।
दफ़्तरों, चाय की दूकानों,
कैफ़े, बाज़ारों में
बस एक ही चर्चा,
सब चिंतित थे
"क्या प्रिंस को बचा लिया जाएगा?"

मैं सब्ज़ी लेने गया
तो सब्जीवाले ने पूछा
"बाबू जी! क्या प्रिंस बच जाएगा?"
पानवाले से पान बनाने को कहा
तो उसने अपना वक्तव्य दिया—
"वह नहीं बच पाएगा"
और उसे बचाने
पूरी भ्रष्ट सरकारी मशीनरी
हरकत में आ गयी
जो भीषण से भीषण समस्याओं
और संगीन से संगीन दुर्घटनाओं पर भी
टस से मस न होती थी।

हर न्यूज़-चैनल
इस 'भयानक' दुर्घटना का
'लाइव-कवरेज़' दिखा रहा था
कि फ़िलहाल देश भर में
इससे अधिक महत्त्वपूर्ण समाचार कोई नहीं
था
न बाढ़ की चपेट में आये गुजरात के
सैकड़ों लोग,
न महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में
आत्महत्या कर रहे किसान,
न ओड़िशा में भुखमरी से मर रहे
गाँव-के-गाँव
न मुंबई और कश्मीर में
बम विस्फोटों से हताहत हुए लोग,
न आसमान को छूती महँगाई
न देश में तेज़ी से बढ़ रहा
भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी और अपराध
देश भर में प्रिंस के लिए
प्रार्थनाएँ हो रही थीं
मन्नतें माँगी जा रही थीं
कुछेक सट्टेबाज़ों ने तो
इस पर दाँव भी लगाया था
कुछेक पाँच-सितारा होटल के 'बार' में
बियर या व्हिस्की की चुस्कियाँ लेते हुए
'बार' के ब्यालीस इंच के 'प्लाज़्मा-स्क्रीन' पर
इसका 'लाइव टेलीकास्ट' देख रहे थे।

अब आगे क्या हुआ, इसे छोड़िए
यह क़तई ग़ैरज़रूरी है
अरे-आप तो नाराज़ हो गये जनाब!
दरअसल, आप असली बात तो समझे ही नहीं
हमारे आक़ा केवल यह दिखाना चाह रहे थे
कि कितनी मज़बूत है उनकी पकड़
हमारे मस्तिष्कों और शरीरों पर
यहाँ तक कि हमारी चेतनाओं पर भी।

जे0एम0 (डी0) आई0डी0सी0ओ0
आई0डी0सी0ओ0 टॉवर्स
जनपथ, भुवनेश्वर-751022

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

कैलाश पचोरी

सुख

कभी-कभी खुद ही कूकने लगता है वन
किसी रहस्य की तरह
विभिन्न स्तरों पर खुलने लगते हैं सुख के अर्थ
मसलन गुलाम अली, अब्दुल हलीम जाफ़र खाँ, रेणुका समदरिया
अन्नादास, ज्ञानेन्द्र पति, महेन्द्र सिंह धोनी
आहिस्ता आहिस्ता खोल रहे होते हैं सुख की पर्त
अपने अपने तरीके से
चार पुराने मित्र अलग शहरों में बैठे
कॉफ़ी की चुस्कियों के साथ
नेट पर कर रहे हैं चैटिंग
सन सनाती हुई हवा से शेक हैंड करते हुए सुबह सुबह
लॉग ड्राइव पर निकल जाना हो सकता है सुख का हेतु
झमा झम गिर रही हो बारिश
गगन की डाल पर खिल रहे हों बूँदों के फूल
स्मृतियों के बाँस बनों में कौंध रहा हो अतीत
ग़ज़ल सरा हो रही हो महफिल
मौसम के साथ ही छलक रहे हो जाम
उभार पर हो भूख
नूर-उस-सबाह के डायनिंग हाल में सजे हों गरमा गरम मैंगी नूडल्स
उत्सव मेले में चोखी ढाणी पर मक्के की रोटी और सरसों का साग
लसिका ग्रंथियों में भरता है नई उत्तेजना
शब्दों की बाँक मैं नहीं धँसता
शिशिरांत की गुनगुनी धूप में
बेटे के सर पर चम्पी कर रही
माँ की उँगलियों का स्पर्श
पावस प्रखंड की ताम्रवर्णी शाम में
गहरे-घने-काले-स्याह बादल
उतर कर आँखों में चुपचाप
दिपदिपाता है अनुभूतियों का अद्वितीय कौशल
वो देखो वह मस्त कलंदर चला जा रहा है तन्हा फुटपाथ पर
चहलकदमी करते हुए सत्ता के गलियारे में
उसने स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया
सत्ताधीश के चरण चुंबन करते हुए
दुख का कारण प्रतीत हुआ ऐश्वर्य में नहाया हुआ राजमहल
जबकि अरण्य आरोहण के मध्य सुलभ हुई संवेगर्ध
साधन संपन्न होकर भी वह कुवेर के समकक्ष न पहुँच सका
जबकि साधन विहीनता में उसने इंद्रत्व से साक्षात्कार किया
इस तरह प्रत्येक कोण से अलग-अलग दिखाई देता है सुख
नित नई मीमांसाएँ रची जा रही हैं सुख की
फिर उस अनिर्वचनीय आनंद को परिभाषित कर पाना कहाँ होता है आसान
किसी अदृश्य पहाड़ी से रिस रहा होता है जो बूँद-बूँद
जब तुम खड़े हो जाते हो सामने; अनायास
एक अच्छी कविता लिख लेने का सुख
किसी किले को फतह कर लेने से कम नहीं होता

मैं राम टेक जाना चाहता था

आकाश के व्यक्तित्व को बैंजनी आभा में
अपूर्व लावण्य ऋतुओं की देह यष्टि को
रचते हुए अद्‌भुत दीप्ति पृथ्वी की आँखों में
घुमड़ते रहे मेघ
काफी देर तलक
फिर हुई धारा सार बारिश
भीगता रहा अग-जग
अतीन्द्रिय
इन्द्रिय गम्य
गोदिया जाना हुआ अकस्मात
वहाँ एसोसियेशन लॉज के सुईट क्रमांक 101 में
कंडीश्नर थोड़ा स्लो करते हुए बैठा जैसे ही सोफे पर
सामने बाथरूम से सटी खिड़की में
एक घटा नमूदार हुई सहसा
स्याह और सफेद के समानुपातिक सम्मिश्रण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठतम अनुकृति
उत्तराषाढ़ की पीठिका पर
विद्युत वेग से कौंध गया अतीत
जैसे भीगे हुए केशों को सुखाने
तुम्हारा आना हुआ हो टैरिस पर
लटों से गिरते मोती बूँद-बूँद
दूरदर्शन पर पं0 जसराज के आलाप में
खिलने लगा है भीम पलास
आरोह के सुदृढ़ स्तंभों पर तन गया है स्वरों का भव्य वितान
अँखुवाने लगी हैं देह के तहखाने में दबी सुप्त संवेदनाएँ
अनुभव को डायरी में लिखा मैंने
जैसे जैसे हम बढ़ते जाते हैं दक्षिण की ओर
उत्तरोत्तर निखरता जाता है मेघों का सौंदर्य
अनिर्वचनीय आनंद की निष्पत्ति करता हुआ
अविष्कृत करता हुआ नये नये आयाम
जहाँ तुम्हारी अनुपस्थिति वृक्ष से फल की भाँति टपकती है
चित्त की अनंत गहराइयों में
अब समझ में आया कुवेर से शापित यक्ष ने
अपनी प्रिया को संदेश भेजने के वास्ते
मेघों को यहाँ पाया होगा कृपा वंत और करुणा वत्सल
मैं सचमुच राम टेक जाना चाहता था
लेकिन पत्नी कहने लगी
'व्याई जी साहब क्या सोचेंगे ?
आप यहाँ अपनी बिटिया को देखने आये हैं
या घूमने-फिरने
पत्नी के तर्क का पेट भरने के लिये
अफसोस मैं कोई उचित खाद्य नहीं जुटा पाया

पं0 जसराज से भीमपलास सुनते हुए

जाने कहाँ से गिरी एक बूँद
हथेली पर
आकाश तो रहा आया निरावृत्त
फिर यह उद्‌गम; यह रसानुभूति
गोमुख से निसृत गंगाजल सी चमचमाती आवाज़
अपने लिये कोई जगह बनाती हुई
प्रारंभ में इतर; पं0 जसराज की आवाज़ में खिलने लगा है
भीमपलास
किशन गढ़ शैली के किसी चित्र में
अंत:पुर के सर्वोच्च तल पर खड़ी हुई कोई महिषी
निहार रही होती है घटाओं के अरण्य में
कोई प्रतिच्छवि
द्युत के पहाड़ पर चढ़ने से पूर्व
रेत के इस बेनाम से टीले को थोड़ा खिसकाया जाय
अभी अभी यहाँ से फूटेगा मीठे पानी का कोई सोता
जहाँ स्नान के लिये तुम्हारी प्यास रही आई उद्‌यत
यह उठान; यह स्वायत्त सी आश्वास्ति; यह पुलक
नदी का रचाव कहीं भीतर
पुष्प विहार में निमग्न दृष्टि का उच्छवास
उत्तरार्ध के निकट पहुँच कर लगा
सच की रोशनी में ही टटोली जा सकती है
कन्दराओं की गहनता
स्मृति की कठार पर उगी वनस्पति से किया जा सकता है
संवाद
सुरों को माध्यम बनाकर
द्रोणिका बनने के बावजूद आँखों में रक्खे जा सकते हैं रंग
यमुना के पुलिन पर महारास से पूर्व
फागुन की धार मैं भीगता
वृन्दावन
नंदगाँव
बरसाना
समूचा वृज
विदा दृश्य को मार्मिक बनाते हुए
रसातिरेक के ऐसे ही किन्हीं क्षणों में कहा होगा उसने
अगले वर्ष मिलेंगे पुनः माघ के मेले में; त्रिवेणी के तट पर

द्वारा-श्रीमती सुशीला पचौरी, शारदा सदन,
पो0मु0 वैरसिया, जिला-भोपाल (म0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परंपरागत पंचायतें और प्रेम-विवाह

डा0 धर्मचंद विद्यालंकार

आज युग परिवर्तन हो रहा है, इसलिए पुराने समय में अच्छे लगने वाले कितने रीति-रिवाज और नियम-कानून भी अब काल बाह्य हो चुके हैं। भले ही उनको हमारे धर्मशास्त्रों और परंपरा का भी सबल समर्थन क्यों न हासिल हो। कहीं पर कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि समय के साथ ही साथ गुज़रे ज़माने की कितनी ही बातें स्वयमेव अप्रासंगिक हो जाती हैं। जबकि कितनी ही सही न लगने वाली चीजें प्रासंगिक हो उठती हैं। उदाहरण के लिए किसी जमाने में जिस घर की बहू-बेटियाँ घर की चौखट से बाहर नहीं निकलती थीं-या पर्दों में बंद रहती थीं, वहीं तथाकथित रूप से कुलीन अथवा भद्र कुल माने जाते थे। लेकिन आजकल जिन परिवारों की बहू-बेटियाँ भी उच्च शिक्षा प्राप्त करके ऊँची नौकरियों में लगी हुई हैं, वही स्तरीय या उच्च वर्ग के लोग माने जाने लगे हैं।

ये परंपरागत अथवा कुल क्रमागत रूढ़ियाँ किस प्रकार से पावों की बेड़ियाँ बन जाती हैं; इसका उदाहरण मैं अपने गाँव का ही देना चाहता हूँ। मेरे गाँव में एक साहूकारी का धंधा करने वाला बोहरा (पालीवाल) परिवार था। संयुक्त पंजाब में जमींदारलीगी सरकार द्वारा ऋण-विमुक्ति का विधान पारित होने के पश्चात जमींदारी और साहूकारी समाप्त हो गयी थी। इसलिए उन साहूकारों की आमदनी तो उतनी रह नहीं गयी थी फिर भी वे बड़प्पन में अपनी स्त्रियों से काम नहीं लेते थे।

सेवक या नौकर-चाकर रखने की सामर्थ्य उनकी अब रह नहीं गई थी। अतएव वे उनका काम अपने बाल-बच्चों से ही कराते थे। हम लोग किसान पुत्र होकर भी स्कूल जा रहे होते थे। लेकिन उसी समय बोहरों के लड़के अपने कंधों पर कुओं से पानी ढोकर लाते थे। फिर वही खेती-व्यापारी और ढोर-डंगरों का काम भी देखते थे। इसी फिराग में उन तथाकथित ऊँचे परिवारों के बच्चे और बच्चियाँ अनपढ़ रह गये थे। जबकि हम लोग उनसे निम्न और निर्धन होकर भी पढ़-लिख गये थे। इस प्रकार से वे पर्दे ही बेड़ियाँ बन गई थीं। इसी प्रकार से जिन परिवारों में लड़कियों को 'पराया-धन' मानकर उनको पढ़ाया लिखाया नहीं जाता है; या फिर उनका बचपन में ही विवाह रचा दिया जाता है; उनकी भी शिक्षा दीक्षा और मानसिक विकास नहीं हो पाता है।

ऐसी ही एक रूढ़ि आजकल पश्चिमोत्तरी भारत के ग्रामसमाज में सगोत्र विवाहों को लेकर है। आधुनिक सभ्यता और वातावरण खुला है। फिर संचार के साधनों दूरदर्शन और फिल्मों तथा समाचार-पत्रों और दूरभाषों ने उनको और भी उन्मुक्त बना दिया है। वैसी स्थिति में हम हजारों वर्ष पुराने बने कृषि-संस्कृति के कठोर नियम-विधानों से बँधकर भला कैसे रह सकते हैं। इसीलिए आजकल गाँव-गोत्र के लड़के-लड़कियाँ प्रेम की पींगें बढ़ाकर विवाह बंधन में बँध रहे हैं। लेकिन ग्राम-समाज की परंपरागत पंचायती व्यवस्था उनको इतनी स्वतंत्रता देने को उद्यत नहीं है। अतएव प्रेमी जोड़ों को मृत्यु-दंड तक दिये जा रहे हैं।

पंजाब से लेकर हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की इस 'जाट-भूमि' में पंचायतों का यह अधिनायकवादी रवैया क्यों जारी हैं जबकि राजस्थानी जाटों से लेकर अन्य प्रदेशों के सवर्ण हिन्दू तक गाँव में ही अपने लड़के-लड़कियों के विवाह रचा रहे हैं। पाकिस्तानी पठानों, बलूचों, खानों और जट्टों में भी इसी प्रकार के कबीलाई कानून (जिरके) जारी हैं। वहाँ पर भी सम्मान के लिए स्त्रियों की निर्मम हत्याएँ होती हैं। वह कबीलाई व्यवस्था मध्यकालीन अंध युग के ही जराजीर्ण अवशेष हैं। इनको ढोने वाला कोई भी जाति या समाज प्रगतिशील और सभ्य कैसे कहा जा सकता है।

फिर, जब सारा जमाना बदल रहा है, सारी व्यवस्था और निजाम बदल रहे हैं; ऐसे में पुरातन नियम-विधानों को आप कब तक भूतवाही बनकर ढोते रहेंगे। एक ओर हम लोग अपने नौनिहालों को नव शिक्षा-दीक्षा और अभिनव आधुनिक सुख-सुविधाओं से संपन्न कर रहे हैं। दूसरी ओर हम सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से उन्हें कूप मंडूक ही बनाये रखना चाहते हैं। भला यह मीठा-मीठा गड़प और कड़वा-कड़वा थू वाली बात कितने दिन चल सकती है। इसलिए हमें यदि स्वयं को सभ्य और आधुनिक कहलवाना है तो इन गली-सड़ी पुरानी परंपराओं की बंधन-श्रृंखलाओं का उच्छेद करना ही होगा।

पिछले दस-पाँच वर्षों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश से लेकर पंजाब और हरियाणा में ही सैकड़ों प्रेमी जोड़ों को प्रेम-विवाह करने के अक्षम्य अपराध में ग्राम-समाज की परंपरागत पंचायतें मृत्यु-दंड सुना चुकी हैं जोकि सर्वथा निन्दनीय कृत्य है। जहाँ तक उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा ग्राम समाज के पारस्परिक विवादों का शांतिपूर्ण सुलह-समझौता कराया जाता है, वह प्रशंसनीय है क्योंकि दोनों विवादित पक्ष कोर्ट-कचहरी और तहसील-थानों की लूट-खसोट से बचते हैं। इसी प्रकार से परंपरागत पंचायतों द्वारा दहेज और मद्यपान पर जो प्रतिबंध कई ग्राम-गोत्रों में लगाये गये हैं; वे उनके अच्छी क़दम ही कहे जायेंगे।

दूसरी ओर प्रेम और विवाह जैसे नितांत व्यक्तिगत विषयों में पंचायतों (परंपरागत) का अनुचित हस्तक्षेप सर्वथा असह्य है। मथुरा जिले के महाराना से लेकर मुजफ़्फरनगर के एकवारा (गूर्जर), हरियाणा के कैथल और झज्जर तथा भिवानी के बहादुरगढ़ तक के गाँवों में परंपरागत पंचायतों का यह तानाशाहीपूर्ण दृष्टिकोण देखा गया है। कहीं पर विवाहित जोड़ों को राखी बाँधकर पुनः भाई-बहन बनाया जा रहा है, तो कहीं पर उन्हें गाँव से निर्वासन का दंड दिया जा रहा है और उनको उनकी परंपरागत कृषि-भूमि और घर-घेर से बलात् बेदखल किया जा रहा है। कैथल के मनोज और बबली को तो मृत्यु की ही गोद में सुला दिया गया था।

इस हत्याकांड का समर्थन कराने के लिए ही विगत वर्ष दिसंबर माह में एक पंचायत कुरुक्षेत्र जाट धर्मशाला में आहूत की गयी थी जिसमें सारे की पंचों और चौधरियों के अथवा पालों के प्रतिनिधियों ने प्रेम-विवाहों का विरोध और विवाहित युगल के 'मृत्यु-दंड' का समर्थन ही किया था। वहाँ पर संयोग से साहित्यकार और इतिहासकार के नाते यह लेखक भी आहूत था। मैंने मंचासीन होकर इस जघन्य हत्याकांड का समर्थन करने से इंकार कर दिया था लेकिन मैं वहाँ पर स्वयं को अकेला और असहाय भी तो पा रहा था।

नये पढ़े-लिखे लोग, जिनमें कई वकील, अध्यापक और जज (सेवानिवृत) तथा कमिश्नर रैंक के अधिकारी भी खड़े होकर इस असंवैधानिक प्रस्ताव का प्रतिरोध नहीं कर पाये थे। एक अभिनेत्री जैसी लगने वाली सुशिक्षित महिला तो मंच से सगोत्र विवाह रचाने वाले प्रेमी जोड़ों को गोलियों से भून देने की ही सिंह गर्जना कर रही थी जबकि छुटभैये नव नायक और अपढ़ पंच प्रवर उसकी मनोहर मूर्ति और उसकी वीरता युक्त मधुर वाणी पर तालियों का तुमुलनाद ही कर रहे थे। कई डॉक्टर और उच्चाधिकारी भी ऐसे असंवैधानिक और अमानवीय प्रस्तावों का विरोध क्यों नहीं कर पा रहे थे, मैं यही देखकर दुखी और हैरान था जबकि गोत्र (गोष्ठ) गाँव, स्थान का ही वाचक है। फिर उनमें परस्पर विवाह-संबंध इतना अपावन कैसे है।

जाट जैसी मध्य किसान जातियों के लोग आजकल आर्यसमाज संशोधनवादी और मूलतत्त्ववादी धार्मिक आंदोलन के कारण स्वयं को सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत करने के लिए आर्य ही कहलवाने और मानने लगे हैं। वे वैदिक और पौराणिक ब्राह्मणीय पोथों का सहारा लेकर सगोत्र विवाहों को वर्जित मानने लगे हैं लेकिन गंभीरतापूर्वक कभी वैदिक या पौराणिक और बौद्ध तथा जैन साहित्य का अध्ययन वे नहीं करते हैं। ऋग्वेद का 'यम-यमी' संवाद प्रेम-विवाह और सगोत्र संबंधों का ही उदाहरण है। तो पौराणिक ब्रह्मा और सरस्वती संवाद भी ऐसा ही है। इसी प्रकार से रामायण में राम का सगोत्र विवाह वर्णित है, तो महाभारत में कृष्ण और अर्जुन का संबंध भी एक साथ ममेरे-फुफेरे भाईयों और जीजा-साले का भी है ? बौद्ध और जैन धर्म-ग्रंथों के आधार पर भी बुद्ध और महाबीर स्वामी ने अपनी ममेरी बहनों से ही विवाह रचाया था। जब महापुरुष वैसा कर सकते हैं तो जनसामान्य क्यों नहीं ?

सभ्यता के शैशवकाल में प्रत्येक कबीला सगोत्र विवाह ही करता था। स्त्रियों की न्यूनता के चलते ही वह दूसरे कबीले से वधुओं का अपहरण करता था। आज भी विवाह-समारोह बहुत कुछ वैसा ही सामंती बल और वैभव का प्रदर्शन है। बाद में दोनों कबीलों की पारस्परिक सहमति से स्वैच्छिक और दहेज मैरिजों का प्रचलन हुआ। आज भी ब्राह्मण जो कि हिन्दू समाज में शीर्ष स्थानस्थ हैं-सगोत्र विवाह रचाते हैं। यथा गौड, गौड में, तो गौतम-गौतम में और सारस्वत ब्राह्मण, सारस्वत ब्राह्मणों में ही विवाह-संबंध करते हैं। जाटों के डागर और तंवर जैसे कई गोत्र ऐसे हैं जोकि आपस में शादी-ब्याह रचाते हैं। तदपि गाँव-गोत्र के प्रेम-विवाहों को प्रतिबंधित या दंडित करके हम कौन-सी कबीलाई मनोवृत्ति का पुरातन परिचय दे रहे हैं।

सनातन धर्म कॉलेज, पलवल-121102

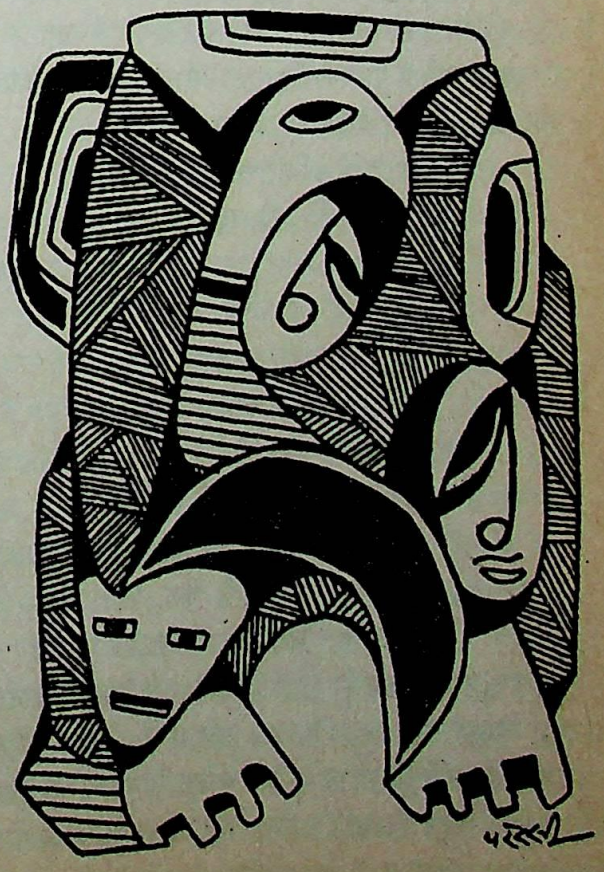

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनचेतना की वाहक काव्य-यात्रा

प्रेम शशांक

विगत छः दशकों से ज़्यादा कविता-कर्म में सक्रिय वरिष्ठ प्रगतिशील कवि मलखान सिंह सिसौदिया निःसंदेह किसी पहचान के मोहताज नहीं हैं। इनके निजी जीवन के संदर्भ में जीवन-यापन संबंधी पेशेगत दुश्वारियों और शारीरिक व्यक्तियों ने जहाँ उनके रचनाकर्म को बाधित किया वहीं से वह अपनी रचनात्मकता के लिए साहस भी इकट्ठा करते हैं।

इसीलिए मैं आज मौत का पंजा भी मरोड़ दूँगा।
इस्पाती मुक्के से बीमारी की कमर तोड़ दूँगा।
(1943)

इसी तरह 'गरजा है अब हिन्दुस्तान' (1943) से यह बात मुकम्मिल होती है कि देश की आज़ादी के लिए अंग्रेज़ों से हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर लोहा लिया जब वह लिखते हैं-'गरजा है अब हिन्दुस्तान, मचले हैं हिन्दू-मुसलमान'। उनके रचनाकर्म से इतिहास दृष्टि पुष्ट होती है। यह चीज जहाँ तत्कालीन समय-समाज के कवि की साफगोई को सामने लानी है तो इसी गीत में यह भी लक्ष्य किया जा सकता है कि उनकी भविष्य हविश भी एकदम साफ शफ्फाक है—'साम्राज्यवाद का कुतुबनुमा। अब दिशा नहीं बतलाता है। जन स्वतंत्रता की ओर नाव। जन बल-अंधड़ ले जाता है। इसी तरह 'मुक्का ताने है परिवर्तन' (1945) में यह सत्य अपनी प्रखरता से और चटक रंग में देखा जा सकता है।

लौटा है, फिर सन् सत्तावन
मुक्ति-क्रांति को बढ़े देशजन।

एक देह हो देश उठा है,
एक प्राण हो क्रुद्ध जुटा है,
गिरीं, धर्म-मजहब दीवारें,
आज़ादी की उठी पुकारें,
तने हुए हैं सबके सीने,
विफल गोलियाँ और संगीनें,
चूर घमण्ड फिरंगी दल का
लंदन तक मच रहा तहलका।

'हम संग्रथितजन हैं' (1963) कविता में वैचारिक पुष्टता का अद्‌भुत निखार नज़र आता है। इस कविता में कवि स्वयं ही अपने रचनाकर्म के प्रति आश्वस्त नहीं है बल्कि मानवीय एकजुटता के प्रति उसका अटूट विश्वास इस कविता को काल की कसौटी पर जिस साहस से रखता है, वह अद्‌भुत है।

हम वह निरीह हरी घासें नहीं हैं,
जिन्हें पूँजी-प्रभुओं के पाँव रौंदे चले जायें,
बेनाथ-पगहा आवारा पशुओं, खुरों से खूँदें,
मुँह मारें, चर जायें, हम तो एक संगठित जन हैं।

यह काव्य सत्य की विलक्षणता ही है कि तत्कालीन समय-समाज के परिप्रेक्ष्य में लिखी गई कविता वर्तमान संदर्भों में भी जन-समाज के साथ उसी अटूट आस्था के साथ खड़ी नज़र आती है। इस कविता के साथ यदि रचनाकाल का उल्लेख न किया जाये तो इस कविता का काल निर्धारण एक समस्या हो जाये। इस कविता के माध्यम से वह सत्य भी कालखंड से बाँधकर नहीं रखा जा सकता। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में अमेरिका ग्लोबल-विकास और शांति की आड़ में वैश्विक पूंजी को जिस कुचक्र के तहत तीसरी दुनिया के विरुद्ध युद्ध और आतंक का खेल दिखाते हुए इस्तेमाल कर रहा है। यह कविता भूमण्डल के उस हिस्से की ओर से तीव्र विरोध व्यक्त करती देखी जा सकती है।

दो प्रबंध काव्य और पाँच कविता संग्रहों के कवि मलखान सिंह सिसौदिया के समीक्ष्य संग्रह में उनकी प्रतिनिधि कविताएँ संग्रहित हैं। कवि ने इसमें लगभग अस्सी कविताएँ शामिल की हैं। इन कविताओं के पाठ से कवि के काव्य स्वाभाव, संस्कार और वैचारिक निष्ठा का बोध सहज ही हो जाता है। प्रारंभिक कविताओं और अंत में शामिल कविताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संग्रह को किसी क्रम में तैयार नहीं किया गया है। इसमें संग्रहित कविताओं के संदर्भ में कहा जा सकता है। कि कवि अपने समय और समाज के प्रति एकदम सजग है। चाहें घटनायें हों या चरित्र अथवा सामाजिक जड़ता या विद्रूपता कवि रचनात्मक स्तर पर हर कहीं सक्रिय रहता है। उसकी पक्षधरता भी बहुत साफ है। मार्क्सवाद में उसकी आस्था उसे समाज के सबसे कमज़ोर और वंचित के दुख-दर्द से जोड़ती है। कवि समाज की समरसता के प्रति भी जागरुक है। जो चीज़ें समाज को तोड़ती हैं, जिनसे समाज के बिखरने का गम रहता है उन्हें न केवल पहचानना है बल्कि रचनात्मक स्तर पर संघर्षरत देखा जा सकता है। जैसे-

मेरी जाति। विचारों की जाति है, मित्र
देह की नहीं,
मेरा वंश सिद्धांतों का वंश है,
मैं उन्हीं से जाना जाता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी पहचान के लिए
तुम्हें मेरा वंशवृक्ष देखना होगा,
सुकरात से निराला तक
गोर्की, लूशुन से प्रेमचंद तक
पाब्लो नेरूदा से मुक्तिबोध तक (तारीख की कोख से)

कहाँ तक कोई किया जाये, पूरे रचनात्मक जीवन का प्रश्न है। संघर्ष का रास्ता ही कवि का रास्ता है और ये क्रम पूरे रचनाकर्म में परिलक्षित होता है। कवि के दर्द में जन सामान्य का दर्द उभर कर आता है तो कविताएँ जीवंत हो उठती हैं।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लिमि0, सेमीखेड़ा, बरेली (उ0प्र0)

प्रतिनिधि कविताएँ, मलखान सिंह सिसौदिया, अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, संस्करण 2009, मूल्य : 200 रुपये

■

जीवन की रणभूमि में भाषा

डी0एन0 प्रसाद

महाभारत के युद्ध में अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। युद्धभूमि में ऐसी स्थिति कायरता की होती है। अपने धर्म से विमुख होने जैसी स्थिति हो जाती है, फिर वह 'स्वधर्म' नहीं रह जाता, उसे विधर्म भी कह सकते हैं। ऐसे समय में भाषा-सामर्थ्य की प्रबलता से इनकार नहीं किया जा सकता। चाहे समस्याओं को सुलझाने की भाषा हो, गुरु-शिष्य के बीच पठन-पाठन की भाषा हो, व्यवसाय-प्रबंधन की भाषा हो, संवाद-संप्रेषण की भाषा हो या फिर युद्ध-भूमि में सेनापति के युद्धारंभ या युद्ध समाप्ति की भाषा हो; भाषा-कौशल और भाषा की प्रभावोत्पादकता ही भाषा-संप्रेषण में सफलता की ओर अग्रेसित करते हैं। युद्धभूमि में कृष्ण की भाषा प्रस्तुति ही अर्जुन को स्वधर्म पालन हेतु प्रेरणा का पर्याय बनती है। भाषा के ऐसे ही संप्रेषक एवं साहित्यकार-कथाकार श्री विभूति नारायण राय की अद्यतन किताब है 'रणभूमि में भाषा'।

भाषा की भाव-भंगिमा व प्रतीकात्मकता का संदर्भ उनके 'वर्णाश्रमी असभ्यता' शीर्षक निबंध में निम्न कथन से स्पष्ट होता है–"बैठ, बैठो या बैठिए शब्द भाषा में हैं, जो व्यक्ति की सामाजिक या आर्थिक हैसियत के मुताबिक इस्तेमाल किये जाते हैं। मुझे नहीं लगता कि दुनिया की किसी भी भाषा में त्रिस्तरीय संबोधन उपलब्ध हैं। आप, तुम और तू सिर्फ़ संबोधन नहीं हैं, बल्कि संबोधित को उसकी औक़ात का अहसास कराने वाले दंश भी हैं।

"वर्णाश्रम धर्म पर आधारित जीवन-मूल्य हमें सिर्फ़ कमज़ोर से घृणा करना ही सिखा सकते हैं, उनसे सहानुभूति करने या उनकी सेवा करने का जज़्बा नहीं पैदा कर सकते।" स्पष्ट है, कर्माधारित जाति या वर्णाश्रमी जाति शोषण और अपमान का आधार देती है। 'भाषिक कोड़े से पीटे जाते रहे हैं', 'भाषा की घृणा', 'वर्णाश्रम धर्म पर आधारित जीवन-मूल्य' जैसे प्रयोग भाषा की लक्षणा-शक्ति को आलोकित करते हैं। कल तक भारतीय समाज की संरचना में जाति आधारित पेशा और वर्ण आधारित धर्म की जो परिकल्पना व्यवस्थित की गयी है, आज वह टूट रही है। आज 'दलित' शब्द इतना रूढ़ हो गया है कि दलित शब्द का उच्चारण होते ही एक ख़ास जाति का कैनवास खड़ा हो जाता है।

सांप्रदायिक सौहार्द लेखक का विशिष्ट पहलू है। 'धर्म और सांप्रदायिकता' शीर्षक निबंध में यह स्पष्ट किया गया है कि सांप्रदायिकता धर्म का अविभाज्य पहलू है। सांप्रदायिकता का मुक़ाबला सिर्फ़ विवेक से किया जा सकता है और यह भी कि सांप्रदायिकता से छुटकारा पाना है, तो ज़रूरी है कि धर्म और ईश्वर से मुक्ति पाने की कोशिश करें। मुझे लगता है 'सांप्रदायिकता' शब्द का अर्थ-विस्तार नहीं हो पाया है। उसे अर्थ-संकुचन में 'मिथ' बनाकर संभवतः और शायद केवल धार्मिक विवाद या उन्माद से जोड़कर देखा जाता है, क्योंकि अधिकतर विवाद धार्मिक उन्माद के ही कारण हुए हैं, नतीजतन सांप्रदायिकता को केवल एक नज़रिये से देखने की एक परंपरा-सी बन गयी है, जबकि सांप्रदायिकता के विस्तार में जाया जाए, तो भारतीय समाज ही क्यों, विश्व समाज की अनगिनत समस्याएँ हैं जिन पर सांप्रदायिकता की मुहर लगायी जा सकती है। इस अर्थ-संदर्भ में सांप्रदायिकता-विमर्श के 'मिथ' को तोड़ते हुए एक नयी व्याख्या की आवश्यकता महसूस होती है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति हम कितने आस्थावान हैं, आज का संदर्भ स्पष्ट है। कभी हिन्दी हमारी जातीय पहचान के रूप में उभरकर स्वतंत्रता-संग्राम की भाषा बनी थी और जिसके सहोदर भाव में हिन्दी ने भारत की राष्ट्रभाषा का दर्जा प्राप्त किया, परंतु आज सिर्फ़ रस्मअदायगी का त्योहार भर रह गया है–हिन्दी-विमर्श। 'उपमहाद्वीप की भाषा' शीर्षक निबंध विभाजन और भाषा के परिवेश का मूल्यांकन भर ही नहीं करता, चिंतन की चिन्गारी भी देता है।

छोटे-बड़े सोलह निबंधों के संग्रह में मानुषी की याद सबको कौंधाएगी 'बेचैन करती हैं किताबें' शीर्षक निबंध में। 'पिछड़े समाज में निजता किसी भी अर्थ में पवित्र मूल्य नहीं है और जहाँ परपीड़ा सबसे बड़ा मनोरंजन है', लेखक मानुषी की निजता को मानवीय संवेदना देकर उसे पुरज़ोर करता है। मानुषी भी किताबों की निजता में अपना निज जीवन देखती है और बेचैन हो जाती है, स्वयं को सँभालने और संवर्धित करने में। मानुषी आज के स्त्री-अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे अनुशासन की एक उदाहरण पात्र बनकर उभरती है। किताबों की विचार क्रांति से पुस्तक प्रेम की कथा है 'बेचैन करती हैं किताबें' शीर्षक संस्मरणात्मक निबंध। 'पुस्तक' के विषय में लेखक का एक महत्त्वपूर्ण कथन है—"कोई भी समाज कई चरणों में आंतरिक सभ्यता हासिल करता है। इनमें सबसे बड़ी भूमिका किताबों की होती है।"

पुस्तक के सभी निबंध अपनी भाषाई तल्ख़ी और भाषा की भाव-भंगिमा से लबरेज़ हैं। जीवन की रणभूमि में भाषा का परिमार्जन और संस्कार बेहद प्रभाव डालते हैं। लेखक की ही भाषाई संवेदना का जादुई असर उसकी लेखनी को माँजता चलता है। 'धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा', 'वर्णाश्रमी असभ्यता', 'बेचैन करती हैं किताबें', 'धर्म और सांप्रदायिकता', 'लिखने के मेरे तर्क', 'रणभूमि में भाषा' के साथ-साथ 'कलकतिया पलटन के बहाने 1857 का दलित भाष्य', '1857 का दलित विमर्श', ऐसे निबंध हैं, जो एक नयी बहस छेड़ने को मजबूर करते हैं।

निबंधों के विषय में पुस्तक की भूमिका में निबंधकार का कथन है—'मुझे पता है कि मेरी समझ से बहुत बड़ा पाठक समुदाय सहमत नहीं होगा, पर इनसे यदि किसी तरह का विमर्श शुरू हो सके, तो मुझे ख़ुशी होगी।' पर निबंधकार का यह द्वंद्व निर्मूल है, क्योंकि 'हिन्द स्वराज्य' में सभ्यता-विमर्श पर गांधी का कथन जिस तरह बेचैन करता है, उसी तरह की बेचैनी विभूति नारायण राय की 'वर्णाश्रमी असभ्यता' करती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था पर नये सिरे से समाजशास्त्रीय अध्ययन का इशारा है प्रस्तुत निबंध!

निबंधकार लोक-भाषा और लोक-व्यवहार से भी स्पंदित करता चलता है। 'झोल है' का प्रयोग लोक-प्रस्तुति की प्रस्तावना है। मैं कहूँ कि धर्म सांप्रदायिकता में बड़ा 'झोल' है, तो एक मज़ेदार-हास्य फूट पड़ता है और शायद निबंधकार भी सहमत हो। 'आस्था का नाग' के प्रयोग से मेरी असहमति है। जहाँ आस्था वहाँ नाग की उपस्थिति संभव नहीं है, क्योंकि आस्था की आग जल जाती है, वहाँ मन का अँधेरा दूर हो जाता है और बौद्धिकता का दर्प दिखने लगता है। अगर आस्था के साथ नाग इसका मतलब है कि आस्था में पूर्णता नहीं है, कहीं-न-कहीं है।

सच कहने का यह साहस हर किसी में संभव नहीं है आगे उनका मानना है कि अमानवीयकरण की यह प्रक्रिया ख़ामोशी से होती है कि आपको पता भी नहीं चलता और धीरे-धीरे मनुष्य से पशु में परिवर्तित होते जाते हैं। इस प्रक्रिया लड़ने का एक ही उपाय है—आपको रचनात्मकता से जुड़े होगा। ज़रूरी नहीं है कि यह क्षेत्र साहित्य ही हो। यह क्षेत्र संगीत पेंटिंग, फ़ोटोग्राफ़ी, पर्यटन—कुछ भी हो सकता है। यही आपको मनुष्य बने रहने में मदद करता है। उक्त कथन की कितनी भी प्रशंसा की जाए, कम ही है। मानव-मूल्य को बचाये रखने इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है? साहित्य में मानव-मूल्य सुरक्षित हैं। साहित्य से मेरा मतलब संरचनात्मकता से है, सृजन की भूख है। सृजन की भूख में मूल्य जीवित और जीवंत हैं, साहित्य का सौंदर्य भी यही है! 'मानव-मूल्य और साहित्य' डॉ0 धर्मवीर भारती इसी जीवन-दृष्टि और दर्शन को पुष्ट करते यह मूल्य-दृष्टि ही मनुष्यता प्रदान करती है और वह सृजन होता है। निबंधकार श्री विभूति नारायण राय की 'रणभूमि में भी मूल्य-बोध का दर्प है, जो सच बोलने और स्वीकारने की ताक़त देता है।

प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महा

रणभूमि में भाषा, विभूति नारायण राय, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32, 2008, मूल्य : 150.00

■

आम औरत के सवालों पर लिखी गयी एक ख़ास किता

शालिनी माथुर

इक्कीसवीं शताब्दी के इस पहले दशक में एक प्रश्न यह है कि विचारधाराओं और मूल्यों के प्रति टूटते सम्मोहन के बीच एक क्षेत्र में होने वाला परिवर्तन दूसरे क्षेत्र में भी हलचल मचाता है। इस हलचल की अनुगूँज साहित्य में भी सुनायी पड़नी चाहिए क्योंकि साहित्य व्यक्ति के भीतरी जगत को प्रभावित करता है—उसकी भाव-भूमि और उसके मूल्य-बोध का निर्माण करता है। क्या आज के समय में रचा जा रहा साहित्य ऐसा कर पा रहा है? क्या साहित्यकार अपनी भूमिका निभा पा रहे हैं? प्रति रचनाकार सुधा अरोड़ा की सामाजिक सरोकारों को लेकर कृति 'आम औरत ज़िंदा सवाल' इसी प्रश्न के आलोक में पढ़ी चाहिए।

समसामयिक प्रवृत्तियों, घटनाओं और सामाजिक पर यह एक महिला कथाकार की टिप्पणियों का संकलन है, लेखिका की दृष्टि सिर्फ़ कथानक के पात्रों की आंतरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है, एक सक्रिय जागरूक व्यक्ति के रूप में उन कारणों की शिनाख़्त करती हैं, जिन्होंने स्त्री की दशा को गिराया है और उनके विरुद्ध विरोध का स्वर उठाती हैं। ये एक ऐसे साहित्यकार की टिप्पणियाँ है, जिसने स्वयं भी ज़मीनी काम में दखल रखा है और जिसने ज़मीनी काम करने वाले समाज कर्मियों के काम को भी ग़ौर से देखा है।

सामाजिक सक्रियता से सीधे जुड़ी लेखिका ने केवल भावना के आधार पर क़लम नहीं चलायी है। भँवरी देवी के बलात्कार और उस पर हुई अपमानजनक अदालती कार्यवाही, नारी-संगठनों द्वारा प्रतिरोध में की गयी रैलियाँ और बाद में उस पर बनी फ़िल्म 'बवंडर' और फ़िल्म-निर्माता जगमोहन मूंघड़ा द्वारा पहले से ही अपमानित भँवरी देवी का अपनी फ़िल्म की पब्लिसिटी के लिए इस्तेमाल और पैसे के लेन-देन के मामले में छलकपट—सारे विवरण टिप्पणियों में इस प्रकार आते हैं कि पाठक समझ सकता है कि लेखिका इस पूरे घटनाक्रम के बीच उपस्थित है, बहस करती हुई, भाग लेती हुई, अपना ठोस नज़रिया प्रस्तुत करती हुई, प्रतिरोध करती हुई।

मटुकनाथ चौधरी और जूली के प्रकरण पर मीडिया द्वारा प्रायोजित भौंडी चर्चाएँ, राजकुमारी डायना की मृत्यु पर लिखी गयी शोभा डे की हृदयहीन खिल्ली उड़ाती टिप्पणी, इमराना पर उसके ससुर द्वारा बलात्कार या आई0 आई0टी0 की छात्रा चंद्राणी हालदार की मौत—लेखिका एक सजग और प्रतिबद्ध नागरिक की तरह इन्हें अपनी टिप्पणियों का विषय बनाती हैं। ख़ास बात यह है कि वे केवल घटनाओं की भर्त्सना नहीं करतीं, वे यह भी बताती चलती हैं कि असली मुद्दा है क्या!

नारीवाद का मखौल उड़ाने वाली, नारीवाद को पश्चिम से आयातित तथा भारत के लिए महत्त्वहीन समझने वाली, नारीवाद को खिलवाड़ समझकर हास्य-व्यंग्य के खिलंदडेपन से पृष्ठ रँगने वाली और नारीवाद को कलावादी समझ से परखने वाली लेखिकाओं से अलग यह रचनात्मक लेखिका का एक्टिविस्ट के रूप में किया गया काम और लिखा गया दस्तावेज़ है। आज ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है, जो कविता, कहानी, उपन्यासों की रचना करने के बजाय विमर्श कर रहे हैं और साहित्य के क्षेत्र में प्राप्त प्रतिष्ठा का लाभ उठाते हुए विमर्शकार कहला रहे हैं। ऐसे लेखक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, जो किसी ज़मीनी काम, दंगों या विसंगतियों पर शोध और साक्षात्कार या आँकड़ों के बिना केवल अपनी कल्पना, भावना और कामना के आधार पर स्त्री-विमर्श कर रहे हैं। हिन्दी पुस्तकों की दूकानों पर स्त्री-विमर्श नाम से अलग से ऊँचे-ऊँचे शेल्फ़ ऐसी पुस्तकों से लदे-फँदे पड़े हैं। ऐसे में इस पुस्तक को एक ईमानदार ज़मीनी काम और अनुभव के आधार पर तैयार किया गया दस्तावेज़ माना जाएगा।

"हक़ीक़त यह है कि एक घरेलू औरत या हाउस वाइफ़ का दर्ज़ा एक संभ्रांत भिखारी से ज़्यादा नहीं होता। घर-खर्च के लिए जो मिलता भी है, वह अहसान के तौर पर उसकी फैली हुई हथेली पर आता है।"

सती माता की महिमा में सुधा बताती हैं कि "देवराला कांड के बाद कई बार पुलिस के सही समय पर हस्तक्षेप के कारण कुछ औरतों को सती होने से रोका जा चुका है।" ऐसी परंपराओं को दूर करने के लिए समाज को स्वयं भी प्रयास करने होंगे।

भारतीय स्त्री-समस्या का फलक विशाल है। एक ओर राजस्थान में सती है, दूसरी ओर भारतीय शादी के बाज़ार में एन. आर.आई. युवक-युवती और बीच में गीता प्रेस, गोरखपुर की पुस्तकें।

गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित प्रतिगामी साहित्य निर्देश दे रहा है कि "स्त्री को पति-सेवा से ही सब प्रकार की पूर्ण सफलता मिल जाती है—पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों को अधिक से अधिक घरेलू कामों में लगाये रखें, ताकि खाली समय में उनके मन में कुविचार न आए।" सुधा अरोड़ा यह बताते इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि कानपुर शहर की तीन बहनें जब गले में फंदा लगा कर अपने माँ-बाप को दहेज की यातना से बचाने के लिए आत्महत्या करती हैं, तो इस मानसिकता के निर्माण में ऐसी पुस्तकें चिनगारी का काम करती हैं।" (पृ. 73)

उधर, शादी की मंडी में अप्रवासी भारतीय एक सामयिक विषय है। अमरीका में बसे एन0आर0आई0 लड़कों के प्रति भारतीय, ख़ासकर पंजाब की लड़कियों के माँ-बापों का आकर्षण, और एन0 आर0 आई0 लड़को द्वारा पंजाबी लड़कियों को विलायत ले जाकर उनका अपमान और शोषण एक ज्वलंत समस्या है। ऐसे मामलों की संख्या हज़ारों में है, इतने हज़ार कि राष्ट्रीय महिला आयोग को अलग से एक एन.आर.आई. सेल का गठन करना पड़ा है। अपने 'बिगड़े हुए' आधे देशी, आधे अमरीकी लड़कों को राह पर लाने के लिए उनके पुरातनपंथी एन.आर.आई. बाप पंजाब से लड़की चुन लाते हैं, जो अमरीका में नौकरानीनुमा जीवन व्यतीत करती है और कुछ दिन बाद 'बिगड़े हुए' पति द्वारा पिटकर या जला दी जाकर उसकी कहानी का अंत होता है।

सुधा अरोड़ा एक एक्टिविस्ट लेखिका हैं। उनका एक्टिविज़्म केवल हाशियाग्रस्त तबक़े के लोगों तक सीमित नहीं है। वे अपनी लेखक बिरादरी की ख़बर लेने के लिए भी जानी जाती हैं। अपने सहकर्मी साहित्यकारों की करतूतें लेखिका ने स्वयं देखी है। उनकी पत्नियों की व्यथा सीधे उन्हीं के मुख से सुनी भी है। प्रगतिशील कहलाने के शौकीन फ़िल्मकारों, लेखकों, कवियों, संपादकों द्वारा अपनी पत्नी के प्रति हिंसा और उदासीनता तथा अपने संपर्क में आने वाली स्त्रियों का यौन-शोषण और चरित्रिक लंपटता सुधा जी के निशाने पर रही है। रिंकी भट्टाचार्य और लीला नाइडू के प्रसंगों और जाने-माने सरकारी प्रशासनिक पद पर आसीन हिन्दी लेखक द्वारा पत्नी के साथ बदसलूकी और उदीयमान लेखिकाओं के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगरेलियों की ओर संकेत करते हुए वे कहती है कि "विवाह में ज़िम्मेदारी, वफ़ादारी और ईमानदारी के गुण अंतर्निहित है। जो इनकी परवाह नहीं करते, उन्हें विवाह जैसे बंधन से दूर रहना चाहिए।" (पृ. 236)

स्त्री-पुरुष समानता का डंका पीटने वाले तथाकथित प्रगतिशील रचनाकारों के चारित्रिक दोहरेपन को रोशनी में लाकर वे एक महत्त्वपूर्ण काम करती रही हैं।

पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में पूछे गये इस प्रश्न का उत्तर स्वयं लेखिका पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठों में दे चुकी हैं—"कुल जमा बात यह है कि पति चाहे कितना भी प्रतिष्ठित या दौलतमंद क्यों न हो, औरत को थोड़ी सी स्पेस या साँस ले पाने की जगह अपने लिए ज़रूर रखनी चाहिए कि वह आड़े वक़्त अपने पति की आर्थिक दया से अलग अपने पैरों पर खड़ी हो सके। उसके और उसके पति के बीच मालिक और गुलाम का रिश्ता न रहे। (पृ.45)

इस पुस्तक के पहले 30 पृष्ठ लेखिका ने अपनी डायरीनुमा आत्मकथा को सौंपे हैं। मुझे अक्सर यह जानना बेहद रुचिकर लगता है कि किसी रचनाकार का रचना-संसार कैसे निर्मित हुआ होगा, उसने किस कालखंड में, किन परिस्थितियों में, किस भावना से रचना का सृजन किया होगा। कलावादी रचनाओं के लिए यह बात भले हीं बेमानी हो, पर यह बात उन रचनाओं के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जो रचनाएँ अपने समसामयिक घटनाक्रम पर प्रतिक्रिया कर रही होती हैं, जो रचनाएँ बहस को, इतिहास को और समाज के सोच को नया मोड़ देने के उद्देश्य से लिखी गयी होती हैं। सुधा अरोड़ा का तेरह साल की आयु से कविता लिखना, महादेवी वर्मा टाइप कविताएँ, काल्पनिक प्रेमकथाएँ गढ़ना, बार-बार बीमार पड़ना, 1971 में विवाह, 1993 में हेल्प संस्था से जुड़ना, 1994 से महिला मुद्दों पर लिखना और इन सबके बीच उनकी डायरी की मौत—ये सारे प्रसंग उनके लेखिका से एक्टिविस्ट बनने और निरंतर मानवीय भावनाओं को केंद्र में रखकर काम करते और लिखते रहने की क्षमता को प्रकाश में लाते हैं।

यह ख़ास व्यक्ति द्वारा आम औरत के विषय में लिखी गयी खास किताब है। साहित्यकार समाज से ही प्रसंग उठाता है और उनमें कल्पना के रंग भरकर नाटक, कहानी, उपन्यास और कविता के रूप में अपनी रचना प्रस्तुत करता है। साहित्यकार समाज का ऋणी होता है। विमर्श के नाम पर प्रकाशित सैकड़ों पुस्तकों के बीच यह पुस्तक अपनी इस विशेषता के लिए जानी जाएगी कि इस किताब के रूप में एक साहित्यकार ने समाज को उसका ऋण चुकाया है।

ए 5/6 कॉरपोरेशन फ़्लैट्स, निराला नगर, लखनऊ-226020

आम औरत ज़िंदा सवाल, सुधा अरोड़ा, सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, मूल्य : सजिल्द संस्करण 300 /- पेपरबैक 120/-

■

व्यंग्यलेखन और समसामयिक यथार्थ

वेदप्रकाश अमिताभ

डॉ. गोपाल बाबू शर्मा के नये व्यंग्यसंग्रह 'सब चलता है लोकतंत्र में' में चालीस लघुव्यंग्य संकलित हैं। इनमें प्रशासनिक भ्रष्टाचार, नेता की निरंकुशता, सांस्कृतिक प्रदूषण, बाज़ारवाद, शिक्षा जगत् की अव्यवस्था आदि तमाम विषय डा0 शर्मा के 'जूता चल रहा है' , 'सॉरी प्लीज', 'एक कप चाय' आदि पूर्ववर्ती व्यंग्यसंग्रहों में जब-तब आते रहे हैं। अंतर सिर्फ इतना है कि उनके संदर्भ बदले हुए हैं। समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक घटनाक्रम से कुछ चुने हुए प्रसंगों और चरित्रों को आधार बनाकर व्यंग्यलेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'सब चलता है लोकतंत्र में'। व्यापक दृष्टिकोण के बावजूद व्यंग्य मुख्यतः मौजूदा व्यवस्था के अंतर्विरोधों पर केन्द्रित है। कुछ उदाहरणों से लेखक के यथार्थबोध और दृष्टिकोण को समझा जा सकता है—(1) बेचारी अफ़सरशाही तो सत्ता के इशारों पर नाचती है। वह अब नयी मायावी सरकार की वाहवाही करने में जुटी है।' (दिल के अरमाँ), (2) 'आम तौर पर जाँच का मतलब होता है-जनता को चकमा देना, भुलावा में डालना और थोड़े दिन बाद मामले को ठण्डे बस्ते के हवाले कर देना।' ('मौसम हुआ बेईमान'), (3) '... भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। यहाँ सब कुछ अपने तरीक़े से करने की छूट है।' ('निवारण एक लघुशंका का'), (4) 'माना कि देश में लोकतंत्र है, पर लोकतंत्र का यह अर्थ थोड़े ही है कि सब पर एक जैसे तंत्र-मंत्र चले।' ('ठाट हैं बकाए दारों के'), (5) 'प्रशासन यह मानने को ज़रा भी तैयार नही होता कि किसी की मौत भूख या ठण्ड से हो सकती है।' ('यहाँ किसके पास है फुरसत')

पहले, दूसरे और पाँचवे उद्धरण में हमारी अफ़सरशाही का जनविरोधी और स्वार्थी चरित्र अनावृत्त हुआ है। तीसरे और चौथे उद्धरण में लोकतंत्र के नाम पर पनपे स्वेच्छाचार, अराजकता का बयान है। अन्य व्यंगकारों की तरह डा0 गोपालबाबू शर्मा ने लोकतंत्र के कृष्ण पक्ष पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है, लोकतंत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लोक की शक्ति का एक संदर्भ 'भौंकना बेकार गया' में है लेकिन वह भी नरेन्द्र मोदी की गुजरात में विजय से संबद्ध होकर अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल पाता है। बिकने में ही सार सरीखी कई रचनाओं की मनोभूमि व्यापक है और सर्वग्राही व्यावसायिकता पर तीक्ष्ण प्रहार में सक्षम है। व्यंग्यकार के अनुसार -''यह बाज़ारवाद का युग है, सब कुछ बिक रहा है.... कुर्सी बिक रही है। औरत बिक रही है, अस्मत बिक रही है। बच्चे बिक रहे हैं। कोख बिक रही है। शिक्षा-दीक्षा बिक रही है। बुद्धि और निष्ठा बिक रही है।'' इस तरह की व्यंग्यरचनाओं में रचनाकार का बोध आश्वस्त करता है।

व्यंग्यकार को कुत्सित स्थितियाँ और कुरुपताएँ नापसंद हैं और वह भरसक उनका प्रतिवाद करता है, 'टी0वी0 देखो, एनजॉय करो' में आचरण भ्रष्ट महापुरुषों की न केवल भर्त्सना है, अपितु उन्हें उचित दण्ड का सुझाव भी है। इस रचना का समापन वाक्य है-'उनकी जम कर पूजा होनी चाहिए।' 'अभी तो हम भ्रष्टाचार में पीछे हैं' भी एक सार्थक व्यंग्य रचना है। अधिकतर रचनाओं की भाषा में कसावट है और मुहावरों की सजावट देखते बनती है। 'वे नालायक नहीं' का यह अंश देखें-'गुड़ कुल्हिए में तो फूटता नहीं। बात खुल गई। कोई दिलजला सेर के लिए सवासेर बन गया।' नये अप्रस्तुतों के प्रयोग ने भी संप्रेषणीयता को बढ़ाया है। 'निवारण एक लघुशंका का' का एक वाक्य पठनीय है-'... लघुशंका' मोबाइल की मिस्डकाल की तरह नहीं, बल्कि नेचुरल कॉल है।' प्रायः सभी रचनाएँ आकर्षक शैली में हैं अतः पाठकों को तत्काल प्रभावित कर लेती हैं।

डी-131, रमेश बिहार, अलीगढ़-202001

सब चलता है लोकतंत्र में, गोपालबाबू शर्मा, जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार, मथुरा, प्रथम संस्करणः 2009, मूल्यः 125 रुपये

■

एक साधू मिला

रुद्रदत्त चतुर्वेदी

यदि आचार्य मम्मट ने साहित्य को 'रसात्मक' बताया है तो 'स-हितस्य भाव' अर्थात् हित भावना और उद्देश्य पूर्णता भी साहित्य के दो गुण बताये जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साहित्य को समाज का दर्पण' भी बताया है। अतुकान्त और अर्थहीन कविता के इस युग में ज्ञानेन्द्र अग्रवाल की पुस्तक 'एक साधू मिला' काव्य परंपरा के तीनों गुणों का निर्वहन करने वाली रचना है।

इस काव्य-संग्रह में 66 ग़ज़लें और 227 दोहे हैं। गीतकार नीरज के शहर अलीगढ़ का यह कवि, शायद गले में मिठास के अभाव के कारण, अंग्रेज़ी कवि थॉमस ग्रे की 'ऐलेजी रिटिन इन ए कंट्री चर्च यार्ड' का अनाम कवि बना रह जाता यदि यह कृति सामने न आती। उनकी ग़ज़लें ज़िंदगी के अनुभूत यथार्थ का दर्पण हैं। साहित्य में खेमेबाज़ी, उठा-पटक और उससे उत्पन्न कसक, उनकी रचनाओं में दिखाई देती है :

बुत बनाया हमें, तोड़ डाला हमें,
गेंद सा जब भी चाहा, उछाला हमें।
काम हमने किया नाम उनका हुआ,
आदतन एक पिंजरे में पाला हमें।
दोस्त अहबाब सारे हुनरमंद हैं,
महफ़िलों में बुलाया, निकाला हमें।

'बिहारी सतसई' के समान इस पुस्तक के दोहे-''देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर'' वाली संवेदनशीलता की मनः स्थिति पैदा करते हैं। कुछ दोहे ऐसे भी हैं जिन्हें देखकर पाठक को लगेगा कि वे शायद उसी के लिए लिखे गये हैं, और यही इन दोहों की सार्वजनीनता है। इन दोहों की एक विशेषता यह भी है कि ये दोहे जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों को छूते हैं। उदाहरण के लिए जीवन छोटा है और सत्कर्म करके, परलोक सुधारने के लिए समय कम है। इस चेतावनी को कितने सरल शब्दों में कवि ने व्यक्त किया है :

कूड़ा करकट बीन ले, करले साफ़ ज़मीन
तेरे रहने के लिए बचे सिर्फ़ दिन तीन

दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता और शहरीकरण ने 'परिवार' नामक संस्था को तोड़ा है। माता-पिता बोझ बन चुके हैं। कवि का संवेदनशील मन इस पर भी कलम चलाता है। क़रीब 10 दोहे इस विसंगति पर प्रहार करते हैं। पठनीय हैं :

बच्चों ने जारी किया जाने का फ़रमान
लावारिस माँ बाप अब खोजें एक मकान

यह बच्चे समृद्ध या अफ़सर हों तो माँ-बाप की उपस्थिति उनका सम्मान घटाती है। उनके पास रहकर उन वृद्धजनों को कैसा लगता है कवि के शब्दों में :

आवभगत इतनी हुई कंचन बरसा मेह
किन्तु पुत्र के घर हमें, मिला न अपना गेह

कवि ज्ञानेन्द्र जी ने ग़रीब और ग़रीबी नज़दीक से देखी है उसकी अनुभूति दृष्टव्य है :

बच्चा रोता रेत में, लगी ज़ोर की भूख
अम्मा मज़दूरी करें, दूध गया है सूख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतंत्र की कथित श्रेष्ठ पद्धति आज राजनीतिक अव्यवस्था और भ्रष्टाचार की पर्याय बन चुकी है। अनेक दोहों में से एक :

जीजा मंत्री हो गये साले ठेकेदार
कर्मठता सरकार की केवल भ्रष्टाचार

पर्यावरण पर भी कवि की दृष्टि रही है। जो हो रहा है उसे देखने की दृष्टि भी 'एक साधू मिला' में मिलती है।

लाइन में कब से लगा ऋतुओं का संहार
इसीलिए रुकती नहीं जाती हुई बहार

ऐसा नहीं कि कवि केवल दार्शनिक और उदासीन व्यक्ति है। उसकी रचनाओं में हास्य भी हैं :

भरी जवानी में उड़े सिर के सारे बाल
सिर को तो अच्छा लगा, बाल हुए बेहाल

शब्दों में कोमल प्रहारों से अंतश्चेतना को जागृत करने वाली, लघु शिल्प में रची गई कृति का हिन्दी जगत् में भरपूर स्वागत होगा।

प्राचार्य (अ0प्रा0) रा0उ0शि0उ0प्र0, 19 'क' हीरापुरी, गोरखपुर-5

एक साधू मिला, ज्ञानेन्द्र अग्रवाल, यश पब्लिकेशन्स, एक्स/909 चांद मोहल्ला, गांधीनगर, दिल्ली, मूल्यः 195 रुपये

■

स्वाधीनता आंदोलन में बुंदेलखंड का योगदान

जाहिद खान

डॉ. संतोष भदौरिया के 'बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकायें', स्वराज्य संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग म0प्र0 शासन द्वारा प्रकाशित इस शोध ग्रंथ में मुल्क के आज भी सबसे पिछड़े इलाकों में से एक बुंदेलखंड के स्वाधीनता आंदोलन में योगदान को याद किया गया है। साथ ही आज़ादी की आर-पार लड़ाई में उस दौर की पत्र-पत्रिकाएं बुंदेले राजपूतों की सरजमीं पर क्या भूमिका निभा रहीं थीं, इसका भी विस्तृत लेखा-जोखा है।

अंग्रेज़ी राज और प्रतिबंधित हिन्दी पत्रिकाएं, शब्द प्रतिबंध जैसी शोधपरक किताबों के लेखक डॉ0 संतोष भदौरिया की ये तीसरी किताब है और ये भी शोधपरक है। किसी भी विषय पर शोध अदम्य इच्छाशक्ति, शारीरिक-मानसिक श्रम और लगन की माँग करता है, फिर यदि शोधकर्ता का विषय भी ऐसा हो जिस पर पहले कम शोध कार्य किया गया हो तथा पर्याप्त शोध सामग्री भी न मौजूद हो तो और भी मुश्किल काम होता है। उत्तरप्रदेश के जालौन, झाँसी, ललितपुर, हमीरपुर, बाँदा जिलों और म0प्र0 के पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़, सागर, दमोह, जबलपुर आदि जिलों तक फैला बुंदेलखंड बड़ा भौगोलिक क्षेत्र है। दो राज्यों में बंटे हुए बुंदेलखंड में एक ही भाषा, संस्कृति विद्यमान है। हिन्दुस्तान के बिल्कुल बीचों-बीच स्थित बुंदेलखंड में स्वाधीनता आंदोलन किस तरह परवाज चढ़ा और पत्र-पत्रिकाओं ने आंदोलन में अपनी कैसी भूमिका निभाई, किताब का मुख्य विषय है।

लेखक ने किताब को कुल 5 अध्यायों में बाँटा है। इन अलग-अलग व एक-दूसरे से जुड़े अध्यायों में बुंदेलखंड के नामकरण एवं सीमांकन तथा स्वाधीनता आंदोलन का संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी पत्रकारिता के उद्भव एवं विकास की ज़रूरी जानकारी के बाद 1857-1947 के मध्य बुंदेलखंड से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का सर्वेक्षण, विश्लेषण बड़ी ही तन्मयता से किया गया है। किताब में न सिर्फ स्वाधीनता आंदोलन में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका की जाँच की गई है बल्कि उस दौर में इन पत्र-पत्रिकाओं के साहित्यिक अवदान के मूल्यांकन की भी ईमानदार कोशिश की गई है। किताब के आखिरी अध्याय में मुल्क के लिये अपनी ज़िंदगी न्यौछावर करने वाले संपादक और पत्रकारों की जुझारू ज़िंदगी को "कलम आज उनकी जय बोल" के अंतर्गत याद किया गया है। इन अध्यायों के अलावा किताब में 4 परिशिष्ट भी शामिल किये गये हैं। इन परिशिष्टों में पत्र-पत्रिकाओं के कुछ मिसाल के तौर पर संपादकीय एवं विशिष्ट लेखों को उनके मूल रूप में पेश किया गया है। कुछ बुंदेली लोकगीत भी हैं जिनमें स्वाधीनता की अभिव्यक्ति बड़ी मुखरता से हुई है।

किताब में बुंदेलखंड से प्रकाशित दैनिक प्रकाश, बुंदेलखंड केसरी, लोकमत, हिन्द राजस्थान, देहाती दुनिया, मधुकर, उल्का और लोकवार्ता आदि पत्र-पत्रिकाओं के विषय व उदाहरण के साथ स्वाधीनता आंदोलन में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को विस्तार से रेखांकित किया गया है। लेखक ने 1932 में शुरू हुए बुंदेलखंड केसरी का खास-तौर पर जिक्र किया है।

ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्तशुदा अंक में संपादक ने जो संपादकीय "हमारी कलम से" में बेखौफ होकर लिखा "तथापि हमें बड़ा संतोष है कि हमारा बुंदेलखंड केसरी इतनी सज-धज के साथ आपके सामने उपस्थित हुआ है, फिर ऐसी विकट परिस्थिति में जब इसके विरुद्ध एक सुसंगठित सरकार हो और उसके सैकड़ों जासूस पता लगाने में दक्षचित्त हैं पर यह हमारा सौभाग्य है कि हमने अब तक उसके दांत खट्ठे किये हैं और आगे तो उसमें टाटरी भी न करेंगे"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुंदेलखंड की देशी रियासतों ने बगावत के सुर वाले कई अखबारों के अपने यहाँ आने पर पाबंदी लगा रखी थी। किताब में ऐसे ही एक प्रसंग का रोचक जिक्र है। बुंदेलखंड के पहले दैनिक समाचार पत्र दैनिक प्रकाश ने "प्रताप की मनाई" शीर्षक से जो समाचार लिखा वह देखें—"देशी रियासतों के लिए प्रताप, सांड को लाल झंडी का काम करता है। 7 रियासतों वालों ने पहले ही प्रताप का अपनी रियासतों में आना रोक दिया था परंतु आज आठवां नंबर उदेपुर रियासत का हुआ। उदेपुर रियासत में प्रताप का जाना एकदम बंद कर दिया गया।" साल 1929 में झाँसी से बेनीप्रसाद श्रीवास्तव के संपादन में निकलने वाले पत्र 'हिन्द राजस्थान' का वर्णन भी किताब में पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचता है।

बुंदेलखंड में पत्र-पत्रिकायें एक तरफ़ अवाम को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से जागृत कर रहीं थीं वहीं दूसरी ओर बुंदेलखंड के साहित्य, संस्कृति और इतिहास को भी उनके सामने ला रहीं थीं। कुल मिलाकर बुंदेली जनता की राजनीतिक चेतना के साथ-साथ सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने का काम इन पत्र-पत्रिकाओं ने कुशलता से किया। हिन्दी पत्रकारिता के पितामह माने जाने वाले पं0 बनारसीदास चतुर्वेदी ने बुंदेलखंड को अपनी कर्मभूमि बनाया। उनके संपादन में निकलने वाले अख़बार मधुकर को बुंदेलखंड का इनसाईक्लोपीडिया कहा जाता था। इस अखबार में बुंदेलखंड के लोक साहित्य और संस्कृति पर अनेक लेख प्रकाशित होते थे। पं0 बनारसीदास चतुर्वेदी, पं0 रामेश्वरप्रसाद शर्मा, बाबू बेनीप्रसाद श्रीवास्तव, विनायक धुलेकर, कृष्णगोपाल शर्मा जैसे प्रखर पत्रकारों के स्वाधीनता आंदोलन में योगदान को लेखक ने 'कलम आज उनकी जय बोल' शीर्षक अध्याय में याद किया है।

साम्राज्यवाद के विनाशकारी और शोषणकारी चेहरे को उस वक़्त के संपादक अच्छी तरह से पहचान चुके थे। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने उन्हीं लेखों एवं रचनाओं को अपनी विषयवस्तु के रूप में चुना जिनका सीधा वास्ता उपनिवेशकालीन क्षेत्र की आर्थिक समस्याओं से था। समालोचन, प्रजामित्र, हिन्द राजस्थान, पुकार, दैनिक प्रकाश, बुंदेलखंड केसरी आदि पत्रों ने किसान आंदोलन और किसानों की दुर्दशा से संबंधित अनेक कहानियाँ एवं लेख उस वक़्त प्रमुखता से प्रकाशित किए। किताब में हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन के साथ बुंदेलखंड किस तरह क़दम ताल मिला रहा था इसका भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

'बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएं' कुल मिलाकर एक अच्छी किताब है, जिसका एक शोधार्थी के लिए महत्व है ही, उन पाठकों के लिए भी है जो स्वाधीनता आंदोलन में बुंदेलखंड और वहाँ से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका से वाकिफ़ होना चाहते हैं। जहाँ तक किताब की भाषा का सवाल है, भाषा, सरल, सहज और बोधगम्य है। छोटे-छोटे वाक्यांश भाषा के प्रवाह को बड़ाते हैं। इतिहास होते हुए भी यदि किताब रुचिकर बनी है तो इसमें लेखक संतोष भदौरिया की भाषा का बड़ा योगदान है। अलबत्ता किताब के शीर्षक में कुछ त्रुटि जान पड़ती है। मेरे नजरिए से किताब का नाम 'बुंदेलखंड में स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएं' होना था न कि 'बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएं' क्योंकि स्वाधीनता आंदोलन बुंदेलखंड का ही नहीं बल्कि पूरे मुल्क का था।

महल कॉलोनी, शिवपुरी (म0प्र0)

बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएं, डॉ0 संतोष भदौरिया, स्वराज्य संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग म0प्र0, मूल्य : 150/- रुपये

■

लोकजीवन और प्रगतिशील मूल्यों के प्रति समर्पित कविताएँ

नरेन्द्र गौड़

भूमंडलीकरण के नाम पर चलने वाले बाज़ारवाद तथा उपभोक्तावाद के कारण हमारे समाज में पूँजीवादी मूल्य निरंतर प्रबल होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप रचनाकार भी अनेक चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। अपनी रचनात्मक ऊर्जा का इस्तेमाल करते हुए इन विसंगतियों से बचा नहीं जा सकता। हमारा समय तेज़ी से बदलते घटनाक्रम से भरा पड़ा है और ऐसी हालत में शाश्वत कविता के दिन लद चुके हैं। लेकिन, 'रोहिणी तप रही है' में संकलित हरिशंकर अग्रवाल की कविताएँ सामाजिक सरोकारों से पीछा न छुड़ाते हुए पतनशील मूल्यों के प्रति कभी क्षोभ, तो कभी गहरे व्यंग्य की धार को पैनी करते अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह करती हैं। इनमें जनवादी प्रगतिशील मूल्यों की गहराई और लोक-संवेदन की चेतनासंपन्न दृष्टि है। ये कविताएँ मानव-सभ्यता को बनाने और बचाने में यक़ीन रखने वाले लोगों के प्रति बराबर आशावान हैं। इनमें समाज के ऐसे वर्ग का मनोबल बढ़ाने का प्रयास ज़िंदादिली से किया गया है। कवि की अभिव्यक्ति पूरे आत्मिक लगाव को इस वर्ग के प्रति व्यक्त तो करती ही है साथ ही व्यवसायीकरण, भूमंडलीकरण और साम्राज्यवादी ताक़तों के बरखिलाफ़ होने की रचनात्मक क्षमता भी प्रदान करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकलन में ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जिन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। मसलन नदी, आस्था, प्लेटफ़ॉर्म, पवित्रता, प्रेम और संघर्ष के दिन, लड़कियाँ, पहाड़, डरे हुए लोग, फागुन, पृथ्वी इन दिनों व पत्थर की चिड़िया सरीखी कविताओं के उदाहरण दिए जा सकते हैं। लोक-जीवन और लोक-संवेदना से कवि का शुरू से ही आत्मिक लगाव रहा है। बेशक अपने जीवन-निर्वाह की ज़रूरतों के उस चलते लोक जीवन से विस्थापित होकर कवि को शहर में रहना पड़ रहा है। लेकिन फिर भी, वह जीवन-पद्धति, पारिवारिक रिश्ते, संस्कार और अनुष्ठान, आज भी उतनी ही अहमियत रखते हैं। वह विस्थापन कवि के मन में गहरी टीस भी पैदा करता है। इस कसक की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति उस कवि के लिए सहज संभव है, जिसने वह अनुभव किया हो या उससे भावनात्मक स्तर पर गहरा जुड़ाव अनुभव किया हो। जिसने तिनका-तिनका जोड़कर अपना घर बनाया हो, उसके लिए वह निर्जीव आसरा भर नहीं होता। वह जानता है उस घर का आँगन, उसकी दीवारें, दरवाज़े और मोखे उसके लिए कितनी अहमियत रखते हैं-

अपनी कठिन दिनचर्या में फँसे हुए लोग
और बही खातों में गिरवी रखे हुए
बहुत से घर तलाश रहे हैं रास्ता
बाहर निकलने का...

इस घर की तरह हरिशंकर अग्रवाल का कवि मन गाँव की गलियों, चौक-चौराहों, दरख़्तों, कुओं, जलाशयों तथा यहाँ तक कि अपने पिपरिया क़स्बे के ज़िले होशंगाबाद में कलकल बहती नर्मदा नदी से भी गहरा आत्मीय रिश्ता बनाता है :

हल के साथ
खेतों में गहरे धँसकर
माँगते हैं पेट भर अन्न
नर्मदा घाटी के लोग
और देते हैं थाप ढोलक, चंग पर
अंगड़ाई लेने लगती हैं रातें
और भूखे बिला जाती हैं
नर्मदा की लहरों में...

यह नदी कवि के संस्कार में शामिल है कि इसी नदी के किनारे पारिवारिक अनुष्ठान हुए हैं। इसी के किनारे कवि के पुरखों ने अर्घ्य दिया है। इसका जल कविता को सतत् प्रवाहमान भी बनाता है। राहगीर नर्मदा के किनारे आकर सुकून अनुभव करता है। कवि ने नदी के साथ अपने सनातन रिश्ते को अनेक जगह और अनेक तरह से याद किया है। इस संकलन में प्रकृति और मनुष्य के सनातन रिश्ते की पड़ताल करती हुई, अनेक कविताएँ हैं। ऐसी ख़ूबसूरत कविताओं की कमी नहीं है :

फिर भी नदी में भीगी रेत की तरह
तरोताज़ा हैं शब्द जो
अपने शहर की कविता में
फूलों की तरह महकते हैं...

कहना न होगा कि लोक-संवेदना से कवि का गहरा लगाव रहा है। घर और लोक-जीवन से संबद्ध जीवन जीने वाली स्त्री भी अपने संघर्ष के साथ व्यक्त हुई है। वह रूमानी भावना का शिकार नहीं होती है। कवि ने उसकी रचना भाषिक संवेदन के साथ की है। हमारे इस निर्मम समाज में घर-परिवार में स्त्रियों के साथ होने वाले बर्ताव और उसमें विकसित होती संघर्ष-चेतना पर संकलन में कितनी ही कविताएँ हैं, जो सामाजिक पर्यावरण एवं स्वयं स्त्रियों को झकझोर देने वाले यथार्थ को सामने लाती हैं। इतना ही नहीं, कविता में एक स्तर पर कवि स्त्री की उपस्थिति को अपने काव्य-संवेदन तथा कला-रूप के लिए आवश्यक भी मानता है। उनका सावन में माँ के घर आना, बीते दिनों को याद करना, इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :

सावन में अपनी माँ के घर
आती हैं लड़कियाँ
कुछ दिनों के लिए जैसे
बचपन में लौट आती हैं लड़कियाँ...
कभी छोटा और तंग नहीं लगता उन्हें
अपनी माँ का घर, आँगन को
चिड़ियों की चहचहाहट से
भर देती हैं लड़कियाँ...

हरिशंकर अग्रवाल की ये कविताएँ जहाँ वृहत्तर लोक-जीवन के आत्मीय अनुभवों से अपनी ऊर्जा ग्रहण करती हैं, वहीं इनकी आंतरिक बुनावट और बयान की साफ़गोई कवि की संवेदनशीलता, सजगता और उनकी सृजनात्मकता के प्रति गहरा विश्वास पैदा करती हैं।

4, रवींद्रनाथ टैगोर मार्ग, शाजापुर (मध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य क्लब'

18 जुलाई, 2009 को डी0ए0वी0 कॉलेज के हिन्दी विभाग के शोध कक्ष में 'वर्तमान साहित्य क्लब' की संगोष्ठी संपन्न हुई। गोष्ठी में प्रमुखतया जगदीश चन्द्र बोस पर आधारित 'अपनी बात', मृदुला गर्ग के 'मूल्य और साहित्य', विजय बहादुर सिंह के 'समकालीनता की सीमाएँ' तथा 'समय संवाद' के अंतर्गत राजनीतिक परिदृश्य पर व्यापक चर्चा हुई। कहानियों एवम् कविताओं पर भी विचार व्यक्त किए गए।

क्लब की नवागत सदस्य सरिता सिंह ने कहा कि जगदीश चन्द्र बोस ऐसे महान वैज्ञानिक थे, जिन्होंने अपनी मेहनत तथा संवेदनशीलता से सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हुए अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता का सर्वांगीण विकास किया। इलियट का यह कथन अक्षरशः सच है कि कोई भी व्यक्ति अपनी जड़ से कटकर विकास नहीं कर सकता। जगदीश चन्द्र बोस ने किसी अंग्रेज़ी स्कूल से नहीं वरन् स्थानीय बंगला-भाषी स्कूल से अपनी मातृ भाषा में शिक्षा प्राप्त की। भाषा हमें संवेदनशील बनाती है। महात्मा गांधी ने कहा था-'शिशु का जो संबंध माँ के दूध से होता है, वही संबंध व्यक्ति के विकास का मातृ भाषा से होता है।

संध्या मिश्रा ने अपने वक्तव्य में कहा कि शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अपने सामाजिक दायित्वों को ध्यान में रखकर हम ऊर्जा का सकारात्मक प्रयोग कर सकते हैं। हमें गर्व होता है कि हमारे देश के वैज्ञानिक भी समाज के लिए पूर्णतया समर्पित हैं, वे अपनी खोजों एवम् उपलब्धियों को स्वयं के लिए नहीं बल्कि संपूर्ण सृष्टि मानव-उत्थान के लिए अपनी मेधा को समर्पित करते हैं।

विभाश्री ने कहा कि जगदीश चन्द्र बोस की निःस्वार्थ वैज्ञानिक मानव सेवा अनुकरणीय है। संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि नमिता जी के जगदीश चन्द्र बोस पर आधारित संपादकीय से जहाँ बोस के निःस्वार्थ भाव से व्यष्टि सेवा के साथ शिक्षा, संस्कृति बहु विषयक् तथ्यों का उद्घाटन होता है, वहीं यह हिन्दी साहित्य के रचनाकारों तथा संपादकों के लिए एक मिसाल भी है कि वे साहित्य के अलावा अन्य अनुशासनों के मानव सेवा को समर्पित व्यक्तित्वों तथा कृतित्वों से पाठकों को अवगत कराएँ। घर के जोगी को जोगड़ा न समझ कर उसे उसके वास्तविक अर्थों में जानने-समझने का समय आ गया है।

आरती त्रिपाठी का 'मूल्य और साहित्य' पर कहना था कि हमें यह समझ लेना चाहिए कि आधुनिकता सदैव त्याज्य नहीं होती। समय के अनुसार काल-स्थान-सापेक्ष मूल्यों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अतः बिना जाने आधुनिकीकरण के नाम पर अपनी अक्षुण्ण भारतीय संस्कृति के क्षरण की दुहाई देना विवेकशीलता नहीं है। हमें नैतिक मूल्यों का निर्धारण अपने विवेक से परिवर्तित समय एवम् परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

संध्या मिश्रा ने कहा कि लेख पढ़कर दृष्टिकोण ही बदल गए। मृदुला जी के इस लेख में संपूर्णता का अनुभव होता है। जैसे जीवन मूल्य, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, नारीवाद, नारी विमर्श, देह विमर्श, राजतंत्र, समाजतंत्र आदि विभिन्न पक्षों को एक जगह रखकर उनके आपसी संबंधों को बड़ी सहजता से समझाया है। इन विभिन्न प्रकार के वादों (की जड़ों) का मूल कहाँ है ? क्या है ? और क्या होना चाहिए? इन सभी बातों को इतने सहज और सरल शब्दों में वर्णन कोई विवेकशील इंसान ही कर सकता है।

इसी पर बात करते हुए सरिता सिंह ने कहा कि समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज परिवर्तनशील है और यदि ऐसा है तो मूल्य भी परिवर्तित होंगे। अगर हम प्राचीन मूल्यों से चिपके रहेंगे तो नयी परिस्थितियों को कैसे स्वीकार कर पाएँगे। जब देशकाल परिवर्तित हो गया है तब प्राचीन मूल्य नयी चुनौतियों का कैसे सामना कर पाएँगे। डॉ0 नामवर सिंह ने कविता के नये प्रतिमान में साहित्य के जो नये मूल्य स्थापित किये उनमें अजनबीपन, बिडंबना, वैयक्तिकता, विखंडन की जो तस्वीर दी है वह आज हमारे समाज में घटित हो रहा है और साहित्य उसी की अभिव्यक्ति देता है।

जया सिंह ने कहा कि मृदुला गर्ग जिस विवेक की बात करती हैं, वह सबमें हैं लेकिन उसका सम्यक् प्रयोग लोग नहीं कर पा रहे हैं। जब भी विवेक का प्रयोग होगा स्वस्थ प्रगतोन्मुख मानक स्वमेव निर्धारित हो जाएँगे।

संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि मृदुला जी ने उन सारे कारकों-कारणों, सामाजिक संरचनाओं के परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की बात की है, जिनके कारण मूल्य विघटित, समयानुकूलित, पुनर्निर्मित अथवा परिवर्तित-परिवर्द्धित हो जाते हैं। कुँवरपाल सिंह जी ने समय-संवाद में जटिल राजनीतिज्ञों को आईना दिखाया हैं कि वे इस मुगालते में न रहें कि मौजूदा परिदृश्य में आमजन उनके धर्म और जाति के मुद्दों में भटक जाएगा।

सभी कहानियों पर चर्चा हुई पर कमल कुमार की कहानी 'वीरांवाली' पर विशेष चर्चा हुई, जिसमें सबने एक मत से स्वीकार किया कि शिक्षा, साहस, दिलेरी तथा दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर स्त्री अपनी स्थिति में सुधार कर सकती है, किन्तु इसके लिए पहल स्त्री को स्वयं करनी होगी।

प्रस्तुति : आरती सिंह
किदवई नगर, कानपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी अकादमी, दिल्ली में कविता पाठ

सुश्री आकांक्षा पारे की 'स्त्री अस्मिता', श्री गिरिराज किराडू की 'आत्मा की लय' और निलय उपाध्याय के 'विरल लोकरंग' को प्रतिबिंबित करती कविताओं के साथ हिन्दी अकादमी, दिल्ली का 'समवेत् कविता' का पहला कार्यक्रम कल त्रिवेणी सभागार में संपन्न हुआ। कार्यक्रम की शुरूआत में तीन महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, नईम और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा को एक मिनट का मौन रखकर श्रद्धांजलि दी गई।

कार्यक्रम के आरंभ में अकादमी के सचिव डा0 ज्योतिष जोशी ने कहा कि आधुनिक कविता को कुछ आलोचक उसके 'स्वर्ण काल' की संज्ञा दे रहे हैं तो कुछ आलोचक उसमें एक ही अनुगूँज, दोहराव, वर्तमान हलचलों को पकड़ने में असफल बता रहे हैं। इस कार्यक्रम के जरिए हम नयी कविता की 'बहुमुखी' और 'अंतर्मुखी' दोनों यात्राओं और उसकी परंपरा के बुनियादी सिद्धांतों की नाप-तोल करना चाहते हैं। इसके लिए समवेत् कविता में अलग-अलग प्रदेशों और अलग-अलग शैलियों में लिख रहे कवियों की रचनाओं को एक मंच पर लाकर हिन्दी की आधुनिक कविता का एक संपूर्ण चेहरा सबके सामने प्रस्तुत करना है जिससे इस तरह के किसी भी भ्रम की स्थिति न रहे।

कार्यक्रम में सबसे पहले इंदौर की आकांक्षा पारे जो अब दिल्ली शहर में रहकर पत्रकारिता कर रही है, ने 'तस्वीरें', 'पढ़ नहीं रही माँ', 'बित्ते भर की चिंदी', 'औरत के शरीर में लोहा', 'रिश्ते', 'खिड़की', 'इच्छा मृत्यु' और 'भरोसा' शीर्षक कविताएँ पढ़ीं।

बीकानेर से आए गिरिराज किराडू ने 'टूटी हुई बिखरी हुई पढ़ाते हुए, 'यूँ मैंने झूठ कहना शुरू किया', 'खिड़की', 'हमशक्ल', 'सकुशल', 'क्षमा', 'सब कुछ होना-रहेगा', शीर्षक से कविताएँ पढ़ीं।

अंत में मूलतः बिहार के और अब मुंबई में रह रहे कवि निलय उपाध्याय ने अपनी कविताएँ पढ़ीं। 'यह छोटी सी खुशी', 'भात पकने का गीत', 'मकई के दाने', 'माँ की सीख', 'सबक', 'मजदूर', 'खेती नहीं करने वाला किसान' कविताओं को श्रोताओं ने खूब पसंद किया।

सभा के अध्यक्ष पंकज सिंह ने कविताओं पर सार्थक टिप्पणी की। कार्यक्रम के अंत में अकादमी के सचिव डा0 ज्योतिष जोशी ने तीनों युवा कवियों की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इन कविताओं के स्तर पर हिन्दी कविता के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना सहज की जा सकती है।

प्रस्तुति : अजय कुमार शर्मा,

'लहरों की लय' रमणिका गुप्ता

'यात्रा संस्मरण' लिखना मौजूदा समय में कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। इसकी वजह यह है कि संसार सिमटता जा रहा है। ज़्यों-ज़्यों 'विजुअल' बढ़ता जाएगा, यह और मुश्किल होगा। आज इंटरनेट पर किसी भी देश में, गली मोहल्ले तक को आसानी से देखा जा सकता है, परंतु यात्रा संस्मरण एक ही नहीं हो सकता। यात्रा संस्मरण में लेखक की नज़र से दुनिया को देखा जाता है-वह किसी वीडियो विजुअल के मार्फ़त नहीं, बल्कि प्रसंगों के माध्यम से व्यक्त होता है। जिनमें कुछ स्पंदन होता है, कुछ ऐसी संवेदना जिसे किसी वीडियो के मार्फ़त सामने लाना संभव न हो... ये विचार हैं, प्रख्यात साहित्यकार एवं जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय के प्रो0 असग़र वजाहत के। रमणिका फाउन्डेशन की अध्यक्ष रमणिका गुप्ता की शिल्पायन, 10295, लेन नं.1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से प्रकाशित यात्रा संस्मरण पुस्तक 'लहरों की लय' के लोकार्पण के अवसर पर अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में उन्होंने यात्रा संस्मरणों को सामाजिक पर्यटन की परिभाषा के रूप में व्याख्यायित किया।

इस अवसर पर मुख्य अतिथि के तौर पर अपनी बात रखते हुए 'हंस' के संपादक एवं प्रख्यात कहानीकार राजेन्द्र यादव ने कहा कि 'यात्राएँ मनुष्य की आदिम वृत्ति या विवशता हैं। सभी कलाओं का विकास 'विस्थापन' (माइग्रेशन) से ही संभव हुआ है। उन्होंने कहा कि 'यात्राओं में आप अकेले होकर भी अकेले नहीं होते, आपके साथ हर पल एक और व्यक्ति होता है-जो साथ-साथ आपके इस यात्रा में जीता है, चलता है। रमणिका जी के इन यात्रा संस्मरणों को आदमी से आदमी और संस्कृतियों से संस्कृतियों तक की यात्रा के रूप में चिन्हित करते हुए यादव जी कहते हैं कि यात्रा करते हुए व्यक्ति मानसिक और भौगोलिक धरातलों पर एक साथ जीता है। उसमें आपका पहले पढ़ा या सुना आपके साथ होता है और आप उसे 'कम्पेयर' करते हैं या उससे आपका 'कान्फ्लिक्ट' होता है।

अशोक वाजपेयी ने भी बतौर मुख्य अतिथि अपने वक्तव्य में पुस्तक की प्रशंसा की और रमणिका जी के साहस और निःसंकोची स्वभाव से अपने चकित होने को रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि 'मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी और लेखक ने अपने क्षणभंगुर प्रेम या रति का ऐसा वर्णन किया हो। इन संस्मरणों में एक लेखिका के रूप में उनकी स्त्री प्रतिबद्धता और अस्मिता के प्रति उनकी सजगता को रेखांकित करते हुए उन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा कि वे एक क्षण के लिए भी स्त्री के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को भूलती नहीं हैं।

अपने लेखकीय वक्तव्य में लेखिका रमणिका गुप्ता ने अपने यात्रा संस्मरणों के सूत्रों की शिनाख्त करते हुए बताया कि यह सिर्फ भौगोलिक यात्राएँ नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक और मनुष्य दर मनुष्य उनके आचरणों की यात्राएँ हैं। दूसरे देशों के बहुत से विषयों, और उनके लोगों के प्रति हमारे मनों में बहुत सी जिज्ञासाएँ ये संस्मरण शांत करते हैं। खासतौर से अन्य देशों के मज़दूरों और किसानों की समस्याओं को वे अपने देश से जोड़कर देखती हैं और जैसे एक निष्कर्ष पर पहुँचती हैं-जो हमारे यहाँ है, वही दूसरे देशों में भी थोड़े बहुत हेर फेर के साथ उसी तरह जीवन का हिस्सा है। जिन्हें हम बहुत श्रेष्ठ समझते हैं वहाँ भी हमारे जैसी ही समस्याएँ मौजूद हैं। आम आदमी हर जगह आम आदमी है, शोषण हर जगह प्रायः एक सा ही होता है। ये विभिन्न संस्कृतियों की विराटता को बांधने की कोशिश है।'

अजय नावरिया ने अपने शुरूआती वक्तव्य में कहा कि 'यह यात्रा संस्मरण एक सामाजिक कार्यकर्ता और श्रामिक नेता की दृष्टि से देखी गई दुनिया के हैं।' उन्होंने प्रश्न उठाते हुए कहा कि क्या यथार्थ एक स्तरीय या इकहरा होता है।' जिस तरह दृष्टि और कोण के बदलाव से यथार्थ बदल जाता है, उसी तरह यहाँ भी यात्राओं के संस्मरण दूसरे ढंग से हमारे सामने आते हैं। यथार्थ वही है, पर नज़रिया उसे एक नया रूप देता है। भारी संख्या में लेखकों और पत्रकारों ने इस कार्यक्रम में हिस्सा लिया। लगा कि साहित्य और कला का प्रभाव तमाम व्यवस्तताओं पर भारी ही पड़ता है।

प्रस्तुति : डा0 सुनीता ठाकुर, नई दिल्ली

पाखंड व बर्बरता साम्राज्यवाद की विशेषता : मैनेजर पांडेय

किसानों, मजदूरों और निम्नमध्य वर्ग की बदहाल स्थिति के लिए समाज का पूँजीवादी चेहरा जिम्मेदार है। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद हमेशा से ही किसान विरोधी रहा है। अखंड पाखंड व जन्मजात बर्बरता साम्राज्यवाद की स्थायी विशेषता है। यह बातें हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक प्रो0 मैनेजर पांडेय ने 'आज के समय में देश की बात' विषय पर महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र के 'सत्यप्रकाश मिश्र' सभागार में आयोजित विशेष व्याख्यान में कहीं।

सखाराम गणेश देउस्कर के हवाले से कहा कि उनकी पुस्तक 'देशेर कथा' (1904 में प्रकाशित) देश की आर्थिक, राजनीतिक स्थिति का सप्रमाण आकलन करती है। यह पुस्तक मूलतः साम्राज्यवाद विरोधी है। अंग्रेज़ी सरकार ने परेशान होकर इस पुस्तक को 1910 में प्रतिबंधित कर दिया था। साम्राज्यवाद किस प्रकार गुलाम देश के दिमाग पर कब्जा करता है, यह पुस्तक प्रमाणित करती है। यह स्वदेशी आंदोलन को पैदा करने वाली पुस्तक है। 'स्वराज' शब्द का पहली बार प्रयोग इस पुस्तक में किया गया।

उन्होंने अफसोस जाहिर किया कि ब्रिटिश हुकूमत की पीड़ादायक गुलामी की जंजीरों से जकड़े भारत को आज़ाद करने की अलख एवं जीतोड़ मेहनत जिन कलम के सिपाहियों ने की तथा देशहित में अपने आपको समर्पित कर देने वाले लेखक माधव राव सप्रे तथा सखाराम गणेश देउस्कर का नाम आधुनिक युग के हिन्दी लेखकों को भी याद नहीं रह गया है। ऐसे में यह कहना अप्रांसगिक न होगा कि हिन्दी भाषा के पाठक ही नहीं बल्कि आज के लेखक भी सांस्कृतिक विस्मरण से ग्रस्त हैं।

'सत्यप्रकाश मिश्र सभागार' में भारी संख्या में उपस्थित हिन्दी रचनाओं से गहरे ताल्लुकात रखने वाले पाठकों, कवियों एवं लेखकों को संबोधित करते हुए उन्होंने सत्यभक्त का उदाहरण देते हुए बताया कि उनमें देश भक्ति की भावना सखाराम की रचनाओं को पढ़ने के बाद पैदा हुई।

'संवाद' के अंतर्गत आयोजित विशेष व्याख्यान 'आज के समय में देश की बात' कार्यक्रम का संचालन महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक संतोष भदौरिया ने किया। प्रो0 मैनेजर पांडेय का स्वागत बहुवचन के संपादक प्रो0 राजेन्द्र कुमार ने किया। इस अवसर पर प्रमुख रूप से नीलकांत, अजित पुष्कल, कामरेड ओ0पी0 सिंह, महेन्द्र राजा जैन, उर्मिला जैन, अली अहमद फातमी, अनिल रंजन भौमिक, नीलम शंकर, नरेन्द्र पुण्डरीक, सुरेश शेष, सुरेन्द्र राही, सुरेन्द्र घोष, प्रेमशंकर एवं सूर्य नारायण सहित नगर के बड़ी संख्या में साहित्य एवं संस्कृति कर्मी मौजूद रहे।

प्रस्तुति : संतोष भदौरिया, इलाहाबाद

जनजातीय समाज पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा के जनजातीय अध्ययन केन्द्र के तत्त्वावधान में वर्तमान जनजातीय समाज : दशा एवं दिशा' विषय पर राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी का शुभारंभ खचाखच भरे रामानुजन सभागार में देश के जाने-माने भौतिकशास्त्री एवं बूधन पत्रिका के संपादक-समाजसेवी डा0 अनिल पांडेय एवं रीवा विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो0 शिवनारायण यादव तथा विभाग के प्रभारी आचार्य एवं प्रख्यात समकालीन कवि डा0 दिनेश कुशवाह के कर कमलों से माँ वीणापाणि की प्रतिमा पर माल्यार्पण एवं दीप प्रज्ज्वलन से हुआ। संगोष्ठी का संयोजन आयोजन सचिव डा0 चन्द्र प्रकाश पटेल ने किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम सत्र में मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए डा0 अनिल पांडेय ने कहा कि भारत के विभिन्न राज्यों में जनजातियाँ निवास करती हैं जिन्हें मूल निवासी या आदिवासी कहा जाता है। आज इन जनजातियों की जो दुर्दशा हमें दिखाई दे रही है, वह प्राचीन वर्ण-व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ विदेशी चालों का परिणाम है। सत्ता-सुख भोगियों द्वारा इन्हें इतना सताया गया है कि वे जंगलों, वनों, पहाड़ों, पठारों, रेगिस्तानों में रहने लगे। सारी सुख-सुविधाओं से वंचित हो गये। अपने कई सर्वेक्षणों का जिक्र करते हुए डा0 पांडेय ने बताया कि सपेरे और मदारी भी जनजातियों की श्रेणी में आते हैं। डा0 पांडेय ने कहा अब वह समय आ गया है कि हम सब मिलकर जनजातियों के विकास के लिए कुछ सोचें व आवश्यक कदम उठायें, जिससे वे हमारे कंधे-से-कंधा मिलाकर चल सकें।

अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा के माननीय कुलपति प्रो0 शिवनारायण यादव ने कहा कि हिन्दुस्तान को तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग इण्डिया है, जो दिल्ली, बंबई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े महानगरों में बसता है। दूसरा भाग भारत है, जो रीवा जैसे छोटे-छोटे शहरों, कस्बों में बसता है। तीसरा भाग भारतवर्ष है, जहाँ अभी तक विकास की कोई किरण नहीं पहुँची है। यही असली भारत है। जो लोग यहाँ रहते हैं, उन्हें आदिवासी कहा जाता है। ये आदिवासी हमारी प्राचीन संस्कृति और प्राकृतिक संपदा के रखवाले हैं। अब उन्हें अपने साथ जोड़ना है, तभी असली हिन्दुस्तान की खोई हुई पहचान प्राप्त की जा सकती है।

इसी सत्र में प्रो0 विजय अग्रवाल ने जनजातियों की जीवन-शैली पर प्रकाश डाला। अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा के कुलसचिव डा0 मगन सिंह अवास्या एवं विशिष्ट अतिथि एवं समाजशास्त्री डा0 मंगला प्रसाद सिंह ने अपने-अपने शोध पत्र का वाचन किया। विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी विभाग की अध्यक्ष डा0 शुभा तिवारी ने प्रो0 शिवनारायण यादव द्वारा लिखित 1857 के स्वाधीनता संग्राम में जनजातीय बलिदान नामक पुस्तक की समीक्षा पढ़ी। इस सत्र में जनजातीय अध्ययन केन्द्र के प्रभारी आचार्य, डा0 दिनेश कुशवाह ने अतिथियों का माल्यार्पण से स्वागत किया। संगोष्ठी का संचालन केशव अनुसंधान केन्द्र, ओरछा के सर्वेक्षण अधिकारी डा0 बृजेश द्विवेदी एवं शोध छात्र कृष्ण गोपाल सिंह ने बारी-बारी से किया। आयोजन सचिव डा0 चन्द्र प्रकाश पटेल एवं पूर्व प्राध्यापक प्रो0 आर0सी0 सिंह ने आभार प्रकट किया।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र की अध्यक्षता वरिष्ठ प्राध्यापक एवं समाजशास्त्री डा0 मोतीलाल मिश्र ने की। मंचासीन अन्य विभूतियों के नाम इस प्रकार थे-प्रो0 उर्मिला द्विवेदी, डा0 सेवाराम त्रिपाठी, डा0 दिनेश कुशवाह एवं डा0 महेश शुक्ला। इस सत्र में जिन व्यक्तियों ने अपने शोध पत्र का वाचन किया उनके नाम इस प्रकार हैं-डा0 चन्द्र प्रकाश पटेल, डा0 महेश श्रीवास्तव, डा0 सरोज गोस्वामी, डा0 अशोक पीड़िहा, डा0 कमलेन्द्र प्रताप सिंह, डा0 एस0पी0 शुक्ल, डा0 शंकर लाल यादव, डा0 अनुराग मिश्र, फूलचन्द बसोर, प्रह्लाद वर्मा, रंजना सिंह एवं रामफल प्रजापति।

प्रस्तुति : कृष्ण गोपाल सिंह, रीवा

'जे0एन0यू0 में नामवर सिंह' का लोकार्पण

प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह की तेरासीवीं वर्षगाँठ के अवसर पर मंडी हाउस स्थित त्रिवेणी सभागार में 28 जुलाई 2009 की शाम को देश के नामीगिरामी साहित्यकारों का जमावड़ा लगा। इस अवसर पर डा0 नामवर सिंह पर केंद्रित पुस्तक 'जे0एन0यू0 में नामवर सिंह' का लोकार्पण हुआ। लोकार्पणकर्ता थे प्रसिद्ध पत्रकार प्रभाष जोशी। राजकमल प्रकाशन से यह पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसका संपादन सुमन केशरी ने किया है। पुस्तक का विमोचन करते हुए श्री जोशी ने कहा कि नामवर सिंह जैसे व्यक्तित्व को संस्थागत खांचे में देखना उचित नहीं। डा0 नामवर सिंह के उद्गार थे कि उन्हें 'जे0एन0यू0 का माना जाता है लेकिन उनके निर्माण में उन सभी विश्वविद्यालयों का योगदान है जहाँ उन्होंने अध्यापन किया है। समारोह को रुहेलखंड विश्वविद्यालय के कुलपति सतपाल गौतम, प्रो0 एम0एच0 कुरैशी, प्रो0 रामधिकारी कुमार, 'जे0एन0यू0 में नामवर सिंह' की संपादक सुमन केशरी तथा राजकमल प्रकाशन के प्रबंध निदेशक अशोक माहेश्वरी ने भी संबोधित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चशिक्षा में बंधुवा मजदूर

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ग़ैर-राजनीतिक क्षेत्र से पहले व्यक्ति थे जो शिक्षा-जगत् के लंबे अनुभव के बाद भारत के राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। शिमला के वॉयसराय-भवन को उन्होंने ही पुस्तकालय के रूप में स्थापित कराया था, ताकि वहाँ पठन-पाठन का और शोध का वातावरण बने, शिक्षक-शिक्षार्थियों को उचित वातावरण स्थान, अध्ययन-मनन की प्रेरणा प्राप्त हो सके।

हर वर्ष हम 5 सितंबर को शिक्षक दिवस मनाते हैं। शिक्षकों की समस्याओं के लिए उचित माँगों और सम्मान के लिए संघर्ष करने की बात करते हैं। लेकिन बड़ी संख्या में निजी शिक्षण संस्थाओं पर व्यक्तियों/ समूहों का अधिकार है जहाँ यूजीसी या अन्य शासी-संस्थाओं का नियंत्रण नहीं रह गया है। बड़े पूँजीपति, उद्योगपति और बड़े व्यापारी शिक्षा के क्षेत्र को एक नया व्यावसायिक क्षेत्र बना रहे हैं। आप दूर न जाएँ, मोदी नगर को लें। 20-25 वर्ष पूर्व, मोदी टायर की फैक्ट्रियों में हज़ारों मजदूर काम करते थे। फैक्ट्रियों से मुनाफ़ा कम प्राप्त होता था। मजदूरों की छँटनी हुई, मिलें बंद कर दी गयीं। मजदूरों पर लाठी-गोलियाँ चलीं। अंततः कल-कारखाने बंद कर दिये गए और उनके स्थान पर इंजीनियरिंग, प्रबंधन और मैडीकल कॉलेज खोल दिये गए जो 'कैश-क्रॉप' की तरह मुनाफ़े वाले संस्थान हैं। इनमें घाटे की कोई संभावना नहीं। शिक्षकों की नियुक्ति मनमानी शर्तों पर होती है। एक ही कार्य के लिए वेतन-स्तर भिन्न हैं। विषयों के महत्व के आधार पर वेतन नियत किया जाता है। बाज़ार व्यवस्था तय करती है विषयों के वेतन। भाषा एवं समाजशास्त्र के विषयों को कम महत्व का समझकर उनके शिक्षकों को वेतन भी अन्य व्यावसायिक विषयों की तुलना में कम दिया जाता है।

बेकारी और मजबूरी के कारण शिक्षकों की स्थिति बँधुआ-मजदूरों जैसी होती जा रही है और शिक्षकों की कोई आवाज़ नहीं है। वे चुप ही रहते हैं और अपने भाग्य को कोसते रहते हैं। शिक्षकों की इस दुर्दशा के लिये कोई संगठन सामने नहीं आता और उन्हें वे काम करने पड़ते हैं जो उनके लिये नियत नहीं हैं।

इन प्राइवेट शिक्षण संस्थाओं में दलित और मुस्लिम न के बराबर होते हैं क्योंकि यहाँ आरक्षण के नियम नहीं अपनाये जाते और विशेष प्रकार के छात्र ही यहाँ शिक्षा लेते हैं। यानि, केवल धनवान। सामान्य व्यक्ति तो सोच ही नहीं सकता यहाँ पढ़ने की। बीस-पच्चीस साल पहले तक गाँव-देहात के, मामूली स्कूलों में पढ़ने वाले मेधावी छात्र अपने बलबूते पर इंजीनियरिंग या मेडिकल कोर्स में प्रवेश पाने की उम्मीद कर सकते थे। वे प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण कर इन कोर्सों में दाखिला भी लेते थे लेकिन अब यह लगभग असंभव हो गया है। उच्च और तकनीकी शिक्षा पैसे का खेल बन कर रह गयी है।

Central Library Gurukul Kangri Deemed University Haridwar-249404

केवल मोदी ही नहीं, इस व्यवसाय में अन्य औद्योगिक घराने जयपुरिया, सिंघानिया आदि भी शामिल हैं। उन्होंने भी अपनी फैक्टरियाँ बंद कर शिक्षण संस्थान खोल लिये हैं। मान-सम्मान और धन-लाभ इसमें ज़्यादा है। कानपुर के एक पब्लिक स्कूल में छठे वेतन आयोग की सिफारिशों को लागू करने की जगह वरिष्ठ अध्यापिकाओं को निष्कासित कर दिया गया, बिना कोई चार्जशीट दिये। अंततः उन्हे अदालत की शरण में जाना पड़ा। कारण, उनका वेतनमान बहुत अधिक हो गया था। नये अध्यापक कहीं कम वेतनमान पर ही उपलब्ध थे। अदालत ने पुराने अध्यापकों को फिलहाल बहाल करा दिया है।

यह इन प्रतिष्ठित कालेजों का हाल है। देश में 108 नयी प्राईवेट यूनीवर्सिटी बना दी गयी हैं। 10 साल पहले यहाँ कोई प्राइवेट यूनिवर्सिटी नहीं थी। अब शिक्षा शुद्ध मुनाफ़े का सौदा है। पहले ज्ञान का और भारतीय मूल्यों का प्रचार, प्रसार होता था। अब केवल वे ही विषय पढ़ाये जाते हैं जो मुनाफ़े का सौदा करने में सक्षम हैं। अन्य विषयों की कोई पूछ नहीं जबकि विश्वविद्यालय में सब ही विषय होने चाहिए। वास्तव में ट्यूशन और कोचिंग इंस्टीट्यूट यूनिवर्सिटी में बदल गये हैं। यूजीसी का कोई नियम इन पर लागू नहीं होता क्योंकि ये डीम्ड (स्वतंत्र) यूनिवर्सिटी हैं। कुछ स्थानों पर तो यूनिवर्सिटी योगी और साधू-संत चला रहे हैं। वे भी सारे नियमों से परे हैं। राज्य सरकार और शिक्षा मंत्रालय को चाहिये कि इन पर नकेल कसे वरना देश में शिक्षा की भयानक अवनति होगी। शिक्षा के इस पतन को रोकने के लिये शिक्षक संगठनों को आगे आना चाहिये। वे अपनी निर्णायक भूमिका का निर्वाह करें। बिना अध्यापकों के आगे आये यह कार्य कोई और नहीं कर सकता। डा0 राधाकृष्णन का नाम लेने एवं शिक्षक-दिवस मनाने से इस समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का हल संभव नहीं है।

इसी तरह ट्यूशन-हॉल या कोचिंग इस्टीट्यूट शिक्षा की नयी दुकान हैं। यहाँ शिक्षा का अच्छा व्यापार होता है। सरकार इन्हें रोकना भी नहीं चाहती। ये ही भ्रष्टाचार के नये अड्डे बन गये हैं। एक महानगर में कुछ मोहल्ले पूरी कोचिंग मंडी बन गये हैं जिसमें हर माल बिकता है। वहाँ के लगभग हर दूसरे मकान में छात्रावास खुल गया है। इन कोचिंग हाउसों के अपने दलाल हैं जो छात्रों को फँसाने और निगरानी करने का काम करते हैं। बड़े संपन्न किसानों के बेटे अधिकतर यहाँ होते हैं। इनमें अक्सर लड़की को लेकर या अन्य कारणों से मारपीट होती रहती है। मोहल्ले की शांति और व्यक्तिगत ज़िंदगी ख़त्म हो चुकी है। कानून का किसी को भय नहीं है। हर छात्र इंजीनियर या डाक्टर बनना चाहता है। इसलिये शिक्षा मंडियां भी चल रही हैं। सरकार को चाहिये इस ओर ध्यान दे और इस शिक्षा के व्यापार को रोके। ज्ञान-विज्ञान की मूल पढ़ाई अनिवार्य हो और इन संस्थानों को आयकर के दायरे में लायें जिससे इन पर नियंत्रण हो सके।

उच्च शिक्षा के नये रूप में नयी योजना है कि बी0ए0, बी0एस-सी0 का पाठ्यक्रम चार वर्ष का कर दिया जाय। इससे साधारण लोगों की परेशानी बढ़ जायेगी। लाभ कॉलेज वालों को है कि एक साल की मुफ़्त आमदनी होगी। शिक्षा माफ़िया केवल अपने लाभ की सोच रहा है। तर्क यह दिया जाता है कि अमेरिका में 4 वर्ष का ग्रेजूऐशन है। यह उन छात्रों को फ़ायदा देगा जो अमेरिका पढ़ने जाते हैं पर बाकी 96-98 प्रतिशत छात्र जो यहीं रहते हैं वो व्यर्थ एक वर्ष का समय और धन उन अमेरिका जाने वालों के पीछे बर्बाद करेंगे।

अगले चरण में अमेरिकी योजना है कि वह अपने विश्व विद्यालय भारत में खोलेगा अपने अमेरिकी नियमों के अनुसार। उन पर भारतीय कानून लागू नहीं होंगे। इस प्रकार भारतीय शिक्षा अमेरिकी हाथों में सौंपने की योजना है। या यूँ कहिये कि भारतीय शिक्षा का यह चरणबद्ध अमेरिकीकरण है। 2010 से यह योजना लागू होने की संभावना है। भारतीय शिक्षाविदों को एवं जन साधारण को इसका पुरज़ोर विरोध करना चाहिये।

भाषा का सवाल

हमारे देश में भाषा का सवाल बहुत जटिल है। यह उतना आसान नहीं, जितना लोग समझते हैं। यूएनओ ने दुनियाभर की भाषाओं के लिए वैज्ञानिक रूप से एक लिपि-रोमन बनाने का काफ़ी प्रयास किया। भाषा और लिपि को विज्ञान के नियमों से संचालित नहीं किया जा सकता। उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। भाषा और लिपि का संबंध मानवीय भावनाओं से जुड़ा होता है। उनके विकास की दिशा अत्यंत धीमी होती है और वह अपना मार्ग स्वयं चुनती हैं। एक समुदाय खिरग़ीज है, जिसे रूसी क्रांति के समय सभ्य बनाने के लिए शहरों में बसाया गया। उन्हें रूसी भाषा पढ़ायी गयी। उनमें से अनेक लोग पढ़े-लिखे और उच्च-शिक्षण प्राप्त किया। फिर भी, जब सोवियत गणराज्य विच्छिन्न हुआ तो उन खिरगीज़ लोगों को जिन्हें सब भूल गये थे। पुनः खोजा गया और उनकी भाषा को पुनरुज्जीवित किया, क्योंकि खिरगीज़ समुदाय का मानना था कि खिरगीज़ उनकी पहचान है। भाषा खिरग़ीज समुदाय के वृद्धजनों को खोजकर शहरों में लाया गया और खिरगीज़ भाषा को उनके माध्यम से संरक्षण दिया गया। आज वही उनके स्वतंत्र राष्ट्र की भाषा है। ऐसे और भी उदाहरण हैं। किसी भी भाषा को ज़बर्दस्ती नहीं पढ़ाया जा सकता। एक समय था, जब समाजवादी देशों में रूसी पढ़ना अनिवार्य था, चाहे पोलेण्ड हो या चेकोस्लोवाकिया। रूस के विच्छिन्न होने के बाद आज वहाँ कोई रूसी नहीं पढ़ता, रूसी नहीं बोलता। हमारे यहाँ भी दो कश्मीरी कभी आपस में उर्दू में बात नहीं करते। वे कश्मीरी बोलते हैं जबकि, कश्मीर की राज्य भाषा उर्दू है।

आज़ादी के बाद भाषा का सारा विवाद उर्दू-हिन्दी के बीच रहा है। बहुत से लोगों की समझ है कि भाषा के विवाद ने पाकिस्तान को जन्म दिया जबकि यह धारणा मिथ्या है। विभाजन के कुछ समर्थक तत्त्वों ने भावनात्मक शोषण करके भाषा का दुरुपयोग किया। इसमें उर्दू को दोष नहीं दिया जा सकता। हिन्दी-उर्दू ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक रूप से सर्वाधिक निकट भाषाएँ हैं। बोलचाल में हिन्दी-उर्दू एक ही हैं, भले ही लेखन में वे अलग हों। अली सरदार जाफरी और राही मासूम रज़ा जैसे लेखकों का विचार था कि उर्दू को नागरी-लिपि में लिखा जाना चाहिए। लेकिन, यह सवाल भावनाओं से जुड़ा है। कुछ देशी-विदेशी विद्वानों ने चाहा कि हिन्दी को रोमन लिपि में लिखा जाना चाहिए जिसे हिन्दी के समर्थकों ने नहीं माना। भाषा और लिपि के सवाल को राजनीतिज्ञ तय नहीं कर सकते। यह काम साहित्य से जुड़े लेखक, पाठक और साधारणजन ही कर सकते हैं।

(कुँवरपाल सिंह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान
साहित्य
साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

र्तमान साहित्य–कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009

वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009 के लिए मौलिक, अप्रकाशित कहानियाँ आमंत्रित हैं। पुरस्कार राशि रु0 11,000=00 है, जो कमलेश्वर जी के परिवार ने इस प्रयोजन हेतु 'वर्तमान साहित्य' को प्रदान की है।

कहानियाँ साफ़ टाइप की हुई हों तथा तीन प्रतियों में हों। कहानी की प्रति पर लेखक का नाम व पता अवश्य हो। 3.कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 तंबर, 2009 है। लिफाफे पर **'वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार'** अवश्य लिखें।

हानियों का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जायेगा। चयनित कहानी पर पुरस्कार वरी, 2010 में प्रदान किया जाएगा।

हानियाँ संपादक, वर्तमान साहित्य को निम्नलिखित पते पर भेजें।

संपादक 'वर्तमान साहित्य'
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
दूरभाष : 0571-2742038, 94122-72762

ई-मेल से भेजी कहानी प्रतियोगिता में स्वीकार नहीं की जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण

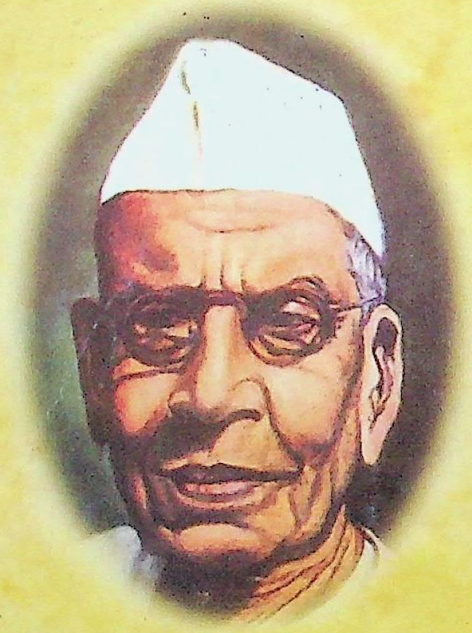

जिसको नहीं गौरव तथा निज देश का
अभिमान है, वह नर नहीं नरपशु निरा है,
और मृतक समान है।

मैथिलीशरण गुप्त

(1886 - 1964)

दिल्ली सरकार
दिल्ली तीव्र - स्वप्न करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, ईस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्टूबर, 2009 ■ बीस रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

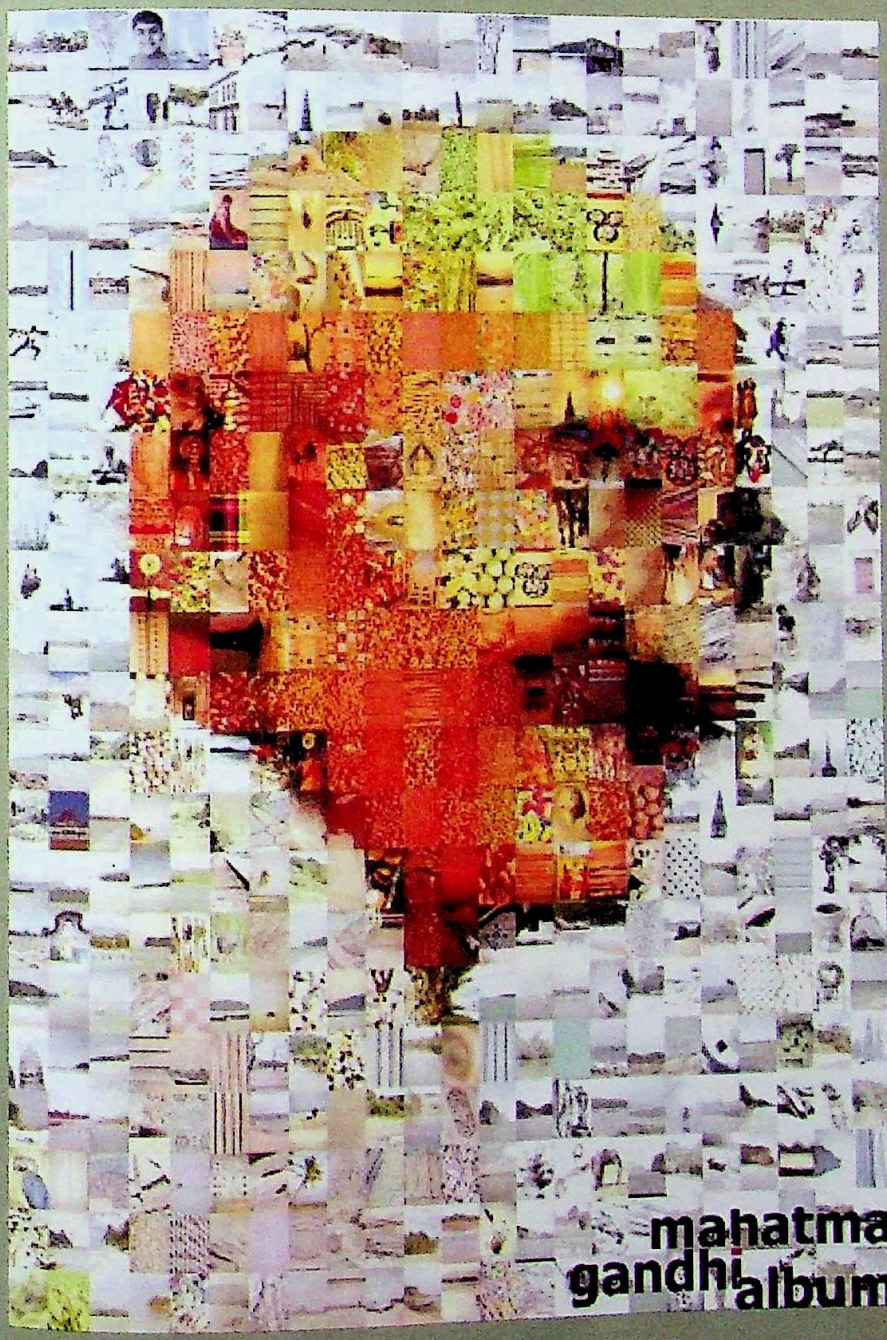

चल पड़े जिधर दो डग मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

मध्यप्रदेश नये मुकाम की ओर

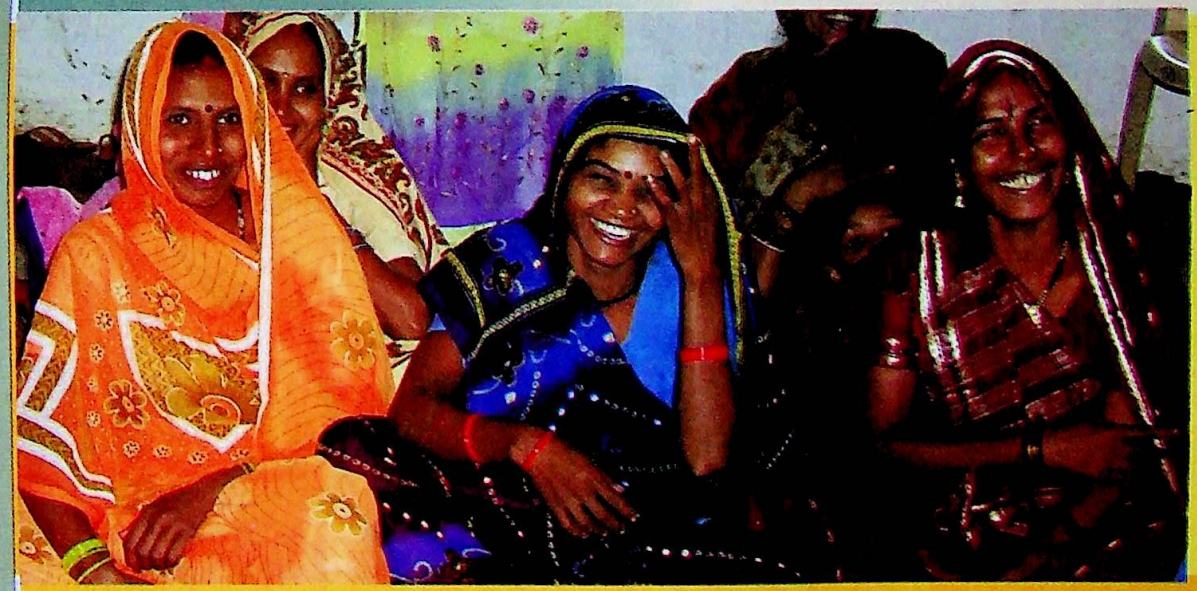

महिला शक्ति अब रसोईघर में ही नहीं
नगर निगमों, नगर पालिकाओं और
ग्राम पंचायतों का भी नेतृत्व करेगी।

श्री शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

शिवराज सरकार के महिलाओं को
50 प्रतिशत आरक्षण के फैसले पर, कानूनी संशोधन के बाद
अब अमल का समय करीब।

आधी दुनिया के साथ पूरी सरकार

मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

म.प्र. माध्यम द्वारा आकल्पित /09

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

...क सम्पादक

...ति नारायण राय

...क

...पाल सिंह □ नमिता सिंह

...सम्पादक

...जय बिसारिया □ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

...सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव

...कार : वेद शर्मा, बीकानेर

...सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा

...कन : बिसारत अली

...कन : शंकरानन्द, खगड़िया (बिहार)
राघवेन्द्र तिवारी, श्रीगंगानगर (राज.)

...य हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 □ अक्टूबर, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com è vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; □ वार्षिक : 200/-; □ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- □ आजीवन : 2000/- □ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में

...क मंच/2

...नी बात/6

...को स्मरण करते हुए
...तानी की भावधारा/शंभुनाथ/10
...किस्म के मज़बूत नेता/गिरीश मिश्र/15
...स्वराज : गाँधी की भटकती आत्मा/देवी प्रसाद मौर्य/21
...स्वराज में प्रतिरोध की संस्कृति.../कन्हैया त्रिपाठी/26

...नी
...मतवारो माने नहीं/कामेश्वर पांडेय/30
...मोर में/सनत कुमार/42
...टी/सुशांत सुप्रिय/50

...देशांतर-सऊदी अरब की कहानी
...मुझे ख्वाब देखने का हक दो/फातिमा अल अतीबी/58

...के एक विस्मृत अध्याय की वापसी 'फारवर्ड ब्लॉक'/ अतुल कुमार/52

...पांकन-प्रसाद की पहली कहानी
...का कला कौशल/पुष्पपाल सिंह/55

...'मंदिर' और दलित/रत्नकुमार सांभरिया/60

कविता
कविताएँ/सुनीता जैन/17
कविताएँ/शैलेय/18
कविताएँ/सुरेंद्र काले/19
पोरबंदर/सुरेश सेन 'निशांत'/49
आखिर में/आकाश/59
कविताएँ/मदन केसरी/64
कविताएँ/कपिल कुमार/65

लघुकथा
नौकरी/प्रद्युम्न भल्ला/54

पहला-कदम : लेख
सौ दिन की सौगात/प्रज्ञा प्रियदर्शिनी/66

पुस्तक समीक्षा
आत्मकथा की कसौटी और दलित-साहित्य.../प्रेम शशांक/67
प्रखर परिवेश बोध का तथ्यपरक.../डा0 बनवारी प्रसाद शर्मा/68
मैं नदी की सोचता हूँ : बहुआयामी..../ज्ञानेंद्र विक्रम सिंह 'रवि'/70
काहे री नलिनी : एक सच ऐसा भी/ रवींद्र सिंह/71
लालित्य और पैनेपन की जुगलबंदी/नरेन्द्र तिवारी/72

सांस्कृतिक समाचार/74

समय संवाद
गांधीजी की शिक्षा नीति/कुँवरपाल सिंह/79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य' का अगस्त 09 अंक अपनी प्रस्तुत-सामग्री की दृष्टि से ऐतिहासिक रहा। कुँवरपाल सिंह की 'समय संवाद' के तहत व्यक्त चिंता ने वर्तमान शिक्षा पद्धति की दोषपूर्ण व्यवस्था की पोल खोल दी है। इसे पढ़कर यह विश्वास अत्यंत दृढ़ हुआ कि 'वर्तमान साहित्य' कला के साथ ही 'सोच' की भी पत्रिका है। प्रो0 कुमार पंकज द्वारा लिखित संस्मरण 'रंजिश ही सही...' अपनी रोचकता में पूर्व-प्रकाशित संस्मरणों की तरह ही है। मैथिलीशरण गुप्त पर मोहन नेपाली का संस्मरण भी पठनीय है। यश मालवीय के तीनों पद आधुनिक मनुष्य और उसके समूचे परिवेश के यथार्थ को रूपायित करते हैं। साथ ही श्री मालवीय ने यह साबित कर दिया है कि पुराने 'साँचे' में भी नई बात कैसे कही जा सकती है। हिंदी कहानियों के साथ ही सैयद मुहम्मद अफ़जल की लंबी उर्दू कहानी मन पर अमिट प्रभाव छोड़ पाने में पूर्णतया सफल है। समीक्षा, निबंध, कविता, ग़ज़ल, के साथ ही इस अंक में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाएँ एवं सांस्कृतिक समाचार आदि भी 'वर्तमान साहित्य' की सुखद स्थिति को सूचित करते हैं। नमिता सिंह की 'अपनी बात' वस्तुतः सबकी बात है। इस 'संपूर्ण' और 'सुंदर' अंक के लिए बधाई।

शशि कुमार सिंह, वाराणसी

अगस्त-09 के अंक में 'कैसे-कैसे लोग जिनसे रस्म-ए-वफा' (लेखक-सैय्यद मुहम्मद अफजल) बहुत अच्छी कहानी पढ़ने को मिली। इसमें व्यंग्य भी है और कहानी अपना पूरा प्रभाव बनाये रखती है। बहुत समय वाद एक स्तरीय कहानी पढ़ने को मिली। रेलवे की संपत्ति, पंखे, बल्व आदि की चोरी व अन्य बातें हैं जो कहानी में लगता है कि जैसे ये वास्तविक घटना हो। कविताएँ सभी अच्छी हैं। 'बुल्लेशाह की ज़मीन का फेरा' भी बहुत रोचक है। आशा है आगे भी स्तरीय रचनायें देकर वर्तमान साहित्य पत्रिका को और लोकप्रिय बनाये रखेंगे।

वी0पी0 उनियाल, देहरादून

अगस्त-09 की सभी रचनाएँ पाठक के सोच को झंकृत करने में सक्षम। 'कौशाम्बी की भारतीयता संबंधी इतिहास दृष्टि' में इतिहास की पर्तें खोलने में सफल लेख है। प्रमोद भार्गव की कहानी 'दहशत में बलुआ' में बलुआ तिल तिल छीजता है। स्वतंत्रता के पहले के हालात थे उससे आज बदतर हालात पैदा कर दिये गये हैं। कहानी की सफलता के लिये बधाई। कुँवरपाल जी के लेख सभी अंकों में पठनीय रहते हैं।

रामगोपाल भावुक, भवभूति नगर, खगड़ि

'वर्तमान साहित्य' का अगस्त 2009 अंक। आपका संपादकीय जीवन एवं सच से सीधा साक्षात्कार करता है। स्त्री-मुक्ति के प्र को उठाती 'बेटी की माँ का डर' कहानी आज के समय का यथ है। भले ही हम नितांत आधुनिक होने का दावा करें, लेकिन 'बेट के सवाल पर हमारी मानसिकता दकियानूसी ही है। 'रंजिश सही...' संस्मरण में कुमार पंकज ने शुकदेव सिंह को शिद्दत याद किया है। भाषा की चित्रात्मकता एवं मसखरापन चौंक करता है। वे काशी की विद्वत परंपरा को ठेठ इलाहाबादी ठ चुनौती देते नज़र आते हैं। संस्मरण लिखने में वे भविष्य के 'क कुमार जैन' हैं। वे इन संस्मरणों के माध्यम से बनारस साहित्यिक कब्रों पर माला-फूल चढ़ाकर 'मर्सिया' पढ़ रहे बहरहाल! 'प्रसाद और आकाशदीप' के बहाने पुष्पपाल सिंह जयशंकर प्रसाद की कहानी-कला की अच्छी पड़ताल की है। विमर्श के नये बिंदुओं की खोज करते हैं और पुनर्पाठ के नये प्रस्तावित करते हैं। पत्रिका का मुख पृष्ठ बेहद आकर्षक मनोहर है। 'शिक्षा में भ्रष्टाचार' के माध्यम से कुँवरपाल जी के पतन की बात उठाते हैं। वर्तमान समय एवं समाज में और नैतिकता की बात करना कुछ बेमानी-सा लगता है, फिर 'अलख जलाए रखिए।' हम आपके साथ हैं। आमीन !

डा0 आशीष कुमार, वार

'वर्तमान साहित्य' का अगस्त 2009 अंक। संपादकीय में गये सवाल और चिंता पर विस्तृत तौर पर बहस होनी चाहि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। लेकिन सिर्फ नकल के नाम प परिवर्तन कितना हितकारक होगा इस पर तो सोचना ही पड़ेग प्रमोद भार्गव की कहानी 'दहशत में बलुआ' बहुत अच्छी लग स्वतंत्रता के बाद जब जमींदारी प्रथा समाप्त हुई तो ऐसा लग कि खेतिहर, किसान मजदूर अब चैन से रहेंगे। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग सांसद, विधायक के रूप में गाँव में आज भी मौजूद है तथा कहानी के बलुआ की तरह सैकड़ों बलुआ उनके शोषण का शिकार हो रहे हैं। 'दहशत में बलुआ' आजकी वास्तविकता से रू-ब-रू कराती है।

'बेटी की माँ का डर' कहानी मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी है। अन्य लेख एवं कविताएँ भी प्रभावित करती है। इसके लिए आपको एवं वर्तमान साहित्य परिवार को बधाई।

आशा पांडेय, अमरावती

अपनी बात और समय संवाद में आप लोग अत्यंत सामयिक एवम् ज्वलंत मुद्दे उठा रहे हैं। अगस्त अंक में मोहन नेपाली का दद्दा पर मार्मिक संस्मरण पढ़कर अनायास ही मन चार दशक पूर्व के झाँसी के वातावरण में पहुँच गया। उन दिनों मुंशी देशराज वैद्य का आवास/ दवाखाना 'भारतीय साहित्य संगम' का कार्यालय और अनेक प्रकार की साहित्यिक/ सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र था। दद्दा की काव्य परंपरा को मुंशी जी जीवंत बनाए हुए थे। अत्यंत उत्साह का वातावरण था। ऐसा प्रतीत होता था चारों ओर काव्य की अविरल धार प्रवाहित होती रहती हो। वैसा वातावरण अब दुर्लभ है। नेपाली जी धन्यवाद के पात्र हैं।

सैय्यद मुहम्मद अफजल तथा जाफर मेहदी जाफर की कहानियाँ प्रभावी हैं। 'प्रसाद और आकाशदीप' में पुनर्परीक्षण जैसा कुछ नहीं, वह एक 'क्लासरूम-लेक्चर' ही लगा।

शिवजी श्रीवास्तव, 2, विवेक विहार, मैनपुरी

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक। अपनी बात के माध्यम से नमिता जी ने जगदीश चंद्र बोस की वैज्ञानिकता को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी वैज्ञानिकता निःस्वार्थ भाव से सेवा करने के लिए प्रेरित करती है। बोस ने भाषा के विषय में जो बात की वह अहम मुद्दा है। हमें अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान तो होना चाहिए लेकिन जब ये भाषा हमारे व्यवहार में आ जाए तो चिंतनीय होगा। इस विषय पर चिंतन करने की आवश्यकता है।

'वीरांवाली' और 'मुआवज़ा' दोनों ही अच्छी कहानियाँ हैं। रामबहादुर चौधरी व राजीव जैन की कविताएँ अच्छी लगीं। 'मूल्य और साहित्य' लेख के माध्यम से मृदुला जी ने ठीक कहा है कि पारिवारिक विघटन के कारण, विज्ञापन की दुनियाँ कितनी व्यापक हो गयी है, मीडिया किस प्रकार हमारे ऊपर हावी है और इसका प्रभाव समाज को कितना क्षतिग्रस्त करता है। 'समय संवाद' में पुरुषोत्तम अग्रवाल जी ने चुनाव संबंधी अवधारणाओं को उठाया है जो महत्त्वपूर्ण हैं। आज जनता इतनी तो जागरुक हो ही गयी है कि अब धर्म व जाति के नाम पर धोखा नहीं खा सकती।

विभाश्री, कानपुर

वर्तमान साहित्य' का जुलाई 2009 अंक। संपादकीय प्रभावित करता है। यह सत्य है कि योग्यताओं की कमी हमारे देश में नहीं है। यदि कोई कमी है, तो वह है आत्मविश्वास की। यह लिखते हुए मुझे कमलेश्वर की कहानी 'जार्ज पंचम की नाक' याद आ रही है। विजय बहादुर सिंह जी का लेख 'समकालीनता की सीमाएँ' उल्लेखनीय है। समाज की देखा-देखी आज साहित्यकार भी श्रेष्ठता के आधार पर वर्गों में विभक्त होते जा रहे हैं।

कहानियाँ सभी पठनीय हैं, किन्तु कमल कुमार की कहानी 'वीरांवाली' ने अधिक प्रभावित किया। इसने हाल ही में चर्चा में आई घरेलू नौकरानी बेबी हालदार के अथक परिश्रम, संघर्ष, लगन एवम् दृढ़ इच्छा शक्ति से प्राप्त लक्ष्यों की याद दिला दी। कहानी में वीरांवाली का साहस सराहनीय है।

जबरीमल्ल पारख का लेख 'प्रेमचंद की परंपरा' पढ़ा। साहित्यिक चिंतन के जो विषय आज बने हुए हैं, उन पर प्रेमचंद जी अपने समय में ही लेखनी उठा चुके थे, जैसे-सामाजिक विषमता, दलितों की अस्तित्व रक्षा का प्रश्न, उपभोक्तावाद का कुप्रभाव, आम संघर्षशील मनुष्य की जीविकोपार्जन की छटपटाहट एवम् धर्म, जाति, लिंग संबंधी उत्पीड़न आदि। रामबहादुर चौधरी जी की ग़ज़लें मन को छू गई हैं।

आरती त्रिपाठी, कानपुर-208023

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक पढ़ा। हर अंक में संपादकीय अंक उत्कृष्ट होने के साथ-साथ विचारणीय होता है। 'जगदीश चन्द्र बोस' को कौन नहीं जानता है?... उनके आविष्कारों से भी परिचित हैं। इन सबके बावजूद विदेशी व्यक्तियों, विदेशी वस्तुओं के पीछे आज भी अंधा-धुँध दौड़ लगा रहे हैं। बेहतर संपादकीय के लिए नमिता जी धन्यवाद की पात्र है। सभी प्रकाशित कहानियाँ अच्छी लगीं। 'वीरांवाली' ग़रीबी रेखा से नीचे जीने वालों की मार्मिक कहानी है।

राजनारायण की कहानी 'मुआवज़ा' दर्दभरी एवं संवेदनशील कहानी है जो पुलिस का कच्चा चिट्ठा खोलती है। 'शोकेस' तेलुगु कहानी भी काफी अच्छी लगी। ये 'हंगर कैफे' काश हर शहर, हर प्रांत में होता तो, अपना स्वाभिमान, आत्मसम्मान बेचकर किसी को भीख नहीं माँगनी पड़ती। ''आकाश पर मत थूको'' संजय कुमार की कहानी मीडिया के कई पहलुओं को उजागर करती है। सभी कविताएँ दिल को छूती हैं। पद्मा मिश्रा ने कविता के माध्यम से समाज को सामने रखा है।

माधुरी मिश्रा, जमशेदपुर (झारखंड)

'वर्तमान साहित्य' का जुलाई अंक, मुझे जून अंक जितना प्रभावशाली नहीं लगा। कहानियाँ ठीक-ठाक हैं। कविताएँ भी ठीक ही लगीं। उपन्यास अंश पढ़कर बहुत मज़ा आया। अनुवादित कहानी भी अच्छी है मग़र एक कहानी ने इस पत्रिका का समूचा मूल्य दो गुना कर दिया, वो है-''मुआवज़ा''। राजनारायण सही में बड़ी बधाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हक़दार हैं। साहित्य और समाज के प्रति चिंता के वीरेन्द्र जैन तथा सुंदर लोहिया के लेख ने पूरा किया। विजय बहादुर सिंह तो हमारे इधर भी आये थे। उन्हें पढ़ने और सुनने की लालसा तो हमेशा से ही रहती है। मृदुला गर्ग के लेख के कुछ बिंदुओं से मेरा विरोध है। वर्तमान साहित्य हमारे वर्तमान का दर्पण दिखाता रहे तथा इसे सुधारने का रास्ता हमें दिखाता रहे, यही आज की ज़रूरत है।

अजय 'माहताब', जमशेदपुर

'वर्तमान साहित्य' का जून-2009 अंक। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की हमारे नगर में अनुपलब्धता है। साहित्यिक पत्रिकाओं के नाम पर इस शहर में ले-देकर बस 'कादम्बिनी' मिला करती थी, सो वह भी पिछले कई महीनों से बुक-सैलर्स ने लानी बंद कर दी है। यहाँ स्थित पुस्तकालयों में भी स्तरीय पत्रिकाएँ नहीं मिलतीं।

जून-2009 अंक की समस्त कहानियाँ तथा समस्त काव्य-रचनाएँ उत्कृष्ट स्तर की रहीं हैं।

संतोष चौबे की 'अम्मा का रेडियो', 'जीवनवृत्त' बहुत अच्छी लगीं। भास्कर चौधुरी की 'कैंसर वाला बच्चा' भी बहुत भायी। वैद्यनाथ झा की रचना 'एक कली का बयान' तो बहुत अद्‌भुत रचना है। कहानियाँ एक से बढ़कर एक हैं। 'दही बाबा' और 'रूस में एक लेखक था' कहानियाँ सकारात्मक रुख की छाप छोड़ गयी। 'होमवर्क' ने हमारा ध्यान अबोध बच्चों की कथित पढ़ाई व होमवर्क के नाम पर किये जाने वाले उत्पीड़न की ओर आकर्षित किया, तो वहीं 'बैसनी दूँ' ने नसीब की मारी विधवा महिला पर हमारे समाज द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को अत्यंत मार्मिक तरीके से अभिव्यक्त किया है। 'काग़ज का हवाई जहाज' ने कुदरत के इस सिद्धांत को सिद्ध करने की कोशिश की कि जिसका नसीब ही खराब होता है उसके सारे काम बिगड़ते हैं। आपके संपादकीय तथा 'समय संवाद' बहुत सार-गर्भित लगे।

मुकेश कुमार 'निर्विकार', बुलंदशहर

'वर्तमान साहित्य' का जून अंक। आपकी पत्रिका समस्त हिंदी पाठक जगत के लिए अमूल्य धरोहर है। इसे इसी प्रकार आगे बढ़ाइएगा।

दण्डिभोट्‌ला नागेश्वर, विजयवाड़ा

सर्वप्रथम मेरा आभार, वर्तमान साहित्य के अंक निरंतर मिल रहे हैं। प्रत्येक अंक कुछ सोचने पर बाध्य करता है। आपने संपादकीय में, साहित्य के माफिया कहें या कि अधिनायकत्व की बात रेखांकित की है, इस कटु सत्य को हम सभी लेखन से जुड़े लोग अनुभव करते हैं। किंतु संभवतः ऐसा हर युग में होता रहा है तभी तो विवश होकर या कहें कि खीझ कर संस्कृत के महाकवि भवभूति को कहना पड़ा—

जायते हि मम कोऽपि समान धर्मा
कालो हि निरवधि विदुलश्च पृथ्वी।

इन्दिर राय, बंगलोर

जुलाई अंक के समय संवाद के परिघोष 'जनतंत्र के रखवाले साधारणजन को सलाम' पर यहाँ विशेष चर्चा चल रही है। वामपंथ की दुर्दशा चिंतनीय एवं दुखद है। बंगाल की त्रासदी पर वेबाद वर्णन ने स्तंभित कर दिया। ऐसा लिखना शौक नहीं मजबूरी ही कही जायेगी। आपने सर्जन का काम किया है। उम्मीद है कि इसे मार्क्सवाद को अमल लाने वाले अवश्य पढ़ेंगे और सबक लेंगे। बेगूसराय के संदर्भ में कहा जा सकता है कि यहाँ लड़ाई भूमिहार और ग़ैर भूमिहार की नहीं होती है। वामपंथ के प्रभाव से सभी दक्षिण पंथी एकजुट हुए और होते हैं। जातिवादी और संप्रदायवादी शक्ति के गठजोड़ का उम्मीदवार भाजपा समर्थित, जदयू के मोनाज़िर हसन थे और सीपीआई का उम्मीदवार वामपंथ का सर्वसम्मत था। यह बात अलग है कि जन्म से उनकी जाति भूमिहार भी है। यहाँ वामपंथ की राजनीति समाज के दलित और पिछड़ों को मुख्यधारा में लाने की रही है। भूमिसंघर्ष और सामाजिक उत्पीड़न के मुकाबले भूमिहार सामंतों से लड़ते हुए 127 जन्म से भूमिहार लेकिन विचार से साम्यवादी शहीद हुए हैं। इस लोकसभा चुनाव में सामंती माफियावादी, जातिवादी और संप्रदायवादी शक्तियों के नापाक गठबंधन से लड़ाई थी। यह लड़ाई आज भी जारी है।

राजेन्द्र राजन, सुचितायन, चाणक्य नगर, बेगूसराय

एक पत्र यह भी
'समय संवाद' पर कुछ बिन्दु

'वर्तमान साहित्य' के सितंबर-2009 के अंक में संपादक कुँवरपाल सिंह का समय संवाद-'उच्च शिक्षा में बंधुवा मजदूर' पढ़ा। शिक्षक दिवस पर यह 'समय संवाद' सटीक रहा, किन्तु इसे 'उच्च और तकनीकी शिक्षा में पैसे का खेल' तक सीमित कर दिया गया। बेहतर होता कि उच्च शिक्षा की दशा और दिशा पर सम्यक् विमर्श बिन्दु उठाये जाते।

'वैश्वीकरण, विशेषकर वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा के वर्तमान युग में 'यथावाद' से काम चलने वाला नहीं है। सरकारी तंत्र अपने बलबूते चुनौतियों का सामना करने में अक्षम हैं। यही वजह है कि केंद्र व राज्य सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य, ऊर्जा जैसे क्षेत्रों में पीपीपी यानी सार्वजनिक -निजी भागीदारी की ओर ठोस पहल कर रही हैं। उच्च शिक्षा में इसे लागू करने के लिये योजना आयोग के सदस्य नरेंद्र जाधव एक रिपोर्ट तैयार कर रहे हैं। निःसंदेह सरकारों ने निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया, जिससे उच्च व तकनीकी शिक्षा में संस्थान खुले, नयी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी, मेधा, प्रतिभा, बुद्धि को विकास के नये अवसर मिले। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि इन संस्थानों में [illegible] का खेल हो रहा है, क्यों कि निजी क्षेत्र मुनाफे के लिये ही [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदम बढ़ाते हैं। मोदी के 'कैश क्राप' विचारणीय हैं। लाल झंडे ने कानपुर को 'उद्योग-कब्रगाह' बना दिया। यदि इनमें शिक्षा केन्द्र खुल जाय तो क्या हर्ज। एशिया में सबसे बड़ा डी0ए0वी0 कालेज, कानपुर का छात्रावास अपराधियों की शरण स्थली बन गया। शासन ने इसे बंद करने की अनुमति दे दी। इस छात्रावास में आस-पास जिलों के ही नहीं, दूसरे राज्यों के छात्र रहकर पढ़ते थे। इनमें भूतपूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी व उनके पिता भी थे, जो एक साथ पढ़ते थे। छात्रावास को पुनः खुलवाने के लिये दो दशक तक आंदोलन चले, शासन में कई प्रस्तावों पर विचार हुआ, किन्तु हुआ कुछ नहीं, छात्रावास दिनों-दिन जर्जर होता गया, अवैध कब्जों की भरमार हो गयी, अंत में प्रबंध-तंत्र ने चुनौती भरा कठोर फैसला लिया और छात्रावास में महिलाओं व छात्राओं का छात्रावास खोल दिया। अब इस छात्रावास में खुशनुमा माहौल है। हर साल यहाँ हजारों छात्राएँ व कामकाजी महिलायें रहकर अपने लक्ष्य पर बढ़ रही हैं।

जहाँ तक निजी क्षेत्र के कालेजों में सामान्य व्यक्ति के न पढ़ने की सोच है, उसमें भारी बदलाव आया है। सरकारी छात्रवृति और एक लाख से कम आय वालों के लिये मुफ़्त शिक्षा ने सामान्य छात्रों के लिए इन कॉलेजों के द्वार खोल दिये हैं। अब इन कालेजों की सौदेबाजी भी कम हो गयी है। कॉलेजों की इतनी भरमार हो गयी है कि सीटें भरने के लाले पड़े हैं। 'डोनेशन' का जमाना लदने जा रहा है। यूपीटीयू के कालेजों की हजार सीटें खाली रह गयीं, जिस कारण 9 सितंबर से विशेष काउंसलिंग करानी पड़ी।

'शिक्षकों को बंधुआ मजदूर' बनाने का मामला गंभीर है, इस पर कड़ाई होनी चाहिये। विचारणीय बिन्दु यह भी है कि क्या इन कालेजों में फैकल्टी योग्य है। हालात तो यह हैं कि बीटेक, बीटेक को पढ़ा रहा है, एम0एस-सी0, बीटेक को पढ़ा रहा है। न केवल इन कालेजों में बल्कि सरकारी कालेजों में भी योग्य शिक्षकों का घोर अभाव है। उन पर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल टी0वी0 राजेश्वर सरीखे लोग इस पर चिंता जता चुके हैं। आईआईटी के रजत जयंती समारोह का उद्घाटन करते हुए नारायण मूर्ति ने शिक्षकों को बेहतर सुविधायें व वेतन देने की वकालत की। कारण स्पष्ट है मेधावी छात्र-छात्रायें शिक्षा ग्रहण करने के बाद शिक्षा को नहीं कारपोरेट जगत को चुन रहे हैं। कारपोरेट जगत में जो सुविधाऐं हैं वह सरकारी और ग़ैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं में कहा रखी हैं। अलबत्ता योग्यताधारी शिक्षक निजी क्षेत्र में पिस रहा है, जहाँ वह मेहनत करता है और कम वेतन पाता है, जिसे आप बंधुवा मजदूर की श्रेणी में रख सकते हैं। वहीं योग्यताधारी शिक्षक सरकारी व सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं और विश्वविद्यालयों में 'न' के बराबर मेहनत करता है और मोटी-मोटी तनख्वाह पाता है। यही बजह है कि ये डिग्री शिक्षक आमजन की तीखी आलोचना के केन्द्र में रहता है। यह कहते सहज सुना जा सकता है कि 80-80 हजार तनख्वाह पाने वाले शिक्षक पढ़ाते नहीं हैं। ठीक ऐसी हालत हुई माध्यमिक विद्यालयों की है। निजी क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालय, जिन्हें स्ववित्तपोषी भी कहा जाता है, लगातार प्रगति कर रहे, उनके परीक्षाफल उत्कृष्ट होते हैं, यहाँ प्रवेश के लिये मारा-मारी होती है, यहाँ के शिक्षक 7 से 8 घंटे तक मेहनत करते हैं और वेतन पाते हैं सूखी रोटी का। वहीं सहायता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय बंद होने की कगार पर पहुँच रहे हैं, जहाँ के शिक्षक 'न' पढ़ाने के लिये विख्यात हैं, वेतन दोनों हाथ से बटोरते हैं। इन विद्यालयों की छात्र संख्या तेजी से घटने पर राज्य सरकार ने हजारों शिक्षकों को फालतू घोषित करके उनके समायोजन का फैसला लिया है। इससे शिक्षकों में हाय-तौबा मची है। अब शिक्षक नेता 'पढ़ाओ-पढ़ाओ' की गुहार लगाने लगे हैं। यह स्थिति डिग्री कॉलेज के लिये सीधी चुनौती है।

जहाँ तब कोचिंग मंडियों का सवाल है, हर माँ-बाप अपने बेटे को डॉक्टर, इंजीनियर, एक्जीक्यूटिव बनाना चाहता है, फिर इन क्षेत्रों में अवसर बढ़ने से लाभ क्यों न उठाया जाय। जब शिक्षण संस्थाओं में इनकी शिक्षा नहीं मिलेगी, तो कोचिंग का सहारा लेना ही पड़ेगा। प्रतिस्पर्द्धा के कारण कोचिंग में पढ़ाई होती है और वे कमोवेश अपना परीक्षाफल सार्वजनिक भी करते हैं। निजी विश्वविद्यालयों पर चोट करने से पहले सोचना होगा कि क्या चंद केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़कर शेष की दशा अनुकूल है। छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर में एक पूर्व कुलपति ने करोड़ों खर्च करके विभिन्न संकायों की आलीशान इमारतें बनवायीं, विश्वविद्यालय को चमका दिया, किंतु अकादमिक में अयोग्य शिक्षकों को रखा गया। उत्कृष्ट शिक्षा के अभाव में आलीशान संकाय प्राणहीन हो गये। नैक ने इस चकाचौंध व इंटरनेशनल गेस्ट हाउस वाले विश्वविद्यालय को 'बी' श्रेणी का दर्जा ही दिया। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश आदि के छात्र-छात्राओं को अच्छी शिक्षा के लिये दिल्ली, दक्षिण राज्यों व विदेशों तक जाना पड़ता है। वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा के युग में हम इसे यूँ ही नहीं रोक सकते हैं, इसके लिये हमें विश्वस्तरीय शिक्षा-सुविधा के लिये कदम बढ़ाने पड़ेंगे। इसमें उन शिक्षकों की भूमिका अहं होगी, जो अपने अध्यापन को खरा बनाने के लिए तत्पर होंगे।

डा0 रमेश वर्मा, सिविल लाईस, कानपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

गांधी और प्रेमचंद में एक समानता है। दोनों ही उत्पीड़ितों और शोषितों के पक्ष में सदैव खड़े दिखाई देते हैं, एक राजनैतिक स्तर पर और अपने सामाजिक जीवन में तो दूसरा साहित्य जगत में रचना कर्म के स्तर पर। विश्व समुदाय में गांधी एक विभूति के रूप में हैं तो प्रेमचंद संभवतः एकमात्र भारतीय साहित्यकार हैं जिनकी कृतियाँ क्लासिक की श्रेणी में प्रतिष्ठित हैं। अक्तूबर माह में हम दोनों का स्मरण करते हैं।

प्रेमचंद की पुण्यतिथि के अवसर पर रत्न कुमार सांभरिया ने प्रेमचंद को उनकी कहानी 'मंदिर' के प्रसंग में स्मरण करते हुए अपने निष्कर्ष दिये हैं। सांभरिया जी विचारवान और गंभीर लेखक हैं। मैं उनका लिखा हमेशा बहुत ध्यान से पढ़ती हूँ। लेकिन इस अंक में उनके लेख के निष्कर्षों से कुछ लोग सहमत होंगे तो बहुत से लोग असहमत होंगे।

दरअसल हमारी संस्कृति में या तो नायक होते हैं या खलनायक। इस मानव समाज के हमारे पात्र अगर नहीं होते तो मनुष्य नहीं होते। गुण दोष के आकलन में देवता और दैत्य इन्हीं के बीच वर्गीकरण होता है। विजेता राम अपनी वर्णाश्रमवादी ब्राह्मण संस्कृति में नायक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं तो पराजित रावण खलनायक के रूप में दुष्टता का प्रतीक बन जाता है। वहीं दूसरी ओर द्रविड़ संस्कृति में आक्रमणकारी राम खलनायक है तो शूरवीर बलिदानी रावण अपनी समस्त नैतिकता के साथ नायकत्व के पद पर प्रतिष्ठित है। ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ़ हिन्दुस्तान की जनता के स्वतंत्रता आंदोलन की नेतृत्वकारी भूमिका में आगे खड़े गांधी को जनता ने महात्मा कहा तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चित ने 'नंगा फ़कीर' कह कर मिलने से इंकार कर दिया था। उसी गांधी के अंग्रेज़ मुरीदों की संख्या अनगिनत है। गांधी का अहिंसा का दर्शन आज की दुनियां में ईसा की तरह उत्पीड़ितों के प्रतिरोध का मार्गदर्शक बन गया है। उनका जीवन-दर्शन आज विश्व में अकादमिक अध्ययन का एक विषय है।

प्रेमचंद आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के नींव के पत्थर के रूप में हैं। उन्होंने विपुल साहित्य रचा। उपन्यास लिखे। उस वक्त तक आख्यायिका के रूप में मौलिक कहानियाँ लिखी जाने लगी थीं। उन्होंने कहानियां लिखीं। वैचारिकी के रूप में भी उनका अथाह लेखन है। प्रश्न ये है कि उनके अनेक समकालीन थे। उन्हें वह स्थान या प्रतिष्ठा प्राप्त क्यों नहीं हुई। कैसे उन्होंने एक परंपरा का निर्माण किया जिस पर आज भी लगातार बातचीत हो रही है। क्या कारण है कि आज भी सबसे ज़्यादा पुस्तकें हिन्दी में जिस लेखक की बिकती हैं उसका नाम प्रेमचंद है। सबसे ज़्यादा जो लेखक विश्व की लगभग सभी भाषाओं में अनूदित हुआ है उसका नाम प्रेमचंद है। यह किसी साजिश के तहत नहीं है। साजिश होगी तो अपने घर में हो जायेगी। कुछ समय के लिये हो जायेगी। मृत्यु के इतने वर्षों बाद भी ?

कारण है कि प्रेमचंद ने कथा साहित्य में नई ज़मीन तोड़ी। अपने समय की परिवर्तनकारी सामाजिक शक्तियों को पहचान कर उनके साथ पूरी निष्ठा और विश्वास के साथ खड़े हुए। ये बदलाव राजनैतिक स्तर पर थे और उतने ही तीव्र सामाजिक स्तर पर भी थे। साधारणतः राजनैतिक स्तर पर होने वाली उथल-पुथल और परिवर्तनकारी शक्तियाँ सामाजिक अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के बदलाव का कारण बनती हैं लेकिन मानसिकता के स्तर पर यह बदलाव की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है। हमारा आचार-विचार और व्यवहार हमारी मानसिकता से संचालित होते हैं। लेकिन यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि सामाजिक अधिरचना का प्रभाव हमारे सोच पर; हमारे विचारों पर भी पड़ता है जो धीरे-धीरे मानसिक बदलाव की ओर प्रेरित करता है।

प्रेमचंद का समय वह है जब राष्ट्रीय आंदोलन अपने उत्कर्ष पर था। गांधी का करिश्माई व्यक्तित्व देश के कोने-कोने से लोगों को उनके पीछे लामबंद होने के लिये प्रेरित कर रहा था। गांधी के स्वदेशी आंदोलन, मद्य निषेध, चरखा, सविनय अविज्ञा... आंदोलन स्वतः संचालित हो रहे थे। गांधी का एक कौल और पीछे से करोड़ों स्वर। इनमें हर वर्ग के लोग थे, नौकरी पेशा, वकील, अध्यापक, नौजवान, किशोर, स्त्रियाँ, किसान, मज़दूर, विद्यार्थी...। ब्रिटिश राज्य अचंभित था। उसे इस प्रतिरोध का ओर-छोर ही समझ नहीं आता था।

इस मुक्ति संग्राम का यह अकेला राजनैतिक आयाम नहीं था। दलित मुक्ति की जद्दोज़हद भी एक प्रतिरोध की रणभूमि निर्मित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही थी। दलितों और स्त्रियों के कारा के बंधन तो मानो
क विकास और संपन्नता के इतिहास के साथ ही निर्मित
दे और लगातार कसते ही गये। किसान-मजदूर उपनिवेशवाद
र्मम चक्की में पिसकर त्राहिमाम् कर रहे थे। महाराष्ट्र में
ज्योबा फुले ने जो मशाल प्रदीप्त की थी उसके अगले दस्ते के
क के रूप में बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर ने मानो युद्ध का
कर दिया था। इस वर्णवादी ब्राह्मण संस्कृति में शताब्दियों
पर लाद दिये गये गुलामी के जुए को उतार फेंकने के लिए
संकल्प, जिसने समाज के एक बड़े भाग की आबादी को
वरों से भी बदतर हालत में जीने के लिये विवश किया था।

इस पूरे मुक्ति आंदोलन में धर्म की क्या भूमिका थी। तिहासिक काल से ही मानव जीवन जिस भय, आशंका और न से जूझता रहा उसने धार्मिकता की अवधारणा को जन्म ा। अनदेखे का भय, अनजानी शक्ति द्वारा संचालित प्राकृतिक याँ, आपदाएँ और दुर्घटनाओं के साथ कल्पना का समावेश और तकूल परिस्थितियों के लिये तीव्र इच्छा ने अंधविश्वासों और ाधिक कर्मकांडों को भी निर्मित किया। हर धर्म ने अपनी-अपनी ने इस संसार की उत्पत्ति की कल्पना की। जाहिर है कि इस ल्पना में भी मनुष्य का अपना ही प्रतिरूप था; उसका अपना ही ार और इच्छा, अनिच्छाएँ और अनुभव थे। लेकिन हर धर्म ने ी अपनी तरह से यह कल्पना की कि संसार पर कुछ अति लौकिक तत्वों का अधिकार है और यह अतिमानवीय शक्तियाँ ही ार की गतिविधियों को संचालित करती हैं।

जैसे-जैसे ज्ञान का विकास होता गया, वैज्ञानिक समझ ीकृत होती गयी, धर्म संबंधी अंधविश्वास और कल्पना ारित मान्यताएँ क्षीण होती गयीं। ज्ञान मनुष्य को चेतना संपन्न ाता है। ज्यों-ज्यों वह अपने चारों ओर के वातावरण के तथा ने प्रति ज्ञान अर्जित करता है उसमें विश्वास और शक्ति का ार होता है। अज्ञान और नासमझी से भय और कमजोरी पैदा ती है।

लेकिन धर्म के संगठित रूप ने सदैव वर्चस्ववादी व्यवस्था ोषित की। विशेष रूप से सामंती समाज में यह वर्चस्वादी व्यवस्था ने ज्यादा मजबूत हुई। धार्मिक संस्थाओं ने सदैव अधिनायकवादी व्यवस्था का साथ दिया और शोषक वर्ग के हाथ मजबूत किये ने अपना-अपना हित साधा।

दिलचस्प है कि धर्म केवल शोषण और उत्पीड़न का हथियार ी रहा है। उत्पीड़ितों ने भी धर्म को अपना प्राणदाता, अपना ाणदाता समझा है। ईश्वर की कल्पना उनके लिये भी बचावनहार रूप में है। प्रत्येक समाज में धर्म की जड़ें उसकी विकास यात्रा स्मृति के समान गहरी हैं। समाज के ऐतिहासिक विकास के ाथ ही मानव निर्मित धार्मिक विश्वासों का इतिहास भी है। ार्क्सर ने कहा कि मज़हब होशियार पुरोहितों का जाल है जिन्होंने ग की अज्ञानता का इस्तेमाल कर अपना वर्गहित साधा तथा लोगों पर शासन करने का नया तरीका ईजाद किया। ऐंगिल्स ने भी विचारणीय तरीके से ठीक ही कहा कि धर्म आज सभ्य मानव जाति के अधिकांश मानव समूहों पर शासन कर रहा है इसलिये इसे इतनी आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता। जब तक लोगों को धर्म की उत्पत्ति का इतिहास तथा वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जिनमें वह प्रभुतापूर्ण वर्चस्ववादी स्वरूप पर पहुँचा, इसका ज्ञान नहीं करा दिया जाता, तब तक उसे खारिज नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक शक्तियाँ (जब वे अज्ञानता के कारण समझ से परे होती हैं) देवताओं का रूप धारण कर लेती हैं और आर्थिक शक्तियाँ भाग्य के रूप में स्वीकृत हो जाती हैं जिसके नियंता ग्रह-नक्षत्र मान लिये जाते हैं। इसीलिये मार्क्स ने कहा कि "धर्म उत्पीड़ित प्राणी की आह है। हृदयहीन दुनियाँ का हृदय है, उसी तरह जिस तरह कि किसी आत्मा विहीन स्थिति की वह आत्मा है। वह जनता के लिये अफीम है।"

प्रेमचंद की 'मंदिर' कहानी की विवेचना के लिये यह पृष्ठभूमि आवश्यक है। सबसे पहली बात ये है कि प्रेमचंद अगर नास्तिक नहीं हैं तो परंपरागत तरीके के आस्तिक भी नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे धार्मिकता और पाखंड के खिलाफ हैं (प्रेमचंद घर में : शिवरानी देवी)।

प्रेमचंद उदारवादी थे। प्रारंभ में गांधीवाद के प्रभाव में दीखे। एक सचेत लेखक के रूप में उन्होंने अपने समय की सभी आंदोलनकारी शक्तियों को पहचाना और उन्हें लेखन का विषय बनाया। वे किसानों, मजदूरों के आंदोलनों से जो उग्र से उग्रतर हो रहे थे, प्रभाव ग्रहण किया। वे रूस की किसान-मज़दूरों की क्रांति से भी बहुत उत्साहित थे। वे समाज में स्त्रियों की विशेषरूप से पढ़ी लिखी स्त्रियों की भूमिका से भी बहुत प्रभावित थे। दलित आंदोलन के उत्कर्ष से उत्पन्न नई परिवर्तनकारी शक्तियों को भी वह पहचान रहे थे और भविष्य में उनके सामाजिक न्याय और अधिकार की लड़ाई को सकारात्मक रूप में देख पा रहे थे। मूलतः वे वंचितों और जनसाधारण के संघर्षों के साथ थे। उत्पीड़ितों, शोषितों के प्रति गहरी संवेदना ने उनकी लेखनी को नयी राह दिखायी दी जिस राह पर अब तक उनसे पहले किसी अन्य लेखक ने कदम नहीं रखे थे।

यही संवेदना उनकी कहानियों में चाहे वह 'मंदिर' हो, 'सद्गति हो', 'ठाकुर का कुआं' हो, 'कफ़न' हो या अनेक ऐसी अन्य कहानियाँ हों। इन सभी में प्रेमचंद का उद्देश्य उस सामंती सोच और ब्राह्मणवादी पुरोहित वर्ग के प्रति जो बेहद असंवेदनशील है और अमानवीय है आक्रोश निर्मित करना है और वे इसमें सफल होते हैं। इसीलिये उन्हें ब्राह्मण विरोधी और घृणा का प्रचारक कहा गया।

दूसरा बिंदु उस आलोचना का है कि प्रेमचंद सुखिया को धार्मिकता के आवरण में रंगते हैं। प्रेमचंद नहीं रंगते। वह समाज की यथास्थिति का वर्णन करते हैं। फिर मार्क्स को उद्धृत करना होगा कि 'धर्म उत्पीड़ित की आह है। उसकी अफीम है।' ऐसा न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता तो दुक्खी पंडित के पास साइत पूछने न जाता और 'सद्गति' को प्राप्त न होता। लेखक अपने चरित्र समाज से, अपने चारों ओर से ग्रहण करता है। उसका मंतव्य उसकी रचना के मूलभाव से निकलता है। इस कहानी का मूलस्वर उस पुरोहित वर्ग की हृदयहीनता और हिन्दू समाज की धार्मिकता के खोखलेपन और अमानवीयता की ओर इंगित करना है।

निर्धनता और बेबसी ऐसे ही धर्म आधारित निदानों की ओर ले जाती है। गाँव देहात में, आदिवासी समाज में झाड़-फूंक, टोना-टोटका से इलाज का कारण केवल अंधविश्वास ही नहीं है। उनकी गरीबी है, स्वास्थ्य चिकित्सा के साधनों तक उनकी पहुँच का न होना है। पैसा और सुविधा हो तो कौन मां अपने बीमार बच्चे को डाक्टर के पास न ले जाना चाहेगी। अंधविश्वास और ईश्वर का भय भी अज्ञानता के साथ-साथ मजबूरी और बेवसी से उत्पन्न होते हैं। आज का कोई ब्लैक मार्केटियर, रिश्वत खोर भ्रष्ट नेता-अफसर या प्रेमचंद कालीन (उनके उपन्यास, कहानियों का) कोई सूदखोर, महाजन..., वह अपने बीमार बच्चे को मंदिर न ले जायेगा। साधन है तो सब कुछ है। प्रेमचंद उस गरीब, अनपढ़, दबी-कुचली सुखिया में हाथों में क्रांति की मशाल थमा देते, फिर वह मंदिर के सामने खड़े होकर क्रांतिकारी भाषण देती... यह एक झूठी काल्पनिक कहानी की अपेक्षा प्रेमचंद समाज की हृदयहीनता की यथार्थ तस्वीर सामने रखते हैं। यथार्थ का उद्घाटन और अन्याय के प्रति संवेदनशील बनाना भी कम क्रांतिकारी काम नहीं है। इसी धार्मिक बंधन को सामाजिक बेड़ी के रूप में अंबेडकर ने पहचाना था और घोषणा की थी, हिन्दू धर्म को त्यागने और लोकायतवादी बौद्धधर्म अपनाने की। अंबेडकर के बाद क्या हुआ। कितनों ने हिन्दू धर्म त्यागा? आज सबसे ज़्यादा कर्मकांड दलितों के बीच दिखाई देता है। जिस धर्म के आधार पर शताब्दियों तक वो दलित वर्ग सामान्य मानवीय जीवन से भी वंचित रहा, मौका मिलने पर सबसे पहले उसी को वे और तीव्रता से अंगीकार कर रहे हैं तथा पाखंडी धार्मिक समूहों के साथ अपनी पहचान बना रहे हैं। धार्मिक कर्मकांड और सनातन हिन्दू धर्म की अमानवीयता और पाखंड के खिलाफ आर्य समाज के दयानंद सरस्वती ने ऐलान किया था कि मेरा बस चले तो मैं समस्त मूर्तियाँ उठाकर गंगा में प्रवाहित कर दूँ... उनके अनुयायी आर्य समाजी हिन्दू धर्म के कर्मकाण्डों, रस्मों में, व्रत-त्यौहारों, अनुष्ठानों में आज सबसे आगे हैं। वे जो मानते थे कि वेदों में ही समस्त जीवन दर्शन निहित है, और जो मूर्ति पूजा के विरुद्ध थे, राममंदिर आंदोलन में अग्रणी पंक्ति में पाये गये।

पूर्णरूपेण अधार्मिकता के पक्षधर केवल वामपंथी ही हो सकते हैं क्योंकि मानव समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम का ज्ञान, प्राकृतिक शक्तियों की वैज्ञानिक व्याख्या और सामाजिक शक्तियों की उत्पत्ति, उनका विकास और उनके परस्पर अंतः संबंधों का ज्ञान उन्हें इस संसार और समाज की वास्तविकता का ज्ञान करा देता है। इसके बावजूद एक और आयाम है-संस्कार! परंपरागत चली आ रही सोच और व्यवहार पद्धति। इसलिये समस्त ज्ञान के बावजूद अपने जन्मना संस्कारों से संघर्ष करना भी उतना ही ज़रूरी होता है। यह बहुत आसान नहीं है। इसके लिये सचेतन रूप से निरंतर प्रयास करने की जरूरत है, खुद से लगातार लड़ने की ज़रूरत है।

दलित वर्ग के बुद्धिजीवी इस बात को शिद्दत से महसूस करते होंगे कि वह धर्म की अधर्मकारी भूमिका ही थी जिसने युगों-युगों तक उन्हें अमानवीय शोषण और अपमान सहने के लिये मजबूर किया। हमारे कितने दलित लेखकों ने इस शोषणकारी धार्मिक व्यवस्था को तिलांजलि देने की अथवा उससे संघर्ष करने की कोशिश की ? इसकी जगह पर अब एक नयी प्रवृत्ति देखी गयी है कि धार्मिक सांप्रदायिकतावादी संघर्षों में उन्होंने सदैव सांप्रदायिक शक्तियों का साथ दिया, उनके हाथ-पैर बने। हमने अपने शहर अलीगढ़ में देखा है। हाल फिलहाल 2002 में गुजरात में हुए सांप्रदायिक नरसंहार के दौरान देखा है। जहाँ तक संस्कारों से लड़ने की बात है, आज भी हमारे बहुत से कम्युनिस्ट साथियों को बनियाइन के भीतर जनेऊ दिखाई दे जाता है। बाहर भाषण देने की बात अलग है। भीतर उनके घर में भी कर्मकांड होते हैं। इस पर उनका भोला सा जवाब होता है कि बच्चों को तो मना नहीं किया जा सकता-या कि घर में वे हस्तक्षेप नहीं करते ? दिलचस्प है। समाज को बदलने की इच्छा तो है लेकिन अपने एक घर को ही नहीं बदल पाते।

फिर उसी बात को दोहराना चाहूँगी कि प्रेमचंद कहीं भी अपने आपको वामपंथी नहीं कहते। वे एक विचारवान, संवेदनशील लेखक हैं। समाज की दुर्दशा, शोषितों की दुर्दशा, किसान मजदूर के सवाल, उनके आंदोलन... उनके सरोकार हैं, उनकी सामाजिक चिंताओं का हिस्सा हैं। वे भविष्यदृष्टा के रूप में आने वाले समय को देख रहे हैं। कोई भी लेखक अपने सोच, अपने विचारों, अपने सरोकारों और लेखनी की तेजी से बड़ा होता है।

'मंदिर' कहानी में एक बिंदु जरूर आलोचना योग्य है और वह निश्चय ही प्रेमचंद की असावधानी है। उन्होंने जो वर्णन किया है कि सुखिया एक हाथ में बच्चे को लिटाये हुये है, दूसरी हाथ में पूजा की थाली है तो फिर कैसे वह मंदिर का ताला तोड़ सकती है।

एक ही घटना दो वर्गों में कैसे भिन्न तरीके से प्रभाव डालती है। बिहार में भूकंप आया। गांधी ने कहा कि बिहार के लोगों ने अछूतों को मंदिर प्रवेश नहीं करने दिया और पाप किया इसीलिए वहाँ भूकंप आया है। इसके बरक्स वर्णाश्रम स्वराज्य संघ वालों ने गांधी को कोसते हुए कहा कि अछूतों को मंदिर प्रवेश कराने के पाप के कारण बिहार में भूकंप आया।

इसलिये विनम्रतापूर्वक कहना है कि धर्म की व्याख्या इतनी आसान और सीधी लकीरों में चलने वाली नहीं है। बहुत जटिल प्रक्रिया है। अधिसंख्य समाज धार्मिक आस्थाओं के साथ जीता है। आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ बदलने वर्गांतरण हो जाता है। भारतीय संदर्भों में एक सीमा तक सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनैतिक अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आर्थिक संपन्नता के साथ आज वर्णांतरण भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का एक हिस्सा बन रहा है। लेकिन पूरी संभावना भी है कि यह रूपांतरण फिर उसी धार्मिक वर्चस्ववाद का हिस्सा बन जाये जिससे कभी किसी स्तर पर संघर्ष किया गया था।

इसलिये किसी रचना का मूल्यांकन देशकाल, परिस्थितियों के संदर्भ में होता है। अस्सी-नब्बे साल पहले लिखी गयी यह रचनायें अपने समय के समाज की स्थितियों को दर्शाती हैं। रचना के बाद कौन सा भाव पाठक ग्रहण करता है यह मुख्य बात है। प्रगतिशील लेखक संघ का स्थापना अधिवेशन 1936 में हुआ था। प्रेमचंद के उद्घाटन भाषण के साथ शुरू हुए उस सम्मेलन में भाग लेने वाले लगभग सभी लेखक उर्दू के थे। नौजवान जैनेन्द्र प्रेमचंद के साथ आये थे लेकिन उन्होंने घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये। उससे पहले 1932 में 'अंगारे' में जब सज्जाद ज़हीर, अहमदअली और मुजफ़्फर अहमद के साथ रशीदजहाँ की कहानियाँ छपीं तो इतनी हायतौबा मची कि किताब ज़ब्त हो गयी। डा0 रशीदजहाँ के नाक-कान काट लेने का फ़तवा जारी हुआ। उस समय केवल प्रेमचंद थे (हिन्दी लेखकों में) जिन्होंने उनकी हौसला अफ़जाई की थी और कट्टरपंथी ताकतों से संघर्ष के लिये एकजुटता का इज़हार किया। प्रगतिशील लेखक संघ के अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने साहित्य के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए उसे शोषित, पीड़ित जनता की आवाज़ बनाने की बात कही और कहा कि इस नये जनता के साहित्य का नया सौंदर्य शास्त्र गढ़ने की ज़रूरत है।

प्रेमचंद मध्यवर्गीय लेखक थे। उनके अपने अंतर्विरोध भी थे। ये अंतर्विरोध विचार और व्यवहार में भी थे और सोच के स्तर पर भी थे। वैचारिक अंतर्विरोध किसी सचेतन और सक्रिय लेखन की बाधा नहीं बनते बल्कि अंतर्विरोधों की टकराहट से नये विचार बनाते हैं, नये रास्ते निर्मित होते हैं। प्रेमचंद निरंतर अपनी ही सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं इसलिये उनका साहित्य सतत् प्रवाहमान है, नये क्षितिज तलाशता है, लगातार नयी भावभूमि निर्मित करता है।

साहित्य का मूल्यांकन समग्र रूप में होता है। लेखक का समय, तत्कालीन परिस्थितियों के साथ ऐतिहासिक क्रम में उसका विश्लेषण ही सही मूल्यांकन निष्कर्ष दे सकता है। और फिर कि पूरी रचना अंततः क्या पाठकीय भाव निर्मित करती है.... क्या समग्र प्रभाव है। अगर यह समाज विरोधी, नकारात्मक है तो निश्चित ही रचना कूड़ेदान में डालने वाली है। वर्ना बाल की खाल और अपने पूर्वग्रहों के आधार पर निष्कर्ष देना सिर्फ सोशा उछालना है।

वैश्वीकरण के इस दौर में आज आस्थाएँ, मूल्य, साहित्य और सरोकार बाजार की वस्तु बन रहे हैं। बिक्री हेतु विज्ञापन की तड़क-भड़क और हरदम एक नया ऐंगिल जरूरी हो जाता है। ऐसे में ऐसी समीक्षाएँ और विश्लेषण या तो फैशन के तहत है या प्रचार का साधन है। इस प्रभाव से अपने को बचा पाना अक्सर मुश्किल होता है।

1990 के आसपास एक ज़माने में जब राममंदिर आंदोलन की तैयारी चल रही थी, एक नारा बहु प्रचारित किया गया, 'गांधी नहीं गोडसे चाहिये।' हमारे शहर में भी दीवारें इस नारे से रंगी हुई थीं। उसी दौरान मैं बस से आगरा जा रही थी। जैसे ही बस चली, एक सुदर्शन हट्टा-कट्टा नौजवान चढ़ गया और सामने, ड्राइवर की सीट के पास खड़ा होकर लोगों की ओर मुख़ातिब हो गया। तीन घंटे की यात्रा के दौरान वह लगातार भाषण करता रहा कि गांधी कितना खराब आदमी था कि उसने देश का बेड़ा गर्क कर दिया, कि गोडसे कितना महान था... चलती बस का शोर और लगातार उसमें उस नौजवान का चिल्ला चिल्लाकर बोलना... मैं उसकी शारीरिक क्षमता की कायल हो रही थी। मैंने चारों और देखा कि शायद कोई उसका प्रवचन गंभीरता से सुन रहा हो... मैं निराश ही हुई। मेरे आगे सीट पर दो ग्रामीण बैठे थे। एक ने दूसरे से पूछा-

—ताऊ, जे का कह रहो है इत्ती देर से

—का पतो... कहन दो.... जे अपना काम कर रहो है... और वे अपनी बातों में मशगूल हो गये।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदुस्तानी की भावधारा

शंभुनाथ

'हिंदुस्तानी' की अवधारणा ने एक खास जमाने के लोगों को एक साझी राष्ट्रीय अस्मिता का मार्ग दिखाया था, हालांकि हिंदुस्तानी आदमी की एकसाथ कई पहचानें हैं। वह कभी अपने धर्म से पहचाना जाता है, कभी अपनी जाति-बिरादरी से और कभी जनपद या बोली से, कभी लिंग और पेशे से। उसमें कई पहचानें पर्त्त-दर-पर्त्त होती हैं। फिर भी एक समय उदार हिंदुस्तानी अस्मिता ही उसकी मुख्य पहचान थी। हिंदू राष्ट्रवाद और मुस्लिम राष्ट्रवाद के राजनीतिक खेलों के बीच यह एक बड़ी सांस्कृतिक घटना है। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के असर में उपर्युक्त अवधारणा हिंदी क्षेत्र के आम जीवन में यथार्थ में ढलने लगी थी। आज भले सत्ता की राजनीति की वजह से हिंदुस्तानी अस्मिता विघटन के दौर में है।

इसमें संदेह नहीं कि भारत के विशाल हिंदुस्तानी क्षेत्र की अस्मिताएं चंचल हैं। आदमी को अस्मिता की दुविधाओं के बीच जीना पड़ता है। बंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पंजाब आदि की जातीय अस्मिता बहुत कुछ स्थिर हो गई है। हिंदुस्तानी क्षेत्र में यह स्थिर नहीं है। इसके बावजूद हिंदी ने औपनिवेशिक राष्ट्रवाद और हिंदू राष्ट्रवाद से लगातार संघर्ष किया और हिंदी क्षेत्र की सांस्कृतिक विविधता के साथ एक अनोखा सामंजस्य स्थापित किया। 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' यदि कहा जाता है, उसके पीछे हिंदी के उदारवाद का भी एक बड़ा योगदान है। यही वजह है कि 'हिंदी-हिंदू-हिंदूस्तान' पर धर्मनिरपेक्ष हिंदुस्तानी की भावधारा हमेशा भारी पड़ी।

आज छत्तीसगढ़ में सत्ता-संघर्ष में शामिल एलीट व्यक्ति छत्तीसगढ़ी भाषा को हिंदी से अलग भाषा के रूप में देख सकते हैं। 1890 में जब 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रवेशांक आया, इसके संपादक प्रसिद्ध कहानीकार माधवराव सप्रे ने लिखा था, "संप्रति छत्तीसगढ़ विभाग को छोड़ ऐसा एक भी प्रांत नहीं है, जहां दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या त्रैमासिक पत्र प्रकाशित न होता हो। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि सुसंपादित पत्रों के द्वारा हिंदी भाषा की उन्नति हुई है। अतएव यहां भी 'छत्तीसगढ़ मित्र' हिंदी भाषा की उन्नति करने में विशेष प्रकार से ध्यान दे। आजकल भाषा में बहुत-सा कूड़-कर्कट जमा हो रहा है, वह न होने पावे, इसलिए प्रकाशित ग्रंथों पर प्रसिद्ध मार्मिक विद्वानों के द्वारा समालोचना भी कहे।" यह 'एक टोकरी भर मिट्टी' के कहानीकार की उक्ति है, जिसमें छत्तीसगढ़ को एक व्यापक जातीय अस्मिता में शामिल करने की बेचैनी है। ऐसी बेचैनी हर उस क्षेत्र या जनपद में थी, जो अपनी हिंदुस्तानी 'आइडेंटिटी' को समझना चाहता था। यह नई पहचान राजस्थान से लेकर बिहार और बंगाल तक हिंदी बोलने वालों के बीच उभर रही थी।

निश्चय ही हिंदी राष्ट्रीय पुनर्जागरण हिंदी क्षेत्र की स्थानीय पहचानों को दबाने की परियोजना नहीं है। यह स्थानीय परंपराओं को उन्नत रूप देते हुए सांस्कृतिक स्तर पर एक समावेशी विकास की बात है। आज भी स्थानीय पहचानें हिंदी की ताकत है, ये दोष नहीं है। समस्या तब पैदा होती है, जब कोई स्थानीयता अपने भीतर से ही उभरी हिंदी की विकासशील राष्ट्रीय अस्मिता को ठुकरा देती है। वह अलग राग अलापती है। इसमें संदेह नहीं कि इससे 'हिंदुस्तानी' की भावना कमजोर होती है और अंग्रेजी वर्चस्व की संभावना बढ़ती है।

यह भी होता है कि स्थानीय अस्मिताएं टूट रही पुरातन सामंती रूढ़ियों, मिथकों और अन्य निर्बुद्धिपरकताओं को पुनर्योवन देने का काम करने लगती हैं। वे सत्ता की राजनीतिक छाया में नकारात्मक तेवर के साथ 'कंजरवेटिव' हो जाने के लिए विवश होती हैं। उधर ग्लोबल - इधर कंजरवेटिव!

भारत के उच्च वर्गों में ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा थी जो अंग्रेजी राज के विरोध में होने के बावजूद बौद्धिक उपनिवेशवाद से आक्रांत थे। औपनिवेशिक राष्ट्रवाद क्या है, इसकी तरफ प्रेमचंद इशारा करते हैं, "अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंगरेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंगरेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों में बैठ गया है, उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जाएगा।" (कुछ विचार)। मामला सिर्फ अंग्रेजी का नहीं था, अंग्रेजी के जरिये पश्चिम के अंधानुकरण का था। वस्तुतः जिस वर्ग के पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान लोग पहले फ़ारसी के भक्त थे, उसी वर्ग के लोग अब अंग्रेजी के भक्त हो गए थे। अंग्रेजी भक्त शिक्षित समुदाय के औपनिवेशिक राष्ट्रवाद की शिनाख्त होनी चाहिए,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी एक धारा एक अधिक बड़े आकार के मध्य वर्गों में चली आई है। इनके बीच से आए बुद्धिजीवी हिंदी पर राष्ट्रवाद की शिकायत मढ़ते हैं, पर उन सब पर चुप्पी साध जिनकी आलोचना ऊपर प्रेमचंद ने की है।

बहुत बारीक ढंग से प्रेमचंद ने औपनिवेशिक राष्ट्रवाद की कलई उजागर की है, "हिंदुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा-बर्ताव सब जनता से अलग है। साफ मालूम होता है कि वह कोई विदेश है। जो हमारा अंगरेज साहब करता है, वही हमारा हिंदुस्तानी साहब करता है, करने पर मज़बूर है। अंग्रेजियत ने उसे मुग्ध कर दिया है।.... जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पाती, उसे तो वह काला आदमी समझती है।" (वही)। प्रेमचंद समझ चुके थे कि हर कौम की तरक्की में उसकी भाषा का बड़ा हाथ है। पूरे कौम को ऊपर उठाना है, उसकी जातीय तरक्की पर ध्यान दें। कौम के मुट्ठी भर लोगों के पास धन केंद्रित करना है, अंग्रेजी को बढ़ावा दो। हिंदी सहित सब भाषाओं को दबाकर अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित करने के पीछे मूलतः पूंजीवादी दिमाग है। उन सब नेताओं एवं बुद्धिजीवियों की पूरी बिरादरी है, एक वर्ग है।

प्रेमचंद हिंदी की जमीन पर 'हिंदुस्तानी' की अवधारणा को खारिज करते हैं, "कसौटी यही है कि ज्यादा आदमी (उसे) समझ सकते हैं। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच है।... राष्ट्रभाषा केवल रईसों और शिक्षितों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना होगा।... यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्रभाषा तो बाजारों और घरों में बनती है, लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज कर सकते हैं।... आगे चल कर हमें फिर हिंदुस्तान को लड़ाइयों से बचाना है तो हमें उन सारे नातों को मजबूत करना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें कौमी भाषा का स्थान सर्वोच्च नहीं तो किसी से कम भी नहीं।" (वही)। हिंदी बाज़ार की बोलियों से निकली मिश्रित भाषा है। यह सबको जोड़ने वाली भाषा है। इसके अलावा उसे हिंदी क्षेत्र के लोगों, साहित्यकारों और बोलियों की सभाओं का भी बल चाहिए। इससे हिंदी में निखार आएगा, उसकी पहुँच और प्रतिष्ठा बढ़ेगी, प्रेमचंद यही कहना चाहते थे।

उस जमाने के वे सभी लोग जब 'हिंदुस्तानी' के बारे में सोच रहे थे महज हिंदी-उर्दू भाषाओं के बारे में ही नहीं, भारतीय जीवन की विचारधारा के बारे में भी सोच रहे थे। यह राष्ट्रभाषा की बहस में थी, यह भारत के हृदय क्षेत्र के सामाजिक विभाजन को पाटने की चिंता पहले थी।

प्रेमचंद ने समबिंदु पर पहुँचते हुए जिस तरह 'हिंदी' की बात की थी रामचंद्र शुक्ल ने भी 'हिंदुस्तानी' की बात की थी, "साधारण लिखा-पढ़ी, अदालती व्यवहार तथा बोलचाल के लिए यदि एक सच्ची सामान्य भाषा 'हिंदुस्तानी' के नाम से ग्रहण कर ली जाए तो कोई हर्ज नहीं, पर उसमें जिस प्रकार अरबी-फारसी के ऐसे चलते शब्द आएं जैसे- जरूर, काबू, इख्तियार, दावा, वक्त.. . उसी प्रकार नित्य बोले जाने वाले ऐसे शब्द भी आएं जैसे- विद्या, परीक्षा, ज्ञान... इत्यादि।" (हिंदी और हिंदुस्तानी)। रामचंद्र शुक्ल 1907 की टिप्पणी 'अपनी भाषा पर विचार' में संस्कृत पर ही निर्भरता की बात कर रहे थे। उन्होंने आवेग में यहां तक कहा था 'हम हिंदू हैं, हिंदुस्तान हमारा देश है, हिंदी हमारी भाषा है।' हिंदुत्ववाद का यह भूत 1935 के लेख 'हिंदी और हिंदुस्तानी' में उतर जाता है। हिंदी के जिस रूप का स्वप्न प्रेमचंद ने देखा था, रामचंद्र शुक्ल ने भी बहुत कुछ उसी रूप का स्वप्न देखा। दोनों के रुझान में थोड़ा फर्क़ ज़रूर था, पर दोनों ही हिंदी को कूपमंडूकता की भाषा की जगह ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनाना चाहते थे। रामचंद्र शुक्ल कहते थे, "अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो भाव अपनी संसार यात्रा में प्राप्त करते जाएं, उन्हें अपनी मातृभाषा को बराबर सौंपते जाएं।" (भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी)। सवाल हिंदी में ज्ञान साहित्य के विकास का था, सिर्फ कविता-कहानी लिखने का नहीं। आम लोगों के सामने सांस्कृतिक स्तर पर एक चुनौती अंध-पश्चिमीकरण की थी, दूसरी चुनौती सामंती पतनशीलता और भेदभाव की थी।

रामचंद्र शुक्ल की नज़र में, "देशभाषा की जितनी उन्नति होगी, सर्वसाधारण के विचार उतने ही अधिक उन्नत होंगे।" (भाषा की उन्नति, 1910)। लेकिन शिक्षित वर्ग हिंदी की उन्नति से उदासीन था, "हिंदी के लिए एक दूसरा समय आया है, पर अभी तक इधर के बहुत से नवशिक्षित लोग उसमें अपनी ठाट-बाट का कोई रंग न देखकर उसकी सेवा से विमुख हैं।" (नागरी प्रचारणी पत्रिका 15 मार्च, 1910)। हिंदी के रास्ते में 19वीं सदी से ही उत्पन्न किए जा रहे अवरोधों के बावजूद अंततः घटित यही हुआ, "धीरे-धीरे हिंदी ने अपनी राह निकाल ली।"(वही, 15 नवंबर, 1909)। यह हिंदी की आधुनिक जातीयता का आत्मउद्घोष था। हिंदी अनगिनत बाधाओं और भीतरघातों को पार कर अब एक निर्णायक दौर में पहुंच चुकी थी।

किसी लेखक के एक ही जगह के विचार को उठाकर उस पर टूट नहीं पड़ना चाहिए। हर लेखक किसी पुराने संस्कार रूढ़ि से आक्रांत रहता है। उसमें अंतर्विरोध हो सकते हैं। देखने की जरूरत है कि वह अपने संस्कार, रूढ़ि या अंतर्विरोध से उबर रहा है या नहीं। रामचंद्र शुक्ल का ही उदाहरण लें। वे 1907 में 'अपनी भाषा पर विचार' में लिखते हैं, "भाषा ही जाति के धार्मिक और जातीय विचारों की रक्षिणी है, वही उसके पूर्व गौरव का स्मरण कराती हुई, हीन दशा में भी, उसमें आत्मभिमान का स्रोत बहाती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है।" 1912 में वह 'भाषा की शक्ति' टिप्पणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सुधार करके लिखते हैं, "भाषा ही किसी जाति की सभ्यता को सबसे अलग झलकाती है, यही उसके हृदय के भीतरी कल-पुरजों का पता देती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है।" पांच साल बाद के विचार में रामचंद्र शुक्ल का धार्मिक मुद्दा गायब हो जाता है। उनका कथन अधिक सारगर्भित हो जाता है। आज हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी-वर्चस्व के माहौल में जिस तरह दबाया और नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है, इसका असर भारतीय जातियों के नैतिक और भावनात्मक क्षय के रूप में आसानी से लक्षित किया जा सकता है।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी को व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा था, "साहित्य की जो देश व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिंदी की भी है- अर्थ परंपरा और शब्द परंपरा भी।" (हिंदी और हिंदुस्तानी, चिंतामणि-3)। यह हिंदी के दायरे को विस्तृत करना ही नहीं था, उसमें खुलापन लाना भी था। यह धारणा चल नहीं सकती थी कि हिंदी में तत्सम शब्द अधिक हो जाएं तो कम्युनल और बांग्ला-मराठी में अधिक हों तो कम्युनल नहीं। तत्समबहुलता और तत्समीकरण एक चीज नहीं है। ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल हिंदी में मिश्रण नहीं चाहते, "भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का यह अभिप्राय नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द, नई-नई वस्तुएं न मिलें। उसमें नए-नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए-नए अर्थों और वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता बनाए रखता है। हम यह बराबर कह सकते हैं कि वह इस देश का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है।" (वही)। यहाँ मिश्रणशीलता का समर्थन है, खासकर हिंदी का मिश्रणशीलता के बिना विकास हो नहीं सकता था।

हिंदी एक इतिहासविहीन और शब्द-परंपरा एवं अर्थ-परंपरा विहीन भाषा नहीं है कि अचानक एकदम नया इतिहास, नई शब्द-परंपरा और अर्थ-परंपरा उसके मत्थे मढ़ दी जाए। दुनिया की कोई भाषा न आसमान से टपकी, न किसी कारखाने में बनकर आई। इसलिए मुख्य सवाल हिंदी को 'हिंदुस्तानी' के करीब पहुँचाने और इसकी हिंदुस्तानी भावना को मजबूत करने का था। रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, "जिस जलवायु ने हमारे स्वभाव और रंगरूप को रचा, उसी ने हमारे शब्दों को भी सृजा। ये शब्द हमारे जीवन के अंश समान हैं।" (भाषा की शक्ति)। इसलिए "निज भाषा के किसी शब्द से जिस मात्रा का भाव उद्‌भूत होता है, उस मात्रा का समानार्थवाची किसी विदेशीय शब्द से नहीं।" (वही)। यह जो 'निज भाषा' है, इसका शब्द भंडार स्थिर नहीं है। 'हिंदुस्तानी' की बुनियादी आवाज यही थी कि 'निज' को विस्तृत और समावेशी बनाया जाए। हिंदी में कई स्रोतों से आकर शब्द शामिल हुए थे। इनमें संस्कृत के अलावा हिंदी की स्थानीय लोक भाषाओं, उर्दू और अंग्रेजी के शब्द भी थे। इधर की हिंदी अंग्रेजी- निर्भर अधिक है, कुछ यही वजह है कि ऐसी हिंदी बोलनेवाले लोगों का भावजगत खोखला है। उनके अंग्रेजी लटके-झटके उनकी दरिद्र आधुनिकता की छवियाँ हैं।

निराला ने हिंदी को हिंदुत्ववाद से अलग करते हुए कहा था "हिंदू नाम पर हम लोगों का जितना अनावश्यक प्रेम है, इतना ही यदि आवश्यक ज्ञान-जन्य जातीय प्रेम हो जाए, तो बहुत-सी बिगड़ी हुई बातें बन जाएं।" (हिंदू या हिंदवी, 1930)। उनका जातीय प्रेम से आशय था राष्ट्रीय भावना। ये बिगड़ी हुई बातें ज्यादातर अंग्रेजी राज की देन थीं। वह यह भी कह रहे थे, "हिंदी किसी प्रांत की मातृभाषा नहीं, जिस हिंदी के लेखक अभी उसे पढ़ रहे हैं, जिस हिंदी के सहारे भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक सभी शंकाओं का समाधान किया जाना निश्चित है, उसे उन्नत करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्द गढ़ने तथा अपनाने के लिए- उन्हें व्याकरण सम्मत स्थान देने के लिए भाषा-प्रवाह को वर्द्धित करने के लिए सभी प्रांतवासियों का समानाधिकार है।" (भाषा की गति और हिंदी की शैली, 1923)। निराला हिंदी को हिंदी प्रांतों तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। इसके अलावा, वे इसे बहुस्रोतपरक भाषा के रूप में देखते हुए इसके शब्द भंडार के लिए संस्कृत, प्रांतीय भाषाओं, उर्दू और अंग्रेजी- सभी तरफ मुखातिब थे। यह हिंदी उदारवाद है, जो हिंदी की मुख्य धारा है।

हिन्दी आज एसएमएस, इलेक्ट्रानिक माध्यमों और विज्ञापनों में कई बार रोमन लिपि में लिखी जा रही है। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौर में कई विद्‌वानों ने अव्यावहारिक सुझाव दिया था कि हिन्दी रोमन लिपि में लिखी जाए, इससे यह हिन्दी क्षेत्र के बाहर भी ग्राह्य होगी। हिन्दी को लेकर प्रयोग के लिए तरह-तरह के सुझाव आते थे। राहुल सांकृत्यापन ने तब कहा था, "राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई-कोई भाई रोमन लिपि स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं। क्या वह अधिक वैज्ञानिक है? वैज्ञानिकता का मतलब है लिपि का उच्चारण के अधिक अनुरूप होना। रोमन लिपि के छब्बीस अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते। नागरी अक्षरों में हम उससे ज्यादा शुद्ध रूप से किसी भाषा को लिख सकते हैं।... हमारी नागरी लिपि दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।" अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने का आग्रह व्यक्त करते थे, उनके बारे में राहुल सांकृत्यायन कहते थे 'यह दासता के अभिशाप का अवशेष है।' आज उन्हें ही ज्ञानी माना लिया जाता है, जो अंग्रेजी जानते और फर्राटे से बोलते हैं। राहुल 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' में लिखते हैं, "विद्या अलग चीज दुक्खू भाई, भाखा अलग चीज है। लेकिन जोंकें हमको सिखाती हैं कि भाखा पढ़ लेना ही ज्ञान है।" उस दौर में हिंदी क्षेत्र के मार्क्सवादियों ने अंग्रेजी वर्चस्व का प्रतिरोध किया था।

राहुल सांकृत्यायन हिंदुस्तानी संस्कृति की बात करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ही संस्कृति है जो देश की भाषाओं, इतिहास-भूगोल और सभी ...का सम्मान करती है। इस सम्मान का यह अर्थ नहीं है कि ...अपने दोषों की आलोचना न की जाए। राहुल कहते हैं, "इसका यह ...तलब नहीं कि उस सम्मान के कारण हम अपने पूर्वजों की ...तियों पर नुक्ताचीनी न करें। नुक्ताचीनी अपनी और पूर्वजों की ...ताली पर करनी चाहिए। संस्कृतियां बदलती रहती हैं, यह मैं भी ...मानता हूँ, किंतु बदलने का मतलब प्रवाह-विच्छेद हर्गिज नहीं।" ...हिंदी और उर्दू, 1937)। हिंदुस्तानियत का रिश्ता 'दूसरे' के प्रति ...सम्मान रखने वाली हिंदुस्तानी संस्कृति से है। यह विकासशील है, ...पर हम इसकी परंपराओं से विच्छिन्न होने की कल्पना नहीं कर ...सकते। इनसे विच्छिन्नता जड़विहीनता है, जो आज के उत्तर-वैश्वीकरण ...की एक विशेषता है।

राहुल सांकृत्यायन ने हिंदी का प्रश्न उठाते हुए हिंदी क्षेत्र की ...स्थानीय बोलियों के पक्ष में बहुत कुछ कहा है। यह भी सच है कि ...उन्होंने अपना साहित्य हिंदी में लिखा, ताकि हिंदी क्षेत्र के सभी ...लोगों के श्रमजीवी पढ़ सकें। उनकी एक महत्वपूर्ण इच्छा थी, ...'प्रत्येक स्थानीय भाषा के बृहद्कोश प्रकाशित किए जाएं।' इससे ...हिंदी परिवार या क्षेत्र की 49 भाषाओं का अनोखा शब्द भंडार ...सुरक्षित होता है। यह इस क्षेत्र की संस्कृतियों का संरक्षण भी है। ...बृहद् कोश नहीं, पर 'हिंदी लोक शब्दकोश योजना' के तहत यह ...काम केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में सरकारी संसाधनों का सदुपयोग ...करते हुए 2007 में शुरू कराया गया है।

एक खास जमाने में हिंदू राष्ट्रवाद से टकराने का अर्थ प्राचीन ...गौरव से संबंधविच्छेद न था, जिस तरह औपनिवेशिक राष्ट्रवाद से ...टकराने का अर्थ आधुनिकता को त्याग देना न था। महात्मा गांधी, ...प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, निराला, राहुल सांकृत्यायन ही नहीं कई ...और स्वाधीनता संग्रामियों और लेखकों के साहित्य से यह समझा ...जा सकता है कि साम्राज्यवाद के विरोध के साथ उन्होंने अतीत की ...संकीर्ण सामंती परंपराओं को कितने खुले रूप में चुनौती दी है। वे ...अतीत और आधुनिकता दोनों से विवेकपूर्ण रिश्ता बनाने के प्रति ...गंभीर थे। उन सभी के लेखन और भाषा में भारतीय समाज के ...अभ्यंतर सांस्कृतिक संदर्भ जीवंतता के साथ मौजूद हैं, जो आज के ...साहित्यिक निर्माणों में कम मिलते हैं। इसके अलावा उनकी ...चिंताओं में देश के सर्वसाधारण लोग थे।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक लेख 'दक्षिण की उपेक्षा ...कैसे' (1959) में लिखा था, "हम भारत को भौगोलिक इकाई से ...समझकर कुछ कभी नहीं बना सकेंगे, जब तक कि भारत की ...एक-एक अंगुल भूमि से हमारा हार्दिक प्रेम न होगा, उसकी धूलि ...को हम सिर पर लगाने के लिए तैयार न होंगे। जिस तरह बिहार ...या मध्यप्रदेश के लोगों को हिमालय की नदियों और उपत्यकाएं ...प्रिय लगती हैं वैसे ही उन्हें कोडुगू की पहाड़ियां, वहां का कावेरी का ...जैसे और चंदनों के जंगल भी प्रिय होने चाहिए। जैसे हमें अपने ...गीतों के लोकगीत और लोक कथाएं प्यारी लगती हैं, वैसे ही ...कर्नाटक या केरल की भी लगनी चाहिए, कृत्रिम रूप से नहीं, दिखावे के तौर पर नहीं, न दबाव से; बल्कि अपनी भारत मही की विविधता, उसके सौंदर्य के ख्याल से। इसके लिए अभ्यास और तपस्या करनी होगी। देश की वास्तविक एकता के लिए हमें इसे करने के लिए तैयार होना चाहिए। कर्नाटक या केरल के वीर, कलाकार, विचारक हमारे अपने हैं। उनका हमें ज्ञान होना चाहिए, उनके साथ हमारा प्रेम होना चाहिए।" राहुल सांकृत्यायन जिस भारतीय राष्ट्रीयता की रमणीय कल्पना करते हैं, वह दिखावा न होकर एक भारतीय यथार्थ हो, यह एक सच्ची सामूहिक कोशिश से ही संभव है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हिंदी भाषी लोग दूसरे देश की छोड़ दीजिए, अपने देश की ही दूसरी जातियों की संस्कृति को जानने में कितनी कम रुचि रखते हैं। इसका अर्थ है कि हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रीय जागरण के प्रयासों की अभी काफी जरूरत है। हिंदी लोगों की राष्ट्रीय भावना में कोई एक बुनियादी कमी है। कोई एक फाँक है, यह फाँक कदम-कदम पर है। आज़ादी से काफी पहले हिंदी का बुनियादी स्वरूप स्थिर हो चुका था, फिर भी उस पर बहस जारी थी। यह बहस हिन्दी की शब्द-योजना, पहचान और लिपि को लेकर नहीं थी। इस पर भी थी कि भारतीय अस्मिता के निर्माण में हिन्दी किस तरह योग दे और हिन्दी के निर्माण में राष्ट्र की सभी जातियां कैसे लगें।

यह सही है कि इतिहास की चीजों पर बहुत जोर किसी राष्ट्र या राष्ट्रीय भाषा को अतीत का कैदी बना देता है। अमेरिका जैसा ताकतवर देश इतिहास की तरफ गलती से भी नहीं देखता क्योंकि उसका अपना इतिहास ही नहीं है। उसके पास कम स्मृतियां हैं, जो उसके सुख के बढ़ते साम्राज्य के साथ लगातार कम होती जा रही है। यही बात भारतीय राष्ट्र और इसकी भाषाओं के बारे में नहीं कही जा सकती। भारतीय भाषाएं इतिहास के वंचितों की जगह पर खड़ी हैं। भारत में हिन्दी राष्ट्रभाषा न बन सकी, इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अंग्रेजी सभी भारतीय भाषाओं पर भारी पड़ चुकी है। यह औपनिवेशिक पुनर्विजय की घटना है। इसलिए हमारे लिए इतिहास की ओर न देखना और उससे प्रेरणा न लेना वर्तमान का कैदी बन जाना है, भविष्य को खो देना है।

हिन्दी का राष्ट्रीय आंदोलन 19वीं सदी की बहसों से शुरू होकर संविधान सभा की कार्रवाइयों से होते हुए 1965 तक चला था। संविधान सभा की पहली बैठक में ही देखा गया कि जिस हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की चर्चा स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जोर-शोर से होती थी, उसके खिलाफ एक जबर्दस्त मोर्चेबंदी हो चुकी है। संविधान सभा के काफी सदस्य हिंदी या हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा नहीं होने देना चाहते थे। वे अंग्रेज़ी के पक्ष में थे, जिसे दो प्रतिशत से भी कम लोग समझते थे। कुछ राज्यों का रुख कठोर था। ये एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी सीखने के लिए तैयार थे, पर इस देश की भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी सीखने के लिए तैयार न थे। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी की जगह हिंदी गुलामी की भाषा लगी थी। जाहिर है, इस अंग्रेजी-उन्माद को भी समझना होगा, जिससे हिंदी उन्माद जन्मा था।

संविधान सभा में जिस मुद्दे पर सबसे तीखी बहस चली, वह भाषा का मुद्दा थी। किस भाषा में वक्ता अपनी बात कहे, संविधान किस भाषा में बने और कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा कही जाए- इन सवालों पर गंभीर विवाद पैदा हुआ। संविधान सभा की बैठक के पहले दिन 10 दिसंबर 1946 को आर.वी. धुलेकर ने कहा, "मैं एक भारतीय होने के नाते अपील करता हूँ कि आज़ादी की लड़ाई में हमारी जल्दी ही विजय होने वाली है, हम आज़ादी के लिए लड़ते रहे हैं, अतः हम अपनी ही भाषा में सोचें और बोलें। हम इतनी देर से लगातार अमेरिका, जापान, जर्मनी, स्विटजरलैंड और 'हाउस ऑफ कामन्स' की बातें करते आ रहे हैं। इससे मेरे सिर में दर्द होने लगा है। मुझे आश्चर्य होता है कि भारत के लोग अपनी-अपनी भाषा में क्यों नहीं बोल सकते। मैं एक भारतीय होने के नाते महसूस करता हूँ कि सभा की कार्रवाई 'हिंदुस्तानी' में चले। हमारी चिंता दुनिया का इतिहास नहीं है। हमारे देश का खुद अपना हजारों साल का इतिहास है, हम इसे देखें।" धुलेकर हिंदीतर भाषी थे और हिंदी में बोल रहे थे। सभा के अध्यक्ष को उनका इस देश में हिंदी में बोलना बुरा लग रहा था। उन्होंने कई बार 'आर्डर, आर्डर' चीखकर धुलेकर को चुप करा दिया।

संविधान सभा में अंततः सिर्फ हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं की आवाज शांत कर दी गई। धुलेकर 'हिंदुस्तानी' में कार्रवाई चलाने की मांग कर रहे थे। वे साफ कह रहे थे कि सभी अपनी-अपनी भारतीय भाषा में बोलें। यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान का अधिकृत रूप अंग्रेजी में बनने जा रहा था। महान विद्वानों की राय थी कि हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में इतनी शक्ति नहीं है कि स्पष्टता से संविधान बन सके। यह इसका चिन्ह था कि ठीक आज़ादी की देहरी पर हमने दिमागी आजादी खोना शुरू कर दिया था। यह सिद्धांत असर दिखाने लगा था कि एक ताकतवर कौम की भाषा ही हमें ताकतवर बना सकती है। इससे यह संकेत निकल रहा था कि भारत की भाषाओं और संस्कृतियों को अंततःविलुप्त हो जाना है, क्योंकि पश्चिमी सभ्यता के निकष पर ये निम्नतर हैं। इन्हें स्वतंत्र अस्मिता का हक नहीं है।

संविधान सभा के कुछ दक्षिण भारतीय सदस्यों ने 'हिंदुस्तानी' की धारणा ठुकरा दी, वे हिंदी को ज्यादा करीब समझते थे। हालांकि ज्यादातर दक्षिण भारतीय सदस्य हिंदुस्तानी और हिंदी दोनों के विरोधी थे। वे अंग्रेजी की मांग कर रहे थे। निश्चय ही इसलिए नहीं कि उन्हें शेक्सपीयर और कीट्स से बड़ा प्रेम था या दक्षिण भारतीय लोग अंग्रेजी जल्दी सीख जाते थे। दरअसल दक्षिण में उस वक्त पृथकतावादी आंदोलन चल रहा था। मद्रास में द्रविड़ कजगम ने पृथक राष्ट्र की आवाज बुलंद कर रखी थी। हिंदी के बहाने उत्तर भारत के विरूद्ध व्यापक अंध-राष्ट्रवादी उभार का खतरा था। इसलिए दक्षिण के उदारवादी नेताओं के सामने अंग्रेजी को [illegible] लाने के अलावा कोई रास्ता न था। ब्रिटिश राज में अंग्रेजी [illegible] शिक्षा और प्रशासन की भाषा के रूप में जबर्दस्ती स्थापित की [illegible] चुकी थी। इस तरह अंध-राष्ट्रवादी अलगाव के जाल में फंसे [illegible] बौद्धिक उपनिवेशवाद के जाल में फंसो-ये दो ही विकल्प तात्का[illegible] तौर पर उपलब्ध थे।

भारत-पाकिस्तान के बंटवारे के बाद 'हिंदुस्तानी' को राज[illegible] बनाने का मामला कमजोर पड़ गया था, फिर भी हिंदुस्तानी के [illegible] में एक प्रभावशाली अल्पमत था। आज यदि इस पर विचार [illegible] जाए कि 'हिंदुस्तानी' भाषा महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू [illegible] अबुल कलाम आजाद जैसे नेताओं के प्रयास के बावजूद [illegible] व्यापक भारतीय आंदोलन का रूप क्यों न ले सकी तो यही [illegible] जा सकता है कि हिंदुस्तानी की चर्चा मुख्यतः हिंदी और [illegible] बीच सीमित थी। इस चर्चा में बंगाली, उड़िया, असमिया, [illegible] तमिल, तेलुगु, कन्नड़ जैसी महत्वपूर्ण भारतीय भाषाएं बोलने [illegible] और इनके विद्वानों को शामिल नहीं किया गया। इससे भारत [illegible] लिए एक सामान्य भारतीय भाषा की अवधारणा को आजादी [illegible] देहरी पर जबर्दस्त धक्का लगा और 'हिंदुस्तानी' की योजना [illegible] गई। फिर भी कहा जा सकता है कि अनगिनत अवरोधों के [illegible] उसकी बुनियादी भावधारा हिंदी और उर्दू दिलों में रच-बस [illegible]

भारत जब गुलाम था, हिंदी और हिंदीतर राष्ट्रीय भाषा [illegible] एक अनोखी आवाज थी, एक खास तेज था। हिंदी में बो[illegible] आत्महीनता का नहीं गरिमा का बोध होता था। भारत आजाद [illegible] हिंदी गुलाम होने लगी। अंग्रेजी-वर्चस्व के आगे भारतीय भाषा[illegible] वह आवाज, वह तेज फीका पड़ने लगा। इसलिए हिंदी सहित [illegible] भारतीय भाषाओं की आजादी का प्रश्न एकबार फिर उठ खड़[illegible] है।

389, जी.टी. रोड, हावड़ा-[illegible]

'वर्तमान साहित्य मलखान सिंह सिसोदिया कविता-पुरस्कार–2009'

वर्ष-2009 के 'वर्तमान साहित्य मलखान सिंह सिसोदिया कविता-पुरस्कार' के लिए कवि श्रीप्रकाश शुक्ल का कविता-संग्रह **'बोली बात'** को चुना गया है। इस वर्ष निर्णायक-मंडल में डा0 विश्वनाथ त्रिपाठी, डा0 शहराया[illegible] डा0 कुमार पंकज शामिल थे। पुरस्कार-समिति की [illegible] अक्टूबर-2009 में अलीगढ़ में आयोजित कार्यक्रम में [illegible] पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।

'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से बधाई। संपा[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस्म-किस्म के मजबूत नेता

गिरीश मिश्र

हम चंगेज खां, हिटलर, मुस्सोलिनी आदि अनेक "निर्णय के पक्के" मजबूत नेताओं के दर्शन पिछले कुछ सौ सालों के इतिहास में करते हैं। पिछली शताब्दी में दो अन्य ऐसे ही नेता हुए जिनमें एक था पुर्तगाल का सालाजार जिसने गोवा को पुर्तगाल का एक प्रांत घोषित कर नृशंस दमन ढाए। दूसरा था स्पेन का फ्रैंको जिसने गणतंत्र और गणतंत्रवादियों का कत्लेआम कर तानाशाही कायम की।

आजकल हर गली-मुहल्ले, सड़क-चौराहे पर 'मजबूत नेता' के इस पावन भारत भूमि पर अवतरित होने की चर्चा है। इससे आम जन का सशंकित होना अवश्यंभावी है क्योंकि विश्व के इतिहास में अनेक 'मजबूत नेता' बड़े धूम-धड़ाके से आ चुके हैं जिनकी याद आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इनमें पहला नाम 15 दिसंबर सन 37 को जन्मे नीरो का है जो औपचारिक तौर पर दर्शन, संगीत एवं लैटिन साहित्य में उच्च शिक्षा प्राप्त था। सन 54 में वह रोम का निरंकुश शासक बन गया। इसके दस साल बाद उसने रोम के चौदह में से तीन जिलों को पूर्णतः और सात को अंशतः जला दिया। आग के लिए ईसाइयों को दोषी ठहरा उनका दमन किया। उसका लक्ष्य एक भव्य नगर का निर्माण था। उसके आदेशानुसार जब आग लगा दी गई और रोम जलने लगा तब वह एक बड़ी मीनार की सबसे ऊंची मंजिल पर बांसुरी से मिलते-जुलते लायर नामक वाद्ययंत्र पर इलियस के विध्वंस के गीत की धुन बजाने लगा। आग की ऊंची लपटों और मनुष्यों एवं पशुओं की चीख पुकार सुन उसका मन कतई विचलित नहीं हुआ क्योंकि वह मजबूत और निर्णय का पक्का नेता था। फ्राँसीसी साहित्यकार विक्तोर ह्यूगो ने एक कविता में इसका जिक्र किया है।

हम चंगेज खां, हिटलर, मुस्सोलिनी आदि अनेक "निर्णय के पक्के" मजबूत नेताओं के दर्शन पिछले कुछ सौ सालों के इतिहास में करते हैं। इनकी यादें इतनी ताजा और भयावह है कि विशेष चर्चा की जरूरत नहीं है। पिछली शताब्दी में दो अन्य ऐसे ही नेता हुए जिनमें एक था पुर्तगाल का सालाजार जिसने गोवा को पुर्तगाल का एक प्रांत घोषित कर नृशंस दमन ढाए। दूसरा था स्पेन का फ्रैंको जिसने गणतंत्र और गणतंत्रवादियों का कत्लेआम कर तानाशाही कायम की।

यह रही एक परंपरा 'मजबूत' नेताओं की। उसके विपरीत दूसरी परंपरा भी है। इस परंपरा के दो अग्रणी नेताओं से मेरा परिचय बचपन में हुआ। वर्ष 1950-52 में मैं अपने गांव से पास के कस्बे की पाठशाला जाता था, तब आते-जाते विशालकाय अशोक स्तम्भ के दर्शन होते थे जिससे यह स्पष्ट था कि ढाई हजार साल पहले कपिलवस्तु का युवराज घर-परिवार, ऐशो आराम छोड़ इसी रास्ते यह जानने के लिए निकला था कि संसार में दुःख क्यों है? उसके निवारण को कोई रास्ता है? हाँ, तो वह क्या है? वह सदानीरा (गंडक) पार कर मेरे इलाके से होता हुआ वैशाली और फिर मगध पहुंचा था। वहां बोधिवृक्ष के नीचे एक दिन बड़े चिंतन के बाद अपने प्रश्नों के उत्तर मिल गए। अपने ज्ञान से लोगों को लाभान्वित करने वह काशी नगर में नहीं, बल्कि कुछ दूर सारनाथ पहुंचा था। वहां से उसने अपने संदेश का प्रचार-प्रसार आरंभ किया जिसके युगान्तकारी प्रभाव हुए। आज भी काशी से सारनाथ जाते हुए जब भी हम वरूणा नदी पर बने पुल से गुजरते हैं तब हमारी नजर प्रसाद जी की उल्लिखित उस कविता पर पड़ती है जो बुद्ध की याद दिलाती है। बुद्ध से बिम्बिसार, अजातशत्रु, प्रसेनजीत आदि अनेक राजा मिले और ज्ञान की बातें की मगर बुद्ध के लिए आमजन और उनके हित सर्वोपरि रहे। चौमासे के दौरान उन्होंने लगभग हमेशा आमजन का आतिथ्य ग्रहण किया जहाँ उनसे सन्निध्य के लिए तत्कालीन संभ्रात लोग आते रहे। लगभग 80 वर्ष की उम्र में वे लौटे और मेरे गांव इलाके से होते हुए जैसे ही सदानीरा पार किया उनको कुशीनगर में निर्वाण प्राप्त हुआ। आज भी शयनावस्था में वहां पड़ी उनकी प्रतिमा कम प्रभावोत्पादक नहीं है।

अश्वघोष रचित "बुद्धचरितम्" पढें या फिर बेनीमाधव बरूआ की "गया-बोधगया" या विशाल बौद्ध साहित्य अथवा राजा मिलिन्द के प्रश्नों से जुड़ी पुस्तक, यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध अतिवाद के विरूद्ध थे। वे चाहते थे कि लोग अपनी तर्क बुद्धि से समस्याओं का विश्लेषण कर उचित समाधान ढूंढे। उन्होंने तत्कालीन विखंडित समाज को जोड़ने की कोशिश की। रंग-रूप, जाति-संप्रदाय और धनी-गरीब के विभाजन से समाज को ऊपर रख जोड़ने की कोशिश की। अपरिग्रह पर उन्होंने बल दिया। इसलिए वे और उनके शिष्य भिक्षाटन पर निर्भर रहे। आज के साधुसन्तों की तरह उनके प्रमुख शिष्य आनन्द न उनके रिश्तेदार थे और न उनके वर्ण के। लगभग 2500 वर्ष बाद 15 अप्रैल 1917 को मेरे इसी इलाके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक अर्धशिक्षित ठेठ किसान राजकुमार शुक्ल मोहनदास गांधी को लेकर आए। शुक्ल जी न खड़ी बोली हिन्दी बोल सकते थे और न देवनागरी लिपि में लिख सकते थे। उनकी डायरी कैथी लिपि और भोजपुरी भाषा में है। खैर वे दृढ प्रतिज्ञ और धैर्यवान थे। उन्होंने दिसम्बर 1916 में लखनऊ कांग्रेस में चम्पारण के किसानों की दुरवस्था पर भाषण किया जिसे उपस्थित नेताओं ने सुना मगर कोई उनकी मदद के लिए उनके साथ चलने को राजी न हुआ। महामना की सलाह पर शुक्ल जी गांधी जी के पीछे लग गए। लखनऊ, कानपुर और कोलकाता, हर जगह, गांधी जी के पहुँचने के पूर्व ही शुक्ल जी विराजमान होते। इससे गांधी जी पर उनकी निष्ठा का गहरा असर पड़ा और अन्ततः वे शुक्ल जी के साथ चल पड़े। इसके पहले उन्हें पता न था कि चम्पारण कहाँ है और वहाँ की जमीनी हकीकत क्या है। व्यक्तिगत तौर पर पटना में मजहरूल हक के सिवा उनका किसी से परिचय न था। हक साहब लंदन में उनके सहपाठी थे।

पटना में हक साहब के यहां विश्राम करके काठियावाड़ी किसान के लिबास में शुक्ल जी के साथ मोतिहारी के लिए चल पड़े। मुजफ्फररपुर स्टेशन पर स्थानीय कॉलेज के निलंबित अध्यापक कृपलानी शुक्ल जी को दिखे। पूछने पर मालूम हुआ कि वे गांधी जी को पहले दर्जे के डिब्बे में ढूंढ रहे है। जब शुक्ल जी ने बतलाया कि वे उनके साथ तीसरे दर्जे में है तब कृपलानी जी को सहसा बड़ा धक्का लगा। खैर, दूसरे दिन गांधी जी सुबह अपने पथप्रदर्शक के साथ सिर पर गठरी लिए मोतिहारी स्टेशन पर उतरे। दोपहर के बाद शुक्ल जी ने हाथी का इंतजाम किया जिस पर बैठ वे पास के गांवों की ओर स्थिति जानने निकले ही थे कि सरकारी फरमान थमा दिया गया कि वे तुरंत जिला छोड़ कर चले जाएं। दूसरे दिन गांधी जी ने कचहरी जाकर एक लिखित बयान पढ़ा जिसमें उन्होंने रेखांकित किया कि वे सत्य जानने के लिए आए हैं और जब तक उनकी सत्य की खोज पूरी नहीं होती वे वहीं रहेंगे। अगर सरकार उन्हें बलात् बाहर फेंक देती है तो वह फिर लौट आएंगे। अंततः सरकार को झुकना पड़ा और अपनी जाँच जारी रखने की इजाजत देनी पड़ी।

निलहों ने गांधी जी हत्या की विफल साजिश रची। उनके रसोइए बत्तक मियां को घूस देकर जहर मिलाने को कहा मगर उसने साफ इंकार कर दिया। गांधी जी ने बिहार के जातिग्रस्त समाज में उसे मिटाने की शुरूआत की। अपने सहयोगियों से छुआछूत को तिलांजलि दे सामूहिक रसोईघर का बत्तक मियां द्वारा तैयार भोजन करने की शर्त मनवाई। निलहों ने सांप्रदायिकता के आधार पर फूट डालने की असफल कोशिश की मगर हिंदू मुसलमान एक साथ संघर्ष में आगे बढे। शुक्ल जी के साथ शेख गुलाब और पीरमोहम्मद मूनिस (जिसका जिक्र महापंडित ने अपने असहयोग के दिनों के साथी के रूप में किया है।) कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़े। बिहार के सवर्ण और दलित कंधा से कंधा मिलाकर आंदोलन में रहे। अंततः गांधी जी का मिशन सफल हुआ और निलहों का जुल्म खत्म हुआ। इस विजय ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को नई ऊंचाई दी और उसे शक्तिशाली जनआंदोलन बनाया जिसमें किसानों की अहम भागीदारी रही। निलहों का कितना आतंक था इसका अनुमान 1866-67 में कलक्टर के रूप में वहां आए जॉन बीम्स के संस्मरण को पढ़कर लगा सकते हैं। एक भाषा शास्त्री, व्याकरण और साहित्य के इतिहासकार के रूप में आज भी उनकी ख्याति बरकरार है। यह था गांधी जी का चरित्र एक मजबूत दूरदृष्टि सम्पन्न नेता के रूप में। उन्होंने देश की एकता को मजबूत किया और सांप्रदायिक सौहार्द को सुदृढ किया। हर प्रकार के विभेदों से लोग ऊपर उठे और अंततः संसार के सबसे बड़े साम्राज्यवाद को भारत से विदा कर दिया। यह अनायास नहीं था कि जो अंग्रेज अफसर खुलेआम गांधी को विरोध करते थे वे हैं गोपनीय रिपोर्टो में उनकी तुलना ईसा मसीह से करते थे और मानते थे कि इस व्यक्तिको डर या लालच द्वारा डिगाया नहीं जा सकता। अंत में, हम सरदार भगत सिंह का जिक्र करेंगे जिनका चंपारण से गहरा नाता था। उनके ऊपर चले लाहौर षडयंत्र के मामले के साथ मौलनिया डकैती का मामला भी था। मौलनिया बेतिया से लौरिया नंदनगढ़ जाने वाली सड़क पर स्थित है। सरदार के सहयोगियों में इस जिले के कमलनाथ तिवारी और केदारमणि शुक्ल भी थे जिन्हें कालेपानी की सजा दी हुई थी। सरदार ने सेंट्रल असेंबली में बम फेंका। वे वहां खड़े नारा लगाते रहे, भागे नहीं। मुकदमा चला और फांसी की सजा हुई मगर उन्होंने न माफी मांगी और न अपील की। उन्होंने अपना मकसद कोर्ट में स्पष्टतया रखा। इसी परंपरा में आगे चलकर जूलियस फ्यूचिक और गैब्रियल पेरी हुए जिन्होंने फांसी को फाँसी पर चढ़ने दम तक ललकारा।

अब आइए वर्तमान की ओर लौटें। आज जिस 'मजबूत' नेता की चर्चा है उन्होंने समाज को तार-तार करने की हर कोशिश की है। बाबरी मस्जिद के विध्वंस में योगदान कर सांप्रदायिक विद्वेष को इतना बढ़ाया है जितना साम्राज्यवादी न कर सके। मजे की बात है कि जब संविधान की धज्जियां उड़ाते हुए तथाकथित विवादास्पद ढांचे को गिराया जा रहा था तब वे वहीं और देख रहे थे और उनके स्मृतिपटल पर धुंध छाया था इसमें कुछ भी याद नहीं कि ढहाने वाले कौन थे।

एम-112 साकेत, नई दिल्ली-110

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

सुनीता जैन

दूसरा हाथ

घर में बहुत ख़राब होता है घर का सामान
ने कहा था एक दिन।

मैंने उन्हें बैठाया पास
समझाया, 'माँ एक ही काम
सकता है न आदमी, एक बार में?
जाती हूँ रोज पढ़ाने।
तुम चिंता न करो चोरी हो रही
, चम्मच की।
ती पगार से फिर ले लूँगी।'

समझ गई थी तभी
उसकी बेटी काम करती है
हाथ से, और उसने
दूसरा हाथ जोड़ दिया था
गृहस्थी में।

कर कभी कभार
लगवा देती थी कपड़ों को,
सावधानी से तहा कर
जाती थी भीतर

गिनकर मेहरी से
मिलवाती थी गिलास और बर्तन।
कई दफे आकर गिनती
देती थी मेरी नई साड़ी पर फाल,
धीरे,
सब आश्रम में बाँट देती थी।

न वह बात थी
सदी की।
जरूरत नहीं बेटी या बहू को।
चाहतीं वे हाथ पाँचवा
अपनी गृहस्थी में कहीं भी।

उनकी समस्याएँ दर्ज हैं लेपटाप में,
उनके समाधान इंटरनेट पे।
उनका भविष्य बैंकों के खाते हैं,
उनका अतीत व्यर्थ की बातें हैं।

सरकारी खरीद

हुआ यों कि पुस्तक
चली गई कैदखाने में
उसके भीतर की तहरीरें
बैठी रहीं हथकड़ी पहने

न कोई मुलाकाती आया,
न वह आई किसी से मिलने।

उसका सृजनहार, भूलने लगा
उसका होना,
उसे भूलने के उपक्रम में।

कथा

वह इकली रहती है,
युवा है,
विवाहिता नहीं, स्वावलंबी है।

संभ्रांत पुरुष अक्सर
उसके निकट नहीं जाते।
उनकी पत्नियों को दिखती है
वह एक बड़े खतरे सी।

चोर उच्चके? लम्पट लूले?
उनकी तो न पूछो,
उनकी कमी नहीं।

सी-132, सर्वोदय नगर, नई दिल्ली-110017

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

शैलेय

पानी

1

पानी
जब पहले-पहल नदी बना होगा
बिछ गई होगी
क़दम-क़दम उसके आगे
कोई छाती
पोर-पोर फैला दी होंगी
उसने
अछोर अपनी बाहें...

किसी हूक की तरह
नदी
इस आगोश में दौड़ गई होगी...

ठिठका हुआ आसमान
पनाह को
खुदबखुद
उतर आया होगा धरती पर।

2

पानी चुका होगा
लग आई होगी प्यास
तभी तो रही है
फिर पानी की तलाश

किसी-किसी तलाश में
पहाड़-दर-पहाड़
रौखड़ ही रौखड़
झाड़-झंकाड़ भी मिले ही होंगे
क्या पता कुछ दूर
कीचड़ भी करना पड़ा होगा
पार
जाते-जाते प्राण
फिर वापस लौट आये होंगे

पानी को संजोओ
प्यास को
अपने समुद्र तक बहने दो।

गंगा

1

कामना के पुष्प-दीप
या
उदास-उद्विग्न मन
जब कभी
गंगा तट आते हैं
तो
गंगा-गंगा हो जाना चाहते हैं...

गोमुख से आये बिना
गंगा सा
गहराना
संभव है भला ?

2

बंधनों से मुक्ति चाहिए संसार को
संसार को चाहिए
एक नया संसार

बंधनों से मुक्त होना
कंवल होना है
कंवल होना
दलदल में दलदल से ऊपर होना है
जैसे नदियों में गंगा।

3

गंगा वह रही है
बहे जा रही है... शीतल...
अविकल... अविरल...

गंगा बह रही है कब से ?
क्यों बह रही है ??
साधु-असाधु कोई नहीं सोचता

योग
रोग
भोग को
निस्तारती गंगा
कितनी गंगा रह गई है
अब ?

4

तीर्थ नहीं रहे
धर्म !
धर्म नहीं रहे
यज्ञ !
एक सनातन नाला बह रहा है...

मोक्षदायिनी
गोमुख के बाद
तुझे
कहाँ कहें माँ ?

दानपुर, रुद्रपुर, ऊधमसिंह
उत्तराखंड-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

सुरेन्द्र काले

कोई बताएगा-1

...द्ध पार से आयी
...द्ध हवा में भरी है
...दमी की सुदीर्घ यातनाओं
...की रहस्यमयी गंध

...ल के सलीब से
...ल भी टपकता ख़ून
...अपने गीलेपन में कहता है
...ना का दर्द और
...वह रहस्य, जो वे नहीं
...कह पाये

...कल क्यों नहीं आता
...उसकी प्रतीक्षा में
...मर कर जीते हैं
...पाये सारी यातनाएँ

...उन्हीं कृतियों में मशगूल
...अब वर्षों में अर्जित
...पूर्वजों की या खुद की देन है यह

...लिक और यथार्थ के चेहरे में
...लिक रही हैं आदमी की
...गयी रोचक नादानियाँ

...सफ़र की
...जात है
...अंत
...कोई बताएगा ?

कोई बताएगा-2

...ीने राड़कर
...ने आग पैदा की थी
...उस साहित्य

उसी आग में उन्हें
मिली थी विश्वासों की भीड़

वहीं से मिला था उन्हें
यथार्थ में रंग भरने का साहस
जो धीरे-धीरे बदलता गया
ज़िद्द की मूर्ति में अदृश्य

साँस रोके जलता
यह दीया
हवाओं का रह-रह
इसे डराते रहना

क्या अब भी बची है
कोई ज़िद्दी ज़िद
कह क्यों नहीं देती कि
अब दम तोड़ना
चाहती है

यह एक जगह
इकट्ठा होती विफलताएँ
अपनी दसों उँगलियों से
शरीर के अंगों पर
कब से लिख रही हैं
पीड़ाओं की कहानियाँ
कोई बताएगा?

स्थगन

वह क्यों चीख़ें
चीख़ने की भरपूर शक्ति रखती है
फिर भी वह क्यों चीख़े।

काले पत्थरों पर लिखा क़ानून
पहले दादी ने, फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँ ने उसे पढ़ाया-रटाया।

महाशून्य के पास
आज उसे लेकर
सारे आनंद की
यंत्रणा की बात
पुरुष की चाँदनी के
आँगन में बसती है।

वह अपनी हारती
साँसों में चाँद और
सूरज की प्रमुख गवाह
बनने की आकांक्षा में
पुरुष की बाँहों की कसती
यंत्रणा में न जाने किस
उद्देश्य में निर्देश देती है
चलती रहो, चलती रहो।

अंधा अथवा उन्मादित
पंगु नहीं होता समय
विवश साँसों की आवाज़ ही में
बंधन तोड़ लौट आते थे
कालरात्रि का सीना चीरकर
पंछी, शुभ्र चाँदनी
रजनीगंधा।

अनबोले ख़ामोश कमरे में
जाग उठता है सूखे पत्तों का कोलाहल
मृतप्राय उसके शरीर में
हरे पत्ते डोलते हैं

चुप्पियों में, सिसकियों में
छिपा था उनके होने का अर्थ
फिर क्या ज़रूरत थी
किसी और अर्थ के पास जाने की।

हिसाब करती है अपने
गहरे अँधेरे की उम्र
विद्रोह की गहरी नदी का
एक चुल्लू पानी पीकर
आकाश के सारे विद्रोह को
आँसुओं की बूँदों से
नम करती सो जाती है।

सुबह होते ही बदन से चिपका
सारा गलीज़ न जाने किस
भ्रम में विश्वासों का झाड़ू मार
साफ़ कर लेती है।

वह सिलबट्टे पर पीस
लेती है अपनी सारी
कुँआरी भूख और
आसक्ति की मुहर मार लेती है।

शक्ति भर सुदिन की प्यास को
ज़िंदा रखती सोचती है
इस पुरुषवादी सत्ता में
वह क्यों चीख़े।

अपनी चीख़ें, अपने ईश्वर को
मारकर एक और पुरुष को
जन्म देने के लिए
स्थगित कर वह
रोज़ सो जाती है अपनी बाँहों में
रुलाई भींचकर।

नवाब कॉटेज, पुरदिल नगर, गोरखपुर (उ

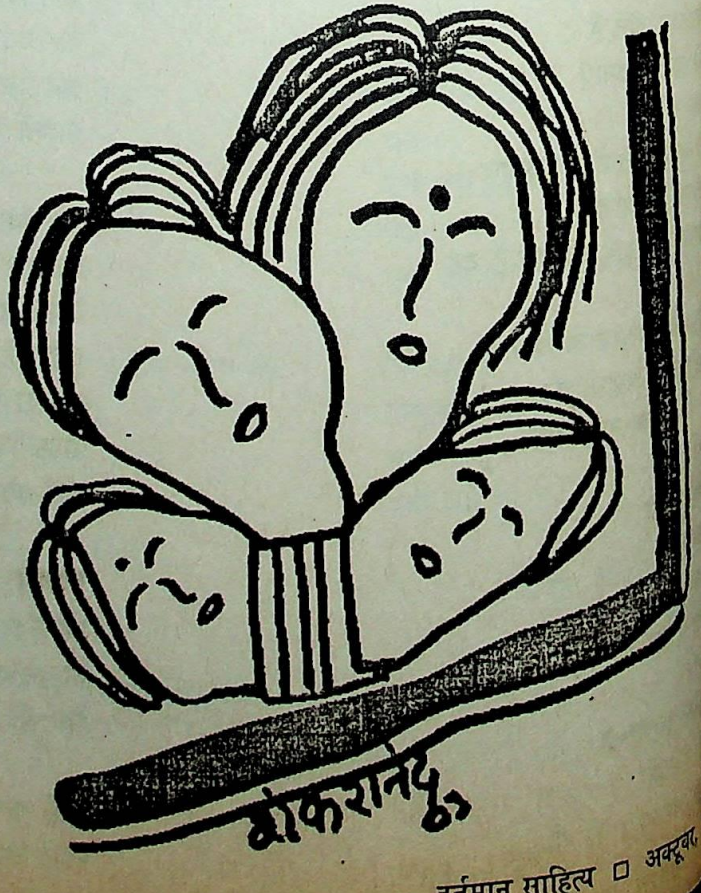

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दस्वराज : गांधी की भटकती आत्मा

देवी प्रसाद मौर्य

गांधीजी ने 1909 में लन्दन से दक्षिण अफ्रीका लौटते समय जहाज पर संवाद शैली में गुजराती भाषा में हिन्दस्वराज के ...मून को लिखा था, जो धारावाहिक रूप में उनके साप्ताहिक ...बार 'इण्डियन ओपिनियन' में छपा। वाद में इसके पुस्तक रूप ...छपने पर बम्बई सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। तब ...जी ने सोचा कि हिन्दस्वराज में जो कुछ लिखा गया है उसे ...जी जानने वालों को भी मूल रूप में बताया जाना चाहिये, अस्तु ...उन्होंने इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में करके छपवाया। इसे ...बम्बई सरकार ने प्रतिबंधित किया। यह छोटी पुस्तक प्रकाशित ...ही ब्रिटिश हुकूमत को खतरनाक लगी। इसमें हिन्दुस्तान की ...जादी के लिये हिंसक प्रतिरोध करने हेतु प्रतिबद्ध जो क्रान्तिकारी ...में सक्रिय थे, उनसे गांधी जी का विचार विमर्श हुआ था, उसे ...त्मक ढंग से संवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने ...अफ्रीका में अंग्रेजी हुकूमत के विरूद्ध मानवीय सम्मान के ...कारों की रक्षा के लिये सत्याग्रह के अहिंसक प्रतिरोध का जो ...भव प्राप्त किया था उसी तरह के प्रयत्नों से हिंदुस्तान को ...जाद करने की पक्षघरता के साथ वे बताना चाह रहे थे कि ...स्तान को अंग्रेज़ी हुकूमत से आजाद कराना भर ही उनका लक्ष्य ...है बल्कि परंपरागत भारतीय समाज को यूरोप की आधुनिक ...ता से भी बचाना होगा। उस समय अपनी सिविल नाफ़रमानी ...इच्छाशक्ति से वे इतने अभिभूत थे कि 1915 में भारतीय ...तंत्रता आंदोलन में शरीक होने के लिये लौटते ही यहां पर ...ग्रह स्वरूप अंग्रेजी हुकूमत के हुक्म के खिलाफ हिन्दस्वराज ...पुनः छपवाकर प्रसारित करना जरूरी समझा। तब तक उन्हें ...स्तान में इतनी अधिक प्रसिद्धि मिल चुकी थी कि सरकार ने ...क को बिकने से न रोकना ही उचित समझा।

मोहनदास करमचंन्द गांधी अपनी पुस्तक 'हिन्दस्वराज्य' में ...स्तानी जनता को यह समझाना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान को ...जों ने गुलाम नहीं बनाया बल्कि हिन्दुस्तानियों ने अपनी ...नी, आपसी फूट और गुलामी की मनोवृत्ति के काण अंग्रेजों को ...ना मालिक स्वीकार कर लिया है। दादा भाई नौरोजी के ...यन के हिसाब से तो ब्रिटिश हुकूमत हिन्दुस्तान की दौलत, ...कृतिक संसाधान और श्रम शक्ति की लूट के बलपर ब्रिटिश ...ज्य को टिकाये हुये है और दिनों दिन अपने को ताकतवर ...ना रही है। हिन्दुस्तानी समाज अपने परम्परागत उद्योग तंत्र, शिल्प और जीवन शैली से हजारों साल तक खुशहाल रहा है। चालाक अंग्रेज हुकूमत की चालों को समझते हुये हिन्दुस्तानियों को आपसी भाईचारा, सहयोग, प्रेम और नीति धर्म के आचरण के साथ निडर होकर हुकूमत के अत्याचारों का मुकाबला करना चाहिये। इसका सीधा तरीका यह है कि हम लोग मिलकर सरकार की आज्ञा को मानने से इन्कार कर दें, हमारे अहिंसक असहयोग आंदोलन के आगे सरकार को झुकना ही होगा और उसके सामने हमें आज़ाद करने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं बचेगा। हिंदुस्तान की बदहाली के लिये वे रेलगाड़ी, अंग्रेज़ी अदालतें और वकील, डॉक्टर, मशीनी औद्योगीकरण तथा अंग्रेजी शिक्षा को बहुत खतरनाक मानते हैं। बल्कि इन्हें आधुनिक सभ्यता का आधार स्तम्भ बताते हुये ऐसी चाण्डाल सभ्यता का बहिष्कार करने की बात करते हैं। यहां तक कि ब्रिटेन के संसदीय लोकतंत्र की भी तीखी आलोचना करते हैं, पार्लियामेंट को बांझ और वेश्या कहने में उन्हें संकोच नहीं होता है। टॉलस्टॉय, थोरो, रस्किन, मैज़ीनी जैसे यूरोप के मानवतावादी विचारकों की सीख के अनुसार वे कहना चाहते हैं कि आधुनिक सभ्यता न केवल हिन्दुस्तान के लिये बल्कि यूरोप और सारी दुनियां के मानव जीवन के लिये अहितकर हैं। प्राकृतिक जीवन, प्रेम, सहयोग, धर्मनीति से ही मनुष्यों का जीवन सुखी रह सकता है।

नेशनल कांग्रेस जो उस समय शान्तिपूर्ण ढंग से स्वतंत्रता आन्दोलन चला रही थी उसके सभी नेता संभ्रान्त और विद्धान लोग थे। दूसरी तरफ पंजाब और बंगाल के क्रान्तिकारी थे जो हिंसक कार्यवाही से अंग्रेजों को बाहर भगाना चाह रहे थे। उन सभी को गांधीजी की यह छोटी

पुस्तक अधकचरी लगी। प्रो. गोखले जिसे गांधीजी अपना मार्ग दर्शक मानते थे, ने भी इसे ठीक नहीं समझा। किन्तु दक्षिण अफ्रीका में नस्ल भेद के विरुद्ध इनके काम से काफी लोग प्रभावित थे इसलिये हिन्दस्वराज के कथ्य के प्रति लोगों में असमंजस भरा प्रशंसा भाव भी था। 1921 में इस पुस्तक की जब दूसरी आवृत्ति निकली तो गांधीजी को स्पष्टीकरण देना पड़ा कि वे बुनियादी ढंग से पुस्तक में व्यक्त विचारों को सही मानते हैं किन्तु स्वतंत्रता का जो आन्दोलन कांग्रेस के माध्यम से चल रहा है, उसमें वे पार्लियामेंटरी सिस्टम वाली आजादी पाने के ध्येय से ही सम्मिलित हुये हैं। अचरज की बात यह है कि यह पुस्तक लगातार वैचारिक उत्तेजना देती गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1938 में यूरोपीय विद्वानों और विचारकों का अभिमत जानने के लिये 'आर्यनपाथ' नाम पत्रिका ने हिन्दस्वराज विशेषांक निकाला, जिसमें ज्यादातर लोगों ने गांधीजी के पश्चिमी सभ्यता विरोध और मशीन के बहिष्कार को उचित नहीं समझा। दरअसल गांधीजी स्वराज्य के विचार को सामाजिक स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति की तरह देख रहे थे। उनका मानना था कि अंग्रेज अगर देश छोड़कर चले जांय, परन्तु अंग्रेजियत को हमारी आदत में शामिल कर जांय उससे तो हम अपने आप उनके गुलाम बन जाते हैं। उन्हें बाद में अपने साथियों को समझाना भी पड़ा कि वे यंत्र अथवा तकनीक की मूलधारणा के विरोध में नहीं हैं। चरखा, सिलाई मशीन और यहां तक कि उपयोगी मशीनों को तैयार करने वाले बड़े कारखाने खड़े करने की बात भी उन्होंने मानी। यहाँ तक कि उन्हें यह भी कहना पड़ा कि बहुत जरूरी हो तो औद्योगिक बड़े उत्पादन सरकारी नियंत्रण में किये जा सकते हैं। समाजवादी सामाजिक नियंत्रण को उन्होंने स्वीकार किया परंतु हिन्दस्वराज में प्रकट विचारों से मोहनदास करम चंद गांधी की कितनी गहरी प्रतिबद्धता है यह उनके 1938 में व्यक्त इस वक्तव्य से हो जाता है, "यह पुस्तक अगर आज मुझे फिर से लिखनी हो तो कहीं कहीं मैं उसकी भाषा बदलूंगा, लेकिन लिखने के बाद जो तीस साल मैंने अनेक आंधियों में बिताये हैं-उनमें मुझे इस पुस्तक में बताये हुए विचारों में फेर बदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला।" गांधीजी अतीतोन्मुख व्यक्ति नहीं थे, यूरोप के समकालीन मानवतावादियों से उनके सम्बन्ध थे। दरअसल में रेलगाड़ी, अदालत, वकील, डॉक्टर (अंग्रेजी चिकित्सा) और अंग्रेजी शिक्षा को वे अंग्रेजी हुकूमत की भारतीय समाज को हमेशा के लिये पंगु बनाकर गुलामी में डालने का षडयंत्र मान रहे थे। ऐसा हम इसलिये कह सकते हैं कि इसी पुस्तक में अन्यत्र यह माना गया है कि भारत की प्राचीन सभ्यता में भी डॉक्टर (वैद्य) वकील और शिक्षक मर्यादित ढंग से समाज की सेवा करते थे।

मोहनदास करमचंद गांधी की इस तल्खी का सही मार्ग समझने के लिये हमें कार्लमार्क्स द्वारा लिखा लेख जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' (1853) में छपा था, उसे देखना चाहिये। हिन्दुस्तानी समाज के प्राचीन आर्थिक ढांचे और शिल्प कौशल को जिस तरह ब्रिटिश हुकूमत ने तहस नहस किया है उसका मार्मिक विवरण वहां दिया गया है। वे कहते हैं- "भारतीय समाज के पूरे ढांचे को इंग्लैण्ड ने पूरी तरह तोड़ दिया है और उसके पुनर्निर्माण के कोई आसार अभी तक दिखाई नहीं देते हैं। बिना किसी नवनिर्माण के प्राचीन सभ्यता के खो जाने का दारुणदुःख आज के प्रत्येक त्रस्त हिन्दू के मन पर है और यह दुःख ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा शासित हिन्दुस्तान को उसकी प्राचीन परम्पराओं तथा सम्पूर्ण अतीत से पूरी तरह अलग कर देता है।" गांधी जी के हिन्दस्वराज के पाठ में ऐसी वेदना स्पष्ट नहीं दिखाई देती। परंतु इसे अदृश्य संताप को पचाये हुये व्यक्ति का दृढ़ प्रतिरोध जरूर वहाँ देखा जा सकता है जब वे ब्रिटिश हुकूमत से कहते हैं-"आपके पास हथियार बल है, भारी जहाज सेना है। इसके खिलाफ वैसी ताकत से हम नहीं लड़ सकते। लेकिन आपको अगर हमारी बात (शोषण दूर करने संबंधी मांगे) मंजूर न हो तो आपसे हमारी नहीं बनेगी। आपकी मरजी में आये तोऔर मुमकिन हो तो आप हमे तलवार से काट सकते हैं। हमें जो पसंद नहीं वह अगर आप करेंगे, तो हम आपकी मदद नहीं करेंगे और बगैर हमारी मदद के आप एक कदम भी नहीं चल सकेंगे।... अगर हममें कुछ दम होगा, तो आप देखेंगे कि आपका मद बेकार है और आपका हंसना विनाशकाल की विपरीत बुद्धि की निशानी है।" इस अहिंसक निर्भीकता की ताकत को गांधीजी ने बाद के वर्षो में पूरे भारतीय प्रायःद्वीप पर विभिन्न जन आन्दोलनों में चरितार्थ करके दिखा दिया।

हिन्दस्वराज के शतवार्षिकी के अवसर पर इसके पाठ को लेकर जगह-जगह चर्चा होगी तब उसके अधकचरेपन पर भी चर्चा होगी। परंतु हमें याद रखना चाहिये कि उन्होंने बाद के अपने जीवन में जो राजनैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार किये, उनमें हिन्दस्वराज के विचारों का ही परिष्कार किया जाता रहा। गांधीजी ने अपनी जीवनी को सत्य के प्रयोग कहा और उसे सच्ची घटनाओं के रिपोर्ट की तरह ही रखा। अपने सैद्धांतिक चिंतन और वैश्विक दृष्टि पर उन्होने कोई बड़ा ग्रंथ नहीं लिखा। हरिजन और यंगइण्डिया पत्रिकाओं के लेख तथा छोटी-छोटी चिट्ठियों के माध्यम से वे लाखों हितैषियों और कार्यकर्ताओं से जुड़े रहे। ईश्वर को ही सत्य मानने वाले मोहनदास अपने आखिर के दिनों में सत्य को ही ईश्वर कहने लगे थे, अपने एक शिष्य रामचन्द्र राव गोंड की ईश्वर निष्ठा के विरूद्ध नास्तिकता में भी उन्हें सत्य दिखाई दिया। उन्होंने अपने साथियों को चेताया भी था कि "मैं अपने लेखन में कतई सुसम्बद्ध नहीं हूं। मेरे सत्य के प्रयोग में मैंने कई विचारों की उपेक्षा की है और नित नये तत्व चिंतन सीखे हैं। जब मेरे एक ही विषय पर लिखे दो लेखों में कोई असम्बद्धता दिखाई दे और यदि पाठक को मेरी संचेतना में विश्वास हो तो उसे मेरे द्वारा लिखे गये बाद के लेख को ही चुनना चाहिये।" साफ है हिन्दस्वराज का लेखन एक व्यक्ति का मामला नहीं है, उसमें हिन्दुस्तान की पांच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता और संस्कृति के सामाजिक व्यवहार को समेटने की कोशिश है।

उस समय देश की आज़ादी का लक्ष्य सामने था अतः विदेशी हुकूमत को भगाने के लिये स्वाभाविक तौर पर हिन्दुस्तानी समाज के विविध पक्ष एक साथ आंदोलन में सक्रिय हुये थे। गांधीजी आंदोलनों को जनता के निचले स्तर तक ले जाने में सफल हुये थे, इसलिये उनके आह्वान की ताकत से ब्रिटिश साम्राज्य हिल गया। परन्तु यह मानना कि गांधीजी के व्यक्तिगत प्रयास से हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ, यथार्थ स्थिति को एक तरफा बना देना है। समाजिक सांस्कृतिक अंतर्विरोधों की वजह से समाज में कई तरह की विषमतायें थी-हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता, हिन्दुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक और जातिगत शोषण और अन्याय, भाषा और पहचान का संकट और आर्थिक दृष्टि से सामंतों, ज़मींदारों का गरीब, अज्ञानी जनता पर परंपरागत अत्याचार... ये ऐसे मसले थे जिससे वर्ग विरोध के आधार पर कई अन्य का उभरना स्वाभाविक था। इन वर्गीय खेमों में से ज्यादातर गांधीजी के साथ थे, किन्तु कुछ समूह ऐसे भी थे जो आखिर उनके नेतृत्व तथा विचार से सहमत नहीं हुए। सदियों से रूढ़ व्यवस्था में अंतर्निहित सामाजिक शोषण और अन्याय भावना से ही समाप्त नहीं किया जा सकता है, उसके लिये मूलक व्यवस्था को तोड़ना लाजिमी हो जाता है, यह गांधीजी को समझ में नहीं आया। स्वाभाविक रूप में इन वाले वर्ग से उनका सिद्धांततः विरोध हुआ। सभ्यता के स्तर स्पृश्य जातियों के अमानवीय शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने डॉ. भीमराव अंबेडकर तथा नयी वैश्विक सामाजिक क्रांति के मार्क्सवादी कम्युनिज्म समर्थक गांधीजी के सद्भावना प्रयास सत्याग्रह आंदोलन को आडंबर और सत्ताधारी वर्ग को बचाने वाला की मानते रहे। आधुनिक विचार के साथ सामाजिक चिंतन और धार्मिक अंध विश्वास और रूढ़ियों को दूर कर नये वादी समाज के निर्माण के लक्ष्य जिनके सामने थे, वे गांधीजी पश्चिमी सभ्यता के विरोध किये जाने को कैसे बर्दाश्त कर थे। कहने का आशय यह है कि भले नेशनल कांग्रेस ने जी को निर्विवाद अपना नेता माना हो परंतु यहाँ पर भी ऐसा जो आधुनिक सभ्यता को तार्किक रूप से नये मनुष्य का मानता था।

गांधीजी हिन्दस्वराज में अराजकतावादी सिद्धांत को अपनी गत निष्ठा मान रहे थे। जहाँ समाज की संचेतना और भावना से सामाजिक जीवन संचालित होता है वहाँ ता की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे भारतीय जीवन में वना के सहारे लोकसत्ता के अभ्युदय की अपेक्षा कर रहे थे। सामुदायिक जीवन के लिये सर्वोदय ग्राम स्वराज, खादी ट्रस्टीशिप आदि विचारों के आधार पर सामाजिक नवनिर्माण क्रम तय किये थे। उस दिशा में बहुत समय तक गांधीवादी ओं और कार्यकर्ताओं के द्वारा प्रयास भी किये गये। विनोवा भूदान ग्रामदान आन्दोलन सर्वोदय समाज निर्माण के लिये हुआ था, किंतु आज हम देखते हैं कि उसका कहीं थान नहीं बचा है। उस तरह स्थानीय स्तर पर प्रयोग करने कभी कभार पहले सुनी जाती थी परन्तु इन दिनों ऐसी खबर नहीं है। राज्यसत्ता और राजनीति ने, खादी ग्रामोद्योग एक अर्थतंत्र विकसित हुआ था, उसे भी छिन्न भिन्न कर है। गांधीवादी संस्थायें अपनी अंतिम सांसे गिन रही हैं। जनता स्वभाव से ही हमेशा व्यवहार में राज्यसत्ता विमुख इस प्रवृत्ति की वजह से गांधीजी पंचायती राज्य के सफल आस लगाये थे किंतु पंचायती राज्य संबंधी स्वायत शासन का 73वां संविधान संशोधन पास हो जाने के बावजूद कुटिल राजनीति उसे भी जात पांत के गढ्ढे में घसीट लाई है। गांधीजी ग्राम स्वराज्य के सामाजिक नवनिर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम और अन्याय अत्याचार के विरूद्ध सत्याग्रह के प्रतिरोध के द्विविध लोकचेतना से हिन्दस्वराज्य को चरितार्थ करना चाहते थे किन्तु उसकी अभी दूर तक संभावना नज़र नहीं आती।

गांधीजी की हिन्दुस्तान के राजनैतिक संघर्ष में महत्व पूर्ण भूमिका थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलनों, सामाजिक, सांप्रदायिक सद्भावना के लिये लंबे उपवासों और भारत छोड़ो आंदोलन की सक्रियता से वे हर हिन्दुस्तानी के साथ भावनात्मक से जुड़ गये थे। आज़ादी के पहले और बाद में जो सांप्रदायिक दंगे भड़के और लाखों लोगों के जानमाल का जो नुकसान हुआ, उस समय सरकार की सेनायें और पुलिस जहाँ असफल रही वहीं गांधीजी की सद्भावना यात्रा और उपवास से देशभर में शान्ति वापिस

लौटी। अपने अहिंसक आंदोलनों के कारण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वे सिविल नाफरमानी-सविनय अवज्ञा आंदोलन के सफल प्रवक्ता के रूप में विख्यात हो चुके थे। आइन्सटीन जैसे विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक इनके शांतिवादी प्रयासों और सत्याग्रह के नये अहिंसक अस्त्र के ऐसे कायल थे कि परमाणु अस्त्र के उपयोग के विरोध स्वरूप वे गांधीजी की तस्वीर को अपने अध्ययन कक्ष में लगाते थे। मृत्यु के पूर्व वे एक मानवतावादी विश्वनेता के रूप में सभी के द्वारा स्वीकार किये जा चुके थे। जब उनकी हत्या हुयी तब संयुक्त राष्ट्र संघ ने शोक स्वरूप अपना झंडा झुकाया, जबकि वे किसी भी राष्ट्र के राष्ट्राध्यक्ष नहीं थे। यह सब होते हुए भी जब आज़ादी के बाद कांग्रेस पार्टी ने दुनियाँ की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक सरकार बनायी तो वहां लोक स्वराज्य का उचित ख्याल नहीं रखा गया। गांधीजी ने जवाहर लाल नेहरू को काफी पहले अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी घोषित किया था और उम्मीद जताई थी कि वे हिंदुस्तान की बुनियादी संरचना और ज़रूरत के मुताबिक समाज के आर्थिक, सामाजिक विकास के लिए काम करेंगे परंतु जिस पश्चिमी सभ्यता के विलासी पूंजीवादी ढांचे का वे जीवन भर विरोध करते रहे, वही विकास का तरीका सत्ताधारी सरकार ने चुना। संविधान तैयार करते समय भी सामाजिक नव निर्माण का जो संवैधानिक स्वरूप तय किया गया, उसमें पंचायती राज्य के सामुदायिक ढाँचे को कोई तवज्जोह नहीं दी गयी। विकेंद्रित लघु और गृह उद्योग, उचित भूमि सुधार कानून, आवश्यक अधि संरचना तथा ग्रामीण क्षेत्रों का विकेंद्रित ढंग से औद्योगीकरण करके बड़े शहरों के संकेंद्रीकरण को रोका जा सकता था। पंचायतों को सशक्त करके स्थानीय रोजगार और कृषि तंत्र को मजबूत बनाया जा सकता था। ज़रूरी था व्यवहारिक श्लोक प्रशिक्षण और सामुदायिक विकास परियोजनाएँ। आधे- अधूरे मन से कहीं कहीं कुछ शुरू भी किया गया, किन्तु बड़े पूँजीपति घरानों के हस्तक्षेप और बाहर से मिलने वाली आधुनिक टेक्नोलॉजी के प्रभाव में राजनेताओं ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानीय ज़रूरतों की उपेक्षा की। परिणाम हमारे सामने हैं। बड़े शहर दस पंद्रह गुना बड़े होते गये, शहरों में गंदी बस्तियाँ बढ़ती गयी गाँव उजड़ते गये। सामाजिक अपराध, हिंसा मानसिक रोग और तरह-तरह के सामाजिक सांस्कृतिक विचलन। यह है हमारा नया भारतीय समाज। अब तो यहाँ वित्तीय पूँजीवाद पूरी तरह अपना कब्ज़ा जमा चुका है, जिसके फलस्वरूप संसदीय लोकतंत्र दलालतंत्र में, विदेशी बाजार तंत्र और फासीवादी गुण्डातंत्र में तब्दील होता जा रहा है। जनता भ्रष्टाचार और गुंडागर्दी के बीच असहाय, हताश और हतप्रभ है। लोग केवल व्यंग्यों में ही अपनी बात कह पाते हैं। दलितों पिछड़ो के बीच गांधी उनकी मजबूरी का मुहावरा बन गया है। मराठी के दलित कवि वसंत गुर्जर की एक लम्बी कविता 'गांधी मला भेटला' (गांधी मुझे मिला) आज से बीस पच्चीस वर्ष पूर्व जब प्रसारित हुई तब उसमें वर्णित समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक पतनशीलता को गांधी बिम्ब के माध्यम से अभिव्यंजित किये जाने को यथास्थितिवादी खेमे के लोगों ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का घोर अपमान बताकर कवि के विरूद्ध कोर्ट में मुकदमा दायर किया। वसंत गुर्जर को पुलिस थाने और कोर्ट में तरह-तरह की फजीहतें सहनी पडीं। साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों ने जब कवि के पक्ष में बड़े पैमाने पर जन-आंदोलन चलाया तब कहीं जाकर उसे राहत मिली।

गांधी मुझे/बाटा के कारखाने में/बूट की सिलाई करता दिखा/तब बाबूजी गांधी से बोला/इस देश में चमार कभी प्राइम मिनिस्टर नहीं बन सकता....गांधी मुझे/चरण सिंह के सूरज कुंड में मिला/ तब वह राष्ट्र को संबोधित करते बोला/मेरी जिंदगी की तमन्ना पूरी हो गयी... गांधी बाबा/ राजघाट पर बसंत दत्तात्रय गुर्जर के/ कंधे पर हाथ रखकर बोला/ ईश्वर मर चुका है और ईश्वरीय व्यक्ति भी/ शैतानों से भरे विश्व में अब/ मरे हुए ईश्वर की मुक्ति/संभव नहीं/ और ईश्वरीय व्यक्ति की तो कतई नहीं/ और क्षणभर में वह समाधिस्थ हो गया।

आज के समय में सबसे ज़्यादा अर्थ विपर्यय का शब्द है—गांधी। बड़ी दुर्गति है गांधी बाबा की। इण्डिया वाले बेचारे को जेल में डाले हुये हैं और भारत वाले उसे गरिया रहे है। मुन्ना भाईयों की गांधीगीरी में लोग गांधी के प्रेत को देखते हैं और बार-बार मरते हुये गांधी की हत्या अपने सिर न लेकर कहते हैं—मैंने गाधी को नहीं मारा। कुछ लोग तो गांधी हत्या शब्द पर ऐतराज करते हैं। कहते हैं बोलो गांधीवध।

शब्दों के अर्थ सामाजिक संबंधों और संस्कारों से तय होते हैं- सिविल सोसायटी में सविनय अवज्ञा आंदोलन को एक सीमा में अनुशासित (दंडित) किया जायेगा। परंतु ऐसी अवज्ञा किसी सामंती समाज में की जाती है तो सामंत की मर्जी और उसके दंभ के अनुसार अवज्ञा करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जायेगा जो संभवतः शारीरिक यातना या ऐसी ही किसी बर्बर सज़ा से कम नहीं होगी। गांधी जी की हत्या पर किसी ब्रिटिश राजनयिक व्यक्ति (संभवतः चर्चिल) ने कहा था- गांधी को हमने सांप्रदायिक उन्मादियों से कई वर्षों तक बचाये रखा, किन्तु हिंदुस्तान की नयी सरकार उसे छः महीने भी नहीं बचा सकी। इस वाक्य के निहितार्थ को समझा जाना चाहिये। जिस भारतीय सभ्यता की पैरवी गांधी जी कर रहे थे क्या वह एक सिविल सोसायटी बन पायी थी? क्या अभी भी हमारा समाज एक नागरिक समाज बन पाया है?

नागरिकता एक संवैधानिक विशेषण है, जब हिन्द स्वराज के संदर्भ में आधुनिक सभ्यता की जाँच परख हम करते हैं तो यह समस्या स्वाभाविक रूप से उभर कर आती है। सभ्यता किसी प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में से सामाजिक संबंधों और उच्चतर मानवीय मूल्यों के विकास क्रम में प्रस्फुटित होती है। दुनिया की सभी सभ्यताएँ इसी तरह उभरी तथा उनकी आंतरिक बनावट में जब दोष प्रकट हुये तो वे छिन्न भिन्न हो गयीं। जिन सभ्यताओं में देशकाल के अनुरूप अपने को समायोजित करने की क्षमता थी वे दीर्घकाल तक अस्तित्व में रहीं। भारतीय और चीनी सभ्यताएँ आज भी अस्तित्व में हैं जबकि कौशल और समृद्धि इनसे कहीं ज्यादा समर्थ मिस्र, मेसोपोटामिया, बेबीलोनिया आदि सभ्यतओं के बारे में लोग जानते तक नहीं हैं। जिसे पश्चिमी सभ्यता कहा जा रहा है वह हज़ार-डेढ़ हज़ार वर्ष बाद रोम और ग्रीक सभ्यता के अवशेषों पर विकसित हुई है। सभ्यताएँ मनुष्यों के पुरूषार्थ और बुद्धि कौशल से निर्मित होती हैं इसलिये आज जब विश्व के विभिन्न मानव समूह एक दूसरे के निकट आ रहे हैं मानव जाति के पिछले अनुभवों तथा गुणदोषों के परिष्कार से आधुनिक सभ्यता का विकास हो रहा है। यह एक विशेष पड़ाव है मानव इतिहास में। 1909 में जब गांधीजी पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता के बीच भेद देख रहे थे तो उसके पीछे राष्ट्रीय अस्मिता और स्वतंत्रता का भाव तथा स्थानीय शोषण का दंश ज़्यादा था। पुस्तक के पाठ से गांधीजी की पक्षधरता स्पष्ट दिखाई देती है। आदर्शवादी आत्मसंयम एवं त्याग तपस्या का दिखाई यथार्थ कारणों की उपेक्षा करता है जबकि सत्य की खोज और वैज्ञानिक दर्शन का ध्येय निरपेक्ष भाव से यथातथ्य वास्तविकता का विवेचन और विश्लेषण करना होता है। इस दृष्टि से हिन्दस्वराज के आधुनिक सभ्यता विरोध का औचित्य सिद्ध करना एक का दुराग्रह होगा।

पश्चिमी अथवा यूरोपीय सभ्यता सोलहवीं सदी के प्रारंभ दुनियाँ भर में फैले यूरोपीय सम्राज्य के उपनिवेशदेशों की प्राकृतिक संपदा, श्रम शक्ति एवं साधनों की लूट पर विकसित हुई। इसका उपभोग और प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति के कारण ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकसित होने के अवसर मिले जिससे शहरीकरण तथा औद्योगीकरण बढा। कार्ल मार्क्स ने सभ्यता के स्वरूप निर्धारण के लिये उत्पादक शक्तियों, उत्पादन के स्वरूप और उत्पादन के संबंधों को जवाबदार माना है। इसी विचार के आधार बुर्जुआ, प्रोलेटेरियट (मजदूर) पूंजीपति, अतिरिक्त मूल्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने एवं श्रम को निरर्थक करने वाली टेक्नोलॉजी मिलकर पूंजीवादी सभ्यता का निर्माण करते हैं। पूंजीवादी भूख को मिटाने के लिये उपनिवेश देशों से संसाधन मिलते हैं और बढ़ते मुनाफ़े के लिये मानव श्रम को निर्मूल करने वाली मशीनें ईजाद होती जाती हैं। कार्लमार्क्स एवं एंगेल्स के लेखन में इस तरह की कल्पना कहीं नहीं दिखाई देती है कि बीसवीं सदी के अंत तक निहित स्वार्थी पूँजीपति और सत्ताधारी वर्ग ऐसी टेक्नोलॉजी विकसित कर लेंगे कि जिससे मनुष्य द्वारा किये जाने वाले सभी काम शारीरिक और बौद्धिक, मशीनें करने लगेंगी और रोबोट जैसी मशीन मनुष्य को पूरी तरह अपदस्थ कर देगी। वे आवश्यकता और स्वतंत्रता के पारस्परिक द्वंद्व के तहत समाज के भीतर ही लोगों की जरूरत के मुताबिक माँग और पूर्ति की बात सोच रहे थे। उन्हें स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि असीम स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये असीम आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रौद्योगिकीय कोशिशें की जायेंगी। आज यूरोप और अमेरिका की पूँजीवादी सभ्यता में वही पागलपन दिखाई दे हा है, जो पृथ्वी के अधिकांश संसाधन सोख लेने और पर्यावरण के विनाश कर देने के बावजूद अपनी जीवनशैली बदलने को तैयार नहीं है। इस प्रवृत्ति के विपरीत एंगेल्स साफ़ तौर पर कहते हैं-"स्वतंत्रता कभी कल्पना में भी प्राकृतिक नियमों से मुक्त नहीं हो सकती, बल्कि इन नियमों का ज्ञान प्राप्त करते हुए वह उचित संभावनाओं का निर्माण करके अपने ध्येय को प्राप्त करती है... स्वतंत्रता हमारे आंतरिक और बाह्य व्यवहार के संयम से प्राप्त होती है ऐसे संयम से जो प्राकृतिक ज़रूरतों के मुताबिक होते हैं। इसलिये स्वतंत्रता अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक विकास का फल होती है" (एण्टी ड्यू0) पूंजीवादी तृष्णा ने तो विज्ञान की विवेक शीलता तथा जीवन जगत के रहस्य को समझने की क्षमता पर भी मायावी परदा डाल दिया।

मानवता के लिये यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रही कि बीसवीं शताब्दी में पूँजीवादी साम्राज्यवादी ताकतों से सोवियत संघ की अगुआई में साम्यवादी देश पूँजीवादी साधनों-विनाशक हथियार, प्रचुर मात्रा उत्पादक तकनीक, झूठी प्रतिष्ठा के लिये प्रतियोगिता के माध्यम से ही लड़ते रहे, जिसका परिणाम हमारे सामने है। समाजवादी समाज निर्माण के लिये जो जरूरी सामाजिक सांस्कृतिक ज्ञान, जीवनोपयोगी तकनीक और मानवीय व्यक्तित्व का समुचित विकास किया जाना था- वह हो ही नहीं पाया। पूँजीवादी सभ्यता का क्रांतिकारी समाजवादी रूपांतरण का काम लगभग अस्सी वर्षो के युद्धों और विनाशकारी हथियारों के उत्पादन तथा लेनदेन में बीता। आखिर में जो बिखराव आया वहाँ फिर वही पूँजीवादी सभ्यता हावी है। गांधीजी इसे आधुनिक सभ्यता की विनाशक परिणति के रूप में बीसवीं सदी के शुरू में देख रहे थे। आज इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में दुनियाँ के छोटे-बड़े विकसित अविकसित देश स्थानीय सरकारों के माध्यम से अपने स्थानीय समाज पर आर्थिक साम्राज्यवादी शिकंजा कसा जाता महसूस कर रहे हैं। यह शिकंजा वित्तीय पूँजी के रूप में ज़्यादा विरल और मायावी है- पुराने उपनिवेश भले अब राष्ट्र राज्य बन गये हैं, भले ही उन्हें सार्वभौम राष्ट्र कहा जा रहा हो परंतु उनकी स्वतंत्रता विशालकाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सट्टे बाजार मे नीलाम हो रही है।

गांधीजी जीवन भर दो भिन्न चरित्र वाली सभ्यताओं से जूझते रहे। एक तरफ यूरोपीय सभ्यता थी तो दूसरी तरफ पुरातन हिंदू सभ्यता। एक तरफ वे आत्मसंयम, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य जैसे व्यक्ति मूलक सात्विक आचरण की पैरवी करते रहे और दूसरी तरफ दुनियां की सबसे बडी ताकत ब्रिटिश साम्राज्य से मुकाबला लेते रहे। अपने ही देश में करोड़ों हिंदू मुसलमानों की सांप्रदायिक घृणा की बौछारें अपनी देह पर झेलते रहे। ऐसे व्यक्ति को क्या एकांतिक वैराग्य प्राप्त करने वाला अध्यात्मवादी कहा जा सकता है? बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ के अवसर पर दुनियाँ भर में हुए विविध जनमत सर्वेक्षणों में आगे आने वाली सहस्त्राब्दी पर जिन महापुरूषों की छाया पड़नी है उनके नामों की सूची में प्रथम दो नाम रहे हैं- कार्लमार्क्स और महात्मागांधी। वहीं गांधी जिसे भाई लोग मजबूरी का नाम महात्मा गांधी कहकर हँसी उड़ाते हैं। सच तो यह है कि हम भारतीय लोग और विशेषकर हमारे बुद्धिजीवी आधुनिक सभ्यता से बुरी तरह आक्रांत हैं। वे या तो नकारार्थ सोच की वजह से पश्चिमी सभ्यता के आराधक बन जाते हैं या फिर हिंदू सभ्यता की दिव्यता की गुफा में बैठ घ्यान मग्न हो जाते हैं। मनुष्य का सच सामाजिकता का सच है। हम सब सोशियलाइज्ड ह्यूमेनिटी के हिस्से हैं। प्रकृति समाज और इतिहास के अंतर्संबंधों को दार्शनिक या वैज्ञानिक भाषा अथवा प्रयोग के माध्यम से व्यक्त करते हैं किन्तु मार्क्स अथवा गांधी के लिये वह सत्य सामाजिकता-सामाजिक संज्ञान का जीवन बन कर आता है। गांधीजी ने देखा कि उनका हिंदू समाज पिछली कई शताब्दियों से नैतिक निष्ठाओं और मिथकों में जीकर सुखी संतोषी बना रहता है इसलिये जब उन्हें विज्ञान के सत्य के आगे उनका संतोषी सत्य पिघलने लगा, वे विचलित हुए। उन्होंने कहा पश्चिमी सभ्यता चांडाल सभ्यता है। परंतु अपने जीवन के अंत में आकर उन्हें कहना पड़ा कि सत्य ही ईश्वर है। पहले वाला ईश्वर तिरोहित हो गया। सामाजिकता के साक्षात्कार में मार्क्स इसी तथ्य को दूसरी तरह कहते हैं- जैसे ही व्यावहारिक जीवन और मानवीय अनुभव में मनुष्य और प्रकृति की तात्विकता मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी है और प्रकृति एक मानवीय यथार्थ-अच्छी तरह प्रत्यक्ष हो जाती है वैसे ही प्रकृति और मानव जगत के बाहर के किसी दिव्य अस्तित्व की कोई जरूरत नहीं रहती। "दुनियाँ में जब तक मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण है, सामाजिक अन्याय है-मानव जीवन का तिरस्कार है तब तक हमें मार्क्स भी चाहिये और गांधी भी क्योंकि वे अब व्यक्ति नहीं ऐतिहासिक ताकत बन गये हैं।"

91, हीरानगर, इन्दौर-452010

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हिंद स्वराज' में प्रतिरोध की संस्कृति और मूल्यबोध

कन्हैया त्रिपाठी

बदलते दौर में जब दुनियाभर में ध्रुवीकरण जारी है और हम अपने स्वार्थों तक सिमटते जा रहे हैं, समाज और सभ्यता से हमारे संबंध भी संकुचित हो रहे हैं, ऐसे में कोई प्रतिरोध की राह क्यों जाए? प्रतिरोध हो भी रहे हैं तो उसके मूल्य क्या हैं और क्या वह मानवता की स्थापना के लिए किए जा रहे हैं या खुद को इस प्रतिरोध का लीडर बनाकर राजनीति की रोटियाँ सेकी जा रही हैं, यह बहुत बड़ा प्रश्न है। अब कोई गाँधी तो नहीं होगा। गांधीजी ने आज से सौ वर्ष पहले 'हिंद स्वराज' (इण्डियन होमरूल) लिखा था, सन् 1909 में। उसका मूल्यांकन आज पूरे भारत में हो रहा है किंतु अमल भी होगा, यह कहा नहीं जा सकता।

सी.एफ.एंड्रूज को गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने जो पत्र लिखा था, वह 'हिन्द स्वराज' के संदर्भ में यदि हम उद्धृत करें तो यही प्रतीत होता है जैसे कि, यह टैगोर ने हिन्द-स्वराज के बारे में ही लिखा हो। रवींद्रनाथ टैगोर ने एंड्रज महोदय को लिखा था, "जब हम किसी मानवीय कृति को समझकर उससे आनंदित होने लगते हैं, तो उसका उद्गम भले ही कहीं भी हुआ हो, वह कृति हमारी अपनी हो जाती है।" हिन्द-स्वराज को भी पढ़ते हुए अधिसंख्य पाठकों का मत कुछ ऐसा ही है। जोहांसबर्ग मूल के डब्ल्यू. वाईबर्ग इसके एक उदाहरण हैं। हिन्द स्वराज (इण्डियन होमरूल) गांधीजी ने पढ़ने के लिए उन्हें भेजा था, और प्रतिक्रिया भेजने के लिए लिखा था। उसी के प्रत्युत्तर में लिखा गया है, "मेरे हृदय में आपके और आप सरीखे अन्य व्यक्तियों के प्रति सच्चा और प्रेमयुक्त आदरभाव है।" यद्यपि वाईबर्ग के संपूर्ण पत्र को पढ़ें तो यही महसूस होगा कि वाईबर्ग गांधीजी से संतुष्ट नहीं हैं और उनका कई स्तरों पर गांधीजी से मतभेद है, खासकर 'संस्कृति विमर्श' को लेकर किंतु यह गांधीजी के 'इण्डियन होमरूल' का पूर्णतया नकार नहीं है, बल्कि वाईबर्ग की यह देखने व सोचने की एक दृष्टि हो सकती है, ऐसा हम कह सकते हैं क्योंकि इस पुस्तक के बारे में विचार करके देखें, तो गांधी खुद 'इण्डियन ओपिनियन' में लिखते हैं-"इस पुस्तक में हिंसा का तनिक-सा भी समर्थन कहीं किसी रूप में नहीं है, फिर एक अहिंसक पुस्तक के बारे में कोई कुछ भी लिखे, द्वेष भाव तो उसके भीतर उमड़ नहीं सकता। यद्यपि, जो इसमें सवाल उठाये गए हैं वह जरूर तीक्ष्ण हैं। असरकारक हैं और हो सकता है किसी के लिए पूर्णतया वाहियात हों। यथा, हिन्द स्वराज के संबंध में काका कालेलकर ने अपने 'दो शब्द' में उद्धृत किया है कि, "स्व. गोखलेजी ने इस किताब के विवेचन को कच्चा कहा, उसे नापसंद किया था और आशा की थी कि भारत लौटने के बाद गांधीजी स्वयं इस किताब को रद्द कर देंगे।" महादेवभाई हरिभाई देसाई ने लिखा है कि, "कुमारी रैथबोन ने भी 'हिन्द स्वराज' को बहुत 'असरकारक पुस्तक' कहा है और लिखा है कि 'उसे पढ़कर, उसमें रही भारी प्रमाणिकता को देखकर, अपनी प्रामाणिकता की जाँच करना मेरे लिए ज़रूरी हो गया।" इन दो उद्धरणों से उपजे द्वंद्व को भी अगर हमें तटस्थ होकर पड़ताल करनी हो तो 'गांधी : हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स' पढ़नी चाहिए जो हिन्द स्वराज पर एन्थनी जे. परेल की नयी व्याख्याओं के साथ प्रकाशित पुस्तक है और जिसे एक प्रमाणिक पुस्तक के रूप में मान्यता प्राप्त है।

एन्थनी जे. परेल ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स' में इस बात का उल्लेख किया है कि "जो लोग गांधी विचार का सामान्य तौर पर परिचय पाना चाहते हैं, उन्हें इसी से शुरूआत करनी चाहिए क्योंकि इसी कृति में, गांधीजी अपनी मूल अवधारणाओं को उनके पारस्परिक संबंधों के साथ प्रस्तुत करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं इस पुस्तक को गांधी विचार के अध्ययन के लिए 'मुख्य बुनियादी दस्तावेज़' माना गया है। (मार्गेरेट चटर्जी) उनकी 'आस्था का आत्मस्वीकरण,' (बी.आर. नंदा) 'कुछ उत्तेजक-सा घोषणा-पत्र, 'विचारधारा के स्वातंत्र्य का उद्घोष' (डेनिस डॉल्टन) और राजनीतिक सिद्धांत की एक अविच्छिन्न कृति प्रस्तुत करने का सर्वाधिक नज़दीकी प्रयास (ज्युडिश ब्राउन) माना गया है। इसकी तुलना रूसो के 'सोशल कॉन्टेक्ट', सेंट अग्नोशियस लोपोला के 'स्प्रिचुअल एक्सरसाइसेज़', सेंट मैथ्यू के चौथे अध्याय (बाइबल) जैसी परस्पर विभिन्न रचनाओं से की गयी है।" परेल ने आगे लिखा है कि, "वास्तव में, इसमें उन्होंने भारतीयों के नैतिक पुनरुज्जीवन और भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता की राह दिखायी है।"

इस पुस्तक की सबसे ठीक पड़ताल कांति शाह ने की है अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराजः एक अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(गांधी ने पावा नो अेक प्रयास)' में। कांति शाह लिखते हैं कि, "हिंद स्वराज बुरी-फिलॉसफी के समक्ष प्रतिरोध की पुस्तक है।" इस सूत्र वाक्य के ही सच को अगर हम ठीक ढंग से जान समझ लें तो यह लगता है कि इस पुस्तक में जो 'प्रतिरोध की संस्कृति' मौजूद है उससे हमारा साक्षात्कार हो जाए। वस्तुतः प्रतिरोध की अपनी एक प्रवृत्ति होती है, जो किसी प्रतिक्रिया के ही रूप में उभरकर सामने आती है। हिन्द स्वराज के प्रतिरोध की भी एक प्रवृत्ति है जो अन्य प्रतिरोध से भिन्न है। यह भिन्न इसलिए है क्योंकि इसकी प्रतिरोध प्रक्रिया उस सभ्यता के ख़िलाफ़ है जो सभ्यता हिंसा और बर्बरता के रास्ते मनुष्यता का दमन कर देना चाहती है। उस 'नये ज्ञानोदय' के दर्शन का इंकार है जो मानवीय संवेदनाओं के साथ सिर्फ़ और सिर्फ़ खिलवाड़ करके अपने उत्कर्ष के लिए बेताब है। यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि वह 'प्रेम के नियम' से चलने वाला प्रतिरोध है। 'प्रेम के नियम' की चर्चा पिछले अध्यायों में भी की गयी है, जिसका अर्थ है-आध्यात्मिक मार्ग। गांधीजी ने हिन्द स्वराज में जो प्रतिरोध की संस्कृति को पुनर्जीवित किया उसे निःसंदेह आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में ही पुनर्जीवित किया है क्योंकि उनके विरोध का तरीका भी बहुत सात्विक है। गांधीजी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में लिखते हैं कि, "उनके ख़िलाफ़ (शैतानी सभ्यता और संस्कृति के पोषकों के) तो हम लड़ेंगे ही, लेकिन वह लड़ाई धर्म को भूलकर नहीं लड़ी जाएगी, बल्कि सही तौर पर धर्म को समझकर और उसकी रक्षा करके लड़ी जाएगी।" इस प्रकार धर्म के रक्षार्थ गांधीजी के प्रतिरोध के स्वर थे, और गांधीजी के लिए धर्म जैसाकि पहले ही विवेचित किया जा चुका है, 'व्यवहार में आने वाला धर्म ही धर्म है' और उस धर्म में 'दया', 'करूणा', प्रेम और 'अहिंसा' के तत्त्व मौजूद हैं।

नन्दकिशोर आचार्य ने गांधीजी के इस प्रतिरोध के स्वर को 'अहिंसक प्रतिरोध' के रूप में व्याख्यायित किया है। वह अपनी पुस्तक 'सभ्यता के विकल्प' में लिखते हैं कि, "गांधीजी का बल सत्याग्रह पर है जो एक सकारात्मक धारणा है जो केवल 'अप्रतिरोध' द्वारा नहीं बल्कि 'सक्रिय अहिंसात्मक संघर्ष' द्वारा अन्याय या असत्य का विरोध और सत्य की स्थापना का आग्रह करती है।" दरअसल, गांधी जी की अवधारणा में 'सत्य ही ईश्वर है', इससे भी यह सिद्ध है कि 'प्रेम के नियम', 'सत्य', 'अहिंसा', यह सब गांधी के आध्यात्मिक पक्ष के ही संकेतक हैं और गांधीजी कहीं-न-कहीं इन्हीं के पथ पर अग्रसर होकर अहिंसक प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया में संलग्न थे। हिन्द स्वराज में गांधीजी की संवाद की परत-दर-परत विवेचना अगर कोई करें तो उसमें इसके बिंब मिलेंगे। ख़ास बात यह है कि गांधीजी इस संस्कृति के निर्माण काल में निम्न हथियारों को साधन बनाते हैं उनके केंद्र में भले अहिंसा मौजूद हो लेकिन उनमें जो व्यावहारिक माध्यम हैं वे बहुत ही उपयुक्त हैं, जिसे आज के दौर में भी उतना ही कारगर माना जा रहा है जितना 'गांधी-युग' में था। वह हैं–

1. सत्याग्रह और
2. असहयोग

यह दो हथियार तो समझ में आते हैं लेकिन एक और माध्यम है जो निश्चित ही उदाहरणीय है और वह है-'मौन'। यद्यपि, इसे लोग यह मान लेंगे कि यह सत्याग्रह का का हिस्सा है, किंतु 'मौन' आत्मकष्ट का सबसे बड़ा उपाय है, जो प्रतिरोधी को सिर झुकाने के लिए बाध्य करता है और आत्म मूल्यांकन के लिए भी कारगर है। इतिहास-दृष्टि, से भी प्रतिरोध की कई व्याख्याएँ मिलती हैं जो प्रायः प्रतिशोध के रूप में हैं, किंतु 'प्रेम के नियम' में प्रतिशोध का स्थान नहीं होता बल्कि अहिंसा होती है। अब गांधीजी ने जो हिन्द स्वराज में प्रतिरोध के लिए आग्रह किया है, वह सत्याग्रह से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यदि कोई देखता है तो वह गांधीजी के प्रतिरोध को नहीं देखता बल्कि प्रतिरोध में वह प्रतिशोध को देखता है। टॉलस्टॉय के 'अप्रतिरोध या 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के बरक्स गांधी का 'अहिंसक-प्रतिरोध' इसीलिए भिन्न है। सत्याग्रह और असहयोग के जरिए सक्रिय अप्रतिरोध अहिसंक मार्ग पर कैसे चल सकते हैं; और प्रभावी भी हो सकते हैं; इसकी गजब की कैमिस्ट्री 'गांधीयन पैसिव रेज़िस्टेन्स विथ नॉन-वायलेन्स' में दिखती है। गांधी जी ने हिन्द स्वराज में ही कहा कि, "आप अंग्रेजों का दोष न निकालें। उन पर तो हमें दया आनी चाहिए। मूल में उनके विचार अनीति भरे नहीं हैं, इसलिए उनके बारे में मेरे मन में उत्तम ख्याल ही हैं।" इससे अर्थ क्या निकलता है, आप खुद विचारें। क्या गांधी जी के मन में प्रेम के अतिरिक्त कुछ है? क्या गांधी जी किसी भी तरह की हिंसा के लिए जगह छोड़ते हैं? निःसंदेह गांधी जी के भीतर अहिंसक प्रतिरोधी चेतना विराज रही थी जो यह नहीं चाहती कि किसी भी तरह का अहित करके किसी भी व्यवस्था का हम विरोध करें।

किशन पटनायक ने अपनी पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' में लिखा है, "संस्कृति में बहुत-सा आडंबर होता है, लेकिन उसका एक बुनियादी अंश है जिसको हम मूल्य कहते हैं।" गांधीजी ने हिन्द स्वराज द्वारा इन्हीं मूल्यों की गुमशुदगी का जायज़ा लिया है। वस्तुतः गांधीजी को उस सभ्यता से बिल्कुल विरोध था जो मनुष्य के मन से विरत रहे और जिसकी कोई, नैतिकी न हो। 'अपसंस्कृति' को जनने वाले 'उद्योग' और 'व्यापार' का गांधीजी ने हिन्द स्वराज में विरोध किया है, रेल का भी विरोध किया और पार्लियामेंट का भी। दरअसल, ये भारत के भीतर ही नहीं बल्कि पूरे औपनिवेशिक परिक्षेत्र के देशों में अपना प्रभाव दिखा रही थीं। मनुष्य के 'श्रम' और 'सौंदर्य' का मूल्यांकन इनसे संभव न था बल्कि साम्राज्यवादी व्यवस्था का पोषक बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमानवीय परिवेश तैयार करने का कार्य ही इनसे संभव हुआ, फलतः गांधीजी ने इसका प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध इसलिए था क्योंकि इससे भारत की आत्मा पर जो तांडव तत्कालीन व्यवस्था करना चाह रही थी उससे गांधीजी वाकिफ़ हो चुके थे। प्रो. विपिन चन्द्रा ने अपनी पुस्तक 'भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद' में तत्कालीन भारतीय राष्ट्रवाद का बहुत ही जीवंत और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने राष्ट्रवादियों के भीतर उपजे उन सवालों को उठाया है जो उन दिनों राष्ट्रवादी महसूस करते थे। जिस रेल के संदर्भ में गांधीजी हिन्द स्वराज में सवाल उठाते हैं उसी रेल के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रवादियों के सवालों का ज़िक्र करते हुए प्रो. विपिन चंद्र ने लिखा है कि, "भारतीय परिस्थितियों में विदेशी पूँजी देश का विकास न करके उसका शोषण कर रही थी।" वस्तुतः रेल को तत्कालीन सरकारें 'डेवलपमेंट का साधन' बता रही थीं जो एक तरह का स्वांग था क्योंकि उनके इस प्रोपेगंडा के पीछे केवल अपना साम्राज्य विस्तार ही नहीं था बल्कि आध्यात्मिक रूप से भारतीय विरासत को इसके माध्यम से लूटने की उनकी चाहत भी थी। विपिन चंद्रा ने लिखा है कि यह एक तरह से 'बाज़ार की संस्कृति' का निर्माण हो रहा था। गांधीजी ने ऐसी बाजार-संस्कृति का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। वह हिन्द स्वराज में पूरी निर्भयता के साथ लिखते हैं कि, "रेल से महामारी फैली है।"

बाज़ार की ओर तेज़ी से दौड़ती ब्रिटिश सत्ता की असलियत दरअसल अपने को सुदृढ़ता देने में थी न कि हिंदुस्तानी विकास की। गांधीजी ने जो यह बात अपने विभिन्न आख्यानों में उठायी उसके अन्य भी संसाधन थे। मसलन-दादा भाई नौरोजी, जी.वी. जोशी आदि; जो यह आकलन कर रहे थे कि ब्रिटिश हुकूमत हमें जो 'एकराष्ट्र' का स्वप्न दिखा रही है वह उसके स्वयं के शैतानी फैलाव का उपक्रम है और हिंदुस्तानियों के लिए भ्रम है। इसीलिए गांधीजी ने कहा कि, "जो मैं कहता हूँ वह बिना सोचे-समझे नहीं कहता। कोई शास्त्रकार मेरे मन में घड़ी भर शंका पैदा कर सकता है, लेकिन रेल से दुष्टता बढ़ती है, यह बात जो मेरे मन में बस गयी है वह मिटने वाली नहीं है।"

गांधीजी ने इसी प्रकार वकीलों के पेशे को तथा न्यायालय की संस्कृति से क्षुब्ध होकर यह कह डाला कि, "वकीलों के कारण हिंदू-मुसलमानों के बीच कुछ दंगे हुए हैं, यह तो जिन्हें अनुभव है वे जानते होंगे। जो शब्द मैं वकीलों के लिए इस्तेमाल करता हूँ, वे ही शब्द जजों को भी लागू होते हैं।" उन्होंने कहा कि, "अंग्रेज़ी सभ्यता की एक मुख्य (बड़ी) कुंजी उनकी अदालतें हैं और अदालतों की कुंजी वकील है।" गांधीजी ने डॉक्टर के संदर्भ में कहा, "डॉक्टरों के बारे में जैसे आपको अभी मोह है, वैसे कभी मुझे भी था। मेरा यह मोह अब मिट गया। अस्पतालें पाप की जड़ हैं।" यंत्र वगैरह की झंझट में पड़ेंगे तो गुलाम बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे। वस्तुतः गांधीजी का प्रतिरोध किसी क़ौम या व्यक्ति से नहीं था वह उपर्युक्त कोलॉज के जरिए स्पष्ट दिखता है, बल्कि वह उस व्यवस्था से चिढ़े हुए थे जिसकी आड़ में हिंसा प्रचुर मात्रा में फैल रही थी। हिन्द स्वराज को लिखते हुए उन्होंने अपने मन की बात की और उस चेहरे के नक़ाब को बहुत ही निर्ममता के साथ उठाया जो नक़ाब के भीतर अपने सुंदर होने का झूठा और अत्यंत चतुर भ्रम फैलाता है। उन्होंने इसीलिए वकील, डॉक्टर, पार्लियामेंट, कोर्ट और अन्य जो भी इस संरचना के एलीमेन्ट थे, जो वास्तव में अन्ततः सत्ता के ही पोषक बनकर, उनके और सिर्फ़ उनके पक्ष में कार्य करते हैं, उसका प्रतिरोध किया। गांधीजी की यह प्रतिरोधी चेतना फिर भी 'प्रेम के नियम' से संचालित थी, यानी 'सत्य' के लिए थी।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि गांधीजी ने हिन्द स्वराज में जिस प्रकार प्रश्न को उठाने में कोई झिझक नहीं की, ठीक उसी प्रकार वह इसमें भी कोताही नहीं करते कि अमुक प्रश्न का जवाब क्या है, उसका उत्तर क्या होगा...? आदि। उदाहरणार्थ, गांधीजी ने लिखा है कि, "उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पायी है जिसके शरीर को ऐसी आदत डाली गयी है कि वह उसके वश में रहता है।" यानी, इसका अर्थ यह है कि गांधीजी न केवल प्रश्न हैं बल्कि हर प्रश्न का लगभग उत्तर भी हैं। कई अच्छे मार्ग के पथ-प्रदर्शक हैं। कई सफलताओं और अनुष्ठानों में काम आने वाले उपायों के संकेतक हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह जो भी विचार प्रकट करते हैं उसके 'अथ' और 'इति' के बारे में भी ठीक समझ रखते हैं और उसी मुताबिक बरतने की सलाह देते हैं। हिन्द स्वराज में 'सत्याग्रह' ही इसका एक उदाहरण है, दूसरा 'असहयोग' भी एक उदाहरण है।

प्रतिरोध के इन तरीकों पर विचारें, 'सत्याग्रह' या 'असहयोग' दोनों की प्राप्ति 'आत्मानुशासन' द्वारा है। आत्मानुशासन, आत्मबोध से संभव होता है। बगैर 'संयम' और 'सत्य' के अनुपालन के, जो 'अहिंसा के जरिए' संभव है, आत्मानुशासन तो बिल्कुल संभव नहीं है। हिन्द स्वराज, ध्यान से पढ़ें तो हम पाएँगे कि, गांधीजी ने उसमें सत्याग्रही के क्या चरित्र होते हैं उसका विवेचन किस प्रकार किया है। उन्होंने कई ऐसे तर्क, नियम व अनुशासन का ज़िक्र किया है, जो आत्मानुशासन की पहली सीढ़ी हैं, कुछ दूसरी और सभी के साथ 'साध्य' को प्राप्त करने का भी पथ-प्रशस्त किया है। प्रतिरोधी-चेतना के लिए यह ज़रूरी है कि वह 'साधन' और 'साध्य' के अंतर को 'नीर-क्षीर' की भाँति अलग करे अन्यथा जो प्रतिरोध होगा वह हिंसक होगा और गांधीजी 'हिंसक-प्रतिरोध' की बात तो छोड़ दें, टॉलस्टॉय के 'अप्रतिरोध' को भी बिल्कुल नकारते हैं क्योंकि उन्हें कहीं-न-कहीं उस 'अप्रतिरोध' में हिंसा के सूक्ष्म कण दिखायी देते हैं किंतु इन सबके बावजूद हिन्द स्वराज पूर्णतया तत्कालीन साम्राज्य और साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, लालची और दंभी-सोच के बरक्स एक सशक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिरोधी चेतना की पुस्तक साबित होती है। वह टॉलस्टॉय, थोरो, रस्किन, धर्म के व्याख्याकारों और उस दौर के अन्य चिंतकों के विचारों से भले ही प्रभावित पुस्तक हो लेकिन सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि इन स्रोतों से उस पुस्तक ने काम की ही चीजों को ग्रहण किया, और उसे आत्मसात करके अपना 'स्व-राज' स्थापित करने हेतु पुरजोर मानसिक परिवर्तन करने की कोशिश की।

गांधीजी के हिन्द स्वराज की समीक्षा अनेक विद्वानों ने की है जैसाकि पूर्व में भी इसका ज़िक्र किया जा चुका है लेकिन यदि वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण में मदद लेनी हो तो यह पुस्तक सदैव सहयोगी सिद्ध होगी। क्योंकि पश्चिमीकरण, ब्राह्मणवाद और भारतीय अपसंस्कृति की जो धाराएँ मुख्यतः दो रूपों में जानी जाती है- एक अन्दर के आधिपत्य से तथा दूसरी बाहर के आधिपत्य का परिणाम, उससे मुक्ति का विकल्प भी है हिन्द स्वराज में। उत्तर-आधुनिक युग में प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण की इससे अच्छी योजना कदाचित मिले। ऐसे में, शताब्दी वर्ष पर आज़ हिंद स्वराज एक नए सौंदर्य-बोध के साथ हमारे समक्ष हमारा मार्गदर्शन करने के लिए प्रस्तुत है लेकिन नेहरूवियन आयडियोलॉजी ने जिस प्रकार इस पुस्तक को महत्व नहीं दिया, अगर वैसा ही हुआ तो निश्चितरूप से यह हमारा दुर्भाग्य है।

लेखक : म0गां0अं0हिन्दी वि0वि0 में शोध एवं अन्य रचनात्मक कार्यों में व्यस्त हैं। हिंद स्वराज पर संपादित पुस्तक शीघ्र प्रकाश्य।

'निष्कर्ष' का महत्वाकांक्षी कहानी विशेषांक
जिसमें समय से मुठभेड़ करती

विजयकांत	रमेश उपाध्याय
अमर गोस्वामी	विजय
नमिता सिंह	सोहन शर्मा
राकेश भारतीय	रामदेव शुक्ल
बादशाह हुसैन रिज्वी	राजेन्द्र लोहिया
अशोक गुप्त	अनिल सिन्हा
राजेन्द्र वर्मा	राजेश जैन
आर0के0 पालीवाल	अजय श्रीवास्तव
शैलय	भरत प्रसाद
रंजना जायसवाल	हुस्न तबस्सुम निहां

की सशक्त कहानियाँ तथा समकालीन कहानी की दशा, दिशा और चुनौतियों की पड़ताल करती शंकर, अरविन्द कुमार और शिवजी श्रीवास्तव के धारदार आलोचनात्मक आलेख आदि

इस विशेषांक का मूल्य : रुपये 50.00 (पचास रुपये) (रजिस्ट्री से मंगवाने के लिए रुपये 20 अधिक जोड़ दें)

संपादक

'निष्कर्ष'

डी-1/171, सेक्टर-एफ0 जानकीपुरम, लखनऊ-226021

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवट मतवारो माने नहीं

कामेश्वर पांडेय

टिप्पल को भला कौन नहीं जनता? ....नहीं? अरे, इस नाम से नहीं, किसी और नाम से जानते होंगे, ज़िंदगी में उससे साबिका पड़े बिना रह नहीं सकता। न भी पड़े, वह ख़ुद पड़ना जानता है, यही तो उसकी फ़ितरत है। लोगों का काम पड़ना ही उसका काम है। और, आदमी तो अपने काम से ही जाना जाता है। नाम में रखा क्या है?

पर नहीं, इस बारे में थोड़ा इत्मीनान से सोच लेने की ज़रूरत है। ख़ुद टिप्पल का नाम इसके लिए मजबूर कर देता है। उसने भी पहले शेक्सपियर की ही बात को सच मान लिया था और कॉलेज में अपनी दो साल की पढ़ाई का कुल जमा हासिल, इस नाम को सुनकर वह बिदकता था। हालाँकि, उस समय यह अपने प्राकृत रूप में था। एक दिन ख़ास साधू भैया ने जब इसका अपभ्रंश किया, तब जाकर उसे पता चला कि नाम में भी बहुत कुछ रखा होता है। इसके पहले घर-गाँव में उसका मुरली नाम चलता था। इसमें उसे अपने होने का संकेत तो मिलता था, नाम नहीं। शायद इसी कारण, पहले वह सोचता था कि नाम-वाम में कुछ रखा नहीं होता। घरवालों, और ख़ासकर घरवाली द्वारा गाँव से खदेड़े जाने पर जब वह नवरंग भैया के सिक्युरिटी सर्विसेज़ का गार्ड-कम-कॉमरेड रहा, तब भी वह इसी नाम से पुकारा जाता रहा। पर, इसमें अपनी पहचान जैसी कोई चीज़ कभी दिखी नहीं और उसने समझ लिया कि वाकई नाम-वाम में कुछ रखा नहीं होता, आदमी की पहचान उसकी 'कुगत' (यह उसी का शब्द है) से होती है। पर, एक दैवयोग ने उसके इस विश्वास को आमूल-चूल बदलकर रख दिया और वह था साधू भैया के दरबार में उनका प्रथम दर्शन। मज़े की बात, नवरंग भैया ही उस सुखद संयोग के माध्यम बने।

नवरंग भैया का वाम-पंथ से मोह-भंग हो जाने के कारण उन्हें विश्वास हो चला था कि जनता की भलाई के लिए सत्ता में हिस्सेदारी ज़रूरी है। उन दिनों 'नरो वा कुंजरो वा' पार्टी के सांसद-प्रवक्ता और प्रदेश के महागुटाध्यक्ष साधू भैया अपनी पार्टी को मज़बूत करने के लिए थोक के भाव में दल-बदल करा रहे थे।

नवरंग भैया के साथ साधू भैया के अंतरंग कक्ष में प्रवेश करने का सौभाग्य जिन चार-पाँच कॉमरेडों को मिला, उनमें से एक टिप्पल भी था। टिप्पल नहीं, मुरली। उस समय तो वह मुरली ही था।

"अरे !... ट्रिपल एम," साधू भैया के पीछे खड़े लाल टीकाधारी और मूछक्कड़ गबरू ने उसकी ओर देखते हुए कहा, तो पहले तो उसे समझ में नहीं आया और वह अपने आजू-बाज़ू देखने लगा।

"अबे ट्रिपल... पहचाना नहीं?" गबरू फिर से बोला। तब उसने ग़ौर से देखा और उसकी लाल टीका, ऐंठी हुई मूंछों और घुटनों तक लंबे जीन के कुरते के पार झाँकने की कोशिश की तो उसमें धीरे-धीरे उसके कॉलेज जमाने के छात्र-संघ अध्यक्ष बल्लू, यानी बलराम सिंह का हुलिया उभर आया। और तब उसे याद आया कि ट्रिपल उसका अपना ही नाम था जो इसी बल्लू ने चलाया था।

"ट्रिपल...?" साधू भैया को इस नाम के अजूबेपन ने सोचने को मजबूर किया।

बल्लू ने इसके रहस्य को खोला "ट्रिपल एम... यानी, मुरली मनोहर महंत।.... अपना कॉलेज ज़माने का हीरो है।"

पर साधू भैया की दिलजमई नहीं हुई और उनका ध्यान नाम के अनोखेपन पर ही अटक गया। उन्होंने फिर उचारा, फिर तत्काल उसका भ्रंश किया "ट्रिपल... टिरपल... टिरपल... ये ठीक रहेगा। क्यों?" उन्होंने मुरली की ओर गॉडफ़ादर की नजरों से देखते हुए पूछा तो वह गद्‌गद् होकर उसी क्षण टिप्पल हो उठा। यह नाम उसे इतना फल रहा है कि अपने एरिया में उसकी तूती बोलने लगी है। और तब जा कर वह जान पाया है कि नाम में बहुत कुछ रखा होता है, बल्कि बाज़ वक़्तों पर तो नाम में ही सब कुछ रखा होता है। सो, उसके साधु भैया का दिया नाम तो है ही, अपना 'कुगत' भी कुछ कम नहीं। इसीलिए उसे पूरा विश्वास है, आप उसे कल को जनपद और परसों विधान सभा, संसद के लिए चुनने जा रहे हैं। हालांकि, इस समय तो वह अपने ब्रिगेड-मेंबरों को संगठित और सचेत करने के अभियान में निकलने वाला है। साधु भैया के परसों वाले घेराव-प्रदर्शन को सफल बनाना है और वह समझता है कि इसका सारा दारोमदार उसी पर है। उसके अभियान की तेज़ी का अंदाज़ा उसे चड्डी-बनियान में गीले बालों पर जल्दी-जल्दी कंघी फिराते और साथ ही खूँटी पर टँगे कुर्ते की ओर बढ़ते देख का सहज ही लगाया जा सकता है। पर हो सकता है आप का यह अंदाज़ा ग़लत भी साबित हो जाए। परसों के घेराव -प्रदर्शन के लिए उसने पूरी तैयारी कर रखी है और उसकी कामयाबी में उसे कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदेह नहीं। असल में, इन दिनों वह अपने काम को लेकर नहीं, नाम को लेकर चिंतित है। आज-कल नाम में भी कुछ रखे होने का उसका विश्वास कभी-कभी डोल जाता है। शेक्सपियर उसके मन में संदेह पैदा करता है। वह कोई छोटा-मोटा आदमी तो था नहीं। दुनिया आज भी उसे मानती है। नहीं तो साधु भैया द्वारा चलाया हुआ उसका यह नाम उसे पार्टी के जिला कार्यकारिणी तक क्यों नहीं पहुँचा सका? जबकि उससे दो साल जूनियर वह सेठ की औलाद दनादन सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ आज जिलाध्यक्ष बन बैठा! खैर, परसों के घेराव के बाद साधु भैया को भी एहसास हो जाएगा कि उनका असली कारकून कौन है?

वैसे विश्वास की यह डगमगाहट, बस, कभी-कभार की बात है। वरना वह ज़मीन छोड़ने वाला बंदा नहीं है। वह ज़मीन, जो नवरंग भैया जैसे जुझारू मजदूर नेता ने खूंद-खांदकर पुख्ता बनाई है। नवरंग भैया रहे नहीं, लेकिन उस जमीन पर अंकित उनके पाँवों के निशान आज भी बड़े स्पष्ट हैं। वे जब किसी मामले में पड़ जाते थे तो बड़े-बड़ों की अक्ल ठिकाने आ जाती थी। कौन जाने, कब, कैसे, इस रंग में रंग दें। वैसे उनका लाल रंग सब रंगों पर भारी पड़ता था। इसकी शक्ति को अपना होश सम्भालते ही वे पहचानने लगे। इसीलिए यहाँ आ बसने वाली उनकी बिरादरी की दूसरी पीढ़ी के अन्य लोग जहाँ व्यवसाय और ठेकेदारी, और लगे हाथ नेतागिरी से अपने कारोबार चमकाने में लगे, वे लाल झण्डे के पीछे मजदूरों की भीड़ लिए अन्याय और शोषण के खिलाफ लड़ते रहे। उनकी इस लड़ाई में उनके 'भूमिपुत्र सिक्युरिटी सर्विसेज़' के गार्डस्-कम-कैडर की निर्णायक भूमिका होती थी। इसमें घर से खदेड़ा गया बेरोज़गार मुरली भी एक सिपाही था। बेरोज़गार लोगों की इस वर्दीधारी बटालियन को देखकर बड़ी-बड़ी इकाइयों और समूहों के होश उड़ जाते थे। अपनी खुद की सुरक्षा व्यवस्था रहते हुए भी अपनी सलामती सुनिश्चित करने के लिए इस काम में कुछ 'भूमिपुत्रों' को भी लगा रखने में बुद्धिमानी समझते थे। बेशक, इससे घेराव-हड़ताल आदि के दौरान अभद्र घटनाओं से बचने में मदद मिलती थी। बात पुराने जमाने की है और आज नवरंग भैया होते और उनकी सिक्युरिटी कंपनी भी होती तो भी इस बात की कोई गारंटी नहीं कि उनसे धन्ना-सेठ और धंधेबाज आज भी थर्राते।

उस समय लाल रंग की संभावनाओं को धूमिल देखकर ही शायद, नवरंग भैया का मोह भंग हुआ था और उन्हें नवरंगी चाल चलकर सत्ताधारी 'नरो वा कुंजरो वा' पार्टी में ज़मीन तलाशनी पड़ी थी। जमीन तो खैर साधु भैया ने दिला दी, पर वे जम नहीं सके। इसी बात की हताशा ने ही शायद, उनकी जान ली। खैर, अपने प्यारे शागिर्द मुरली उर्फ टिप्पल को वे साधु भैया के हीले लगा गये। सो, वह उनकी शागिर्दी को शर्मसार करने वाला तो है नहीं। नवरंगी चाल की उस ज़मीन पर उसे खुद चलकर दिखाना है।

खूँटी से छोटे मनकों वाली रूद्राक्ष की माला को निकालकर वह उसमें लगे साधु भैया के चित्र वाले लॉकेट को देख रहा है। अहा! उनकी आँखें और नाक और होंठ चित्र में भी दलितों और शोषितों की वकालत में फड़कते जान पड़ते हैं। लॉकेट को माथे से छुआकर गले में लटकाते वह सोच रहा है, उन्होंने खुद कहा है, परसों के घेराव-प्रदर्शन का सारा दारोमदार उसी पर है। इसका मतलब है, साधु भैया को उससे भारी उम्मीदें हैं।

एक बार उसकी क़ाबिलियत को वे जान जाएँगे तो उस सेठ की औलाद को धकेल कर जिलाध्यक्ष बनने में उसे देर नहीं लगेगी। इसीलिए वह इन दिनों गाँव-गाँव घूमकर साधू-ब्रिगेड के अपने मेंबरों को सचेत करने में लगा हुआ है। भैया इस समय सत्ताविहीन पार्टी के नेता हैं तो क्या हुआ, टिप्पल को विश्वास है कि कल को पार्टी की सरकार फिर बनेगी और मुख्यमंत्री होंगे साधू भैया। फिलहाल तो वे पार्टी में अपने विरोधी गुट को पटखनी देने जा रहे हैं। उनकी ताकत को कम आँकने वाले लोगों को जल्द ही पता चल जाएगा। सरकार से औने-पौने दामों में एल्युमिनियम कंपनी को खरीदकर उसका मालिक बनने वाला वह धंधेबाज बनिया समझता है, सत्ता गई तो साधू भइया भी गए। जता देना है, साधू भैया गये नहीं बल्कि आ रहे हैं। कल ही तो वह उनका दर्शन करके राजधानी से लौटा है। अपनी काँध पर उनका वह मधुर स्पर्श उसे रह-रह कर महसूस होता है "तो टिप्पल!... यही है तुम्हारे दम-खम दिखाने का टाइम बरखुरदार!" उन्होंने कहा है "परसों सुबह मैं खुद पहुँच रहा हूँ। तुम्हारा एक भी ब्रिगेड-मेंबर नहीं छूटना चाहिए। जिला कमेटी के लोग तो रहेंगे ही, पर तुम लोगों पर विशेष दारोमदार रहेगा।" फिर स्वागत में बुदबुदाने लगे" साधू भैया की हस्ती क्या है, बताता हूँ उस रईस की औलाद को!" सुनकर टिप्पल का मन तो बल्लियों उछलने लगा था। इतना भरोसा है साधू भैया को उस पर, मन हुआ कि कह दे, आप निश्चिंत रहें, भैया! ऐसा घेरा पड़ेगा कि उस रईस की औलाद को जीवन भर याद रहेगा। पर कहने की हिम्मत नहीं हुई। साधु भैया शेखीबाज़ी पसंद नहीं करते। एकाध बार डाँट खाने के बाद वह सीख गया है। साधु भैया की नज़र में चढ़ना है तो कुछ बोलने के बजाय करके दिखाना ज़रूरी है। और क्या पता, उन्होंने कौन-कौन-सी गोटियाँ फिट कर रखी हैं? वह सेठ साले की औलाद भी तो अभी फुलफ़ार्म में है। उसका क्या है? घर बैठे दुकानदारी और राजनीति दोनों चल जाती हैं। घर में रोज़ ज़िला कमेटी का जमावाड़ा लगा रहता है। पर बेचारे टिप्पल को तो नून-तेल की जुगाड़ में भी खटना पड़ता है। घरेलू मोर्चे पर पस्त होने के बावजूद वह अपनी ज़मीन को चटखने नहीं देता तो इसका कारण है नवरंग भैया की शागिर्दी में मिली यह सीख कि नाम-वाम तो सब अपनी जगह ठीक है पर जीवन में आगे बढ़ना हो तो उसके लिए खुद में 'कुव्वत' भी होनी चाहिए। खैर, साधू भैया का खेल तो खुद वही जानें। फिलहाल, टिप्पल का तो अपना एक सूत्रीय कार्यक्रम है, परसों के धरना-प्रदर्शन और घेराव कार्यक्रम में अपने ब्रिगेड की पूरी ताकत झोंक देना। वह इस बार अपनी 'कुव्वत' को इतना बढ़ा लेना चाहता है कि पार्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलाध्यक्ष के लिए अपनी मजबूत दावेदारी ठोक सके।

पर आदमी को घर से भी तो कुछ सहयोग मिलना चाहिए। उस सेठ साले की कामयाबी के पीछे उसकी छम्मक-छल्लो का कम हाथ है? वह तो कलेक्टर, कप्तान तक के घरों में घुसती रहती है। और एक उसकी टिपलिन है। दिन-रात घर में झनझनाती-फनफनाती। अभी बेचारे ने खूँटी पर कुरते को पहनने के लिए देखा तो वह बिना इस्तरी किए जस का तस टँगा मिला। उसका पारा गरम हो गया। किसी काम की नहीं यह गोबरचोत्ती। उसने मन ही मन सोचा, पर कहा कुछ नहीं। क्या फायदा? उल्टे मूड और खराब हो जायेगा। उस पर मार-पीट का असर अब होता कहाँ है। मारते-मारते खुद वही थककर हाँफने लगता है। हाथ-पाँव झनझनाने और टीसने लगते हैं। पर उस कुटभी पर कोई असर ही नहीं। उसकी हड्डियाँ तक तोड़ डाली हैं, लेकिन इससे तो जैसे उसमें और भी जान आ गई है। ब्रिगेडियर टिप्पल की दहशत हर जगह चलती है, पर घर में वह फ़ेल हो जाता है।

उसने नीले रंग की जीन के उस कुरते पर जल्दी-जल्दी इस्तरी फेर और उसे पहनते हुए नाश्ते के लिए टिपलिन को हाँक लगा दी। पर टिपलिन ने जो चीज़ लाकर रखी उसे देख कर उसका माथा गरम हो गया। वही चिउड़ा-पोहा! एक बार फिर उसे अपने-आप को जब्त करना पड़ा। असल में, वह सुबह से ही मुहूर्त को बिगड़ने नहीं देना चाहता। जानता है, कुछ कहने पर वह सीधा फटकार बरसाएगी 'ला के धर दो तेल, तो सेंक दूँ परौंठे! उसने पोहे के दो-एक चम्मच मुँह में डाले, लेकिन खाया नहीं गया। वह रास्ते में पड़ने वाले ढाबे में दही-परौंठे खाने का मन बना कर उठ गया।

लोग कहते हैं, बस कीजिए, इतना काफ़ी है, टिप्पल को जानने के लिए। और वैसे भी, हमें क्या लेना, किसी टिप्पल से? बस, यहीं वे भूल कर बैठते हैं। खैर, उनकी बात छोड़ दी जाए। वे तो 'कोउ टिप्पल होई हमें का हानी' वाली परंपरा में आते हैं। पर बाकी लोगों को नाम के साथ ही उसके काम को जानना निहायत ज़रूरी है। वैसे भी उसे जानने से कोई बच नहीं सकता। वास्ता उससे पड़ ही जाता है। न भी पड़े, वह खुद पड़ना जानता है। विश्वास न हो, तो चलकर खुद देख सकते हैं। पड़ोस के गाँव में एक भयानक हादसा हो गया है, और उसमें सब काम छोड़ कर उसका पड़ना लाज़िमी है। हालांकि, उस हादसे के बारे में अभी उसे पता नहीं है। इस समय तो बेचारा ज़रा ग़मग़ीन-सा है। टिपलिन से उलझने से वह बच तो गया है, लेकिन उसका मूड ऑफ हुए बिना नहीं रहा। पर ढाबे की एक टेबल पर अद्धी के साथ चिकन चबाते हुए कुछ परिचित कोयला-दलालों ने आमंत्रित कर लिया तो फिर मूड बनने में देरी नहीं हुई। टेबल पर कालिख व गर्द से अँटे वे हड़बड़ी में पैग खींचते हुए उसी हादसे की चर्चा कर रहे थे।

"...बचना तो खैर, मुश्किल ही था" उनमें से एक चुस्कियों के बीच बता रहा था जो आँखों और होठों को छोड़कर सर से पाँव तक कालिख और गर्द से सना हुआ था।

"कौन... कहाँ?" टिप्पल की जिज्ञासा जाग उठी। होंठों की ओर जाता हुआ गिलास बीच में ही थम गया।

"कुदुरमाल का लड़का... आप का ही जात भाई... क्या नाम?... हाँ, गजानन... गजानन दास महंत!"

"पर हुआ क्या?" वह जानने को उतावला हो उठा है।

"कोयले की जलती हुई पूरी चाप उसके डंपर पर जा गिरी। उसका केबिन जलते हुए कोयले की राख से भर गया था...।"

टिप्पल की सोच का घोड़ा बिदक गया। हालांकि, इस समय वह अपने एकसूत्री कार्यक्रम के तहत् ब्रिगेड मेंबरों को प्रेरणा देने निकला था, पर यह भयानक हादसा! और वह भी कंपनी की लापरवाही से! यानी, उसके जा पड़ने लायक स्थिति अपने आप पैदा हो गई। भले ही अपने घर के दरवाज़े पर लाश का इंतज़ार करते हुए गजानन के बाप के दिमाग में उसके आ पड़ने का अंदेशा दूर-दूर तक न हो। वैसे भी बिरादरी के लोग उससे वास्ता नहीं रखते। सब उसे कुभारज और फलुद्दी झाड़ने वाला ही समझते हैं। टिप्पल इस बात को जानता है। इसीलिए ब्रिगेड मेंबरों की भर्ती करने वह कुदुरमाल कभी नहीं गया। डरपोक हैं साले! बस, चौका-आरती करते हैं कि गाल बजाते हैं। सदगुरू कबीर का तो नाम ही डुबा दिया!

नवरंग भइया कहते थे, 'कबीर को कमाल ने नहीं, बल्कि कुदुरमाल ने डुबाया' तो वह भौंचक हो जाता था। फिर वे बताते, कबीर के पट्ट शिष्य, धनी धरमदास के सुपुत्र मुक्तामणि नाम साहेब ने हसदेव नदी के पावन तट पर बसे कुदुरमाल में जिस दिन मठ की स्थापना कर चौका-आरती शुरू कराई, दरअसल, उसी दिन कबीर का वंश बूड़ा था।' टिप्पल उनकी बात को समझने के प्रयास में उनकी ओर अवाक् देखता रह जाता था। अब उसे लगता है, नवरंग भइया उसकी बिरादरी में जुझारूपन और हिम्मत की जो कमी बताते थे, सही है।

सोचने की बात है, इस क्षेत्र में अच्छी-खासी संख्या में होने के बावजूद उनकी बिरादरी अपना दबदबा क़ायम नहीं कर पायी। कनकदास, पुरानदास, किताबदास.....जैसे सुघर नामों वाले उसके भाई-बंद, नाम साहेब की चौका-आरती ही उतारते रह जाएंगे। ऐसे लोग उसके ब्रिगेड में शामिल होने की बात सोचें भी तो कैसे? हालांकि, यहाँ की अन्य जातियों के दो-तीन लड़के अपने-आप आकर साधू ब्रिगेड में शामिल हुए हैं, पर भर्ती करने के नाम से टिप्पल कुदुरमाल कभी नहीं गया।

"लाश अभी है कहाँ? उसने पूछा।

"वह एम्बुलेंस अभी-अभी तो निकली है.....गाँव ही ले जा रहे होंगे!"

उसके लिए इसी समय कुदुरमाल पहुंचना अनिवार्य हो गया है। बस तो फिर! उसने मन ही मन तय कर लिया है। इधर-उधर न भटक कर सीधा वहीं पहुँचा जाए। देख लें, वहाँ के लोग भी आज, टिप्पल की धाक! वैसे देखना तो आप भी चाहेंगे, मुँह से भले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न कहें। आँखें फेर कर भी उसे जानने का मन होता है। विश्वास न हो, तो उसकी बाइक के पीछे बैठकर खुद चले चलिए। उसे मालूम भी नहीं पड़ेगा। वह पीछे मुड़कर देखने वालों में से नहीं। और अभी तो उसके आगे एक लाश जा रही हे। लाश नहीं, बलि! गजानन का बलिदान हुआ है! जलते हुए कोयले की चाप गिरी है इंचारे पर! यह कंपनी की सुरक्षा के मामले में घोर लापरवाही का नतीजा है, बल्कि भयंकर अपराध है! इसका भरपूर मुआवज़ा और कंपनी में नौकरी, दोनों ही माँगा जाएगा! अगर इंकार किया तो वह उसकी ईंट से ईंट बजा देगा! लौटती हुई एम्बुलेंस को देखकर उसे लगा, कहीं देर न हो जाए!

ग़नीमत है, देर नहीं हुई है। दूर से ही गजानन के घर के पास खड़ी भीड़ को देखकर उसकी बाँछें खिल गई हैं। उम्मीद के अनुसार भीड़ काफी उत्तेजित है। गरम लोहे की तरह। बाइक को एक किनारे खड़ाकर वह भीड़ में जा घुसा है। सफेद धोती से ढकी लाश दरवाज़े के सामने पड़ी हुई है। पायताने उसका बाप चेहरे पर रंज, पीड़ा और बेचारगी के जाने किन-किन भावों में डूबता-उतराता, ठगा हुआ-सा खड़ा है। बिलख रही माई उसको छूने के लिए अपने बढ़ते हुए हाथों को बार-बार खींच लेती है। एकबार उसने छुआ था तो उँगलियाँ उसके घावों में धँसती जान पड़ीं। उन्होंने उसको अभी तक देखा नहीं है। वह उसे एक नज़र देख लेने के लिए कलप रही है। बाप को समझ नहीं आ रहा कि भीतर उठते तूफ़ान और गुस्से का क्या करे? अपनी ज़िंदगी को वह एकाएक मझधार में डूबते देख स्तब्ध और जड़ हो गया है। जीवन की लाठी तो छिन ही गई, अब जवान बेवा और दो नन्हें-मुन्नों की जिम्मेदारी भी उसके बूढ़े कंधों पर आ गयी है। उसके हृदय के हाहाकार को सुनने वाला है ही कौन? उसे कंपनी की धोखेबाज़ी और क्रूरता पर रह-रह कर रोष आ रहा है। उसका साँवला चेहरा बार-बार तंबई हो रहा है, नथुने फड़कने लगते हैं। माई की कलप उसके रंज को और बढ़ा रही है। सहसा वह लाश के सिरहाने पहुँचा और धोती को कमर तक खींच दिया। देख ले जी-भर के! लेकिन उस पर नज़र पड़ते ही खुद उसने मर्मांतक पीड़ा से भर कर मुँह फेर लिया। माई तो देखते ही गश खाकर जमीन पर ढह गई। फूला और अकड़ा हुआ बबूल का काला-काला कुंदा! सूज कर भयानक दीख रहे चेहरे की पहचान लगभग मिट चुकी है। कुंदे भर में जगह-जगह से लाली और सफ़ेदी झाँक रही है। बाप की निगाह माई के पास खड़ी बहू के शरीर की कँपकँपी और उसके पल्लू में भय से मुँह छुपाते बच्चों की ओर गई तो उसे अपनी ग़लती का अहसास हुआ और उसने झपट कर उसे ढँक दिया!

लाश को देखकर सन्न रह गई भीड़ में कोलाहल फिर शुरू हो गया है, बल्कि अब वह उग्र हो उठा है। टिप्पल जानता है, अंतिम दरसन-परसन तक धैर्य के साथ इंतज़ार किया जाना जरूरी है। और उसे कोई जल्दबाजी भी नहीं है। लोगों का ऐसे मौकों पर रोना-कलपना स्वाभाविक है और इसे होने देना चाहिए। दुख हल्का हो जाता है। उसे विश्वास है, इस मामले को अगर उसने अच्छी तरह से हैंडल कर लिया तो यह बड़ा फ़ायदेमंद होगा। अपने एरिया में उसका सिक्का और जम जाएगा। इस गाँव ही नहीं, पूर जिले और कंपनी तक में। और निश्चित रूप से गजानन के परिवार को भी फ़ायदा होगा। नहीं तो, इनके माँगने से कोई देने वाला है? बस, उसे साधू भइया को खबर कर देना है।

परिजनों के विलाप को लंबा खिंचते देखकर वह भीड़ से बाहर आ गया है और पास के एक मकान के चौरे पर एक पैर जमाए और उस पर कुहनी टिकाए साधू भैया को कॉल कर रहा है। लाइन बार-बार व्यस्त बतायी जा रही है। खैर, अब उसे अपने ही दिमाग से काम लेना होगा। काम को उसके अंजाम तक पहुँचा देने का उसे अपने-आप पर पूरा भरोसा है, बल्कि यह आशा भी, कि बाद में सूचित करने से भी साधू भैया उसकी पीठ ही ठोकेंगे। और फिर परसों के धरना-प्रदर्शन का दारोमदार भी तो उसी पर है। भीड़ की ओर रुख़ करता हुआ अब वह इस हादसे पर खुद-मुख्तार की हैसियत से नए सिरे से ग़ौर फ़रमाने में लगा है।

जैसा कि उसे ढाबे में दलालों से पता चला है, रैंप से उतरते समय गजानन के डंपर पर बगल की परतों से कोयले की जलती हुई चाप गिरी थी। उसकी कैबिन अंगार, राख और गर्द से भर गयी थी। खींचकर बाहर निकाले जाने तक तो वह भुन ही गया था और बुरी तरह तड़प रहा था।

जलती हुई चाप! टिप्पल के दिमाग में मुहावरे की तरह कौंध रहे हैं ये शब्द। एक मुद्दे के रूप में इसके आसमान तक उछल जाने की ज़बर्दस्त संभावना उसे दिखाई दे रही है। रोना-गाना बदस्तूर जारी है। टिप्पल सीधे दुःख और रंज से भरे हुए हाथों को बार-बार मल रहे बाप की बगल में खड़ा हो गया है।

"जलती हुई चाप गिरी है इस पर!" टिप्पल की अचानक दहाड़ ने लोगों का ध्यान खींचा "इसकी जान कंपनी की घोर लापरवाही का नतीजा है... गजानन का बलिदान!... कंपनी से पूरा-पूरा हर्ज़ाना लिया जाएगा और नौकरी भी.....!"

उसे देखकर बाप के चेहरे पर दुःख और रंज के साथ हैरत भी आ जुड़ी है। टिप्पल को वह जानता तो है, पर एक चलते-पुर्ज़े और लफ़ंगे बिरादर के रूप में जिसकी बातों पर भरोसा करना बेवकूफी है। फिर भी उसे कुछ ढाँढस बँधा है। हर्जाने और नौकरी के बारे में तो उसने ख्याल ही नहीं किया है। गजानन सीधे कंपनी में तो काम करता नहीं था। ठेका कंपनी का डंपर चलाता था। वहाँ से ज्यादा कुछ मिलने की आशा थी भी नहीं। अगर वहाँ नौकरी मिल भी जाती है तो ढाई-तीन हज़ार की नौकरी करने वाला है ही कौन? बहू उनके ऑफिस में चाय-पानी पिलाए इससे अच्छा है, घर में ही रहकर परिवार की देखभाल करे। पर उस लफ़ंगे की दहाड़ ने इस दुःख की घड़ी में उसे भारी राहत पहुँचायी है, भरोसे को एक नए सिरे से जगाया है। सीधे कंपनी में नौकरी मिलने पर बहू को भेजने में कोई दिक़्क़त नहीं होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाप को अपनी ओर गुहारती नज़रों से देखते पाकर टिप्पल सीधे उसी से मुखातिब है और अब उसने उसके कंधे पर हाथ धर दिया है "कंपनी की ईंट से ईंट बजा देंगे काका! उसे हर्जाना पूरा-पूरा देना होगा... और नौकरी भी! हमारी जान क्या इतनी सस्ती है?" उसने भीड़ पर एक नज़र फेरी तो वह कहती जान पड़ी, टिप्पल भैया संघर्ष करो, हम तुम्हारे साथ हैं। टिप्पल अब पूरे आत्मविश्वास के साथ बोल रहा है "हर्जाना और नौकरी तो उसे देनी ही पड़ेगी। आखिर, कम्पनी की जलती हुई चाप उस पर गिरी है... दस लाख से कम तो लेना ही नहीं... लेकिन एक बात है। रोये बिना तो माँ भी दूध नहीं पिलाती और ये तो फिर कंपनी कुमाता है। बिना दबाव डाले वह कुछ देने वाला नहीं। अभी तक के रवैये से तो यही लगता है। अपना हक हासिल करने का बस एक ही तरीका है... प्रोडक्शन बंद किया जाए!" उसने भीड़ का एक बार फिर से जायज़ा लिया है। वह माफ़िक आ रही है। पर यह मूसलचंद कहाँ से आ टपका! कंपनी कर्मी-नेता जी पर उसकी नज़र पड़ गयी है जो न जाने कब आकर बाप के दूसरे बाजू में खड़ा हो गया है। खादी का कुरता-पाजामा ओर गले में सफेद गमछा। साँवले-सूखे चेहरे पर से बाज़ की तरह झाँकती आँखें। साला! माहौल कहीं बिगाड़ न दे। टिप्पल उसे जानता है। वह कंपनी में मजदूर और मजदूर यूनियन का नेता होने के साथ-साथ सदैव अल्पमत वाली एक पुरानी राजनीतिक पार्टी का प्रदेश पदाधिकारी भी है। हालाँकि, ऐसे नेताओं को टिप्पल कुछ गिनता नहीं है, पर मामले के बिगड़ जाने का अंदेशा तो होता ही हे। वैसे अपनी बातों पर बाप की मौन स्वीकृति और भीड़ के रोष और उत्तेजना को देखते हुए उसे इन नेता जी की कोई खास परवाह नहीं है। और अब समय को गँवाना भी उचित नहीं है। उसका दिमाग़ तेज़ी से काम करने लगा है और अब उसने फ़ैसलाकुन दहाड़ लगा दिया है "तो ठीक है... फ़ैसला जब तक नहीं हो जाता, लाश यहाँ से नहीं उठेगी!"

पर गजानन के नाते-रिश्तेदारों को उसका यह रवैया ठीक नहीं लग रहा है। यह तो ऐसे बोल रहा है, मानों उसके घर का कर्त्ता-धर्ता वही हो। जबकि मिट्टी तो उन्हें ही उठानी है। चौबीस घंटे से ज़्यादा बीत चुके हैं। चिराँध और सड़ाँध का भभका बर्दाश्त से बाहर हो रहा है। देर करने से लाश के और बिगड़ जाने का भय है। लेकिन पीड़ित परिवार को हर्जाना और नौकरी दिलाने और कंपनी को जान की क़ीमत समझाने वाले तर्क के आगे वे भुनभुना कर चुप मार जाने को मजबूर हैं। गजानन का परिवार कहीं यह न सोच ले कि बुरे वक्त में परिवार को कुछ मिलने जा रहा है तो लोग साथ नहीं दे रहे।

"जो भी करना है, जल्दी किया जाए।" गजानन के चचेरे भाई ने टोकने की कोशिश की "ज्यादा देर करने से..."

उसकी बात पूरी होने से पहले टिप्पल ने नारा उछाल दिया "कोयला कम्पनी!"

पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने खुद ही पूरा किया "मुर्दाबाद! मुर्दाबाद!"

"कोयला कम्पनी!"

"मुर्दाबाद! मुर्दाबाद!" इस बार भीड़ ने लपक लिया है।

"गजानन दास!"

"मुर्... ज़िंदाबाद... अमर रहे!" धीमे स्वर में और अनमेल ढंग से समस्या पूर्ति हुई।

"गजानन दास!"

"अमर रहे!" सुर अब मिल गये हैं। यही तो चाहिए टिप्पल के हौसले को बुलंदी पे पहुँचाने के लिए। वह कम्पनी को छठी का दूध याद दिलाने के लिए बेताब है। काश! साधू भैया से एकबार बात हो पाती! खैर, वह अकेला ही काफ़ी है। कंपनी को नाकों चने न चबाया तो उसका नाम टिप्पल नहीं! उसकी इस कामयाबी पर कई लोग तो कुढ़ मरेंगे। उस पार्टी-जिलाध्यक्ष, सेठिए के उतरे हुए चेहरे की कल्पना कर उसे बड़ी खुशी हो रही है।... स्साला! पैसे के ज़ोर से बड़ा भारी नेता बना हुआ है। और उसे ज़रा भी भाव नहीं देता! फ़र्क बस यही है कि पढ़ाई लिखाई छोड़कर उसने बाप की गद्दी सँभाली और खुद उसको अपनी हैसियत बनाने के लिए अभी तक जद्दोजहद करना पड़ रहा है। जिला संगठन में सेठ-साहूकार और ठेकेदारों की चौकड़ी उसकी ठिक्की ही नहीं लगने देती। यह तो साधू भैया की कृपा और आशीर्वाद उसे लाइमलाइट में लाया है। पार्टी में उनका अपना एक समानान्तर संगठन चलता है। सीधा हाईकमान से वास्ता रखते हैं। इस बार चुनाव में पार्टी की जीत और उनका मुख्यमंत्री बनना तय है। तब टिप्पल इन सेठियों की दाढ़ उखाड़ेगा।

टिप्पल ने और समय न गँवाते हुए भीड़ को जुलूस की शक्ल देना शुरू कर दिया। नहावन की पाँत बन कर न रह जाए! सामने से आती जीप को देख कर टिप्पल ने दूर से पहचान लिया है। थानेदार के साथ कंपनी का सिक्यूरिटी अफ़सर और ठेका कंपनी का मुंशी भी है। टिप्पल पर नज़र पड़ते ही थानेदार को गड़बड़ी का अँदेशा हो गया है। उसने उसे घूरकर देखा। पर टिप्पल भी चुनौतीपूर्ण अंदाज़ में मुस्कुराया। पन्द्रह दिनों पहले ही एक बलवा केस में उसने उसे हवालात में बंद किया था। थानेदार का मन हुआ, उसे यहीं पर दो तमाचा जड़ दे, लेकिन मौके की नज़ाकत को देखते हुए उसने अपना मंसूबा किसी और वक्त के लिए मुल्तवी कर लिया।

"कौन है इसका....?" थानेदार ने पूछा

"जी साहब!" बाप की टूटी हुई आवाज़ निकली।

"समझ सकता हूँ मैं आपका दर्द!" उसने उसके कंधे को थपथपाते हुए कहा "पर उसके आगे किसी की चलती है?" उसने आसमान की ओर इशारा किया "बॉडी को चौबीस घंटे से ज़्यादा हो रहे हैं। हालात को देखते हुए और देरी करना ठीक नहीं। क्रिया-कर्म की तैयारी जितनी जल्दी हो सके, की जाय।" फिर उसने सिक्यूरिटी अफ़सर और ठेका कंपनी के मुंशी की ओर इशारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए कहा "तत्काल खर्च के लिए ये लोग अभी बीस हज़ार रुपये लाए हैं... मुआवज़े और बकायों का भुगतान बाद में करा दिया जाएगा..... ।"

"सोच लीजिए काका!" टिप्पल ने बाप को आगाह किया "कंपनी का हाल-चाल जानते ही हो। कथनी और करनी में बड़ा फ़र्क होता है।

"तुम बीच में मत पड़ो जी!" थानेदार गुर्राया। लेकिन टिप्पल जरा भी हतप्रभ नहीं हुआ, "क्यों न पड़ूँ? अन्याय के खिलाफ़ बोलना भी गुनाह है? और यह तो खुद मेरी अपनी जाति-बिरादरी का सवाल है। इनके साथ मैं नाइंसाफी नहीं होने दूँगा।" उसने देखा कि हस्तक्षेप का अपेक्षित असर थानेदार के चेहरे पर पड़ा नहीं और वह उसे दो पैसे का भी भाव देने को तैयार नहीं लग रहा है, बल्कि, जैसे कि वह उसे घूर रहा है, घुड़कने की हिम्मत न कर ले! पन्द्रह दिनों पहले उसे हवालात में डाल रखने का जो शौर्य साधू भैया के एक फोन से घूमिल पड़ गया था, उसे चमकाने का मौका तो है। पर खतरा भी है। यह साधू का मुँहलगा जो है!

"वैसे साधू भैया को भी खबर हो गई है। परसों के शक्ति-प्रदर्शन कार्यक्रम में वे आ रहे हैं।" ऐसे मौकों पर टिप्पल अर्द्धसत्य को बरत लेने में माहिर है।

थानेदार पर इसका तत्काल असर हुआ। वह साधू भैया को नज़दीक से जानता है। शुरू-शुरू में वह उनकी टेढ़ी नज़र का शिकार बना, पर जल्द ही उन्हें खुश कर के वह उनकी 'गुड बुक' में आ गया। साधू भैया के आदमी पर हाथ डालना थानेदार जैसी हैसियत के आदमी के लिए भी मुश्किल है। उस दिन हवालात में उसने टिप्पल की जी भर मरम्मत की होती, अगर ऐन वक्त पर साधू भैया का हुकुम न आ गया होता। काश! किसी दिन वह जी भर उसकी धुनाई कर पाता। नाकों-दम कर दिया है साले ने इन दिनों!

"एक बात कहूँ साहब!" खिन्न मन नेताजी ने अपना मुँह खोला" देर तो खैर हो ही गई है... पहले कंपनी के साथ मीटिंग करा दी जाय। इनको कुछ तसल्ली हो जाएगी।" दरअसल, वह बाप के बुलवाने पर ही आया था, पर यहाँ भीड़ की नकेल टिप्पल के हाथों देख वह मायूस हो गया। पर वह नकेल अब थानेदार के आगमन से छिटक कर हवा में लटक गई है जिसे लपक न लेना नेताजी के लिए भी शोभनीय नहीं होगा।

"नेताजी! इस हालत में मीटिंग-वीटिंग..." थानेदार असमंजस में पड़ गया है। नेता जी को भीड़ में देखकर उसे खुशी हुई थी। उसने सोचा था कि नेताजी को तरजीह देकर इस लफ़ँगे को इसकी औक़ात पर रखा जा सकता है।

"समझने की कोशिश करें साहब!" नेताजी ने आग्रह किया। "मैं भी हालत को देखते हुए कह रहा हूँ। .....भले ही पाँच मिनट के लिए, लेकिन कंपनी के साथ मीटिंग होना जरूरी है।.. कितना बड़ा नुकसान हो गया! अब आगे इनके लिए क्या व्यवस्था है? यह बात तो साफ़ होनी चाहिए न!"

माहौल की गर्मी को भाँप रहा है थानेदार। यह मीटिंग कराये बिना ठंडा पड़ते नहीं दिखता। नहीं तो टिप्पल इसे और गरमा सकता है। वैसे मीटिंग करा देने में कोई खास हर्जा नहीं दिख रहा। लाश की जैसी हालत है, इन्हीं को जल्दी पड़ी है। उसने सिक्यूरिटी अफ़सर और मुंशी, दोनों से कहा "आप लोग अपने मैनेजरों को खबर कीजिए.... बैठक जल्द से जल्द होनी चाहिए। नेताजी जायज़ माँगों को रखेंगे... ।"

"अभी चलकर बैठ लेते हैं साहब!" सिक्यूरिटी अफ़सर बोला "मैनेजर साहब खुद इस समय क्विक-रिलीफ की रकम निकलवाने में लगे हुए हैं।"

"तो ठीक है, नेताजी!" थानेदार ने टिप्पल को अनदेखा करते हुए कहा "आप डिसीज्ड परसन के परिवार से दो-चार लोगों को लेकर आइए और बाकी लोगों को क्रिया-करम की तैयारी करने दीजिए और देरी करना खतरनाक होगा!" वह नाक को सिकोड़ कर सिहरा, मानों एकाएक हवा के झोंके से चिराँध का भभका यहाँ तक उसकी नाक में घुस आया हो। उसने हाथ की उँगलियों में लटक रहे टोप को झटके से सिर पर डाला और भागते हुए जीप की ओर बढ़ गया। सिक्यूरिटी अफसर और मुंशी भी पीछे-पीछे लपक लिए।

कंपनी भवन के मुख्य द्वार पर खड़े मैनेजर की व्यग्रता उसके चेहरे पर लिखी है। सिक्यूरिटी अफ़सर के पहुँचते ही उसने सवाल दगा "क्या हुआ?"

"सर! वे लोग बात करने आ रहे हैं..... ।" उसके स्वर में झिझक और चेहरे पर बनावटी किस्म की शर्म है। मामले को वहीं का वहीं न सुल्टा पाने के पछतावे जैसा कुछ।

"धत्...!" मैनेजर ने धिक्कारा, फिर तुरंत ही पूछा "और लाश?"

"घर के सामने रखी है...। कहते हैं, नौकरी-मुआवज़े की बात तय हो जाने पर ही उठायेंगे।"

"तुम लोगों से तो कुछ उम्मीद करना ही बेकार है।" मैनेजर ने उसे लानत भरी नजरों से देखा।

"असल में सर! ऐन वक़्त पर वह... क्या बोलते हैं उसे.. .?" उसने मुंशी की ओर देखा।

"टिप्पल!" मोबाईल पर अपने मैनेजर से बात करते हुए मुंशी ने बीच में बताया तो दूसरे छोर से पूछा गया "क्या टिप्पल?"

"वही सर!... लाश को उठाने नहीं दे रहा है।... साधू का आदमी है!" वह अपने मैनेजर को स्थिति की गंभीरता से अवगत कराने लगा है। उसे बातें करते देख कंपनी के मैनेजर साहब की खीझ और भी बढ़ गई है "कहाँ... तुम्हारे मालिक लोग कहाँ हैं?" उसने मुंशी से झल्लाहट में पूछा"... उन्हीं का ड्राइवर मरा है और वही लोग नदारद!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उन्हीं से तो बात कर रहा हूँ साहब!" मुंशी ने भी बेपरवाही से कहा और फोन पर अपनी बात जारी रखी। वह सिर्फ ठेका कंपनी का मुंशी भर नहीं, कॉलोनी पार्षद भी है। ठेका कंपनी ने उसे पार्षद के लिए खड़ा करवाया था। लोकल आदमी है। इस तरह के दो-चार आदमी हैं जो कंपनी में मुंशी-सुपरवाइजर हैं। सो, दबदबा तो हर तरह से है।

काफ़ी इंतज़ार के बाद गाँव वाले आते दिख रहे हैं। थानेदार के कहे मुताबिक़ दो-चार लोग नहीं, बल्कि मोटर-बाइकों और पीछे से साइकिलों का एक पूरा काफ़िला ही आ पहुँचा है जिसकी कमान फिर टिप्पल के हाथों दिख रही है।

मैनेजर ने सिक्युरिटी अफ़सर को उन्हें ले आने का इशारा किया और अंदर घुस गया।

जानबूझकर छोटा वाला बैठक-कक्ष चुना गया है, ताकि ज़्यादा लोगों के बैठने की गुंजाइश ही न रहे। फिर भी, दनदनाते हुए घुस रहे टिप्पल के पीछे काफ़ी भीड़ अंदर आ घुसी है। दरवाज़े को छोड़कर चारों ओर ग्लास टॉप वाला डेस्क लगा हुआ है। पीछे रिवॉलविंग चेयर लगे हुए हैं। मैनेजर सिक्यूरिटी अफ़सर के साथ दरवाज़े के पास ही खड़ा हुआ लोगों को बैठ जाने का इशारा कर रहा है। टिप्पल गजानन के बाप और उसके परिवार के लोगों को लेकर दायीं ओर बीचों-बीच बैठ गया है और मैनेजर को संगीन नज़रों से घूर रहा है। बाकी लोग रंज और ग़म से भरे चुप्पी साधे हुए हैं। नेताजी ने टिप्पल के विपरीत, बायीं ओर का रूख किया है और ठीक़ टिप्पल के सामने गाँव के पटेल और अन्य लोगों के साथ विराजमान है। जिनको जगह नहीं मिल पायी है वे मैनेजर और सिक्यूरिटी अफ़सर के पीछे दरवाज़े से लेकर पोर्च तक चहलक़दमी करते हुए भुनभुना रहे हैं।

वार्ता में विलंब होने से टिप्पल की बेचैनी बढ़ रही है। उसके बार-बार कसमसाने से रिवॉल्विंग चेयर में होने वाली चरमराहट नेताजी के दिमाग़ को आरे ही तरह चीर रही है। वह मामले को फिर से टिप्पल की गिरफ़्त में देखकर अत्यंत खिन्न है। रास्ते में वह बाप को कहे बिना नहीं रह सका था "काका! जानता हूँ, तुम्हारे ऊपर वज्रपात हुआ है। पूरे परिवार को भारी आघात पहुंचा है, पर तुमने मेरे साथ ऐसा क्यों किया?... उसी की अगुवाई में चलना था तो फिर मुझे क्यों फँसाया?"

बाप को उसका दुख शायद, अपने दुख से भी भारी जान पड़ा और उसने सफ़ाई दी थी "मैंने बिल्कुल नहीं बुलाया नेताजी! न जाने कहाँ से आ टपका यह!"

नेताजी टिप्पल के पराक्रम से हतप्रभ तो हुआ है पर निराश नहीं। मन ही मन वह भी उसकी काट की तलाश में है। अपने अनुभव से उसे मालूम है कि टिप्पल का जादू ज़्यादा देर तक टिकने वाला नहीं। अन्ततः उसे ही गाँव वालों के काम आना है। इसलिए मैनेजर ने चाय-पानी माँगा तो उसने तुरंत मना कर दिया। माटी दिए बिना गाँव वाले तो पानी भी नहीं पिएंगे! नेताजी के इस तरह इंकार से उस पर गाँव वालों का भरोसा बढ़ जाना लाजिमी है।

"हां, तो शुरू किया जाय सर! देर हो रही है....." उसने मैनेजर से कहा।

मैनेजर ने अपने रँगे हुए बालों पर उंगलियाँ फिराते हुए उन सांत्वनापूर्ण शब्दों को याद किया जिसे इस बीच उसने सोच रखा था। पर माहौल को देखते हुए उनमें कुछ तब्दीली, संवेदना को कुछ ज़्यादा घोलने की ज़रूरत महसूस हो रही है। उसने भरे हुए गले से शुरू किया "ऐसी दुखद घटना... और बड़ी गंभीर परिस्थिति में... हम समझ सकते हैं, उसके परिवार के ऊपर आज कितना बड़ा दुख का पहाड़ टूट पड़ा है... हम सभी के लिए यह एक बहुत दुखद घटना है। भगवान उसकी आत्मा को शांति दे!... मैं आप लोगों से अनुरोध करूँगा कि स्व. गजानन की आत्मा को श्रद्धांजलि देने हेतु दो मिनट का मौन धारण करें... "और वह उठकर खड़ा हो गया है। साथ में सिक्युरिटी अफ़सर और बगल में बैठा मुंशी भी। टिप्पल को यह दिखावा पसंद नहीं आ रहा, पर नेताजी वगैरह और गाँव वालों को भी उठते देखकर मजबूरन उसे भी उठ जाना पड़ा है। कक्ष में चुप्पी छा गई है, पर बाहर गलियारे में भनभनाहट जारी है।

"धन्यवाद!" मैनेजर ने श्रद्धांजलि के मौन को भंग किया "उसकी मर्ज़ी के आगे किसी की नहीं चलती।"उसने ऊपर की ओर इशारा किया "एक मिनट में कहाँ ले जाता है, पता नहीं चलता। जानता हूं, आज आपके गाँव का घर-घर मातम मना रहा होगा। यह इतना बड़ा सदमा है कि इसे भुला पाना आसान नहीं।" फिर उसने घटना को नियति की अनिवार्यता से जोड़ कर सांत्वना के शब्द कहे "मौत का कोई भरोसा नहीं!, कब किसको छीन ले जाए? हो सकता है, कल मुझको ही हार्ट अटैक हो जाए..." पर टिप्पल और गाँव वालों के चेहरों पर आते बदलावों को देखकर वह समझ गया कि बात सिरे से उतरने लगी है। उसने तुरन्त 'यू टर्न' लिया "लेकिन अभी उसकी उम्र क्या थी? वह समय से बहुत पहले चला गया। इसी बात की ज़्यादा तकलीफ़ होती है। सुना है, छोटे-छोटे बच्चे हैं... यहाँ पर जो भी बैठे हैं, सब का फर्ज़ है, दुखिया परिवार को इस सदमे से जल्द से जल्द उबारा जाय।" उसने नेताजी की ओर देखते हुए कहा "परिवार को क्विकेस्ट रिकव्हरी के लिए क्या मुहैया कराया जा सकता है, क्या प्रावधान है, आप लोग जानते हैं! हम उसकी व्यवस्था में लगे हुए हैं...।" फिर उसने मुंशी की ओर देखा "कार्रवाई में देर बिल्कुल नहीं होना चाहिए!"

इस आखिरी बात ने बाप को मुआवजे की हद जता दी है। ठेका-कंपनी के मुंशी के कार्रवाई करने पर उसे जो थोड़ी-बहुत रकम मिलने वाली है उसके बारे में नेताजी ने उसे पहले ही बता दिया है। पर टिप्पल की दहाड़ ने उसके मन में सीधे कंपनी से अच्छी-खासी रकम और संभवतः नौकरी भी मिलने की आस जगा दी थी। अब मैनेजर की मातमपुर्सी ने उस पर पानी फेर दिया है। वह पछता रहा है। क्यों आ गया इस लफ़ंगे के बहकावे में? अब यह सारी कार्रवाई उसे बेटे की लाश के साथ सौदेबाजी-सी लग रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। बेटे की मिट्टी बिगाड़ने का अपराध उसे ग्रस रहा है। अपने दुर्भाग्य और बुझे हुए चेहरे पर छलछला आए पसीने को गमछे से पोंछता वह अचानक बोल उठा "मैं वो सब नहीं जानता...मुझे तीन बातों का जवाब चाहिए... लाश को दूसरे दिन घर पर पहुंचाया गया है... पहले बताया गया, लड़के ने टट्टी-पेशाब किया है और आज बताया कि मर गया!... हमें कल से अँधेरे में रखा जा रहा है... लाश को इधर-उधर घुमाते रहे...लास्ट में अपोलो ले जाने का नाटक किया गया... ।"

"वह पढ़ा लिखा लड़का था" गजानन के चचेरे भाई ने कहा "उसके पास मोबाइल भी था... ज़िंदा होता तो ज़रूर मुझे फोन करता!"

"और सबसे बड़ा जुर्म तो ये हुआ है... "अवसर को भाँप कर टिप्पल ने चर्चा का सूत्र अपने हाथ में लपक लिया है" उसकी मौत कल हो गई थी, पर उसके पैरेन्ट्स को जानकारी नहीं दी गई!" उसने 'पैरेन्ट्स' शब्द पर जोर डालकर उसे कानूनी तौर पर पारिभाषिक बना दिया है। मुंशी ने महसूस किया कि अब उसके बोलने का वक़्त आ गया है। दरअसल, मामले को मैनेज करने के क्रम में हुई चूकों पर उसने काफ़ी गौर कर लिया है और इसकी काट के बहाने उसने ढूंढ़ निकाले हैं। उसने गले को खँखार कर कहा "उसकी हालत इतनी नाजुक थी कि उसे लेकर तुरंत भागना पड़ा।... वैसे पैरेन्ट्स को कैम्प ऑफिस बुलाकर बता दिया था।" उसने भी 'पैरेन्ट्स' शब्द पर जोर दिया "जल्दबाजी के कारण ही हम पैरेन्ट्स को साथ में ले जाने में चूक गए... ।"

मानवीय संवेदनाओं से भरा हुआ चेहरा लिए मैनेजर बोल पड़ा "नहीं-नहीं... साथ में रहने से गार्जियन को भी एक तसल्ली होती!"

"और उस समय की हड़बड़ी में मेरा मोबाइल भी कहीं छूट गया।" कहने के साथ ही मुंशी को अपने इस पैबंद के लिए थोड़ी-सी शर्म भी आ गई है। पर गाँव वालों ने तो दूर, टिप्पल तक ने इसकी नोटिस नहीं ली है। उसे तो मुंशी से मतलब ही नहीं। उसने तो सीधे कंपनी को ही कटघरे में खड़ा कर रखा है। कंपनी पूरी तरह फँस चुकी है। खदान के ठीक फ़ेस पर से कोयले की जलती हुई चाप उस पर गिरी है। इसका ज़िम्मेदार कौन होगा?... बेशक, कम्पनी! उसने उम्मीद को टूटनें नहीं दिया, और इसमें जल्दी-खासी उगाही की संभावना उसे अब भी दीख रही है। साधू भइया से शाबाशी मिलने की भी भारी आशा है। काश! एक बार उनसे बात हो जाती! खैर, बैठक के बाद वह तुरंत उनसे फिर कांटैक्ट करने की कोशिश करेगा। परसों की तैयारी के विषय में भी तो उन्हें बताना है। पर इस समय तो मामले से पल्ला झाड़ने वाले इस घाघ मैनेजर को कैसे घेरा जाए, यही मुख्य बात है। खदान के भीतर कोयले की जलती हुई चाप का गिर जाना कंपनी की सुरक्षा व्यवस्था में गंभीर खामियों और लापरवाही का ही नतीजा है. ...यह ऐसे ही अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता!

"आपका सेफ़्टी ऑफिसर कहाँ है?" उसने ऐसे पूछा, मानो डीजीएमएस का कोई आदमी हो। मैनेजर ने कोई जवाब नहीं दिया, बल्कि वह नेताजी की ओर ताकने लगा है।

"सेफ़्टी ऑफिसर है नहीं.....पैरेन्ट्स को साथ ले गए नहीं... कागज़ात कुछ का कुछ बनवा लिया जाता है। अब इसकी इन्क्वायरी..."

"इन्क्वारी हो रही है..." उसकी दखलंदाज़ी मैनेजर को बुरी तरह खल रही है" इस दुखद घटना को कंपनी ने काफ़ी गंभीरता से लिया है और इसकी जाँच हो रही है। कल से ही हमारे अफ़सर खदान में पड़े हुए हैं... ।"

बाप का दिल अब छटपटाने लगा है। सेफ़्टी, इन्क्वायरी, इन सब के पचड़े में पड़ने की भला क्या जरूरत? वह तो अब वापस आने से रहा! उधर उसकी मिट्टी खराब हो रही है और इन्हें.... जो कुछ भी मुआवज़ा मिलना-मिलाना हो, जल्दी तय क्यों नहीं कर देते?

तभी ठेका-मैनेजर का कक्ष में पर्दापण हुआ। पीछे-पीछे एक सरदारजी भी है। मुंशी उठ खड़ा हुआ। ठेका मैनेजर ने कंपनी मैनेजर को नमस्ते किया। उसने आधा-अधूरा जवाब देकर अपनी नाराज़गी जता दी। सरदारजी के नमस्कार पर तो उसने ध्यान भी नहीं दिया। इनका ही आदमी मारा गया है और इन्हें कोई चिंता नहीं!... और यहाँ भुगत रहे हैं हम! ठेका मैनेजर को उसकी नाराज़गी की कोई खास परवाह नहीं है। इस मामले में उन्हें कोई खास परेशानी भी नहीं होने वाली। हादसा कोयला कंपनी की सुरक्षा खामियों के कारण हुआ है और असली जवाबदेही उन्हीं की बनती है। वैसे भी इस झंझट से निबटने के लिए वे अपने तरीके से काम कर रही है।

ठेका-मैनेजर के इस लापरवाह रवैये ने कंपनी मैनेजर की खीझ को गुस्से में तब्दील कर दिया है, पर वह बेचारा इसे अपने भीतर ही जज़्ब कर अपने दिल को बीमारी करने को मजबूर है। ज़्यादा कुछ बोलना, यानी, आफ़त को न्योता देना। उसके मालिकों के हाथ बड़े लंबे हैं। सीधा सीएमडी और मंत्री लोगों से वास्ता रखते हैं। कंपनी के अवांछित अधिकारियों का ट्रांसफर कराना तो इनके एक इशारे का काम है। लुट रहा है पब्लिक सेक्टर इन ठेकेदारों के हाथों! उधर जनरल मैनेजर अलग नाकों दम किये हैं। मामले को अब तक न सुल्टा पाने के कुसूर में फ़ोन पर बार-बार उस पर गुर्रा रहा है। उसे डर है कि मामला कहीं राजनीतिबाजों के हाथों न पड़ जाए! उत्पादन में बाधा पहुँचने की उतनी ही चिंता नहीं है। तब तो मंत्रालय तक हड़कंप मच जाता है। प्रशासन भी तुरंत नोटिस लेता है। देश की ऊर्जा आपूर्ति का सवाल है। उसी पर प्रगति और विकास का सारा दारोमदार है। इस लिए कंपनी, प्रशासन, ठेकेदार सबकी गरज है। अंधाधुंध उत्पादन में कमोबेश सबको फायदा है। इसलिए उत्पादन के लिए कोई खास चिंता नहीं। थोड़ी-बहुत क्षति होती भी है तो आंकड़ों की हेरा-फेरी से उसे, सलटा लेजाना उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए बाएँ हाथ का खेल है। पर खदान दुर्घटना में मौत का असर सीधा उसके सी.आर. पर पड़ता है, उसके डायरेक्टर बनने की संभावनाएं धूमिल होने लगती हैं। इसलिए खुद जीएम ने उस दुर्घटनाग्रस्त डम्पर को आनन-फानन में खदान से निकाल कर साफ़-सूफ करा डालने का निर्देश दिया था और उसके बाद ही पुलिस को खबर की गई। कंपनी अस्पताल में प्राथमिक उपचार के बीच ही गजानन की साँस उखड़ जाने की खबर उसे तुरंत मिल गयी थी, पर उस समय उसे मरने देना खुद उसके सीआर और कंपनी के रिकार्ड के लिए घातक होता। इसीलिए जलती हुई चाप से कबाब हुए शरीर को कल से दर-दर की ठोकरें खानी पड़ रही हैं। हालाँकि, अब वह अपने ही दर पर पड़ा है जहाँ कम-से-कम उसकी माई और बाल-बच्चे उसके लिए कलप तो रहे हैं। पर होनी को कौन टाल सकता है? जोखिम वाले कामों में कितनी भी सावधानी बरती जाए, हादसे हो ही जाते हैं। अब इसको मुद्दा बनाकर धरना-प्रदर्शन-घेराव कर राजनीति करना, उत्पादन में बाधा पहुँचाना क्या उचित है? राष्ट्र के संसाधनों के इस तरह नुकसान पहुँचाना भी देशद्रोह के समान है! इसे रोकने के प्रयोजन से ही बेचारे की मिट्टी को दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। भले ही, अपने इस बलिदान के गौरव का स्वाद वह चख नहीं पाया। भगवान उसकी आत्मा को शांति दे! बहरहाल, इस बात को लेकर पश्चात्ताप करने की अब कोई तुक भी नहीं रह गयी है। मैनेजर को मायूसी बस इस बात की है कि उसकी प्लानिंग फ़ेल हो गयी। हादसे को खदान से बाहर साबित करने के लिए ही यह सारी कारगुजारी की गई थी, पर वह कामयाब नहीं हो पायी। आज के लोकल अखबार में फ्रंट पेज पर इस हादसे की खबर छपी है। यानी, पत्रकारों से जूझने के लिए एक अलग मोर्चा खुल चुका है।

मुंशी द्वारा खाली की गई कुर्सी पर बैठा ठेका-मैनेजर एकदम शांत और ठंडा-सा रूख लिए हुए है। बगल में बैठा सरदार जी 'उबार लो जी!' वाले अंदाज में उसे देख रहा है। दुर्घटनाग्रस्त डंपर उसी का है। उसके लिए कुर्सी खाली करने वाला ग्रामीण सोच रहा है, खड़े रहा जाए कि निकला जाए! टिप्पल को नए सिरे से बिफरते देखकर वह रुक गया है। बाप को लगा, वह फिर बहस-मुबाहिसे के चक्कर में डालकर समय को घालेगा। उसने कुढ़े हुए स्वर में कहा "हमारे पास बहस करने के लिए टाइम नहीं है....बस, मुद्दे की बात होनी चाहिए!"

"हाँ-हाँ, अब हम मुद्दे की ही बात करेंगे।" टिप्पल ने सूत्र को अपने हाथ से छूटने नहीं दिया" और मुद्दा यही है कि मुआवज़ा..."

"लेकिन पहले बताया जाए, घर वालों को अँधेरे में क्यों रखा गया... लड़के को साथ क्यों नहीं ले गए?" गजानन के चचेरे भाई के बगल में बैठा हुआ आदमी बोल उठा! इस गंभीर मुद्दे को इतनी जल्दी विराम मिल जाना उसे रास नहीं आ रहा है। कंपनी वाले गाँव वालों को इतना बेवकूफ़ और नाचीज़ समझते हैं! उनके साथ जो चाहे, कर सकते हैं?

"अरे मुद्दे की बात करो भई!" नेताजी ने कहा "जानते नहीं, वहाँ क्या हाल हो रहा है?" उसने हाथ उठाकर गाँव की ओर संकेत किया।

"हाँ तो बताइए... क्या प्रावधान है?" टिप्पल ने बात के सिरे को फिर लपक लिया।

"उसका नियम बना हुआ।" मैनेजर टिप्पल के बजाए बाप को देखते हुए बताने लगा" उसकी उम्र करीब सैंतीस साल हो रही थी। हिसाब करने पर कॉम्पेनसेशन दो लाख रुपये बनता है। अहम बात है, जो भी राहत राशि मिलनी है उसमें देर न हो। इसके लिए जो भी पेपर लगना है उसे जल्द से जल्द जुटा लिया जाए....डेथ सर्टिफिकेट मुंशी के पास है ही....पी.एम. रिपोर्ट भी जल्द से जल्द ले लीजिए।" उसने-ठेका मैनेजर की ओर संगीन नज़रों से देखा "पिछली बार, शंभु यादव के केस में काग़जात जुटाने में आप लोगों ने बहुत देर कर दी थी। उसके बाप को ही सब करना पड़ा था. .. तो अब ऐसी नौबत नहीं आनी चाहिए।" फिर उसने बाप से सहानुभूति से भरे हुए स्वर में कहा "ये लोग जब तक व्यवस्था करें, किरिया-करम और तत्काल खर्चे के लिए हम तीस हजार रुपए लाए हैं... ।" फिर उसने ठेका-मैनेजर की ओर रुख किया "अब आप लोगों पर है....पीड़ित परिवार को कैसे खड़ा करना है..... उसका कोई छोटा भाई हो तो उसे सूटेबली कहीं इंगेज करिए, जॉब में लगाइए.... ।"

"रोज़गार की मदद तो उसे चाहिए ही!" जॉब का ज़िक्र खुद मैनेजर को करते देखकर नेताजी को लगा कि इस मामले में वह खुद ही चूक न जाए। वह अच्छी तरह जानता है, कोयला कंपनी तो अनुकंपा नियुक्ति देने से रही। मृतक ठेका कम्पनी में काम करता था। और ठेका कम्पनी के पास तो ड्राइवर-मजदूर की दिहाड़ी के अलावा कोई दूसरी नौकरी थी नहीं। वैसे भी गजानन के परिवार में नौकरी करने लायक कोई है कहाँ? पर मैनेजर खुद जॉब की बात कर रहा है। मुमकिन है माहौल के दबाव को देखते हुए सीधे कंपनी में ही नौकरी देने जैसी बात सोच रखी गई हो। कभी-कभी समझौते के लिए क़ायदे-कानून से हटकर भी काम करना पड़ जाता है। नेताजी ने बाप को पहले समझाया था, कंपनी में नौकरी तो नहीं मिलेगी काका! हाँ, मुआवज़े के लिए जितना भी हो सके ज़ोर लगाना चाहिए। पर यहाँ टिप्पल की टेक और खुद मैनेजर द्वारा जॉब जिक्र कर देने से उसे महसूस हो रहा है, अब यदि उसने भी रोजगार का जिक्र नहीं किया तो बाप और गाँव वालों की नजर में टिप्पल के सामने खुद उसका मोल दो कौड़ी का हो जाएगा। पर सहानुभूति के अतिरेक में जॉब का जिक्र कर बैठने वाले मैनेजर को जल्द ही अपनी ग़लती का इहसास हो गया है और उसने नौकरी के लिए पड़ने वाले ज़ोर को कमज़ोर करने के लिए फौरन कायदे-कानून का कवच चढ़ाना शुरू कर दिया "देखिए, हमारे यहाँ अनुकंपा नियुक्ति का प्रावधान केवल अपने कर्मचारियों के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मेरा कहना का मतलब है, चूँकि वह इनकी कंपनी में काम करता था तो उसके डिपेन्डेन्ट को इन्हें जॉब पर लगाना चाहिए। बच्चे, परिवार में कोई करने वाला हो।''

''हर्जाने के अलावा इंश्योरेंस का भी पैसा मिलेगा।'' ठेका मैनेजर का सिर्फ सही जगहों पर खुलने वाला मुँह खुला ''उसकी सर्विस ज्यादा दिनों को नहीं है, फिर भी पी.एफ. के मद में जो भी कटौती हुई होगी, वह भी मिलेगा... जहाँ तक काम देने की बात है...''

''काका सुन लो!... देखो नौकरी के बारे में बता रहे हैं।'' नेताजी ने बाप का ध्यान आकर्षित कराया।

''नहीं... नौकरी कोयला कंपनी दे!'' टिप्पल बीच में कूद पड़ा ''कंपनी की जलती हुई चाप गिरी है उस पर, उसका क्या होगा?''

अचानक दो-तीन ग्रामीण कक्ष के दरवाज़े पर पर बड़ी हड़बड़ी में पहुंच आये हैं और भुनभुनारहे हैं ''इधर बैठक हो रही है और उधर गाँव में पुलिस भेज दिया...।''

कक्ष में बैठे गाँव के लोग मैनेजर की ओर गुस्से से देखने लगे हैं। टिप्पल मैनेजर को चेतावनी भरी निगाह से देखते हुए गुर्राया ''यह ठीक नहीं हो रहा है!''

''अरे भई, यह क्या हो रहा है?'' मैनेजर खुद हड़बड़ा गया है। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा है। माहौल के बिगड़ जाने का पूरा अंदेशा है ''है किसी के पास थानेदार का नम्बर?.... बात तो किया जाए...!''

मैनेजर के दो-एक सहायक पुलिस से संपर्क करने के लिए भागे। उसने गाँव वालों का ध्यान पुलिस प्रसंग से हटाने और माहौल को शांत करने के लिए फिर बोलना शुरू किया ''कॉम्पेनसेशन हमारी कंपनी दे या ठेका-कंपनी, इससे मतलब नहीं, मुख्य बात है, पीड़ित-परिवार को मदद मिलनी चाहिए।''

कई लोगों का टोकने का मन हो रहा है। टिप्पणी किसी भी क्षण फट पड़ने को तैयार भरे गुब्बारे की तरह लग रहा है।

जल्द ही सहायक ने आकर बताया ''सर! थानेदार साहब से बात हुई है... वैसी कोई बात नहीं है। वे तो केवल पेट्रोलिंग करने जा रहे थे। मैंने उनसे भी यहीं पहुँचने का अनुरोध किया है...।''

सुनकर मैनेजर संतुष्ट हुआ और गाँव वालों की ओर देखकर इस तरह सिर हिलाकर आँखें छटकाई, मानों कह रहा हो, देखा, और आप लोग शंका कर रहे थे! फिर उसने पूर्ण सौहार्द्र से भरते हुए कहा ''कॉम्पेनसेशन तो खैर, हमी बनाएंगे। इनकी कार्रवाई में तो हिल्ले हो जाएगा। जितनी भी रकम होगी, रूल के अनुसार हम कॉम्पेनसेशन कमिश्नर के यहाँ जमा करा देंगे...।''

''तो रूल क्या है?'' टिप्पल अपनी ठुड्डी को दोनों हथेलियों पर टिकाए मैनेजर को घूर रहा है।

''इसमें एज फैक्टर देखा जाता है।'' मैनेजर ने उसे अनदेखा करते हुए बताया ''साठ साल की उम्र होने में जितने साल बाकी होते हैं उसी के आधार पर कैलकुलेशन कर लिया जाता है।''

''और नौकरी?'' टिप्पल ने अपनी गोल-गोल और छटक रही आँखों को मैनेजर पर गड़ा दिया है।

''कोई प्रावधान नहीं है।'' उसने टका-सा जवाब दिया। उसका इस तरह से घूरना उसे खल रहा है।

''तो बनाइए प्रावधान।''

''ऐसा प्रावधान आज तक किसी पब्लिक सेक्टर में नहीं बना।''

''मैंने भी बहुत-सी नौकरियाँ की हैं... इस तरह की...!'' कहने का मतलब कायदे-कानून के बारे में वह भी कोई अनाड़ी नहीं है।

मैनेजर ने बहस को टालने की गरज से कहा ''ठीक है, आपकी इस माँग को हेडक्वार्टर भेज दिया जाएगा।''

मैनेजर की बच निकलने की चालाकी को देख कर टिप्पल को अपना पैंतरा बदल देना पड़ा ''नौकरी का प्रावधान नहीं है तो प्राइवेट के बजाए खुद कंपनी के डंपर चलवाइए... पहले तो चलता था!''

''यह सब नीतिगत मामला है।'' उसने इस तरह कहा मानों उसके जैसे छोटे मुँह से बड़ी-बड़ी बातें शोभा नहीं देती ''इसका निर्णय मिनिस्ट्री लेवल पर होता है..... हम जो कर सकते हैं, बता दिया है। औकात से बाहर झूठी उम्मीद पर लटकाए रखना कोई अच्छी बात तो है नहीं।''

''विश्रामपुर के शहीदों की बेवाओं को नौकरी कैसे दी गई?'' टिप्पल ने कुटिल मुस्कान भरते हुए पूछा ''जब आपकी कंपनी ने वहाँ गोली चलवा दी थी?''

घटना बीस साल पुरानी थी। मैनेजर को मालूम नहीं था।

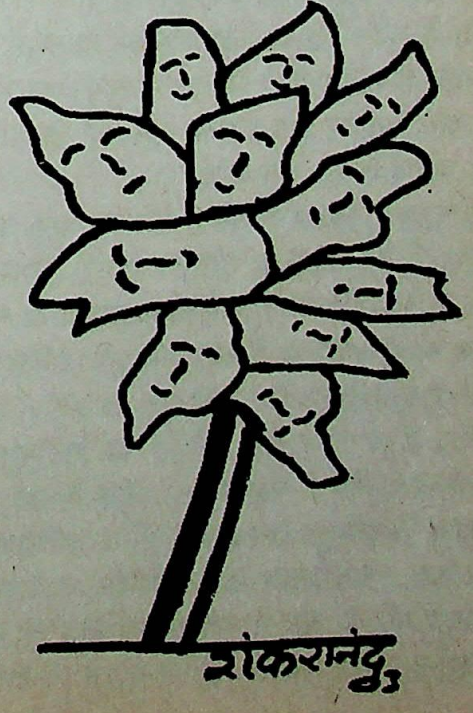

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सहायक ने उसके कान में फुसफुसाया "बड़ी पुरानी बात है सर! पर यह तो दूसरा मामला था। नौकरी-मुआवज़े को लेकर एक समझौता-बैठक में भू-विस्थापितों ने अफ़सरों पर हमला कर दिया था। एसडीएम भी वहाँ था। लॉ एण्ड आर्डर कायम करने के लिए गोलियाँ चलवानी पड़ी थी...।"

"अरे यह तो बहुत पुरानी बात है।" मैनेजर को टिप्पल का यह शहीदाना अंदाज़ और भी बुरा लग रहा है "तब की बात ही दूसरी थी। वह तो कल्याणकारी राज्य का ज़माना था। पब्लिक सेक्टर का स्वर्णयुग! आज तो हमें प्राइवेट कंपनियों से कड़ा मुकाबला करना पड़ रहा है। कंपनी को अगर टिके रहना है..." उसे अपना वाक्य बीच में ही छोड़ देना पड़ा। गाँव वालों के नाराज़ होते चेहरों और खासकर टिप्पल की गुस्से से सिकुड़ती हुई आँखों को देखकर उसे महसूस हुआ कि उसकी बात शायद, गलत दिशा में जा रही है। उसे लाइन में लाने की गरज़ से उसने कहा "ठीक है, आप उस मामले का पूरा हवाला देते हुए आवेदन कराइए। हम प्रस्ताव बनाकर हेड क्वार्टर को भेज देंगे।"

बार-बार हेड क्वार्टर की बात सुनकर टिप्पल का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँचने को है "लगता है, अब लाश को सीधे ऑफिस के गेट पर रखकर धरना देना पड़ेगा... तभी इसका निराकरण होगा।"

"अगर आप लोग इस तरह सॉल्यूशन निकालना चाहते हैं तो..." सपकपाया हुआ मैनेजर आगे कुछ कहने के लिए शब्द खोजने लगा है। वाप अपने भतीजे की ओर बड़ी आज़िज़ी से देख रहा है जो खुद भी चर्चा के इस ढंग पर बुरी तरह खीझा हुआ है। वहाँ लाश की दशा पल-पल बिगड़ रही है और यहाँ समय बेकार की बहस में गँवाया जा रहा है!

"कोई मतलब नहीं इधर-उधर की बातें करने का..." बाप एकाएक चिल्ला उठा, "साफ़ बात ये है कि घर में नौकरी करने वाला कोई है नहीं... बहू को ठेका कंपनी में तो नौकरी करायेंगे नहीं। इससे तो अच्छा होगा कि घर में रहकर वह बच्चों की देखभाल करे। इसलिए अब हर्जाना, और क्या-कितना मिलेगा, सही-सही बताया जाए... और जल्दी!"

"बिल्कुल!" टिप्पल के मुँह से निकला। मानों चाहता तो वह भी ऐसा ही है। नौकरी पर ज़ोर देने के पीछे उसका मक़सद सिर्फ यही है कि सौदेबाजी के लिए दबाव बनाया जा सके और मुआवज़े के रूप में अच्छी-खासी रकम मिल सके। लेकिन यह बात इन मिट्टी के माधवों को कौन समझाए?

"ठीक है...।" वह दोनों मैनेजरों की ओर मुखातिब है "नौकरी तो आप लोग दे नहीं सकते... ठीक है, मत दीजिए। लेकिन हर्जाना तो पूरा-पूरा देना होगा... घर का इकलौता कमाने वाला चला गया... अब इनका भविष्य एकदम अंधकारमय है... इसलिए हमारी माँग है, और मैं कम से कम बोल रहा हूँ, दोनों कम्पनियाँ दस-दस लाख रुपये दें। आखिर कोयले की जलती चाप से गई है उसकी जान...।" टिप्पल मैनेजरों को संगीन नजरों से देख रहा है। ज़रा भी आना-कानी की तो लाश ऑफिस -गेट के सामने रख दी जाएगी। टिप्पल की दबसट यों ही नहीं चलती। उसने नवरंग भैया की शागिर्दी यों ही नहीं की है, वे तो बड़े-बड़े नौकरशाहों की भी बोलती बंद किये रहते थे। उनका तो एक पैर जेल में ही रहता था। इसके बाद तो सरकार भी निरुपाय हो जाती है। उसके कुर्ते की जेब में पड़ा मोबाइल देर से बज रहा है इसलिए मजबूरन उसे रुकना पड़ गया और वह जेब से उसे निकालकर देख रहा है। कॉल उस सेठ की औलाद की ही है। मन हो रहा है कि बंद कर दें, पर कुछ सोचकर उसने कॉल बटन दबा दिया है। उसके 'हैलो' कहने पर, पता नहीं उधर से क्या कहा गया कि उसका चेहरा उतरने लगा है। चेहरे पर एक दयनीय मुस्कान उभरने लगी है जो उसकी पहले वाली आक्रामक मुद्रा से ज़रा भी मेल नहीं खा रही है और वह नरमी से बोल रहा है "आपसे कॉन्टेक्ट करने की कोशिश कर ही रहा था भैया!... नहीं-नहीं, मैं भला आपको बाईपास... सच में, मैं कसम खाता हूँ... मैं भला ऐसा सोच भी सकता हूँ?... वैसे मैंने साधू भैया से... अच्छा तो आप की बात हुई है?... ठीक है... ठीक है... हाँ-हाँ, मैं निकल के बात करता हूँ।" और वह चेहरे पर दयनीय मुस्कान को और गाढ़ा करते हुए कान से मोबाइल चिपकाए, बिना किसी से कुछ कहे-सुने कक्ष से निकल आया है। रिसेप्शन के पास वाले कक्ष में अपने मातहतों के साथ सोफ़े पर बैठकर चाय-पान कर रहा जनरल मैनेजर उसे गलियारे में आते हुए देख हर्षित हो उठा है "देखो, मैं बोल रहा था न, यह उसी का फोन है... देख नहीं रहे, उसका मुँह कैसे उतरा हुआ है?" टिप्पल को पोर्च की सीढ़ी उतरते देख जीएम भी उठ खड़ा हुआ है। उसके पीछे-पीछे दूसरे अफ़सर भी, सामने के जालीदार गलियारे में आ गए हैं। जालियों की आड़ से बाहर पोर्च से उसकी मिमियाती आवाज़ आ रही है "...कैसे बताऊँ? आपके लिए मेरे मन में कितनी श्रद्धा है... नहीं-नहीं... मैं ऐसा कभी सोच सकता हूँ भला... हाँ-हाँ, अब मैं कुछ नहीं बोलूँगा... हाँ-हाँ मैं निकल रहा हूँ... आपका आदेश मिल गया है तो... ठीक है सरकार! अब तो... हैलो-हैलो!... बंद कर दिया साला!" उसका मुँह लटक गया है। उसके मंसूबों पर पानी फिर गया है। उस सेठ की औलाद ने फिर उसका काम बिगाड़ दिया है। खुद तो हज़ारों-लाखों के वारे-न्यारे करता है साला! और उसने ज़रा-सी कोशिश की तो वह जल मरा। साधू भैया भी उसी की बातों में आ गए। ख़ैर, यह ग़लतफ़हमी तो परसों दूर हो ही जाएगी। तब उस हरामज़ादे की ख़बर लेगा वह!

बैठक कक्ष में वार्ता समझौते करीब पहुँच रही है। जैसा कि नेताजी ने पहले की बाप को बता दिया था, हर्जाने की रकम का व्यौरा कुछ उसी प्रकार दिया जा रहा है। अलबत्ता, तत्काल सहायता राशि को तीस हज़ार से बढ़ाकर पचास हज़ार कर दिया गया है। इसे बढ़ाने की माँग नेताजी द्वारा ही की गई जिसे थोड़ा पशोपेश के बाद मैनेजरों ने स्वीकार कर लिया है "हालाँकि, हमने अभी तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पचास हजार किसी भी डेथ कैश में नहीं दिया है, चाहे कंपनी का वर्कर हो या कान्ट्रेक्ट वर्कर, तीस हज़ार से ज़्यादा देने का प्रावधान नहीं है। लेकिन इसे एक्सेप्शनल केस मानकर हम पचास हज़ार दे रहे हैं...।" कहते हुए मैनेजर की नज़र अपनी सीट पर आकर बैठ रहे टिप्पल पर पड़ गई है और उसे उधर से फिर कोई आक्षेप उठने की आशंका हो रही है। पर टिप्पल न केवल चुप है, बल्कि उसका मुँह लटका हुआ है। अपनी दोनों हथेलियों को ठुड्डी के पीछे फँसाकर वह कुर्सी के पीठ से टिक गया है और अधमुँदी आँखों से देखता यह जाहिर कर रहा है, मानों उसे इस मामले से अब कुछ लेना-देना नहीं है, बस वह साथ आने का फ़र्ज़ निभा रहा है। मैनेजर को भी लगने लगा है कि फ़ोन पर इसे ज़रूर फटकार मिली होगी, तभी यह यों चुप बैठा है। उसके पिटे हुए हुलिए ने मैनेजर को अन्ततः मामले के दार्शनिक पहलू को एक बार फिर सामने लाने की हिम्मत दे दी है "नियति के सामने वास्तव में किसी की नहीं चल पाती। अभी हम यहाँ बैठे हैं, कौन जानता है कि थोड़ी देर बाद मेरे, आपके या किसी के भी साथ, भगवान न करे, कोई दुर्घटना हो जाए। सुरक्षा के सारे इन्तजाम धरे रह जाते हैं। यही तो उसका खेल है..." वह ऊपर वाले की ओर इशारा करता है "पर इसका ये मतलब नहीं, कि सुरक्षा में हुई चूक की हम नोटिस नहीं लेंगे, इसकी तो जाँच-कार्यवाही शुरू भी हो गई है... निष्कर्ष भी सामने आ जाएगा। लेकिन अंत में सोचेंगे, तो मानना पड़ जाता है कि यह सब उसी का विधान है...।"

"छोड़िए साहब!... ये सब बात!" चचेरा भाई झल्ला उठता है "जो भी देना-दिलाना है, जल्दी किया जाए!"

नासमझ लोगों के लिए तथ्य की बातों को समझ पाना आसान नहीं। निराश होकर मैनेजर ने अपने पीछे खड़े सहायक को इशारा किया। उसने हैण्ड बैग से सौ-सौ की तीन गड्डियाँ निकाल कर उसके सामने डेस्क पर रख दीं। फिर उसने ठेका मैनेजर की ओर देखा तो उसने भी अपने पॉकिट से निकाल कर हजार-हजार के बीस नोट गिन दिए। टिप्पल उड़ती हुई और उदासीन नज़रों से देख रहा है। मैनेजर ने रुपयों को उठाकर नेताजी की ओर बढ़ाया जो उसने अपनी सीट से उठकर बड़ी जिम्मेदारी के साथ दोनों हाथों से ग्रहण कर लिया और बाप के सामने जा खड़ा हुआ "लो काका!.. यह पचास हज़ार है..." फिर उसने ठेका-मैनेजर से कहा "और जो कुछ मिलना है उसके लिए जल्दी कार्रवाई होनी चाहिए!" बाप भी उठ खड़ा हुआ है। रुपयों को ग्रहण करते समय उसका हाथ काँप रहा है। ग्लानि और पीड़ा में उसका चेहरा डूब-उतरा रहा है। इस पचास हज़ार के साथ ही उसे घर के दरवाज़े पर पड़ी इकलौते बेटे की जली-भुनी लाश दीख पड़ती है। पचास हज़ार, यानि एक ज़िंदा आदमी के भुनकर कबाब बन जाने की कीमत! टिप्पल अपनी चेथी पर हथेलियाँ फँसाये अर्धनिमीलित नेत्रों से इस लेन-देन को देख रहा है। उसे अब भी विश्वास है कि उस रईसजादे, सेठ की औलाद ने उसको नहीं चाँपा होता तो आज उसने कोयले की जलती चाप से कंपनी को चाँप लिया होता। खैर, ज़्यादा देर नहीं है, परसों के घेराव कार्यक्रम में वह उसको अहसास करा देगा। और साधू भैया को भी। पता नहीं क्यों, उस गद्दी पर बैठने वाले निष्क्रिय आदमी को उन्होंने इतना बढ़ावा दिया। परसों उनको समझ में आ जाएगा जब अपने पूरे ब्रिगेड के साथ वह एल्यूमिनियम कंपनी के ऑफिस पर घेराव डालेगा। ऐसा घेराव, कि सालों को भागने का मौका भी नहीं मिलेगा। उनको भी अहसास करा देना है कि साधू भैया तो साधू भैया, उनका ब्रिगेड कमांडर टिप्पल ही उनके लिए काफ़ी है। साधू भैया कुर्सी पर नहीं हैं तो उन्हें भाव देना ही बंद कर दिया!... उनकी यह जुर्रत! उन्हें मालूम होना चाहिए, वे सरकार में रहें, या न रहें, सत्ता उनके कदम चूमती रहेगी। जलती हुई चाँप के बुझ जाने से वह कुछ निराश तो जरूर हुआ है, पर हताश नहीं। वह सोच रहा है, अब इनका पिंड पकड़े रखने में कोई तुक नहीं है, बल्कि यहीं से परसों के प्रोग्राम के लिए ब्रिगेड मेंबरों को तैयार करने निकला जाए! आज सुबह अपना मूड कायम रखने के लिए टिपलिन के साथ अपनी भिड़ंत को रोक कर उसे निकलना पड़ा था और निश्चित बात है, मुहूर्त यहीं से बिगड़ गया था। रात घर लौटने पर उसके हाथों कहीं आज उसकी कुटम्मस न हो जाय! गाँव वालों को छोड़ कर अब वह अपने अभियान में निकल तो सकता था पर आगे सोचने पर उसे लगा कि यह बात उसके लिए थोड़ा नुकसानदायक साबित हो सकती है। लोग कहेंगे, बड़ा हितू बन कर आया था और मय्यत में भी शामिल नहीं हुआ। इसलिए वह बेमन से उनके साथ हो लिया है।

पोर्च के पास मातहतों से घिरे और राहत की मुस्कान लिए जनरल मैनेजर के मुँह से निकला है "बेचारा छुटभैया!"

"बेचारा है इसीलिए तो दूसरों के चारागाह में मुँह मारने चला था सर!" मैनेजर ने कहा और हँसी की फुलझड़ी छूट गई।

बाइकों और साइकिलों का काफिला गाँव की ओर वापस जा रहा है, उस जली-भुनी और चिराँध का भभका मारती लाश की याद करते हुए। टिप्पल ने गौर किया है, आज वह अपने मकसद में कामयाब नहीं हो पाया पर उसने इस गाँव, कुदुरमाल में अपनी जो 'कुव्वत' दिखायी है, उससे उसकी धाक जम गयी है। मरघट में बातचीत करने के लिए काफ़ी वक़्त रहेगा। ब्रिगेड के लिए यहाँ से भी पाँच-दस लौंडे मिल जाएँ तो अचरज नहीं। परसों साधू भैया के सामने अपनी ब्रिगेड की पूरी 'कुव्वत' दिखा देना है। देखकर, उस सेठिए की सूरत कैसी कसैली हो जाएगी इसकी कल्पना इस समय की उसकी नाकामयाबी के दर्द पर दवा का काम कर रही है। अपनी खुदी पर उसका भरोसा फिर से बुलंद है।

अब कोई कहे कि वह टिप्पल को नहीं जानता तो यह बात भला कौन मानेगा? बल्कि कहने वाले की ही जग हँसाई होगी। लोग कहेंगे, यही है टिप्पल जो कल जनपद और परसों विधान सभा, संसद में पहुँचाने वाला।

कोरबा (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलस भोर में

सनत कुमार

तो ता इस तरह सब होश उड़ा देगा, किसको पता था? पूरा थाना हिल जाएगा, यह बात चंदर जानता तो तोते को थाने लाता?

पिछले सात दिनों से तोता थाने के सभी कांस्टेबलों और इन्सपेक्टर का मनोरंजन कर रहा था। अभिवादन-नमस्ते कहता, आदाब बजाता, गुडमॉर्निंग-हैल्लो करता और थानेदार के मोबाइल की कृपा से फ़िल्मी गाने भी पूरी तन्मयता से सुनता-सुनाता। थाने में आये थके-भागे लोग राहत पाते। रंग में भंग तभी पड़ता जब कोई वक़्त का मारा फ़रियाद लेकर आ जाता या बड़े अधिकारी थाने में किसी काम से आते। चंदर बिरमाल एक बहेलिये से तोता ले आया था और थोड़ी देर बाद ही वह जान गया था कि एक नायाब चीज़ उसके हाथ लग गयी है। लेकिन, यह चीज़ जी का जंजाल हो जाएगी, इस बात की थोड़ी-सी भनक भी उसे लगती, तो वह अपने पाँव आप कुल्हाड़ी मारता?

उस दिन थाने में एक बड़े आदमी की हत्या के मामले में बहुत दिनों बाद एक ख़ास तरह की सक्रियता और गंभीरता से वातावरण बोझिल था। ज़िले के पुलिस अधिकारियों के साथ थाने के कर्मचारी बैठक में शामिल थे। हत्या थाने के सीमा-क्षेत्र में हुई थी, इसलिए पूरा थाना ज़िम्मेदारी के अहसास से झुका हुआ था। उसी वक़्त, अचानक बोलने वाले तोते ने यह क्या बोल दिया, कि "जानते हैं, हम सब जानते हैं, पूरा खेल विधायक शीतल सिंह का है", भूकंप आ गया। थाने में सन्नाटा छा गया। बैठक में शामिल सभी लोग गहरे सदमे में बैठे रहे, मानो काठ मार गया हो। बहुत देर तक बैठे रहे, तोते के बयान के पक्ष या विपक्ष में कोई भी प्रतिक्रिया, टिप्पणी या विषय से हटकर की गयी कोई बात भी ख़तरे से खाली नहीं थी। जिसकी हत्या हुई थी, वह बड़ा आदमी था और विधायक प्रदेश का डॉन था—दोनों ही सत्ता पक्ष की पहली पंक्ति के नेता थे। वहाँ बैठे सभी लोग एक-दूसरे की नज़र बचाकर, एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। चंदर बिरमाल को ऐसे वक़्त निपटने की ज़बरदस्त ज़रूरत महसूस हुई। लेकिन, इस संबंध में सरल-सी वाचिक सूचना भी नये अर्थों को खोल सकती थी। इसलिए, जब वह कुर्सी से उठकर बाहर जाने लगा और सहकर्मियों की सवालिया नज़रें उसकी और उठीं, तो उसने चेहरे और आँखों की मदद से जवाब दे दिया और बाहर चला गया। सहकर्मियों को यह नागवार लगा कि चंदर सबसे पहले उठ गया। चंदर के उठने के दो मिनिट बाद ही इन्सपेक्टर ने बैठक बर्ख़ास्त कर दी। सभी वर्दीवाले तत्काल बिना बोले बाहर निकल गये। चंदर लौटा, तब तक पूरा थाना खाली था।

चंदर तोते के पास जाकर गरजा, "तेरा टेंटुआ दबा देता, यदि मैं जानता कि तू ऐसा बोलेगा।" मादर, गुस्से में वह हाँफने लगा। तोता एकदम डर गया और पिंजरे में पीछे हट गया।

तोते ने सहमते-काँपते हुए कहा—"मैंने सबसे यही सुना था, सच्ची बात है।"

चंदर ने क्रोध से विकृत होते हुए कहा—"सच्ची बात तेरी माँ की... मच्छर, अब ज़्यादा सानपत दिखायी, तो तेरी मुंडी मसल दूँगा। तेरी बात पे कित्ते मर्डर हो सकते हैं। कित्ते सस्पेंड हो सकते हैं.... हरामी... सबसे पहले तो वे तुझ कमीने को लाने वाले को ही ढूँढेंगे। तू मेरी जान लेकर ही रहेगा। मैं भी तुझे ज़िंदा नहीं छोड़ूँगा। पहले तू मरेगा, अब्बी के अब्बी!"

तोता पछतावे, दुःख और डर से चुपचाप बैठा रहा। चंदर ने उसे पिंजरे से बाहर निकाला। वह उसका टेंटुआ दबा ही देता, लेकिन उसकी आँखों की निरीहता को देख रुक गया। उसी क्षण उसके मन में एक आशंका यह पैदा हुई कि तोते को मारने के बाद यदि इन्क्वायरी हुई, तो वह क्या जवाब देगा? उसको दफ़नाने के लिए थाने को छोड़कर जाया भी नहीं जा सकता है। साले का एक पंख भी बवाल मचा देगा। उसके पास अब एक ही रास्ता बचा था। उसने तोते को पिंजरे से निकाला तो तोता थोड़ा तड़फड़ाया ज़रूर, लेकिन बोला नहीं कुछ। गिड़गिड़ाया नहीं, प्राणों की भीख नहीं माँगी। चंदर ने तोते को थाने के पिछवाड़े के नीम की डाल पर बैठा दिया और तोते से कुछ दूर हटकर कहा—"जा उड़कर कहीं दूर, बहुत दूर चला जा।"

तोता उड़ा नहीं। वह चंदर को देखता रहा। चंदर को तोते की आँखों में तैरती निरीहता विचलित करने लगी। लेकिन, अपने संकट का ख़्याल आते ही वह कठोर हो गया। चंदर आँखें लाल करते हुए चिल्लाया—"अबे सत्याग्रही संत की औलाद, उड़कर भाग क्यों नहीं जाता? फिर कभी इधर दिखा, तो तेरा टेंटुआ मसल मैंने।"

तोते ने कहा—"उड़ने का मेरा अभ्यास छूट गया है।"

चंदर खीझ गया—"अबे अभ्यास की... कोशिश कर न, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मसल दूँ। एक पल नी लगेगा मसलने में। और सुन, ख़बरदार, जो थाने वाली बात किसी को बतायी तो।''

तोते ने ज़ोर मारा और नीम की ऊपरी डाल पर बैठ गया। चंदर ने पिछवाड़े की खिड़की से थाने के अंदर झाँका और आश्वस्त होकर कहा—''हाँ, ठीक है। उड़ता जा, बैठ मत, उड़ता जा और पीछे दूर कहीं चला जा।''

तोता उड़ता गया, एक डाल से दूसरी डाल, एक पेड़ से दूसरे पेड़। उड़ते-उड़ते दूर निकल गया, तो चंदर थाने में लौटा। सिगरेट पीते हुए वह तोते के 'भाग जाने' के बारे में क़िस्सा गढ़ने लगा।

जिस बड़े की हत्या हुई थी, उसके समर्थक और जिस पर हत्या का आरोप था, उसके समर्थक भयानक और भेदक ढंग से सक्रिय थे। दो दिनों के अंदर ही दूसरे गुट के दो आदमी 'निपट' चुके थे। आगे आने वाले दिनों में और खून बहने की आशंका थी। इस बीच दोनों गुट के लोग तोते को ढूँढ रहे थे, लेकिन तोता नये आश्रय में पहुँच चुका था।

उधर दोनों गुटों के शक्ति संतुलन के कारण कान्स्टेबल चंदर सस्पेंड नहीं हुआ, लेकिन उसका ट्राँसफ़र ज़रूर शहर के दूसरे थाने में हो गया। चंदर अपनी सुरक्षा की ख़ातिर कई दिनों तक सुबह-शाम, विधायक के घर जाकर अपनी सफ़ाई देता रहा।

तोते के लिए बाग़ में जीवन-निर्वाह कठिन था। पक्षियों के अलग-अलग समूहों के बीच एकदम अकेला, भयातुर, भूखा और थका तोता उड़ता हुआ जब पश्चिमी छोर तक पहुँचा, तो उसका ध्यान छोर से लगे हुए एक मकान की ओर गया। मकान के आँगन में उसकी आँखें टिक गयीं। आँगन में मिर्ची और दाल के दाने देखकर तोता आँगन में उतरा। अभी उसने एक दाना भी मुँह में रखा नहीं था और चोंच खोल ही रहा था कि जाने कहाँ से दो बड़े कौवे उस पर झपटे, पल भर में ही तोते के पंख नोंच दिये गये थे और वह बुरी तरह चीख़ रहा था। तोते की चीख़ सुनकर मकान के अंदर से एक नौजवान लड़का बाहर आया। उसने तोते को अपने हाथों में उठा लिया और घर के अंदर जाकर माँ को पुकारा—माँ ये तोता...

लड़के की माँ पूजा कर रही थी और तोते की चीख उसने भी सुनी थी, लेकिन लड़के के आँगन में दौड़कर जाने से वह पूजा में बैठी रही। अब लड़के के हाथों में ज़ख़्मी तोते को देख पूजा अधूरी छोड़ उठ गयी। उसने तोते को अपने हाथों में लिया—''अरे ऐसा नोंचा है दुष्टों ने, इस बेचारे को। बहुत दर्द हो रहा है बेटे...'' और वह लड़के की बातों पर ध्यान न देकर तोते को पानी पिलाकर उसके घावों पर हल्दी लगाती रही और तोते से बात भी करती रही। इस बीच लड़का बोलता रहा और तिलक- धोती धारी घर के मुखिया भी आगंतुक को देखने पूजाघर से निकल आये।

मुखिया जी ने देखा कि तोते के सामने अमरूद के टुकड़े, मिर्ची और दूध में भिगोयी रोटी के टुकड़े परोसे गये हैं। मुखिया जी ज्योतिषी और पंडित थे और साध्य की चिंता में व्यस्त रहते थे। तोते को देखकर मन में विचार कौंधा, एक नया साधन मिला, साध्य की दिशा में—''कुछ सीख जाए तो ठीक, अन्यथा जंगल में छोड़ आएँगे।''

इस तरह तोते को नये आश्रय में सुरक्षा मिली और लाड़-प्यार मिला। धीरे-धीरे वह अपनी लय में आ गया। पंडित जी मात्र फल-ज्योतिषी ही नहीं थे। वे फलादेश के साथ ग्रहों के अनिष्ट प्रभाव के निवारण के लिए 'रत्न' का समाधान भी प्रस्तुत करते थे। इसके आगे वे रत्न भी उपलब्ध करवा देते थे। उन्होंने घर में तोते को 'मिट्ठू गंगा राम से आगे बढ़कर पत्नी के गाये भजन की पंक्तियों को दुहराते सुना था। एक दिन शुभ मुहूर्त में पंडित जी ने तोते को पाठ पढ़ाना शुरू किया :

मंगल है तो...मूँगा
बुध है तो...पन्ना
गुरु है तो...पीला पुखराज
शनि है तो...नीलम
चंद्रमा है तो...मोती
राहू है तो...लहसुनिया

तोते की प्रतिभा और अद्‌भुत स्मरण शक्ति से पंडित जी चकित थे। वह अब हरे रंग के पंख, लाल चोंच और गोल घूमती आँखों वाला कोई साधारण तोता नहीं था। वह अब एक सिद्ध और चमत्कारिक मिट्ठूनारायण था। पंडित जी ने मिट्ठूनारायण के सहयोग से ग्रह-शांति हितार्थ रत्नों की अलौकिकता और चमत्कार को जोड़ दिया था। जिज्ञासु इस नये पंडित को भी श्रद्धायुक्त नमन करने लगे। पंडित जी रत्नों को होलसेल मार्केट से खरीदने लगे। नाटे, गोरे, गंजे पंडित जी की तोंद उठने लगी, गर्दन थोड़ी बढ़ गयी, तो पहले से ही छोटे कद के रहे, और छोटे लगने लगे। सत्यनारायण पंडित जी का लड़का ज़रूर था, लेकिन उसके रंग-ढंग से वे बेहद असंतुष्ट थे। पंडित जी के पिताजी ने उनका नाम रखा था—धर्मनारायण। पंडित जी ने पिता के दिये हुए नाम को सार्थक कर धर्म क्षेत्र को ही अपना साध्य-साधन मान लिया। लेकिन, सत्यनारायण की ज्योतिष और पंडिताई में कोई रुचि नहीं थी। पंडित जी ने बेटे को अपने सत्य पथ पर चलाने की, पंडिताई सिखाने की बहुत कोशिश की, लेकिन वह मूढ़ आवारा, घर-उजाड़ू और नास्तिक ही बना रहा। पंडित जी नये ज़माने की हवा, फ़िल्म, टी.वी. के असर और कॉलेज की पढ़ाई को दोष देकर अंत में अपने भाग्य को कोसते। लड़के से मिली निराशा के बीच तोते के चमत्कार ने उन्हें क्षतिपूर्ति का संतोष दिया था।

तोते के दिन अच्छे बीत रहे थे। घर में पंडित जी की ग़ैरहाज़िरी में सत्यनारायण उसको अपने दिल का हाल सुनाता और दोनों एक साथ फ़िल्मी गाने गाते। माँ भी तोते को लाड़ से रखती, खाने की उसकी हर इच्छा पूरी करती, माँ के लाड़-प्यार, बेटे की यारी और पंडित जी की पदवी 'पंडित मिट्ठूनारायण' ने तोते को ऐसा इतराया कि वो सातवे आसमान पे पहुँच गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छे दिन चल ही रहे थे कि बीच में एक मनहूस दिन आ धमका। तोते ने उस दिन एक ऐसे आदमी को घर की ओर आते देखा, जो चार दिन पहले भी आया था। उसे कार से निकलकर घर की ओर बढ़ते देख तोते को चार दिन पहले की घटनाएँ याद आने लगीं। वो याद उसे बेचैन करने लगी। चार दिन पहले जब वह आदमी आया था और पंडित जी ने उसकी समस्या सुनकर तोते को आवाज़ दी थी—"ओ पंडित मिट्ठूनारायण ब्रह्मात्मा। इन पर गुरु का भार है। बताइए महाराज, नीलम कि पीला पुखराज?"

महाराज ने उत्तर दिया—"पीला पुखराज" यजमान चकित और संतुष्ट।

पंडित धर्मनारायण ने जोड़ा—पाँच दिन पश्चात् पुनः पधारें धर्मात्मा, तब तक मैं आपकी कुंडली का समग्र अध्ययन कर लूँगा।

यजमान ने कहा—"ज़रूर आऊँगा पंडित जी!" उसने पंडित जी के सम्मुख कुछ बड़े नोट रखे, नमन किया, फिर तोते को नमस्कार किया और लौट गया। यहाँ तक सब कुछ ठीक-ठाक था। यह प्रतिदिन का कार्य रहता।

पंडित जी यजमान के सामने तोते से रत्न का नाम पूछते और तोता सही उत्तर देता। तोते को प्रत्येक ग्रह-दोष के निवारक रत्न का नाम याद था। पंडित जी ने किसी भी प्रकार की ग़लती या गफ़लत से बचने के लिए यह व्यवस्था भी की थी कि वे तोते के सामने दो रत्नों के नाम बोलेंगे। सही उत्तर दूसरे नाम में होगा। इसलिए ही, यहाँ तक सब कुछ ठीक-ठाक था। उस आदमी के जाने के बाद, सत्यनारायण बाहर आया और तोते के पिंजरे को उठाकर अंदर ले गया। उस वक़्त पंडित जी अपने बरामदेनुमा कार्यालय में रत्नों की पेटी को जमा रहे थे। सत्यनारायण तोते के सामने अपने बाप की शिकायत करते हुए बोला—"यार इस मनहूस ब्लैक मार्केटियर को बाबू जी बचाने का नाटक क्यों कर रहे हैं। आटे में न जाने क्या-क्या मिलाकर बेचता है ये दुष्ट। कितने लोग बीमार होते होंगे? कितने मरते होंगे? और बाबू जी तुझे भी शामिल कर रहे हैं बचाव कार्य में, पाप मुक्ति में, अजीब तमाशा है।"

तोते ने सुना और चुप हो गया। अंदर की चुप्पी बेहद ख़तरनाक होती है, यह अंदर चल रहे भीषण वाक-संग्राम, प्रश्न प्रतिप्रश्न, तर्क-प्रतितर्क का परिणाम होता है। तोता इस तरह की बेचैनी का शिकार थाने में हुआ था। चुप्पी और बेचैनी जब भी बढ़ती है, उसके अच्छे दिन ख़त्म हो जाते हैं। वह इस सोच से परेशान था कि क्या उस मनहूस की पाप-मुक्ति योजना में वह भी शामिल नहीं है? ऐसे गंदे आदमी को बचाना स्वयं पाप में भागी होना नहीं है? सत्यनारायण कहता है कि रत्नों से कुछ भी होता जाता नहीं है, लेकिन ख़ुद पंडित जी के साथ में, पाप के साथ नहीं खड़ा है वो?

मनहूस के अंदर आते ही पंडित जी ने उसका स्वागत किया, कुशलक्षेम पूछकर आशीर्वाद दिया। कुछ देर तक पोथी-पाना बाँचने के बाद पंडित जी ने तोते का आह्वान किया—"पंडित मिट्ठूनारायण ब्रह्मात्मा! सेठ जी को गुरु के साथ शनि भी आड़े आ रहा है। बताइए नीलम कि मोती? ब्रह्मात्मा ने निस्पृह भाव से स्थितप्रज्ञ होकर आँखें बंद कर लीं, दीर्घावधि का मौन, मानो रहस्यलोक में भ्रमण कर रहे हों। उस मौन अंतराल में सेठ जी के साथ पंडित जी स्वयं भी अभिभूत थे। रहस्यलोक से ही आवाज़ आयी—"हे पंडित धर्मनारायण यह अधम ब्लैक मार्केटियर है। कोई भी रत्न इसके पापों का क्षय नहीं कर सकता। इसके पाप, रत्नों के सामर्थ्य को पार कर गये हैं।"

पंडित जी और यजमान दोनों ही हक्के-बक्के रह गये। यजमान की दशा तो ऐसी हो गयी कि 'काटो तो ख़ून नहीं।' पंडित जी का मुँह खुला का खुला रह गया। हाथों के तोते उड़ गये। दोनों डर गये, पहला व्यवसाय में संभावित हानि से और दूसरा भविष्य की चिंता से। कुछ देर तक कमरे में अकेलेपन से घिरी मुर्दा शांति के कारण घुटन भरी रही। पंडित जी, तोता और जिज्ञासु सब अकेले पड़ गये। मुर्दा शांति में उबाल सबसे पहले यजमान ही लाया। यजमान ने तोते को और पंडित जी को रोष और घृणा के मिले-जुले भाव से कुछ देर तक घूरा और शरीर को झटका देकर उठ गया। एक मिनट के लिए खड़े होकर उसने इतना ही कहा- "प्रक्षालन के मेरे पास कई रास्ते हैं", दो क़दम चलने के बाद रुककर फिर कहा, "मैं भूलता नहीं हूँ।" और वह जाने लगा।"

पंडित जी उठे और लपककर उसका हाथ पकड़कर बोले—"परम आदरणीय धर्मात्मा बहुत बड़ी ग़लती हो गयी है तोते से। अविद्या के प्रभाव से ऐसा हुआ होगा", पंडित जी ने दोनों हाथों से कान पकड़कर कहा—"क्षमा करें धर्म धुरंधर, आपकी ग्रह दशा निवारण के हमारे पास अनेकानेक सिद्ध उपाय हैं। आप विराजिए तो..."

यजमान ने रोष को त्यागा नहीं। उसने झटके से अपना हाथ छुड़ाकर पंडित जी को जवाब दे दिया और घर के बाहर निकल गया।

यजमान के जाने के बाद पंडित जी ने गुस्से से काँपते हुए तोते का पिंजरा उठाया और पीछे आँगन में पटक दिया। तोता हल्की-सी चीख मारकर, सहम कर चुप हो गया। पंडित जी उसके सामने बैठकर बोलने लगे—"धर्म आड़े नहीं आता, तो तेरे प्राण कब के निकल जाते। तेने लाभ से हज़ार गुना मेरी हानि कर दी है। मुँह दिखाने के क़ाबिल नहीं रखा तेने। मेरी ज़िंदगी भर की पुण्याई तेने धूल में मिला दी। दो-चार दिनों में तुझे ठिकाने लगाता हूँ।" पंडित जी उठे और जाने के पहले सत्यनारायण के कमरे की ओर देखते हुए बोले—"तुझे यह पाठ पढ़ाने वाला कौन है,जानता हूँ। धूर पड़े ऐसी संतान को।"

पंडित जी बाहर निकल गये। सत्यनारायण इस पूरे दौर में अपने कमरे में किताबों को जमाता रहा या चेहरा किताब में गड़ाये रखा। दो दिनों तक तो तीनों नारायणों के बीच अटूट अबोलापन रहा। सत्यनारायण को विछोह का दुःख था। उसकी ख़ुद की ग़लती के कारण ही तोते को घर से बाहर किया जा रहा था। दुख और पश्चाताप के कारण वह दो दिन तक तोते के सामने नहीं गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोते को भी सत्यनारायण, माँ और पंडित जी के स्नेह से वंचित होने का दुख सता रहा था।

सत्यनारायण और तोते में दो दिन बाद बातचीत शुरू हो गयी थी, लेकिन पंडित जी ने दोनों नारायणों को क्षमा नहीं किया। माँ को घर चलाना था, इसलिए वह तीनों के बीच सूत्रधार बनी रही।

चौथे दिन पंडित जी को गृह राज्यमंत्री के घर से बुलावा आया। पंडित जी आँगन में आये, पिंजरा हाथ में उठाया और बोले–"मैंने तो मुझे ख़ूब सहा है, अब तेने मंत्री के घर उल्टा काम किया, बदज़बानी की तो तू जाने। प्राण जाते देर न लगेगी।"

तोते ने निरीह होकर 'माँ' को देखा। सत्यनारायण की माँ भी सब कुछ देख रही थी। तोते के जाने का उसे भी दुख हो रहा था, लेकिन तोते के कारण पति को और अधिक हानि नहीं उठानी पड़े, यह सोच मन मारकर चुप रही। सत्यनारायण कॉलेज गया था। मंत्री के घर पहुँचते ही पंडित जी ने मंत्री को आशीर्वाद के साथ तोता भी भेंट कर दिया। पंडित जी ने स्पष्ट किया कि 'तोता चमत्कारी स्मरण शक्ति से संपन्न है, मनुष्य-भाषा में बात करता है, लेकिन भगवन् इसको नियंत्रण में भी रखना आवश्यक है।"

मंत्री ने खुशी-खुशी तोते को अपने पास रख लिया और पंडित जी के आगे कुछ बड़े नोट भी रख दिये। तोते के हस्तांतरण के बाद पंडित जी ने मंत्री की समस्या सुनी। वहीं चर्चा करते हुए कामना-पूर्ति यज्ञ की योजना बनायी गयी। मंत्री को आश्वस्त कर पंडित जी जाने लगे तो अनायास तोते की ओर नज़रें चली गयीं। तोता भी निःशब्द पंडित जी को देखता रहा। एक पल के लिए पंडित जी तोते की निर्दोषिता और उसकी आँखों की निरीहता से विचलित हुए, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने आवेग पर नियंत्रण किया और बाहर निकल गये।

मंत्री के घर उसके लिए आकार में लंबा-चौड़ा एक सुंदर पिंजरा लाया गया, लेकिन उसके मन में सूनापन साँय-साँय करता रहा। पुराने घर के विछोह का दुख बार-बार गहरा रहा था। लेकिन कोई चारा भी नहीं था।

शाम ढलने के साथ ही मंत्री प्रकट हुआ। लंबा-चौड़ा शरीर, तीखे नाक-नक्श के ऊपर बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा कपाल, गोरे चेहरे के ऊपर लहराते काले बाल। सुदर्शन व्यक्तित्त्व था, लेकिन उसके मुँह से बदबू आ रही थी। मंत्री ने तोते को पिंजरे से निकालकर हथेली पर रखते हुए पूछा–"यहाँ अच्छा लगता है तुझे?"

"हाँ, लेकिन तुम्हारे मुँह से बदबू आ रही है।"

मंत्री को बुरा लगा। विरोधी भी जानते थे कि उसकी आलोचना में जोख़िम है। लेकिन, दूसरे ही क्षण उसको हँसी आ गयी कि एक निरीह प्राणी 'उसे' बता रहा है कि उसके मुँह में बदबू है। मंत्री को उसके चमत्कारी गुण को भी परखना था। उसने उसे पिंजरे में बैठाकर धीमे से कहा–"ठीक है, अब बदबू नहीं आएगी। अब बता अपना नाम?"

"मिट्ठूनारायण।"

"मिट्ठूनारायण, अपना चमत्कार बता।"

"मेरे पास चमत्कार नहीं है।"

"बता, बता, कोई तो होगा?"

"चमत्कार क्या होता है, मैं नहीं जानता।"

पीछे से बोला गया हो।"

"क्या-क्या चीज़ें याद हैं? सुनाओ....

"कई चीज़ें। फ़िल्मी गीत सुनाऊँ?"

"सुनाओ।"

तोते ने एक गाने की दो पंक्तियाँ सुना दीं। तोते का गाना सुन मंत्री को सुखद आश्चर्य हुआ। उसका दिमाग़ तोते के इस गुण का बेहतर ढंग से इस्तेमाल करने के बारे में सोचने लगा।

दूसरे दिन घर की औरतें और बच्चे घूम-फिरकर घर लौट आये, तो सब को तोते के रूप में नया खेल मिला। बच्चे तो अब दिन भर तोते के पास ही लगे रहते और उससे फ़िल्मी गाने सुनते रहते। लगातार गाने से तोते का गला भी दुखने लगता। तोता गाता रहता और सोने के लिए देर रात तक इंतज़ार करता। बच्चों की ज़िद और मंत्री की आवाज़ की तल्ख़ी को याद कर वो सोचता–"मेरे बुरे दिन आ गये।" वह तल्ख़ आवाज़ उसे आशंका के अँधेरों में ले जाती। बड़ और पीपल की खोहों के अंधरों में जहाँ से डरावने अजगर और साँप निकलते और उसकी ओर जीभें लपलपाते। एक ही आदमी था, जिसे वो पसंद करता था और जिसकी उससे कोई माँग नहीं थी, अपेक्षा नहीं थी, आदेश नहीं था, वह था बगीचे का माली। अधेड़ उम्र और मरियल से शरीर को भूलकर बगीचे में खूब मेहनत करता। बढ़ी हुई दाढ़ी और मूँछों के बावजूद वह उसे प्रिय था। वही उसे मीठे जामफल (अमरूद), तेज़ मिर्ची और भीगे चने खिलाता। वही उसके लिए टमाटर, गोभी के पत्ते और तरह-तरह की सब्ज़ी लाता। वह उसकी राह देखता रहता। गोविंद (यही माली का नाम था) ने ही एक दिन उसे बताया था कि मंत्री और उसकी मंडली की बैठकी बगीचे में जमती है, तब उसे बहुत डर लगता है।

"बहुत डरावने लगते हैं?"

"डरावने, खूंखार और भेदीले।"

"बातें क्या करते हैं?"

"उनके पास हथियारबंद लोग जो रहते हैं, देखकर कँपकँपी छूटती है। पास जाने की हिम्मत किसके पास है?"

"छोड़ क्यों नहीं देते इस जगह को?"

पेट का खड्डा भरना पड़ता है भैया, घर में पाँच हैं। अब तो छोड़कर भी नहीं जा सकते।"

"दूसरी जगह चले जाओ, तो कौन रोकेगा?" उसने कह तो दिया, लेकिन फिर सोचा, गोविंद काका चले जाएँ तो वो और अकेला पड़ जाएगा। यह सोच वह सहम गया।

"एक बार इस इलाके में आये तो यहीं रहे। आ जाने के बाद बाहर जाना मना है", तोते ने देखा गोविंद काका की आँखों से डर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झाँक रहा था। तोता हरे पेड़ों की ओर देखने लगा। साँझ के अँधेरे ने हरे पर काले रंग की कूची फेरना शुरू कर दिया था। कालिमा में बीच-बीच में निलाई उभर आयी थी। बगीचे के स्याह पड़ते बदन पर नीले-नीले दाग़ कैसे आ गये? तोता उलझ गया। काका बोलता रहा,

"ये.... माफ़िया और उसके सरदारों का इलाका है। यहाँ से कोई राज़ लेकर जा नहीं सकता। अंदर की कोई बात नहीं जाने देते," धीमी आवाज़ में गोविंद ने कहा।

उस दिन जब गोविंद चला गया और कालिमा पर निलाई फैलती गयी, तो तोता और अकेला पड़ गया। दूसरे दिन संकट सामने आ गया। उस दिन शाम को मंत्री आया और पिंजरा उतारकर अपने सोफ़े के पास की टेबिल पर रख दिया।

"मिट्ठू कल से बगीचे में उड़ने का अभ्यास शुरू करना है, पड़ोस की दूसरी मंज़िल की पिछली खिड़की में गैलरी के दरवाज़े पर बैठना है और जो कुछ सुनायी दे, वह सब बताना है हमे", मंत्री ने आदेश में भारीपन लाते हुए कहा।

"ये घटिया ढंग की जासूसी है।"

"क्या?" मंत्री अवज्ञापूर्ण तर्क से क्षुब्ध। आँखों में लाल डोरे।

"यह आज़ादी में खलल है। दख़ल के खिलाफ़ हूँ मैं, छीः. ..."

"यह दख़ल भी हो, तो हो, लेकिन राजनीति में ज़रूरी है और, तुझे अच्छे-बुरे का पाठ नहीं सिखाना है, जो कहा है, वो करना है।"

"जासूसी में मेरी जान को ख़तरा हो तो....?"

"तेरी जान... तेरी जान...?" मंत्री हो-हो कर, हँसने लगा।"

"अजगर।"

मंत्री हँसते-हँसते रुक गया। पूछा-"क्या कहा?"

"मुझे लगा, खोह में से अजगर निकला है।"

मंत्री इस तरह की भाषा से अपरिचित था। उसने सोचा कि उसे तो अजगर नहीं कह रहा है यह तोता? लेकिन अभी उसे तोते से काम लेना था। बात आगे नहीं बढ़ायी। समझ गया कि इससे काम लेना इतना आसान भी नहीं।

"कहाँ है अजगर? देख, काम की बात कर, तेरे साथ गार्ड रहेंगे। बिल्ली हो या अजगर गार्ड का निशाना खाली नहीं जाएगा।"

उसी वक़्त मंत्री के सामने इज़ाज़त लेकर एक आदमी आया, उसने मंत्री के पैर छुए और हाथ लटकाकर खड़ा हो गया।

"क्या हुआ?"

"वह बचा नहीं। चोट गहरी तो नहीं होना चाहिए थी।"

"ये दो महीने में तीसरा है। बदनाम तो हम होंगे न।"

"सा'ब जी।"

"दिमाग़ से भी काम लो। कल छह बजे वहीं आ जाना। सबसे मिलेंगे वहीं।"

"जी सा'ब जी," पैर छूकर वो आदमी चला, गया तो मंत्री का ध्यान तोते की ओर गया।

"तेरा ये काम ज़रूरी है मिट्ठू... और इधर की कोई बात दूसरे के कान में न जाए", उसने आख़िर के शब्दों को धमकी भरे स्वर में कहा और अंदर चला गया।

बगीचे से एक साथ सामूहिक विलाप उठा।... आँ.... ऊँ. ...आँ...ऊँ... । किसी बंदर का बच्चा मर गया था। बच्चे की लाश के पास कई बंदर एक साथ विलाप कर रहे थे।"

दूसरे दिन से तोता बगीचे में ही गार्ड की देख-रेख में उड़ने लगा। गार्ड इधर-उधर चला जाता तो गोविंद उसके साथ रहता। एक दिन उसने गोविंद से कहा—"काका डर लग रहा है।"

"डर किस बात का है तुझे?"

"ये, जो पास का बंगला है न... मैं जब भी उधर उड़ने लगता हूँ....पेड़ हहरा कर सांय-सांय बोलने लगते हैं। चिड़ियाएँ गाना बंद कर देती हैं और टीईऽऽ की ऐसी आवाज़ों में चीखती हैं कि मैं सहम जाता हूँ और लौट आता हूँ।"

"असल में ये भाखी को भाखते हैं। ये तेरी और उनकी जान पर छाये काले बादल जानते हैं।

"तो फिर क्या करूँ?"

सांय-सांय की आवाज़ें गहराने लगी थीं। गोविंद ने इधर-उधर देखा। आसपास कोई नहीं था। गोविंद ने तोते के कान में कहा—यहाँ से दूर-दूर निकल जाओ। बगीचों में उड़ते-उड़ते पीछे की तरफ़ उड़ जाओ। उड़ते जाओ।"

तोता आँख फाड़कर सुनता रहा। रास्ता था, लेकिन मुश्किलों भरा।

"पकड़ा जाऊँगा?"

"तुम पकड़ाये हुए तो हो। पकड़ाया हुआ है कोई, उसे कौन पकड़ेगा। पकड़ाया हुआ आज़ाद ही हो सकता है। दूर उड़ जाओ", गोविंद ने आख़िरी बार मीठे अमरूद के टुकड़े खिलाये, पुचकारा और चला गया।

गार्ड ड्यूटी पर आ गया था। तोता उड़ता रहा, पेड़ों के पास जाकर फुसफुसाता रहा। उदासी से भरी शाम थी और बरसाती बादल उदासी को गहरा रहे थे। गार्ड बगीचे में एक तरफ़ बैठा सुस्ता रहा था। तोता एक पेड़ से दूसरे पर उड़ते-उड़ते बगीचे के पीछे की ओर निकल गया। तोते ने आख़िरी बार पेड़ों को देखा चिड़ियों और टिटहरियों से गुपचुप बात की और दीवाल के दूसरी ओर सड़क के किनारे पेड़ पर... वहाँ से आगे और आगे... तोता पेड़ों को पार करता जा रहा था, इलाकों को पार करता जा रहा था। वह ख़तरे उठाता हुआ खुलेपन को महसूस रहा था। तभी सायरन बजने लगे। जीपें और कारें दौड़ने लगीं। पेड़ों पर सर्चलाइट से देखा जाने लगा। तोता एक घने पेड़ पर छिपा रहा। पेड़ पर पक्षियों का अच्छा-ख़ासा डेरा था। सबने तोते को देखा और सतर्क चुप्पी भरे स्वागत में सोये रहे।...

रंगीन चौंधियाते उजाले में धुँधले आकार थे
विस्फोट की तरह बज रहे थे बाजे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग ठहाकों में बदल रहे
लेकिन चकाचौंध के जाले के बाहर भी
उस उजाले से बेख़बर लोग भी थे
अँधेरा था, झींगुरों के मद्धिम संगीत में
चंद्र की रोशनी, जादू बिखेर रही थी धरती पर
और, गा रहे लोगों के चेहरे बहुत साफ़ दिख रहे।

शहर के किनारे की उस कच्ची बस्ती की उस छोटी-सी झोंपड़ी में सुबह-सुबह मेंहदी रंग का फ्रॉक पहने, बिखरे बालों वाली दुबली-पतली, गोरी-गट लड़की दाख़िल होती है और अपनी माँ को चकित करते हुए अपने झोले से एक तोता बाहर निकालती है। लड़की के चेहरे पर ज़िंदगी लहालोट है।

"कहाँ से लायी है इसे?" माँ के चेहरे पर अचरज था।

-"कोठी के गेट के पीछे से। मैं बीन रही थी कि यह उड़ते-उड़ते सीधे मेरे कंधे पर बैठ गया", लड़की ने तोते को माँ के हाथों में दे दिया और थिरक-थिरक कर कहने लगी, "आते ही बोला, 'मुझे छिपा ले लड़की और जल्दी भाग यहाँ से।' फिर मैं ले आयी। माँ इसे साथ रखेंगे।"

"अच्छा ये इत्ता बोलता है! लेकिन ये भागा हुआ दिखता है। ऐसे और किसी का तोता कैसे रख लें। क्यो रे, कहाँ से आया है भागकर?" तोते को माँ के गर्म हाथों से सेकी हुई रोटी की गंध आ रही थी। लड़की के ठंडे हाथों से माँ के हाथ ज़्यादा राहत पहुँचा रहे थे।

-"मैं मंत्री के बंगले से आया हूँ भागकर। मंत्री पड़ोस के बंगले में जासूसी करने को कह रहे थे। वहाँ से बातें सुनकर मंत्री को बताना था। वे सब ख़तरनाक और गंदे है," तोते ने एक साँस में अपना दुखड़ा बता दिया। माँ और लड़की चुपचाप तोते को देखते रहे।

"माँ कित्ता प्यारा है ये मिट्ठू। हरे पंखों पे लाल-लाल फूल और गर्दन पर लाल सुंदर माला", लड़की ने चुप्पी तोड़ी। एक तो वह ज़्यादा देर चुप रहा ही नहीं सकती थी, दूसरे उसे बंगले वाली बात को ख़त्म करना था। माँ को भी तोता सुंदर लगा था। उसके हरे पंखों पर लाल रंग के फूल जैसे आकार उभर आये थे और गले में भी लाल रंग आ गया था। चोंच पहले से ही लाल थी। इस तरह तोता हरेपन और ललाई में नहाया था और अपनी चमकीली सफेद आँखों से अपनी सुंदरता को और सुंदरता से मोहित माँ-बेटी को देखकर, वर्षों बाद गर्व का अनुभव कर रहा था।

"माँ, इसका मालिक बहुत गंदा था। बहुत ख़राब। इसने अच्छा ही किया न?"

"अच्छा पलटन, इसको रख थोड़े दिन। हमेशा तो रख नहीं सकते। हम दोनों दिन भर बाहर रहेंगे और ये घर में अकेला।"

"इसके लिए एक पिंजरा ले आएँगे हम," लड़की मनुहार में माँ से लिपट गयी।

"देख मीना (यही लड़की का नाम था), पिंजरा ले आऊँगी, लेकिन अपना ये घर आलीशान है, कोई भी बिल्ला-बिल्ली छेद-छाद कर, तोड़-फोड़कर, अंदर आ जाए तो? पंछी तो आजाद रहते हैं, कुदरत ने इन्हें आज़ाद बनाया है," माँ ने एक कटोरी में पानी और रोटी के टुकड़े गलाकर रख दिये तोते के सामने। फिर उसने घर के एक-एक कोने को खँगालकर हरी मिर्च का एक टुकड़ा भी तोते के सामने रख दिया और तोते से कहा- "ले थोड़ा खा ले। यहाँ तो यही मिलेगा। शाम को बाज़ार से कोई जामफल दिखा, तो ले आऊँगी।"

तोते ने सुना और थोड़ा पानी पीकर माँ-बेटी की बाते सुनने लगा। आज़ाद होने, नया घर मिलने और आशंका तथा ख़ुशी के मिले-जुले भावों के बीच वह बह रहा था, उसने खाया नहीं।

"मैं रोज़ इसे पहाड़ी पर ले जाऊँगी और उड़ना सिखाऊँगी। यह ख़ूब अच्छा सीख जाएगा, तब इसे हम जंगल में छोड़ देंगे।"

"मीना को मालूम था कि तोता बहुत देर तक और बहुत दूर तक उड़ नहीं सकता। तोते ने मीना को रास्ते में ही बताया था कि वो ज़रा-सी दूरी पार करने में ही थककर चूर हो गया है।" माँ के काम पर निकल जाने के बाद मीना तोते को पहाड़ी के बारे में बताने लगी। ढेर-सी बातें। लंबी चोंच और तीर की तरह सीधी पूँछ वाली काली, चमकीली चिड़िया के बारे में, मोर और मोर पंखों के खजाने के बारे में, हिरणों और खरगोशों के बारे में और भारद्वाज, जो उसके पास जाते ही उड़ जाता। तोते ने जंगल में बहती नदियों और उनमें तैरती बत्तखों के बारे में बताया। वह पक्षियों और जानवरों के बारे में बताता कि अचानक उसे बहेलिये और बंदूक

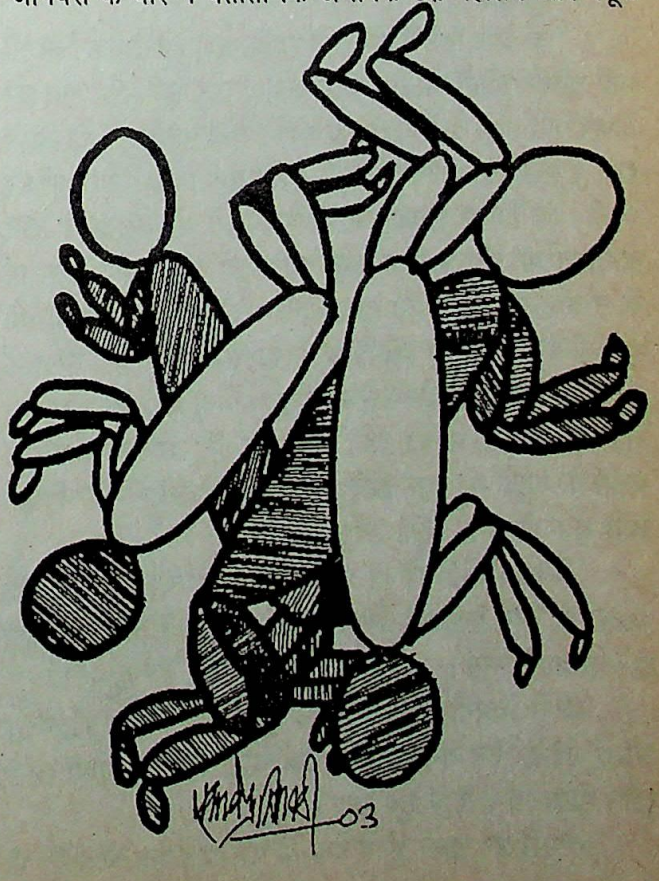

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले शिकारी याद आ गये। थोड़ी देर के लिए वह और मीना उदास हो गये। तोते ने फिर बात बदली। उसने मीना को अपनी दोस्त चिड़ियों और गिलहरियों के बारे में बताया। वो और बताता लेकिन उसे भूख लगने लगी। मीना के भोलेपन और उसकी मोहब्बत ने अतीत की सारी आवभगत और शानो शौकत भुला दी थी, फिर भी भूख तो भूख है। उसने रोटी के कुछ टुकड़े खाये, तो उसे रोटी में बड़ा स्वाद आया। उसने मीना से कहा—"मेरा मुँह मिठास से भर गया। ऐसी रोटी तेरे घर खायी।"

ये... ये मेरी माँ के हाथ की चूल्हे पर सिकी हुई रोटी है," मीना चहक कर बोली। मीना आज काम पर नहीं गयी थी। तोते का पिंजरे के बग़ैर घर में अकेले होना तो कारण था ही, अंदरूनी और असली कारण था मीना का मन। मन में हिलोरें उठ रही थीं। चाह—तोते के पास रहने की, उससे लगातार बातें करने की। पक्की बातूनी थी। रोटी खाते समय, कुल्ला करते समय, मुँह धोते समय. ... हर समय। मीना तोते को उड़ने का कार्यक्रम समझाने लगी। फिर ज़िद पर आ गयी।

"मैं तुझे उड़ना तब ही सिखाऊँगी, जब मेरी एक बात मानेगा।"

"बता।"

"जंगल में जाने के बाद तुझे रोज़ मुझसे मिलने आना पड़ेगा।"

"रोज़ आना तो मुश्किल है। एक महीने में एक बार।"

"नहीं, चल, पाँच दिन में एक बार..."

"मुश्किल है।"

"तो आठ दिन में तो आना ही आना है। अब एक दिन भी नहीं बढ़ेगा। बातों-बातों में शाम कब गुज़रने लगी और रात की आहटें पास आने लगीं, पता नहीं चला। अचानक धुंधली रोशनी में हाथ में लोहे की पत्तियों का बना एक पुराना पिंजरा लेकर माँ घर आयी। वो पिंजरा उसके अतीत के पिंजरों की तुलना में अति साधारण था, लेकिन तोता एक विजेता की तरह संतोष और गर्व के साथ उसके अंदर चला गया, मानो अपने विश्रामगृह में जा रहा हो। मीना के साथ तो उसे पिंजरे के बाहर ही रहना था। मीना के काम पर जाने पर ही वो पिंजरे में जाएगा। मीना भी पिंजरे को पाकर ख़ुश थी। लेकिन, माँ का चेहरा निचुड़े हुए नींबू की तरह धँसा था। बस्ती के गड्ढों की तरह पिचके गाल मुँह खोलते ही और पिचक जाते थे। आँखों से चिंता टपक रही थी।

-वे लोग तोते को हर जगह तलाश रहे हैं। ज़िंदा या मुर्दा पकड़ने के लिए ऐलान है, कि जिस घर से तोता निकले, उसे फूँक दो—घरवालों समेत।

माँ ने चिमनी जलायी लेकिन इस खबर के बाद बाहर का अँधेरा उदास मौन बनकर अंदर फैल गया। देर तक चुप्पी छायी रही। तोता माँ-बेटी में डूब गया।

-"मुझे उन लोगों को दे देना या मुझे छोड़ देना, मैं कहीं भी चला जाऊँगा। नहीं तो वे तुम दोनों को मार डालेंगे। और तुम दोनों..." तोते की आँख में कृतज्ञता के आँसू तैर रहे थे। तोते के लिए विदा का क्षण आ गया था। मीना दौड़कर पिंजरे के पास पहुँची और तोते को पिंजरे से बाहर निकाल गले से लगा कर रोने लगी।

तुझे हम छोड़ेंगे नहीं", मीना ने कहा।

"कोई फ़ायदा नहीं। तुम दोनों को भी मरना पड़ेगा, मैं यहाँ दिखा तो।"

"अभी नहीं छोड़ेंगे। वे बस्ती में आएँगे तब पीछे के प्लास्टिक को हटाकर पिछवाड़े-पिछवाड़े उड़ा देंगे। बस्ती में पिछवाड़े की झाड़ियों में छिपकर बैठ जाना। वे लोग बस्ती से निकल जाएँगे, फिर हम तुझे ले आएँगे घर में—माँ ने रास्ता निकाला। मीना आश्वस्त हुई और उम्मीद लेकर सो गयी।

माँ एक नींद नहीं सो पायी। बीच में जागती, दरवाज़ा खोल बस्ती की हलचल की थाह लेती और दरवाज़ा बंदकर फिर सो जाती। तोता भी बेचैनी में देर रात तक सोया नहीं था। धीरे- धीरे वो भी ऊँघने लगा। और, जब अँधेरा दोस्त की तरह विदा ले रहा था, पूरब में ललाई दस्तक दे रही थी, चेहरे स्पष्ट नहीं दिख रहे थे, परछाइयाँ डोल रही थीं—तभी, बस्ती में हलचल शुरू हुई। माँ, मीना और तोता—तीनों एक साथ जागे। मीना तोते को साथ लेकर बाहर के अँधेरे में ग़ायब हो गयी और माँ देखती रही। मीना ने जाते-जाते कहा था कि माँ इसे बस्ती के पिछवाड़े झाड़ियों में छिपा आऊँगी। और, माँ देखती रही। क्या माँ का मन भी मीना के साथ जा रहा था? बस्ती में सायरन बजाती गाड़ियाँ दौड़ने लगी थीं। काँपती हवा मे बंदूकों की आवाज़ें और पेड़ों पर बैठे पक्षियों की एक साथ चीख़ें। माँ भय से काँपते हुए दरवाज़े पर खड़ी थी।" पल भर बाद ही माँ मीना के पीछे दौड़ी। पीछे की गली में दौड़ते हुए माँ ने एक बार फिर बंदूक की धाँय सुनी। एक बेधती चीख़.....मर्मांतक। किसकी है वो चीख़—इस ख़्याल में माँ हाँफने लगी और रास्ते में ही गश खाकर गिर पड़ी।

95-ए, बृजेश्वरी एनेक्स, बंगाली चौराहे के पास, इंदौर-452016(म.प्र.)

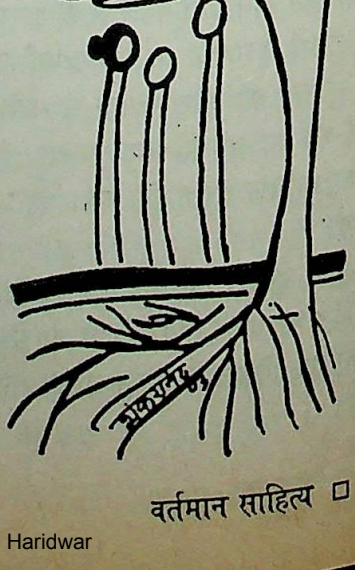

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोरबंदर

सुरेश सेन 'निशांत'

...क्या सोचते हैं
...दर के बारे में
...अभी भी वहाँ
...ही उतरता होगा क्या
...पाँव
...ती बच्चे सा
...हिस्ता-आहिस्ता अपने क़दम धरता।

...क्या सोचते हैं
...दर के बारे में
...अभी भी वहाँ क्या
...ही कौतुहल से खोलते होंगे
...की नमी में अपनी आँखें।

...ही
...ही प्यार से
...कारती होगी क्या उन्हें
...माई किरणें।

...ही एकाग्रता से
...होंगे परिन्दे
...अभी भी अपना गान।

...लियों में
...शहर में
...सुबह के निकले
...लोग
...ही नहीं घर
...हो गया उन्हें गुम हुए।

...उसी तरह
...ही बेतकल्लुफी से
...होगी नसीमा अपने स्कूल
...पिता की उंगली थामे

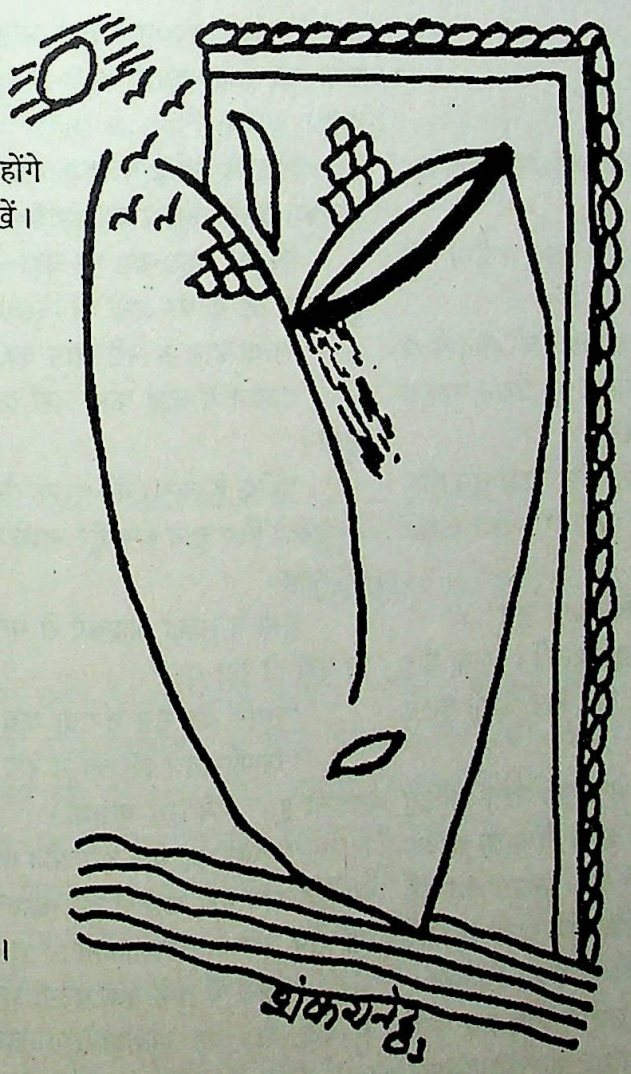

क्या उतने ही उत्सुकता से
ठक-ठकाता होगा वह इकवाल मिस्त्री
अपने जले घर का दरवाजा
उस नुकसान घर की ढही भीत को
वैसे ही उतने उत्साह से
लाँघ पाता होगा क्या।

मेरे घर से तो
बहुत दूर है पोरबंदर
पर बहुत नज़दीक है
वह तपिश
जिसमें जले हैं मानवीय रिश्ते।

पोरबंदर !
वही पोरबंदर
जहाँ बापू पैदा हुए थे
तीसरी कक्षा से ही रटाते आ रहे हैं
मेरे बुजुर्ग अध्यापक
जिस पोरबंदर का नाम
हाँ ! उसी पोरबंदर के बारे में
क्या सोचते हैं आप ?

द्वारा श्री कुलदीप सिंह सेन
गांव-सलाह, डा0 सुन्दर नगर-1,
जिला-मण्डी (हि0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छुट्टी

सुशान्त सुप्रिय

कई घंटे जागने के बाद रात जैसे थक कर सो गई थी। खिड़की के बाहर पूर्वी क्षितिज पर अब उजाले का शिशु उछल कूद करने लगा था। खिड़की में से सुबह की ताज़ा हवा के झोंके अंदर आ रहे थे।

मेरी आंख आज जल्दी खुल गई थी।

मैंने बगल में देखा।

सुमी बिस्तर पर अलसायी पडी थी।

बगल में पांच साल का बेटा पुलक भी चैन की नींद से सो रहा था।

मैंने घड़ी पर निगाह डाली।

सुबह के साढ़े पांच बज रहे थे।

मुझे थोड़ी हैरानी हुई। हर रोज तो सुमी इस समय तक खुद ही उठ जाती थी।

सुमी को हिला कर मैंने प्यार से कहा– जान, उठोगी नहीं क्या? पुलक को स्कूल भेजना हैं। देर हो रही हैं।

सुमी शायद कोई मीठा सपना देख रही थी। वह नींद में ही कुनमुनाई। फिर अपनी अलसायी आंखें खोलते हुए उसने मुस्करा कर कहा, आज मैं कोई काम नहीं करूंगी।

मैं चिंतित हुआ। क्यों? क्या तबीयत ठीक नहीं तुम्हारी?

"नहीं नहीं। मैं बिल्कुल ठीक हूं।" सुमी ने उनींदी आंखों से कहा।

"तो फिर ऐसी क्या बात हो गई कि आज तुम...।"

"बस ऐसे ही। आज मैं कोई काम नहीं करूंगी।" सुमी नींद और जागने की सीमा-रेखा पर पड़ी बोली, और फिर उसने दूसरी ओर करवट ले ली।

मुझे गुस्सा आ गया। सुबह नौ बजे मेरी एक जरूरी मीटिंग थी। गुस्से में मैं सुमी से कुछ उल्टा-सीधा कहने ही वाला था कि अचानक स्मृति के मंच से कोई झीना पर्दा जैसे सरसरा कर उठ गया। मुझे अपने बचपन की एक घटना साफ-साफ याद आ गई। ऐसा लगा जैसे यह कल की बात हो। और मैं संयत हो गया।

मुस्करा कर मैंने पुलक को उठाया। उसे एक गिलास पानी पिलाया ताकि उसे खुल कर पौटी आ जाए। रोज यह काम उसकी मम्मी करती थी। फिर मैने बेटे को ब्रश करवाया और उसे बाथरूम में नहलाने ले गया।

"पापा आज मम्मी क्यों नही उठी हैं? आप मम्मी को जगाइए न।" बेटे ने कहा।

"बेटा, आज मम्मी को सोने दो।" मैं बोला। ("आज अपने राजा बेटा को पापा तैयार करके स्कूल भेजेंगे।" यह सुन कर बेटा खुश हो गया।)

बेटे को नहला कर मैंने उसे स्कूल-ड्रेस पहनाई। फिर मैं दूध गरम करके कटोरी में ले आया। उसमें कॉर्न-फ्लेक्स डाले और बेटे को खिलाने लगा।

"पापा, आज मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। ये...। आज मैं पापा मुझे तैयार करके स्कूल भेज रहे हैं।" पुलक ने चहक कर कहा।

फिर मैं रसोई में गया और बेटे के टिफिन के लिए मैंने फटाफट पनीर-टमाटर के सैंडविच बना कर पैक कर दिए।

बेटे को स्कूल-बस पर चढ़ा कर जब मैं वापस घर लौटा तो सुमी जग गई थी पर अभी भी बिस्तर पर अलसाई-सी पड़ी हुई थी।

"क्या हाल है मेरी जान का?" मैने मुस्करा कर कहा।

"आज मैं कोई काम नहीं करूंगी।" सुमी अंगड़ाई ले कर बोली।

"ठीक है जान। मैंने पुलक को तैयार करके स्कूल भेज दिया है। तुम्हारे लिए चाय बना दूँ? नाश्ते में क्या लोगी? ब्रेड-ऑमलेट?" मैंने पूछा।

सुमी ने सुखद आश्चर्य से मेरी ओर देखा। उसे जैसे यकीन ही नहीं हो रहा था।

"तुमने यह सब बनाना कब सीखा?"

"काफी साल हॉस्टल में रहा हूँ। और भी बहुत कुछ बना सकता हूं।" मैनें उसे बताया।

"अच्छा एक बात बताओ। मेरे इस तरह कहने पर कि आज मैं कोई काम नहीं करूंगी, तुम नाराज क्यों नहीं हुए? मुझे तो लगा था, तुम मुझ पर चिल्लाओगे।" सुमी बोली।

"जान, मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूं जो मेरे घर में बचपन में घटी थी। यह वाकया सुन कर तुम खुद सब कुछ समझ जाओगी।" मैंने कहा।

बात तब की है जब मैं पांच-छह साल का था। मैंने बोलना शुरू किया। एक सुबह पिताजी उठे तो उन्होंने पाया कि मेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके भी उनके बगल में सो रही थी। मैं भी मां से चिपक कर सो रही थी।

पिताजी को हैरानी हुई। रोज तो मां सबसे पहले उठ कर स्नान कर लेती थीं। फिर चबूतरे पर उगी तुलसी पर जल चढ़ाती थीं। फिर उगते सूर्य को जल का अर्ध्य दे कर पूजा करने के बाद रसोई में पिताजी के लिए चाय बना कर लाती थीं। और तब स्कूल जाने के लिए वह मुझे उठाती थीं।

लेकिन उस दिन सूरज निकले हुए भी बहुत देर हो चुकी थी। मां अब भी बिस्तर पर सोई पड़ी थीं। पिताजी को चिंता हुई। उन्होंने मां को जगा कर पूछा कि क्या उनकी तबीयत ठीक नहीं थी। जब पिताजी मां को जगा रहे थे तभी मेरी नींद भी टूट गई।

"माँ ने कहा कि उनकी तबीयत तो ठीक थी पर उस दिन वे कोई काम नहीं करेंगी। यह सुनकर पिताजी के हैरानी की सीमा नहीं रही। उन्होंने मां से इसका कारण जानना चाहा। तब मां बोली आज मेरी छुट्टी है। यह सुनकर पिताजी को गुस्सा आ गया। वे बोले इसका क्या मतलब है? तब मां ने जो कहा, वे सारी बातें मुझे आज भी याद हैं।

माँ बोली, आप हफ़्ते में छह दिन ऑफिस जाते हैं। उसके बाद एक दिन आपकी भी छुट्टी होती हैं। बेटा हफ्ते में पांच दिन स्कूल जाता है। फिर दो दिन उसकी भी छुट्टी होती है। पर मैं तो हफ़्ते के सातों दिन, महीने में तीस इकतीस दिन, साल में तीन सौ पैंसठ दिन लगातार काम करती रहती हूं। मुझे भी तो कभी घर के काम-काज से छुट्टी चाहिए।

यह सुन कर पिताजी हंस कर बोले- तुम कोई नौकरी थोड़े ही करती हो। तुम तो हाउस वाइफ हो। तुम्हारी कैसी छुट्टी?

तब मां ने दृढता से कहा, यह घर ही मेरा ऑफिस है। इस घर के काम काज करना ही मेरी नौकरी हैं।

मैं अगर हाउस वाइफ हूं तो क्या मेरा दिल कभी आराम करने को नहीं कर सकता? क्या मैं कभी नहीं थक सकती? क्या मुझे कभी हर दिन के काम काज से छुट्टी नहीं मिल सकती?

पिताजी अवाक् रह गए। उन्होंने ऐसी दलील पहले कभी नहीं सुनी होगी। पर मां की बात में दम था। मां भी इंसान थी। हालांकि मैं तब केवल पांच-छह साल का ही था पर मुझे अपनी मां की बात सुन कर उनसे सहानुभूति हुई।

उस दिन पिताजी ने मां को समझाने बुझाने की बहुत कोशिश की। पर मां टस से मस नहीं हुई। पिताजी के नाराज हो जाने के बाद भी माँ ने उस दिन कोई काम नहीं किया। उस दिन मां की छुट्टी थी। इतनी बात कह कर मैं मुस्कराया।

मैंने कहीं पढ़ा था बुद्धिमान लोग अपने अनुभवों से सीखते हैं। जो अधिक बुद्धिमान होते हैं, वे दूसरों के अनुभवों से सीखते हैं।

यह सारी घटना सुन कर सुमी ने बिस्तर से उठकर मुझे चूम लिया और मैं रसोई में हम दोनों के लिए चाय नाश्ता बनाने के लिए चल पड़ा।

द्वारा- श्री एच0बी0 सिन्हा

5174, श्यामलाल बिल्डिंग, बसंत रोड, नई दिल्ली-110055

दुष्यंत कुमार पर डाक टिकट

हिन्दी ग़ज़लकार कवि-लेखक दुष्यंत कुमार पर भारत सरकार द्वारा विशेष यादगार डाक टिकट भोपाल में 27 सितंबर-2009 को सप्रे संग्रहालय में मध्य प्रदेश के राज्यपाल महामहिम रामेश्वर ठाकुर द्वारा जारी किया जायेगा। दुष्यंत कुमार की पत्नी श्रीमती राजेश्वरी दुष्यंत कुमार इसे ग्रहण करेंगी। इस अवसर पर डा0 धनंजय वर्मा, पूर्व उपकुलपति, सागर विश्वविद्यालय सागर एवं वागर्थ के संपादक डा0 विजय बहादुर सिंह विशेष रूप से उपस्थित रहेंगे। इस टिकट का मूल्य पाँच रुपया होगा।

दुष्यंत कुमार पर डाक टिकट का प्रस्ताव वर्ष 2006 में 'वर्तमान साहित्य' के प्रबंध संपादक एवं सिने-समीक्षक श्री राजीव श्रीवास्तव द्वारा किया गया था। वर्ष-2008 में 'वर्तमान साहित्य' का एक विशेषांक दुष्यंत कुमार पर केंद्रित किया गया था।

'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से इस अवसर पर हार्दिक शुभकामनाएँ !

संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास के एक विस्मृत अध्याय की वापसी : 'फॉरवर्ड ब्लॉक'

अतुल कुमार

इतिहास में घटी कोई सामान्य सी ऐसी घटना, जिस पर उस समय हमारा ध्यान नहीं जाता, कितनी महत्वपूर्ण हो सकती हैं, इसका अहसास हमें बाद में ही होता है। लेकिन तब तक समय बीत चुका होता है और हमारे सामने उस घटना के बारे में संस्मरण सुन-पढ़कर या अपने मन-मस्तिष्क की कल्पना की उड़ानों से स्पर्श करने के अलावा कोई अन्य तरीका नहीं रह जाता है कि उस घटना के बारे में हम जानें और समझें। लेकिन उन्हीं घटनाओं में कई चीजें ऐसी भी होती हैं जो कालांतर में हमारे सामने आश्चर्यजनक रूप से आ जाती हैं और वह क्षण किसी अजूबी घटना के समान विस्मयकारी होता है। यह हमारे मन में रोमांच का संचार करती है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अमर सेनानी सुभाषचंद्र बोस की एक ऐसी ही थाती पूरे 70 वर्षों बाद देश और दुनिया के सामने आ जाने का अनुभव भी इसी तरह से रोमांचकारी है। खासकर आज़ादी की बाद वाली पीढ़ियों के लिए, जो सुभाष को नाम और उनके करिश्माई कारनामों के कारण ही जानती है। सुभाष बाबू की वह थाती है उनके संपादन में प्रकाशित साप्ताहिक पत्रिका 'फारवर्ड ब्लॉक'।

इतिहास के पन्नों में झाँकने पर पता चलता है कि 1939 में त्रिपुरी काँग्रेस में गांधी जी के विरोध के बावजूद सुभाष ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद का चुनाव जीता। लेकिन इसके बाद कांग्रेस के अंदर कलह इस कदर बढ़ी और सुभाष और उनके अध्यक्षीय कामकाज़ पर पार्टी के अन्य नेताओं का दबाव और हस्तक्षेप इतना बढ़ने लगा कि उनके लिए संगठन का कामकाज आगे जारी रखना भी मुश्किल हो गया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से उसी सम्मेलन में गोविंद वल्लभ पंत द्वारा एक प्रस्ताव यह भी लाया गया कि पार्टी के प्रेसिडेंट गांधी जी से पूछे बिना अपनी कार्यकारिणी का गठन नहीं कर पाएँगे। इस प्रकरण का आश्चर्यजनक पहलू यह रहा कि जिन कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों ने कांग्रेस के दक्षिणपंथियों के खिलाफ राष्ट्रपति (आज़ादी के पहले कांग्रेस अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था) के चुनाव में सुभाष का साथ दिया था, उन्हीं में से कम्युनिस्टों ने इस बाद वाले प्रस्ताव के पक्ष में वोट देकर सुभाष बोस का हाथ बाँधने में मदद की। सोशलिस्टों ने इस प्रस्ताव पर मतदान का बहिष्कार कर पार्टी में सुभाष विरोधियों की ही एक तरह से मदद की थी।

इसके बाद जो घटनाएँ घटित हुईं उनमें सुभाष का गांधी से मतभेद बढ़ता गया और कांग्रेस में गांधी समर्थकों की बड़ी संख्या के कारण बाद में सुभाष पर पार्टी विरोधी गतिविधियों का आरोप लगाकर उन्हें कांग्रेस से निष्कासित कर दिया गया। इसके बाद उन्होंने अपनी अलग पार्टी फॉरवर्ड ब्लॉक नाम से गठित की। यह पार्टी द्वितीय विश्वयुद्ध में सीधे हस्तक्षेप करते हुए अंग्रेज़ों के खिलाफ़ सीधा मोर्चा खोलने के पक्ष में थी। लेकिन तब तक न तो गांधी और न ही कांग्रेस इसके लिए तैयार हो पाए थे। हालाँकि 1942 में गांधी जी को भी इस रणनीति को अपनाकर अंग्रेज़ों के खिलाफ़ सीधा मोर्चा खोलना पड़ा था और 'भारत छोड़ो आंदोलन' शुरू करना पड़ा था। लेकिन तब काफी देर हो चुकी थी और कम्युनिस्ट मास्को का रुख भाँप एक बार फिर पलटी मार चुके थे। कम्युनिस्टों ने हिटलर द्वारा सोवियत संघ पर हमले के कारण ब्रिटेन का साथ देना उचित समझा था, जो रुस के साथ था और हिटलर के खिलाफ लड़ रहा था। लेकिन सुभाष बोस उससे पहले ही 1941 में भारत छोड़ जर्मनी होते हुए जापान पहुँच चुके थे और आज़ाद हिन्द फौज का गठन कर वह वहाँ से दिल्ली के लिए कूच कर चुके थे।

सुभाष के कांग्रेस से अलग होने और फिर भारत छोड़ने के बीच भी अनेक घटनाएँ घटी थीं और उन्हीं में से एक था 'फॉरवर्ड ब्लॉक' नाम से साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन, जिसमें भारत की भविष्य की तस्वीरें उकेरी जा रही थीं। इस पत्रिका में आज़ाद होने के बाद भारत के पुनर्निर्माण की रणनीति, उसमें चलने वाली किसान, मजदूर, अर्थ, उद्योग, समाज, राजनीति आदि के बारे में विभिन्न नेताओं और विचारकों के लेख प्रकाशित हुए थे और आज़ादी की लड़ाई की अपनी रूपरेखा भी निरूपित की जा रही थीं। जाहिर है यह पत्रिका ब्रिटिश शासकों की आँखों में खटकने लगी। फॉरवर्ड ब्लॉक के इन ऐतिहासिक अंकों को सहेजकर फेसिमाइल रूप में पुनर्प्रकाशित किया है कोलकाता के लोकमत प्रकाशन ने। इसकी प्रस्तावना लिखी है फॉरवर्ड ब्लॉक पार्टी की पश्चिम बंगाल इकाई के महासचिव 82 वर्षीय अशोक घोष ने। श्री घोष ने ही इस पत्रिका के अंको को संग्रहीत किया और उसे व्यवस्थित कर प्रकाशित कराया है।

घोष की प्रस्तावना के अनुसार, सुभाषचन्द्र बोस के संपादन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टी के मुखपत्र के रूप में साप्ताहिक फॉरवर्ड ब्लॉक पत्रिका का पहला अंक 5 अगस्त 1939 को निकला और यह 1 जून 1940 तक लगातार चला। लेकिन सुभाष के भारत छोड़ने और द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान-जर्मनी की ओर से लड़ाई में हिस्सा लेने के कारण ब्रिटिश सरकार ने उन्हें देशद्रोही करार दे दिया और इस पत्रिका की देश में उपलब्ध सभी प्रतियों को जब्त कर उन्हें नष्ट कर दिया। इस तरह अंग्रेज़ों की नज़र में भारत से सुभाष बोस के साथ ही उनकी इस पत्रिका का भी सफाया हो गया। 1 जून 1940 के बाद फॉरवर्ड ब्लॉक का प्रकाशन 3 अगस्त 1940 तक बंद रहा। 9 अगस्त को इसका अगला अंक निकला। घोष ने इसे फॉरवर्ड ब्लॉक का दूसरा संस्करण कहा है। अब तक प्रकाशित हो रहे फॉरवर्ड ब्लॉक के पहले पृष्ठ पर संपादक के रूप में सुभाष चन्द्र बोस का नाम प्रकाशित होता था लेकिन दूसरे संस्करण के 1 से लेकर 8 अंक तक संपादक के रूप में शांति रंजन चटर्जी का नाम छपा। घोष लिखते हैं कि यह वही शांति रंजन थे जो सुभाष से मिलने काबुल कुछ समय के बाद गये थे, जब 17 जनवरी 1941 को सुभाष बाबू अंग्रेज़ों की नज़र से छिपकर भारत से निकल गये और काबुल पहुँचे थे। वहाँ से शांति रंजन चटर्जी नेताजी द्वारा लिखित दस्तावेज 'काबुल थिसिस' लेकर भारत वापस लौटे थे। इस थिसिस का शीर्षक था, 'द जस्टिफिकेशन ऑफ फॉरवर्ड ब्लॉक'। इसमें तात्कालिक राजनीतिक और दार्शनिक नोट लिखे गये थे। फॉरवर्ड ब्लॉक के अंक 9 पर संपादक के रूप में लाला रॉय का नाम छपा और सुभाष का नाम यहाँ संस्थापक के रूप में प्रकाशित हुआ। लेकिन दुर्भाग्य से 3 अगस्त 1940 से बाद का अंक श्री घोष को कहीं उपलब्ध नहीं हो सका।

इतिहास में कुछ ऐसी चीजें होती हैं जिन्हें एक खास बिंदु पर हम अपने स्तर से समाप्त मान लेते हैं, लेकिन असल में वह उस घटना का प्रस्थान बिंदु होता है। दमनात्मक कार्रवाइयों से जनांदोलन और मजबूत होते हैं। जो चीजें एक बार अस्तित्व में आ जाती हैं, उसे प्रकृति से नष्ट करना मुश्किल है। यही बात सत्ता के मद में चूर लोग समझ नहीं पाते हैं। अंग्रेज भी इसे नहीं समझ पाए। फॉरवर्ड ब्लॉक पत्रिका सरकारी संस्थानों, सार्वजनिक पुस्तकालयों और बुक स्टॉलों, विभिन्न पार्टियों के दफ़्तरों से नष्ट हो गयी लेकिन लोक मानस में तो वह स्थापित हो चुकी थी।

घोष ने लिखा है कि उन्होंने इस पत्रिका के अंकों को एकत्रित करना शुरू किया। ये अंक देश में कहीं नहीं थे लेकिन विदेशों में उसी समय वितरित हुए अंक मिले। 1998-99 में नेताजी जन्म शताब्दी के दौरान उन्होंने इसे पुनः प्रकाशित करने का प्रयास शुरू कर दिया। लेकिन जब उन्होंने इसे क्रमबद्ध किया तो पता चला कि इसमें से कई अंक अनुपलब्ध हैं। घोष के मुताबिक, कुछ वर्षों बाद श्रीमती रामेन डे ने जर्मनी से फोन किया और उन्हें बताया कि इस पत्रिका के कई अंक उनके पास उपलब्ध हैं। श्रीमती डे ने उन अंकों को उन्हें सौंप भी दिया। लेकिन घोष को फिर निराशा तब हाथ लगी जब पता चला कि अनुपलब्ध अंकों में से कुछ तो उन्हें मिल गये लेकिन तब भी अंक संख्या 38, 39, 40 और 41 अनुपलब्ध ही थे। श्रीमती डे के पति श्री रामेन डे सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्थापित युवा संगठन 'बंगाल वॉलिंटियर' के सक्रिय लड़ाका दस्ते के सदस्य थे। बाद में वह जर्मनी जाकर बस गये। अशोक घोष ने तब नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता से संपर्क किया, जहाँ जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पत्रिका के सभी अंकों का एक सेट मिल गया। दरअसल अंग्रेज़ सुभाष बोस के साथ ही उनकी पार्टी और पत्रिका को भी अपने साम्राज्य के लिए ख़तरा मानते थे इसलिए पुलिस ने 1942-43 के दौरान् देशभर में फॉरवर्ड ब्लॉक के दफ़्तरों पर छापा मारकर पार्टी के सारे दस्तावेजों को जला डाला, दफ़्तरों को तोड़ डाला और कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया। पुलिस ने एक बार फिर 1947-49 के दौरान भी यही क्रूरता दिखाई। लेकिन इसकी कुछ प्रतियाँ जहाँ-तहाँ फिर भी बची रहीं।

इस पत्रिका में नेताजी वाम एकता पर जोर देकर ऐसे विचार रखने वाले पहले भारतीय राजनीतिक विचारक बने। फॉरवर्ड ब्लॉक पत्रिका में उस समय देश के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय तमाम धाराओं के नेताओं के तो लेख प्रकाशित होते ही रहते थे, साथ ही अनेक नामी-गिरामी हस्तियाँ भी इनमें स्थान पाती थीं। इनमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, किसान नेता सहजानन्द सरस्वती, कांग्रेस नेता हुमायूँ कबीर, वैज्ञानिक मेघनाद साहा, संविधानविद हरि विष्णु कामथ, विख्यात साहित्यकार नीरद सी. चौधरी, कांग्रेस नेता और कलाकार नन्दलाल बोस, विख्यात क्राँतिकारी मन्मथनाथ गुप्त, महापंडित राहुल सॉकृत्यायन सरीखे नेता शामिल थे। सुभाष ने 1930 में ही लेफ्ट कंसोलिडेशन कमिटी का गठन किया था जिसकी प्रासंगिकता अब करीब 75 साल बाद और अधिक प्रतीत होने लगी है।

पत्रिका के पहले अंक में ही 'ह्वाई फॉरवर्ड ब्लॉक' शीर्षक से संपादकीय लिखकर सुभाष ने अपनी गतिविधियों के बारे में स्पष्ट कर दिया। जो लोग और संगठन फासीवाद के प्रति सुभाष का रूझान होने का प्रचार करते हैं, उन्हें पहले ही अंक में प्रकाशित अमियनाथ बोस का लेख 'फासिज्म इन इंडिया' और 'चाइना फाइट इंपीरियलिस्टिक जापान' पढ़ लेना चाहिए। पत्रिका में प्रकाशित लेखों से भी आईने की तरह साफ़ हो जाता है कि सुभाष का रुझान पूरी तरह से वामपंथी प्रगतिशील राजनीति की ओर था। वह देश में तमाम ऐसी धाराओं की एकजुटता चाहते थे। इसी क्रम में दूसरे अंक में ही सोशलिस्टों से एकता की अपील करता हुआ निहारेन्दु दत्त मजूमदार का लेख प्रकाशित हुआ था। तीसरे अंक के संपादकीय में सुभाष ने अपने आलोचकों को तर्कपूर्ण जवाब दिया है तो रवीन्द्रनाथ टैगोर का संबोधन छापा। इसमें 24-25 मार्च 1940 को विजिगापटम में आयोजित ऑल इंडिया किसान कंफ्रेंस में राहुलजी का अध्यक्षीय भाषण दस्तावेज के तौर पर विद्यमान है। पत्रिका में देश-दुनिया की तमाम समस्याओं के साथ भारत की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेश नीति, मजदूरों के सवाल आदि पर भी महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये जाते थे। इसी अंक में उन्होंने अपने ऊपर हुई अनुशासनात्मक कार्रवाई का जवाब दिया है और फॉरवर्ड ब्लॉक से जुड़ने की अपील की। चौथे अंक में जर्मन-सोवियत पैक्ट, वर्धा स्कीम की आलोचना आदि विचारोत्तेजक लेख उस समय की राजनीतिक गतिविधियों से समुचित रूप से अवगत कराते हैं। पत्रिका मे छपे संपादक के नाम पत्र भी एक तरह से विचारों से ही भरे लेख जैसे हैं। महात्मा गांधी के 70 वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में भी पत्रिका में बधाई के तौर पर एक लेख लिखा गया था। इसका उल्लेख यहाँ इसलिए जरूरी है कि महात्मा गांधी के साथ मतभेदों के कारण ही सुभाष को कांग्रेस से अलग होना पड़ा था। दो खंडों में प्रकाशित इस फेसिमाइल के दूसरे खंड में अंक संख्या २२ उपलब्ध नहीं है तो अंक 23 दो बार संकलित हो गया है।

कुल मिलाकर पत्रिका के सभी उपलब्ध अंकों का दो खंडों में प्रकाशित फेसिमाइल संस्करण ऐतिहासिक शोध के लिए महत्त्वपूर्ण है, जिसको उद्धृत किए बिना आजादी की लड़ाई के दौरान के वैचारिक विमर्श को समग्रता में समझा नहीं जा सकता। साथ ही इसे भारतीय पत्रकारिता के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भी उल्लिखित करना ज़रूरी है, क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय पत्रकारिता ने जो राष्ट्रीयतावादी और साम्राज्यवाद विरोधी स्वरूप ग्रहण किया, उसकी कोई भी चर्चा 'फॉरवर्ड ब्लॉक' के बिना पूरी नहीं हो

लघुकथा

नौकरी

प्रद्युम्न भल्ला

रमन असहज था।

आज तीसरे दिन भी दफ़्तर देरी से पहुँचा और जैसी कि आशा थी, सीट पर पहुँचते ही बॉस ने बुलवा भेजा।

- आज आप फिर लेट हैं ?
- जी हाँ...
- कारण ?
- जी, मैं आजकल मानसिक परेशानी से गुज़र रहा हूँ। घर पर....
- देखिए, दफ़्तर को इससे कुछ नहीं लेना-देना।
- लेकिन आप ही तो कहते हैं कि यह एक परिवार है, आप इसके मुखिया हैं ?
- वो तो ठीक है, लेकिन कुछ नियम भी तो होते हैं? बॉस ने टाई की नॉट कसली।
- नियम तो आदमी ने ही बनाये हैं ?
- ओफ़्फ़ो... आप समझते नहीं हैं, इस पर कार्यवाही हो सकती है।
- ठीक है, आप कार्यवाही कर लीजिए।
- तभी फ़ोन की घंटी बज उठी।
- हैलो... हाँ, मैं बोल रहा हूँ... क्या कहा लड़के वालों ने सगाई तोड़ने की धमकी दी है। ओह... ठीक है, मैं घर आ रहा हूँ।

बॉस ने फ़ोन रख दिया।

- चलो रमन, तुम्हारे घर होकर चलते हैं, पता तो लगे क्या परेशानी है?''

रमन सहज हो गया। बॉस ने टाई की नॉट ढीली कर ली।

508, सैक्टर-20, अर्बन एस्टेट, कैथल-136027 (हरियाणा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ग्राम' का कला-कौशल

पुष्पपाल सिंह

यशंकर प्रसाद निश्चित रूप से हिंदी कहानी के ऐसे युग-पुरुष हैं जिनकी कहानियों का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिंदी का पहला कहानी-संग्रह 'छाया' भी 1912 ई0 में प्रसाद जी का प्रकाशन हुआ। उन्होंने कहानी में एक ऐसी नई धारा का प्रवर्तन किया जिसे 'प्रसाद संस्थान' (प्रसाद स्कूल) के नाम से जाना जाता है। कहानी में जनाभिमुख संस्कार ले कर आए प्रेमचन्द के पश्चात् अभिजात्योन्मुखी संस्कारों से युक्त प्रसाद संस्थान ने अपना अस्तित्व उस समय तो बनाए ही रखा, आज सामाजिक सरोकारों की कहानी के वर्चस्व के समय में भी इसकी युगपत् प्रवृत्ति बनी हुई है। प्रसाद की इस कहानी-शैली को रोमानी शैली या भावात्मक कहानी-धारा भी कहा गया है। अपनी इस काल्पनिक रोमान की धारा में भी प्रसाद इस रूप में सबसे विशिष्ट रचनाकार हैं कि उनकी कहानियों में सामाजिक सरोकारों का प्रवेश अभिजात्य और कलात्मक रूप में हुआ है। उनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' (1910 ई0) से ही यह विशिष्टता सामने आती है। बाद की कहानियों, विशेषतः 'प्रतिध्वनि' की कहानियों में उनका इस मार्ग से काफी दूर तक विचलन भी होता है किंतु प्रसाद के कहानीकार की सर्वाधिक महनीय उपलब्धि यही है कि वे छायावादी सौंदर्यात्मक प्रवृत्ति के साथ भी सामाजिक सरोकारों से जुड़े रहे हैं।

'ग्राम' कहानी का प्रकाशन अगस्त 1910 ई0 में 'इन्दु' (वर्ष 1, किरण 2, भाद्र 1967 वि.) पत्रिका में हुआ। यद्यपि प्रसाद की कहानियों के संकलन के प्रारंभ में ही भूमिका में इसके प्रकाशनवर्ष की यह सूचना दर्ज़ है किंतु फिर भी कुछ लोगों ने इस कहानी का प्रकाशनवर्ष 1911 ई0 दिया है। बहुत समय तक कुछ आलोचकों ने इस कहानी को हिंदी की प्रथम कहानी का गौरव भी प्रदान किया। भले ही यह हिंदी की प्रथम कहानी न हो किंतु प्रारंभिक हिंदी कहानी के इतिहास में और प्रसाद की अपनी कहानियों में भी 'ग्राम' एक ऐसा मील-स्तंभ है जिसे अनदेखा कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। यद्यपि यह प्रसाद की प्रथम कहानी है किंतु इसमें प्रौढ़ कहानीकार पर्याप्त परिपक्वता के साथ सामने आता है। समकालीन कहानी की स्थिति को देखते हुए प्रसाद की कहानी कला भी पर्याप्त निखार पर है, इतने निखार पर कि इसके बाद की कृति 'प्रतिध्वनि' संग्रह की अपनी ही कहानियों में अपरिपक्वता दिखाई देती है। 'प्रतिध्वनि' का प्रथम प्रकाशन 1926 ई. में हुआ, यदि उसमें 1920-22 तक की कहानियाँ भी संकलित हुई है तो रचना-समय की दृष्टि से 'ग्राम' और इन कहानियों में प्रायः 12 वर्ष का अंतर है। वस्तुतः सापेक्ष दृष्टि से कहानी एक छोटी-विधा है, किसी एक कहानी का इतनी कलात्मक बन जाना कि फिर 10-12 वर्ष तक उसके पाये की कोई और रचना ही न हो, आश्चर्य की बात नहीं है ! यद्यपि 'ग्राम' में भी प्रसाद के प्रारंभिक प्रयत्न का कच्चापन कई जगह कथ्य और अभिव्यक्ति स्तर पर मिलता है किंतु इससे हिंदी कहानी के इस प्रारंभिक प्रयत्न की गुणवत्ता कम नहीं हो जाती।

सर्वप्रथम 'ग्राम' कहानी के विषय-चयन पर यदि विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि उसमें हिंदी कहानी के भावी रूप का बीज-वपन होता है। ज़मींदारी प्रथा के शोषण के खिलाफ प्रेमचंद ने बाद में बहुत-सा कथा-साहित्य लिखा किंतु इस विषय की पहल प्रसाद अपनी इस कहानी में विद्रूपता, भ्रष्टता के खिलाफ पहली बार करते हैं। बाबू मोहनलाल अपनी जिस ज़मींदारी के बल पर इतराते फिर रहे हैं वह किस प्रकार और किस हथकंडों से अपनाई गई, कहानी में इसकी कलई खुलती है। जो लोग यह कहते हैं कि प्रसाद का कहानीकार जीवन के कटु यथार्थ से साक्षात्कार नहीं कर सका है, उनके लिए 'ग्राम' कहानी पुनः पठनीय है। यह इस मान्यता को थोथा सिद्ध करती है। प्रसाद का अतीतजीवी कलाकार किस प्रकार अपने वर्तमान की समस्या और समाज को भले ही किंचित् भावुकता से, अपनी लेखनी का विषय बनाता है, यह इस कहानी से सिद्ध होता है। यह एक अलग बात है कि बाद में प्रसाद अपनी कहानियों का मुख्य स्वर यह नहीं रख पाए किंतु फिलहाल बात 'ग्राम' कहानी पर ही केंद्रित है। इस कहानी के विषय-वस्तु के चयन के संबंध में डॉ0 रमेशचंद्र शाह ने भी कहा है, 'सन् 1911 (??) में प्रकाशित उनकी पहली ही कहानी 'ग्राम' में एक उजड़े हुए भू-स्वामी का चित्रण है। सामंती जीवन-व्यवस्था पर पूंजीवादी हमले का, एक नव-धनाढ्य वर्ग के उदय का यह पहला संकेत है हिंदी साहित्य में।" इस प्रकार 'ग्राम' कहानी बहुत सही तरीके से अपने समाज की दुखती रग को पकड़ती है।

'ग्राम' कहानी में अपने वक्त की धड़कन को ही नहीं सुना गया है, अपितु ज़मींदारों के रहन-सहन, शान-शौकत को सामान्य जनता के जीवन के समानांतर रख कर देखा गया है। कहानी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम खंड में ही ज़मींदार बाबू मोहनलाल को अपने ऐश्वर्य से युक्त स्टेशन पर उपस्थित किया गया है, "विलायती पिक का वृचिस पहने, बूट चढ़ाए, हंटिंग कोट, धानी रंग का साफा। अंग्रेजी-हिंदुस्तानी का महासम्मेलन बाबू साहब के अंग पर दिखाई पड़ रहा है। गौर वर्ण, उन्नत ललाट उसकी आभा को बढ़ा रहे हैं। स्टेशन मास्टर से सामना होते ही शेकहैंड करने के उपरांत बाबू साहब से बातचीत होने लगी।" यह कहने का लोभ-संवरण नहीं हो पा रहा है कि यहाँ यह कहानी विधा के कितनी अनुकूल है, ऐसी जीवन-गंधी भाषा बाद की कहानियों में प्रसाद की काव्यात्मक संवेदना के नीचे दब जाती है। काश ! प्रसाद की कहानी का भाषा-संस्कार इसी रूप में विकसित हो पाता !! आगे चल कर कहानी में बालिका की दरिद्रता का सांकेतिक वर्णन प्रसंगानुकूल किया गया है। जिस ग्रामीण जन-समाज को प्रसाद इस कहानी में चित्रित करते हैं उसके हर्षोल्लासपूर्ण जीवन, लोक-जीवन का चित्रण भी वे सावन झूलती, गीत गाती ग्रामीण महिलाओं के वर्णन द्वारा करते हैं। खेत, खेत पर मचान, रात में मचान पर खेत की रखवाली करते बालक, दीन बालिका का 'क्षुद्र कुटीर' (झोंपड़ी), ये सब ग्रामीण जीवन की प्रामाणिक झांकी उपस्थित करते हैं। प्रसाद अलग से टिप्पणी करके ग्रामीण समाज की ग़रीबी का चित्रण यहाँ नहीं करते हैं। कहानी के घटना-क्रम और क्रिया-कलाप के मध्य यह वर्णन स्वाभाविकता से आता है। बालिका का मलिन वेश, 'क्षुद्र गृह' के एक मिट्टी के बर्तन में से कुछ वस्तु निकाल कर बाबू मोहनलाल को देना, फूस की चटाई पर बैठ कर दुखिया स्त्री की व्यथा-कथा सुनने, आदि के सूक्ष्म संकेतों से इस समाज की आर्थिक दुरावस्था का चित्रण स्वाभाविक रूप में होता चलता है, जिससे लगता है कि कहानीकार जिस समाज का वर्णन कर रहा है, उस पर उसकी पूरी पकड़ है।

प्रस्तुत कहानी का प्रारंभ भी प्रसाद अत्यंत रोचक और स्वाभाविक रूप में करते हैं - 'टन ! टन ! टन ! स्टेशन पर घंटी बोली" पाठक से तादात्म्य करती यह कितनी सुंदर पंक्ति है जो उसे मानसिक रूप से सीधे स्टेशन पर ही ले चलती है (यदि 'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' के रचना-समय में प्रसाद इसे लिखते तो कदाचित् यूँ कहते-'टन ! टन ! टन ! स्टेशन पर घंटिका निनादित हो उठी - संध्या की निस्तब्धता को भग्न करते हुए' - या ऐसा ही कुछ !) इस पंक्ति के पश्चात् प्रसादीय शैली में संध्या और वातावरण का चित्रण प्राप्त होता है। 'छाया' संग्रह की प्रायः सभी कहानियों, केवल 'जहांनारा' और 'मदन-मृणालिणी' को छोड़ कर, का प्रारंभ प्रकृति के रम्य और काव्यात्मक वर्णन से प्रारंभ होता है। किंतु अपनी इस पहली कहानी में प्रसाद प्रथम पंक्ति अत्यंत स्वाभाविक रूप से रचते हैं। इस रूप में 'ग्राम' कहानी का प्रारंभ बड़ा आकर्षक बन पड़ा है। इस प्रारंभ के पश्चात् प्रसाद कहानी में संध्या का चित्रण करते हैं और इस संध्या-वर्णन के वातावरण को कहानी की कथा से संबंधित करते हुए ग्राम्य स्टेशन पर कहीं एक-दो लालटेनों (दीपालोक) और उसके चारों ओर व्याप्त सन्नाटे को झिल्ली की झनकारों से मूर्त किया गया है। फिर छायावादी शैली में किंतु संक्षिप्तता से डेढ़ पंक्ति के वाक्य में बूंदों के गिरने का वर्णन है। यह सब कहानी के प्रथम अनुच्छेद में आ कर पाठक की कथा का औत्सुक्य जगाता है। वर्षा थमने और स्टेशन पर 'महादैत्य के समान धड़धड़ाते' हुए इंजिन और उसमें पागलों के समान बड़बड़ाती हुई अपनी धुन की पक्की रेलगाड़ी का आगमन, मुसाफिरों का वहां आना, रेल से उतरना-चढ़ना इस सबका प्रसाद अत्यंत मोहक चित्रण कर सके हैं। इसी प्रकार ज़मींदार मोहनलाल तथा स्टेशन की बातचीत संक्षिप्त और स्वाभाविक बन पड़ी है। कार्तिक किस प्रकार ज़मींदार के नाम पर इलाके में गड़बड़ी फैलाए रहते हैं इसका संकेत भी मोहनलाल के द्वारा दिलवा कर लेखक ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर चलते-चलते विचार किया है। कहानी का प्रथम खंड है तो दूसरे खंड का पट गाँव में खुलता है। ग्राम-परिवेश का चित्रण कर बाबू मोहनलाल को मार्ग भटके पथिक के रूप में ग्राम-बालाओं के बीच पहुँचा दिया जाता है। ज़मींदार के 'भद्रे' संबोधन को कोई परिहास शब्द समझ कर अपनी आंचलिक भाषा में 'इहां' से डेढ़ कोस तो बाय, इहै पैडवा जाई' उत्तर से ग्रामीणाओं का भोलापन तो व्यक्त होता ही है, प्रसाद की अभिव्यक्ति का यह पक्ष भी खुलता है कि यदि उन्होंने चाहा है तो वे अपने से सहज-स्वाभाविक जनभाषा का प्रयोग पात्र के वर्ग और स्थिति के अनुकूल कुशलता से करा लेते हैं। बाद की कहानियों में प्रसाद की यह प्रवृत्ति लुप्त-प्राय है।

कहानी के इस दूसरे खंड में प्रसाद अपने नायक मोहनलाल को इसी प्रकार मार्ग भुला देते हैं, जैसे उनके समय तिलस्मी कहानियों में होता था। अजाने ही 'ग्राम' कहानी में कथानक रूढ़ि आ गई है। इन कथाओं में भी राजमुकार या आदमी मार्ग भूल कर किसी दीन की झोंपड़ी पर पहुँचते हैं, वहाँ ज़मींदार 'भटकते-भटकते (वह) एक खेत के समीप पहुँचे' 'ऊँचा और बड़ा मचान था' समीप में ही एक छोटा-सा मकान था। यहाँ मन फिर प्रसाद की कहानी कहने की स्वाभाविक शैली पर मुग्ध हो जाता है। जिस प्रकार का वर्णन लोक-कथा में होता है 'चलते-चलते वह वहाँ पहुँचा....' उसी प्रकार 'भटकते-भटकते वह एक खेत के समीप पहुँचे' कहते हैं, लोक-कथा का रंग और ध्वनि यहाँ उनकी भाषा का संस्कार बन गए हैं। परवर्ती समय में जब प्रसाद अपनी कहानी भाषा को लगे' उनकी अभिव्यक्ति में यह सहजता नहीं रही, उसमें काव्यात्मक संश्लिष्टता और सघनता आ गई।

तीसरे खंड का प्रारंभ प्रसाद 15 वर्षीय बालिका के सौंदर्य से करते हैं, उसे उपमा तो छायावादी शैली में देते हैं -"आलोक उसका अंग - घन में विद्युतरेखा की तरह चमक रहा था।" 'आकाशदीप' की कहानियों के समान यहाँ केवल उसके सौंदर्य ही उलझे नहीं रह जाते, अपनी काव्यात्मकता पर अंकुश रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे बढ़ लेते हैं। बालिका से मोहनलाल का संवाद भी अत्यंत स्वाभाविक रूप से, छोटे-छोटे वाक्यों में, बातचीत के स्तर पर वर्णित हुआ है। बाद की अनेक कहानियों में ऐसी स्थिति में संवाद कलात्मकता को बोझिल हुए हैं। चौथे खंड में बालिका मोहनलाल को अपनी माँ से मिलवाती है और फिर वही लोक-कथा आती है, वही कथानक रूढ़ि है कि वह वृद्ध माँ अपनी आप बीती पाँचवें खंड में प्रस्तुत करती है। इस प्रकार कहानी के ये पाँच छोटे-छोटे खंड आपस में बहुत अच्छी तरह अंतर्ग्रथित हैं। यद्यपि पाठक को आभास होने लगता है कि हो न हो इस बुढ़िया के दुखों का संबंध इसी ज़मींदार से हो किंतु कहानीकार ने कहानी के अंत में इसे निष्कर्ष रूप में दे अपने कथा-नायक का उस युग की कहानी के अनुरूप "विषाद और लज्जा से" मुख झुकवा दिया है। प्रसाद अत्यंत कुशलता से अपनी कहानी को उस आदर्शीकृत समाधान से बचा ले जाते हैं कि वे ज़मींदार द्वारा उसे अच्छा जीवन-स्तर प्रदान करवा देते। प्रेमचंद के हिन्दी में आने से पहले (1910 ई. में ही) यह कहानी-कला की दृष्टि से एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि अपनी कहानियों के विकास के प्रथम चरण में प्रेमचंद 'सौत', 'शंखनाद', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दारोगा' आदि में आदर्शीकृत समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। यहाँ यह सिद्ध करने का मंतव्य बिलकुल नहीं है कि प्रसाद प्रेमचन्द से बड़े कहानीकार थे, न ही तुलनात्मक आलोचना की आज ज़्यादा सार्थकता है। प्रस्तुत प्रसंग में यही ध्यातव्य है कि प्रसाद अपनी इस कहानी में ही कहानी के कुछ ऐसे कला-आदर्श उपस्थित करते हैं जिन तक बहुत बाद तक वे स्वयं भी नहीं पहुँच पाते हैं और तत्कालीन समय के शीर्ष कहानी लेखकों के लिए भी वे स्पृहणीय थे।

विवेच्य कहानी के पाँचवे खंड में प्रसाद ने बड़ी कुशलता से मानवीय व्यवहार में मूल्यों का प्रश्न उपस्थित किया है। एक ओर तो बाबू मोहनलाल के पिता कुंदनलाल का ओछा व्यवहार है जिससे वे किसी भी प्रकार से पहले ज़मींदार से उनकी संपत्ति और ज़मींदारी हड़प लेना चाहते हैं और दूसरी ओर उस दुखिया स्त्री के पति का सीधापन है। यह वर्णन इसलिए भी मार्मिक लगता है कि हर युग में सीधे-सादे आदमी के छले जाने की यही नियति है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर इस कहानी के गुणों की चर्चा ऊपर प्रसंगात् आई है। यहाँ प्रसाद की अभिव्यक्ति में कुछ ऐसे गुण हैं जो बाद में उनके यहाँ अलभ्य होते चले गए और कुछ ऐसे अभाव भी हैं जो किसी भी लेखक की प्रारंभिक कहानी में हो सकते हैं। 'ग्राम' में बोलचाल की भाषा की जो स्वाभाविकता मिलती है, वह बाद में कलात्मकता के आग्रह में प्रायः दब गई है। मोहनलाल का यह पूछना 'तुम्हारी माँ कहाँ है?' और बालिका का उत्तर 'चलिए, मैं लिवा चलती हूँ' कितना स्वाभाविक बन पड़ा है। इसी प्रकार बाद की कहानियों में प्रसाद भला इतनी सुविधा से कहीं यह कह पाए हैं, 'मेघ घिर आए, जल वेग से बरसने लगा, अंधकार और घना हो गया है।' जिस प्रकार ऊपर 'लिवा चलती हूँ' का प्रयोग बताया गया है, उसी प्रकार 'आप कृपा करके सुनावें' 'बूट चढ़ाए' (पहने नहीं कहते)'। 'धड़ाधड़' यात्री लोग उतरने-चढ़ने लगे, 'आप इस वक्त कहाँ से आ रहे हैं', जैसे प्रयोग प्रसाद ने अपनी भाषा में कर उसको जीवन-गंधी रूप प्रदान किया है। प्रसाद की छायावादी वृत्ति ने काव्यात्मकता का मधु-वेष्ठन कर जिस कहानी को रचा है, उसके बीज भी इस कहानी में जगह-जगह मिलते हैं : 'मेघ-माला-विभूति गगन की छाया सघन रसाल में पड़ रही है।', अंधकार-रूपी अंजन के अग्र-भाग स्थिति आलोक के समान चतुर्दशी की लालिमा को लिए हुए चंद्र देव प्राची में हरे-भरे तरुवरों की आड़ में से अपनी किरण-प्रभा दिखाने लगे आदि। तत्सम शब्दावली के प्रयोग का, बिना प्रसंग की बाध्यता के, आग्रह भी यहाँ देखा जा सकता है 'घर की ओर प्रत्यावर्तन ('लौटना' कितना मौजू रहता) कर रहे हैं'।' क्षुद्र कुटीराभिमुख', आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। अनुप्रास-युक्त पद-मैत्री की रचना की झोंक में कहीं वे 'महारानी' को 'महाराणी' के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं" सुशासनकारिणी महाराणी के समान, विहग प्रजा-गण को।" भाषा में कुछ व्याकरण-दोष भी हैं जिन्हें प्रसाद सहज ही दूर कर सकते थे किंतु इन दोषों का परिहार नहीं हो सका है। 'घंटा का शब्द उस हरे-भरे मैदान में गूँजने लगा' वाक्य में 'घंटे' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था : 'उस इलाका के इस भांति निकल जाने के कारण....' में 'उस इलाके' का प्रयोग होना चाहिए था। कहीं-कहीं 'ग्राम' कहानी की भाषा के विन्यास में कुछ अधकचरापन रह गया है जो प्रसाद जैसे भाषा-शिल्पी के यहाँ सुहाता नहीं है, '. ... और समीप ही में एक छोटा-सा कच्चा मकान था' वाक्यांश में 'में' का प्रयोग व्यर्थ ही किया गया है। यद्यपि सचेत रूप में प्रसाद 'ग्राम' में भी रूपक, मानवीकरण, उपमा, आदि से अपनी भाषा का अलंकरण करते हैं किंतु वे इन छोटी-छोटी त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं दे पाए हैं। यदि इन अत्यल्प अभावों को प्रसाद की पहली कहानी के अभाव मान कर प्रयोगकालीन कलाकार की प्रथम रचना के रूप में देखें तो यह कहानी अभिव्यक्ति के स्तर पर भी प्रवाहित करती है। हिंदी कहानी के इतिहास में 'ग्राम' का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि अब तक, प्रायः 1900 ई0 से ही, जिन कहानियों को हिंदी की प्रथम कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उनमें से किसी में भी ऐसी साहित्यिकता और कलात्मकता नहीं है जैसी इस कहानी में प्राप्त होती है। वस्तुतः 'ग्राम' प्रसाद की ही नहीं समस्त हिंदी कहानी के इतिहास की एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है।

63, केसरबाग,
पटियाला (पंजाब)-147001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस मुझे ख़्वाब देखने का हक़ दो

फ़ातिमा अल अतीबी

उसकी आँखें खाली-खाली हैं, हर चीज़ बेईमानी हो गयी है। यहाँ तक कि नाम भी कुछ मायने नहीं रखते। उनकी आँखों में सर-सब्ज़ मैदान फैले हुये थे जिनमें फूल खिलते हैं, नयी कोपलें नमूदार होती हैं।

जब वो हँसते हैं तो वो भी हँसने लगती है। अक्सर तो वो ये भी नहीं समझ पाती कि वो क्यों हंस रहे हैं मगर वो उनका साथ ज़रूर देती है। ये बात बहुत अजीब थी मगर वो उससे ही ख़ुश थी कि कम से कम कुछ तो है जिसमें वो उनका साथ दे सकती है।

वो एक डाक्टर की बीबी है।

पढ़ने की मेज़ की दराज़ में उसका चौथी जमात का सर्टिफिकेट रखा है। बड़ा-बड़ा लिखा है, चौथी जमात पास और मेज के ऊपर दीवार पर उनके सारे सर्टिफिकेट लटके हुए थे। प्राइमरी से लेकर डॉक्ट्रेट तक के सर्टिफिकेट।

"तुम कितनी ख़ुशकिस्मत हो" औरतें कहती हैं "इतने पढ़े-लिखे आदमी से तुम्हारी शादी हुई है।" ये जुमला उसका तमग़ा है, बाकी बातों से क्या फर्क़ पड़ता है। वो एक डाक्टर हैं, ये ही उसकी ख़ुशकिस्मती के लिए काफी है।

उसका दिल चाहता है कि दोनों के बीच कोई तो ताल्लुक हो। वो भी उससे उसी तरह बातें करें जैसे दूसरे शौहर अपनी बीवियों से करते हैं। वो चाहती है कि वो जब उनके साथ हो तो दबी, झेंपी सी ना रहे, बात करते में हकलाये नहीं। इसलिये वो उनके साथ से कतराने लगती थी।

वो उनके आने से पहले खाना तो तैयार कर देती थी मगर उनके साथ बैठकर खाने से बचती थी। जब वो उसे साथ खाने के लिये बुलाते थे तो उसके होंठों से वही अल्फाज़ निकलते जो वो सुनने के आदी थी। "मैंने पहले ही खा लिया।"

"मैंने पहले ही खा लिया", हर शाम जब वो ये अल्फ़ाज़ कहती तो उसे बच्चों जैसी खुशी होती। पर दिल में कहती 'मगर सिर्फ डिनर, वर्ना बाकी और चीजों में तो मैं भूखी, प्यासी खंडहरों में कैद हूँ। और तुम... तुम दौड़ते रहते हो, अपने सूब (लंबा गाऊन जो सऊदी मर्द पहनते हैं) के दामन को दाँतों में दबाये तेजी से दौड़ रहे हो तुम। अपनी पी-एच0डी0 का ताज पहने, रास्ते की हर रुकावट से लड़ते, मुस्तकबिल की तरफ दौड़ रहे हो।"

मगर फिर वो अपनी परेशानियों, उलझनों और सवालों में घिर जाती "क्या मुझे चलने के काबिल भी समझ सकते हैं ? क्या मेरे पाँव हैं जिन पर मैं चल सकती हूँ ? मुझ जैसी बरबाद के लिये सिर्फ आँसू ही लिखे हैं। उन्हें जो चाहिये उसके लिए वो जद्दोजहद करते हैं और मैं पत्थर बनी अपनी जगह ही पड़ी रहती हूँ।

एक रात जब हमेशा की तरह वो उनके लिये मेज़ पर खाना लगा चुकी तो दिल ने कहा कि आज तो उन्हें बता दे कि उसमें भी आगे बढ़ने की सलाहियत है। ग़ैर इरादी तौर पर उसने एक क़दम बढ़ाया, दूसरा बढ़ाया और खुद को उनके सामने पाया। उन्होंने खाना शुरू किया, मुस्कुरा कर कहा।

"तुम्हें भूख नहीं लगी।"

"नहीं, यहाँ मैंने तुमको मात दे दी।"

"भूख में?"

"नहीं, डिनर में।"

"जी, जी... हमेशा की तरह।"

वो काफ़ी देर तक यूँ ही बैठे सामने देखते रहे और फिर उसकी तरफ़ गौर से देखा मगर वो फिर अपने खोल में सिमट गई। उनके चेहरे पर उलझन और परेशानी आयी थी।

"हूँ ! तो आज शाम वो परेशान है" उसने सोचा "वो भी तो पिछले छह साल से परेशान है, ये उलझन और परेशानी मुझे खा गयी है... कुछ नहीं बचा है... कुछ भी नहीं। मगर क्या वो एक ख़ुशक़िस्मत बीवी नहीं है ? डाक्टर से शादी जो हुई है।"

वो उसके सामने बैठे थे, उन्होंने उसकी आँखों में देखकर कहा।

"और कब तक ?"

"क्या मतलब है, कब तक ?" वो बोली

"मैं तुम्हारे इन्तक़ाम का शिकार कब तक रहूँगा ?"

"मेरा इंतकाम ?"

"आज शाम, इस लम्हे, मैं उस खामोशी के खिलाफ़ जंग का आग़ाज करता हूँ जो पिछले पाँच साल से हमें खाये जा रही है। पाँच साल पहले जब हमारे बच्चे की मौत हुई थी। मेरी वजह से तो उसकी मौत नहीं हुई। मैं उस शाम मौजूद नहीं था, मैं उस शाम कहीं, मेहनत से काम कर रहा था ताकि जब वो बड़ा हो जाय तो मुझ पर फ़ख़्र करे।"

हाँ, उसका बेटा जिसे डॉक्टर की मदद न मिल सकी वो उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बाँहों में लिये बैठी रही थी... जब उसके शौहर, पी-एच0डी0, घर आये तो देखा कि उसका बच्चा गोद में मरा हुआ था।

"तुम मुझे एक और बच्चा दे सकती थीं", वो कह रहे थे मगर तुम्हारा इंतकाम बहुत लंबा हो गया था।

"और तुम ! तुमने क्या किया", उसने कहा। तुमने ज़िद में मुझे हमेशा नज़रअंदाज़ किया। तुमने सारे दरवाज़े बंद कर दिये, मुझे एक ऐसी औरत बना दिया जो तुम्हारे लिए सिर्फ़ खाना पका सकती है, घर साफ़ रख सकती है। तुमने कभी नहीं सोचा कि मेरा हाथ थामकर अपने साथ लेकर चलो, अपनी तरह बाशउर इन्सान बनाओ। हो सकता है कि मैं अपने इंतकाम में बहुत आगे निकल गई हूँ मगर तुम भी अपने इंतकाम में बहुत दूर तक चले गये। तुम मेरी जहालत के साये में अपनी ज़हानत में मस्त रहे। तुम सब कुछ थे, मैं कुछ नहीं थी।

नहीं, अगर मैं तुम्हारी दूसरे बच्चे की ख़्वाहिश पूरी कर देती तो वो भी तुम्हारी बेतवज्जोह से मर जाता या क़ाबिल व ज़हीन बाप और इस बेपढ़ी माँ के बीच अधूरा ही पलता। उन वालिदैन के बीच पलता जिनमें से एक मुस्तकबिल के लिये हवा की रफ़्तार से बाज़ी लगाता है और दूसरी जो खामोशी की दीवार के पीछे इंतजार करती रहती है। जिसके पास कोई ख़्वाब नहीं, आग ही नहीं, बस खला है। मेरे अंदर तो माँ बनने का ख़्वाब भी मर चुका है... "मुझे ख़्वाब देखने दो", वो कहती रही। "मुझे अपना हाथ दो, सिर्फ तुम ही मेरी सारी स्याह यादें मिटा सकते हो। मुझे मेरे ख़्वाब दो ताकि मैं तुम्हारे ख़्वाब लौटा सकूँ।"

"वॉयसेज़ ऑव चेन्ज" सऊदी अरब की महिला कथाकारों के कहानी संग्रह से ली गयी कहानी जिसका उर्दू से हिन्दी में अनुवाद

अनुवादक : फ़ातिमा ज़ेहरा
गुलाम फरीद साबरी
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

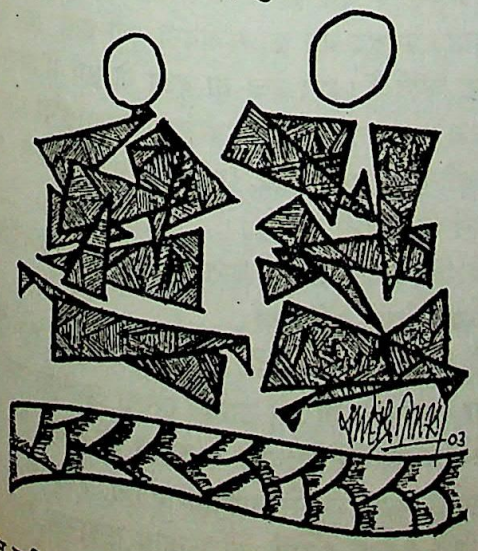

कविता

आखिर में

आकाश

आखिर में...
गिर जाते हैं मंदिर के कँगूरे
मस्जिद के गुंबद और
गिरजाघर के धरन भी,
इनके खंडहरों में भी
कुछ नहीं बचता साबुत।
क्योंकि, हर ध्वनि की आवृत्ति इतनी तीव्र है कि
बढ़ गया है कम्पन प्रत्येक वस्तु का
टूट रही है पूरी धरती
भरभरा कर भीगे हुए रेत-सी, धीरे-धीरे
फैल चुका है वायुमण्डल में कोई
तीव्रतम सुनामी अज्ञात-सा, चुपचाप।
क्या जानवर, क्या आदमी, सब बदहवास।
बस, कुछ ही आँखों में तैर रही
डरी-डरी-सी 'जिज्ञासा'
होने-न-होने के आखिरी परिणाम की।
बिल्ली की आँखों की खड़ी पुतलियाँ
चित्त होकर झाँक रहीं हैं
अब, कुत्ते की आँखों से और
नेवले की जीभ जितनी सुंदर है आदमी-सी
आदमी की नहीं रह गयीं, अब
डँस लिया है सर्प ने मेरे
जीभ पर ही नेवले की
और हिरन की मासूमियत मैंने ही
रख दी है भेड़िए के जबड़ों पर
आखिर में....।

द्वारा-नीलमभूषण
843/288/88ए, शिवपुरी रोड, नेता चौराहा, अल्लापुर, इलाहाबाद-6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद, 'मंदिर' और दलित

रत्नकुमार सांभरिया

सन् 1928 से लेकर 1935 के दस वर्ष के अछूतोद्धार आंदोलन का आकलन करें तो पुष्टि होगी कि यह आंदोलन दलितों के मंदिर प्रवेश तक केंद्रित रहा। हिन्दू महासभा धर्म के नाम पर, गांधी जी राजनीति के प्लेटफार्म पर तथा मुंशी प्रेमचंद अपनी कहानियों, उपन्यासों और विचारों के माध्यम से अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश की मुहिम छेड़े हुये थे। इनका एक मात्र ध्येय यह था कि दलित अपनी दरिद्रता के बावजूद हिन्दू बने रहें। हिन्दू संस्कारों से सराबोर प्रेमचंद मंदिर, मूर्ति को हिन्दुत्व का सच और सत् मानते हैं।

प्रेमचन्द की 'मंत्र', 'सौभाग्य के कोड़े', 'मंदिर' जैसी कहानियाँ आईना हैं।

रंगभूमि उपन्यास तथा उनके मूल विचार भी इसी सूझ के संवाहक हैं। रंगभूमि में वे सूरदास नामक पात्र से अपनी मंशा प्रकट कराते हैं—"यही अभिलाषा थी कि यहाँ एक कुआँ और छोटा सा मंदिर बनवा देता, मरने के पीछे अपनी कुछ निशानी रहती।" (रंगभूमि-भाग-7)

उन दिनों शिक्षा का प्रसार-प्रचार बहुत तेजी से हो रहा था। प्रेमचंद की प्रगतिशीलता यह थी कि वे मंदिर की बजाय शालाएं बनवाते। कहना होगा की मंदिर बनवा कर भी सूरदास का उस पर हक नहीं रह पाता। वहाँ कोई पुरोहित हक जमा लेता है और छुआछूत बढ़ती है। जहाँ मंदिर है, उसके ईद-गिर्द अस्पृश्यता उत्साही है।

सन् 1927 में लिखी गई विवेच्य कहानी 'मंदिर' पर एक नज़र।

प्रेमचंद 'मंदिर' कहानी में विधवा सुखिया, जो अछूत, अनपढ़ और अज्ञानी है, में मंदिर और मूर्ति के प्रति श्रद्धा की बारूद भरते हैं। उसे पति-दर्शन का स्वप्न दिखाया जाता है। स्वप्न की यह कला प्रवीणता तांत्रिक क्रिया में स्थान पाती है।

"तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिंता-व्यथित चंचल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाए, किस देवता की मनौती करे, इस सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गई। क्या देखती है कि उसका स्वामी बालक के सिरहाने आ कर खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेर कर कहता है-"रो मत सुखिया, तेरा बालक अच्छा हो जाएगा। कल ठाकुर जी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे।" यह कह कर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल गई। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे, इसमें सुखिया को जरा भी संदेह नहीं हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है। यह सोच कर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजल हो गईं। उसने बालक को गोद में उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली - "भगवन, मेरा बालक अच्छा हो जाए, तो मैं तुम्हारी पूजा करूँगी, अनाथ विधवा पर दया करो।"

"उसी समय जियावन की आँखें खुल गईं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़ कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।"

सपने जो प्रायः अवास्तविक और मिथ्या हुआ करते हैं, कहानी में यथार्थ और रू-ब-रू बताया है। किसी विधवा की शोक संतप्त भावनाओं को भुनाने का इससे कारगर स्वांग दूसरा नहीं हो सकता। विश्वास और आस्था का इससे बड़ा सेतु और क्या हो, किसी का दिवंगत पति स्वप्न में आ कर यह यकीन दिला दे कि उसका बीमार बेटा ठाकुर जी की अर्चना से ठीक हो जाएगा। भूत-प्रेत, भाग्य-भगवान के प्रति अज्ञान वैसे ही उर्वरा है।

प्रेमचंद विधवा सुखिया के बच्चे का इलाज किसी डाक्टर, वैद्य अथवा हकीम से कराने की बजाय मूर्ति से करते हैं। वे उसमें मूर्ति के प्रति ऐसी अंधश्रद्धा पैदा करते हैं कि सुखिया पागलपन की हद तक पहुँच जाती है।

कार्ल मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली कह कर उसे बेजरूरी बताया। प्रेमचंद धर्म को संजीवनी बूटी बता कर जीवन का सार सिद्ध करते हैं। धर्म दवा या दुआ के रूप में इंसान का हितैषी नहीं रहा। वह दगा या धूर्त्तता के बहाने आदमी पर हावी रहा है। आदमी गरीब या अज्ञानी हो, धर्म जोंक बन जाता है। मंदिर और मूर्ति धर्म के निवेशी रूप है।

स्वामी विवेकानंद ने एक बात पते की कही है। संभवत प्रेमचंद का ध्यान उधर नहीं गया।

स्वामी जी कहते हैं—"यदि ईश्वर है, तो हमें उसे देखना चाहिए, अगर आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिये। अन्यथा उन पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्ट रूप से नास्तिक बनना अच्छा है।"

यहाँ ढोंग 'मंदिर' कहानी का केन्द्रीय कथानक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद सरस्वती जिनका बचपन का नाम मूलशंकर था, वे अपने घर परिवार में एक धार्मिक अनुष्ठान में उपस्थित हुए। जब सब सो गये, मूलशंकर के बालमन में भगवान के अस्तित्व के बारे में एक जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। देखूँ, ईश्वर का रूप क्या है? बीती रात तक मूर्ति से भगवान प्रकट नहीं हुआ। हाँ, सन्नाटे से आश्वस्त एक भूखा चूहा अपने भोजन के लिए भटकता हुआ वहाँ आया। वह बेखौफ वहाँ रखे ठाकुर जी के प्रसाद को खाता रहा। जब अफर गया, मूर्ति के पैर से होता उसके सिर पर चढ़ बैठा। बालक मूलशंकर को ज्ञान आया। इस ज्ञान ने उसकी समूची ज़िंदगी ही बदल दी। जो भगवान चूहे जैसे एक छोटे से जीव से अपने प्रसाद और खुद की सुरक्षा नहीं कर पाता, वह सर्वशक्तिमान और जग का पालनहार कैसे हुआ? भगवान मिथ्या है। आगे चल कर स्वामी जी ने भगवान के इसी मिथ्या रूप को जन-जन तक पहुँचाने के लिए सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज ने न केवल भगवान के अस्तित्व को ही नकारा, बल्कि मंदिर और मूर्तिपूजा का भी पुरजोर खण्डन किया।

जो ठाकुर जी चूहे जैसे एक छोटे से जीव से अपने प्रसाद की रक्षा नहीं कर पाये, प्रेमचंद उन्हीं ठाकुर जी की मूर्ति की पूजा अर्चना के लिए सुखिया को प्रेरित करते हैं कि उसका मरणासन्न पुत्र स्वस्थ हो जायेगा। बात यहाँ नोक बन जाती है कि स्वयं आर्यसमाज से जुड़े रह कर भी प्रेमचंद ने 'मंदिर' कहानी लिखी। प्रगतिशील विचारों का कोई भी शख्स इसे बुद्धि का दिवालियापन कहे बिना नहीं रह सकता।

प्रेमचंद का ध्येय अछूतों को मंदिर प्रवेश तक ही था। अछूतों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने, शैक्षणिक दृष्टि से उनका उन्नयन कराने, सामाजिक दृष्टि से समानता लाने, छुआछूत मिटाने और सामूहिक भोज कराने की महात्मा फुले और गांधीजी जैसी प्रगतिशील सोच में उनकी दिलचस्पी कतई नहीं थी।

वे कहते हैं—"खाने पीने की सम्मिलित प्रथा अभी हिन्दुओं में नहीं है, अछूतों के साथ कैसे हो सकती है? शहरों में दो चार सौ आदमियों के अछूतों के साथ भोजन कर लेने से यह समस्या हल नहीं हो सकती, शादी ब्याह इससे भी कठिन प्रश्न है। जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं में शादी नहीं हो सकती, तो अछूतों के साथ यह संबंध कैसे हो सकता है?

(प्रेमचंद के विचार भाग-2, हरिजनों का मंदिर प्रवेश का प्रश्न, पृष्ठ-16, नवम्बर 14,1932)

प्रेमचंद के ये विचार डॉ. अम्बेडकर के विचारों का भी सीधा प्रतिकार हैं। डॉ. अम्बेडकर अपनी हर सभा में कहते थे कि साथ-साथ रहने, सामूहिक भोजों का आयोजन करने तथा अन्तर्जातीय विवाहों की परंपरा प्रारंभ करने से ही जातिभेद और अस्पृश्यता का विनाश हो सकता है।"

बाबा साहब के प्रयास से नागपुर में अछूत छात्रों के लिए एक अलग छात्रावास बना था, ताकि वे छात्र छुआछूत और जात-पाँत के साये से दूर, यहाँ रह कर अपना शैक्षणिक विकास कर सकें। यह सद्कार्य प्रेमचंद की आँख की किरकिरी बन गया।

"नागपुर में हरिजन बालकों के लिए एक अलग छात्रावास बनाया गया हैं। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिये। (प्रेमचन्द के विचार भाग-2/हरिजन बालकों के लिए छात्रालय/पृष्ठ 20/5 दिसम्बर, 1932)

प्रेमचंद अपने विचारों की एकरूपता से पीछे हटते हैं। 14 नवम्बर, 1932 के लेख में ये कहते हैं कि खाने पीने की सम्मिलित प्रथा अभी तक हिन्दुओं में ही नहीं है, अछूतों में कैसे हो सकती है? इसके 21 दिन बाद अर्थात 5 दिसम्बर, 1932 के लेख में लिखते हैं कि उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिये। ('बिन पैंदे का लोटा' उन्हीं का ईजाद किया मुहावरा है) यानि दलितों के प्रत्येक साहसिक कदम का उन्होंने विरोध किया।

अगर प्रेमचंद की बात भारत में लागू हो जाती, तो करोड़ों-करोड़ दलित छात्र-छात्राओं का भविष्य नहीं बन पाता। एक अनुमान के अनुसार आज भी पूरे भारत में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए जो पृथक छात्रावास संचालित किये जा रहे हैं, उनमें 80 लाख छात्र-छात्राएं अध्ययन कर रहे हैं। राजस्थान सरकार के छात्रावासों में 28 हजार विद्यार्थी रहते हैं। प्रेमचंद के विचारों में दकियानूसीपन और विचलन दोनों ही थे।

वे दलितों के साथ खान-पान और अलग छात्रावास बनाने का भी विरोध जताते हैं। उनका आशय प्रत्यक्षतः यह हैं कि दलितों को शिक्षा से अलग किये रखो, तभी वे मंदिर और मूर्ति में आस्था रख हिन्दू धर्म को बहुसंख्यक बनाये रहेंगे।

आइये 'मंदिर' कहानी की ओर बढ़े -

"दिनभर जियावन की तबीयत अच्छी रही।... जाड़े का दिन झाड़ू-बुहारी, नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गया। मगर जब संध्या समय फिर जियावन का सिर भारी हो गया, तब सुखिया घबरा उठी। तुरंत मन में फाँका उत्पन्न हुआ कि पूजा में विलंब से ही बालक फिर से मुरझा गया है। अभी थोड़ा सा दिन बाकी था। बच्चे को लिटा कर वह पूजा का सामान तैयार करने लगी। फूल तो जमींदार के बगीचे से मिल गये। तुलसीदल द्वार पर ही था। पर ठाकुर जी के भोग के लिये कुछ मिष्ठान चाहिये, नहीं तो गाँव वालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिए कम से कम एक आना तो चाहिए। सारा गाँव छान आयी, कहीं पैसे उधार नहीं मिले। अब वह हताश हो गयी। हाय रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दुकान पर गई। कड़े गिरवी रखे, बताशे लिए और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिए मंदिर की ओर चली।" (मंदिर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखिया का लड़का जियावन दिन भर ठीक रहता है। संभवतः उसे मियादी बुखार जैसी कोई बीमारी हो। इस बीमारी के चलते मरीज दिन में अपेक्षाकृत स्वस्थ महसूस करता है, लेकिन संध्या होते उसकी तबीयत नासाज होने लगती है।

यहाँ कहानी अंधविश्वास के पहलू में चली जाती है। बालक की बीमारी से आजिज़ सुखिया बालक को गोदी में लिए तथा दूसरे हाथ में पूजा का थाल लिए मंदिर के द्वार पर जा खड़ी होती है।

पुजारी बोले–"तो क्या भीतर चली आएगी? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भी भ्रष्ट करेगी?"

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा- " ठाकुर जी के चरण छूने आई हूँ, सरकार पूजा की सब सामग्री लाई हूँ।"

पुजारी–"कैसी बेसमझी की बात करती है, रे। कुछ पगली तो नहीं हो गई। भला तू ठाकुर जी को कैसे छुएगी?"

सुखिया को अब तक ठाकुर द्वारे में आने का अवसर नहीं मिला था। आश्चर्य से बोली–"सरकार वे तो संसार के मालिक हैं, उनके दर्शन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जाएगी?"

पुजारी–"अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया–"तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती है सरकार।" इस पर वहीं एक भक्त महोदय, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, बोले–'मार कर भगा दो चुड़ैल को। भ्रष्ट करने आई है। फेंक दो थाली वाली। संसार में तो आप ही आग लगी हुई है। चमार भी ठाकुर जी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जाएगी।'

यहाँ रूढ़िवादिता है। धर्म का महिमा-मण्डन कहानी का देशकाल बन जाता हैं। धर्म भीरूता कहानी के रोएं रेशे हो जाते हैं। कहानी में ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व की वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से नाप-जोख होती है। कहानी सनातनी संस्कारों में पलती बड़ी होती है, जहाँ एक जाति विशेष के प्रति पूर्वाग्रह पानी पर काई की तरह तैरते हैं, वहीं कहानी मानवीय संवेदनाओं, सामाजिक सरोकारों और समय सापेक्ष बदलाव से पूरी तरह मुँह फेरे है। "कलम का सिपाही" भीख को सम्मान और श्रम को अपमान मानता है।

मुंशी प्रेमचन्द दलितों के प्रति जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह भी हृदय चीरती है जो कि पूरी तरह दुराग्रही, फूहड़ और असंतुलित है। उनकी कहानियों और उपन्यासों में चमारिनों के लिए चुड़ैल और चमारों तथा आदिवासियों के लिए चाण्डल जैसे निकृष्टतम शब्द बहुधा प्रयुक्त हुए हैं। लाँछनिक भाषा का यह प्रयोग ख़ून निकालता है। वरिष्ठ लेखक विभूति नारायण राय की बात जंचती है। परोक्षतः उनका संकेत प्रेमचन्द द्वारा दलित पात्रों के लिये अपनायी भाषा की ओर है।

"देश के जिन भागों पर वर्णव्यवस्था की जकड़न जितनी मजबूत थी, उनकी भाषा उतनी ही क्रूर और दुर्बल विरोधी थी। हिन्दी का उदाहरण लें तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। दलितों और स्त्रियों को ले कर तमाम गालियाँ हैं।" (वर्णाश्रमी असभ्यता/विभूतिनारायण/अन्यथा/अंक-4/अगस्त, 2005/पृष्ठ 83)

"मंदिर" कहानी धर्मान्धता की ओर बढ़ चली है। 'पुजारी संभल कर बोले–"अरी पगली ठाकुर जी भक्तों के मन के भाव देखते हैं, कि चरणों पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है–'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' मन में भक्ति न हो तो लाख कोई भगवान के चरणों में गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जंतर है। दाम तो उसका बहुत है, पर तुझे एक ही रुपये में दे दूँगा।"

सुखिया–"ठाकुर जी की पूजा न करने दोगे?"

पुजारी–"तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। तू यह जंतर ले जा, भगवान चाहेंगे, तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जाएगा। किसी की दीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छतरी बंस है।"

"मालूम होता है, छतरी बंस है।"

यहाँ सुखिया के चरित्र पर सीधा लांछन है, चरित्र हीनता का। प्रेमचन्द कहना यह चाहते हैं कि वह लड़का उसके मृत पति का खून नहीं, किसी गैर (क्षत्री) की जारज संतान है। सुखिया ग़रीब है। चमार है। बीमार बच्चा उसकी गोदी में है, चारों ओर से बिंधी क्या कहे बेचारी। महिलाओं के चरित्र को ले कर प्रेमचंद कुछ ज़्यादा ही संशयी और अविश्वासी रहे हैं।

"गोदान" के नारी पात्रों में सिलिया का चरित्र सबसे पतित है, क्यों कि वह चमार है। "मंदिर" की सुखिया चमारिन पर सीधा यह लाँछन है कि उसका बेटा छतरी बंस है। क्यों कि वह चमार है। यहाँ छतरी बंस होना कहानी की माँग नहीं है, लेकिन वर्णवादी मानसिकता लेखक का पीछा नहीं छोड़ती। अपनी यौन शुचिता के कारण जहाँ गाँव को स्वर्ग कहा गया है, वहीं प्रेमचन्द ग्रामीण पात्रों में यौनिक व्यवहार की अति दिखाकर गाँव को नरक सिद्ध करते हैं।

एक सृजन होता है, सार्वभौम, और दूसरा होता है, स्वभौम। स्वभौम लेखन में अपने आग्रहों, पूर्वाग्रहों और कुंठाओं के चलते लेखक खुद आनंद विभोर रहता है। दलित पात्रों को गढ़ते प्रेमचंद ने चटकारों के साथ खूब मजे लिए हैं, चाहे दूसरों का खून निकलने लगे।

"रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कंबल से ढक कर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मंदिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पांव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। रास्ता दो फर्लांग से कम न था। पगडंडी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरों में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुडैलों का अड्डा था।... चारों ओर सशं-सशं हो रहा था, अंधकार सायं-सायं कर रहा था। सहसा गीदड़ों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने कर्कश स्वर ने हुआँ-हुआँ करना शुरू किया। हाय! उसे कोई एक लाख रुपये भी देता, तो भी वह इस समय न आती, पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। हे भगवान! अब तुम्हारा ही आसरा है। यह जपती मंदिर की ओर चली जा रही थी।''

यहाँ प्रेमचंद अंधविश्वास के पम्फलेट के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। किसी पात्र के संवाद स्वरूप नहीं, खुद की अभिव्यक्ति लेकर। भूतप्रेत, प्रेतात्मा, चुडैलों, भाग्य-भगवान, पुनर्जन्म तथा मंदिर-मूर्ति को लेकर प्रेमचंद की पच्चीस-तीस कहानियाँ हैं। जाहिर है, इन सबमें उनकी अटूट आस्था थी।

''बाँस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था''।

यहाँ प्रेमचंद कहानी में किसी तांत्रिक के मायाजाल की भांति विश्वास जताते हैं, मानो चुड़ैलें शरीरी हो। लेखक उनके अड्डे पर बैठ कर उनसे बोले हों, बतियाते हों। अगर अंध के प्रति सृजन का यही यकीन प्रगतिशीलता की श्रेणी में आता है, तो प्रगतिशीलता का नाम फरेब, पाखंड या रूढ़िवादिता रख दें!

अपने बीमार बच्चे को कंबल में लिपटा कर गोदी में लिए दूसरे हाथ में पूजा की थाली लेकर सुखिया भरी रात मंदिर द्वार पहुँच गई है। मंदिर के गेट पर ताला पड़ा था। पुजारी मंदिर में बनी कोठरी में किवाड़ बंद किये सो रहा था। कहानी के अनुसार चहुंओर घना अंधकार छाया था। सुखिया ने चबूतरे के नीचे से ईंट उठा ली और जोर-जोर से ताले पर पटकने लगी।

विरोधाभास के कारण यहाँ कहानी लचर हो जाती है। कहानी में आये विभिन्न घटनाक्रम के अनुसार सुखिया का टाबर तीन साल से सात साल तक बैठेगा। जब वह उसे खेत में साथ ले जाती है और उसके लिए घास छीलने के लिए छोटी सी खुरपी और झीका बनवाने की कहती है, वहाँ वह बालक निश्चित तौर पर 3-4 साल का है। रात जब वह थोड़ा ठीक होता है और जिस तरह बतियाता है और गुड़ खाने की जिद्द कर गुड़ की डली खा जाता है, वहाँ वह बालक 4-5 साल का है और जब वह घर से चल कर मंदिर तक खेलने चला आता है, वहाँ बालक जियावन निश्चित तौर पर 6-7 वर्ष का है। यानि 6-7 वर्ष का बालक कंबल में लिपटा था, दूसरे हाथ में पूजा की थाली थी, सुखिया चबूतरे के नीचे से ईंट उठा, मार-मार ताले को तोड़ डालती है।

जब कोई आदमी अंदर सोता है तो स्वाभाविक है कि वह ताला भी अंदर की ओर ही लगा कर सोएगा। मंदिरों के गेट भी लकड़ी के भारी तख्तों के हुआ करते थे, जो गाँव के छुट्टे साँड और भैंसे की धूण से ना हिलें। यहाँ यह बात पाठक की समझ से परे है कि गोदी में कंबल लिपटा बीमार बच्चा, दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिये सुखिया गेट के अंदर लगे ताले को ईंट मार-मार कर तोड़ती है।

द्वार पर ताला टूटने की आवाज सुन कर कोठरी में सोया पुजारी लालटेन हाथ में लिए बाहर निकल आया। उसने जोर-जोर से हल्ला करके गांव जुटा लिया था।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूंसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े थी और दूसरे से उस की रक्षा किये थी।

पूजा की थाली ''मंदिर'' कहानी का जीव है। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा किये थी। थाली न छिटकी, न गिरी, न उछली। फिर गई तो गई कहां। सुखिया जब ईंट उठा कर ईंट मार-मार कर गेट का ताला तोड़ती हैं तब भी थाली ओझल रहती है। जितना बड़ा लेखक, उससे बड़ी चूक।

''बीमार बच्चा सुखिया के हाथ से छिटक कर फर्श पर गिरा और ठंडा हो गया। अपने कुलदीपक के बुझते ही सुखिया बिफर पड़ी। उसकी दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीस कर बोली- ''पापियों, मेरे बच्चे के प्राण ले कर दूर क्यों खड़े हो?''

आँसू बहाती सुखिया कहती है—''तुम सबके सब हत्यारे हो। निपट हत्यारे। डरो मत, मैं थाना कचहरी नहीं जाऊँगी। मेरा न्याय भगवान करेंगे। अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी।''

इतना कह कर सुखिया भी मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ी और उसके प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। लेखक ने ठाकुर जी की मनौती के लोभ में उसके गहने ठगा दिये। इकलौते पुत्र की नृशंस हत्या करा दी। सुखिया का आत्मघात करा दिया।

यहाँ भी प्रेमचंद सुखिया को थाना कचहरी न पहुँचा कर भगवान के दरबार में फरियादी के रूप में भेजते हैं। किसी न किसी कथानक के बहाने दलितों की हत्या कराना, उन्हें मरवाना, कुटवाना, पशुवत व्यवहार, दलित औरतों को रखैल बना देना प्रेमचन्द के सृजन का सूत्र रहा है। यह सूत्र मनुस्मृति का मानस-पुत्र है।

प्रेमचंद कहानी के अंतिम वाक्य में दकियानूसी की जड़ों को और मजबूती प्रदान करते हैं।

''माता तू धन्य है। तुझ जैसी निष्ठा, तुझ जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है।''

प्रेमचंद का यहाँ आशय यह है कि विधवा सुखिया ने अपने बीमार बच्चे की दवा कराने की बजाय मंदिर और मूर्ति (भगवान) में जो विश्वास व्यक्त किया, वैसा देवताओं को भी दुर्लभ है। कितना बड़ा वितंडा है। आश्चर्य यह है कि यह कहानी वर्षों तक विभिन्न कक्षाओं के पाठ्यक्रम में रही।

प्रेमचंद को साहित्य जगत में मूर्ति मान लिया गया। मूर्ति के प्रति, सिर्फ आस्था ही प्रकट की जा सकती है। उसके चरित्र, अस्तित्व, आकार-प्रकार और नखशिख की आलोचना करने वाला विधर्मी माना जाता है। दरअसल प्रेमचंद को आज तक आराधना की दृष्टि से पढ़ा गया है। अलोचना की दृष्टि से उनके लेखन का अध्ययन नहीं हुआ। यदि उनके सृजन में आई अपरिपक्वता, अव्यवहारिकता, खामियों, पाखंड, ईश्वरवाद और उनके कट्टरपंथी बाना पर शोध कार्य हो तो इसके 'आउटपुट' से कई किताबें निकल सकती हैं।

भाड़ावास हाउस, सी-137, महेश नगर, जयपुर-302015

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

मदन केसरी

पहरे के समय

रात के साढ़े ग्यारह बजे बारिश में घुलती
एक आवाज़ आ रही है मेरी ऊपरी तल की खिड़की से
किसी स्त्री के रोने की आवाज़
रह-रह कर हिचकियों में टूटती हुई
यह ज़ोर-ज़ोर से रोने की आवाज़ नहीं,
जो दुःख की असह्यता से फूटती है
एक धीमा स्वर है, बिलखने का
दुःख को लगातार सहते जो गले में घुटता है

बीच-बीच में एक मर्द की गरजती आवाज़
शीशों को झंझोड़ती है
वह आदमी शायद पीट रहा है उस औरत को
फ़र्श पर तेज चलते पैरों की आहट है
किवाड़ों के बंद होने-खुलने के बीच
कुछ गिर रहा, बिखर रहा,
अचानक औरत के मुँह से एक कराह निकलती है
शायद उस आदमी ने उसके सर पर कुछ मारा है
सिगरेट का राखदान, बच्चे का स्लेट,
लकड़ी की कोई मूर्ति या पीतल का फूलदान
बंद किवाड़ों के पीछे, बच्चों की भयभीत चुप्पी के बीच
एक स्त्री का शरीर सिहर रहा है डर से

बाहर चौकीदार सीटी बजाते पहरा दे रहा
रात में गूंज रही है उसकी सीटी।

तरबूज खरीदने आया वह तिपहिएवाला

अपने खड़खड़ाते तिपहिए को किनारे लगा
वह आकर खड़ा हो गया था मेरे पीछे चुपचाप
मैं तरबूजवाले के तिरपाल के अंदर था मगर वह बाहर ही रहा
जून की कड़ी धूप उसके सर पर बरस रही थी
और वह शायद
तरबूज बेचने वाले के खाली हो जाने का इंतज़ार कर रहा था
मुझे ऐसा लगा
मगर मैंने जब देखा तो वह किसी तरबूज को घूर रहा था
मुझे वक़्त लगा और वह खड़ा रहा
खड़ा रहा और देखता रहा तरबूजों की तरफ
एक-एक तरबूज को उलट-पलट रही थीं उसकी आँखें

संभव है उसकी भी कोई बच्ची होगी जिसने कहा होगा
'शाम को बाबू जब आना घर, ज़रूर लाना एक तरबूज
भूलना मत, वरना हो जाएगी कुट्टी!
सारे दिन सड़कों पर गियर बदलते, ब्रेक लगाते
बस-ट्रक-टेम्पू के बीच रुकते-चलते
जब-जब उसे याद आई होगी वह बात
ट्रैफिक की सारी आवाज़ें
उसकी बच्ची की हंसी में बदल गई होंगी
सोचता रहा होगा सवारियों को उतार सुस्ता रहे क्षणों में
भागकर आएगी जब बेटी,
बोलूँगा
'पहले एक मीठी पप्पी, फिर मीठा तरबूज!'

खड़ा-खड़ा वह देख रहा था, सोच रहा था कुछ
मेरे जाने के बाद शायद वह कुछ मोल-तोल करता
या किसी ग्राहक द्वारा छोड़ा हुआ कोई कटा तरबूज
सस्ते ले जाता
इसी बीच एक कार से उतरे एक औरत एक मर्द
आपस में अंग्रेज़ी में बात करते आए पास
पूछा, 'मीठे हैं?' निकालो तीन-चार अच्छे चुनकर!'
मिनटों में ख़रीद लिये उन्होंने तीन बड़े तरबूज
औरत ने पर्स खोला,
पाँच-पाँच सौ के नोटों के बीच
उसकी उंगलियाँ खोजने लगीं कोई छोटा नोट,
लापरवाही से फेंके सवा सौ रुपए
तरबूजवाले ने लाद दिये गाड़ी के पीछे
तीन भारी तरबूज

तिपहिएवाला अभी भी खड़ा था मेरे पीछे
तौल रहा था एक-एक तरबूज, और तोल रहा था खुद को
पलड़े में हर बार भारी पड़ रहा था तरबूज।

131-सी, पॉकेट-सी (द्वितीय तल)
सिद्धार्थ एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110014

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

कपिल कुमार

दिल क्या करे

इस घड़ी दो क़दम पर
मंज़िल खिसक जाए अगर
तो उस घड़ी दिल क्या करे !

इस घड़ी आतंक से
इंसान बन जाए सफ़र
तो उस घड़ी दिल क्या करे!

जन्म से पहले सभी की कुंडली
भगवान के हाथों बनी है आज तक,
खुद वही इंसान की
रहता नहीं कोई ख़बर
तो उस घड़ी दिल क्या करे!

बेबसी बेचारगी खुशियाँ रही हैं हमसफ़र
हर पल हमेशा उम्र भर,
आदमी की कोशिशें
कुछ भी न दिखलाए असर
तो उस घड़ी दिल क्या करे!

शाहुरा जिस वक्त मौजों की रवानी
बाँध ले पतवार की ज़ंजीर में,
छोड़ देने को भरोसा
आब बन जाए ज़हर
तो उस घड़ी दिल क्या करे!
आस्मां को नापने के वास्ते जब भी
उड़ानों का उमड़ता कारवां,
तब मिसाइल दुश्मनों का
क्षय, बरपा दे कहर
तो उस घड़ी दिल क्या करे !

कहें 'कपिल' कविराय

माता हो यदि सोनिया करे पुत्र की बात,
राजनीति का खेल जो खेल रहा दिन-रात।

खेल रहा दिन-रात, नहीं जज़्बात दिखाए,
तिनका उड़ते हुए नई ताकत बन जाए।

कहें 'कपिल' कविराय-खुले राहुल का खाता,
लेकिन उनको समझ नहीं पाई है माता।

कहे कपिल कविराय

माँगा राहुल ने नहीं मंत्री-पद फ़िलहाल,
सिर्फ़ पार्टी के लिए बने रहेंगे ढाल।

बने रहेंगे ढाल, करेंगे सबकी सेवा,
संसद में चुपचाप मिला करती है मेवा।

कहें 'कपिल' कविराय-कार के बदले ताँगा,
मुश्किल से ही कभी किसी ने अब तक माँगा।

0 0 0

बातें करना सरल है कठिन बताना अर्थ,
समझाना या समझना सबको लगता व्यर्थ।

सबको लगता व्यर्थ किताबों का मुस्काना,
शब्दों का संवाद बनाता नया तराना।

कहें 'कपिल' कविराय-बोलती हैं बरसातें,
बातूनी के पास सिर्फ़ बातें ही बातें।

कहें 'कपिल' कविराय

बेटी तो हर बाप का होती है अभिमान,
मान और सम्मान को देती है पहचान।

देती है पहचान, देखता रहे ज़माना,
वही सिखाती हमें दुखों में भी मुस्कान।

कहें 'कपिल' कविराय-बंद जादू की पेटी,
ममताभरा समुद्र छिपाती दिल में बेटी।

0 0 0

मर्यादा पालन करो जैसे पूत सपूत,
मन मीठा करता रहे पका हुआ शहतूत।

पका हुआ शहतूत, पचाने की है सीमा,
बहुत दिनों तक रहे असर भी धीमा-धीमा।

कहें 'कपिल' कविराय-नहीं कम हो या ज़्यादा,
जीवन में बस याद रखो अपनी मर्यादा।

4, गंगा भवन, 24वां रोड, बांद्रा (वेस्ट), मुंबई-400050

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौ दिन की सौगात

प्रज्ञा प्रियदर्शिनी

'काल करे सो आजकर आज करे सो अब' को चरितार्थ करते हुये चुनाव के तुरंत बाद माननीय राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल ने राष्ट्र के नाम प्रथम संदेश में यू0पी0ए0 सरकार के '100 दिन का कार्यक्रम' की घोषणा कर दी। '100 दिन का कार्यक्रम' आर्थिक इतिहास में कोई नवीन धारणा नहीं है। 1933 में अमेरिकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने आर्थिक अवसाद के उपचार के लिए 100 दिन का लक्ष्य निर्धारित किया था।

इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य है प्रशासन। उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कार्यक्रम के लक्ष्य हैं—महिला उत्थान, सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों का प्रभाव पूर्ण क्रियान्वयन, प्रतिबद्धता, पारदर्शिता, सांप्रदायिक सद्भावना, क्षेत्रीय व वर्गीय आर्थिक असमानता को कम करना तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना। यदि इन लक्ष्यों का 50 प्रतिशत भी प्राप्त कर लिया जाये तो देश की आर्थिक व सामाजिक तस्वीर कुछ और ही होगी। प्रश्न है कितनी सफलता मिलेगी ?

देश में व्याप्त वर्तमान हालात तथा सरकारी नीतियों की सफलता के पिछले इतिहास को देखते हुये आशावादी परिणाम संदिग्ध है।

देश इस समय आर्थिक व राजनैतिक संक्राति से गुज़र रहा है। पूरे देश सूखे की चपेट में है। आतंकवाद और नक्सलवाद से देशवासी आक्रांत हैं। महामारी स्वाइन फ्लू सुरसा की भाँति मुँह फैलाये एक शहर से दूसरे शहर की ओर बढ़ती चली आ रही है। शर्म-अल-शेख़ में पाकिस्तान के साथ दिये गये सम्मिलित वक्तव्य से देश की विदेशी नीति आलोचनाओं के घेरे में है। लक्ष्य को प्राप्त करने की यह नई रुकावटे हैं।

वैश्विक आर्थिक अवसाद का भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी गहरा प्रभाव है। स्थिति को नियंत्रित करने के लिये उठाये गये सरकारी क़दम डगमगा रहे हैं। एक ओर वित्तीय घाटे को नियंत्रित करना कठिन है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष कर से प्राप्त आय का लक्ष्य पूरा करना कठिन प्रतीत हो रहा है। अतः सरकार ने नया प्रत्यक्ष कर कोड जनता के सामने रखा है जिसके तहत प्रत्यक्ष कर में दी गयी रियायतों को कम करने की बात कही गयी है। नरेगा के अंतर्गत निर्धारित मजदूरी की दर 100 रुपये प्रतिदिन पर ही निश्चित कर दी गयी है, जो जीवन के लिये बुनियादी वस्तुओं की वर्तमान कीमतों को देखते हुये बहुत कम है। लोग ग़रीबी व भूख के कारण आत्महत्या कर रहे हैं व मर रहे हैं।

भ्रष्टाचार, घूसखोरी, लालफीताशाही और अज्ञानता, कल्याण कार्यक्रमों के लिये निर्धारित राशि पर सेंध लगा रहे हैं। स्व0 राजीव गांधी का कथन—''सौ रुपये में से सिर्फ 10 रु0 की लक्षित व्यक्ति तक पहुँचते हैं' आज भी सत्य है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमने कुछ भी प्राप्त नहीं किया है। शिक्षा का अधिकार बिल दोनों सदनों द्वारा पारित हो चुका है। देश की राष्ट्रपति व लोकसभा अध्यक्ष महिलायें हैं। पंचायत में महिलाओं के लिए 50 प्रतिशत आरक्षरण प्रदान करने के लिये केन्द्रीय बिल आ रहा है। बिहार पहला राज्य है जहाँ पंचायत में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त हो चुका है। 1000 रुपये का कृषि ऋण माफ किया गया है। सीमांत कर दाता व वयोवृद्ध नागरिकों को आय कर में कुछ राहत मिली है। सूचना अधिकार अधिनियम के अंतर्गत अनेक बुराइयों पर से परदा उठाने में सफलता मिली है।

समय की माँग है कि सरकार व जनता की भागीदारी द्वारा संपूर्ण देश में रोजगार के नये अवसर बढ़ाये जायें। शिक्षा मौलिक अधिकार है, यह बात जन-जन तक पहुँचाना नितांत आवश्यक है। प्रजातंत्र की सफलता और भ्रष्टाचार नियंत्रण के लिये नागरिक सतर्कता अचूक शस्त्र है। मीडिया इस संबंध में काफी सक्रिय है, फिर भी उससे और अधिक घनात्मक व फलदायक सहयोग की अपेक्षा की जाती है।

ए-91, सेक्टर-34, नोयडा-201...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मकथा की कसौटी और दलित-साहित्य की पृथक अस्मिता के प्रश्न

प्रेम शशांक

समीक्ष्य गद्य-कृति को पंजाबी भाषा-साहित्य की पहली दलित आत्मकथा कहकर विभूषित करने के पर्याप्त प्रयत्न दिखायी देते हैं। पहला ऐतराज़ इसे आत्मकथा कहने को लेकर है जैसे 'मेरा दागिस्तान' को यदि आत्मकथा के रूप में देखा जाये तो जो हेठी उस पुस्तक की होगी वही बात छांग्या रुक्ख के पाठ संदर्भ में कही जा सकती है। इन दोनों कृतियों में सीधे तौर पर कोई समानता भले न हो लेकिन गद्य के रचनात्मक सौंदर्य के संदर्भ में उसकी स्मृति बहुत स्वाभाविक है। दूसरा ऐतराज, इसे दलित संदर्भ में प्रचारित करने को लेकर है। ऐसा नहीं है कि इसमें दलित संदर्भ या समस्या नहीं है लेकिन लेखक ने इतने व्यापक परिदृश्य और संदर्भों में रखा है कि उन्हें केवल 'आत्मकथा के संदर्भ में देखना और परखना कृति के साथ अन्याय होगा। उनके गद्य में वैयक्तिक वेदना सामाजिक प्रश्न बनकर उभरती है। यह लेखक का लक्ष्य है और उसे श्यौराज सिंह बेचैन बखूबी समझते हुए ही कहते हैं कि दलित समस्या वैयक्तिक नहीं है, सामाजिक हैं।

दलित साहित्य की पृथक अस्मिता के मूल में यह तर्क है कि जो भोक्ता है उससे अधिक प्रमाणिक अभिव्यक्ति कौन कर सकता है। अर्थात दलित ही दलित के दर्द को सही ढंग से समझ सकता है, लिख सकता है। यहीं से हर भाषा में आत्मकथा लेखन का सिलसिला चल निकला और दलित साहित्य आंदोलन में मुख्य आधार बना। अनुभूति की गहराई और अनुभवों की प्रामाणिकता एक बार फिर आज़माइश पर थी और नतीजा भी कोई बहुत अलग नहीं निकला। आत्मकथाओं अथवा आत्मकथानुमा कथा रचनाओं की जैसे बाढ़ सी आ गई और ऐसी प्रयोगात्मक कमज़ोरियाँ इस मिशन में बाधक ही ज़्यादा सिद्ध हुई। समीक्ष्य कृति न केवल सामाजिक विषमता से उत्पीड़ित व्यक्ति की वैयक्तिक वेदना को स्वर देती है बल्कि सामाजिकार्थिक संदर्भों में सामूहिक चेतना की ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तरदायी समाज व्यवस्था का सशक्त प्रतिरोध करते हुए सतत समीक्षा का एक अच्छा रचनात्मक उदाहरण भी प्रस्तुत करती है। दुनिया के अन्य समाजों की तरह भारतीय समाज भी विषमता मूलक व्यवस्था से अछूता नहीं रहा है। आर्थिक विषमता सामाजिक विषमता के लिए आधार तैयार कर ही देती है। सिख समाज के बारे में एक सामान्य धारणा है कि इस समाज में श्रेणीबद्ध विभाजन या विषमता नहीं रही है। समीक्ष्य कृति इस भ्रांत धारणा का पुरजोर ढंग से पर्दाफाश करती है।

बलवीर माधोपुरी कहते हैं कि आत्मकथा लिखते समय यह ख़्याल लगातार मेरे ज़ेहन में रहा कि उन समस्याओं, असमानताओं, बेइंसाफियों और घटनाओं को एक पक्षीय और भावुक हुए बगैर प्रस्तुत करूँ, जिसका मेरे संग गहरा वास्ता रहा है। यही कारण है कि पाठकीय संवेदना वैयक्तिक वेदना में डूब कर नहीं रह जाती है बल्कि सामाजिक समरसता के लिए संघर्ष के प्रति आशान्वित करती है। लेखक दलितों की सामाजिक स्थिति की ख़बर लेने के लिए बन्दोवस्त (खाज़), गाँव-माधोपुर, जिला-जालंधर 1914-15 में उल्लिखित व्यवस्थाओं में घुसता है जिसमें बढ़ई, कुम्हार, लुहार, नाई, चूहड़ा या चमार, धोबी, झीवर, कहार आदि के लिए काम और जिम्मेदारी और बदले में किसान इन्हें क्या देगा, इसका जिक्र है। इस गज़ट में चूहड़ा या चमार के आगे-'काम-'बेगार करना' लिखा है और किसान इन्हें क्या देगा स्तंभ में-'बेगार में मुर्दा पशु उठाने के लिए देना की व्यवस्था है। यह जितनी शर्मनाक है, उतनी ही यथार्थ की कसौटी पर खरी है। इससे यह सच भी उघड़ जाता है कि यह सिर्फ़ सामाजिक बुराई नहीं है बल्कि यह बुराई कितनी व्यवस्थित और तार्किक ढंग से जीवन में पैबस्त रही है जहाँ शर्म भी छोटी पड़ जा रही है। चकित करने वाली बात यह है कि यह व्यवस्था यहाँ या इस कालखंड में ठहर कर नहीं रह जाती है बल्कि लेखक के 45 वर्षों के जीवन में लगातार साथ चलते हुए तमाम प्रगतिशीलता के दावों को झुठला रही है। इसका अस्तित्व सबसे ज़्यादा शिक्षा के महत्व को ख़ारिज़ कर रहा है। लेखक इन यथार्थ स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं है बल्कि भोक्ता है। सारी पढ़ाई-लिखाई और सम्मानजनक नौकरी के बावजूद दिल्ली जैसे समृद्ध और विकसित महानगर में मकान ढूंढ़ने के दौरान् उसे अपनी पहचान से बार-बार रूबरू होना पड़ता है इसलिए सोचता है-सोवियत समाजों में श्रम की महत्ता, पूरे समाज के लिए सहकारिता, सेहत, शिक्षा के लिए सरकारी योजनाएँ हैं और हमारे यहाँ मेहनत मज़दूरी और गंद-मंद की सफ़ाई के बदले, गंदे-मंदे नफ़रत भरे शब्द, जाति के उलाहने, अन्याय-अत्याचार और इन सबके परिणामस्वरूप मेहनतकश 'कमीन' लोगों को मनुष्य ही न समझने की बेईमानी को क़ायम रखने की साज़िशों के अलावा है ही क्या?

लेकिन इन यथार्थ-स्थितियों को लेकर लेखक किसी यूटोपिया में नहीं है इसीलिए वह बेझिझक कह पाता है कि जात-पाँत और छुआछूत का कोढ़ एक ऐसी बीमारी है जिसके कीटाणुओं के मरने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जल्दी कोई संभावना नहीं है। "किराये पर रहने की समस्याओं के विषय में एक दिन मैंने अपने एक कुलीग से बात की तो उसने एक जुगत बताई। बोला, 'देख अब तू पगड़ी तो बाँधता नहीं। कमरा किराये पर लेने के लिए नाटक करना पड़ता है। सुन, एक दिन मैं जैनियों के मुहल्ले में छत पर टहल रहा था। तभी, एक आदमी साथ वाली छत पर घूमता हुआ दिखाई दिया। उसने जनेऊ कान पर चढ़ाया हुआ था ताकि दूर से ही उसकी पहचान हो सके। मैंने उसे देखा और पूछा-पुरुषोत्तम, यार तू! मुझे तो तूने बताया था कि कोटे से आया है। इस पर वह बोला-धीमे बोल, लोग मकान देने से पहले सौ बातें पूछते थे, नखरे करते थे। यारों को भी जुगत सूझी, चवन्नी का धागा खरीदा और जनेऊ बनाकर पहन लिया। अब ये सारे जाट-जैनी पंडित जी, पंडित जी कहते आगे-पीछे घूमते हैं।" इससे यह तो तय है कि वैचारिक स्तर पर जब शहर में यह स्थिति है तो गाँवों में कितना बदलाव आया होगा। लेखक बताता है कि 'अगर अछूतों (चमार चूहरों) का कोई लड़का नहा-धोकर और बाल सँवार कर घर से बाहर निकलता तो दरख्त के नीचे या चबूतरे पर बैठी जाटों की ढाणी में से कोई एक उठकर उसके सिर में मिट्टी डाल देता। अगर वह विरोध करता तो उसकी धुनाई की जाती। इसी तरह अछूत जाति के किसी आदमी द्वारा नए कपड़े पहन कर निकलने पर उसे मारा-पीटा जाता कि तुम लोग नकल या बराबरी करते हो।'

शहर और गाँव के इन दो अनुभवों के बीच तकरीबन तीन-चार दशक का फासला है। इस काल खंड के अंतर से एक ही बात समझ आती है कि इस वर्ग के जो लोग शिक्षा के माध्यम से उन्नति कर सके, उनका श्रम रंग लाया। यह अलग बात है कि सवर्ण वर्ग उनकी उन्नति को रोक नहीं सका। यह कचोट ही उन्हें हर नये व्यक्ति की पहचान जानने को उकसाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके भीतर जहाँ वैचारिक दरिद्रता है वहीं समाज की एक समान उन्नति के प्रति कलुषता है जो तमाम संचार माध्यमों के विकास के साथ भी मिट नहीं पा रही है, इसे एक तरह की खिसियाहट भी कह सकते हैं। इस गद्य-कृति में लेखक के पिता का चरित्र बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। हरेक स्थिति-परिस्थिति का न केवल वह डटकर मुकाबला करते हैं बल्कि वैचारिक रूप से अपना नज़रिया रखने से भी नहीं चूकते। यदि किसी गद्य-कृति में लेखक का कोई मानस चरित्र ज़रूरी होता है तो इसमें पिता के चरित्र को इस भूमिका में देखा जा सकता है। अपनी वय-विकास के साथ लेखक भी वैचारिक जगत् से जुड़ता चला जाता है जिसमें संघर्ष के साथ उसके पिता के वैचारिक हस्तक्षेप की एक महत्वपूर्ण भूमिका कही जा सकती है। वह कहता है 'इन विचारों ने मेरी कविताओं के सरोकारों को और अधिक प्रचण्ड कर दिया-श्रमिक वर्ग जाति-भेद, अधिकारों से वंचित लोग, इनमें अधिक स्थान लेने लगे।' लेखक के इस रहस्योद्घाटन से भी समझा जा सकता है कि निजी अनुभवों के साथ वर्गीय सामाजिक चिंता से वह किस तरह गहराई से जुड़ा है। यही विशिष्टता 'छांग्या रुक्ख' को आत्मकथा से आगे ले जाती है और कमलेश्वर के यक्ष-प्रश्न का उत्तर भी बनती है जब वह कहते हैं कि 'वही प्रश्न आज भी मेरे सामने है कि दलित-अनुभव की सर्वोत्तम रचनाशीलता की वेगवती धारा आत्मकथाओं तक आकर सूखने-सी क्यों लगती हैं? कमलेश्वर के इस प्रश्न को दलित साहित्य की पृथक अस्मिता से जोड़कर देखा जा सकता है। दलित-लेखन की अलग पहचान बने, यह सुखद है और ज़रूरी भी, लेकिन इसे जिस तरह से 'दलित ही दलित के दर्द को समझ सकता है, लिख सकता है जैसे संकुचित दायरे में समेट कर देखा जा रहा है, वह वाकई दलित-लेखन की पृथक सृजनात्मक पहचान के विकास के लिए घातक हैं। ऐसे ही प्रयास मुक्तिबोध, निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन की सतत् परंपरा से जोड़ते हैं। इस परंपरागत थाती से जुड़कर ही किसी बेहतर विकास की उम्मीद की जा सकती है।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लिमि0, सेमीखेड़ा, बरेली-243203

छांग्या रुक्ख, बलवीर माधोपुरी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 300 रुपये

■

प्रखर परिवेश-बोध का तथ्यपरक विश्लेषण : साहित्य और परिवेश

डॉ. बनवीर प्रसाद शर्मा

वेदप्रकाश अमिताभ कृत 'साहित्य और परिवेश' दो खंडों में विभक्त है। विमर्श खंड और मूल्यांकन खंड, जिनमें पन्द्रह-पन्द्रह आलेख हैं। विमर्श खण्ड जहां उनकी अनुसंधान वृत्ति की गंभीरता, विस्तृत जानकारी की व्यापकता और वस्तुनिष्ठ पकड़ का परिचय देता है, वहीं आलोचना खंड उनकी समीक्षा-शक्ति, उनकी वृहत्तर सोच, उनकी सकारात्मक मूल्यदृष्टि और जनपक्षधरता को एनलार्ज करता दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं है कि शहद या तेजाब में कलम डुबोकर समीक्षा लिखने के बरखिलाफ एक तीसरा वर्ग ऐसे आलोचकों का सामने आया है जो वस्तुनिष्ठ, आग्रहमुक्त और सर्जनात्मक समीक्षा लिखने के पक्षधर हैं। ऐसे समीक्षकों में डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ का नाम तेजी से उभरा है, जो न किसी वाद से बंधे हैं और न किसी शिविर के सदस्य हैं। मार्क्सवादी रचनाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उन्हें आकर्षित करते हैं और नरेश मेहता जैसे वैष्णवी चरित्र के रचनाकार भी, बशर्ते मानव में विराजे श्रेष्ठ को जगाने का संकल्प और सकारात्मक मूल्यदृष्टि उनमें हो। डॉ. विवेकी राय ने उनकी रचनात्मक विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है- विशाल अध्ययन की छाप, विविध क्षेत्रों की जानकारी और अति संवेदनशील स्थानों पर उंगली रख देने की क्षमता, इन विशेषताओं का विस्तार उनकी समीक्षा में भी दिखाई देता है। हालांकि अमिताभ बड़े-बड़े लेखकों के अतिवादी विचारों को बड़े संयत, सधे हुये, सलीके से उन संदर्भों की जुगाली किये बिना बड़ी दृढ़ता से खारिज करने से नहीं चूकते जो इस टिप्पणी से पुष्ट हैं- स्वाधीनता संग्राम के समानान्तर जो हिन्दी साहित्य लिखा गया है, वह बेजान और फुसफुसा नहीं है जैसाकि राजेन्द्र यादव जैसे वामपंथियों को कभी-कभार वहम हो जाता है। (पृष्ठ-13) 'दलित साहित्य अवधारणा, उपलब्धि और अन्तर्विरोध शीर्षक लेख में लेखक के कई लोचपरक तथ्य विचारोत्तेजक, विशद चर्चा और बहस को उकसाने वाले हैं। प्रेम कुमार मणि की मान्यता कि दलितों के लिए दलितों के द्वारा लिखा जा रहा, साहित्य ही दलित साहित्य है, के सन्दर्भ में लेखक ने कहा है कि इसमें सन्देह नहीं है कि जिसने यातनाएं भोगी हैं उनका बयान अधिक प्रामाणिक और मार्मिक ढंग से कर सकता है। यथार्थ के अंगारे को चिमटा से पकड़ने और उँगलियों से छूने के अनुभव अलग-अलग होंगे। इसी सोच से डॉ. तुलसी राम जैसे दलित लेखको ने गैर दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को नकली करार दिया है। बात आग को चिमटा से पकड़ने या छूकर देखने की नहीं है, बल्कि दलितों की अस्मिता के प्रति संवेदनशीलता की सघनता की है, बात संवेदना की गहराई की है और उससे ज्यादा इस संवेदना को शब्दों में ढालकर प्रखरता से सम्प्रेषित करने के हुनर की जो दलित लेखकों पर भी हो सकती है और गैर दलित लेखकों पर भी। इस तरह तो बकौल डॉ. तुलसीराम नारी विमर्श का पुरूष लेखन भी नकली होगा और बहुत सारे लेखन इस फतवे के दायरे में आ जायेंगे। वस्तुतः दलित साहित्य को दलित लेखकों के लेखन तक सीमित करना, साहित्य का एक कोना अपने लिए आरक्षित करने की ग्रन्थि का ही प्रस्फुटन है।

लेखक की रुचि स्थापित विषयों या रचनाकारों तक महदूद नहीं है अपितु वे अपने को नये ज्वलंत विषयों पर केन्द्रित करते हैं, बाजारवाद, भूमण्डलीकरण, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पर्यावरण विमर्श जैसे पद साहित्य में अरसे से चुभलाये जाते रहे हैं, किन्तु अभी तक उनकी व्याप्त सीमा और सही दिशा का चेहरा साफ नहीं हो सका हैं। प्रस्तुत कृति में इन विषयों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विभिन्न देशी, विदेशी विद्वानों, रचनाकारों के अभिमतों का संदर्भ देकर व्याख्यायित, विश्लेषित और मूल्यांकित किया गया है। उनके नकारात्मक, सकारात्मक पहलुओं के साथ विचारोत्तेजक मुद्दे भी प्रक्षेपित किये हैं जो लम्बी चर्चा, बहस और विमर्श को उत्तेजित करते हैं।

इस कृति में शिविरवादी आलोचना के द्वारा मार्जिनलाइज्ड समर्थ रचनाकार या उनके अचर्चित पक्षों को केन्द्र में रखकर उनका आकलन, विश्लेषण किया गया है। डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. विवेकी राय, डॉ. द्विजेन्द्र नाथ मिश्र निर्गुण, नाटककार नरेन्द्र मोहन, डॉ. त्रिभुवन सिंह, इसी प्रकार के रचनाकार हैं। समीक्षक के तौर पर रामधारी सिंह दिनकर कभी नहीं जाने गये। उनकी साहित्य सम्बंधी मान्यताएं और स्थापनाएं उपेक्षित रही हैं। डॉ. राम विलास शर्मा की विशद चर्चा आलोचक के तौर पर हुई है, उनका भाषाविद रूप प्रायः अधिक चर्चित नहीं है। डॉ. वेदप्रकाश के आलेख ऐसे ही उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण विषयों या रचनाकारों पर केन्द्रित होते हैं। वे किसी रचना से गुजरते हुए उन पर अन्य लोगों द्वारा व्यक्त अभिमतों के समर्थन या विरोध के माध्यम से रचना के मजबूत और कमजोर हिस्सों पर उँगली रखते हुए अपनी स्थापनाएं निर्मित कर रचनाधर्मिता के केन्द्रीय बिन्दुओं को उभारते हैं जिनसे रचना के जनधर्मी पक्ष और रचना की सामर्थ्य खुलती जाती है।

उनके लिए यह जरूरी नहीं है कि कृति के हर हिस्से की विस्तार से चर्चा करें अपितु वे मनुष्य और समाज को बेहतर बनाने के लिए, मनुष्य और मनुष्यता की गंभीर चुनौतियों से टकराने की रचनाकार की मुद्रा को पसंद करते हैं और रचना में इन्हीं पक्षों का खुलासा करते हैं। एक उद्धरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। गत दो दशकों में ऐसे नाटक सर्वाधिक संख्या में लिखे गये जिनमें नगरीय, महानगरीय संदर्भ में पारिवारिक संबंधों मुख्यतः काम संबंधों में तनाव, द्वन्द्व और अर्थहीनता को केन्द्रीय विषय बनाया गया है, लेकिन उन नाट्य कृतियों ने अपेक्षाकृत अधिक आश्वस्त किया है जो व्यवस्था की असंगति, भ्रष्टाचार और भयावहता से साक्षात्कार करते हुए जन संघर्ष को उभार सकी है। इसमें लेखक का आलोचनात्मक रूझान और मूल्यों के प्रति पक्षधरता भी रेखांकित होती है। जहाँ वे व्यवस्था विरोध की शक्ति और सीमा का आकलन करके व्यवस्था विरोध के छः पद-यथास्थिति से असहमति, अवमूल्यों और विसंगतियों का निषेध, जनविरोधी सत्ता और रूढ़िवादी शक्तियों का विरोध, जनसंघर्ष की प्रासंगिकता, व्यवस्था परिवर्तन का आग्रह, जनहितकारी व्यवस्था की स्थापना निश्चित करते हैं वहाँ उनका चार दशक का समीक्षा कर्म परिपक्व होता दिखाई देता है। कहा जा सकता है कि अपसंस्कृति, मानवीय संकट, व्यवस्था की निरंकुशता, जनतंत्र में जन की दुर्गति, अमानवीयकरण के बढ़ते खतरे आदि हादसों और चुनौतियों से जवाब तलब करना अमिताभ की आलोचना की विशिष्ट मुद्रा है।

रीडर, हिन्दी विभाग,
जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, एटा (उ.प्र)

साहित्य और परिवेश, वेदप्रकाश अमिताभ, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, मूल्य : 300.00

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं नदी की सोचता हूँ : बहुआयामी और व्यापक प्रभाव वाली ग़ज़लें

ज्ञानेन्द्र विक्रम सिंह रवि

प्रख्यात साहित्यकार कमलेश भट्ट कमल ने अपने ताजा गजल संग्रह 'मैं नदी की सोचता हूँ' से साबित किया है कि गजल आज हिन्दी कविता की ताकत है। प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली से फरवरी 2009 ई. मे प्रकाशित 'मैं नदी की सोचता हूँ' कमलेश भट्ट कमल का दूसरा ग़ज़ल संग्रह है। उनका पहला ग़ज़ल संग्रह शंख सीपी, रेत पानी' आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली से 2001 ई. में प्रकाशित हुआ था। समय बदला, लोग बदले। बदलते जमाने ने सब कुछ बदल कर रख दिया। इस बदलाव के चलते विचारधारा, आदर्श, सिद्धान्त आदि दिखावटी हो गए हैं: ऐसे में कमलेश भट्ट कमल कहते हैं:-

सियासत ने भी नाउम्मीद कर रक्खा है वर्षो से, सियासत से ही थी उम्मीद हमको इतने सालों से। हमें मिलनी थी जिनसे रोशनी गहरे अंधेरे में, धुआं केवल धुआं ही मिल रहा है उन मशालों से।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-73)

'मैं नदी की सोचता हूं' में कुल 84 गजलें हैं। इन गजलों के माध्यम से कमलेश भट्ट कमल ने हिन्दी ग़ज़ल को समकालीन साहित्य की सशक्त विधा के रूप मे स्थापित किया है। व्यवस्था पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं-

बहुत रोते हैं गांधी, बुद्ध भी मायूस होते हैं, दिखाई दे रही है जिस तरह हिंसा व्यवस्था में। वहीं संसद, वही कानून, न्यायालय वही हैं सब, मगर अपराधियों को सौंप दी सत्ता व्यवस्था में।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-52)

जंगल, पहाड़ और नदी इस समय समाज की चिन्ता का विषय बने हुए हैं। इन विषयेां पर रचनाकारेां का ध्यान जाना पर्यावरणीय चेतना से तो जुड़ा है ही, समसामयिक और स्वाभाविक भी हे। ऐसे समय में ग़ज़ल संग्रह का नामकरण ही नहीं उसकी तमाम गजलें भी गजलकार की संवेदनशीलता को दर्शाती हैं। वे लिखते हैं-

मार डाला जीते जी, पानी विषैला कर दिया, और क्या करते भी हम, मां सी नदी के वास्ते।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-17)

तुम कभी पानी, कभी लहरों तटों की सोचते हो, कष्ट में पूरी नदी है, मैं नदी की सोचता हूं।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-32)

संग्रह की ग़ज़लों में एक नया तेवर है। ग़ज़लों की भाषा और दृष्टि ऐसी है जो हिन्दी ग़ज़ल को नई ऊँचाइयां देती हैं। कमलेश भट्ट कमल एक परिपक्व ग़ज़लकार हैं। जिस हिन्दी ग़ज़ल को लोग पहले दुष्यन्त के नाम से जानते थे, उसी हिन्दी ग़ज़ल में दुष्यन्त कुमार अब बीते जमाने की बात भले न हो गए हों, आज के दौर के तमाम ग़ज़लकार दुष्यन्त से भी आगे निकल रहे हैं, कमलेश भट्ट कमल उनमें से एक है। इन्सानियत और शायरी दोनों में मौजूद नकलीपन का पर्दाफाश करते हुए कमल कहते हैं-

चैनलों से मंच तक चर्चा है जिसकी धूम है, और कुछ भी हो मगर वह शायरी है ही नहीं। आदमी के खोल में जो बरसों तक छुपता रहा, एक दिन पाया गया वो आदमी है ही नहीं।

(मैं नदी की सोचता हूँ पृष्ठ-92)

'मैं नदी की सोचता हूं' मैं प्यार भी है, तड़पन भी, सुख भी है और दुख भी। इस गजल संग्रह में ज़िंदगी के वो तमाम अनुभव संकलित हैं, जिन्हें पाठक बहुत नजदीक से महसूस करेगा। इस संग्रह की ग़ज़लों में कहीं अध्यात्म उतर आया है, तो कहीं क्रान्ति के नए स्वर भी हैं। सीधी, सरल भाषा में छोटी-छोटी संवेदनाओ को लेकर बुनी गई इस संग्रह की ग़ज़लें पाठकों पर बहुआयामी और व्यापक असर छोडती हैं।

उर्दू ग़ज़ल से कहीं अलग हिन्दी ग़ज़ल ने धीरे-धीरे अपना एक निजी रास्ता बनाया है जिस पर चलकर हिन्दी ग़ज़ल ने अपने समय के साहित्यिक परिदृश्य को एक नई पहचान दी है। साथ ही साथ हिन्दी गजल ने जन जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भी व्यापक प्रभाव छोड़ा है। 'मैं नदी की सोचता हूँ' हिन्दी ग़ज़ल का ऐसा स्वर है, जिसने बड़ी कुशलता से वर्तमान को अभिव्यक्ति दी है। कमल इस गजल संग्रह में खुद कहते हैं कि-

पीड़ा आँसू ग़म बेचैनी टूटन और घुटन,
ये सारा कुछ एक जगह शायर में मिलता है।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-22)

पहले ग़ज़ल से कमल ने जो ख्याति पाई थी निश्चित रूप से इस दूसरे गजल संग्रह से वह और विस्तृत व स्थाई होगी क्योंकि इस संग्रह की ग़ज़लें अपनी अनुभूतियों से मन के खाली कोनों को भरती हैं। संसार में सकारात्मक बदलाव के लिए क्रान्ति को आवश्यक बताते हुए कमल कहते हैं-

करोड़ों जुगनुओं से रोशनी हो जाएगी लेकिन,
बिना सूरज उगे जग में सवेरा हो नहीं सकता।

(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-101)

संग्रह की ग़ज़लें अनेकता में एकता का सफल उद्घोष करती हैं। इन गजलों में मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था, जीने के प्रति अटूट साहस व विश्वास तथा सामाजिक विद्रूपताओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैना व्यंग्य है। सामाजिक चेतना को जागृत करते हुए कमल कहते हैं-

जिसको देखो वो ही सिज़दा करने की मुद्रा में है,
स्वाभिमान से उठा हुआ हो ऐसा कोई सर तो हो।
सच की पैरोकारी भी हम बस जबान से करते हैं,
सच को कहने सुनने का भी हममें कहीं जिगर तो हो।
(मैं नदी की सोचता हूं पृष्ठ-33)

'मैं नदी की सोचता हूं' में लय, भाषा और मुद्रण की त्रुटियों के बीच भटकते हुए भी पाठक अंत तक ग़ज़लों से जुड़ा रहता है। इस संग्रह की ग़ज़लें हमारे समय का यथार्थ दर्शाती है। किताब की छपाई, आवरण और कीमत भी पाठकों को आकर्षित करने में सक्षम है। समकालीन साहित्य में हिन्दी ग़ज़लों की महत्ता सिद्ध करने वाला कमलेश भट्ट कमल का ताजा ग़ज़ल संग्रह 'मैं नदी की सोचता हूँ' निश्चित रूप से पाठकों के बीच लोकप्रिय होगा।

विक्रम भवन, शाहगंज मार्ग,
कादीपुर, सुलतानपुर (उ.प्र.)

मैं नदी की सोचता हूं (गजल संग्रह), कमलेश भट्ट कमल, मूल्यः 125.00 रुपये, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

■

काहे री नलिनी : एक सच ऐसा भी

रवीन्द्र सिंह

विषय-वैविध्य और किस्सागो शैली के लिए सुपरिचित कार उषा यादव का नया उपन्यास 'काहे री नलिनी' है। न्यास में अभिव्यक्त जिजीविषा और साहस का सूत्र इसके में ही पिरोया गया है-'काहे री नलिनी (तू कुम्हलानी, तेरे ल सरोवर पानी)' शक्ति का स्रोत स्वयं मनुष्य में समाया हुआ उसे पहचान कर खल शक्तियों के प्रतिरोध का साहस तो उसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति के समक्ष बड़ी से बड़ी विनाशक और चारी शक्तियाँ घुटने टेक देती हैं। इस विश्वास के साथ रचित औपन्यासिक कृति में लेखिका ने समाज के दबे-कुचले स्त्री वर्ग की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने में अपनी प्रतिबद्धता की है।

इस उपन्यास में लेखिका ने समाज के उस तिरस्कृत वर्ग की व्यथा को सामने रखा है, जिसे सभ्य समाज अनदेखा की कोशिश करता है। किस प्रकार देश के विभिन्न भागों पड़ोसी मुल्कों के अत्यंत पिछड़े व भीतरी हिस्सों से यौन-व्यवसाय लाल नासमझ बच्चियों व किशोरियों को बहला-फुसलाकर उनके परिजनों को झाँसा देकर भगा लाते हैं और जीवन-भर मकोड़ों के समान निरर्थक और नारकीय जीवन जीने के लिये कर देते हैं। लेखिका ने वेश्यालयों की स्थिति का इतना वर्णन किया है कि वहाँ का पूरा वातावरण साकार हो गया उन्होंने यौन-शोषण व परतंत्रता की शिकार नाबालिग युवतियों धनों के माध्यम से उन भयावह परिस्थितियों और हथकंडों का खुलासा किया है जिनके द्वारा यौन-मंडी के ये दलाल उन्हें शिकार बनाते हैं। उपन्यास में ऐसा लगता है कि जैसे संपूर्ण का दर्द बहकर सामने आ गया हो।

उपन्यास की नायिका एक महिला पुलिस अधिकारी नंदिता अपने बचपन में घटी एक घटना से इतनी मर्माहत हो जाती है कि नाबालिग लड़कियों को यौन-शोषण से बचाना अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती है। फ्लैश बैक पद्धति का आश्रय लेते हुए लेखिका ने नंदिता के बचपन की मुंहबोली मौसी नलिनी के अल्हड़ किंतु संवेदनशील और आकर्षक व्यक्तित्व और दारुण नियति का अत्यंत रोचक और कलात्मक वर्णन किया है। यौन-व्यवसायियों द्वारा नलिनी मौसी को अपना शिकार बनाए जाने की इस घटना के प्रतिकार की भावना नंदिता को पुलिस अधिकारी पद तक पहुँचा देती है, जहाँ वह यौन-शोषणकारी तंत्रों व उनके केन्द्रों पर शिकंजा कसती है और देह के सौदागरों का हठपूर्वक संहार करती है। लेखिका ने नंदिता के ईमानदार संघर्षशील व्यक्तित्व को उजागर कर पुलिस तंत्र की नकारात्मक छवि के निराकरण का प्रयास किया है। यह भी संदेश किया है कि यदि अधिकारी सत् संकल्प के साथ अपने कर्तव्य का पालन करे तो राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सहज संभाव्य है।

लेकिन नंदिता की राह इतनी आसान नहीं होती। समाज की सुरक्षा व कल्याण के लिए निर्धारित वर्ग ही उसकी राह का रोड़ा बनते हैं। लेखिका ने दिखाया है कि किस प्रकार पुलिस प्रशासन, सत्ताधारी एवं स्वयंसेवी संगठन यौन-शोषण जैसे कुकृत्यों को न केवल प्रश्रय देते हैं अपितु उनकी सुरक्षा करते हुए उन्हें अपनी कमाई व ऐश का साधन बना लेते हैं। लेखिका ने पतिताओं के कल्याणार्थ खुले स्वयंसेवी संगठनों की कलई खोलते हुए उन्हें स्त्रियों के शोषण तंत्र का सफेद मुखौटा प्रदर्शित किया है।

उषा यादव यथार्थवादी कथाकार हैं। उनकी कृतियाँ अधिकांशतः वास्तविक जीवन में घटी घटनाओं से प्रेरित होती हैं, जिन्हें वे अपनी कुशल कल्पना शक्ति, मार्मिक संवेदना और सरस कथा शैली के साथ प्रस्तुत करती हैं। यथार्थवादिता का आग्रह उन्हें निराशावादी नहीं बनाता बल्कि कठिन संघर्ष और अदम्य जिजीविषा उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायकों का पाथेय होता है। इस उपन्यास की नायिका अनेक बाधाओं, पराजय व निराशा के बाद भी अपना संकल्प नहीं छोड़ती और अंततः शोषित बालाओं को न्याय दिलाकर रहती है।

विवेच्य उपन्यास में लेखिका ने बाल-वेश्यावृत्ति की समस्या पर समग्रता से विचार किया है। उपन्यास में उन्होंने कोठे से बरामद हुई बालिकाओं के पुनर्वास की समस्या को अपेक्षित महत्व देते हुए उस पर विचार व समाधान की दिशा ढूँढ़ने का प्रयास किया है। उषा यादव के सभी उपन्यास मानवी संवेदना के जीते जागते आख्यान हैं। 'कितने नीलकंठ', 'कथान्तर' 'अमावस की रात' के बाद प्रस्तुत नवीनतम उपन्यास 'काहे री नलिनी' में उनका चिंतन और उनकी दृष्टि नारी जीवन के गहन मर्म का उद्‌घाटन करने में समर्थ हुई है।

लेखिका ने साधारण बोलचाल की, किन्तु अत्यंत रोचक भाषा-शैली का प्रयोग किया है। कोठे से बरामद कच्ची उम्र की दो सुंदर लड़कियों को 'सायरा के मखमली बटुए की गिन्नियाँ" कहकर और बीमारी से पीली पड़ चुकी जूली के फूहड़ साज-शृंगार का व्यंजक चित्र खींचकर लेखिका ने अपनी भाषा-सामर्थ्य का परिचय दिया है, 'लड़की अपनी खून निचुड़ी देह की वजह से ही शायद आटे के कनस्तर से नहाकर आई थी। भोंड़े अंदाज में पुती गहरी लाल लिपस्टिक उसे किसी पिशाचिनी का रूप दे रही थी।'

इस प्रकार कथाकार उषा यादव का यह उपन्यास मानव सभ्यता के जघन्यतम अत्याचार पर अपेक्षित संवेदनशीलता से प्रकाश डालते हुए उसके प्रतिकार का रास्ता तैयार करता है। यह सामाजिक उद्धार का एक बड़ा प्रतीक है।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, द0रा0आ0 राजकीय महाविद्यालय
बिसौली, बदायूँ (उ0प्र0)

काहे री नलिनी, उषा यादव, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, मूल्यः 200/- रुपये

■

लालित्य और पैनेपन की जुगलबंदी

नरेन्द्र तिवारी

मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि एक लंबे अरसे बाद कविता की कोई किताब मुझे वाक़ई पसंद आयी। ये निश्छल मन से उजागर की गयी संवेदनाओं की वे कलात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो किसी मत-मतांतर, विचारधारा अथवा वाद के पूर्वाग्रह से आक्रांत हुए बिना सहज भाव से सहसा कविता में अभिव्यक्त हो गयी हैं। मैं बात कर रहा हूँ कवि अशोक 'अंजुम' के सद्यः प्रकाशित दोहा-संग्रह 'प्रिया तुम्हारा गाँव' की। इस दोहा-संग्रह में बहुत से शेड्स के दोहे संग्रहीत हैं। इनमें नाते-रिश्ते हैं, बेटियाँ-पिता हैं, मौसम है—फागुन है, मज़हब है, प्रदूषण-नदियाँ हैं, हिन्दी है और है संत्रास-लिपटा आधुनिक युग-बोध। संग्रह की भूमिका के रूप में सुप्रसिद्ध कवि नीरज का आशीर्वचन एवं शुभकामनाओं भरा आलेख संग्रह का महत्त्व एवं शोभा बढ़ा रहा है। समूचे संग्रह के दोहे कभी लुभाते-दुलराते और कभी झकझोरते रहकर कवि की ललित-कहन की गवाही देते रहते हैं।

हम सब जानते हैं कि दोहा अपने मूल-स्वभाव में देशज होते हुए भी संभवतः हिन्दी का प्राचीनतम छंद है, जिसकी धार वीरगाथा काल से लेकर बिहारी के समय तक कभी मंद नहीं हुई, पर भारतेंदु युग में खड़ी-बोली को काव्य-भाषा के रूप में मान्यता मिलते जाने के कारण इसका प्रवाह मंद पड़ता गया। छायावादी कविता के वायवी एवं रहस्यमय मायालोक की यात्रा पर निकलने में असमर्थ होने के कारण हिन्दी के अनेक प्रचलित व मान्य छंदों का एक-एक करके लोप होता गया और फिर अंततः मुक्तछंद की अराजक चक्की में तो छंद का अस्तित्व ही पिस गया। इन छंदों में जन-जन की जुबान पर चढ़ने की क्षमता रखने वाला दोहा भी एक था। लेकिन, जैसे दूब कट-कट कर फिर-फिर उगती है, उसी तरह पिछले कोई डेढ़ दशक से समकालीन हिन्दी कविता में दोहा फिर उग रहा है और उसे भरण-पोषण देने वालों में कवि अशोक 'अंजुम' एक उल्लेखनीय नाम है।

अब ज़रा इन दोहों को क़रीब से देखें और इस बात की तथ्यपरक विवेचना करें कि ये दोहे आख़िर क्यों मन को लुभाते और आनंदित करते हैं। 'प्रिया तुम्हारा गाँव' का पहला दोहा :

आमंत्रण देता रहा, प्रिया तुम्हारा गाँव।
सपने में चलते रहे, रात-रात भर पाँव।।

आइए, इस दोहे के भीतर उतर कर इसके सौंदर्य-बोध को खँगालते हैं। दोहे की पहली पंक्ति पर ग़ौर करें, तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि निमंत्रण प्रिया की ओर से नहीं, गाँव की ओर से आता है। अतः प्रिया पर निमंत्रण देने का कोई प्रत्यक्ष आरोप नहीं बनता। यह कोई ऐसा बयान नहीं है कि 'तुमने मुझे बुलाया है मैं आऊँगा, बंद न करना द्वार देर हो जाए तो' जहाँ कवि अपनी प्रिया पर यह सीधा आरोप चस्पा करता है कि किसी अप्रिय स्थिति का सारा उत्तरदायित्व 'तुम' पर है, 'तुमने' बुलाया है—अब भुगतो। साथ में यह भी कि मैं व्यस्त आदमी हूँ, मुझे और भी काम हैं, इसलिए देर हो जाएगी। इसके विपरीत कवि 'अंजुम' के निकट प्रिया की प्रतिष्ठा प्रिया से किसी भी तरह कमतर नहीं है। उसे विश्वास नहीं प्रिया का गाँव बुलाता है। अब, जब गाँव ही बुलाता हो, तो इसमें प्रिया बेचारी क्या कर सकती है—उसका भला क्या दोष है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आमंत्रण देता रहा प्रिया तुम्हारा गाँव'—यह एक अति-संवेदनशील व अत्यंत शालीन बयान है, जिसमें प्रिया पर कोई आरोप नहीं बनता—कोई आँच नहीं आती।

दोहे की दूसरी-पंक्ति 'सपने में चलते रहे, रात-रात भर पाँव' से गुज़रते ही मेरे ज़ेहन में सिगमंड फ्रायड कौंध जाते हैं। अपनी विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक 'एनाटमी ऑफ़ ड्रीम्स' में सपनों की संगठनात्मक संरचना की विवेचना करते हुए फ्रायड एक बहुत प्यारी बात यह कहता है कि 'सपने हमारी दमित कामनाओं की निर्दोष पूर्ति का साधन हैं।' इस कथन में 'निर्दोष' शब्द सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् यदि किसी व्यक्ति विशेष की हत्या करने की हमारी कामना दमित हो गयी है, तो हमारा अचेतन सपने में उसकी हत्या करके संतोष प्राप्त कर लेता है। बाह्य-जगत् में तो ऐसा करने पर पुलिस है, थाना है, अदालत है—बड़ा बवाल, परंतु सपने में किसी की हत्या कर देने पर कोई दोष नहीं लगता कोई अपराध नहीं बनता, यह विधि बड़ी सुरक्षित है। फ्रायड के इस कथन की रोशनी में दोहे की दूसरी पंक्ति को देखें, तो साफ़ है कि बाह्य-जगत् में सशरीर प्रकटतः प्रिया के गाँव जाने में परिवार है, समाज है, परंपराएँ हैं, मानापमान है—बड़ी बाधाएँ हैं, इसलिए कवि अपनी दमित आकांक्षा की पूर्ति हेतु सपने में प्रिया के गाँव की ओर चल पड़ता है, रात-रात भर चलता रहता है और इस गमन में कोई लौकिक बाधा उसका रास्ता रोककर खड़ी नहीं हो पाती। यही इस दोहे का शालीन लालित्य है।

'प्रिया तुम्हारा गाँव' के दोहों की अन्य विशेषता है—अनकहे को अनकहा बनाये रखते हुए शब्दों के प्रकट प्रयोग के बिना भी पूरा कह देना। देखें, यहाँ बात प्रकटतः नदी की हो रही है :

नदिया को यूँ भा गयी, बस्ती मानव गंध।
इस बारिश में एक दिन, तोड़ दिये तटबंध।।

यहाँ नदी पूर पर है, वर्षा-ऋतु में बाढ़ आयी हुई है और वह तटबंधों की मर्यादा तोड़कर बह रही है, लेकिन इस दोहे में नदी को क्षणभर के लिए 'परसौनीफ़ाई' करके यदि इसके निहितार्थ पर ग़ौर करें, तो जो चित्र बनता है, वह किसी मदमाती-मस्त वनवासिनी कामिनी का है, जिसे 'मानुष-गंध' भा गयी है और जो अपनी समस्त मर्यादाएँ और वर्जनाएँ तोड़कर लहराती चाल से बस्ती की ओर चल पड़ी है।

एक अन्य दोहा भी थोड़े तंज़ के साथ ऐसा ही चित्र संप्रेषित करता है :

नदिया फैली गर्व से, पाकर नीर-अपार।
किसकी शामत आएगी, पता नहीं इस बार।।

यह अनकहे को कहने की लाक्षणिक कला है, जो इन दोहों के सौंदर्य को द्विगुणित कर देती है।

'प्रिया तुम्हारा गाँव' के दोहों में अनछुई बातें अनछुए उपमानों के माध्यम से कहकर इन्हें प्रभावशाली बनाने का सफल प्रयोग भी उल्लेखनीय है यथा-'इस बारिश में हो गयीं नदियाँ आदमख़ोर', 'जो भी मुर्गा बाँग दे उसको करे हलाल', 'लोकतंत्र की आँख में हुआ मोतियाबिंद', 'फूलों को छू लो अगर हो जाते विस्फोट', 'जुगनू भी करने लगें आगज़नी की बात', 'संबंधों के जोड़ का माँ है फ़ेवीकोल—' जैसी अनछुई कहन दोहों को प्रभावशाली बना देती है।

अब एक थोड़ी कड़वी बात। और, यह बात मैं काव्य-रचना की राह पर निकले अपने तमाम नौजवान-साथियों से बहुधा कहता हूँ कि छंद एक फ्रेम है। जब हम कोई काव्य-चित्र बना रहे होते हैं, तो उसका फ्रेम के अंदर पूरी तरह ठीक से फ़िट होना उसकी पहली आवश्यकता है और फ्रेम के साथ असावधानी उसके सौंदर्य को नष्ट-भ्रष्ट करके हमारी अल्पज्ञता को सहज ही उजागर कर देती है। इस संदर्भ में यह दोहा देखें :

एक कवि ढूँढन चला, मिले चार सौ बीस।
आधुनिक साहित्य का, गला रहे थे भींच।।

इस दोहे की पहली दोनों युतिया छंद से गिरकर ख़ासा गतिमय-दोष उत्पन्न कर रही हैं। साथ ही, इसका तुकांत भी अशुद्ध है। इसे मैं 'अग्ली हेस्ट' कहता हूँ। किसी कुशल-क़लम के लिए ऐसी 'अग्ली हेस्ट' अक्षम्य है। अतः अपने तमाम नौजवान साथियों को मेरा यह अयाचित परामर्श है कि छंद लिखते समय छंद के नियमों का सावधानी से पालन करें और तनिक भी संदेह होने पर तख़्ती करके देखें, क्योंकि कोई भी चीज़ छपते ही सयानी होकर परायी हो जाती है।

'प्रिया तुम्हारा गाँव' एक सुंदर दोहा संकलन है, जो पाठक से संवाद स्थापित करने में समर्थ है और अपना प्रभाव छोड़ता है। इसके दोहों में पैनी से पैनी बात की धार भी बड़े लालित्य से काटती है। मेरे देखें इस कृति का सुधी पाठकों और विद्वान आलोचकों द्वारा समान-स्वागत् किया जाएगा।

116, आवास विकास कॉलोनी, प्रदर्शनी मार्ग, अलीगढ़

प्रिया तुम्हारा गाँव, अशोक 'अंजुम', संवेदना प्रकाशन, क़ासिमपुर, अलीगढ़, मूल्यः 100 रुपये

नवंबर अंक में जन्मशती के अवसर पर जनता के शायर
"वामिक जौनपुरी"
पर विशेष सामग्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य' संगोष्ठी रपट

दिनांक 30 अगस्त 2009 किदवई नगर, कन्हैया भवन में संपन्न हुयी 'वर्तमान साहित्य' की गोष्ठी में मुख्य रूप से अपनी बात तथा समय संवाद एवं कहानी 'बेटी की माँ का डर' तथा 'बदला' तथा अन्य सामग्रियों पर विस्तार से सदस्यों ने चर्चा की। संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि अपनी बात के माध्यम से नमिता जी ने विश्व बैंक के कुचक्र में कसती और उस कुचक्र को बढ़ाती भारतीय राजनीति को नंगा किया है। इस प्रकार आर्थिक और सांस्कृतिक दबाव से सामाजिक व्यवस्था तो बाद में मुक्त होगी पहले नेतृत्व को मुक्त होना होगा। आरती ने कहा स्वतंत्र देश में रहते हुए भी आज हम विदेशी पूँजीपतियों के पुनः उपनिवेश होते जा रहे हैं। आज समाज में अराजकता की स्थित उत्पन्न करने का हर संभव प्रयास किया जा रहा है। अधिकांश सदस्य इस बात पर सहमत थे कि हर हाल में नेतृत्व को होशियार और चैतन्य होना होगा।

'समय संवाद' के अंतर्गत 'शिक्षा के भ्रष्टाचार' पर सभी सदस्य एकमत थे कि जब तक शिक्षा का निजीकरण नही रुकेगा तब तक भ्रष्टाचार अपनी जड़ें फैलाता रहेगा। सुनीता चड्ढा ने कहा कि निजी शिक्षण संस्थाओं को एक सी फीस रखनी चाहिए जिससे कोई पक्षपात का शिकार न हो। सभी को शिक्षा प्राप्त हो सके। कहानी 'बेटी की माँ का डर' पर सन्ध्या मिश्रा, जया सिंह व बीना सिंह एक मत थीं कि सोनोग्राफी का जहाँ सद्प्रयोग है वहीं दुरपयोग अधिक है। इस कहानी की दोंनों नायिकाओं ने जिस प्रकार से निर्णय लिए आज हर स्त्री को उसी तरह निर्णय लेने होंगे। इन्दु श्रीवास्तव की कविताएँ विशिष्ट रूप से सराही गयी, अन्य कविताएँ भी सबको पसंद आयीं। चर्चा यह भी हुई कि यश मालवीय जी पदावली का प्रयोग न करें तो अच्छा हो, वे एक श्रेष्ठ गीतकार हैं उनसे श्रेष्ठ प्रयोगों की अपेक्षा है। देवी प्रसाद के लेख की चर्चा के अंतर्गत विभिन्न संस्कृतियों का खुलासा हुआ। 'बदलते रिश्ते, बदलते सामाजिक मूल्य, भारत में एक खिलाड़ी था. ..', उर्दू कहानी 'कैसे-कैसे लोग थे जिनसे रस्म-ए-वफ़ा की बात चली' आदि अन्य पर भी विशेष चर्चा हुई। बैठक में रचनाकार श्री विनोद दास की आलोचनात्मक कृति 'कविता का वैभव' पर चर्चा करते हुए संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि आम तौर पर आज जबकि आलोचकों पर सहमतियों का आक्षेप लगाया जाता है ऐसे में विनोद दास ने अपने इस आलोचनात्मक रचना पाठ में बड़े-बड़े दिग्गज कवियों की बखिया उधेड़ते हुए अपनी सतर्क एवं नुकीली आलोचना दृष्टि का परिचय दिया है।

प्रस्तुति : विभा श्री सिंह, कानपुर

'अपनी भाषा' का पुरस्कार गुजराती लेखिका बिन्दु भट्ट को

कोलकाता के महाजाति सदन के एनेक्स हॉल में 'अपनी भाषा' संस्था के द्वारा जस्टिस शारदा चरण मित्र स्मृति भाषा सेतु सम्मान समारोह का आयोजन किया गया। 'अपनी भाषा' संस्था की ओर से यह सम्मान प्रत्येक वर्ष हिन्दी एवं किसी अन्य भारतीय भाषा को जोड़ने का कार्य करने वाले शीर्षस्थ रचनाकार को दिया जाता है। वर्ष 2009 का यह सम्मान अपने रचनात्मक अवदान एवं अनुवाद कार्य द्वारा हिन्दी व गुजराती के बीच सेतु निर्मित करने वाली साहित्यकार डा0 बिन्दु भट्ट को दिया गया। डा0 भट्ट गुजरात में हिन्दी की अध्यापिका हैं। इन्हें अनुवाद के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है।

भाषा सेतु सम्मान प्राप्त करने के बाद डा0 भट्ट ने 'अपनी भाषा' के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा कि सुदूर गुजरात में काम करते हुए उन्हें यह अंदाजा नही था कि उनके काम की इतनी नोटिस ली जाएगी। उन्होंने बताया कि भक्तिकाल से ही गुजरात में हिन्दी साहित्य रचना की समृद्ध परंपरा रही है। मीराबाई से महात्मा गांधी तक हिन्दी के विकास में गुजरात का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भाषायी सौहार्द के लिए आवश्यक है कि हम सभी भाषाओं को समुचित सम्मान दें।

इस अवसर पर 'भारतीय साहित्य की अवधारणा और वर्तमान परिप्रेक्ष्य' विषय पर एक राष्ट्रीय सेमिनार का भी आयोजन किया गया। समारोह के मुख्य अतिथि थे प्रख्यात समीक्षक डा0 विश्वनाथ त्रिपाठी। मुख्य वक्ता प्रो0 शंभुनाथ तथा कार्यक्रम की अध्यक्षता वागर्थ के संपादक डा0 विजय बहादुर सिंह ने की।

अपनी भाषा के संस्था के महासचिव एवं कोलकाता विश्वविद्यालय मे हिन्दी के विभागाध्यक्ष प्रो0 अमरनाथ ने अपने स्वागत भाषण में 'अपनी भाषा' के मूल उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए सभी अतिथियों का स्वागत किया। इस अवसर पर भारतीय भाषा परिषद के मंत्री श्री नंद लाल शाह ने भी अपने विचार रखे।

प्रस्तुति : विवेक कुमार सिंह

प्रेमचंद और आम आदमी

जनवादी लेखक संघ के तत्वावधान में 'प्रेमचंद और आम आदमी' विषय पर संगोष्ठी संपन्न हुई। गोष्ठी की अध्यक्षता डा0 बाकर ज़ैदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचालन डा0 गिरीशचंद्र श्रीवास्तव ने किया।

संगोष्ठी में विषय प्रवर्तन करते हुए साहित्यकार राजेन्द्र वर्मा ने कहा कि प्रेमचंद के साहित्य में आम आदमी सभ्य समाज का प्रतिनिधि है और मेहनतकश मजदूर-किसान आदि उनके साहित्यिक नायक ही हैं जो ज़िंदगी की जंग को अपने उच्च आदर्शों, पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति, लोक-व्यवहार और मानवी प्रेम से जीतते हैं। संगोष्ठी में युवा आलोचक डा0 चन्द्रशेखर ने कहा कि आम आदमी को हिन्दी साहित्य में बहुत ज़्यादा परिभाषित नहीं है लेकिन प्रेमचंद ने जो दलितों एवं शोषकों का चित्र खींचा है वह अद्भुत है और वही आम आदमी का है। उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया कि आज कुछ आलोचक प्रेमचंद की परंपरा को संकीर्ण क्यों मानते हैं जबकि उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों को अपनी धाराओं से टकराकर उभारा है। संगोष्ठी को आगे बढ़ाते हुए प्रसिद्ध नाट्यकर्मी राजेश कुमार ने कहा कि यद्यपि प्रेमचंद की कोई पार्टी लाईन नहीं थी तथापि उनकी विचारधारा स्पष्ट रूप से आम आदमी के पक्ष में थी। संगोष्ठी के संचालक डा0 गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव ने कहा कि प्रेमचंद भविष्य दृष्टा थे। उनकी रचनाओं में आम आदमी की समस्याओं, उनके कारणों और उनके निवारण के जो चित्र पाये जाते हैं आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं और इसका कारण यही है कि उनकी रचनाएँ अपने समय से मुठभेड़ करती है।

संगोष्ठी में कवि-कथाकार भगवान स्वरूप कटियार ने कहा कि प्रेमचंद की रचनाओं में आम आदमी के प्रति प्रतिबद्धता आरोपित नहीं है बल्कि सहज है क्योंकि उनका जीवन भी आम आदमी के जीवन जैसा सहज है। डा0 ऊषा राय ने प्रेमचंद के 'हंस' के संपादकीयों का संदर्भ देते हुए पूँजीवादी व्यवस्था के संदर्भ में प्रेमचंद की टिप्पणियों का हवाला दिया। इनके अतिरिक्त आलोकांत, नसीम साकेती, निशांत, सुशीला पुरी, प्रज्ञा पाण्डेय, रविकिशोर, पूनम सिंह, अवधेश कुमार श्रीवास्तव आदि ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

संगोष्ठी के अध्यक्ष डा0 बाकर ज़ैदी ने कहा कि प्रेमचंद का लेखन आम आदमी की पैरोकारी करता है और उनकी रचनाएँ इसलिए दिल को छूती हैं कि उन्होंने आम आदमी की भाँति ज़िंदगी और साहित्य का लेखन किया।

प्रस्तुति : गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, लखनऊ

...चयन, पुस्तक वार्ता और हिन्दी विमर्श का लोकार्पण

...हॉल भरा है... वैसे ही जैसे यह हॉल भरा है : हिन्दी के वरिष्ठतम ...चक और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के ...पति प्रो0 नामवर सिंह ने जब त्रिवेणी सभागार नई दिल्ली ...वाक्य कहा तो बरबस लोगों का ध्यान गया कि खचाखच ...त्रिवेणी सभागार में न सिर्फ़ साहित्य बल्कि इतिहास, समाजशास्त्र, नाटक, पत्रकारिता जैसे तमाम अनुशासनों की जानीमानी हस्तियाँ विराजमान थी। अवसर था महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की तीन महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं बहुवचन, हिन्दी लैंग्वेज डिस्कोर्स एण्ड राइटिंग तथा पुस्तकवार्ता के नये स्वरूप एवं कलेवर में प्रकाशित अंकों के लोकार्पण का। इनको लोकार्पित करने के लिये जहाँ मंच पर कुलाधिपति नामवर सिंह एवं कुलपति विभूति नारायण राय के साथ वरिष्ठ कवि कुँवर नारायण, पूर्व कुलपति एवं कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी, प्रख्यात संपादक एवं कथाकार राजेन्द्र यादव बैठे थे वही इसके साक्षियों में प्रो0 सुधीरचंद्र, प्रो0 निर्मला जैन, रवीन्द्र कालिया, राज बिसारिया, पद्मा सचदेव, प्रो0 सुधीश पचौरी, अखिलेश, देवेन्द्रराज अंकुर, ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, अभय कुमार दूबे, नीलाभ, गंगाप्रसाद विमल, उपेन्द्र कुमार, अनंत विजय, रविकांत जैसी हस्तियाँ मौजूद थी।

'बहुवचन' के नये स्वरूप का लोकार्पण करते हुए वरिष्ठ कवि और कुँवर नारायण ने पत्रिका के नये स्वरूप पर प्रसन्नता जाहिर की और यह उम्मीद जताई कि इन पत्रिकाओं में अकादमिकता और सर्जनात्मकता का विलक्षण संयोग दिखाई पड़ेगा।

विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति और कवि आलोचक अशोक वाजपेयी ने 'हिन्दी : लैंग्वेज डिस्कोर्स एवं राइटिंग' का लोकार्पण करते हुए कहा कि जब उन्होंने इन पत्रिकाओं की अवधारणा हिन्दी समाज के सामने रखी थी तो इस बात को समझने में लोगों को काफी वक़्त लगा कि पढ़ने-पढ़ाने के अलावा तमाम विश्वविद्यालय अपने महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों से जाने गये। अपनी अवधारणाओं की स्वीकृति से प्रसन्न वाजपेयी जी ने आगे कहा कि हिन्दी में उन शोधार्थियों और अध्येताओं के काम को भी स्थान मिलना चाहिये जो विदेशों में रहकर अपना काम कर रहे हैं।

'पुस्तक वार्ता' के नये स्वरूप का लोकार्पण करते हुए राजेन्द्र यादव ने संस्थानिक पत्रिकाओं की सामाजिक भूमिका के उचित निर्वहन के प्रति अपनी आशंकाएँ जताईं। उन्होंने इतिहास में 'सरस्वती' और 'चाँद' के हवाले से कहा कि व्यक्तिगत प्रयासों से निकलने के कारण ही चाँद, सरस्वती से ज़्यादा क्रांतिकारी साबित हो सका।

प्रारंभ में विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने अतिथियों का स्वागत करते हुए कहा कि विश्वविद्यालय की पत्रिकाओं में कुलपति का नाम प्रधान संपादक के रूप में जाय, इसका कोई औचित्य उन्हें नहीं लगता। इसलिए उन्होंने निर्णय लिया कि सभी पत्रिकाओं के संपादक अपने चयन में स्वतंत्र होंगे। कार्यक्रम का संचालन विश्वविद्यालय के संस्कृति विभाग के व्याख्याता राकेश मिश्रा ने किया तथा आभार विश्वविद्यालय के कुलसचिव राकेश ने माना!

प्रस्तुति : बी0एस0 मिरगे, जनसंपर्क अधिकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी अकादमी का 'कीर्ति छवि' फिल्म समारोह संपन्न

अपने प्रिय साहित्यकारों के जीवन और उनकी रचना-प्रक्रिया के बारे में उन्हीं के द्वारा सुनना और जानना किसी भी साहित्य-प्रेमी के लिए एक विलक्षण अनुभव होगा और ऐसे ही कई अनुभव उपलब्ध कराए दिल्ली की हिन्दी अकादमी ने 'कीर्तिछवि' नाम से आयोजित अपने पहले फिल्म समारोह में।

27 से 29 मई तक दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में आयोजित इस समारोह का उद्घाटन दिल्ली की भाषा मंत्री डा0 किरण वालिया ने किया। उनका कहना था कि आज की भाग-दौड़ भरी ज़िंदगी में साहित्यकारों का सृजन ही सुकून के कुछ पल उपलब्ध कराता है, अतः ऐसे साधकों के व्यक्तित्व और कृतित्व को युवा पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य उन पर बनी फिल्में बहुत अच्छी तरह कर सकती है।

तीन दिन तक चले इस समारोह में हिन्दी अकादमी, साहित्य अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान और एन0सी0ई0आर0टी0 द्वारा निर्मित दस फिल्में दिखाई गईं। वह फिल्में-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, डा0 रामविलास शर्मा, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, देवेन्द्र सत्यार्थी, नागार्जुन, कमलेश्वर, त्रिलोचन और विष्णु प्रभाकर के व्यक्तित्व और उनके रचनाकर्म पर केंद्रित थीं।

समारोह के दौरान् श्री उदय प्रकाश (निर्देशक-डा0 रामविलास शर्मा) श्री देवी प्रसाद मिश्र (निर्देशक-महादेवी वर्मा) और श्री अनवर जमाल (निर्देशक-नागार्जुन) ने दर्शकों से इन फिल्मों के निर्माण के समय हुए खट्टे-मीठे अनुभवों को बाँटा। इन फिल्मों के ज़रिए कई लेखकों के कई नए और रोचक पहलू सामने आए जैसे विष्णु प्रभाकर जी का मुसलमान या किसी दलित स्त्री से शादी करने की इच्छा, महादेवी वर्मा द्वारा गाँधीजी के कहने पर जीवन भर अंग्रेजी न बोलने की प्रतिज्ञा, कमलेश्वर का अकेला बचपन, 'बहू को क्या थानेदार बनाना है, माँ के इन शब्दों के कारण त्रिलोचन द्वारा अपनी पत्नी को न पढ़ा पाना, देवेन्द्र सत्यार्थी की गाँधी से बातचीत और मंटो द्वारा राजेन्द्र सिंह बेदी और उन पर लिखी गई कहानी तथा बाबा नागार्जुन की राजनेताओं पर टिप्पणी....

समारोह के समापन पर अकादमी के सचिव डा0 ज्योतिष जोशी ने कहा कि पहली बार साहित्यकारों पर हुए इतने बड़े फिल्म समारोह को दर्शकों द्वारा पसंद किए जाने पर उत्साहित होकर अकादमी साल में इस तरह के तीन समारोह करने की कोशिश करेंगी। अगले समारोहों में कला के दूसरे क्षेत्रों से समरसता स्थापित करने के लिए प्रसिद्ध गायकों, चित्रकारों, नाट्यकर्मियों एवं संगीतकारों पर भी निर्मित फिल्में दिखाई जाएंगीं। आगे उन्होंने कहा कि युवा पीढ़ी को अपने पूर्व साहित्कारों को जानने के लिए इस नए माध्यम की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अकादमी भी हर वर्ष पाँच साहित्यकारों पर फिल्में बनाकर उनकी सी0डी0/ डी0वी0डी0 सस्ते दामों पर उपलब्ध कराएगी।

प्रस्तुति : अजय कुमार शर्मा, दिल्ली

'पेनड्राइव' कविता पर पाठ-चर्चा

इलाहाबाद की जनवादी लेखक संघ इकाई द्वारा 1 अगस्त 2009 को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हालैण्ड हाल हास्टल के कामन हाल में युवा कवि संतोष चतुर्वेदी की लंबी कविता 'पेनड्राइव' पर परिचर्चा आयोजित की गयी। परिचर्चा के पहले संतोष चतुर्वेदी ने 'पेनड्राइव' कविता का पाठ किया। परिचर्चा की अध्यक्षता चर्चित कवि हरीश चन्द्र पांडे ने की।

परिचर्चा के प्रारंभ में युवा कवि अंशुल त्रिपाठी ने कहा कि इस कविता में शब्द से अर्थ तथा अर्थ से शब्द की ओर आवाजाही है। शब्दों का अर्थ शब्दकोषों में ढूढ़ा जा सकता है किन्तु अर्थों का समुच्चय जीवन में ही ढूंढ़ पाना असंभव है। युवा कवि मृत्युन्जय ने 'पेनड्राइव' कविता में दोहरे शिल्प की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि इस कविता में दो दुनिया हैं। एक 'पेनड्राइव' की दुनिया तथा दूसरी उसके बाहर की दुनिया। कविता में दोनों दुनिया में आवाजाही स्पष्ट दिखायी पड़ती है। तकनीक जनविरोधी है या जनपक्षधर यह इस बात पर निर्भर करता है कि तकनीक का संचालन या उसको ड्राइव करने वाले लोग कौन हैं। कनिष्ठ गीतकार सुधांशु उपाध्याय ने कहा कि कविता की अंतिम पंक्तियाँ इस बात की प्रमाण है कि आने वाले वक़्त या आने वाली पीढ़ी तकनीक से आतंकित होने वाली नहीं है, बल्कि वह उसकी समस्याओं और चुनौतियों को समझ चुकी है।

युवा आलोचक प्रणय कृष्ण ने 'पेनड्राइव' कविता का संदर्भ लेते हुए कहा कि तकनीक से जुड़कर साहित्य आसानी से समाज तक पहुँचता है। चूँकि रचनाकार पाठकों के सम्मुख नहीं होता इसलिए साहित्य और साहित्यकार ज़्यादा मुक्त होते हैं। उन्होंने आगाह किा कि एक पूँजीवादी व्यवस्था में तकनीक बाधा नहीं है, बल्कि पूँजी बाधा है। तकनीक के नकारात्मक पक्ष की ओर संकेत करते हुए प्रणय कृष्ण ने कहा कि जैसे-जैसे तकनीक होती जायेगी मनुष्य जीवन के बुनियादी एवं प्रामाणिक अनुभवों से वंचित होता जायेगा।

कहानीकार अनीता गोपेश ने 'डिजिटल डिवाइड' की बात उठायी। साथ ही उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया कि आज तकनीक की पहुँच आखिर कितने भागों तक है।

वयोवृद्ध कथाकार नीलकांत ने कहा कि तकनीक तथा पूँजीवादी व्यवस्था ने आर्थिक से ज़्यादा नैतिक सवालों को दुष्प्रभावित किया है। वरिष्ठ कहानीकार दूधनाथ सिंह ने लंबी कविता के लिए कवि को बधाई दी और यह कहा कि कविता बिंबधर्मी होती है। कई बार सपाट बयानी कविता के काम की नहीं होती। उन्होंने कविता में संबंध निर्वहन की कठिनता की ओर भी ध्यान दिलाया। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में हरीश चन्द्र पांडे ने कहा कि संतोष ने बड़ी बारीकी से पेन का संबंध पैन (दर्द) से जोड़ा है। इसक्रम में उन्होंने कहा कि अगर कविता का शीर्षक 'पेनड्राइव समय' का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाय तो बात और बेहतर तरीके से स्पष्ट हो जाती है।

परिचर्चा में वरिष्ठ कहानीकार मार्कण्डेय, श्री प्रकाश मिश्र, कौशल शंकर, विवेक निराला, परवेज, रमाकांत, अजय खरे, संध्या निवेदिता आदि उपस्थित रहे। परिचर्चा का संचालन सुधीर कुमार सिंह ने किया जबकि धन्यवाद ज्ञापन हालैण्ड हाल के अधीक्षक जसजीत सिंह ने किया।

प्रस्तुति : विजय प्रताप सिंह, इलाहाबाद

प्रेमचंद ने साहित्य की संस्कृति को बदल दिया'-प्रो0 मैनेजर पांडेय

प्रेम का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने उन लोगों को साहित्य में जगह दी और नायक बनाया जो पहले साहित्य के दायरे से ही बाहर थे तथा उन लोगों को खलनायक बनाया जो पहले साहित्य के नायक थे। ऐसा करके प्रेमचंद ने साहित्य की संस्कृति को बदल दिया।" ये विचार प्रोफेसर मैनेजर पांडेय ने प्रेमचंद जयंती पर भारतीय भाषा केन्द्र द्वारा 31 जुलाई 2009 को भाषा संस्थान के सभागार-कक्ष में आयोजित दूसरा प्रेमचंद स्मृति व्याख्यान देते हुए व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि "बड़ा लेखक वह होता है, जो लोगों को संकट के समय याद आए। गालिब, मीर, कबीर, रहीम आदि कवि लोगों को किसी भी संकट के समय याद आते हैं। गद्य में प्रेमचंद ऐसे अकेले लेखक हैं जिनको लोग संकट के समय याद करते है। आज के शासक और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का चारित्रिक चरित्र स्वाधीनता आंदोलन के समय जैसा ही है, इसलिए प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक हैं।" भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान के डीन प्रोफ़ेसर शंकर बसु कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि थे। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि प्रेमचंद रूप में बहुत लोकप्रिय साहित्यकार हैं। भारतीय लेखकों में से प्रेमचंद ही रूसी भाषा में सर्वाधिक अनूदित लेखक हैं। प्रेमचंद की महानता का उल्लेख करते हुए प्रोफ़ेसर एस0आर0 किदवई ने कहा कि हिन्दी और उर्दू में प्रेमचंद के बाद महत्त्वपूर्ण और प्रगतिशील लेखक पैदा हुए, तो यह प्रेमचंद की ही सफलता है। व्याख्यान के बाद चर्चा में कृतेश और कौशल ने भाग लिया। भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर चमनलाल ने प्रेमचंद स्मृति व्याख्यान योजना के बारे में जानकारी देते हुए प्रेमचंद को हिन्दुस्तानी जुबान का महान लेखक बताया। उन्होंने कहा कि हिन्दी-उर्दू विवाद का उत्कृष्ट हल प्रेमचंद में यहाँ मिलता है। कार्यक्रम का संचालन करते हुए प्रोफ़ेसर चमनलाल ने प्रेमचंद के लेखन को भारतीय समाज को समझने का सबसे बेहतर जरिया बताया और धन्यवाद ज्ञापन देते हुए तमिल विभाग के प्रोफ़ेसर के0 नाच्चिमुथ्थु ने उनकी दक्षिण भारत में अपार लोकप्रियता का उल्लेख किया।

प्रस्तुति : गणपति तेली, नयी दिल्ली

प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण : संगोष्ठी

पैकपार (भरगाँवा) के उत्क्रमित मध्य विद्यालय में पुरस्कार वितरण और नवनिर्माणाधीन भवन का शिलान्यास समारोह विद्यालय प्रधान और साहित्यकार महेन्द्र नारायण पंकज की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। समारोह का उद्घाटन प्रखण्ड पंचायत समिति भरगाँवा के प्रमुख श्री अनिल कुमार यादव ने दीप प्रज्जवलित करके किया। इस अवसर पर नव मिर्तित किचिन शेड और नये भवन का शिलान्यास भी हुआ। बोधि वृक्ष कार्यक्रम के अंतर्गत वाचन उन्नयन कार्यक्रम में पुरस्कार वितरण श्री अनिल कुमार यादव, श्री गयानंद यादव और विद्यालय शिक्षा समिति के सचिव श्री जय राम मंडल ने संयुक्त रूप से किया। तत्पश्चात् एक विचार गोष्ठी का आयोजन भी हुआ। वक्ताओं ने 'प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण : समस्याएँ और उसका निदान' विषय पर अपने विचार रखे। विचारगोष्ठी में श्री गजेन्द्र प्रसाद यादव, श्री गयानंद सिंह, श्री मुन्ना मेहता और श्री जयराम मंडल ने अपने विचार रखे। उद्घाटन उद्बोधन श्री अनिल कुमार यादव द्वारा प्रस्तुत किया गया। अंत में विद्यालय प्रधान श्री महेन्द्र नारायण पंकज ने कहा कि शिक्षा से ही शोषण मुक्त समाज का निर्माण संभव है।

प्रस्तुति : महेन्द्र नारायण पंकज, भरगाँवा

सकारात्मक पहल

"विचार प्रधान भाषणों के लिए एक गोष्ठी और मंच का होना बहुत ज़रूरी है। यह शुरूआत बहुत अच्छी हुई है और इस तरह का साहित्यिक कार्यक्रम हम हर महीने करने की कोशिश करेंगे।" उपर्युक्त बातें हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक और महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति प्रो0 नामवर सिंह ने 10 जुलाई को विश्वविद्यालय के दिल्ली स्थित केन्द्र पर आयोजित एक संगोष्ठी में कही।

विश्वविद्यालय के कुलपति डा0 विभूतिनारायण राय ने कहा कि हम लगातार यह कोशिश कर रहे हैं कि यहाँ पर हमेशा सुरुचिपूर्ण और महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करने वाला कार्यक्रम हो। देश के कोने-कोने से लेखक यहाँ आते हैं और बैठकर विचार विमर्श करते हैं।

यह संगोष्ठी मुख्यतः यू0के0एस0 चौहान के काव्य पाठ पर आधारित थी। उन्होंने आदिवासी पीड़ा पर लिखी गई 'शीला भयाक्रांत है' नामक मार्मिक कविता सुनाई। इसके अलावा 'कूड़ेदान', 'कवि की तलाश', 'दाना चुगते मुर्गे' आदि कई कविताएँ सुनाईं, जो आमजन की पीड़ा को व्यक्त करती हैं।

श्री चौहान की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए वरिष्ठ साहित्यकार श्री राजेन्द्र यादव ने कहा कि, 'जो बातें अखबार में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणी के रूप में लिखी जा सकती थीं, वो आज कविताओं में लिखी जा रही हैं। यह हमारे लिए दुखद भी है और सुखद भी कि हमारा मीडिया आज इतना उदासीन हो गया है।' संगोष्ठी का संचालन भारत भारद्वाज ने और धन्यवाद ज्ञापन उपेन्द्र कुमार ने किया।

तेजभान राम, ए-131, जहाँगीरपुरी, नई दिल्ली-110033

म.प्र. लेखक संघ, गुना द्वारा कवि गोष्ठी आयोजित की गयी

म0प्र0 लेखक संघ, गुना द्वारा कवि गोष्ठी आयोजित की गयी। गोष्ठी की अध्यक्षता शायर खलील रज़ा ने करते हुए यूँ कहा-''हे बेड़ी फर्ज की पॉव में मेरे, ये तेरे हाथ के कंगन नहीं हैं।'

संस्था के अध्यक्ष युवाकवि अनिरुद्ध सिंह सेंगर ने दोहों के माध्यम से गिरते जीवन मूल्यों और असंस्कारित होती मर्यादाओं पर तीखा प्रहार करते हुए कहा-'घर की इज्जत बेचते, देख बीच बाजार। पैसों की खातिर करें, बेटी का व्यापार।' साथ ही उन्होंने किसानों की पीड़ा को प्रकट करते हुए कहा-'सूखा-पाला-बाढ़ में, दी सब उमर गुजार। फिर भी साहूकार का, निबटा नहीं उधार। संस्था के सचिव गीतकार जगदीश आकाश ने पढ़ा 'आज दुखी मानव हो जाता जब सुनता त्यौहार है, कैसे हम पर्व मनाएँ रोज तो सूखा कौर है।' संस्था के उपाध्यक्ष डा0 ओ0पी0 व्यास, कार्यक्रम के मुख्यअतिथि डा0 सतीश चतुर्वेदी 'शाकुन्तल' ने भी काव्य पाठ किया।

गोष्ठी का संचालन करते हुए तलत मेहमूद तलत, शाइर मुबारक गुनावी, शाइर डा0 मनोहर गर्ग, शाइर हफीज़ गुनावी, कवि रवि शर्मा बंजारा, शाइर डा0 अशोक गोयल, लोकगीतकार विजय कंसाना 'नागराज' के अतिरिक्त बलवीर सिंह रघुवंशी तथा श्यामबाबू श्रीवास्तव ने भी रचनापाठ किया।

कार्यक्रम के अंत में आभार अनिरुद्ध सिंह सेंगर ने प्रकट किया।

प्रस्तुति : अनिरुद्ध सिंह सेंगर, गुना

कहानी पर गोष्ठी

प्रलेस पश्चिम बंगाल की ओर से कथाकार सेराज खान बातिश की कहानियों पर एक गोष्ठी जनसंसार के सभाकक्ष में पत्रकार गीतेश शर्मा की अध्यक्षता में हुई।

विपाशा पत्रिका (हि0प्र0) द्वारा सांत्वना पुरस्कार से पुरस्कृत कहानी 'डॉक्टर ऑफ द क्रास' पर विशेष रूप से चर्चा हुई। बातिश ने अपनी एक छोटी कहानी 'आउटपुट' का पाठ किया, जिस पर भी चर्चा हुई। डॉ0 शरण बंधु, शाहिद हुसैन शाहिद, विजय शर्मा, डा0 गीता दुबे, प्रो0 हितेन्द्र पटेल, कुशेश्वर, कुसुम जैन, प्रेमकपूर, राज्यवर्द्धन, डा0 ब्रज मोहन, लक्ष्मण केड़िया, बांग्ला कवि अमिताभ चक्रवर्ती कमलेश सिंह आदि कवि कथाकार आलोचक व विचारकों ने अपने विचार रखे। इस विचार गोष्ठी का संचालन कवि आलोचक जितेन्द्र धीर ने किया।

प्रस्तुति : राज्यवर्द्धन, कोलकाता

आवश्यक सूचना

वर्तमान साहित्य का साधारण मूल्य 18 से बढ़कर 20 रुपये हो गया है। जिन सदस्यों ने अपना वार्षिक चंदा जून-2009 तक भेज दिया है। उन्हें एक वर्ष तक पत्रिका भेजे गये मूल्य पर ही मिलेगी।

अब जो नये सदस्य होंगे उनका वार्षिक चंदा 230/- रुपये का मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट होगा। बाहर का चैक पाँच सौ रुपये से कम का स्वीकार नहीं करते हैं। संस्थागत चंदा 300/- रुपये है। आजीवन सदस्यों को 2000/- तथा संस्थाओं को 2500/- रुपये देय होगा।

वर्तमान साहित्य रेलवे के सभी बड़े स्टेशनों पर स्थित ए.एच. व्हीलर्स के पास उपलब्ध है।

संपादक

वर्तमान साहित्य

28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-1

रामघाट रोड, अलीगढ़

E-mail : vartmansahitya@gmail.com

vartmansahitya@yahoo.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधीजी की शिक्षा नीति

Central Library Gurukul Kangri University Haridwar 249404 (U.A.)

गांधीजी ने बहुत से कार्य किये जिनमें कुछ आदर्श थे कुछ यथार्थ। संसार के सभी महापुरुषों की तरह गांधीजी में भी गहरे अंतर्विरोध हैं। गांधीजी धर्म और अध्यात्म के विषय में जो कहते हैं उसका वस्तुतः अर्थ वो नहीं है। उनके व्यवहार में अर्थ खोजे जाने चाहिए। जैसे, वे कहते थे-'मैं बनिया हूँ, मैं हिन्दू हूँ', लेकिन इन कथनों का उनके व्यवहार में कोई अर्थ नहीं था क्योंकि वर्ण-व्यवस्था या धर्म के पारंपरिक रूप में उनका विश्वास नहीं। उनका धर्म मानवता का धर्म था। वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे। उनका प्रिय भजन था-

रघुपति राघव राजाराम/ ईश्वर अल्लाह तेरे नाम /सबको
सन्मति दे भगवान,

अथवा

वैष्णव जन तो तेने कहिए रे/ जे पीर पराई जाणे रे...

उनकी दृष्टि में वैष्णव जन वही है, जो दूसरे के दुःख-दर्द को जाने-समझे। यानि, समाज की चिंता करे, वैयक्तिक दुःख-सुख की चिंता न करे। कबीर ने अपने साधु के माध्यम से भी यही कहा था,

कबिरा सोई पीर है / जो जाने पर-पीर
जो पर-पीर न जानि है/सो काफ़िर बे-पीर।

परायी पीड़ा जाने बिना, मनुष्य-जीवन की सार्थकता नहीं। उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ है जो पर पीड़ा नहीं जानता।

गांधीजी ने जो भी कहा, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारने की पूरी कोशिश की। 19वीं शताब्दी में अछूत आंदोलन शुरू हुआ। इसमें आर्य समाज बहुत आगे था। हालाँकि, उसका व्यावहारिक पक्ष शून्य था। गांधीजी ने अछूत शब्द को स्वीकार नहीं किया और उसे 'हरिजन' कहा। वे मानते थे-

जात-पाँत पूछे नहीं कोई/ हरिको भजै सो हरि का होई।

आज कुछ अति उत्साही दलित लेखक, कोई भी नयी बात कहने के लोभ में, गांधीजी और प्रेमचंद को दलित-विरोधी मानते हैं। उनका मानना है कि गांधीजी ने दलितों का बहुत अहित किया और उनका दलित-बस्तियों में ठहरना पाखंड था। ये सब बातें इतिहास विरोधी हैं। उन्हें देखना चाहिए कि वे किस युग में और किन परिस्थितियों में कार्य कर रहे थे। गांधीजी और प्रेमचंद का समय राष्ट्रीय आंदोलनों का युग था। सामंती व्यवस्था टूट रही थी और पराजित मानसिकता के चलने अधिक आततायी थी। सामंती-व्यवस्था के स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था पनप रही थी। गांधीजी और प्रेमचंद इन व्यवस्थाओं के विरुद्ध लड़ रहे थे लेकिन दोनों के निष्कर्ष अलग थे। गांधीजी का विचार था सामंतों-पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन संभव है, लेकिन प्रेमचंद की दृष्टि में यह स्वप्नवत् था। गांधीजी एकाधिकार की व्यवस्था के विरुद्ध थे। वे समझते थे, राष्ट्रीय पूँजीवाद से देश का हित हो सकता है। पूँजीपति ज़्यादा मुनाफ़ा न कमाएँ। कुछ हिस्सा जनता के हितों पर लगाएँ। अनेक पूँजीपतियों ने गांधीजी के प्रभाव में शिक्षा एवं स्वास्थ्य व्यवस्थाओं पर अपनी पूँजी का उपयोग भी किया।

गांधीजी ने, शिक्षा का नया 'मॉडल' प्रस्तुत किया था। उनका मानना था कि जो व्यवस्था लोगों को शिक्षित न कर सके, उसका कोई अर्थ नहीं। वे चाहते थे शिक्षा का प्रसार-गाँव-देहात तक हो, ग़रीबों के बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सकें। अतः महँगी शिक्षा के विरोधी थे। यही कारण था कि उन्होंने बुनियादी-शिक्षा का प्रारूप डा0 ज़ाकिर हुसैन से बनवाया था जिस पर अमल भी किया गया। शिक्षक और छात्र प्रायः एक साथ रहा करते थे। सन् 1960 तक शिक्षकों का वेतन मात्र 75 रुपये हुआ करता था। वे 'हुनर' की शिक्षा के हिमायती थे जो जीवन में काम आए। उन्होंने शिक्षा के ध्येय में "खुद पढ़ो और दूसरों को पढ़ाओ" पर बल दिया। शिक्षक-छात्रों को उन्होंने 'सादा-जीवन उच्च-विचार' का मंत्र दिया जो एक लंबे समय तक शिक्षकों के बीच जीवनदर्शन बना रहा।

गांधीजी शिक्षा को ज्ञान का साधन मानते थे, उसके व्यवसायीकरण के विरोधी थे।

गांधीजी के उत्तराधिकारियों ने देश में पूँजीवादी व्यवस्था को प्रश्रय दिया। नेहरु ने यद्यपि पब्लिक सैक्टर को मजबूत करने की कोशिश की और उसका कुछ प्रभाव भी पड़ा परंतु, उनके बाद स्थितियाँ बदल गयीं और देश में उदारवादी अर्थव्यवस्था और बाज़ारवाद का वर्चस्व स्थापित हो गया। पिछले बीस सालों में शिक्षा व्यवस्था ज्ञान की नहीं, बल्कि व्यापार और मुनाफे का सौदा हो गयी है। शिक्षा के क्षेत्र में नव-धनाढ्य वर्ग का उदय हुआ है और शिक्षा जगत् उसके चंगुल में फँस गया है। इसमें सरकारी-तंत्र ने पूरी तरह उनका सहयोग किया। सस्ती ज़मीनें, ऊँची फीस, मुनाफ़े की पूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छूट इस वर्ग को मुहैया करायी गयी है।

आज गांधीजी के सपनों का भारत कहीं नहीं दिखायी देता। प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा कर ये पूँजीपति आज सरकार से ही मुनाफ़ा कमाना चाह रहे हैं। अंबानी-बंधु सरकार पर दबाब डालकर देश के बिजली, पानी पर कब्ज़ा जमाना चाहते हैं। न्यूयार्क टाइम्स की रिपोर्ट के अनुसार विदेशी विश्वविद्यालयों को उनके देशों की शर्तों पर हमारे यहाँ आने की छूट दी जा रही है। 2010 तक ये विश्वविद्यालय कार्य करने लगेंगे, ऐसा निश्चय किया गया है। इससे शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ेगी, ऐसा कहकर लोगों को भ्रमित किया जा रहा है। विदेशी संस्कृति का विरोध करने वाले ही विदेशी संस्कृति को अपने घर में बिठा रहे हैं और उनकी ओर से भी मौन स्वीकृति है।

जब शिक्षा व्यापार हो जाएगी, तो बड़ी संख्या में लोग शिक्षा से वंचित हो जायेंगे। इस शिक्षा व्यवस्था से एक ऐसा वर्ग पैदा होगा जो जनता से कटा होगा। जनता के दुःख-दर्द का उसे कोई ज्ञान नहीं होगा। यह रहेगा हिन्दुस्तान में और सोचेगा, अमरीका-लंदन की। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कार्यकारी अधिकारी के रूप में काम करने वाले अपनी ज़मीन-अपने देश से कट कर क्या देश का हित करेंगे ? आवश्यकता है गांधी के सपनों के भारत को नष्ट होने से बचाने की।

गांधीजी भारत के पूँजीपतियों पर बहुत भरोसा करते थे। उनका विश्वास था कि उनमें इतनी नैतिकता होगी कि वे भारत की जनता को नहीं ठगेंगे। यह बात दिवा-स्वप्न ही सिद्ध हुई। गांधीजी पूँजीपतियों से नैतिक-मूल्यों के निर्वाह की आशा कर रहे थे। पूँजीपतियों की नैतिकता केवल मुनाफ़ा है। बड़े व्यापारियों ने हर वह काम किया जिसका गांधीजी ने विरोध किया था। जब ज्ञान, विज्ञान और शिक्षा मानवीय गरिमा को बढ़ाने वाली तथा मनुष्य बनाने वाली न होकर सिर्फ मुनाफा कमाने वाली संस्थाएँ बन जाती हैं तब उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वे ग़रीबों को मुँह चिढ़ाती हैं।

गांधीजी ने कुटीर उद्योगों को विकसित करने और गरीबों को उद्योग-धंधों में प्रवृत्त करने के लिए विभिन्न व्यावहारिक उपायों के रूप में ग्रामोद्योगों पर बल दिया। ग्रामोद्योगों से बुनकरों, दलित-वर्ग तथा महिलाओं को बहुत लाभ पहुँचा। उनमें आत्म-विश्वास तथा नयी चेतना पैदा हुई और आज़ादी की लड़ाई में इन वर्गों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। गांधीजी की पहचान युद्ध-पीड़ित विश्व में आज आशा की किरण के रूप में दिखायी देती है।

मैं एक प्रसंग का उल्लेख करना चाहता हूँ-मैं बुडापेस्ट विश्वविद्यालय में गया था। एक दिन, लिफ़्ट में चढ़ने के लिए जैसे ही बढ़ा, लिफ्टमैन ने मुझे एक क्षण के लिए रोक लिया। वह रिटायर्ड फौजी था। एक टाँग टूटी हुई थी। अंग्रेज़ी नहीं जानता था। टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में उसने पूछा-फ्रॉम इंदिया? मैंने बताया-यस। वह बोला-तैल संमथिंग एबाउत ओरिजिनल गांधी। नॉत अदर गांधी। तो, ये असर था उस लंगड़े रिटायर्ड हंगरी फौजी पर गांधी का। एक बार कुछ बुद्धिजीवियों की बैठक में भारत पर चर्चा हुई तो, वहाँ बुद्धिजीवियों की राय थी-हम ईसा को ही सबसे बड़ा मानते थे, किन्तु हमें जानकर आश्चर्य हुआ कि उनसे भी 400 वर्ष पूर्व ईसा से भी बड़ा महापुरुष हुआ था-'बुद्ध'। हिन्दुस्तान में दो बड़े लोग पैदा हुए-बुद्ध और गांधी। आज हमें गांधी की बहुत ज़रूरत है। आज दुनियाँ के बड़े हिस्से में गांधी और उनके विचार आदर्श के रूप में हैं।

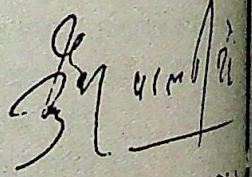

(कुँवरपाल सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरी ख़्वाहिश है तू दुनिया को फैला दे सितारों तक,
मेरी कोशिश है वो इक प्यार के पल में सिमट जाए।
(दुष्यंत कुमार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण

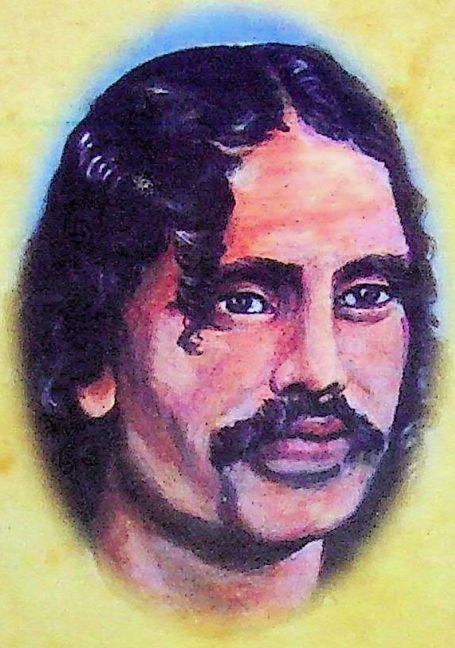

प्रायः लोग कहते हैं कि
हिन्दी कोई भाषा नहीं है।
हमको इस बात को सुनकर
बड़ा अफ़सोस होता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र
(1850 - 1885)

दिल्ली सरकार
दिल्ली टीम - स्वप्न करे साकार
सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम्बर, 2009 ■ बीस रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य कला और सोच की पत्रिका

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

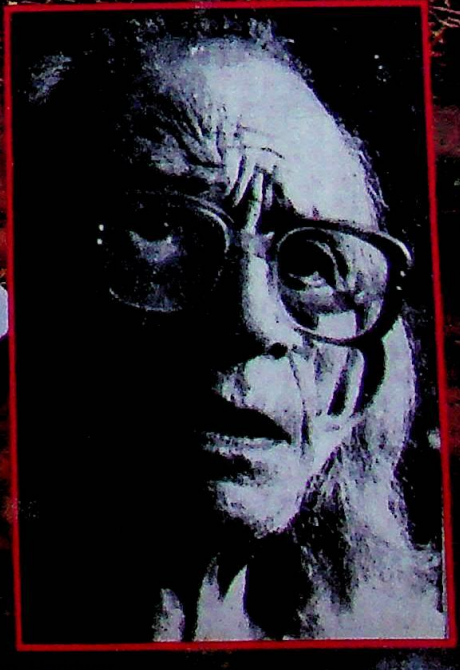

उर्दू के जनकवि वामिक़ जौनपुरी पर विशेष सामग्री

CC-0. In Public Domain

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गजानन माधव मुक्तिबोध

(13 नवम्बर, 1917–11 सितम्बर, 1964)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

वर्ष 26 ❑ नवम्बर, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; ❑ वार्षिक : 200/-; ❑ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ❑ आजीवन : 2000/- ❑ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
पुष्पपाल सिंह ❑ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
अजय बिसारिया ❑ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

व्यवस्था सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव
चित्राहकार : वेद शर्मा, बीकानेर
विशेष सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा
मुखांकन : बिसारत अली
रेखांकन : कुमार हर्ष, खगड़िया, बिहार
रेखांकन : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'
क्षेत्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में

पाठक मंच/ 2
एक प्रतिक्रिया/सत्यदेव त्रिपाठी / 5

अपनी बात / 7
स्मृति शेष : हरीश भादानी
जाना 'कल उघटने वाली दिशाओं के' गीतकार का/अजय बिसारिया/9

स्मरण : वामिक़ जौनपुरी
बात कोठी के सन्नाटे का सरगम/अजय कुमार/14
ग़ज़लें/वामिक़ जौनपुरी/18
आत्मकथांश : अलीगढ़ और कलकत्ता/वामिक़ जौनपुरी/19
तआरुफ़/वामिक़ अहमद मुज़तबा/21
ग़ज़लें/वामिक़ जौनपुरी/22
वामिक़ जौनपुरी से गुफ़्तगू/अली अहमद फ़ातमी/23
कुछ गुफ़्तनी, कुछ ना गुफ़्तनी/अली अहमद फ़ातमी/29
वामिक़ की शायरी/एहतेशाम हुसैन/35
वामिक़ जौनपुरी की नज़्मों में सियासी और समाजी फ़िक्र व ख़याल/अज़ीज़ा बानो/37
वामिक़ जौनपुरी की नज़्में/41

नवगीत/ग़ज़ल/कविता
चार नवगीत/अनूप अशेष/13
कविताएँ/मुक्ता/44
कविताएँ/रोहिताश्व/45
कविताएँ/पीतांबरदास सराफ 'रंक'/47
कविता/गोपाल वर्मा/59
कविताएँ/ललन चतुर्वेदी/60
कविताएँ/सुरेश उजाला/61
कविताएँ/शंभु बादल/63
चुप्पी/प्रज्ञा पांडेय/66

पास-पड़ोस : मराठी कहानी
कानी के ब्याह को..../प्रिया तेंदुलकर/48

कहानी
एक यात्रा/इंदु बाली/54

मीडिया
चयन के विकल्प पर ताला/प्रमोद रंजन/65

पुस्तक समीक्षा
दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त..../प्रेम शशांक/67
पहले संग्रह की कच्ची पक्की कविताएँ/विजय शर्मा/68
अरूष की कहानियों में स्त्री/प्रमिला के0पी0/69
बोल मेरी मछली—अकथ कहानी या मन की/सुषमा सिंह/70

रपट
वर्तमान साहित्य क्लब/72

सांस्कृतिक समाचार/73

समय संवाद
उच्चशिक्षा में फंसे शोधार्थी/कुँवरपाल सिंह/79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य' का सितंबर अंक। यह अंक कई मायने में महत्त्वपूर्ण है। एक-आपका संपादकीय और दो-हबीब तनवीर पर डा0 सत्यदेव त्रिपाठी, तीन-सारा जोसफ की कहानी 'देवी के बाल' तथा चार-कैलाश पचौरी और सुहैल अख़्तर की कविताएँ बहुत ही पसंद आयीं।

विजय पंडित, मुंबई

सितंबर 2009। जयासिंह कानपुर के पत्र पर कहना चाहूँगा-शिक्षित महिलाएँ भी स्त्री विरोधी रहीं हैं। एक महिला प्रधानमंत्री की संभावना पर एक अन्य महिला नेत्री सर मुड़ाने को तैयार थी, पर खैरलांजी कांड में 'सरमुड़ाते ही ओले पड़े'। संपादकीय सधा हुआ कर्मठ है। स्मरण बेजोड़ है, सत्यदेव त्रिपाठी का। रामचंद्र देशमुख-हबीब तनवीर में जो भी मतभेद रहे हों-पर यह भी लोकगूंज है कि हबीब जी भारत भवन माध्यम से छत्तीसगढ़ीय लोकमंचीय कलाकारों का शोषण करते थे। सत्य क्या है लोक ही जाने ? अद्‌भुत तकनीकी मिश्रण है चरणदास में । लोककथा राजस्थान की, गीत संगीत छत्तीसगढ़ का। अशोक तिवारी, केशवशरण की क़विता अच्छी लगी। ''शामगाह'', रानी-लंगड़े की कहानी आदिवासियों की है जो विस्थापित है। डा0 रामदयाल मुंडा ने स्पष्ट किया ''50 के दशक से आज तक देश में जितनी भी योजनाएँ कार्यान्वित हुई, उनका अधिकांश बोझ आदिवासी क्षेत्रों पर पड़ा। यह काम इतनी हृदयहीनता से हुआ कि देश की पूर्ण आदिवासी आबादी (आठ करोड़) की एक चौथाई से भी अधिक अपनी जड़ों से अधिक उखाड़ दी गई है जिसकी कोई चिंता इस देश को नहीं''। बुद्धिमानी से रानी, लंगड़ा अपना विद्रोह जता गए। संपूर्ण समाज को जागृत करती वासुदेव की 'शामगाह'। 'दवा' कहानी भी अच्छी लगी। अच्छे संपादन हेतु बधाई।

यशवंत मेश्राम, राजनांदगांव (छत्तीसगढ़)

सबसे रोचक स्तंभ 'पाठक मंच' है, इन्हीं पत्रों को पढ़कर ज्ञात होता है कि पिछले अंकों में कौन-सी रचनाओं को वाहवाही मिली तथा किसमें क्या कमी थी।

इस अंक की छुपी रुस्तम कहानी 'द्वारकेश नेमा' की कहानी है। 'प्रतिबंध' ही मुख्य मुद्‌दा है, यदि यह हँसने पर लगा दिया जाय। इस शब्द का प्रयोग मात्र राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों को रोकने के लिए किया जाता है। इस प्रतिबंध और संघ पर लगे 'प्रतिबंधों' में एक अंतःसूत्र है, संघ की कार्यवाही से लोगों को हँसाती है और हँसने पर 'प्रतिबंध' होना चाहा, यह कहानीकार की मुख्य चिंता है।

कथा में मुख्य पात्र ही दूसरा पात्र बनकर उसका दरवाज़ा खटखटाता है और दोनों में बातचीत भी होती है।

सारा जोसफ ने 'देवी के बाल' में बालों को तांत्रिक पराकाष्ठा तक खींचा है। आपका 'मासिक' रेलवे स्टेशनों पर मिलता है।

प्रो0 परेश, चंडीग

सितंबर 2009 अंक पढ़ा। कविताओं में ''मैं प्रेम करना चाहता हूँ'' ''प्रेम कविताएँ'' कैलाश चन्द्र की बहुत मजबूत कविताएँ। कुमार विनोद जी की ग़ज़लें काफ़ी अच्छी लगीं। शेर बहुत कमाल के हैं बतौर शेर'

देखकर बाज़ार की क़ातिल अदा
ख़्वाहिश को सर उठाना आ गया,

विनीत 'यावर', कटनी (मध्य

डार्विन की दूसरी जन्मशताब्दी पर आपका चिंतनपूर्ण लेख अच्छा लगा। धार्मिक रूढ़ियाँ, परंपरायें किस प्रकार विकास के चक्र को प्रभावित करती हैं ऐसा लेख पढ़कर लगा। गैलीलियो, डार्विन जैसे चिंतकों को जब उन धर्मावलंबियों ने नहीं छोड़ा तो सामान्यजन की क्या बात। फिर भी चाहे जितनी कट्टरता क्यों न व्याप्त हो जाय इस संसार में चिंतन का प्रकाश उसे मिटा ही देगा।

हबीब तनवीर जैसे व्यक्तित्व का सदैव सम्मान होना चाहिए और उनके जैसा जज़्बा हमें भी अपने अंदर पैदा करना चाहिए।

शिक्षक दिवस पर शिवरतन थानवी का लेख अच्छा लगा, भ्रष्टाचार से त्रस्त समाज में सुमधुर संबंधों की कल्पना व्यर्थ सी लगती है। डा0 धर्मचन्द्र विद्यालंकार का पश्चिमोत्तरी भारत रूढ़िग्रस्त मानसिकता की ओर ध्यान आकर्षित कराना उचित लगा। हिन्दी दिवस पर विनोदशाही का सारगर्भित लेख सार्थक है हिन्दी को दर्शन और चिंतन की भाषा बनाये जाने का उनका आह्वान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन से पूर्ण है। जीवन सिंह का हिन्दी दिवस मनाये जाने पर जो ...ख है वह भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी दिवस मनाने वालों से मेरा ...रोध है कि वे इस लेख को पढ़ें और शर्म करें कि हिन्दी दिवस ...ई त्यौहार या पर्व नहीं बल्कि एक विरोध दिवस है जिसे ...तिकारी आंदोलन की तरह मनाना चाहिए।

अंत में कुँवरपाल सिंह के विशिष्ट लेख पर कुछ विचार। नये ...पयोगिक दृष्टि कोण ने व्यक्ति से उसकी आत्मा को छीन लिया ...। शिक्षा और शिक्षक जैसे सम्मानीय क्षेत्र भी उसकी अधीनता से ...क्त नहीं। सरकार अन्य अभियानों की भाँति इन नित नये उग ...ए कुकुरमुत्तों को रोकने का अभियान चलाये तो बेहतर होगा।

सन्ध्या मिश्रा, कानपुर

...भी-अभी बिल्कुल हाल में शुकदेव जी पर संस्मरण प्रकाशित कर ...क की कांतिकुमार जैन ढर्रे पर खुला खेल फरुर्खाबादी स्टाइल ...ढ़ा। नागार्जुन की कविता है-

अगर कीर्ति का फल चखना है
तो कलाकार ने फिर-फिर सोचा
आलोचक को साधे रखना....
हुतात्माओं को ठेस पहुँचाना मेरी जमीन की सीधी गंध से
...ज नहीं रहा है।

सुश्रुत आर्यवैद्य, वाराणसी

...दकीय में महान प्रकृति विज्ञानी चार्ल्स डार्विन के विकासवाद ...सिद्धांत एवम् विभिन्न वैज्ञानिक खोजों द्वारा आस्था और तर्क ...बीच जो द्वंद्व से यह निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक मान्यताएँ ...न आस्थाएँ अपनी जगह हैं किन्तु बदलते समय के साथ ...विभिन्न अनुभवों पर आधारित निष्कर्षों से विकसित होती बुद्धि ...य विवेक का अपना महत्व है और उनकी स्वीकृति हमारी ...विकासशीलता की परिचायक है।

'समय संवाद' स्तंभ के अंतर्गत लिखे गये लेख को पढ़कर ...ता कि कुँवरपाल जी दूर अलीगढ़ में रहते हुए भी कानपुर की पूरी ...जानकारी रखते हैं। स्वयं कानपुर की निवासी होने के नाते तथा ...में वर्णित वह पब्लिक स्कूल जिसमें वरिष्ठ शिक्षकों को ...कारण निष्कासित किया गया था, वह जयपुरिया स्कूल ही है। ...कहानियाँ सभी पठनीय हैं।

आरती त्रिपाठी, कानपुर

...त अंक-2009 का संपादकीय नये परिवेश के साथ-साथ ...ती संस्कृति तथा घटते मूल्यों की ओर आकर्षित करता है। डा0 ...सिमरन कौर की कहानी 'बदला' मार्मिक कहानी है। स्त्री हर ...ठगी जा रही है। नीहारिका की कहानी 'बेटी की माँ का डर' ...द पर आधारित है। परिस्थितियाँ आज बदलने लगी हैं और ...ही हद तक सुधार हो गया है।

आज की बात में डा0 कुसुम मीतल का 'बदलते रिश्ते, बदलते सामाजिक मूल्य' आधुनिकता को दर्शाता है, जिसके कारण आज समाज में अत्यधिक परिवर्तन हो रहे हैं तथा संस्कृति व मूल्यों का विघटन हो रहा है। समय संवाद 'शिक्षा में भ्रष्टाचार' में कुँवरपाल जी ने शिक्षा जगत में होने वाले भ्रष्टाचार तथा निजीकरण के प्रभावों को स्पष्ट किया है जो शिक्षा के नाम पर आज कमाई का साधन बने हुए हैं। खुली बाजार व्यवस्था ने भी शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित किया है।

बीना सिंह, कानपुर

अगस्त-2009 में प्रकाशित हरिसिमरन कौर की कहानी 'बदला' के संदर्भ में कहना है कि हिन्दी साहित्य में लेखिकाओं की अच्छी खासी भागीदारी हो रही है। ऐसा लगता है कि अधिकतर लेखिकाएँ स्त्री-पुरुष संबंधों के दायरे से निकल नहीं पा रही हैं। माना कि पितृसत्तात्मक संस्कृति ने स्त्रियों का बहुत अहित किया। इसके लिए उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। ऐसे अधिकारों के लिए जिससे वे अपना सर्वांगीण विकास कर सकें। लेकिन इसे कैसे उचित ठहराया जा सकता है कि वे वह सारी हरकतें करें जो असभ्य किस्म के पुरुष करते हैं? यह विचित्र है कि जिस पुरुष जाति से वे घृणा करती हैं, अपना दुश्मन मानती हैं, उन्हीं से संबंध भी बनाती हैं और उसके बाद शोषण का रोना भी रोती हैं। वे समझती हैं कि पुरुषों से बदला ले रही हैं। इस लिहाज से नीहारिका की कहानी 'बेटी की माँ का डर' एक अच्छी और व्यापक दृष्टि वाली संतुलित कहानी है। लेखिकाएँ अपने लेखन में समाज में व्याप्त अन्य विद्रूपताओं के बारे में भी लिखें।

'आज की बात' के तहत 'बदलते रिश्ते-बदलते सामाजिक मूल्य' में डा0 कुसुम मीतल ने एडवोकेट मृणालिनी नायर के हवाले से बताया है कि दस वर्ष पूर्व पुरुष-स्त्री के विवाहेतर संबंधों का अनुपात 70:30 था जो अब 50:50 हो गया है। यदि दैहिक स्वच्छंदता ही वास्तविक स्वतंत्रता होती तो प्रेम-प्रसंगों के कारण ऐसी हत्याएँ नहीं होनी चाहिए थी।

परिवार का महत्व खत्म होता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के मात्र दैहिक आकर्षण के कारण बच्चों का पालन-पोषण सही तरीके से नहीं हो पा रहा है। हम बच्चों को शिक्षित न कर पैसा अर्जित करने का जरिया बनाने में लगे हैं। परिवार के विघटन के कारण बच्चों का सही मार्ग दर्शन नहीं हो पाता फलतः बच्चे कुसंगति में पड़कर अवसादग्रस्त होते जा रहे हैं।

बुजुर्गों की हालत तो और भी दयनीय है। उस अवस्था में, जब आदमी हर तरह से लाचार और कमजोर हो जाता है तथा सहारे की सबसे ज़्यादा जरूरत होती है। अब समय आ गया है कि सरकार ऐसा कानून बनाए जिससे माता-पिता के प्रति बेटे-बेटियों की जिम्मेदारी तय की जा सके। इसमें किसी न किसी रूप में हमारी शिक्षा-व्यवस्था भी दोषी है। हमारी शिक्षा व्यवस्था बच्चों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य नहीं बनाती, बल्कि मानवीय मूल्यों से पतित होने का आधार मजबूत करती हैं। इस संदर्भ में 'समय संवाद' के तहत कुँवरपाल सिंह जी ने 'शिक्षा में भ्रष्टाचार' पर जो चिंता जाहिर की है, वह वाजिब़ ही है। जब ऊपर से नीचे तक सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला हो तो फिर मूल्यपरक शिक्षा की बात कैसे की जा सकती है ? समय रहते इन गिरते मूल्यों को नहीं बचाया गया तो एक दिन हम पूरी तरह विखंडित हो जाएँगे।

रूपलाल बेदिया, धनबाद, झारखंड

'वर्तमान साहित्य' का जून 2009 अंक। आपके संपादकीय में विकास और फिर ग़रीब जनता को बेवकूफ़ बनाने की साजिश ले समाज कल्याण के नाम पर जो दोमुहां कदम मंत्रालयों द्वारा चलाया जा रहा है। वह आपकी चिंता नहीं, पूरे देश की चिंता होनी चाहिये।

विष्णु प्रभाकर जी पर लेख प्रकाशित कर आपने अच्छा किया। उनके बारे में कुछ नई जानकारियाँ मिली।

संतोष चौबे की कविता, 'जीवन वृत्त', मीरा कुमारी की कविता 'मन करता है', भास्कर चौधरी की कविता 'मैं मुसलमान हूँ', परमेन्द्र की कविता 'हम', मिर्जा सईद चग़ताई की कविता 'गौतम की मूर्ति' हमें प्रेरित करती है। डा0 अमरनाथ का लेख 'जनवादी कहानी : अवधारणा का सवाल' शीर्षक लेख जनवादी विचारधारा पर चर्चा की मांग करता है।

पत्रिका हमारे विचार को पूर्ण मानवीय शोषणमुक्त समाज की रचना और बेहतर इंसान बनाने की मुहिम में एक आंदोलन है। यह पत्रिका हमारी मुक्ति और व्यवस्था परिवर्तन के लिए रोशनी का भी काम करती है। पत्रिका पठनीय ही नहीं संग्रहणीय भी है। हमारी शुभकामनाएँ।

महेन्द्र नारायण पंकज, बिहार

'वर्तमान साहित्य' का अगस्त, 2009 अंक। इस बार आपका संपादकीय बेहद महत्वपूर्ण है। आज भारत दो राहे पर खड़ा है। मीडिया मनोरंजन के सहारे तंत्रमंत्र व बाल-विवाह के कार्यक्रम पेश कर रहा है, प्रेम-विवाह जैसे समाज में अपराध बन गया है। समय आ गया है सजगता का और संकीर्णताओं की जड़ता को तोड़ने का।

'समय संवाद' में शिक्षा में फैले भ्रष्टाचार पर ध्यान दिलाया गया है। आज शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को पैसे कमाने की मशीन बनाना मात्र रह गया है। शिक्षा ने आज व्यवसाय का रूप ले लिया है। अगर यही हालत रही तो शिक्षा-शिक्षा न रहकर एक दिन पैसे द्वारा खरीदी वस्तु बन जायेगी। ज़रूरत है आज इन विषयों पर चर्चा करने की।

विभाश्री, कानपुर

एक पत्र यह भी

सितंबर 09 अंक, 'वर्तमान साहित्य' में 'अपनी बात' के अंतर्गत वैज्ञानिक डारविन के विषय में उसकी विकासवाद की खोज पर देकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ मान्यता पर आधारित दृष्टि पर तुलनात्मक बात कही गयी है। यह बात स्पष्ट है कि सृष्टि को अपनी आस्था के सामने यथार्थ 'असत्य' दिखाई देता है तार्किकता उन्हें अपनी मान्यताओं के विपरीत दिखायी देती है। सुनिश्चित है कि सृष्टिवादियों की धर्म-आस्था मस्तिष्क से दू फूल-फल सकती है। यही कारण रहा है कि विज्ञान के साधनों यथार्थ जीवन में प्रयोग करते हुए भी ये लोग इसको नकारने में व्यस्त हैं। यह ऐतिहासिक सत्य है कि डारविन का विकासवा विश्व के अनेक देशों और समाजों में अछूत ही रहा है। इसके उनकी बंद मानसिकता और चिंतन में नया संबोध न स्वीकार की हठ क्रियाशील नहीं है। कुछ पुराने ग्रंथों को ही ज्ञान मूलभूत और सर्वभूत भंडार मानने वालों को वैज्ञानिक आधार सुविधाओं से तो परहेज नहीं है परंतु अपने आस्थापरक विश्वा अधिक भी कुछ है यह कदापि स्वीकार नहीं है। इस पर भी रहा है कि हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्मप्रचारक अपने-अपने के सिद्धांतों और घटनाओं की व्यवस्थाएँ विज्ञान के आधार पर लगे हैं। टी0वी0 चैनलों को देखने से पता चलता है कि प्रत्येक प्रचारक अपने धर्म को अधिक वैज्ञानिक, अधिक या पूर्णविक और उन्नत दिखाने का प्रयास करता है। वे एक प्रकार से धर्म, समाज और संस्कृति को, डारविन के सिद्धांत का सहा हुए, सर्वोत्कृष्ट दिखाना चाहते हैं। ऐसा इसीलिए होता है कट्टरवादी के पास दो पैर होते हैं और वह उनसे खड़े होने का तो ले सकता है, आगे बढ़ने का नहीं। आस्थापरक समाज में अनुभव और निरीक्षण को स्वीकार नहीं किया जाता। उनके मान्यताओं की रूढ़िपरक परिधि होती है जो उसकी सीमा नि करती है।

डारविन के सिद्धांत के उस पक्ष पर भी ध्यान दिया चाहिए जिसके कारण योरोप में विक्टोरिया युग का सूत्रपात इस युग में नये-नये दार्शनिक विचार, नई आर्थिक प्रगति और राजनीतिक परिदृश्य उपस्थित हो गया था। विकासवाद से होकर विचारकों ने अपने समय तक चले आए विचारों और में विकास की संभावनाएँ तलाशनी आरंभ कर दी थी। इस उनको रास्ता भी मिला। चले आ रहे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृ और राजनीतिक विश्वासों में वृद्धि और विकास हुआ। नई टूल्स विकसित हुए। नई पद्धतियाँ विकसित हुई जो विज्ञान सुवधिाओं का लाभ ले रही थीं। उत्पादन, वितरण, व्यापार, शांति जैसे क्षेत्रों में विज्ञान का हस्तक्षेप बढ़ा।

इस विकास और प्रगति का विश्व परिदृश्य पर प्रभाव भी पड़ा। उपनिवेशवाद का जन्म और विकास हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नींव रखी गई। युद्धों के नए कारण उपस्थित होने लगे। नई विधियों की खोज ली गई। मानव एवं मानवता को भी हुई। इस मामले में सबसे अमानवीय परिघटना नस्लवाद के रूप में सामने आई। श्वेत-अश्वेत का विभेद तो खड़ा सवाद के दार्शनिक चिंतन के तथाकथित वैज्ञानिक आधार। श्वेतों का अपने आपको श्रेष्ठ और विकसित मानकर मानव समूह का अपदोहन, संहार और विकसतीकरण का तार्किक अधिकार अपने पास रखकर दो सौ वर्षों तक को अपनी उंगली पर नचाना कम भयावह नहीं रहा है। क्षेत्रों के निवासियों को अविकसित और असभ्य घोषित संहार किया गया।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मूल निवासियों और आस्ट्रेलिया द्वीप समूहों के मूल निवासियों के साथ बरती गई बर्बरता नए दार्शनिक विचारों को धारण करने की राक्षसी का रूप हो। नीग्रो नस्ल के लोगों को अविकसित मानकर पशुओं की पालने की प्रथा निकाली गई। भारत जैसे अनेक देशों को न्त' के देश कहकर जंगली घोषित किया गया। ऐसी ाएँ जो अपने परिवेश और मानवीय सोच के आधार पर अपने उन्नत सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मूल्य विकसित कर चुकी थीं उनको 'सभ्यता' के दायरे मे लाने का मानवीय (?) कर्त्तव्य निभाया गया।

यहाँ पर दोनों ओर से सोचने का आशय है कि भले ही कोई वैज्ञानिक परिघटना कितनी भी सैद्धांतिक, मानवीय और उपयोगी हो सकती हो उसका उपयोग मानव किस तरह करेगा उसकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर करेगी। कोरी सैद्धांतिक या कोरी मान्यता अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती जब तक वृहद मानवीय सरोकारों से न जुड़े।

(इस बहस का डार्विन के विकासवाद से कुछ लेना-देना नहीं है। यह सामाजिक विषमता और भेदभाव सृष्टिवादियों की स्थापनाओं पर आधारित दर्शन के कारण है। उनके अनुसार इस सृष्टि की रचना एक 'ईश्वर' द्वारा हुई। इस 'ईश्वर' के अनगिनत प्रवक्ता बने जिन्होंने सत्ता-शासन के गठजोड़ से मनमर्जी की व्यवस्थाएँ दीं और अपने ढंग से सामाजिक न्याय और नैतिकता के मानदंड स्थापित किये। डार्विन का विकासवाद इस सृष्टिवादी दर्शन के विरोध में अपने प्रमाण और तर्क प्रस्तुत करता है।—संपादक)

हरपाल सिंह 'अरूष', मुजफ्फरनगर-251001

तिक्रिया

'उन्हें' क्या बुरा था मरना, ग़र एक बार होता...।

सत्यदेव त्रिपाठी

, 09 का 'वर्तमान साहित्य' हाथ में आते ही एक महीना देरी से आये अपने आलेख व दोनों संपादकीयों को पढ़ने के बाद नज़र कज जी के आलेख पर। उनकी प्रच्छन्न शेर-ओ-शायरी व साफ़गोई के ख़्याल के साथ पन्ना खोला और पाया कि वह तो विजयपाल र है। चाव और बढ़ा। कालीकट में दो-तीन दिन साथ का साबका पड़ा था एक बार। उन्हीं स्मृतियों की भीनी-भीनी सुगंध आने

0 0 0

विश्वविद्यालयों में मनमानी नियुक्तियों के नगेन्द्र युग के बाद विजयपाल-युग ज़्यादा ही फला-फूला था। इस कुख्याति के अलावा कंजूसी व खाना तक न खाने की शोहरत का सच दिखा भी था उस दौरान। लेकिन इसके साथ ही उनकी जुबानी ख़ाँटी बतकही दा में बड़े रोचक किस्से भी सुनने को मिले थे। बैठकबाज़ी ग़ज़ब की और याददाश्त के तो क्या पूछने। संस्कृत के श्लोकों रीतिकालीन कविताओं के अलावा लोकोक्तियों-कहावतों, कटबैठियों का ज़खीरा भी दिखा था। जब मैंने बचपन की सुनी 'पालक धनियाँ, सोवा चाहत यार। पटवल में लौकी मिली, करम-कला से हार।' सुनाया था, तो उन्होंने झट से उसका दूसरा वर्जन भी दिया था—'धनिया कहे पिया-जि से, ले(ह)सुन मेरी बात। में-थी सोवा में मिली, गाजर देखी भागि।'... और मुझे तह तक का आ गया था। फिर तो आनंद का समुद्र ही उमड़ पड़ा था, जब बाबू विजयपाल सिंह ने 'खाने के बाद सौ क़दम चलना चाहिए' सश्लोक सुनायी थी। मोह-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ... सुनाने की बिन माँगी इजाजत ले लेता हूँ—"एक अमीर ने जब किसी युवती से दूसरा विवाह कर लिया, तो नयी पत्नी ने उसी परिसर के पीछे वाले हिस्से में अलग बँगला ही बनवा लिया। अब अमीर वहीं बीततीं...। इस तरह पहली पत्नी मिलने को तरसने लगी। एक दिन नयी वाली के घर खाना था। खा चुकने के बाद पत्नी ने अमीर से कहा—"भोगनांते शतं गछेत।" याने खाने के बाद सौ क़दम चलना चाहिए। नयी वाली ताड़ गयी कि इतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसका घर आ जायेगा, तो अमीर वहीं सो न जाये...। सो उसने झट जोड़ दिया—'यदि शय्या न वर्तते' याने तभी सौ क़दम चलना, जब सेज सुलभ न हो। अब पारी पहली की थी। उसने जोड़ा—

'शय्या रोगिणासीना' याने खाके सो जाना तो रोग को बुलाना है।

तब तक नयी वाली ने जोड़ दिया—

'यदि युवती न विद्यते'-याने रोग तभी होगा, जब सेज पर युवती न हो।

और कहानी के साथ श्लोक भी पूरा हुआ था।''

तो ऐसे मजेदार थे विजयपाल सिंह जी। मुंबई के हमारे गुरु प्रो0 नंदलाल पाठक जी अपने बनारस-काल के ढेरों संस्मरणों में विजयपाल जी की तमाम बातें सुनाते हुए हमेशा तान तोड़ते हैं—'विजयपाल सिंह 'यारों के यार' थे। दोस्ती में कुछ भी करने को तैयार...। सुनकर मुझे 'टोपी शुक्ला' का कथन याद हो आता है—'दोस्ती में मेरा एक उसूल है कि दोस्ती में कोई उसूल नहीं होता।' और जो पैसे विजयपाल जी पेटकाटू कंजूसी से बचाते थे, उससे मदद पाने वाले यदि ईमानदारी बरतें, तो बनारस में ढेरों रहे....।

0 0 0

...लेकिन इन स्मृति-लोक के रस में छलकते-उतराते इसी रसमयता की उम्मीद में कि पंकज जी ने बनारस में रहते कितना कुछ लिया-दिया-सँजोया होगा... आलेख पढ़ने लगा, लेकिन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, मन उदास-निराश होता गया... और पूरा पढ़ जाने के बाद तो हैरानी होने लगी कि जब सरनाम नियुक्ति-प्रकरण के अलावा दिवंगत के बारे में कुछ और-खासकर कुछ अच्छा कहने को था ही नहीं या कहना ही न था, तो यह संस्मरण लिखा और छापा ही क्यों गया। मन में उभरा रामवृक्ष बेनीपुरी का वाक्य-'वह कलम टूट जाये, जो किसी की निन्दा के लिए उठती है।'

चलिए, इसे पुरानी मूल्यवत्ता मान लें और आज के यथार्थ के खुलेपन के रूप में तवज्जो दें, तो भी अब मरणोपरांत इसका हासिल क्या ? यथार्थ के खुलेपन की कोई उपयोगिता तो हो...। वरना सब बेसबब, बेलज्जत! जिस प्रकरण से पटा-बना है यह लेख, वह डंके की चोट अपनों की नियुक्ति करता-कराता था वह शख्स... लेकिन बक़ौल पंकज जी, अपने से लाभान्वित होने वाले से भी कभी चाय भी नहीं पीता था।' पर मैं जानता हूँ कि लाभान्वितों से बाद में विभागों में बुलाये जाने भर की मामूली-सी उम्मीद करता था और फिर अपने दैहिक कष्ट (ट्रेन में अखबार बिछाकर सोने वाला पंकज जी का साक्ष्य) की क़ीमत पर साधारण दर्ज़े में आ-जाकर प्रथम एसी दर्ज़े का पैसा बचा लेता था। किंतु कितने स्वनामधन्य लोग आज ज़िंदा हैं, जो प्रगतिशीलता के सरताज बने हैं, साहित्य-संस्था के शीर्ष पर विराजमान हैं और प्रत्याशी के खर्च पर उड़ानें भरने व पंचतारा की ऐश (स्रक चंदन बनितादिक भोगा' के साथ)। घलुआ में करते हैं और मूल छदाम के तहत हजारों-लाखों ऐंठते हैं।.... बंधुवर पंकज जी ऐसों को भी बख़ूबी जानते होंगे।.... उन पर लिखें तो कुछ बात बने, यथार्थ के खुलासे का कोई मतलब हो। और वह लिखना पर्दाफाश का खरा-खरा स्तंभ हो, न कि श्रद्धांजलि-संस्मरण जिसमें ऐसा कुछ कहना हमारी परंपरा व संस्कृति भी नहीं रही है—बतर्ज़ 'मरने के बाद तो दुश्मन को भी माफ़ कर देते हैं।'

विजयपाल जी के अंतिम दिनों का हाल मैंने भी एकाध बार देखा। उसे कोई उनके किये का फल भी कह सकता है, पर यह मामला इतना इकहरा भी नहीं है। उसमें उनके किये का सुख-भोग करने पर उन्हें छोड़ देने वाला (डाकू बाल्मीकि) परिवार तो कर्ता है ही, और वह पूरा शहर, जो यह सब देखता रहा....? याने विजयपाल जी अपने जीतेजी तो तिल-तिल कर मरते रहे, 'न किसी की आँख का नूर' होने के नाते, मरने के बाद भी मर रहे हैं—बेशक 'न किसी की आँख का नूर' के रूप में।... और इस असलियत से वाक़िफ़ शहर उनके इकबारगी मर जाने की दुआ भी न कर सका... वरना 'उन्हें क्या बुरा था मरना, ग़र एक बार होता।'

'नीलकंठ', एन.एस. रोड नं0-5, विलेपार्ले-पश्चिम, मुंबई-

सितंबर, 2009 अंक में प्रकाशित 'वर्तमान साहित्य क्लब' कानपुर की प्रस्तुति सुश्री आरती त्रिपाठी द्वारा की गई है। त्रुटिवश उनका नाम आरती सिंह छप गया है जिसका हमें खेद है।)

पत्रिका के जिन सदस्यों ने अपना नवीनीकरण नहीं कराया है वे कृपया तुरंत नवीनीकरण करायें। अन्यथा हम भविष्य में उन्हें पत्रिका भेजने में असमर्थ होंगे।

संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 2000 में संपन्न शताब्दी सम्मेलन में 189 देशों ने एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य दुनियाँ के निर्धनतम लोगों की दशा में सुधार लाने और ग़रीबी दूर करना था। संयुक्त राष्ट्र का शताब्दी अभियान अन्य समूहों, संस्थाओं के साथ मिलकर लोगों को प्रेरित करता है कि वे विकास कार्यक्रमों में सहयोग करें जिनका उद्देश्य दुनियाँ से 2015 तक ग़रीबी को कम करना है। इसके लिये 2006 में आरंभ हुए अभियान का उद्देश्य हिन्दुस्तान सहित अन्य देशों में भी शताब्दी विकास के कार्यक्रमों को अन्य राजनैतिक दलों के और जनता के अन्य कार्यक्रमों से ऊपर प्राथमिकता देना है। हिन्दुस्तान में भी अन्य संस्थाओं के साथ साझेदारी करते हुए विभिन्न गोष्ठियों और सम्मेलनों के ज़रिये अभियान की शुरूआत हो चुकी है।

हिन्दुस्तान के संदर्भ में पता नहीं कि यह अभियान कभी अपना उद्देश्य प्राप्त कर सकेगा ! भयावह तस्वीर नज़र आती है। हमारे यहाँ अभी भी ग़रीबी और भुखमरी का शिकार 40 प्रतिशत तक आबादी है। ग़रीबी की रेखा से नीचे की आबादी वाले परिवारों की आमदनी एक भी साल में 3000=00 रुपये तक नहीं पहुँच पाई है। उड़ीसा, झारखंड, बिहार में विशेष रूप से भयावह हालात हैं। आज भी बिहार में केवल 14 प्रतिशत, आंध्र प्रदेश में 32 प्रतिशत, उड़ीसा में 36 प्रतिशत, छत्तीसगढ़ में 30 प्रतिशत लोगों को ही साफ़ पीने का पानी उपलब्ध है। 70 प्रतिशत लोग हमारे देश में 20 रु0 रोज आमदनी पर ज़ीवन बसर करते हैं। देश को आज़ाद हुये 63 साल बीत चुके हैं। हमारा पड़ोसी चीन तो हमारे बाद आज़ाद हुआ। अफीमचियों के इस देश से कैसे अशिक्षा, भूख और ग़रीबी दूर हुई। दुनियाँ की एक आर्थिक शक्ति बनने का स्वप्न देखने वाला हमारा देश शिक्षा, स्वास्थ्य और अच्छी ज़िंदगी बसर करने वालों की सूची में सबसे नीचे पायदानों में क्यों है। राज्य व्यवस्था में कब संवेदना और इच्छा शक्ति का माहौल बनेगा ?

दरअसल हमारे देश के दो चेहरे हैं। दो विपरीत संसार यहाँ बसते हैं। एक संसार हंसता खिलखिलाता है। वह राजनेताओं का है, उनके परिवारों का है, बड़े पूंजीपतियों, व्यापारियों का, कॉरपोरेट घरानों का है, अफसरशाही और उनके घर-कुटुंब का है... उनके दलालों, ठेकेदारों, दलालों का है। यहाँ तो किसी चीज का अभाव नहीं है। सारी सुख सुविधायें, ऐशो आराम हैं, पूरा स्वर्ग धरा पर है। इनकी संपत्तियाँ हैं। महीनों-महीनों पाँच सितारा होटल में एक आदमी दिन गुज़ार देता है। लाखों-करोड़ों के गिफ़्ट, जन्मदिन पर दिये जाते हैं...।

दूसरा संसार भूखे नंगों का है। यहाँ पीने का पानी नहीं है। खाने को अन्न नहीं है। पहनने को कपड़े नहीं। सर पर छत नहीं। जो दिन गुज़रते हैं वहाँ सड़कें नहीं। एक ओर हाईटेक शहर हैं। मॉल्स हैं.... दूसरी ओर विकास के नाम पर सिर्फ धोखा और अंधेरा फुटपाथ, रेलवे स्टेशन, गटर के किनारे रेंगती ज़िंदगियाँ हैं।

यह दूसरी अंधेरी दुनियाँ के वासी भी यहीं के बाशिंदे हैं। वे नदी के द्वीपों में बसे स्वर्ग को देख सकते हैं। वहाँ की रोशनी को, चमक भरे वातावरण को देख सकते हैं। एक बड़ा हिस्सा यह सवाल भी कर सकता है कि हम ऐसे क्यों... और तुम वैसे क्यों ?

इन्हीं सवालों से उपजा है आज उस जनता का असंतोष जिसके पास ज़मीन नहीं। ज़मीन है तो वह दबंग जातियों द्वारा छीन ली गयी है। रोज़गार नहीं है। भूख और ग़रीबी ही अगर मौत का सबब बने तो फिर हथियार उठाकर आखिरी लड़ाई क्यों न लड़ी जाय. नक्सलवाद या माओवादी आंदोलन का यही ठोस आधार है। कहा जाता है कि देश के 130 जिले सर्वाधिक नक्सल प्रभावित क्षेत्र हैं जिनमें बिहार से लेकर झारखंड और उत्तर प्रदेश का मध्यवर्ती भाग, मध्य प्रदेश से लेकर विदर्भ और दक्षिणी उड़ीसा का हिस्सा मुख्य रूप से शामिल हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार और आमदनी के आंकड़ों को देखा जाय तो ये पूरा क्षेत्र सर्वाधिक पिछड़ा और ग़रीब है। देश का यही ग़रीब गलियारा, जो अपनी प्राकृतिक संपदा में सबसे अधिक संपन्न है यही क्षेत्र सबसे ज़्यादा नक्सली प्रभाव में है तथ्य अपना स्पष्टीकरण स्वयं दे रहे हैं। यही वह क्षेत्र हैं जहाँ सबसे ज़्यादा ग़रीबी और शोषण है। जहाँ अकाल पड़ते हैं और बच्चे मर जाते हैं।

सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ते-लड़ते नक्सली आज आतंकवाद की ओर बढ़ रहे हैं। सरकार कहती है, कि मेज़ के आमने-सामने बैठ... बातचीत के द्वारा समस्या का समाधान हो। वे कहते हैं कि एक ओर हमें मेज पर बिठाते हो, दूसरी ओर हमारे सफ़ाये का कार्यक्रम चलाते हो जैसा आंध्र प्रदेश में हुआ.... लोग कहते हैं कि हथियार डाल दो और लोकतांत्रिक व्यवस्था में मुख्यधारा में आओ। चुनाव लड़ो और पार्लियामेंट के जरिये अपनी बात कहो। ये बहुत भोला समाधान है। कौन नहीं जानता कि हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज चुनाव लड़ना हंसी खेल नहीं। करोड़ों का खेल है यह चुनाव और इस चुनावी खेल में पूंजीपति, व्यापारी, कालाबाजारी, दलाल, अपराधी.... सभी शामिल हैं। कौन इनके हक में खेलेगा। फिर वही यक्ष प्रश्न है कि आखिर यह इलाका जीवन की मूलभूत सुविधाएँ कब प्राप्त करेगा, कैसे प्राप्त करेगा। शिक्षा और रोज़गार के साधन कौन मुहैया करायेगा। ग़रीबी और उससे उपजे असंतोष और हिंसा का यह एक रूप है जहाँ विकास के नाम पर क्षेत्र ऐसा उपेक्षित रहा है मानो वह अपने देश का हिस्सा ही न हो। या तो उपेक्षा हुई या घोर संवेदनहीनता के चलते सब कुछ भ्रष्टाचार के पेट में समा गया।

पिछले कुछ वर्षों से विकास के नाम पर ग़रीबी के कुछ नये उपनिवेश बन रहे हैं। दरअसल हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे बड़ा राष्ट्रीय गुण भ्रष्टाचार बन गया है जो अंधा-बहरा है और हृदयहीन है, अमानवीय होता है। साधारणजन को नये सिरे से वंचितों की श्रेणी में लाने की नयी मुहिम अब नये विकास के नाम पर शुरू की जा रही है जिसके नमूने हमें महाराष्ट्र ही नहीं, उत्तर प्रदेश में भी देखने को मिल रहे हैं। ये हैं 'सेज' के नाम पर अथवा रास्तों, पार्कों और हाइवे निर्माण के नाम पर अपने कीमती संसाधन, तेल, पानी और ज़मीन बड़े कारपोरेट घरानों को सोंपे जा रहे हैं। आखिर किस आश्वासन के बदले ? महाराष्ट्र के किसानों ने अपनी कृषि भूमि देने से इंकार कर दिया। जिस ज़मीन पर अन्न उगता है उस पर लगातार कॉरपोरेट जगत कब्जा कर रहा है.... उ0प्र0 के पश्चिमी क्षेत्र में 'यमुना एक्सप्रेस वे', बनाने के नाम पर किसानों से ज़मीनें ली जा चुकी हैं। अब नई मुहिम के अंतर्गत लगभग 300 गाँवों की खेती की ज़मीनें और छीनी जा रही हैं जिन पर बड़े मॉल्स बनेंगे, रिहायशी इलाके बसाये जायेंगे। एक्सप्रेस हाइवे इसलिये बनाया जायेगा जिससे सफर का समय कम हो सकेगा। उसके किनारे नये व्यापारिक संस्थान निर्मित होंगे जो बड़े व्यवसायियों के हित साधेंगे। इसमें किसको क्या मिलेगा... व्यवसाई, ठेकेदार, सरकार.... लेकिन किसान कहाँ जायेगा! लगभग 300 गाँवों के किसानों से उनकी भूमि छीनने का उपक्रम हो रहा है। क्या कंक्रीट और पत्थरों के जरिये ही विकास होगा ? अन्न उपजाने वाली भूमि की सचमुच आज ज़रूरत नहीं? क्या ऐसे ही भूख पर काबू पाया जा सकेगा? कंक्रीट की मूर्तियों, हाथियों के बीच यह विकास का कौन सा रास्ता है? निरंतर समाचार आ रहे हैं कि किसान जो भूमि नहीं दे रहे उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किा जा रहा है। झूठे, आपराधिक मुकदमों में फंसाया जा रहा है। जो लोग छोटी-मोटी नौकरियों में हैं, उन्हें नौकरी से निकाला जा रहा है... पूरा परिदृश्य ब्रिटिश राज की याद ताज़ा करा देता है। रोटी नहीं तो केक खाओ की तर्ज पर हम कहें कि खेती नहीं तो मॉल्स में जाओ...।

यह भी एक और असंतोष की शुरूआत है। नक्सलवाद आसमान से उतर कर नहीं आया। इन्हीं जैसी परिस्थितियों से, राजनैतिक और प्रशासनिक संवेदनहीनता और क्रूरता से, सामाजिक अन्याय के वातावरण से उपजता है। किसान आज दोहरी मार झेल रहा है। बीज, खाद, पानी की समस्या है, बिजली की भी विकट समस्या है। आज खेती घाटे का सौदा बन रही है और किसान लगातार संघर्ष कर रहा है। अपना जीवन बचाने के लिये और अपनी ज़मीन बचाने के लिये भी। ज़मीन उसकी जान है और वह जान नहीं देना चाहता। वह अपने जीवन की, अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। कुछ महीने पहले ग्रेटर नॉयडा में एक इटैलियन कंपनी के उपप्रबंधक को वहाँ के कर्मचारियों ने पीट-पीट कर मार डाला। कारण, सेवा शर्तों में आधारभूत सुविधाओं की मांग करने पर बड़ी संख्या में कर्मचारी निकाल दिये गये थे और सरकारी हस्तक्षेप के बावजूद उन्हें वापस नहीं लिया गया। कारखाने में कार्यरत सभी कर्मचारी आसपास के गाँवों के ही किसान हैं अथवा उनके बेटे हैं। ज़मीन अधिग्रहण के मामले में ही ग्रेटर नॉयडा और आसपास के गाँवों के किसानों के उग्र प्रतिरोध के चलते वहाँ पुलिस द्वारा गोली चलाई गयी और वह क्षेत्र लगातार अशांत बना हुआ है।

अभी हाल में बांदा में केदारनाथ अग्रवाल व्याख्यान माला में नामवर सिंह जी ने सही कहा कि किसान और उनके नये उठते संघर्ष हमारी चिंता नहीं बन रहे हैं। आज हम सब नक्सली हिंसा से उत्पन्न आतंकवाद से चिंतित हैं। सरकार बाकायदा युद्ध जैसा वातावरण अपने ही नागरिकों के विरुद्ध बना रही है। लेकिन प्रतिरोध के जो नये क्षेत्र बन रहे हैं, किसान फिर भूमिहीन होने को मजबूर किये जा रहे हैं, बेदखल किये जा रहे हैं, उन पर हमार मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग मौन है। गाँवों की पृष्ठभूमि पर केवल प्रेम गाथाएँ ही नहीं लिखी जा सकतीं। उनके जीवन संघर्ष भी हमारी चिंताओं में होने चाहिये। किसी भी वर्ग की हो, अन्याय और शोषण के खिलाफ लड़ाई तो मिलजुलकर ही लड़नी पड़ेगी और अपने-अपने मोर्चे संभालने होंगे।

इस अंक में मीनाबाज़ार तथा बंगाल के अकाल के प्रत्यक्षदर्शी के रूप में विचलित होकर लिखी गयी "भूका है बंगाल रे साथी", जैसी नज़्म के रचयिता, जनता के शायर वामिक़ जौनुपरी पर हम विशेष सामग्री दे रहे हैं। यह उनका जन्म शताब्दी वर्ष है। प्रगतिशील परंपरा से जुड़े इस इंकलाबी शायर ने अपने एक साक्षात्कार में बिना लाग लपेट के जो बातें कहीं वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में उर्दू के सुपरिचित लेखक और आलोचक प्रोफ़ेसर अली अहमद फातमी तथा वामिक़ जौनपुरी के निकट रहे ज़ौनपुर के अजय कुमार जी के हम आभारी हैं। इसके अतिरिक्त हमारे साथी तथा उर्दू के सुपरिचित शायर डॉ0 महताब हैदर नक़वी ने भी हमारी बहुत मदद की। उनके प्रति भी हमारा आभार!

(नमिता सिंह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना 'कल उघटने वाली दिशाओं के' गीतकार का

अजय बिसारिया

बीकानेर के प्रतिष्ठित पुरोहित परिवार में 11 जून, 1933 को जन्मे हरीश भादानी ने जब होश सँभाला तो आस-पास का माहौल न केवल पक्ष में नहीं था, बल्कि अनात्मीय भी था। भादानी जी के ही शब्दों में "धारक-पोषक दोनों अनुपस्थित" थे। होश सँभालने से पूर्व ही माँ चल बसी थीं और पिता संगीत-साधना में संन्यासी हो घर छोड़ चुके थे। संबंध के नाम पर एकमात्र पितामह थे, जो पुत्र के गृह-त्याग के कारण पौत्र को अपने व्यवसाय को आगे बढ़ाने हेतु कड़ी नज़र रखते थे। कुलतौर पर, जैसा कि अनाथ बच्चों को 'अपशकुनिया' समझा जाता है, ठीक वैसा ही व्यवहार बचपन से भादानी जी को मिला। आत्मीय लगाव की ललक में बचपन से उनकी जीवन-यात्रा इधर- उधर भटकती रही :

चलने का पहला दिन/ और आज का यह दिन/ और
कुछ नहीं कुछ / केवल घर, घरवाला खोजें / सिले होंठ सी/
अपनी नाम की/ एक-एक तख़्ती के पीछे/ केवल जड़े किवाड़ें
खोलें / गुमसुम पर्वत के नीचे दब-चिंथ जीती/ बतियाने की
ललक एक बलत सुन लेने/ इतने अपनों बीच परायी एक,
अकेली / दुख-दुखकर सूजी आँखों में / साथ हो चलने की/
ललक एक कौंध पा लेने/ दिनों-दुखों की जोड़ भूलकर/ दूरी को
भरने आँखों में/ एक बड़ी दुनिया हो गये शहर में/ और नहीं
जुड़ / अपनापा केवल अपनापा खोजें/ चलने का पहला दिन/
और आज का यह दिन।

यही वह केन्द्रीय बिन्दु है, जो कवि की संवेदना को क्षणांत अपने से छूटने नहीं देता। बहुत बचपन में ही भादानी जी ने पिता को सिर्फ़ एक बार देखा भर था। हरीश जी के पिता संत बेबा महाराज, जो अपने समय के जाने-माने संगीतज्ञ और परिष्कृत रुचि-संपन्न मनीषी थे, संगीत-साधना में रत संन्यासी हो गये थे। पिता के एक बार के दर्शन मात्र को हरीश जी ने सहेज-समेट कर रखा है। अपने दूसरे काव्य-संग्रह 'सपन की गली' का समर्पण उन्होंने इस प्रकार किया है :

'ओ स्वर-साधक संन्यासी/ तुम्हें एक बार ही देखा था / तुम्हारे भक्तों ने मुझसे कहा—"ये तुम्हारे पिता हैं/ मैं काँपते होंठों में बोला-"पिताजी"/ तुम मौन रहे..../ मैंने पूछा..... माँ कहाँ है.....?"/ तुम फिर भी मौन रहे..../और मेरा अबोध मन रो दिया-

इस अभाव को समझ कर/ उन्हीं शाश्वत क्षणों को यह कृति।'

इस तरह—"जन्म के पहले ही महीने स्वर-साधक पिता का संन्यास, दूसरे माह माँ की विदा और फिर इस 'अपशकुनिये टाबर' की उपेक्षित जीवन-यात्रा का सिलसिला, इस उपेक्षा से उपजा आवेश उसे होटल की बैरागिरी, दूकान की झाड़ूदारी और रायवादी, समाजवादी और अंततोगत्वा मार्क्सवादी कम्यूनिस्टों तक ले गया। 'वातायन' और 'कलम' जैसी भारतीय ख्याति की पत्रिकाओं का हरीश ने संपादन किया। रूमानियत उसे विरासत में मिली और जन-आंदोलन, जेलयात्रा आदि के अनुभव उसे अजाने ही विचारों की संपन्नता दे गये।" 'मधुमती' पत्रिका में विशिष्ट कवि के रूप में प्रस्तुत हरीश भादानी का परिचय अपनापे की खोज में बालक हरीश न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा। हर संपर्क में आये व्यक्ति से पूरी रागात्मकता और निष्ठा के साथ जुड़ना, हर बार दूसरे व्यक्ति द्वारा संबंधों की रागात्मकता को ठेस पहुँचाया जाना। फिर भी, निरंतर उस तलाश में भादानी का जुटे रहना, उनके रोमानी स्वभाव को निरंतर उत्कर्ष की ओर ले गया। जो लोग भादानी के निकट रहे हैं, वे जानते हैं कि इस अतिशय संस्कृत एवं सुरुचि-संपन्न व्यक्ति के साथ कितनी अतिरिक्त सावधानी बरतने की आवश्यकता थी। कभी पलटकर आघात न करने वाले, किसी से कभी कोई शिकायत न करने वाले व्यक्ति ने केवल और केवल कविता से ही अपना व्यक्तिगत संवाद रखा है। भादानी जी कविता केवल लिखते नहीं रहे, बल्कि रचते रहे; उसी को ओढ़ते-बिछाते और पहनते रहे। जहाँ अपने दूसरे ही काव्य-संग्रह के कथ्य में वे लिखने को अपना "स्वभाव निहित कर्तव्य" बताते हैं, वहीं 1985 में प्रकाशित काव्य-संग्रह 'सड़कवासी राम' के रचना-पूर्व वक्तव्य में वे कहते हैं—"इस व्यक्ति को रचने के जतन के अलावा और कुछ नहीं आता और कुछ न आने के परिणामों को उसे पहनना पड़ा है। इसी पहनावे की प्रतिमूर्तियाँ हैं—ये रचनाएँ।"

रागात्मक लगाव की ललक ने हरीश भादानी को जगह-जगह भटकने को मजबूर किया। इसी क्रम में, पितामह के अपने व्यवसाय में निष्ठा के साथ भादानी जी को खींच लाने के प्रयास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने उन्हें अत्यंत क्षुब्ध कर दिया। परिणामतः पितामह के घर को छोड़ सड़क पर चले आये।

घर छोड़ने के उपरांत हरीश जी को संबंध के नाम पर—ऐसा संबंध, जिसे वे अपना मानते हैं तथा पोषक पिता के रूप में स्वीकार करते हैं—राजस्थानी के जनकवि स्व0 श्री भतमाल जी जोशी का सान्निध्य मिला। श्री भतमाल जी जोशी पुराने तरह के वामपंथी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे और वहीं से हरीश जी को ये संस्कार मिले। उन्हीं के सान्निध्य में संस्कृत की शिक्षा हुई और संस्कृत साहित्य को वाम-दृष्टि से सोचने-समझने का दृष्टिकोण भी, यहाँ तक कि शब्दों का माध्यम भी उन्हीं से मिला। हरीश जी ने इस दौरान् न केवल व्यापक अध्ययन किया, अपितु कविता के रूप में उनकी अभिव्यक्ति भी आरंभ हुई। बीकानेर के स्कूलों की सभाओं में बोलना शुरू किया, फिर बौद्धिक गोष्ठियों में भी शामिल होने लगे। बीकानेर की साहित्यिक गोष्ठियों में अभी भी छायावाद का प्रभाव बोलता था। हाँ, अब उसके विरोध में भी सोचा जाना आरंभ हो रहा था। हालाँकि हरीश जी का सोच विरोध वाला रहा, पर जाने-अनजाने वह प्रभाव भी निजी असंतोष एवं परिवार से अलग कुछ और के द्वंद्व से उपजी पीड़ा को आकार देता रहा। शुरू में अपनापे की तलाश में उद्वेग और रूमानीपन रहा। अध्ययन के दौर में एम0एन0रॉय को पढ़ा, तो घर के वातावरण, पोषक पिता से मिली पुराने तरह की वाम-दृष्टि तथा रोमानी संस्कारों ने राय के क्रांतिकारी मानवतावाद (रैडिकल ह्यूमेनिज़्म) की ओर अधिक आकर्षित किया और हरीश जी रॉयवादी विचारधारा से जुड़ गये। 1952 में औपचारिक रूप से समाजवादी पार्टी से जुड़ाव हुआ और पार्टी की विचारधारा से प्रभावित लेखन भी होने लगा। इस बीच परिवार से कट जाने के कारण अर्थ-तंत्र बहुत ही कमज़ोर हो गया और हरीश जी को जैविक-धर्म के लिए बहुत से अप्रत्याशित एवं अनिच्छित कार्यों को भी करना पड़ा। आर्थिक अभावों के रहते पत्नी और बच्चों के परिवार को समय के चक्र पर आगे बढ़ाते रहने का यत्न भयावह दौरों से गुज़रता रहा। यहाँ तक कि एक मासूम को इसी अभाव की बलि तक चढ़ जाना पड़ा। 'सड़कवासी राम' संग्रह की एक कविता 'इस बिन्दु का अर्थ यही है' में इन त्रासदायी भयावह स्थितियों का संकेत है, देखें :

'किस-किस तरह बीते / वे क्षण/ क्षणों की जोड़ के लंबे बरस/ कैसे गिनाऊँ...../ एक माँ की तरह/ बहुत कष्टाने के बाद/ जाया था हमने इन्हें/ ये आखर/ उस घड़ी जन्मे /जब एक और माँ का/ नन्हा-सा भविष्य/ मजबूरियों की बर्फ़ खाकर मर रहा था।

तथा

ये आखर/ उस घड़ी जन्मे/ जब हम हमारे/ शोर करते खून के गले में/ एक रोटी ठूँस देने/ बाज़ार में/ इन आखरों को बेचते थे।

अपने दूसरे संग्रह 'सपन की गली' के पूर्व रचना वक्तव्य में उन्होंने इसे स्वीकार भी किया है- 'मेरी पहली रचना 'अधूरे गीत' में सामाजिक असमानताओं से उत्पन्न आवेश, व्यक्तिगत पीड़ा और अभाव अधिक उतावले होकर चले हैं।" 'अधूरे गीत' का प्रकाशन 1959 में हुआ। इसकी अधिकांश कविताएँ समाजवादी पार्टी से उनके जुड़ाव से बने वैचारिक आग्रहों और व्यक्तिगत अभाव एवं पीड़ा से सीधे जुड़ी हैं। अपने इस पहले ही संग्रह के रचना-पूर्व वक्तव्य में उन्होंने कविता के संबंध में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता का परिचय दिया है—"कविता के संबंध में मेरी स्पष्ट धारणा रही है कि कविता, युग की, फोड़े की तरह उभरी व्यवस्था को समान बनाते हुए और जीवन की कुरूपताओं को अनूठे सौंदर्य प्रदान करते हुए वर्गहीन समाजवादी समाज की स्थापना की कल्पना को बल दे, कविता की आत्मा संहार की कुत्सित भावना को पीछे धकेलकर मानवी सौहार्द, विश्व शांति और सृजन का मूर्त संदेश दे, वही कविता अपने युग की कविता है।"

यूँ, हरीश जी का प्रथम कविता-संग्रह अवश्य सन् 1958 में प्रकाशित हुआ पर व्यवस्थित रूप से लिखना उन्होंने सन् 1956 से ही आरंभ कर दिया था। समाजवादी दल से जुड़े रहने के कारण वे अपनी अधिकांश कविताएँ समाजवादी दल के मुखपत्र 'जनता' में भेजा करते थे। रामवृक्ष बेनीपुरी के संपादन में पटना में प्रकाशित होने वाले इस पत्र में सन् 1956-57-58 में उनकी कविताएँ नियमित रूप से छपती रहीं। समाजवादी दल के सैद्धांतिक के अनुरूप ही उस समय हरीश जी कांग्रेस एवं कम्यूनिस्ट-विरोधी विचारों के रहे। हंगरी के इमरेनेगी एवं मालेटर की मृत्यु पर लिखी उनकी कविता—"साम्यवाद की सूली पर तुम बँधे नहीं थे, उन दिन बाँधी गयी मनुष्यता" इसे प्रमाणित करती है।

इस काव्य-संग्रह के प्रकाशन तक हरीश जी की रोमानियत कुछ संतुलित होती है और उनका सोच एक स्तर प्राप्त करता है। साहित्य-संबंधी विचार अधिक ठोस भूमि प्राप्त करते हैं।

यही वह समय है जब हरीश जी 'वातायन' नाम से एक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन-संपादन आरंभ करते हैं। 1963 से 1973 तक प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका हिन्दी साहित्य-जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। 'वातायन' के संपादकीय वक्तव्यों में जन-जीवन, राजनीति, सृजन और बदलाव के संबंधों पर निरंतर वे विचार करते रहे हैं और पत्रिका को समकालीन परिवेश में दैनंदिन जीवन के विभिन्न बिन्दुओं पर बहस के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं। वे राजनीति को संपूर्ण जीवन से अलग नहीं समझते और साहित्य के जीवन से जुड़े होने के कारण राजनीति से इस रूप में जुड़े रहने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं; लेकिन सन् 1969 से पहले तक, जबकि वे मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी से नहीं जुड़ते, साहित्य के दलगत जुड़ाव को सही नहीं समझते। पूर्व के रैडिकल सोच के संस्कारों तथा निजी परिस्थितियों से उपजे उदारवाद के चलते वे कविता या साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रतिबद्धता व्यापक मानवीय जीवन से होना ही सही समझते हैं। इस व्यापक धरातल से साहित्य की प्रतिबद्धता के विचार के चलते ही वे कला एवं कला की प्रतिबद्धता की परिभाषा इस प्रकार देते हैं–"मानवीय संवेगों की अनुभूत प्रक्रिया जब अपने परिवेश की सहज-सम्प्रेष्य भाषा में अभिव्यक्त होकर विविध आयामी जीवन के व्यापक अर्थ उद्घाटित करती है, वह कला हो जाती है। इसी अर्थ में कला अपने परिवेश से प्रतिबद्ध है।"

कुल मिलाकर यह है कि वर्ष 1968 तक आते-आते हरीश जी के मानस में दलगत राजनीति और कविता की दलगत प्रतिबद्धता को लेकर कश्मकश दिखायी देती है। यह वैचारिक उथल-पुथल का समय है, जिसमें वे एक निश्चित मार्ग अपनाने के प्रयास में हैं। यही वैचारिक उथल-पुथल उन्हें आगे ले जाकर समकालीन राजनीति में दलगत जुड़ाव की आवश्यकता तक ले जाती है, क्योंकि वे महसूस करते हैं कि इकाइयों में रहकर किसी ठोस परिवर्तन की शुरूआत नहीं हो सकती और यह कि समकालीन भारतीय जीवन को बदलाव की महती आवश्यकता है। 1969 में वे मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी से जुड़ते हैं और 'वातायन' पत्रिका अब एक प्रतिबद्ध पत्रिका का रूप लेती है, जो पहले 'सृजन और समीक्षा में किसी भी रूढ़ की पक्षधर' नहीं थी।

इस बीच, हरीश जी के तीन काव्य-संग्रह क्रमशः 'हंसिनी याद की' (1963), 'लसु गते पिण्ड' (1961) तथा 'उजली नज़र की सुई (1966) प्रकाशित हुये हैं। दो वर्ष बाद सन् 1968 में साठोत्तरी कविता का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने इन आंदोलनों के नामों के लेबल हटाकर उस कविता पर विचार करने का आग्रह किया–"संवेगों को विवेक के स्तर पर अभिव्यक्त करने की तीव्रता ही साठ के पश्चात् की कविता-पीढ़ी के मूल्यांकन का सही आधार हो सकती है।"

इस दौर तक आते-आते हरीश जी ने गीत-शिल्प पर अच्छा-ख़ासा अधिकार प्राप्त कर लिया था। नवगीत-आंदोलन से भी वे कुछ समय जुड़े रहे, लेकिन केवल रचनाकर्मी के रूप में, आलोचक-उन्नायक के रूप में नहीं, क्योंकि वे आंदोलन के प्रमुख विचार के विरुद्ध गीत को कविता का ही एक विशिष्ट शिल्प मानते हैं, अलग विधा नहीं। लेकिन, नवगीत-आंदोलन की विभिन्न पत्रिकाओं में उनके गीत छपे हैं तथा नवगीत-आंदोलन की समीक्षाओं के समय कहीं-कहीं एकाध उद्धरण के साथ, तो कहीं नामों की सूची में उन्हें शामिल अवश्य किया जाता रहा है। उनके गीतों की प्रशंसा की जाती रही है।

सन् 1971-72 में वातायन का दो वर्ष के व्यवधान के बाद पुनः प्रकाशन आरंभ हुआ और इन्हीं वर्षों 72-73-74 में कवि हरीश भादानी बीकानेर में जीवन-यापन की मुश्किलों के कारण मुंबई तथा कलकत्ता रहे। अपने परिचय में वे "मुंबई कलकत्ता के कलमी मजूरों" का भी ज़िक्र करते हैं। मुंबई में 'नवभारत टाइम्स' तथा कुछ और पत्र-पत्रिकाओं एवं प्रकाशकों के लिए स्वतंत्र-रूप से कार्य किया। यहीं से महानगरीय ज़िंदगी को निकट से देखने-समझने-अभिव्यक्त करने का अवसर मिला। फ़र्नेस, चिमनी, धुँआ, कोलाहल, भागती भीड़, निःशेष होती रागात्मकता, अजनबीपन आदि उनकी संवेदना का हिस्सा बने। मध्यवर्गीय जीवन के अभावों, दुखों, संघर्षों एवं उसकी थकन-पीड़ा-पराजय और पुनः जीवन के लिए उठ पड़ने तथा उसकी आशा-इच्छा-आकांक्षाओं ने हरीश जी को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। यह गीत देखें :

ड्योढ़ी रोज़ शहर फिर आए
कुनमुनते तांबे की सुइयाँ
खुभ-खुभ आँख उधारें
रात ठरी मटकी उलटाकर
ठठरी देह पखारें
बिना नाप के सिये तकाज़े सारा घर पहनाए।

यहीं रहते 'रोटी नाम सत है' के गीतों की रचना हुई, जो जन-संघर्षों एवं जनता से सीधे जुड़े गीत हैं तथा जिन्हें स्वयं भादानी जी जनगीत की अपेक्षा 'सड़काऊ गीत' कहना पसंद करते हैं। हड़ताल, बंद, नारे, आंदोलन इन गीतों में मुखरित हुए हैं, साथ ही, ये गीत राजनीतिक विचारधारा से सीधे जुड़े हैं। 'रोटी नाम सत है', 'राज बोलता, सुराज बोलता' तथा 'बोल मजूरे बंद, बोल दीनिये बंद', 'मेरी खातिर अब तो सियो कमीज़ राजा दरजी' आदि गीत इसी प्रकार के हैं। ये गीत इतने लोकप्रिय हुए कि चुनाव-प्रचार के दौरान् लोग गीत सुनने के लिए उनकी जीप के आगे लेट जाते थे। सफ़दर हाशमी की हत्या के बाद दिल्ली में हुए विराट विरोध-कार्यक्रम में भी देर रात तक मंडी हाउस परिसर में इन गीतों को श्रोताओं ने बार-बार सुना था।

इसी दौरान् 'एक बंद और' शीर्षक लंबी कविता लिखी गयी जो श्रीमती गांधी को केंद्र में रखकर समकालीन भारतीय परिवेश को तीखेपन के साथ उभारती है। इस कविता का प्रकाशन करने के लिए कोई भी प्रकाशक हरीश जी को लंबे समय तक नहीं मिल सका। यहीं एक और बात की चर्चा करना अनुचित न होगा कि हरीश जी अन्य कला-माध्यमों से भी अपनी कविता को संस्कारित करते रहे हैं।

सन् 1979 में हरीश जी की लंबी कविता 'नष्टोमोह' 13 वर्ष के प्रकाशन-व्यवधान के उपरांत प्रकाशित हुई। इस समय तक हरीश जी वापस राजस्थान लौट चुके थे और जैसाकि इसके फ़्लैप पर अंकित है, जीवन-यापन हेतु 'प्रौढ़ शिक्षा-साहित्य के संपादन-लेखन में टिकने का यत्न...' कर रहे थे। इस समय तक वे कठिन जीवन-संघर्ष और व्यापक अध्ययन-क्रम के साथ ही वैचारिक प्रौढ़ता तक पहुँच चुके थे। इस लंबी कविता की भूमिका 'अथ नष्टो मोह...' अब तक की समस्त भूमिकाओं से अधिक लंबी तथा वैचारिक-कलात्मक दृष्टि से अधिक पुष्ट है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कविता मेरे लिए व्यक्ति और उसके समग्र आंतरिक और वाह्य विराट को पहचानने की प्रक्रिया रही है। व्यक्ति से मेरा अर्थ अपने समग्र विराट के संदर्भ में अपनी सामर्थ्य और दुर्बलता को निरंतर जाँचते रहने, संघर्ष करते रहने और रूपायित करते रहने वाले व्यक्ति से है। यह वह व्यक्ति नहीं है, जो नितांत निजता जीता है, अव्यक्त और अरुण की साधना करता है, समाज के संपूर्ण साधन-श्रम-वैभव को वैयक्तिक अधिकार की सीमा में आस-पास के प्रति निरा निस्पृह भाव रखते हुए भोगता है और सुविधाओं की लड़ाई लड़ता है।

इस लंबी कविता की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कथ्य को धारदार तथा संप्रेष्य बनाने के लिए 'गीता' के श्लोकों का प्रयोग किया गया है। हरीश जी उन मार्क्सवादियों में नहीं जो अपने कठमुल्लेपन के कारण सभी कुछ को नकारते हैं। वे परंपरा के जीवंत तत्त्वों पर व्यापक संघर्षशील मानव का ही अधिकार समझते हैं तथा रूढ़ि का विरोध करते हुए परंपरा के सार्थक तत्वों को सहेजते-सँवारते उनके प्रासंगिक अर्थों को अपनी रचनाशीलता का अंग बनाते हैं। इन्हीं कारणों से वे परवर्ती रचनाकाल में 'ऋग्वेद' के छंदों का गीत-रूपांतर करने में भी जुटे। उनका कहना था कि "व्यवस्था के स्वयंभू नियामकों ने पुराणों के एक ही प्रकार के भाष्य प्रस्तुत किये हैं तथा परंपरा के वाम-तत्त्व एवं वाम विचारधारा उनके बीच दबकर रह गयी है। यदि आज हमें रचना के माध्यम से सामाजिक सरोकारों को व्यक्त करना है, तो हमें परंपरा की जड़ों को पहचानना होगा।" इसी पहचान की तलाश में वे वेद-उपनिषद की ओर गये और उनको लगा कि "इनका रूप धार्मिक नहीं है, बल्कि इनमें दैनंदिन जैविक व्यापारों की अभिव्यक्ति है। प्रकृति के निकट रहने के कारण इसमें उसी की रागात्मक अभिव्यक्ति है।

इस बार राजस्थान लौटने के बाद हरीश जी ने राजस्थान के लेखकों-रचनाकारों, जो वाम सोच के थे, को एक मंच पर एकत्रित करने के प्रयत्न आरंभ किये, जो जनवादी लेखकों का राष्ट्रीय स्तर का मंच बनाने के प्रयत्नों का ही एक हिस्सा था। हरीश जी की संवेदना अब परिवार, पीढ़ी तथा साथ को समान सोच-कर्म के रूप में ही स्वीकार करने लगी। वे निरंतर रचना-कर्मियों, वाम-दृष्टि वाले नौजवानों के संपर्क में रहते तथा प्रयासरत रहते कि उनमें कोई बड़ी प्रतिभा निकाल सकें।

इस दौर में, भादानी जी के कई काव्य-संग्रह क्रमशः 'खुले अलाव पकाई घाटी' (1981), 'रोटी नाम सत है' (1982), 'सन्नाटे के शिलाखण्ड पर' (1982), 'एक अकेला सूरज खेले' (1983), 'सड़कवासी राम' (1985), 'आज की आँख का सिलसिला' (1985) तथा राजस्थानी में 'बाथां में भूगोल' (1984) प्रकाशित हुए। इस प्रौढ़ रचनाकर्म में मिथकों का प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय है। 'सड़कवासी राम' शीर्षक कविता/गीत का पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

रास्तों दर रास्तों पर
पाँव के छापे लगाते ओ अहेरी सुन
सुन कि सपने की किसी संभावना तक
में नहीं तेरा अयोध्या धाम
सड़कवासी राम।

इस परवर्ती काव्य में 'रेत' का विभिन्न संदर्भों में उन्होंने अद्भुत प्रयोग किया है :

रेत में नहाया है मन...

X X X

आँख की किरकिसी नहीं है ये
झाँक लो झील नज़र आएगी।

तो, विपरीत और भयावह स्थितियों के बीच हरीश भादानी निरंतर संघर्षरत रहे। पाँच दशक पूर्व आरंभ हुई उनकी रचना-यात्रा अंतिम समय तक जारी रही।

मगर उनके काव्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया गा। वैसे भी, दिल्ली से दूर और आत्म-विज्ञापन से परे किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन हिन्दी-जगत् में आसानी से नहीं होता। हरीश जी के शब्दों से लेकर उनके कंठ तक और उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता से लेकर परिवर्तन के प्रयासों तक उनकी प्रशंसा करने वालों की कमी नहीं है, लेकिन जब वे लिखने बैठते हैं तो मौखिक रूप से व्यक्त किये गये विचार कलम की नोंक पर नहीं आते। ऐसे परिदृश्य में श्री ओमथानवी ने 'जनसत्ता' में उनके निधन की ख़बर को प्रमुखता से छापकर तथा साहित्यिक पन्ने पर लेख देकर निश्चय ही संवेदनशीलता का परिचय दिया है।

हरीश भादानी ने जिस तरह की ज़िंदगी जी, जैसा काव्य रचा, जैसे विचार व्यक्त किये-उसी के अनुरूप मृत्यु के उपरांत शरीर को मेडीकल साइंस के अध्ययन हेतु दे दिये जाने की इच्छा व्यक्त की। उनके परिजनों ने उनके विचारों को आगे बढ़ाने के काम की तरह ही उनकी इस भावना का भी सम्मान किया।

उम्मीद की जानी चाहिए कि जिस तरह चिकित्सा-विज्ञान के छात्र उनके शरीर का अध्ययन करेंगे, वैसे ही, मृत्यु के उपरांत ही सही; उनके काव्य का भी अध्ययन किया जाएगा और उनका समुचित मूल्यांकन होगा।

संक्षेप में, हरीश जी ने जो रचनात्मकता जी, उसे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

हमने तो
कल उघटने वाली
दिशाओं के लिए
लिखे हैं गीत
मौसम की उदासी को दिया है
राग... गूँजे.... गूँजता जाए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार नवगीत

अनूप अशेष

उमड़ कर घुमड़ीं
गईं
दिन सिरफिरा है।।
नदी यह तप रही है
रेत भी।
तपी है आस
अपने खेत भी।
पकड़ से दूर
बूँदों का सिरा है।।
मन का मैल है
धोया नहीं है।
उँगलियाँ धान हैं
बोया नहीं है।
पलक तक मेंह आया
पुतलियों में घिरा है।।
ऋतु की बाँसुरी है
सुर नहीं फूटे।
सावन देह में है
कजरियों से रहे छूटे।
धूप सिर पर ओंठ रखती
काँख का पानी गिरा है।।

नदी की आँख से

सूखे बादलों को
नदी की आँख से देखो।।
पाँखियों की प्यास
किसानों की भरी-सी हूक,
खेत-से
फटते हुए चेहरे
सागर की हुई सी चूक।
अंधी-आँधियों को
जड़ों से शाख से देखो।।
सुन्न-से सब कान
गूँगे बोल फूटे,
द्वार का
हर दिया
काँपे हाथ से छूटे।
सुलगते हुए पल
घरों की राख से देखो।।
कुठलों में रखे हर बीज
नामे धुनों के होंगे,
क्या करेंगे
सोचते बूढ़े-बड़े
यातना के पल सुनों-अनसुनों के होंगे।
ग्रहण में आदमी है
अंजोरे-पाख से देखो।।

कौन ले गया

उथली हुई नदी है
पानी कौन ले गया।।
पानी में थूथन थे
प्यासें थीं
रोजी थी मल्लाहों की,
नाव / मछलियों के घर
ग़रीब शव की चादर
सिसकी आहों की।
धूप कंठ को रेत
दोपहर कौन दे गया।।
अँजुरी से दीपों से
अर्पण से
कुछ जुड़ते नाते थे
दिन धीवर के जालों से
हाथों से
पेटों से आते थे।
सूखी सरपत की चीखें
तट/ कौन 'से' गया।।

द्वारा-अतुल मेडीकल स्टोर, हॉस्पीटल रोड
सतना-485001 (म0प्र0)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाल कोठी के सन्नाटे का सरगम

अजय कुमार

हज़रत वामिक़ जौनपुरी का नाम एक जौनपुरी होने के बावजूद मैंने पहली बार सन 57 में बी.ए. (पहले साल) की पूरक परीक्षा के लिए गोरखपुर जाते वक़्त छोटी लाइन की भीड़ भरी यात्रा के दौरान् सुना, जब चुन्नू मिरज़ा ने उस रतजगे के दौरान् और दूसरे अशआर के साथ उनकी नज़्म 'मीना बाज़ार' सुनायी। उस समय तक उर्दू बरायनाम जानता था और उस लिहाज़ से 'मीना बाज़ार' एक सख़्त चीज़ थी, लेकिन भाषा बाधक नहीं हुई। सुनते-सुनते लगा नज़्म बाँध रही है। फिर, एक अपूर्व एकाग्रता और अजीब उर्दू-संचरण। लगा देह में ही देह से अलग किसी धरातल पर पहुँच गया हूँ। अब सोचता हूँ, शायद यही है काव्यानंद। ऐसा ही एक विलक्षण अनुभव फिर बाद में हुआ। नज़्म 'ज़मीं' टेप पर सुन रहा था। एक बंद सुनते-सुनते जाने क्या हुआ कि दिक्काल का अहसास जाता रहा। मैं न जाने कहाँ पहुँच गया था कि नज़्म पूरी होने पर जब खट् की आवाज़ हुई, तो खुद का अहसास हुआ। जाने किस धरातल पर पहुंच गया था। इसे ही समाधि कहते हैं क्या?

फिर एक लंबे अरसे तक कलामे वामिक़ के नाम पर 'मीना बाज़ार' की मुखड़े की ये लाइनें ही मेरा सरमाया रहा। कभी-कभार खुद दुहराता और जब-तब दूसरों को भी सुनाता रहता—'मिनारों पर अजां हुई/ ये शाम भी कहाँ हुई/ पुजारी मंदिरों में आके शंख फूँकने लगे/ ये शाम भी कहाँ हुई।' 'डूबता चाँद कब डूबेगा' का इंतज़ार करते-करते हताशा का शिकार हो रहा था कि उत्तर बंगाल के एक गुमनाम इलाके में हुए धड़ाके की गूँज ने चेतना को हिला दिया और मुझे थके निजाम की कालरात्रि के पार सहजानंद की कर्मभूमि में पढ़ा। इस बार गिरी और नम्बरों के लिए नहीं, थके निजाम की समझ और नये निजाम की परख के लिए। दुनियाँ को दोनों आँखों से देखा-समझा और लेखन में भी स्पष्ट बदलाव आया, लेकिन कविता सूख गयी। वर्षों तक सोचता रहा कि अब कविता न लिख सकूँगा।

तभी जनवरी 70 में भाई ने नये साल के वे मुबारक कार्ड, जो हम दोनों के जानने वालों के थे, मुझे भिजवाये। तमाम रंग-बिरंगे कार्डों के बीच सबसे पहले ध्यान खींचा एक पोस्टकार्ड ने। टेढ़े सुदृढ़ लेख वाले संदेश को देखने के पहले मैंने कार्ड पलटकर उसे भेजने वाले का नाम देखा। वामिक़ जौनपुरी, लाल कोठी, कजगाँव जौनपुर। अजीब मीठी-सी सनसनाहट झेलते हुए मुख़्तसर-सा संदेश पढ़ गया—"रिटायर होकर लाल कोठी वापस आ गया हूँ। 'समय' के लिए लिखने की इच्छा है। जल्द ही कुछ भेजूँगा। आप सबको नया साल मुबारक हो।" भाई 'समय' के स्वाधीनता विशेषांक के लिए आज़ादी : सपना और सच' शीर्षक से एक परिचर्चा घोषित कर चुके थे। मुझे हुक्म हुआ कि मैं कजगाँव जाकर इन सवालों पर वामिक़ साहब के जवाब ले आऊँ. .. अंधा क्या माँगे....? मैं पहले मौक़े पर लाल कोठी पहुँच गया।

दस किलोमीटर पैडिल मारते कजगाँव पहुँच तो गया, पर मुलाक़ात को लेकर शंकालु ही रहा। ख़त का जवाब नहीं दिया, वह भी इतने ख्यातिप्राप्त व्यक्ति का। वे सिर्फ़ रिटायर्ड अफ़सर ही नहीं, एक बड़े ज़मींदार भी हैं। गाँव में घुसते ही एक तिलकधारी सज्जन ने भेंट हो पाने में भी शुब्हा बतलाया—"अपाइन्टमेंट जो नहीं है, बड़े लोग हैं, पुराने वक़्त के। वक़्त के साथ बदल नहीं पाये हैं।" यह कह कर वो चलते बने और मैं मुड़कर खेत पार करता हुआ लाल कोठी के प्रांगण में अधखुले विशाल द्वार पर आ खड़ा हुआ। लोहे के भारी चुल्ले की तेज़ आवाज़ से आस-पास का नम सब्ज़ा और मिट्टी की सोंधी सुगंध तो झंकृत हुई, लेकिन कोई जवाब न मिला। लाल कोठी का सन्नाटा कभी-कभी टूटता है। जासूसी उपन्यासों की घिसी पिटी शुरूआत जैसा एक जुमला ख़्वामख़्वाह सूझा और मैं साथी से कहे बग़ैर न रह सका। पर, वामिक़ साहब से मिलकर जो संवाद कायम हुआ उसके आगे किसी सन्नाटे का क्या अर्थ? उस दिन सन्नाटे के कितने तो सार्थक अर्थ-बोध हुए लाल कोठी में। सवालात तो उन्होंने लिखकर भेजने के लिए रख लिये और ख़ूब बातें कीं। अपनी, देश-दुनियाँ की और अपने शहर की, कविता और कविकर्म की। और, कविताएँ भी सुनायीं। तीन-चार शेर, एक ग़ज़ल और 'ज़मीं' का आखिरी बंद। कॉफ़ी पी गयी। उन्होंने पाइप सुलगाया और मैंने चारमीनार। लाल कोठी से निकला, तो तीसरा नेत्र खुला हुआ था। यानी रचना-कर्म में आस्था। रास्ते भर वे चार शेर शहद की मक्खी की तरह मेरे ज़ेहन में रह-रहकर भनभनाते रहे—"नाला करना मेरा दस्तूर नहीं/ आसमां वरना दूर नहीं। ज़िंदगी जिनको मयस्सर नहीं आज/ उनको मरना भी तो मंजूर नहीं।" फिर यह कि "उनसे समझौते पे दिल मायल नहीं/ हम अधूरी बात के कायल नहीं।" और यह भी, "मैं कुछ अपने से बातें कर रहा हूँ। ये तन्हाई नहीं इक अंजुमन है।" मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पँचरंग बूगनबेलिया के सूखे फूल बरामदे भर में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं और हवा के तनिक से इशारे पर जब-तब उनके क़दमों के पास आकर ढेर हो जाते हैं। चिड़िया का गाना आसपास फैले सन्नाटे के सरगम को दूर-पास तक फैला रहा है। एक सुकून बाहर है और एक मेरे भीतर बन रहा है, उनकी बातों से। चेतना के बंध टूटते जा रहे हैं, धीरे-धीरे। इस मुख़्तसर बातचीत से एक सदी जाने कब जज़्ब हो गयी मेरे अंदर। अब दूर कहीं हुआ धड़ाका नहीं, मुझमें धड़क रही मेरी ही धड़कन है और मैं धन से अलग-थलग पड़ा चहबच्चा नहीं, एक समुंदर था, जिसमें सातों समुंदरों का ज्वार ठाठें मार रहा था।

23 अक्तूबर, 1909 को कजगाँव में सैयदों के एक सम्मानित ज़मींदार घराने में अफ़सर बाप ख़ानबहादुर मोहम्मद मुस्तफ़ा (पहले डिप्टी कलेक्टर फिर डिप्टी कमिश्नर) के घर जन्मे जनाब अहमद मुज्तबा (वामिक़ जौनपुरी) को बकौल ख़ुद बाग़ियाना मिज़ाज अपने परदादा मौलाना सैयद हशमत अली से विरसे में मिला। मरहूम 1857 के शहीदों में होते कि उनका लिखा रुक्का बाग़ीयान को उजरत पूरी दे दो 'अंग्रेज़ों के हाथ लग गया था, पर उनके बेटे माहूम अली अहमद साहब, जो हाईकोर्ट के वकील और अंग्रेज़ों की नाक के बाल थे 'बाग़ीयान' शब्द को कातिब की ग़लती से लिख गया 'बागवान' बतलाकर उन्हें फाँसी के तख़्ते से उतार लाये थे। मौलाना ने इस चालाकी के लिए उन्हें कभी माफ़ नहीं किया और बाक़ी ज़िंदगी गोशानशीनी में गुज़ार दी और बेटे से कभी नहीं बोले। राख में दबे इन्हीं शोलों को हवा दी प्रो. डी.पी. मुखर्जी की सोहबतों ने, जिनसे उनकी मुलाक़ात लखनऊ यूनीवर्सिटी में पढ़ाई के दौरान् हुई। अपने डी.पी. का ज़िक्र वो जब-तब किया करते थे और इन शब्दों में उन्हें याद करते थे—"उनकी सोहबतों ने आज़ादी-ए-फ़िक्रो नज़र का वो रास्ता दिखलाया कि रवायत के सारे बंधन टूटते नज़र आने लगे। उनकी शख़्सियत ने मेरे सियासी, समाजी और फ़न्नी शऊर को वह ज़िला बख़्शी कि आज तक जिसकी रौशनी से मुस्तफ़ीद होता रहता हूँ। उनकी आलिमाना गुफ़्तगू ने मेरे ज़ेहन में ऐसे दरीचे खोल दिये कि सारी घुटन दूर हो गयी और गुलामी की फ़सीलों में दरारें पड़ती दिखायी देने लगीं।"

उनका यह बाग़ी लहज़ा अब तक बरकरार रहा। एक दिन कजगाँव के एक साथी अध्यापक ने कॉलेज पहुँचने पर बतलाया कि वामिक़ साहब के भाई मर गये हैं। यह हसन मुज़्तबा की मौत की ख़बर है, मैंने सोचा। सबसे छोटे भाई हुसैन मुज़्तबा का चर्चा उन्होंने मुझसे कभी नहीं किया था। शायद इसलिए कि वे 47 में पाकिस्तान चले गये थे। हसन साहब को वो बहुत चाहते थे और जैसे साल में कुछ दिन अपने बेटों और बेटियों के पास, वैसे ही कुछ दिन उनके साथ लखनऊ में बिताते थे। क्लासें लेने का मन नहीं हुआ। छुट्टी लेकर लाल कोठी पहुँचा। उनका चित्र बैठक से निकालकर बरामदे में, जहाँ वे बेग़म साहब की मृत्यु के बाद आने-जाने वालों से मिला करते थे और सोने के अलावा बाक़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय बैठे रहते थे, लाकर टाँग दिया था और चंदन के छिलकों से बनी एक माला भी उस पर टाँग दी थी। मैं चुपचाप जाकर उनके बगल की कुर्सी पर बैठ गया। कुछ देर चुप रहने के बाद बोले—"उसे शेर बहुत याद थे। अनीस के मरसिये भी। घाघ-भड्डरी की कहावतें बहुत याद थीं। देहाती गीत ख़ूब याद थे.... पुरतुल आदमी था।"

नौकरानी केतली में पानी उबाल कर ले आयी। पॉट में चाय की पत्ती डालकर गर्म पानी उड़ेला। गिलासों में चाय डालकर एक मेरी ओर बढ़ाया और दूसरे से कुछ चुस्कियाँ लेने के बाद बोले—"उस दिन महमूद आये थे, बोले, आपकी नवासी की शादी है। आपको नवेद नहीं जाएगा, क्योंकि शादी के घर से मौत के घर में नवेद नहीं जाता। मैंने कहा नवेद आये न आये, मैं तो आऊँगा। भाई के मरने का ग़म अपनी जगह, नवासी की शादी की ख़ुशी अपनी जगह। वैसे तो, ग़मी के घर में मेथी से दाल नहीं बनायी जाती, न सेवइयाँ पकती है। मेरी मर्ज़ी होगी, तो मेथी से दाल बघरवाऊँगा, मन होगा, तो सेवइयाँ पकवाऊँगा।... और मैं गया भी। इसका फ़ायदा मिला मुझे। अगले दिन तमाम रिश्तेदार जो दूर-दूर से आये थे, मुझसे मिलने लाल कोठी आये। ऐसे न आते कि शादी के घर से मौत के घर में नहीं जाया जाता।"

चाय ख़त्म की। एक सिगरेट रोल की। चंद लंबे लंबे कश लिये, फिर शुरू हो गये—"अजय, लोग मौत का पुरसा देने जाते हैं, मैं लेने गया। सामने गोल कोठी में मेरी एक कज़िन है। उम्र में मुझसे कम है, पर मफ़लूज़ (फ़ालिज़ग्रस्त) है। एक दिन नौकरानी ने बतलाया कि तीन दिन से सोयी नहीं हैं। रात-दिन रोती रहती हैं। कहती हैं कि यहीं सामने मेरा भाई रहता है, पर मैं उसे अपने भाई की मौत का पुरसा देने भी नहीं जा सकती। मैं गया और बोला, मैं हसन्ना की मौत का पुरसा लेने आया हूँ। मेरा हाथ पकड़कर देर तक रोती रही, फिर सुना कि दो दिन, दो रात लगातार सोती रही। मैंने कहा सोने दो, आराम हो जाएगा।" यह वाकया मुझे उनकी मौत की मजलिस के तीसरे दिन लाल कोठी पहुँचने पर शिद्दत से याद आया। बड़े भाई शम्मू और छोटे बाकर किसी बात पर बहस कर रहे थे। पता चला कि बड़े भाई कह रहे हैं मेरे साथ बनारस चलो, में वहाँ से रिज़र्वेशन करवा दूँगा। छोटे भाई यहीं रुककर दिल्ली का रिज़र्वेशन लेने की सोच रहे थे। बोले, "अजय, मेरी बीवी और मैं भी मानते हैं कि मौत के घर से सीधे अपने घर जाना चाहिए।" मुझे वामिक़ साहब की बात याद आयी, पर कहा नहीं। वे उस समय छियासी पूरे कर चुके थे। बाकर भाई अभी साठ के भी नहीं हुए हैं।

बचपन में साइकिल, घड़ी, सिलाई की मशीन की मरम्मत करके ठीक कर देते देखकर पिता उन्हें इंजीनियर बनाना चाहते थे, पर फ़ितरत ने उधर न जाने दिया। लखनऊ यूनीवर्सिटी से बजाय बी.एस.सी. के बी.ए., एल.एल.बी. करके 1938 में बाहर आये, तो फ़ैज़ाबाद में वकालत शुरू की। वकालत को आज़ाद पेशा समझकर उधर गये थे, पर वह वैसा मिला नहीं। बहर कैफ़ दो साल में वकालत तो चल निकली, लेकिन शायरी आड़े आयी। नौचंदी के मेले में एक नज़्म पढ़ दी, जिसमें कहा गया था कि गुलामों की इबादत भी कुबूल नहीं होती है। अच्छी-ख़ासी प्रैक्टिस छोड़कर बेरोज़गारी का दामन थामा—"शेर कहो तो गर्दिशे दौरां/इश्क़ करो तो पाँव में चक्कर।" गर्दिश के इन्हीं दिनों में बंगाल का महाकाल देखा। लौटकर शाहकार रचना 'भूका बंगाल' लिखी, जिसने राष्ट्रव्यापी ख्याति दी। तमाम भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। इप्टा ने इसे गा-गाकर बंगाल रिलीफ़ फंड के लिए अस्सी हज़ार रुपये इकट्ठा कर लिये। ख़्वाज़ा अहमद अब्बास ने इसे अपनी फ़िल्म 'धरती के लाल' में शामिल किया। और, सबसे बढ़कर उन्हें बेरोज़गारी से मुक्ति दिला दी। बनारस के एक मुशायरे में इसे सुनकर ए.डी.एम. ने होर्डिंग एन्ड प्राफीटेयरिंग प्रिवेंशन इंन्सपेक्टर की नौकरी का प्रस्ताव किया कि यहाँ आपको अपने उसूलों को अमल में लाने का मौक़ा मिलेगाः "कोठरियों में गाहे बैठे बनिये सारा नाज/दुखिया नारी भूक की मारी बेचे घर-घर लाज चौपट नगरी कौन सम्हाले चार तरफ़ भूचाल, रे साथी चार तरफ़ भूचाल/भूका है बंगाल रे साथी भूका है बंगाल।"

चौपट नगरी सम्हालते हुए 1944 से 1950 तक वो इंन्सपेक्टर, टाउन राशनिंग अफ़सर और सप्लाई अफ़सर रहे। 'चाकरी करते हुए भी हम रहे आज़ाद रौ/दस्तो पाये शौक में है वो तवानाई बस।' नौकरी के दौरान् भी पी.डब्लू.ए. और कम्यूनिस्ट पार्टी में सक्रिय रहे। सम्मेलनों में भाग लिया, पर्चे छापे और बाँटे यहाँ तक कि भूमिगत पार्टी की मीटिंगें अपने सरकारी आवास पर करायीं और वहाँ फ़रार साथियों को शेल्टर दी। शुरूआती मुलाक़ातों के दौरान एक बार मैंने पूछा था कि कुछ लोग कहते हैं कि आपने सप्लाई अफ़सरी से ख़ुद इस्तीफ़ा दिया, कुछ कहते हैं कि आप निकाल गये। सही क्या है? "दोनों सही हैं', वे बोले, "सन पचास तक पहुँचते-पहुँचते कुछ तो सरकार को मेरी ख़ुफ़िया सरगर्मियों की ख़बर लग चुकी थी और कुछ अदबी सरगर्मियों पर मुलाज़मत का जामा भी मसकने लगा था। सफ़र ईरान और इराक से लौटकर बाराबंकी पहुँचा, तो मालूम हुआ मेरा तबादला मैनपुरी हो गया है। मैंने तबादला रुकवाने की, कोशिश की, न रुका तो लंबी छुट्टी की दरख़्वास्त इस शर्त के साथ दे दी कि अगर छुट्टी मंजूर न हो, तो इसे ही इस्तीफ़ा समझ लिया जाए और कलेक्टर बाराबंकी को चला देकर चला आया।"

बेरोज़गारी का यह दौर कजगाँव में किसान सभा के संगठन और पार्टी के क्रियाकलापों में बीता। 52 में ज़मींदारी टूटने के हालात दुशवार होने लगे, तो दिल्ली जाकर मक़तबा शाहराह में नौकरी कर ली। यानी 'शाहराह' के संपादक हो गये। इसी दौरान डॉ. जाकिर हुसैन, जो उस वक़्त अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी के कुलपति थे, दिल्ली आये। वे वामिक़ साहब की शायरी के प्रशंसक थे। जिस शहर में होते और वामिक़ साहब के वहाँ होने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ी, तो खाने पर बुलाते। नयी कविताएँ सुनाने को कहते, कुछ ...र होने पर अपनी प्रिय नज़्म 'जमीं' सुनाने का आग्रह करते। ...-पाठ के बाद पूछा कि क्या कर रहे हो? बताया, तो बोले ...र भी कोई काम है। फिर, अलीगढ मुस्लिम यूनीवर्सिटी में ...ने के लिए राज़ी कर लिया। यानी इंजीनियरिंग कालेज ...फिस सुपरिन्टेंडेंट बनाकर बुला लिया। 1955 से 1961 तक ...है। यही वक़्त है, जब पी.डब्लू.ए. का शीराजा बिखर रहा था ...अंदर-बाहर के हमले तेज़ थे। कलकत्ते के साप्ताहिक ...खबार' में जमकर लिखा और इन हमलों का जवाब दिया, ...के शेर नहीं कहे। 61 में डॉ. जबीउद्दीन अहमद ने रीजनल ...रिंग कॉलेज, श्रीनगर बुला लिया। शेर कहे, लेकिन कम-कम। ...रिटायर होकर लाल कोठी आ गये और अभिव्यक्ति पर लगा ...जैसे एक बारगी टूट गया। काव्य-सरिता बह निकली। 'सफ़रे ...नाम' जैसी दसियों नायाब नज़्में, बेमिसाल ग़ज़लें, समीक्षाएँ ...हज़ार पन्नों की आत्मकथा 'गुफ़्तनी नागुफ़्तनी' लिख डाली। ...कभी नहीं हुआ कि लाल कोठी पहुँचने पर कुछ नया सुनने ...मिला हो उनसे। बकौल शख़्से—"आप बूढे हुए और आपकी ...जवान हुई।"

अपनी रचनाओं पर मेहनत करते मुक्तिबोध को सुना और ...क साहब को देखा। जब लाल कोठी जाता तो पता चलता कि ...ज़ल में यह इसलाह हुई है। कभी ऊला मिसरा बदल जाता, ...सानी। एक बार 'जसम' की एक गोष्ठी में मैंने एक नयी ...की फ़रमाइश की। बोले, सुनिए लेकिन मतला बदल गया ...मतला पहले यूँ था—शायरी बदल गयी शायद/ हमसे आगे ...गयी शायद। फिर कर दिया, 'उम्र की रौ बदल गयी शायद/ ...आगे निकल गयी शायद।' गोष्ठी में जो सुनाया इस तरह ...साज की लय बदल गयी शायद/ गिरते-गिरते सम्हल गयी ...।' उस वक़्त तक इसमें छह की जगह दस शेर हो गये थे। ...नातमाम' में छपी, तो छह शेर सिरे से ग़ायब थे। एक नया ...जोड़कर पाँच कर दिये गये थे। मकता—'आज रिन्दों में चल ...वामिक़/मय से तेज़ी निकल गयी शायद' भी हटा दिया। ...शाहकार नज़्म 'सफ़रे नातमाम' पर भी उन्होंने कई बार ...चलाया था। पहली बार जब उन्होंने मुझसे कहा था कि ...नातमाम' में इसलाह किया था तो मुझे आश्चर्य हुआ था। ...ह गया था इस नज़्म में? कई मिसरे हटा दिये थे। कुछ जोड़ ...दिये थे। कुल सात-आठ रूपों में सुना था उनसे। उर्दू में दो रूपों ...हिन्दी में तीन रूपों में छपी है यह। 'भूका बंगाल' टेप करा ...मुझे, पहले एक बार तरन्नुम में टेप करा चुके थे। पूछा ये ...है तुम्हारे पास? मैंने कहा 'हाँ' कहा, पर वे सुन नहीं पाये ..."अब गा तो नहीं पाऊँगा, वैसे ही पढ़ दे रहा हूँ तहत में।" ...सोचकर कि चलो इसे तहत में भी टेप कर लो, टेप चालू ...दिया। आख़िरी बंद पढ़ते हुए रुक गये। क़लम उठाया और ...में कुछ काटपीट की। फिर बोले—"आज चालीस साल बाद इसमें इसलाह कर रहा हूँ, पहले लिखा था 'प्यारी माता चिंता मत कर हम हैं आने वाले', मत लफ़्ज़ इसकी ज़बान से लग्गा नहीं खाता है। अब कर दिया है—'प्यारी माता चिंता जिन कर।"

नौजवान कवियों, शायरों के अलावा मेरे साथ लाल कोठी जाने वालों में एक बुजुर्ग शायर शफ़ीक़ बरेलवी भी थे। स्थानीय मोहम्मद हसन कॉलेज में प्रिंसीपल थे। एक दिन बोले—"मैं अपने कॉलेज की मैगज़ीन का वामिक़ नंबर निकालना और जश्ने वामिक़ में उसका इजरा करना चाहता हूँ।" वामिक़ साहब बोले—"मैगज़ीन का स्पेशल नंबर निकालिए, इज़रा कीजिए, पर जश्न की इजाज़त मैं नहीं दूँगा। "वे रिटायर होकर बरेली वापस चले गये, लेकिन इजाज़त नहीं पा सके। उनके जाने के बाद यह काम मैंने अपने सर लिया। बहुत सर फोड़ा, लेकिन कामयाब न हुआ। एक दिन निसार की दूकान में 'शब चराग' में छपे बायोडाटा पर निगाह पड़ी। अरे, यह साल तो पचहत्तरवीं सालगिरह का है। सालगिरह मनाने से भला कैसे रोकेंगे? वहीं बैठे-बैठे कार्यक्रम तय हो गया। उस समय वे छोटे बेटे के पास दिल्ली में थे। ख़त लिख दिया गया कि हीरक जयंती पर वामिक़ के बहाने हिन्दी-उर्दू की प्रगतिशील कविता पर बातचीत और रात में मुशायरा। जवाब आ गया कि दो दिन पहले पहुँच जाऊँगा, फिर जो चाहे सलूक करना। सलूक भी मनमाना किया हम लोगों ने। जश्न के लिए कहने पर कहा करते थे—"अजय! तुम्हे माला पहनाकर कोई तुम्हारे मुँह पर तुम्हारी तारीफ़ करे तो तुम्हें कैसा लगेगा?" इसलिए, तय किया गया था कि उन्हें माला पहनाने के बजाय हाल ही फूलों से सजा दिया जाएगा। बनारस से एक मन गेंदे की माला की लड़िया मँगा ली गयी थीं, पर सेमिनार शुरू करने की हड़बड़ी में टाँगी न जा सकी थीं। वैसे ही पड़ी थीं बैठक के कमरे में। आशा (मेरी बीवी) ने देखा तो कहा—"उन्हें ही पहना दो।" मैंने कहा—"न राजी हुए तो?" बोली, "कैसे नहीं पहनेंगे? पहली माला मैं पहनाऊँगी, फिर बाक़ी लोग पहनाएँगे।" अब्बा कहती थी उन्हें और मुँहलगी थी। चुपचाप पहन ली। फिर तो माला पहनाने की होड़ लग गयी। सूरज डूब रहा था, लेकिन हॉल में रॉड नहीं जले थे तब तक। आशा ने अपने स्कूल के 75 बच्चों को तैयार कर रखा था। वे एक-एक दिया लेकर कतार में आये और आरती उतारकर वहीं सामने लगी मेज़ पर सजा दिया। कुछ ऐसा सम्मोहित कर देने वाला वातावरण बना कि गुलपोशी भी झेल गये वो। मैंने सोने का मेडल, जो इस मौक़े के लिए ख़ासतौर से बनवाया था, पहनाया। चुपचाप गरदन झुकाकर पहन लिया, लेकिन तुरंत उठकर माइक पर गये और फ़रमाया कि इसे आशा को दे दिया जाए कि वह इसे गलवाकर, जो बच्चे दिया लेकर आये थे, उन्हें मिठाई खिला दे। प्रोग्राम के अगले दिन लाल कोठी गया, तो सलाम का जवाब देकर जो पहली बात कही वह यह थी—"अजय! तुमने अपने मन की कर ली अब आगे कुछ न करना। "मैंने कहा, "ठीक है। अगले साल से हम लोग यहीं आकर सालगिरह मनाएँगे। आशा केक बनाकर लाएगी और हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों रात का खाना साथ खाएँगे। ख़ुश हो गये। बोले—"हाँ, कह देना कि ब्राउन केक बनाएँगी और क्रीम नहीं लगाएगी। उसके बाद इसी तरह मनायी गयीं अस्सीवीं सालगिरह और पच्चासीवीं सालगिरह। पर बड़ा कजगाँव और आसपास की जनता उमड़ पड़ी थी। शामियाना छोटा पड़ गया और कुर्सियाँ कम। कार्यक्रम समाप्त हुआ, वे उठकर लाल कोठी की ओर चले, पर जनता जमी रही। मैंने उनके कलाम का टेप बजा दिया। जिस वक़्त वे लाल कोठी पहुँच रहे थे, टेप पर उनकी नज़्म 'हर्फ़े वसीयत' बज रही थी—'न मैं सही मेरे बच्चे ज़रूर देखेंगे/ ज़मीं से उगता हुआ कोहिनूर देखेंगे' और जब वे कोठी में प्रवेश कर रहे थे, टेप पर उनकी आवाज़ गूँज रही थी—"इस इन्क़लाब के सैलाब की हो तुम मंज़िल /किसी के दिल में रहेगा न ख़ौफ़े मुस्तकबिल। ये इन्क़लाब है किश्ते अवाम का हासिल /मुझे न भूलना जब मुल्क में हो वो दाख़िल। मेरे भी नाम के दो फूल उसके बैरक पर। मेरी तरफ़ से भी दो नारे उसकी रौनक पर।" डॉ. एहतशाम हुसैन की 'जरस' की भूमिका के बाद अगर यह कहा जाए कि वामिक़ साहब पर कुछ लिखा ही नहीं गया, तो बेजा न होगा। अभी तक किसी विश्वविद्यालय में उन पर शोध नहीं हुआ है। ज़ाहिर है, वे जितना अधिक प्रसिद्ध हैं, उतना ही कम पढ़े गये हैं। अच्छे ख़ासे उर्दू दां की जानकारी 'भूका बंगाल' 'मीना बाज़ार' और उनके प्रसिद्ध शेर 'आहन नहीं कि चाहिए जब मोड़ दीजिए/शीशा हूँ मुड़ तो सकता नहीं तोड़ दीजिए' तक ही सीमित है। उनकी शाहकार नज़्म 'सफ़रे नातमाम' को हिन्दी में हाथों-हाथ लिया गया, लेकिन उर्दू में उसका चर्चा न हुआ। सज्जाद ज़हीर ने अपनी आत्मकथा में कृपापूर्वक एक पंक्ति लिखी है "वामिक़ जौनपुरी की नज़्म 'भूका बंगाल' उर्दू अदब की तारीख़ में सुनहरे हर्फ़ों में लिखी जाने लायक है।" लेकिन, उर्दू अदब की तारीख़ में तरक्की पसंदों में उनका ज़िक्र 'वगैरह' में है। मरहूम अफ़ग़ानुल्ला खाँ ने हीरक जयंती समारोह के सेमिनार में ठीक ही कहा था—"तहरीक ने वामिक़ साहब के साथ न्याय नहीं किया।

सेवाप्रेस, रासमंडल, जौनपुर-222002

स्मरण : वामिक़ जौनपुरी

ग़ज़लें

वामिक़ जौनपुरी

हमारी ज़िंदगी बीमार की हंसी जैसे
निगाहें डूबते सूरज की रौशनी जैसे
न अपने घर में है महफ़ूज और न राहों में
बिसाते-शहर का पैदल हो आदमी जैसे
जो टूट-टूट के मिलते थे गैर मुल्कों में
वतन में फ़ासले रखते हैं अजनबी जैसे
सफेद कपड़ों में मलबूस[1] कितनी बदरूहें
लगा के चेहरे निकलती हैं आदमी जैसे
जो आबे[2] तेग़[3] को मोहमल[4] बना दे मौत वह है
झटक दे जामे-गुलामी को तिशनगी जैसे
जुबूरे[5] शौक़ तो मिलती नहीं दुकानों पर
ग़ज़ल में मिलती है अलबत्ता दिलबरी[6] जैसे

दिल के वीराने को यूँ आबाद कर लेते हैं हम
कर भी क्या सकते हैं तुझ को याद कर लेते हैं हम
जब बुजुर्गों की दुआएँ हो गईं बेकार सब
कुर्से-ख्वाब[7] आवर से दिल को शाद[8] कर लेते हैं हम
तल्ख़िए-कामो-दहन[9] की आबयारी[10] के लिए
दावते-शीराज़ अब्रो[11]-बाद[12] कर लेते हैं हम
देखकर धब्बे लहू के दस्ते-आदम-ज़ाद पर
तारी[13] अपने ज़ेहन पर इल्हाद[14] कर लेते हैं हम
जब पुराना लहजा खो देता है अपनी ताज़गी
एक नई तरज़े-नवा[15] ईजाद कर लेते हैं हम
देखकर अहले-कलम को कुशतए[16] आसूदगी[17]
खुद को वामिक़ फर्ज एक नक्क़ाद कर लेते हैं हम

1. पहनने के कपड़े। 2. तेजी। 3. तलवार। 4. फूजूल, बिना अर्थ। 5. किताब। 6. प्यारा होना।
7. तकिया। 8. खुशी। 9. कड़वाहट। 10. होंट। 11. पानी देना। 12. [illegible] बादल। 13. छा जाना। 14. सीधे रास्ते से हट जाना। 15. नई आवाज़ 16. लाश कत्ल किया हुआ। 17. आराम, चैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलीगढ़ और कलकत्ता

वामिक़ जौनपुरी

मुजाज़ ने देहली में एक मुलाक़ात में कहा—"चलो अलीगढ़ चला जाय" मैंने कहा—"वह किस खुशी में। "तुम कुछ नहीं जानते। फ़नकार और बिल खुसूस शायर के लिये एक फ़न है पब्लिक कॉन्टेक्ट (अवाम से इख्तिलात) और कुरबत (निकटता)-अलीगढ़ के अवाम यूनिवर्सिटी के तालिबात (छात्राएँ) तुलबा (छात्र) हैं। उनसे मिलेंगे। मुलाक़ातें होगी। कुछ धमाचौकड़ी होगी।" मैंने कहा, "मगर मैं तो वहां कभी तालिबेइल्म (छात्र) नहीं रहा।" "ऊँह इससे क्या होता है। हर जगह का तालिबेइल्म यक कौमी बिरादरी का फ़र्द है। तुम चलो तो। वहाँ की अंजुमन तरक्क़ी वसंद मुसन्नफ़ीन (प्रलेस) भी अच्छा काम कर रही है"।

अलीगढ़ पहुँच कर हम दोनों सीधे जाँनिसार अख़्तर के मकान पर गये जो जेल और रेलवे स्टेशन के दरमियान में कहीं वाके (स्थित) था। जाँनिसार और सफ़िया से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। हम लोग एक दूसरे से मिलकर बहुत खुश हुए। सफ़िया मजाज़ की बहन और जाँनिसार की बीवी थी। बहुत पढ़ी लिखी तियासी शऊर रखने वाली और इन्तेहाई ज़हीन खातून। और दोनों तहरीक (आन्दोलन) के निहायत जोशीले कारकुन थे। बल्कि यूँ कहा जाये कि अलीगढ़ के अदीबों में जो सही सियासी शऊर पैदा हुआ उसमें उन्होंने बड़ा किरदार अदा किया था।

इसके बाद मूनिस रज़ा, मोहम्मद अनस, खुर्शीदुल इस्लाम, अतहर परवेज़ और हुसैन इमाम वग़ैरह से मुलाकातें रहीं। चंद ही दिन बाद वहीं अख़बार में बंगाल के क़हत (अकाल) पर एक तफ़सीली (विस्तृत) खबर पढ़ने को मिली। खबर पढ़ते ही मैं वहाँ से वतन आया और बीवी से कुछ रुपये कर्ज़ लेकर सीधा कलकत्ता पहुँचा। यह अगस्त-सितम्बर 1943 ई. का ज़माना था। हावड़ा स्टेशन से निकलते ही फुटपाथ पर दो-तीन लाशें नालियों में सर लटकाये दिखायी दीं। पुल पार करते ही ऐसा लगा कि यहाँ किसी जुलूस पर मशीनगन चला दी गयी है। फ़ज़ा में उफूनत (बदबू) का सी अहसास हुआ। बड़े इन्तज़ार के बाद एक टिनटिन रिक्सा मिला। उस पर अपनी अटैची रख के बड़ा बजार होता हुआ मैं ज़करिया स्ट्रीट पहुँचा। नाखुदा मस्जिद के सामने अमजदिया होटल में पाँच रुपया रोज़ पर एक कमरा लिया। अटैची जिसमें चंद जोड़े कपड़े थे कमरे में बंद करके फिर निकल खड़ा हुआ। जिधर से गुज़रता था लाशों पर लाशें मिलती थीं। मुर्दा और दम तोड़ते हुए बूढ़े बच्चे मर्द औरत, जवान और मिस्कीन (यतीम)। जिनमें भीख माँगने की अभी सकत बाकी थी उनके चेहरों पर अलावा दाँतों के कुछ नज़र न आता था। हद ये है कि इस्प्लानेड, चौरंगी और मैदान में भी इसी तरह के दिल दहला देने वाले मनाज़िर (अनेक मंज़र) दिखायी देते थे। गली-कूचों में तंगी की वजह से फूँक-फूँक कर क़दम रखना पड़ता था। कहीं कोई खाना या चावल तक़सीम करने वाले भंडार या शामियाने नज़र न आते थे। होटल खुले हुए थे मगर दरवाज़े बंद किये हुए बैरे सीढ़ियों पर बैठे दिखायी दे जाते थे। चंद चलते-फिरते शहरियों से दरियाफ़्त करने पर मालूम हुआ कि होटलों और ग़ल्ले की दुकानों में अशिया-ए-खुर्दनी (खाने की चीजों) की कोई खास कमी नहीं है मगर उनकी कीमतें इतनी ज़्यादा हैं कि बाहर देहातों से आये फ़ाकाक़शों की कुव्वते खरीद के बाहर हैं। म्युनिसपैलिटी के ट्रक भी मिले जिन पर सड़ी हुई लाशें बोरों की तरह कहीं ले जाई जा रही थीं। दुनियाँ की चौथी सबसे बडी आबादी वाले शहर पर हू का आलम और कब्रिस्तान से कहीं ज़्यादा खौफ़नाक सन्नाटा छाया हुआ था। मेरी भूख और प्यास बिल्कुल जवाब दे चुकी थी और आँतें गले में आयी जा रही थीं। कमज़ोरी से बेदम होने के बाद न्यू मार्केट की एक सीढ़ी पर बैठकर कुछ दम लिया और होटल जाने के लिये किसी भूले-भटके रिक्शा का इंतजार करने लगा। कोई रिक्शा तो दिखायी न दिया धड़धड़ाती और बिल्कुल खाली एक ट्राम कार आती हुई दिखायी दी। मेरे हाथ दिखाने पर रुक गयी। उसमें अलावा ड्राइवर और कंडक्टर के पुलिस के दो सिपाही भी थे। दरियाफ़्त करने पर मालूम हुआ कि ट्राम लोअर चितपुर रोड होती हुई हेस्टिंग स्ट्रीट जायेगी। चुनांचें मैं नाखुदा मस्जिद का टिकट खरीद कर उसमे बैठ गया और ज़करिया स्ट्रीट के मोड़ पर पहुँचकर उतर गया। चार क़दम पर होटल था। उसमें पहुँच कर बैरे से कमरे मे चाय लाने को कह दिया। बाहर तंग बरामदे के एक सिरे पर लगे हुए वॉश बेसिन में मुँह धोया। कोशिश की कि इस्तेफ़राग़ (कै) हो जाये मगर पेट खाली होने की वजह से कामयाब न हो सका। कमरे पर वापस आकर बमुश्किल एक प्याली चाय पी। बैरा से पूछा कि "भई तुम्हारे शहर को क्या हो गया है।" बस जनाब इसको कहर इलाही (दैवी कोप) के अलावा क्या कहा जाय। शहर अपने गुनाहों का बदला भुगत रहा है।" मैंने कहा-नहीं, भई मरने वाले तो सब बाहर के देहाती है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक है मगर मरने वाले शहरियें के ही तो भाई बंद हैं। यह तो होता आया है दुनिया में गुनाह कोई करता है और उसकी सजा दूसरे भुगतते हैं।'' तो क्या शहर में खाना और गल्ला नहीं है कि इन ग़रीब भूखे मेहमानों की जान बचायी जा सके।'' ''देहात से आया हुआ ग़ल्ला तो शहर के गोदामों में छत तक लगा हुआ है मगर हुकूमत और गल्ला व्यापारियों को क्या ग़रज़ कि वह अपनी दौलत को बिला एवज़ मुआवज़ा लुटा दें। इन भुकमरों के पास दाम कहाँ। जो अपनी जवान औरतों और कामकाज करने वाले लड़के-लड़कियों को बेच लेते हैं वह बच जाते हैं।''

बैरा रुदौली जिला बाराबंकी का रहने वाला था, उसकी यह बातें सुन कर दिल और बैठने लगा। बैरे ने कहा, ''रात के खाने में क्या लीजियेगा?'' एक चपाती और थोड़ा-सा कोई सालन। बैरा खाली चाय के बर्तन लेकर चला गया और मुझ पर कुछ कमजोरी और कुछ सफ़र की तकान (थकान) की वजह से होटल के नर्म बिस्तर पर ग़नूदगी (तन्द्रा) सी तारी होने लगी। बैरा जब खाने की ट्रे लेकर आया तो मैंने मेज़ पर उसको रखवा कर कमरा अंदर से बंद कर लिया कि जब भूक लगेगी खा लूँगा और दोबारा आँख बंद कर ली। अब की नींद का झोंका सख़्त था और मैं ग़ाफ़िल हो गया। ख्वाब देखा कि सब लाशें उठ उठ कर चलने लगीं। देखते देखते उनके जिस्मों का गोश्त पोस्त पिघल-पिघल कर ज़मीन पर गिरने लगा और चलते-फिरते हड्डियों के ढाँचे सड़कों पर दौड़ने लगे। थोड़े वक़्फ़े के बाद वो सफें बाँध कर फौजों की तरह मार्च करने लगे। गोदामें और दुकानों के ताले तोड़-फोड़ कर अंदर दाखिल होने लगे। चावल के बोरे निकाल निकाल कर बाहर फेंकने लगे। और उनके कच्चे चावलों को फाँकने लगे और डलहौजी से होते हुए गवर्नमेंट हाउस की जानिब शोर मचाते हुए जाने लगे। उनको आते देखकर पहरे के सिपाहियों ने मशीनगनों की बाढ़ खोल दी और आँख झपकते ही हज़ारों ढाँचे ज़मीन पर ढेर हो गए और फिर सब पर गोश्त-पोस्त चढ़ गये और फिर लाशों से पटा हुआ एक मैदान नज़र आने लगा। मेरा हलक़ सूखा हुआ था जिसकी तकलीफ़ से आँखें खुल गईं। कमरा अंधेरा था। मैंने बेड स्विच ऑन किया और किश्ती से पानी का गिलास उठाकर दो घूँट पीकर फिर सो रहा था। सुबह बैरा के दरवाज़ा खटखटाने पर मैं बेदार हुआ और रात का खाना वापस करते हुए बैरा से दो तोस (टोस्ट), एक अंडा और चाय लाने को कहा।

मुँह हाथ धोने के बाद नाश्ता करके फिर निकल खड़ा हुआ। आज सियालदह की तरफ गया। उधर की हालत हावड़ा और चौरंगी मंतिक़े (इलाके) से भी ज़्यादा ख़राब थी। वहाँ एक बूढ़े-बूढ़ी का जोड़ा चलते-चलते गिरकर मरता हुआ देखा। पहले से पड़ी हुई सड़ती लाशों का तो कोई ज़िक्र नहीं। बालाखानों से फेंके हुए कूड़े करकट में तरकारियों के छिलके, रोटियों के टुकड़ों के बचन-खुचन पर कुत्तों और आदमियों को झगड़ा करते देखा। मवेशियों और बिल्ली-कुत्तों की लाशें भी देखीं। किसी गोदाम के सामने शोर मचाते हुए भूकों पर पुलिस और फ़ौजी सिपाहियों का लाठी चार्ज भी देखा। कहत बंगाल को उसकी पूरी बहीमाना (जालिमाना) शक्ल में देखकर मजीद कुछ और देखने की अपने में ताब न पाकर उसी दिन वतन वापस लौट जाने का मुसम्मम (पक्का) इरादा कर लिया। ट्रेन में बैठ जाने के बाद ऐसा महसूस हो रहा था कि मैं सड़ती हुई लाशों के एक बहुत बड़े दलदल से निकल कर आ रहा हूँ। वतन पहुँचने के बाद कई दिन तक काबूस (नाइटमेयर) का शिकार रहा। रफ़्ता-रफ़्ता जब तबीयत मामूल पर आने लगी तो मैंने क़लम सम्हाला और कई दिन तक मंसूबा बनाता रहा कि इतने बड़े अलमिया को किस अंदाज़ से नज़्म (पद्यबद्ध) किया जाये कि मेरे जेहन में जो तास्सुरात और तस्वीरें हैं मिन्नोअन्न (ज्यों की त्यों) क़ारी (पाठको) के ज़ेहनों असाब (स्नायु) पर छा जायें कि एक शब बिस्तर पर लेटते ही यह मिसरा ज़ेहन में आया 'भूका है बंगाल रे साथी भूका है बंगाल।' ज़बान सीधी सादी और आम फहम थी चुनांचे गीत का पूरा ढाँचा इस मिसरे की बुनियाद या रिफ़्रेन पर मेरे क़ाबू में आ गया। गीत का मुखड़ा तो हाथ आ ही गया था जिससे दिल को तक़वीयत (दृढता) सी महसूस हुई। अब पहले बोल या मिसरे को ज़ेहन में कुरेदने लगा और वह भी जल्द ही ज़ेहन में आ गया।

'पूरब देस में डुग्गी बाजी फइला सुख का काल' इसके बाद तो बोल इस तरह ढल-ढल कर क़लम से तरश्शौ (प्रवाहित) होने लगे जिस तरह अंगुली कट जाने पर ख़ून के क़तरे। शायद इसी को इस्तलाहन इल्का (नाज़िल होना) कहते हैं। ज़्यादा करके डेढ़-दो घंटों में गीत का मसौदा तैयार हो गया और दो-एक मसविदा की काट छाँट के बाद उस सूरत में आ गई जिसने मुल्क में इस मौज़ू पर तमाम नज़्मों में सरे फेहरिस्त जगह हांसिल की, और तारीख़ अदब का नाक़ाबिले फ़रामोश बाब (अविस्मरणीय अध्याय) बन गई। मुल्क की हर ज़बान में इसका तर्जुमा हुआ और क़ौमी जंग (पार्टी के अखबार) में इसकी अशाअत (छपने) के बाद मुझको वह शोहरत और हैसीयत मिली कि उसकी गूँज अब तक उसी देरीना शिद्दत (रोज की तेजी) से सुनी जा सकती है जिस क़दर कि आग़ाज में थी। इसके बाद मुझको अपनी तख़लीक़ात (रचनाओं) पर वह एतमाद (भरोसा) पैदा हुआ जो फ़न को अज़्मत (महानता) की सरहद तक पहुँचाने के लिये इन्तेहाई जरूरी है। बदक़िस्मत है वह फ़नकार जिसको अपनी तखलीक़ पर पूरा एतमाद न हो या उसको न मालूम हो कि उसकी तख़लीक़ात में क़िस तखलीक़ की क्या हैसियत है। गिरोहबंद, मफ़ाद परस्त (स्वार्थी) और इश्तेहारबाज़ शोअरा ज़्यादातर मसनूई एतमाद (मेक बिलीफ़) और बड़बलिया का शिकार होते हुए देखे गये हैं और कुछ मुद्दत के बाद यह बीमारी ज़मीर (विवेक) की रोशनी को भी खा जाती है।

(गुफ़्तनी-नागुफ़्तनी से)

अनुवाद-अजय कुमार, *रास मंडल, जौनपुर*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतराफ़

वामिक़ अहमद मुज़तबा

अब से दस बरस पहले मेरे एक दोस्त (हकीम मुज्जे) ने बड़ी मोहब्बत के साथ पूछा कि तुमको इस क़दर अशआर याद हैं और तुम बमुश्किल नस्र (गद्य) में बातें करते हो तो फिर खुद शेर क्यों नहीं कहते। मैंने इस ख़याल से कि कौन नस्र (गद्य) में जवाब देकर बात को तूल दे, उन पर अपनी क़ाबलियत का सिक्का जमाने के लिए वही बड़ा पुराना शेर, "शेर गुफ्तन अगरचे दर..."[1] पढ़ दिया। मगर वह भला आसानी से कब मानने वाले आदमी थे। हाथ धो कर मेरे पीछे पड़ गये। वाकेआ यह था कि मैं हमेशा शेर को मोजज़ा[2] और शायर को फ़ौकुल बशरियत का हामिल समझता था। अगर चे मैं शेर कहने की दबी-दबी सी ख्वाहिश दिल में जरूर पाता था मगर मैंने इस जज़्बे को कभी अमलीजामा पहनाने की जुर्रत न की। उनको फिर समझाया कि भई शेर कहने के लिए चाहे दो वक़्त खाना न मिले मगर इश्क़ करना बहुत जरूरी है। वह बोले, "पहले शेर कहना शुरू कर दो। कुछ दिन के बाद इश्क भी हो जायेगा और कम अज़ कम तुम्हारे शेर पढ़ने और सुनने वाले तो ज़रूर ही तुमको आशिक़ समझने लगेंगे।" मोहब्बत करने को मेरा भी जी चाहता था। चुनानचे मैंने गजलें कहना शुरू कर दीं। बिल्कुल रिवायती क़िस्म के अशआर तसव्वुफ,[3] जमालियात[4] मामलाबंदी[5] और चुनीं-व-चुना।[6] साल भर के अंदर-अंदर मुझ को वाकई महसूस होने लगा कि जैसे मैं किसी पर आशिक हूं और उम्र के तनासुब (अनुपात) के साथ जो अच्छी सूरत नजर आती उसको देख कर यह ख़याल होता कि कहीं मैं इसी पर तो आशिक नहीं हूं। यह सिलसिला दो साल तक जारी रहा। सचमुच की मोहब्बत भी हुई मगर वह भी मजबूरन तर्क करनी पड़ी। कुछ दिनों तक जुनूनो ख़िरद[7] की जंग जारी रही और आख़िर में ख़िरद का पल्ला भारी निकला।

उस वक्त जंगे-आलमगीर[8] पूरे शबाब पर थी। सारे मुल्क में भूख और बरहनगी[9] की आँधियाँ चल रही थीं। फ़िरंगी और अमेरिकी सिपाही सड़कों और गलियों को रौंदते फिर रहे थे। पस्त और मुतवस्सित[10] तबक़े और ग़रीबों के घर वीरान और चकले खाने आबाद हो रहे थे। मज़हबी रहनुमा जन्नत और दूसरे जन्म की बशारत दे दे कर सब्र व शुक्र की तलक़ीन[11] फरमा रहे थे। मुख़्तसर यह कि हर जानिब जिंदगी और उसकी हसीन क़दरें फ़ाशियत के हाथों दम तोड़ रही थीं। यह हाल देख कर ऐसा महसूस होने लगा कि जिस किस्म की रवायती शायरी मैं कर रहा हूँ वह एक नाकाबिले-माफ़ी एखलाक़ी जुर्म है। यही वह वक्त भी था जब मुल्क के रजअत पसंद अदीब, अदब बराए जिंदगी के मुकाबले में अपने आखिरी मोर्चे से जंग कर रहे थे। इस जंग से मुझको बड़ा फायदा हुआ और थोड़े ही अर्से में मैं इस नतीजे पर पहुँच गया कि अदब को जिंदगी का आईनादार होना चाहिए। अब मैं महज अपने जाती मुशाहेदात[12] और महसूसात से काम ले रहा था अैर इस तरह मेरे सही विजदान[13]—मकसद के दौर का आगाज हुआ और जैसे मुझको कुछ तस्कीन भी होने लगी। 'जरस' इसी दौर की नज़्मों और ग़ज़लों का मजमुआ (संग्रह) है। इसमें मेरी शायरी के अव्वलीन दो साल के अफ़कार[14] शामिल नहीं हैं। वह बज़ाहिर बहुत हसीन मगर बेरूह थे। इस मजमुए में आपको चंद ऐसे भी मौजू मिलेंगे जो बादिउन्नज़र[15] में शायराना मौजू कहलाये जाने के मुस्तहिक[16] नहीं मगर दर असल मौजू खुद शायराना या गैर शायराना नहीं होता। वह तो शायर का ज़ाविया[17] निगाह और अंदाज़ बयान होता है जो इसको शायराना या गैर शायराना बना देता है। 'जरस' में आपको बहूरी[18] तजुरबे भी मिलेंगे। बहर और हैयते[19] नज़्म का मौजूए सुखन से गहरा ताल्लुक होता है। यह एक लंबी बहस है जिसकी गुंजाइश यहाँ नहीं है इसलिए इसकी परख आपके मज़ाक़ पर छोड़ता हूँ। इस मजमुए में आप को कहीं-कहीं जुबान की गैर मानूस तरकीबें और उपज भी मिलेगी। मतरूकात[20] भी मिलेंगे मगर थोड़ी तवज्जह के बाद वह आपको माअनवियत[21] और मौके के ऐतबार से नागुज़ीर[22] मालूम होंगे। क्या आप क़ायल नहीं है कि बामौक़ा तसर्रूफ़[23] से मोहमल[24] अल्फाज़ भी बामानी हो जाते हैं। अब रहा सवात मतरूकात का तो मैं यह अर्ज करूँगा कि अगर असातज़ा मुतक़द्दमीन[25] को नस्ख[26] का हक हासिल था तो हम को फिर से इनके इस्तेमाल का भी हक़ हासिल है और यूँ भी तरक्की पसंद अदब जुबान में इज़ाफ़ा चाहता है न कि कमी। जहाँ तक क़वाफ़ी[27] का तआल्लुक है मैं सौती[28] क़वाफ़ी को जाइज़ और मुस्तहसन[29] समझता हूँ। मस्लन रास्ते और वास्ते हयात और निशात वगैरह।

एक बात और शायद आपकी दिलचस्पी से खाली न होगी। 'जरस' की तमाम मुअर्रा[30] या नीम मुअर्रा नज़्में मेरी कूव्वते नाज़मा[31] का ऐतराफ़े इज़्ज[32] हैं। मैं मुअर्रा नज़्म कहने के इरादे से मुअर्रा नज़्म कहना एक गैर फ़नकाराना एक़दाम[33] समझता हूँ। इसलिए मेरी हर नज़्म का आगाज़ पाबंदी के इरादे से होता है मगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब कभी मैं अपनी जेहनी उलझनों और मौजू के मुतालबात से मजबूर हो जाता हूँ तो उसको मुअर्रा या नीम मुअर्रा शक्ल में पेश करता हूँ। इस मजबूरी में भी फ़न के तक़ाजों से बेख़बर नहीं होता। रदीफ़[34] क़ाफ़िया[35] और बहर[36] की पाबंदियों को तोड़ने के बाद नज़्म में जो एक सपाट पन पैदा हो जाने का खतरा होता है तो इस कमी को अदब के दूसरे फन्नी लवाज़मात से पूरा करने की कोशिश करता हूँ। चुनानचे अगर आप ग़ौर फरमाएँगे तो सुनने में आप को मेरी बहुत सी मुअर्रा नज़्में पाबंद मालूम होंगी और आपको उनकी करख़्तगी[37] का एहसास न होगा।

यह सब कुछ है मगर 'जरस' को इशाअत (छपने) के लिए नसीम साहब के हवाले करने के बाद मैं ऐसा महसूस कर रहा हूँ कि मैं जो कुछ कहना चाहता था वह सब का सब भरपूर नहीं कह सका हूँ। तिश्नगी बदस्तूर है। ऐसा मालूम होता है कि अभी मैं इरतेक़ाई[38] मनाज़िल से गुजर रहा हूँ। इज़ाफ़े की बहुत गुंजाइश है जो शायद इस दौर में पूरी हो।

माहौल भी अब तक वही है। ख़याल था कि जंग खत्म होने पर हालात सुधर जायेंगे, मआशी[39] आसूदगी[40] और एक्तेसादी[41] आजादी होगी। मगर अब तो वह बद से बदतर होते जा रहे हैं। उलझन बढ़ती जा रही है। सुकून का फ़ोक़दान[42] क़दम-क़दम पर रुकावटें। नफ़्स[43]—नफ़्स पर बंदिशें। देखना है आखिर कब तक हमको इन सब मुश्किलात से छुटकारा होता है। अब तो दम घुटने लगा है। मगर अपनी ज़ेहनी उफ़्ताद[44] को क्या करें। बावजूद इन सब बातों के एक उम्मीद की किरन कभी-कभी झलक जाती है। जी भर के मोहब्बत करने को जी चाहता है और हमा वक्त सुकून और एक़्तेसादी आसूदगी की तलाश है। इस वक्त हमारे अहम तरीन मौजूआते-सुख़न यही हैं और इन्हीं में हमारी जिंदगी के खुशगवार होने का राज़ है। आप का क्या ख़याल है?

(हिन्दी लिप्यांतरण डॉ. अज़ीज़ा बानो)

1. शेर कहना अगर चे बहुत मुश्किल है। 2. वह काम जो इन्सानी ताकत से बाहर हो। 3. अपने दिल की ख्वाहिशों को मारकर खुदा की तरफ ध्यान लगाना। 4. ख़ूबसूरती का ज़िक्र। 5. कौल व करार। 6. ऐसा-वैसा। 7. पागलपन और अकलमंदी। 8. सांसारिक। 9. नंगापन। 10. बीच के। 11. उपदेश देना। 12. देखना मुआयना करना। 13. जाने और खोजने की ताकत। 14. कलाम, शायरी। 15. दूसरी नज़रों में। 16. हक़दार। 17. दृष्टिकोण। 18. कविता की मात्रा का वजन। 19. बनावट, शक्ल। 20. जो प्रयोग में न हो। 21.अर्थ, मानी। 22. जरूरी। 23. खर्च। 24. बेकार। 25. अगले जमाने के लोग। 26. रद्द किया हुआ। 27. पीछे चलने वाला। 28. आवाज। 29. अच्छा। 30. सादा। 31. कविता कहने की ताकत। 32. कमज़ोरी। 33. क़दम। 34. वह लफ़्ज जो ग़ज़ल के मिस्रों के आख़िर में काफिया के पीछे बारबार आये। 35. रदीफ़ से पहले का लफ़्ज। 36. शेर का वज़न। 37. कड़वापन। 38. शुरूआती। 39. रोजी रोटी। 40. आराम, दौलतमंदी। 41. माली रोजी। 42. कम होना या न होना। 43. सांस, आदमी। 44. परेशानी, मुश्किल।

स्मरण : वामिक़ जौनपुरी

ग़ज़लें

वामिक़ जौनपुरी

(3)

रबाबे ज़िंदगी में जितने टूटे तार होते हैं
उन्हीं को जोड़कर नग़्मे मेरे तैयार होते हैं
तिलिस्मे-ख़्वाब गफलत तोड़कर बेदार होते हैं
संभल जा नश्शए दौलत कि हम हुशियार होते हैं
ज़मीं लरजां[18] ज़मां[19] लरज़ां निगाहे-अहरमन[20] लरजां
कि अब तेवर हमारे इन्क़ेलाब आसार होते हैं
भड़कने को हैं शोले जमहरीरे[21]-क़ल्बे[22]-आदम से
कि लब ह्याए-तबस्सुम[23] रेज आतिश[24] बार होते हैं
मुकय्यद[25] है मेरी आवाज लेकिन बेसदा नाले
निकल कर चश्मे-हसरत से जिगर के पार होते हैं

क्यों मारे-मारे फिरते हैं यह बदनसीब लोग
कुछ तो बताएँ क्या है ख़ताएं-अदीब, लोग
बारूदे-इन्तेशार पे बैठी है जिंदगी
हैं बे ख़बर तबाही से कितने क़रीब लोग
इफ़राते-ज़र[26] में वक़्त की क़ीमत भी गिर गयी
क्यों जिक्र मुखतसर नहीं करते ख़तीब[27] लोग
अब तुम भी इन सफेद लबादों को फेंक दो
चोला बदलने वाले ही हैं अनक़रीब लोग
लोगों को दे रहा था वो दावत हयात की
वरना युँही कभी नहीं देते सलीब लोग
वामिक़ इस इक सवाल पे मब्नी[28] है इन्क़ेलाब
कितने अमीर लोग हैं कितने ग़रीब लोग

18. थरथराना। 19. जमाना। 20. बुराई का भगवान। 21. अधिक ठंड। 22. दिल। 23. बिखरी हुई मुस्कुराहट। 24. आग बरसाने वाला। 25. कैद किया गया। 26. बिना आवाज। 27. खुत्बा पढ़ने वालों, बोलने वाला। 28. टिका हुआ।

डॉ. अज़ीज़ा बानो, उर्दू से हिन्दी अनुवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक़ जौनपुरी से गुफ़्तगू

अली अहमद फ़ातमी

हर जौनपुर की जितनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अहमियत है क़रीब-क़रीब उतनी ही वहां के क़स्बों और देहातों की भी इसलिए जब हम इस छोटे लेकिन पुरकशिश शहर से निकलकर वामिक़ जौनपुरी के असली वतन कजगाँव की तरफ़ रवाना तो शहर लम्हों में खत्म हो गया और दायें-बाएं खेतों के तने शुरू हो गये। चारों तरफ़ हरियाली खेतों में झूमते-लहराते कद मक्के के पौधे अपनी जवानी और शादाबी का खुला कर रहे थे। उन खेतों को काटती हुई पतली मगर डामर की अपने भीगे हुए सुर्मई बदन में बड़ी भली लग रही थी। मेरे हिन्दी भवन जौनपुर के सेक्रेटरी और हिन्दी के तरक़्क़ी पसंद और अदीब अजय कुमार भी थे जो मुझ से कहीं ज़्यादा क़िक़ साहब पर श्रद्धा रखते थे। और हर वक़्त कजगाँव चलने यार रहते। अपनी इस श्रद्धा का इजहार वह वामिक़ साहब उन्नहत्तरवीं सालगिरह के मौके पर हिन्दी भवन में जश्ने-वामिक़ र पर कर चुके हैं जिसमें पूरा जौनपुर पलट पड़ा था। क्या क्या उर्दू-क्या हिन्दू क्या मुसलमान-क्या मजदूर क्या किसान। दिन मुझे वामिक़ साहब के चाहने वालों और उनसे बेपनाह हब्बत रखने वालों का अजब मन्ज़र देखने को मिला था। फुल नजीर मेले की तरह-मुझे याद है कि इस जश्न की सदारत हू तरक़्क़ी पसंद शायर कैफी आजमी ने की थी और बेतकल्लुफ कहा था वामिक़ साहब उन बुजुर्ग शायरों में से हैं जिनसे हम ने बहुत कुछ सीखा है। उनका गीत भूखा है बंगाल की देखकर हम गर्वित भी हैं और ईर्ष्यालु भी।

जौनपुर को फीरोजशाह और उसके बाद शर्की खानदान ने या लेकिन आज अवाम में कितने लोग इस बात से वाकिफ जौनपुर अपनी बड़ी-बड़ी मस्जिदों के ज़रिये बहुत ज़्यादा अपनी ख़ा न बना सका। मरहूम हफीज जौनपुरी, शफीक जौनपुरी द शायर थे लेकिन आज उनके दो-दो एक-एक शेर ही याद ये हैं। जौनपुर की असल शोहरत और पहचान का बाइस हुए वामिक़ जौनपुरी। अपनी अवामी शायरी के ज़रिये और हरों के ज़रियें उन्होंने इस शहर को जो शोहरत दिलाई और सारे में अपनी शायरी की जो खुशबू फैलाई वह जौनपुर वालों के ी फख्र की बात है ही लेकिन मेरे लिए भी है क्योंकि मेरे नी डांडे जौनपुर से मिलते हैं कि ये छोटा सा तहज़ीवी शहर मेरा नेहाल है। इलाहाबाद में उर्दू के एक विद्यार्थी की हैसियत से मेरी उनकी मुलाक़ात हुई। फिर उसके बाद एक तरक़्क़ी पसंद अदीब की हैसियत से तरक़्क़ी पसंद शायरी और शायरों के क़रीब आया तो वामिक़ साहब से रिश्ते कई ऐतबार से जज़्बाती हो गए। इस बीच पता चला कि वह जौनपुर शहर में नहीं बल्कि कजगाँव में रहते हैं यानी ऐसा गांव जो टेढ़ा है लेकिन वहाँ के लोग बहुत सीधे हैं। वामिक़ साहब तो बहुत ही सीधे शरीफ और सादा मिज़ाज और शीशे की तरह आर-पार दिखने वाले जिसमें कोई लचक नहीं। कोई धुंध नहीं, तभी तो उन्होंने कहा था-

आहन नहीं कि चाहे जब मोड़ दीजिए,
शीशा हूं झुक तो सकता नहीं तोड़ दीजिए।

वामिक़ जौनपुरी ने अपनी उम्र के अस्सी साल पूरे कर लिए हैं। इतने लंबे ज़िंदगी के सफ़र में उन्हें क्या-क्या झेलना पड़ा उसकी एक लंबी कहानी है।

अजय अपनी श्रद्धा भरी गुफ़्तगू में मसरूफ़ रहे और मैं अंदर ही अंदर अपने इन्टरव्यू की फ़िज़ा बनाता रहा। जब हम चाय पी चुके थे, अजय गुफ़्तगू से कुछ हद तक थक गये और सिगरेट बनाने लगे तो मैंने अपनी गुफ़्तगू का आगाज़ किया।

फ़ातमी : वामिक़ साहब, खुदा आपकी उम्र दराज करे आपने अपनी उम्र के अस्सी साल पूरे कर लिये और शायरी के तकरीबन पचास साल। शायद इससे भी ज़्यादा। मेरी ख्वाहिश है कि उम्र और तजरबे की इस मंजिल पर पहुँचकर मैं आपको थोड़ी देर के लिए आपके बीते दिनों की तरफ़ ले चलना चाहता हूँ ताकि थोड़ा सा मुहासिबा (मूल्यांकन) हो जाय कि आप अपनी ज़िंदगी में शायर की हैसियत से क्या करना चाहते थे और क्या कर पाए। फिर मैं आपकी शायरी और इस दौर की शायरी पर भी बातें करूंगा लेकिन सबसे पहले एक जाती किस्म का सवाल करना चाहता हूं-

वामिक़ जौनपुरी : जब आप इतनी दूर चलकर मेरे ग़रीबखाने पर आए हैं, मेरे मेहमान हैं तो आप जो चाहते हैं आपकी हर बात का जवाब दूंगा।

फ़ातमी : सबसे पहले आप हमें अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बारे में बताइये कि कौन से इब्तेदाई (आरम्भिक) हालात थे जिसने आपको शेरो-अदब की तरफ़ मोड़ दिया।

वामिक़ : फ़ातमी साहब! मैंने जब आँखें खोली तो मैंने चारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरफ़ अपने जिन बुजर्गों को देखा तो उनमें ज़्यादातर सरकारी नौकर थे। अच्छे-अच्छे ओहदों पर थे। खुद मेरे वालिद जिनके बारे में कहा जाता है कि जब मैं पैदा हुआ तो उसी साल वह डिप्टी कलेक्टर हुए। मेरे दादा भी एक अच्छे ओहदे पर फाइज थे। मेरे चाचा इन्कम टैक्स आफीसर थे। मेरे परनाना मौलवी अहमद अली हाई कोर्ट में बहुत बड़े वकील थे और नवाब यूसुफ के वालिद के वक़्त के थे। मेरे नाना भी डिप्टी कलेक्टर थे। एक बुजुर्ग घर में रहते थे जो सारी जायदाद वग़ैरह का इन्तेजाम देखते थे बाकी सब नौकरियाँ करते थे और बहुत इज़्ज़त के साथ ज़िंदगी बसर करते थे।

फ़ातमी : तो आपकी गुफ़्तगू से ये अंदाजा होता है कि आपको अपने बुजुर्गों से जो माहौल मिला वह बिल्कुल फ़्यूडल था।

वामिक़ : जी हाँ, बिल्कुल फ़्यूडल और खालिस इम्पीरियलिस्टिक लेकिन साथ ही एक बात और भी थी। जब कभी मेरे वालिद छुट्टियों में वतन आते तो अपने जमींदारों से हिसाब लेते और अक्सर नुकसान रहता या बकाया रहता तो लोग राय देते कि कहिये तो बेदखल कर दिया जाय या जबरदस्ती वसूल किया जाय तो वह मना कर देते, नहीं-नहीं ये करने की ज़रूरत नही। मैंने उनको कभी मुकदमा चलाते नहीं देखा और कभी किसी मजदूर या किसान से सख्त लहजे में बोलते नहीं देखा जबकि वह डिप्टी कलेक्टर भी थे। बजाहिर ये विरोधाभास हमने देखा था लेकिन हमें मालूम था कि इसके पीछे हमारी खानदानी तहज़ीव काम कर रही है जो कभी भी छोटों पर जुल्म पसंद नहीं करती। हमने अपने घर में कभी किसी नौकर को मार खाते नहीं देखा। हम अपनी शरारतों पर पिट जाया करते थे लेकिन नौकरों को कभी हमने डांट खाते नहीं देखा।

फ़ातमी : ये नरमी और शराफत तो आपके चेहरे से भी झलकती है। बहरहाल इस तरह के माहौल ने आपको भी सरकारी नौकरी की तरफ़ मोड़ दिया और आप सप्लाई आफीसर के ओहदे तक पहुंचे। आपके बाप-चचा में किसी को शेरो-अदब से कोई दिलचस्पी थी या नहीं या ये शौक आपका जाती है?

वामिक़ : मेरी मां के ननिहाल में अच्छे शायर गुजरे हैं। मौलवी अबू मुहम्मद सहर बहुत अच्छे मर्सिया गो थे। अनीस के शागिर्दों में से थे। दस-पन्द्रह अच्छे मर्सिये कहे हैं लेकिन इसके बावजूद मैं कह सकता हूँ कि शराफत तो मुझे विर्से में मिली शायरी नहीं। लेकिन ये जरूर था कि हमारे घर में संजीदा और मुहज्जब माहौल था। जब हम और हमारे बुजुर्ग एक साथ बैठते, बातें करते तो शेरो-शायरी भी गुफ़्तगू का मौजू बनती। हमारे बचपन में शिबली का बड़ा जोर था। अबुल कलाम आजाद के चर्चे थे इसलिए उनकी बातें होती थीं। उनकी किताबों पर बातें होती थीं। तो बचपन से उन लोगों के नाम मेरे कानों में पड़े और वाक़फ़ियत हुई। ग़ालिब व मीर और खासतौर पर अनीस के इतने चर्चे होते थे कि बात-बात में उनका ज़िक्र आता था। ये ज़रूर है कि हमारे घर में कोई शायर व अदीब न था लेकिन सब के सब बेहद अदब नवाज़, पढ़ने के शौकीन लोग थे। हमारा अपना एक खानदानी कुतुबखाना (पुस्तकालय) भी था।

फ़ातमी : वामिक़ साहब आपको याद है कि ऐसे खूबसूरत तहज़ीबी माहौल में पहली बार आपको शेर कहने से दिलचस्पी कब हुई?

वामिक़ : मेरी शायरी कुछ अजीब ग़ैर संजीदा तरीके से शुरू हुई। मैंने बी.ए., एल.एल.बी. लखनऊ युनिवर्सिटी से किया है। जिस वक़्त मैं बी.ए. में था उस जमाने में अर्थशास्त्र के एक सीनियर लेक्चरर हुआ करते थे, डी.पी. मुखर्जी। मैं उनकी ख़िदमत में हाज़िर हुआ करता था। वह अजीबो-ग़रीब शख्सियत के मालिक हुआ करते थे। वह एक साथ अच्छे मौसीकार (संगीतकार) थे, बहुत अच्छे पेंटर थे। उनकी तालीम शांति निकेतन में हुई थी। जब वह गुतगू करते तो हम लोगों पर जादुई कैफियत हो जाती। वह वक़्त अजीब इंसान लगते थे। उनकी गुफ़्तगू में दिमाग की आज़ादी और ख़याल की आज़ादी रहती थी जिसने मुझे बहुत मुतासिर किया। उनके साथ रहने से इस बात का एहसास हुआ कि अस्ल आज़ादी जेहन (दिमाग) की होती है। जेहन को किसी भी परंपरा का पाबंद नहीं होना चाहिए और अगर वह पाबंद है तो फिर आप कुछ नहीं सकते।

फ़ातमी : मुखर्जी की शख्सियत ने समाज के बारे में कुछ सोचने पर जरूर मजबूर किया लेकिन आपका शेरी (काव्य) एहसास कब पैदा हुआ?

वामिक़ : अभी नहीं, अभी शेर कहने में दिलचस्पी पैदा नहीं हुई है, हाँ शेर सुनने और शायरों को सुनने और देखने में दिलचस्पी ज़रूर पैदा हो चली थी। जिगर साहब, असगर साहब, जज़्बी, लखनवी, साकिब, सफी, बेखुद देहलवी सब के नाम चल रहे थे और सबसे मैं वाकिफ था और चूंकि उस वक़्त तक मुझे शेर कहना नहीं आता था इसलिए उन लोगों को मैं दूसरी दुनिया का इंसान समझता था और बड़ी इज़्ज़त करता था और समझता था कि यह बड़े काम की हिम्मत मुझमें कहाँ इसलिए मैं शेर न कह सका। जब मैं बी.ए. पढता था तो उस वक़्त युनिवर्सिटी मैगज़ीन के लिए मुझसे कुछ माँगा गया तो मैं कई दिनों तक सोचता रहा कि क्या लिखूँ। आखिर में मैंनें कीट्स की एक नज़्म का मन्ज़ूम तर्जुमा (काव्य अनुवाद) किया। इसे आप मेरी पहली कोशिश कह सकते हैं। वह नज़्म जब छपी तो मुझे बहुत खुशी हुई।

फ़ातमी : आपकी अपनी असली शायरी कब शुरू हुई?

वामिक़ : अब उसी तरफ़ आ रहा हूँ। मेरी शायरी तरक्की की कई मंजिलें तय करती है। उसकी अस्ल शुरूआत 1940 के शुरू में हुई जब मैंने फैज़ाबाद में वकालत शुरू की। इसी 1936 ई. में अंजुमन तरक़्क़ी पसंद मुसन्निफीन की कांफ्रेंस जिसकी सदारत प्रेमचंद ने की और सज्जाद ज़हीर का ग्रुप आया। हमने दूर से इस कांफ्रेंस को देखा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ातमी : आपने अंजुमन की इस पहली कांफ्रेंस में शिरकत (व्यक्तिगत) की?

वामिक़ : शिरकत बस यूंही दूर से। सज्जाद जहीर के छोटे भाई बाक़र ज़हीर मेरे क्लास फेलो थे। जब कॉफ्रेंस ख़त्म हुई तो बाक़र मेरे पास 'अंगारे' की दो सौ कॉपियां लेकर आए और कहा 100 में बेचूंगा और 100 तुम... मैंने खामोशी से उसे बेच डाला।

फ़ातमी : अंगारे तो 1932 में छपी और उसके बाद जब्त हो गई।

वामिक़ : लेकिन ये बात 1936 की है। बहरहाल मैंने अंगारे बेच डाला और उसके बाद तरक़्क़ी पसंद अदब का मैनीफेस्टो पढ़ा, तरक़्क़ी पसंद अदीबों को क़रीब से देखा तो बहुत प्रभावित हुआ। ये लोग मुझे बहुत महान लगे और मेरे अंदर भी ये एहसास पैदा होने लगा कि काश मैं भी कुछ लिख सकता। इस जज़्बे के साथ जब मैंने 1940 में फ़ैज़ाबाद में वकालत शुरू की तो माहौल अच्छे तौर पर तैयार हो चुका था। इसी जमाने में फ़ैज़ाबाद में मेरे एक दोस्त हकीम मुज्जे मेरे साथ रहते थे और इस पेशे में प्रैक्टिस करते थे। एक डॉक्टर कुरैशी थे जिनके मकान में हम लोग रहते थे। उनके यहां पर पन्द्रह दिन में एक बैठक होती थी जिसमें शेर पढ़े जाते थे। मैं भी इसमें शरीक होता और सुनता था। उन्हीं दिनों मुझे एक शरारत सूझी। मैंने एक ग़ज़ल तैयार की जिसके कोई मायने नहीं थे। मैंने उसे एक नौजवान को दिया कि आज के मुशायरे में पढ़ देना। साहब से पढ़ी गई और उस वक़्त मुझे बहुत हैरत हुई जब इस ग़ज़ल की बहुत तारीफ़ हुई। हकीम मुज्जे जब नशिस्त से वापस आए तो कहने लगे कि तुम्हारी ग़ज़ल तो हिट हो गई लेकिन इस शरारत की क्या ज़रूरत। तुम बाक़ायदा खुद पढ़ो। मैंने कहा भाई इस ग़ज़ल में तो कोई बात भी मानी नहीं है और मानीदार ग़ज़ल कहना बहुत मुश्किल काम है। मुज्जे बोले- कुछ भी हो, इसका अन्दाजा बहरहाल होता है कि तुम्हारे अंदर शेर कहने की खूबी है। कुछ दिनों तक मैं यही तजरबा करता रहा। डॉक्टर कुरैशी ने इसरार किया, दूसरे दोस्तों ने भी कहा तो मैंने कुछ कहा जरूर और इस महफ़िल में पढ़ने भी लगा लेकिन इससे मेरा दिल बहुत सुकून हासिल न कर सका।

फ़ातमी : अगर आपको उस दौर के दो एक शेर याद हों तो सुनाइये-

वामिक़ : 1940-42 तक फ़ैज़ाबाद की उन महफिलों में मैंने जो कुछ भी कहा वह सब ज़ाया हो गया और इसका मुझे अफसोस भी नहीं है। इसलिए कि जिस तरह की शायरी मैंने उन दिनों की उसका कोई मक़्सद न था।

फ़ातमी : ऐसा आप आज महसूस करते हैं या उन दिनों भी आपने ऐसा ही महसूस किया?

वामिक़ : मैंने उन दिनों भी ऐसा ही महसूस किया इसलिए कि मेरे घरेलू माहौल, शुरूआती तालीम, डी.पी. मुकर्जी का साथ, अंजुमन का कयाम, उससे जुड़ाव, इन सबको देखते हुए मक़्सद मेरे ज़ेहन में रच बस चुका था। इसलिए इस दौर के शेर बहुत बुरे लगे, मैंने उनको ज़ाया कर दिया कि कहीं ये मेरी रुसवाई का सामान न बन जायं। हां याद आया इसी जमाने में लखनऊ में एच.एम.वी. वाले नौजवान शायरों की ग़ज़लें इकट्ठा कर रहे थे ताकि वह उनको अपने कलाकार से गाने को कह सकें इसलिए मुझसे मांग हुई। मैंने दो तीन ग़ज़लें भेज दीं। उनमें से एक ग़ज़ल इलाहाबाद की मुन्नाबाई ने गाई। इसका एक शेर देखिए याद आ रहा है,

हमीं से हमारा फसाना न पूछो
जला किस तरह आशियाना न पूछो

ये शेर मुझे इसलिए याद रह गया कि मेरी ग़ज़ल को मौसीक़ी (संगीत) के साथ गायकी में पेश किया गया।

फ़ातमी : ये रहा आपकी शायरी का पहला दौर जिसका ज़िक्र आप 'जरस' में भी कर चुके हैं। दूसरा दौर कब और कहां से शुरू होता है?

वामिक़ : जी हाँ, इसके बाद मोड़ आता है मेरी संजीदा शायरी और तरक़्क़ी पसंद शायरी का। मैं धीरे- धीरे रिसाले (पत्रिकाएं) मंगाने लगा। तरक़्क़ी पसंद शायरी है क्या, मैं इसको पढ़ने और समझने लगा। अपनी रवायत को समझने लगा। आज़ाद, शिबली, इकबाल वग़ैरह पढ़ने लगा। अंग्रेजी अदब से भी वाक़फ़ियत थी। शुरू की तरक़्क़ी पसंद शायरी को पढ़ने लगा। फैज़ को पढ़ा, मखदूम को पढ़ा। इन सब ने मुझे बहुत मुतासिर किया और मैं धीरे-धीरे अपनी आवाज़ को भी तरक़्क़ी पसंद नग़्मे से मिलाने लगा। अब मैं रिसालों में छपने लगा और मेरे मकसद को राह मिलने लगी।

फ़ातमी : आपके बारे में मशहूर है कि आपको ये शिकायत रही है कि तरक़्क़ी पसंद शायरों में बाज़ बुत ऐसे छाए रहे कि आप पर तनक़ीद (आलोचना) की नज़र गई ही नहीं, खासतौर पर तरक़्क़ी पसंद तनक़ीद ने ऐसा किया?

वामिक़ : साहब तरक़्क़ी पसंद तनक़ीद अभी लिखी ही नहीं गई, अभी तो सिर्फ़ वह उसूल बना रही है। कहाँ तक आप उसूल बनाते रहेंगे। कब तक आप गड़े मुर्दे उखाड़ते रहेंगे। आप अमली मैदान में आइये। अमली तनक़ीद कीजिए। आज लिटरेचर की तनक़ीदी दुनियाँ में कोई उसूली बहस नहीं करता। हां उसकी अमली तनक़ीद में उसका अपना जाविया होता है। वह कहता है कि जो हमको अच्छा लगेगा हम उसी अंदाज में अदब को जानेंगे, परखेंगे।

फ़ातमी : यह सही है कि आज दुनियां में तख़्लीकी अदब (रचनात्मक साहित्य) के साथ-साथ तनक़ीद (आलोचना) ने भी नए-नए अंदाज़ बनाए हैं। क्या तनक़ीद के सिलसिले में ये आज़ादी तनक़ीद के लिए फायदेमंद होगी?

वामिक़ : क्यों नहीं फायदेमंद होगी? इसे आगे तो आने दीजिए। उसे पिटे पिटाये अंदाज में कब तक ले चलेंगे।

फ़ातमी : वामिक़ साहब ये एक अलग बहस है इस पर हम फिर बात करेंगे। देखिये तरक़्क़ी पसंद अदब पर दो किताबें अहम समझी जाती हैं। एक तो ख़लील-उर-रहमान आज़मी की किताब,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किताब एक खास लहजे से लिखी है लेकिन सरदार जाफ़री की किताब को पढ़ते वक़्त हमारा तकाज़ा बहरहाल हो जाता है कि वह इस तहरीक से जुड़ी लिखी जाने वाली किताब है। जिससे सारी ज़िंदगी जुड़े रहे हों उसको पूरी ईमानदारी से और विस्तार के साथ लिखना चाहिये।

वामिक़ : साहब हर किताब ईमानदारी से लिखी जानी चाहिए। खलील को भी ईमानदारी से लिखना चाहिए था। उनको अगर तहरीक से शिकायत थी तो उसको साफ-साफ लिखना चाहिए था।

फ़ातमी : आप इससे इत्तेफाक करते हैं कि तहरीक में और उसकी तरक़्क़ी में सरदार जाफ़री का बहुत बड़ा हाथ रहा है?

वामिक़ : कोई शक नहीं कि उन्होंने तहरीक के लिए बहुत कुछ किया, बड़ी मेहनत की। हमेशा अच्छे ओहदों पर रहे और बाद में उसे कैश भी किया और आखिर में उन्होंने इस तहरीक को नुकसान भी बहुत पहुँचाया। ये एक हकीकत है, तारीख (इतिहास) इसको कभी भुला नहीं सकेगी-

फ़ातमी : आप अपने दौर के दूसरे अदीबों के बारे में कुछ फरमाइये।

वामिक़ : मैं एक शायर की हैसियत से पता नहीं आप इससे इत्तेफाक (मानना) करेंगे या नहीं इसलिए कि आप अदब के उस्ताद है तनक़ीद लिखते रहते हैं, मैं क़ैफी को सरदार से कई दर्जा बेहतर शायर समझता हूँ, क़ैफी बहुत अच्छा शायर है। मैं अपने दोस्तों में जज़्बी को बहुत पसंद करता हूँ। ग़ज़ल का बहुत संजीदा और अच्छा शायर है। इधर वह जो ग़ज़लें कह रहे हैं अगरचे उनमें नयापन नहीं लेकिन उनकी दूसरी ग़ज़लों में जो धीमी-धीमी आँच का लुत्फ़ है वह आज भी जिंदा है। मख़दूम मजाज़, ये सब मेरे दोस्त रहे हैं। इन सब की मैं बहुत कद्र करता हूं। बड़ी ख़िदमत है उनकी 1 मैं आज एक बात ख़ासतौर पर रिकार्ड करवाना चाहता हूं कि इतना अर्सा गुज़र जाने के बाद इन दिनों अंजुमन तरक़्क़ी पसंद मुसन्निफीन के सरबराहों (अगुवा) में जो एक जज़्बा पैदा हो गया है वह इतना ही खतरनाक है जैसा कि पहले था। यानी अपनी शायरी के मंसब (अहमियत) के बारे में सोचना और इसरार करना कि इस वक़्त हम ग़ज़ल के सब से बड़े शायर हैं। ताबां साहब को देखिए। उनकी परेशानी भी यही है जबकि ताबां साहब की ग़ज़लों में मैं बहुत कम कैफियत पाता हूँ। ग़ज़ल को खूबसूरत होनी चाहिए, उसे सीधे दिल में उतरना चाहिए या कम से कम ग़ज़ल ऐसी तो होनी ही चाहिए कि आपको सुनने पर मजबूर कर दे। आप सुनने वालों से क्या कह रहे हैं ये तो उनको मालूम होना चाहिए। ये चीजें ताबां साहब के यहाँ कम हैं मगर जब हमारे तरक़्क़ी पसंद नक्कादों (आलोचकों) ने किसी पर कुछ नहीं लिखा, न अच्छों पर लिखा न बुरों पर लिखा तो इसका फ़ैसला वक़्त ही करेगा।

फ़ातमी : आप अपने बारें में बताइये कि आपने अब जबकि उम्र के अस्सी साल पूरे कर लिए हैं, उम्र और तखलीकी सफ़र की इस मंजिल पर आप अपने अंदर के रचनाकार को किस हद तक खुश पाते हैं। जो आप की ख़िदमत रही है अमली और इल्मी दोनों सतह पर आपको इसका रेस्पोन्स मिला? आपको नवाज़ा गया या नहीं? मैं यह सवाल इसलिए भी कर रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि आपकी पूरी ज़िंदगी संघर्ष में बीती है, आपने कभी समझौता नहीं किया।

वामिक़ : मैंने कभी समझौता नहीं किया। दूसरी बात ये है कि अदब में अपना मकाम हासिल करना, ये भी अपनी जगह एक आर्ट है और मैं कुबूल करता हूँ कि ये आर्ट मुझे नहीं आता। मैं समझता हूँ कि मेरा काम शेर कहते रहना है। बाकी काम दूसरों का है। मगर अब अंदाजा होता है कि थोड़े बहुत प्रोपेगंडे की भी ज़रूरत होती है। अगर किसी शायर का कलाम उसके अस्ल सुनने वालों तक नहीं पहुँच रहा है तो उसे पहुँचाना चाहिए। जाहिर है इसके लिए मशीनरी चाहिए, मौका चाहिए। मेरी गलती ये हो सकती है कि मैंने न उन मौकों का इस्तेमाल किया, न मशीनरी का और मुद्दतों बेनियाज़ (लापरवाह) रहा और सोचता रहा कि आज पहचान नहीं मिल रही है तो न सही, कल मिलेगी। इस ख़याल के तहत पिछड़ गया और मुझे नुकसान पहुँचा। अफ़सोस तो ये है कि मेरे कलाम को ठीक से पढ़ा ही नहीं गया। ध्यान भी नहीं दिया गया।

फ़ातमी : क्या यही वजह है कि आपके उतने कलाम नहीं छपे जितने छपने चाहिए थे।

वामिक़ : मैंने अच्छी तादाद में नज़्में ग़ज़लें कही हैं और उनमें ज़्यादातर छपी भी हैं। फिर आपने कितना कहा है इससे ज़्यादा अहमियत इसकी होती है कि कितने अच्छे शेर कहे हैं। मीर को पढ़िये तो मालूम होगा उन्होंने कितने अच्छे अशआर कहे हैं। पूरा दीवान तो अच्छा नहीं है ज़्यादा से ज़्यादा पाँच सौ शेर अच्छे होंगे जिन को आप तारीख़ी अहमियत देते हुए लाइब्रेरी में डाल दीजिए। आपने 'नई दुनिया को सलाम' पढ़ा होगा और आपने राही मासूम रज़ा की 'सन् 1857' भी पढ़ा होगा। मुझे तो बाद की नज़्म ज़्यादा अच्छी लगती है लेकिन इस नज़्म को लोग कम जानते हैं। कहीं इसका ज़िक्र नहीं मिलता जबकि वह एक खूबसूरत नज़्म है। इसी वजह से उसने राह बदल दी और फिल्म में लिखने लगा, पैसे कमाने लगा। इसी तरह परवेज शाहिदी, बहुत अच्छा शायर लेकिन उसको उन लोगों ने रगड़-रगड़ कर ख़त्म कर दिया। इस हद तक कि कलकत्ते में जब अंजुमन की काँफ्रेंस हुई तो इसमें भी उसको दोयम हैसियत भी नहीं मिली। मखदूम को ले लीजिए। इतना अच्छा और बड़ा शायर लेकिन उसे वह मकाम नहीं मिला जो मिलना चाहिए।

फ़ातमी : इसकी क्या वजह आप समझते हैं?

वामिक़ : इसकी सीधी वजह ये है बड़े शायरों ने ये समझ लिया कि ये तो बासलाहियत (गुणवाला) इंसान है अगर इसको ज़रा भी उंगली दी गई तो ये कलाई पकड़ लेगा और उनका चराग़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुर्म जाएगा।

फ़ातमी : इसका मतलब ये हुआ कि अंजुमन में बेईमान क़िस्म के लोग भी रहे हैं?

वामिक़ : बेशक रहे हैं जिसकी वजह से मुझे आज सच बोलना पड़ रहा है। हमारी नई नस्ल ने हमसे बार-बार कहा कि हमें खुल बताइये कि ये सब क्यों हुआ और किस तरह हुआ। अगर आप नहीं बताएंगे तो हम समझेंगे कि आप भी उन्हीं बेईमानों में से हैं। इन्हीं लफ्जों में हिन्दी के एक नक्काद ने हमसे पूछा तो हमें खुल बोलना पड़ा। सिर्फ़ चंद लोगों ने एक-दूसरे की तारीफ की, एक फ़िज़ा बना ली। चलिए हम कुछ भी नहीं तो मख़दूम, परवेज, मुईन को वह मकाम क्यों नहीं मिला?

फ़ातमी : वामिक़ साहब आपके ख़याल में ये मकाम जिसकी आप बार-बार शिकायत कर रहे हैं ये मकाम कौन देता है? क्या नक्काद देता है?

वामिक़ : कोई नहीं देता। ये तो आने वाला वक़्त ही देता है, भविष्य फ़ैसला करता है। इसीलिए मैंने कभी शिकायत नहीं की, लेकिन ये परेशानी तो आप लोगों ने ही उठायी है इसीलिए जवाब दे रहा हूँ।

फ़ातमी : कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि वक़्ती मायूसी से घबराकर इधर-उधर बहक जाते हैं जैसे अभी आपने राही मासूम रज़ा की बात की। क्या ये फ़नकार (कलाकार) के लिए मुनासिब है?

वामिक़ : हरगिज नहीं। मुझे देखिए मैं कभी घबराया? आज इस उम्र में जवानी से ज़्यादा ग़ज़लें व नज़्में कह रहा हूँ और मुझे किसी बात की फिक्र नहीं।

फ़ातमी : वामिक़ साहब अब मैं ज़रा अपनी नस्ल की बात करना चाहता हूँ। आप हमारे बुजुर्ग हैं आप जैसा सोचते हैं करीब-करीब मैं उसका कायल हूँ। इसमें शक नहीं तरक़्क़ी पसंद तहरीक (प्रगतिशील आंदोलन) अदब की एक बड़ी और इन्क़लाबी तहरीक रही है लेकिन हर तहरीक का अपना रोल होता है। अपनी एक उम्र होती है। हमने जब तहरीक को देखा तो वो बिखराव का शिकार थी।

वामिक़ : आपने तो मुर्दा तहरीक को देखा है। तहरीक क्या उसकी लाश को देखा है। हमने तो उसे जवान देखा है और जब उसका क़त्ल हुआ तोउसका दम घुटते हुए भी देखा है।

फ़ातमी : अगर आपकी नज़र में तहरीक मुर्दा हो चुकी है तो फिर आप लोग इस मुर्दा लाश को क्यों ढो रहे हैं? आप भी तो इस अंजुमन में हैं।

वामिक़ : ये ख़याल गलत है कि तहरीक का रोल खत्म हो गया। इसकी ज़रूरत हमेशा रहेगी। मीर के ज़माने में भी ये तहरीक थी, ग़ालिब के जमाने में भी थी मगर उसे कोई नाम नहीं दिया जा सका था।

फ़ातमी : मैं इस वक़्त तहरीक के नज़रिये की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि उस तहरीक की बात कर रहा हूँ जो 1936 में शुरू हुई और आज आपके क़ौल के मुताबिक मुर्दा हो चुकी है। मैं ये जानना चाहता हूँ कि इसमें नये लिखने वालों की तसल्ली बख़्श तादाद क्यों नही है?

वामिक़ : नौजवान इसलिए नहीं है कि उनमें बूढ़े हैं वह आज भी इस तहरीक से ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा उठा लेना चाहते हैं इसका पिंड नहीं छोड़ना चाहते अगर वह इस तहरीक से अलग हो जाएँगे तो उन्हें पूछेगा कौन? समाज की तरह अदब में भी एक जंग जारी रहती है। बहुत से लोगों ने हुकूमत से खामोश समझौता कर लिया है और इस तहरीक के उस आदर्श को ख़त्म कर दिया जिसको ये लेकर चली थी। अगरचे ये सारी बातें कागज पर नहीं हैं लेकिन ऐसा हुआ, तहरीक से जुड़ी ये एक तल्ख हकीकत है। लेकिन फ़ातमी साहब ऐसे भी बुजुर्ग हैं जो आज भी ये सोचते हैं कि तहरीक को उसी जोर-शोर से चलना चाहिए जैसा कि पहले थी। इसलिए कि कोई ज़माना ऐसा नहीं है जो मसाएल (समस्या) से खाली रहा है। फिर फ़ातमी साहब बुजुर्गों को जो बुरा भला करना था कर चुके अब नौजवानों को सामने आना चाहिए। हरगिज जरूरी नहीं है कि तहरीक इसी अंदाज से चले। ये अपना रूप बदल सकती है। अपना अंदाज बदल सकती है। लेकिन उसकी रूह वही रहनी चाहिए। आप जैसे नौजवानों को चाहिए कि सबसे पहले उन सरबराहों (आगे वालों) से कहें कि वह अदीबों की कुल हिंद कांफ्रेंस करें, अपनी कारकरदगी पेश करें। अगर नई नस्ल उनसे मुतमईन नहीं है तो नए लोगों को सामने आना चाहिए। अकसर नए अदीबों को पता ही नहीं है कि अस्ल में तरक़्क़ी पसंदी है क्या? मैनीफेस्टो क्या है? उन्हें बताने की ज़रूरत है लेकिन उन्हें तो कुछ पता ही नहीं।

फ़ातमी : वामिक़ साहब इस मुफ़ीद मशवरे के लिए मैं आपका शुक्रगुजार हूँ। मैं अब आपका ज़ेहन दूसरी तरफ़ ले जाना चाहता हूँ। आप न सिर्फ़ मुमताज़ तरक़्क़ी पसंद शायर हैं बल्कि मुशायरे के स्टेज के भी मकबूल (लोकप्रिय) शायर हैं। हिंदोस्तान का कोई भी बड़ा मुशायरा आपके बग़ैर मुकम्मल नहीं समझा जाता। आपने वो मुशायरे भी देखें हैं जिसमें जोश, जिगर, जैसे शायर शरीक हुआ करते थे। और मुशायरे का अपने एक वकार व मेयार (स्तर) हुआ करता था और अब आज के मुशायरे देख रहे हैं तो मुशायरे की बदलती हुई फ़िज़ा और उर्दू शायरी की ये ख़राब होती तहज़ीब के बारे में आप क्या राय रखते हैं।

वामिक़ : जी हाँ मैंने मुशायरे बहुत देखे हैं। मुशायरों का वह दौर भी देखा है जिसमें उर्दू के अज़ीम शायर शरीक होते थे। और आज के मुशायरों में भी कहीं शिरकत करता हूँ हालाँकि मैंने बहुत कम कर दिया है लेकिन बेहद इसरार पर चला जाता हूँ। आज के मुशायरे तो मुशायरे रह ही नहीं गए है। बिल्कुल मज़ाक होकर रह गया है। इसके जिम्मेदार हैं हमारे शायर और मुशायरे का इंतेजाम करने वाले। मैं एक बात कहूँ कि इसको भी ख़राब करने में तरक़्क़ी पसंद शायरों का हाथ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ातमी : अच्छा ये बताइये कि अस्सी साल की इस उम्र में आज आप क्या महसूस करते हैं? मेरी मुराद है जब कभी आप खुद एहतेसाबी के अमल (मूल्यांकन) से गुजरते हैं तो ये ख़याल जरूर आता होगा कि आप अपनी शायरी के ज़रिये अवाम को क्या देना चाहते थे और क्या दे पाये, आप किस नतीजे पर पहुँचते हैं?

वामिक़ : मैंने इस सिलसिले में एक जगह लिखा भी था। आपसे भी वही बात दुहराता हूँ कि फ़नकार (अदीब) का अपनी ख़िदमत या अपनी तख़लीकात (रचना) की तरफ़ से मुतमईन हो जाना सही नहीं है। फिर भी मैं बड़ी हद तक अपनी तख़लीकात की तरफ़ से मुतमईन हूँ और इस पर भरोसा रखता हूँ कि इसमें मैंने अपने ख़ून का आखिरी कतरा तक लगा दिया है और इससे ज़्यादा मेरे बस में न था। इसके लिए मैं किसी सनद (प्रमाण) की भी ज़रूरत महसूस नहीं करता।

फ़ातमी : एक तरफ़ आप सनद की ज़रूरत महसूस नहीं करते दूसरी तरफ़ आप नक्कादों की बेज़ारी का शिकवा भी करते हैं।

वामिक़ : देखिये ये एक स्वाभाविक बात है मैं भी आखिर इंसान हूँ। मैंने इस अंजुमन के साए में पचास साल से ज़्यादा गुजारे हैं, तकलीफें बर्दाश्त की हैं, नौकरी छोड़ी है और फिर एक ज़माने में मेरी शायरी की तूती बोल रही थी, मेरा गीत 'भूखा है, बंगाल रे साथी' इस जमाने का सबसे अच्छा इन्केलाबी व अवामी गीत समझा गया। सज्जाद ज़हीर ने रौशनाई में लिखा, वामिक़ की ये नज़्म सुनहरे हुरूफ में लिखे जाने के काबिल हैं। ताज्जुब है कि तरक़्क़ी पसंद अदब की तारीख़ में इसका कोई ज़िक्र नहीं मिलता। इसके बाद मैंने उर्दू ज़बान-व-अदब का पहला सटायर लिखा 'मीना बाज़ार' जो बहुत पसंद किया गया। लेकिन आज तक किसी बडे नक्क़ाद ने इसको तवज्जो के काबिल नही समझा। आज़ादी के बाद पंजाब के बंटवारे और गांधीजी के क़त्ल पर मेरी नज़्में अब तक लोगों की जबान पर हैं। बंबई की एक अदबी नशिस्त में कृष्ण चन्दर ने 'तकसीमे-पंजाब' को सुनकर कहा था कि मन्टो के 'ठन्डा गोश्त' का इससे बेहतर जवाब नहीं हो सकता। 1951-52 में आलमी अम्न (वैश्विक शांति) पर मैंने एक लंबी नज़्म 'नीला परचम' लिखी थी जो बहुत पसंद की गई। इसकी गूँज सोवियत रूस तक पहुँची मगर वह भी ब्लैक आउट का शिकार हो गई। मैंने उर्दू में पहली ओड (गीतनाट्य) लिखी 'ज़मीन' जो अपने उसलूब (स्टाईल) व हैयत (बनावट) के ऐतबार से एक इज़ाफ़ा (योगदान) थी। अलीगढ़ के एक अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर ने कहा कि 'ज़मीन' अंग्रेज़ी के तमाम गीत नाट्यों से बेहतर हैं। अली अब्बास हुसैनी और डॉ. जाकिर हुसैन का कहना था कि वामिक़ की 'ज़मीन' एक ज़िंदा नज़्म है मगर नक्क़ाद इस पर भी कलम उठाते हुए डरते हैं। इसके बाद मैंने अपनी नज़्म 'फन' लिखी जिसके मौज़ू (विषय) ने सभी को हैरान कर दिया। मगर अदब में इसका हवाला भी नहीं मिलता। इसके अलावा 'वक़्त' और 'सफ़रे-नातमाम' बड़ी हिट हुई। दिलचस्प बात ये है कि बाद की इन नज़्मों ने हिन्दी के नए अदीबों और नक्क़ादों को चौंकाया और वो नए सिरे से मेरी तरफ़ ध्यान देने लगे। आज हिन्दी में कई जगह मेरी शायरी पर काम हो रहा है।

फ़ातमी : काम तो खैर उर्दू में भी हो रहा है। लेकिन इस बेज़ारी की बुनियादी वजह आप क्या समझते हैं?

वामिक़ : उर्दू तनक़ीद की बुनियादी कमज़ोरी ये है कि वह अभी भी तनक़ीद के उसूल बनाने में उलझी हुई है। इसने अमली तनक़ीद तो की ही नहीं। ऐसा करने से नक्क़ाद डरते हैं। फिर उनकी अपनी मजबूरियाँ हैं।

फ़ातमी : चलिए, उर्दू तनक़ीद की इस कमज़ोरी को मान भी लिया जाय लेकिन आप तो उन बेनियाज़ शायरों में से हैं जिसने सारा का सारा फ़ैसला वक़्त पर छोड़ दिया है। ये एक अच्छी बात है। कुछ तो फ़ैसला वक़्त कर रहा है कुछ आगे चलकर करेगा। आपकी बाक़ायदा एक हैसियत है। नज़्म के शायर की हैसियत से आपकी अपनी पहचान है और मुस्तक़बिल में भी रहेगी, लेकिन वामिक़ साहब आपने तो ग़ज़लें भी कहीं हैं।

वामिक़ : जी हाँ मैंने ग़ज़ले भी कही हैं जिनमें आपको नए मज़ामीन (विषय) नयी अलामतें (प्रतीक) और नया फिक्री लहजा मिलेगा। हैरत की बात है कि वह भी उर्दू के नक्क़ादों की नज़रों से नहीं गुज़र सकी। मैंने शायरी में हर तरह से बड़े तजरबे किये हैं। पूरबी बोली में लोकगीत और बच्चों के लिए छोटी-बड़ी और आसान ज़बान में नज़्में कहीं हैं। आज सोचता हूँ कि क्या वाकई मैंने अदब को कुछ नहीं दिया या इस ब्लैक आउट के पीछे कोई बड़ी साज़िश काम करती रही है।

वामिक़ साहब पूरे फॉर्म पर थे। उनको उर्दू के नक्क़ादों से शिकायतें ज़रूर थीं मगर वह मायूस हरगिज नहीं थे। इसीलिए कि उन्हें पता है कि उनकी शायरी और उनके कुछ मिस्रे मुहावरों की तरह अवाम की ज़बान पर रचे बसे है। मेरे ज़ेहन में कुछ और बातें थीं लेकिन मैंने उन्हें रोका कि वह कुछ आराम कर सकें। उनकी गुफ़्तगू में कमज़ोरी झलक रही थी। चाय फिर आई और हम चाय के घूंट के साथ वामिक़ साहब का ताजा कलाम सुनते रहे। आनन्दित होते रहे। इस उम्र में उनके जोश वलवले से हम एक नये हौसले का सबक लेते रहे जो हमारे दिलों में समा रहे थे। ये साफ़ महसूस हो रहा था कि इस अज़ीम, खुद्दार और हिम्मत वाले शायर ने जितनी बातें कहीं जितनी शिकायतें की उनमें बड़ी हद तक सच्चाई है। इस शायर ने हमें बहुत कुछ दिया लेकिन हम उसे क्या दे सके। शायरी घाटे का सौदा है, एक जुनूनी अमल है लेकिन फिर भी उसकी आवाज़ कभी-कभी बड़े-बड़े ताजो-तख़्त को हिला देती है। वामिक़ साहब की शायरी ने भी कुछ ऐसा ही किया है तो फिर वाकई उर्दू तनक़ीद इतनी ख़ामोश क्यों है। वाकई कोई साज़िश काम कर रही है, अगर कर रही है तो फिर इसका फ़ैसला भी वक़्त कर देगा।

उर्दू विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक़ जौनपुरी के हवाले से : कुछ गुफ़्तनी, कुछ ना गुफ़्तनी

अली अहमद फ़ातमी

सिद्ध प्रगतिशील कवि वामिक़ जौनपुरी की आत्मकथा का नाम है 'गुफ़्तनी, ना गुफ़्तनी' यानी (कही अनकही)।

हम सब जानते हैं कि आप बीती (आत्मकथा) में जितनी गुफ़्तनी होती है उतनी ही ना गुफ़्तनी-इसलिए कि इसमें बाहर से ज़्यादा अंदर ज़ाहिर होता है। ज़ुबान से ज़्यादा आत्मा हम कलाम होती है क्योंकि हर बड़े फनकार शायर दानिशवर के कुछ औराक़ अनपढ़े भी हुआ करते हैं जैसा कि किसी शायर ने कहा है-

"है हर इक शख़्स जहां में वरके ना ख़्वादह" (अनपढ़ा)

इस प्रकार से वामिक़ की इस आप बीती या उनकी शायराना हैसियत पर बात करना मुश्किल है क्योंकि उन्होंने गुफ्तनी तो कह दी, ना गुफ़्तनी रह गई। ना गुफ्तनी प्रकाशक के हवाले-"मौलाना आजाद की रवायत के मुताबिक तीस साल बाद"

स्वयं वामिक़ कहते हैं- गुफ़्तनी तो ख़ैर ठीक है नागुफ़्तनी मसअला बन गयी। मेरे बच्चों ने खासतौर पर जोर डाला और उन्होंने मेरे बजाये मेरे बच्चों का कहना माना और बिलआखिर पांच दिन सोचते सोचते वह हिस्सा निकाल दिया, मगर मैं इस पर राजी नहीं हूँ। सो गुफ्तनी यहाँ देख लीजिए। नागुफ्तनी आपको कहीं और मिल जायेगी।

इसलिये इस अधूरी किताब पर बात भी अधूरी सी ही हो सकती है। लेकिन यह अधूरी गुफ़्तनी भी चार सौ सफ़हात (पेज) ज़्यादा में फैली हुई है और मेरा ख़याल है कि नागुफ़्तनी का संबंध ख़ानदान और रिश्तेदार वगैरह से ज्यादा है। एक शायर और उसकी पसंद दानिशवर की आत्मकथा वास्तव में उसके फिक्रो शऊर के वह प्रेरक तत्व हैं, वो तजरबात और हादसात हैं जिसने मुहम्मद अहमद मुज़तबा से वामिक़ जौनपुरी बनाया। ज़ाहिर है कि हम वामिक़ जौनपुरी की आपबीती पढ़ रहे हैं अहमद मुज़तबा की नहीं। इसलिए अगर संजीदगी और बग़ौर इस अपबीती को पढ़ा जाय तो महसूस होगा कि गुफ्तनी-नागुफ्तनी और ना गुफ्तनी-गुफ्तनी में तब्दील हो गई है। एक दिलचस्प हमारा ज्ञानवर्धन करने वाली और हिम्मत बढ़ाने वाली आपबीती बन गई है जैसा कि आप सबका मिजाज़ हुआ करता है।

और क्यों न हो। वामिक़ केवल कवि न थे बल्कि चिंतक और बुद्धिजीवी भी थे। सोचने वाला तख़लीक़ी ज़ेहन भी रखते थे। वह अगर शायरी के असरारो-रूमूज़ से वाकिफ थे तो आपबीती के फिक्रो-फ़न से भी। तभी तो प्रस्तावना में ही आपबीती की मुश्किलात और दरजात पर मुखलिसाना व अजिज़ाना बात करते हैं जिसकी शुरूआत मानटेग के इन वाक्यों से होती है- 'खुद अपनी जात से मुताल्लिक बातें करने से ज़्यादा मुश्किल कोई और जिक्र नहीं होता-'जो लोग संजीदा, वज़ादार और खाकसार होते हैं उनके लिए यह घड़ी वाकई मुश्किल होती है और बिला शको-शुब्हा वामिक़ ऐसे ही ख़ाकसार और शरमीले किस्म के इन्सान थे। थोड़े से गोशा नशीन और काहिल भी- कुछ और सच्चाइयाँ या आदतें भी थीं जो सच पूछिए तो आप बीती के फ़न के खिलाफ जाती हैं। वह खुद लिखते हैं-

"मेरी जिंदगी जिसमें न कोई चका चौंध(ग्लैमर) है और न ही शखसियत के गिर्द इतना बड़ा हाला। किसी नौअ का भी ग्लैमर इतने बड़े धोके की टट्टी होता है कि इसमें फनकार की असल हैसियत और शख्सियत गुम हो कर रह जाती हैं। ग्लैमर एक ऐसा कमज़ोर बनावटी चेहरा है कि जिसको जरा कुरेदने से असली चेहरा नज़र आने लगता है-"

यह तो हुआ बयान और यह है सच्चा ऐतराफ (स्वीकारोक्ति) जो आप बीती का असल जौहर हुआ करता है-

इसके बावजूद वामिक़ जानते हैं कि वाकआत का चुनाव आपबीती का अहम पहलू होता है और वह यह भी जानते हैं कि इस अमल में अपनी ज़ात मरकज (केन्द्र) में ज़रूर होती है। लेकिन ज़ात और कायनात, (दुनियाँ) शख़्स और शख्सियात, मआश और मआशरत आपस में मिल जाते हैं। फिर एक अहेद जाहिर होता है और एक तहज़ीब जन्म लेती है। इस तहज़ीब से नमूदार होती है मुसन्निफ (लेखक) की ज़ाते-गेरामी जो एक बड़ी पृष्ठ भूमि में अपनी पहचान कायम करती है। अगर यह पृष्ठ भूमि न हो और इसी तनाज़ुर में तजज़ियाती अमल भी न हो तो वामिक़ यह नहीं कह सकते थे कि 1941 ई. के बाद वह मुशायरों में सबसे ज्यादा शिरकत करने वाले तरक्कीपसंद शायर थे और यह शिरकत केवल शिरकत के लिये शिरकतन थी या पैसा कमाना भी न था बल्कि वामिक़ की ही जबान में-'मेरा हमेशा से यह ख़याल रहा कि तरक्की पसंद शायरी सिर्फ तालीम याफ़्ता तबक़े की तसकीन के लिए नहीं है। इसमें बड़ा हिस्सा अवाम और मेहनतकशों का है इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरक्की पसंद अदब नज़्मों, ग़ज़लों और अवामी गीतों की शक्ल में अनपढ़, पढ़े-लिखे मेहनतकश अवाम तक अधिक पहुंचाया जाय। इसमें दोहरे फायदे हैं। एक तो यह कि उनका सक़ाफ़ती (तहज़ीबी) और सियासी शऊर (राजनैतिक समझ) और उनमें अपने मसाईल को हल करने का जज़्बा परवरिश पाता रहे, दूसरी तरफ फ़नकार को उनकी कुरबत (निकटता) नसीब होती रहे जिससे उनकी ज़िंदगी और मुश्किलों को सीधे तौर पर समझने का मौक़ा मिलता रहे। यह भी एक हकीकत है कि अरबाबे-अदब के करम से मैं कागज पर कम पढ़ा देखा गया हूं अलबत्ता जितना ज्यादा करीब से मेहनतकश अवाम को मैंने देखा है और उन्होंने मुझको देखा है कि दूसरे तरक्की पसंद शायर को नसीब न हुआ।'

यह ऐलान और यह भरोसा यूँ ही नहीं होता। इसकी पृष्ठभूमि में जिंदगी की वह जंगें हैं जिनका अनुभव फ़नकार कभी अपने घर से, कभी अपने समाज से बराबर करता रहता है। फिर इस जंग को अगर नज़रिया (दृष्टिकोण) मिल जाय तो ज़िंदगी को अपना जीवन दर्शन मिल जाता है। लेकिन नज़र को नज़रिया और सोच को फ़लसफा बनने में एक उम्र तो लगती ही है। कभी-कभी फिर भी दामन खाली ही रहता है। शेर (कविता) तो होते हैं लेकिन शायरी नहीं होती। वाकआत भी होते है आपबीती नहीं होती। यह उसी वक़्त होता है जब लेखक में कुछ कर दिखाने का जज़्बा हो। प्राप्त जीवन मूल्यों को अस्वीकार वामिक़ में यह सब कुछ था। हालांकि वह एक जमींदार व जागीरदार घराने में पैदा हुए। खुशहाल घराना था। वालिद अंग्रेज हुकूमत के आला ओहदे पर थे। ऐशो-आराम था। उर्दू, फारसी के साथ अंग्रेजी का शोरो-ग़ोग़ा था, ऐसे में एक नौजवान जो खलंडरा है, काहिल है, पढ़ने-लिखने से जी चुराता है अचानक एक प्रसिद्ध अवामी और इन्केवाबी शायर कैसे बन गया। जाहिर है कि ऐसी कहानी दिलचस्प और हैरत में डालने वाली तो होगी ही।

किताब के पहले हिस्से में खानदान का शज़रा और दूसरे हिस्से में जौनपुर का किस्सा है। अच्छी बात यह है कि यह हिस्से छोटे हैं। वामिक़ का असल किस्सा तो तीसरे हिस्से से शुरू होता है जहां वह खुद कहते हैं कि वह 23 अक्तूबर 1909 ई. में जौनपुर के कस्बा कजगांव में पैदा हुए। बड़ा घर, बड़ी घिरौंची, बड़ें-बड़ें दालान और उतने ही बड़े-बड़े घर के लोग। मां, बाप दादी, मामू, कम उम्री में तो यही सब याद रहता है लेकिन यह सब यादें हैं आप बीती नहीं-वामिक की महसूसात की दुनिया जन्म लेती हैं। बारहबंकी में जहां उनके पिता नौकरी करते थे। अच्छे ओहदे पर थे तो अच्छी शिक्षा होनी चाहिए लेकिन वामिक़ का पढ़ाई में जी न लगता था। ऐसा न था कि वह पढ़ते न थे लेकिन रवायती पाठ्य पुस्तकों के पढ़ने से घबराते थे।

बारहबंकी से हाईस्कूल पास किया कि तबादला हो गया और फ़ैज़ाबाद से इन्टर पास करना पड़ा। खेलकूद में दिलचस्पी ज़्यादा हुई, दोस्त अहबाब भी बढ़े। ऐसे ही एक दोस्त के ज़रिए फ़ैज़ाबाद की अख़्तरी बेग़म जो बाद को बेगम अख़्तर के नाम से मशहूर हुई, उनसे और उनकी बेटी से मुलाकातें हुईं, जो खासी दिलचस्प हैं और जो बदलते हुए वामिक़ के ज़ेहन का पता देती हैं। वह साफ कहते हैं कि- बारहबंकी से फ़ैज़ाबाद की वापसी पर एक बदली हुई शखसियत का मालिक था। इस बदली हुई शखसियत ने धीरे-धीरे मुल्क और समाज के बारे में सोचने पर मजबूर किया। अभी वह फ़ैज़ाबाद में ही थे कि फ़ैज़ाबाद सेंट्रल जेल में अशफ़ाकउल्ला खाँ की फाँसी का वाकेआ हुआ। जिसने उस शहर और उस अहद के बेफिक्र नोजवानों को भी सोचने पर मजबूर किया। खुद लिखते हैं-

"हुकूमते बरतानिया के बेशुमार मज़ालिम में यह एक ऐसा जुल्म था जिसने मुझ जैसे बेफिक्रे को भी अशफाक उल्ला ज़िंदाबाद, महात्मागांधी जिंदाबाद, अंग्रेज़ हुकूमत मुर्दाबाद, बरतानिया मुर्दाबाद के नारे लगाने पर मजबूर कर दिया था।"

एक तरफ यह समाजी और सियासी कैफ़ियत और दूसरी तरफ फितरी उफ़्तादे-तबीयत कि किसी से नज़र नीची करके या दब के रहना मेरी उफतादे तबा (आदत) के खिलाफ था। एक नौजवान व्यक्ति में एक खिलाड़ी, आशिक, फनकार, वतन परस्त, सब आपस में घुल मिल रहे थे और वह गर्वित स्वभाव खानदानी कम निज़ी ज़्यादा था जो एक रोमानियत में ढल रहा था। यही वजह है कि उसने मुस्लिम बोर्डिंग हाऊस इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में भी सीनियर्स से दबने न दिया, लेकिन वह जल्द ही इलाहाबाद छोड़कर लखनऊ चले गये जहाँ उनका दाखिला बी.ए. में हो गया। वहाँ उनको ऐसा माहौल और ऐसे शिक्षक मिले जिन्होंने मुल्क, समाज, इन्सान और इन्सानियत के बारे में संजीदगी से सोचने पर मजबूर किया।

प्रो. मुकर्जी ने वामिक़ की ज़िंदगी का रूख बदल दिया। वह पानी जो अपनी राह बनाने के लिए बेचैन था धारा बन कर बह निकला। फिर क्या था, अंगारे का मजमुआ (संग्रह) बिक रहा है। अंजुमन तरक्की पसंद मुसन्नीफ़ीन की पहली कांफ्रेंस के टिकट बेचे जा रहे हैं। प्रेमचंद, अब्दुल अलीम और सबसे बढ़कर सज्जाद ज़हीर से मुलाकातें हो रही हैं। प्रेमचंद के अध्यक्षीय भाषण ने वामिक़ के दिलो दिमाग को पूरी तरह रौशन कर दिया।

वामिक़ का रूपांतरण हो गया। ज़ेहन को विज़न मिल गया। सोच और नज़रिये को विस्तार मिला और सम्मानजनक आधारभूमि मिली। बड़े-बड़े लोगों की बड़ी-बड़ी बातों ने इन्केलाब बरपा कर दिया। पिता इंजीनियर बनाना चाहते थे। वह वकील बनें। खानदानी रवायत जागीरदार बनाना चाहती थी लेकिन ज़मीर की सच्चाई ने बाग़ी और अवामी शायर बनने पर मजबूर किया। यह सब तहरीरों की कोख से फूटता है। सादा बयानी पूरी सच्चाई और सादगी के साथ कि जो आप बीती का असल गुण हुआ करता है।

खुदा शकर खोरे को शकर ही देता है। फ़ैज़ाबाद से वकालत की शुरूआत की तो यहां भी सीनियर वकील के तौर पर गनपत सहाय मिले जो वकील कम क़ौम परस्त कांग्रेसी लीडर ज़्यादा थे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अंग्रेजों से सख्त नफ़रत करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ अच्छे ज़ौक़ हुकमा और तरक्की पसंद शोअरा से मुलाकातें रहीं जिन में मजरूह, खुमार खास थे। वामिक़ जो पहले शैदा थे यानी रवायती क़िस्म के शायर अब वामिक़ हो गये यानी अवाम से प्यार करने लगा। 'नया अदब' की इशाअत, (प्रकाशन) जोश, जज़्बी की गिरफ्तारी, एहतेशाम हुसैन, मजनूँ के आलिमाना मज़ामीन, मार्कसिज़्म का मुतालेआ और फिर 1941 ई. में गोरखपुर का यादगार मुशायरा। इसी मुशायरे में मजाज़, सरदार वगैरह से पहली मुलाक़ात हुई। इसी मुशायरे में सलाम मछली शहरी ने कोई नज़्म ऐसी पढ़ी जो सदे बहरा था, जो अच्छे-खासे जागीरदार थे उन्हें ऐतराज़ हुआ। वावैला हुआ। मुशायरा रूक गया। लेकिन ज़िद और जवाब में तरक्की पसंद शायरों ने दूसरे दिन मुशायरे का ऐहतेमाम (बंदोबस्त) किया। इस मुशायरे के बारे में वामिक़ लिखते हैं-

"शब में मुशायरा हुआ जिसमें बेहद जोशो खरोश था। इन्क़ेलाबी नारे भी लगे थे और सामईन (सुनने वाले) की तादाद कॉलेज के मुशायरे से कहीं ज़्यादा थी और जिसमें जुमला तरक्की पसंद शोअरा ने अपना इन्क़ेलाबी बाग़ियाना कलाम सुनाया जो बहुत ज़ौको-शौक से सुना गया। मेरे पल्ले तरक्की पसंद कलाम का कोई ज़खीरा तो न था। अलबत्ता तहरीक में अपनी शमूलियत (भागीदारी) का बाकायदा ऐलान करते हुए जो क़तआ मैंने वहाँ सुनाया वह यह था।

"दरिया में तलातुम बरपा है कश्ती का फ़साना क्या मानें,
गिरदाब से जब लड़ना है तुम्हें तिनके का सहारा क्या मानें।"

यह नौहए कशती बंद करो खुद मौजए तूफ़ां बन जाओ।
पैरों के तले साहिल होगा साहिल की तमन्ना क्या मानें।

इस मुशायरे ने वामिक़ की शख्सियत को बदल कर रख दिया।

"पेशए, वकालत को ख़ैर बाद (अलविदा) कह के वतन वापस चला आया और सबसे पहला काम यह किया कि 1940, 41 ई. में मश्के सुखन के लिए रवायती किस्म की गजलें कही थीं उनको तलफ़ (नष्ट) कर डाला और तरक्की पसंद तहरीक की तलाई हुई हकीकत निगारी की राह पर अपना दीनो-ईमान समझ कर चल पड़ा।"

तलाशे-मआश में देहली की तगो-दो, बेरोजगारी, चाय नोशी, शराब से दूरी वगैरह का ज़िक्र भी खूब है। 1942 ई. में लखनऊ आना हुआ। यहाँ मजाज़ सिबते हसन के अलावा अली अब्बास हुसैनी, रशीद जहाँ, एहतेशाम हुसैन वगैरह से मुलाकातें। यह वह दौर था जब मजाज़ की 'आवारह', जोश की 'फरज़नदाने-ईस्ट एण्डिया' और रशीद जहाँ के अफसानों की धूम थी। देहली में सरदार, मीराजी, बुख़ारी, अखतरूल, ईमान वगैरह से मुलाकातें, अख़बार पढ़ना, शेर कहना, बहसें, कलकत्ता का सफर, बंगाल का काल, भूख, अफलास (गरीबी) के कर्बनाक (तकलीफ़ देह) मनाजिर, लाशों का ढेर, गरज कि इन सब का बेपनाह असर। वापस जौनपुर आये तो दिलो-दिमाग पर क़हते-बंगाल सवार था। बस फिर क्या था। एक भरपूर इन्सान, दोस्त और तरक्की पसंद शायर बेदार (जाग्रत) हुआ और इल्हाम हुआ, नाजिल हुआ वह गीत जिस ने वामिक की शायराना शखसियत बदल कर रखदी।

"पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला सुख का काल।" भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल

इस गीत ने वामिक़ को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। रोशनाई में सज्जाद जहीर ने माना है कि तहरीक के हवाले से अवामी व इन्क़ेलाबी गीतों में वामिक का यह गीत सुनहरे हर्फों (शब्दों) में लिखे जाने के क़ाबिल है।

इसी गीत की मकबूलियत और शोहरत ने वामिक को नौकरी दिलवाई और वह 1944 ई. में ऐरिया राशनिंग आफिसर हो गये। बनारस में पोस्टिंग हुई लेकिन नौकरी क्या थी खिदमते खल्क (समाज सेवा) का एक बहाना था। बनारस में नज़ीर बनारसी से मुलाकात हुई। हिन्दी के कवि शिव मंगल सुमन से भी कुर्बत (नजदीकी) हुई। दोनों ने मिलकर यहां अंजुमन की शाख़ क़ायम की। यहाँ की नशिस्तों (गोष्ठी) में भी उन्होंने अपनी एक और मशहूर नज़्म 'मीना बाजार' लिखी और शोहरत पाई। इसके बाद वह 1945 ई. में जब मुमताज हुसैन के साथ हैदराबाद की काफ्रेंस में शिरकत करने गये तो अजीब बात हुई कि दोनों ही कुछ पढ़ न सके। एक अजीब सी तल्ख़ी क़ायम हुई जो आख़िर दम तक बाकी रही। इसी मक़ाम पर वह बेबाकाना तौर पर यह भी कहते हैं-

"अंजुमन तरक्की पसंद मुसन्नीफीन में हमेशा चंद ऐसे खुद ग़र्ज और गिरोह बंद अफराद रहे हैं जो हमेशा मुल्क में हर जलसे, कांफ्रेंस या सेमिनार में दो चार दिन पहले से पहुंचकर अपने कदम जमा लेते और तकसीमे-कार की लीडरशिप जिस क़दर मुमकिन हो अपने हाथ में लेने की महारत रखते थे। चुनानचे यहां भी उन्होंने ऐसा ही किया और अब तक ऐसा ही करते रहे हैं। हैदराबाद काफ्रेंस में पाँच, छः इजलास हुए, ज़िमनी कमेंटियां बनीं। मक़ाले और मज़ामीन पढ़े गये या तहरीक के मफाद (उन्नति) के लिए फैसले लिए गये। मगर उन लोगों ने अपने या अपने दुम छल्लों के अलावा किसी दूर उफतादह या नये अदीबों को अमली हिस्सा लेने का कोई मौक़ा नहीं दिया।

इस काफ्रेंस में मुमताज शीरीं भी थीं। वह भी कुछ न पढ़ सकीं। इसी मकाम (जगह) पर हसरत मोहानी के बारे में पहले यह लिखा-

मौलाना हसरत मोहानी को इससे पहले कहीं इतने जोश और गैज़ में नहीं देखा गया। मौसूफ़ का तैश इस बात पर था कि तहरीक के जरीदे (मैग्जीन) का नाम 'कौमी जंग' क्यों रखा गया है।

इसके बाद यह भी कहा-"जुर्रात (हौसला) एखलास (दोस्ती) और दयानतदारी (ईमानदारी) का उनसे बेहतर नमूना हिंदोस्तान ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं पैदा किया।''

हैरत की बात है कि फहाशी (बेहयाई) से मुताल्लिक बहस और तकरार के बारे में कुछ न लिखा जो इस काफ्रेंस का दिलचस्प और यादगार वाकेआ है और जो अंजुमन की जमहूरियत का भी पता देता है।

1945 ई. के आख़िर में पिता के देहान्त ने भी वामिक को संजीदा और जिम्मेदार बना दिया। इसी साल हीरोशिमा पर बम भी दाग़ा गया। लाखों लोग मर गये। जाती ग़म, कायनाती ग़म में बदल गया। दो बरस के बाद हिंदोस्तान आज़ाद तो हुआ लेकिन तकसीम (बंट) भी हो गया। आलमी (सांसरिक) और कौमी अलमिये को वामिक ने बड़े दिलदोज़ अंदाज़ में लिया। एक तरफ यह कहते हैं- आलमे-इन्सानियत का ज़मीर खुद को मुजरिम महसूस करने लगा और दुनिया के फ़ना होने के इमकानात नजर आने लगे, तो दूसरी तरफ मुल्क के हालात देखकर लिखते हैं, मुल्क क्या तकसीम हुआ कि मुल्क का हर घर तकसीम हो गया हर, खानदान तकसीम हो गया, हत्ता कि हर फ़र्द तकसीम हो गया. ... गांधीजी की मौत, फ़सादात वगैरह ने हर तरक्की पसंद शायर और अदीब को झिंझोड़ कर रख दिया।

तहरीक के नज़रियात और आजादी से पहले और बाद के हादसात ने इकबाल, जोश जैसे क्लासिकी लबो-लहजे के शायरों से भी मजदूर और किसान के मौजूआत पर नज़्में कहने पर मजबूर कर दिया। जोश तो आगे तक गये। हर चंद कि इन सब नज़्मों को पूरे तौर पर अवामी और इन्केलाबी नहीं कहा जा सकता। लेकिन इन नज़्मों की धमक बहरहाल ऐसी थी कि तरक्की पसंद शायरों का एक बड़ा हिस्सा ऐसे मौजूआत की तरफ न सिर्फ मोतावज्जह हुआ अपने अपने अंदाज में अवामी मौजूआत पर तबा आजमाई करने लगा। फैज़, मजाज़, सरदार, मख़दूम, साहिर, कैफ़ी वगैरह एक तरफ थे तो वामिक़, मतलबी फरीदाबादी, सलाम मछलीशहरी, नाज़िश प्रतापगढी वगैरह दूसरी तरफ। पहले ग्रुप के शेाअरा ने यकीनन आवामी मौज़आत को हाथ लगाया और अपने तरक्की पसंद नज़रियात में डूबकर आम इन्सानों के दुख-दर्द के बारे में उम्दा नज़्में तखलीक कीं जो उर्दू की नज़्मियां शायरी का कीमती हिस्सा हैं लेकिन उनको उस तरह की अवामी शायरी नहीं कहा जा सकता जैसी कि वामिक़ और दूसरे अवामी शोअरा ने की। इसलिए कि उनके मैजूआत जरूर अवामी हैं लेकिन उनका तरीका और लहजा अवामी नहीं के बराबर है। इससे अदब और अवाम के रिश्तों को एक नई मजबूती और पहचान मिली। जिंदगी, समाज, अवाम के मसाइल (परेशानियां) और उनके दुख-दर्द को एक नई पहचान मिली।

दूसरे दर्ज़े के शोअरा में वामिक सरे फेहरिस्त हैं जिन्होंने शऊरी तौर पर अवामी और इन्केलाबी शायरी की और यह भी कोशिश की कि उनमें वह लहजा और आहंग (बयान) भी पैदा हो सके जो अवामी शायरी या किसी हद तक लोक शायरी का बड़ा हिस्सा हुआ करता है और यही वजह है कि तरक्की पसंद तहरीक की बुलंदी के दौर में अवामी सतह पर जो मकबूलियत वामिक़ की बाज़ नज़्मों को मिली वह किसी दूसरे तरक्की पसंद शायर के हिस्से में न आयी। 'भूखा है बंगाल' जैसी उनकी अनेक ग़ज़लों में एक है।

जय जय भारत माता
जय जय भारत माता
हम सारे मजदूर भिखारी
हैं तेरे चरनों के पुजारी
कोई तो अब छाती से लगाता
जय जय भारत माता
जय जय भारत माता
हम सब मेहनत करने वाले
जग की खातिर मरने वाले
आपस में जोड़ेंगे नाता
जय जय भारत माता
(मजदूरों का कोरस)
फिर उठा तूफान
रस्ता है अनजान
मांझी है हैरान
सपनों में (तेज़ी) फिर उठा तूफान
जीना है जंजाल
देस बना कंगाल
हर भूमि बंगाल
हर बस्ती वीरान फिर उठा तूफान (गीत)

वामिक़ की और भी नज़्में हैं जिनके शीर्षक उन्हें अवामी शायरी की तरफ लाते हैं जैसे जमीन, ईद, बुढुआ मंगल, जाड़े की चाँदनी, रात के दो बजें, तकसीमे-पंजाब, नीला परचम, मीरे-कारवाँ आदि। इन नज़्मों में अवामी बातें हैं, मसाइल हैं, आह और आँसू है। गरज़ कि सब कुछ है लेकिन वह लबो-लहजा नहीं है जो इसे खालिस अवामी शायरी के दायरे में ले आये। वामिक़ इन नज़्मों को अच्छी नज़्म तो बना पाये और उन्होंने इनके जरिए इन्केलाब, अवामी जद्दो-जहद को एक नयी आवाज़ और जोश दिया। (पैरों की मजबूती में लड़खड़ाहट) उनके अंदर का आम इंसान और तरक्की पसंद शायर उनसे कभी अलग नहीं होता। यही वजह है कि उनकी शायरी सिर्फ मन बहलाने या वक्ती जरूरत बनकर सामने नहीं आती बल्कि आम आदमी के शोषण और बुरे हाल पर सवालिया निशान कायम करती है और उनमें फिक्र की वह कैफियत पैदा होती है जो एक नई किस्म की फिक्रयात और शेरयात से दो चार करती है।

यही वजह है कि वामिक़ ने किताबों और रिसालों से ज़्यादा मुशायरों और अवामी स्टेज को ज्यादा अहमियत दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक जिस किस्म की नज़्में ग़ज़लें कहते थे उनका अवामी व ऐहतेजाज़ी रंग मुशायरों में ज्यादा पसंद किया जाता। उस वक्त के मुशायरे भी आज के जैसे न थे। उनकी अपनी अवामी और तहज़ीबी शान थी। सच तो यह है कि वामिक़ ने जिस तरह मुशायरों को अहमियत दी उनका महत्व बढ़ाया। मुशायरों ने ही वामिक़ को ज़िंदा भी रखा वरना उर्दू के मेयार परस्त नक़्क़ाद यहां तक कि तरक्की पसंद तनक़ीद, तरक्की पसंद अदब पर लिखी गई किताबें, उन सब में वामिक का वह जिक्र व फिक्र नहीं जिसके वह हकदार थे। और जिसका वामिक़ को एहसास भी था और जिसका उन्होंने जवाब भी दिया है।

1948 ई. में तरक्की पसंद शायरी की वजह से एक बार मुलाज़मत से हटाये गये लेकिन फिर किसी मेहरबान आफ़ीसर जो उनकी शायरी से प्रभावित था उन्हें किसी तरह बहाल किया और वह इलाहाबाद में तैनात हुए। इलाहाबाद में ऐजाज़ हुसैन के यहाँ क़याम, उनकी तरक्की पसंदी, उनकी बेगम के हाथों की बनी गुड़ की चाय, अंजुमन के जलसे, ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी का मुक़दमा (प्रस्तावना) और तरक्की पसंद उसूल व नज़रयात की सख्तगीरी जिससे कुछ शायर व अदीब बेजार हुए। फिराक़ भी बेज़ार हुए। वामिक़ ने इन सब का बेहद विस्तार से अच्छा ज़िक्र किया है।

उन्होंने लिखा, "अदीबों के लिए नज़रियाती एतबार से यह दौर बहुत सख्त था और जिस में बहुतों के पाये इस्तेकामत में लगजिश (पैरों की मजबूती में लड़चाड़ाहट) आ गई थी और बहुत से अदीब अखाड़ा छोड़ कर भाग निकले थे।"

लेकिन वामिक़ के क़दम जरा भी नहीं डगमगाए। हालाँकि कुछ बड़े लोग उनके साथ इंसाफ नहीं कर रहे थे लेकिन वामिक इन सबसे बेपरवाह अवाम की उन्नति और भलाई में व्यस्त थे। इसी इलाहाबद में उन्होंने डॉ. मसी हुज्जमां के साथ 'इन्तेखाब' नाम की पत्रिका भी निकाली। बाद में पत्रिका के ही शीर्षक से पब्लिकेशन भी स्थापित किया। इसी इदारे ने वामिक़ का पहला संग्रह' चीखें 1948 ई. में प्रकाशित किया जो एक तरह से महात्मा गांधी को समर्पित है। ज़रा यह जज़्बाती और नज़रियाती वाक्यों पर ग़ौर कीजिए-

'चीखें जिन दुख भरी कहानियों का मजमुआ (संग्रह) है इसका पहला रावी (पढ़ने वाला) महात्मा गांधी था।

वह खुद सो गया दास्तां कहते कहते

और इस तरह यह नामुकम्मल दास्तान मुकम्मल हो गई। जिस को आज दुनिया खुद कह रही है और खुद सुन रही है। और हमेशा कहती और सुनती रहेगी वामिक़।

बनारस के बाद इलाहाबाद दूसरा शहर था जहां उर्दू के साथ हिन्दी वालों से वामिक के राब्ते (रिश्ते) रहे। महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, निराला वगैरह से उनकी मुलाकातें हुईं। चूंकि वामिक आम फहम यानी अवामी नौइयत की नज़्में कहते थे इसलिए आसानी से कवि सम्मेलनों में भी शरीक होते थे। इन मुलाकातों और शिरकतों ने भी वामिक की शायरी को मुतास्सिर कियाऔर वह उर्दू की कौमी व क्लासिकी शायरी से दूर होते गये। और आम फहम शायरी करते रहे। नज़्मों के ताल्लुक से खासतौर पर। यही वजह है कि जब बदली होकर दोबारा बारहबंकी गये जो वामिक़ को बेहद अजीज था तो वहाँ एक मुशायरे में रवायती किस्म की शायरी सुनने को मिली। वामिक़ से रहा न गया और उन्होंने एक मोअर्रा (सीधी सादी) नज़्म सुनाई जिसका शीर्षक था 'जाड़े की चाँदनी', कुछ इस अंदाज़ से तहत में पढ़ी कि अध्यक्ष मुशायरा ने स्टेज पर ही गले लगा लिया और कहा-वामिक़, हमको आज ऐसी ही शायरी की ज़रूरत है। तुम को दिल से दुआएं देते हैं। इसी तरह शिबली कालेज, आजमगढ़ के मुशायरे में गांधीजी के कत्ल पर जो नज़्म सुनाई तो इकबाल सुहेल ने कहा-

"अगर यही आज़ाद नज़्म है तो इस पर मैं हजारों नजमें निसार करने को तैयार हूं।"

क़दामत (पुरानी) और जदीदीयत (आधुनिक) तरक्की पसंदी और इश्तेराकियत पर हजार बहसें अदब में होती रही हैं और किताबों और पत्रिकाओं के पन्नों में कैद होती रही हैं। वामिक ने इस तरह की बहसों को तहरीर व तनकीद में कम बरता। लेकिन अवामी सतह पर मुशायरे के स्टेज पर अमली तौर पर बरत कर दिखायाऔर हजारों लाखों सुनने वालों और शौकीनों को प्रभावित करके दिखाया। शायरी जिसके लिए की उन्हीं के बीच जाकर उन्हें सीधे तौर पर सुनाया और उसे एक जादुई व शायराना हैसियत अता की। उर्दू शायरी और अवामी शायरी की यह वह रवायत थी जिसके डांडे मीर व ग़ालिब से कम कबीर व नज़ीर से ज़्यादा मिलते हैं। खुद तरक्की पसंद हल्के में वामिक़ सरदार, फैज़ वग़ैरह के हल्के के न थे, बल्कि मख़दूम, कैफ़ी के हल्के के थे जो ख़ासो-आम में यकसाँ बल्कि अवाम में ख़वास से ज़्यादा मक़बूलियत रखते थे। बारहबंकी के उस मुशायरे या शायराना माहौल का हाल खुद वामिक़ की जुबानी सुनिए:-"बारह बंकी का मज़ाके़ शेरी आम रास्ते से हट कर था। वहां का तालीम याफ़्ता तबका तग़ज्जुल, हैयत, शेर के हुस्ने-ज़ाहरी और शोखिए कलाम से ज़्यादह हज़ (लुत्फ़) हांसिल किया करता था और बावजूद अपने नेहायत सुथरे ज़ौक के उस वक्त तक ज़ेहनी फ़ासलों को तोड़ कर नई राह न निकाल सकता था।"

उस माहौल और उस स्टेज पर वामिक इन्हेराफ (इंकार) करते हुए बेबाकाना तौर पर जो नज़्म पढ़ रहे थे उसकी दो तीन पंक्तियां देखिए,

यह आसमान है या
एक कासए बर्फ़ाब
महक रही है कहीं दूर रात की रानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरी जवानी तेरी मुफलिसी तेरी उलफत
उजाड़ गांव में जाड़े की चांदनी जैसे
अभी तो ठोकरें खा कर तुझे संभलना है
इन ऊंघती हुई पगडंडियों पे चलना है

यह सिर्फ उनकी आप बीती नहीं कहती बल्कि उनकी शायरी भी कहती है हालांकि दोनों को अलग-अलग करके देख पाना मुश्किल है। जो सादगी वहाँ है वही सादगी, ईमानदारी यहां भी है। जो अवामी रिश्ते वहां हैं वही यहां भी हैं। इसीलिए इस आप बीती में शायरी से ज़्यादा मुशायरों का जिक्र है क्योंकि वामिक़ किताब से ज्यादा मुशायरे में पढ़े और सुने जाते थे। ख़वास से ज़्यादा अवाम में पसंद किये जाते थे। इसके अतिरिक्त इसमें सफर दर सफर है, ट्रान्सफर है। मुलाज़मत की दोड़-धूप है मोहसिनों (दोस्तों) का ज़िक्र है। अफराद हैं, वाकआत है, कहीं कहीं इल्मी व अदबी बहसें भी हैं। लेकिन इन बहसों का ताल्लुक भी अवामी अदब या अवामी शायरी से ज़्यादा है। लेकिन यह सब भी छुपा छुपा सा रहा। इस की वजह हमारे दोस्त और हिन्दी के लेखक अजय कुमार के अनुसार वामिक़ साहब जितना जाने जाते हैं उतना पढ़े नहीं गये। उन्हें आज भी भूखा है बंगाल 'मीना बाजार', नीला परचम आदि के हवाले से ही जाना जाता है।

एक खास उम्र के बाद जब अंजुमन का शीराज़ा बिखरा तो वामिक़ भी बिखर गये और खामोश से हो गये। नौकरी से अलग हुए, कजगांव से वापसी ने उन्हें बहुत कुछ अलग सोचने पर मजबूर किया। कुछ तजुर्बे (परीक्षण) किये। कश्मीर गये, हब्बा खातून पर एक ओपेरा, मखदूम पर मजमून और अंजुमन के भ्रमपूर्ण अवरोधों पर कई बहस अंगेज़ और फिक्र अंगेज़ मज़ामीन लिखे। अवाम के बीच रहने वाला शायर घर की तनहाई से परेशान था।

घर में तो अब कोई नहीं पहचानता हमें
बचपन का एक ख्वाब जो है उसका क्या करूं

यह ख्वाब कुछ और थे सच्चाईयां कुछ और। इसी उहापोह और कशमकश के दौर में उन्होंने अपने आप को खामोश नहीं रखा और गजलों में नौ क्लासिकी नौइयत के तजुरबे करते रहे। एक तरफ लम्बी बहर की गजलें कहते रहे तो दूसरी तरफ जहाँनुमा, सफरे नातमाम, हम बुजदिल हैं, एक दो तीन, जैसी कामयाब नज़्में कहीं। यह ग़ज़लें और नज़्में कुछ 'शब चराग' (1978 ई) और कुछ 'सफरे नातमाम' (1990) में नज़र आती हैं। इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है, कुछ बिखरा और कुछ अप्रकाशित।

लेखक की खुश किस्मती कि जौनपुर और अंजुमन से वाबस्तगी की वजह से वामिक साहब से भी कुरबत (निकटता) का शरफ हांसिल रहा है। कई चीजें लिखवाने यहां तक कि आप बीती लिखवाने में ख़ाकसार का रोल रहा है जिसका वामिक़ साहब ने आप बीती में एतराफ (स्वीकार) भी किया है। पचहत्तर साल पूरे करने पर इलाहाबाद में जश्ने-वामिक़ का भी एहतेमाम किया गया। सभी मौजूद थे। पुराने, नये, हिन्दी, उर्दू, पढ़े, कम पढ़े। लेकिन तान सबकी 'जरस' पर ही टूटती थी। बाद की शायरी कम पढ़ी गई बल्कि सच तो यह है कि पूरे वामिक़ को ही बहुत कम पढ़ा गया। सुना ज़्यादा गया और सुनी हुई चीज अक्सर अनसुनी भी हो जाती है। आज आमतौर पर वामिक़ की ग़ज़ल या शायरी के और विशेष रूप से नज़मिया शायरी को नये सिरे से पढ़ा जाय तो साफ अंदाजा होगा कि वामिक की इब्तेदाई शायरी में इन्केलाब के लिए जो सच्ची ललक है, जो जज़्बा है। अवाम और इंसान से जो उन्हें प्यार है वह बड़े-बड़े तरक्की पसंदों में नहीं हैं। इंसान और इन्केलाब उनके महबूब है। दोनों एक दूसरे में मिल गये हैं। दरमियान से फूटती है वह लचकदार, महकदार और अक्सर गरजदार शायरी जिसका सम्बन्ध हिन्दोस्तान के बडे तबके से है। ग़रीब तबके से है और साथ में यह भी कि कहीं भी साइंसी और जमालयाती एहसास भटकने नही पाता लेकिन इस रूख से उन्हें देखा और समझा ही नहीं गया वामिक़ ने भी किसी की तरफ नहीं देखा। क्या देखा, क्या मिला, क्या नहीं मिला, सबसे वामिक खुश। आप बीती मुलाहजा कीजिए ख़ुश ज़्यादा ना खुश कम। जो सादगी, सच्चाई और ईमानदारी उनकी जिंदगी में थी, वही उन की शायरी में थी और आप बीती में भी। यह शेर उनकी शख्सियत और शायरी दोनों पर सटीक बैठता है।

आहन नहीं हूँ चाहे जिधर मोड़ दीजिए
शीशा हूं झुक तो सकता नहीं तोड़ दीजिए

अध्यक्ष, उर्दू विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–
vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक़ की शायरी

एहतेशाम हुसैन

शायर हो या आम इन्सान उसके लिए जिंदगी और मौत, अम्न और जंग, आसूदगी (सुविधाएँ) और भूख, इन्साफ़ और जुल्म, मसावात और तबक़ती इस्तेहसाल संदेशवाहक तरक़्क़ी पसंदी और रजअत-परस्ती (परंपरावादी) का चुनाव करना जरूरी है। बाज़ हालात में इन विभिन्न अनासिर (तत्त्वों) के दरमियान एक क़िस्म का वक़्ती समझौता मुमकिन था लेकिन आज के कठिन दौर में जिसे इन विपरीत हालात का इल्म और उसे दूर करने की फ़िक्र नहीं है वह उन ताक़तों का दोस्त नहीं कहा जा सकता जो इन्सान को इन्सान बनाना चाहती हैं। इन मुताज़ाद अनासिर से आँखें चुराना उन ताकतों को मजबूत बनाना है जो दुनियां को बेहतर बनने से रोकती हैं। आज कल्चर, अदब और शायरी का कोई नाम लेवा उस वक़्त तक ज़िंदा रहने, अपने ख़यालात व रचनाओं से तरक्की के ख़ाहिशमंदों को प्रभावित करने का दावा नहीं कर सकता जब तक कि वह मसबत अंदाज़ में इन्साफ का और अन्यायपूर्ण शोषण के मुक़ाबले में बराबरी का अलम बुलन्द नहीं करता। यह एक तरह की जानिबदारी (पक्षधरता) है लेकिन यह प्रतिबद्धता रचनाओं में, साहित्य में सेहतमंद हुस्न और तवानाई (ताकत) पैदा करती है। वह बहार की संदेशवाहक और ज़िंदगी की अमीन ज़मानतदार बन जाती है और रचनात्मकता के साथ एक समाजी मक़सद को विस्तार देती है। आधुनिक दौर के कमोबेश सभी अच्छे शायर किसी न किसी शक्ल में इस हकीकत को ? करते हैं

'जरस' का शायर उसी गिरोह से ताल्लुक़ रखता है और दुनियादी तौर पर उस जीवन दर्शन को मानता और उसके लिए अपनी शायरी के जरिए जद्दो-जेहद करता है जो सरमायादारी के मौजूदा बेकारी के दौर में अमन और जिंदगी का संदेश है। सरमायादारी की हकीकत पहली जंगे-अज़ीम (विश्वयुद्ध) के बाद ही बेनकाब हो चुकी थी। लेकिन दूसरी जंगे-अज़ीम और उसके बाद के संघर्ष और तनावों ने तो उसे उसके सारे घिनौने पन और उरयानी (नंगेपन) के साथ दुनियाँ के सामने पेश कर दिया है। इसलिए इसके मुताल्लिक़ खुद धोखे में रहना या दूसरों को धोखा देना उस तीसरी जंगे-अंजीम की धमकी देने के बराबर है जिसे पूँजीपति पूरी दुनिया पर थोपना चाहते हैं। इस खेल में इन्सान दोस्ती और अवाम दोस्ती का राग गाने वाला अदब भी नफ़रत और मलामत का निशाना बनाया जाता है, और बड़ी-बड़ी तरकीबों और चालों से अदब और शायरी के समाजी मक़सद की अहमियत घटाने की कोशिश की जाती है। आधुनिक दौर का शायर इस वजह से बड़ी जिम्मेदाराना हैसियत रखता है। उसके सामने दोनों रास्ते हैं और चुनाव का भार उसी पर है कि वह मौत और ज़िंदगी में, ज़हर और अमृत में किस चीज को पसंद करता है। इस में शक नहीं कि शायरी के मौजू अनगिनत हैं। उसे रचनात्मक स्वरूप देने वाले कई हैं लेकिन शायरी की आजादी के नाम पर किसी को यह हक नहीं दिया जा सकता कि वह मौत की सौदागरी करे और वह ज़हर फैलाए जो समाज की बाढ़ को रोक दे। हो सकता है कि बे सोचे-समझे, महज़ लफ़्ज़ों के हसीन तिलिस्म से प्रभावित हो कर कोई शायर कुछ दिनों तक इधर-उधर के मौजूआत पर लिखता रहे लेकिन यह बात नामुमकिन है कि वह दोनों राहों में से कोई राह चुने बगैर बहुत दिनों तक पुरअसर और दिलनशीं शेर कहता रहे। चुनान्चे जब क़ौमी और सांसारिक जिंदगी में वह नाजुक मोड़ आ जाते हैं जहां खयालात की परख होती है। उस वक़्त समाज का एक अहम व्यक्ति होने की हैसियत से शायर पर भी इज़हारे-ख़्याल का भार पड़ता है और हर साहबे-नजर को मालूम हो जाता है कि वह किन मोहर्रिकात से असर लेता और ज़िंदगी के किन मूल्यों को अहमियत देता है। इस सिलसिले में दूसरी जंगे-अजीम, उस से पैदा होने वाली समस्यायें, फाशिज़्म, और इशतेराकियत, अमेरिकी सरमायादारी, एशिया और यूरोप में अवाम की बेदारी, हिन्दोस्तान की नाम भर की आज़ादी, कयामे पाकिस्तान, फिरक़ावाराना फ़सादात वगैरह अहम वाकेआत हैं और इन के मुताल्लिक मुख़्तलिफ़ क़िस्म के लोगों पर मुख़्तलिफ़ क़िस्म की प्रतिक्रियायें हो सकती हैं। यही प्रतिक्रियायें शायर की वैचारिकता और रूझानात को स्पष्ट करेंगी। उन्हीं के अनुसार इज़हारे-ख़याल करते हुए शायर अपनी निष्ठा और अपनी वैचारिकता का पता देगा। आलोचक की नज़र उनमें एक राय होकर तलाश करके यह बता सकेगी कि उसे ज़िंदगी की किन क़दरों (मूल्यों) से मोहब्बत है। इल्मो-फन, साइंस और फूनूने-लतीफ़ा हर एक की समाजी बुनियादें मालूम करने की यह कसौटी है कि जब इन्सान ज़िंदगी और मौत की कशमकश में मुबतेला हुए हैं उस वक्त उन्होंने किस का साथ दिया है। ज़ाहिर है कि शायर अपनी कला और शिल्प की सीमाओं की वजह से इज़हारे-ख़याल के जो तरीक़े अख़्तेयार करेगा उसमें फ़लसफ़ा व साइंस के पाठों का अंदाज़ा पैदा नहीं किया जा सकता। फिर भी सच्चाई के बारे में उस की राए कहीं एक शेर से और कहीं एक नज़्म से मालूम हो सकेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाकेआत से उसका जज़बाती ताल्लुक शायरी में खुलूस, गर्मी, फन्नी बुलंदी और उत्कर्ष पैदा करेगा। इस तरह कथ्य और शिल्प में वह ताल्लुक क़ायम होगा जिससे आला शायरी की रचना होती है।

यह तो मालूम नहीं कि वामिक़ ने शायरी कब शुरू की लेकिन यह यक़ीन के साथ कहा जा सकता है कि उन्होंने दूसरी जंगे-अज़ीम के शुरूआती सालों में लोगों को अपनी शायरी की तरफ आकर्षित किया। उस वक़्त उर्दू के अक्सर नौजवान शायर एक रोमानी उदासीनता से घिरे थे। न मोहब्बत में कैफ़ (आनंद) था, न शराब में मज़ा, न आवारागर्दी में लुत्फ़ था। न नौकरी करने में सुकून। न सियासी दलों पर पूरा भरोसा था, न रास्ते का ठीक-ठीक अंदाज़ा था। महबूबा को साथी बनाने का जज़्बा था, स्वयं की और क़ौमी आज़ादी की ख्वाहिश थी, राजनैतिक दलों में शरीक होकर काम करने की उमंग थी, प्राकृतिक वातावरण पर काबू पाने का हौंसला था, अवाम की जद्दो-जहद में शरीक होने की आरजू थी लेकिन सब पर रोमानियत की छाया थी। वामिक़ इसी जमाने में तरक़्क़ी पसंदी की तहरीक की ओर आकर्षित हुए और उसके संवाहक बन गये। उनकी इब्तेदाई शायरी में यह सारे जज़्बे किसी न किसी शक्ल में नजर आते हैं। एक अस्पष्ट अन्दाज़ में अपने ज़माने की आत्मा उनके अशआर में गुथी हुई मिलती है। मसलन 'शराबी' में जवान ज़िंदगी की वह बेकैफ़ी अपने शबाब पर है जो सही रास्ता मालूम न होने की वजह से पैदा होती है। इस नज़्म में वामिक़ उन जवानों की नुमाइन्दगी करते हैं जो उस वक्त के निज़ामे-ज़िंदगी से, समाजी बन्दिशों से, मज़हबी कट्टरवादिता से नफ़रत करते हैं, जो अपना रिश्ता मेहनतकश तबक़े से जोड़ना चाहते हैं। यही कैफ़ियत ईद, उस पार, पापी, वगैरह में पाई जाती है।

पी रहा हूँ अपनी कूव्वत आज़माने के लिए
पी रहा हूँ नक्शे-कोहना को मिटाने के लिए
पी रहा हूं ताश के इस घर को ढाने के लिए
यह नहीं तो किसलिए मैंने उठाया जामे-मय
सैकड़ों सदियों का है हैजान सीने में मेरे
अनगिनत बदलों का है अरमान सीने में मेरे
करवटें लेता है इक तूफान सीने में मेरे
यह नहीं तो किसलिए मैंने उठाया जामे-मय

इस रोमानी दौर के गुजरने के बाद वामिक़ की शायरी चिंतन की नई मंजिल में दाखिल हुई। वह आहिस्ता-आहिस्ता उस जानिबदार की हैसियत अख़्तियार करने लगे जो उस व्यवस्था को पसंद करता है जिसकी बुनियाद अवाम पर हो। इस एहसास की एक खूबसूरत झलक उस नज़्म में मिलती है जिसका शीर्षक है 'अपनी तस्वीर' से। परिस्थितियों और चिंतन ने सोच में जो पैदा किया इस नज़्म में उसे अपनी ही जिंदगी की दो मंजिलों में देखने की कोशिश की गई हैं। मेरा ख़याल है कि उसी ज़माने में बंगाल का क़हत (अकाल) हुआ जिसने तरक्की पसंदों की रूह तक को ज़ख़्मी कर दिया और वामिक़ ने अपनी मशहूर नज़्म 'भूखा बंगाल' लिखकर मक़बूल शोअरा की सूची में अपनी जगह बना ली। इस सर्वाधिक चर्चित नज़्म की लय, इसका असर, इसकी सादगी और इसका इजतेमाई जोश सब ग़ौर से देखे जाने की चीजें हैं। यह वह जमाना था कि तरक्की पसंद अपने ज़ेहन की पूरी ताकत से जिंदगी और शायरी के रिश्ते को समझने में लगे हुए थे इसलिए उन्हें मुस्तकबिल (भविष्य) की अवामी शायरी की झलक भी नजर आयी। उसी जमाने में वामिक़ ने अपनी छोटी मगर पुर असर नज़्म 'ज़ोया तानिया' लिखकर रूस को ख़िराजे-अकीदत (श्रद्धांजलि) पेश किया। 'मजदूरों का कोरस' लिखा और जनता की लड़ाई और 'कदम की झंकार' पर में फाशिज़्म और जापानी युद्धोन्माद से नफरत का इज़हार किया। इन नज़्मों की जुबान आम तौर से आसान है और अगर आसान नहीं भी है तो पेचीदा प्रतीकों और इशारों से ख़ाली और अस्पष्टता से दूर है क्योंकि इनका मौजू महज़ व्यक्तिगत और आत्मकेंद्रित तथा बेपरवाह नहीं हैं। विश्व परिदृश्य में माइटीऐटम के ज़ालिमाना इस्तेमाल के खिलाफ शायर कहता है। आज फिर यह सवाल पेश है कि ऐटमी तवानाई तख़रीब के काम आये या तामीर के।

हमने चाहा था कि इस कूव्वते बेपायां से
अपनी खुद-साख़्ता दोजख़ को बना ले जन्नत
न कि उम्मीद जो कुछ थी भी वही मिट जाए
जिन्से-कुर्बानी की दुनिया में रही क्या क़ीमत
फट के ज़र्रे भी फ़ना हो गये कुछ कर न सके
दामने-ज़ीस्त तही कर गये और भर न सके

मौत और जिंदगी में जिदंगी का चुनाव और पक्षधरता वामिक़ के समाजी मकसद को पूरी तरह से स्पष्ट करता है।

वामिक़ की नज़्मों में मीना बाजार विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें शायरी और मकसद का बहुत खूबसूरत सम्मिश्रण हुआ है। यह नज़्म गालेबन बनारस में लिखी गयी है, इसलिए इसका मकामी रंग भी नज़्म की फ़ज़ा और असर में इजाफ़ा करता है। इस नज़्म से वामिक़ की शायराना सलाहियतों (विशिष्टता) का भी अंदाज़ा हो जाता है।

यूँ वामिक़ की शायरी बराबर तरक्की करती रही, जिंदगी के मसाइल को समझती-समझाती विस्तारित होती रही और गहराई पैदा करती बढ़ती रही है। तक़्सीमे-हिन्द के बाद उन्होंने कई पुरअसर नज़्में लिखी हैं। जिन में से बाज़ 'जरस' में भी शामित हैं। हिन्दोस्तान के फ़िरक़ावाराना फ़सादात भी चिंतन की हक़ीक़त पसंदी के लिए एक कसौटी बन गये। इन नज़्मों से वामिक़ का दृष्टिकोण भी मालूम होता है जो उनकी स्वस्थ सोच को प्रदर्शित करता है। बाद के दिनों में उन्होंने ज्यादातर ग़ज़लें लिखी हैं और उन्हीं के महदूद ढांचे में यथार्थ के संकेत किये हैं।

उर्दू से हिन्दी अनुवाद–डॉ. अजीजा बानो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक़ जौनपुरी की नज़्मों में सियासी और समाजी फ़िक्र व ख़याल

अज़ीज़ा बानो

लगभग छः दहाइयों पर फैले अपने काव्य काल में वामिक़ जौनपुरी ने उर्दू साहित्य को चार काव्य संग्रह चीखें, जरस, शब चराग और सफरे-नातमाम दिये जो अपने अनोखेपन और सांसारिकता की बिना पर उर्दू काव्य साहित्य की दुनियां में अपना एक अहम मुक़ाम रखते हैं।

वामिक़ जौनपुरी 23 अक्तूबर 1909 ई. को स्थान गोल कोठी, मौज़ा कजगांव जिला जौनपुर के एक जमींदार घराने में पैदा हुए। अरबी और फारसी की शिक्षा घर और मदरसे से हासिल की। बारहबंकी से हाईस्कूल, फैज़ाबाद से इन्टरमीडिएट और लखनऊ से बी.ए., एल.एल. बी. की शिक्षा हासिल की। उस ज़माने की जमींदाराना घराने के चलन के अनुसार स्कूल में उन्हें गरीब बच्चों से बात-चीत करने, उनके साथ मेल-जोल रखने और खेलने कूदने की आज्ञा नहीं थी। लेकिन बचपन से ही बाग़ी ज़ेहन के मालिक वामिक़ जौनपुरी मजदूरों और किसानों के बीच रहते। यही वजह है कि वामिक़ को बचपन से ही किसानों और मजदूरों के दुख-दर्द, उनकी मुश्किलों और परेशानियों का अंदाज़ा था। इन्सान और इन्सानियत के लिए यही प्राकृतिक लगाव आगे चलकर उनकी नज़्मों और ग़ज़लों का खमीर उठाता है।

इन्कलाबे-रूस, जलियांवाला बाग का हादसा, ख़िलाफ़त तहरीक, आज़ादी हासिल करने के लिए तेज होती मांगे, सियासी लीडरों की कैदो-बंद की मुश्किलें, हुकूमत का जाबराना और हिंसक रवैया यह सब वह घटनाएं व दुर्घटनाएँ हैं जिनसे अवश्य ही वामिक़ के ज़ेहन ने सीधे तौर पर असरात कुबूल किये। 1932 ई. में अंगारे के प्रकाशन से न केवल उर्दू साहित्य की दुनियां में इन्केलाब बरपा हुआ बल्कि इससे फ़ासीवादी ताकतों, सामराजी हुकूमतों और धार्मिक नेताओं, जो लोगों को बहकाए हुए थे, के खिलाफ बग़ावत की लय तेज हो गई। सज्जाद ज़हीर के नावलेट 'लन्दन की एक रात' के ज़रिए उस वक्त के सियासी समाजी हालात और माहौल और खास तौर पर नौजवान नस्ल की मानसिकता और जोश आज़ादिये ख़याल और आजादिये-वतन के लिए बग़ावत और एहतेजाज की तेज होती हुई लय का बखूबी अन्दाजा लगाया जा सकता है।

वामिक़ ने जिस समय शायरी की शुरूआत की उसमें इकबाल की सांसरिकता से भरी और ज़िंदगी देने वाली शायरी, फ़ानी बदायूनी की दुख और ग़मे-ज़िंदगी से भरी शायरी मौलाना हसरत मोहानी की चक्की की मेहनत के साथ शायरी में उस समय के सियासी हालात का ज़िक्र और महबूब के नाज़नखरों और अदाओं के बयान का जहां एक तरफ उर्दू शायरी पर असर था, वहीं दूसरी तरफ व्यंग के परदे में लिपटी हुई अकबर इलाहाबादी की शायरी का डंका बज रहा थ। चकबस्त अपनी क़ौमी व मिल्ली शायरी के ज़रिये, जोश अपने रोमानी इन्केलाबी, व्यवस्था के अस्वीकार और बाग़ियाना लबो, लहजे (बात का अन्दाजा) से उर्दू शायरी के दामन को फैला रहे थे। साथ ही साथ नयी नस्ल के कवियों में फैज़, मजाज़, साहिर, मख़दूम वगैरह भी अपनी शायरी के द्वारा लोगों के दुःख दर्द और उनके जज़बात व ऐहसासात की तरजुमानी कर रहे थे। ऐसे अदबी माहौल में एक नये लिखने वाले के लिए जिसने शायरी के मैदान में नया-नया क़दम रखा हो, अपनी शायरी के लिए एक नया रास्ता खोज निकालना बहुत मुश्किल काम था क्योंकि उसे हर समय यह डर लगा रहता है कि कहीं इन बड़ी-बड़ी आवाज़ों के बीच उसकी आवाज़ खो न जाए।

वामिक़ की शायरी की शुरूआत रोमानी शायरी से होती है लेकिन तरक्की पसंद अदबी तहरीक से जुड़ने के बाद उन्हें इस बात का एहसास हो गया कि अच्छी और दूसरेां को प्रभावित करने वाली शायरी वही है जिसमें ग़मे-हयात (ज़िंदगी के दुख दर्द) के साथ-साथ ग़मे-रोज़गार (रोजी रोटी का दुख) और ग़मे-ज़माना का भी जिक्र हो। शायरी सिर्फ दिल को खुश करने का ज़रिया न हो बल्कि आलमे-इन्सानियत (दुनिया के लोगों) की भलाई के लिए हो। यहीं से उनकी शायरी के दृष्टिकोण में साफ़ तौर पर तबदीली शुरू हो गई। न सिर्फ नज़्में बल्कि ग़ज़लें भी ग़मे हयात के साथ ग़मे-रोज़गार और ग़मे-ज़माना के एहसासात से भरी हुई है। सफरे नातमाम की प्रस्तावना में वामिक़ जौनपुरी लिखते हैं:-

'अवाम तक पहुँचने या अपनी बात पहुंचाने को मोतबर (सबसे अच्छा) और मोवस्सर (असरदार) तरीन ज़रिया तरक्की पसंद शायरी है। तरक्की पसंद शायरी कुल्लियतन (पूरी) मक़सदी अदब है। मकसद यह है कि पूरे आलमे-इन्सानियत की पुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमन और आसूदा हाल बक़ा के लिए शायरी की जाये। उनकी ज़िंदगी और उनके मसाइल (मुश्किलें) के असबाबो अलल (वजहें) और उनके तरीक़ए लकों इस दिलनशीं (खूबसूरत) अंदाज में पेश किया जाय कि उनमें पुरवक़ार (पूरी इज्जत) और खुश ग़वार ज़िंदगी बसर करने का शऊर (तरीका) पैदा हो।''

वामिक़ ने अच्छी और प्रभावी नज़्में कही हैं। शराबी, ईद, उसपार, पापी, अपनी तस्वीर से, सुखनहाए गुफ़्तनी, आँख लगते ही, माज़ी की आखिरी हिचकी, अल्फ लैला, फ़रार, मीनाबाज़ार, राहगीर, उल्झनें, जाड़े की चांदनी, नई करवट, माईटी एटम, कौन हंसा, गुमराह रहबर से, भूखा बंगाल, जनता की लड़ाई, कदम की झंकार पर ज़खमों का शज़र, बेकाल से लड्डूगा तक, एक दो तीन वगैरह नज़्में उनके दृष्टिकोण की निशानदही करती हैं।

शराबी, ईद, उसपार और पापी आदि नज़्में उस वक्त के नौजवानों के ज़हनी इन्तेशार (परेशानी) और समाजी व मआशी (रोजीरोटी) ना बराबरी की तरफ इशारा करती हैं। नज़्म शराबी में वामिक़ ने बहुत सी तरकीबों (कई शब्दों को मिला कर एक बनाना) जैसे नज़्मे-कायनात का सूना होना, चराग़े-ज़िंदगी का धुन्धला और मलगुज़ा होना, ज़िंदगी के सब्ज़ बाग़ का ज़र्द पड़ जाना आदि का प्रयोग करके उस समय के नौजवानों की ज़िंदगी की बेकैफ़ी की तरफ इशारा किया है साथ ही व्यवस्था से नफ़रत और उस वक्त के मज़हबी रहनुमाओं और उनकी सख़्त गीरियों के ख़िलाफ़ भी असहमति की आवाज़ बुलंद की है। नज़्म ईद में समाजी ना बराबरी का ज़िक्र मिलता है। जिसमें ईद की खुशी के साथ-साथ ग़रीबों के दुख दर्द और उनके ग़मगीन (दुखी) रहने के एहसास का मिला जुला असर है।

नज़्म 'पानी' फैज़ की नज़्म मुझसे पहले सी मोहब्बत मेरे महबूब न मांग की याद दिलाती है। फ़ैज़ अपनी महबूब को पहली सी मोहब्बत न दे सकने के लिए उससे क्षमा याचना करते हैं जबकि वामिक़ अपनी नज़्म में महबूब को समाज की ख़राब हालत, सरमायादारों की बेहिसी व बेईमानी और मज़हबी नुमाइन्दों के ख़िलाफ़ ख़ुद उनके सीने में बदले के जज़्बे का जो अलाव भड़क रहा है, और उन सब के ख़िलाफ़ नाकाम होने के बावजूद 'मुझे ही इन्सानियत के ज़ख्म पर मरहम का फाया रखना है' का पूरा मंज़र दिखा कर उससे सवाल करते हैं कि

'क्या तुम मुझ से अब भी मोहब्बत कर सकोगी।
बावजूद इस तल्ख़ कामी के भी जीना है मुझे
ज़िंदगी का दामने सद चाक सीना है मुझे
इस ज़माने की रविश का खून पीना है मुझे
ऐसी हालत में भी क्या मुझसे मोहब्बत है तुम्हें
जी में आता है कि कानूनी हदों को तोड़ दूँ
ताक़े-ज़िंदाने तमद्दुन की सलांखें मोड़ दूँ
शीशए-मज़हब को संगे-मासियत से फोड़ दूँ
ऐसी हालत में भी क्या मुझसे मोहब्बत है तुम्हें

''माज़ी की आखिरी हिचकी'' में एक सच्चे फ़नकार की जिम्मेदारियों की तरफ इशारा किया है। माज़ी (भूतकाल) में लिखी जाने वाली यह नज़्म वर्तमान का आइना है। यह पंक्तियाँ देखिए जिसमें आज की तल्ख़ व तुर्श हक़ीक़त को इस तरह पेश किया गया है-

फ़लक पे महवे-सैर थे दिल से एक धुंआ उठा
खुली जो आंख ख्वाब से तो सामने यह हश्र था
कि ज़िंदगी की चीख़ से ज़मी का रंग ज़र्द है
बगूले और आंधियों से ज़ीस्त गर्द-बर्द है
उछल रहा है कब से नज़्मे-कायनात में लहू
मची है लूट हर तरफ लगी है आग चार सू

जहां ''अल्फ लैला'' और 'आँख लगते ही' में एक थकी हुई रात की गोद से नई सुबह के आगाज़ की बशारत (खुशख़बरी) मिलती है, जिससे दम तोड़ती ज़िंदगी को बेहतर ज़िंदगी की उम्मीद की एक किरन दिखाई देती है वहीं 'फरार' और 'क़दम की झंकार'

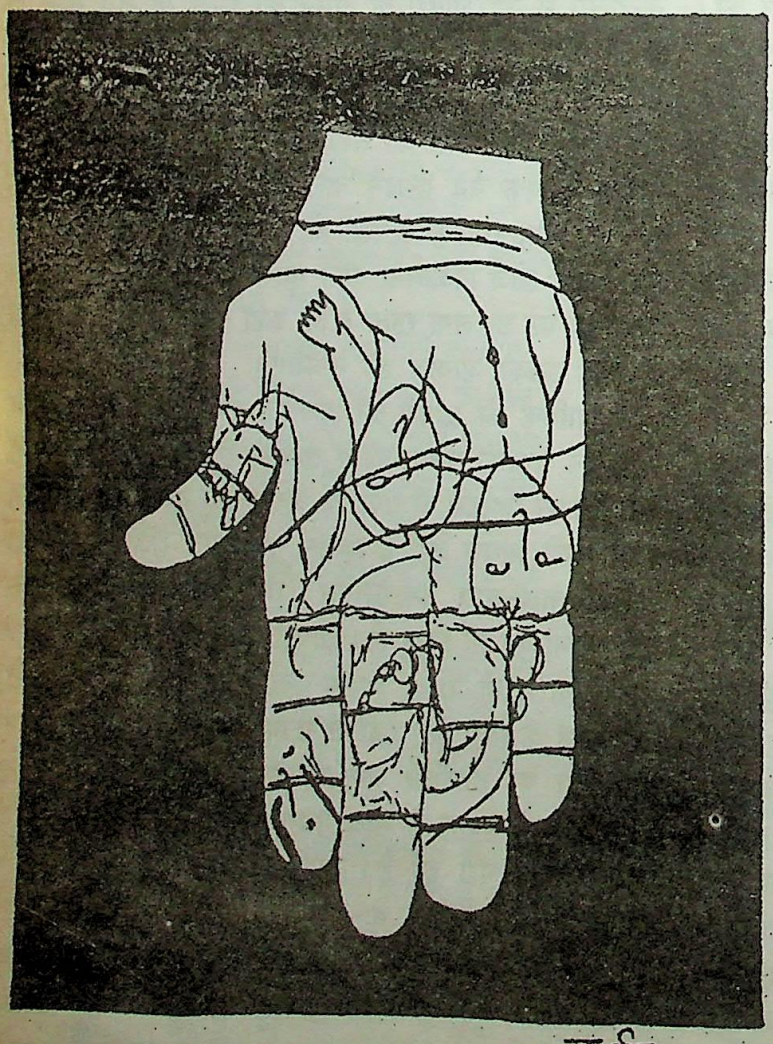

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर नज़्मों में समाज की ख़राब हालत की सच्ची तस्वीर भी मिलती है। यह बंद मुलाहजा हो–

किसलिए चीख रहे हैं यह भिखारी बालक
कुत्तों के जबड़ों में रोटी पे झपटते हुए हाथ
खाक में लुथड़ी हुई लाशों पे यह जम्पे-ग़फ़ीर
पानी-पानी हुआ जाता है मुसव्विर का कलम
और फिर-
तल्खिए फ़िक्र से बढ़ कर नहीं मय की तल्खी

से साफ तौर पर अंदाजा लगाया जा सकता है कि समाज की गिरी हुई हालत का ज़िक्र करने से मुसव्विर (चित्रकार) का कलम पानी-पानी हुआ जाता है।

1944 ई. के आस-पास का दौर बड़ा ही हलचल से भरा दौर था। न सिर्फ हिन्दोस्तान बल्कि पूरी दुनिया में हालात तेजी से बदल रहे थे। यही वह ज़माना है जब असरारूल हक़ मजाज़ की नज़्म 'आवारा' और मोईन अहसन जज़्बी की नज़्म 'फितरत एक मुफलिस की नज़र में' और 'मौत' नौजवानों के दुख-दर्द और उनके दिलों की आवाज़ बनकर उभर रही थी। वामिक़ की नज़्म मीना बाजार, भी इसी सिलसिले की एक कड़ी है। इस नज़्म में भी उस वक़्त का समाज बोलता हुआ दिखाई देता हैं। यह नज़्म पूरे समाज के दुख-दर्द को अपने अन्दर समेटे हुए है-

तपे हुए दिमाग़ो-दिल में कितने शोले मुशतईल (भड़कते हुये)

यह वह ख़िजां रसीदा है बहार जिनसे मुनफईल(शर्मिंदा)

राहगीर, उलझनें, कौन हंसा, वगैरह नज़्मों में जहां एक तरफ जंगो-व-जदल (लड़ाई) का नक्शा खींचा गया है वहीं दूसरी तरफ उमीदो-व-बीम (नाउम्मीदी) की कैफियत के साथ-साथ इन्केलाब के ज़रिए नये ज़माने की आमद और खुशहाली की उम्मीद भी मौजूद रहती है। 'नई करवट' में नौजवानों के पक्के इरादे की तरफ इशारा करते हुए कहते हैं कि इन नौजवानों ने अपने अज़्म (इरादे) और बुलंद हौंसले से आहनी (पक्की) दीवारों को तोड़ दिया है और आगे बढ़ गये है।

दर्द की अथाह गहराइयोंां में डूब कर लिखी जाने वाली नज़्म भूखा बंगाल 1944 ई. में बंगाल में पड़ने वाले क़हत से मुतास्सिर होकर लिखी गई है। शायर ने जो कुछ देखा महसूस किया उसे नज़्म के पैकर (रूप) में ढाल दिया। इस नज़्म में समाज के दर्द व कर्ब को निहायत पुर असर अंदाज़ में पेश किया गया है।

पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला सुख का काल
दुख की अग्नि कौन बुझाए सूख गए सब ताल
जिन हाथों ने मोती रोले आज वही कंगाल रे साथी
आज वही कंगाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
कोठरियों में गांजे बैठे बनिए सारा अनाज
सुंदर नारी भूख की मारी बेचे घर-घर लाज
चौपट नगरी कौन संभाले चार तरफ भूचाल रे साथी
भूका है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल

वामिक़ की नज़्मों में न सिर्फ हिन्दोस्तानी समाज की कशमकश, अवाम की लाचारी व मजबूरी और जाबिर हुकमरां तबक़ा बोलता हुआ दिखाई देता है बल्कि उनकी शायरी में दुनिया भर के मसाइल (परेशानियाँ) भी जगह पाते हैं। माईटी एटम, नीला परचम, एक दो तीन, कलअदम वगैरह नज़्में इसकी मिसाल हैं।

वामिक़ चाहते हैं कि न्यूकिलियर और एटमी ताकतों का इस्तेमाल इन्सान की उन्नति और भलाई के लिए हो ताकि यह ज़मीन जन्नत नज़ीर बन जाये।

6, अगस्त 1945 ई. को जब अमेरिका ने नागासाकी और हीरोशिमा पर बम गिराया तो धरती कांप गई और इन्सानियत खून के आंसू रोई। इस ख़बर ने अवाम दोस्तों को दहला दिया। वामिक़ का कलम भी इस इन्सानियत को दहला देने वाले वाक़ेए के खिलाफ खामोश न रह सका और उन्होंने 'माइटी एटम' नज़्म लिखी, जिसमें उन्होंने इस बात की तरफ इशारा किया कि एटमी ताकतों को इन्सानी भलाई के लिए होना चाहिए न कि संस्कृति व सभ्यता और मईशत (रोजगार) को तबाह व बरबाद करने के लिए, जिससे न सिर्फ एक नस्ल प्रभावित हो बल्कि आने वाली कई नस्लों को उसका ख़ामयाज़ा भुगतना पड़े-

किस क़दर बेबसो कम माया नजर आता है
जब गिराँ क़दर को महदूद किया जाता है
फिक्रे-इन्सानी का इस दरजा मोज़य्यन(3) शहकार(4)
सर्फे(5) बरबादिए तहज़ीब हुआ जाता है
अपने इन हाथों ने अपना ही गला घोंट दिया
क़ाफ़िले वालों ने खुद क़ाफ़िले को लूट लिया

1947 ई. में हिन्दोस्तान आज़ाद हुआ। इस आज़ादी की जो क़ीमत लोगों को चुकानी पड़ी इससे सभी वाकिफ़ हैं। हिन्दोस्तान आज़ाद हुआ लेकिन दो हिस्सों में बंट गया। फ़िरक़ा वाराना फ़सादात हुए, हर तरफ कतल व गारतगरी का बाज़ार गर्म हुआ। अपने ही भाई के खून से होली खेली गयी और इन्सानियत शर्मसार हुई। इन हादसातो-वाकआत के ख़िलाफ़ भी वामिक़ का कलम खामोश न रह सका और उन्होंने मां, तकसीमे पंजाब जैसी नज़्में लिखीं। इन नज़्मों में मज़लूमियत (सताये हुए लोग) की दास्तान भी है और कराहती हुई इन्सानियत भी। नज़्म मां के यह अशआर-

किसने इन आहनी दरवाजों के पट खोल दिए
किसने खूंख्वार दरिन्दों को यहाँ छोड़ दिया
क्या हुए मेरे वह मन्सूबे वह ख्वाबे–फ़रदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल गया मेरा चमन लुट गई सब मेरी बहार
मेरे बरबत में कोई तार नहीं अब साबित
मेरी चीखों में कोई दर्द नहीं अब बाक़ी
औरे 'तकसीमे पंजाब' के यह अशआर-
हट गये होश के महवर से तमद्दुन के क़दम
ज़िंदगी बरसों की बीमार नज़र आती है
यौमे-आज़ादी का हर लम्हा झुकाए हुए सर
जिसकी हर साँस में मदकूक़ तअफुन लरजाँ
दाद ख्वाही के लिए फिर सुए-मग़रिब है रवाँ
जल रही है सरे बाजार चिता ग़ैरत की
मौत और ज़ीस्त के दो राहे पे पहरा देने
अहरमन अपने जहन्नम से निकल आया है

नज़्म गुमराह रहबर में शायर ने गुमराह रहबर को आड़े हाथों लिया है। नज़्म में जिस तरह वह गुमराह रहबर की खबर लेते हैं और जिन सच्चाइयों की तरफ इशारा करते हैं, वह उनके बुलन्द हौसले और उनके कमिटमेन्ट से वाबस्तगी (जुड़े रहने) की तरफ इशारा करते हैं। जनता की लड़ाई में अवाम के एहतेजाज का नक्शा खींचा गया है। इस नज़्म के ज़रिए उन्होंने यह जाहिर करने की कोशिश की है कि अवाम अगर मुत्ताहिद (एक जुट) हो जायें तो वह दुनिया का नक्शा बदल सकती है। 'बोल रे साथी बोल' में लोगों के हौंसले बुलंद करते हुए कहते हैं कि अगर तुम्हें हुक्मरानों को मात देनी है तो तुम्हें परेशानियेां की परवाह किए बिना आगे बढ़ना ही होगा-

चलते जाना, चलते जाना दिन हो चाहे रात
चलने से घबराना कैसा जब देनी हो मात
चलने वालों की आंखों में रस्ता निकला गोलराज महल में आग लगी है पंछी पिंजरा खोल
बोल रे साथी बोल

रेजाइयत (अच्छे ख्याल रखना) उनकी शायरी काएक अहम पहलू है। ज़िंदगी के किसी भी मोड़ पर वह मायूस नहीं होते। उन्हें इस बात का पक्का विश्वास है कि उनका आनेवाला कल रोशन और ताबनाक (चमकता हुआ) है। उसी तरह समाज में चाहे जितनी बुराइयां हों, हलाकत व बरबादी, बेचारगी हो, मुसीबतें हों सब पर एक दिन क़ाबू पा लिया जायगा। रोशन मुस्तकबिल की उम्मीद एक अच्छी और कामयाब ज़िंदगी की ज़मानत है। इसी लिए तरक्की पसंद कभी मायूस नहीं होते बल्कि वह तो एक अच्छे और रोशन मुस्तक़बिल की तमन्ना रखते हैं।

अपनी नज़्म 'फन' में उन्होंने बहुत खूबसूरत अंदाज में अदीबों और शायरों को उनकी जिम्मेदारियों की तरफ इशारा किया है और अपने ख़यालात व नज़ारियात को तफ़सील से पेश कर दिया है-

जहाँ भी हक़ की बात दब गई है शोरे-जुल्म में
उठा लिया है मैंने अपने सर पे आसमान को
कभी उलझ गया तो जुल्फ़े-यार बन गया हूं मैं
संवर गया तो सोलहों सिंगार बन गया हूँ मैं
कभी जो ज़हन थक गया तो ख्वाब बन गया हूँ मैं
समझ में आ गया तो इन्क़ेलाब बन गया हूँ मैं
जहां कहीं अवाम का सवाल बन गया हूँ मैं
तो जाबिरों की जान का बवाल बन गया हूं मैं
मैं फ़न हूँ मेरी उंगलियां हैं ज़िंदगी की नब्ज पर
क़दम मेरा ज़मीन पर तो कायनात पर नज़र

वामिक़ ने अपनी नज़्म 'फन' के जरिये अदीबों और शायरों को जो पैगाम दिया है उस पैगाम पर वह खुद भी चलते हुए नज़र आते हैं। उनकी शायरी सियासी और समाजी अनासिर की निशानदही करती है। इसमें इन्सानियत का दर्दो-कर्ब भी है और उम्मीदो बीम की कैफ़ियत भी। एक रोशन और ताबनाक सुबह की बशारत (अच्छी खबर) भी। अवाम दुश्मन ताकतों के ख़िलाफ़ एहतेजाज भी है और अवाम की ताक़त का इदराक (समझ) भी। उनकी नजर सिर्फ़ समाज की बुराइयों, उसकी ख़राब हालत पर ही नहीं रहती बल्कि आने वाले ज़माने में बेहतर हालात और रौशन मुस्तक़बिल पर भी रहती है। उनके यहाँ मायूसी व नामुरादी नहीं बल्कि उसके अंदर से उम्मीद की किरन फूटती दिखाई देती है।

719/416 सुल्तानपुर भावा, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामिक़ जौनपुरी की नज़्में

बोल रे साथी बोल

राज महल में आग लगी है पंछी पिंजरा खोल
कब तक यूँ ही बैठे रहना बोल रे साथी बोल
जन्ता जागी, भारत जागा, जागा सब संसार
तीखे घाव उठाने वाले खींचे है तलवार
भोर भई पौ फूटन लागी सपने डाँवा-डोल
राज महल में आग लगी है पंछी पिंजरा खोल
बोल रे साथी बोल
हाथी आया हाथी आया गांव में उठा शोर
नाच समय जब आ पहुँचा तो कौआ निकला मोर
अंधे ढोल बजाने वाले ढोल के अंदर पोल
राज महल में आग लगी है पंछी पिंजरा खोल
बोल रे साथी बोल
चलते जाना चलते जाना दिन हो चाहे रात
चलने से घबराना कैसा जब देनी हो मात
थकने वालों की आँखों में रस्ता निकला गोल
राज महल में आग लगी है पंछी पिंजरा खोल
बोल रे साथी बोल

ज़ोया-तानिया

आज फिर फ़ितनए[1]-अफ़रंग[2] की ढलती हुई शाम
अपनी तारीकियों में आप दबी जाती है
और फ़ासिस्ट दरिंदों को इशारे दे कर
अपनी ही मौत का ग़हवारा[3] बनी जाती है
मगर इक अहमरी[4] दोशीजा[5] जरी[6] कुर्रतुल ऐन
अपनी तहजीबो-तमद्दुन[7] की क़सम खाती हुई
इन्तेकामन[8] तहफ्फुज[9] की जलाकर मिशअल
मौत मुँह में चली जाती है दर्राती[10] हुई
कोहे[11] कफकाज[12] की बर्फीली हवाओं से कहो
इस जवाँ खून के मासूम शरारे लेकर
बरबरीयत की कमीं गाँहों[13] पे शोले बरसाये
थक के बैठे हुए शाहीं के जला दें शहपर[14]

(यह नज़्म मैंने सोवियत रूस की एक अठारह साला लड़की ज़ोया के उन कारनामों और कुर्बानियों से मुतास्सिर हो कर लिखी थी जो उस दोख्तरे-रूस ने फ़ाशियत के ख़िलाफ़ अपने वतन की कुर्बानगाहे-हुर्रियत पर पेश कीं-वामिक़)

भूखा बंगाल

पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला सुख का काल
दुख की अग्नि कौन बुझाये सूख गये सब ताल
जिन हाथों ने मोती रोले आज वही कंगाल रे साथी
आज वही कंगाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
पीठ से अपने पेट लगाए लाखों उल्टे खाट
भीख मँगाई से थक-थक कर उतरे मौत के घाट
जियन-मरन के डांडे मिलाए बैठे हैं चंडाल रे साथी
बैठे हैं चंडाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूख है बंगाल
नद्दी नाले गली डगर पर लाशों के अम्बार
जान सी ऐसी मंहगी शै का उलट गया व्योपार
मुट्ठी भर चावल से बढ़ कर सस्ता है यह माल रे साथी
सस्ता है यह माल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
कोठरियों में गांजे बैठे बनिये सारा अनाज
सुन्दर नारी भूख की मारी बेचे घर-घर लाज
चौपट नगरी कौन संभाले चार तरफ भोंचाल रे साथी
चार तरफ भोंचाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूका है बंगाल
पुरखों ने घर-बार लुटाया छोड़ के सब का साथ
माएं रोये बिलक-बिलक कर बच्चे भए अनाथ
सदा सुहागन विधवा लागे खोले सर के बाल रे साथी
खोले सर के बाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
अत्ती-पत्ती चबा-चबाकर जूझ रहा है देस
मौत ने कितने घूंघट मारे बदले सौ-सौ भेस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल बिकट फैलाए रहा है बीमारी का जाल रे साथी
बीमारी का जाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
धरती माता की छाती में चोट लगी है कारी
माया काली के फन्दे में वक्त पड़ा है भारी
अब से उठ जा नींद के माते देख तो जग का हाल रे साथी
देख तो जग का हाल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल
प्यारी माता चिन्ता मत कर हम हैं आने वाले
कुंदन रस खेतों से तेरी गोद बसाने वाले
खून-पसीना हल-हंसिया से दूर करेंगे काल रे साथी
दूर करेंगे काल
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल

1. फसाद, बगावत। 2. फिरंगी, अंग्रेज़। 3. हिन्डोला। 4. बहुत लाल। 5. कुँवारी। 6. गोटा किनारी वाला। 7. रहने का तरीका। 8. बदले की भावना। 9. सुरक्षा। 10. दनदनाती। 11. पहाड़। 12. पहाड़ का नाम। 13. शिकार करने के लिए छुप कर बैठने की जगह। 14. चिड़िया का उड़ने वाला पर।

मीना बाजार

मिनारों पर अजां हुई
यह शाम भी कहाँ हुई
पुजारी मंदिरों में आके शंख फूँकने लगे
यह शाम भी कहाँ हुई
गजर बाजा, बटन दबे
वह कुमकुमे चमक उठे
दुकानें जगमगा गईं
निगाहों में समा गईं
वह महवे[1]-शान सीम बर[2]
फुसूं[3] तराज़े[4]-रह गुज़र
दरों में अपने आ गई
और अपनी कायनाते-ग़म पे खुद ही जैसे छा गईं
लबे-ख़मोश में नई कहानियाँ लिए हुए
रुखों[5] पे ग़ाज़ों[6] से लदी जवानियाँ लिए हुए
तपे हुए दिमाग़ो-दिल में कितने शोले मुश्तईल[7]
ये वो ख़िज़ाँ रसीदा[8] है बहार जिन से मुनफ़इल[9]
ज़माने के सुलूक से
ये तंग आके भूक से
रगड़ रही है ऐड़ियाँ
मोज़ल्लतों[10] के ग़ार में
और इन्तेक़ाम के लिए
खड़ी है इन्तेजार में
समाज की ये बेटियाँ
समाज ही की बीवियाँ
नज़र के तेज भालों से
शराब के पियालों से
फ़रिश्तों से शरीफ़ तर
जमीं के रहने वालों से
ख़ेराजे-हुस्न पायेंगी
हंसेगी और हंसायेगी
ये वो हैं जिनकी जिंदगी
मसर्रतों से दूर हैं
ये वह हैं जिनकी हर हँसी
जराहतों[11] से चूर है
ये वह हैं जिनका घर बुलंदियों पे रह के पस्त है
ये वह हैं जिनकी फतह भी शिकस्त ही शिकस्त है
मगर इन्हीं पे संग सारियों[12] का हुक्मे-आम है
वजूद में यह कब से और किस तरह से आ गई
जवाब इसका फिर मिलेगा यह तो वक्ते-शाम है
थके हुए निज़ाम की यह शाम भी कहाँ हुई
चलो अब आगे बढ़ चलें
यहाँ ठहर के क्या करें
हमारे हम सफर न जाने किस तरफ चले गये
अकेला हम को छोड़कर
मगर दिले-हजीं[13] ठहर
वह सामने दो राहे पर
यह कैसा इन्तेज़ाम है
यह बाद[14] पा सवारियों पे कैसा एहतेमाम[15] है
ऊरूसी धूम-धाम है
यह बेबसी की रुख़्सती
उजाले में यह तीरगी[16]
सदाए नै से किस की हर फ़ोग़ाँ[17] लिपट के रह गई
ये शाम भी कहाँ हुई
अभी-अभी जवान साल
एक जिंदा लाश को
हरीर में लपेट कर
मसर्रतों के दोश पर
किसी तेलाई कोहना साल मकबरे को सौंपने
यह लोग लेके जायेंगे
और इसके बाद होगा क्या
यह लोग भूल जायेंगे
किसी ने ग़ैज़ में कहा
यह कौन बद शगून है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ुबान इसकी खींच लो
ग़रीबे-शहर हो कोई
तो शहर से निकाल दो
उधर निगाहे-अहरमन
हवेलियों पे ख़न्दा ज़न
इधर सवादे-वक़्त पर
उम्मीदो-बीम की किरन
थके हुए निज़ाम की यह शाम भी कहाँ हुई
चलो अब आगे बढ़ चलो

यहाँ ठहर के क्या करें
हमारे हम-सफर न जाने किस तरफ चले गये
अकेला हम को छोड़ कर
किधर से आ गया किधर
यह तंगो-तार रास्ते
मगर ये किस की चीख पर
क़दम हमारे रुक गये
किसी नेहाँ[18] खाने का लुटा हुआ शबाब है
कि हाथ में समाज के शिकस्ता एक ख़्वाब है
मुग़्नियों को दो खबर
कि इसके तार-तार में
दबे हुए शरार में
न जाने कौन राग है
न जाने कितनी आग है
मगर यह किस के वास्ते
यह तंगो, तार रास्ते
सदाओं पर सदाएं दें
यहाँ तो अब कोई नहीं
बस एक चिराग झिलमिला रहा था वह भी बुझ गया
मिज़ह[19] लरज़ के रह गई
और इक निगाहें-वापसीं
फ़सानें कितने कह गई
चिता भी खाक हो चुकी
जवानी खून रो चुकी
ये कौन शै दबे कदम ठिठक के दूर हट गई
दरिन्दें चढ़ते आ रहे हैं मरघटों की राह में
सियाही बढ़ती जा रही है फिक्र की निगाह में
यह मुख़्तसर सी दास्तां
और इस में इतनी तल्खियाँ
तुलूए-शब में अलअमां
यह आधी रात का समां
थके हुए निजाम की यह शाम भी कहाँ हुई
चलो अब आगे बढ़ चलें
यहाँ ठहर के क्या करें
हमारे हम सफ़र न जाने किस तरफ़ चले गये
अकेला हम को छोड़ कर

1. लीन। 2. चाँदी जैसे जिस्म वाला। 3. जादू। 4. होशियार। 5. चेहरे। 6. पावडर। 7. भड़कता हुआ। 8. बे रौनक। 9. लज्जित। 10. रूसवई, जिल्लत। 11 जख़्म। 12. पत्थर बरसाना। 13. दुखी। 14. भीड़। 15. हवा पर सवार। 16. इन्तेजाम। 17. आवाज़। 18. मजा, चारों ओर। 19. शोले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

मुक्ता

हर पड़ोरी

औरतें बाँटी जाती हैं हिस्सों में
औरतों के पैरों के नीचे होती है पैरों की लंबी श्रृंखला
औरतों के नाखूनों में चुभे होते हैं असंख्य नाखून
औरतों के माथे पर टँकी होती हैं कई जोड़ी आँखें
औरतों के स्तनों के बीच कुलबुलाते हैं दुधमुँहे बच्चे
औरतों की देह के चारों ओर रोपे जाते हैं बगीचे
औरतों की देह को फैलाया जाया है कँटीले तारों के बीच
औरतें खेतों के बीच खड़ी की जाती हैं हल में जुती हुई
परंपरा के जुए को कंधे पर रखे नग्न इंद्रप्रियायें
इंद्रप्रियायें, धरती के टुकड़ो से बेदखल–
गहने को आतुर है संपूर्ण आकाश
वर्षा विहीन खेतों में गाये जाते हैं गीत
औरतों को समझना होगा गीत और गीत का फर्क।

हरी डालियाँ जंगल का हिस्सा हैं

अर्से बाद सूखी डालियों पर आ गई है हरी पत्तियाँ
नवजात शिशुओं ने माओं की गोद में खोली हैं आँखें
हरी डालियाँ झंझावातों में लहरायी हैं झुकी नहीं
हरी डालियाँ अंधड़ तूफानों में धरती को स्पर्श कर और मजबूत हुईं
हरी डालियाँ वर्षा में आकाश से बतियाकर नक्षत्रों के रहस्य बूझ आईं
हरी डालियाँ धूप में गर्माकर लौह बनीं
हरी डालियों ने मात दी पतझड़ को बार-बार
हरी डालियों ने सतर्कता से की शत्रुओं की पहचान
हरी डालियाँ बनी रहीं जंगल का हिस्सा
कहीं भी रहें, कहीं भी उगें, जंगल रहता है उनके अंदर
शाश्वत हरेपन की परिभाषा बनीं हरी डालियाँ
हरी डालियों पर पड़ने लगी हैं झुर्रियाँ
डालियों की संधि में सूरज उगता है बुजुर्गियत से भरा हुआ।

औरत का चेहरा

शोभायात्रा में सिर पर कलश उठाये औरत के चेहरे पर मढ़ता जा रहा है गाय का चेहरा
धार्मिक जुलूसों में शामिल औरतों के चेहरे अक्सर बदल जाते हैं गाय के चेहरे में
औरतों के चेहरों पर शताब्दियों से मढ़ा जाता रहा है गाय का चेहरा
औरत को एक सुबह महसूस हुआ उसका चेहरा कई अवसरों पर
बदल जाता है गाय के चेहरे में
प्रश्नाकुल औरत ने उठाई आवाज़
प्रतिध्वनियों के मरुस्थल में चौंकती रही ध्वनि
पिछले खंभे के पास था औरतों की उन हत्याओं का शोर
जिन्हें आदमखोर बाघों के नाम की जिल्द में बाँधा गया
या घाँटी देकर गड्ढों में दफ़नाया गया
अंतिम छोर की एक शिला
निर्वासित... शापित शिला
शिला नहीं,... गति को थिर करने का पाषाण-उपक्रम
यह कथा औरत को गाय में रूपांतरित करने की है
औरत प्रश्न करती है अतीत से... वर्तमान से
खुलने लगी है पूँजी और पितृसत्ता की दुरभिसंधियाँ
औरतें, संकलित अनुभव-सिद्ध दीप्त हैं अपने आलोक से
आधे-अधूरे चेहरे बदलने लगे हैं पूरी औरत में।

बुनकर की आत्मकथा पर

महारानी के पास था दुनिया का सबसे खूबसूरत, बेशकीमती कालीन
कालीन, महारानी को ईरान से उपहार में मिला था।
महारानी की मृत्यु के बाद पत्थरों से बाँध दरिया में डाल दिया गया
कालीन
कालीन ताज के साथ ही दुनिया से विदा हुआ
कुछ मेहनतकश लोगों ने दरिया में डाला हाथ
झुक गया नदी का आँचल
बेल-बूटों का नगमा समा गया पोरों में
फिर बुनने लगे हाथ दुनिया के सबसे खूबसूरत कालीन।
अमीरों के फर्श पर बिछने वाली कालीन आमघरों में रौनक बनी
साथ ही बुनकरों की रोजी-रोटी आपसी रिश्तों की गर्माहट भी
कालीन के साथ ही बुने गए सपने
बच्चों के खिलौने, ईद की सेंवई, दीवाली के दीये, बेटी की रुख़्सती
माँ-बाप की बूढ़ी आँखों में उतरने लगे सपने
दो आसमानों के बीच हुआ एक बड़ा सौदा
बुनकर के हाथ का
कालीन का रंग लाल है
लाल रंग के कालीन दुनिया में सबसे अधिक पसंद किये जाते हैं।

बी-4/1, अन्नपूर्णा नगर कॉलोनी, विद्यापीठ रोड, वाराणसी-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

रोहिताश्व

माण्डवी नदी से : बिम्ब एक

तुम आदि मंत्र हो
और आदि जल राशि
तुम आदि नारी हो
और आदि त्रिपुर सुंदरी
तुम आदिम ऋत हो
और काल चक्र की सहयात्री।

तुम्हारे वक्षस्थल में
सिमटना चाहूँगा
एक.... शिशु सा।

तुम्हारे प्रवाह में
बहना चाहुँगा
एक दिशाहीन नाविक सा...।

तुम मंत्र सिक्त हो
तुम रसपूर्ण हो
तुम जीवन यामिनी हो अनादि काल से
मानव संस्कृति की...।

माण्डवी नदी से : बिम्ब दो

तुम नारी रूपा हो
लहराती बलखाती
त्रैलोक सुंदरी सी
विष्णु प्रिया सी
आदि स्रोत सी
सरल रूपा कृति सी...।

तुम्हारे नाभि कुण्ड से
फूटना चाहता हूँ
आदिम सरस्वती की ऋचाएँ...।

तुम्हारे
अर्घ्य-जल में
बिखेरना चाहता हूँ
ऋगवेदीय सूत्र।
अर्पित करना चाहता हूँ
सामवेदी गीत
करना चाहता हूँ
अथर्ववेदीय आयोजन
अनाम ऋषि सा
तुम्हारे तट पर।

तुम सिमट आओ
मेरी रिक्त अंजुरी में
पीयूष धारा सी
जीवन शक्ति बनकर...।

तुम हो सम रुपा
आदि सरस्वती की
तुम हो सहगामिनी
आदि शक्ति की...।

माण्डवी नदी से : बिम्ब तीन

नारी देह की तृषा में
लहरों के अवगुण्ठन में
होना चाहता हूँ
विसर्जित
गहरे, गहरे और गहरे...।

किस पाताल संरचना में
खोई हो तुम
आदिम यौवन की
वासन्ती गंध बनकर...।
शेषनाग की गुंजलक
सा बिखरकर
पाना चाहता हूँ
आदिम पुरुष सा आवेग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी लहरिल नागिन देह के करीब।

तुम आदिम ऋचा स्रोत हो
ओ माण्डवी
ओ सृजन गर्भ शक्ति...।

तुम देना
इस अगस्त्य पुत्र को
अपनी अंजुरी में
समुद्र को
प्राक्षण कर लेने का साहस...।
कॉप रहा है
दिक् दिगन्त
किसी परशुराम की हँकार से
मिथकीय संरचना के अन्तरिक्ष में।

कर रहा है अर्पित
अपने श्रद्धासुमन
गाँव-चौबारे और अनाम दिशा से
आया हुआ कोई पथिक।

शीश झुकाए हुए कोई मानस
कर रहा है अपने पूर्वजों का स्मरण
अधखोये भाव से
तुम्हारे तट पर।

आइने की तरह झिलमिला रहा है
तुम्हारे ही जल में
राग-वसंत के खोए हुए अंतरा में
आदिलशाह का समर पैलेस
पंजिम शहर के आसपास

झुकी हुई है खामोश प्रार्थना
सेण्ट आगस्टिन की मीनार
ओल्ड गोवा के जेवियर्स चर्च के पास।

तुम्हारे ही अंतरीप में
योग निदा में निमग्न है
कोई विसर्जित गणेश।
काल चक्र की लहरों पर...।

माण्डवी नदी से : बिम्ब चार

ओ माण्डवी
ओ पयस्विनी
तुम्हीं ने जताया है
नदी की कोख में
सोया रहता है
समुद्र का हा हा हाकार।
दो नेत्रों के शून्य में
समा सकता है आर्द्र आकाश।

ओ मातः शक्ति
बिखेर देना
अपने स्नेह कण
मेरी खुली हथेली पर
कहीं निःशेष न हो जाऊँ
किसी अनाम शंख-सीप सा....।

ओ माण्डवी
ओ सृजन गर्भ शक्ति
ओ आदिम सरस्वती रूपा
देना मंत्र सिक्त आशीष
अपनी दिशाहारा संतान की....।

हिन्दी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, तालेगाँव-गोवा-403206

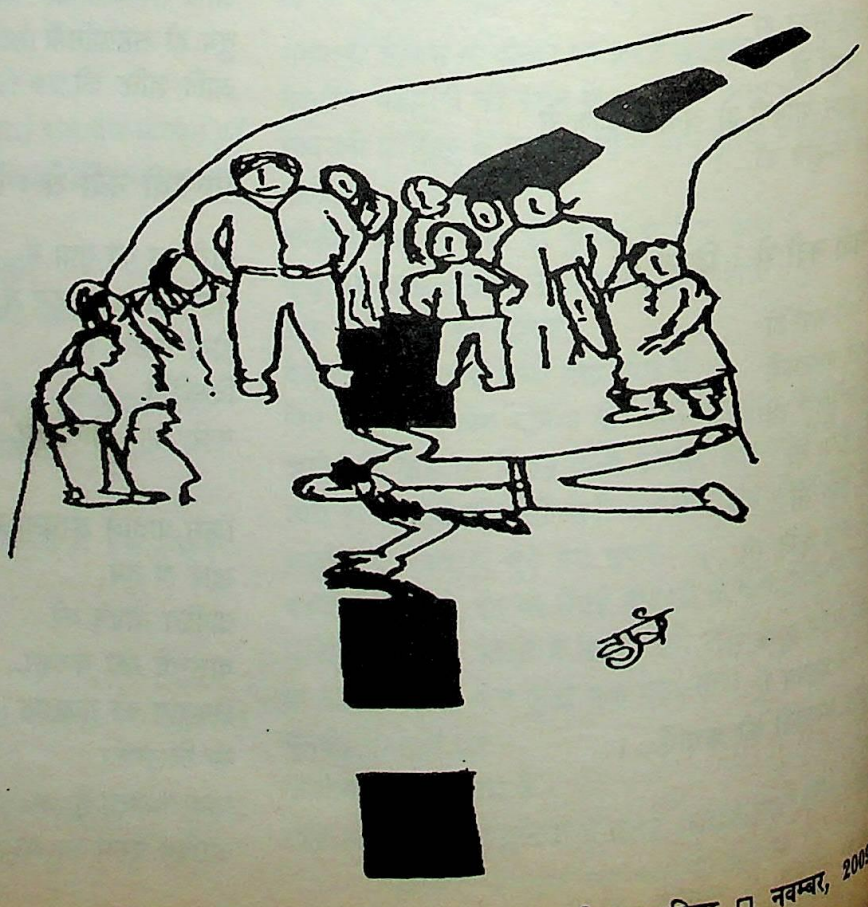

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

पीतांबरदास सराफ 'रंक'

आसमान मत पाल

आसमान
और ऊपर चला गया
धरती की पहुँच से
धरती ने उसे
पकड़ना चाहा
वो छू भी न सकी
और जमीन पर
आ गिरी

धरती ने
उसे पुचकार कर कहा
अपने ये पेड़ पौधे
ये पहाड़ नदियाँ
ये पशु पक्षी
जीव जंतु
कहाँ-कहाँ।

गाँव की झोपड़ी
धुले गिने बर्तन
मैले कपड़े
धूल सने बच्चे
कहाँ-कहाँ

ढलते कल ने भी कहा
मेरा बेटा पत्थर तोड़ रहा है
बेटी महुआ बीन रही है
और उनकी माँ
चक्की माँज रही है
ये अहसास
कहाँ-कहाँ

धरती की कोख से जन्मी
धरती पर रह
मत भर आसमान मत पाल।

गरम सोते

वह ऐसे ही नहीं खोद रहा है
जड़ों को
उसे ज़मीन में धँसी हुई
हवा के
उस अंश की खोज है
जो खुरेदने पर ही
भाँपी जा सकती है
भाँपने के बाद वह लहराती
हवा की
लहरों में बहकर
उस अज्ञात स्थान के लिये दौड़ेगा
जहाँ हवा
सुरक्षित महसूस कर रही है
अपने आवरण हटाने के लिये
उसने वह सब कुछ देख लिया
जो उसे नहीं देखना चाहिये था
वह खामोश है,
स्तब्ध है
अभी डल झील का पानी जमा हुआ है
किसी की निस्तेज करने वाली गर्मी
उसे पिघला देगी
और वह उष्णता लिये बिखर जायेगी
उन्मादीपन से
ठण्डी झील में से गरम सोते बाहर बहकर
एक नये अविष्कार को जन्म देंगे
और वह एक खबर होगी
आधुनिक युग की।

भोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानी के ब्याह को...

प्रिया तेंदुलकर

लंदन का एक उपनगर। जाड़े की रात। रात के नौ बजे का समय। मैं अकेली सुनसान सड़क पर अपनी पक्की भारतीय छोटी-सी नाक पर गिरनेवाली बर्फ़ झेलते हुए निर्भयता के साथ चलती, स्वयं को बार-बार प्रेरित करती हुई ट्यूब स्टेशन की तरफ़ जा रही हूँ। मेरे शरीर को पूरा ढका हुआ लंबा, लाल रंग का ओवरकोट, सिर पर कानों तक ढकी हुई काले रंग की गोल टोपी, गले में लिपटा काले रंग का ही स्कार्फ! कड़ी ठंड से बचने हेतु यह सारा इंतज़ाम है। रास्ते से गुज़रने वाला कोई टैक्सीवाला मेरे पास आते ही रफ़्तार कुछ कम कर देता है और प्रतिक्रिया न मिलने पर तेज़ी से निकल जाता है। टैक्सी का किराया दे सकूँ, इतने मेरे पास पैसे नहीं हैं।

अचानक एक कार मेरे सामने आकर रुक जाती है। अंदर बैठा आदमी लगभग चिल्लाता है, "हे बेबी! केअर फ़ॉर सम फ़न?"

मैं नज़रअंदाज़ करती हुई अपनी गति पर क़ायम रहती हूँ। वह पुनः पिनपिनाता है, "हे कम ऑन"। मैं बिल्कुल विचलित नहीं हूँ, यह पता चलने पर गीली सड़क पर से एक विशिष्ट आवाज़ के साथ कार निकल जाती है। मैं निश्चिंत हो जाती हूँ।

ठंडी हवा का झोंका गालों को चुभने लगता है। लगातार गिरने वाली बर्फ़ की फुहारों से मेरी छोटी-सी नाक का अग्रभाग लाल हो गया है। तब चाचाजी के शब्द मुझे याद आते हैं, "कानी के ब्याह को सौ-सौ जोखिम!" मैं मन-ही-मन हँसने लगती हूँ। मेरे पैरों में मौजूद असली भारतीय 'बाटा' सैंडिल्स् गीले होकर अंदर के मोज़ों से चिपकने लगे हैं। नायलॉन के स्टॉकिंग्ज पहनकर भी पैर पत्थर के बन गए हैं। यांत्रिकता से, जैसे कोई चाबी से उन्हें चला रहा हो।

बिस्तर पर पड़े-पड़े ही पैरों की गति पर सोचते हुए मैं जाड़े के दिनों में पहने जाने वाले जूते लाने का फ़ैसला करती रही हूँ। भारतीय सैंडिल्स डालने के मेरे आग्रह पर हमेशा रॉबर्ट बहुत चिढ़ जाता। उसके कहने पर कि, 'इस क्रिसमस को मैं तुम्हें जाड़े के जूते ख़रीदकर दे दूँगा' मैं तड़ककर बोली, 'ना-ना, पता नहीं इस जाड़े के पूरे मौसम में मैं नौकरी पर रहूँगी या नहीं ? मुझे तो यह अनावश्यक ख़र्च लगता है। वैसे भी वह जूते पहनकर मैं कौन से देश-विदेश की सैर करने वाली हूँ? अगर बर्फ़ धुआँधार गिरने भी लगी तो कंपनी की तरफ़ से मिले मॉस्को शूज़ हैं ना ? वही पहन लूँगी। लेकिन अभी तो उसकी भी ज़रूरत नहीं लगती।"

सच्चाई यह है कि मैंने रॉबर्ट को यह बात कभी नहीं बतायी कि कंपनी के मॉस्को-शूज़ बहुत ही वज़नदार और बेढब हैं, जिन्हें पहनकर मैं भालू की तरह लगती हूँ। यह भी उसे कभी नहीं बताया कि, सेवा मुक्ति तक मैं इसी नौकरी में शायद टिकी रहूँगी। पच्चीस-तीस पौंड उन जूतों पर ख़र्च करने की बजाय वही रुपये मुंबई, अपने घर भिजवाना मुझे अधिक उचित लगा। रॉबर्ट से यह सच्चाई छिपाकर मैंने झूठ बोला, कि मैं एक सघन घर की लड़की हूँ। अपने शौक़ से यहाँ एयर हॉस्टेस की नौकरी करती हूँ। अपने बारे में सब कुछ सच बताकर झूठ का भंडाफोड़ करने की नौबत अभी तक तो नहीं आई है और आएगी भी नहीं, अपनी होशियारी को सोचकर पल-भर के लिए मैं खुद पर ही इतरा रही हूँ।

मेरी स्युइड की पैंट चुभती ठंड के कारण पैरों से चिपकने से रात के सन्नाटे में उसकी 'सपसप' आवाज़ आ रही है जो मेरे अकेलेपन को तीव्र होने से बचा रही हैं। आँखों में जलन हो रही है। हाथों से उन्हें मलना चाहा तो हथेली पर पड़ी बर्फ आँखों में चली गई और दाहिनी आँख से पानी बहने लगता है। ठंड से बेजान हुए गालों को उस पानी की गर्मी ने संवेदनशील बना दिया है। इच्छा हो रही है कि बायीं आँख से भी पानी की धारा बहे। आजकल आँखों से ऐसी जलधाराएँ बहती ही नहीं। केवल आँख भर आती है, जैसे रॉबर्ट के घर से विदाई के समय भर आई थी, मानो अभी रो पड़ूँगी। लेकिन रोयी नहीं। चलो अच्छा हुआ। वरना उस सफ़ेद भीड़ के सामने रोना मुझे क़तई नहीं भाता।

प्लेटफ़ॉर्म में घूसने वाली ट्यूब की आवाज़ कानों में पड़ने से मैं अचानक चौंक गयी हूँ। जेब से पैसे निकालकर गिनती हूँ और खिड़की के पास चली आती हूँ। 'वन हीथ्रो' मेरे कहने पर, होंठों में ही कुछ बड़बड़ाते हुए वहाँ का आदमी टिकट मेरी ओर फेंकता है। छिले हुए केले की तरह उसका चेहरा सफ़ेद है। मेरा श्यामवर्ण उस पर स्पष्टता से झलक रहा है।

मैं प्लेटफ़ॉर्म पर आती हूँ। अभी-अभी ट्यूब गुज़र चुकी है। मैं बेवजह आगे की ओर चलती हुई प्लेटफ़ॉर्म के दूसरे छोर पर आकर रुक गयी हूँ कि अचानक मेरे कंधे के पीछे से आवाज़ आती है, "क्या तुम्हारा दोस्त तुम्हें घर तक छोड़ने नहीं आता?" मैं चौंकती हूँ और पलटकर देखती हूँ। बढ़ी हुई दाढ़ी तथा फटे-पुराने कपड़ों में एक कमज़ोर कंकाल बूढ़ा खड़ा होता है। वह आगे कहता है, "डोंट कॉल हिम अ फ्रेंड इफ़ ही डज् दिस टू यू।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं जबरन मुस्कुराती हुई दूसरी तरफ़ देखने लगती हूँ। उससे अपनी घबराहट छिपाने की कोशिश में हूँ। बूढ़ा कोई अंग्रेज़ी गीत गुनगुनाता मेरे पास आकर खड़ा रहता है। मुझे बड़ी बेसब्री से ट्यूब का इंतज़ार है। सोच रही हूँ, अगर यहाँ से दूसरी ओर चली जाऊँ तो बूढ़े को मेरे बारे में ज़रूर ग़लतफ़हमी हो जाएगी। वहीं डटी रहती हूँ।

वह पूछता है, 'इटैलियन?'

यह अजनबी सवाल अक्सर मेरे संदर्भ में अन्य हिंदुस्तानियों के मन में भी पैदा हो जाता है।

'नो, इंडियन' मैं उसे बिना देखे ही जवाब देती हूँ।

"इमिग्रेंट?" वह गला साफ़ करते हुए फिर पूछता है, "यस" मैं यह संवाद बढ़ाने में बिल्कुल इच्छुक नहीं थी क्योंकि उसे अपनी अधिक जानकारी देना मुझे ठीक नहीं लग रहा था।

'मैं टूरिस्ट हूँ' कहकर वहाँ सभी को अपना परिचय देती हूँ। इसी बहाने कुछ समय के लिए ही सही सघन तथा रईस होने के ख़याली पुलाव पकाती रहती हूँ। लेकिन इस कारण 'कैसा लगा हमारा देस?' जैसे प्रश्नों से शुरू होने वाला संभाषण इस समय छेड़ने में मुझे रुचि नहीं थी।

आख़िरकार गाड़ी स्टेशन पर पहुँचती है और लंबी साँस लेकर मैं एक डिब्बे में घुस जाती हूँ। दरवाज़ा बंद होने पर पता चलता है कि वह 'स्मोकिंग कंपार्टमेंट' का डिब्बा है। देर रात इस डिब्बे में बैठे लोगों की नीयत का भरोसा नहीं होता है। लेकिन अब कोई विकल्प नहीं था।

डिब्बे की रोशनी में मैं तिरछी नज़र से उस बूढ़े की बैठने की जगह भाँपकर एक सुरक्षित कोने में बैठ जाती हूँ। एक कोंकणी (महाराष्ट्र) ब्राह्मण की बेटी इतनी रात लंदन में ट्रेन में स्मोकिंग कंपार्टमेंट में अकेली बैठी है, इस बात पर स्वयं मुझे यक़ीन नहीं हो रहा था। इस बात का अगर माँ को पता चल जाएगा तो उस पर क्या बीतेगी, यह सोचकर एक पल को मैं काँप उठती हूँ। वह जब मेरी उम्र की थी तब कोंकण के एक गाँव से दूसरे गाँव तक चार लोगों द्वारा उठायी 'डोली' में बैठकर जाया करती थी। उसके पिता बड़े ज़मींदार थे, जब कि मेरे पिताजी ने प्रॉविडेंड फंड से कर्ज़ा निकालकर साढ़े पाँच सौ स्क्वेअर फुट का एक सेल्फ़ कंटेंड ब्लॉक ख़रीद लिया था। मेरी माँ और मुझमें एक बड़ा अंतर था, जो मैं उसे बता नहीं सकती हूँ, क्योंकि मैं इतनी दुष्ट नहीं हूँ।

मेरे सामने वाली सीट पर एक कोट-टोपी तालबद्ध नींद की झपकियाँ ले रही थी। साथ में असली ब्रिटिश 'बेस्ड' खरटि भी जारी है। बाजू वाली सीट पर एक औरत चेहरे को रंगीन बनाकर आईने में निहारते हुए, माथे से किस कलर्स को ध्यान से चिपका रही है, मेरी ओर देखते हुए रंगीन अंदाज में पूछती है—

"ड्यूटी पर ?"

मैं सकपकाती हूँ। मेरी ऐसी दशा के बावजूद मैं ऐसी दिखती हूँ, कल्पना से मैं बुरी तरह परेशान हो जाती हूँ। झट से कंधे पर लटकाई झोली से एक किताब निकालकर उसमें चेहरा छुपा लेती हूँ। कोशिश यह कि, शायद मेरी सभ्यता और व्यक्तित्व की पहचान हो सके।

माँ की याद आई। जब मैं फ़्लाईट पर निकलती हूँ, माँ बार-बार कहती रहती है, "आधी रात या असमय अकेली मत घूमना।" कोई भी माँ अपने विश्वास को टूटते, सह नहीं पाएगी। कुछ समय पहले रॉबर्ट भी यही दोहरा रहा था, "मैं तुम्हें होटल तक छोड़ आता हूँ। प्लीज़, मैं तुम्हें छुऊँगा तक नहीं। लेकिन इतनी रात अकेली मत जाना।" अब मुझे अहसास होता है कि, उसकी नीली आँखों में झलकती चिंता मुझे माँ की याद दिला रही थी। क्या ब्रिटिश, इतने भारतीय हो सकते हैं ?

एक बार अपनी नाक पर लुढ़की ऐनक आँखों पर सरकाते हुए निरंजन ने मुझसे कहा था, "तुम दुनिया के किसी भी कोने में जाओ, इंसान के कुछ गुण-विशेषों में तुम्हें ज़रूर समानता दिखायी देगी।" उसने माँ और उसकी संतान के प्यार के कुछ उदाहरण भी बताये थे। किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर जब निरंजन बहस करता, तो उसकी फटी-सी आँखें, टेढ़ी होने वाली गर्दन और हाथों के इशारे देखकर वह कोई 'मेंटली रिटार्टेड' शख़्स दिखाई देता। एक बार उसकी बडबड़ाहट ध्यान से सुनने का स्वाँग करते हुए हँसी के साथ मैंने उससे यह बात कही, तो वह कितना भड़का था, वह याद करने पर हँसी आती है, जो किताब के आड़े छिप नहीं सकी।

अचानक दमदार आवाज़ में प्रश्न मेरे कानों में पड़ा, "कॉमेडी की किताब है क्या ?" अनजाने ही मैं किताब से चेहरा उठाकर देखती हूँ। एक नौजवान मेरी सामने वाली सीट पर न जाने कब आकर बैठा है। उसके प्रश्न के साथ ही बड़ी-बड़ी मूँछों वाले होठों में मज़ाक दबा हुआ है। उस पर अंग्रेज़ी भाषा के 'एक्सेंट' का प्रभाव है। मेरा एअरलाइंस का अनुभव बता रहा था कि वह टर्किश है। मैं चेहरे पर बिना कोई प्रतिक्रिया लाए, आँखें किताब में टिकाये रहती हूँ। इससे मेरा डर अधिक स्पष्ट हो रहा था, इसका मुझे एहसास हुआ। लेकिन, मैं किसी से बातचीत बढ़ाना नहीं चाहती हूँ। टर्किश आदमी से तो हरगिज़ नहीं। क्योंकि मैं जानती हूँ, उन्हें अनावश्यक बड़बड़ाहट बहुत पसंद है। सालभर की नौकरी का अनुभव यही कहता है। बिना हार माने वह युवक पुनः मुझसे पूछता है, "यू इंडियन?"

"यस" मैंने किताब से नज़र नहीं हटायी।

इसके बाद उसने जितने भी प्रश्न मुझसे पूछे, एक भी सुनायी नहीं दिया, क्योंकि मैं सचमुच पढ़ रही थी। पूरे साल दुनिया की सैर करने के बाद भी मेरी बेवकूफ़ी कम क्यों नहीं होती? यह सोचकर मैं स्वयं पर ही चिढ़ती हूँ।

किताब के पहले पन्ने पर रॉबर्ट ने अपने तिरछे हस्ताक्षर में लिखा है, "डिअर यू, आय नेव्हर प्रॉमिस्ड यू अ रोज़ गार्डन, डिड आय ? बट द लिलीज इन माय बॅकयार्ड लुक क्वाइट रोज़ी फ्रॉम अ डिस्टेन्स, यू नो?" नीचे, जैसे चेक पर किया जाता है, वैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शानदार हस्ताक्षर। रॉबर्ट का गुलाबी चेहरा आँखों के सामने आ जाता है।

उसने कहा था, "तुम्हें ज़रूर पसंद आएगी, यह सोचकर पिछले हफ़्ते मैंने ख़रीदी है। इसकी कथा में जो नायिका है, वह बिल्कुल तुम्हारी तरह है। तुमसे उम्र में चार-पाँच वर्ष कम ज़रूर है, लेकिन तुम्हारी तरह ही थोड़ी-सी सयानी और अधिक पागल है।"

मैं पुस्तक खोलती हूँ। यह 'स्किज़ोफ्रेनिक' नाम के चौदह-पंद्रह बरस की एक स्कूली लड़की की कहानी है। मेरी ज़िंदगी में आने वाले अनेक इत्तेफ़ाक़ पर मैं बहुत बार हैरान होती हूँ। हफ़्तेभर पहले ही कैरो की फ़्लाइट से जब मैं मुंबई लौटी, तब निरंजन ने कहा था, "इस नौकरी में एक साल में ही तुम तो 'स्किज़ोफ्रेनिक बन रही हो। तुम्हारे घर के निम्नवर्गीय ब्राह्मण जाति के संस्कार और नौकरी में मौजूद इंटरनेशनल कल्चर की सर्कसवाली दुविधा में मानसिक तौर पर तुम बदल रही हो। सोच लो, अभी वक़्त है।" इसी समय रॉबर्ट ने यह किताब मेरे हाथ में थमा दी। क्या सचमुच मैं इस संघर्ष में टूट रही हूँ, बिखर रही हूँ?

किसी स्टेशन पर गाड़ी रुक गयी है। डिब्बे में शराब की बदबू के कारण दम घुट रहा है। रात के बारह बजे शराब के अड्डे बंद हो जाते हैं। परिणामस्वरूप एक-एक बोतल, कोट और टोपी डिब्बे के दरवाज़े पर झूम रही है। स्टेशन पर मिला वह बूढ़ा दूर के कोने में जेब के सिक्के निकालकर गिनने में व्यस्त है। वह रंगीली औरत अब छाती तानकर शरारती हँसी के साथ अपना शिकार ढूँढ़ रही है। मेरी दाहिनी ओर एक पतली-सी औरत मोटा चश्मा लगाकर, सिगरेट के कश लेती हुई, बड़े से ग्रंथ में आँखें गड़ाए बीच-बीच में मेरा ध्यान आकर्षित करती है। उसके ज़ेहन में भी शायद मेरे दिमाग़ वाली खलबली मची हो।

मेरे सामने बैठा वह मूँछोंवाला टर्किश अभी भी गीली आँखों से मेरी ओर टकटकी लगाये देख रहा है। मैं पुनश्च अपना चेहरा किताब में छिपाती हूँ।

मुझे रॉबर्ट के उस तिरछे अक्षरों पर गुस्सा आता है, "मैंने गुलाब के बगीचे का तुमसे कभी वादा नहीं किया था।" मलतब, यह तो "सौ चूहे खाके बिल्ली चली हज को' वाली ही बात हुई। तुम्हारे घर के पिछवाड़े में खिली लिली देखने की यहाँ किसे पड़ी है, जो हो गया सो हो गया।"

रॉबर्ट को इस बात की तसल्ली नहीं है। वह कहता है, "तुम्हें महीने में कुछ दिनों के लिए लंदन आना है। देखना है कि मैं किस तरह की ज़िंदगी जी रहा हूँ। मेरे दोस्तों से मिलना है।" लेकिन आज तक मैं यह नहीं कर सकी। जब भी उसके ग्रुप में चली जाती हूँ, तो अपने आपको पूरब की किसी गुड़िया के रूप में महसूस करती हूँ, जो सिर्फ़ नुमाइश की चीज़ हो। वे लोग तो अपनी दुनिया में खोये रहते हैं। ज़्यादा से ज़्यादा मौसम का हालचाल पूछकर ही संवाद बनता है, "अब के बरस हमारे यहाँ तीव्र जाड़ा है..."

"हाँ, पिछली बार थोड़ी धूप निकल आयी थी।" ऐसे ही संभाषण शुरू होता है। कभी-कभी बात मेरी साड़ी और बिंदिया तक आकर रुक जाती है। रॉबर्ट और उसकी निम्नवर्गीय भीड़ के लिए हिंदुस्तान अभी भी एक अजूबा है। "भारत में बहुत बारिश होती है, क्या वहाँ पर बीटिल्स सुने जाते हैं?" जैसे प्रश्नों से वे लोग परेशान करते हैं। एक बार तो रॉबर्ट के बॉब नामक दोस्त ने "आपके यहाँ सड़कों पर बहुत साँप घूमते हैं ना?" ऐसा गंभीर सवाल पूछकर मुझे हैरान ही कर दिया था। हो सकता है उन्हें भारतीय राजनीति, इंडो-ब्रिटिश राजनैतिक संबंध, अमरीका में होने वाले चुनाव, सॉकर अथवा वर्ल्ड कप, हॉकी जैसे कमज़ोर विषयों पर काली हिंदुस्तानी लड़की से चर्चा करना पसंद नहीं हो। जो भी हो, इन सफ़ेदपोश लोगों से बातें करते समय मुझे लगता है, जैसे पृथ्वी की गोलाई में हिंदुस्तान के नक्शे पर मैं बैठी हूँ और रॉबर्ट तथा उसके दोस्त लंदन के नक्शे पर बैठे हैं। जहाँ से वे प्रश्न करते हैं और बैठे-बैठे ही चिल्लाकर मैं उन्हें जवाब दे रही हूँ। मेरे चेहरे पर छिपी परेशानी रॉबर्ट भाँप लेता है और नाराज़ हो जाता है। कोई नया विषय वह टाल देता है। हाल ही में दोनों ने इंग्रिड बर्गमन का नाटक, मेल बुक्स का टी0वी0 पर हुआ साक्षात्कार, नेशनल गैलरी की चित्रप्रदर्शनी देखी। इसमें रॉबर्ट के दोस्तों को कोई लेना-देना नहीं था। वे उसकी तरफ़ सहानुभूति से देखते हैं मानो मन-ही-मन बुदबुदा रहे हों, "शायद किसी से प्यार करता है, बेचारा!" तब मेरी हालत वैसी ही होती है, जैसे निरंजन के दोस्तों के बीच मुंबई में हुई थी। निरंजन का दोस्त-परिवार उच्चवर्गीय, मतलब सूट-बूट के ऐबवाले बिजनेसमेन हैं। यहाँ लंदन में राबर्ट के दोस्त-परिवार में बैंक क्लर्क, सायकिऑट्रिस्ट, हॉस्पिटल-स्टाफ, अध्यापक आदि मध्यवर्गीय लोग होते हैं। लेकिन यहाँ का मध्यवर्ग बंगला, घोड़ा-सवारी, नौकरचाकरों की भौतिक सुविधाओं से संपन्न है। दूसरी ओर मुंबई में निरंजन के दोस्त इसे 'स्टेटस सिंबल' मानकर सीना ताने घूमते हैं। मेरे चेहरे की उकताहट देखकर निरंजन अपना गुस्सा औरों से छिपाने की कोशिश करता है और उसके दोस्तों की भीड़ 'इन दोनों का क्या होगा' की चिंतित दृष्टि से हमें निहारती है।

जब स्कूल में थी, तब 'पृथ्वी गोल है, मनुष्य-मनुष्य के गुणविशेषों में समानता होती है', जैसी उक्तियाँ मैंने किताबों में पढ़ी थीं। लेकिन इतनी जल्दी 'सच्चाई' से अनुभूत हो जाऊँगी सोचा तक नहीं था। जो घटनाएँ घट रही थीं, उसकी कल्पना अभी मैंने नहीं की थी। निरंजन जैसा लायक़ और गुणों से संपन्न जमाई, मेरे निम्नमध्यवर्गीय माता-पिता इतनी जल्दी ढूँढ़ लेंगे, ऐसा नहीं लगता था। जिसके स्वभाव की चारदीवारी से टकराकर मैं गिर पड़ूँगी, यह मेरी कल्पना से बाहर था। कहीं हमेशा के लिए मैं उन दीवारों में क़ैदी बनकर न रह जाऊँ, इस डर से प्रेरित होकर शादी का मुहूर्त मैंने टाल दिया था। इतना साहस मेरे अंदर प्रथमतः आया था। शादी से पहले ही अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने हेतु एयर हॉस्टेस बनने का मेरा फ़ैसला निरंजन द्वारा इतनी आसानी से मान लेना मेरे लिए अचरज की बात थी। इस नौकरी में रॉबर्ट के रूप में मेरे सपनों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षित राजकुमार अनजाने ही मेरे करीब आने लगा और दिन-ब-दिन मतलब आज की रात तक दोनों के इच्छानुसार सब कुछ घटित हो रहा था।

"अंग्रेज़ी पढ़ सकती हो?" मेरे सामने वाले टर्किश ने पूछा। अब मुझे विश्वास हो गया कि यह कोई सीधा-सादा टर्किश नहीं।

"कोशिश कर रही हूँ।" अस्पष्ट शब्दों में मैंने कहा।

"मैं भी वही करता हूँ, लेकिन कोई फ़ायदा नहीं है। यह इतनी बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ने की बजाय कोई 'प्रेमकथा' क्यों नहीं पढ़ती? जल्द ही अंग्रेज़ी सीख जाओगी। या कोई ब्रिटिश प्रेमी ढूँढ लो।"

हे भगवान, अब मैं इसका क्या करूँ? कुछ देर पहले दरवाज़े के पास झूमने वाली कोट-टोपी वहीं पर उल्टियाँ करने लगती है। पहले से सिगरेट और शराब की गंध में अब एक और बदबू घुल जाती है। घुटन असह्य हो जाती है। मैं थैली से एक लौंग निकालकर चबाने लगती हूँ।

"क्या खाया तुमने?" टर्किश ने पूछा।

कहना तो चाहती थी कि 'तेरे बाप का क्या बिगड़ गया, जो इतनी पूछताछ कर रहा है?'

लेकिन मैंने बताया, "क्लोव"

"क्या?"

"क्लोव... क्लोव" यह तो हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ा है।" मैं मन-ही-मन बुदबुदाई। फिर भी वह 'क्या-क्या' रट लगाये रहा।

"यह एक नशीली चीज है, जिसे खाने के बाद आदमी झूम उठता है।" मैंने थोड़े गुस्से में ही कहा और वापस किताब में देखने लगी।

"तुम हिंदुस्तानी लड़कियाँ नशीली चीज़ खाती हो?"

"हाँ, क्लोव जैसी स्ट्राँग चीज़ कभी-कभार खा लेती हैं।"

"हमारे तुर्किस्तान में तो ऐसा नहीं होता। वुमन प्यूअर होम, टुसबंद, चिल्ड्रन... दॅटस् ऑल, नो स्मोक, नो ड्रिंक, नो वर्क... नथिंग, आय किंग! मॅन किंग! वर्क्स, मनी, वुमन, होम, कुक..."

पलभर के लिए मुझे वहम हो जाता है कि निरंजन साठे टर्किश नक़ाब ओढ़कर मेरे सामने बैठा है। दूसरे पल वह मुझे अजनबी नहीं, परिचित लगने लगता है। उसके प्रति मेरा डर ख़त्म हो जाता है। एक मीठी-सी मुस्कान मैं उसे भेंट करती हूँ।

रॉबर्ट कहता है, "तुम हिंदुस्तानी लड़कियाँ इस तरह से हँसती हो कि बस!... मैंने संसार के हर मुल्क की लड़कियाँ देखी हैं, लेकिन हिंदुस्तानी लड़कियों की मन मोह लेने वाली और अपने जाल में फंसाने वाली काफ़िर हँसी कहीं नहीं देखी। आपके साथ खाने के लिए पिक्चर देखने के लिए आयेगी। आपके दिये हुए उपहार भी हँसकर स्वीकार करेगी, किसी भी विषय पर रुचि लेकर बहस करेगी। घर तक छोड़ने का काम आप पर सौंप देगी और घर आने पर 'धन्यवाद' देकर मीठी मुस्कान के साथ अलविदा करेगी। घर बुलाकर चाय या कॉफ़ी के लिए पूछना या रात आपकी बाँहों में गुज़ारना तो दूर की बात है, 'गुडनाइट किस' तक नसीब नहीं होता है। जैसे यह उनकी राष्ट्रीय संपत्ति हो।"

मेरे हँसने का उस टर्किश पर कुछ ज़्यादा ही असर होता है। वह पूछता है, "कॉफ़ी पीने चलोगी?"

मैं सकपकायी। यह तो सचमुच तुर्किस्तान के निरंजन साठे निकले, जो अपनी बीवी को घर की चार दीवारी और पर्दे में रखकर परायी औरत को कॉफ़ी के लिए पूछते हैं।

"मैं पुरुष हूँ, इसीलिए जो चाहे कर सकता हूँ। तुम मेरी पत्नी रहोगी। पैसों के लिए मेरी पत्नी पराये मर्दों के बीच जाकर काम करे, मुझे मंजूर नहीं है। नौकरी करने वाली औरतों की मेरी नज़र में कोई इज्ज़त नहीं है। इसीलिए मेरी पत्नी नौकरी नहीं करेगी।" यह निरंजन की ठोस राय है।

मैं झल्लाकर उससे पूछती हूँ, "यह तुमसे किसने कहा कि, स्त्री पैसों के लिए घिनौने काम ही करती है। तुम्हारे दफ़्तर में जो भी नौकरीपेशा औरतें हैं, क्या वे सभी बुरी हैं? और तुम 'अपने ध ंधे के लिए' इतनी औरतों से मेल-जोल रखते हो, तो क्या वे भी भ्रष्ट हो जाती हैं ? लेकिन वह मेरी बातें अनसुनी कर देता है।

"जो औरत रंगरेलियाँ मनाती है, उसके साथ मैं क्यों शादी करूँ? मैं तुमसे शादी करूँगा।" निरंजन के इन विचारों से मैं परेशान हो जाती हूँ। ऐसे निम्नस्तरीय विचारों के आदमी का साथ मुझे जीवनभर निभाना होगा, इस कल्पना से ही घिन लगती है। मेरी माँ से जब मैंने यह बात कही तो उसने कहा, "अरी, वह तुमसे शादी करने के लिए तैयार है ना? फिर तुम क्यों चिंता में डूबी हो ? वैसे भी कौन-सा पुरुष अपनी स्त्री के साथ आजीवन वफ़ादार रहता है। इधर-उधर मुँह मारना तो उसका गुण-विशेष होता है। लेकिन यह भी कुछ कम नहीं कि वह विवाह के बंधनों को मानता है। कोई भी पुरुष अपनी पत्नी को इतनी आसानी से नहीं छोड़ सकता। बस हमें तो अपनी मर्यादा में रहना चाहिए।"

"कॉफ़ी पीने आ रही हो ना?" उस टर्किश ने मेरी स्मृति-शृंखला को भंग कर दिया है। मेरी घबराहट बढ़ती जा रही है। उसके साथ बर्ताव में मेरी ही ग़लती हुई है। लौंग की बात को बढ़ाना नहीं चाहिए था। शायद मुस्कुराहट बहुत महँगी पड़ेगी।

अब मैंने अंतिम शस्त्र निकाला है, "नहीं, मेरे पति मेरी प्रतीक्षा में होंगे।"

"यू मॅरिद? यू इंदियन" उसने पूछा है।

"नो, मैंने एक ब्रिटिश के साथ शादी की है।" जो वाक्य दिल ही दिल में मैं हज़ार बार कह चुकी हूँ, उसे आज प्रथमतः जुबान से कह दिया है।

आज शाम को ही ॲना के घर उसके भाई ने मुझसे पूछा था, "क्या ब्रिटिश के साथ शादी कर तुम्हें ब्रिटिश पासपोर्ट प्राप्त करना है?" मेरी तरफ़ से कोई प्रतिक्रिया न मिलने पर उसने फिर बेशर्मी से कहा, "बहुत-सी हिंदुस्तानी लड़कियाँ ब्रिटिश पासपोर्ट और नेशनेलिटी प्राप्त करने हेतु किसी अंग्रेज़ से शादी करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य पूरा होने पर उन्हें छोड़ देती हैं। जस्ट ॲन ॲरजमेंट। रॉबर्ट और ॲना के बीच भी आजकल ऐसी ही कोई, 'ॲरेंजमेंट' है, नो स्ट्रिंग्ज ॲटच्ड! सिर्फ़ ज़रूरत के कारण बनी व्यवस्था।''

उसकी बात से असमंजस में पड़कर रॉबर्ट की तरफ़ देखा तो वह ॲना की तरफ़ देखकर मुस्कुरा रहा था। ॲना ने भी उसकी तरफ़ अर्थपूर्ण मुस्कान के साथ देखा और अपने भाई से बोली, ''ओ पीटर, यू आर बीइंग नॉटी, ये दोनों एक-दूसरे से बहुत प्यार करते हैं। है ना चंदा?''

मैं फिर भी समझ नहीं पायी। अपनी उलझन उन लोगों से छिपाने के लिए चेहरे पर मासूमियत लाकर टी0वी0 देखने लगी। कोई 'सोपऑपेरा' शुरू था। इतने में ॲना ने 'स्पॅघेटी' परोसकर थालियाँ सजाईं।

''कम ऑन, लेट्स स्टार्ट एवरी बडी।'' उसने आमंत्रित किया। रॉबर्ट, स्पैघटी की प्रशंसा के साथ मज़ा ले रहा था। लेकिन मेरा बुरा हाल था। 'स्पॅघेटी' मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। काँटा चम्मच में उसे पकड़कर खाने में यहाँ की कड़ी ठंड में भी मेरे पसीने छूट जाते हैं। रॉबर्ट ने एक थाली ख़त्म कर दूसरी के लिए ॲना से फ़रमाईश की।

''और चाहिए?'' कहकर ॲना उसके सामने वाले बर्तन पर झुक गई।

'ओ.... नो' कहकर रॉबर्ट ने उसका हाथ पकड़ लिया। ॲना कहती रही ''तुमने देखा ही ऐसे कि मुझे लगा तुम्हें और...'' आगे के शब्द मुझे सुनायी नहीं दिए। मैं ध्यान से दोनों के चेहरे देखने लगी। उनकी आँखें और बर्ताव में मुझे एक-दूसरे के प्रति विशेष आकर्षण महसूस हुआ। झट-से सारी बातें मेरी समझ में आ गयीं। मेरे नथुने फूलने लगे, माथा गरम होने लगा, होंठ फड़फड़ाने लगे। गला भर आया। सर्दी के कारण बनायी उस घर की गर्मी में भी मेरे हाथ-पैर ठंडे पड़ गए, पसीना छूट गया। घुटन बढ़ने लगी। उबकाई-सी हुई और हाथ का चम्मच टेबल पर फेंककर मैं दौड़कर बाथरूम में घुस गई। बेसिन में उल्टी की। आँखों के सामने तारे चमकने लगे। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। घर की याद आयी। माँ और पिताजी के चेहरे सामने आ गए। मेरे साथ आये क्रू मेंबर्स याद आये। सोचा, एक सफ़ेद निम्नवर्गीय ब्रिटिश नर्स के घर से निकल बाथरूम में कुछ अघटित होने से पहले यहाँ से निकल पड़ूँ। मतली के बाद बेसिन साफ़ किया ताकि किसी को मेरे देश को नीचा दिखाने का बहाना न मिले। बाहर आ गई, देखा तो ॲना, रॉबर्ट, पीटर बदहवास होकर खड़े थे।

ॲना ने मेरा हाथ पकड़कर पूछा, ''क्या हुआ चंदा? आर यू ऑल राइट?''

''थोड़ा आराम कर लो।'' रॉबर्ट बेचारा बनकर सुझाव दे रहा था। पीटर ने दवा के लिए पूछा। ''नो थैंक्स, मैं ठीक हूँ। होटल जाना चाहती हूँ।'' कहते-कहते मैंने पर्स उठा लिया। उस समय मुझे उन सब पर गुस्सा तो आ रहा था, लेकिन उन्होंने मेरे लिए जो सहानुभूति दिखायी, उस पर मैं अनायास रो पड़ी। ''इतनी जल्दी जाओगी?'' रॉबर्ट ने पूछा। ''थोड़ा आराम से बैठो, कॉफ़ी पी लो। मैं तुम्हें होटल तक छोड़ आऊँगा।'' ऐसी हालत में भी मैं उसकी समझदारी मान गयी। लेकिन वह मेरी ज़िद से वाक़िफ़ था। उसने कोई आग्रह नहीं किया। यहाँ अगर निरंजन होता तो....

''लेकिन तुम दोनों तो पिक्चर देखने जाने वाले थे ना?'' ॲना ने मेरे पीछे आते-आते पूछा।

''तुम दोनों चले जाना।' मेरे स्वरों का उपहास स्पष्ट हो रहा था। ॲना ने ब्रिटिश औपचारिकता के अनुसार कोटरॅक से कोट निकालकर मुझे पहनाने में सहायता की।

''मुझे लगता है, तुम्हें थोड़ा आराम करना चाहिए। ऐसी ठंड में तुम्हारा इतनी दूर जाना ठीक नहीं होगा। मेरी 'स्पॅघेटी' के कारण तुम्हें मतली हुई हो तो मुझे माफ़ करना।''

उसके चेहरे पर सच्चाई के भाव देखकर मैंने उसे झूठी तसल्ली देकर कहा, ''नहीं ऐसा कुछ नहीं।'' उसे 'गुडबाइ' कहकर मैं बाहर की ओर चल पड़ी।

बाहर की खुली ठंडी हवा ने कुछ पल में मुझे लपेट लिया और पहली बार लंदन के जाड़े में मुझे गर्मी महसूस हुई। मैंने उस हवा को सीने में भर लिया और जेब में हाथ डालकर सड़क पर चलने लगी। रॉबर्ट दौड़ते मेरे पीछे आया।

''चांधा, चांधा लेट मी ड्रॉप यू टू होटल... प्लीज़।''

रास्ते पर स्थित खंबे के दिये से निकलती रोशनी में रॉबर्ट का चेहरा और भी सफ़ेद लगने लगा था। वह कह रहा था, ''मैं तुम्हें स्पर्श तक नहीं करूँगा। आय ॲश्योर यू, लेकिन अकेली न जाओ। तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। इस देश में तुम अजनबी हो...''

''नो थैंक्स।'' मैंने रॉबर्ट को रोक दिया। ''मैं अकेली जा सकती हूँ। और हाँ, इसके बाद तुम मुझसे मिलने की कोशिश मत करना। बुरा मत मानना। लेकिन मेरी ओर से हम दोनों का संबंध यहाँ ख़त्म हुआ है। गुडबाइ।'' एक-एक शब्द पर मैंने ज़ोर दिया था। ''चांधा, बुरा मैंने नहीं, तुमने माना है। तुम जो समझ रही हो, ऐसा कुछ नहीं है, यू नो आय लव यू।'' मुझे लगा, फिर मुझे मतली-सी हो रही है।

''देखो रॉबर्ट हमें अब बात आगे नहीं बढ़ानी चाहिए।'' आय एम सॉरी बट आय एम शयोर ऑफ़ मायसेल्फ टू। मैं कोई सफ़ाई नहीं सुनाना चाहती। इट दज़ जस्ट ऑल ओवर।'' ''चांधा, मेरी बात तो सुनो। मेरे और ॲना के बीच कोई संबंध नहीं है। इन्वॉल्वमेंट नहीं, सिर्फ़ एक अरेंजमेंट है, तुम इतनी जल्दी शादी नहीं कर सकती हो और शादी से पहले संबंधों को नहीं मानती हो। ऐसी बातों की आदत नहीं है। मेरे शरीर को चौदह-पंद्रह साल की उम्र से ही इन संबंधों की आदत पड़ चुकी है। भूख-प्यास की तरह यह भी मेरी एक ज़रूरत है, तुम जब तक नहीं मिल सकती, तब तक मुझे यह ज़रूरत ऐसे ही पूरी करनी पड़ेगी। समझ लो, घर का खाना मिल नहीं सकता तो होटल के खाने से भूख मिटानी पड़ती है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाभाविक है। यू मस्ट अंडरस्टेंड इट, मैं तुमसे प्यार करता हूँ। ॲना और मैं मानसिक रूप से एक नहीं हैं, जो मैं तुमसे चाहता हूँ। पिछले तीस वर्षों से मैं ऐसे ही जिया हूँ। अब इस ज़िंदगी को बदल देना...।''

''लेकिन रॉबर्ट, तुम बदल जाओ, यह मेरी इच्छा नहीं है। हाँ मैं अपने आप को नहीं बदल सकती। यह मेरी आदत नहीं है। मुझे लगता था कि... एनी वे, मुझे तुमसे शिकायत नहीं है। बस, मैं इस रिश्ते को हमेशा के लिए ख़त्म करना चाहती हूँ..''

रॉबर्ट से बात करते समय मैं आसपास देख रही थी। बीच रास्ते में खड़े होकर हम लोग झगड़ रहे थे। आस-पास किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। मुंबई में अगर यह क़िस्सा घटित होता तो अबतक कितनी लड़कियाँ झाँक रही होतीं। 'गुडबाइ रॉबर्ट' मैंने कहा। मैं उसकी ओर देखना नहीं चाहती थी। लेकिन अँधेरे में एक बार देखा, रॉबर्ट की नीली आँखें पानी से भर गई थीं। उसके गुलाबी होंठ थरथरा रहे थे। नथुनों की लाली नज़र आ रही थी।

''यू श्योर?'' उसने कहा।

''यस रॉबर्ट, वेरी मच सो।''

''फिर भी मैं तुम्हारे साथ होटल तक आना चाहता हूँ।''

''नो थैंक्स, मैं चली जाऊँगी, गुडबाइ।''

वह कुछ क्षण मेरी ओर टकटकी लगाये खड़ा रहा। मेरे अलविदा का अर्थ जानने वाली समझ उसके पास थी। रॉबर्ट की जगह अगर निरंजन होता तो, आसपास के लोगों को मुफ़्त में तमाशा देखने को मिल जाता।

''गुडबाइ'' रुँधे गले से रॉबर्ट ने कहा।

'गुडबाय' यंग लेडी'' टर्किश ने खड़े होते हुए मुझसे कहा। हीथ्रो आ गया था।

''तुम सचमुच कॉफ़ी पीने नहीं आओगी?'' जाते समय वह पुनश्च टटोलता है।

''नहीं मेरे पति मेरी राह देख रहे होंगे।'' मैंने अपना पसंदीदा वाक्य अंतिम बार दोहराया। इस संदर्भ में मैंने मन-ही-मन उसको धन्यवाद दिया।

मैं ट्यूब से उतरकर प्लेटफ़ॉर्म की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। प्लेटफ़ॉर्म लगभग सुनसान था। सूट-बूट पहने हुए सिर पर पगड़ी बाँधे हुए सिख-भाई बड़ी शान से प्लेटफ़ॉर्म की सफ़ाई कर रहे हैं। वे लोग हिंदुस्तान आकर अपने भाई-बंधुओं को बताते हैं कि, विदेश में ये लोग बिजनेस करते हैं। इस समय उनके असली बिजनेस को देखकर तथा उनका रहन-सहन देखकर मुझे हैरानी होती है।

स्टेशन से बाहर आकर मैं बस-स्टॉप पर आकर खड़ी हो जाती हूँ। होटल का अंतिम कोच कब का गुज़र चुका होता है। अब बस के सिवाय दूसरा विकल्प नहीं बचा था। वह आधे घंटे बाद आनेवाली है। सड़क पर दूर-दूर तक कोई नहीं है। बीच-बीच में आने वाली कोई गाड़ी सप-सप की आवाज़ करती हुई निकल जाती है। बादल अभी भी घिरे हुए हैं। बर्फ़ का गिरना बंद नहीं हुआ है। रास्ते पर स्थित खंभे पर दिये की रोशनी में मैं अकेली भूत की तरह खड़ी हूँ। मुझसे थोड़ी दूर पर एक 'लायमोसिन' खड़ी है। कुछ देर बाद उसमें हलचल होती है, मैंने मन-ही-मन रामनाम की माला जपनी शुरू कर दी। वह 'लायमोसिन' धीरे-धीरे मेरे पास आकर रुक गयी है। घबराहट छिपाकर मैं भागने की तैयारी में खड़ी हूँ। अचानक गाड़ी की खिड़की से एक हिंदुस्तानी चेहरा बाहर मेरी ओर झाँकता है।

'वेअर टू लेडी?' वह हिन्दुस्तानी 'ब्रिटिश ॲक्सेंट' में मुझसे पूछता है। अस्पष्ट रोशनी में उसको जाँचते हुए कहती हूँ, 'होटल शेरेटन।' मन में ही खुश हो रही थी कि लंदन जैसे परदेस में मेरे हिन्दुस्तानी अनाम भाई के पास रॉबर्ट और कंपनी की अपेक्षा बड़ी-सी गाड़ी है। तभी एक तगड़ी कोट-टोपी गाड़ी की ओर आने लगती है। मैं चौंक जाती हूँ। तभी मेरा देशबंधु अदब के साथ गाड़ी से बाहर आकर दरवाज़ा खोल देता है। वह उस सफ़ेद साहब का शोफ़र है, यह बात मेरी समझ में आने में देर नहीं लगती। थोड़ी लाचारगी महसूस होती है। ''सर, इसे शेरेटन जाना है। रास्ते में ही है, अकेली है, बेचारी।'' मेरा देशबंधु थोड़ी घबराहट में ही पूछता है। ''ओके'' बेपरवाही से ही साहब कहता है।

''कम ऑन हॉपइन'' देशबंधु की आज्ञा से मैं उसकी पासवाली सीट पर बैठती हूँ। गाड़ी चलनी शुरू होती है। मन में विचार आता है, अगर साथ में होने वाले इस हिंदुस्तानी शोफ़र और सफ़ेद साहब ने अगर मेरे साथ कुछ ग़लत किया तो क्या मेरे माता-पिता को ख़बर मिलेगी? कम-से-कम होटल के मेरे सहयोगियों को? लेकिन वे दोनों मुझे सुरक्षित होटल पहुँचा देते हैं। देशबंधु को मैं धन्यवाद देती हूँ। वह चला जाता है। उसका साहब मेरी ओर देखता तक नहीं।

मैं रिसेप्शन के पास आती हूँ। कमरे की चाबी माँगती हूँ। चेहरे से रंगी हुई वहाँ की औरत मेरे लिए छोड़े गए संदेश के कागज़ मुझे थमाती है। रॉबर्ट के दो बार फ़ोन आ चुके होते हैं। मैं औरत को बताती हूँ, ''आपरेटर से कह दो, इस आदमी का अगर पुनः फोन आए तो उससे कहना मैं होटल छोड़कर जा चुकी हूँ।'' वह मुझे सिर से पाँव तक देखती हुई ब्रिटिश स्टाईल में 'ओके' कहती है। मैं लिफ़्ट में चढ़ जाती हूँ। मेरे साथ मौजूद एक एअरलाइन बंधु एयर हॉस्टेस के झंझट को समझते हुए 'हाय' करता है।

मैं कमरे में दाख़िल होते ही लॉक करती हूँ। पैरों के सैंडिल्स निकालने का होश तक मुझे नहीं है। बिस्तर पर लेटकर मैं रोने लगती हूँ। इतनी देर तक मन में दबा सैलाब उमड़ पड़ता है। ''ओ माँ....'' कहते हुए मेरी छोटी-सी नाक से सूँ-सूँ की आवाज़ निकलती है। तकिए में सिर छिपाकर मैं फूट-फूटकर रो पड़ती हूँ।

अनुवाद : डा0 चंदा सोनकर

द्वारा-डा0 गिरीश काशिद, 'अक्षर', शिवकॉलोनी,
देशमुख प्लॉट, उपलाई रोड, बार्शी-413401
जिला-सोलापुर (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक यात्रा

इन्दुबाली

अचानक एक दिन मेरे पिता ने अपने ही जैसे लखपति से मेरी शादी पक्की कर दी थी। यह सुनना था कि मेरा खिलखिलाता बचपन जाने कहां खो गया था। वह बहुत खुश थे और सारी शाम वह मुझे अपने साथ जाने कहाँ-कहाँ घुमाते रहे। मुझे बेहद बुरा लग रहा था। एक बार मुझसे पूछ तो लिया होता? पर क्यों नहीं पूछा, मैं समझ नहीं पाई। पर इतना जरूर लगा कि मेरे अन्दर कुछ टूट गया है और मैं अपने ही घर में मेहमान हो गई हूँ। मेरे पिता बहुत कम बोलते थे। माँ की मृत्यु के बाद तो और भी मौन हो गए थे, बस अपनी किताबों में मस्त, यही उनका प्यार था। शादी की बात पक्की कर वह बहुत खुश और निश्चिंत हो गये थे। मैंने अपने जीवन को लेकर ढेरों सपने देखे थे और हर सपने को एक आम लड़की की तरह जीना चाहती थी। पर यह सुनते ही मुझे लगा जैसे घर की हर दीवार पर लिख गया है, यहाँ एक मौत हो गई है, पर किसकी? यह एक प्रश्न था जिसका उत्तर मैं सारा दिन ढूँढती रहती थी। पर पिता द्वारा दिया जा रहा प्यार और दुलार मुझे कुछ भी कहने नहीं देता था। मेरा खून मेरी रगों में जमने लगा था। मेरे अन्तर में कुछ कांपा और मर गया। मैं डर गई थी। एक रहस्यपूर्ण आतंक, जैसे अचानक चलते-चलते मैं रास्ता भूल गई होऊँ किसी घने-अंधेरे जंगल में। पिता सामने आते, कुछ कहना चाहती मैं उन्हें पर पता नहीं क्यों उनके मौन से भी बड़ा मौन मेरी जुबाँ पर ताला लगा देता। कभी-कभी ख़ामोशी टूटती, मशीन की तरह मैं बोलती, फिर अपनी ख़ामोशी से जुड़ जाती। वर्षों बाद पिता को खुश और गुनगुनाते देखा था, फिर कैसे कुछ कहती। माँ की तस्वीर के आगे घंटों बैठी रहती और सिर्फ़ उनकी आँखों में आँखें डाल कुछ पूछना और ढूंढना चाहती, पर वहाँ भी मौत के साये और मौन के अतिरिक्त कुछ भी न था। मुझे लगता इस घर में सब 'रोबोट' हो गये हैं, अपने आप चलते-रुकते, जहाँ आदमी के जीवन्त हाथों की या शब्दों की कोई आवश्यकता ही नहीं, बाक़ी सब धीरे-धीरे मर रहे हैं, भयाक्रान्त शापवश।

मैं अपने आप से डरने लगी थी। जी चाहता था एक भयंकर चीख़ के साथ इस सारे वातावरण से अलग हो जाऊँ, पर साहस नहीं जुटा पा रही थी। पिता चाहते थे मुझे दुनिया का हर सुख मिले और वह पूरे प्रयत्न से दे भी रहे थे। पर मुझ पर तो मौत का साया था। मैं नहीं चाहती थी वह सब कुछ, फिर भी मुझे वह सब मिल रहा था। हज़ारों-लाखों का सामान रोज़ ख़रीदा जाता और पिता मेरी पीठ प्यार से थपथपाते और अपने किताबों वाले कमरे में चले जाते। उनकी मौन आँखें कहतीं, सब तुम्हारा है, जब चाहो ले जाना। पर यह व्यवहार मेरी अस्मिता को चोट पहुँचाता। मुझे लगता मैं और मेरी अस्मिता हर दिन के साथ मर रही हैं।ऐसा मसीहा कहाँ से लाऊँ जो मुझे छू कर ज़िंदा कर दे। पिता की उदास आंखें घर में घूमती रहतीं और मैं कुछ कह न पाती। हर बात, हर घाव, हर पीड़ा एक दूसरे से सहमी खड़ी थीं। मैं पिता को छोड़ कहीं जाना नहीं चाहती थी।

सुमंगल एक दिन आया और मुझे कार में बिठा घुमाने ले गया। वह बहुत लम्बा चौड़ा और मैं गुड़िया सी, जाने क्यों उसे देखते ही मुझे भय लगने लगता। वैसे सच कहूँ तो वह कोई कुरूप व्यक्तित्व वाला नहीं था, पर मुझे भय लगता था। उसका हर स्पर्श मुझे बिजली के झटके सा लगता। एक प्यार या अपनेपन की गंध कभी महसूस नहीं होती थी। जब भी वह मिलने आता, लगता जैसे कोई यमराज आ गया हो या शापग्रस्त कोई प्रेत। मुझे उसके सामने बस आत्मसमर्पण करना था। पिता द्वारा हम अनचाही शर्तों में बाँध दिये गये थे। वह मुझे छू सकता था मैं उसे और इससे आगे कुछ नहीं। सारे घर में दो सूखी हड्डियों की तस्वीरें टंग गई थीं। सहमा-सा वातावरण, पिता की दृष्टि पड़ते ही में काँप जाती और मन की बात जुबां तक आते-आते जम जाती। अजीब यात्रा थी पिता के घर से पति के घर जाने की। कोई उमंग-तरंग महसूस ही नहीं होती थी। सुमंगल के साथ रोज़ घूमने जाती पर लौट कर पिता से कुछ कह नहीं पाती थी। एक दिन जब दम घुटने लगा तो कह ही दिया' ''यह सब मुझसे नहीं होगा, मैं नहीं जी पाऊँगी इस सुमंगल के साथ।'' पिता ने सब सुना और दिन भर मुझे जाने कहाँ-कहाँ घुमाते रहे, खूब सामान ख़रीदा, बढ़िया खाना खिलाया, हर चीज़ मेरी पसंद की थी। फिर घर लौटे और वह घंटो मौन, मेरे सिर पर आशीर्वाद का हाथ फेरते रहे। वह मेरी हर सिहरन को महसूस करते रहे और मैं उनके हिलते पैर देखती रही। मैं जानती थी कि वह पैर तभी हिलाते हैं जब बहुत उदास होते हैं। मैं और भी अपने आप में सिमट गई, बहुत कुछ कहना चाहती थी पर कुछ भी नहीं कह पाई। उस सन्नाटे में केवल चमचों के उठने-गिरने की ध्वनियाँ आती रहीं जैसे दो बुत आमने सामने बैठे खाना खा रहे हों। मेरा सारा डर आँखों में डबडबा कर सहम गया था। वह कह रहे थे 'यह हमारी इज्ज़त ही नहीं, दो ख़ानदानों की इज्ज़त का प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। फिर बेटा! सब कुछ तो है। लड़का अच्छा है, प्यार वाला है, सम्मान करता है, संस्कारी है लाखों ही नहीं, करोड़पति है पर गर्व छू तक नहीं गया है। विदेश घूम आया है, बड़ी डिग्री ले आया है। हाँ थोड़ा लंबा चौड़ा ज़रूर है पर यह सब कोई मायने नहीं रखता। फिर यह समझ लो कि उस ख़ानदान से जुड़ना हमारे लिए मान की बात है। तुम्हारी माँ होती तो बेहद ख़ुश होती।''

पर मैं कह न पाई कि मेरा मन नहीं मानता। जाने क्यों मुझे भय लगता है। मुझे कुछ पाने की अभिलाषा नहीं। मैं जैसी हूँ वैसी ही ठीक हूँ। मेरा ख़ानदान कौन-सा कम है। फिर मैं कहाँ कम पढ़ी-लिखी हूं। मेरे पिता ने फिर कहा ''तुम अभी बच्ची हो, कुछ नहीं समझती।'' आज के युग में इससे बड़ा सौभाग्य तुम्हें नहीं मिल सकता, स्वयं माँग कर ले रहे हैं। मैं अन्दर ही अन्दर सिमट गई, मन का अंधेरा और गहरा गया। कैसे समझाऊँ उन्हें कि जिस व्यक्ति के पास मेरा हर क्षण मुझे मौत के पास ले जाता है, मैं कैसे उसके साथ जी पाऊँगी। पर कुछ कह नहीं पाई, कभी नहीं, और एक दिन उसी मौत के साये में अपने घर की रोती दीवारों को छोड़ विदा हो, सुमंगल के घर तक की यात्रा कर गई।

सुहाग रात को अपने अंदर की सिसकती मौत को सामने देखा और गहरे महसूस किया। फिल्मी दुनियाँ की तरह उस कमरे का कोना-कोना सुसज्जित था। पर मुझे लगा जैसे इस कमरे के कुछ अपने क़ायदे और क़ानून हैं, विधान और नियम है। यह अलग अपना ही समाज है, कुछ अलग-सा इतिहास है, अलग-सी सभ्यता और संस्कृति है। मैं सहमी खड़ी थी जैसे किसी मरघट में कोई अधजली लाश आंखे खोल दे। सुमंगल ने कहा, 'बैठ जाओ'। मैं बैठ गई। सुमंगल ने कहा, 'यह सब क्या पहन रखा है।' मैं चुप रही। उसने कहा 'उतार दो'। मैं पूछ न पाई, क्या? उसने फिर भारी-कड़कती आवाज़ मैं कहा 'यह सब उतार दो, नलिनी मेरी आँखों में चुभ रहा है।' मैं कांप गई। धीरे-धीरे समस्त श्रृंगार और कपड़े उतार, हल्के से नाईट सूट में पलंग के कोने में चुपचाप बैठ गई जैसे डोली से उतर कफ़न में लिपट गई होऊँ। तभी सुमंगल ने पुकारा 'इधर आओ'। मैं चुपचाप उठी और उसके विशाल दैत्याकार व्यक्तित्व के सामने जा खड़ी हुई। उसने मेरी तरफ़ देखा और अपनी तरफ़ खींच लिया, मैं सिमट कर शून्य हो गई? सुहाग रात क्या ऐसी होती है। मुझे लगा जैसे एक छोटी-सी परी को किसी दैत्य ने अपने जादू से बस में कर लिया हो। अब मुझे उसकी हर आज्ञा का पालन करना होगा। उसकी आज्ञा का विधान फैलता जा रहा था और मैं उसे जगह देने के लिए सिमटती जा रही थी। तभी उसने मेरे हाथों में लाल रंग का चूड़ा देखा, एक पल को काँपा और बोला, सब उतारा नहीं? उसकी यह बात सुन मेरी अधजली लाश का अंतर्मन भी काँप उठा। मैं ज़ोर-ज़ोर से चीत्कार करना चाहती थी ताकि मरघट की दीवारों के अंदर की सभी लाशें सुन लें, वह, जो उन्होंने कभी नहीं सुना होगा। मैं उठी थी, मौन, एक-एक चूड़ी उतार दी थी। बस एक तंग चूड़ी न उतार पाई। उतारना भी नहीं चाहती थी क्योंकि मुझे भय लग रहा था कहीं खो न जाऊँ। एक दुल्हन होने की पहचान रखना चाहती थी, कहना चाहती थी मैं सुहागिन हूँ। करोड़पति मेरा पति है। बस दो आँसू टपके जैसे किसी ने मंत्र पढ़ जल छिड़क दिया हो। सुमंगल हँस गया था। मैं कराह उठी थी और वह संतुष्ट। मेरे नन्हें शरीर को दबोच गहरी नींद सो गया था। मैं जलन से तिलमिला उठी थी, मेरे अंदर आग दहक रही थी, लगा मेरे सपनों की अधजली लाश चिता से भी दूर जा गिरी हो।

घर का सारा वातावरण मशीनी था। मैं मरकर चुपचाप जीने लगी थी। हर चीज़ अपने समय पर होती थी। हर चीज़ अपने समय पर अपने आप होती रहती थी। उस मशीनी वातावरण का दासत्व सभी ने स्वीकार रखा था। न कोई प्रश्न न कोई उत्तर। सुमंगल के व्यक्तित्व की दुष्टता के सामने मेरा पारदर्शी सूर्य सा व्यक्तित्व कहीं गहन गुफाओं में खो गया था। अंधेरी गुफायें, जहाँ सूर्य की एक भी किरण का कोई महत्व नहीं था। बाधाएँ, नियम-वर्जनाएँ, निषेध, सीमाएँ, पद्धतियाँ, सिद्धांत, आदेश, क्रूरता, अंधेरे, बस यही था मेरी गुफाओं का भाग्य। कभी-कभी जब सोचने की शक्ति जुटा पाती तो लगता सूर्य भी तो दिन भर विश्व को प्रकाशित कर सागर की गहन, अंधेरी गुफ़ाओं में विश्राम करता है। फिर लौटता भी है। तब सारा गगन मंडल मुस्कुरा उठता है। पर मैं तो शायद कभी भी अपने स्वप्न-सूर्य को इन गुफ़ाओं के अँधेरे से मुक्त नहीं कर पाऊँगी, उन पर तो मौत का साया है। मैं उस घर मैं रहते यह समझ गई थी कि इस घर के नियमों को तोड़ा नहीं जा सकता। इन नियमों को चुनौती देना मौत को चुनौती देना होगा, परिणाम शून्य। जो एक बार इस मौत के कारावास में आ गया तो जीवन से उसका संबंध छूट जाता है। और यहाँ की व्यवस्था विद्रोह करने वाले को रौंद कर भयंकर दंड देती है। मैं इस परिवेश से निकलने की सोच भी नहीं पाती थी। पिता की आज्ञा और दो ख़ानदानों की मान-मर्यादा का प्रश्न था। हर दिन यातना का बढ़ना और रात का आंसुओं से भीगना, जहाँ की तपन को सहने की आदत तो डाल ली थी पर यह उमस साँसे रोक देतीं। सुमंगल की बाहों की जकड़नें और खरटि मुझे बेलचे की तरह पीसते चले जाते। एक भारी भरकम शरीर मेरी एक-एक हड्डी को चकनाचूर करता चला जाता, बिल्कुल चक्की में पिसते गेहूं की तरह। प्रातः उठती, अपनी हड्डियों को समेटती, फिर शापवश अपनी अँधेरी गुफ़ाओं में चली जाती।

सुमंगल मुझे न जाने कहाँ-कहाँ घुमा लाया। दो बार मैं विलायत गई, तीन बार अमेरिका, पर हर स्थान और उसका साथ मुझे मरघट सा लगता। वह मुझसे लिपट जाता और मुझे लगता किसी अजगर ने मेरी हड्डियां चूर-चूर कर दी हों। मेरा हर पल मुझसे संघर्ष करता। मेरा शरीर ज़रूर उसके साथ लिपटता पर आगे कुछ नहीं, हम एक कभी नहीं हो पाये। मैंने हर रूप में उसे स्वीकार भी कर लिया था। मैं बार-बार उससे कुछ पूछना चाहती, पर पूछ न पाती। फिर एकदिन उसने मेरे कान में जलता तेल डाल दिया कि वह किसी बीमारी के कारण नपुसंक हो गया है और अब आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी तरह की उम्मीद उससे मत करूँ। वह यह सब बड़ी सहजता से कह, मुझसे लिपट कर सो गया था। मैं दयनीय और अपमानित जीवन की नियति ओढ़े आकार हीन धीरे-धीरे अपनी ओर आते एक भयंकर भविष्य को देखने लगी थी। आशा या विश्वास कुछ भी शेष न था। संवेदनाएँ अनुभूतियाँ, मनोवेग, भावनाएँ सबके सब अतीत के गर्त में खो गये थे। किससे अपना दुःख बाँटती और कोई निर्णय लेती। पिता आते, ढेरों उपहार और ड्राफ़्ट दे जाते। उनके पगले स्नेह के सामने मैं मौन अपने मन की गुफ़ाओं में लौट जाती। बस मौन, यह गुफ़ायें अब केवल अँधेरी गुफाएँ नहीं थीं, उनमें सीलन भी थी और सीलन के कारण जहरीले जीव-जंतुओं ने जन्म ले लिया था, जो मुझे डसते रहते। आजीवन कारावास का दण्ड, जो मुझे मेरे अपनों ने ही दिया था, जहाँ कोई सुनवाई नहीं थी। एक पूर्णता के लिए तड़पता था मेरा मन, खुली हवा में साँस लेना चाहती थी मैं, पर मेरी नियति क्या करती, मैं ढेरों प्रश्न सुमंगल से करना चाहती थी, जीवन-दान पाना चाहती थी, मुक्ति की कामना थी मुझे। पर वह इतना व्यस्त कि दिन-रात दौड़ता ही रहता, पैसा-पैसा, बस पैसा। रात को आता, बांहों में लपेटता और सो जाता, बिल्कुल वैसे ही जैसे पीड़ा होने पर कोई गरम पानी की बोतल ले लेता है। मेरी बुद्धि मारी गई थी, मेरी बोध-शक्ति किसी ने हर ली थी। नहीं तो क्या मैं, जिसमें कोई कमी नहीं थी, वह इन अँधेरी यातना भरी गुफ़ाओं से छूटने का उपाय भी न सोचती।

घायल, अपमानित, पराजित, मैं दो साल बाद पिता के पास लौटी थी। मैं तो बस इस कारण भेजी गई थी कि बीमार पिता की सेवा कर सकूँ। माँ की तस्वीर अब उनके कमरे में आ गई थी। दिन-रात की भाग-दौड़ सिमट गई थी। वह पराजित से डॉक्टरों के इशारे पर नाचते शान्त लेटे थे। उनकी आंखों में मेरे लिये स्नेह हज़ार गुना बढ़ गया था। इकलौती बेटी और उधर भी इकलौती बहू। मेरे नाम की विल बन गई थी। सब कुछ मेरा था। वह तो मेरे लिए, मेरे सुख के लिए, पहरा देते-देते थक गये थे, अब कोई मोह नहीं था। मैं पहुँची तो वह मुस्कुरा उठे। मैं जाते ही उनसे लिपट गई, एक सहज ठण्डक महसूस हुई, एक अपनेपन का स्पर्श और मैं पथराई सी अनुभूतियों से छूट, रो पड़ी। वर्षों बाद यह स्पर्श और बहते आँसू मुझे अच्छे लगे। वह मेरे सिर पर हाथ फेरते रहे, वह बोलते तो बहुत ही कम थे, पर उस दिन पहली बार बोले, "तुम खुश हो न, सुखी हो न? जानती हो, तुम्हारी खुशी और सुख से बढ़कर मेरे लिए कुछ नहीं।" मेरी बोलने की शक्ति उनके सामने आते ही सदा की तरह गुम हो गई थी। मैं बहुत कुछ कहना और माँगना चाहती थी पर जब भी उनके कमरे में जाती तो उनके हिलते पैर देख मौन रह जाती। उनकी उदासी में और उदासी नहीं जोड़ पाती, सहम जाती, फिर अपनी उमस और सीलन भरी गुफाओं में लौट जाती। मुझे याद आता मैंने कभी जीवन में किसी चीज की ज़िद नहीं की थी, वह तो बिना कहे ही सब समझ जाते और पूर्ण कर देते, पर आज कैसे कहूँ कि आपने मुझे खुशियाँ और सुख नहीं मौत दी है।

सुमंगल के पत्र आते, पिताजी को भी आने लगे थे कि अब वह ठीक हैं? मुझे वापिस भेज दिया जाये। मेरा मन रोज़ एक फ़ैसला करता कि मुझे नहीं लौटना है पर यह फ़ैसला मैं उन्हें नहीं सुना पाती। फिर एक दिन उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा "तुम्हें अब लौट जाना चाहिए।" मैंने कहा "नहीं"

"पगली है क्या, अब मैं भला चंगा हूँ।

"नहीं"

"मेरा भी तो मन नहीं करता तुम्हें भेजने को, पर दुनियाँ की रीत तो निभानी ही पड़ती है।"

'नहीं, मैं नहीं जाऊँगी।

इस तरह बार-बार 'नहीं' कहने पर उन्होंने चौंक कर मेरी तरफ़ देखा। मैं उनका यूँ देखना झेल न पा रही थी, पर फिर भी एक जिद् थी कि उनके सामने अपने पूरे मन के नंगेपन के साथ खड़ी हो जाऊँ और न्याय माँगू। आख़िर वह मेरे पिता हैं। मैं कहना चाहकर भी कह नहीं पाई, रात भर सो भी नहीं पाई। अगले दिन फिर कहा 'तुम्हें जाना चाहिए।' पता नहीं कहाँ से हौसला आ गया और मैंने जीवन में पहली बार उनकी आँखों में देख कर कहा "मुझे अब वहाँ कभी नहीं जाना।" मैंने देखा वह सिर से लेकर पैरों तक काँप गये और धड़ाम से कुर्सी में बैठ गये, न मुझे अपने हृदय से लगाया, न सिर पर हाथ फेरा, बस मौन बैठे रहे, माँ की तस्वीर की तरफ़ देखा और आँखों से मोटे-मोटे आँसू टपकने लगे। मैंने उन्हें कभी रोते नहीं देखा था। मौन शिला-सी उनके सामने खड़ी थी। वह आँसू बहाते रहे और लंबी कुर्सी पर रखे पैर हिलते रहे। फिर इस दुनियां में लौटे, आँसू पोंछे और बोले, अब तुम पर मेरा कोई अधिकार नहीं।" वह जैसा चाहे, तुम्हें वैसा ही जीना होगा। पति तो परमेश्वर होता है। मैं पहली बार उनसे नाराज़ हुई थी, क्रोध भड़क उठा था। किस ज़माने की बातें कर रहे हैं। मैंने कहा "मेरी बात आपने बिना सुने ही फ़ैसला कर दिया, जैसा शादी के समय किया था।"

बोले, इससे कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। तुम्हें जाना ही है।

'आप मेरे मन की बात कैसे जानते हैं?'

"तुम्हें जन्म दिया है, माँ के बिना पाला है, फिर कैसे नहीं समझूंगा।"

'नहीं, आप कुछ नहीं जानते'

'देखो, यह पागलपन ठीक नहीं है।'

'बस कह दिया न, कि नहीं, नहीं, नहीं।'

'समझती क्यों नहीं, दो परिवार नष्ट हो जायेंगे।'

'मुझे इनके नष्ट हो जाने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।'

'तुम्हें नहीं, पर मुझे पड़ता है।'

'आप समझने की कोशिश क्यों नहीं करते कि मैं उस घर में एक पल भी नहीं रह सकती।'

'मैं जानता हूँ, पर अब यह तो निभाना ही होगा।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं मौन रह गई। कैसे सब बताऊँ कि यहाँ स्वभाव की विपरीतता का दुख नहीं है, कुछ और है। वह नपुंसक है, क्रूर है, स्वार्थी है, दम्भी है। पैसा उसका प्यार, उसका धर्म, उसका ईश्वर है। जब से डॉक्टर ने कहा, उन्हें कोई सदमा नहीं लगना चाहिए, बस उन्हें खुश रखें। मेरी हिम्मत की भी उस दिन मौत हो गयी थी। सुमंगल अगले दिन बिना सूचना के ही आ गया था, शायद पिता ने ही तार भेज बुला भेजा था। उसे देखते ही मेरी सारी सोच पर आतंक छा गया था। घर का हर कोना दूसरे कोने से सहम सा गया था। मैं अगले दिन पिता को यह बताये बिना लौट गई थी कि मैं कभी माँ नहीं बन सकती और न ही सुखी जीवन जी सकती हूँ। दोनों ख़ानदानों की आन-बान और शान को बचाने के लिए जो मेरी बलि दी गई थी, वह व्यर्थ थी। यह दो ख़ानदानों का मेल नहीं विनाश है, कम से कम उन्हें सच तो बोलना चाहिए था और पिता को अपनी इकलौती बेटी के लिए गहरी खोज-ख़बर तो लेनी ही चाहिए थी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ, न पहले न आज। मैं सुमंगल के साथ विदा हो गई थी, जैसे मेरे पिता ने मेरे शव को कंधा दे दिया हो। अब कोई नाता नहीं। वह लौट गये थे और कार चलते ही सुमंगल ने मेरी तरफ, एक विश्वास के साथ देखा था, जो कह रहा था, मैं जानता था मेरा यह रहस्य तुम नहीं खोलोगी और लौट आओगी। तुम कायर हो पर मेरे लिए यही ठीक है। मुझे लगा जैसे मुरदाघाट से मुरदाघाट तक ही मेरा जीवन है। सुमंगल ने एक बार फिर लाकर मुझे अँधेरी गुफ़ाओं में बंद कर दिया था।

मैं नहीं जानती मैं क्या थी, कायर या डरपोक। शायद मेरे पिता ने मुझे डरपोक और पति ने कायर बना दिया था। लौटने के बाद मैं उस वातावरण में जीने की अभ्यस्त होने की चेष्टा करने लगी थी। फिर तभी पाँच साल बाद मेरे सामने सौरभ खड़ा था। सुमंगल ने मिलाया, यह मेरे मित्र हैं, भाई जैसे, हम तीन साल तक विलायत में बिजिनस ट्रेनिंग-कोर्स में साथ-साथ रहे। बहुत प्यारा और अच्छा इंसान है, तुम्हें मिल कर खुशी होगी। पर मैं और सौरभ एक दूसरे के सामने या आँखों ही आँखों में चिपक गये थे और ढेरों प्रश्न एक साथ उभर आये थे। तभी सुमंगल ने कहा, लगता है पहले से ही एक दूसरे को जानते हो, चलो, अच्छा ही है। सौरभ ने अपने को सँभालते हुए कुछ कहना चाहा, पर सुमंगल ने कुछ सुना ही नहीं और फिर से अपने काम में व्यस्त हो गया। मैं भी पलभर को सहम गई थी। पर यह भी सच है कि मेरी अँधेरी गुफाओं में हवा का एक शीतल झोंका आया और एक हल्की-सी प्रकाश-किरण। सौरभ और मैं एक साथ पढ़े बड़े हुए। गहरी मित्रता थी हमारी, पर और कुछ नहीं। हो सकता है यदि समय मिलता तो यह दोस्ती प्यार में बदल जाती, क्योंकि यह दोस्ती बड़ी प्यारी और मीठी थी। रोम-रोम में पुलक भरती यह दोस्ती बड़ी अपनी-सी थी। वह फर्स्ट आया और विलायत पढ़ने चला गया। मैं उसे विदा करने 'एयरपोर्ट' पर भी गई थी। उसकी आँखों में एक प्रश्न था, तब मैं नहीं समझ पाई थी पर आज उनकी आँखों में उभरते प्रश्नों ने मुझे छू लिया था। मैं तो अपना सारा अतीत और संबंध भूल गई थी। याद था, केवल मरघट का वातावरण और आजीवन कारावास। अतीत की तरफ़ लौटती सी उस क्षण को दोहराती हूँ तो अपने सामने आप नंगी हो जाती हूँ। जीवन से ढेरों आपेक्षाएँ थीं मेरी, पर पिता की आज्ञा और ख़ानदान की इज्ज़त, विवश थी मैं। आज एक-एक परत हटती जा रही थी। दो अलग-अलग टुकड़े जो शायद कभी जुड़ भी नहीं पायेंगे। मैं झूठ नहीं बोलूँगी, बस मेरे अंतर का एक टुकड़ा सुमंगल का था शव-सा और दूसरा पक्षी-सा फुदकता सौरभ का, जो जीना चाहता था, जीवन के सभी सत्य और सपने इसी धरती पर उतार लाना चाहता था। अपनी अंदर की नंगी होड़ से सहम जाती हूँ पर तभी एक गहरी परत और आवरण से उसे ढक देती हूँ पर महसूस करती हूँ कि इन परतों और आवरणों के नीचे दबी मैं कितनी अधूरी हूँ।

सौरभ हमारे घर में ही रुका था। उसे देखते ही मेरा आधा हिस्सा तड़पने लगता, अधजली लाश सिसकने लगती। शायद कोई पानी डाल जीवंत कर दे, पूर्ण दे। सभी घाव हरे हो बहने लगे थे। दिनभर इधर-उधर बचती-घूमती रहती और रात को थक कर बिना नींद के सोने का नाटक करती। परत-दर-परत खुलती जाती। सुमंगल हरपल सौरभ को अपने साथ चिपकाये रहता और जाने क्या-क्या ढेरों बातें करता। सुमंगल काफ़ी बीमार चल रहा था। फिर बिस्तर पकड़ लिया और घंटों सौरभ का हाथ पकड़े उससे कुछ कहता रहता। सौरभ जब आता तो सुमंगल मुझे उसके साथ घूमने भेजता, जाने का आग्रह करता। अजीब सा बदलाव आने लगा था उसमें। मुझे ढंग से सजने संवरने को कहता। उसका क्रूर व्यक्तित्व नरम पड़ गया था और फिर हैरान थी कि सौरभ की हर बात मान भी जाता था।

वह सौरभ को मेरे पास लाना चाह रहा था पर मैं अपने सामने ही नहीं दूसरों के सामने भी नंगी होती जा रही थी, क्योंकि मैं फिर से जीना चाहती थी। मैं भयभीत हो अपनी अँधेरी गुफाओं में छुप द्वार बंद कर लेती और अपने अंदर उगते सपनों से डर जाती। अपने अंदर खिलते घावों को छुपाने के नये-नये तरीके सोचती, पर क्या करती, कहाँ तक छुपाती। आख़िर एक कमज़ोर मानव ही थी और वह भी एक स्त्री। फिर एक दिन सुमंगल ने कहा, "मेरे और सौरभ में कोई फ़र्क नहीं। मैं बीमार और व्यस्त रहता हूँ, उसी के साथ घूम आया करो।" मुझे उसके शब्दों ने आहत किया और मन ने कहा कि कहूँ, तुम्हारी आज्ञा की क्या आवश्यकता है। मेरे अंतर के दर्प ने सिर उठाया और विद्रोह के लिए तैयार हो गई। मैं क्या कठपुतली हूँ जिसे जब चाहो अपने इशारों से रस्सी खींच कर नचा लो। तब मैं एक साधारण औरत, पिछली सदी की औरत जैसा ही जीना चाहने लगी थी। बस अब और ड्रामा नहीं।

एक दिन सौरभ मुझे अपने साथ अकेले घुमाने ले गया। होटल में खाना खाया और फिर एक कमरे में आराम करने के लिये ऊपर ले गया। तब उसने प्रश्नों का ढेर मेरे सामने लगा दिया पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। उसे सब पता था और मुझे कुछ भी नहीं। वह सुमंगल के साथ यहाँ क्यों आया है, उसका भी एक कारण है। उसने सुमंगल की बात को स्वीकारा क्यों? शायद नलिनी के प्यार के कारण, जो विलायत जाने से पूर्व वह बता नहीं पाया था। वह अभी भी अकेला था। सौरभ ने मेरी तरफ़ अपनत्व और प्यार भरा हाथ बढाया। अपनी मंशा बताई, मेरे सुखद भविष्य की कामना की तो मैं चौंक गई। मैं तो अँधेरी गुफाओं में रहने की आदी हो चुकी थी पर इस प्रकाश-किरण ने मेरे अंदर एक भूचाल पैदा कर दिया, मैं अपने आप को संभाल नहीं पाई और पहली बार एक भरे-पूरे व्यक्ति की बाहों में खो पुरुष गंध की पूर्णता को महसूस किया। अजीब बात है, वह पल मुझे बहुत अपना सा लगा, कोई ग्लानि नहीं बस एक पल में सब बदल गया। मैं नारीत्व की आभा से महक उठी। वह मुझे थामे था और मैं सरिता-सी उसके समस्त व्यक्तित्व के साथ बहती जा रही थी। उसने मुझे चूमा तो लगा जैसे सृष्टि का नव जागरण हो आया हो। गहरी परतों में लिपटी मेरी कामना आज सब हद तोड़ गई थी। कहते हैं न, जब अति होती है तो विस्फोट भी होता है। धरती काँप रही थी। रात होने को थी, हमें लौटना था। मेरी अंदर की मौत मुझसे अपना ऋण माँग रही थी, उसे जीवन का मान चाहिए था। मैं इस पल को जी, अब कहीं दूर भाग जाना चाहती थी। पर पिता का भय और सुमंगल की इच्छा ने मुझे फिर उन्हीं गुफ़ाओं की तरफ़ धकेल दिया। एक अजीब रस्साकशी चल रही थी सौरभ और सुमंगल में, अँधेरे और प्रकाश में।

पिता की मृत्यु से मुझे खुशी हुई। मैं ज़रा भी रोई नहीं थी। शायद घर और ख़ानदान की इज्ज़त का बोझ आधा रह गया था। सुमंगल डरने लगा था और मैं सौरभ के साथ जीना चाहने लगी थी। सौरभ का दिया उपहार मेरी भविष्य निधि। सौरभ उस पल के बाद मेरे अंगसंग था। वह कुछ नहीं चाहता था, बस मेरी खुशी, मेरी पूर्णता। उसी रात सौरभ लौटने वाला था और सुमंगल ने मेरे कान में कहा था, "मुझे वारिस चाहिए, सौरभ इसीलिए आया था। कहीं से भी आता, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता पर यह तो तुम्हारा प्यार था। सौरभ का दिया तोहफ़ा तो तुम सँभाल कर रखोगी।" मेरे अंदर एक प्रलय की भावना उमड़ने-घुमड़ने लगी थी। कैसा इंसान है यह सुमंगल। मुझसे इतनी अपेक्षाएं क्यों? पर फिर दैत्य द्वारा बस में की गई परी की कहानी याद आने लगी जो दैत्य की इच्छा से जी रही थी, मर रही थी, जिसका अपना कुछ नहीं था। उस दैत्य का हर आदेश मानना ही उसका धर्म था।

फिर सौरभ मुझे सुमंगल का वारिस दे दूर चला गया था, कभी न लौटने के लिए। वह सच में मुझे प्यार करता था, तभी तो इतना बड़ा बलिदान बस मेरे लिए कर गया था। उसने जाते हुए बताया था कि सुमंगल का उसके जीवन में कोई अर्थ, कोई अस्तित्व नहीं। वह आया था तो केवल नलिनी के लिए। उसने जाते हुए अपनी बाहों में भर मुझे एक अजीब शक्ति प्रदान की और मैं अपनी मौत का वारिस उठाये अपनी गुफाओं में लौट गई थी। मैं जितनी बार अपने शरीर के बदलते स्वरूप को देखती, सौरभ की याद आती। मुझे महसूस होता मेरे पंख गीले हैं, मैं उड़ नहीं सकती, दूसरे ख़ानदान का भार लिए मैं जी भी नही पा रही थी। मेरी कोख में सुमंगल का वारिस था, वह बहुत खुश था। पर मैं जितनी बार अपने अंदर की ममता को देखती, एक हिस्सा अलग हो जाता। मैं सारा दिन नहाती रहती, शायद किसी तरह यह तन से लिपटी गंदगी धो दे। यह वारिस, जो मेरी समस्त अस्मिता, अस्तित्व और व्यक्तित्व, सब ले एक गुफा के अँधेरे में गुम कर गया था। रोशनी में आने में मुझे भय लगता था। सौरभ का चेहरा सुमंगल के चेहरे पर चिपक गया था। मुझे हर पल सुमंगल नहीं, सौरभ दिखाई देता था। महसूस होता था और सौरभ के यह शब्द मेरे कानों में गूंजते रहते, "सुमंगल को वारिस चाहिए, दो ख़ानदानों की शान, मैं दूँगा, और कोई तुम्हें छू नहीं सकता, तुम्हारा प्यार ज़िंदा है।, तुम्हारी रगों में खानदानी ख़ून ही दौड़ेगा।" वह पागलों की तरह मुझसे लिपट गया था और मैं बेबस उसमें समाती चली गई थी। उसने कान में कहा था, "कोई ग्लानि मत पालना इस जीवन पर, मेरे प्यार पर तुम्हारा हक है।" तब मुझे लगा था जैसे किसी ने मेरी जलती लाश पर अमृत जल छिड़क दिया हो और जीवन-यात्रा के लिए सामर्थ्य दे गया हो।

सौरभ लौट गया था। सुमंगल बीमार चल रहा था। वारिस बढ़ रहा था। सब के सामने रटी-रटाई जिंदगी जी रही थी। फिर समीर का जन्म हुआ। वह सौरभ के बारे में बस इतना ही जानता था कि सौरभ, सुमंगल का मित्र है, भाई से भी प्यारा दोस्त। समीर को कभी भी किसी सहायता की आवश्यकता हो तो वह बस सौरभ पर पूर्ण विश्वास कर सकता है। उसे वह सब मिलेगा जो सुमंगल दे सकता था। समीर जैसे-जैसे बड़ा हो रहा था, उसके मन में सौरभ को लेकर ढेरों प्रश्न भी उठने लगे थे कि कोई किसी पर इतना विश्वास कैसे कर सकता है और वह भी आज के युग में। फिर उसे विलायत पढ़ने भेज दिया गया जहाँ सौरभ उसका गार्डियन था। बारह साल तक वह वहाँ रहा, बीच-बीच में दो-चार बार लौटा। सुमंगल ने तो बिस्तर ही पकड़ लिया था और डॉक्टरों के मुताबिक अब शायद कभी भी अपने पांवों पर खड़ा नहीं हो पायेगा। मैं अब बिल्कुल दो अलग रूपों में विभाजित-सी-जी रही थी। बाहर सुमंगल के लिए और अंदर सौरभ के लिए, बीच में कड़ी थी समीर।

पढ़ाई ख़त्म कर समीर लौट आया था। पर वह सुखी नहीं था, बेहद उदास। उसके युवा चेहरे का सच जाने कौन खींच कर ले गया था। मौन कमरे में बैठा वह छत की परछाईयों को न जाने क्यों देख रहा था। उसे जाने ऐसा क्यों लग रहा था कि छत किसी भी पल गिर सकती है, दीवारें सिमट कर उसे निगल सकती हैं। मैं उसका यह रूप सहन नहीं कर पा रही थी। मेरे अंदर की नग्नता मुझे शर्मिंदा कर रही थी, मेरा दम घुट रहा था। वह संदेह में जिये और मैं मौन रहूँ, नहीं, अब मुझसे यह सब नहीं हो पायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मानों की इज्ज़त बचाते-बचाते सारा जीवन मरघट में बैठ, जलती आँखों के सामने जलते न जाने कितने शव देख गई हूँ और अब नहीं। समीर की पीड़ा, उदासी, असमंजस मैं नहीं सहन कर सकी। वह अधजली लाश सा जीवन जिये कभी नहीं। मैंने फ़ैसला कर लिया था कि उसे सब बता दूँगी, कुछ भी नहीं छुपाऊँगी, कुछ भी नहीं।

मैं हौसला कर उसके कमरे में गई। वह सदा की तरह उदास बैठा था। मुझे देख चौंका और फिर स्थिर हो गया। उसका यह रूप मुझे बड़ा पराया-पराया-सा लग रहा था। वह उठा और मुझे कुर्सी पर बिठा दिया। पर मौन ही रहा। फिर उठा, मुझे अपनी बाहों में भर लिया। उसका चेहरा, मेरे चेहरे पर झुका हुआ था। मेरी आँखों में आँसू तैर रहे थे, कुछ साफ़ दिखाई नहीं दे रहा था। कभी समीर का चेहरा तैर जाता कभी सौरभ का, फिर कभी उन दो चेहरों पर सुमंगल की छाया उभरने लगती। मैं अपनी आँखों के सामने मरघट के इस कौतुक को देख सहम गई। मुझे लगा जैसे मेरा सारा अंदर बाहर धूँ-धूँ कर जल उठा है। मैं जल रही हूँ और समीर को बचा ले जाना चाहती हूँ। मेरी इस आग में वह क्यों जले, नहीं कभी नहीं। मेरे अंदर पहली बार समीर की क्या प्रतिक्रिया होगी, सच जानने के बाद, के प्रति एक विरक्ति का मान जागा था। किसी की देह-गंध मुझे शक्ति दे रही थी, सच बोल दो, कोई पाप नहीं किया है तुमने। मैं सच में बहुत थक गई थी, इस सच के बोझ को ढोते ढोते। जाने कहाँ से मुझ में शक्ति आ गई। मैंने एक-एक शब्द, समीर की आँखों में उभरते प्रश्नों का दे दिया। पूरी की पूरी नंगी हो उसके सामने खड़ी थी उसकी माँ। जो हर कमज़ोर पल का ब्यौरा और जीवन-यात्रा के मोड़ों का ब्योरा दे रही थी, बिना किसी ग्लानि के। वह बस इतना ही बोला-"माँ मैं सब जानता था, तुम्हारे मुँह से सुना, अच्छा लगा। मुझे गर्व है तुम जैसी माँ पर, आपके मित्र सौरभ के प्यार पर, बलिदान पर।" मुझे लगा जैसे अँधेरी गुफ़ाओं से किसी नन्हें से हाथ ने बाहर खींच लिया हो। शाप-मुक्त रौशनी में सुमंगल का अन्तिम संस्कार कर वह शान्त सौरभ को लेने चला गया था। जीवन-यात्रा के अगले पड़ाव के लिये।

1541/18-डी, चंडीगढ़।

कविता

कविता

गोपाल वर्मा

लेफ्टिनेंट कर्नल, बी-237, ग्रेटर कैलाश-I, नई दिल्ली-110048

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार कविताएँ

ललन चतुर्वेदी

प्रेम

उन दोनों ने
किसी का बुरा नहीं किया
यहाँ तक कि
किसी पर बुरी नज़र भी नहीं डाली
कसूर यही कि
दोनों बारहा मिलते रहे
हँसते-खिलखिलाते रहे
बोलते-बतियाते रहे
लोगों ने कहा-
कि यह अनुशासनहीनता है
कि यह सरासर अपराध है
कि इससे माहौल बिगड़ रहा है
कि इन्हें अब करना ही होगा अलग
कि इन दोनों ने जो जुर्म किया है
सभ्य समाज में इसके लिए माफी नहीं है
कोई भी सजा इनके लिए काफी नहीं है।

इस मौसम के खिलाफ

इन दिनों
कहने लगे हैं लोग कि
नहीं खिलने चाहिए बसंत में गुलाब
नहीं सुनाई पड़नी चाहिए
इस मादक मौसम में कोयल की कूक
क्यों होने लगी है उन्हें टीस
कोई बतलाए तो सही वजह उनके
इस खुशगवार मौसम के खिलाफ होने का।

शिकायत

वह जब मेरे खिलाफ हुआ
मुझे उस पर गुस्सा आया
मैंने उसकी सौ बुराइयाँ गिनाई
उसके चुप हो जाने के बावजूद
उसके खिलाफ़ आग उगलता रहा
पर जब मैं खुद के खिलाफ हुआ
मुझे खुद से कोई शिकायत नहीं रही।

कब तक

तुम जो करो सब सही
मैं जो करूँ सब अपराध
यह कैसा न्याय, कैसा विधान
मुझे कुछ जानने का
कोई हक़ नहीं श्रीमान?
'समरथ को नहीं दोष गोसाई'
कब तक सुनता रहूँगा मेरे भाई !

केन्द्रीय तसर अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, नगड़ी, राँची-8355

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता

सुरेश उजाला

अँधेरा

अँधेरा-अंधकार-
तम-तिमिर
तमी-समभाव-
पुरुक-पर्यायवाची शब्द हैं
एक-दूसरे के

अपेक्षा का प्रतीक-शिकार है-अँधेरा
धरती पर

है-
ता है-ठिकाना
आराम-विश्राम-तसल्ली
शांति-एकांत-निंद्रा
और
दिनभर की थकान से-
फुरसत-निजात-छुटकारा
रात की गोद-आगोश में-
समाकर-बिखरकर-बैठकर
उतारता है-हरारत-तन की

भी
अँधेरे के बिना-रात
रात के बिना-अँधेरा
अस्तित्वहीन है-
एक-दूसरे के बिना-

गहरा संबंध है-
अँधेरे का रात से
रात का अँधेरे से

अच्छे से अच्छे-
बुरे से बुरे

कामों को-
देता है-अंजाम-अँधेरा

गहन सोच का प्रतीक है-अँधेरा

बहुत से
कष्टों का-
निवारण और निराकरण है-अँधेरा

जो कराता है-
चाँद-सितारों
ढिबरी-दीपक-शमा
चिराग-लालटेन-लैम्प
बल्ब-ट्यूबलाइट-सी0एफ0एल0
इत्यादि की-
रोशनी से-रू-ब-रू
और
टिमटिमाते जुगुनुओं से पहचान
अँधेरी-रात में

अँधेरा ही-
बताता है-
रात की रानी के फूल का-
औचित्य
उल्लू की दास्तान
और
रमणीक
मंगल उत्सवों-पर्वों-मेलों का
रात में होने का-कारण और महत्व

साथ ही कराता है-साक्षात्कार
साँप की मणि से
जिसके साये में
करता है-विचरण-साँप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरना-
बेकार है-प्रकाश
इन सभी का-अँधेरे के अभाव में
अँधेरे बिना
इसके अतिरिक्त
उपेक्षित अँधेरा
देता है-सभी को-
न्याय-समता-स्वतंत्रता
और
बंधुता-एक समान
रात के-अँधेरे में

अतः
समानता का द्योतक है-अँधेरा

क्योंकि-
अँधेरा ही-
खो देता है-पहचान
अँधेरे में
एक-दूसरे की
एक-दूसरे से

कभी-कभी-
तोड़ देती है-
एक चीख-खामोशी-
अंधकार की
एक किरण-
अँधेरे का वुजूद

फिर भी-
अँधेरा-
किसी को कुछ नहीं कहता
खामोश रहता है

क्योंकि-
खामोशी में-मौजूद होती है
उसकी गहराई-समुद्र जैसी

जिसमें-
ताकत होती है-
सभी को समाहित करने की

इसलिए
वह चुपचाप देखता है-
अँधेरी रात के-काले-कारनामे
किसी-
सच के खिलाफ
झूठ के जाली हस्ताक्षर
और
झूठा हलफनामा

जो-
देता है-जन्म
गुनाहों-हादसों-साजिशों
और
षड़यंत्रों को-
रात के अँधेरे में

परिणामतः।
अँधेरा-
अँधेरा होता है
जिसका काम-
और
नाम है-अँधेरा

जो देता है-सिर्फ-अँधेरा

अतएव-
अँधेरा ही अँधेरा-
व्याप्त है-
दुनिया में

इसलिए-
उपेक्षा का पात्र है-
मौन साधक है-अँधेरा

जो-
अँधेरे की शय पर-
संघर्ष कर-लाता है-प्रकाश
दिन के उजाले सा-
जीवन में।

108-तकरोही, पं० दीनदयालपुरम
इन्दिरा नगर, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

शम्भु बादल

सरकार

कुछ मसख़रे
कुछ लुटेरे
कुछ हत्यारे
कुछ झूठे
कुछ बातूनी
कुछ बेईमान
कुछ नौटंकीबाज़
कुछ चालबाज़
कुछ अकर्मण्य
कुछ कर्मठ
कुछ ईमानदार
कुछ कर्त्तव्यनिष्ठ
जन-प्रतिनिधियों
के संयोजन से
जिस सहकार
संस्था का निर्माण होता है
क्या उसे ही
सरकार कहते हैं ?

रंग

नेपथ्य में कई रंग

सुसज्जित नेता
आकर्षक मंच पर
विविध रंगों में

मूल रंग की तलाश में
नागरिक भटक रहे

पुनर्विचार करो

सत्ता के झूले पर
आनंदित अंग्रेज़ों ने
हिन्दू-मुस्लिम
गाँधी-जिन्ना-नेहरू पर
दाँव लगाये
चेतना करो
फाँक-फाँक करने के
बीज बोये!

हमारे ख़ून
भारत-पाक
उनके लेख
उनके मौज

अपना देश
अपने लोग
मुखौटे टहल रहे
क्रय-विक्रय के बीच

युद्ध-जाल
जलाने
लूटने
मारने
काटने के
कुहराम
ज़मीन लाल
आसमाँ लाल

लाज बचाने को
पुकारती
मिमियाती
दबोची गयी
औरतें
बेटियाँ
हत्या से अनाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आतंकित चेहरे
शून्य में भटकती
त्रस्त कारुणिक आँखें
ख़ालीपन से झरते आँसू

हत्यारों के काले मन के
हथियार की उमंग पढ़ो
अमानवीय दबाव का
विस्फोट पढ़ो
वेदना की असीम गहराई में पैठ
दर्द पढ़ो

मनुष्य को
दास
लाश बनाने की
आदिम क़बीलाई
बर्बर
हत्यारी
आतंकी
मानुष-कथा
सुनाते रहेंगे
युगों तक
दिल्ली
लाहौर
कश्मीर
गोधरा
नंदीग्राम
गुवाहाटी
कंधमाल
लज्जित होते रहेंगे
संवेदना के
लोग
बौद्ध
कम्यूनिस्ट
गीता-कुरान-बाइबिल
हाथ में ले
काली-कामरेड की ज़मीन पर
सच कहता हूँ
बलात्कार-हत्या-दहन-लूट के उत्सव में
इच्छाधारी जानवर हैं।

आदमी की आत्मा पर कादो!
झंडों के नाम पर तानाशाही!
रचना के चेहरे पर धब्बे!
लालसामयी पूँजी की
मायावी आभा पर
कैसे मुग्ध हुए तुम!
स्वयं खिलौने बन
मन कैसे बेचा !

यदि कहूँ–
महाशक्ति के आगे
नतमस्तक न होने को
चुल्लू भर पानी में
डूब
नया रूप धरने को
इक्कीसवीं शती !
कुछ प्रभावी बोलो
सच-झूठ
इंसान-कुत्तों का भेद खोलो

विवेक कहाँ गया ?
कैसे रहे मनुष्य ?
पुनर्विचार करो
मिलजुल कर
बुद्ध-मार्क्स!

सूरज-घर, जबरा रोड, कोर्रा, हज़ारीबाग-825301 (झारखंड)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन के विकल्प पर ताला

प्रमोद रंजन

हालत यह है कि किसी एक की बात तो छोड़िए, हिन्दी के कुल जमा जो 10-12 प्रमुख दैनिक हैं, उनमें कोई मौलिक अंतर आप नहीं तलाश सकते, सभी के सभी एक-दूसरे की प्रतिकृति लगते हैं। पाठक के लिए इन अखबारों में से अपनी रुचि के अनुरूप किसी एक के चयन का विकल्प नहीं है।

कोई भी अखबार उठा लें, एक सी सामग्री सभी में मिलेगी। वही चटखारेदार अंतिम रंगीन पृष्ठ, ग्लोब या बाजार के किसी बासी प्रतीक-चिह्न के नीचे एक पन्ने पर कथित 'अर्थ जगत्' की खबरें। देश-विदेश के विरोधाभासी शब्द युग्म के अंतर्गत, जो कुछ सहजता से उपलब्ध हो उसी से काम चलाती सूचनाएँ। यदि आप क्रिकेट में रुचि नहीं रखते तो खेल पृष्ठ पर नजर डालना व्यर्थ लगेगा। यदि विचार क्षेत्र की अद्यतन गतिविधियाँ जानना चाहते हों तो इसमें संपादकीय पृष्ठ कोई मदद नहीं कर पाएगा। इस पन्ने पर सभी अखबारों के मानो कुछ पत्रकारनुमा साहित्यकारों की सामयिक टिप्पणियों के अतिरिक्त अन्य सभी अनुशासनों के लिए प्रतिबंध ही लगा रखा है। हर अखबार स्वयं को 'दोनों पक्षों' (वह लाश और हत्यारे दोनों की हिमायत करना चाहता है) की आवाज़ कहना पसंद करता है। शायद इसलिए जब पिछले दिनों संपादकों-मालिकों को अपने अखबारी पत्रों पर धर्म निरपेक्षता की आवाज अधिक ऊँची होती दिखी तो उन्होंने दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल सरीखे अनेक सांप्रदायिकों को 'स्वतंत्र टिप्पणीकार' बनाकर पेश करना आरंभ कर दिया। काश हिन्दी अखबारों के नीति-निर्धारकों को प्रतिपक्ष बन सकने के लिए अनिवार्य तर्कों की समझ होती! इसी तरह सभी अखबारों के पहले पन्ने की प्रायः सभी खबरें एक ही प्रकार की होती हैं। ऐसा अखबारों का अपना कोई मूलभूत सरोकार, सतह के नीचे निरंतर गतिमान रहने वाले किसी मूल सिद्धांत के न होने के कारण होता है।

नक्सलवाद, आतंकवाद और अपराध के फर्क को कोई अखबार चिन्हित नहीं करता। न ही वह चारु मजूमदार, प्रभाकरन और बबलू श्रीवास्तव जैसे व्यक्तियों के मौलिक अंतर को अपने पाठकों के समक्ष रखता है। उनकी नज़र में उदय प्रकाश, वरवर राव के साथ-साथ अटल बिहारी वाजपेयी और बबलू श्रीवास्तव भी कवि हैं। पाकिस्तान की ओर अनवरत आँखें तरेरे रहना और अमेरिका से पुत्रवत नाराजगी तो खैर इनका पुराना शगल है। यह प्रवृत्तियाँ भी बताती हैं कि पत्रकारिता सत्ता के वर्चस्ववादी तर्क से इतर सोचने में समर्थ नहीं हो सकी है।

एक क्षेत्र में प्रसार वाले अखबारों में एक-दूसरे की तरह दिखने-बनने की अनवरत होड़ रहती है। सामान्य समाचार पृष्ठों पर भी ध्यान इस बात पर नहीं होता कि समाज और राजनीति में घटित हो रहे किन परिवर्तनों को स्थान मिलना चाहिए या कौन-कौन से पक्ष अभी भी अँधेरे में है। वे अपने प्रतियोगी पत्रों से अंधी प्रतिस्पर्धा में संलग्न रहते हुए सिर्फ इस बात पर जोर देते हैं कि दूसरे अखबारों में छपने वाली कोई खबर छूट न जाए। इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप वे एक-दूसरे की अनुकृति बनते चले जाते हैं और पाठकों के लिए अपनी रुचि के अनुसार चयन करने के सभी विकल्प बंद कर देते हैं। वे सिर्फ यह देखते हैं कि प्रस्तुत की गयी सामग्री में क्या अधिक पढ़ा जा रहा है। उन्हें यह ध्यान रखने की जरूरत नहीं महसूस होती कि नये पाठक क्या पढ़ना चाहते हैं जबकि हिन्दी अखबारों के पाठकों में अधिकांश दलित-पिछड़े तबके के नव शिक्षित परिवार हैं। इनकी बौद्धिक, सूचनागत जरूरतें द्विज पाठकों से कुछ अलग भी हैं।

खबरों के अतिरिक्त पठनीयता बढ़ाने और विविधता बनाए रखने के नाम पर निकाले जाने वाले परिशिष्टों के विषय भी सभी अखबारों में एक से ही हैं। महिला, बच्चे, कैरियर, फिल्म और अध्यात्म। इसके अतिरिक्त एकाध परिशिष्ट रंग, विविधा, लाइफ आदि शब्दों के गठजोड़ से उद्भूत किसी रंगारंग चमकीले नाम से भी होता है, जिसमें वस्तुतः इन्हीं 5-6 विषयों की मिली-जुली खिचड़ी परोसी जाती है। गोया समाज इतना चिंताविहीन हो गया कि अब विषय ही नहीं हों या हिन्दी पट्टी के महिला-पुरुषों ने यह घोषित कर दिया हो कि अब वे बुनाई-कढ़ाई करने, जायकेदार खाना बनाने-खाने, फिल्मी चटखारे लेने, जूते-कपड़े खरीदने, सास या पत्नी से सरस संबंध बनाने, प्रभु में मन रमाने अथवा किसी सनकी के गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्डनुमा कारनामों का हिसाब रखने के अलावा न कुछ करेंगे, न सोचेंगे और न ही पढ़ेंगे-जानेंगे। हिन्दी अखबारों की यह प्रवृत्ति पाठकों के समक्ष सामाजिक यथार्थ की विकृत तस्वीर प्रस्तुत कर सिर्फ उन्हें भ्रमित ही नहीं करती बल्कि ऐसा कर अखबार ये पाठक संख्या की प्रतिद्वंद्विता की दूरगामी दौड़ में अपनी सीमा रेखा भी बनाते चलते हैं। यह भी समझने की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबंधक जिसे 'आम पाठक' की संज्ञा देते हुए निम्न रुचि का समझते हैं, वह साल-छह महीने अखबार लेकर बंद क्यों करवा देता है ? आबादी का आधा हिस्सा, महिलाओं की रुचि परिशिष्टों के तमाम टोटकों के बावजूद, अखबारों में क्यों नहीं विकसित हो पाई? या 52 प्रतिशत युवाओं की आबादी वाले इस देश के अखबारों के पास युवाओं के लिए इधर-उधर से उड़ाए गए माल से निकाले गए कैरियर परिशिष्ट और सस्ते फिल्मी गॉसिप के अलावा भी कुछ है?

अखबारों में चयन के विकल्पों के सीमित होते जाने के पीछे हिन्दी पत्रकारिता में कम वेतन होने के कारण इस क्षेत्र में रचनात्मक (तकनीकी व लेखन-विचार क्षेत्र, दोनों के) लोगों का न आना तो है ही, इसके लिए पत्रकारिता में कार्यरत लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमि की एकरसता भी कम जिम्मेवार नहीं है। विभिन्न सामाजिक-समूहों से आए लोगों की अनुभवजन्य रचनात्मकता से पत्रकारिता स्वयं को अधिक संपन्न बना सकती थी। इसके विपरीत एक सी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले लोगों की उपस्थिति ने इसके स्वरूप को निहायत एकांगी बना दिया है। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य परोक्ष कारण भी इस दिशा में लगातार सक्रिय रहते हैं। उन पर चर्चा होना ज़री है। फिलहाल यह शेर देखें :

छइयाँ-छइयाँ, चुल्लू-चुल्लू पानी पी, दिल का दरिया पार करेगा, चल झूठे

आँसू दरिया, आँखें कश्ती मान लिए, पलकों को पतवार करेगा, चल झूठे।

शिक्षक कॉलोनी, कुम्हरार, पोस्ट-बहादुरपुर, पटना-800026

कविता

चुप्पी

प्रज्ञा पांडेय

इस चुप्पी को हम आप नहीं जानते।
यह ब्रह्माण्ड में बैठी चुप्पी सी है।
यह बोलती तो है मगर अपनी आवाज़ में
और चीखती है ऐसे जैसी बच्ची जब मारी गयी हो भ्रूण में।
कि उसकी आवाज़ भर जाती है गर्भ की आखिरी झिल्ली की छोर में।
कभी-कभी यह चुप्पी आ खड़ी होती है गाँव के चौपाल में। ठीक दोपहर और धूप लू की तरह बरसती है ताबड़ तोड़।
करती है लहू लुहान पसीना-पसीना होती है बिना बोले
मारती है जाने कितनो को यह बिना हर्फों की जुबान
अपना ही लहू सुखाती यह चुप्पी जमती जाती है अपनी ही शिरा में
जैसे हाशिये पर वक्त
इसी चुप्पी की खातिर लोग नहाते हैं गंगा में
कि शायद धुल जाये गर्भ में फैला खून पर वह नहीं धुलता किसी तरह
यह चुप्पी बनाती है सन्नाटों चक्रव्यूह के चक्रव्यूह
इस चुप्पी को वह पीस रहा है जो खेत में खड़ा है धोखा की तरह
जो झूमता है ऐसा लगता है गिर गया तूफान में ऐसा लगता है।
मगर हम आप नहीं जानते कि यह चुप्पी जो साधे है मौन
और दिखती कुछ और है और बधती है खुद को
यह निरंतर युद्धरत है और मारती है अपनी ही त्वचा की
हर शिरा को
यह आत्महंता की चुप्पी है याद रखे
कि आत्महंता की चुप्पी होती है खतरनाक
कहती है पूरी बात करती है पूरा घात।

89, लेखराज नगीना, सी-ब्लाक, चर्च रोड, इंदिरा नगर, लखनऊ (उप्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर

प्रेम शशांक

हीं, यह कहना किसी भी दलित का मूल अधिकार है कि वह हिन्दू वर्ण - व्यवस्था का अंग नहीं है। हिन्दू वर्ण व्यवस्था दलित के लिए एक जेल है। दलित वर्ग ब्राह्मण की तरफ से सजायाफ़्ता लेकिन इस संभावना के साथ कि युद्ध कर के वह इस जेल से कभी भी बाहर हो सकता है। यहीं से दलित साहित्य की परिभाषा निकलती है।"

"दलित साहित्यकार ने सबसे पहले अपने मनुष्य की खोज की है और हिन्दुओं की समाज व्यवस्था में खुद के लिए तीसरे वर्ण की स्थिति उस ने कभी कबूल नहीं की। ब्राह्मण उसे शूद्र और अछूत कहता है, कहता रहे, लेकिन दलित ने इस समाज व्यवस्था पर सदा अपनी विमत टिप्पणी दर्ज की है। दलित की इस विमत टिप्पणी को शम्बूक, एकलव्य, कबीर और अंबेडकर के रूप में ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए।"

"दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है। वह श्रेष्ठ और कम श्रेष्ठ साहित्य लिख सकता हे लेकिन शर्त यह है कि गैर -दलित कैसा भी दलित साहित्य नहीं लिख सकता। दलित साहित्य के मूल्यांकन की मनाही नहीं है। समीक्षक यह निर्णय दे सकता है कि कौन सी रचना दलित साहित्य की श्रेष्ठ रचना है, लेकिन उसे यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह किसी गैर दलित लेखक की रचना को दलित साहित्य की रचना मान ले।"

उपर्युक्त तीनों टिप्पणियाँ डॉ0 धर्मवीर की समीक्ष्य पुस्तक 'दलित चिंतन का विकास' के पहले और आधार लेख 'दलित साहित्य की परिभाषा : समग्रता और पूर्णता की ओर' से ली गई है। ये टिप्पणियाँ लेखकीय चिंतन के संदर्भ में दलित वर्ग की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक स्थिति स्पष्ट करती हैं। यह अलग बात है कि भाषाई स्तर पर ही नहीं ये टिप्पणियाँ चिंतन के स्तर पर भी अन्तर्विरोधपूर्ण हैं। हिन्दू वर्ण व्यवस्था के प्रभाव पूर्ण है। दलित वर्ग के संदर्भ में इसके वहिष्कार की बात जायज़ है, समय प्रवाह, शिक्षा और समझ के विस्तार के साथ दलित चिंतन की शुरूआत संभावनापूर्ण है। शम्बूक, एकलव्य, कबीर और अंबेडकर के रूप में इसके विकास को देखा जा सकता है लेकिन हिन्दू वर्ण व्यवस्था का नकार और संघर्ष अन्तर्विरोधपूर्ण हैं। जिस व्यवस्था के अंग ही नही हैं तो उससे संघर्ष कैसा? संघर्ष तो उसके भीतर रहकर ही किया जा सकता है। यही विडंबना है कि भाग भी रहे हैं और संघर्ष भी कर रहे हैं। अधिकार की भावना ही संघर्ष का प्रेरणा स्त्रोत होती है। राजनीतिक और सामाजिक सरोकारों में व्यवहारिक स्तर पर फ़र्क साफ महसूस किया जा सकता है। दलित चिंतन के संदर्भ में कहा जा सकता है कि सामाजिक चुनौतियों को नकारते हुए राजनीतिक जमीन की तलाश की जाती रही है जबकि दोनों की दिशायें भिन्न होती हैं। राजनीतिक पहचान अलगाव की मांग करती है और सामाजिक पहचान समरसता के संघर्ष से होकर गुजरती है। दलित साहित्य, चिंतन और लेखकीय सरोकार भी इसी राह के अन्वेषी होने के कारण अंतर्विरोध ग्रस्त है।

जातिगत भेदभाव की समाप्ति के राजनीतिक संघर्ष के सांगठनिक परिणाम अलग और एक स्वायत्त पहचान के बरक्स कुछ व्यक्तियों के चमकने के संदर्भ में सुखद कहे जा सकते है। लेकिन सामूहिक अपेक्षाओं की ज़मीनी हक़ीकत पर खरे नहीं उतरे हैं। यही प्रक्रिया दलित साहित्य चिंतन और लेखकीय सरोकारों के संदर्भ में अपनाई जा रही है। इसमें भी कुछ नाम चमकने की गुंज़ाइश साफ़ नज़र आ रही है। उपर्युक्त संदर्भित तीसरी टिप्पणी में जिस तरह दलित साहित्य को सीमा में बाँधा गया है, उसका महत्व और जातीय-वर्गीय पहचान तभी है जब समाज में रहकर वर्गीय संघर्ष जारी रहता है। मूल्यांकन के बहाने दलित साहित्य के पाठ की जो सुविधा मुहैया कराई गई है इससे दलित साहित्य की अस्मिता और महत्व कायम रहता है वरना द्विज और दलित की सोच और कार्यवाही में कोई फर्क नहीं रह जाता। लेकिन यह प्रश्न पूरी तरह राजनीतिक और अवसरवाद से ग्रस्त है कि दलित लेखक का लेखन ही दलित साहित्य होगा। रचनात्मक चुनौतियों के संदर्भ में प्रायः कहा गया है कि जो भोगता है वही श्रेष्ठ रच सकेगा। यह तर्क विकास की प्रक्रिया के साथ खुद ही ढह जाता है। जब एक समय आत्मकथाओं को हाथों-हाथ लिया जा रहा था और दलित साहित्य के नाम पर बड़े गर्व से गिनाया जाता जा रहा था अनुभूति की प्रामाणिकता का दावा चरम पर था। इसके बरक्स धर्मवीर स्वीकारते है कि वास्तव में साहित्यिक क्षेत्र मे विधा के रूप में आत्मकथा आत्महत्या है। एक लेखक के लिए आत्मकथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखना आत्महत्या करना है। दलित लेखकों को इस विधा से बचना चाहिए।

'अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिन्तन की ओर' लेख में धर्मवीर शीर्षक का औचित्य संधान करते हुए बहुत ही महत्वपूर्ण बात कहते हैं 'और कोई सन्देह न रह जाये इसलिए व्याख्या में दलित चिन्तन को अभिशप्त इस रूप में कहा जा रहा है कि वह ब्राह्मण के जिक्र से भरा हुआ है। इस पर यह बन्धन है कि यह ब्राह्मण के विरोध के सिवा कुछ अन्य नहीं सोच पा रहा है। वास्तव में दलित चिंतन उस समय मुक्त, स्वतंत्र और वास्तविक होगा जिस समय उसके जिक्र में से ब्राह्मण का संदर्भ निकल जायेगा। वह दिन उस की सच्ची स्वतंत्रता का दिन होगा। यह सोच तो सकारात्मक है लेकिन वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मण विरोध से दलित चिन्तन का संघर्ष केन्द्र फिर क्या होगा? उपर्युक्त दूसरी टिप्पणी के संदर्भ में शम्बूक, एकलव्य, कबीर और अंबेडकर के चिन्तन के क्रम में धर्मवीर इस लेख में अंबेडकर और बौद्ध धर्म को प्रश्नों के घेरे मे लेते हैं : दलित चिन्तन को सबसे पहला और भारी धक्का ढाई हजार साल पहले बुद्ध के चिन्तन के रूप मे लगा था। उस धक्के और धोखे से दलित चिन्तन आज तक उभर नही सका है। उल्टे डॉ0 अंबेडकर के रूप मे वह इस घोखे में फँसता ही जा रहा है। वास्तव में बुद्ध ने केवल अपनी लड़ाई लड़ी थी और वह भी ठीक तरह से नहीं लड़ी थी। उन का दलित की समस्या से कुछ लेना देना नहीं था। बुद्ध की समस्या एक साधन सम्पन्न व्यक्ति की समस्या थी। नुकसान यह हुआ है कि आज के दलित ने बुद्ध के बहकावे में आ कर अपने स्वतन्त्र चिन्तन की खोज करनी छोड़ रखी है।'' वैसे धर्मवीर कबीर और रैदास के चिन्तन के साथ दलित चिन्तन की एक अलग श्रृंखला बनाते हैं। एकलव्य और शम्बूक के संघर्ष को इनसे पहले इस चिंतन धारा से जोड़ना चाहते हैं। अंबेडकर के चिन्तन को नकारने मे झिझकते हैं। इसलिए उनके योगदान को स्वीकार करते हैं लेकिन डॉ0 अंबेडकर के बाद दलित चिंतन का भविष्य बौद्ध धर्म से अलगाने में देखते हैं।

'दलितों का दर्शन क्या हो इस लेख में धर्मवीर एक वाक्य में इस प्रश्न का समाधान देते हैं। दलितों का दर्शन वही होना चाहिए जो उन्हें इस दासता से पक्की तरह मुक्त कर दे। इस लेख में वह विभिन्न धर्मों के संदर्भ में दलितों की समस्या और स्थिति को रख कर देखते हैं और अंत तक कोई समाधान नहीं मिलता। वह कहते भी हैं कि मूल प्रश्न यही है। दलितों की समस्या धार्मिक है, पर यह वर्ग कब तक धर्मान्तरणों के फेर में पड़ा रहेगा ? यह सच भी है और हताशा भी। इस सच की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए ही वह बेहद महत्वपूर्ण बात उठाते हैं जिससे सहमति व्यक्त की जा सकती है। ''आवश्कयकता मात्र इतनी नहीं है कि दलित वर्ग हिंदू समाज से सामंजस्य रखे। बड़ी आवश्यकता यह है कि दलित वर्ग पूरे भारतीय समाज से सामंजस्य रखे। पूरे भारतीय समाज में बहुत कुछ आ जाता है। इसमें हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, पारसी, बौद्ध, और यहूदी भी हैं।'' यह दलित समाज की आवश्यकता ही नहीं, यथार्थ है। यथार्थ से संघर्ष ही श्रेयस्कर मार्ग है। भाग कर मुक्ति की तलाश बेमानी है। संघर्ष से अलग न कोई मुक्त है और न ही कोई स्वतंत्रता है। समरसता की इस लड़ाई में दलित चिन्तन और साहित्य की अहं भूमिका है। जिस तरह धर्मवीर दलित समाज को बृहतर भारतीय समाज से जुड़ने की वकालत करते है, चिन्तन और साहित्य के स्तर पर भी यह एक बड़ी ज़रूरत है। अलगाव की चिंतन धारा के बरअक्स राजनीति की तरह साहित्यिक समाज में भी कुछ चेहरे चमक सकते हैं, बृहतर दलित समाज की स्थिति तो संघर्ष और सामंजस्य की स्वतंत्र चिन्तन धारा से ही बदलेगी।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि., सेमीखेड़ा, बरेली, (उ.प्र.) 243503

दलित चिन्तन का विकास, डॉ0 धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 300 रुपये

■

पहले संग्रह की कच्ची-पक्की कविताएँ

विजय शर्मा

अरिजीत का पहला काव्य संग्रह 'किसकी है यह कविता' मेरे सामने हैं। संगीत एवं कला प्रेम इन्हें विरासत में मिला है और कविता को इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में चुना है। स्वागत है इनका हिन्दी काव्य जगत में। साहित्य जगत में प्रवेश करते ही वे बात करते हैं जीवन के हासिल की। इनके हौसले बुलन्द हैं। ये महाकाव्य लिखना चाहते हैं और इसके लिए पर्याप्त तैयारी करना चाहते हैं। इन्हें ज्ञात है कि जब ये गहराई तक पहुँचेंगे तभी यह संभव होगा। इसी तरह ये यह भली भाँति जानते हैं कि आत्मकथा लिखने के लिए भी बहुत आत्मचिंतन, मनन चाहिए। आत्मकथा मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबंदी या जोड़-घटाना नहीं है। हर व्यक्ति की कुछ विशेषताएं होती हैं, साथ की सबकी कुछ सीमाएं भी होती हैं। अच्छी बात है कि कवि अरिजीत महत्त्वाकांक्षी होते हुए भी अपनी सीमाओं से अपनी क्षमताओं से, परिचित हैं।

कवि के अनुभव क्षेत्र में तमाम प्रिय, परिचित हैं जो आज उससे बिछड़ चुके हैं या फिर किसी कारण से अपना व्यक्तित्व- अस्तित्व गँवा चुके हैं। उसकी बहन वर्षा जो एक समय एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्वामिनी थी, विवाह के पश्चात स्वयं को भूल चुकी है वह उसे उसके स्व की याद दिलाता है। कोंतका की एक नृत्यांगना को संबोधित एक कविता में अरिजीत इस परदेशी को अपनी-सी बना लेना चाहते हैं। बाबा केशव भिखारी के चले जाने पर जीवन में उभर आए सूनेपन की कविता में कवि उन्हें श्रद्धांजलि देता है। इसी तरह एक कविता ताऊ की स्मृति में है। इसकी अंतिम पंक्तियाँ 'आपने कोमल दा कठे ल्यो सा' दुःखी हृदय की कातर पुकार पाठक के दिल को छू लेती है। पढ़ कर रोमांच हो जाता है।

कुछ कविताएं अतयंत लघु हैं। मात्र कुछ पंक्तियों की। लगता जापानी हाइकू की शैली से उनका दूर का भी नाता नहीं है। एक नमूना है,

'हवा करती सायँ सायँ/ पुराना करता बायँ बायँ/ नया क्या/ आप समझायँ!'

अरिजीत की मानवीय संवेदना के विस्तार क्षेत्र में एक अनजान बुढ़िया, गाँधी, खाली प्याला, नंगे बच्चे, अखबार, भूख, रफ कागज, ताजा हवा, पीपल जैसी सजीव-निर्जीव तमाम बातें आती हैं। एक ओर कवि शहर में अकेला है तो दूसरी ओर वह संग-संग चलने का न्योता भी देता है। कभी उसकी संवेदना बहुत दिन बाद लौटने के बाद घर के जाले साफ करती है, तो कभी नानी की बातों को याद करती है, तो कभी माँ के कमरे में डोलती हैं। कहीं व्याकुलता है, तो कहीं व्यंग्य के रूप में पांणा पुराण है, तो कहीं बुश। कवि मर्माहत है छः दिसम्बर की घटना से क्योंकि इस दिन जो वध के लिए नहीं था, अवध था, उसका ही वध हो गया है। उसके अन्दर रेत का टीला और वीराना है। वह इश्क और जज्बात की बात कर रहा है, तो आस भी बेच रहा है।

इन छोटी-छोटी कविताओं में दैनन्दिन की भाषा का इस्तेमाल हुआ है। मगर कहीं-कहीं पर कुछ खटकता भी है। कवि को व्याकरण की छूट होती है मगर वह गले नहीं उतरती है यदि कविता में न समाए। जैसे, 'सितार गा रही थी', 'ढ़ेर सी मन को तपिश से लिखी कविता!', 'क्या सावन मुझे जगाएगी'

अरिजीत का प्रथम काव्य संग्रह उनके कच्चेपन की गवाही दे रहा है, साथ ही अपनी उनकी सम्भावनाओं को प्रकट करता है। आगे चल कर और प्रौढ़ कविताओं की उनसे अपेक्षा है। उनके उत्साह को बढ़ाने के लिए नामवर सिंह की भूमिका काफी है। उनके पहले काव्य संग्रह के लिए उन्हें बधाई और भविष्य के लिए नामवर जी तरह हमारी भी शुभकामनाएँ।

151 बाराद्वारी, जमशेदपुर 831001

किसकी है यह कविता (कविता संग्रह), अरिजीत, मूल्य : 200.00 रुपये, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली- 110002

■

अरूष की कहानियों में स्त्री

प्रमीला के.पी.

हरपाल सिंह अरूष को हिंदी के उस खेमे के प्रतिनिधि कहानीकार के रूप में मान लें जो गत काल से मूक व उपेक्षित होकर इतिहास के पन्नों मे गुप्त पड़े हैं। वे उनमें एक होकर अपनी जगा दुनियां की चुप्पी को वाणी देन का प्रयास कर रहे हैं। उन्हें इस बात की शंका नहीं है कि दलित का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्मिता है। इसलिए वे अपने प्रतिनिधित्व की झांकी को कर्म और मिट्टी में खड़ा करते हैं। जो पददलित और असंगठित हैं, जो जाति या वर्ण के कारण हाशिए पर हैं, उन्हें लेकर सवर्ण साहित्य में प्रतिपादित एकस्वरूपी वर्णनों व निर्दिष्ट विषयों को वे तोड़ना और ठुकराना चाहते हैं। एक रूप में कहें तो पददलित बहुस्वरता का नया सौंदर्यमानक रूप की कहानियों की अहम उपलब्धि है। अब तक मूक रहे प्राणियों को आवाज देने के क्रम में ये कहानियाँ और इनके पात्र दलित जीवन के कड़वे यथार्थ को उभारते हैं तो कहीं हम चौंक जाते हैं, कहीं अपराधबोध से ग्रस्त रहते हैं, तो कहीं आवाज में आवाज मिलाने के लिए खड़े हो जाते हैं। दलित परिसर की अनजान व उपेक्षित जीवन की समग्रता अरूष के विषय है। इस क्रम में उनके स्त्रीपात्र स्वतंत्र और स्वपहचान के साथ उभरते हैं। प्रस्तुतीकरण में एक विशेष तरह की सपाटता अरूष की खासियत है। निडर होकर जीवन का सामना करने वाली दलित औरतों की जीवन स्थितियों का सापेक्ष वर्णन इनमें है। इसलिए ये कहानियां सबालटर्न और नृवंशशास्त्रीय अध्ययन के लिए उचित भूमिका प्रदान करती हैं।

हरपाल सिंह अरूष की कहानियों में स्त्री के विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप हैं। 'कठघरे में औरत' संकलन में इसका विशद विस्तार है। सभ्य सुदर एवं शालीन बताने वाले मध्यवर्ग के दांपत्य पर व्यंग्य करती प्रथम और शीर्षक कहानी दिलचस्प है। बढ़ते तलाक वाले इस ज़माने में कहानी उस पर दांपत्य का व्यंग्यात्मक चित्र खींचती है जो हर मध्यवर्गीय कुटुंब में अब किसी न किसी रूप में वर्तमान है। परंपरागत पुरूषमेधा समाज और स्त्री मुक्ति की सामाजिक गति की टकराहट में द्वंद्वात्मक स्त्री पुरूष संबंधों का चित्र इस कहानी में हैं।

वर्तमान समय में तलाक का आंकड़ा बढ गया है। एक कारण यह भी है कि आज की लड़कियाँ अपेक्षाकृत पढ़ी लिखी और श्रमजीवी हो गई हैं। वे अपने बलबूते पर कार्य व निर्णय स्वयं लेती हैं। परंपरागत मानसिकता के माहिर पुरूष इसे नहीं समझते। अतः अपनी अग्रता स्थापित करने के लिए पति या तो मार-पिटाई शुरू करते हैं, नहीं तो तलाक के रास्ते की ओर बढ़ते हैं।

कहानी का दूसरा पक्ष भारतीय न्यायवस्था पर मजाक के साथ उंगली उठाता है। न्यायव्यवस्था भारतीय परिसर में काफी समय से आलोचना की शिकार है। पर लोगों के कहने पर भी उसकी कछुआ गति और अंधनीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। सबूत के बनाने या बिगड़ने से न्याय का मार्ग फिसलन भरा हो जाता है। अतः दांपत्य के प्रसंग में न्याय व्यवस्था के इन पक्षों को अरूष ने उठाया हे। 'आक् थू' में मेवाड़ शासन की कहानी है। गोत्रजातियों के अंधविश्वासों की चिंता पर प्रश्न उठाने वाली यह कहानी कुकरी की रस्म पर केंद्रित है। विवाह के बाद दुल्हन से किसी का नाम उगलवाकर पैसा वसूल करने वाली इस रस्म पर लेखक का प्रश्नचिन्ह है। ये प्रथायें व रीतियाँ कितनी स्त्री विरोधी और अमानवीय हैं, इस तरह की कहानियों में इसका प्रतिवादन है। अतः ये कहानियां अपने में ध्येयपूर्ण हैं। नवविवाहहिता पर मनोवैज्ञानिक दबाव डालकर पैसा कमाने की यह प्रथा अमानवीय और अप्रासंगिक है। रूपणी कहानी में बाल्मीकि समुदाय के घरेलू जीवन की झांकियां प्रस्तुत हैं। इस कहानी में औरत का सशक्त रूप विद्यमान है। 'सास की मरगत' में सास और दो बहुओं का बखान है। सास पुरानी परंपरा की कड़ी है पर उसके जीवन और जगत के पुराने मानक मजबूत हैं। जबकि बहुएं एक ग्रामीण और एक शहरी होने पर भी संकट का सामना करने में उतनी हिम्मत नहीं रखतीं। सामान्य ढंग में प्रस्तुत इस कहानी में भी परोक्ष सूचनाएं महत्वपूर्ण व गहरी है। व्यंग्य शैली अरूष के स्त्रीपक्षीय बयानों की विशेष शक्ति है। रोने या सहानुभूति जगाने के प्रयास के बदले ये कहानियां अलग पहचान और स्वायत्ता के साथ प्रस्तुत होती हैं। राजनीति की दृष्टि से ये कहानियां अंबेदकरवादी स्वर की माहिर हैं। वे सतत दलित और अन्य समुदायों के बीच संवाद को स्थापित करना चाहती हैं। मेधावी पुरूष व उपेक्षित स्त्रियों के संवाद को बनाए रखने की सिफारिश करती हैं। जुबानी भाषा का कच्चापन और टुच्चापन इन कहानियों को विशेष अंदाज प्रदान करता है। जीवन की सच्ची गंध उसमे तरंगायित है। अरूष की कहानियां दो अर्थों में महत्वपूर्ण हैं। एक, वे दलितोद्धार के द्वार खोलने को लालायित हैं। दूसरी ओर वे दलित जीवन पर प्रकाश डालकर बहुसंख्यकों को यह बताती हैं कि दोहित दलित की यह स्थिति है। उनकी स्त्रियाँ स्वाश्रयी, स्वाभिमान और वजूद वाली हैं। दलित वाङ्मय को प्रस्तुत करने वाली इन कहानियों में अधिकार और वर्चस्व के किताबी ज्ञान पर को भरोसा नहीं है। बरक्स ये व्यावहारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानवीय संवदनाओं की परख पेश करती है।

रीडर हिन्दी, जगदगुरू शंकराचार्य विश्वविद्यालय कालडी

हाउस नं., 7-971 कालडी-683574 (केरल)

कठघरे में औरत, हरपाल सिंह 'अरुष', कैटरपिल्लर पब्लिकेशंस, कश्मीरी गेट, दिल्ली

■

बोल मेरी मछली–अकथ कहानी या मन की

सुषमा सिंह

कामना सिंह का पहला उपन्यास 'बोल मेरी मछली' पढ़ना शुरू किया और पढ़ती ही चली गयी। यह उपन्यास है या कथा के सांचे में ढला प्रेम का दर्शन। 'अकथ कहानी या मन की' कहा है किसी ने, पर कामना ने तो मन की कहानी ऐसी प्रवाह मे लिखी है कि पाठक का मन अपने साथ बहा ले जाती हे। इसमें कशिश ही ऐसी है कि पुस्तक हाथ से छोड़ने का मन नहीं करता। यह पुस्तक पढ़ रहे हैं, यह तो भान ही रहता। लगता है सपना और अविनाश के साथ जी हैं, उन्हीं की गली में पड़ोस में ही कहीं रह रहे हैं। हर गतिविधि पर नज़र है हमारी। ऐसा तो होना ही है, गली साक्षी है न इस सबकी और गली से ही तादात्म्य है हमारा। यह भी शिल्पगत नवीन प्रयास है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमत्कृत करता है।

कामना ने कैसे पढ़ा है इन पात्रों को इतने जीवंत रूप में, कैसे कल्पना की है। इस अत्यल्प कथानक की, जिसमें घटनाएँ तो नाम मात्र को हैं और पात्रों के मन का ताना-बाना ही बुना जा रहा है। यह समाज न जाने किन अदृश्य लकीरों से साकार हो रहा है। उसमें-सपना की सास के रूप में, अविनाश की बहन और पिता के रूप में, अखिल और अविनाश के आफिस के रूप में बच्चों के साथ हँसती-खेलती और फिर गुमगुम हुई सपना के रूप में, प्रोफेसर साहब की पूर्व स्मृति के रूप में, जैसे बादलों के बीच से कभी सूरज झाँक जाए, कभी चाँद और जैसे कभी धूप निकल आए, कभी चाँदनी।

सपना पर कुछ न कहा तो जैसे उपन्यास पर ही कुछ न कहा। सपना के मन की दीवारों पर ही खड़ा है उपन्यास का पूरा ढाँचा। सपना जिससे एकरस हो जाता है पाठक। जब तक सपना हंसती, खिलखिलाती रही, पाठक भी उसे दूर से देख कर खुश होता है लेकिन जब उसके हृदय की धड़कनें सुनायी पड़ने लगती है मन की हलचलें महसूस होने लगती हैं, उसकी परेशानी उसकी तड़प पाठक मन को भी छीलने लगती है। जब वह अविनाश की धज्जियाँ उड़ाती है, तो पाठक के मन को भी सुकून मिलता है।

आज जब मीडिया अपसंस्कृति का प्रचार करने में लगा है, रिश्ते-नाते, संस्कार सब पर प्रश्न चिन्ह लगा रहा के, मन का बावरापन बढ़ रहा है, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के नाम पर संबंध शिथिल हो रहे हैं। बोल मेरी मछली मन के गूढ रहस्यों से गूढ संवाद करता हुआ उपन्यास है। उसका आमुख जो 'विष्कंभक' शीर्षक से लिखा है, एक अत्यंत प्रौढ़ चिन्तक की कमल से उकेरा हुआ परिज्ञात होता है और उसी में है वह चुंबकीय आकर्षण जो कथा में प्रवेश कराता है। फिर तो पाठक को पात्रों के मन की की कुहेलिकाओं से निकलने का मार्ग ही नहीं मिलता। उपन्यास को नाटक के रूप में लिखा गया है, यह भी एक अभिनव प्रयोग है, जो पूर्णतया मौलिक है और अत्यंत सराहनीय भी। मनोविज्ञान की इतनी गहरी पकड़ है कामना की कि पात्रों के मन की अतल गहराइयों तक सहज ही पहुँच जाती हैं कामना और बहा ले चलती हैं पाठकों को अपने साथ। इतने वृहद उपन्यास में वे भाषा-शैली,कथ्य-संवाद और हाँ, बीच बीच में आयी काव्य पंक्तियों (जो पात्रों के भावावेश का प्रमाण हैं) में कहीं भी एक पंक्ति के लिए भी, एक शब्द के लिए भी कमजोर नहीं पड़ी हैं।

रीडर हिन्दी विभाग, आर. बी. एस. कॉलेज, आगरा

बोल मेरी मछली, कामना सिंह, फीनिक्स बुक्स, इंटर नेशनल, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

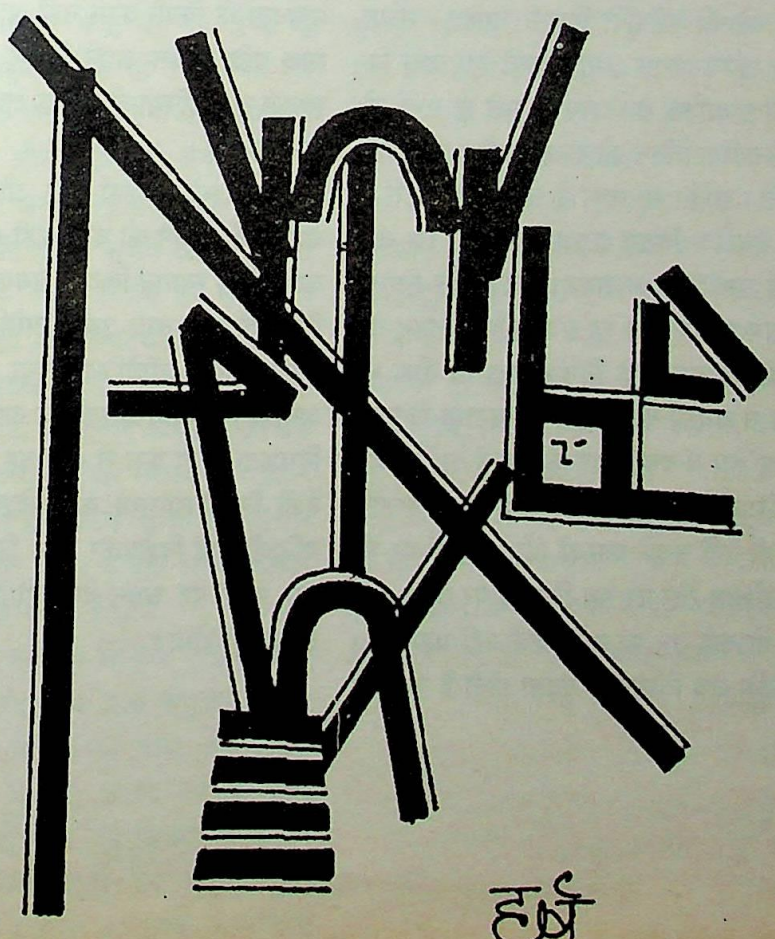

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य क्लब

'वर्तमान साहित्य' क्लब की संगोष्ठी 20 सितंबर को किदवई नगर के कन्हैया भवन में डा0 दया दीक्षित के आवास पर संपन्न हुई। वर्तमान साहित्य के सितंबर अंक पर सभी सदस्यों ने अपने विचार प्रस्तुत किये।

जया सिंह ने अपनी बात में कहा कि नई खोजें व्यक्ति के ज्ञान में बढ़ोत्तरी करती है। धर्म से संबंधित हों या प्रकृति से संबंधित सभी की खोज में सतर्क प्रमाण प्रस्तुत करना जरूरी है। चार्ल्स डार्विन की खोज में सत्यता है क्यों कि उन्होंने प्रमाण प्रस्तुत किए। आरती त्रिपाठी ने अपने वक्तव्य में कहा कि महान प्रकृति विज्ञानी चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत एवं विभिन्न वैज्ञानिक खोजों द्वारा आस्था एवं तर्क के बीच का द्वंद्व दर्शाया है। आस्था एवं विश्वास अपनी जगह है किन्तु विकास की सीढ़ी में डग भरते समय मनुष्य की विकसित बौद्धिक क्षमता से आविष्कृत नवीन वैज्ञानिक खोजों को भी स्वीकृति मिलनी चाहिए। संध्या मिश्रा ने संपादकीय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि चार्ल्स डार्विन एक धार्मिक व्यक्ति थे। जन्म से भले ही उन्हें जो संस्कार मिले हों किन्तु वैचारिक चिंतन की क्षमता प्रत्येक को ईश्वर की ओर से प्राप्त होती है। डार्विन भी जन्म से धार्मिक संस्कारों में पले बढ़े किन्तु उनका वैचरिक चिंतन इतना प्रगाढ़ था कि कई प्रयासों के बावजूद कोई उन्हें डिगा न सका। जब प्रकृति निरंतर परिवर्तनशील है तो चिंतन स्थायी कैसे रह सकता है। विकास की प्रक्रिया जिस प्रकार बढ़ी वह मानव के निर्माण तक तो ठीक थी किन्तु मानव के विकास ने वर्चस्व के विकास को बढ़ाया जिसका परिणाम आज हम प्रत्येक क्षेत्र में वर्चस्ववाद के रूप में देख रहे हैं। डार्विन ने प्रकृति के नियमों का गहन अध्ययन किया उन्होंने विकास के सिद्धांत को ही नहीं उनके कारकों और कारणों पर भी ध्यान दिया जिससे वे निश्चित तौर पर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकें कि अब कोई भी कुछ भी कहे उन पर कोई पर्क नहीं पड़ना है। विभा श्री का कहना था कि जब विचारों में दृढ़ता होती है तो तभी हम अपने लक्ष्य को पूरा कर सकते है। संकल्प विहीन होने से हम लक्ष्य से विमुख हो जाते हैं। जब हम कोई अच्छा कार्य करने के लिए उत्सुक होते हैं तो समाज के द्वारा सकारात्मक, कम नकारात्मक हतोत्साहन प्राप्त होता है लेकिन हमारी संकल्पशक्ति ही लक्ष्य प्राप्ति तक ले जाती है। सच है अगर नये अनुभव और नये चिंतक नहीं होते तो आज विकास की इस सीढ़ी तक नहीं पहुँच पाते।

बीना सिंह का कहना था कि चिंतन और टकराव समाज की ऐसी क्रिया है जो समाज का स्वरूप ही बदल देती है। डार्विन का सघर्ष प्रेरणाप्रद है। संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि स्वदेशी हो या विदेशी जन्मना सभी किसी न किसी धार्मिक अवधारणा से जुड़े होते हैं। यह स्वाभाविक है। दिक्कत तब पैदा होती है जब व्यक्ति दुराग्रह की सीमा तक पूर्वाग्रह ग्रसित होकर अपनी वैचारिकी को प्रस्तुत करने लगता है। ऐसे में उसकी महत्वपूर्ण अत्याधुनिक खोजें मानवता के किसी काम नहीं आतीं किन्तु वैचारिक ईमानदारी के साथ यदि व्यक्ति अपने चिंतन एवं विचारों को सामने लाये तो समाज और दुनिया के प्रत्येक क्षेत्र स्वस्थ विकास की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

सदस्यों ने जहाँ गीत और ग़ज़लों को सराहा वहीं अच्छी कहानियाँ न होने की बात कहीं। जीवन सिंह के महत्वपूर्ण विचारों का सभी ने स्वागत किया। समय संवाद के अंतर्गत उच्च शिक्षा की स्थित के प्रति तथा उसके अमेरिकीकरण के प्रति सदस्यों ने रोष प्रकट किया। संयोजिका दया दीक्षित का कहना था कि यदि अमेरिकी विश्वविद्यालयों को अपने देश में खुलने देना सरकार की विवशता है तो कम से कम वह यह शर्त तो रख ही सकती है कि देशी विश्वविद्यालयों को विदेश में खुलने की मंजूरी प्राप्त हो। बुद्धिजीवियों विशेषकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र से संबंधित लोगों को इस मुद्दे पर ध्यान देना होगा। यह उनके और देश के लिए लाभकारी होगा।

प्रस्तुति : सन्ध्या मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्यंत कुमार पर डाक टिकट जारी

श प्रदेश के राज्यपाल महामहिम रामेश्वर ठाकुर ने 27 सितंबर 09 को सप्रे संग्रहालय, भोपाल में हिन्दी के प्रथम ग़ज़लकार ष्यंत कुमार पर स्मारक डाक टिकट का लोकार्पण किया।

इस अवसर पर आयोजित समारोह में बोलते हुए राज्यपाल दुष्यंत कुमार की कविताओं और ग़ज़लों को आम लोगों की भिव्यक्ति बताते हुए उन्हें एक महान कवि, शायर के रूप में याद या। दुष्यंत रचनावली के संपादक डा0 विजय बहादुर सिंह ने 74-75 के राजनैतिक घटनाक्रम को याद करते हुए उस दौर में ष्यंत के मुखर अंदाज़ की चर्चा की। राज्यपाल ने स्मारक डाक टिकट जब दुष्यंत कुमार की पत्नी राजेश्वरी दुष्यंत कुमार को सौंपा, तालियों की गड़गड़ाहट से सभागार गूँज उठा। इस विशेष डाक टिकट के मूल प्रस्तावक एवं स्तंभकार तथा समीक्षक राजीव वास्तव ने इस दिशा में किये गये अपने तीन साल के प्रयासों जिक्र करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव सरकार के पास 2006 भेजा गया था। इसके पूर्व कथाकार कमलेश्वर के सुझाव पर होंने नागार्जुन, धर्मवीर भारती, फणीश्वरनाथ रेणु और मोहन केश पर भी डाक टिकट का प्रस्ताव भेजा था, जो अभी भी लंबित है। दुष्यंत कुमार के बेहद करीबी रहे उनके मित्र एवं प्रसिद्ध शिक्षाविद् और लेखक डा0 धनंजय वर्मा ने अपने संबोधन दुष्यंत की रचनाओं को साहस और हौसले की अपूर्व मिसाल ताते हुए उन्हें सही अर्थों में आम जनमानस का शायर बताया।

धन्यवाद ज्ञापन देते हुए दुष्यंत कुमार के पुत्र आलोक त्यागी सभी का हृदय से आभार व्यक्त किया। विशेष रूप से उन्होंने जीव श्रीवास्तव के अथक प्रयासों का जिक्र करते हुए उनको वार की तरफ से हार्दिक धन्यवाद दिया। उन्होंने भोपाल में ष्यंत कुमार मार्ग' के मूल प्रस्तावक सोहागपुर के नीलम तिवारी भी आभार व्यक्त किया तथा दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि हालय के निदेशक राजुरकर राज द्वारा किये जा रहे उल्लेखनीय र्यों कभी भी प्रशंसा की। विजयदत्त श्रीधर के प्रति अपना आभार क्त करते हुए सभी लोगों को धन्यवाद दिया।

सोसायटी ऑफ़ म्यूजिक, इन्नोवेटिव लिट्रेचर एण्ड इमोशंस ाइल), नई दिल्ली तथा सप्रे संग्रहालय द्वारा संयुक्त रूप से योजित इस समारोह में डाक विभाग के मध्य प्रदेश डाक ण्डल के मुख्य पोस्टमास्टर जनरल, वरिष्ठ अधिकारीगण हित शहर के गणमान्य व्यक्तियों तथा नई दिल्ली, मुंबई एवं राज से भी बड़ी संख्या में लोग उपस्थित थे। स्मारक डाकटिकट यह दिन दुष्यंत कुमार के चाहने वालों को उनके जन्मदिवस के रूप में सदैव याद रहेगा।

प्रस्तुति : संगीता राजुरकर, भोपाल

भाषा किसी धर्म को थाती नहीं-विभूति नारायण राय

"भाषा चाहे हिन्दी हो या उर्दू किसी एक धर्म की थाती नहीं है लेकिन हक़ीक़त यह है कि उर्दू मुसलमानों और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा बन गई, इसीलिए मुंशी प्रेमचंद ने अपने साहित्य में हिन्दुस्तानी जबान की वकालत की थी।" यह बात महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र में "साझा संस्कृति और प्रेमचंद" विषयक संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए कुलपति विभूति नारायण राय ने कही। हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार अमरकांत ने सत्र की अध्यक्षता करते हुए कहा कि हिन्दुस्तान जैसे महादेश में साझा संस्कृति का मतलब सिर्फ हिन्दू और मुसलमान के बीच का साझापन नहीं वरन् सभी धर्मों, क्षेत्रों भाषाओं एवं जातियों के बीच का साझापन है। पहले सत्र में लाल बहादुर वर्मा, अजीत पुष्कल, राजेन्द्र कुमार, अली जावेद और राकेश ने कहा कि प्रेमचंद एक व्यापक साझा संस्कृति के पैरोकार थे जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, दलित, स्त्री सभी की जनतांत्रिक भागीदारी है। उन्होंने कहा हमें अपने अंदर समाज-राज्य में व्याप्त सांप्रदायिक सोच के खिलाफ़ उसी तरह लड़ना होगा जिस तरह प्रेमचंद ने अपने जीवन और साहित्य में लड़ा। प्रेमचंद जयंती पर आयोजित कार्यक्रम के दूसरे सत्र 'प्रेमचंद की विरासत और संघर्षशील आजमन' की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ कथाकार मार्कण्डेय ने कहाकि प्रेमचंद को हिन्दू मुस्लिम नजरिए से नहीं बल्कि उनकी पूरी रचनात्मकता को केन्द्र में रखकर बात करनी चाहिए। दूसरे सत्र में वरिष्ठ कथाकार दूधनाथ सिंह के अलावा वीरेन्द्र यादव, ए0ए0 फातमी, प्रणय कृष्ण, सगीर अफराहीम, फखरुल करीम ने भी अपनी बात रखी जिसमें यह रेखांकित किया गया कि प्रेमचंद इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे अपने समय, गांधी तथा आज़ादी के आंदोलन में आमजनों की भागीदारी को रचनाओं के केन्द्र में ला रहे थे। सत्र का संचालन क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक संतोष भदौरिया एवं धन्यवाद ज्ञापन विश्वविद्यालय के विशेष कर्तव्य अधिकारी श्री राकेश ने किया।

प्रस्तुति : संतोष भदौरिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतियाँ और रचनाएँ निःसंतान नहीं होती : विश्वनाथ त्रिपाठी

क्रांतियाँ और रचनाएँ कभी निःसंतान नहीं होती। एक क्रांति दूसरी क्रांति को जन्म देती है। कविता हमें भविष्य के खतरों से आगाह करती है। कविता का मूल कार्य समाज की नब्ज़ को पहचानते हुए उसकी आँखें खोलना है। यह बातें ख्यातनाम आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय, हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र के सत्य प्रकाश मिश्र, सभागार में 'सबदी' कार्यक्रम के अंतर्गत आयोजित कार्यक्रम ''कविता और हमारा समय'' विषय पर कहीं। 'वसुधा' के संपादक और आलोचक कमला प्रसाद ने कहा कि समाज और संस्कृति का निर्माता मनुष्य है। समय ने बहुत सी मिथ्या धारणाओं को नकार दिया है। कविता विसंगतियों की जड़ तक ले जाती है और उनसे उबरने का रास्ता भी बताती है। 'बहुवचन' के संपादक राजेन्द्र कुमार ने कहा अपने समय से असंतुष्ट हुए बिना कविता नहीं हो सकती। कार्यक्रम का संचालन क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक संतोष भदौरिया ने किया। कार्यक्रम में इलाहाबाद के प्रगतिशील कवि जगदीश चन्द्र की पुस्तक ''चिठ्ठी आएगी एक दिन'' का विमोचन किया गया। कार्यक्रम में प्रमुख रूप से जियाउलहक, ए0ए0 फातमी, प्रो0 कृष्ण मुरारी, नीलम शंकर, शलभ भारती, यश मालवीय, सुरेश कुमार शेष, फखरुल करीम, सीमा आजाद, संजय पांडेय, मृत्युंजय, प्रेमशंकर, हिमांशु रंजन आदि उपस्थित थे।

प्रस्तुति : संतोष भदौरिया

फुहारों के बीच मना 'बतरस' का चौथा वार्षिकोत्सव...

गांधीजयंती के अवसर पर स्थापित हुई मुंबई शहर की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'बतरस' ने इस बार अपना चौथा वार्षिकोत्सव बगडका कॉलेज, अंधेरी (पूर्व) के प्रांगण में दो अक्टूबर को हर्षोल्लास के साथ मनाया।

हर साल की तरह बतरस-परिवार द्वारा प्रस्तुत रंगारंग कार्यक्रम की शुरूआत इसके संचालक सत्यदेव त्रिपाठी के स्वागत-संबोधन से हुई। उन्होंने कहा कि 'भीड़ व व्यस्तता भरे मुंबई के जीवन में महीने में एक शाम मुक्त भाव से बैठकर बतियाना, गाना-बजाना. .. ही बस। बतरस का उद्देश्य है। 'बतरस' एकमात्र ऐसी संस्था है, जो किसी औपचारिकता-समिति, पदाधिकारी, सदस्यता (शुल्क) आदि के बिना चार सालों से हर माह के पहले शनिवार को एकदम नियमित कार्यक्रम कर रही है। यहाँ हर आने वाला बतरस-परिवार का स्नेही सदस्य है, जो रोज़-ब-रोज़ तेजी से बढ़ रहा है।'

इस स्नेही पारिवारिकता का प्रमाण उस दिन दिखा, जब जोरदार बारिश में भी लगभग 150 लोग साढ़े छह बजे से रात के दस बजे तक डटे रहे और भोजनोपरांत निकले तो 11 बज चुका था।

कार्यक्रम के पहले एक घंटे में नाट्य, नृत्य व गायन थे, जिसका सधा संचालन करते हुए 'बतरस' के प्रमुख आयोजक अनंत श्रीमाली ने मंगलाचरण के रूप में क्षिप्रा वर्मा द्वारा मैथिल कोकिल विद्यापति के कविता-गायन से शुरूआत करायी। जया दलाल के गाये लताजी के गीत के बाद नरोत्तम बेन ने दो बुन्देली लोकगीतों से समाँ बाँध दिया। स्नेहा ने 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजुमन' का एक क्लासिक नृत्य पेश किया और लक्ष्मी तिवारी ने इला अरुण वाले 'बिछुड़ा-गीत' पर अपने नृत्य से कार्यक्रम को लहका दिया। इसके बाद एसएनडीटी के फॉर्मेसी विभाग की छात्राओं ने अमित श्रीवास्तव के निर्देशन में तैयार किया आधे घंटे का नाटक 'खेल जारी है' का मंचन किया, जिसमें देश की भ्रष्ट व्यवस्था पर हुए करारे व्यंग्य से लोग तिलमिलाए भी और झल्लाये भी, पर उतना ही लुत्फ भी उठाया।

दस मिनट के चाय-पान के बाद वरिष्ठ व मानिन्द कवि श्री नन्दलाल पाठक की अध्यक्षता तथा सुभाष काबरा के मँजे और चुटीले संचालन में देवमणि पाण्डेय, हस्तीमल हस्ती, राकेश शर्मा व खन्ना मुजफ्फरपुरी ने ग़ज़लें पढ़ीं। के0 शैलेन्द्र, अरविन्द राही तथा रास बिहारी पाण्डेय के मधुर गीतों को आगे बढ़ाते हुए स्वयं सुभाष काबरा ने परिवार पर एक व्यंग्यगीत पढ़ा। शैलेश सिंह व संतोष श्रीवास्तव की मुक्त छन्द कविता के बाद गीतकार रजनीकांत मिश्र ने जिन्ना पर लिखी जसवंत की पुस्तक पर ओजस्वी, पर एकांगी कविता सुनायी। मराठी मूल के कवि माणिक मुण्डे ने कविता के साथ माँ पर एक गीत भी सुनाया। पाठकजी ने 'बतरस' के प्रति शुभेच्छाभरे अध्यक्षीय वक्तव्य के बाद बड़ी ख़ूबसूरत ग़ज़ल सुनायी, जिसका कोई न कोई शेर तो सभी को याद हो गया होगा -

'कल करिश्मा था जो, अब है खेल बायें हाथ का,
सीढ़ियों पर मैं खड़ा और सीढ़ियाँ चलती रहीं।

पिछले तीन सालों में सर्वाधिक सालाना उपस्थिति वाले 'बतरस' के तीन सदस्यों अख़्लाख़ अहमद ज़ई, मृत्युंजय पाठक व जया दलाल को श्रीमती मृदुला पंडित की तरफ़ से ग्यारह-ग्यारह सौ रुपये की पुस्तकें पाठकजी के कर-कमलों से भेंट की गयीं। अंत में वार्षिक कार्यक्रम के स्थायी प्रायोजक श्री मोती सागर व विजय पंडित तथा प्रांगण सुलभ कराने वाले 'राजस्थानी सेवा संघ' के अध्यक्ष श्री विनोद टेबडीवाल एवं कॉलेज प्रबंधन... आदि सभी के प्रति आभार माना श्रीमती मेघा श्रीमाली ने।

प्रस्तुति : सरिता उपाध्याय, मुंबई

ग्लोबल सिनेमा फेस्टिवल

अंतरराष्ट्रीय फिल्म उत्सव का आयोजन अपने आप में एक विशाल, मुश्किलों भरा और बेहद जिम्मेदारी का काम है। भारत में इस तरह के फिल्मोत्सव का आयोजन पिछले कई दशकों से भारत सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय करता चला आ रहा है। आमतौर पर इस तरह के महोत्सवों में अच्छे से अच्छा इंतजाम होने के बाद भी आलोचना से बच निकल पाना आसान नहीं होता मगर इन्दौर शहर में पहली बार मध्य प्रदेश सरकार तथा फिल्म फेडरेशन ऑफ़ इंडिया द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित किये गये 'ग्लोबल सिनेमा फेस्टिवल-2009' ने खुद ही जैसे मुश्किलों, बदइंतजामी और गलत बयानियों को न्यौता दे दिया।

मध्य प्रदेश में पहली बार अंतरराष्ट्रीय स्तर का फिल्मों का उत्सव यहाँ की व्यवसायिक नगरी इन्दौर में होना निःसंदेह गौरव की बात तो थी मगर कई-कई खामियों की वजह से यह ऐतिहासिक महोत्सव होने से रह गया। आठ अक्टूबर की शाम इन्दौर के डेली कॉलेज परिसर में बड़े ही भव्य तरीके से 'ग्लोबल सिनेमा फेस्टिवल' का शुभारंभ हुआ। उद्घाटन समारोह की मुख्य आकर्षण प्रख्यात अभिनेत्री प्रियंका चौपड़ा थी। संगीतकार आदेश श्रीवास्तव सहित रणधीर कपूर, बोनी कपूर, किरण वी0 शांताराम तथा कई विदेशी फिल्मकारों की उपस्थिति ने इस फिल्मोत्सव के प्रति इन्दौर वासियों के मन में उत्सुकता तो जगायी पर प्रचार के अभाव तथा अव्यवस्था और अंतिम समय तक फिल्म स्क्रीनिंग में फेर बदल ने अनिश्चितता का ऐसा माहौल बनाया जिसमें आमंत्रित कलाकार, मीडिया कर्मी एवं अतिथि भी उलझ कर रह गये।

8 से 15 अक्टूबर के कार्यक्रम में आयोजनों को द्वारा जारी की गयी पहली अधिकाधिक सूची के अनुसार फेस्टिवल में 57 देशों की कुल 259 फिल्मों को 10 विभिन्न खण्डों में दिखाये जाने की व्यवस्था की गयी जिसमें विश्व सिनेमा के अंतर्गत बांग्ला देश, फ्रांस, चीन, श्रीलंका, मेक्सिको, नीदरलैण्ड, ईरान एवं सोवियत संघ की फिल्में शामिल थीं। पुनरावलोकन श्रेणी में... रूस की 'अगोनिया', जर्मनी कैम्प वैनिशेस इन-टू-ब्लू', जर्मनी की 'ग्रेव डिसीजन' अमरीका की 'नमस्ते', चेकोस्लोवाकिया की 'क्रेंस आर फ्लाइंग' तथा ब्रिटेन की 'स्टील होम्स' पसन्द की गयीं।

विस्टा इंडिया श्रेणी के प्रति लोगों का रुझान देखा गया। इसके अंतर्गत ग्यारह भारतीय भाषाओं की कुल इक्कीस फिल्में थीं। शंकर के लिये नामित मराठी फिल्म 'हरिश्चन्द्राची फैक्टी' को विशेष रूप से पसंद किया गया। इस खण्ड में काफी लंबे अंतराल के बाद सिंधी भाषा में बनी फिल्म 'प्यार करे दिस' भी दिखायी गयी।

स्वीडन के फिल्मकार इंगमार बर्गमन की चार फिल्मों में 'सायलेंस' और 'विंटर लाइट' अच्छी थी तथा जापान के अकीरा कुरोसावा की पांच फिल्मों में 'हाई एण्ड लो' और पोलैंड के क्रिस्टॉफ किस्लोवस्की की 'कैमरा बफ' उम्दा फिल्में थीं। इसके अलावा सिनेमा के बड़े नामों में शुमार चार्ली 'चैप्लिन, अल्फ्रेंड हिचकॉक, रिचर्ड एटनबरो, राजकपूर, विमल रॉय, गुरुदत्त, वी0 शांताराम की फिल्मों का प्रदर्शन भी इस दौरान किया गया।

ग्लोबल सिनेमा फेस्टिवल का एक अन्य प्रमुख आकर्षण इसका 'ओपन फोरम' था। इसका आयोजन इन्दौर के देवी अहिल्या विश्वविद्यालय के पत्रकारिता-जनसंचार विभाग के प्रेक्षागृह में किया गया था जहाँ विद्यार्थियों और संगीत प्रेमियों के जमावाड़े ने इसे जीवन्तता प्रदान की। पाकिस्तान की युवा फिल्मकार आयशा आरिफ ने अपनी फिल्म 'जोंक्ड' पर अपनी तकरीर पेश की जिसे लोगों ने काफी पसंद किया। इसी क्रम में लेखक, सिने एवं संगीत समीक्षक राजीव श्रीवास्तव का 'हिन्दी सिने संगीत का उद्भव एवं विकास' पर दिया गया व्याख्यान बातचीत के अंदाज में कुछ नायाब इंटरव्यू तथा गीतों की क्लीपिंग के कारण बेहद सराहा गया। 'सिनेमा की भाषा और व्याकरण' पर किशोर वासवानी की प्रस्तुति ने संजीदा बहस को न्यौता दिया जिसमें कई पक्षों पर नये तथ्य उभर कर सामने आये।

इस समारोह में वरिष्ठ पत्रकार श्रीराम ताम्रकर के अनुभवों का लाभ आयोजक उठा पाते तो यह एक यादगार फिल्म महोत्सव बन सकता था। उम्मीद की जा सकती है कि अपनी तमाम गलतियों, कमियों और अदूरदर्शिता से बसक लेकर अगली बार कुछ अच्छा और बेहतर स्थितियों हमारे सामने होंगी।

प्रस्तुति : राजीव श्रीवास्तव

जनवादी लेखक संघ, मुरादाबाद : विचार गोष्ठी

जनवादी लेखक संघ मुरादाबाद की ओर से एक विचार गोष्ठी,'गोडसे अभी ज़िंदा है।' विषय पर जिगर कालौनी मुरादाबाद में आयोजित की गयी। गोष्ठी की अध्यक्षता मुरादाबाद के वरिष्ठ कांग्रेसी नेता डा0 संतोष त्यागी व संचालन बलवीर सरन रस्तोगी ने किया। विषय की शुरूआत में श्री बलवीर सरन रस्तोगी ने कहा, "गाँधी जी का विकास के बारे में एक ही पैमाना था कि समाज में अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति की समाजिक व आर्थिक स्थिति क्या है, इसके मद्दे-नज़र ही सरकार की नितियाँ बननी चाहिये।आज देश में 80 करोड़ से ज़्यादा लोग 20 रुपये रोज़ाना से भी कम आय पर गुज़ारा कर रहे हैं और 20 करोड़ लोग हर रात भूखे पेट सोते हैं। इसके लिये अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति को अनदेखा करके बनायी गयी नीतियां ज़िम्मेदार हैं। इस स्थिति को 90 के दशक में तथाकथित उदारीकरण व भूमण्डलीकारण के नाम पर लायी गयीं आर्थिक नीतियों ने और भी असहनीय बना दिया है। दूसरी ओर अपनी तकलीफ़ों के खिलाफ़ जनता एकजुट न हो पाये, इसके लिये उसे साम्प्रदायिक नफरत के आधार पर बाँटने का सुनियोजित काम किया जा रहा है। देश साफ़ तौर पर दो हिस्सों में बाँटने की साजिश की जा रही है। एक सर्वधर्म सम्भाव की गाँधीवादी विचारधारा पर आधारित, दूसरा नाथूराम गोडसे की विचार धारा पर आधारित। 2 अक्टूबर का दिन इस संकल्प को दोहराने का दिन है कि हमें सर्वधर्म सम्भाव पर आधारित गाँधी जी की विचारधारा को ताकत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देनी है और गोडसे की विचारधारा जो परस्पर नफ़रत को फैलाती है उसको समाप्त करना है। गोडसे की विचारधारा देश के विकास में सबसे बड़ी बाधा है क्योंकि वह स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं विध्वंस करती है। अगर इस विचारधारा पर अंकुश नहीं लगाया गया तो पूरा देश गुजरात में बदल जायेगा। हमे इसे रोकना होगा।

जलेस के ज़िला संयोजक मुशर्रफ़ अली ने कहा कि गोडसे मरा नही है। वह आज भी ज़िंदा व सक्रिय है। 1949 में गोडसे के शरीर को फाँसी दे दी गयी थी लेकिन उसकी आत्मा मौका देखकर दूसरे शरीरों में घुस जाती है। हमे ऐसे लोगों को पहचानना होगा जिनके शरीर में गोडसे की आत्मा घुस गयी है। हम उसे गुजरात के दंगो में देख सकते है। वह हमे गोधरा, मुंबई के बम धमाकों, बाबरी मस्जिद विध्वंस और उन आंतकवादियों में दिख जाती है जो किसी बस, रेल और सार्वजनिक स्थलों पर बम रखकर हिंसा का तांडव रचते हैं।

श्री ओंकार सिंह 'ओंकार' ने कहा,''गाँधी जी आम आदमी का हित कुटीर उद्योगों के विकास में देखते थे। गाँधी जी एकाधिकारिक पूंजीवाद के ख़िलाफ़ थे इसलिये आज गाँधी जी को याद करने का मतलब गरीबों के हितों की रक्षा का संकल्प लेने से है। वरिष्ठ कांग्रेसी डा0 सत्येन्द्र त्यागी ने कहा,''जीवन भर भाई-चारे की बात करने वाले व्यक्ति के देश में हर व्यक्ति आपस में लड़ रहा है। यह लड़ाई उपभोक्तावादी संस्कृति की अंधी दौड़ में शामिल होने का नतीजा है जबकि गाँधी इस का हल अपरिग्रह में देखते थे। गोष्ठी में श्री मूलचंद शर्मा, हसीन सिद्दीक़ी, कामरेड शरीफ़ अहमद, आदि मौजूद रहे।

प्रस्तुति : मुर्शरफ अली, मुरादाबाद

अहमदाबाद में अस्मिता की स्थापना

गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के भाषा साहित्य भवन, जिसमें सात भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं, में हिन्दी विभाग के सौजन्य से कुलपति श्री परिमल त्रिवेदी की अध्यक्षता में 14 सितंबर हिन्दी दिवस पर अस्मिता, उन्नीस वर्ष से संचालित बहुभाषी महिला साहित्यिक मंच, बड़ोदरा के सहयोग से एक थीम कवयित्री सम्मेलन 'स्त्री स्वयं अपने विमर्श में' आयोजित हुआ जिसका संचालन रसायन विज्ञान विभाग की रीडर डा0 नलिनी पुरोहित ने किया। विशिष्ट अतिथि डा0 मीरा वर्मा, नायब पुलिस निरीक्षक ने भी कविता पाठ किया। हिन्दी विभागाध्यक्ष डा0 रंजना अरगड़े थी कि अशंका कि हिन्दी कहीं हाशिये पर न चली जाये। कुलपति श्री त्रिवेदी ने कहा, ''भारत को जोड़ने वाली भाषा हिन्दी ही है। इसलिए ऐसा नहीं होगा। गुजरात एक ऐसा अहिन्दी प्रदेश है जहाँ सर्वाधिक हिन्दी का उपयोग होता है और होता रहेगा।

अस्मिता, बड़ोदरा की संस्थापक नीलम कुलश्रेष्ठ ने डा0 रंजना अरगड़े के सहयोग से अहमदाबाद में अस्मिता की स्थापना की घोषणा की।

सचिव डा0 रचना निगम, डा0 रानू मुखर्जी, डा0 अंजना संधीर, निर्झरी मेहता, वंदना भट्ट, वनिता ठक्कर, मधु प्रसाद, डा0 प्रभा मजूमदार, डा0 शशि पंजाबी, प्रतिभा पुरोहित ने कविता पाठ किया।

प्रस्तुति : अस्मिता द्वारा

'मैं नदी की सोचता हूँ' तथा 'अमलतास' का लोकार्पण

सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार और हाइकुकार कमलेश भट्ट कमल ने 13 फरवरी 2009 को अपने जीवन के 50 वर्ष पूरे किए। कमलेश जी की 50वीं वर्षगाँठ पर उनकी दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें एक साथ लोकर्पित हुईं। प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित ग़ज़ल संग्रह 'मैं नदी की सोचता हूँ' तथा हाइकु संग्रह 'अमलतास' का लोकार्पण गाज़ियाबाद के गांधर्व संगीत महाविद्यालय में आयोजित एक साहित्यिक समारोह में गिरिराज किशोर, से0रा0 यात्री व डा0 अंजलि देवधर द्वारा संयुक्त रूप से किया गया। कार्यक्रम का शुभारंभ अनुराधा भट्ट की सरस्वती वन्दना तथा ग़ज़ल प्रस्तुति एवम् जया बैनर्जी की सांगीतिक प्रस्तुतियों के साथ हुआ।

लोकार्पण समारोह के मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध उपन्यासकार गिरिराज किशोर ने अपने संबोधन में कहा कि यदि हिन्दी में हम ग़ज़ल लिख सकते हैं तो ज़रूर लिखें, क्योंकि इसमें संवेदना को तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने की अपूर्व संभावनाएँ हैं। कमलेश जी की ग़ज़लों में यह तीव्रता और संभावना दोनों मौजूद हैं। समारोह के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध कथाकार से0रा0 यात्री ने कहा कि कमलेश जी सच्चे अर्थों में एक प्रसन्न व्यक्ति हैं। उनकी काव्य-सम्मत चिंताएँ जन जीवन से गहराई के साथ जुड़ी हुई हैं। इस अवसर पर वरिष्ठ गीतकार डा0 मधु भारतीय ने कमलेश भट्ट कमल की ग़ज़लों में संप्रेषणीयता की अद्भुत क्षमता का उल्लेख किया। सुप्रसिद्ध गीतकार-ग़ज़लकार डा0 कुँअर बेचैन ने कमलेश की ग़ज़लों को पूरे समाज से जुड़ा हुआ बताते हुए उनकी हाइकु साधना को इस विधा के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बताया।

सुप्रसिद्ध कवि डा0 अमरनाथ ने कमलेश जी की रचनाओं को स्व से निकलकर सर्व तक जाती मानवीय संवेदनाओं का संकलन बताया।

संचालन डा0 जगदीश व्योम तथा वेद प्रकाश शर्मा वेद द्वारा किया गया। 'हाइकु दर्पण' तथा 'गीताभ' की इस संयुक्त प्रस्तुति में अतिथियों का आभार डा0 योगेन्द्र दत्त शर्मा ने व्यक्त किया।

प्रस्तुति : प्रत्यूष यादव, ई-3, शताब्दी विहार, सेक्टर-52, नोयडा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जनतांत्रिक नैतिकता के बगैर वर्तमान समय की चुनौतियों का सामना संभव नहीं'

विश्वविख्यात कथाशिल्पी प्रेमचंद की 130वीं जयंती पर जनवादी लेखक संघ, हवड़ा जिला ने 'प्रेमचंद और हमारे समय की नैतिकता' विषय पर केंद्रित एक परिचर्चा का आयोजन किया। उत्तर हवड़ा में किराएदार-संघ कार्यालय के सभागार में आयोजित इस कार्यक्रम का आरंभ जलेस एवं भारतीय गणनाट्य संघ, हवड़ा से दो दशकों से सक्रिय रूप से जुड़े रंगकर्मी सुनील शाह के असमय निधन पर उनके..... शोक संतप्त परिवार के प्रति संवेदना और दिवंगत कामरेड के प्रति अश्रुपूरित श्रद्धांजलि द्वारा हुआ। परिचर्चा को प्रारंभ करते हुए रंगकर्मी महेश जायसवाल ने कहा नवजागरण काल की बीसवीं सदी में नैतिकता बहस का एक बड़ा मुद्दा थी। आज नैतिकता पर कोई चर्चा नहीं है। प्रेमचंद एक ऐसे ही साहित्यकार थे जो निर्भय कह सकते थे 'क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे'।

श्री अरुण माहेश्वरी ने कहा कि नैतिकता का सवाल हमेशा युग सापेक्ष रहा है। पुरानी नैतिकता के स्थान पर एक व्यापक जनवादी नैतिकता की माँग पैदा हो रही है। आलोचक प्रफुल्ल कोलख्यान ने कहा कि "नैतिकता मनुष्य की सामाजिक चेतना की परम अभिव्यक्ति है। जितेन्द्रधीर ने कहा, कि आदमी का आदमी के साथ, समाज और संगठन के साथ रिश्तों में पारदर्शिता का नहीं होना, अनैतिकता को जन्म देता है। प्रेमचंद की कई रचनाओं का हवाला देते हुए साहित्यकार लक्ष्मण कोड़िया ने नैतिकता को परिभाषित करते हुए कहा कि नैतिकता वह दृष्टि है जिससे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्यवत समझ और परख पाता है। रंगकर्मी कपिलदेव सिंह ने परिचर्चा में हस्तक्षेप करते हुए कहा कि भारतीय समाज के संदर्भ में जाति बहुत बड़ी अनैतिकता है। जाति का मूल चरित्र व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेद का है। अध्यक्ष पद से वरिष्ठ जनवादी कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण ने परिचर्चा के विषय को समेटते हुए कहा, 'उचित और अनुचित के द्वंद्व में हिचकिचाहट अनैतिकता है। आतंक या तात्कालिक लोभ की माया में पड़कर अपनी धुरी छोड़ देना अनैतिकता है। प्रेमचंद का पूरा जीवन अपनी रचना के पक्ष में गवाह बन कर खड़ा है। इस परिचर्चा में डा0 शिवनाथ पांडेय, कौशल किशोर पांडेय, डा0 ओमप्रकाश पांडेय, हरेकृष्ण राय, आनंद पांडेय, विजय साव, यशवंत सिंह, संतोष सिंह, रघुनाथ मुखोपाध्याय, विजय शंकर साव, पूनम रवानी सहित अन्य वक्ताओं ने भी हिस्सा लिया। कार्यक्रम का संचालन जलेस, हवड़ा जिला सचिव महेश जायसवाल ने किया।

प्रस्तुति : विजय साव

सादगी और अनुशासन ही असली सृजनशीलता है

'गांधी जी ने सादगी और अनुशासन के सहारे बड़े-बड़े असाधारण काम बड़े साधारण तरीके से कर दिखाए थे... आज हम भारत का निर्माण गांधी जी की सोच के साथ करना चाहते हैं या पाश्चात्य मूल्यों के साथ यह हमें तय करना होगा...' उक्त विचार श्रीमती शीला दीक्षित ने महात्मा गांधी द्वारा लिखित पुस्तकों 'हिन्द स्वराज' और 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा' के लोकार्पण समारोह में कहीं। हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा पुर्नमुद्रित इन पुस्तकों के विमोचन समारोह में वरिष्ठ पत्रकार श्री प्रभाष जोशी भी उपस्थित थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि आज की दुनिया बनाने वाली तीन किताबों में से एक पुस्तक गांधी जी की 'हिन्द स्वराज' है। सौ वर्ष पहले लिखी गयी इस किताब को आज भी पश्चिमी समाज उनके बारे में की गई सबसे रचनात्मक आलोचना मानता है।

इससे पहले हिन्दी अकादमी के उपाध्यक्ष प्रो0 अशोक चक्रधर ने कहा कि यह दोनों पुस्तकें युगांतकारी हैं। इन्होंने भारतीय समाज की दशा बदलकर हमें नई राहें दिखाई हैं। 'हिन्द स्वराज' में उनकी सोच, चिंतन, जीवन शैली सब कुछ समाहित है। अकादमी के सचिव डा0 रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव 'परिचय दास' ने कार्यक्रम के आरंभ में पुस्तकों का परिचय देते हुए कहा कि गांधी पर कहने या केवल बात करने के लिए नहीं बल्कि उनके विचारों को जीवन में धारण करने की ज़रूरत है।

कार्यक्रम के दूसरे सत्र में 'असली स्वराज ही स्वाधीनता है' विषय पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कुलपति प्रो0 मुशीरुल हसन ने की और प्रतिभागी थे प्रो0 इन्द्रनाथ चौधुरी, प्रो0 अशुम गुप्ता, श्रीमती वर्षादास और श्री राजीव वोरा।

प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक श्री राजीव वोरा ने कहा कि 'हिन्द स्वराज' पुस्तक पूरे भारत की स्मृति वापस लौटाने का प्रयास है, जिसे अंग्रेज़ों ने अपनी शिक्षा-पद्धति और तरह-तरह के अत्याचारों से दबा दिया था।

तुलनात्मक साहित्य और भाषा के अध्येता प्रो0 इन्द्रनाथ चौधुरी ने कहा कि गांधी इस पुस्तक में सभ्यता की आलोचना करते हैं और विकसित अविकसित-विकासशील के विभाजन का विरोध करते हैं। गांधी संग्रहालय की निदेशक श्रीमती वर्षादास ने कहा कि 72 पृष्ठों की मूल गुजराती में लिखी गांधी जी की यह पुस्तक विश्व के लिए मूल्यवान धरोहर है। दिल्ली विश्वविद्यालय से आयीं प्रो0 अशुम गुप्ता ने गांधी भवन के साथ युवाओं की भागीदारी के उदाहरणों से स्पष्ट किया कि यह कहना बिल्कुल गलत होगा कि आज के युवा गांधी को भूल गये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कुलपति प्रो0 मुशीरुल हसन ने कहा कि हिन्द स्वराज को 'पवित्र पुस्तक' या अलौकिक पुस्तक कहना गलत होगा क्योंकि ऐसा मानने पर हम उस पर तर्क नहीं कर पायेंगे।

तृतीय सत्र में 'जीवन की सच्चाइयाँ : आत्मावलोकन व सृजनशीलता' विषय पर आयोजित संगोष्ठी की अध्यक्षता वरिष्ठ समालोचक प्रो0 नामवर सिंह ने की। इस सत्र के अन्य वक्ता थे श्री रामचन्द्र राही, श्री अजित कुमार और प्रो0 आनंद कुमार।

सत्र की शुरूआत प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो0 आनंद कुमार ने यह कहकर कि आज के समय में गांधी की पूजा करना आसान है किन्तु उनको पढ़ना मुश्किल है, क्योंकि उनको पढ़ते ही हम आत्मग्लानि के शिकार हो जाते हैं और उनकी सत्यता पर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक रामचन्द्र राही ने कहा कि इस आत्मकथा से हमें गांधी के रचनात्मक कार्यों को व्यवहार में लाकर आज के समाज में उनकी सार्थकता सिद्ध करनी होगी।

प्रसिद्ध कवि और आलोचक अजित कुमार जी ने गांधी पर लिखी अपनी एक कविता के साथ उनकी आत्मकथा पर टिप्पणी करते हुए कहा कि देश में बहुत से विचलन और भटकन के बावजूद उनकी उपस्थिति आज भी जनमानस में बसी हुई है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो0 नामवर सिंह ने कहा कि गांधी जी के कारण ही हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। उन्होंने एक वैज्ञानिक की तरह की पूरे देश को घूम कर यहाँ के भूगोल और समाज को समझकर ही अपनी लड़ाई को आगे बढ़ाया।

अकादमी के उपाध्यक्ष प्रो0 अशोक चक्रधर ने कहा कि अकादमी आगे भी इस तरह के महत्वपूर्ण आयोजन करती रहेगी और भविष्य की हिन्दी कैसी हो इस दिशा में कम्प्यूटर की महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए ऐसे साफ़्टवेयर को विकसित करने की कोशिश करेगी जिससे बच्चे हिन्दी से जुड़ सकें।

प्रस्तुति : अजय कुमार शर्मा

पुरस्कार हेतु पुस्तकें आमंत्रित

महोदय, कवियित्री स्व. डॉ. सीता श्रीवास्तव जी (1924-2009) की स्मृति में उनके परिवार द्वारा कविता के लिए 51,000 रुपये राशि का पुरस्कार आरम्भ करने का निर्णय लिया गया है।

प्रथम **'सीता स्मृति पुरस्कार'** हेतु वर्ष 2008 (1 जनवरी-31 दिसम्बर) में प्रकाशित पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ, लेखक/लेखिका के दो रंगीन चित्रों सहित भेजें। पुस्तकें भेजने की अन्तिम तिथि 15 दिसम्बर, 2009 है। लिफाफे पर **'सीता स्मृति पुरस्कार हेतु'** अवश्य लिखें।

पुरस्कृत पुस्तक का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जाएगा।

यह पुरस्कार डॉ. सीता श्रीवास्तवजी की जन्मतिथि 7 फरवरी को हर वर्ष प्रदान किया जाएगा।

पुस्तकें निम्नलिखित पते पर भेजें–

वंदना राय/ रश्मि मल्होत्रा, ए-75, शिवालिक, गीतांजलि रोड, नई दिल्ली-110017

दूरभाष : 011-26680494

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्च शिक्षा में फंसे शोधार्थी

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में शोध की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश के कई विश्वविद्यालयों ने अपने उत्कृष्ट शोधकार्य से समाज को लाभान्वित किया है। उच्च शिक्षा से जुड़े हुए शिक्षकों के लिए शोध-कार्य से जुड़ा रहना नितांत आवश्यक है, तभी वह ज्ञान के नये क्षितिजों का उद्घाटन कर छात्रों का उचित मार्गदर्शन कर सकेगा। लेकिन विगत तीन दशकों से शोध के क्षेत्र में जो निरंतर गिरावट आयी है, यह स्थिति चिंताजनक है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्य संस्थाएँ शोध-कार्य पर विपुल धनराशि खर्च कर रही हैं लेकिन उनका यह प्रयास पूरी तरह से ईमानदार नहीं कहा जा सकता जिसके परिणामस्वरूप इसमें व्यावसायिक प्रवृत्ति पनप रही है। शोध परियोजनाओं की स्वीकृति भाई-भातीजावाद एवं अन्य स्वार्थों के वशीभूत हो गयी है। शोध कार्य की धनराशि से शोध कम निजी खर्चों की पूर्ति अधिक की जाती है।

शोध का सबसे विकृत रूप देखने को मिलता है पी-एच0डी0 उपाधि अर्जित करने हेतु किए गये शोध कार्य में। इसके लिए शोध-छात्र, शोध निर्देशक, विश्वविद्यालय एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग सामूहिक रूप से जिम्मेदार हैं। एक समय ऐसा था जब पी-एच0डी0 हेतु किए जाने वाला शोध कार्य अत्यंत गंभीर माना जाता था लेकिन अब इसे अत्यंत हल्के अंदाज में लिया जाता है। कई बार तो लोग टाइम पास करने के लिए अथवा समाज में अपने आपको महत्वपूर्ण दर्शाने के लिए पी-एच0डी0 करते हैं। इसके परिणामस्वरूप शोधार्थियों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है और शोध निर्देशकों के पास शोधार्थी कतारबद्ध हैं। शोध निर्देशकों एवं शोधार्थियों की संख्या पर यह उक्ति ठीक बैठती है कि-'एक अनार सौ बीमार।' इस स्थिति का बहुत से शोध निर्देशक जमकर लाभ उठा रहे हैं। वे शोधार्थी को उसके ज्ञान के आधार पर निर्देशन करने के लिए तैयार नहीं होते बल्कि उसके दूसरे कारण होते हैं जैसे-सिफारिश, कोई लाभ, धनराशि। शोध निर्देशन करने एवं पी-एच0डी0 उपाधि प्रदान कराने के लिए एक निश्चित धनराशि तय की जाती है। कई बार यह रकम एकमुश्त ली जाती है और कई बार तीन-चार किश्तों में। इस तरह के शोध कार्य में शोध-निर्देशक एवं शोधार्थी के बीच रिश्ते गुरु-शिष्य के नहीं बल्कि दुकानदार एवं ग्राहक के होते हैं और दोनों ही इस दूसरी भूमिका में खुश हैं लेकिन वास्तव में यह उच्च शिक्षा के साथ मज़ाक ही है। शोध कार्य में बहुत से शोधार्थी तो शोध प्रबंध भी स्वयं नहीं लिखते बल्कि एक अच्छी-खासी धनराशि खर्च कर किसी दूसरे व्यक्ति अथवा शोध-निर्देशक से ही लिखवा लेते हैं। कई बार तो लेखक दो-तीन भी होते हैं जिसका परिचय उनके शोध-प्रबंधों में साफ़ दिखाई पड़ता है। कुछ शिक्षक परिश्रमी शोधार्थी से धन वसूलने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाते हैं जैसे-सीट फुल हैं, शोध-प्रबंध का प्रारूप ठीक नहीं है, मेरे पास शोध कार्य को देखने के लिए समय नहीं है, इत्यादि। यदि शोधार्थी धनराशि या 'गिफ़्ट' दे देता है तो सब कुछ ठीक हो जाता है। शोध प्रबंध के मूल्यांकन की प्रक्रिया भी दूषित हैं। इस कार्य में शोध निर्देशक, शोध कार्य से संबंधित विश्वविद्यालय का कार्यालय एवं परीक्षक मिल-जुलकर कार्य करते हैं। जो शोधार्थी अच्छा खर्च कर देता है उसका मूल्यांकन शीघ्र हो जाता है। धन रहित शोध-प्रबंधों को हिकारत की नज़र से देखा जाता और उनका मूल्यांकन जमा होने के दो-तीन वर्षों में हो पाता है। इसी तरह पी-एच0डी0 उपाधि के लिए होने वाली मौखिकी परीक्षा बेमानी एवं फूहड़पन का शिकार हो गयी है। परीक्षक मौखिकी लेने आता है। उसे अपने टी0ए0, डी0ए0 एवं गिफ़्ट की चिंता अधिक होती है। मौखिकी परीक्षा तो महज रस्म अदायगी हो गयी है। गिफ़्ट में मंहगी वस्तु साड़ी, सूट, कपड़े प्रायः प्रचलन में है। दिलचस्प तथ्य यह है कि इस कार्य में महिला परीक्षक की ज़्यादा पीछे नहीं हैं। मौखिकी परीक्षा संपन्न होने के बाद बड़ी-बड़ी दावतों का आयोजन होता है। मौखिकी परीक्षा प्रायः एक घंटे की होती है। लेकिन पूरे विभाग के अन्य काम-काज ठप रहते हैं। चपरासी से लेकर विश्वविद्यालय या कालेज के बड़े अधिकारी तक पी-एच0डी0 मौखिकी के अवसर पर शोधार्थी की तरफ से होने वाले आयोजन का लुत्फ उठाते हैं। ज्ञान के क्षेत्र को मनोरंजन का क्षेत्र बना दिया जाता हैं। शोध की स्थिति इससे अधिक हास्यास्पद क्या हो सकती है कि प्रस्तावित विषय के संबंध में शोधार्थी एवं शोध-निर्देशक को कोई ज्ञान नहीं होता है। शोधार्थी का लक्ष्य होता है पी-एच0डी0 करनी है और शोध निर्देशक का ध्येय होता है पी-एच0डी0 करानी है। इसके परिणामस्वरूप कई बार बहुत से विषयों की पुनरावृत्ति होती है अथवा उनमें ज्ञान के किसी क्षेत्र का विकास नहीं होता। यह बिडंबना ही है कि इस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रवृत्ति पर रोक लगाने को कोई कारगर तरीका नहीं है। जो हैं उन पर स्वार्थों के चलते अमल नहीं किया जाता। पी-एच0डी0 उपाधि रोजगार से संबद्ध होने के कारण निरंतर बदतर स्थिति को प्राप्त होती जा रही है। विज्ञान के क्षेत्र में अक्सर ऐसी सूचनाएँ भी हैं जिनमें कहा जाता है कि फर्जी आंकड़े बना दिये गये और मनमाने निष्कर्ष दिये गये। कारण कि शोधार्थी येन-केन प्रकारेण पी-एच0डी0 उपाधि प्राप्त करना चाहता है। इस कार्य में शिक्षकों एवं विश्वविद्यालयों में कार्यरत कर्मचारियों एवं अधिकारियों के कई रैकेट सक्रिय हैं। कई बार कुछ परीक्षक ईमानदारी से मूल्यांकन कर शोध प्रबंध को निरस्त कर देते हैं तो किसी अन्य परीक्षक को भेजकर मनमानी रिपोर्ट मंगवा ली जाती हैं और निरस्त रिपोर्ट की पूरी तरह अनदेखी की जाती है। शोध विषय की स्वीकृति के लिए होने वाली शोध समितियों की बैठक भी महज खाना-पूर्ति बनकर रह गयी हैं। उनमें शोध प्रबंध के विषय एवं रूपरेखा पर गंभीर चर्चा नहीं होती, व्यक्तिगत संबंधों एवं टी0ए0, डी0ए0 का मुद्दा ही अहम् होता है। ऐसे-ऐसे विषयों पर पी-एच0डी0 हेतु विषय स्वीकृत कर दिया जाता है जिस पर एम0फिल् उपाधि भी मुमकिन नहीं है।

शोध की वर्तमान दशा के लिए काफ़ी हद तक व्यावसायिक दृष्टिकोण जिम्मेदार है। बढ़ता उपभोक्तावाद एवं उदारीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई गला-काट प्रतिस्पर्द्धा ने भी इसमें अपना योग दिया है। अगर हम इतिहास पर नज़र डालें तो हमारे यहाँ उच्च कोटि के शोध कार्य संपन्न हुए हैं। विज्ञान, साहित्य और समाज विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में उत्कृष्ट कार्य हुए हैं और उन्हें ज्ञान के क्षेत्र में जो योगदान दिया है उसको अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति मिली है। विद्वानों ने अपना पूरा जीवन उत्कृष्ट शोध में लगा दिया। इसके लिए उन्होंने अपने व्यक्तिगत हितों को भी तिलांजलि दी। उनके त्याग एवं योगदान से ही ज्ञान का क्षेत्र समृद्ध हुआ है। उनके प्रति हमारा समाज सम्मान का भाव रखता है।

देश में शोध कार्य तो बहुत हो रहा है लेकिन अधिकांश अनुपयोगी ही है। देश में शैक्षिक एवं सामाजिक विकास के लिए शोध की गुणवत्ता पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालयों को कड़े क़दम उठाने होंगे। इस क़दम के लिए उन्हें दबावयुक्त होकर काम करना होगा।

(कुँवरपाल सिं

गोष्ठी रपट

'बौद्धिक काव्य मंच' की नियमित गोष्ठी कथाकार शंभु गोपाल के आवास पर संपन्न हुई। नगर के प्रखर समालोचक राजन गुरु की अध्यक्षता में इस बार की गोष्ठी की विषय-वस्तु रही 'कथादेश' जून-2009 में प्रकाशित वाराणसी के सुविख्यात युवा कवि व्योमेश शुक्ल की कविता-'अब नहीं।' प्रारंभिक वक्ताओं ने इसे परिकल्पना, अभिव्यंजना और नव्यता की दृष्टि से हिन्दी काव्य साहित्य की धरोहर बताया। लेकिन शंभु गोपाल ने इसमें दिखावा-पसंदगी और चरित्र हत्या का सवाल उठाकर चर्चा का रुख ही उलट दिया। बाद में सभी वक्ताओं ने माना कि व्योमेश शुक्ल ने इसमें नगर के ही एक जाने-माने कवि की चरित्र हत्या की है और इस नाते यह कविता दोष-युक्त है और इसके लिए कवि निंदा का पात्र। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में आचार्य श्री राजन गुरु ने भी इसी पंक्ति के आधार पर कि "वह पत्नीपीड़क घूसखोर क्या समझेगा" व्योमेश शुक्ल को इस तरह कविता में भड़ास निकालने से बचने की सलाह दी और आपत्तिजनक इस अंश को कविता से निकाल देने को कहा।

दिनेश बॉबी
के-4/211, लोहरिया, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुदा नहीं, न सही, आदमी का ख़्वाब सही
कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिए।

दुष्यंत कुमार

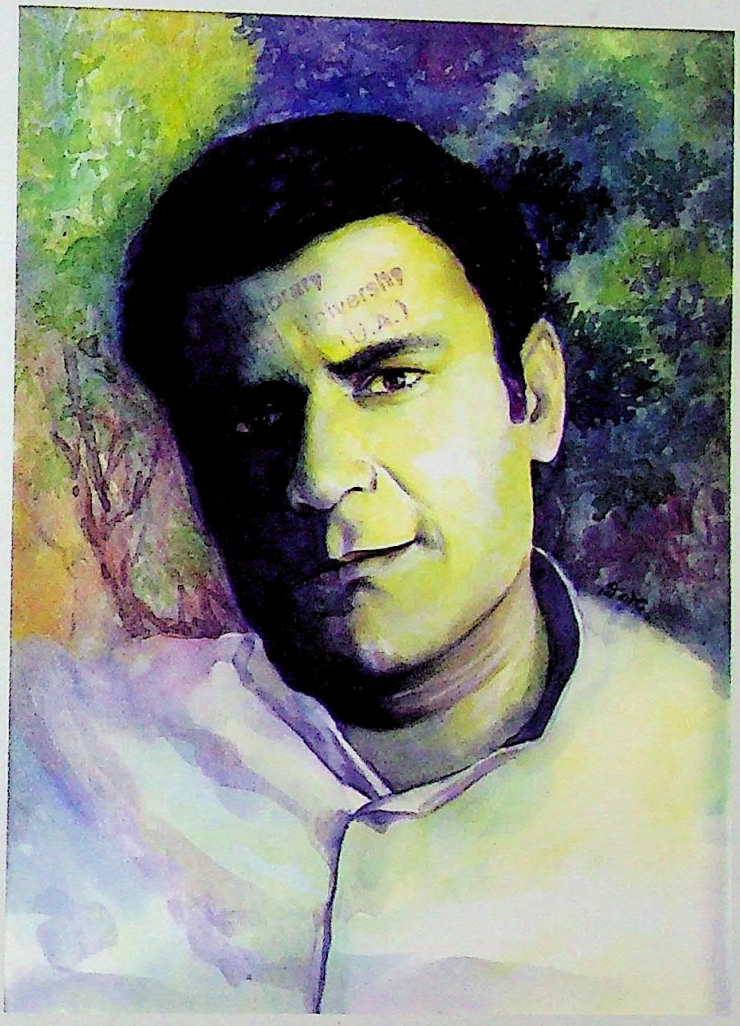

वर्तमान साहित्य को हार्दिक शुभकामनायें

Torrent Power Limited

Ahmedabad

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण

यह सब फूल आये कहाँ से!
रंगों का यह वैविध्य,
इसका स्रोत कहाँ है,
उन छोटी-छोटी बीजों में है।

भगवती चरण वर्मा

(1903 - 1980)

दिल्ली सरकार
दिल्ली तीव्र - सशक्त करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा 28, एम.आई.जी., अवन्तिका-।, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

दिसम्बर, 2009 ■ बीस रुपये

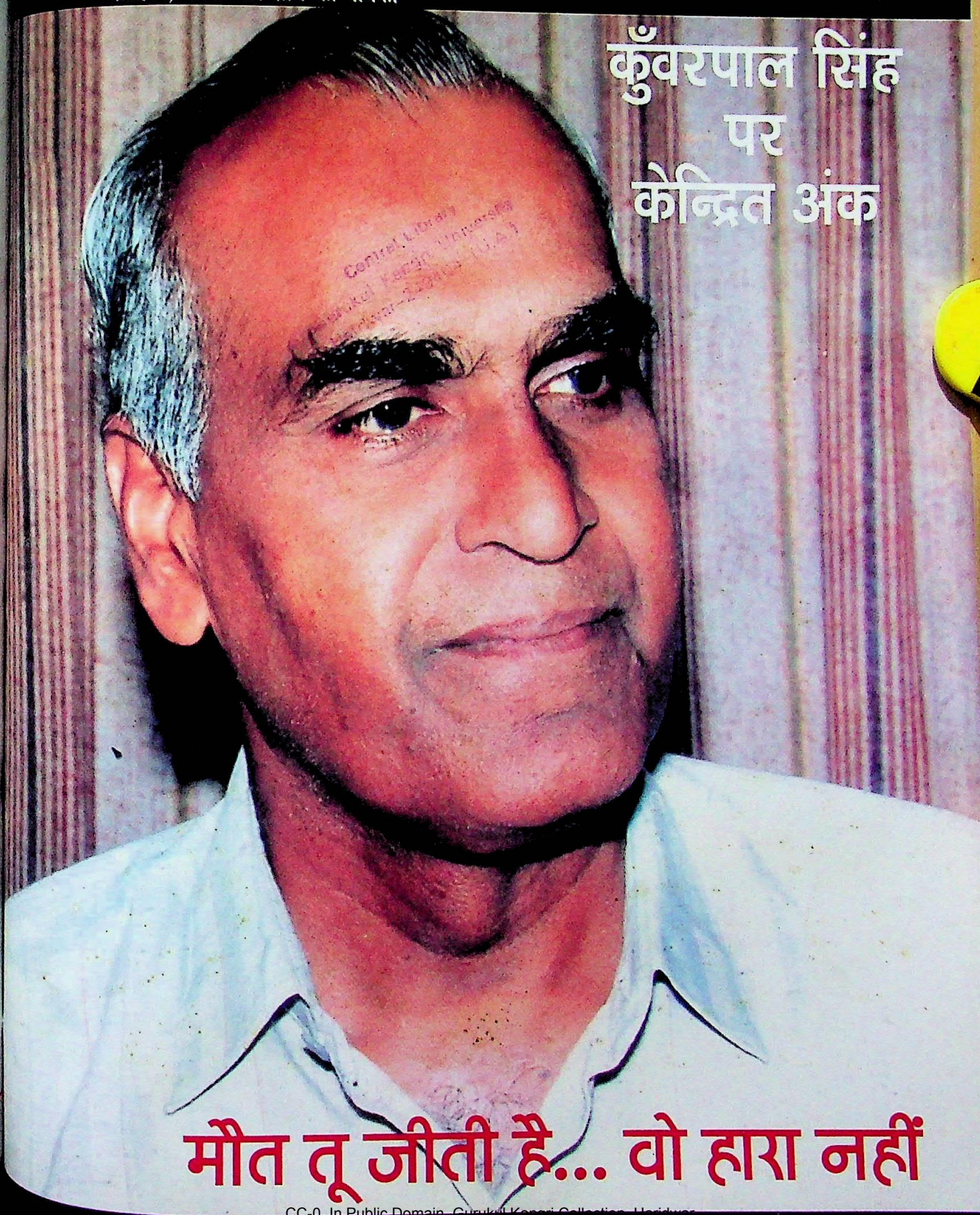

कुँवरपाल सिंह पर केन्द्रित अंक

मौत तू जीती है... वो हारा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. कुँवरपाल सिंह अभिनंदन समारोह : कुछ झलकियाँ
(25 अक्टूबर, 2009)

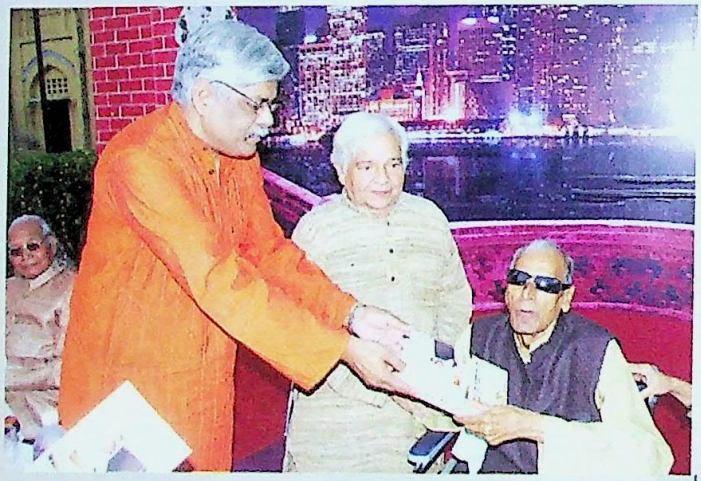

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

वर्ष 26 ❑ दिसम्बर, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114

Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 20/-; ❑ वार्षिक : 230/-; ❑ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ❑ आजीवन : 2000/- ❑ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

कार्यपालक सम्पादक
कृति नारायण राय

कार्यपालक सम्पादक (अलीगढ़ प्रारूप)
वीर पाल सिंह

सम्पादक
नमिता सिंह

सम्पादक
अजय विसारिया ❑ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

कार्य सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव
सलाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर
प्रबंध सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा
मुखांकन : विसारत अली
सज्जा : उमेश शर्मा

हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

Central Library Gurukul Kangri (Deemed University) Haridwar-249404 (Uttarakhand)

इस अंक में

...क मंच/2

...ी बात/4

.../7

...ांजलि
...किसी कर्मकांड में विश्वास नहीं.../प्रदीप सक्सेना/8
...फिर आये याद वह तो.../वशिष्ठ अनूप/10

...ख
...क ज्ञानात्मक संवेदन का प्रतीक व्यक्तित्त्व/विश्वनाथ त्रिपाठी/12
...बद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध/कमला प्रसाद/14
...य जनजीवन के लिए समर्पित प्रेरक व्यक्तित्व/
ए. अरविंदाक्षन/37
...द्ध संस्कृतिकर्मी/जबरीमल्ल पारख/39
...ी और नक्श से आगे/मसूद अली बेग/41
...ढ़ की अंतरात्मा/आशुतोष कुमार/43
...अच्छे इंसान—एक अच्छे दोस्त/अबू क़मर/46

...: नज़्म
...तू जीती है....वो हारा नहीं/शहरयार/16
...ी इश्क़ का/महताब हैदर नक़वी/16

...पाल सिंह के संस्मरण
...से पहली मुलाकात/17

जावेद कमाल : अलीगढ़ का दूसरा चेहरा/20
दुख ही जीवन की कथा रही/23
डॉ. अब्दुल अलीम/27
ऐसे थे बन्ने भाई/33

कविता
श्रद्धांजलि/जगदीश नलिन/47
एक पहाड़/अशोक तिवारी/47

कुँवरपाल सिंह का लेख
कुलीन संस्कृति बनाम जनसंस्कृति/48

कुँवरपाल सिंह का व्यंग्य
एक और रावण लीला/55

मूल्यांकन
भक्ति आंदोलन और लोक संस्कृति/वीरेन्द्र मोहन/56
डॉ. कुँवरपाल सिंह का जीवन-बोध/जीवन सिंह/61
नये नवजागरण की ओर/चमन लाल/64
प्रो. कुँवरपाल सिंह का समीक्षात्मक चिंतन/प्रो. रामवीर सिंह/66
जातीय गद्य की शक्ति/विजेन्द्र/70

सांस्कृतिक समाचार/73

समय-संवाद
इस ख़ामशी पर ख़त्म-ए-सफ़र का गुमां न कर.../अजय बिसारिया/78

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□

दुख की इस घड़ी में आपके साथ हूँ। कुँवरपाल जी का स्नेह मेरे लिए बड़ा संबल था। उन्होंने ख़ूब प्रोत्साहित किया। विश्वास है कि आप इस शोक से उबरकर उनके काम को आगे ले जाएँगी।

नवीन जोशी, हिन्दुस्तान, लखनऊ

□

'अमर उजाला' में डॉ. कुँवरपाल सिंह जी के निधन का दुखद समाचार पढ़ा। आघात लगा, चर्चाओं से दूर रहते हुए निरंतर अपने काम को आगे बढ़ाते रहने का अद्‌भुत गुण लगता था मुझे उनमें।

दिनेश बैस, महासचिव, अभियान, झांसी

□

प्रो. कुँवरपाल सिंह के निधन पर हार्दिक दुःख हुआ। केवल 13 दिन पूर्व ही उनका अभिनंदन हुआ था-जिसमें अपनी अस्वस्थता के कारण उपस्थित नहीं हो सका था।

वे प्रखर चिंतक-साहित्यकार ही नहीं, मानवीयता से भरपूर थे। सार्वजनिक हित में देह-समर्पित करने की उनकी भावना अद्‌भुत थी।

प्रो. गोविन्द रजनीश, आगरा

□

'हिन्दुस्तान' में प्रो. कुँवरपाल सिंह के निधन का समाचार पढ़ा। स्तब्ध हूँ। बहुत दुखी। उनसे तो अभी बहुत उम्मीदें थीं। वह उन थोड़े से लेखकों में थे जो बेबाक ढंग से, निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखते थे। सबसे बड़ी बात यह है कि सांप्रदायिकता के खिलाफ वे सतत् संघर्षशील रहे और इस मुद्दे पर उन्होंने कभी कोई समझौता नहीं किया। अपने छात्रों के ही रूप में नहीं बल्कि लेखकों के रूप में भी उन्होंने एक जागरूक पीढ़ी को तैयार किया। आज निष्ठा और प्रतिबद्धता दोनों से ही अधिकांश लेखकों का कहने भर का नाता रह गया है। कोई भी कभी भी अपने सिद्धांतों की बलि दे देता है। डॉ. साहब सदा अनुकरणीय उदाहरण रहेंगे।

प्रदीप पंत, दिल्ली

□

उनका निधन हिन्दी जगत् और खासकर जनवादी आंदोलन के लिए अपूर्णनीय क्षति है। कॉमरेड के.पी. सिंह को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि, उनके शोक-सप्तंत परिवारीजन के साथ कृपया मेरी संवेदनाएँ प्रेषित करें।

अजय श्रीवास्तव, लोकलहर, दिल्ली

□

यह जानकर दुःख एवं अत्यंत पीड़ा हुई कि मेरे गुरुवर आज हमारे बीच नहीं हैं। 1973 तक एक-एक चित्र आँखों के सामने सजीव हो उठे हैं।

भगवान उनकी पवित्र आत्मा को शांति प्रदान करे और आपको इस कष्ट को सहने का साहस करे। मैं और मेरा परिवार मर्माहत है।

डॉ. निर्मल कुमारी वार्ष्णेय,
हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

□

भाई साहब के निधन का समाचार अप्रत्याशित था हम सब सकते स्तर पर दुखी हैं। मेरी ओर से विनम्र श्रद्धांजलि।

वीरेन्द्र जैन, भोपाल

□

सिंह साहब से मेरी मुलाकात नहीं थी, फोन पर 3-4 बार बात हुई और वो जिस प्यार और लगाव से बात करते थे लगता था जैसे मेरी उनकी बहुत पुरानी जान पहचान है, बड़े प्यार से जाफ़री साहब कहकर मुख़ातिब करते थे। वो हमेशा हमारे बीच रहेंगे, किसी न किसी रूप में।

"....लेकिन मैं यहाँ फिर आऊँगा
बच्चों के देहेन से बोलूँगा
चिड़ियों की जवान से गाऊँगा..."
आपके गम में बराबर का शरीक....

जाफर मेंहदी जाफरी, लखनऊ

□

के.पी. के निधन की ख़बर पढ़कर दिल डूब गया। एक भरपूर शख़्सियत, एक पूरी तहज़ीब रुख़सत हो गई, क्या इंसान थे लाजवाब, बेमिसाल, बहादुर और कमिटेड... भरपूर ज़िंदगी बसर की और जीभर के काम किया, इसकी ख़ुशी है, जाना तो सभी को है लेकिन जो काम कर जाते हैं वह याद किये जाते हैं।

"हक़ मग़फ़रत करे अजब आज़ाद मर्द था।"

प्रो. ए.ए. फातमी,
अध्यक्ष, उर्दू विभाग, अ.मु.वि., अलीगढ़

□

अख़बार के माध्यम से भाई श्री के.पी. सिंह के देहावसान का समाचार जानकर हृदय को दुख पहुँचा। मेरी विनम्र श्रद्धांजलि मृतात्मा के लिए प्रेषित हैं।

साक्षात् उपस्थित होकर शोक के इन क्षणों में सहभागित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ने से घुटनों के तथा पीठ के दर्द के कारण असमर्थता है।

जगवीर सिंह वर्मा, ग्राम व पोस्ट-बिसारा, अलीगढ़

□

...ल जी के निधन ने साहित्यिक बिरादरी में सही जीवन-मूल्यों ...में खड़े लोगों का एक कोना सूना कर दिया है। यह आपकी ...गत क्षति ही नहीं, पूरी साहित्यिक बिरादरी की क्षति है। मैं ...र्तमान साहित्य' में आख़िरी पन्ने पर उनका 'समय संवाद' ...पहले पढ़ा करता था। शोक की इस घड़ी में आपकी वैचारिक ...ही आपका संबल बने, बस यही चाहूँगा।

राकेश भारतीय, नई दिल्ली

□

...ुँवरपाल सिंह का नहीं होना हमारे जैसे बहुत से नये लिखने ...और समाज के गतिशील जीवन से जुड़ने की कोशिश करने ...के लिए एक विशाल घने छाहदार वृक्ष का धूप-धूलभरे रास्ते ...नहीं होना है। वह हमारे अगाध प्रेरणास्रोत रहे और रहेंगे।

रतन चौहान तथा साथी, रतलाम

□

...सार्थक इन्सान, एक दौर, एक संस्था, एक सच्चाई पसंद, ...का ख़ात्मा हो गया!

मसूद अली बेग

□

...साहब के बारे में जानकर हार्दिक दुख हुआ। भगवान उनकी ...को शांति प्रदान करे। आप तथा आपके परिवार को ...शक्ति दे। इस समाचार से लखनऊ के साहित्यकारों में शोक ...लहर दौड़ गयी।

नसीम साकेती, लखनऊ

□

...साहब के नहीं रहने का अत्यंत दुखद समाचार मिला। मैं भीतर ...हिल गया हूँ। बस तबसे वो हमेशा आँखों से स्नेह बरसाती ...की छवि ही आँखों के सामने नाच रही है। जनवादी मूल्यों के ...आजीवन समर्पित रहे उस महान योद्धा को मेरा लाल सलाम!

नीरज सिंह, आरा

□

...साहब के जाने की ख़बर मिली। सांस्कृतिक आंदोलन और हम ...की व्यक्तिगत क्षति। आप लोग हिम्मत रखें। हम लड़ेंगे साथी।

जितेन्द्र रघुवंशी, पटना

□

...गहरी संवेदनाएँ

अनिल धीमान, भोपाल

□

...सलाम ! के.पी. सिंह जी के निधन की सूचना से मुझे गहरा ...हुआ।

शकील सिद्दीक़ी

□

माननीय डॉ. के.पी. सिंह के निधन की दुखद सूचना जलेस के सूत्रों से मिली। समाज, साहित्य और संघ के लिए अपूरणीय क्षति मानता हूँ। मेरी हार्दिक संवेदना।

कैलाश

□

हम सब आपके दुख में शामिल हैं।

राजकिशोर राजन, पटना

□

अत्यंत दुखद समाचार सुना। अप्रत्याशित। इस अपूर्णीय क्षति की कोई पूर्ति नहीं है। इस शोकमय समय में मेरी गहरी संवेदना स्वीकार करें।

जीतेन्द्र जीतू, दिल्ली

□

इस दुखदायी ख़बर ने जड़वत कर दिया है। उनका जाना निर्भीक आलोचना के योद्धा का जाना है। कॉमरेड के.पी. को लाल सलाम। आप हौसला रखें, हम सब साथ हैं।

उद्भ्रांत

□

जनवादी लेखक संघ की गया इकाई अपने समर्पित साथी को खोने से गहरे शोक में है। हमें अपने साथी के किये कामों पर गर्व है। हम सब आपके साथ हैं। नमिता जी आपको सलाम।

सत्येन्द्र कुमार, गया

□

कुँवरपाल सिंह जी का न होना हमारे लिए अपूर्णनी क्षति है। दुख की इस घड़ी में 'कथा' परिवार आपके साथ है।

मार्कंडेय/ संतोष चतुर्वेदी, इलाहाबाद

□

सुनकर अत्यधिक कष्ट हुआ। इस दुख की घड़ी में मेरा साथ स्वीकार करें।

नीलम शंकर, इलाहाबाद

□

डॉ. साहब के न रहने की सूचना ने मेरा सरपरस्त छीन लिया। आपके दुख में साथ हूँ।

केशव तिवारी

□

सर के यकायक चले जाने की ख़बर जैसे ही मिली तो दिल को एक बहुत बड़ा धक्का लगा क्योंकि सर के पास से कुछ क्षण पहले ही मैं गया था। पत्रिका का अंक जब चला जाता तो वह मुझे शाबास ज़रूर कहते। वह हमेशा पढ़ने-लिखने पर महत्व देते। उनकी कथनी और करनी में कहीं आपको शून्यमात्र अंतर नहीं मिल सकता। वे हम सबके लिए एक संबल थे।

बिशारत अली, केला नगर, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

कभी सोचा नहीं था कि दिवंगत कुँवरपाल सिंह पर अपनी बात कहनी पड़ेगी। साहित्य और समाज के सरोकार उनके व्यक्तित्व के रक्त और मज्जा थे। मानसिक रूप से वे अपने अंतिम क्षण तक सजग थे। 'राह हारी, मैं न हारा''... उन्होंने कभी अपनी बीमारी और शारीरिक कमज़ोरी से हार नहीं मानी।

कुँवरपाल को आज अपने से अलग करके देखती हूँ, तो लगता है' अजीब शख़्स था वो। हरवक़्त दूसरों का ख़्याल, दूसरों की चिंताएँ... ये चिंताएँ, ये सरोकार किसी मित्र, शिष्य आदि के लिए, किसी काम, किसी उद्देश्य के लिए भी हो सकते थे। हर वक़्त दिमाग़ में कुछ न कुछ उबलता-खदकता रहता था। बात करते, तो कोई न कोई सोच उनके ज़ेहन में इतना रचा-बसा होता कि यह मान कर चलते कि सामने वाले को पूरी बात मालूम है और वह आगे की बात पर बढ़ जाते। कई बार उनकी बात सुनकर मैं कहती 'किस संदर्भ में तुम कह रहे हो' या 'किस विषय में यह बात है...' तब उन्हें यह समझने में समय लगता कि उन्हें अभी पिछला संदर्भ कहना है। उनकी आधी-अधूरी बात सुनकर पिछला संदर्भ ग्रहण करना सामने वाले के लिए बहुत ज़रूरी होता था। इतनी बातें, इतने विचार और इतनी योजनाएँ उनके दिमाग़ में एकसाथ चल रही होतीं, इसका अंदाज़ा लगाना मुश्किल था। दिलचस्प बात ये कि सब कुछ बेहद संयोजित और व्यवस्थित।

उनके विभाग के लोग बताते कि जब वे विभाग पहुँचते, तो उनके कमरे के सामने भीड़ लगी रहती। वे आते, कमरा खोलते और सबके सब भीतर। इसमें उनके अध्यापक, सहकर्मी, कर्मचारी यूनियन के लोग, गाँव-देहात के लोग, कोई विद्यार्थी, सम्मानित नेता, लेखक-रचनाकार... यानी विविध वर्गों के लोग और विविध प्रकार के कामों के लिए। यह उनकी ही ख़ासियत थी कि एक साथ वे अलग-अलग तरह के लोगों से बात कर लेते और उनकी मदद कर समस्या का समाधान भी करते। विद्यार्थी की समस्या पढ़ाई-लिखाई, फ़ीस न जुटा पाना, हॉस्टल की समस्या, लाइब्रेरी-संबंधी, परीक्षा और परीक्षाफल से उत्पन्न समस्या। गाँव-देहात के लोग आते अपने बच्चों के दाख़िले, किताबों, फ़ीस आदि या फिर मेडीकल कॉलेज में इलाज-संबंधी समस्याएँ लेकर। विश्वविद्यालय और मेडीकल कॉलेज में गाँव-देहात के लोगों की ओर कौन तवज्जोह देता है, ये वे भी जानते थे और भरसक मदद करते। डॉक्टरों से सिफ़ारिश करके इलाज, दवाइयाँ और जो भी अतिरिक्त सुविधाएँ हो सकतीं, मुहैया कराते। किसान संगठन हो, विभिन्न कर्मचारियों की यूनियनें हों, छात्र-संगठन के लोग हों, युवा संगठन, अध्यापक संघ के लोग हों... ऐसा लगता कि सबकी समस्याओं की चाबी मानो उनके हाथ में है। हर साल एडमीशन के और परीक्षा फॉर्म भरने के समय कितने ही छात्रों की फ़ीस उनकी जेब से जाती। एक ज़माना था (शुक्र है शादी से पहले) जब उनके परिचित, शिष्य-मित्र यूनीवर्सिटी कैंटीन में जाकर खा-पी आते और उनके नाम पर बिल चढ़वा आते, क्योंकि वहाँ उनका उधार चलता था।

अपने दोस्त राही मासूम रज़ा के साथ वह लंबे अर्से तक एक घर में रहे। उनके अलीगढ़ छोड़कर चले जाने के बाद वे मैरिस रोड में रहने लगे। कोई शर्मा जी थे, जिनके मकान के दाहिनी ओर किराये के लिए एक हिस्सा बना था। बाहरी बरामदा, उसके बाद एक कमरा और उससे लगा एक और भीतरी कमरा। बाहर बहुत बड़ा हिस्सा कच्चा था। वहाँ आने के बाद उस पूरे हिस्से में इन्होंने इतने गुलाब लगाये कि वह गुलाबों वाले घर के नाम से जाना जाने लगा। सुर्ख लाल, महकते हुए गुलाबों की जैसे खेती हो रही हो।

ये घर बंद करके विभाग चले जाते। पीछे से मित्रगण आते। होटल वाला टिफ़िन कैरियर में खाना बरामदे में बने ताक पर रख जाता। चाबी ताक के ऊपर तथाकथित गुप्त स्थान पर रखी रहती। ताला खोला जाता। मित्रमंडली लेटती, आराम फ़रमाती। होटल का आया हुआ खाना खाती। चाय बनाती। कुछ नहीं तो चाय के लिये रखा सूखा दूध ही फाँक लेती। ये लौटते, तो दरवाज़े पर चिट लिखी मिलती—खाना हमने खा लिया है। चाबी यथास्थान है...। अब जनाब भूखे-प्यासे डबलरोटी खा रहे हैं या फिर साइकिल पर निकल पड़े हैं, पेट का कुछ इंतज़ाम करने। लेकिन, चेहरे पर कोई गुस्सा-शिकन नहीं। असग़र वजाहत उन दिनों के साक्षी हैं। एम.एस.सी. में उनको दाख़िला नहीं मिला, तो कुँवरपाल ने उन्हें हिन्दी में दाख़िला दिलवा दिया। कुँवरपाल अस्थाई लेक्चरर लग चुके थे और मैरिस रोड पर स्वतंत्र रूप से रह रहे थे। असग़र उन दिनों अपने घर वालों से नाराज़ थे और कुँवरपाल के साथ ही रह रहे थे। मैं असग़र को कुँवरपाल का दत्तक पुत्र कहा करती थी और शादी के बाद मैंने भी उन्हें उसी रूप में ग्रहण किया था।

0 0 0

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुँवरपाल अपना सब कुछ दाँव पर लगा सकते थे, लेकिन अपनी विचारधारा से कभी समझौता नहीं कर सकते थे। जातिवाद और सांप्रदायिकता उनके दो प्रमुख शत्रु थे और किसी व्यक्ति से अगर उसकी बू उन्हें आयी, तो वह उनका प्रिय नहीं हो सकता था। 'कॉमरेड, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है...' जैसा प्रश्न हमेशा उनके गले लटकता रहता। वे दोस्तों के दोस्त थे और जन-जीवन के बीच रहकर संघर्षों से ऊर्जा ग्रहण करते। लेकिन दूसरी ओर, घर के भीतर संबंधों की गर्माहट और आडंबररहित सहज वातावरण उनके जीवन की अनिवार्यता थी। उनके जीवन में दोस्तों का स्थान पहले नंबर पर था। दोस्त है कोई उनका, तो उसके सौ खून माफ़। उसके पीछे अपने दोस्तों के लिए वे कितना कुछ कर डालते... और उसे पता भी नहीं चलने देते। उनका कहना भी था कि दुश्मन बनकर तो कभी नहीं, हाँ दोस्त बनकर मुझे ज़रूर परास्त कर सकता है और यही हुआ भी है। कभी अपना दुख, तक़लीफ़ वे होठों पर नहीं लाये। फिर दोस्तों के विश्वासघातों को कैसे कहते? अपनी जिम्मेदारियों की ओर ही समय रहते ध्यान दिया होता, तो ऐसी स्थिति नहीं आती। ऑस्त्रोवस्की के उपन्यास 'अग्निदीक्षा' के एक पात्र का प्रसिद्ध वाक्य उनके जीवन का मूलमंत्र था कि 'साथी, अपने काम की अधिक चिंता न करो।'

किसी एक ने लंबे समय तक दुश्मनी निभायी—हर तरह की दुश्मनी। क्योंकि बहुत लोगों का ख़्याल होता है कि अगर सामने वाले को खुश करना है, तो पीछे वाले की बुराई और चरित्र—हनन करना होता है। कुछ वर्षों बाद वे एक साहब घूम-फिर कर यहीं आ गये। सड़क पर थे। कई वर्ष सड़कों की धूल छान चुके थे। फिर छान-बीन-तलाफ़ी। पैर पकड़े। रोज़ आने लगे। विभाग में चयन-समिति बनी थी... इसे सब समझ रहे थे। मैंने याद दिलाया। पंचतंत्र की बातें दुहरायी। कुँवरपाल पर कोई असर नहीं। मुझसे बोले, तुम्हारा दिमाग़ तो क़ब्रिस्तान है.. सब मुर्दा बातें जमा रहती हैं. बहुत जल्दी नीति कथाओं की सार्थकता सामने आ गयी उनके अभिन्न मित्र राही मासूम रज़ा ने अपनी मृत्यु से लगभग छह महीने पहले अपना लिखा—क़तरा-क़तरा, छपा-अनछपा—दो फ़ाइलों में रखकर उन्हें रजिस्टर्ड डाक से भिजवा दिया था। लिखा कि, अब मेरा बहुत कुछ तुम्हारे हवाले है, इसका जो करना है, जैसे करना है, तुम्हारी मर्ज़ी पर है। पता नहीं, उन्होंने भी शायद अपनी ओर बढ़ती मौत की छाया देख ली थी। बाद में सभी जानते हैं कि उन्होंने उनकी अप्रकाशित पुस्तकों के नये संस्करण छपवाये। हिन्दी में लिप्यंतरण के कविता-संग्रह और तीन नये निबंध-संग्रह छपवाये। राही की अंतिम उपन्यास 'आधा गाँव' का उर्दू संस्करण छपवाने की बहुत इच्छा थी। उनके जीवनकाल में और बाद में भी कुँवरपाल ने बहुत कोशिश की। तीन बार पांडुलिपि 'खो' दी गयी। हर चीज़ की फ़ोटो कॉपी कराकर रखने के कुँवरपाल के शौक ने पांडुलिपि को बचाये रखा। अंत में, यह काम विभूतिनारायण राय जीं के माध्यम से सम्पन्न हुआ। उनकी उर्दू की थीसिस 'तिलिस्मे होशरुबा में भारतीय संस्कृति' और 'यग़ाना चंगेज़ी' पर उनकी पुस्तक का अपने शिष्य-मित्रों के ज़रिये अनुवाद कराया। तिस पर जब उनकी बेग़म श्रीमती नय्यर जहाँ ने आरोप लगाये, तो यह भी उनके लिए एक बड़ा धक्का था। लोग जानते हैं कि कुँवरपाल राही के नाम पर बेहद भावुक हो जाते थे। अपनी मुँहबोली भाभी को वे क्या जवाब देते ? कुँवरपाल की बहुत इच्छा थी, उनका सपना था कि 'राही समग्र' छपे। अपनी पूरी अस्वस्थता के बावजूद उन्होंने पांडुलिपि तैयार की और उसे छपवाने की व्यवस्था की। परिवार का वारिसाना हक़ आड़े आया और आज 'राही समग्र' का छपना खटाई में पड़ा हुआ है। मुझे लगता है कि आज जब कुँवरपाल नहीं हैं, यह कहने में कोई हर्ज़ नहीं कि इस हक़ की शर्तों में कुँवरपाल को कोई भी रायल्टी का प्राविधान नहीं था।

सारी उम्र वे सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ लड़ते रहे। निर्भीकता उनका मूल स्वभाव था। 1990-91 में अलीगढ़ में भीषण दंगे हुए। राम मंदिर के लिए आग उगलने वाले राष्ट्रीय नेता यहाँ आकर पलीता लगा चुके थे। उ.प्र. के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह के गृह जनपद में अतरौली से ग़रीब अल्पसंख्यकों की बस्तियाँ उजाड़ी जा रही थीं। वे अलीगढ़ के बाहरी क्षेत्र में बसेरा डाले हुए थे और आसपास के निवासियों में भी डर और तनाव का कारण बने हुए थे।

सात दिसंबर को छोटी-मोटी घटनाओं के माध्यम से शुरू हुए दंगे भीषण रूप धरकर तुरंत फैल गये। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और भाजपा का अफ़वाहों का बाज़ार ऐसा गर्म हुआ कि यहाँ के राष्ट्रीय अख़बारों ने ख़बर छापी कि मेडीकल कॉलेज में हिन्दू मरीज़ों की चुन-चुन कर हत्या कर दी गयी है और 72 मरीज़ तथा उनके तीमारदार मार डाले गये हैं। लाशें कहाँ गयीं... इस पर एक काल्पनिक तालाब की रचना कर डाली गयी। इस सुनियोजित अफ़वाह के बाद ही बारह दिसंबर को गोमती ट्रेन का कांड हुआ। दिल्ली से अलीगढ़ होकर लखनऊ जाने वाली गोमती ट्रेन को पटरियों पर लकड़ी के लट्ठे डालकर रोक दिया गया और एक डिब्बे में घुसकर नाम पूछ-पूछ कर तेरह यात्री मार डाले गये। इनमें से एक कानपुर के कायस्थ थे, जो अपनी दाढ़ी और उर्दू लहज़े के कारण जान गवाँ बैठे थे।

कुँवरपाल सन्न थे। वे बेहद बेचैन थे। फिर एक दिन अपनी खटारा गाड़ी में बिना कर्फ़्यू पास के निकल पड़े, अख़बार वालों की खोज में। डी.आई.जी. बलवीर सिंह बेदी के कैंप कार्यालय पहुँचे। वस्तु स्थिति से अवगत कराया। अच्छे भले, सदिइच्छा रखने वालों को भी विश्वास दिलाना कठिन था कि यह अफवाह सरासर झूठ है... "इतना बड़ा झूठ आखिर कैसे कोई बोल सकता है। कुछ तो होगा..." जैसा भाव सबके मन में तैर आता। इन्होंने शहर के वरिष्ठ पत्रकारों, नागरिकों को बुलाया और कहा कि आप आयें और मेडीकल कॉलेज का दौरा करें... सच्चाई जानें। इनकी चिंता यह थी कि इस अफ़वाह के कारण गोमती कांड हुआ है और पूरे उ.प्र. में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दंगे फैल रहे हैं। स्थिति संभालने के लिये सच्चाई को सामने लाना ज़रूरी है। बहरहाल, कोई वहाँ आने को तैयार नहीं। सबने यह कहकर इंकार कर दिया कि हमें जान जोख़िम में नहीं डालनी। अंत में कुँवरपाल ने कमलेश्वर जी के माध्यम से दिल्ली के अख़बारों से संपर्क साधा और बयान दिया कि सभी मरीज़ सुरक्षित हैं। ऐसा कोई कांड मेडीकल कॉलेज में नहीं हुआ है... हाँ कॉलेज के बाहर सड़क पर घटनाओं में तीन लोग मरे हैं जिनमें दो हिन्दू और एक मुसलमान है।

यह बयान अख़बारों में और टी.वी. में बहुप्रचारित किया गया। कुँवरपाल ने यह भी कहा कि अगर कोई व्यक्ति अपने मरीज़ की शिनाख़्त करना चाहता है, खोज खबर लेना चाहता है तो वह उनसे संपर्क करे... वे इसकी व्यवस्था करेंगे। जो अपने मरीज़ को घर ले जाना चाहते हैं, उनकी भी सुरक्षापूर्ण व्यवस्था की जायेगी। इसके लिये घर को ही आफ़िस बना दिया गया। इस काम में अजय बिसारिया, आशिक बालौत, सबाहउद्दीन जैसे शिष्य मदद कर रहे थे। बाद में विश्वविद्यालय के जनसंपर्क विभाग ने इसकी जिम्मेदारी संभाली।

इस सब का नतीज़ा! शहर से धमकियाँ मिलनी शुरू हो गयीं। जान लेवा हमले शामिल हो गये। शहर के ही एक व्यक्ति ने एक दिन चुपचाप इनके शिष्यों को सावधान किया कि इनकी हत्या की साजिश रची जा रही है और इस काम को विश्वविद्यालय परिसर में अंजाम दिया जायेगा ताकि लगे कि वहीं के लोगों ने यह काम किया है।

दूसरी ओर विश्वविद्यालय परिसर के आसपास के इलाकों में जहाँ असामाजिक तत्वों का भी बोलबाला रहा है वे भी इनके जानी दुश्मन। मैंने कोशिश की कि घर के बाहर लगी नेमप्लेट उखाड़ ली जाय ताकि सीधे नज़र न पड़े सो वह कोशिश भी बेकार। इन्होंने नेम प्लेट सीमेंट में जड़वा दी थी। हर काम पक्का करने के आदी जो ठहरे।

मुझे रात-रात भर नींद न आती। ये आराम से सोते रहते और मैं इनको इतमीनान से खर्राटे भरते देख कुढ़ती रहती। इसी बीच जिलाधीश ने शांति कमेटी गठन करने के लिए मीटिंग बुलाई। लाख धमकियों के बावजूद ये शहर में गये और फिर मीटिंग से उ भी आये, ये कहते हुए—"आपकी शांति कमेटी में तो वही लोग ह हैं, जो इन दंगों में पेशपेश हैं...।

बाद में अलीगढ़ में अफ़वाह फैलाने के लिये ज़िम्मेदार स अखबारों की प्रेस कौंसिल को रिपोर्ट की गयी। सच्चाई सामने आ पर सभी अखबारों के मालिकों ने और माफ़ी मांगी।

सामाजिक उद्देश्यों के लिए वे बड़े से बड़ा ख़तरा उठाने तैयार रहते थे। निराश होना तो उन्होंने सीखा ही नहीं असफलताएँ उन्हें संकल्प से डिगा नहीं सकती थीं। वे कहते मैं तो मामूली किसान का बेटा हूँ... ऐसे कैसे हार मान लूं

पंजाब में जिन दिनों आतंकवाद चरम पर था और गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर जाने को तैयार नहीं तैयार हो गये। रास्ते में जहाँ ग़ैर सिख यात्री डरे हुए बैठे थे, व ढक कर सो रहे थे। ये एक दिन की जगह तीन दिन रुके पिछले दो सालों से जिन जिन विद्यार्थियों की मौखिकी हुई थी, सबको संपन्न कराके आये—"अरे भई, क्या करता परेशान थे..." लौटने पर ये उनका जवाब था।

अब कोई ऐसा उद्भट, आशावादी, प्रेरणा देने वाला नहीं अगर उनसे कोई कहता कि, हमें तो चांद-तारे चाहिये" जवाब होता कि चिंता की कोई बात नहीं। मिल जायेंगे कोशिश करते हैं...

अपने से दुगनी उम्र वालों से लेकर बच्चे तक को दोस्त मानने वाले और अंतरंगता से सराबोर करने वाले कुँ ने अपने साथ शिष्यों-मित्रों का एक विशाल परिवार जोड़ा है। परिवार उनके विचारों और कार्ययोजनाओं को आगे बढ़ा रहा है परिवार ही आज हमारा संबल है और भविष्य की आशा भी

नमिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नज़्म

जीब आदमी था वो
ब्बतों का गीत था, बग़ावतों का राग था
भी वो सिर्फ फूल था कभी वो सिर्फ़ आग था,
जीब आदमी था वो
मुफ़लिसों से कहता था
दिन बदल भी सकते हैं,
जाबिरों से कहता था
हारे सर पे सोने के जो ताज हैं
भी पिघल भी सकते हैं
बन्दिशों से कहता था
तुमको तोड़ सकता हूँ
हूलतों से कहता था
तुमको छोड़ सकता हूँ
ख्वाओं से वो कहता था
तुमको मोड़ सकता हूँ
ख्वाब से ये कहता था
तुझको सच करूंगा मैं
आरजू से कहता था
तेरा हमसफर हूँ
रे साथ ही चलूँगा मैं
चाहे कितनी दूर भी बना ले अपनी मंज़िलें
भी नहीं थकूँगा मैं
ज़िंदगी से कहता था
तुझको मैं सजाऊँगा
मुझसे चाँद माँग ले
चाँद ले के आऊँगा
आदमी से कहता था
आदमी से प्यार कर
उजड़ रही ये जमीं
कुछ इसका अब सिंगार कर
वो ज़िंदगी के सारे गम, तमाम दुःख हर इक सितम से
कहता था
मैं तुमसे जीत जाऊँगा
के तुमको तो मिटा ही देगा एक रोज आदमी
भुला ही देगा ये जहाँ
मेरी अलग है दास्तां
वो आँखें जिनमें ख्वाब हैं
वो दिल है जिसमें आरजू
वो बाज़ू जिनमें है ताकत
वो होंठ जिनपे लफ़्ज़ हैं
रहूँगा इनके दरमियाँ
के जब मैं बीत जाऊँगा।

(कैफ़ी आज़मी के देहांत पर जावेद अख़्तर द्वारा लिखित इस नज़्म की प्रस्तुति श्री अजय कुमार, संपादक–उद्‌भावना' द्वारा प्रो. कुँवरपाल सिंह की स्मृति-सभा में की गयी।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे किसी कर्मकांड में विश्वास नहीं...

प्रदीप सक्सेना

वर्षों बाद किसी की ऐसी बुलंद सोच सुनाई पड़ी। 25 अक्टूबर, 2009 को रविवार शाम 6 बजे के आस-पास मैरिस रोड, हबीब गार्डन्स में, 'प्रो. कुँवरपाल सिंह अभिनंदन समारोह' के अवसर पर अलीगढ़ की धरती पर 400 लोगों की मौजूदगी में, अखिल भारतीय हिन्दी-प्रतिभाओं, प्रगतिशील, जनवादी, मार्क्सवादी लेखकों और पार्टी-कार्यकर्त्ताओं की गहमा-गहमी के बीच प्रो. के. पी. सिंह का यह लौह वक्तव्य पढ़ा गया। किसी को भी ऐसे वक्तव्य की आशा नहीं थी। वक्तव्य में कोई भावुकता नहीं थी। भाषा इस क़दर बेलौस, बेखौफ़ और ठंडी थी कि जाड़े में फौलाद को छूने जैसा लगा। भावुकता की कोई गुंजाइश वहाँ नहीं थी, लेकिन भावना तो थी। पुरानी छापेदार कील जैसे लकड़ी में भीतर तक पैठ जाती थी वैसे ही विचारधारा की एक चोट से वह हृदयों में पैठ गयी।

"मुझे किसी कर्मकांड में विश्वास नहीं...।" अभिनंदन के मौके पर यह कैसा वक्तव्य? मार्क्सवाद में जब विश्वास गहन होगा तभी तो ऐसी घोषणा कोई कर सकेगा!

सच है, हर बात के लिए एक सबसे उपयुक्त समय होता है। कभी-कभी यह संयोगवश प्राप्त हो जाता है, कभी-कभी बहुत सजग मस्तिष्क इसे करता है, यानी उस समय का चुनाव करता है। मेरे के.पी. सिंह ने बहुत ही सजगता, वैसी ही कठोरता और उतनी ही सहजता से इस घोषणा का समय चुना। शायद वे बहुत समय से इस पर सोच रहे थे। क्योंकि इतने निर्णायक ढंग से यह बात कही गयी थी कि तत्काल का विचार ऐसा हो ही नहीं सकता था। विडंबना देखिए इस घोषणा को अमलीजामा पहनाने का अवसर भी प्रकृति ने बेरहमी से ज़ल्द ही जुटा दिया।

इमरजेंसी के दौर में यानी 1976 में जो राजनीतिक-लेखकीय भेंट थी, 25.10.2009 तक के वर्षों में ऐसी उद्घोषणा के अनुमान से खाली थी। कहीं कोई खोखलापन नहीं। दिखावे या आडंबर से परे इस वाक्य ने सबको छू लिया। कर्मकांड न किया जाये! उन्होंने बताया है कि "ए.एम.यू. से एक लंबा रिश्ता रहा। यहाँ पढ़े, बढ़े, विभिन्न पदों और ऊँचाइयों पर चढ़े। समस्त पदों पर रहे और चुनाव जीते। लेकिन सबसे गहरा रिश्ता, विचारधारा का वह धागा बना जिसमें हर संबंध किसी न किसी फूल की तरह रहा, पिरोया जाता रहा। वही संबंध और तरल होकर प्रत्येक की सहायता, ख़ासकर ग़रीब कर्मचारियों और विद्यार्थियों की, दोस्तों की नौकरियों तक की बनकर सब इसी धागे में पिरो गये। राजनीतिक मज़बूती के अवसर और गवाह कई थे लेकिन संस्था पर ऐसी निर्धूम विजय कब पहले किसी ने देखी थी ? जलन मारे कोई न कहे तो और बात है! आत्मश्लाघा एक असाध्य रोग बन चुकी है। राही मासूम रज़ा मेरे ख़याल से कोई कम हम इस लेखक नहीं हैं। के.पी. साहब से उनकी दोस्ती मिसाल है। कितने पर्सनल दोस्ती क़ाज़ी अब्दुल सत्तार और शहरयार से भी वैसी अवसर नहीं है। लेकिन राही के सृजन की प्रेरणा रहे के.पी. सा'ब और अवसर रहे कि उन्होंने अपनी विख्यात् कृति "अपने पूरे दोस्त कुँवरपाल सिंह को" समर्पित की।

भाई, साथी, ठाकुर सा'ब, कॉमरेड और प्रोफ़ेसर-के.पी. दो अक्षरी पहियों वाले परिचय-रथ पर सवार हमारे डाक्टर सा'ब दसियों लोग मिलते थे। दसियों तरह के। अलग-अलग परेशान लोग। उन्हें कोई न कोई ऐसा शख़्स मिला होता जिसने उन्हें एक गुरु-मंत्र दिया होता था—"भई के.पी. से मिलो। लोग इस मंत्र को जपते और उनके सामने एक मज़बूत आदमी प्रकट हो जाता था, जो अपने कामों में ही उनका काम शामिल कर लेता था। रंग-रूप का क्या असर पड़ता था मुझे नहीं मालूम। लेकिन उस आदमी के मुँह से जो शब्द निकलते थे, उनमें भरोसा और अर्थ प्रकट होता था, जिससे मायूसी और निराशा की कड़ियां छिन्न-भिन्न हो जाती थीं। ऐसा नहीं है कि वे कोई देव-दानव थे, या कि उनके पास कोई जादू की छड़ी थी। साहस और सक्रियता और यह कि "चलो करके देखते हैं"। सिस्टम था। आत्मीयता का राग तत्काल छिड़ जाता था। वे करते थे और काम लेते थे। काम लेना जानते थे। जैसाकि ऐक्टिविस्ट और प्रोफ़ेसर का संयुक्त चरित्र होना चाहिए, उनका था। इसमें सब शामिल था। नाराज़गी, विक्षोभ, झगड़ा कई बार एक-दूसरे पर हमला भी। लेकिन फिर किसी दिन आ जाता "क्या नाराज़ हो गये ? आओ, फिर बात होगी।" डॉ. सा'ब लड़ाई में सच्ची रुचि रखते थे। उनसे कोई भी कभी भी लड़ाई लड़ सकता था। पीठ पीछे वार का वहाँ कोई नहीं था। 'आओ सामने से लड़ो।' लेकिन छल-बलियों से लड़ना कब पसंद रहा!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना काम उनके साथ लोगों ने किया था कि 8/11 को हुई है और निहायत जल्दी करने के बाद भी 13/11 को यह जलि सभा हुई है तो भी शहर के 20 संगठनों के नुमाइंदों ने विचार रखे। क्योंकि हमने यह सभा केवल जनवादी लेखक की ओर से नहीं रखी थी और न केवल सी.पी.एम. की ओर कितना प्रेशर था बोलने वालों का! क्योंकि यह सभा शहर के स्त वामपंथी संगठनों की ओर से रखी गयी थी। यहाँ वे लान सभाओं, लेखक संगठनों, कम्यूनिस्ट पार्टियों, अध्यापक यनों, मज़दूर संघों और विद्यार्थियों के नुमाइंदों द्वारा याद किये । मैंने 1993 में अ.मु.वि. में प्रवेश किया और अपनी नीतिक-सांस्कृतिक सक्रियता का खाता अलीगढ़ में खोला। से लेकर 2009 तक और 25 अक्टूबर से 13 नवंबर के बीच ने लोगों को उनके अभिनंदन से और शोक सभा तक उनसे र्तन फील' करते हुए पाया जो एक रिकॉर्ड ही है। यह सही है हम इस सबको बेहतर ढंग से संगठित कर पाये लेकिन फिर कितने ही व्यक्ति कवि, लेखक, पत्रकारों वग़ैरह को बोलने का सर नहीं दे सके। मुझे खुद भी काफी कुछ कहना था लेकिन अवसर पा सका। एक प्रोफ़ेसर का इतने मोर्चों पर सम्मान तीगढ़ ही नहीं, बाहर भी, विरल ही होगा। इस श्रद्धांजलि से तग जो शहर में, विभाग में अन्य श्रद्धांजलि सभाएँ हुईं उनमें विश्वविद्यालय की ओर से प्रोफ़ेसर साहिबान, अधिकारीगण और कर्मचारियों की सभा में अ.मु.वि. के मेडीकल के शोधार्थियों को अध्ययन के लिए देह-दान पर कुलपति महोदय ने अपना शीष झुकाया। हम लोगों की अभिव्यक्तियों के बाद उनके नाम से एक व्याख्यान माला आरंभ करने का भी प्रस्ताव किया। अलीगढ़ से बाहर कितने ही राज्यों और ज़िलों ने सूचित किया है कि वे अपने यहाँ शोकसभा कर रहे हैं या कर चुके हैं। जानकारियाँ माँगी हैं। सक्रियता का रूप चुना है।

बड़े वे ही हैं, जिनसे जुड़े लोगों में यह होड़ होती है कि वे 'मुझे ज़्यादा चाहते हैं।' उनका अकादमिक पक्ष हो सकता है, उतना बड़ा न हो लेकिन उनका ऐक्टिविस्ट का, साथी-सहायक का, मानवीय सरोकारों का पक्ष इतना बड़ा था कि अभिनंदन और देहावसान ऐतिहासिक घटनाएँ बनी हैं। इसका महत्व धीरे-धीरे लोग समझेंगे। इन रेखाओं को लांघना भविष्य में कठिन होगा।

इतिहास पहले बनता है लिखा बाद में जाता है। आप समझ सकते हैं किसका महत्व अधिक है। कुछ लोग इतिहास लिखते हैं लेकिन के.पी. सिंह जैसे लोग इतिहास बनाते हैं।

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

प्रो. कुँवरपाल सिंह को समर्पित अभिनंदन-पत्र

श्रद्धेय,

सुदीर्घ सारस्वत यात्रा के इस सोपान पर आपका अभिनंदन करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आपने शैक्षिक-सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जो प्रतिमान स्थापित किये हैं, वे हम सभी के लिए अनुकरणीय हैं। सार्वजनिक जीवन में आपका उदारमना व्यक्तित्त्व हमारे लिए प्रेरणा-स्रोत रहा है।

सांस्कृतिक विघटन के इस दौर में सामाजिक जीवन में समरसता और श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए आपके सतत् प्रयास आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रकाश-स्तंभ का कार्य करते रहेंगे। भारत की सामासिक संस्कृति को जिस तरह आपने जिया है, वह हमारे लिए एक पवित्र पुस्तक की भाँति है।

धर्म, जाति, वर्ण एवं लिंग भेद के विरुद्ध आपके द्वारा विकसित की गयी चेतना हमारी थाती है। जीवन-संघर्ष के निर्णायक क्षणों में 'न दैन्यं न पलायनम्' का आपका भाव हमारे लिए गुरुमंत्र है।

हम आपके द्वारा प्रदत्त वैचारिक अग्निकाष्ठ से वर्तमान को भविष्य की राह दिखाने की प्रतिबद्धता का वचन देते हैं और आपके स्वस्थ एवं सुदीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

हम हैं आपके ही स्नेहसिक्त शब्दों में
आपके शिष्य-मित्र।
25 अक्तूबर, 2009

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि आये याद वह तो...

वशिष्ठ अनूप

प्रो. कुँवरपाल सिंह के बिना मैं अलीगढ़ की कल्पना भी नहीं कर सकता। अलीगढ़ की यात्रा करने का मतलब होता था डॉ. कुँवरपाल सिंह और डॉ. नमिता सिंह से अनिवार्यतः मिलना। इस बार भी प्रयोजन यही था। यहाँ आने का आरक्षण उनके जीवित रहते ही कराया था और इस बीच अचानक वे नहीं रहे। कल उनकी स्मृति में सभा थी। जो अक्सर आँखों के सामने होते थे, आज कान उनकी चर्चा सुन रहे हैं। इस समय मैं अलीगढ़ विवविद्यालय के गेस्ट हाउस में बैठा जब उनके विषय में कुछ लिखने की कोशिश कर रहा हूँ, तो उनकी अनेक स्मृतियाँ उमड़-घुमड़ कर मन को भारी कर रही हैं। कभी लिखा था :

किसी के दिल में कोई यूँ भी न समा जाए।
कि आये याद वह तो आँख छलछला जाए।

हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ आलोचक और 'वर्तमान साहित्य' के संपादक प्रो. कुँवरपाल सिंह अपने फ़ौलादी व्यक्तित्त्व, वैचारिक दृढ़ता और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध थे। मार्क्सवादी और जनवादी विचार उनके लिए कोट की तरह नहीं थे कि जब चाहा सुविधानुसार पहना और उतार दिया। ये विचार उनकी रगों में रक्त की तरह प्रवाहित होते थे। वे विचारों के लिए जीते-मरते थे। उन्होंने सिद्धांत-वाक्यों को कहा नहीं, जिया। वे जनहित के लिए सीधे मैदान में उतर जाते थे। उनकी आँखों में जो चमक और शब्दों में जो ताक़त थी, वह कर्म की दृढ़ता से थी। वे जनवादी लेखक संघ के संस्थापकों में से थे और उनसे मुलाक़ातों का सिलसिला उसके कार्यक्रमों में ही शुरू हुआ।

कुँवरपाल जी वर्तमान व्यवस्था में हर तरफ़ फैले भ्रष्टाचार और लूट से बौखलाये रहते थे। उनका यह असंतोष 'वर्तमान साहित्य' के उनके नियमित कॉलम 'समय संवाद' में लगातार दिखायी पड़ता था। शहीद भगत सिंह के विचार उन्हें लड़ने की प्रेरणा देते थे। मार्च, 2007 में उन्होंने धर्म और राजनीति के घालमेल के संदर्भ में भगतसिंह को याद करते हुए तथा उनके सिद्धांतों का ज़िक्र करते हुए लिखा—"भगत सिंह ने महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि अपने समय के क्रांतिकारी आंदोलन को रूढ़िवादी परंपरा से विमुक्त किया। पुराने क्रांतिकारी किसी न किसी रूप में देवी-देवता के उपासक थे और दृढ़ ईश्वर-विश्वासी थे। भगतसिंह ने कहा कि इस प्रकार के क्रांतिकारी अंत में साधु-संयासी बन जाते हैं।" इस क्रम में वे उनके लेख 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"...पिछले 40 साल से धर्म की राजनीति हो रही है और दंगे कराये जा रहे हैं। आज तो इसमें जाति का भी समावेश हो गया है। धर्म की राजनीति करने वाले लोग हर समस्या का हल अतीत में देखना चाहते हैं। उनके लिए हर समस्या का हल उनके धार्मिक ग्रंथों में है। ऐसे दिवास्वप्न देखने वाले लोग देश का क्या भला करेंगे?"

मार्च, 2008 में भी उन्होंने भगतसिंह को याद करते हुए आज के नौजवानों की सामाजिक दायित्वहीनता और धर्म की अलगाववादी स्थिति के विषय में लिखा है—"ये लोग कहते हैं कि धर्म जोड़ता है। इसके विपरीत, इतिहास बताता है कि धर्म के नाम पर जो अमानवीय व्यवहार होता रहा है; हत्याएँ, जो धर्म के नाम पर हो रही हैं, उससे समाज टूट रहा है।"

कुँवरपाल जी शिक्षा के दिनोंदिन अर्थोन्मुख होते जाने से भी असंतुट थे और अपने कॉलम में इस विषय पर बार-बार लिखकर पाठकों को सचेत कर रहे थे। मार्च, 2008 में उन्होंने लिखा था—"आज के नौजवानों को इस व्यवस्था ने व्यापारिक शिक्षा प्राप्त कर केवल पैसा कमाने की मशीन बना दिया है। एक विचारहीन समाज बन रहा है, जहाँ नौजवान चिड़िया की आँख देखते हैं। एक ऐसा समाज जो मनुष्य से मनुष्य को दूर कर रहा है।" दिसंबर, 2008 में 'उच्चशिक्षा में बँधुआ मजदूर' शीर्षक से शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार, ट्यूशन, फ़ीस, मुनाफ़ा, बाज़ारीकरण और शिक्षकों-विद्यार्थियों के शोषण की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा कि-'राज्य सरकार और शिक्षा मंत्रालय को चाहिए कि इन पर नकेल कसे वरना देश में शिक्षा की भयानक अवनति होगी। शिक्षा के इस पतन को रोकने के लिए शिक्षक संगठनों को आगे आना चाहिए। वे अपनी निर्णायक भूमिका का निर्वाह करें। बिना अध्यापकों के आगे आये यह कार्य कोई और नहीं कर सकता।" नवंबर, 2009 में उन्होंने 'उच्चशिक्षा में शोधार्थी' शीर्षक से आज की शोध की स्थिति, स्तरहीनता, डिग्रियों की ख़रीद-फरोख़्त आदि पर अपनी चिंता व्यक्त की है। यह उनके संपादन में अंतिम अंक है।

प्रसिद्ध लेखिका तसलीमा नसरीन के साथ जो कुछ हुआ, उससे वे बहुत आहत थे। दिसंबर, 2007 में 'तसलीमा नसरीन : व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ' लेख में उन्होंने बुद्धिजीवियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कता तथा कठमुल्लेपन और संकीर्णता की आलोचना करते हुए —"यह केवल तसलीमा का मुद्दा नहीं, बल्कि यह स्वतंत्रता मानवीय गरिमा का मुद्दा है।" वे इसमें लोगों से तसलीमा के में खड़े होने का आह्वान करते हैं। 'वर्तमान साहित्य' के कई में उन्होंने भाषा के सवाल और विवाद को भी गंभीरता से या है। मई, 2009 में उन्होंने लिखा—"बहुत से लोगों की समझ के भाषा के विवाद ने पाकिस्तान को जन्म दिया, जबकि यह गा मिथ्या है। विभाजन के कुछ समर्थक तत्त्वों ने भावनात्मक ण करके भाषा का दुरुपयोग किया।" भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि के पर फैलायी जा रही नफ़रतों के संदर्भ में उन्होंने राही मासूम के हवाले से कहा है कि "इन बुद्धिजीवियों ने, साहित्यकारों इतिहासकारों ने इमरजेंसी लगने के बाद डर के मारे जो चुप्पी थी, वह चुप्पी अभी तक टूटी नहीं है। किसी को अवार्ड लेना किसी को नेहरू स्कॉलरशिप लेनी है, किसी को सरकारी शनों में घुसना है, किसी को प्रोफ़ेसर बनना है। सब अपनी र्जियों की आँधरी चढ़ाये, संट खींचे पड़े हैं। कोई बोलने में न करने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि साहित्य अकादमी का कार देश से, देश की अखंडता से ज़्यादा क़ीमती है।" (मार्च, 08)

कुँवरपाल सिंह की निर्भीकता और निष्पक्षता का सबसे या उदाहरण जुलाई, 2009 में चुनावों के बाद पार्टियों की तियों, विशेषकर सी.पी.एम. की चर्चा के क्रम में दिखायी पड़ता है। जहाँ वे नंदीग्राम और सिंगूर की पड़ताल करते हुए सी.पी.एम. की बदलती कार्य-शैली की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि "बंगाल की सरकार जन-भावनाओं को क्यों नहीं जान सकी? बुद्धिजीवी और पत्रकार बड़ी संख्या में पार्टी के साथ थे, फिर भी तसलीमा नसरीन को बंगाल से निकाल दिया... सोमनाथ चटर्जी के साथ जो व्यवहार हुआ, उससे बंगाल का भद्रजन बहुत आहत हुआ...।"

उन्होंने 'वर्तमान साहित्य' के कई अंकों में स्त्रियों की समस्याओं पर लिखा। मायावती के माध्यम से दलित-चेतना के जागरण का उन्होंने स्वागत किया, किंतु सपा, भाजपा के साथ उनके तालमेल की आलोचना भी की।

कुँवरपाल जी सामाजिक कार्यों में इतने व्यस्त रहते थे कि अपनी पुस्तकों को रिवाइज़ करने के लिए समय नहीं निकाल पाए। उनकी कई पुस्तकें अनुपलब्ध हैं। शमशेर ने मुक्तिबोध के लिए लिखा था कि :

ज़माने भर का कोई इस तरह अपना न हो जाए
कि अपनी ज़िंदगी खुद आप को बेगाना हो जाए।

यह कुँवरपाल जी के लिए भी सत्य है।

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

पिछले कुछ दिनों से मन बार-बार तुम्हें संबोधित कर रहा है लेकिन क़लम साथ नहीं दे रही।

अपने के.पी. साहब की बुलंद आवाज़ और शख़्सियत तुम्हारे पूरे घर में गूँजती रहती थी। वह उनका जोश से भरपूर अंदाज़ और दोस्ताना बर्ताव उम्र की सभी दूरियाँ ख़त्म कर देता था। आज 'अमर उजाला' में काज़ी साहब का बयान पढ़कर फिर दिल भर आया। के.पी. साहब ने दोस्त ख़ूब कमाये। रवि उन्हें कई बार याद कर उदास हुए।

वही घर पहले से बड़ा और खाली लग रहा होगा। नमिता, हम सब ढलान के मुसाफ़िर हैं, कौन कब, कहाँ अकेला पड़ जाय, कह नहीं सकते। तुमने उनके साथ एक सार्थक, सघन जीवन जिया। बहुत सी यादें होंगी उनकी, जो कभी वर्क़-वर्क़ खोलकर देखोगी। वह उनका सारे घर की लाइटें जलाना, गीज़र ऑन करना—मुझे अभी तक याद है।

रोना नहीं, यही सोचना कितने अच्छे साथी थे तुम्हारे, क्योंकि अब वे ज़्यादा आसपास मिलेंगे।

ममता कालिया, नयी दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकर्मक ज्ञानात्मक संवेदन का प्रतीक व्यक्तित्त्व

विश्वनाथ त्रिपाठी

डॉ. कुँवरपाल सिंह, जिन्हें हम ज़्यादातर के. पी. कहते हैं, वय में मुझसे छोटे हैं, लेकिन मैं उनको 'आदरणीय' कहना उचित समझता हूँ, क्योंकि मेरे लिए उनका निरंतर कर्मठ व्यक्तित्त्व प्रेरणा का काम करता है। मैं उन्हें लगभग चालीस वर्षों से जानता हूँ, लेकिन मैंने उन्हें न कभी थका हुआ पाया, न निराश। हमेशा कर्म की प्रेरणा देते हुए और हमें उत्साहित करते हुए पाया। उन्होंने जिन लोगों की सहायता की है, उन्हें सचेत, प्रबुद्ध और वामपंथ में सक्रिय किया है; ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है। के. पी. एक व्यक्ति नहीं, सच्चे अर्थों में एक संस्था हैं, संस्थान हैं और सबसे बढ़कर एक जीवित आन्दोलन हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे उनका स्नेह निरन्तर मिलता रहा। मैं यह जान ही नहीं पाया कि उन्होंने उम्र में छोटे होते हुए भी कब मुझसे बड़े भाई जैसा व्यवहार करना शुरू कर दिया और कब मैंने उनको अपना अग्रज या नेता मान लिया। याद पड़ता है, पहली भेंट में ही उन्होंने मुझे आदेश दिया कि "नहीं, तुम आज दिल्ली नहीं जा सकते। आज नहीं जाओगे, कल भी नहीं जाओगे, परसों सुबह मैं तुमको पहली गाड़ी से रवाना कर दूँगा।" जब मैंने कुछ आनाकानी की, तो उन्होंने कहा, "यह मैंडेट है।" मैं तब तक किसी पार्टी का कोई सदस्य नहीं बना था, लेकिन उन्होंने मेरे ऊपर 'मैंडेट' जारी कर दिया और मुझे रुकना पड़ा। तब तक डॉ. नामवर सिंह दिल्ली आ गये थे। उस समय तक अलीगढ़ में मैं केवल एक व्यक्ति से परिचित था और वे थे मेरे गुरु डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी। डॉ. हरवंशलाल शर्मा का नाम सुना था, लेकिन उनको देखा नहीं था। पता नहीं इस समय तक रवीन्द्र भ्रमर अलीगढ़ आ गये थे अथवा नहीं। हो सकता है, आ गये हों। मैं डॉ. नामवर सिंह के साथ अलीगढ़, प्रगतिशील लेखक संघ की एक संगोष्ठी में भाग लेने आया। यह शायद पहला मौक़ा था, जब मैं दिल्ली के बाहर किसी साहित्यिक गोष्ठी में भाग लेने कहीं गया हूँगा। मैं भाषण नहीं दे पाता था, इसलिए मैंने एक छोटा-सा पर्चा लिखा। उसमें मैंने लिखा था कि प्रगतिशील साहित्य को लोग नारे का साहित्य कहते हैं, लेकिन नारा लिखना कोई मामूली काम नहीं है, अच्छी काव्य-पंक्तियाँ ही नारा बन सकती हैं। इस संगोष्ठी में डॉ. सज्जाद ज़हीर और भाई खान (डॉ. इक़्तेदार आलम ख़ान) ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया और मेरी हिम्मत बढ़ायी। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उसी गोष्ठी में के. पी. से मेरा परिचय हुआ। मैं इतना प्रोत्साहित हुआ कि अलीगढ़ जाने का [illegible] अवसर मिलता, तो नहीं छोड़ता। के. पी. के घर मुझे पहली [illegible] असग़र वजाहत ले गये थे। जाड़े के दिन थे। के. पी. कनखे लगाये हैंडपंप से पानी निकाल रहे थे। बहुत गर्मजोशी से उन्हों मेरा स्वागत किया। उनसे मिलकर लगा कि जैसे मेरा-उनका परिचय बहुत पुराना है। के. पी. और असग़र मेरे मित्र बन गए ख़ैर, असग़र वजाहत से तो मेरी मित्रता की पेंगें कुछ अजीब [illegible] से बढ़ीं। एक दिन वे मेरे घर आये और पन्द्रह दिन रह गये। घर में मैं और पत्नी और एक छोटी बच्ची थी। बहुत मामू तनख़्वाह थी। पता नहीं, हमने उन्हें क्या खिलाया-पिलाया, किस तरह की आवभगत की; लेकिन यह जानकर कि वे मुझे उत्तम मेज़बान बनाने लायक समझते हैं, मेरा आत्मबल बहुत बढ़ा। के. पी. ने नमिता जी से विवाह कर लिया और उनकी ज़िन्दगी का दूसरा दौर शुरू हुआ। नमिता जी के जीवन में आ जाने से उनकी गृहस्थी ही नहीं बसी, जैसे उन्हें वामपंथ की ओर निस्वार्थ भाव अग्रसर होने और निरन्तर बढ़ते रहने का सम्बल मिल गया। मार्क्सवाद के ऐसे धीर पथिक हैं कि कभी विचलित नहीं होते इतने दृढ़ हैं कि साम्प्रदायिकता विरोध और जनवादिता के मोर्चे किसी से भी कोई समझौता नहीं कर सकते, किसी को रियायत नहीं दे सकते। स्पष्ट वक्ता और निर्भीक इतने हैं कि सच्ची बात दबकर कहना जानते ही नहीं। यही कारण है कि के. पी. और नमिता जी के न मित्रों, शुभचिन्तकों और कॉमरेडों की कमी है और न उनके विरोधियों और निन्दकों की। तमाम व्यक्तिगत रूप से वे सबकी सहायता करते हैं। मैंने देखा है कि वे जिससे सहमत नहीं होते या जो उनका विरोधी होता है, उनके भी व्यक्तिगत हानि के बारे में नहीं सोचते। घर आ जाए, तो उनका भी स्वागत-सम्मान करते हैं।

के. पी. के व्यक्तित्त्व के अनेक पहलू हैं। मेरी दृष्टि में सर्वाधिक मोहक पहलू है, उनके जैसे विद्वान, बुद्धिजीवी प्रोफ़ेसर का ज़मीनी कार्यकर्ता बने रहना। मेरे मित्र डॉ. वेदप्रकाश ने यह बात मुझे कई बार बतायी कि वे अलीगढ़ क्षेत्र के आसपास संगठन के काम से वे गाँव में जाकर दौरा करते रहते हैं। वे इस ज़माने में भी सिर्फ़ बुद्धिजीवी वामपंथी नहीं हैं। वामपंथ आज जिस दौर से गुज़र रहा है, उसमें बुद्धिजीवी का ज़मीनी कार्यकर्ता बने रहना बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कम हो गया है। के. पी. में और सारे गुण होते, लेकिन वे पार्टी के ज़मीनी कार्यकर्ता न होते, तो मैं उनका इतना न करता और वे मेरे लिए इतने प्रेरक न होते। ज़मीनी र्ता की ज़िन्दगी चुनौती भरी होती है। जो लोग फ़ील्ड वर्कर होते, वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि किसान-मज़दूरों के जाकर साम्प्रदायिकता से मोर्चा लेने का क्या मतलब होता है। काम केवल किताबें पढ़ने से नहीं हो सकता।

प्रोफ़ेसर के. पी. सिंह ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग बनाया-सँवारा है। उसे संजीवित किया है और डॉ. हरवंशलाल के काम को निश्चित तौर पर प्रगतिशील जनवादी दिशा दी अनेक सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की है। उनके क्षता-काल में मुझे विभागीय कार्य से कई बार जाने का अवसर और मैंने देखा कि वे कुशल व्यवस्थापक भी हैं। उनके समय अनेक अखिल भारतीय गोष्ठियाँ हुई हैं; जिनमें से मध्यकालीन न-साहित्य पर एक संगोष्ठी तो इतनी जीवन्त और सारणीय रही कि वह अभी तक लोगों की ज़बान पर है। के. पी. को सेवानिवृत्त हुए कई वर्ष हो गये। मुझे कभी लगा ही नहीं कि वे सेवानिवृत्त हुए हैं। सच्ची बात यह है कि के.पी. के लिए सेवानिवृत्त होने का मतलब कर्मनिवृत्त होना नहीं होता। वे आज भी उसी प्रकार सकर्मक हैं। हम लोग मुक्तिबोध के ज्ञानात्मक संवेदन की बातें करते हैं। के. पी. सकर्मक ज्ञानात्मक संवेदन के जीवित प्रतीक हैं। इस अवस्था में भी, जब शरीर जर्जर हो गया है, जिस तत्परता से वे गोष्ठियाँ आयोजित करते हैं, 'वर्तमान साहित्य' का सतर्क, सजग और विवेकपूर्ण सम्पादन करते हैं, वह स्तुत्य और स्पृहणीय है। अवश्य ही इस कार्य में उन्हें नमिता सिंह जैसी विदुषी कथाकार और अजय बिसारिया जैसे कल्याण सहयोगी और राजीवलोचन शुक्ल एवं डॉ. आशिक़ बालौत जैसे समर्पित व्यक्तित्त्व का सहयोग प्राप्त है।

B-5, F-2, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095

आख़िरी सलाम

मुशर्रफ़ आलम ज़ौकी

10 नवंबर। 3 बजे दिन। मुझे अचानक समाचार मिला। कुँवरपाल जी नही रहे। सांसें थम गयीं। चेहरे पर बर्फ का एक झोंका मुझे फ्रीज़ कर गया। शरीर बेजान और दिमाग़ में छूटती हुई मिसाइलें।

मैं नमिता जी को फोन नहीं कर सकता। नमिता जी की चहकती आवाज़ में दर्द के ठहर जाने वाले गीत के स्वर नहीं सुन सकता।. दो दिन पहले ही तो फ़ोन पर बातें हुई थीं। रात के नौ बजे होंगे। मुझे अलीगढ़ जाना था। वो भी नमिता जी और कुँवरपाल जी बुलाया हैं। जाना ही होगा। फ़ोन पर हमेशा की तरह चहकती हुई आवाज़ नमिता जी की... कुँवरपाल याद कर रहे हैं। उनसे बात लीजिए।'

फिर बात शुरू हुई... लेकिन कहां शुरू हुई बात। उनपर खाँसी का दौरा पड़ा था। शदीद हंफनी। फोन कट गया। बस आध अधूरी बात... सोचा, दोबारा फ़ोन कर लूँ। फिर ख़्याल आया, खाँसी शदीद थी। फ़ोन करना मुनासिब नहीं। मगर क्या मालूम था, आधी -अधूरी आवाज़ एकदम शांत हो जायेगी।

लेकिन मुझमें महफूज हो गई है यह आवाज़ा। हमेशा के लिए।... अपनाइयत की ऐसी आवाज़ भला खामोश कहाँ होती है। मैंने जनवाद और कमिटमेंट से जुड़े ऐसे चेहरे शायद ज़िंदगी में देखे ही नहीं, जो चेहरा कुँवरपाल जी का था। याद है, मैं नमिता पर आधे घंटे की फ़िल्म बनाने अलीगढ़ गया था। फिर बातें अलीगढ़ से शुरू हो कर हिन्दी की तमाम धाराओं से गुजरती चली गईं। आवाज़ धीरे-धीरे साथ छोड़ने लगी थी। मगर चेहरे और व्यक्तिव का ठहराव वही था।

आज के युग में अब ऐसे लोग नहीं मिलेंगे।

मैं यादों की रहगुज़र पर चलता हुआ उन आधी-अधूरी गुफ़्तुगू के फूल चुन रहा हूँ, जिसे सुनते समय मुझे आभास तक नहीं था अब यह आवाज़ कभी दोबारा सुन नहीं पाऊंगा।

मेरी तरपफ से यह श्रृद्धांजलि का नज़राना है। ऐसे लोग जन्म नहीं लेंगे अब/
ऐसे लोगों से खाली होती जा रही है धरती/ ऐसे लोग मेरे लिए/ केवल एक यादगार भर नहीं रहेंगे/
रास्ता देंगे मुझे/ मुश्किल, अग्नि-पथ पर चलने के लिए।

D-304, ताज एन्क्लेव, गीता कॉलोनी, दिल्ली- 31

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध

कमला प्रसाद

कुँवरपाल क्रान्तिकारी आदर्शों के अनुरूप जीने वाले आपाद्मस्तक और रग-रग कम्यूनिस्ट हैं। उन्होंने मार्क्सवादी जीवन-मूल्यों से उत्प्रेरित अपनी ज़िन्दगी इस तरह ढाल ली है कि अब सारे अन्य विकल्प समाप्त हैं। उन्हें गहरे से अहसास है कि दुनिया को बेहतर बनाने के लिए मार्क्सवादी दर्शन ही एकमात्र रास्ता है। जीवन-यापन के लिए उन्होंने अध्यापन का काम चुना। अलीगढ़ विश्वविद्यालय से हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर सेवानिवृत्त हुए। अध्यापक की पहचान शिष्यों से होती है। उन्हीं में उसका प्रदेय दिखता है। जो अध्यापक ज़िन्दगी में दस-पाँच विद्यार्थियों में भी सजग चेतना के बीज न बो सके, वह हतभाग्य है। उसने जीवन क्या जिया? समाज को अपने कर्म का प्रमाण क्या दिया? कुँवरपाल ऐसे अध्यापक रहे हैं, जिनकी आभा पचासों शिष्यों में झलकती है। वे जहाँ हैं, जिस काम में हैं, गुरु ऋण अध्यापन और लेखन के ज़रिये अदा करते हैं। गुरु की परम्परा में उन्हें अलग से पहचाना जा सकता है।

कुँवरपाल का बहुत सारा जीवन अलीगढ़ में बीता। अलीगढ़ की सामाजिक संस्कृति उनके संस्कारों में रची-बसी है। इस शहर ने स्वतन्त्रता-संग्राम से लेकर 1947 में पूरी हुई आज़ादी की निर्णायक लड़ाई तक महत्वपूर्ण नेता, मनीषी, विचारक, वैज्ञानिक, आलोचक, कवि-शायर दिये हैं। इसमें अलीगढ़ विश्वविद्यालय की भी भूमिका है। विश्वविद्यालय ने जो संघर्ष किया—प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन को शहर से जो ज्योति मिली, उसने इस शहर को विशिष्टता प्रदान की। इस वैशिष्ट्य को जिन व्यक्तियों ने अभी तक जीवित रखा है, उनमें प्रसिद्ध इतिहासकार इरफ़ान हबीब, अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के शायर शहरयार, अन्वेषण-धुनी प्रदीप सक्सेना आदि और फिर हमारे कुँवरपाल सिंह प्रमुख हैं। मेरे आग्रह पर उन्होंने 'वसुधा' में जो सीरीज़ 'अलीगढ़ का दूसरा चेहरा' लिखी, वह काबिले तारीफ़ है। पाठकों ने उसे सराहा है। इनमें अलीगढ़ की वास्तविक आन्तरिक शक्ति को जाना जा सकता है।

कुँवरपाल सच्चे मित्र हैं। वे समय के घात-प्रतिघात को झेलते हुए सख़्त कसौटी में कसे जाने वाले मित्र हैं। मित्रता की रक्षा करते हैं। इर्द-गिर्द मित्रों का समूह बनाते हैं, और उसी में जीते हैं। कॉमरेड का अर्थ साथी है—कम लोग इसे अपने जीवन में सिद्ध कर पाते हैं। कुँवरपाल जी सिद्ध करते हैं। मैं उन्हें प्रतिबद्ध लेखक की तरह पहले से जानता था। काशीनाथ सिंह की कृपा से परखी आँख से जब कुँवरपाल को देखता हुआ मिला तो मिलते ही मित्र हो गयी। मित्र जिस पर कोई आँख मूँदकर भरोसा करे। मित्रों पर भरोसा किये बिना शायद ही कोई जी सकता हो। मित्रता निजी और सार्वजनिक—दोनों होती है। छिपाने से नहीं छिपती। मैं गोरखपुर वि. वि. में रहा, तो कुँवरपाल लगातार आते रहे। रीवा के छात्रों के शहर के साहित्य-प्रेमी नागरिकों के बीच लोकप्रिय हुए। सिलसिला यह कि मैं अलीगढ़ जाऊँ और वे मेरे यहाँ आएँ। शोधार्थियों की मौखिकी, संगोष्ठियों में प्रतिभागिता और चयन समितियों में विशेषज्ञ—जब जिस रूप में उन्हें बुलाया गया, वे आये। यह रिश्ता का ही मेल नहीं, मन का मेल था। संयोग से हम दोनों एक बार जोधपुर वि. वि. की चयन समिति में बुलाये गये। दो-तीन रिक्तियों की नियुक्ति थी और प्रत्याशियों की संख्या चालीस-बयालीस। साथ हुए, तो तय किया कि योग्यतम का चयन करेंगे। चयन समिति का भी कोई सदस्य या कुलपति भी हस्तक्षेप करेंगे, तो नहीं करने देंगे। इन्टरव्यू में उस दिन हम दोनों का रूप देख लोग चकित थे। कुलपति का रुख़ किसी के पक्ष में पहले से तय दिखा, पर हमने उनकी नहीं चलने दी। अन्ततः वही हुआ, जो उचित था। कुँवरपाल अपने मित्रों से पारिवारिक होते हैं। जैसे रीवा आते, तो बच्चों के लिए कुछ-न-कुछ लाते। एक बार बहू को साड़ी भी लाये और बताया कि नमिता जी ने भेजी है।

नमिता जी मशहूर कहानीकार हैं और स्नेह से भरपूर गृहिणी भी। अलीगढ़ जा-जाकर मैंने अनुभव किया कि कुँवरपाल-नमिता की जोड़ी विरल है। दोनों सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता हैं। शहर पर उनकी छाप है। दोनों मिलकर एक आदर्श परिवार भी बनाते हैं। कुँवरपाल यदि अस्वस्थ हैं, लड़खड़ाते हैं, तो नमिता जी उनकी रक्षा करती हैं। करुणा नहीं उपजातीं, अपने मानवीय और साथी-धर्म का निर्वाह करती हैं। आप अलीगढ़ गये हैं अगर नमिता जी के हाथों का परोसा भोजन नहीं चखा, तो मानिए कि ज़िन्दगी में कुछ छूट गया है। रसोई से उनका उसी तरह का रिश्ता है, जैसे कहानी से। दोनों ही उनकी आत्मीयता से घुल जाती हैं।

कुँवरपाल और 'आधा गाँव' के लेखक राही मासूम रज़ा की दोस्ती ज़माने में फैली हुई थी। रज़ा की मृत्यु हुई, तो उनकी अप्रकाशित रचनाएँ, लेखकों-पाठकों-स्नेहियों से आयी चिट्ठियाँ और अनमोल यादें कुँवरपाल के पास थीं। प्रकाशन के अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरपाल के पास थे। कुँवरपाल ने आज तक उनकी यादों को क्षित रखा है। उन्हें सँजोकर लिखा है। समय-समय पर पत्रिकाओं वे यादें छपती रही हैं। पत्रिकाओं के राही मासूम रज़ा, यशपाल र रांगेय राघव विशेषांकों का संपादन उन्होंने किया। आज ये क पुस्तकाकार उपलब्ध हैं। इन लेखकों को जानने के लिए इनसे ढ़िया संपादन और कहीं हो नहीं सकता था।

पिछले कुछ वर्षों से वे 'वर्तमान साहित्य' का संपादन कर रहे । नमिता जी साथ में हैं। पत्रिका मासिक है। पहले विभूतिनारायण पादन करते थे। अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसके शताब्दी विशेषांकों को भी भी नहीं भूला जा सकता। कुँवरपाल-नमिता ने इसे पाठकों से ड़ा और विस्तार किया है। नियमितता को बनाये रखा है। वरपाल द्वारा लिखे सम्पादकीय वैचारिक संघर्ष के दस्तावेज़ हैं। भी घर जाएँ तो दिखेगा कि यहाँ-वहाँ सब जगह 'वर्तमान हित्य' की सामग्री फैली है। आज की दुनिया में जो अराजकता विचारों से पलायन और भूमण्डलीकरण और उत्तर-आधुनिकता जो विकृत प्रभाव हैं, कुँवरपाल का घर उनसे लड़ने के उपकरण यार करने की प्रयोगशाला के अलावा और क्या हो सकता है?

कुँवरपाल ख्यातिनाम वामपंथी आलोचक हैं। उनकी कई त्वपूर्ण पुस्तकें अध्यापकों, छात्रों, शोधार्थियों तथा आलोचना प्रियों के बीच लोकप्रिय रही हैं। उल्लेखनीय पुस्तकें, जो मेरी स्मृति हैं, वे हैं—'भारतीय नवजागरण और उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी य, 'प्रेमचन्द और समसामयिक हिन्दी कथा साहित्य', 'मार्क्सवादी न्दर्य शास्त्र' और 'हिन्दी कथा साहित्य', 'हिन्दी उपन्यास : माजिक चेतना', सम्पादित पुस्तकें 'भक्तिकाल का इतिहास और कृति', 'साहित्य और राजनीति' हैं। किताबों के शीर्षक देखकर जाना जा सकता है कि उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन के साहित्यिक उपकरणों से साहित्य की मूल्यांकन-पद्धति ईजाद की है। कथा-साहित्य की समीक्षा उनका प्रिय क्षेत्र है। साहित्य के ज़रिये सामाजिक संघर्षों को देखने-पहचानने के लिए महत्वपूर्ण विधा उपन्यास ही होता है। योरप के तमाम मार्क्सवादियों में से अधिकांश ने उपन्यास को माध्यम बनाकर साहित्य का समाजशास्त्र तैयार किया है। यह विधा बीसवीं शताब्दी के मुक्ति संग्राम में भी सहयोगी रही है। भारतीय नवजागरण में हज़ारों रचनाकारों में से प्रेमचन्द की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का कारण उनका गद्य साहित्य, विशेष रूप से कथा-साहित्य है। कुँवरपाल उन लोगों में से हैं, जिनकी आँखों में क्रान्ति के स्वप्न थे। आज जब कभी उनसे भेंट होती हैं—यादों में खो जाते हैं। जवानी के दिनों में चले जाते हैं। भटके लोगों के प्रति तरस खाते हैं। वे मार्क्सवादी मूल्यों के लिए इतने प्रतिबद्ध हैं कि किसी का विचलन बर्दाश्त नहीं होता। इस उमर में भी वे अपनी असमर्थता का रोना नहीं रोते। उनके पास समय बिताने के लिए दूसरे कोई काम नहीं हैं। ज़िन्दगी के जो पल उनके पास हैं, उनका सदुपयोग करना चाहते हैं। और होंगे, जो युद्ध से भाग जाएँ, कुँवरपाल नहीं। वे अविराम योद्धा और निरन्तर कार्य-योजनाओं के शिल्पी हैं। नागार्जुन की पंक्तियाँ उधार लें, तो कुँवरपाल के मुँह से हमेशा निकलता होगा—

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त—
प्रतिबद्ध हूँ!

एम-31, निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग,
भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.)

COMMUNIST PARTY OF INDIA (MARXIST) CENTRAL COMMITTEE

Dear Namita Ji,

I was grieved to hear the news of the passing away of Dr. K.P. Singh, though he was not keeping good health recently, his demise has come as a shock.

We will always remember Com. K.P. Singh for his long and distinguished contribution to Hindi Literature and the cultural movement. He was tireless in his crusade against the communal forces and all forms of obscurantism. His contributions will always he remembered.

I convey my heartfelt condolences to you, your daughter, son and other family members.

Prakash Karat
General Secretary

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

मौत तू जीती है... वो हारा नहीं

शह्रयार

शह्र में मौजूद होता मैं, तो तुझको देखता
ऐ हवा !
तू मेरा सूरज बुझाती किस तरह
वो सरापा ज़िंदगी था
रोशनी... बस रोशनी था
ख़्वाब देखे और दिखाये उम्र भर
ख़्वाब उसके पास इतने थे
कि नींदें कम पड़ीं
इस ज़मीं के वास्ते
आसमां से उसने झगड़ा कर लिया
जो कहा करके दिखाया
अह्द... मेरे अह्द की पहचान था वह
कुछ अजब ही और अलग इन्सान था वह
वो जिया तो अपनी शर्तों पर जिया
कोई समझौता कहाँ उसने किया !
ज़िंदगी के खेल में सच है यही
मौत तू जीती है... वो हारा नहीं

ए-1, सफीना अपार्टमेन्ट, मेडीकल रोड, अलीगढ़

दबिस्ताँ इश्क़ का

महताब हैदर नक़वी

शहर सारा सो रहा है
जागता है एक घर
एक घर,
जिसके दरवाज़े खुले रहते हैं
हम सब पर-सदा, आठों पहर
यह दबिस्ताँ इश्क़ का है, पाठशाला प्रेम की
पाठ पढ़ते हैं यहाँ हम
प्रेम का,
ज़िंदगी से जूझने का

ऐ ख़ुदा, मेरे ख़ुदा!
यह घर सदा आबाद रख
इस दबिस्ताने-मुहब्बत के गुरु
आचार्य के.पी. सिंह का साया
सभी पर ता-अबद क़ायम रहे
ज़िंदगी से जूझने का
हौसला दायम रहे।

उर्दू विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

कुँवरपाल जी का जाना उन सभी लोगों के लिए एक गहरे सदमे की तरह है जो जीवन और साहित्य में प्रगतिशील मूल्यों को जीते हैं और साझी सांस्कृतिक विरासत को इस देश की अनिवार्य पहचान मानते रहे हैं। छात्र जीवन से ही सांस्कृतिक, राजनीतिक रूप से सक्रिय कुँवरपाल जी हमेशा नेतृत्वकारी भूमिका में रहे और निजी स्वार्थों के लिए कभी भी अपने जीवन मूल्यों से समझौता नहीं किया। जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय पदाधिकारी के रूप में भी उनकी भूमिका उल्लेखनीय रही।

हिन्दी साहित्य में कालजयी दर्ज़ा हासिल कर चुके राही मासूम रज़ा के उपन्यास आधा गाँव के देवनागरी में लिप्यांतरण, संपादन और प्रकाशन में भी उनकी गहरी भूमिका रही। इसी के साथ-साथ वह 'साहित्य और विचारधारा', 'साहित्य और राजनीति' और 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' जैसी प्रखर पुस्तकों के लेखक भी रहे। ये पुस्तकें मार्क्सवाद और साहित्य के बीच के अंतर्संबंधों को समझने में गहराई से मददगार रहीं।

इन दिनों भी वह वर्तमान साहित्य में जिस स्पष्टता से विभिन्न राजनीतिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर अपनी बात रख रहे थे वह इस जटिल समय में प्रगतिशील जनपक्षधर मूल्यों में आस्था रखने वाले लोगों के लिए दीप स्तंभ की तरह से था।

ऐसे में कुँवरपाल जी का हमारे बीच से जाना हमारे लिए गहरे दुःख की बात है। साझी दुनिया परिवार दुःख की इस विकट घड़ी में उनकी पत्नी, प्रसिद्ध कथाकार नमिता सिंह तथा अन्य परिवारजनों के साथ हैं। दुःख के इस क्षण में हमें इस बात की आश्वस्ति भी है कि वह कभी भी अपनी राह से डिगे नहीं और अपने मूल्यों तथा विश्वासों पर अडिग रहते हुए निरंतर सक्रिय रहे। इस रूप में उनकी प्रतिबद्ध सक्रियता हमें हमेशा ही प्रेरणा देती रहेगी।

रूप रेखा वर्मा तथा समस्त साझी दुनिया परिवार, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राही से पहली मुलाकात

जुलाई 1957 की एक उमस भरी दोपहर थी। लंबी खोज के द में शमशाद मार्केट के पास वलीमंजिल पहुँचा। डरते-डरते ा खटखटाया, एक भारी से, लंबे बालों वाले नौजवान ने ा खोला, मैंने पूछा-'मुझे मूनिस रज़ा साहब से मिलना है।' नहीं हैं' उनका जवाब था। मेरे पूछने पर कि-'कब तक ?' जबाव मिला-'कह नहीं सकते, आप शाम को आइये, ात हो जाएगी।'

'देखिए, मैं हाथरस से आया हूँ। मेरे पास मुंशीजी का पत्र इस बात का उन महाशय पर जादू का असर हुआ। उन्होंने रंत अंदर बुला लिया। मैंने उन्हें खत दे दिया, उन्होंने पढ़ा मुंशीजी के बारे में पूछते रहे। मुंशी गजाधर सिंह कम्युनिस्ट के जिला सचिव और उ.प्र. के प्रसिद्ध किसान नेता। उनका र्दू में था। सामने खड़े उन महाशय ने अपना परिचय दिया, ूनिस रज़ा का छोटा भाई हूँ। मेरा नाम राही मासूम रज़ा है। ी लंबे अर्से बाद यूनिवर्सिटी में दाखिला लिया है।' मैंने ता से पूछा कि-''राही आपका उपनाम है ! क्या कुछ ाएँ भी लिखते हैं ?' 'हाँ, थोड़ा-बहुत लिख लेता हूँ। अपना बताओ, कैसे तकलीफ की।' मैंने कहा-'मुझे बी.ए. में ा लेना है।' उन्होंने मुझे आश्वस्त किया-'हो जायेगा, थोड़ी ेगी। 'अभी सतीश भाई के पास चलकर बात कर लेते हैं।' तीश चन्द्र उन दिनों एन.आर.एस.सी. हाल के प्रवोस्ट और विद्यालय के प्रोक्टर थे और कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय । उन दिनों कम्युनिस्टों का भाईचारा देखने लायक था। राही गये और दूसरे दिन मेरा बी.ए. में दाखिला हो गया। 7 1957 को राही से पहली मुलाकात हुई जो धीरे-धीरे प्रगाढ़ में बदल गई। 14 मार्च 1992 तक इसमें कोई दरार नहीं । हम लोगों के बीच विचार और कर्म के अतिरिक्त कोई ता नहीं थी। भाषा और सांस्कृतिक रूप से हम दोनों दूसरे से बिल्कुल अलग थे। मैं देहात से एक किसान परिवार और राही एक प्रसिद्ध वकील के बेटे। वे उर्दू के प्रसिद्ध कवि ेरी खड़ी बोली पर भी ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव था। मेरे काफ़ को दुरुस्त करने के बहुत दिनों तक प्रयास होते रहे। और उनके मित्रों को बड़ी मुश्किल से इस कार्य में सफलता । मैं उनके व्यंग्य बाण सहता रहा, वे प्रयास करते रहे।

मैं अब यूनिवर्सिटी में छात्र संगठन स्टूडेंट फेडरेशन से जुड़ गया था। सांप्रदायिक शक्ति के विरुद्ध स्टूडेंट फेडरेशन निरंतर संघर्ष करती थी, पहला लक्ष्य था-कला, संस्कृति और साहित्य के माध्यम से लोगों को जोड़ा जाए और एक ऐसा माहौल बनाया जाए जहाँ हर व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता हो और हिन्दुस्तानी होने का गर्व भी। राही इस मोर्चे के नेता थे। यह बात अलग है कि अंदर से हमारे ही कुछ साथी राही और उनकी नीतियों के घोर विरोधी थे और यह तर्क देते थे कि साहित्य और कला से क्रांति नहीं होगी उसके लिए कम्युनिस्ट राजनीति करनी होगी। राही सारी आलोचनाओं के बाद भी इस काम को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनका विचार था कि सांस्कृतिक आंदोलन के बिना राजनीति बहुत दिनों तक चलने वाली नहीं है। राही की यह बात चालीस साल बाद सच सिद्ध हुई जब हमारा साक्षात्कार फासिस्ट संस्कृति से हुआ। उत्तर-भारत में वामपंथी राजनीति के हाशिये पर आने का एक बड़ा कारण यह भी है कि यहाँ सांस्कृतिक आंदोलनों को कोई महत्व नहीं दिया गया।

(2)

अक्टूबर 1961 में, अलीगढ़ में स्वतंत्रता के बाद पहला दंगा भड़का। इस सांप्रदायिकता से विश्वविद्यालय का वातावरण भी बहुत विषाक्त हुआ। भाई-चारे की दीवारों में दरारें भी आईं। मैं उन दिनों एम.ए. करके अमीरनिशां में एक मित्र मुजीब रिज़वी के साथ रहता था। इस बीच वे दिल्ली चले गये थे। वह एक विशुद्ध मुस्लिम इलाका था। उस क्षेत्र में भी कई वामपंथी मित्र रहते थे, इसलिये मुझे ऐसा कोई खतरा महसूस नही हो रहा था। कुछ देर के लिए कर्फ्यू खुला तो राही मासूम रज़ा प्रकट हुए और मुझे हुक्म देते हुए कहा-'दस मिनट में सामान समेटिए और मेरे साथ चलिए' मैंने कहा-'क्यूँ!' राही ने दबंग आवाज में कहा—'बहस बाद में होगी, सामान उठाइये और चलिये।' वे फकीरी के दिन थे। ऐसा कोई खास सामान नहीं था और राही के साथ कर्फ़्यू के दिन गुजारने के लिए मैं वलीमंजिल में आ गया। राही के पास अच्छी मित्र-मंडली थी। जब तक सामान्य दिन नहीं हो गये, मुझे राही ने कभी अकेला नहीं छोड़ा। सांप्रदायिकता के उद्भव-विकास पर हम लोग बहस करते। आने वाले दिनों में यह रोग बढ़ेगा इसके पक्ष-विपक्ष में बहुत से तर्क-वितर्क होते। राही चिंतित थे, उनका दृढ़ विश्वास था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर सत्ता जब उसका ह्रास होने लगता है तो वह धर्म को हथियार के रूप में इस्तेमाल करती है। सांप्रदायिक दंगों में विद्यार्थियों की भूमिका से हम लोग बहुत परेशान थे। राही ने एक रात को अपनी प्रसिद्ध कविता 'कर्फ़्यू आर्डर' लिखी। यह कविता आज भी दिल को छूती है और एक भयानक हादसे की ओर संकेत करती है। 7 अक्टूबर 1961 को लिखी गई यह कविता मैं आपको भी सुनाना चाहता हूँ। इस कविता का पहला श्रोता होने का मुझे सौभाग्य मिला था-

चंद नारों की थकी-मांदी
शिकस्तः,
बददिल,
अपनी ही गूँज की ज़ंजीरों में जकड़ी हुई,
सहमी हुई बेचारी सदाओं के सिवा,
ख़ौफ़-ओ-वह्शत की बलाओं के सिवा,
कोई नहीं-दूर तक कोई नहीं
गर्द अफ़सान : -ए-दीरोज़ उठी बैठ गयी
राह सुनसान है ताहद्द-ए-नज़र
ज़ेहन वीरान है ताहद्द-ए-नज़र
कोई जल्व : न कोई साहिब-ए-दिल
न कोई कैस, न जादू-ए-निगार-ए-महमिल
न लड़कपन, न बुढ़ापा, न शबाब
न खनकते हुए फ़िक़रे
न दमकते हुए चेहरों के गुलाब
सारा बाजार है ख़ाली दिल-ए-दुश्मन की तरह

इस ख़ामोशी के बियाबान में जब अपनी ही आवाज़ से डर लगता है

नक्हत-ए-गुल के दरीचे भी कई दिन से हैं बन्द
वो सबा ही नहीं आयी जो दिया करती थी दस्तक उन पर
गिर गयी सुबह अंधेरे की किसी खाई में
चाँद भी बैठ गया जाके किसी गोश-ए-तन्हाई में
आज आवाज़ों की इस बस्ती में
एक सहमी हुई ख़ामोशी के जादू के सिवा कोई नहीं-
दूर तक कोई नहीं।
क्या हुआ
किसने इस बाग़ से आवाज़ों के फल तोड़ लिये
कैसे कजला गए चेहरों के दिये
मुझको राहों पे सिपाही नहीं अच्छे लगते
कोई आ जाय यहाँ
कोई आ जाय यहाँ शेख़-ओ-बरहमन के सिवा

भारत-चीन संघर्ष में सांप्रदायिक शक्तियां छद्म देशभक्ति का मुखौटा लगाकर काफी प्रबल हुई। आर.एस.एस. को कांग्रेस के एक वर्ग का खुला समर्थन मिला। वामपंथियों के विरुद्ध विष-वमन करने में युवा कांग्रेस और आर.एस.एस. होड़कर रहे थे। राही बहुत चिंतित रहते थे, कांग्रेस की अवसरवादिता को कोसते रहते थे, वामपंथी राजनीति की कमियों की ओर भी इशारा करते थे। उनकी राय थी कि हिन्दी-प्रदेशों से वामपंथी गायब हो गये तो सांप्रदायिक शक्तियों का मुकाबला करने वाली कोई दूसरी पार्टी नहीं है। कांग्रेस तो शंकर जी की बारात है। सत्ता के लिए कांग्रेसी किसी से भी समझौता कर सकते है। मैं राही की इस राय से पहले भी सहमत था और आज भी पूरी तरह सहमत हूँ। 1964 में जब कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हुआ राही ने कहा कि 'अब उ.प्र. जनसंघ के हवाले हो गया।' हम लोग राही का उपहास करते थे कि 'यार तुम तो जनसंघ से बहुत भयभीत हो।' 'यार तुम लोग बात समझो नहीं। मैं जमाते इस्लामी और मुस्लिम लीग से भी भयभीत हूँ। जनसंघ और उसके सहयोगियों को यह दोनों ही सबसे अधिक मदद कर रहे हैं। सारे सांप्रदायिक दल एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। ये देश में पिछड़ापन के हामी हैं और बंटवारा चाहते हैं, इनकी संस्कृति और विचार यथास्थितिवादी हैं। कथनी और करनी का अंतर देखो, जो कहते हैं करते नहीं, जो करते हैं कहते नहीं।

पार्टी के बंटवारे पर राही ने एक लंबी कविता लिखी थी जिसका एक शेर मुझे अब भी याद है-

"हमारी आवला पाई का ज़िकर कर दीजिए
थका हुआ गर जो कोई इंकलाब मिले।"

राही यह अनुभव करने लगे थे कि खाली कविता से साहित्य में सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष नहीं किया जा सकता। अज्ञान का यह राक्षस सुरसा की तरह बढ़ रहा है। बातों ही बातों में मैंने एक दिन कहा कि एक बड़ा उपन्यास क्यों नहीं लिखते-गंगौली और गाज़ीपुर इसके लिए सबसे उपयुक्त विषय होंगे। राही के दिल-दिमाग में भी कोई चीज बहुत दिनों से पक रही थी। एक सुबह राही ने कहा-सुनो! मैंने कुछ लिखा है, 'ऊंघता हुआ शहर' जो आधा गाँव की भूमिका के रूप में मिलता है, सुनाया तो हम लोगों ने कहा कि बस उपन्यास शुरू हो गया। राही तब देवनागरी लिपि अच्छी तरह नहीं जानते थे। पूरा उपन्यास 'आधा गाँव' फारसी लिपि में लिखा गया। बाद में कुछ मित्रों के सहयोग से मैंने देवनागरी लिपि में लिप्यांतर किया। एक नये लेखक की कृति कौन छापेगा! प्रकाशन में मदद की थी-कमलेश्वर ने और प्रकाशन से 1966 में पहली बार 'आधा गाँव' छपा। दूसरा उपन्यास 'टोपी शुक्ला' (1967), छोटे आदमी की बड़ी कहानी (1968), ओस की बूँद (1969), हिम्मत जौनपुरी (1970) लिखे गये। ये कृतियाँ दुर्दिनों में लिखी गयीं। 1967 में विश्वविद्यालय से राही की अध्यापक की नौकरी समाप्त कर दी गई। यह दुखद और त्रासद कथा है। रोज़ी-रोटी की तलाश में राही बंबई चले गये। बंबई में उनके पाँच साल बहुत अभाव, संघर्ष और मानसिक कष्ट में बीते लेकिन उन्होंने हार मानना तो सीखा ही नहीं था। रचनात्मक और अन्य लेखन करके जीविकोर्जन करते थे। राजनीति की अवसरवादिता, जातिवाद, सांप्रदायिकता और अंधे क्षेत्रवाद का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने बुरे दिनों में राही निरंतर विरोध करते रहे। बंबई में रहकर
न उन्होंने बाल ठाकरे और शिवसेना से समझौता नहीं किया जैसे
लीगढ़ यूनिवर्सिटी में रहकर जमाते इस्लामी और मुस्लिम लीग से
ई समझौता नहीं किया था।

राम को वनवास मिला था तो वे चौदह साल बाद अयोध्या
तौट आये थे लेकिन राही को नैयर जहाँ से प्रेमविवाह करने पर
वनवास मिला वह आजीवन था। पहले गाज़ीपुर छूटा फिर
लीगढ़ और बेगाने शहर में राही इस दुनिया से चले गये। राही
वसीयत की थी, वह भी पूरी न हुई। कैसी त्रासदी थी कि एक
हिंदुस्तानी की इच्छा पूरी नहीं हुई। गाज़ीपुर और गंगा के इस बेटे
वसीयत के कुछ हिस्से आप भी सुनें-

सीयत क्या करूँ आख़िर
जाने मौत किस आलम में आएगी
से मालूम वो मुख़्तयार या मन्जूर आएगी
से मालूम हँसती-खेलती आएगी या ज़ख़्मों से बिल्कुल चूर आएगी
तन में या वतन से दूर आएगी
क मुझको और मेरे फन को डसा है इन पुरानी नागिनों ने
हबः खानों और डराइंगरूमों की इन सालखुर्दः नागिनों ने
प में इन्सान के आकर
मेरा फ़न मर गया, यारो
मैं नीलापड़ गया, यारो
मुझे ले जाके गाज़ीपुर में गंगा की गोदी में सुला देना
वो मेरी माँ है
वो मेरे बदन का ज़हर पी लेगी।
हज़ारों बार मुझको खो चुकी है वो
मुझे खोकर वो फिर इक बार जी लेगी
वो मेरी माँ है
वो मेरे बदन का ज़हर पी लेगी
मगर शायद वतन से दूर मौत आए
बहुत ही दूर-इतनी दूर मौत आए कि मुझको मेरी माँ के पास
ले जाना न मुमकिन हो
तो मेरी ये वसीयत है कि ये कागज मेरे घर के पते पर भेज दो
और मुझको ले जाकर
अगर उस शहर में या गाँव में छोटी सी एक नदी भी बहती हो
तो मुझको उसकी गोदी में सुला दो और उस नदी से
ये कह दो कि ये गंगा का बेटा आज से तेरे हवाले है
वो नदी भी मेरी माँ, मेरी गंगा की तरह मेरे बदन का ज़हर पी लेगी।

शोक-प्रस्ताव

प्रो. के.पी. सिंह का जन्म हाथरस ज़िले के कैलोरा ग्राम के एक किसान परिवार में हुआ। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से 59 में बी.ए., 1961 में एम.ए. (हिन्दी) तथा 1969 में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त करने के उपरांत वे 1966 में व्याख्याता पद पर युक्त हुए। 1977 में रीडर तथा 1985 में प्रोफ़ेसर पद पर उनकी प्रोन्नति हुई।

अपनी सुदीर्घ सारस्वत-यात्रा के अनेक पड़ावों से गुज़रते हुए प्रो. सिंह ने अनेक प्रशासनिक पदों को सुशोभित किया। हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, कला संकाय के अधिष्ठाता पद के अतिरिक्त वे राजभाषा कार्यांवयन समिति के उपाध्यक्ष भी रहे। एन.आर.एस.सी. के प्रोवोस्ट, प्लॉयमेंट एवं गाइडेन्स सेन्टर के ब्यूरो प्रमुख, जनसंपर्क कार्यालय के प्रभारी तथा विश्वविद्यालय प्रसार व्याख्यान के समन्वयक के रूप उन्होंने अपने दायित्वों का सफल निर्वाह किया।

वे विश्वविद्यालय की विधिक संस्थाओं—ऐकेडेमिक काउंसिल, एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल तथा कोर्ट के सदस्य भी निर्वाचित हुए। प्रो. सिंह इस विभाग से छात्र, शोधार्थी, अध्यापक एवं अध्यक्ष के तौर पर जुड़े रहे। एक अध्यापक के रूप में उन्होंने छात्रों के न-मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ी। विभागीय सहयोगियों के बीच उनकी छवि एक उदारमना अहैतुक साथी की थी। हिन्दी विभाग के सर्वांगीण शैक्षिक विकास के लिए वे निरंतर सक्रिय रहे और अखिल भारतीय स्तर पर विभाग की छवि का निर्माण करने में उनका त्वपूर्ण योगदान रहा।

साहित्य जगत् में मार्क्सवादी आलोचना के विशिष्ट हस्ताक्षर प्रो. के.पी. सिंह ने 6 पुस्तकों के लेखन के साथ-साथ 9 पुस्तकों संपादन किया। अपने अभिन्न मित्र राही मासूम रज़ा के निधनोपरांत उनकी पाँच अप्रकाशित पुस्तकों का संपादन किया और साहित्य कादमी के लिए उन पर एक मोनोग्राफ़ भी लिखा। आजकल वे 'राही मासूम रज़ा ग्रंथावली' के संपादन में व्यस्त थे।

अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन एवं अतिथि संपादन करते हुए उन्होंने हिन्दी के ख्यात साहित्यकारों पर संग्रहणीय विशेषांक कालें। 'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के यशस्वी संपादक तथा 'समय संवाद' स्तंभ के लेखक के रूप में वे सदैव याद किये जाएँगे।

हिन्दी-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के अध्यापक, छात्र एवं कर्मचारियों की यह सभा प्रो. कुँवरपाल सिंह के निधन र हार्दिक शोक व्यक्त करती है। हम प्रार्थना करते हैं कि दिवंगत आत्मा को चिर शांति प्राप्त हो और उनके शोक संतप्त परिवार को दुःख सहन करने की शक्ति मिले।

प्रो. एम.ई. ज़ुबैरी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जावेद कमाल : अलीगढ़ का दूसरा चेहरा

1956 से 1968 के मध्य जिन लोगों का संबंध अलीगढ़ से रहा है वे जावेद कमाल को ज़रूर जानते होंगे। वह एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि एक संस्था थे। उस समय अलीगढ़ का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र युनिवर्सिटी कैंटीन हुआ करती थी। अलीगढ़ के सभी छोटे-बड़े शाम को कैंटीन में एकत्रित होते थे, जावेद भाई मेज़बान होते, चाय और काफ़ी के दौर चलते रहते थे और साहित्य, सिनेमा, खेलकूद और विश्वविद्यालय सियासत तथा इधर-उधर की कभी न ख़त्म होने वाली बातें और बहसें चलती रहतीं। इन महफ़िलों की अपनी परम्पराएँ थीं। छोटे-बड़े का ख़्याल रखा जाता था लेकिन सभी को अपने विचार व्यक्त करने का पूरा अधिकार था। उस समय अलीगढ़ में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक मतभेदों के बावजूद लोग एक दूसरे के ख़िलाफ़ नफ़रत का ज़हर न उगलकर उनका आदर करते और आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे की मदद भी करते थे।

इन महफ़िलों में जज़्बी, राही मासूम रज़ा, ख़लीलुर्रहमान आज़मी, ख़ालिद सुल्तान, अश्फ़ाक़ पापे, ज़ौक़ी, डॉ. मुनीबुर्रहमान, वहीद अख़्तर, क़ाज़ी अब्दुल सत्तार, अख़्तर अंसारी, शहरयार, नूरीशाह, बल्देव मिर्ज़ा, हकीम महबूब आलम, अतहर परवेज़ तथा शाहिद शामिल हुआ करते थे। कला और खेल जगत में जिनका व्यक्तित्व उभर रहा था, उनमें फ़िल्मकार मुज़फ़्फ़र अली, कहानीकार असग़र वजाहत, पत्रकार रियाज़ पंजाबी, हाकी खिलाड़ी अली सईद और गुरुदेव सिंह के नाम मुझे याद आ रहे हैं। मशहूर फ़िल्मी हस्ती नसीरुद्दीन शाह भी अक्सर कैंटीन आते थे। जावेद कमाल उनके आर्ट के क़ायल थे और कहा करते थे कि 'अगर लड़के का दिमाग़ ख़राब न हुआ तो बहुत आगे जायेगा। दरअसल थोड़ी सी कामयाबी हमारे नौजवानों को तबाह कर देती है।'

—"जावेद भाई, कोई ग़ज़ल या नज़्म हुई", मैं कुछ दिनों बाद मिलने पर पूछता। "ख़ाक हुई यार, ख़्वाब में भी चमचे ही बजते नज़र आते हैं। बड़े असभ्य लोग आ रहे हैं अब युनिवर्सिटी में। छोटे-बड़े का लिहाज़ ख़त्म होता जा रहा है...वह मुझे केवल चाय बेचने वाला ही समझते हैं।"

अलीगढ़ अपने परंपरागत मूल्य खोता जा रहा था। 1965 के हादसे ने उनके दिल पर बहुत बुरा असर डाला था। दरअसल यह आपसी मतभेद को उजागर करने का यह बहुत भद्दा और घटिया तरीक़ा था। इस युनिवर्सिटी के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ था। बरसों पुराने दोस्त रातों-रात अजनबी हो गये थे। आपसी विवाद की दीवार बुलंद हो गयी थी और राजनीतिक कलह की खाई चौड़ी होती जा रही थी। बेफ़िक्र अलीगढ़ वालों की इस महफ़िल पर भी इस नये माहौल का असर पड़ना स्वाभाविक था। वह अजीब दिन थे कि जब फूलों से भी धोखे और फ़रेब की बू आती थी।

आज़ादी के पंद्रह साल तक मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति हाशिए पर रही। जनसाधारण, धर्मनिरपेक्ष दलों के साथ सक्रिय रूप में जुड़े रहे। बड़ी संख्या में नौजवान वामपंथी दलों के साथ आये। पाकिस्तान बनने के बाद उन्होंने अपना भविष्य वामपंथ की राजनीति में ही देखा था। गाँधी जी की हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और उसके सहयोगी हिन्दू साम्प्रदायिक दल भी छिपकर बैठ गये। भारतीय जनसंघ हाशिए पर रहा। देश की राजनीति में उसकी कोई प्रभावशाली भूमिका नहीं थी। संघ परिवार राजनीति को छोड़कर सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों में जुट गया। संघ भारतीय संस्कृति के नाम पर पुराणपंथी विचारों को नवीन रूप में प्रस्तुत करता रहा। उन्होंने धीरे-धीरे सामाजिक और शिक्षा संस्थाओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया। अपने विस्तार और वर्चस्व के लिए उन्होंने लम्बा रास्ता अपनाया जिसका फल उन्हें आज मिल रहा है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब कम्यूनिस्ट विरोध की तेज़ हवा चलती है तो साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ देश में अधिक शक्तिशाली होती हैं। कम्यूनिस्ट विरोध सभी दक्षिण पंथी दलों और सामंती संस्कृति के पुरोधाओं को एक करता है तथा जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष शक्तियों को कमज़ोर करता है। कम्यूनिस्ट विरोध लोहियावादियों में भी कम नहीं था। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उन्होंने शीत युद्ध की राजनीति की, उसका लाभ वामपंथ विरोधियों को ही मिला और धर्म निरपेक्ष शक्तियों को इससे भारी क्षति हुई।

सन् 1962 के भारत-चीन संघर्ष के दिनों में कम्यूनिस्ट विरोध अपनी चरम सीमा पर था। कांग्रेस और संघ परिवार वामपंथ विरोध में मिल-जुलकर आग में तेल डाल रहे थे। पहली बार संघ परिवार को देश भक्ति का प्रमाण हमारे तथाकथित राष्ट्रवादी नेता दे रहे थे। गांधीजी की हत्या का कलंक काफ़ी हद तक कांग्रेस नेतृत्व ने धो दिया। कांग्रेस ने सिद्धान्तों की लड़ाई व्यवहार में छोड़ सी दी थी। जाति-सांप्रदाय और क्षेत्रीयता की राजनीति, सत्ता में रहने के लिए उसकी आवश्यकता बन गयी। ई.एम.एस. की सरकार को गिराकर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग जैसे सांप्रदायिक दल को सम्मान प्रदान किया। इसके बाद मुस्लिम सांप्रदायिकता फिर से संगठित होकर भारतीय मंच पर आ गयी। इसे संगठित करने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान कांग्रेस के वरिष्ठ मंत्री श्री फ़ख़रुद्दीन अली अहमद का रहा है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के धर्म निरपेक्ष स्वरूप को नष्ट करने में श्री अहमद और उनके सहयोगियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का काफ़ी योगदान रहा है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय से भावनात्मक स्तर पर भारत के मध्यवर्ग के मुसलमान गहराई से जुड़े रहे हैं। इस भावनात्मक स्तर को उन्होंने अपनी राजनीति का हिस्सा बनाये रखा है। सर सैयद के समय से ही दो विचारधाराओं का हमेशा टकराव रहा है। एक वे लोग हैं जो अलीगढ़ युनीवर्सिटी के इस्लामी स्वरूप की वकालत करते हैं और विश्वविद्यालय को सरकार पर राजनैतिक दबाव के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं। हमेशा बहुमत इन्हीं तत्वों का रहा है। लेकिन एक सक्रिय ग्रुप इस विश्वविद्यालय को आधुनिक और धर्म निरपेक्ष विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए भी सक्रिय रहा है। यह वैचारिक संघर्ष एक शताब्दी से बराबर जारी है। इसका नेतृत्व मूलतः वामपंथी बुद्धिजीवी और साहित्यकार करते रहे हैं। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि अधिकांश राज्य और केन्द्र की सरकारें दक्षिण पंथी राजनीतिज्ञों को मदद करती रही हैं, चाहे ब्रिटिश सरकार हो, स्वतंत्रता के बाद की कांग्रेस सरकार या केन्द्र की कांग्रेस विरोधी सरकारें हों, प्रायः सबका रुख़ धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की ओर कम, वोट की राजनीति की ओर अधिक रहा है। आप आश्चर्य न करें, केन्द्र और राज्य की भाजपा सरकार भी जमाअते इस्लामी की साम्प्रदायिक राजनीति को ही प्रोत्साहन दे रही हैं। विश्वविद्यालय की धर्मनिरपेक्ष शक्तियों ने कभी हथियार नहीं डाले लेकिन इस जनतंत्र और धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई लड़ने वालों की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। अतएव प्रायः अलीगढ़ का मूल्याँकन एकांगी होता है। अलीगढ़ के प्रतिपक्ष और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के प्रति समर्पित लेखकों और कलाकारों की लम्बी परम्परा रही है।

बदरुद्दीन तैयब जी के बाद 1965 में अली यावर जंग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति होकर आये। अली यावर जंग की छवि एक धर्मनिरपेक्ष और देशभक्त की थी। 1947-48 में उन्होंने निज़ाम हैदराबाद की भारत विरोधी नीति और अलगाववाद का खुलकर विरोध किया था। हैदराबाद स्टेट के भारत विलय में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। उनके इस कार्य से सांप्रदायिक राजनीति करने वाले मुस्लिम कट्टरपंथी रुष्ट थे। उनके अलीगढ़ आने से पूर्व ही उनके विषय में भाँति-भाँति का मिथ्या प्रचार किया गया। हर सांप्रदायिक राजनीति के मूल में भ्रष्टचार और मिथ्या प्रचार होना अनिवार्य है। निहित स्वार्थी वर्गों ने छात्र संघ को अली यावर जंग के विरुद्ध आंदोलन के लिए भड़काया। उनके विरुद्ध इतना घृणा भरा प्रचार किया गया कि आम विद्यार्थी उन्हें खलनायक और मुसलमानों का शत्रु समझने लगा। 25 अप्रैल 1965 को विश्वविद्यालय कोर्ट की बैठक में अली यावर जंग और उनके सहयोगियों पर प्राणघातक हमला किया गया। अली यावर जंग गंभीर रूप से घायल हो गये। उनके साथ प्रोफ़ेसर नूरुल हसन जैसे शिक्षाविद् भी घायल हुए। पहली बार मुस्लिम सांप्रदायिकता खुले रूप में आक्रामक होकर आयी। अब उसे यह अहसाह हो गया था कि यही समय है जब कांग्रेस से उचित और अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। 1965 के बाद उन्होंने ध र्मनिरपेक्ष मुसलमानों के विरुद्ध अनवरत आंदोलन जारी रखा। सर्वप्रथम उन्होंने तत्कालीन शिक्षामंत्री करीम भाई छागला को किनारे लगाया। उसके उपरान्त 1971 में शिक्षामंत्री बने प्रोफ़ेसर नूरुल हसन उसने लिए खलनायक बन गये। प्रोफ़ेसर नूरुल हसन ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय के धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक रूप की जीवनपर्यंत वकालत की और कभी सांप्रदायिक शक्तियों से समझौता नहीं किया। 1980 में इंदिरा गांधी ने उन्हें किनारे कर दिया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को एक ऐसा ऐक्ट दिया जो बौद्धिक विकास, स्वतंत्र चिंतन और जनतांत्रिक व्यवस्था के विरोध ा में था। प्रो. नूरुल हसन का विचार था कि यदि सरकार मुस्लिम सांप्रदायिकता से सिद्धांतहीन समझौते करेगी तो हिन्दू सांप्रदायिकता को नहीं रोका जा सकता। उनकी यह बात आज सच सिद्ध हो रही है। देश सांप्रदायिक तानाशाही की ओर बढ़ रहा है।

जावेद भाई उस समय इन हालात से परेशान थे। "यार अलीगढ़ अब बर्बादी के रास्ते पर है...लोग बरसों से चिल्ला रहे थे कि अलीगढ़ राष्ट्रीय धारा में नहीं है, लो अब तसल्ली हो गयी कि अलीगढ़ भी अब उस कीचड़ में खड़ा हो गया है।" इसके बाद देश की मौजूदा सियासत को कोसते। शासन करने वाली पार्टी की मौक़ापरस्ती और बेईमानी की मिसालें देकर उसकी आलोचना करते। जनसंघियों और जमाअतियों को बुरा-भला कहते। फिर बैरे को आवाज़ देते और उस समय जितने लोग भी होते उन सबके लिए चाय और खाने की बेहतरीन चीज़ें मंगाते। घूम-फिर कर बात शायरी पर आ जाती। शायरी के साथ-साथ तरह-तरह के चुटकुले और लतीफ़े भी होते। वक़्त ठहर जाता और अक्सर आधी रात तक ये महफ़िलें चलतीं।

आज़ादी के बाद अलीगढ़ में जितने शायर हुए हैं, उनमें जावेद कमाल की शायरी का अपना अलग रंग और ख़ुशबू है। वह जिस महफ़िल में जाते उस ज़माने के तमाम मशहूर शायर उनके सामने फीके पड़ जाते इसलिए उन्हें मुशायरों में बुलाना बन्द कर दिया गया। पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ नहीं छापी जातीं, लेकिन सूरज की किरणों को कौन गिरफ़्तार सका है। कुहरा और बादल उन्हें हमेशा नहीं ढक सकते हैं।

वामपंथ की तरफ़ उनका झुकाव होने के कारण उनके व्यक्तित्व में दोहरापन नहीं था। वह जैसे थे सबके सामने थे। उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वह बहुत बोलते थे और वक़्त की क़द्र नहीं करते थे। लोग टोकते, वक़्त की अहमियत समझाते, यह नसीहत उन्हें बुरी लगती। लोग हंस देते लेकिन मैं उनके इस दर्द को समझता था। उन्होंने उर्दू में एम. ए. किया था। रिसर्च में दाख़िला लिया, दो साल तक जी-तोड़ मेहनत की लेकिन विभाग के लोगों ने उनका हौसला तोड़ दिया। उनसे कम सलाहियत वालों को अध्यापक नियुक्त किया गया, जिसका अफ़सोस उन्हें उम्र भर रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार की परवरिश के लिए उन्होंने क्या-क्या पापड़ नहीं बेले। जूतों की दुकान की, कई फ़र्मों के एजेन्ट बनकर जाने अनजाने शहरों के चक्कर लगाए। हज़ारों रुपये कमाये और ख़र्च कर दिये। आगे के लिए जोड़ना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। पैसा उन्हें काटता था। इस मामले में वे कबीर के सच्चे शागिर्द थे-

"पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिए यही सयानों काम।"

युनिवर्सिटी कैंटीन उन्हें बहुत रास आयी। उनके बारह साल बहुत अच्छे गुज़रे। इस ज़माने में उन्होंने शायरी भी खूब की। शाम की महफ़िलों में वे अक्सर अपने शेर सुनाते। लेकिन अफ़सोस कि उस समय की बहुत सी रचनाएँ गुम हो गयीं। वह अपने शेर छोटे-छोटे पुरज़ों और सिगरेट की ख़ाली डिब्बियों पर लिख लेते थे। ये पुरज़े और डिब्बियाँ तो ग़ायब हो जातीं लेकिन शेर उनको याद हो जाते थे। उनकी ग़ज़ब की याददाश्त थी। उन्हें अपनी पूरी शायरी याद थी, बस ज़रा सा इशारा कर दीजिए वे अपनी पूरी नज़्म या ग़ज़ल सुना देते थे। बहुत कहने के बाद 1973-74 में उन्होंने अपना काव्य-संकलन तैयार किया था। मैंने कहा कि इसमें तो बहुत सी नज़्में-ग़ज़लें नहीं हैं, तो वह बोले कि फ़िलहाल तो यही है, फ़ुरसत मिली तो याद करके सब लिख दूँगा। वह फ़ुरसत उन्हें कभी नहीं मिली और उर्दू साहित्य का बहुत बड़ा सरमाया उनके साथ ही चला गया।

1968 ई. के बाद अलीगढ़ के हालात बहुत तेज़ी से बदलने लगे। पूरे देश में जोड़-तोड़ की राजनीति ज़ोरों पर थी। सीधे-सादे रास्ते शार्टकट में बदलने लगे। समाज कल्याण को ताक़ पर रखकर व्यक्तिगत स्वार्थों की अंधी दौड़ शुरू हो गयी। दोहरे मूल्यों और मानदण्डों ने अमरबेल की तरह पूरे हिन्दुस्तान को जकड़ लिया। भला अलीगढ़ इन सबसे कैसे अछूता रह सकता था। लोगों की निगाहें जावेद कमाल की कैंटीन पर लगी हुई थीं। उनकी छोटी-छोटी शिकायतें वाइस चांसलर से की जाने लगीं। बिजली और किराये के ग़लत बिल युनिवर्सिटी की तरफ़ से आने लगे। सेल्स टैक्स वालों ने कई मुक़दमें ठोक दिये। उनपर दबाव पड़ने लगा कि वह कैंटीन छोड़ दें। कैन्टीन के मैनेजर और मुंशी ने हिसाब में बहुत धोखा दिया। उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती गयी। इतनी ढेर सारी मुसीबतें एक साथ किसी खुद्दार और नरम दिल इंसान को तोड़ने के लिए काफ़ी होती हैं। उसपर यह कि उन्हें कई बीमारियों ने भी घेर लिया। डाइबिटीज़ उनके लिए जानलेवा साबित हुई। कैंटीन की आमदनी कम हो गयी और भरे-पूरे ख़ानदान को पालना कठिन हो गया।

प्रो. अलीम ने जो उन दिनों युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर थे और जावेद कमाल की शायरी के बहुत बड़े प्रशंसक थे, उन्हें छः सौ रुपये महीने पर पब्लिक रिलेशन आफ़िस में नौकरी दे दी। उनके प्रशंसकों में प्रोफ़ेसर नूरुल हसन और डॉ. मूनिस रज़ा भी थे। लेकिन ये दोनों अलीगढ़ के लिए परदेसी हो चुके थे। जावेद भाई अक्सर यह शेर पढ़ते-

कोई भी हादसा हुआ, कोई भी सानेहा हुआ।
गर्दिशे रोज़गार ने मेरा पता बता दिया।

फिर मुस्कुराते हुए कहते,"अल्ला मियाँ ने हमारी तक़दीर खुद न लिखकर ऊँट के...से लिखवाई है।"

इमरजेंसी के समय में वह बहुत बड़े हादसे से दो-चार हुए। फ़रवरी 1976 की वह बहुत सर्द और कुहरे से लिपटी सुबह थी कि उनके एक नौकर ने आकर कहा, "आपको मियाँ ने याद किया है।" "अभी, इतनी सुबह।" मैंने तअज्जुब से पूछा। "जी हाँ, बात ही ऐसी है।"

मैं जब कैंटीन पहुँचा तो जावेद भाई, शाहिद और साजिद कैंटीन के बिखरे हुए सामान और टूटी हुई क्राकरी के पास खड़े थे। गुस्से और तौहीन के मिलेजुले जज़्बात उनके चेहरे से प्रकट हो रहे थे।

"देख रहे हो, क्या किया इन कमीनों ने मेरे साथ।" अपने गुस्से और ग़म को प्रकट करने के लिए उनके पास शब्द नहीं थे। मैंने उन्हें तसल्ली दी, "आप परेशान न हों, जल्द ही कुछ न कुछ करेंगे।" लेकिन हमलोग उनकी कोई मदद न कर सके। जावेद भाई हाईकोर्ट तक गये मगर किसी के कान पर जूँ तक न रेंगी। उल्टे उन्हें धमकियाँ मिलीं कि ख़ामोश बैठिये वरना नौकरी से भी हाथ धोना पड़ेगा। यह जुल्म, यह धमकी और यह धांधली उन्हें खा गयी। लोगों ने उन्हें चाय बेचने वाला समझा। उर्दू का ऐसा कोमल हृदय शायर जिसकी शायरी दिल और दिमाग़ को एक साथ छूती थी, गुमनामी की ज़िंदगी जियेगा, यह बड़ी शर्म की बात है।... इस ग़म ने उन्हें खा लिया, 31 जुलाई 1978 को 48 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी।

वक़्त ने हमेशा अच्छे लोगों के साथ यही बर्ताव किया है। हिन्दी के मशहूर कवि मुक्तिबोध के साथ भी यही हुआ था। हर युग में जुगनुओं ने सूरज से रोशनी का हिसाब माँगा है लेकिन इससे सूरज की अहमियत घट नहीं जाती।

जावेद कमाल की बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। डॉ. मुहम्मद हसन ने "असरी अदब" में उनकी कुछ नज़्में और ग़ज़लें प्रकाशित की थीं। कुछ रचनाएँ हिन्दी में भी प्रकाशित हुई हैं। मगर 1995 में मैंने और बलदेव मिर्ज़ा ने उनकी इधर-उधर बिखरी हुई रचनाओं को खोजकर प्रकाशित कराया है। संग्रह का नाम उन्होंने ही अपने जीवनकाल में सुझाया था-"आवाज़ न दो" इसका उर्दू जगत् में बहुत स्वागत हुआ है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखा है कि उर्दू काव्य का यह हीरा अबतक कहाँ धूल चाट रहा था।

वह शायर अच्छे थे या इंसान, मेरे लिए यह तय कर पाना आज भी कठिन है। सच मानिए जावेद कमाल जैसे लोग बहुत कम मिलते हैं। उनका यह शेर परेशानी के वक़्त हमेशा हिम्मत देता है। आप भी सुनिए-

"अपने पैदा किये सूरज से उजाले माँगो,
भीख माँगी हुई किरनों का भरोसा क्या है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुख ही जीवन की कथा रही

1950 और 1952 के दिन विचार मन्थन, संघर्ष और ऊर्जा के दिन थे। स्वतन्त्रता मिली, लेकिन वह होरी और सलोनी की की स्वतन्त्रता नहीं थी। वह खन्ना और राय साहब की स्वतन्त्रता अधिक थी। स्वतन्त्रता के पूर्व आज़ाद भारत की दो अलग-अलग तस्वीरें बुद्धिजीवियों, किसानों, मज़दूरों, भू-स्वामियों, राजपतियों और व्यापारियों ने बनायी थीं। इन तस्वीरों के पीछे जाति, वर्ण और धर्म का आधार नहीं था बल्कि किसान, मज़दूर, कारीगर, पूँजीपति और ज़मींदार वर्ग की दृष्टियाँ अधिक काम कर रही थीं। यह आश्चर्यजनक सत्य है कि धर्म के नाम पर देश का विभाजन हुआ। धर्म किसी राष्ट्रीयता का आधार हो सकता है, इस मिथ्या तथ्य को स्वीकार कर लिया गया। भयानक साम्प्रदायिक दंगे हो चुके थे। लेकिन शायद देश के नवनिर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। लगता नहीं था कि पाँच साल पहले इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी इस उपमहाद्वीप में घट चुकी है। जब जीवन के बड़े उद्देश्य होते हैं, तब काले प्रश्न और इतिहास विरोधी शक्तियाँ हाशिये पर चली जाती हैं। त्याग, बलिदान जीवन के मुख्य उद्देश्य होते हैं तब देश और समाज नयी करवट लेकर अपनी मंज़िल की तरफ़ तेज़ी से बढ़ता है। जिन नौजवानों को आज निकम्मा, दिशाहीन, अराजक, स्वार्थी और उपभोक्तावाद का प्रतीक समझा जाता है, वही नौजवान साधारणजन के जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्ष कर रहे थे और देश और समाज के लिए सब कुछ न्यौछावर कर रहे थे। तब राजनीतिज्ञों की पुरानी पीढ़ी इतनी पतित, भ्रष्ट, दिशाहीन, आत्मकेन्द्रित और निष्क्रिय नहीं थी। उनके पास भी देश के निर्माण का एक मॉडल था। सैद्धान्तिक ही सही, किसान-मज़दूर और वंचित लोगों के लिए समाज में एक सम्मान का स्थान दिलाने का एजेण्डा था। पूरे उत्तर-भारत में, जहाँ आज प्रतिक्रियावादी और जातिवादी शक्तियों का वर्चस्व है, वहाँ 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद', 'दुनिया के मज़दूरो एक हो', 'किसान-मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद' के नारे गूँजते थे। लाल झंडे वाली किसान सभाएँ, सदियों से वंचित, शोषितों और पीड़ितों की लड़ाई लड़ रही थीं। मज़दूर संगठन अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति समर्पित थे। देश में कहीं मज़दूरों पर अन्याय होता था, वे उसके विरुद्ध आवाज़ उठाते थे। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्तवाद उनके घोषित शत्रु थे। इनके विरुद्ध जहाँ भी संघर्ष था, ये संगठन में आवाज़ उठाते थे। विद्यार्थी संगठन (जो ए.आई.एस.एफ. के रूप में देश का सबसे बड़ा संगठन था।) भी इस संघर्ष में शामिल हो जाता था। हज़ारों खाते-पीते परिवारों के लोग कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्ण कालिक कार्यकर्ता बनकर इन आन्दोलनों में सक्रिय थे। आज ये बातें सपने जैसी लग रही हैं। अलीगढ़ जिले में किसान सभा सबसे बड़ा सक्रिय और सशक्त संगठन था। मुंशी गजाधर सिंह के नेतृत्व में हरपालसिंह, उदयवीर सिंह, पंडित भीमसेन, बोहरे छेदालाल, कमांडर मक्खन सिंह जैसे लोग सक्रिय थे वहीं सांस्कृतिक और साहित्यिक मोर्चे पर जनकवि छेदालाल 'मूढ़' और खेमसिंह नागर अपने गीतों और भजनों से किसानों, दलितों और युगों से पीड़ित भारतीय नारी की व्यथा-कथा और संघर्षों को स्वर दे रहे थे। इन किसान कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त विश्वविद्यालय और कॉलेजों से आये हुए नौजवान भी थे जो किसानों के अतिरिक्त छात्रों और दलितों में काम कर रहे थे। इनमें कामरेड माबूद हसन, लाल सिद्दीक, दूल्हा खाँ, सुल्तान नियाज़ी, मदन दीक्षित, मुनिस रज़ा और कामरेड किशन सिंह के नाम प्रमुखता से लिये जा सकते हैं। इन्हीं नौजवानों में कुछ महिलाएँ भी सक्रिय थीं जिनमें सायरा हबीब, साबिरा ज़ैदी, शाहिदा ज़ैदी, जाहिदा ज़ैदी, शैहला रज़ा, वसीमा अंसारी के नाम प्रमुख हैं।

कामरेड दूल्हा खाँ की पहचान बिल्कुल अलग थी। वे सबसे अधिक सरल, निश्छल और कर्मठ व्यक्ति थे। वे मुरादाबाद के एक सम्पन्न ज़मींदार परिवार से आये थे लेकिन उनके चरित्र में सामन्ती परिवार का कोई अवशेष नहीं था।

उन दिनों हम लोग जूनियर हाईस्कूल, ठूलई में पढ़ते थे। पूरे क्षेत्र में मुंशीजी का प्रभाव था इसीलिए वामपंथ की ओर एक रोमानी झुकाव था। नौजवानों में आदर्शवाद कुछ अधिक होता है, इसीलिए कम्युनिस्टों के त्याग, बलिदान, बौद्धिक स्तर और सहज कार्य प्रणाली से हम लोग काफी प्रभावित थे। हम लोगों के एक वरिष्ठ मित्र थे—देवेन्द्र कुमार, जो धर्म समाज कॉलेज में बी.एस-सी. के छात्र थे। ये अलग बात है कि यही बहस उन्हें जीवन के अन्तिम पड़ाव में जातिवाद की ओर ले गयी। ठूलई का स्कूल उन दिनों एक अर्द्ध-खंडहर में चलता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कूल की छुट्टी के बाद हम लोग निकले तो देवेन्द्र कुमार के साथ एक मझौले क़द के नौजवान से मुलाक़ात हुई। देवेन्द्र कुमार ने परिचय कराया—"ये कामरेड दूल्हा खाँ हैं। आप लोगों से मिलने अलीगढ़ से आये हैं।" दूल्हा खाँ हम लोगों के लिए एक किंवदन्ती की तरह थे। कुछ देर तक तो हम लोग कुछ बोल ही नहीं सके। उन्होंने हम लोगों के नाम पूछे और बातचीत का सिलसिला चल निकला। रेत भरे रास्ते पर हम लोग पैदल चल रहे थे और दूल्हा खाँ अनवरत बोले जा रहे थे। हम पहली बार कोई गंभीर भाषण सुन रहे थे जिसमें किसान, मज़दूर, सर्वहारा, सामंत, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता जैसे शब्द हमारे कानों में पड़ रहे थे। एक घंटे की इस बातचीत का हमारे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे कुछ ऊब सी होने लगी। वे समझ गये और उन्होंने साहित्य पर चर्चा शुरू की। गोर्की के महान उपन्यास 'माँ' पढ़ने की राय दी। उन दिनों प्रेमचंद गांधीवादी माने जाते थे, इसीलिए कोई कम्युनिस्ट उन्हें पढ़ने की राय नहीं देता था। यशपाल और राहुल पर विवाद था, इसीलिए उन्हें भी पढ़ने की राय कम ही लोग देते थे। गोर्की के साथ कामरेड दूल्हा खाँ ने नागर और मूढ़ की रचनाएँ पढ़ने के लिए प्रेरित किया। सोवियत संघ के कुछ हिन्दी प्रकाशन भी उन्होंने हमें पढ़ने को दिये। यह क्रम पूरे साल चला और दूल्हा खाँ और हमारे बीच उम्र की दीवारें गिर गयीं और साल भर में हम लोग साथी और मित्र बन गये।

दूल्हा खाँ अपने घर-परिवार के बारे में कुछ नहीं बताते थे, लेकिन उनके मित्रों से उनके बारे में जानकारी मिलती गयी और उनके त्याग, बलिदान और डि-क्लास हुए व्यक्ति से हम लोग बहुत प्रभावित हुए। वे मेरे आरम्भिक राजनीतिक गुरु कब बन गये, यह मालूम नहीं हुआ। 1955 में जिन दो लोगों ने मेरी पार्टी सदस्यता की सिफारिश की उनमें मुंशीजी के साथ कामरेड दूल्हा खाँ भी थे।

दूल्हा खाँ का जन्म मुरादाबाद के एक सम्पन्न ज़मींदार परिवार में 1917 में हुआ। उनका परिवार 18वीं शताब्दी के अंत में इस्लाम में दीक्षित हुआ। वे बड़बूजर राजपूत थे और नवाब छतारी के निकटतम रिश्तेदार भी। उनके पिता चौधरी बशीरुद्दीन खाँ मुरादाबाद जिले के बहुत रौब-दाब वाले ज़मींदर थे। लोग उन्हें सम्मान और डर से मियाँ साहब कहते थे। ब्रिटिश सरकार के पूर्ण भक्त मियाँ साहब अपने बेटे को पढ़ा-लिखाकर बड़ा सरकारी अफ़सर बनाना चाहते थे, लेकिन उनका बेटा पढ़-लिखकर उसी व्यवस्था की क़ब्र खोदने वाला बन गया। हाई-स्कूल के दिनों से ही वे खद्दर के कपड़े पहनने लगे थे। 1936 में अधिकांश मुस्लिम ज़मींदार मुस्लिम लीग के प्रभाव में आ गये थे। अब हिन्दी और संस्कृत से उन्हें परहेज होने लगा था। लेकिन दूल्हा खाँ ने हाई-स्कूल और इंटरमीडिएट में हिन्दी और संस्कृत विषय लिये और 1938 में बहुत अच्छे अंक प्राप्त कर इंटर की परीक्षा पास की। जुलाई 1938 में वे शिक्षा प्राप्त करने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय आ गये। उन्हें अलीगढ़ भेजने का एक कारण यह भी था कि वे अपने पिता के कारिंदों आदि से झगड़ बैठते, किसानों का साथ देते, बेगारियों को चुपके से भगा देते। जिन्ना के मुकाबले महात्मा गाँधी उनके हीरो थे। कुलीन वर्ग की सीमाओं की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। वे दलितों के साथ उठते-बैठते और उन्हें सम्मान से 'आप' कहकर पुकारते थे। अलीगढ़ में आये तो बी.ए. में उन्होंने इतिहास, अंग्रेज़ी साहित्य और इस्लामिक स्टडीज़ विषय लिये। उन दिनों विश्वविद्यालय में हिन्दी की पढ़ाई नहीं होती थी। (हिन्दी की पढ़ाई स्वतंत्रता के पश्चात् ही शुरू हुई)। संस्कृत विषय में केवल एक अध्यापक, पंडित रामसहाय शास्त्री थे। उनके पास दो साल से बी.ए. में कोई विद्यार्थी नहीं था। विश्वविद्यालय ने निर्णय लिया कि अगर तीसरे वर्ष संस्कृत में कोई विद्यार्थी नहीं आया तो यह विषय समाप्त कर दिया जाएगा। सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक अख़्तर हुसैन रायपुरी दूल्हा खाँ के सहपाठी थे। इन लोगों ने तय किया कि विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय समाप्त नहीं होने देंगे। राजनीतिक दृष्टि से भी यह ग़लत होगा और पंडित जी की नौकरी चली जाएगी। दूल्हा खाँ और रायपुरी ने इस्लामिक स्टडीज़ की जगह संस्कृत का चुनाव किया। एक और विद्यार्थी को लाये किया और पंडित जी के एक के स्थान पर तीन विद्यार्थी हो गये। मुस्लिम लीग तथा उसके विद्यार्थी संगठन मुस्लिम स्टूडेंट्स फेडरेशन का विश्वविद्यालय पर गहरा प्रभाव था और ये लोग अलीगढ़ से बाहर जाकर भी अलगाववादी राजनीति कर रहे थे। राही मासूम रज़ा ने अपने उपन्यास 'आधा गाँव' में इस राजनीति का वर्णन किया है और इसका डटकर विरोध भी किया। दूल्हा खाँ को उनके मुस्लिम लीगी सहपाठी व्यंग्य में 'काफ़िर' दूल्हा खाँ के नाम से पुकारते थे। 1939 में दूल्हा खाँ फेडरेशन के महत्त्वपूर्ण नेता बन गये। उन्होंने मुस्लिम लीग की अलगाववादी, जन-विरोधी नीतियों का विश्वविद्यालय के बाहर और अंदर डटकर विरोध किया। इस बीच वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी बन गये। वे अलीगढ़ के पहले कम्युनिस्ट थे। बहुत से लोग आये और चले गये लेकिन कामरेड दूल्हा खाँ ने लाल झंडे को कभी अपने कन्धे से नहीं उतारा।

1939 में कम्युनिस्ट पार्टी पर रोक लग गयी। स्मरण रहे कि उस समय देश में कम्युनिस्ट पार्टी के केवल 1000 सदस्य थे। उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी का प्रधान कार्यालय बंबई में था। सारे नेता या तो जेल चले गये अथवा अंडरग्राउंड हो गये। केन्द्रीय कार्यालय का कौन संचालन करे, इस पर जब प्रदेश पार्टी से पूछा गया तो सबकी निगाह कामरेड दूल्हा खाँ पर टिक गयीं। उन्हें आदेश दिया गया कि वे बंबई जाएँ। साहस और उत्साह के साथ उन्होंने कार्यालय का संचालन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरपूर प्रयास किया, लेकिन सरकार का दमन इतना तीव्र कि कामरेड दूल्हा खाँ पार्टी कार्यालय से ही निर्वासित कर दिये गये। दो दिन भूखे-प्यासे बंबई में घूमते रहे। हारकर वे कांग्रेस के नेता एस. के. पाटिल के पास पहुँचे। उस समय कांग्रेस से कम्युनिस्टों के संबंध कटु थे। कम्युनिस्टों की दृष्टि में कांग्रेस भारतीय पूँजीपति वर्ग और सामंतों के हितों की रक्षा करने वाली पार्टी थी। कामरेड दूल्हा खाँ ने अपना परिचय एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता के रूप में दिया। पाटिल साहब ने कहा, "मेरे पास क्यों आये हो।" दूल्हा खाँ ने जवाब दिया, "आप एक देशभक्त तो हैं?" पाटिल नरम हुए—"बोलो, क्या चाहते हो?" दूल्हा खाँ ने कहा—"मैं दो दिन से भूखा हूँ, अलीगढ़ जाना चाहता हूँ, रेल का किराया चाहिए।" पाटिल ने दूल्हा खाँ को सौ रुपये दिये और वे अलीगढ़ आ गये। यात्रा से शेष बचे रुपये उन्होंने पार्टी फंड में जमा कर दिये।

1941 में उन्होंने सम्मान के साथ बी.ए. पास किया। उस समय किसी ज़मींदार का पुत्र बी.ए. पास कर लेता था तो कमिश्नर की सिफ़ारिश पर गवर्नर उसकी नियुक्ति डिप्टी कलेक्टर के रूप में कर देते थे। बी.ए. की डिग्री के साथ राजभक्ति का प्रमाण-पत्र भी आवश्यक था।

दूल्हा खाँ के पिता ने नवाब छतारी से यह गुजारिश की कि, "नवाब साहब आपके भतीजे ने बी.ए. पास कर लिया है, अब आप इसके ऊपर मेहरबानी करें।" नवाब साहब ने बरेली के अंग्रेज़ कमिश्नर को सिफ़ारिशी पत्र लिखा। दूल्हा खाँ के लिए सूट सिलवाया गया, परिवार वालों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा कि कुछ दिनों में दूल्हा खाँ डिप्टी कलेक्टर बन जाएँगे। उन्हें कमिश्नर साहब ने इंटरव्यू के लिए बुलाया। कमिश्नर से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने औपचारिक रूप से पूछा—"कहिए कैसे आये?" दूल्हा खाँ का उत्तर ऐतिहासिक था। उन्होंने बिना झिझके उत्तर दिया—"मैं यह कहने आया हूँ कि आप जितना जल्दी हो सके, हिन्दुस्तान से चले जाइए। अब इस देश में रहने का आपका कोई औचित्य नहीं है।" कमिश्नर पहले तो हक्का-बक्का रह गया। उसे उम्मीद नहीं थी कि कोई ज़मींदार पुत्र, वो भी नवाब छतारी का रिश्तेदार, उनके मुँह पर ऐसी बात कहने की हिम्मत करेगा। कमिश्नर लाल-पीले होकर कुछ कहता, इससे पहले दूल्हा खाँ उठकर बाहर आ गये। उनके पिता ने पूछा, "इंटरव्यू कैसा रहा?" दूल्हा खाँ ने उत्तर दिया, "बहुत अच्छा। कमिश्नर साहब से मेरी अच्छी बातचीत रही।" मियाँ डिप्टी कलेक्टरी के नियुक्ति पत्र का इन्तज़ार करते रहे और दूल्हा खाँ चुपके से बंबई निकल गये।

कमिश्नर ने दूल्हा खाँ के इंटरव्यू का सारा हाल नवाब जुलेठा को लिखकर भेजा। नवाब साहब ने मियाँ बशीरुद्दीन को बेटे की सारी करतूतें बतायीं। अब मियाँ साहब का पारा सातवें आसमान पर था। उन्होंने अपने बड़े बेटे से दूल्हा खाँ को पकड़कर जुलेठा (उनका गाँव) लाने को कहा। चौधरी मतीन खाँ, दूल्हा खाँ को ढूँढ़ने अलीगढ़ आये। यहाँ उन्हें लोगों ने बताया कि वो तो कम्युनिस्ट हो गया है और अलीगढ़ से फरार है। मियाँ ने पूछा, "ये कम्युनिस्ट क्या होते हैं?" किसी चालाक दरबारी ने उत्तर दिया, "जो खुदा और रसूल को न माने और हुकूमत के विरुद्ध विद्रोह करे।" मियाँ समझ गये कि लड़का लोक-परलोक दोनों से ही गया। उन्हें अल्ला मियाँ से ज़्यादा अंग्रेज़ सरकार का ख़ौफ़ था, कि इसकी वजह से कहीं ज़मींदारी ज़ब्त न हो जाए। मियाँ ने सार्वजनिक घोषणा की कि मैं दूल्हा खाँ को अपनी सारी संपत्ति से आक़ (उत्तराधिकार से वंचित) करता हूँ। उनकी माँ ने बहुत खुशामद की तो इस पर तैयार हुए कि दूल्हा खाँ सबके सामने राजभक्ति की शपथ ले और खुदा रसूल में यकीन का वादा करे तो मैं अपना हुक्म वापस ले सकता हूँ।

जब यह बात दूल्हा खाँ से कही गयी तो उन्होंने सहज रूप से उत्तर दिया कि "अब्बा मियाँ अपने उसूल के पाबंद हैं, मैं उनकी इज़्ज़त करता हूँ, लेकिन मैं भी अपने उसूलों का पाबंद हूँ। हम दोनों ही इस ज़िंदगी में अपने उसूल नहीं तोड़ेंगे।" दूल्हा खाँ अभाव और ग़रीबी में जीवनयापन करते रहे, लेकिन उन्होंने कभी अपने उसूल पर पश्चाताप नहीं किया।

1944 में वे फिर अलीगढ़ आ गये। उन्हें अलीगढ़ से हाथरस जाकर किसानों को संगठित करने का दायित्व सौंपा गया। उन्होंने गाँव-गाँव जाकर किसानों को संगठित किया और हाथरस में किसान-सभा का पहला प्रांतीय सम्मेलन सफलतापूर्वक संपन्न किया। दूल्हा खाँ का लगाया हुआ किसान सभा का यह पौधा बहुत दिनों तक छतनार रहा और किसानों को मुक्ति संदेश देता रहा। आज भी उसके ठूँठ देखे जा सकते हैं।

भारत में सबसे अधिक दुर्दशा मेहतर समाज की रही है। इन्हें समाज ने कभी मनुष्य का दर्ज़ा नहीं दिया। पशुओं से अधिक बुरा बर्ताव यह समाज इन सफ़ाई कर्मियों के साथ सदियों से करता रहा है। दूल्हा खाँ उनकी दुर्दशा देखकर द्रवित हो गये। उन्होंने उन्हें मानवीय अधिकार दिलाने के लिए 1946 के आरंभ में प्रयास किये। अपने दो साथियों—किशन सिंह और 'मोरी की ईंट' के यशस्वी लेखक मदन दीक्षित के साथ उत्तर भारत का पहला मेहतर संघ अलीगढ़ में बनाया। एक साल में यह एक मजबूत संगठन बन गया। उस समय सफ़ाई कर्मचारियों की जो दुर्दशा थी, उसकी आज कल्पना नहीं की जा सकती। महिलाओं को प्रसवकाल का अवकाश भी नहीं मिलता था। वेतन बहुत कम था, उसमें से भी दलाल खा जाते थे। अपनी उचित माँगों के लिए दूल्हा खाँ के नेतृत्व में मेहतर संघ ने 1947 में ऐतिहासिक हड़ताल की। प्रशासन ने हड़ताल तोड़ने के लिए सारे कुचक्र किये, लेकिन हफ़्ते भर में प्रशासन के सारे प्रयास विफल हो गये। लाल झंडे के नेतृत्व में उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शानदार विजय हुई। उत्तर-भारत में दलितों और सफ़ाई कर्मचारियों को कम्युनिस्टों द्वारा मानवीय और समानता के अधिकार दिलाने की भूमिका और संघर्ष से आज कोई इंकार नहीं कर सकता। हड़ताल के दौरान एक रोचक प्रसंग घटा। पुलिस का एक दरोगा, जिसकी मूँछे बहुत बड़ी थीं, दूल्हा खाँ को गिरफ़्तार करने मेहतर बस्ती, समनापाड़ा में घुस गया। उसने दूल्हा खाँ और उनके सहयोगियों को भद्दी गालियाँ देना शुरू किया। स्त्रियों से यह बरदाश्त नहीं हुआ। उन्होंने झुंड बनाकर दरोगा को घेर लिया, उसकी मूँछे पकड़ लीं और पिस्तौल छीन ली। दरोगा ने हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी। दूल्हा खाँ ने अपने हरिजन साथियों को समझा-बुझाकर उसकी पिस्तौल वापस कराई। दूल्हा खाँ का हरिजन बस्ती में एक देवदूत की तरह सम्मान था। बहुत दिनों तक वह पीढ़ी दूल्हा खाँ का नाम लेकर भाव-विभोर हो जाती थी।

1954 के बाद कामरेड दूल्हा खाँ मुरादाबाद की बिलारी और चंदौसी तहसील में किसानों को संगठित करते रहे। कई बार जेल गये। ज़मींदारों और कांग्रेस सरकार के डंडे खाये लेकिन वे संघर्ष से विमुख नहीं हुए। वे बराबर अलीगढ़ आते रहते थे और हम लोगों से अपने अनुभव बाँटते थे। वे सही अर्थों में सर्वहारा बन गये थे। पिता की संपत्ति पर उनकी मृत्यु के बाद भाइयों ने कब्जा कर लिया था। उनकी संतानें भी बाप के विचारों के कारण संपत्ति से वंचित थीं। मृत्यु से पहले पिता यह वसीयत कर गये थे कि दूल्हा खाँ के पुत्र खुदा-रसूल पर यक़ीन करें तो उन्हें दूल्हा का (संपत्ति का) हिस्सा दे दिया जाए। लेकिन उनके भाई इस वसीयत को मानने को तैयार नहीं थे। इस कारण उनके बेटे पढ़-लिख भी न सके। एक बेटा बस कंडक्टर बन गया जिससे किसी तरह परिवार की व्यवस्था हो जाती थी।

1962 के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के एक हिस्से ने संघर्ष की राजनीति छोड़कर समझौते का रास्ता अपनाया। नेहरू उन्हें प्रगतिशील दिखाई देने लगे। दूल्हा खाँ जैसे संघर्षशील लोगों की स्थिति विचित्र हो गयी। 1966 तक पहुँचते-पहुँचते संसदवाद और चुनाव की राजनीति हावी हो गयी। संघर्ष की राजनीति हाशिये पर चली गयी। अवसरवादी लोग टिकट प्राप्त करने के लिए पार्टी की शरण में आने लगे। दूल्हा खाँ जैसे लोग इस नयी कार्यशैली के अनुरूप ढलने में नितांत असमर्थ रहे। उनकी तथा उनके संघर्षशील साथियों की उपेक्षा होने लगी। ऐसे लोगों को पार्टी का टिकट दिया जाने लगा जो कभी किसी जन-संगठन के सदस्य भी नहीं थे। दूल्हा खाँ ने इसका डटकर विरोध किया लेकिन उनके विरोध का कोई असर नहीं हुआ। 1974 तक पहुँचते-पहुँचते मौलाना इशहाक संभली, मुरादाबाद पार्टी पर छा गये। उन्हें संसद और विधानसभा में पहुँचने के लिए किसी आदर्श सिद्धांत की आवश्यकता नहीं थी। वे जाति और धर्म का सहारा लेकर संसद अथवा विधानसभा में पहुँचने में कोई हानि नहीं समझते थे। दूल्हा खाँ इस अपमान और नये ढर्रे को सहन करने में असमर्थ रहे। उनका मानसिक संतुलन भी बिगड़ गया। अलीगढ़ आते थे तो उनसे भेंट होती थी। वे इस पतन से आहत थे और अपनी व्यथा लोगों से व्यक्त करते थे–

"कामरेड, किसान-मज़दूरों की पार्टी बुर्जुआ मार्ग अपना लेगी तो क्या होगा। अवसरवादिता से कम्युनिस्ट नहीं संघर्ष करेंगे तो कौन करेगा।"

तथाकथित जननेता और संसदवादी उनका उपहास करते थे। धर्मवीर गोरिल्ला ने, जो मुरादबाद से बी.डी.ओ. थे, दूल्हा खाँ की दुर्दशा बताई तो उनके पुराने साथियों के रोंगटे खड़े हो गये। जीवन के अन्तिम समय में उन्हें स्वतंत्रता सेनानी पेंशन मिलने लगी थी। इससे उन्हें कुछ राहत मिली, लेकिन पार्टी पर काबिज़ लोगों को यह भी सहन नहीं हुआ। वे पार्टी का काम बताकर यह रकम भी दूल्हा खाँ से हड़प लेते थे। वे अनुशासित कम्युनिस्ट की भाँति इस एकमात्र साधन को भी दे देते थे। परिवार के लोग इससे इतने असन्तुष्ट हुए कि उन्होंने कामरेड दूल्हा खाँ को रस्सी से बाँधकर कमरे में बन्द कर दिया। गोरिल्ला जी ने बड़ी मुश्किल से उन्हें बन्धनमुक्त किया और कुछ दिनों के लिए अपने साथ ले आये। इस अवस्था में भी उनका मार्क्सवाद सर्वहारा और किसान-मज़दूरों की मुक्ति का सपना नहीं टूटा था। उनके अन्तिम दिन बहुत अभाव, ग़रीबी और विषाद में बीते। उनके वे साथी जो अंग्रेज़ सरकार की मदद से उस समय डिप्टी कलेक्टर बने थे, कमिश्नर के पद से रिटायर हुए। उन्होंने अपने-अपने परिवार के लिए अपार सुख-साधन जुटाये और प्रतिष्ठा अर्जित की। वे दूल्हा खाँ की मूर्खता पर हँसते थे और उन्हें शताब्दी का सबसे बड़ा मूर्ख बताते थे।

दूल्हा खाँ उस युग के प्रतिनिधि थे जब हमारे नौजवानों के सामने जीवन के बड़े उद्देश्य थे। उन्होंने देश को एक नयी दिशा देने के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। अंग्रेज़ी साम्राज्य की सारी पाशविक शक्ति उनके मनोबल को तोड़ने में असमर्थ रही। सत्ता तथा सम्पत्ति का लोभ जिन्हें अपने मार्ग से विचलित न कर सका। वे मिट गये लेकिन अपनी लीक से न हटे, न किसान-मज़दूरों की मुक्ति का सपना ही खंडित होने दिया। 9 सितम्बर, 1983 को क्रान्ति की यह चिनगारी बुझ गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. अब्दुल अलीम

अब्दुल अलीम की वामपंथी बुद्धिजीवियों के बीच बहुत प्रतिष्ठा थी। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणा-पत्र (मेनिफेस्टो) उन्हीं के द्वारा लिखा गया था। मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों में उनकी छवि एक उदारचेता व्यक्ति के रूप में थी। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में जब उन्होंने कार्य-भार ग्रहण किया तो छात्र संघ के नेताओं ने उनसे साथ चलकर ईद की नमाज़ पढ़ने के लिए आग्रह किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि 'ये मेरे और अल्लाह के बीच का मामला है।' उनका दृढ़ विश्वास था कि कोई भी धर्म-ग्रंथ ईश्वरीय रचना नहीं है। यह ऋचाओं द्वारा स्थापित अवधारणा है। धर्म-ग्रंथों को काल्पनिक दैव-शक्तियों की देन के रूप में स्थापित कर दिया गया और परान्तर में उन्हें ईश्वरीय संदेश कहा गया।

डॉ. अलीम ने जर्मनी के विद्वान अशवरागर के साथ शोध कार्य किया था जो इस्लाम धर्म के मर्मज्ञ थे। डॉ. अब्दुल अलीम के शोध-कार्य से वे अत्यंत प्रभावित हुए और उसकी बड़ी प्रशंसा की। पी-एच.डी. प्राप्त करने के बाद वे हिन्दुस्तान लौट आए और जामिया मिल्लिया इस्लामिया में प्राध्यापक हो गए। जामिया मिल्लिया इस्लामिया में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की अपेक्षा लगभग एक चौथाई वेतन मिलता था। इसके बावजूद सारे अच्छे लोग ज़ाकिर साहब के नेतृत्व में जामिया चले गए थे। वहीं छोटी-सी जगह में सभी लोग मिल-बैठकर कार्य करते थे। जामिया को पहले अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के समानांतर अलीगढ़ में ही स्थापित किया गया। बाद में, इस संस्था को दिल्ली ले जाया गया। जामिया मिल्लिया इस्लामिया के पहले कुलपति ख्वाजा अब्दुल मजीद थे जिनके पुत्र प्रो. जमाल ख्वाजा हैं। जामिया का उद्देश्य मुसलमानों को प्रशिक्षित करना था जो गांधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे थे।

अलीम साहब जब छात्र के रूप में अलीगढ़ आए तो उन दिनों डॉ. ज़ियाउद्दीन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे मेधावी मुस्लिम छात्रों को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में दाख़िला देना चाहते थे। अलीम साहब के एक मित्र उन्हें डॉ. ज़ियाउद्दीन से मिलवाने ले गए। सर ज़ियाउद्दीन ने अलीम साहब से पूछा—'तुम्हें कितना वजीफा मिलता है?' उन्होंने जवाब दिया—'सोलह रुपया महीना।' डॉ. जियाउद्दीन ने कहा—'सोलह रुपये महीना हम और देंगे, यहीं आ जाओ।' अलीम साहब ने कोई उत्तर नहीं दिया और कहा—'कल बताऊँगा'। उन्होंने रात-भर सोचा और दूसरे दिन जामिया चले गए। जल्दी फैसला इसलिए किया कि कहीं कोई दबाव न पड़ने लगे या मन में पैसे का लालच पैदा न हो जाए।

अलीम साहब जामिया से लखनऊ विश्वविद्यालय चले गये। वहाँ वामपंथी रुझान के लोगों को संगठित करने में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण था। लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के समय डॉ. रशीदजहाँ और सज्जाद जहीर के साथ उन्होंने काम किया, पर्दे के पीछे रहकर, नींव के पत्थर की तरह। घोषणापत्र का मसौदा क्या हो, संघ की गतिविधियाँ किस तरह चलायी जाएँ आदि बातों पर डॉ. अलीम का बुनियादी योगदान था।

एक बार मैंने उनसे पूछा कि डॉ. साहब, आपने प्रलेस का घोषणा पत्र तैयार किया लेकिन कभी उसका जिक्र नहीं किया। हमें तो बन्ने भाई ने बतलाया। डॉ. साहब ने मुस्कराकर जवाब दिया—"मैंने कोई जाती फ़ायदे के लिए यह सब नहीं किया, अपना फ़र्ज समझकर किया है।' डॉ. अलीम पुरुष-परीक्षा में निष्णात थे। प्रलेस में उन्होंने और डॉ. रामविलास शर्मा ने साथ काम किया था। डॉ. शर्मा अंग्रेज़ी के विद्वान थे। अलीम साहब जब अलीगढ़ के कुलपति होकर आए तो हम लोगों ने उनसे डॉ. शर्मा को निमंत्रित कर अलीगढ़ बुलाने के लिए कहा। प्रलेस के दौरान् साथ काम करने का उन्हें अनुभव था। बोले—'के.पी. तुम जानते नहीं उन्हें। ही इज ए डिफीकल्ट मैन। उनके काम करने का तरीका बड़ा अलग है। वे पहले चौखटा बनाते हैं और फिर तस्वीर लगाते हैं। अपने विरोधियों को बर्दाश्त नहीं करते, भले ही वे मार्क्सिस्ट हों। आजकल राहुल और यशपाल उनके निशाने पर हैं।' मैं उन दिनों रामविलास जी का बड़ा भक्त था। मैंने हिम्मत नहीं हारी। मैं फिर पहुँच गया। इतवार का दिन था। डॉ. साहब ने पूछा—कैसे आए? मैंने कहा—डॉ. रामविलास जी के बारे में फिर से विचार कर लीजिए। डॉ. साहब बहुत देर तक चुप रहे। फिर बोले-मैं तुम लोगों के हित की बात कर रहा हूँ। रामविलास सबसे पहले तुम लोगों पर चोट करेंगे। तुम लोग आपस में बात कर लो और लोगों को मेरी राय भी बता दो। फिर जैसा तुम लोग चाहोगे, मैं करूँगा। डॉ. साहब के बाद यह बात मैंने प्रो. नूरुल हसन से की। प्रोफ़ेसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहब ने कहा—'राम विलास जी से पूछ तो लो। उन्होंने मना कर दिया तो?' मैंने कहा—'जी यह बात सही है।' मैंने रामविलास जी से संपर्क किया। उनसे प्रोफ़ेसर के रूप में अलीगढ़ आने के लिए कहा। वे तत्काल बोले—'अलीम साहब ने कहा है?' मैंने बताया कि 'उन्हें तो राजी कर लिया है। मुझे प्रोफ़ेसर नुरुल हसन साहब ने आपकी राय जानने के लिए कहा है।' वे तुरंत मामले को समझ गए। बोले—'अलीम साहब को मेरा सलाम कहना। वे मेरे बहुत अच्छे मित्रों में से हैं। लेकिन, यहाँ मैं क्षमा चाहता हूँ।' मैंने लौटकर प्रो. नुरुल हसन को पूरी बात बताई। वे बोले—'मैं जानता था, वे अलीगढ़ नहीं आएँगे। अलीम साहब और उनके बीच उर्दू-हिन्दी के सवाल पर गहरे मतभेद हैं।'

प्रो. अलीम ग़रीब और बेसहारा, जहीन बच्चों के बड़े मददगार थे। वे उन्हें किसी भी कीमत पर मदद करते थे। वे स्वयं एक बड़े जमींदार परिवार से थे। सेवा-निवृत्त होने के बाद उन्होंने अगले सत्र के शुरू में मुझे एक दिन फोन किया और बोले—'मैं तीन बच्चों को भेज रहा हूँ, इनका दाखिला होना है। गांव से पढ़ने आए हैं, गरीब हैं। मेहनती हैं और पढ़ना चाहते हैं।' मैंने कहा—'प्रो. नूरुल हसन साहब डीन हैं, आप उनसे कह दें।' वे बोले, उनसे नहीं कहूँगा, तुम्हें ये दाखिले कराने हैं। मैंनें प्रो. नूरुल हसन को सारी बात बताई। प्रो. साहब ने कहा—'हाँ, कुछ खिचे से हैं, अलीम साहब। खैर, मना लूँगा।' बच्चों का दाखिला करने के बाद उन्होंने अलीम साहब को फोन किया। शाम को मिलने का समय तय हुआ। दोनों लोग शाम को बैठे, देर तक बातें कीं। अलीगढ़ के लोगों को इस बात का अंदाजा नहीं था कि डॉ. अलीम कभी कुलपति भी होंगे। लिहाजा कई करीबी लोगों ने भी उनसे किनारा कर लिया। कार्यकारिणी की बैठक में कुलपति के पैनल में एक नाम जोड़ा जाना था। उनके किसी प्रिय पात्र ने उनका नाम सुझाया जो स्वीकार कर लिया गया। पहले पैनल वापस किये जाने का चलन नहीं था। पाँच लोगों के पैनल में से एक सज्जन दिवंगत हो गए। तीन लोगों ने अलीगढ़ आने से मना कर दिया। डॉ. अलीम की नियुक्ति कुलपति पद पर हो गई। अलीगढ़ के लोगों को एक कम्युनिस्ट कुलपति असह्य था। विरोध भी हुआ। किन्तु डॉ. अलीम के शांत-सौम्य व्यक्तित्व और शालीन व्यवहार ने सभी विरोधी स्वरों को शांत कर दिया।

हम लोगों ने एक दिन श्रीमती अलीम से पूछा-आप हम लोगों से और डॉ. साहब से नाराज़ क्यों रहती हैं ? वे बोलीं—'तुम कम्युनिस्ट लोगों ने मेरे मियाँ को बिगाड़ दिया है। तुम लोगों की वजह से सारी ज़मींदारी चली गयी। 1942 में, कम्युनिस्ट होने की वजह से इन्हें जेल जाना पड़ा। दो साल वहाँ रहे।' लेकिन उनकी बेटी जमीला का मानना था कि—'पापा, जेल में रहे तो कम्युनिस्टों ने हमारी दो साल देखभाल और पूरी मदद भी तो की।' वे बोलीं—'सो तो है, कम्युनिस्ट लोग आदमी तो अच्छे और भले होते हैं।' अलीम साहब ने अपनी ज़मीन अपने उन किसानों को ही दे दी जो उसे जोत रहे थे। हवेली में जो लोग रहते थे, उन्हें एक बड़ी रिहायशी हिस्सा दे दिया। जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद अलीम साहब फिर कभी वहाँ नहीं गये।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा गाँव में हुई, ग़ाज़ीपुर में हाईस्कूल सरकारी इण्टर कॉलेज था, लेकिन उन्होंने वहाँ पढ़ने से इंकार कर दिया। लिहाजा, वे अपने बड़े भाई के पास गोरखपुर चले गये। प्रथम श्रेणी में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रवीणता सूची में प्रथम दस छात्रों में स्थान प्राप्त किया। उस युग में उन्हें रुपये की छात्रवृत्ति मिलती थी जबकि एक अध्यापक का पच्चीस रुपये के लगभग होता था। अलीम साहब को धन लिप्सा कभी नहीं रही। सन् 58-65 के बीच वे वामपंथी छात्रों बीस रुपये महीना दिया करते थे। एक लेक्चरर को उस समय रुपये और प्रोफ़ेसर को 500 रुपये मिला करते थे। यूनियन के चुनाव से पहले प्रत्याशी लाइब्रेरियन पद के लिए मल्होत्रा। उस जमाने में यूनियन में, प्रेसीडेंट और लाइब्रेरियन 'चेअर्स' हुआ करती थीं। मल्होत्रा कश्मीरी था, वह चुनाव गया। लोगों में खलबली मच गयी। मल्होत्रा के पर्चे हमने छपवाये थे। पर्चे छपवाने का खर्चा पचास रुपये आया। हम के पास चालीस रुपये ही जमा हुए। इस रुपये की कमी कैसे हो ? हम लोगों ने विचार-विमर्श किया और तय पाया कि साहब से शेष राशि के लिए कहा जाये। पैसों की व्यवस्था करनी थी। लिहाजा रात में ही उनसे संपर्क किया। अलीम अपनी स्टडी में पढ़ रहे थे। देर रात में छात्रों को आया देखकर, वजह पूछे, वे उठे और अंदर से 20 रुपये लेकर आए बोले-'' हम लोगों ने कहना चाहा कि, 'सर, हमें... 'वे' बोले—'नहीं वक्त इन्हीं से काम चलाइए।' हमने कहा-सर चुनिए तो, हमें दस रुपये की ज़रूरत है। वे बोले, कोई बात नहीं बाकी थी शेष दस रुपये हम लोगों ने चाय, समोसे पर खर्च किये।

अलीम साहब की कुछ दिलचस्प आदतें थीं। गोष्ठियों हमेशा आते। प्रो. नूरुल हसन, प्रो. रईस अहमद भी मीटिंगों शामिल रहते थे। मीटिंगों को समय पर शुरू कर देने का अपना तरीका था। देर होते देखकर वे कहते—'मीटिंग शुरू सदारत मैं करूँगा', और मीटिंग शुरू हो जाती। अलीगढ़ स्टडी में वे नियमित रूप से आते थे, सेंटर को नियमित रूप से देते थे। सेंटर के छात्रों के साथ उनका सीधा संवाद होता विचार-विमर्श होता था। किसी भी विषय का अधिकारी विद्वान सेंटर में व्याख्यान देता था। देश से वामपंथी विद्वानों को आमंत्रित किया जाता था। सेंटर में ईएमएस नम्बूद्रिपाद और ए.के. गोपालन जैसे चिंतकों ने भी व्याख्यान दिये। बीस वर्ष तक सेंटर शनिवार मार्केट के 'अल-हमराह' भवन में चलता रहा। हर शुक्रवार की शाम को 4:00 बजे से 6:00 बजे तक वहाँ मीटिंग होती थी। छात्र विद्वानों से निःसंकोच बात-चीत करते, सवाल करते थे, जवाब सुनते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि अलीगढ़ में वामपंथी विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के छात्रों का एक बड़ा समुदाय तैयार हुआ जिसने साम्प्रदायिक ताक़तों से मुक़ाबला किया। विश्वविद्यालय में युवा कांग्रेसियों के नेता डॉ. हाशिम क़िदवई थे। वे घोर कम्युनिस्ट विरोधी थे। बाद में मालूम हुआ कि वो प्रसिद्ध मौलवी अब्दुल माज़िद दरियाबादी के जासूस थे जिन्होंने डॉ. रशीद जहाँ के नाक-कान काटने का फ़तवा दिया था। कांग्रेस में कुछ रौशन दिमाग़ लोग भी थे जिसमें प्रो. रशीद अदहमी जैसे कांग्रेसी भी थे जिनके माता-पिता दोनों ही जेल गये और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अपनी सारी ज़मीन-जायदाद और ज़मींदारी गवाँ दी। अब्दुल अलीम साहब के ज़माने में वे उनके विश्वासपात्र थे और उनके समय में प्रॉक्टर भी रहे। अलीम साहब के उपरांत वामपंथी रुझान रखने वाले छात्रों की संख्या कम हो गयी। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ दिन पर दिन मज़बूत होने लगीं। अप्रैल 65 की घटना उन्हीं शक्तियों के फलने-फूलने का परिणाम थी जिसमें कुलपति नवाब अली यावर जंग को छात्रों की हिंसा का शिकार होना पड़ा। उनके विरुद्ध यह दुष्प्रचार किया गया कि वह मुस्लिम विरोधी हैं, क्योंकि उन्होंने हैदराबाद के निज़ाम का साथ नहीं दिया था। अली यावर जंग के बाद कोई शिया कुलपति विश्वविद्यालय में नियुक्त नहीं हो सका। इस सबके पीछे कांग्रेस की प्रतिक्रियावादी लॉबी की सक्रियता रही, जिसकी अगुआई क़ाज़ी मुईनुद्दीन अली अहमद करते रहे। उन्होंने अमुवि के ऐक्ट को बदलने और उसके 'माइनॉरिटी कैरेक्टर' को अपने तरीक़े से परिभाषित करने के लिए एक कमेटी बनायी जिसका मुखिया मुस्लिम कॉलेज के प्राचार्य एम.एम. बेग को बनाया गया। बेग कमेटी ने युनिवर्सिटी कोर्ट को पूरे अधिकार देने की सिफ़ारिश की, जिसमें अधिसंख्य कांग्रेसी थे और जिन्होंने बेग कमेटी की सिफ़ारिशों को लागू कराने के लिए दबाव बनाया। प्रो. अलीम इन घटनाओं से बहुत चिंतित थे । उन्होंने एक बार मुझसे कहा भी कि देखो, युनिवर्सिटी के बहुत बुरे दिन आने वाले हैं। लोग इसे राष्ट्रीय संस्था नहीं बने रहने देना चाहते।' उनकी चिंता सही सिद्ध हुई। बेग कमेटी की शिफ़ारिशें मानने के लिए पूरे देश में दबाव की राजनीति की गयी। विश्वविद्यालय राजनीति और आंदोलन का रणक्षेत्र बन गया। अलीम साहब पर दबाव डाला गया कि बेग कमेटी की सिफ़ारिशों को लागू करने में मदद करें। उनका जवाब था कि मैं वी.सी. का काम नहीं है।' इसका परिणाम यह हुआ कि एक दिन उन्हें गाड़ी से उतरकर ऑफ़िस तक, छात्रों के झुंड के साथ जबरदस्ती पैदल जाना पड़ा। छात्रों ने उनके साथ असभ्यपूर्ण व्यवहार किया और अपशब्द कहे। उकने साथ दस-पंद्रह अध्यापक भी पैदल चलकर ऑफ़िस तक गये और उन्हें भी छात्रों के असभ्य व्यवहार का सामना करना पड़ा। उस समय गोर्की की माँ के शब्द याद आये-'अरे, नासमझ लोगो, तुम्हें नहीं मालूम, तुम क्या कर रहे हो।'

छात्रों का आंदोलन जब हिंसक होने लगा तो भारत सरकार ने मजबूर होकर निर्णय लिया कि विश्वविद्यालय तत्काल प्रभाव से बंद कर दिया जाय। छात्रों को बसों, ट्रेनों द्वारा घर पहुँचाने की व्यवस्था सरकारी स्तर पर की गयी। अनेक छात्रों को पुलिस की मदद से ज़बरदस्ती बाहर निकाला गया। छात्र-पुलिस के बीच बदमज़गी भी हुई किन्तु छात्रों को हॉस्टल छोड़ने पड़े। अलीम साहब इस पुलिसिया प्रक्रिया से दुःखी थे। नौजवान वामपंथी अध्यापक अलीम साहब के आस-पास ही रहा करते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा भी कि 'ज़्यादती कुछ ज़्यादा ही हो गयी है।' अलीम साहब का प्रो. नूरुलहसन से पुराना और गहरा संबंध था। वे तब शिक्षा, संस्कृति और समाज कल्याण मंत्री थे। मैंने प्रो. नूरुल हसन से बात की और बताया कि 'यहाँ पुलिस का रवैया कुछ ज़्यादा ही सख़्त है और अलीम साहब इससे दुखी हैं। आप इस मामले में कुछ करें।' नूरुल हसन साहब का कहना था 'तुम तो जानते हो कि पुलिस के काम करने का अपना तरीक़ा है। फिर हमारे पास जो रिपोर्ट्स हैं वे काफ़ी ख़तरनाक हैं। लड़के वी.सी. और टीचर्स को भी पीटने का प्लान बना रहे हैं। तुम अलीम साहब से कहो वो दिल्ली आकर मुझसे और मैडम (इंदिरा गाँधी) से बात कर लें।' अलीम साहब दिल्ली गये और दो दिन वहाँ रहे, तीसरे दिन लौटे। मैंने उन्हें बताया कि डॉ. साहब श्रीमती गाँधी ने आपके बारे में बहुत अच्छा बयान दिया है। आपकी और आपके प्रशासन की बहुत प्रशंसा की है। अलीम साहब कुछ देर चुप रहे, फिर बोले- 'ये तो पर्दे के बाहर की बात है। मैडम ने जो मुझसे कहा उसका मतलब दूसरा है। वे कह रही थीं कि 'डॉ. साहब आप मुसलमानों को थोड़ा खुश रखिए, वे आपसे नाराज़ रहते हैं।' मैं चौंका, मैंने उनसे कहा, 'मैडम मैं कोई मुसलमान विरोधी नहीं हूँ, मैं तो हिन्दुस्तान के आम मुसलमान का हमदर्द हूँ।' मैडम मुस्कुराईं और बोलीं-'मुसलमानों को आप मुझसे अच्छा जानते हैं। फिर भी मेरा मतलब उनसे है जो हमें वोट दिलवाते हैं।' अलीम साहब चुप हो गये और अलीगढ़ लौट आये।

मैंने पूछा, डा. साहब ये तो बातें हो गयीं, इनका मतलब क्या है? वे बोले, 'इसका मतलब है मुसलमानों को कंसेशन दो। उनके तथाकथित नेताओं को हर तौर पर खुश रखो।' मैंने उनसे कहा, 'इसके नतीजे तो बहुत बुरे निकलेंगे।' 'ज़रूर निकलेंगे, वे बोले, 'युनिवर्सिटी एक दिन साम्प्रदायिक ताक़तों का केन्द्र बन जायेगी।' फिर उन्होंने एक गहरी चुप्पी लगा ली और उंगलियों से दाढ़ी खुजाने लगे। थोड़ी देर के बाद बोले, -जी तो यह कर रहा है कि वाइस चांसलरी से इस्तीफ़ा दे दूं और कहूं कि कांग्रेसियों में हिप्पोक्रेसी बहुत है, उन्हें किसी भी क़ीमत पर सत्ता चाहिए। लेकिन मुझपर परिवार का बहुत दबाव है। मैंने ज़िंदगी भर उनके लिए कुछ भी नहीं किया। वाइस चांसलरी मेरी मजबूरी बन गयी है। एक बात तुम लोगों से करना चाहता हूँ कि देश के किसान-मज़दूरों को मुक्ति दिलाने और उनके लिए संघर्ष करने का रास्ता सरकारी नौकरी करने से बंद हो जाता है।' इसके बाद हम लोगों के बीच काफ़ी देर ख़ामोशी छायी रही। अंत में मैंने आदाब किया और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा—'कभी फिर हाज़िर होऊँगा।'

अलीम साहब मितभाषी थे किन्तु व्यक्ति की पहचान उन्हें खूब थी। निर्णायक अवसरों पर उनकी राय स्पष्ट और दो टूक हुआ करती थी। विधि विभाग में एक प्रोफ़ेसर हुआ करते थे, हफ़ीज़ुर्रहमान। उन्होंने रेलवे के अनेक टी.टी. और कर्मचारियों को वकालत पास करवा दी थी। उन्हें प्रायः दिल्ली या इलाहाबाद जाना होता था। इस काम में रेलवे के टी.टी और कर्मचारी उनका बहुत ख़याल रखते थे। उन्हें न तो आरक्षण में, न किसी भी श्रेणी में यात्रा करने में असुविधा होती थी। उनकी यात्रा का दायित्व रेलवे के इन्हीं कर्मचारियों पर रहता था। विभाग में वे एक बहुत सिद्धांतप्रिय व्यक्ति हुआ करते थे, परन्तु उनके सिद्धान्त और व्यवहार में गहरी-चौड़ी खाईं हुआ करती थी। लंबे समय तक जब वे सेवानिवृत्त नहीं हुए तो उनकी फ़ाइल अलीम साहब ने मंगवायी। सेवा अनुभाग वाले हफ़ीज़ साहब के ख़ासे चेले थे। वे अपनी फ़ाइल उन लोगों के मार्फ़त उपलब्ध नहीं होने देते थे। किसी प्रकार अलीम साहब ने अपने संपर्कों से वह फ़ाइल हासिल की। जांच-परख के बाद अन्ततः अलीम साहब ने उन्हें सेवानिवृत्त कर दिया। यह ऐसा काम था जो उनके दो पूर्ववर्ती वाइस चांसलर अनेक प्रयासों के बाद भी नहीं कर सके थे। एक अत्यंत प्रभावशाली प्रोफ़ेसर को रिटायर करना मुश्किल काम था। अलीम साहब ने दृढ़ता दिखायी और वे उसमें सफल भी हुए।

विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में उन्होंने कभी किसी राजनेता को आमंत्रित न करके डॉ. राधाकृष्ण, जयप्रकाश नारायण, डॉ. विक्रमसाराभाई जैसे राष्ट्रीय स्तर के शिक्षाविदों और वैज्ञानिकों को आमंत्रित करके एक नई परंपरा शुरू की।

मानवीय गरिमा के प्रति अलीम साहब अत्यंत संवेदनशील थे। कवि, शायर, स्वतंत्रतासेनानी, सामाजिक कार्यकर्ता और ग़रीब लोगों के प्रति वे विशेष रूप से मृदुभाव रखते थे। ज्ञानेन्द्र अग्रवाल और जावेद कमाल निजी जीवन में बड़े अराजक थे, प्रतिभाशाली रचनाकार थे किन्तु आजीविका के लिए कहीं बंधकर रहने वाले जीव नहीं थे। अलीम साहब से मैंने इन लोगों के लिए बात की। वे बोले इनको कहाँ, कैसे जगह दी जा सकती है? मैंने उन्हें पी. आर. ओ. ऑफ़िस में एक स्थान बताया, उन्होंने ज्ञानेन्द्र अग्रवाल की नियुक्ति कर दी।

जावेद कमाल युनिवर्सिटी कैंटीन चलाया करते थे, लेकिन चलाते थे शायर की तरह। नतीजा ये हुआ कि कैंटीन बैठ गयी। जावेद कमाल कहीं और नौकरी चाहते थे। अमुवि के पी.आर.ओ. आफ़िस में वे काम कर सकते थे। लेकिन वहाँ कोई जगह नहीं थी। अलीम साहब से मैंने पी.आर.ओ. ऑफ़िस में उनके लायक़ कोई काम देने का आग्रह किया। अलीम साहब ने जावेद कमाल के लिए पद का सृजन कर दिया। 'अलीगढ़ गज़ट' संघ का सहसंपादक बना दिया। जावेद कमाल सहसंपादक तो हो गये लेकिन अलीम साहब को चिंता भी थी कि एक तो शायर, फिर ख़ाँ साहब। उन्होंने मुझसे पूछा, 'ख़ाँ साहब काम क्या करेंगे?' मैंने सुझाया कि गज़ट में कॉलम लिखेंगे-'100 साल पहले एम.ए. ओ. कालेज।' जावेद दिन-दिन भर लाइब्रेरी में बैठते और कालम के लिए सामग्री जुटाते। क्रियेटिव आदमी थे। उनका काम में खूब मन लगता था। जावेद कमाल व्यवस्थित रूप से काम करने लगे थे। उधर ज्ञानेन्द्र अग्रवाल ने अपने कवि स्वभाव का परिचय दिया और पी.आर.ओ. ऑफ़िस छोड़कर बाबू सुरेन्द्र कुमार की इंडियन इम्प्लीमेंट कंपनी में नौकरी कर ली। वहाँ काम करते हुए उन्होंने सुरेन्द्र कुमारजी की शान में एक व्यंग्य कविता लिखी और 'दैनिक प्रकाश' अख़बार में छपवा दी। नतीजा यह हुआ कि वे नौकरी से बेदख़ल कर दिये गये। ज्ञानेन्द्र हैरान, परेशान थे। मेरे पास आये। मैंने अलीम साहब से फिर बात की। वे थोड़े असहज हुए। मैंने ज्ञानेन्द्र के लेफ़्ट रुझान की बाबत उन्हें बताया। वे थोड़े नरम पड़े। ज्ञानेन्द्र ने बी.लिब. भी कर रखा था तथा पत्रकारिता का अनुभव था। लिहाज़ा हिन्दी के कवि, पत्रकार ज्ञानेन्द्र को हिन्दी विभाग के सेमीनार का दायित्व सौंपा गया।

ग़रीबों के प्रति अलीम साहब की सहज ही हमदर्दी थी। बिन वाहिद जो एक अच्छे शायर थे, मगर हाई स्कूल भी पास न कर सके थे, अलीम साहब ने उन्हें लाइब्रेरी में फ़ोर्थ ग्रेड में नौकरी पर लगा दिया। वाहिद लाइब्रेरी में पहुँचे तो उन्हें मेज़-कुर्सी झाड़ने-पोछने को कहा गया। वाहिद शायर थे इस तरह के काम करने की उन्हें आशा नहीं थी। उन्होंने कह दिया-'ये मेरा काम नहीं है।' उनके ख़िलाफ़ शिकायत अलीम साहब तक पहुँची। अलीम साहब ने वाहिद को ज़िंदगी की ऊँच-नीच बताई। उनकी ग़लती को उन्हें बताया। अपनी ग़लती का अहसास होने के बाद वाहिद काम पर आ गये। एक थे, मतलूब अली क़ुरैशी। मलेरिया विभाग में काढ़ा बनाते थे। किन्हीं कारणों से उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी और अलीगढ़ आ गये। यहाँ उन्हें युनिवर्सिटी हेल्थ सर्विस में टेक्नीकल असिस्टेंट की तरह जगह मिली। बाद में उनकी नियुक्ति मेडिकल कॉलेज के एस.पी.एम. विभाग में हो गयी जहाँ प्रो. [illegible] उनके बॉस थे। मतलूब ने किसी बात को लेकर चीफ़ मेडिकल ऑफ़ीसर से असभ्यता कर दी, नतीजा यह हुआ कि वे मुअत्तल कर दिये गये। उनके ख़िलाफ़ जाँच बैठी। जाँच कमेटी ने उन्हें दोषी पाया और वे नौकरी से निकाल दिये गये। एक साल तक बेरोज़गार रहे। इस दौरान उन्होंने युनिवर्सिटी की एम्प्लाईज़ यूनियन में काम करना शुरू कर दिया।

यूनियन में वामपंथी नेतृत्व था जिनमें प्रमुख थे डॉ. विज़ हुसैन, प्रो. इरफ़ान हबीब और के.पी. सिंह। मतलूब की विशेषता थी कि वह संगठनकर्ता अच्छे थे। यूनियन का काम मेहनत से करत थे। इसलिए हम लोगों की हमदर्दी हो गयी। यूनियन ने औपचारिक रूप से वाइस चांसलर से बात की और बताया कि मतलूब के साथ ज़्यादती हुई है। उनके मामले की [illegible] से जाँच करायें। प्रो. इज़हार हुसैन गणित विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने जाँच की थी। उनकी जाँच रिपोर्ट निकलवायी गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लब को प्रो. ज़हीर से अभद्रता का दोषी पाया गया था। 'इन डिसिप्लिनेशन' का आरोप सिद्ध हुआ था। विश्वविद्यालय के नियमों अनुसार उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया था। अलीम साहब सामने धर्मसंकट था। वे यूनियन की बात मान नहीं सकते थे कि अध्यापकों में बहुत गहरा असंतोष था लेकिन मतलूब की कुशलता से हमलोग प्रभावित थे। उनके आने से यूनियन की क्षमता और सदस्यों की संख्या बढ़ी। हमारी दृष्टि से उसका यूनियन में रहना ज़रूरी था लेकिन औपचारिक रूप से कुछ नहीं किया जा सकता था। तय हुआ कि अलीम साहब से जिन लोगों के संबंध हैं वे मतलूब के लिए व्यक्तिगत रूप से बात करें। तीन लोग, डॉ. वज़ारत हुसैन, प्रो. इरफ़ान हबीब और इक्तिदार आलम। तीनों विश्वविद्यालय के पूर्व छात्र नेता और वर्तमान में काफ़ी दिनों से अध्यापक थे। मैं सबसे कनिष्ठ था। कई दिनों तक विचार चलता रहा कि अलीम साहब के पास कौन जाये।

मैंने इन लोगों से कहा कि आप लोग जायें। आप सभी पुराने हैं। अलीम साहब आप लोगों को जानते हैं। आप लोगों की बात का असर होगा। प्रो. इरफ़ान हबीब ने कहा, 'मैं नहीं जा सकता, मेरी कुछ मजबूरी है।' इरफ़ान साहब जो तय कर लेते हैं उसपर अड़े रहते हैं। उनके निर्णय को बदलना, चाहे वह व्यक्तिगत हो या राजनैतिक, मुश्किल है। इक्तिदार आलम ने कहा, 'मैं नहीं जाऊँगा, क्योंकि अगर झड़प हो गयी तो मेरे ताल्लुक़ात ख़राब हो जायेंगे।' वज़ारत साहब तुरंत तैयार हो गये। लेकिन लोगों की राय थी कि वे इस काम को नहीं करा पायेंगे। अब बच गया मैं। मुझसे लोगों ने कहा कि, 'आप जाइए, यूनियन के लिए मतलूब का होना बहुत ज़रूरी है।' यूनियन के पुराने लीडर इंशाअल्ला फ़ारूक़ी भी मतलूब के साथ वहाँ आ गये। वहाँ अलग से इंशाअल्ला ने कहा, कुछ दिनों से हमलोग यूनियन में काम कर रहे हैं। हमारे भी बीवी-बच्चे हैं। आपलोग अगर कुछ भी नहीं करेंगे तो कैसे काम चलेगा। ये तो कुलीन लोग हैं। नहीं जायेंगे।' मेरी व्यक्तियों की राय बहुत अच्छी नहीं है। मुझे खजूर पर चढ़ा दिया और मैं चढ़ गया। मैंने मन में तय किया- ये लोग मुझपर इतना विश्वास कर रहे हैं, मुझे कुछ करना चाहिए। मैंने तय किया कि डाक्टर साहब तक हाँ नहीं करेंगे, मैं जाता रहूँगा। मैं तुरंत गया। वे जब भी दिल्ली होते मुझे बुला लेते थे। मैंने उनसे कहा-'डॉ. साहब मतलूब के लिए कुछ कीजिए।' वे बोले-'मतलूब के लिए कुछ नहीं हो सकता, बेकार बात है।' मैं चला आया। एक हफ़्ते बाद दुबारा गया। उन्होंने मुझसे पूछा-'तुम मतलूब को कितना जानते हो?' मैंने कहा-डॉ. साहब मैं तो इतना नहीं जानता, इरफ़ान साहब बहुत अच्छी तरह जानते हैं।' वे मुस्कुराए और बोले-'जाओ पूरी मालूमात करके और तब आना।

मैंने उन्हें बताया कि इरफ़ान साहब को आदमी की अच्छी परख है। उन्होंने मतलूब के लिए कहा है।' अलीम साहब फिर मुस्कुराए और बोले-'तुम इरफ़ान को मुझसे ज़्यादा जानते हो? मैं जानता हूँ, वह बहुत ज़िद्दी हैं। सही या ग़लत, जो तय कर लेंगे उसपर पुनर्विचार उनके यहाँ नहीं है।' वे थोड़े चुप रहे, फिर कहने लगे-'इम्प्लाईज़ यूनियन इरफ़ान की कमज़ोरी है। बहुत से लोग इस बात का दुरुपयोग करते हैं। जो भी यूनियन में हैं, वो उल्टा-सीधा कुछ भी करें, वह उनके साथ हैं। मतलूब और उनके सहयोगी इस बात को जानते हैं। वे यूनियन में काम कम, काम का ढोंग ज़्यादा कर रहे हैं।' डॉ. साहब यह कहकर चुप हो गये। मैं समझ गया। उन्हें सलाम करके आ गया। एक महीना बीत गया। अलीम साहब पिघल नहीं रहे थे। हमारे बहुत से साथी कहने लगे-'यार, नहीं मानेंगे, बेकार कोशिश कर रहे हो।' लेकिन मैं तो चढ़ गया था, मुझे उतरना नहीं आता था। मैंने हिम्मत नहीं हारी और लगा रहा। एक दिन छुट्टी के रोज़ मैं उनके आवास पर पहुँचा। दरबान से पूछा-'डॉ. साहब हैं?' उसने बताया, 'हाँ, हैं तो। पूछता हूँ। आज के रोज़ वो किसी से मिलते नहीं हैं।' मैंने कहा- 'मेरा नाम बता दो।' डॉ. साहब ने तुरंत मुझे बुला लिया। ड्राइंग रूम में बड़े सोफ़े पर पसरे थे। मलमल का कुर्ता और अलीगढ़ी पाजामा पहने हुए थे।

मैंने पूछा-'मतलूब के बारे में आपने क्या तय किया।' वह बोले-'बदतमीज़ तो है। मलेरिया विभाग में इसने अपने अफ़सरों से झगड़ा किया और बदसुलूकी की। वहाँ से भी निकाला गया। मैंने डॉ. ज़हीर से भी बात की थी। वे भी नाराज़ हैं, कह रहे थे कि मुझसे इस्तीफ़ा ले लें। तब उसे मेरे डिपार्टमेंट में भेजें। बताओ, क्या किया जाय। एक बात और, ये आदमी ठीक नहीं है, तुम्हारा ही दुश्मन हो जायेगा। तुम बेवकूफ़ी कर रहे हो।

हमलोगों ने उन्हें सुझाया कि मतलूब को युनिवर्सिटी हेल्थ सर्विस में भेज दें। अलीम साहब ने उसे सीनियर टेक्नीकल असिस्टेंट बनाकर वहाँ भेज दिया। पाँच साल बाद डॉ. साहब की बात सच साबित हुई। मतलूब अपने असली रंग में आ गये। उन्हीं दिनों एक दिन डॉ. साहब का स्वास्थ्य ठीक न होने को समाचार जानकर मैं कुशलक्षेम जानने गया।

मैंने पूछा-'डॉ. साहब तबियत तो ठीक है?' वे बोले-'हाँ, लेकिन बहुत ठीक नहीं।' मैंने पूछा 'क्या हुआ डॉ. साहब?' वे बोले- 'गैस की बहुत तकलीफ़ है और' यहाँ के इलाज से कोई लाभ नहीं है।' मैंने कहा-'यहाँ आपको कोई फ़ायदा नहीं हो सकता। आप दिल्ली दिखाएँ।' उन्होंने कहा-'सुना है आरिफ़ सिद्दीक़ी बहुत अच्छे डाक्टर हैं। सुबह-शाम दोनों टाइम देख रहे हैं। दवा भी दे रहे हैं। सर्जन नसीम अंसारी ने यहीं मशीन लाकर एक्स-रे लिए हैं और जाँच करने के बाद बताया है कि सर्जरी का मामला है। थोड़े दिन बाद छोटा-सा ऑपरेशन कर देंगे। सब ठीक हो जायेगा।' उसी दिन शाम को प्रो. आरिफ़ सिद्दीक़ी को मालूम हुआ कि नसीम साहब ने मेरे इलाज को ग़लत साबित कर दिया है तो दूसरे सवेरे ही मेडिकल विभाग की पूरी टीम के साथ अलीम साहब के पास पहुँच गये। वहाँ गैस्टोलॉजी के प्रो. तिवारी भी पहुँचे। साथ में मेडिकल कॉलेज के दूसरे अध्यापक भी थे। उन लोगों ने एक घंटे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जाँच के बाद बताया कि 'आपका केस सर्जरी का नहीं है।'

जब मुझे यह बात मालूम हुई तो मुझे बड़ा अचरज हुआ कि अपनी महात्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ये लोग एक पढ़े-लिखे भले आदमी को अपना शिकार बना रहे हैं। मैंने डॉ. साहब से कहा-'ये लोग इलाज आपका नहीं, वाइस चांसलर का कर रहे हैं। मेरा निवेदन है कि आप इनके चंगुल से जल्द से जल्द छूटिये। वरना ये आपको स्वस्थ नहीं रहने देंगे।' डॉ. साहब चुप रहे। कुछ देर बाद कहा-'लगता है कुछ फ़ैसला नहीं कर पा रहे हैं। देखा जायेगा।' मेडिकल कॉलेज के डाक्टरों के इलाज से उनकी स्थिति और ख़राब हो गयी। उनको टर्म ख़त्म होने से पहले ही अलीगढ़ से जाना पड़ा।

सरकार की अवसरवादी नीति ने उन्हें दिल्ली में तरक़्क़ी-ए-उर्दू बोर्ड का अध्यक्ष बना दिया। उनके प्रो-वाइस चांसलर रहे प्रो. ए. के. निज़ामी को सरकार वाइस चांसलर बनाना चाहती थी लेकिन युनिवर्सिटी के ऐक्ट के तहत, वाइस चांसलर के पद के साथ ही प्रो-वाइस चांसलर का पद समाप्त हो जाता है। मुझे जब मालूम हुआ तो मैंने पूछा-'डॉ. साहब ये क्या किया आपने? वे थोड़ी देर चुप रहे फिर बोले-'क्या करता। एक बार उसूलों से समझौता कर लिया तो फिर उसका कोई अंत नहीं। ठीक ऐसे ही जैसे कोई आदमी पहाड़ से लुढ़कने लगे तो फिर उसका कुछ ठीक नहीं, कहाँ रुके।' उनके मन में द्वन्द्व था कि पदों की होड़ में मैंने क्या खोया क्या पाया। उनकी सेहत ख़राब होने का एक सबब यह भी था।

दिल्ली जाकर अलीम साहब ज़्यादा दिन जीवित नहीं रहे। 24 फ़रवरी 1976 को उनका निधन हो गया। वे इमरजेंसी के विरोध में थे, परंतु कुछ कह नहीं सके। यही त्रासदी उन्हें सालती रही। उनके निधन के उपरांत उन्हें विश्वविद्यालय के क़ब्रिस्तान में दफ़नाया गया। अलीगढ़ के अनेक कट्टरपंथियों ने उनकी नमाज़े-जनाज़ा में शामिल होने से यह कहकर इंकार कर दिया कि वे 'एक दहेरिया' (नास्तिक) की नमाज़े-जनाज़ा नहीं पढ़ेंगे। नमाज़ तो मुसलमानों की होती है।

आज अख़बार में डॉ. कुँवरपाल सिंह के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर धक्का लगा। वह मुझसे कभी एक वर्ष कम थे। उनके साथ प्रगतिशील आलोचना का एक युग संसप्त हो गया। उन्होंने एक मजबूत पीढ़ी खड़ी की थी। मैं उनकी आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना करता हूँ। आप सब को परिवार के एक यशस्वी सदस्य को खोने के कारण हादसे को सहन करने की शांति दे।

गिरिराज किशोर, संपादक-अकार, कानपुर

वरिष्ठ मार्क्सवादी आलोचक और 'वर्तमान साहित्य' के संपादक प्रो. कुँवरपाल सिंह के निधन पर शोक व्यक्त करने के लिए एक सभा प्रेमचंद साहित्य संस्थान ने अपने नरिया स्थित कार्यालय पर आयोजित की। इसमें प्रो. चौथीराम यादव, प्रो. अवधेश प्रधान, प्रो. बलराज पांडेय, प्रो. सदानंद शाही, डॉ. आशीष त्रिपाठी, डॉ. जान्हवी सिंह, कृष्णमोहन, बृजराज सिंह और राकेश रंजन आदि ने भाग लिया। सभा में वक्ताओं ने वैचारिक प्रतिबद्धता और कर्मण्यता के पर्याय के रूप में प्रो. सिंह के योगदान को याद किया। अध्ययन-अध्यापन के प्रति अपनी गहरी निष्ठा के कारण प्रो. सिंह ने अपने मृत शरीर को मेडिकल कॉलेज को दान देकर मृत्यु के समय भी विरल उदाहरण प्रस्तुत किया। वक्ताओं ने प्रो. सिंह के जीवन को अनुकरणीय बताते हुए शोकसंतप्त परिवार के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त की।

सदानंद शाही, निदेशक, प्रेमचंद साहित्य संस्थान

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के ख्यातिप्राप्त प्रो. के.पी. सिंह के दुःखद निधन पर मैं अपनी ओर से तथा उ. प्र.मा.शि.संघ की ओर से हार्दिक शोक-संवेदना व्यक्त करता हूँ।

डॉ. के.पी. सिंह प्रगतिशील विचारधारा के साहित्यकार तथा समाजसेवी एवं संघर्षशील नेता थे। आप अन्याय, शोषण, उत्पीड़न के विरुद्ध ज़ीवनपर्यंत आंदोलन एवं संघर्ष की सदैव अगुआई करते रहे हैं।

डॉ. के.पी. सिंह के निधन से शिक्षक-समाज की एवं बुद्धिजीवियों एवं साहित्य-जगत् की और धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की अपूर्णनीय क्षति हुई है।

जगवीर किशोर जैन, सदस्य विधान परिषद, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे थे बन्ने भाई

अप्रैल 1962 की एक शाम मुझे अब भी बहुत अच्छी तरह याद है। मैं प्रो. नुरूल हसन के घर जब पहुँचा तो उनके नौकर मुहम्मद जान ने दरवाजा खोला। उसने मुझे देखकर कुछ अनमने भाव से कहा कि—"मियाँ के कुछ मेहमान बैठे हैं।" मैंने पूछा—"कौन मेहमान हैं?" उसने कहा—"उनके मामू साहब दिल्ली से आये हैं।" मुहम्मद जान का संकट बेग़म नुरूल हसन ने हल कर दिया। बेग़म साहब ने मुझे देखकर कहा—"आओ, कुँवरपाल आओ, बन्ने मामू आये हैं। नुरूल तुम्हें बुलवाने ही वाले थे।"

बन्ने भाई का नाम एक दंतकथा के नायक की तरह नामपंथियों के बीच लिया जाता था। वह चार साल पाकिस्तान की जेल में यातनाएँ सहकर सन् 1955 के अंत में किसी तरह भारत लौटे थे। देश के बहुत प्रतिष्ठित घराने से उनका संबंध था, इसलिए पं. जवाहर लाल नेहरू ने व्यक्तिगत हस्तक्षेप करके उन्हें फिर से हिन्दुस्तानी नागरिकता दिलवा दी।

मैं ड्रॉइंगरूम में ठिठक गया। प्रो. नुरूल हसन साहब की गोल डाइनिंग टेबिल पर प्रो. अब्दुल अलीम और बन्ने भाई बैठे हुए विहस्की पी रहे थे। मुझे वहाँ खड़ा देखकर नुरूल हसन साहब ने कहा—"आओ, कुँवरपाल आओ।" मैं झिझकते हुए ड्रॉइंगरूम में दाखिल हुआ। मेरे मन में शराब पीने वालों के विरुद्ध संस्कार पूर्णतः दिखाती थे। यानी अच्छी राय नहीं थी। इन दोनों को तब हम आर्म चेयर कम्युनिस्ट समझते थे। अपनी इस यांत्रिक समझ पर आज कितनी हँसी आती है। परंतु बन्ने भाई ! वो तो क्रांतिकारी हैं। क्या कोई क्रान्तिकारी भी शराब पी सकता है ? क्या क्रांति और शराब का कोई संबंध है? मैं इन्ही विचारों में खोया हुआ था। प्रो. हसन ने बन्ने भाई से मेरा परिचय कराना शुरू कर दिया "बन्ने मामू, ये कुँवरपाल सिंह हैं। हिन्दी में पी-एच.डी. कर रहे हैं। युनीवर्सिटी की स्टूडेन्ट फैडरेशन के प्रेसीडेंट हैं।"

बन्ने भाई ने मेरी तरफ देखा और पूछा—"तुम्ही वो हो जिसके नेतृत्व में पिछले दिनों दंगों में नौजवानों ने लोगों के बीच शांति स्थापित करने में हिरोइक काम किया था।" बुरे दिनों ये बड़ी बात थी कि दंगों में तुमने 50 हिन्दू और 50 मुसलमान छात्रों से हस्ताक्षर कराके शांति की अपील की थी। हिन्दी-उर्दू में छपे उस पर्चे की पिछले दिनों पंडित जी (जवाहर लाल नेहरू) ने बड़ी तारीफ की थी।"

मैंने कहा—"हमने तो पंडित जी को भेजा नहीं, उन्हें फिर कैसे मिल गया?"

तीनों लोग मुस्कुरा दिये। उन्होंने ये भी जोड़ा कि अलीगढ़ के दंगों (अक्टूबर 1961) में हिन्दू कांग्रेसी और मुसलमान कांग्रेसी अलग-अलग प्रधान मंत्री से मिले और उन्होंने अलग-अलग दृष्टिकोण से दंगों की तस्वीर पेश की। पंडित जी कुछ देर तो सुनते रहे, फिर दोनों ओर के लीडरों को बुलाया और जो डाँट पिलाई उसकी रूदाद मैं जमीला आपा से सुन चुका था। पंडित जी ने कहा था—"तुम लोगों को शर्म आनी चाहिए, कितने अफ़सोस की बात है कि तुम एक राष्ट्रीय पार्टी के लोग हो। तुम्हें उन बच्चों से सीखना चाहिए जिन्होंने 50 हिन्दू और 50 मुसलमानों के हस्ताक्षर से हिन्दी-उर्दू में परचा निकाला।"

इस घटना के बाद कुलीन लोगों में भी मेरी रसाई बढ़ गई। बन्ने भाई ने छूटते ही पूछा—"ये बताओ उर्दू में कैसे छपवा लिया। कर्फ़्यू में ऊपरकोट कैसे पहुँचे ?" मैंने कहा—"ये लंबी कहानी है, कभी फुर्सत में सुनाऊँगा।" इतना कहकर मैं चुप हो गया। सांप्रदायिक दंगों के समय ऐसा लगता है कि हिन्दू और मुसलमान कभी एक नहीं होंगे। दोनों समुदाय सदैव एक दूसरे को शक, भय, आशंका की दृष्टि से देखते हैं। दोनों समुदाय के लोग अपनी अपनी काल्पनिक एकता में जीते हैं। दंगों के समय असामाजिक तत्व बरसाती मेढ़क की तरह ऊपर जाते हैं तथा अवैध रूप से टर्र-टर्र करके वातावरण को प्रदूषित करते हैं। दंगों की समाप्ति के बाद ये मेढक अपने-अपने खोल में चले जाते हैं।

बन्ने भाई मुझसे हिन्दी-उर्दू के सवालों पर, प्रगतिशील लेखकों के संगठन को अलीगढ़ में मज़बूत करने पर बात करते रहे "ये काम तुम और मासूम (मासूम रज़ा राही) बहुत अच्छी तरह कर सकते हो।"

मैं और राही, वली मंजिल में साथ-साथ रहते थे। सर्दी थी, 1964 का शायद फरवरी का महीना था। दो कमरे थे। उनके बीच एक बरामदा था। ये बरामदा हम लोगों का सिटिंगरूम कम ड्रॉइंगरूम था। अलीगढ़ में शरीफ लोग दोपहर में सोते हैं। यदि किसी से दुश्मनी करनी हो तो तीन बजे उनके पास दो तीन दिन चले जाइये, वो आदमी दुश्मन हो जायेगा। राही को ज़्यादा अखबार पढ़ने से चिढ़ थी। वो सो रहे थे। इस बीच मैं अख़बार पढ़ने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राही के जगते ही हम लोग 'आधा गाँव' पर चर्चा करते। इन दिनों 'आधा गाँव' अंतिम चरण में था। रोजाना हम दो-तीन घंटे उस पर बात करते। एकाएक बरामदे के दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी। मैंने वहीं से बैठे बैठे कहा—"कौन है?" बाहर से बहुत सौम्य स्वर में किसी ने कहा—"अरे भाई, खोलिये तो!"

मैंने तुरंत दरवाज़ा खोला तो आश्चर्य चकित हर्ष के साथ देखा कि बन्ने भाई काग़ज का पैकिट लिए खड़े हैं। मैंने कहा—"बन्ने भाई आप ! तशरीफ लाइये।"

वो वहीं बरामदे में बैठ गये और पूछा—'मासूम है।'

मैंने कहा—'जी।'

"कहो कि बन्ने आया है।"

मैंने राही को जगाया और कहा कि—"बन्ने भाई आये हैं।" वो हड़बड़ाये और कहा—"बन्ने भाई आये हैं ?" और तुरंत उठकर चले आये और बन्ने भाई से बोले—"आप ने क्यों तकलीफ की। हम लोग शाम को हाज़िर हो जाते। बन्ने भाई ने पूछा—"इन दिनों क्या लिख रहे हो ?" राही ने 'आधा गाँव' के बारे में बताया और कहा—"लिख तो उर्दू में रहा हूँ, लेकिन छपेगा नागरी में।"

बन्ने भाई ने कहा—क्यों ?"

राही ने कहा—"उर्दू वाले नहीं छापेंगे।"

बन्ने भाई ने आचर्य से कहा—"क्यों ? तुम्हारी तो सात किताबें उर्दू में छप चुकी हैं।"

"बन्ने भाई उर्दू वाले ये समझते हैं मेरा ये उपन्यास मुसलमानों और उर्दू के विरोध में है।"

"ऐसा कैसे। तुम्हें कैसे मालूम!" बन्ने भाई ने आश्चर्य से पूछा।

"जिसको भी मैंने इसके कुछ हिस्से सुनाये, उसी ने गहरी चुप्पी साध ली।" उन्होंने अपनी बातें आगे बढ़ाते हुए कहा—"के. पी. के कहने से मैंने यह इरादा कर लिया है कि अब ये हिन्दी में ही छपेगा।"

"ये तो बुरा होगा मासूम। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ कि फिर तुम उर्दू में नहीं लौटोगे।"

इसके बाद दोनों बहुत देर खामोश रहे। ऐसा महसूस हो रहा था कि दोनों इस प्रसंग से बहुत दुःखी हैं।

मैंने खामोशी तोड़ने के लिए प्रसंग बदला—"बन्ने भाई डॉ. साहब बता रहे थे कि आपका कोई कविता संग्रह छपा है।"

उन्होंने अपने कविता संग्रह की दो प्रतियाँ राही को दीं। एक राही के लिए और एक किसी और को देने के लिए। राही ने किताब को उलट-पुलट कर देखा। किताब का नाम था— 'पिघला नीलम'। बन्ने भाई बच्चों की तरह प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरंत कहा—"राही तुम इसकी एक लंबी समीक्षा लिखकर स्वयं किसी पत्रिका में भेज दो या मेरे पास भेज दो। मैं चाहता हूँ लोगों को तुम्हारी राय मालूम हो।"

राही कुछ देर खामोश रहे। हम लोगों की बिल्कुल आशा के विपरीत राही ने कहा—"बन्ने भाई गुस्ताखी माफ़ आप कमर रईस, सरदार जाफरी से क्यों नहीं समीक्षा लिखवा लेते।

बन्ने भाई ने कहा—"क्यों भाई, मैं तुम्हारी बात समझा नहीं।" राही ने उसी अंदाज में कहा—"इसमें समझने की क्या बात है, बन्ने भाई। विदेश कोई डेलीगेशन जाये तो तब आपको याद आते हैं अली सरदार जाफरी, क़मर रईस और समीक्षा लिखने के लिए मैं। इसलिए मैं नहीं लिखूँगा। आप मुझे साहित्यकार ही नहीं मानते तो मेरी समीक्षा का क्या अर्थ होगा।"

मैं सन्नाटे में था। राही की ये बातें मुझे बहुत बुरी लग रही थीं। मुझे ऐसा लगा कि अब बन्ने भाई नाराज़ होकर चले जायेंगे। मुझे तुलसीदास की चौपाई याद आयी-

'बूंद अघात सैंई गिरि जैसे, खलके वचन संत सैंई जैसे।'

बन्ने भाई मुस्कराते रहे। बोले—"अरे मासूम, तुम तो नाराज़ हो रहे हो। हमारा-तुम्हारा कोई लेन-देन का रिश्ता थोड़े ही है।"

वे बहुत देर तक बातें करते रहे। राही ने समीक्षा लिखने की बात स्वीकार कर ली। कई दिनों बाद राही ने 'पिघला नीलम' पर समीक्षा लिखकर मुझे सुनाई और बाद में वह किसी महत्वपूर्ण उर्दू की पत्रिका में प्रकाशित हुई। शायद 'पिघला नीलम' के सौंदर्य शास्त्र को समझने के लिए अब तक का वह सर्वश्रेष्ठ आलेख था।

तब मैंने जाना और ये सीखा कि एक बड़े संगठनकर्ता और साहित्यकार के क्या दायित्व होते हैं ? वह अपने सहयोगियों और सहकर्मियों की आलोचना को कैसे सुनता है और बिना आपा खोये कैसे अपने साधारण कार्यकर्ता से बराबरी और मुहब्बत भरा व्यवहार करता है। हमारे मार्क्सवादी बन्ने भाई के इस व्यवहार से सबक ले सकें तो यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

कुछ दिनों बाद बन्ने भाई फिर अलीगढ़ आये। अबकी उनके साथ रज़िया आपा भी आईं। इस बार बहुत दिलचस्प बातचीत हुई। बन्ने भाई प्रो. अब्दुल अलीम के यहाँ तथा रज़िया आपा प्रो. नुरूल हसन के यहाँ ठहरीं। मैं शाम को प्रो. हसन के घर पहुँचा तो मालूम हुआ कि बन्ने भाई तथा रज़िया आपा दोनों आए हैं। रजिया आपा की कुछ कहानियाँ मैं पढ़ चुका था। मैंने सोचा क्या दोनों से मुलाकात होगी। बेगम नुरूलहसन ने रजिया आपा से परिचय कराते हुए कहा—"ये कुँवरपाल हैं। स्टूडेन्ट फेडरेशन के अध्यक्ष हैं। रज़िया आपा ने धीमे से कहा "आओ, बैठो।" फिर मुझसे हिन्दी साहित्य के बारे में सवाल करती रहीं। हिन्दी में कौन लोग हैं, क्या लिख रहे हैं, क्या हिन्दी-उर्दू के बीच कोई तालमेल है।

मैंने कहा—"हिन्दी-उर्दू के लोगों ने संगम नामक संस्था बना रखी हैं। वहाँ हम लोग पंद्रह दिन में एक बार बैठते हैं। हिन्दी-उर्दू के किसी नये रचनाकार को लेते हैं। महत्वपूर्ण आलोचक उस पर अपना पर्चा लिखकर लाता है। उस पर दोस्ताना राय दी जाती है। उस बैठक में लेखकों के अलावा दूसरे बुद्धिजीवी भी शामिल होते हैं। डॉ. अलीम अक्सर हमारी मीटिंगों में आ जाते हैं और अपनी महत्वपूर्ण राय देते हैं। कभी-कभी प्रो. सुरूर और डॉ. नुरूलसन भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी उपस्थिति से इज़्ज़त बख़्शते हैं। डॉ. मुनीबुर्रहमान, डॉ. मक़बूल, खलीलुर्रहमान आजमी, मूनिस रज़ा, तथा काज़ी अब्दुल सत्तार आदि आते हैं। चाय की व्यवस्था भाई जावेद कमाल करते हैं। जावेद भाई बोलते नहीं हैं, चुप बैठे रहते हैं। हिन्दी से डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, डॉ. शुक्ल, परमानंद शास्त्री भी आते हैं।

रज़िया आपा ने प्रसन्नता जाहिर करते हुए कहा-बहुत अच्छा कर रहे हैं। दोनों भाषाओं में एका हुए बिना देश में एका नहीं हो सकता है।

मैंने कहा—"मैं तो साधारण कार्यकर्ता हूँ। इस संगम की जान तो राही हैं।"

बातचीत के दौरान मेरी आँखें बन्ने भाई को तलाश कर रही थीं। मैंने पूछा—"बन्ने भाई कहाँ हैं। जबाव बेग़म नुरूलहसन ने दिया-वे अपने पुराने दोस्त अब्दुल अलीम के यहाँ गए हैं। मैंने कहा, कब तक लौटेंगे।"

रज़िया आपा मुस्कुरा कर बोलीं-लगता है शाम तक अलीम साहब के घर रहेंगे।" मेरे मुँह से यकायक निकला "-क्यूँ"! उनसे बरसों पुराना समझौता है कि वो एक-एक दिन दोनों के यहाँ रहेंगे।" रज़िया आपा बोलीं।

बाद में उन लोगों ने बताया कि अलीम साहब और बन्ने भाई की मित्रता प्रलेस बनने से पहले की है, और यह भी ख़बर थी कि प्रलेस का मेनिफेस्टो अलीम साहब ने ही लिखा था किन्तु अपना नाम कहीं नहीं दिया। मेरे लिए यह नयी बात थी। ऐसा कैसे हो सकता है कि काम कोई करे और नाम किसी और का हो। मैंने ये सवाल बाद में बन्ने भाई से भी पूछा कि इसमें क्या हकीकत है। उन्होंने बताया कि घोषणा पत्र का मूल ड्राफ़्ट अलीम का है। हम लोगों ने थोड़े-थोड़े सुझाव दिए हैं। मैंने कहा डॉ. साहब का नाम कोई क्यूँ नहीं लेता। आपका, महमूद जफ़र तथा अहमद अली आदि का नाम को सब लेते हैं।" अलीम साहब चुपके से अपनी दाढ़ी खुजा रहे थे और चुप थे।

बन्ने भाई बोले—'अलीम किसी तरह अपना नाम देने को तैयार नहीं हुए।"

मैं जब डॉ. साहब की ओर मुख़ातिब हुआ तो उन्होंने कहा—देखो, अपने काम से मतलब रखो। नाम के पत्थर को किसी ने याद किया है?

कुछ देर ऐसे ही बातें होती रहीं। फिर मैंने हिम्मत जुटा कर एक सवाल पूछ ही लिया। "बन्ने भाई, आप लाहौर षड़यंत्र केस में कैसे फँसे, हकीकत क्या है ?"

बन्ने भाई थोड़ी देर मुस्कुराये, बोले—हाँ! तानाशाह अपनी परछाई से भी डरता है। उस समय जनरल अय्यूब खाँ पाकिस्तान के फौजी शासक थे। पाकिस्तान में लियाकत अली खाँ की हत्या कर दी गयी, पाकिस्तान की सेना ने इस अराजकता का फ़ायदा उठाकर शासन पर कब्जा कर लिया। बाद में जनरल अय्यूब खाँ फौजी तानाशाही के मुखिया बन गए। हम लोग पाकिस्तान में अंडरग्राउंड कम्युनिस्ट पार्टी में काम करते थे। हमारे एक हमदर्द ने हमें रात को दावत पर बुलाया। मेरे साथ फैज़ अहमद फैज़ और आर्मी के एक बड़े अफ़सर अकबर खाँ भी थे और भी कुछ मेहमान थे। शराब का दौर चलता रहा। अकबर खाँ कुछ ज़्यादा ही पी गए। सबके सामने अय्यूब खाँ को तानाशाह बतलाते हुए बुरा-भला कहा। हम लोगों ने बहुत कोशिश की कि वे चुप रहें। किन्तु वो जोश में बोले जा रहे थे कि तानाशाह का तख़्त पलट देंगे। उसी दावत में अय्यूब खाँ का जासूस भी बैठा था जो अपने को पार्टी का हमदर्द भी कहता था।

दूसरे दिन उसने अय्यूब खाँ को नमक-मिर्च लगाते हुए कहा कि आपका तख़्त पलटने की साजिश हो रही है। फिर क्या था। सेना ने दूसरे दिन पहले तो हमारे मेज़बान को पकड़ा। फिर मेज़बान ने हमारे भी पते बता दिए तो हम पकड़ गए। मैंने कहा—"बन्ने भाई ये बताइये कि वो कैसे हमदर्द थे जिन्होंने आप लोगों का पता बता दिया।"

बन्ने भाई बोले—"वो खाने-पीने वाले थे। खाते-पीते लोग कष्ट नहीं उठा पाते। जरा सी भाव में पिछला जाते हैं।

मेरी जिज्ञासा और बढ़ी—"फिर क्या हुआ?" बन्ने भाई बताने लगे—"हमारा मिलिट्री अदालत में मुकद्दमा चला। हमारी पुलिस और अफ़सर तिल का ताड़ बनाने में माहिर हैं। तमाम झूठे गवाह पैदा किए। पाकिस्तान के समाचार पत्र तथा रेडियो रोज हमारी गद्दारी की चर्चा करते थे। उन्होंने ऐसी छवि बना दी कि हमसे बड़ा गद्दार कोई नहीं है और सचमुच में हम सरकार को पलटने की सामर्थ्य रखते है। हम तीन लोगों को आजीवन कारावास की सज़ा मिल गयी। हमें रावलपिंडी के जेल में रखा गया। पूरी दूनिया में यह मशहूर हो गया कि हम बहुत बड़े क्रांतिकारी हैं जो तख्तापलटने जा रहे थे।"

बन्ने भाई ने एक शेर कहा -

"जिस बात का सारे फसाने में जिक्र न था
वही बात उनको नागवार गुज़री है।"

उस दिन छुट्टी थी। डॉ. अलीम को कोई जल्दी नहीं थी। न जाने क्यों वह मुझे बहुत पसंद करते थे। यह स्नेह ज़िंदगी भर रहा। मैंने हिम्मत करके पूछा—"बन्ने भाई, पाकिस्तान जाने की आपको ऐसी क्या ज़रूरत पड़ गई। उन्होंने चुपके से कहा— "पार्टी ने भेजा था। पार्टी की राय थी कि पाकिस्तान में पार्टी का निर्माण करने के लिए मुस्लिम बुद्धिजीवियों को जाना चाहिए और इसके लिए हम और अलीम बहुत मौजूँ लगे। हम लोगों को हुक्म हुआ कि पाकिस्तान जाओ और पार्टी बनाओ।"

मैंने कहा—डाक्टर साहब तो नहीं गए।"

जवाब अलीम साहब ने दिया—मैं उतना फरमाबरदार नहीं था जितना कि बन्ने था। इसलिए मैं नहीं गया। फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोले कि "पार्टी ये समझती थी कि मार्क्सवाद आयात-निर्यात किया जा सकता है। यह गलत समझ थी। क्रांति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे लोग नहीं करते बल्कि वहाँ की वर्किंग क्लास करती है।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद फिर बोले, एक हिमाकत और हुई कि जितने हमारे मुसलमान आगे बढ़े हुए साथी हैं वो मुस्लिम लीग में शामिल हो जाएँ और उस पर कब्ज़ा जमा लें। ये दाढ़ी देख रहे हो, तभी की है। दाढ़ी अब भी बच गई है। मैंने कहा- तो मुस्लिम लीग से आपकी तरफ कोई आया?''

बन्ने भाई बोले–'नहीं। ये ज़रूर हुआ हमारे बहुत से साथी मुस्लिम लीग में रह गये।

पार्टी ने जल्दी ही अपनी समझ सही कर ली। मैंने दबी ज़बान से कहा–तेलंगाना की असफल क्रांति के पीछे क्या कारण था। अलीम साहब बोले–''गलत समझ और क्रांति के लिये उतावलापन। दरअसल तब बहुत से कम्युनिस्ट समझते थे कि समाजवाद आने में थोड़ी ही देर है। लेकिन ये जमीनी हकीकत नहीं थी। इससे पार्टी को बहुत नुकसान उठाना पड़ा।''

एक और लंबी मुलाकात में बन्ने भाई से साहित्य के तमाम सवाल हुए। उन्होंने बड़ी सहजता से उत्तर दिये। हिन्दी-उर्दू के प्रगतिशील लेखकों को एक करने के लिए उन्होंने भारी प्रयास किए। आंशिक सफलता भी मिली। यशपाल के यहाँ बैठक हुई जिसमें हिन्दी-उर्दू के तमाम प्रगतिशील विचारधारा के लोग शामिल हुए। संयुक्त बयान भी तैयार किया गया। दिलचस्प बात ये है कि अलीगढ़ से केवल राही मासूम रज़ा ने उर्दू की तरफ से हस्ताक्षर किए। प्रो. आले अहमद, प्रो. मुईन एहसन रिजवी तथा जज़्बी का भी नाम नहीं था। हिन्दी वाले उर्दू को दूसरी भाषा बनाने पर तैयार नहीं थे। इनमें कुछ बड़े नाम- यशपाल, रामविलास शर्मा, अमृतराय जैसे हिन्दी के धुरंधर विद्वान थे। इनमें से अधिकांश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तथा कुछ पार्टी हमदर्द थे। उनका तर्क था कि उर्दू अलग भाषा नहीं है, हिन्दी की ही एक शैली है। यह बात सिद्धांत में तो रहती थी किन्तु व्यवहार में नहीं। वे उर्दू को समानता देने को तैयार नहीं थे। हिन्दी की किसी भी बोली के समकक्ष मानने को तैयार नहीं थे। किन्तु मुझे लगता है कि उनके मन में था कि उर्दू ने बहुत दिन राज किया, अब हमारी बारी है। प्रेमचंद के शब्दों में-हिन्दी वालों के मन में यह पुरानी कुरेदन है। यह घाव जरा भी पुरवा हवा चले, हरा हो जाता है।

बन्ने भाई और उनके कुछ साथी इससे हताश नहीं हुए। उन्होंने बराबर कोशिश जारी रखी। लेकिन हिन्दी-उर्दू के प्रगतिशील लेखकों को एक करने में उन्हें कामयाबी नहीं मिली। धीरे-धीरे उर्दू के रचनाकारों ने किनाराकशी करना शुरू कर दिया। आधुनिकता के दौर में यह बात और साफ हो गई कि अब उर्दू में प्रगतिशील आंदोलन की कोई गुंजाइश नहीं है। राही मासूम रज़ा और उनके समर्थक ही बच रहे जो अंत तक इस मुहिम को चलाते रहे। इसकी राही को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। उन्हें अलीगढ़ छोड़ने पर मज़बूर कर दिया गया। उन्हें उर्दू शायरी से लगभग खारिज़ कर दिया गया। राही बहुत ज़िद्दी और हिम्मत वाले आदमी थे। वे हिन्दी कथा क्षेत्र में आ गये और आज हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में उनकी गणना होती है। उनकी शायरी के तीन संकलन हिन्दी में हैं जो बहुत लोकप्रिय हुए हैं। उनके मृत्यु के ठीक 15 साल बाद अब फिर से प्रगतिशील कविता का दौर आ रहा है। बन्ने भाई तथा राही से यही सीख मिली कि सही बात कहते रहो, चाहे सुनने वाले कितने ही कम क्यों न हों। यथार्थ को बहुत दिनों तक हाशिये पर नहीं रखा जा सकता। उधार की पूंजी से देश, भाषा तथा समाज कभी नहीं फूलते-फलते। लोक भाषा के किसी कवि ने बड़ी सार्थक बता कही है,

कितनी चिड़िया उड़े अकास।
दाना है धरती के पास।।

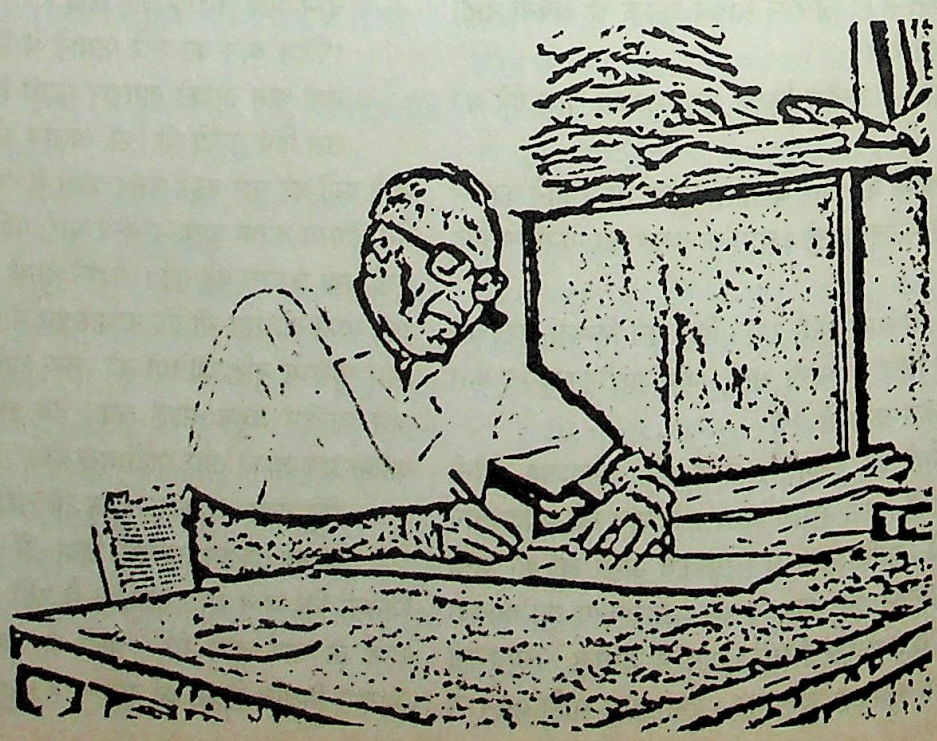

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय जनजीवन के लिए समर्पित प्रेरक व्यक्तित्व

ए. अरविंदाक्षन

बहुत पहले की बात है। उपन्यास पर प्रामाणिक ढंग से लिखने वाले समीक्षकों के बारे विचार करते-करते एक नाम पर मेरा ध्यान टिक गया और वह नाम है कुँवरपाल सिंह। उस समय समीक्षा की अन्तरअनुशासन परक पद्धतियों का उतना विकास नहीं हुआ था। लेकिन कुँवरपाल जी ने उपन्यास की समीक्षा के साथ इतिहास और समाजशास्त्र को भी लिया था। उपन्यास बृहत्तर समाज को लेकर चलने वाली विधा है। इसलिए उसका इतिहास-पक्ष निर्विवाद रूप से विचारणीय हो जाता है। समाजशास्त्र भी उपन्यास को समझने में काफी सहायक है। कुँवरपाल जी ने उपन्यास-समीक्षा को मात्र इन दो अनुशासनों के सहारे ही विश्लेषित नहीं किया था बल्कि उनकी आस्था जनान्दोलन पर भी थी। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों के यथार्थ को जनान्दोलन के संदर्भ में देखना प्रामाणिक दृष्टि का उदाहरण लगा। आलोचना का छद्म निर्मित करना कुँवरपाल जी का लक्ष्य प्रतीत नहीं हुआ। उनका लक्ष्य स्पष्ट था कि आलोचना के छद्म को तोड़ना और उसे सृजनात्मक बनाना।

उपन्यास के अलावा भक्तिसाहित्य संबंधी उनकी अवधारणाएँ भी जनान्दोलन को पुख्ता करने वाली हैं। भक्ति साहित्य के लोक पक्ष को कुँवरपाल जी ने इसी आधारभूमि में विश्लेषित करने का कार्य किया है। ऐसे में उनके लेखन में एक नई चारूता दर्शनीय हुई जो भक्ति को सर्वाधिक पारदर्शी ढंग से देखने से विकसित हुई है। भक्ति साहित्य के जनाधार को लोक सौंदर्य के आधार पर देखकर कुँवरपाल जी ने भक्ति काव्यों के लावण्य तत्त्वों का अनावरण किया है। समीक्षा-दृष्टि के इस उन्मेष से मेरा प्रभावित न होना कठिन था।

लंबे समय तक मात्र समीक्षक के रूप में मैं उन्हें पढ़ता रहा। परिचय बाद में हुआ। परिचय आत्मीयता में परिवर्तित हो गया। संपर्क सूत्र सुदृढ़ होता गया। इस दौर में कुँवरपाल जी के प्रेरक व्यक्तित्व से मैं आकृष्ट होता चला गया। उनके प्रतिबद्ध दृष्टिकोण से मुझे परिचय प्राप्त करने का अवसर भी मिला। उसकी विशेषता यह है कि उनकी जीवन-दृष्टि हिन्दी पट्टी तक सीमित नहीं है। जब कभी वे एक नया विचार सामने रखते हैं तो भारतीय यथार्थ सामने आता है। भारतीय यथार्थ के अभाव में वे किसी भी बात को, चाहे वह साहित्य हो,समाज हो, राजनीति हो संस्कृति हो, प्रस्तुत करना नहीं चाहते हैं। क्योंकि वे लोक के पक्षधर हैं। लोक के सौंदर्य को वे सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। कुँवरपाल जी के लिए लोक क्या है? लोक हमारा वह यथार्थ है जिसको प्रायः अनदेखा किया गया। इससे हमारा वास्तविक यथार्थ भी प्रायः अच्छादित रहा। असत्यों का प्रसार होता गया। छद्म स्वीकृत होता गया। यथार्थ हटता गया। छद्म को यथार्थ माना भी गया। अपने पास लोक की सशक्त और पारदर्शी अवधारणा के कारण कुँवरपाल जी ने यथार्थ के ऊपर के उस अच्छादन को हमेशा के लिए हटाया। प्रत्येक लघु समाज की अपनी-अपनी संस्कृति-समृद्धियाँ हैं जो जनजीवन की धरोहर हैं। यह लघु समाज कोई सीमित वर्ग द्वारा सृजित नहीं है। वह व्यापक जनजीवन द्वारा सृजित है। उसको अनदेखा करना या अनसुना करना असत्य का पक्ष लेना है। कुँवरपाल जी की प्रतिबद्धता ने उन्हें सत्य का पक्ष लेने का पाढ़ ही पढ़ाया है। लोक के साथ ही उन्होंने अपनी वैचारिकता को ही परखा है। इसलिए वैचारिक कठमुल्लेपन के वे शिकार नहीं हुए। लोक ने उन्हें उदार बनाया। वैचारिकता ने उन्हें सुदृढ़ बनाया। इसलिए इन दोनों का संश्लेषण उनके व्यक्तित्व में हुआ है। ऐसा संश्लेषण बहुत कम व्यक्तियों में मिलता है। इस का सुखद प्रतिफल उनके साहित्य में भी देखने को मिलता है। लोक ने उनके सौंदर्यचिंतन के लिए मानवीयता का आधार प्रदान किया। इसलिए हिंदी आलोचना के लिए कुँवरपाल जी का सौंदर्यचिंतन अपने आप में एक बृहद बहस का विषय है। दरअसल इसी पक्ष ने मुझे सबसे अधिक आकृष्ट किया था।

हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य को साथ ले चलने की उनकी पारदर्शी दृष्टि के पीछे लघु समाजों के प्रति उनकी आस्था ही कार्यरत है। कोई भी भाषा अपनी बहुसंख्यकता के बल पर दूसरी भाषाओं पर दबाव न डाले। बहुसंख्यकता और अल्पसंख्यकता के बीच में वर्चस्वी दबाव का होना उनके अनुसार अभीष्ट स्थिति नहीं है। भारतीय यथार्थ को महिमामंडित करके देखने पर यथार्थ का कोई भी पक्ष स्पष्ट नहीं हो सकता। इसमें कुँवरपाल जी की सांस्कृतिक दृष्टि का परिचय भी मिल जाता है। यदि संस्कृति हमें व्यापक दृष्टि प्रदान करती है और हम अपने को संस्कृतिबद्ध घोषित भी करते हैं तो हमें वर्चस्वी दृष्टि के अधीन रहना नहीं चाहिए। हमें चाहिए वर्चस्ववादी दृष्टि से मुक्त हो जाएँ। भाषा एक सांस्कृतिक मसला है। बहुभाषी देश में किसी एक भाषा

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बहुसंख्यकता लघु समाजों की भाषा या अल्पसंख्यकों की भाषा को बाधित न करे। हिन्दी के इस यथार्थ से कुँवरपाल जी परिचित थे। इसलिए भाषिक मसले को लेकर उनकी दृष्टि इतनी पारदर्शी रही कि उसमें भारतीय यथार्थ का संतुलित स्वरूप आसानी के प्राप्त होता है। साहित्य और भाषा के क्षेत्र में कार्यरत मुझ जैसे व्यक्ति के लिए कुँवरपाल जी का यह दृष्टिकोण काफी प्रेरक और दायित्वपूर्ण लगा। अलग-अलग बोलियों को भाषा का स्तर प्रदान करने और भाषा की राजनीति के इस कटु-तिक्त यथार्थ के तहत जब हमारी संस्कृति आन्तरिक तौर पर बिखरती जा रही है तब कुँवरपाल जी का भारतीय भाषाओं के प्रति जो उदारभाव है, जो सतही नहीं बल्कि यथार्थ पर केन्द्रित है, अत्यधिक मूल्यवान है।

'वर्तमान साहित्य' के माध्यम से उन्होंने भारत भर के हिंदी लेखकों को सामने लाने का कार्य किया है। मेरा अपना यह सुखद अनुभव रहा है कि मुझे उन्होंने हिन्दीतर या अहिन्दी लेखकों के खाते में नहीं रखा। मुझे हमेशा वे हिन्दी लेखकों के साथ ही रखते हैं। इसमें उनकी व्यापक भाषा-दृष्टि का परिचय मिल ही जाता है।

कुँवरपाल जी के प्रेरक व्यक्तित्व का एक और सबल पक्ष यह है कि अलीगढ़ में बैठकर वे भारत के हर कोने में घटित होने वाले हादसों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। वे तटस्थ और निस्संग नहीं रहते हैं। वे उन प्रगतिशील विचारकों की श्रेणी में नहीं आते हैं जो प्रगति का झंडा तो फहराते हैं पर अपने आत्मपक्ष को गौरवान्वित करते हैं। कुँवरपाल जी ने सदैव अपने से बाहर के पक्षों पर गौर किया और उन्हें महत्त्वपूर्ण माना है। यह उनकी भारतीयता की पहचान की कसौटी है।

आज साहित्य हो, संस्कृति हो, राजनीतिक आदान-प्रदान हो या सामाजिक जीवन के बहुसंख्यक और बहुआयामी पहलुएँ हों, सभी एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए रहते हैं। हर पक्ष की अपनी स्थानिक विशेषताएँ हो सकती हैं। लेकिन हर पक्ष की भारतीय पहचान भी होती है। निरंतर ग्लॉबल होने के ढिंढोरा पीटने से कोई फायदा नहीं है। ग्लॉबल समस्याओं पर विचार करने के लिए सबसे पहले हमारी स्थानिक समस्याओं की जानकारी जरूरी है। उसे भारतीय संदर्भ में परखने की क्षमता भी हो। ऐसी क्षमता न हमारे राजनीतिज्ञों में है, न संस्कृतिकर्मियों में है और न साहित्यकारों में है। यह सुखद-अनुभव है कि कुँवरपाल जी में यह क्षमता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

हमारे आज के संकीर्ण सामाजिक राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक परिदृश्य में उन्नतमना व उदारमना व्यक्तियों का सानिध्य हमें अभिभूत करता है। कुँवरपाल जी के व्यक्तित्व को मैं इसी तरह से देखता हूँ और उनके अनन्य व्यक्तित्व से प्राप्त होने वाले प्रेरक अंशों को अपने जीवन में साक्षात्कृत करने के प्रयास में लगा हूँ।

हिन्दी विभाग, कोचीन विश्वविद्यालय, कोचीन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग

आज दिनांक 09.11.09 को दोपहर 1.00 बजे हिन्दी विभाग, बी.एच.यू. में एक शोक सभा का आयोजन किया गया जिसमें हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर प्रो. कुँवलपाल सिंह को श्रद्धांजति दी गयी। इस अवसर पर उपस्थित वक्ताओं ने कहा कि प्रो. कुँवरपाल सिंह हिन्दी आलोचना में सामासिक संस्कृति के महत्त्वपूर्ण प्रस्तोता थे। उन्होंने समाज, साहित्य और संगठन तीनों ही स्तरों पर महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए साहित्य को मानवीय संकल्पों व आकांक्षाओं से जोड़कर उसकी प्रगतिशील व्याख्या की और इस बात को बार बार रेखांकित किया कि हिन्दी साहित्य आरंभ से ही हर प्रकार के संकीर्णतावाद के खिलाफ़ रहा है। वक्ताओं ने कहा कि कुँवरपाल सिंह अलीगढ़ में राही मासूम रज़ा के अत्यंत प्रिय रहे और 'आधा गाँव' जैसी कृति के मुख्य प्रेरक वे ही रहे। 'साहित्य और हमारा समय', 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास', भक्तिआंदोलन और लोक संस्कृति', जैसी प्रमुख पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने साहित्य की जनवादी व्याख्या की तथा प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए संघर्ष में ही सौंदर्य को देखने की वकालत की। उन्होंने "वर्तमान साहित्य" जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया तथा 'राही मासूम रज़ा' और 'यशपाल' पर पत्रिकाओं के विशेष अंक निकाले। वक्ताओं ने उन्हें सच्चे अर्थों में जनबुद्धिजीवी बताया और कहा कि जीवन के अंतिम दिनों में खराब स्वास्थ्य के बावजूद उनकी प्रतिबद्धता और क्रियाशीलता औरों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही । अपने अंतिम दिनों में 'राही मासूम रज़ा' की रचनावली के संपादन में लगे रहे।

सभा में उनके निधन को हिन्दी साहित्य की अपूरणीय क्षति बताते हुए उनके योगदान की व्यापक चर्चा की गयी। अंत में दिवंगत आत्मा की शांति के लिए दो मिनट का मौन रखा गया।

इस अवसर पर विभाग के प्रो. राधेश्याम दूबे, प्रो. कुमार पंकज, प्रो. श्रीनिवास पांडेय, प्रो. रंगनाथ पाठक, प्रो. वशिष्ठ द्विवेदी 'अनूप', प्रो. सदानंद शाही, डॉ. श्रद्धा सिंह, डॉ. श्रीप्रकाश शुक्ल, डॉ. मनोज कुमार सिंह, डॉ. विनोद तिवारी, श्री रामाज्ञा शशिधर, डॉ. प्रभाकर सिंह, डॉ. कृष्णमोहन, डॉ. आशीष त्रिपाठी, आदि उपस्थित थे।

रविशंकर उपाध्याय, शोध छात्र, बी. एच. यू., वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी

जवरीमल्ल पारख

के. पी. सिंह के नाम से मशहूर लेखक और आलोचक कुँवरपाल सिंह से हिन्दी साहित्य भली-भाँति परिचित है। हिन्दी-उर्दू के जनवादी साहित्यिक आंदोलन से गहरे रूप में जुड़े कुँवरपाल जी और नमिता जी से हर शख़्स संपर्क में आया है, जो किसी-न-किसी रूप में इस आंदोलन से जुड़ा रहा है। लंबे समय तक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग से सम्बद्ध रहकर और वहाँ प्रोफ़ेसर और विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित करते हुए कुँवरपाल जी ने गहरी छाप छोड़ी है। मेरा उनसे पहला संपर्क आपातकाल के बाद तब हुआ, जब जनवादी साहित्यिक आंदोलन की गतिविधियाँ तेज़ी से बढ़ रही थीं। उत्तर प्रदेश में इस आंदोलन के प्रमुख प्रेरक 'उत्तरार्द्ध' के यशस्वी संपादक सव्यसाची थे। आपातकाल में भी सव्यसाची 'उत्तरार्द्ध' के माध्यम से सक्रिय रहे थे। मेरे जैसे सैकड़ों युवाओं को उन्होंने इस आंदोलन से जुड़ने की प्रेरणा दी थी। 1977-78 में सव्यसाची के आमंत्रण पर लखनऊ, अलीगढ़, कोटा, ग्वालियर, दिल्ली आदि शहरों में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों और संगोष्ठियों में मैंने भी भाग लिया था। मेरे लेखन का सिलसिला इन गोष्ठियों के बाद ही शुरू हुआ और इस लेखन के पीछे भी मुख्य प्रेरणा सव्यसाची ही थे। उत्तर प्रदेश और उसके बाहर होने वाली इन सभी गोष्ठियों में कुँवरपाल जी और नमिता जी मौजूद रहते थे। लघु पत्रिकाओं का पढ़ना-पढ़ाना विद्यार्थी काल में ही शुरू हो चुका था। 'उत्तरार्द्ध' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों के लेखन से मैं पहले से परिचित था, 'आधा गाँव' पढ़ चुका था और जान चुका था कि इस उपन्यास के लेखक राही मासूम रज़ा के प्रिय मित्र कुँवरपाल सिंह जी भी एक वरिष्ठ लेखक हैं। इसलिए, दोनों को वरिष्ठ लेखक के रूप में स्वीकार करने में किसी तरह की कठिनाई नहीं थी। नमिता जी की कहानियाँ मैं पढ़ता रहा था। कोटा से शिवराम और महेंद्र नेह के संपादन में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'अभिव्यक्ति' के सितंबर, 1979 अंक में मैंने नमिता जी के एक कहानी-संग्रह की समीक्षा भी लिखी थी और यदि मुझे सही याद है, तो यह किसी पुस्तक की मेरे द्वारा की गयी पहली समीक्षा थी।

गोष्ठियों से आरंभ हुआ मुलाक़ात का यह सिलसिला काफ़ी औपचारिक था। वह मेरे लिए सब कुछ सीखने का दौर था, इसलिए कुँवरपाल जी और दूसरे वरिष्ठ साथी जो भी कहते और लिखते थे, मेरे जैसे युवाओं के लिए वह प्रेरक और अनुकरणीय ही होता था। साहित्य और संस्कृति के आंदोलन को व्यापक राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि इन्हीं गोष्ठियों में मिली थी। इन गोष्ठियों में सभी युवा साथियों के प्रति कुँवरपाल जी का स्नेहिल व्यवहार ध्यान आकृष्ट करता था। बाद में, संभवतः, 1980 के आसपास सव्यसाची ने मुझे और प्रदीप सक्सेना को 'उत्तरार्द्ध' से जोड़ा। 'उत्तरगाथा' के दिल्ली आने से पहले तक 'उत्तरार्द्ध' और 'उत्तरगाथा' के विभिन्न अंकों की सामग्री पर विचार करने के लिए होने वाली प्रायः सभी गोष्ठियाँ अलीगढ़ में कुँवरपाल जी के घर पर ही होती थीं। इनसे उनके नज़दीक आने का मौक़ा मिला। इस आंतरिक विचार-विमर्श में मैं और प्रदीप कई बार कुँवरपाल जी या नमिता जी से सहमत नहीं हो पाते थे और यह भी महसूस होता था कि संभवतः इस वजह से वे मुझे पसंद भी नहीं करते हैं। लेकिन, मेरी इस धारणा को पुष्ट करने के लिए मेरे पास कोई वस्तुगत आधार नहीं था। इस धारणा के बनने का एक कारण यह भी था कि 1980 के सितंबर माह में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शोध के लिए दिल्ली आ चुका था। दिल्ली के लेखकों के प्रति और ख़ासतौर पर दिल्ली से प्रकाशित होने वाले अख़बारों में काम करने वाले और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले लेखकों-आलोचकों के प्रति दिल्ली से बाहर रहने वाले लेखकों के पूर्वग्रह की जानकारी मुझे थी और मुझे यह भी लगता था कि संभवतः दिल्ली के जनवादी लेखकों के प्रति बनी धारणा से कहीं मुझे भी जोड़ा जा रहा है। हालाँकि, न तो उन लेखकों जैसी मेरी हैसियत थी और न ही दिल्ली और बाहर के लेखकों के लिए मेरा ऐसा कोई महत्त्व था। कुँवरपाल जी के प्रति ऐसा सोचना तो मेरा दुराग्रह ही था। 1985 में अमरोहा में उत्तर प्रदेश जनवादी लेखक संघ का दूसरा राज्य सम्मेलन आयोजित किया गया था। इसमें भाग लेने के लिए कुँवरपाल जी और नमिता जी भी आये थे और इस दौरान् दोनों का मेरे परिवार से भी परिचय हुआ। इसके बाद जब भी कुँवरपाल जी और नमिता जी मिले, उन्होंने मेरे परिवार की कुशलक्षेम अवश्य पूछी। इसने मेरे मन की आधारहीन आशंका को पूरी तरह समाप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया। बाद में, 'वर्तमान साहित्य' का संपादन भार सँभालने पर कुँवरपाल जी ने जिस तरह मुझे लिखने के लिए आमंत्रित किया और जो भी मैंने लिखा, उसे उन्होंने यथावत प्रकाशित किया; वह उनकी उदारता और वैचारिक प्रौढ़ता का प्रमाण था, जिसे युवावस्था के कारण मैं देख नहीं पाया था या देखकर भी समझ नहीं पाया था।

जनवादी लेखक संघ (1982) की स्थापना के दौर में भी कुँवरपाल जी की सक्रियता और संगठन को ठोस वैचारिक आधार प्रदान कराने में उनकी भूमिका हम सभी लोगों के सामने स्पष्ट थी। उनकी संगठनात्मक क्षमता ने ही उन्हें संगठन का कोषाध्यक्ष बनाया और लगभग दो दशक तक वे इस पद पर रहे। किसी भी संगठन को चलाने के लिए केवल लोगों का जुड़ाव ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि संगठन की निरंतर सक्रियता और साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में सकारात्मक हस्तक्षेप भी उतना ही ज़रूरी है, लेकिन इन कामों को अंजाम देने के लिए यह भी ज़रूरी है कि संगठन आर्थिक रूप से मज़बूत हो। कुँवरपाल जी के कोषाध्यक्ष रहते संगठन को इस मोर्चे पर प्रायः कम ही चिंता करनी पड़ी। नये-पुराने सभी लेखकों से संपर्क करने और उन्हें जलेस के साथ जोड़ने में कुँवरपाल जी का योगदान किसी भी अन्य लेखक से कम नहीं रहा। उत्तर प्रदेश में संगठन को बनाने और उसको खड़ा करने में कुँवरपाल जी और सव्यसाची का ही सबसे अधिक योगदान रहा।

कुँवरपाल जी ने कई अन्य आलोचकों की तुलना में कम लिखा है, लेकिन यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने कभी इस बात की परवाह नहीं की कि उनके लिखे से कौन नाराज़ होगा और कौन ख़ुश। अपनी दृष्टि से उन्होंने जिस बात को सही समझा, उसको कहा और उसे कहने में किसी तरह की हिचक नहीं दिखायी। यही कारण है कि वे डॉ. रामविलास शर्मा जैसे दिग्गज आलोचक की कई मान्यताओं को अस्वीकार कर सके थे। निस्संदेह, कुँवरपाल जी एक मार्क्सवादी आलोचक हैं, लेकिन रूढ़िबद्ध और संकीर्णतावादी नहीं। इसका प्रमाण न केवल उनका लेखन है, बल्कि 'वर्तमान साहित्य' के वे सभी अंक भी हैं, जो कुँवरपाल जी और नमिता जी के संपादन में प्रकाशित हुए हैं और जिनमें उन्होंने लगातार ऐसे विषय और मुद्दे भी उठाये हैं, जिन्हें कोई संकीर्णतावादी सोच वाला संपादक नहीं उठा सकता। उन्होंने नये-पुराने उन सभी लेखकों को अपनी पत्रिका में जगह दी, जिन्होंने अपने लेखन द्वारा लोकतांत्रिक और धर्म-निरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा दिया है। कुँवरपाल जी की दिलचस्पी बहुत अकादमीय क़िस्म की बहसों में नहीं रही है। वे साहित्य को अपने समय और समाज से जोड़कर देखने के पक्षधर रहे हैं। उनके सामने हमेशा यह स्पष्ट रहता है कि कौन-से सवाल प्रासंगिक हैं और बहस को किस तरह की दिशा दिया जाना ज़रूरी है। 'वर्तमान साहित्य' लंबे समय से निकलने वाली प्रतिष्ठित पत्रिका रही है। विभूतिनारायण राय इसे ख़ास पहचान दे चुके थे और हिन्दी में उसे एक श्रेष्ठ पत्रिका के रूप में स्वीकारा जा चुका था। हालाँकि, उनके संपादन में 'वर्तमान साहित्य' द्वारा कई बार अनावश्यक विवाद खड़े करने की प्रवृत्ति से मेरे जैसे कई सामान्य पाठकों को ऐतराज़ भी था। फिर भी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'वर्तमान साहित्य' ने वामपंथी और जनवादी पत्रिका के तौर पर अच्छी प्रतिष्ठा हासिल कर ली थी। कुँवरपाल जी ने इस पहचान के साथ बिना किसी तरह की छेड़खानी किये, उसे अपने रंग में रँग लिया है। यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है। सुखद यह भी है कि वे प्रायः अनावश्यक विवादों में नहीं पड़ते। मुमकिन है, इस वजह से 'वर्तमान साहित्य' का अब उतना नोटिस न लिया जाता हो और इसी वजह से जल्दी-से-जल्दी लोकप्रिय होने और ज़रूरी-ग़ैरज़रूरी विवादों में रहकर अपनी चर्चा कराते रहने वाले लेखकों को अब 'वर्तमान साहित्य' मामूली पत्रिका लगती हो, लेकिन लोकप्रिय होने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाने से अपने को रोके रखना कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है और इसका पूरा श्रेय कुँवरपाल जी और नमिता जी को जाता है।

जे-1, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068

भाई के.पी. सिंह के दिवंगत होने का दुखद समाचार मन को स्तब्ध कर गया। अभी दो चार रोज़ पहले ही तो उनका अभिनंदन था। एकाएक यह क्या हो गया। वे साहित्य के ही नहीं, समाज के भी सिपाही थे। उन्होंने प्रगतिवादी चेतना को अपने व्यवहार में उतारा था। वे मूर्तिमान मानव-मूल्य थे। समाज की अनेक प्रकार की विषमताओं में समता का उजास फैलाने वाले। उनका जाना हम सबको अकेला कर गया। आपके दुख में हम सबका दुख शामिल है। आप विदुषी हैं, लेखिका हैं, दार्शनिक हैं। अतः इसे जीवन का अनिवार्य सत्य मानकर दुख सह लेंगी।

भाई के.पी. सिंह की आत्मा को शांति मिले।

रामदरश मिश्र, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी और नक़्श से आगे

मसूद अली बेग

एक शख़्स के तारीफ़ो-तहसीन के अपने पैमाने बहुत सख़्त थे। कोई बड़े ख़ानदान का हो, दौलतमंद या बड़ा अफ़सर हो, नामवर अदीब या स्कॉलर हो, देश-विदेश घूमा हुआ नामी-गिरामी प्रोफ़ेसर हो, पूजा-पाठ या नमाज़-रोज़े का पाबंद हो या दहरिया या कुछ और, ये आदमी आसानी से तो क्या मुश्किल से भी किसी को ख़ातिर में नहीं लाता था। एक बार किसी ने इससे पूछा :

"ऐसा क्यों है?"

"बस ये सुनना था कि सवालों का एक दफ़्तर खुल गया :

"अच्छा ये बताओ कभी किसी ग़रीब तालिब इल्म की फ़ीस अदा की?"

"किसी ज़रूरतमंद की नौकरी या तरक़्क़ी में कभी मदद की?"

"कभी किसी बेसहारा के सर पर हाथ रखा?"

"किसी डेलीवेजर या फ़ोर्थ ग्रेड मुलाज़िम के भले की ख़ातिर किसी अफ़सर या हाकिम से भिड़े?"

"अपने अतराफ़ परेशान ख़ातून की बच्चियों के मुस्तकबिल का कभी ख़्याल आया?"

थोड़े वक़्फ़े के बाद उसने फिर कहा :

"किसी को आगे बढ़ाना, बनाना, मदद करना ही असल काम है, लेकिन बहुत मुश्किल होता है।"

हमारे के. पी. सिंह इसी मुश्किल जुमरे से तअल्लुक़ रखते हैं और बजा तौर पर एक मिसाली हैसियत के हामिल हैं। उनकी शख़्सियत सरापा सादगी, दर्दमंदी, मुरव्वत और हिम्मते-आली से मिलकर बनी है। जब उन पर चंद सुतूर लिखने का इरादा किया, तो न जाने कितनी यादों में सफ़र करना पड़ा। सोचा था कि अपनी बात को इस सवाल तक महदूद रक्खूँ कि के. पी. साहब किस पाये और किस शान के अलीग हैं। लेकिन, ग़ौर किया तो अंदाज़ा हुआ कि उनकी मुतनव्वे शख़्सियत के मुख़्तलिफ़ पहलू मसलन—उस्ताद, अदीब, दानिशवर, अन्जुमनसाज़, अदबी सहाफ़ी, अलीग और दोस्त एक-दूसरे से इस क़दर मज़बूती से जुड़े हुए हैं कि मुमकिन ही नहीं बात किसी एक पहलू तक महदूद रहे। उन तमाम दायरा-हाए-कार में वो हमावक़्त शदीद समाजी सरोकार, एतमाद, हौसलामंदी, मुरव्वत और दोस्तदारी के साथ सरगर्मे-अमल रहते हैं। के. पी. साहब को कभी बहुत क़रीब, कभी नज़दीक और दूर से देखने के बेशुमार मवाक़े मिले—फ़ैकल्टी में, उनके शोबे में, जनवादी लेखक संघ के फ़ोरम पर, शोबए-राब्तए-आम्मा और नेशनल सर्विस स्कीम के कॉन्फ्रेंस और मज़ाकरों में, घर पर, दोस्तों, अदीबों और शहरियों के दरम्यान। बिलू-वास्ता और बिलावास्ता उनकी शख़्सियत जिस क़दर रौशन हुई, उसी क़दर हैरत और रश्क का अहसास हुआ कि वे अपने मिशन में कितने बेलौस हैं। किस सादगी और बेपनाहियत से अपने मनसूबों में मुनहमिक और उन पर कारबंद रहते हैं। उनके साथ दोस्तों, शागिर्दों और मुआवेनीन का एक मजमा होता है। बारहा उन्हें यूनीवर्सिटी और शहर के सख़्त बुहरानी दौर में अपनी टीम के साथ अमनो-अमान के लिए कोशाँ, फ़लाहे—आम्मा के लिए मुतफ़क्किर और रजअतपसंदों के आमने-सामने पाया। बात यूनीवर्सिटी की हो, तलबा की हो, कोई समाजी क्राइसिस हो या मुआमला दोस्तों की हिमायत व वकालत का हो, के. पी. साहब के लिए सरासर ज़ाती मसला बन जाता है।

आगे बढ़ने से पहले थोड़ी-सी तमहीद ज़रूरी है। 1974 में हमारे क़ैसर नक़वी साहब बाल बिरादरी (एन.एस.एस.) के कर्ता-धर्ता बल्कि रूहे—रवाँ थे। फ़रहत आपा (उनकी बेगम), अंजुम बाजी (उनकी बेटी), नफ़िसयात के माबूद हसन साहब, यूनीवर्सिटी के कुछ नौजवान असातज़ा और सीनियर तालिब इल्मों की एक टीम उनके हमराह रहती थी। एक समाँ था। नाटक, स्किट, माएम, ग्रुप साँग, डिबेट, बैतबाज़ी, तराने, गीत-संगीत, क़व्वाली, आर्ट, क्राफ़्ट्स, फ़ोटोग्राफ़ी, फ़ैंसी ड्रेस, बच्चों के लिए तरह-तरह की acitivities का एहतेमाम होता था। 26 जनवरी, 15 अगस्त, 2 अक्तूबर, 14 नवंबर की तक़ारीब के लिए कई-कई हफ़्ते तैयारियाँ चलती थीं। फिर मारके के मुक़ाबले होते थे, जिनमें तालीम व सक़ाफ़त की अहम हस्तियाँ मौजूद होती थीं। क़ैसर नक़वी साहब बिला शुबा इस तमाम चहल-पहल और रौनक़ के मरकज़ व महवर थे। मैं उस वक़्त पाँचवीं क्लास में पढ़ता था, अच्छी तरह याद है—'ऐ मेरे वतन के लोगो', 'हम लाये हैं तूफ़ान से क़श्ती निकाल के', 'सारे जहाँ से अच्छा', 'दे दी हमें आज़ादी, वैष्नो जन तो तिन्ने कहिए' का सबक़ वहीं पक्का हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के. पी. साहब एन.एस.एस. के को-ऑर्डीनेटर थे, उन्होंने बड़े एतमाद और ख़ामोशी से पंद्रह-सोलह साथियों की लिस्ट तैयार की और बाला-बाला नोटीफ़िकेशन के लिए भेज दी। एक दिन डीन ऑफ़िस से निकलते हुए मुझे इशारा करके बुलाया और कहा, "भई, एन.एस.एस. के लिए हमें कुछ अच्छे लोग चाहिए थे, मैंने तुम्हारा नाम शामिल कर लिया है...हमारे साथ रहो।" मैंने कहा, "जैसा आपका हुक्म..." उसके बाद सोचता ही रहा, के. पी. साहब हमसे मुहब्बत करते हैं। हम पर अपना हक़ समझते हैं। हमें किन चीज़ों से दिलचस्पी है, हम किस मसरफ़ के हैं, बग़ैर कहे और बताये हुए जान लेते हैं।

चंद बरस के. पी. साहब के साथ रहकर किसी क़दर अंदाज़ा हो गया कि जम्हूरी तर्ज़े-अमल क्या शय है, लीडरशिप किसे कहते हैं, टीम वर्क के क्या आदाब होते हैं। यानी ख़ुद को इम्पोज़ मत कीजिए, साथियों के best को पहचानिए, बराबरी और बाहमी रब्त का अहसास पैदा कीजिए। सबसे बढ़कर ये कि इज्तेमाई कामों को बिल्कुल ज़ाती बना लीजिए। एन.एस.एस. से वाबस्तगी के. पी. साहब के मिज़ाज और तरीक़ेकार को समझने में बहुत कारगर साबित हुई। लेकिन साहब दोस्त, दोस्ती, दोस्तदारी और दोस्तनवाज़ी उनके सबसे बड़े winning points हैं। यही रवैया उनकी शख़्सियत का सबसे ज़र्री बाब भी कहा जा सकता है। दोस्ती अफ़राद से हो, इदारे से हो, हिन्दी और लोक-अदब से हो, उर्दू ज़बान व अदब से हो या अक़दार से, उन्होंने ख़ूब-ख़ूब निभायी है, जो एक फ़र्द की हैसियत से कोई मामूली कारनामा नहीं। सादगी के साथ फ़राग़दिली और वसीउन्नज़री इस क़दर कि ऐसा अक्सर देखने में आया कि मौसूफ़ ने किसी शख़्स के सिर्फ़ एक तामीरी पहलू की वजह से उस पर भरोसा किया, अपने साथ लिया और वक़्त-ज़रूरत उसके काम भी आये। बाद में वही आदमी उनसे मुन्हरिफ़ हो गया और उनका मोतरिज़ भी।

एक ज़माने में उनके दोस्त उर्दू शायर जावेद कमाल (उर्फ़ वाजिद अली ख़ाँ साहब) के मुतअद्दिद अशआर यूनीवर्सिटी में ज़बान ज़दे ख़ासो-आम थे। मसलन यह शेर—

'अपने पैदा किये सूरज की शुआएँ माँगो,
भीक माँगी हुई किरनों का भरोसा क्या है।'

उर्दू अदीबों की दुनिया, बिलख़ुसूस अलीगढ़ अजब दुनिया है। हस्बे-दस्तूर अपने वक़्त में बहैसियत शायर जावेद कमाल को वो मुक़ाम बिल्कुल नहीं मिला, जिसके वो मुस्तहक़ थे। आज जावेद कमाल का मुख़्तसर कलाम 'आवाज़ न दो' के.पी. सिंह की कोशिशों से किताबी शक्ल में मौजूद है। इस शेरी मजमूए की इशाअत में जावेद कमाल के तीन दोस्त यानी के. पी. साहब, बलदेव मिर्ज़ा और असग़र वजाहत की सुतूर भी शामिल हैं। ये तीनों ही तहरीरें उस ज़माने की दोस्ती और अक़दार की उम्दा तस्वीर पेश करती हैं। जावेद कमाल के अशआर से पता चलता है कि ये सिर्फ़ यारों के यार और एक मजलिसी शख़्स का कलाम नहीं, बल्कि बेपनाह सलाहियत के हामिल एक फ़ितरी शायर की आवाज़ है।

इसी तौर से के. पी. साहब ने मासूम रज़ा राही के मुतफ़र्रिक़ अदबी व सक़ाफ़ती मस्विदों को यकज़ां करने में बड़ी जाँकाही का सुबूत दिया है।

बहैसियत अदीब वो समाजी ज़िम्मेदारी को फ़ीक़ियत देते हैं। उस्ताद ऐसे कि तलबा की तरबियत और मुस्तक़्बिलसाज़ी में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। उनकी रफ़ीक़े-हयात डॉक्टर नमिता सिंह, साइंस के शोबे से तअल्लुक़ रखती हैं और मारूफ़ कहानीकार हैं। नमिता जी का अपना एक शख़्सी डिसिप्लीन है, वो के. पी. साहब के तमामतर सरोकार जद्दो-ज़ेहद और मक़ासिद में जिस ख़ुशदिली से शामिल रही हैं और जो इश्तिराक देखने में आया है, वो अपनी मिसाल आप है। कॉलेज, कहानी, घर, बच्चों की तरबियत, के. पी. साहब और उनके अहबाब व शागिर्द—नमिता जी हर-हर महाज़ पर बहुस्नो-ख़ूबी कामयाब और कामरान हैं। वो भी इस क़दर कि ज़िक्र के. पी. साहब के अचीवमेंट का हो, तो मुमकिन ही नहीं कि नमिता जी के रोल को नज़रअंदाज़ किया जा सके।

ऐसा भी नहीं कि सिंह साहब ने हर क़िस्म के लोगों को इंस्पायर किया हो या सिर्फ़ मोतरिफ़ ही पैदा किये हों। चंद लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें वो कभी नहीं जँचे या ये कहिए कि मौसूफ़ उनकी समझ में नहीं आये। इस उम्र का एतराफ़ भी ज़रूरी है कि उन्होंने लोगों को मायूस बल्कि फ़्रस्टेट किया। उनमें ज़्यादातर वो लोग शामिल हैं, जो फ़ितरतन तंगनज़र हैं, जिनका तअल्लुक़ इस इदारे से रोटी-रोज़ी और ज़ाती पोज़ीशन तक महदूद रहा। बिलख़ुसूस वो लोग, जिन्होंने समाज और सोशलिज़्म की रविश को महज़ दिखावे के तौर पर ओढ़े रखा और वो भी, जिन्होंने किसी वक़्त डॉक्टर साहब से ख़ाति-ख़्वाह फ़ायदा उठाया और बाद में किनाराकश हो गये।

1992 में जर्मन फ़ल्सफ़ी क़ान हम बोल्ट पर एक किताब शाया हुई थी, जिसमें उसे एक आला पाये का ह्यूमनिस्ट क़रार दिया गया था। किताब का उन्वान ख़ासा दिलचस्प था—A Humanist without Portfolio?' यही फ़िक़रा सच पूछिए तो के. पी. साहब पर बख़ूबी सादिक़ आता है कि उनकी ज़िंदगी इन्सानियत और ग़ैर मशरूत इन्सान-दोस्ती की उम्दा मिसाल है। ये ज़िंदगी है एक शख़्स की, जो रूदाद, कहानी, तअस्सुर और नुकूश से कहीं आगे रहा। नामवराने-अलीगढ़ में उनकी हैसियत इस क़दर इन्फ़रादी है कि अलीगढ़ की मस्बत-तामीरी और आला अक़दार का कोई भी मुतालेया या तज़किरा उनके बग़ैर अधूरा ही रहेगा।

भाषाविज्ञान विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलीगढ़ की अंतरात्मा

आशुतोष कुमार

"के. पी. सिंह तो कहने भर को हिन्दू हैं। मुस्लिम यूनीवर्सिटी में रहते-रहते लगभग मुसलमान ही हो गये हैं। हिन्दुओं की तरफ़दारी तो वे कभी कर ही नहीं सकते। मुसलमानों की ही गाते रहते हैं।"

'के. पी. सिंह यूनीवर्सिटी में हिंदुओं के एजेंट हैं। ये जितने लेफ़्ट वाले हैं, यूनीवर्सिटी में सेक्यूलरिज़्म की बातें करते हैं। अंदर-ही-अंदर आर.एस.एस. से मिले रहते हैं। के. पी. सिंह उन सबके नेता हैं।"

"के. पी. सिंह लेफ़्ट की तरक़्क़ी के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा हैं। आंदोलन-वांदोलन तो कभी करते नहीं, केवल यूनीवर्सिटी की राजनीति, जोड़-तोड़, जुगाड़ में लगे रहते हैं। वहाँ भी लेफ़्ट-ग्रुप के बँटवारे और बिखराव के लिए वही ज़िम्मेवार हैं...।"

1997 में, जब मैं अलीगढ़ पहुँचा था, के. पी. सिंह यूनीवर्सिटी से 'सरकारी तौर पर' अवकाश प्राप्त कर चुके थे। बावजूद इसके वे हर कहीं मौजूद थे। उनकी मौजूदगी के बग़ैर न शहर में कुछ हो सकता था, न कैंपस में। उनके बारे में की जाने वाली शिकायतों की लिस्ट लंबी थी। जितनी तरह के लोग, उतनी तरह की शिकायतें। राजनीतिक विरोधियों को छोड़िए, उनके चाहने वालों, उनके 'अपनों' को भी कम शिकायतें न थीं। 'उस्ताद' ने यह किया, वह नहीं किया। अलीगढ़ आकर ही पता चला कि हिन्दी में 'उस्ताद' जैसे शब्द का उच्चारण बहुत आदर और प्यार के साथ भी किया जा सकता है।

विचित्र पहेली थी। शिकायतें सबको थीं, लेकिन उनके बग़ैर काम भी न चलता था। पुराने परिवारों में ऐसे बुज़ुर्ग होते थे। वे सबसे नाराज़। सब उनसे नाराज़। फिर भी...

फिर भी...एक अजीब-सा भरोसा। लगभग एक आदत जैसा। कोई समस्या होगी, संकट आएगा, तो आप हिन्दू हों या मुसलमान, जनवादी हों या अभिजनवादी, प्रगतिशील हों या परम-क्रांतिकारी पहुँचना तो उस्ताद के पास ही होगा।

अब न वे परिवार रहे, न वे बुज़ुर्ग। लेकिन अलीगढ़ जैसे क़स्बाई शहरों में के. पी. सिंह जैसे कुछ लोग अभी हैं। वे बूढ़े होंगे। बीमार होंगे। उनके हाथ काँपते होंगे। उनकी आवाज़ बहुत ध्यान से सुननी पड़ती होगी। आधी सुन पड़ती होगी, आधी शून्य में खो जाती होगी। फिर भी, उसमें एक भरपूर गुज़रे हुए ज़माने की अनुगूँजें होंगी और आते हुए समय की आहटें भी। जिन्हें यकीन न हो, वे हर महीने 'वर्तमान साहित्य' के आख़िरी पृष्ठ पर कुँवरपाल सिंह के आलेख पढ़ सकते हैं।

मैं तो 'जसम' का झंडा उठाये अलीगढ़ आया था। अलीगढ़ के सांस्कृतिक आसमान में 'जलेस' का जलवा हो, तो हो। 'जसम' करने का मतलब यहाँ की समूची साहित्यिक-बौद्धिक बिरादरी के सामने तन जाना हो, तो हो। जे.एन.यू. में पाँच साल 'आइसा' करके आया था। वहाँ हमने एस.एफ़.आई. के वर्चस्व को चुनौती दी थी। पटख़नी भी दी थी। यहाँ जनवादी मुझे क्यों छोड़ने लगे? वो भी के. पी सिंह की सदारत में? कच्चा ही न चबा जाएँ। देखा जाएगा।

उन दिनों कारगिल का शोर था। वाजपेयी के परमाणु राष्ट्रवाद की फ़सल लहलहा रही थी। गलियों में चरचा थी कि पाकिस्तान पर एटम बम क्यों न पटक दिया जाए। आख़िर किसलिए बनाकर रखा है। तय हुआ कि 'जसम' की पहली गोष्ठी कारगिल पर ही हो। जनता के बीच बहस ले जायी जाए कि कारगिल के लिए वाजपेयी सरकार की नीतियाँ और रणनीतिक ग़लतियाँ किस तरह ज़िम्मेदार हैं। सैन्य राष्ट्रवाद किस तरह न केवल राष्ट्र की प्रगति को, बल्कि उसकी सुरक्षा को भी संकट में डालता है। एटम बम ने हमें पाकिस्तान के बरअक्स मज़बूत नहीं बनाया है, बल्कि बराबरी पर ला दिया है।

शहर में 'जसम' और कुछ और हाशिये के संगठनों की पहली गोष्ठी, वो भी कैंपस से दूर। ऐतिहासिक मालवीय पुस्तकालय के एक धूल-धूसरित कक्ष में, जहाँ अब चंद प्रतियोगी परीक्षार्थियों के सिवा कोई नहीं आता-जाता, कौन आएगा? सिंह-दंपति को निमंत्रित तो कर आये थे, लेकिन वे भला हमारी गोष्ठी में इतनी दूर क्यों आने लगे। गोष्ठी का समय हो गया। अभी अपने लोग भी कम ही थे। कुर्सियों की धूल झाड़ी जा रही थी। तभी मुस्कुराते हुए के. पी. सिंह और नमिता सिंह प्रकट हो गये। गोष्ठी भर जमे ही नहीं रहे, जमकर हस्तक्षेप भी किया और डटकर उत्साह-वर्धन भी। या इलाही ये माज़रा क्या है!

माजरा जब तक समझ आता, तब तक एक सिलसिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू हो गया। इराक़ पर हमले का वातावरण बनाया जा रहा था। 'जसम' ने 'युद्ध के विरुद्ध कविता' का नारा दिया। इस चर्चित शृंखला का पहला कार्यक्रम अलीगढ़ में हुआ। सिंह साहब की सदारत में जलेस के साथियों का पूर्ण सहयोग न मिला होता, तो यह कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता था। जलेस, प्रलेस, जसम न केवल एक मंच पर आये, बल्कि शहर में वाम-संस्कृति की एक मज़बूत धुरी के रूप में सक्रिय हो उठे। इराक़ पर हमला हुआ, तो पुराने शहर की उन भीड़ भरी गलियों में हमने एक संयुक्त जन-मार्च निकाला, जहाँ कैंपस के भद्रजन आम दिनों में भी जाना पसंद नहीं करते। कुछ समय बाद शहर सांप्रदायिक तनाव की गिरफ़्त में आया। आधे शहर में महीना भर कर्फ़्यू लगा रहा। ज़ाहिर है, यह शहर का वही हिस्सा था, जिसमें बड़ी संख्या में अल्पसंख्यक आबादी रहती है। इस शहर में कुछ ऐसी अज़ीम शख़्सियतें भी रहती हैं, जिन्हें दुनिया जानती है। न जाने क्यों, वे ख़ामोश रहीं। उन्होंने कर्फ़्यू के ख़िलाफ़ कोई आवाज़ न उठायी, जबकि लोगों का जीना दूभर था। बच्चे-बूढ़े-बीमार दूध-रोटी को तरस रहे थे। यह ज़रूरी था कि ख़ामोशी तोड़ी जाए। हमने तय किया कि शहर के केंद्र—सेंटर प्वाइंट—तक एक मोमबत्ती जुलूस निकालें। भाईचारे का नारा बुलंद करें। हस्तक्षेप बेहद कामयाब रहा। भारी संख्या में सभी समुदायों के लोग आये। शहर की साँस घुट रही थी। हमारी पहल का चहुँ ओर स्वागत हुआ। कुछ समय बाद कर्फ़्यू उठा लिया गया।

वामपंथी एकता पर बहुत बहसें होती हैं। अलीगढ़ में हमने इस पर कोई बहस नहीं की। बस, मिलजुलकर काम करते रहे। एक-दूसरे के कार्यक्रमों में उत्साहपूर्वक यों शरीक रहे, जैसे हर कार्यक्रम अपना ही हो। जहाँ ज़रूरत पड़ी, तत्काल संयुक्त कार्यवाहियों की योजना बना डाली और उन्हें कार्यान्वित किया। अलीगढ़ में पार्टियों की सक्रियता कम थी। हर मुद्दे पर हमारे सांस्कृतिक संगठनों ने ही हस्तक्षेप करने की ज़िम्मेदारी उठायी। आज भी वामपंथी संगठन ही इस शहर की सांस्कृतिक घुट्टी हैं। यह वातावरण नहीं बन सकता था, अगर सिंह साहब की दूरदृष्टि, विचारधारात्मक उदारता और युवाओं जैसे सक्रिय उत्साह का जादू न होता।

वैचारिक मतभेद जहाँ थे, वहाँ थे। सिंह साहब बहसों से कतराये नहीं। न हमें अपनी बात कहने से रोका, न अपनी बात कहने से चूके। घनिष्ठता के बावजूद उन्होंने कभी यह संकेत नहीं दिया कि वे हमारी सांगठनिक और वैचारिक प्रतिबद्धताओं से किंचित् भी असुविधा महसूस करते हों। मैंने जितना समझा है, उनके लिए वामपंथ की बुनियादी कसौटी है—अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने की तड़प। यह युयुत्सु-भाव न हो, तो वामपंथ की सारी चर्चा केवल लफ़्फ़ाजी है। मैं नहीं जानता, हमारे कितने महान लेखकों में यह भावना अब भी बची है। मैं तो के. पी. सिंह को ज़्यादा जानता भी नहीं। पिछले दस-बारह बरसों से ही उन्हें देख रहा हूँ। पुराने क़िस्से बहुत सारे सुने ज़रूर हैं। ख़ुद उनसे भी बहुत कुछ सुना है। लेकिन, वे कभी ख़ुद की चर्चा नहीं करते। पुराने अलीगढ़ की यादों का एक बेशक़ीमती ख़जाना है उनके पास। राही मासूम रज़ा से लेकर जावेद कमाल तक की यादों का। यह भी अजीब है कि वे जिस शिद्दत से नूरुल हसन और अब्दुल अलीम को याद करते हैं, उसी शिद्दत से चाय की दूकान चलाने वाले शायर जावेद कमाल को भी। राही की अप्रकाशित सामग्री के प्रकाशन के लिए जितने बेचैन रहते हैं, उतने ही जावेद कमाल की भूली-बिसरी शायरी के लिए भी।

अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने की वह बेमिसाल तड़प ही है, जो आज भी नौजवानों को उनकी ओर खींचती है। वह वाकया पुराना नहीं है, जब कैंपस की एक प्रतिभाशाली मुस्लिम छात्रा को अन्याय और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। उसका अपराध यह था कि वह जींस पहनकर कक्षाओं में आती थी। वैसे तो उसके ख़िलाफ़ अभियान चलाने वाले और धमकाने वाले तत्व कुछ थोड़े-से ही थे। कैंपस में अधिकांश लोगों की सहानुभूति उसके साथ रही होगी, फिर भी उत्पीड़क तत्त्वों के ख़िलाफ़ मुँह खोलने वाला और पीड़िता के साथ खड़े होने की हिम्मत करने वाला कोई न था। इस परिसर में बहुत सारे अन्याय इसलिए भी चुपचाप सहन कर लिये जाते हैं कि उनकी चर्चा होने पर यूनीवर्सिटी की प्रतिष्ठा को आँच पहुँचेगी। यह इस परिसर का एक विचित्र स्वभाव है, लेकिन समझ से परे नहीं। जिस यूनीवर्सिटी को बदनाम करने की हज़ारहों कोशिशें निहित स्वार्थों के द्वारा चलती ही रहती हों, वहाँ ऐसी ग्रंथि का विकसित हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। ऐसे में, जब आप किसी आंतरिक अन्याय के ख़िलाफ़ हल्की-सी आवाज़ भी उठाएँ, तो दुनिया भर में फैली अमुवि बिरादरी की तनी हुई भृकुटि का सामना करने के लिए तैयार रहें। स्थानीय विरोध की उत्कटता का अनुमान लगाया ही जा सकता है। लेकिन, उस बहादुर लड़की के लिए यह केवल ड्रेस का मसला नहीं था। उसने मज़बूती से कैंपस में लड़कियों की अस्मिता, सम्मान, आज़ादी और अधिकारों के सवाल उठाये। कितने कैंपसों में लड़कियों को इन सवालों को छेड़ने का भी अवसर मिलता है। मसला तो है, धीरे-धीरे हल किया जाएगा, लेकिन अभी इसे बड़ा मुद्दा मत बनने दो। दुश्मनों को यूनीवर्सिटी पर हमला करने का आसान मौक़ा मुहैया मत करो। अगर ऐसा करोगी, तो दुश्मन ख़ेमे की ही मानी जाओगी। फिर कौन तुम्हारे साथ खड़ा होगा?

लेकिन, के. पी. सिंह उठ खड़े हुए। इसके लिए कितना असाधारण नैतिक साहस और वैचारिक निष्ठा चाहिए, इसे अलीगढ़ में बैठकर ही समझा जा सकता है। शहर में आप शहर के नहीं, यूनीवर्सिटी के समझे जाते हैं। आपके समूचे जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही वही है, ताक़त वही है। एक अपरिपक्व छात्रा की सनक लिए समूची यूनीवर्सिटी बिरादरी की नाराज़गी आप क्यों लेंगे? क्यों नहीं, सच्चाई की आवाज़ दबा दी जाए, इसमें र्सिटी की प्रतिष्ठा नहीं है। उत्पीड़न को नज़रअंदाज़ कर जाए, इसमें कैसी प्रतिष्ठा? प्रतिक्रियावाद का मुखर विरोध चाहिए। इसी में सच्ची प्रतिष्ठा है।

के. पी. सिंह ने उस लड़की के साथ आये उसके चंद से हँसकर कहा—"अगर और कोई नहीं, तो यह 'बूढ़ा कारी' तुम्हारा साथ देगा।" और उन्होंने डटकर साथ दिया। उसकी क़ीमत भी चुकायी। लेकिन, उन्होंने उस बहादुर की की आवाज़ को दब जाने नहीं दिया।

अलीगढ़ के दंगों के बारे में मैंने सुना भर है। जब यह ाह फैली थी कि अमुवि के मेडिकल कॉलेज में हिन्दू ों की हत्या की जा रही है, तब इसका खंडन करने के के. पी. सिंह और उनके साथियों ने किस तरह अपनी की बाज़ी लगायी थी, इसके प्रामाणिक विवरणों की सच्चाई शक की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

अन्याय कहीं भी हो, स्थानीय स्तर पर अथवा अंतरराष्ट्रीय पर, अलीगढ़ में उसका विरोध ज़रूर होगा। कम-से-कम तक तो ज़रूर, जब तक उस्ताद हमारे बीच हैं। इसीलिए उन्हें अलीगढ़ की अंतरात्मा कहता हूँ—कांशन्स ऑफ़ अलीगढ़।

केवल लोगों के लिए नहीं, फूल-पत्तियों के लिए भी उन्हें तरह लड़ते देखा है। सामने के पार्क की हरियाली इसका है। कुछ समय पहले एक दारोग़ा ने उस पार्क में ी-ब्याह का भोज करवा डाला। पेड़-पौधों को नुक़सान हुआ। उस्ताद ने उसके ख़िलाफ़ मुहिम शुरू कर दी। अज़ीज़ों ने समझाया कि इस उम्र में कम-से-कम पेड़-पौधों के लिए पुलिस के पचड़े में मत पड़िए, लेकिन उस्ताद के पास ऐसी समझदारी के लिए फ़ुरसत कहाँ। पिल पड़े और सरकार बहादुर से माफ़ी मँगवाकर छोड़ी, इस वायदे पर कि उस पार्क को फिर से हरा-भरा किया जाएगा। और, सरकार को वायदा पूरा करना पड़ा।

उस्ताद के चाहने वालों और शिष्यों की जमात बहुत बड़ी है। हम भी इसमें शरीक हैं। लेकिन, सवाल जो कचोटता है, वह यह कि इस जमात में ऐसा कौन होगा, जो उस्ताद के युयुत्सु भाव की विरासत को अंगीकार करेगा और आगे बढ़ाएगा!

हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

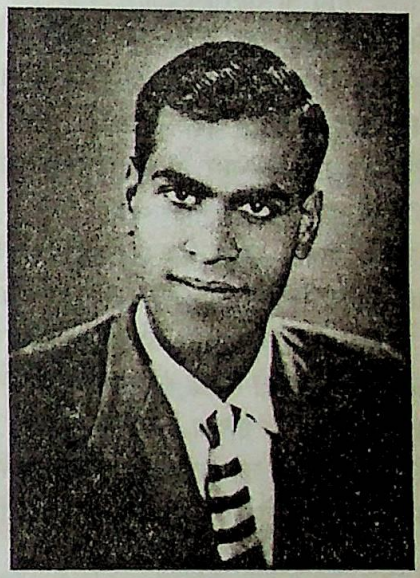

प्रो. के.पी. सिंह एक महान व्यक्तित्त्व के मालिक थे। वह एक अच्छे शिक्षक, उच्चकोटि के लेखक होने के साथ बहुत अच्छे मनुष्य थे। वे न केवल यूनीवर्सिटी एवं अलीगढ़ शहर, बल्कि पूरे देश में हिन्दी साहित्य-जगत् के प्रतिनिधि के रूप में प्रख्यात थे। उन्होंने सदा ही यूनीवर्सिटी एवं समाज को मज़बूत संबंधों में बांधे रखा।

प्रो. के.पी. सिंह सामाजिक कार्यों में भी सक्रिय भूमिका निभाते थे। वे एक समतामूलक समाज के पक्षधर थे और इसी कारण उनका प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा केंद्र से घनिष्ठ संबंध रहा। वे केंद्र की परामर्श समिति के सदस्य भी रह चुके थे। उन्होंने अपने मशविरे से ऐसा मार्गदर्शन किया, जिसके फलस्वरूप केंद्र ने एक सराहनीय स्थान प्राप्त कर लिया।

प्रो. के.पी. सिंह एक निडर, साहसी और आशावादी सोच के व्यक्ति थे। उन्होंने जे.एन.मेडीकल कॉलेज को अपना शरीर दान करके आज के उपभोक्तावादी समाज के समक्ष ऐसी मिसाल पेश की है, जिसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है।

वास्तव में प्रो. सिंह लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में न केवल दृढ़ विश्वास रखते थे, बल्कि उन पर कार्यरत भी थे। उन्होंने अपना जीवन एक बेहतर समाज के निर्माण में लगा दिया था। वे जिस काम को करने का बीड़ा उठा लेते थे उसे तन-मन और धन से पूरा करते थे, उन्होंने सदा कट्टरवाद, सांप्रदायिकता और अन्याय का घोर विरोध किया।

डॉ. सीमा मसूद

डायरेक्टर, प्रौढ़, सतत् शिक्षा एवं विस्तार केंद्र, अ.मु.वि., अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अच्छे इन्सान–एक अच्छे दोस्त

अबू क़मर

प्रो. कुँवरपाल सिंह कैंपस और दोस्तों में के. पी. के नाम से जाने जाते हैं। वो कितने बड़े साहित्यकार या विद्वान हैं, ये तो हिन्दी-जगत् के लोग जानेंगे, मैं उन्हें एक अच्छे इन्सान, अच्छे और भरोसे वाले दोस्त तथा समाज-सेवक के रूप में जानता हूँ। वो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में लंबे समय तक प्रोफ़ेसर, हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, कला संकाय के डीन और न जाने किन-किन पदों पर रहे और 1997 में अवकाश प्राप्त करके अलीगढ़ में ही बस गये।

उन्हें मैं जानता तो तीस वर्षों से भी अधिक से हूँ, परंतु व्यक्तिगत परिचय, मेलजोल, एक-दूसरे के घर आना-जाना लगभग 20 वर्षों से है। मुझे यह लिखने में गर्व हो रहा है कि वो मुझे अपना दोस्त कहते हैं। वो मुझसे काफ़ी सीनियर हैं, यदि मैं उनके विषय या संकाय का होता, तो उनका शिष्य होता।

के. पी. के बारे में तो कितना कुछ लिखा जा सकता है, मगर मैं दो-चार विशेषताएँ, जो मुझे सराहनीय लगती हैं, लिखना चाहता हूँ।

के. पी. धर्म-निरपेक्षता का संपूर्ण स्वरूप हैं। वो केवल राजनीति के लिए पार्टी से नहीं जुड़े थे, बल्कि दिल से धर्म-निरपेक्ष हैं। इसके साथ-साथ वो एक निडर इन्सान भी हैं। जब भी शहर में सांप्रदायिक तनाव हुआ, वो बिना भेद-भाव के लोगों की मदद में लग जाते। हिन्दू होने के नाते बेखौफ़ हिन्दू मोहल्ले में जाते और निडर तथा निरपेक्ष होने के कारण उसी जोश से मुस्लिम मोहल्लों में जाते। लोगों की मदद करते, कर्फ़्यू वाले क्षेत्र में खाने की सामग्री पहुँचाते और लोगों में प्यार और सद्भावना का संदेश फैलाते। उनके साथ उन जैसे बहुत-से लोग जुड़ जाते। उनके लेखों में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश होता है।

अपने लिए तो जानवर भी जीता है। के. पी. का जीवन और सोच इस बात का सबूत है कि इन्सान वो, जो दूसरों के लिए जिये, कुछ करे। उनमें समाज-सेवा कूट-कूटकर भरी है। मुझे तो उनके साथ कुछ मेडीकल कैंपों में काम करने का अवसर मिला है। अक्सर उनका फ़ोन आता कि "भाई अबू क़मर साहब, आप मेडीकल कॉलेज के एक सीनियर प्रोफ़ेसर हैं–एक हेल्थ कैंप लगाना है।" कुछ नाम वो देते, कुछ से मैं स्वयं संपर्क करता। डॉक्टरों से यह आग्रह भी करते कि दवाओं के सैंपल भी लेते आना। एक रविवार...और कोई पिछड़ा मोहल्ला या 10-20 कि.मी. पर कोई गाँव तय हो जाता। सभी डॉक्टर और दूसरे लोग अपनी-अपनी गाड़ियों से वहाँ पहुँच जाते। डॉक्टरों में मेरे अलावा जो अक्सर भाग लेते उनमें स्व. प्रो. आसिफ़ुज़्ज़मा डॉ. शादाब और डॉ. शोएब ज़हीर मेडीसिन के, डॉ. सीमा आलम पीडियाट्रिक्स की, प्रो. अबरार हसन, ई.एन.टी. के इत्यादि होते के. पी. के साथ उनकी टीम होती, जिसमें एल.आई.सी. के पचौरी साहब, उनके शिष्य डॉ. अजय बिसारिया और यूनीवर्सिटी के स्व. प्रो. जमाल सिद्दीक़ी सबसे सक्रिय रहते। पहले से उस गाँव में ऐलान कर दिया जाता और मरीज़ जमा हो जाते। इस प्रकार, के. पी. ग़रीबों और पिछड़े लोगों की मदद में लगे रहते और भी कितने प्रकार से समाज-सेवा करते रहते। पर्यावरण और प्रदूषण पर व्याख्यान, गोष्ठी तथा कैंप। सड़क के किनारे पेड़ लगाना, इत्यादि।

जब मैं 2007 में मेडीकल कॉलेज का डीन हुआ, तो बहुत ख़ुश हुए और बोले, "अब आसानी हो जाएगी। तुम्हारे कहने से डॉक्टर आसानी से मान जाएँगे।" इस दौरान् उन्होंने कई हेल्थ कैंप आयोजित किये।

ए.एम.यू. के कार्यकाल के दौर में वे काफ़ी लोकप्रिय रहे जहाँ वोट देने वालों में बहुमत मुसलमानों का हो, वहाँ यूनीवर्सिटी की सबसे महत्त्वपूर्ण विधिक संस्था एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल (ई.सी.) के सदस्य निर्वाचित हुए। उस समय के बड़े-बड़े दिग्गजों को हराया। एक इतिहास क़ायम किया।

अंत में, व्यक्तिगत अनुभव में एक विशेषता, जो आजकल मुश्किल से मिलती है, वो थी उनकी विश्वसनीयता। वो पूरे भरोसे वाले दोस्त हैं। कभी, किसी समय कोई समस्या आ जाए, तब सबसे खड़े हो जाते और पूरी मदद आख़िर तक करते। ऐसे लोग कम हैं।

पूर्व डीन, मेडीसिन संकाय, जवाहर लाल नेहरू मेडीकल कॉलेज, अ.मु.वि., अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ

श्रद्धांजलि

जगदीश नलिन

नियाँ से जाने का क्रम
ी आदिम है, सतत् है, शाश्वत है
स सचाई से गुरेज़ किसे हो
म इस यात्रा के निरंतर गतिमान
हयात्री हैं
यात्राक्रम में किसी की गति द्रुत है
किसी की मध्यम तो किसी की मंद
नें गहरा दुख होता है, जब हममें से
कोई
ौचक क्षितिज की सरहदें पार कर
में पीछे छोड़ जाता है
हसे, यहाँ से जाना मुक्ति नहीं, विश्रान्ति है
नियाँ कोई बन्दीगृह नहीं
मारे संघर्षशील पौरुष की समर भूमि है
क्षितिज के अंर्तप्रदेश में
ठहरे हुए हम अपने पारपत्र की प्रतीक्षा करते
जन-सहकर्मियों को
म आँखें विदा करते हैं।
ीड़ा का जीवश प्रवाहित करता है
म शोक विह्वल हो जाते हैं
साहित्य-कुल-ऋषि
शारस्वत मंडल में प्रदीप्त
एक ऐसे ही दैदिप्यमान नक्षत्र थे
नके अकस्मात अस्त हो जाने पर
मारा कुछ बहुमूल्य खो गया सा लगता है
में कोई विवश कर लूट गया है
म मर्माहत संज्ञाहीन हो गये हैं।
न्हें शत्-शत् नमन
ांति! शांति ! शांति!!!

अध्यक्ष, जनवादी लेखक संघ, जिला ईकाई
भोजपुर (आरा)

एक पहाड़

अशोक तिवारी

एक पहाड़
थामा था जिसने
समूचा जंगल
थामे हुए थे जिसने पेड़-पौधे
जीव-जंतु, तालाब, गरोखर
और नदी...
वही नदी जिसने बहना भी सीखा
उसी पहाड़ की अतल गहराइयों में
जाकर जो टकराती रही
पेड़ों के हज़ारों झुरमुटों से
और बहती रही
समेटते हुए
तमाम कूड़े-कबाड़ को अपने अंदर
अपने से बाहर को
साफ़-सुथरा करने के लिए

एक पहाड़
जिसके सीने में बिखरी पड़ी हैं
पूरे जंगल की जड़ें...
वो जंगल जहाँ
पेड़ अपने पेड़ होने का
अहसास भर नहीं कराते
बल्कि होते हुए एक पेड़
भर लाते हैं अपने अंदर
पहाड़ की ऊँचाई

एक पहाड़
जिसकी विशालता
उसकी ऊपरी कठोरता और
खाड़-खड्डों से नहीं
उसके अंदर मौजूद उस मोम से थी
जो पिघलना भी जानता था
और जमना भी
जो धरती के ममत्व के साथ
अस्तित्व में आया
उसके अंदर बहने वाली
सभी धाराओं की बारीकियों से
पहचान की जानी चाहिए
उसके क़द की
सोच की...

एक पहाड़
जो पहाड़ होने के साथ
इंकार करता रहा पहाड़ होने से
वो पहाड़
वक़्त की तलहटी में खो गया
जिसने पैदा किए
कई-कई और पहाड़
इस ज़मीन को
सुंदर और हसीन बनाने के लिए...

17-डी, डी.डी.ए. फ़्लैट्स, मानसरोवर पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

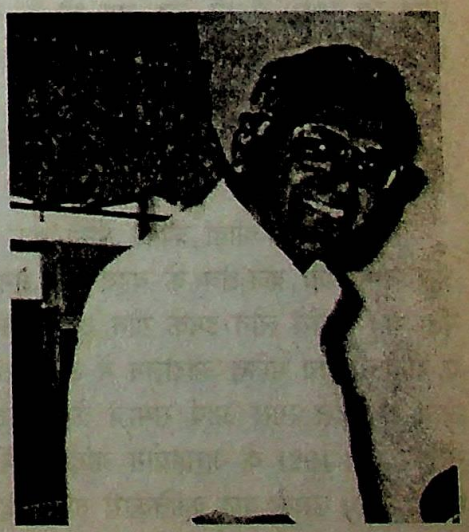

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुलीन संस्कृति बनाम जन-संस्कृति

1955 की बात है, छुट्टी का दिन था। हम लोग गाँव के पंचायतघर पर बैठे ख़ुश्चेव और बुलगानिन की भारत-यात्रा पर चर्चा कर रहे थे। उन दिनों नौजवानों में वामपंथी विचारधारा का व्यापक प्रभाव था। हमारे सभी साथी किसानों में काम करते थे और मूढ़ जी और नागर जी के सांस्कृतिक दल में भी सक्रिय थे। गायन के अतिरिक्त नागर जी के लिखे हुए राजनीतिक एवं सामाजिक नाटक भी गाँव में खेलते थे। उस समय राजनीति सामाजिक और सांस्कृतिक सवालों से भी गहराई से जुड़ी हुई थी, इसलिए किसानों ओर नौजवानों में कम्यूनिस्ट पार्टी का व्यापक प्रभाव था। जनकवि मूढ़ एकाएक हम लोगों के बीच में आकर बैठ गये। उनकी परेशानी देखकर हमने कहा—"आप परेशान दिखायी दे रहे हैं, क्या बात है?" उन्होंने कहा—"भई, मुझे बीस रुपये की ज़रूरत है, दिल्ली जाकर कॉमरेड अजय घोष से मिलना है।" कामरेड घोष उन दिनों पार्टी के महामंत्री थे। मूढ़ जी और नागर जी को व्यक्तिगत रूप से जानते थे। मैंने पूछा—"कामरेड ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी।" वे गंभीर होकर बोले—"मैं उनसे यह पूछूँगा कि नेहरू ऐसे ही प्रगतिशील थे, तो मूढ़ को नेहरू की सरकार ने जेल में इतना क्यों पिटवाया था। मेरे ये दो दाँत क्यों टूटते। हमें पहले ही बता देते कि नेहरू की सरकार प्रगतिशील है, तो हम लोग क्यों इतना संघर्ष करते? नेहरू और उसकी सरकार का चरित्र जो 1950 में था, वह अब भी है। किसान, मज़दूरों के लिए इस सरकार की नीति जो 1950 में थी, वह अब भी है, तो अब क्या नेहरू में सुर्ख़ाब के पर लग गये? भइया, हम तो कॉमरेड घोष से पूछेंगे कि ये सरकार किसानों और मज़दूरों की हितैषी नहीं है, तो हम इसके साथ क्यों सहयोग करें? तेल और पानी को मिलाओ, तो दोनों ही बर्बाद हो जाते हैं।"

मूढ़ जी की पीड़ा काफ़ी सीमा तक सही थी। मूढ़ जी और नागर जी ब्रज-क्षेत्र के बहुत बड़े जनकवि और किसान नेता थे। हज़ारों लोग इनके गीत और भजन सुनने आते थे। ये दोनों राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में आर्य समाज के माध्यम से आये थे। दस साल आर्य समाज के सुधारवादी कार्यक्रमों में सक्रिय रहे। 1921 के असहयोग आंदोलन में कांग्रेस के सक्रिय सदस्य बने। उसके बाद क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय रहे। भगतसिंह और चंद्रशेखर आज़ाद के संपर्क में आये। 1935 में कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य बने। जनमुक्ति के योद्धा जीवन भर किसान और मज़दूरों की मुक्ति के लिए सक्रिय रहे। आज़ादी की लड़ाई में भी कई बार जेल गये और यातनाएँ सहीं, लेकिन मूढ़ जी को जेल में सबसे अधिक यातनाएँ नेहरू की सरकार ने दीं। स्वतंत्रता के बाद कम्यूनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। मूढ़ जी और उनके साथी भी जेल में बंद कर दिये गये। कम्यूनिस्टों के विरुद्ध हर प्रकार का अनर्गल प्रचार किया जा रहा था। अलीगढ़ जेल में कम्यूनिस्टों के सामने जेल अधिकारी उनका उपहास करते थे और उन्हें इस रास्ते को छोड़ने की सलाह देते थे।

जेल अधिकारियों को सरकार की ओर से कम्यूनिस्टों के दमन की पूरी छूट थी। एक दिन जेल अधीक्षक ने कम्यूनिस्टों को भद्दी गालियाँ दीं। मूढ़ जी की सहनशक्ति जवाब दे गयी। उन्होंने तनकर कहा कि—"ख़बरदार! अब गाली दी तो!" जेल अधीक्षक ने तमककर कहा—"मेरा क्या करोगे? और गाली दूँगा।" मूढ़ जी ने एक ईंट उठायी और ज़ोर से उसके मुँह पर दे मारी। जेल अधीक्षक लहूलुहान हो गया और उसके दो दाँत भी टूट गये। फिर क्या था मूढ़ जी की बाँधकर निर्मम पिटाई हुई और उनके भी दो दाँत तोड़ दिये गये। मूढ़ जी मज़े ले-लेकर इस घटना को सुनाते थे-"भईया पिटे तो बहुत, लेकिन फिर किसी भी कम्यूनिस्ट को बुरा-भला कहने की हिम्मत नहीं हुई।"

मूढ़ जी किसानों में कितने लोकप्रिय थे, इसका एक दिलचस्प उदाहरण पुराने किसान नेताओं से सुनने को मिला—अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज क़स्बे में किसान सभा का एक बड़ा सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू आये थे। नेहरू जी के भाषण के दौरान किसान बेचैन हो उठे और शोर मचाने लगे। नेहरू जी की ऊँची सैद्धांतिक बातें उनकी समझ में नहीं आ रही थीं। वे भाषण के बीच में 'मूढ़ जी' और 'नागर जी' को आवाज़ें लगा रहे थे। पं. जवाहरलाल नेहरू बहत गुस्सा हुए और उन्होंने आयोजनकर्ताओं से अंग्रेज़ी में पूछा—"ये नागर कौन है? मूढ़ कौन है?" उन्होंने कहा कि ये किसानों के कवि हैं। मूढ़ जी मंच पर आये। किसानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रजभाषा में उन्होंने ख़ूब डाँटा और कहा कि इतना बड़ा नेता और तुम उसे नहीं सुन रहे। लोगों ने कहा कि ज़रूर सुनेंगे, पहले भजन सुनाइए। उन्होंने किसानों की पीड़ा और शोषण तथा उनके संघर्षों के दो गीत सुनाये। उन्होंने किसानों से अपील की कि पहले पंडित जी को सुनो। उसके बाद मैं तुम्हें और भजन सुनाऊँगा। ये जनगायक सिद्धांत बघारने वाले बुद्धिजीवी नहीं थे, लेकिन किसान भाइयों के हितों की इन्हें गहरी पहचान और परख थी। वे उच्चवर्ग की चालाकी और धूर्तता को भलीभाँति पहचानते थे।

दिल्ली से लौटने के बाद मूढ़ जी से फिर मुलाक़ात हुई। मैंने पूछा—"मूढ़ जी कॉमरेड अजय घोष से क्या बात हुई?" मूढ़ जी मुस्कराकर बोले—"अजय घोष के साथ डॉ. अहमद भी चिपके हुए थे। कॉमरेड घोष कम, डॉ. अहमद ज़्यादा कुतर्क कर रहे थे। मैं तो दुखी हो गया। मैंने कहा, आप पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी हो, स्याह को सफ़ेद सिद्ध कर सकते हो, वर्ग सहयोग की राजनीति पार्टी को ले डूबेगी। आप नेहरू और कांग्रेस को प्रगतिशील नहीं बना सकते। वे आपको ज़रूर अपने रंग में रँग लेंगे।" मूढ़ जी ने यह भी बताया, "ख़ुश्चेव, बुलगानिन भी नेहरू को प्रगतिशील बता गये हैं।" मूढ़जी ने आक्रोश में कहा—"कांग्रेस तो प्रगतिशील नहीं बनेगी, लेकिन रूस के बारे में संदेह होने लगा है।" 1957 में मूढ़ जी की मृत्यु हो गयी। जीवन के अंतिम दिनों में पार्टी की नीतियों को लेकर मूढ़ जी बहुत दुखी थे।

मूढ़ जी के इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि कम्यूनिस्ट और वामपंथियों के बीच कुलीन बनाम जनसंस्कृति का द्वंद्व काफ़ी पुराना है। उस समय यह इतना स्पष्ट नहीं था। सारे कार्य पर्दे के पीछे से होते थे, आज की तरह खुलेआम नहीं। सत्ता के चरित्र के बारे में काफ़ी बहस होती थी और बड़ा बहुमत इसे जनविरोधी मानता था। कांग्रेस को प्रगतिशील मानने वाले 1964 में कम्यूनिस्ट पार्टी में रह गये और कांग्रेस को बड़े पूँजीपतियों और भू-स्वामियों के हितों की रक्षा करने वाली पार्टी मानने वाले मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी में।

कुलीन संस्कृति अपनी राजनीति तय करती है और अपने सामाजिक परिवेश में कार्य करती है। उसने सदैव सत्ता की राजनीति का समर्थन किया है, भले ही वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। उसके पास अच्छी भाषा, शैली और विशाल शब्द-संपदा होती है, इसमें एक विशिष्टता-बोध होता है। वह जन-संस्कृति को सदैव उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। हिन्दी में जन-संस्कृति की सदैव उपेक्षा रही है, लेकिन अंत में विजय उसी की हुई है। सिद्ध और नाथों का साहित्य हो या संतों का, इसे सदैव कुलीन संस्कृति वालों ने हेय दृष्टि से देखा। सिद्ध और नाथ साहित्य को तो सांप्रदायिक साहित्य बताते रहे और कबीर आदि संतों को साहित्यकार ही नहीं मानते थे। उनके लिए बराबर कहा गया कि उन्हें न छंदशास्त्र आता है, न भाषा। ये आक्रोश के कवि हैं। सामंती सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर रखकर उसे सदैव द्वितीय और तृतीय श्रेणी का साहित्य सिद्ध करते रहे हैं।

रोमानी क्रांति की भावना लेकर बहुत से उच्च मध्यवर्ग के लोग पार्टी में आये। उन्हें ये विश्वास था कि भारत में किसान-मज़दूरों के आंदोलनों का जो उभार है, उससे लगता है कि अब क्रांति दूर नहीं। अगर क्रांति आएगी, तो उसका नेतृत्व हमारे हाथों में होगा। इन उच्च मध्यवर्गीय कम्यूनिस्टों का सिद्धांत-पक्ष तो बहुत मज़बूत था, लेकिन व्यावहारिक पक्ष बहुत कमज़ोर, यानी कृत्रिमता थी और क्रांतिकारिता ओढ़ी हुई थी। वे किसानों-मज़दूरों की बात तो बहुत करते, लेकिन सामाजिक स्तर पर उन्हें कभी बराबरी का दर्ज़ा नहीं देते थे। अपने वर्ग की कुलीन संस्कृति और सामाजिकता उनके दैनिक व्यवहार में बहुत आसानी से देखी जा सकती है। जनहित की बात करते-करते ये लोग बड़ी ही सावधानी और सलीके से पार्टी को अपने हित में इस्तेमाल करना बहुत अच्छा जानते हैं। हमारे एक मित्र हैं, जिनकी मार्क्सवादी समाजशास्त्री की छवि है। बाप-दादे अवध के ताल्लुक़ेदार थे; पिता प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री। परिवार में हर विचारधारा के लोग हैं। एक ही छत के नीचे बिना किसी असुविधा के रहते रहे। एक चचा कांग्रेसी, दूसरे मुस्लिमलीगी और स्वयं मार्क्सवादी। बहुत संपन्न परिवार। सारी सुख-सुविधाएँ। हर आदमी अपनी राजनीति बाहर करता था, लेकिन परिवार की विरासत और संपत्ति के मामले में सबका नज़रिया एक था। सब एक-दूसरे की हित-साधना करते थे।

अजीब विरोधों का संबंध इस कुलीन संस्कृति में देखा जा सकता है। बड़े-बड़े राजनेताओं से व्यक्तिगत मित्रता इस संस्कृति की अपनी विशेषता है। अपने वर्ग-हित इनसे कभी ओझल नहीं होते। समय आने पर राजनीति में विरोधी समझे जाने वाले लोग इनकी पूरी मदद करते हैं। यह कुलीन संस्कृति वर्चस्व की संस्कृति है, सुविधाओं की संस्कृति है, त्याग और बलिदान की संस्कृति नहीं। इसी संस्कृति के एक वामपंथी प्रोफ़ेसर का दिलचस्प शौक है—वे इंग्लैंड में पढ़े हैं, उनकी ख्याति यह है कि वे बहुत अच्छी अंग्रेज़ी लिखते और बोलते हैं। ऐकेडेमिक दुनिया में उनका बहुत रौब है। वे व्यक्तियों के लेख और पत्र इकट्ठे करते हैं और अंग्रेज़ी की ग़लतियाँ दूर कर उन लोगों का सार्वजनिक उपहास करते हैं। इस काम में वो समदर्शी हैं—कोई मार्क्सवादी हो या ग़ैर मार्क्सवादी, वे समान रूप से उपहास करते हैं। ऐसा मेरे साथ भी हो चुका है। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा, उसमें किसी एक शब्द की स्पेलिंग सही नहीं थी। इस बात पर लंबे समय तक मेरा मज़ाक उड़ाते रहे। यह उपहास तब बंद हुआ, जब मैंने एक दिन सख़्ती से कहा—"मान्यवर, मैं किसी बड़े प्रोफ़ेसर का बेटा नहीं हूँ, न ज़मींदार परिवार से आया हूँ, न मेरी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मैं हिन्दी सही लिख लेता हूँ, और काम की अंग्रेज़ी भी। अंग्रेज़ी कुलीनों की भाषा है। मेरी अंग्रेज़ी अच्छी नहीं है, तो इस पर मुझे कोई अफ़सोस नहीं है।" ग़ज़ब ये हुआ कि एक और इंग्लैंड में पढ़े हुए अध्यापक ने उनके अंग्रेजी ड्राफ्ट में कुछ सुधार कर दिया। नतीजा जानते हैं आप कि क्या हुआ? उस अध्यापक से दो साल से बोलचाल बंद है।

कुलीन संस्कृति के मार्क्सवादी हों या ग़ैर-मार्क्सवादी। इनकी कटुता के पीछे एक अहं और पारिवारिक दंभ छिपा रहता है। ये बहुत अच्छी सैद्धांतिक बातें कर सकते हैं, लेख लिख सकते हैं। बहुत-सी ग़लत बातों को भी तर्क और प्रमाण देकर सही सिद्ध करके अपने गुट के लोगों को कई तरह का लाभ पहुँचा सकते हैं। जिसे लाभ पहुँचाते हैं, उसे प्रगतिशील बता देते हैं; जिस पर कुदृष्टि होती है, वह प्रतिक्रियावादी हो जाता है। यह खेल बहुत सलीके से खेला जाता है। ये लोग कठमुल्लेपन और संशोधनवाद दोनों के सम्मिश्रण हैं, हालाँकि ये दोनों का विरोध करते हैं; लेकिन, सिद्धांत और व्यवहार की खाई बहुत गहरी है।

अपने 45 साल के राजनीतिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ और आज उनका विश्लेषण करता हूँ, तो बहुत से दिलचस्प परिणाम सामने आते हैं। जोश और अंधभक्ति में हम कभी-कभी यथार्थ का उद्घाटन नहीं करते। पार्टी में इस कुलीन और जन-संस्कृति का संघर्ष हमेशा किसी-न-किसी स्तर पर रहा है। पहले बहुत कम था, लेकिन आज कुछ अधिक मुखर है। सत्ता सुख की जो होड़ 1954 के आसपास वामपंथियों को लगी थी उसका परिणाम 1964 में पार्टी का विभाजन हुआ। लेकिन, इस रोग से आज भी हम मुक्त नहीं हैं। 1955 से पार्टी में बहुत से इस तरह के उदाहरण मेरे सामने हैं, जिनके माध्यम से इस कुलीन संस्कृति को समझने की आवश्यकता है। खाली राजनीतिक शब्दावली से व्यक्ति की पहचान और परख नहीं हो सकती।

एक थे लाल सिद्दीक। जब पार्टी पर प्रतिबंध था और ज़िले के तमाम नेता जेल चले गये, तो वो जिला पार्टी के मंत्री हो गये। घोर क्रांतिकारी स्वयं अभिजात वर्ग से थे और उस संस्कृति का जाने-अनजाने प्रदर्शन भी करते थे। 'बुर्जुआ मनोवृत्ति के हो', 'पैटी बुर्जुआ हो'—यह उनका तकिया कलाम था। 1950 में वे 'अंडर ग्राउंड' थे। बस से किसी देहात में जा रहे थे। सर पर साफ़ा, धोती पहनकर ऊपर से बढ़िया विलायती ओवरकोट पहने हुए थे और इस किसान वेशभूषा में पाइप पी रहे थे। किसी किसान ने उन्हें पहचान लिया और कहा कि सिद्दीक साहब, यह क्या हुलिया बना रखा है। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा—"तुमने मुझे कैसे पहचान लिया, मैं तो 'अंडरग्राउंड' हूँ।" "आपका ओवरकोट और पाइप देखकर"—किसान ने कहा। उनके बारे में एक और लतीफ़ा मशहूर है। उन्होंने एक नौजवान महिला पार्टी कॉमरेड को मैंडेट दिया कि तुम मुझसे शादी करो, यह पार्टी के हित में है। यह मामला प्रांतीय पार्टी तक गया, तब उस महिला कॉमरेड को राहत मिली। अब पूछेंगे लाल सिद्दीक कहाँ हैं? कश्मीर के उग्रवादियों के पक्ष में पुस्तकें और लीफ़लेट लिख रहे हैं और वह भी मार्क्सवाद के फ्रेमवर्क में। इन अभिजात लोगों की एक पूरी क्लास रही है, जिन्होंने अपने हित में पार्टी का इस्तेमाल किया और जब मौक़ा लगा तो पार्टी को छोड़ दिया। 42 साल के पार्टी-जीवन में मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ।

वर्ग सहयोग की राजनीति के प्रवक्ता डॉ. ज़ेड.ए. अहमद थे। अलीगढ़ पार्टी के इंचार्ज। वे जब भी आते थे, तो हमें यह समझाते थे कि कांग्रेस में एक बहुत बड़ा प्रगतिशील तबका है। वह प्रतिक्रियावादियों से घिरा हुआ है। उनकी हमें मदद करनी चाहिए। वे समाजवादी शक्तियों को मजबूत करने में हमारा हाथ बँटाएँगे। और फिर धीरे-से कहते थे, "वे लोग भी हमारी पूरी मदद करने को तैयार हैं।" हम नौजवान उनसे पूछते थे—"कॉमरेड अहमद, क्या कांग्रेस सरकार हमारी मदद करके अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारेगी?" वो डाँटते और कहते, "आप लोग कॉमरेड बी. टी. रणदिवे की संकीर्ण लाइन ले रहे हैं" और फिर कामरेड बी.टी.आर. के संबंध में अनेक सच्चे-झूठे क़िस्से सुनाते थे। उन्हें कॉमरेड बी.टी.आर. से सबसे बड़ी शिकायत थी कि कॉमरेड रणदिवे बहुत तानाशाह हैं और उनकी समझ बहुत यांत्रिक है। 1980 में जब मैं कॉमरेड बी.टी.आर. से मिला, तब मेरे अनुभव कॉमरेड अहमद से बिल्कुल भिन्न थे। इतने अधिक मानवीय, गरिमामय और सहृदय व्यक्ति मैंने जीवन में बहुत कम देखे हैं।

आज कला, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाले हमारे वामपंथी हैं, जो डॉ. अहमद की वर्ग-सहयोग की राजनीति का शिकार हैं। वे दो नावों पर सवार हैं। सत्ता का सुख भी भोगना चाहते हैं और क्रांतिकारी छवि को भी बनाये रखना चाहते हैं। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि इस प्रकार के बुद्धिजीवी, रंगकर्मी और लेखक बहुत दिनों तक आपके साथ नहीं रह सकते। इस वर्ग के बुद्धिजीवी अब तक नाराज़ हैं कि कॉमरेड ज्योति बसु प्रधानमंत्री क्यों नहीं बने या पार्टी केंद्र सरकार में शामिल क्यों नहीं होती और उनकी रुचि के विभाग—शिक्षा, संस्कृति, सूचना और प्रसारण मंत्रालय अपने हाथ में क्यों नहीं लेती? इस राजनीतिक अवसरवादिता में मतभेद भुलाकर सभी एक हैं। इसका प्रदर्शन मई, 1996 में दिल्ली में देखने को मिला था। इससे आप इन बुद्धिजीवियों की बेसब्री का अनुमान लगा सकते हैं।

एक हमारा सहयोगी सांस्कृतिक संगठन है। आरंभ के कुछ वर्षों में उसने साधारण जन में राजनीतिक चेतना फैलाने में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। लोक-गायकी और नुक्कड़ नाटक को बड़े शहरों से निकालकर क़स्बों तक पहुँचा दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुक्कड़ नाटक के नाम पर जो भद्रजन नाक-भौं सिकोड़ते थे, उन्होंने भी इसे एक नाटक-विधा के रूप में स्वीकारा। सरकारी तंत्र ने भी अपने प्रचार-प्रसार में नुक्कड़ नाटक का प्रयोग करना आरंभ कर दिया। इस ख्याति ने जाने-अनजाने इस संस्था को सत्ताधारी वर्ग के निकट ला दिया। धीरे-धीरे उनकी कार्य-पद्धति सुविधाभोगी होती गयी। जो हाल 1950 के लगभग इप्टा का हुआ, वही इस संस्था का भी होने जा रहा है। वे सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ने के नाम पर उन लोगों से सहयोग ले रहे हैं, जो सिद्धांत में सांप्रदायिकता और जातिवाद की राजनीति खुलकर करते रहे हैं और आज भी इससे परहेज़ नहीं है। केरल और पश्चिम बंगाल में हिन्दू और मुस्लिम दोनों तरह की सांप्रदायिकता का सहारा लेकर वामपंथी सरकारों के विरुद्ध काम करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। मार्क्सवादी केवल सिद्धांत के आधार पर किसी व्यक्ति या संस्था का मूल्यांकन नहीं करते, बल्कि कार्य-पद्धति और व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान देते हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि आप क्या करते हैं। सरकारी सहयोग के बल पर चलने वाली सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाओं की नियति और दुर्गति किसी से छिपी नहीं है। विडंबना यह है कि इतिहासकार भी इतिहास से सबक नहीं ले रहे हैं। कला, संस्कृति और साहित्य के नाम पर जब हम व्यापार करने लगते हैं, तो उसका उद्देश्य जनजागरण और जन-आंदोलनों से हटकर धीरे-धीरे मुनाफ़े और पूँजी के खाते में चला जाता है।

मैं जनकवि मूढ़ की बात से इस प्रसंग को समाप्त करना चहता हूँ। डॉ. अहमद की बात से आहत होकर उन्होंने कहा था—"मैंने तो ऐसा मूर्ख ज़मींदार और पूँजीपति अब तक नहीं देखा, जो अपनी जड़ें खोदने के लिए आपको औज़ार उपलब्ध कराए।"

कुलीन संस्कृति : बौद्धिकता और अध्ययन का आतंक

2

कुलीन संस्कृति के प्रतिनिधि बुद्धिजीवी, चाहे मार्क्सवादी हों अथवा ग़ैर-मार्क्सवादी सामान्य छात्रों एवं अध्यापक-वर्ग पर उनके ज्ञान, बौद्धिकता और अध्ययन का बहुत आतंक रहता है। वे अपने ज्ञान से लोगों को अज्ञान से मुक्त नहीं करते, बल्कि उन्हें आतंकित करके अपना वर्चस्व क़ायम करते हैं। ये लोग साथी और मित्र नहीं बनाते, बल्कि अनुयायी बनाना इन्हें अधिक अच्छा लगता है। साथी और मित्र तभी तक हैं, जब तक आप उनकी कुलीनता पर उँगली नहीं उठाते। ये लोग कुलीन संस्कृति, बौद्धिकता और अध्ययन की ओढ़ी हुई गरिमा से अपने आभामंडल का निर्माण करते हैं। इनके सिद्धांत और व्यवहार में गहरे अंतर्विरोध हैं। बड़ी कुशलता से ये इन विसंगतियों को ढँकते रहते हैं। इनकी सही पहचान और परख बहुत मुश्किल से होती है। बहुत निपुणता से ये लोग अपने हित में पार्टी का इस्तेमाल करते हैं और दिखाते यह हैं कि उनके सारे कार्य पार्टी के हित में हैं। पार्टी हित और अनुशासन की इनकी अपनी व्याख्या होती है, जो समय-समय पर बदलती रहती है। व्यक्तियों के बारे में भी इन लोगों की राय किसी तर्कसंगत यथार्थ पर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत हितों और संबंधों पर होती है। परिवार और वर्ग-संस्कृति कभी इनका पीछा नहीं छोड़ती। हमारे मित्र इसे 'ब्लू ब्लड' संस्कृति कहते हैं। मैंने इसकी व्याख्या करने को कहा, तो उन्होंने समझाया कि बहुत ध्यान से देखिए कि इनके बच्चे हमेशा अपने परिवार और कुलीन परिवारों के बच्चों के साथ ही उठते-बैठते हैं। घर में पश्चिमी माहौल है। छोटे-बड़े सभी अंग्रेज़ी बोलते हैं। उसमें न राजनीति आती है, न मार्क्सवाद, केवल कुलीन संस्कृति। कभी ये लोग कोई समारोह करें या दावत, तो उसमें साथ काम करने वाला वैचारिक सहभागी नहीं होगा, सारे भद्रजन होंगे। इससे आप वास्तविकता का अनुमान लगा सकते हैं। मैं ऐसे बहुत से मार्क्सवादियों को जानता हूँ, जिन्होंने अपनी कुलीनता के आतंक से बहुत से नौजवानों को दिशाहीन किया है। इन्हें तर्क करने वाला शिष्य नहीं चाहिए, एकलव्य चाहिए, जो बिना सोचे-समझे गुरु की आज्ञा का पालन करे। इनके शिष्य या तो विद्रोही हो जाते हैं या दासानुदास। यह परंपरा पुराने लोगों में तो देखी थी और उसकी प्रगतिशील और मार्क्सवादियों ने घोर आलोचना की। वही काम बहुत ही सलीके से हमारे मार्क्सवादी भद्रजन कर रहे हैं। ज़रा निगाह दौड़ाइए वर्तमान और भूतपूर्व कुलीन मार्क्सवादियों की ओर, जो शिक्षा-जगत में हैं अथवा व्यापारी शिक्षक बन गये हैं, उनका एक भी शिष्य मार्क्सवादी क्यों नहीं है? ये व्यापारी शिक्षक क्यों वे काम कर रहे हैं, जो किसान-मज़दूर विरोधी हैं?

छठे दशक तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय में वामपंथी छात्र आंदोलन बहुत सक्रिय था। कम्यूनिस्ट अध्यापकों में भी बड़े नाम थे, जिन्होंने अपने ज़माने में बहुत काम किया था और त्याग भी किया था। इन लोगों में; प्रो. नूरुल हसन थे, जो बाद में भारत के शिक्षा मंत्री तथा पश्चिम बंगाल के राज्यपाल रहे; प्रो. मुनिस रज़ा, जो जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय एवं दिल्ली विश्वविद्यालय में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे; प्रो. रईस अहमद, जो एन.सी.ई.आर.टी. के डायरेक्टर, कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलपति तथा यू.जी.सी. के उपाध्यक्ष रहे और प्रो. इरफ़ान हबीब, जो अध्यापकों में सबसे अधिक सक्रिय थे। ये सभी छात्रों की मदद करते थे। मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार में भी सहयोग देते थे। लेकिन, सन् 1964 तक आते-आते वर्ग-संघर्ष की राजनीति वर्ग-सहयोग में बदल गयी। इनमें से अधिकांश विद्वान् सक्रिय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति में चले गये। ये कांग्रेस के प्रगतिशील चरित्र को बचाने की आड़ में अपने वर्ग-हितों की जाने-अनजाने पूर्ति करने लगे। अब मार्क्सवाद से अधिक धर्म-निरपेक्षता इनके मुख्य एजेंडे में थी। बिना मार्क्सवाद को मज़बूत बनाये धर्म-निरपेक्षता की लड़ाई अधूरी है। जहाँ मार्क्सवादी दल मज़बूत होंगे वहाँ सांप्रदायिकता उस तरह से हावी नहीं हो सकती। यह आज हम अपने अनुभव से बहुत अच्छी तरह देख-परख रहे हैं। हिन्दी प्रदेशों में मार्क्सवादी दल कमजोर हैं, इसलिए धर्म-निरपेक्षता की लड़ाई भी कमज़ोर है। यह लड़ाई ग़ैर-मार्क्सवादी हथियारों से नहीं लड़ी जा सकती।

पिछले दशक में यह तय हो गया है कि देश की एकता-अखंडता बिना मार्क्सवादियों के संभव नहीं है। सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष भी मार्क्सवादियों के बिना अकेले संभव नहीं है। धर्म-निरपेक्षता की लड़ाई वामपंथी राजनीति के आधार के बिना नहीं लड़ी जा सकती। यह दम भरती है कि वे केवल सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं, उन्हें किसी राजनीति से कोई अर्थ नहीं है, तो वे स्वयं तो भ्रमित हैं ही, समाज में भी भ्रम का कुहासा फैलाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य, संस्कृति और कला का भी एक वर्गीय आधार होता है। उस मूलाधार को छोड़कर इनकी स्थिति कटी पतंग की तरह होती है, जिन्हें हवा के झोंके कहाँ फेंक दें, कोई नहीं बता सकता। 'सहमत' जैसी संस्था और उससे जुड़े हुए मार्क्सवादी बुद्धिजीवी ऐतिहासिक भूल कर रहे हैं। उन्होंने इतिहास से न कोई सबक लिया और न लेना चाहते हैं, एक वैज्ञानिक तर्कशास्त्र को भाववादी तर्कशास्त्र में बदल रहे हैं। यह दिशाभ्रम है, जिसे ये लोग हर तरह से सही ठहरा रहे हैं।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ उदाहरण देना चाहता हूँ। पचास और साठ के दशक में अली सरदार जाफ़री का एक क्रांतिकारी व्यक्ति और कवि के रूप में बहुत नाम था। हम नौजवानों को उनके तथा उनके काव्य के प्रति बड़ा आकर्षण था। उन्हीं दिनों स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन के उम्मीदवारों ने छात्र संघ के चुनावों में भारी सफलता प्राप्त की। एक ग़ैर-मुस्लिम कॉमरेड ने इतिहास में पहली बार महत्त्वपूर्ण पद पर चुनाव जीता। हम लोग बहुत प्रसन्न थे। उन्हीं दिनों सरदार जाफ़री अलीगढ़ आये थे। हम दस छात्र उनसे मिलने उनके साले साहब के बंगले 'फ़लकनुमा' पर पहुँचे। उनकी ससुराल बहुत कुलीन घराने में थी। हम लोगों ने उत्साह में उन्हें अपनी सफलता सुनायी और उम्मीद की कि वे ज़रूर हमें शाबाशी देंगे। हमारे साथ इंजीनियरिंग के दो बहुत सक्रिय साथी मक़सूद हामिद रिज़वी और सिराजुर्रहमान भी थे। जाफ़री साहब ने उन दोनों की ओर मुख़ातिब होकर कहा कि भई पढ़ो-लिखो, ये राजनीतिक काम इतने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना कि अपना कैरियर बनाना। पढ़ो-लिखो और अच्छे नंबर लाओ। इस समय यही समय की माँग है।" कई घंटे की बातचीत में उन्होंने कम से कम दस बार पं. नेहरू और इंदिरा गांधी का नाम लिया। उनसे मिलकर हम लोग बहुत दुःखी और परेशान हुए। मक़सूद ने तो जाफ़री साहब से कुछ सख़्त बातें भी कहीं। जाफ़री साहब ने कहा कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि पं. नेहरू और इंदिरा जी के हाथ मज़बूत करें, ताकि देश को प्रतिक्रियावादी और सांप्रदायिक शक्तियों से बचाया जा सके। सरदार जाफ़री व्यक्ति नहीं थे, पार्टी के अंदर पनप रहे वर्ग-सहयोग की राजनीति के प्रतिनिधि थे। किसान-मज़दूरों के गीत गाते-गाते वे और उनके बहुत-से सहयोगी नेहरू की कुलीन संस्कृति के गुणगान कर रहे थे। इसके नतीजे सबके सामने हैं। इस पर विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है। कांग्रेस ने अपनी अवसरवादी नीतियों, असैद्धांतिक समझौतों से सांप्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रीयता को जिस तरह से बढ़ावा दिया है, वह राजनीति का 'अ' 'ब' 'स' जानने वाला व्यक्ति भलीभाँति समझता है। आर्थिक दिवालियेपन और राजनीतिक गतिहीनता के लिए नेहरू, इंदिरा गांधी और उनकी कांग्रेस ही मूलतः उत्तरदायी है। भ्रष्टाचार और तिकड़मों को हमारी संस्कृति और नैतिकता का स्वरूप प्रदान करने में भी कांग्रेस की भूमिका की पहचान और परख सभी को है। इस संस्कृति का नाम ही 'कांग्रेसी कल्चर' पड़ गया है।

अलीगढ़ के पुराने मार्क्सवादियों में सबसे ईमानदार, जिनमें वैचारिक स्पष्टता भी थी, वे थे प्रो. अब्दुल अलीम। प्रो. अब्दुल अलीम प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम सम्मेलन लखनऊ से ही उसकी पृष्ठभूमि में रहे। 1936 से 1950 तक सभी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव, संविधान की संरचना, उसमें परिवर्तन आदि में प्रो.अलीम की अग्रणी भूमिका रही। दुर्भाग्यवश, उन्हें वह महत्त्व नहीं मिला, जिसके वो अधिकारी थे। हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को हल करने और दोनों भाषाओं को निर्धारित करने में प्रो. अलीम और डॉ. रामविलास शर्मा की समिति बनायी गयी थी, लेकिन इस समस्या का कोई हल नहीं निकला। रामविलास शर्मा को हम लोग अलीगढ़ में प्रोफ़ेसर बनाकर लाना चाहते थे। मैंने अलीम साहब की राय पूछी। उन्होंने कहा, "बहुत यांत्रिक समझ है। पहले फ्रेम बनाते हैं, उसके बाद तस्वीर की काट-छाँट करते हैं। यांत्रिकता और संशोधनवाद दोनों के शिकार हैं। उन्हें साथी नहीं, अंधभक्त बनाने की आदत है।" तब हम लोगों को उनकी बात बुरी लगी थी, लेकिन आज अलीम साहब की बातें काफ़ी हद तक सही लगती हैं।

अलीम साहब का एक दिलचस्प प्रसंग और है, जो आप लोगों के साथ बाँटना चाहता हूँ। 1968 से लेकर 1974 तक वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। कुलपति बनने के बाद जब पहली ईद पड़ी, तो बहुत से छात्र और अध्यापक उन्हें ईद की नमाज़ पढ़ने के लिए साथ लेने आये। अलीम साहब ने कहा, "मैंने तो कभी नमाज़ नहीं पढ़ी। अब क्यों पढ़ूँ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों ने कहा, "अब आप वाइस चांसलर हैं।" अलीम साहब मुस्कराये और बोले, "ये मेरे और अल्लाह के बीच का मामला है। आप लोग क्यों परेशान होते हैं? वाइस चांसलर होने के साथ-साथ मैं अब्दुल अलीम भी हूँ। मैं ईद का त्योहार मनाता हूँ, किसी तरह की इबादत नहीं करता।" अलीगढ़ के वाइस चांसलर का, चाहे वह धार्मिक हो या नहीं, मस्जिद में न जाना अकल्पनीय था।

उन दिनों इंदिरा गांधी का समाजवाद और धर्म-निरपेक्षता ज़ोरों पर थी, लेकिन अलीम साहब विश्वविद्यालय की सांप्रदायिक शक्तियों से बराबर समझौता कर रहे थे। हम लोग बहुत परेशान थे। एक इतवार की सुबह मैं अलीम साहब के यहाँ पहुँचा। मैंने अपनी और साथियों की व्यथा-कथा कही और कहा, "आप तो हम सबके नेता रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ हमें लड़ना सिखाया, फिर आप ये अनुचित समझौते क्यों कर रहे हैं?" अलीम साहब बहुत देर तक चुप रहे। उनके चेहरे पर यह पीड़ा झलक रही थी। काफ़ी देर बाद मुझसे बोले, "तुम ठीक कहते हो। मुझे यह समझौते नहीं करने चाहिए। मेरा जी चाहता है कि यह वाइस चांसलरी छोड़ दूँ। पर, संघर्ष करते-करते थक गया हूँ, इसीलिए यह कर रहा हूँ। हर मध्यवर्गीय क्रांतिकारी की यही नियति है। जब वाइस चांसलर बना था, तो सोचा भी न था कि इस तरह के अनुचित दबाव होंगे।" मैंने पूछा, "कैसे दबाव डॉ. साहब।" वे बोले, "मैडम गांधी और कांग्रेस के बड़े मंत्रियों के दबाव।" वे तीन-चार दिन पहले ही इंदिरा गांधी से मिले थे। मैडम ने उनसे कहा था, "डाक्टर साहब, आप मुसलमानों को ख़ुश रखिए। आपकी और डॉक्टर नूरुल हसन की वजह से वे मुझसे भी नाराज़ हैं।" अलीम साहब ने श्रीमती गांधी से कहा, "मैडम कांग्रेस के मुस्लिम नेता और मंत्री अनुचित कामों के लिए कहते हैं, जिसमें सांप्रदायिकता की भी बू आती है। यह मैंने जीवन में कभी नहीं किया।" श्रीमती गांधी को यह बात अच्छी नहीं लगी।

मैं कहा, "डाक्टर साहब, मैं आपकी मजबूरी समझ गया। आइंदा आपसे ऐसे सवाल नहीं करूँगा।" उनकी यह कितनी ईमानदार स्वीकारोक्ति थी। आज तो लोग चोरी भी करते हैं और सीनाज़ोरी भी। अपने ग़लत कामों और नीतियों को सैद्धांतिक जामा पहनाकर अपनी बौद्धिकता का आतंक फैला रहे हैं।

भीष्म साहनी की एक कहानी है—'नया मकान'। एक भूतपूर्व क्रांतिकारी की कथा-व्यथा बहुत कलात्मक ढंग से चित्रित है इस कहानी में। एक बड़े पुलिस अफ़सर के बेटे क्रांतिकारी हो गये। कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि उन्हें भूमिगत होना पड़ा। माँ का बुरा हाल, 'बेटे को कुछ हो गया तो।' एस. पी. साहब ने पत्नी को समझाया कि तुम क्यों फ़िकर करती हो, बड़े घर के बेटे कुछ करें, अपना खूँटा नहीं छोड़ते। कुछ दिन में क्रांति का जोश ठंडा हो जाएगा। बाप की भविष्यवाणी सच हुई, दो साल बाद बेटा घर लौट आया। एक बड़े घर की बेटी से विवाह किया। संभ्रांत परिवारों के बच्चों को नौकरी मिलने में कोई दिक़्क़त नहीं होती है। कुछ दिनों बाद एक बड़ा मकान बनाया। क्रांतिकारी ने अपने मित्रों से कहा कि 'क्या करूँ कॉमरेड, मेरी पत्नी नहीं मानी, वरना मुझे तो तीन कमरे से अधिक की आवश्यकता नहीं है।' फिर भी आत्मा कचोटती थी कि उन्होंने क्रांति के साथ गद्दारी की है, तब भूतपूर्व क्रांतिकारी नौकरों के क्वार्टर्स में जाकर उनके साथ खाना खाते, शराब पीकर ग़म ग़लत करते और कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल गाते और फिर रोने लगते। जब बहुत रात बीत जाती, तो पत्नी आती, एक डाँट लगाती और कहती कि अब क्रांति ख़त्म हो गयी, चलो घर, कमरे में जाकर सोओ। वे आज्ञाकारी बच्चे की तरह उस संभ्रांत महिला के पीछे-पीछे चले आते।

भीष्म साहनी की कहानी से पूर्व इस प्रकार के व्यक्तियों के संबंध में कॉमरेड हनीफ़ हाशमी मुझे बताते रहते। आपसे सच कहूँ, तब मैंने उनकी बातों पर यकीन नहीं किया। कॉमरेड हनीफ़ हाशमी पुराने कम्यूनिस्ट थे और जन-संघर्षों के उनके व्यापक अनुभव थे। न किसी से समझौता किया और न किसी के सामने हाथ फैलाया। बेहद सौम्य, शांत, गंभीर। मार्क्सवाद में अपूर्व आस्था और पार्टी के प्रति समर्पित व्यक्ति। बेहद सरल, बेहद सादा रहन-सहन, लेकिन प्रखर व्यक्तित्त्व। मैं अक्सर उनसे मिलने उनके घर जाता था और वे बहुत-सी बातें करते। वे कहते, "कॉमरेड, जब तक हम निरंतर अपने को डी-क्लास नहीं करते रहेंगे, अपनी आत्मालोचना नहीं करेंगे, तब तक हम अच्छे कम्यूनिस्ट नहीं रह सकते। अपनी थ्योरी और प्रैक्टिस की खाई निरंतर कम करते रहिए और कुलीन कम्युनिस्टों के प्रभाव से बचते रहिए। इन लोगों के बीच में अजीब अंतर्विरोध हैं, दो नावों पर बराबर सवार रहने की कोशिश करते हैं। वर्ग-संघर्ष की जगह वर्ग-सहयोग की राजनीति में इनकी अधिक दिलचस्पी है। जन-संघर्षों से बचते हैं। जनता की वास्तविक समस्याओं से इनका परिचय अख़बार और किताबों के माध्यम से है।" मैं कई बार उनसे सवाल करता, "कॉमरेड हाशमी, इनकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।" वे हँसते, "है, हमें स्वीकार करना चाहिए, लेकिन क्रांतिकारी आंदोलन में इनकी बहुत सीमित भूमिका है। ये लोग बहुत परिश्रमी लोग हैं, इनका अध्ययन भी बहुत व्यापक है, लेकिन साधारण जन को इनके ज्ञान का लाभ नहीं होता। ये अपने ही वर्ग के लोगों को समझाते रहते हैं और उन्हीं की प्रशंसा चाहते हैं, चाहे वे देश में हों अथवा विदेश में। जो कांग्रेस सरकार के एक वर्ग के साथ सहयोग करना चाहते हैं या उनसे सहयोग लेना चाहते हैं, वे अंत में कांग्रेस में ही जाएँगे।" तब बहुदलीय सरकारें नहीं थीं। केंद्र और राज्यों में कांग्रेस का ही वर्चस्व था। वे कांग्रेस के वर्ग-चरित्र पर विस्तार से चर्चा करते और उसे मज़दूर और किसान विरोधी सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताते। 'हाथी के दाँत' वाली कहावत कई बार दोहराते। मैंने एक दिन उनसे पूछा कि "आप इन कुलीन कम्यूनिस्टों के आलोचक हैं, तो क्या सभी ऐसे होते हैं।" उन्होंने कहा, "ऐसा नहीं है, बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्होंने मज़दूर-वर्ग के साथ अपने व्यक्तित्त्व का रूपांतरण कर लिया है। जो लोग जन-संघर्षों से बराबर जुड़े रहते हैं, वे इस कुलीनता की खाई को पार कर जाते हैं, लेकिन कैरियरिस्ट मार्क्सवादी बिना वर्ग-सहयोग के ज़िंदा नहीं रह सकते।"

आप कॉमरेड हनीफ़ हाशमी के बारे में जानना चाहते होंगे। वे इतिहास विभाग में एक मामूली कर्मचारी थे और जिस सेक्शन में वो काम करते थे, उसके बॉस के भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने पर जब किसी कम्यूनिस्ट ने उनका साथ नहीं दिया, तो वे नौकरी छोड़कर दिल्ली चले आये, जहाँ उनकी पत्नी अध्यापिका थीं। हाशमी साहब बेहद जुझारू व्यक्ति थे और अपने सिद्धांतों के लिए कोई भी ख़तरा उठाने में समर्थ थे। मुझे एक घटना याद आ रही है। 1965 के भारत-पाक युद्ध के बीच पार्टी पर बहुत दबाव पड़ा। पूरे देश में उन्माद की स्थिति थी। पाकिस्तान और मुसलमानों के प्रति नफ़रत की हवा बह रही थी। कॉमरेड ई.एम.एस. नंबूदरीपाद उत्तर भारत का दौरा कर रहे थे। हम लोगों ने उन्हें अलीगढ़ भी आमंत्रित किया। कॉमरेड ई.एम. एस. नंबूदरीपाद के कार्यक्रम के लिए तैयारी समिति की बैठक होनी थी। कांग्रेस सरकार और आर. एस.एस. का उन दिनों बड़ा भ्रातृभाव था। इस उन्माद और युद्ध का विरोध करने वाले हर व्यक्ति को देशद्रोही ठहरा रहे थे। हमारे कई मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के घर ऐसे थे, जहाँ बैठक हो सकती थी, लेकिन नहीं हुई। कॉमरेड हाशमी ने अपने छोटे-से घर में बैठक रखी। उन्होंने न सरकारी दमन की परवाह की और न आर.एस.एस. की गुंडागर्दी की। उनके ही सुझाव पर हम लोग झंडे में मजबूत डंडे लगाकर स्टेशन पहुँचे थे। कॉमरेड ई. एम. एस. आये, हम लोग भी अच्छी संख्या में थे, लेकिन यूथ कांग्रेस और आर.एस.एस. के लोगों का प्रदर्शन भी स्टेशन पर हुआ। आर.एस.एस. के लोगों ने घोषणा की थी कि हम ई.एम.एस. को शहर में नहीं घुसने देंगे। हम नौजवानों ने कॉमरेड ई.एम.एस. को चारों ओर से घेर रखा था। कांग्रेस और आर.एस.एस. के लोग निरंतर धक्के मार रहे थे और गालियाँ बक रहे थे और ई.एम.एस. की ओर बढ़ रहे थे। पुलिस मूकदर्शक बनी एक किनारे खड़ी थी। जब स्थिति बेक़ाबू होने लगी, तो कॉमरेड हाशमी ने झंडे को जेब में रखा और डंडा निकालकर पिल पड़े और आह्वान किया कि 'मारो! सालों को!' इस स्थिति के लिए ये देशभक्त सूरमा तैयार नहीं थे और दस मिनट में दुम दबाकर भाग गये। अलीगढ़ में कॉमरेड ई.एम.एस. की शानदार मीटिंग हुई, जिसकी अध्यक्षता प्रो. अब्दुल अलीम ने की थी।

उनका एक परिचय और है। वे शहीद सफ़दर हाशमी के पिता थे। लोग सफ़दर को जानने का दावा करते हैं, कॉमरेड हनीफ़ हाशमी को भूल गये हैं। उनके परिवार के लोग भी अब उन्हें याद नहीं करते। कॉमरेड हनीफ़ हाशमी के बिना सफ़दर और उनके परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था, "सारे भद्र कम्यूनिस्टों के बच्चे विदेश जा रहे हैं और पार्टी को निरर्थक समझते हैं। मुझे यह संतोष है कि मेरे सारे बच्चे कम्यूनिस्ट हैं और यह ही मेरे सारे जीवन की पूँजी है।" वे जल्दी मर गये। मैंने इस साधारण वेशभूषा में मामूली जीवन जीने वाले कम्यूनिस्ट से जितना सीखा है, वैसी शिक्षा मुझे बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों से भी नहीं मिली।

'सहमत' के दोस्त पिछले दिनों से वर्ग-सहयोग की राजनीति की वकालत कर रहे हैं। कला और संस्कृति को अराजनीतिक बता रहे हैं। जन-संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं और अपने क्रियाकलापों को दृढ़तापूर्वक तर्कसंगत ठहरा रहे हैं। यह अजीब विरोधाभास है। काश, वो कॉमरेड हनीफ़ हाशमी से कुछ सीख पाते, तो ऐसा कदापि नहीं करते।

दरअसल, कुलीन संस्कृति से निरंतर बाह्य और आंतरिक संघर्ष करने की आवश्यकता है। खुली बाज़ार-व्यवस्था ने कुलीन संस्कृति का आकर्षण कई गुना बढ़ा दिया है। बहुत-से नौजवान किसान और निम्न मध्यवर्ग से अपनी प्रतिभा के बल पर विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में अध्यापक बनकर आते हैं। आरंभ में वे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी होते हैं, लेकिन धीरे-धीरे वृहद उद्देश्यों से भटककर एक सीमित संसार का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचता है। जन-संघर्ष और आत्म-संघर्ष छूट जाते हैं। शब्दावली मार्क्सवाद की होती है, लेकिन रास्ता ग़ैर-मार्क्सवादी होता है। कुलीन संस्कृति उन्हें बहुत आकर्षक लगने लगती है।

एक दिलचस्प बात है कि समाज के लोग आज भी किसी कम्यूनिस्ट से उच्च नैतिकता की आशा करते हैं। जातिवाद, सांप्रदायिकता और भ्रष्टाचार के विरुद्ध उसे एक अग्रणी योद्धा के रूप में देखते हैं। साधारण जन के अंतर्मन में कम्यूनिस्टों की यही छवि है। इस छवि के टूटते ही लोग आहत होते हैं। इस छवि का आज के युग में कम्यूनिस्टों को लाभ भी है। इसीलिए जब किसी भी वर्ग से आया हुआ कोई कम्यूनिस्ट कुलीन बन जाता है, तो लोगों की आलोचना का पात्र बनता है। कम्यूनिस्ट की अवसरवादिता को लोग पसंद नहीं करते हैं। कबीर के शब्दों में कहें तो :

"पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ैं दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक और रावण लीला

वैसे तो यह मौसम रामलीला और रासलीला का है। स्वाद बदलने के लिए कभी-कभी नौटंकी और रसियों के दंगल भी हो जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि मौसम बदल रहा है। मानसून का ऋतु-चक्र भी अपने स्थान से हट रहा है। जब प्रकृति में यह मूलभूत परिवर्तन संभव है, तो मौसमी नेता इन परिवर्तनों से कैसे अछूते रह जाएँगे। पिछले दिनों इस शहर में राम के परम भक्तों ने रावणलीला का आयोजन किया। जनता को बहुत आश्चर्य हुआ कि राम के भक्त रातोंरात रावणलीला में कैसे लिप्त हो गये ?

रामभक्ति के सभी नारे रावण के जलूस में गूँज रहे थे। नये चेहरे भी बहुत कम थे, सब वही चिरपरिचित पुराने थे, वे वही थे, आवाज़ ही बदली थी। यह जुलूस गाजे-बाजे के साथ था, तथा तरह-तरह के स्वाँग तथा झाँकियाँ थीं—भ्रष्टाचार, चोरबाज़ारी और रिश्वतखोरी के ख़िलाफ़! क़िस्म-क़िस्म के नेता जनता को इन भव्य झाँकियों के अर्थ समझाने की चेष्टा कर रहे थे। नाना प्रकार के प्रलोभन एवं वायदों की मदद से लगभग दो हज़ार लोग इकट्ठा किये गये थे इस जुलूस के पीछे चलने के लिए, जहाँ विरोध कम, शोभायात्रा अधिक थी।

संत कबीर की जुलूस से एक स्थान पर मुठभेड़ हो गयी। उन्होंने आगे चल रहे एक झंडाधारी से पूछा कि यह किसकी शोभा-यात्रा है! वह व्यक्ति हड़बड़ाकर बोला—"मुझे नहीं मालूम?" तब संत जी बोले—"फिर तुम क्यों चल रहे हो भीड़ के साथ।" वह बोला—"महात्मा जी, मैं कुछ नहीं जानता। कुँवर जी के पास आया था अपने मुक़द्दमे की डिप्टी साहब से सिफ़ारिश के लिए कि यहाँ पकड़ा गया।"

संत कबीर ने एक बार फिर अपना दोहा गुनगुनाया—'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।' फिर उस आदमी ने अपने साथ के एक छुटभैये नेता की ओर इशारा करके कहा—"इनसे पूछो, शायद ये बताएँ।"

उस छुटभैये नेता ने पहले तो कबीर की ओर हिकारत से देखा, लेकिन फिर उसे मालूम हुआ कि कबीर के साथ भी चेलों का एक दल है, जिसका राष्ट्रीय प्रेस से घना संबंध है, तो वह बताशे से भी अधिक मीठा हो गया और विस्तार से बताने लगा—"महात्मा जी, भ्रष्टाचार आज अपनी चरम सीमा पर है, जो अब राष्ट्रीय नैतिकता बन गया है। बिना रिश्वत के एक क़दम आगे बढ़ना मुश्किल है। कालाबाज़ार और जमाखोरी जनता को साँस नहीं लेने देती; नौकरशाही आज तानाशाह हो गयी है, जो आज हम जैसे जनता के सेवकों को भी नहीं पूछती!"

"अच्छा, तो आप अपनी पूछ के लिए यह स्वाँग रचा रहे हैं," कबीर ने चुटकी ली!

छोटा नेता कुछ जवाब न दे पाया, तो हें-हें करने लगा—"आइए महात्मा जी, हमारे नेता कुँवर साहब से मिल लीजिए।"

संत जी ने पूछा—"ये कुँवर साहब कौन है। क्या अब जन-आंदोलन के नेता कुँवर और राजकुमार और राजे-महाराजे हुआ करते हैं?"

छुटभैया सिटपिट गया, बोला—"नहीं-नहीं महात्मा जी, कुँवर साहब बहुत अच्छे आदमी हैं। बहुत बड़े ज़मींदार हुआ करते थे, और ज़मींदारी ख़त्म होने के बाद कांग्रेस में आ गये। पहले भी जनता के सेवक थे और राज चलाते थे, आज भी कांग्रेस में रहकर जनसेवा कर रहे हैं।"

"हूँ", कबीरदास ने सिर हिलाया, "जनसेवा के अलावा और भी कुछ करते हैं क्या?"

"कुछ नहीं, सिर्फ़ पाँच सौ एकड़ का फ़ार्म है, कुछ थोड़े से बाग़ हैं। चार कोठियाँ हैं शहर में, किराये पर उठी हैं। और, पिछले दस सालों से एम.एल.ए. रहते चले आ रहे हैं", उसने गुणगान करते हुए कहा। कबीरदास को एक प्रश्न और सताने लगा—"तो क्या अब कांग्रेस का राज नहीं रहा ? क्या जनसेवक कुँवर साहब विरोधी दल में हो गये हैं?"

छोटा नेता भिन्नाया—"अजी विरोधी हों उनके दुश्मन, वे तो हमेशा सत्ताधारी कांग्रेस में ही रहे।" फिर आवेश में आकर बोला—"ऐसी तैसी इस प्रेसीडेंट रूल की। दरअसल महात्मा जी, कुछ ऐसे हाकिम आ गये हैं ज़िले में जो पहले तो थोड़ा और इस प्रेसीडेंट शासन में तो कुँवर साहब जैसे नेताओं की भी बिलकुल नहीं सुनते। अब बताइए जनम-ज़िंदगी तो राज किया, अब ये हुक्काम ऐसे कि छोटी-मोटी सिफ़ारिशें भी नहीं सुनते। हम छोटे नेताओं की हालत तो इतनी बुरी है कि डी.एस.ओ. भी घास नहीं डालता हमें"।

फिर, कबीरदास का हाथ पकड़कर बोला—"चलिए न हमारे नेता के पास।" संतजी सब सुन चुके थे, समझ चुके थे। उन्होंने धीरे से अपना हाथ छुड़ा लिया—"ना भय्या, कुँवर जी को सेवा करने दो, जनता की सेवा। अब कोई ज़रूरत नहीं उनके पास जाने की"„ और जिधर से आये थे, उधर को ही लौट गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति-आंदोलन और लोक-संस्कृति

वीरेन्द्र मोहन

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका ज्ञान-जगत् और कर्म-जगत् इसी लोक के अंदर क्रियाशील होता है और वह लोक में स्थित रहते हुए चौदह भुवनों की यात्रा करता है। कलाएँ इसी लोकबद्ध प्राणी के ज्ञान और कर्म को अनंत विस्तार देती हैं तथा अनेक विद्याओं और अविद्याओं की सृष्टि करती हैं। इन विद्याओं के स्वप्न और आकांक्षाएँ मनुष्य की ऊर्जा, जिजीविषा, शक्ति तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती हैं। लोक का यही उन्मेष शास्त्र की रचना का आधार बनता है। शास्त्र का उत्स भी लोक है और वह शास्त्र भी लोकबद्ध होता है। इसलिए, लोक की सत्ता ही सर्वोपरि है। लोक ही सत्य है। साहित्य और कलाओं के मूल में लोक की इसी उपस्थिति ने मनुष्य को शक्ति प्रदान की है।

भक्तिकाल का साहित्य लोकोन्मुखी साहित्य है। वह लोक की शक्ति से रचा गया साहित्य भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्ति काव्य की इसी लोकोन्मुखता को स्वीकार किया है। इसी परंपरा में कुँवरपाल सिंह ने भक्तिकाव्य का विवेचन-विश्लेषण 'भक्ति-आंदोलन और लोक-संस्कृति' नामक अपनी आलोचना-कृति में किया है। यद्यपि यह एक निबंधात्मक कृति है, जिसके सोलह निबंधों में भक्तिकाव्य की लोक-चेतना और प्रमुख कवियों की रचनाशीलता को खोजने का उपक्रम किया गया है। इसी के अंतर्गत मध्यकालीन भारतीय समाज की संरचना तथा साहित्य और इतिहास के संबंधों की पड़ताल भक्तिकाल के संदर्भ में की गयी है। यहाँ कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे कवियों की रचनाशीलता के वैचारिक आधारों को खोजा गया है तो उनकी सामाजिक चिंताओं की मूल्य-मीमांसा भी की गयी है। यहाँ मीराबाई की विद्रोही आत्मा की खोज है, तो गुरु नानक के माध्यम से इतिहास के सच को पाया गया है। यहाँ मानव-मुक्ति के स्वप्नदृष्टा संत दादूदयाल की रचनाशीलता की पहचान भी है। डॉ. कुँवरपाल सिंह ने सामासिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर तो विचार किया ही है, इतिहास-विरोधी शक्तियों की भी ख़बर ली है। इस कृति का महत्त्व भक्ति को एक नये आलोक में देखना भी है और उसकी प्रासंगिकता की खोज करना भी है।

भक्ति-आंदोलन तथा उसकी निष्पत्तियों को धार्मिक और सांप्रदायिक आधार पर भी देखने के प्रयास होते रहे हैं और भक्त कवियों की मानवीय चेतना के कारण वह अनेक तरह के आरोपों का शिकार भी हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्ति-काव्य की सामंत-विरोधी चेतना को खोजने का उपक्रम किया। भक्ति-काव्य की लोकचेतना को सामने लाने के प्रयास लगातार हो रहे हैं। डॉ. कुँवरपाल सिंह की प्रस्तुत कृति इस दिशा में कुछ नयी रोशनी डालती है। भक्ति-काव्य की लोक-चेतना को पहचानने की दिशा में डॉ. कुँवरपाल सिंह इतिहास और समाज की अंतर्यात्रा भी करते हैं। वे इस पहचान को निरंतर पुख़्ता करते हैं। लोक-चेतना के विभिन्न रूपों की खोज करते हैं। वे भक्ति-आंदोलन की सीमाओं का उल्लेख करते हैं : ''भक्ति-आंदोलन में कई तरह के रंग और विचार रहे हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति-आंदोलन एक जन-आंदोलन था? यह सीमित अर्थों में ही जन-आंदोलन था, संपूर्ण अर्थों में नहीं''। (पृष्ठ 29) इस प्रकार, लेखक भक्ति-काव्य संबंधी निष्पत्तियों की अतिरंजनापूर्ण अभिव्यक्ति के स्थान पर इतिहास की कारण-कार्य-पद्धति को स्वीकार करता है। वह भक्ति-आंदोलन के परिवर्तन के स्वर की पहचान करता है, वह सामाजिक संरचना के ताने-बाने को पहचानता है और इतिहास, समाज और साहित्य के संबंधों की अंतर्क्रिया को हमारे सामने लाता है।

भक्ति-काव्य मध्यकालीन भारतीय समाज की जिस ज़मीन से जन्म लेता है, वहाँ अनेक प्रकार के नये परिवर्तन हैं। पारंपरिक संरचना की वहाँ विविधताएँ हैं, तो उन विविधताओं से उत्पन्न नये रूप भी। वहाँ जीवन है और जीवन का दर्शन भी। डॉ. कुँवरपाल सिंह इसी इतिहास और समाज के भीतर से सद्भाव के सूत्र खोजते हैं। वे यह स्पष्ट करते हैं कि इस्लाम धर्म और इसके भी बहुत पहले से भारतीय समाज के अरब देशों के साथ सद्भावनापूर्ण संबंध थे। शासकों तक ने शरीयत के नियमों से शासन संचालित नहीं किया। विविधतापूर्ण समाज समन्वय के रास्ते पर ही आगे बढ़ सकता था। शासक वर्ग ने यह कार्य किया, पर यह समन्वय या सामंजस्य केवल राजनीति की ही आवश्यकता नहीं थी, समाज के अन्यान्य निकायों में भी यह समन्वय देखने को मिलता है। सांस्कृतिक क्षेत्रों में इस समन्वय ने नये रूपों को भी जन्म दिया। भक्तिकालीन समाज का इतिहास केवल शासकों के उत्थान-पतन या केवल राजकीय आचार-व्यवहार से नहीं जाना जा सकता, जनता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त-वृत्ति, उसके जीवन-व्यवहार से भी इसे जाना जा सकता है। लोक-व्यवहार भी हमारे इतिहास से जुड़ा होता है। डॉ. कुँवरपाल सिंह राजनीति, समाजनीति आदि के साक्ष्यों के आधार पर भक्तिकाल की सामासिक संस्कृति की खोज करते हैं। इसी के साथ वे उन अवधारणाओं तथा मान्यताओं का परीक्षण भी करते हैं, जिनके विषय में मत-मतांतर हैं। वे भक्ति के प्रवाह को लोक के प्रवाह के रूप में देखते हैं। मध्यकालीन भारतीय कलाएँ भी इसी लोक-प्रवाह का अंग बन जाती हैं, जिनका विकास भारतीय और फ़ारसी-ईरानी शैलियों के समन्वित प्रयास से होता है।

भक्तिकाव्य के विवेचन के क्रम में डॉ. सिंह उसकी व्याप्ति और विकास की परिस्थितियों को भी अपनी दृष्टि में रखते हैं। जिस प्रकार से वे भक्ति-काव्य की धर्म-निरपेक्षता का, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का उद्घाटन करते हैं, उसी प्रकार से वे भक्ति-काव्य विषयक मत-मतांतरों का परीक्षण और मूल्यांकन भी करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भक्ति-काव्य विषयक अनेक निष्पत्तियों का वे विरोध करते हैं। वे संकीर्ण और अनैतिहासिक मान्यताओं का विरोध करते हैं। वे भक्ति आन्दोलन के मूल में प्रेम की सत्ता को स्वीकार करते हैं, इसीलिए लिखते हैं–"यदि भक्ति-आंदोलन के मूल में प्रेम है, तो रामचंद्र शुक्ल की भक्तिकाल के उद्भव और विकास पर की गयी टिप्पणी अनैतिहासिक और मिथ्या है। यह शुक्ल जी की इतिहास-विरोधी धारणा है। जिसके कारण आज भक्तिकाल को एक मुस्लिम-विरोधी आंदोलन के रूप में बहुत से हिन्दी के छात्र, अध्यापक और पाठक देख रहे हैं। शुक्ल जी की इस मिथ्या अवधारणा से कितनी कटुता बढ़ रही है, यथार्थ के स्थान पर हिन्दी पाठकों में मिथ्या चेतना का प्रचार-प्रसार हो रहा है।" (पृष्ठ 41) डॉ. सिंह मानते हैं कि सामान्यतः इतिहासकारों ने मध्यकाल को पूर्वाग्रहों के आधार पर ही व्याख्यायित किया है और भारतीय समाज तथा संस्कृति में आयी गिरावट और पिछड़ेपन को मध्यकाल के मुस्लिम शासकों और भारत में मुसलमानों के प्रवेश से जोड़ दिया है। डॉ. कुँवरपाल सिंह ऐसी मान्यताओं का विरोध करते हैं। वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ डॉ. रामकुमार वर्मा तथा उच्च संस्थानों में हो रहे शोधों की भी आलोचना करते हैं, इसीलिए वे निरंतर वर्तमान में खड़े होकर इतिहास में प्रवेश करते हैं।

भक्ति-काव्य और भक्ति-आंदोलन में धर्म की उपस्थिति और उसके स्वरूप की चर्चा प्रायः की जाती है। हिन्दूवादी इतिहास-दृष्टि से उस धर्म की एक व्याख्या की जाती है। सत्यकेतु विद्यालंकार या डॉ. मुंशीराम शर्मा की इतिहास-दृष्टि धर्म को इसी आधार पर देखती है। फलतः, पूरे भक्ति-काव्य की एक हिन्दूवादी धार्मिक व्याख्या भी की जाती है। आजकल रामायण के प्रवचनकर्ता, भागवत-कथा कहने वाले इसी दृष्टि का विस्तार कर रहे हैं। डॉ. सिंह स्पष्ट करते हैं कि यह एक विकृत दृष्टिकोण है। उक्त दृष्टि वस्तुतः समाज में भेदों की सृष्टि करती है, असमानता की सृष्टि करती है और हमारे भविष्य के स्थान पर अतीत में जीती है। वस्तुतः, धर्म के प्रश्न पर डॉ. सिंह इतिहास और उस इतिहास में रचे गये साहित्य को अपने विवेचन का आधार बनाते हैं। वे सृजनात्मक कलाओं के माध्यम से भी धर्म के प्रश्न पर विचार करते हैं और मानते हैं कि मध्यकाल में धर्म का उदार रूप सामने आया और धार्मिक सद्भाव के नये-नये रूपों ने जन्म लिया। शासन-व्यवस्था का चरित्र भी कहीं से सांप्रदायिक या धार्मिक नहीं दिखायी देता, कुछ अपवादों को छोड़कर। यहाँ सुलहकुल की बात की गयी है। शासन के संचालन में भी इस तरह के धार्मिक भेद-भाव के उदाहरण देखने को नहीं मिलते हैं। यहाँ धर्म लोक से जुड़ा धर्म है। इसलिए, वह लोकधर्म भी है। धर्म के शास्त्रीय रूप को यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। इसलिए धर्म के कठमुल्ले इसके विरोधी हो गये। "उल्लेखनीय है कि भक्तिकाल के रचनाकारों ने धर्म का संकीर्ण रूप प्रस्तुत नहीं किया है। सभी कवि धर्म और जाति की संकीर्णता को त्यागने और परस्पर प्रेम और सहयोग को दृढ़ करने पर बल देते हैं। वे एक ऐसी सर्वमान्य नैतिकता के विकास पर बल देते हैं, जिसका आधार किसी प्रकार की संकीर्णता न हो, अपितु जिस की केंद्रीय दृष्टि परस्पर सहयोग, सद्भावना, प्रेम, सहृदयता, सादगी के आधार पर विकसित हुई हो। उन्होंने मनुष्य मात्र की एकता को बलपूर्वक रेखांकित किया है। इस प्रकार की निरंकुशता के प्रति उनमें समाज-प्रतिरोध मिलता है। वे बार-बार मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। उसकी सुंदर छवि को गढ़ने के लिए ही वे अपनी प्रतिभा का रचनात्मक उपयोग करते हैं।" (पृ. 37) वस्तुतः, डॉ. सिंह भक्ति-आंदोलन की उसकी धर्म-निरपेक्ष छवि की खोज करते हैं। आचार्य शुक्ल की मान्यता को वे स्वीकार नहीं करते और मानते हैं कि धर्म-निरपेक्षता हमारी सामाजिक संस्कृति का मूलाधार है। भक्ति काव्य में हमें इस धर्म-निरपेक्षता का सहज प्रतिफल देखने को मिलता है।

कुँवरपाल सिंह के अध्ययन की विशेषता है कि यहाँ प्रामाणीकरण वस्तुपरकता के द्वारा किया जाता है और लेखक चौकस दृष्टि से वैविध्यपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत करता है। वे सामाजिक-विकास क्रम तथा उत्पादन-संबंधों को आधार बनाकर उस काल की व्याख्या करते हैं। वे इतिहास के परिवर्तनों को अपनी दृष्टि में रखते हैं। वे भक्ति-आंदोलन की रचनाओं के माध्यम से इतिहास की तहों में जाते हैं।

लोक-संस्कृति के उपादान और उनकी अभिव्यक्ति निरंतर गतिशील रहती है। लोक भाषाएँ भी इसी लोक-संस्कृति की महत्त्वपूर्ण उपादान हैं। भक्ति-आंदोलन के भीतर ही लोकभाषाओं की भूमिका है। लोकभाषा का इतना बड़ा संसार इतिहास में पहली बार रचा गया। गुजराती, मराठी आदि की तरह अवधी और ब्रज जैसी लोक-बोलियों को नयी पदवी मिली। निश्चय की भक्ति-काव्य की जीवंतता अवधी और ब्रज जैसी भाषाओं की जीवंतता है। लोकभाषाओं की शक्ति को एक नया रूप मिला। जहाँ बहुसंख्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज शिक्षा से वंचित था, वहाँ ब्रज और अवधी की कविता से वह अपने को साक्षर बनाता है। भक्ति-काव्य की व्याप्ति वंचितों, पिछड़ों, श्रमरत समाजों में अधिक पायी जाती है, तो इसका एक कारण उसमें अवधी और ब्रज भाषाओं की उपस्थिति भी है। ये भाषाएँ अपनी समस्त क्षमताओं के साथ समस्त उपादानों के साथ यहाँ उपस्थित हैं। डॉ. सिंह अपने लोकतात्त्विक चिंतन में उन निकायों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिनका प्रायः ही उल्लेख नहीं किया जाता है। तभी वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह आंदोलन अपने मूल चरित्र में सामंत-विरोधी और लोकवादी है।

भक्तिकाव्य अपने गहरे सामाजिक आशय के कारण तथा संगीत, चित्र और स्थापत्य आदि कलाओं के सन्निवेश के कारण जन-जन की चेतना के निकट पहुँच गया। भक्ति-आंदोलन का उदय ही लोक की सत्ता की स्वीकृति के साथ हुआ, अतः उसका लोकपक्ष अनेक प्रकार की विसंगतियों तथा विकृतियों का विरोधी रहा है। चाहे वह कर्मकांड का पाखंड हो या सामाजिक विद्वेष को फैलाने वाली सांप्रदायिकता और जाति-पाँति की संकीर्ण भावना अथवा सामाजिक विषमता के मानवरचित कुचक्र—भक्ति-काव्य ने इन सबका प्रतिकार किया है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के सामंती कुचक्र को भक्ति-काव्य ने चुनौती दी है। नीच और छोटी कही जाने वाली जातियों को, शिल्पियों को भक्ति-आंदोलन में अग्रकर्ता की भूमिका मिली। यहाँ कवियों, संतों का एक ऐसा रूप देखने को मिलता है, जो उच्चकुलीन होने के बावजूद निम्नजातियों की चेतना को प्रस्फुटित कर सके। डॉ. कुँवरपाल सिंह का यह चिंतन भक्ति-आंदोलन की प्रगतिशील भूमिका को रेखांकित करता है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'लोक और सत्ता का सदैव विरोध रहा है। भक्तिकाल का पूरा साहित्य मंदिर-मठ और दरबारी संस्कृति का विरोधी है।" (पृष्ठ 100)

कुँवरपाल सिंह भक्ति-आंदोलन के विविध पक्षों, उसकी वैचारिक निष्पत्तियों, मूल्यगत मान्यताओं तथा उसकी लोक-संपृक्ति का निरूपण उसकी रचनात्मकता और रचनाशीलता के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। वे कबीर, तुलसी, मीरा और नानक आदि की रचनाशीलता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और समकालीन संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता पर विचार करते हैं। वे निरंतर उनके मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं—"भारत की अनंत जीवनी शक्ति, जो काल में बहुत पीछे और बहुत आगे तक फैली हुई है, उसमें कबीर एक विचार-विंदु हैं, अपने समय को पढ़ने के लिए उन्हें पढ़ना अब जरूरी है।" डॉ. सिंह का यह कथन स्पष्ट करता है कि हमारा समाज अभी भी उन विकृतियों से ग्रसित है, जिनके विरुद्ध भक्त कवियों ने संघर्ष किया। जाति और धर्म की जो समस्याएँ आज समाज को तोड़ रही हैं, भक्त कवियों ने बहुत पहले उनका विरोध किया था। "जाति-विभाग हेय और हानिप्रद हैं"—ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था। "कबीर मनुष्य को मनुष्य मानते हैं। वे मनुष्य के जाति-धर्म को स्वीकार नहीं करते हैं। इसीलिए, वे आदमी-आदमी के बीच विद्यमान भेद को मिटाना चाहते हैं।

डॉ. सिंह की मान्यता है कि "कबीर ने जाति-प्रथा पर ज़ोरदार प्रहार किया। जाति-प्रथा के विरोध को सामंती व्यवस्था के एक अंग के विरोध के रूप में देखा जाना चाहिए। जाति-प्रथा का सामंती समाज-व्यवस्था से अभिन्न संबंध है।" (पृष्ठ 50) आज धर्म और जाति की समस्या अधिक जटिल हो गयी है। "आज हमारे सामने सांप्रदायिकता, जातिवाद, धार्मिक अंधविश्वास जैसी सामाजिक समस्याएँ कबीर के युग से अधिक गंभीर रूप में हैं, जिन्हें संकीर्ण राजनीतिक हितों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है तथा सामंतवाद की विकृतियों के साथ पूँजीवाद अपनी समाज-विरोधी जड़ों को फैला रहा है। ऐसे समय में कबीर और सार्थक हो जाते हैं। कबीर को समझकर समाज एक नयी दिशा प्राप्त कर सकता है। जो कि उसके लिए निश्चित ही हितकारी होगी। कबीर की बहुत सी अवधारणाएँ हमारे लिए आज भी सार्थक हैं। देश की एकता के लिए सांप्रदायिकता विद्वेष और जाति-प्रथा की अमानवीय व्यवस्था से संघर्ष अत्यावश्यक है। कबीर-साहित्य के उन पक्षों की आज के संदर्भ में पुनर्व्याख्या करने की आवश्यकता है।" (पृष्ठ 53) लेखक कबीर के काव्य की अनेक दिशाओं का विवेचन करता है। वह कबीर के निर्भय रूप को हमारे सामने लाता है। वह कबीर की प्रासंगिकता का परीक्षण करता है और सावधान भी करता है कि कबीर को मंदिर में स्थापित न किया जाए और उन्हें अवतार मानने से परहेज़ किया जाए, क्योंकि कबीरपंथी मठ ऐसा कर रहे हैं, दलित प्रश्न के संदर्भ में अतिरेकी स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं। कुँवरपाल सिंह कबीर के काव्य के उन पक्षों पर प्रकाश डालते हैं, जिनका संबंध सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से है।

डॉ. कुँवरपाल सिंह मलिक मुहम्मद जायसी के माध्यम से सूफ़ी-चिंतन पर विचार करते हैं। वे सूफ़ी-चिंतन को एक उदार चिंतन के रूप में देखते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि सूफ़ी-चिंतन इस्लाम के प्रचार से संबंधित नहीं है। सूफ़ी कवियों तथा अन्य भक्त कवियों ने लोक धर्म को स्वीकार किया। शास्त्रीय धर्म का तो उनके यहाँ विरोध ही देखने को मिलता है—"शास्त्रीय धर्म पंडे-पुरोहितों, मुल्ला-मौलवियों के माध्यम से सत्ता तथा राजनीति का हथियार बन जाता है। यह धर्म का जन-विरोधी रूप होता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, नानक आदि सभी ने इस धर्म का विरोध किया है और लोकोन्मुखी धर्म को अपने साहित्य में महत्त्व दिया है। इस लोकोन्मुख धर्म में प्रेम, सद्भाव, त्याग और आपसी विश्वास निहित है। घृणा, संदेह और सत्ता का इन कवियों ने निरंतर विरोध किया है।" (पृ. 76) जायसी की कविता इन मानदंडों को पूरा करती है। जायसी का काव्य संदेश देता है कि युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं है, घृणा से प्रेम की बेल नहीं सींची जा सकती है। मध्यकाल का कोई भी युद्ध धर्मयुद्ध नहीं था, शासकों में राज्यलिप्सा थी। कंचन और कामिनी भी युद्ध का कारण बने। जायसी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता का आधार प्रेम है, यद्यपि उन्होंने अपनी प्रेमकथा को ध्यात्मिक रंग देने का प्रयास भी किया है। अवधी में रचित दमावत' ने अपने बाद की कविता को बहुत दूर तक प्रभावित या। पद्मावती की कथा लोक में पहले से प्रचलित थी, जायसी ने आध्यात्मिक रंग और सूफी खुशबू प्रदान की—"जायसी शुद्ध से अवध के लोकजीवन के कवि हैं। भारतीय लोकजीवन का ना प्रामाणिक एवं सटीक चित्रण जायसी ने किया है, अंयत्र म है।... अवध के लोकजीवन और उनके सुख-दुःख, लोक की दा, हर्षोल्लास आदि का चित्रण जायसी की अपनी विशेषता है। वेदना के चित्रण में तो वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।" (पृ. जिस प्रकार से जायसी ने अवध के लोकजीवन का समग्र चित्र तुत किया है, उसी प्रकार सूर ने ब्रज की लोक-संस्कृति का रूपण अपनी कविता में किया है। जायसी और सूर दोनों ही न-बोध के कवि हैं।

सूरदास ने ब्रज की लोक-संस्कृति के माध्यम से सामंती स्कृति के सामने कई प्रश्नचिह्न खड़े किये हैं। सूर की कविता शास्त्रीय धर्म और दर्शन का निरूपण नहीं करती। सूर की ता नारी के सम्मान की कविता है। सूर और मीरा का ी-विषयक दृष्टिकोण मध्यकालीन संस्कृति की सीमाओं का तिक्रमण करता हैं। यहाँ लौकिक जीवन का अनुभव प्रमुख है। यसी की तरह सूर की कविता भी प्रेम की कविता है। सूर के में अधिक विविधता, स्वाभाविकता और गहराई है। सूर की ियाँ शास्त्रीय विधान का अतिक्रमण करती हैं। इस प्रकार, सूर प्रेम का एक नया शास्त्र निर्मित किया है। इस प्रेम को शास्त्र अध्यात्म के मुलम्मे की आवश्यकता नहीं, ऐसा डॉ. सिंह का ना है। हमारी शास्त्र-परंपरा में नारी को दूसरे दर्जे की नागरिकता ान की गयी है। वहाँ नारी स्वतंत्र नहीं है। लेकिन, सूर के यहाँ ी का पराधीन रूप नहीं मिलता। सूर ने नारी को विविध काओं में प्रस्तुत किया है। उसके गुण-दोषों का विवेचन किया । सूर की नारी परंपरागत सामाजिक बंधनों का अतिक्रमण करती । सामंती मूल्यों का उल्लंघन करती है। वह पुरुषों के साथ ानता का अधिकार चाहती है। यह ठीक है कि मध्यकालीन क्ति-काव्य, विशेषतः कृष्ण भक्तिकाव्य की रचना में पूर्व की राओं का व्यापक प्रभाव है, किंतु सूर की कविता अनेक स्थानों इसका अतिक्रमण भी करती है। सूर की राधा का चित्रण ावत-निरपेक्ष है। डॉ. कुँवरपाल सिंह सूर के जन्मांध होने को कार नहीं करते, न सूर और अकबर की भेंट को प्रामाणिक ते हैं। निश्चय ही सूरदास की अनेक मौलिक उद्भावनाएँ उन्हें क्ति-काव्य का महत्त्वपूर्ण रचनाकार सिद्ध करती हैं। उनकी विता का प्रेम-निरूपण और वात्सल्य-चित्रण मानव-स्वभाव को, की विविध अवस्थाओं को समझने में हमारी सहायता करता है।

तुलसी भक्ति-काव्य के केंद्रीय कवि कहे जा सकते हैं। डॉ. रपाल सिंह ने कबीर और तुलसी की रचनाशीलता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। वे तुलसी की रचनाशीलता के माध्यम से मध्यकालीन इतिहास की खोज करते हैं। वे तुलसी के मध्यकालीन बोध को पहचान लेते हैं। उनकी स्थापनाओं को इतिहास तथा अन्य साक्ष्यों से प्रमाणित किया जा सकता हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि तुलसी सामंती समाज की देन हैं और उसके प्रतिनिधि कवि भी। तुलसी-साहित्य के अपने अंतर्विरोध हैं और वे अंतर्विरोध भी बहुत साफ़ और स्पष्ट हैं। कहीं तुलसी सामंती समाज के मूल्यों का खुला समर्थन करते हैं और कहीं उसका विरोध। वस्तुतः, तुलसी का सारा चिंतन हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था का सर्वोच्च रूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि तुलसी को वर्ण-व्यवस्था आधारित समाज का जो मॉडल प्रिय है, वह उस समय के समाज में, तुलसी के समाज में नहीं है। इसीलिए, तुलसी कल्पना का रामराज्य बनाते हैं। तुलसी के काल में जो सामाजिक दुर्व्यवस्था है, उसका कारण वर्णों का अपने कर्तव्य से विमुख हो जाना है, ऐसा तुलसी मानते हैं; परंतु तुलसी महान कवि हैं, इसलिए उनका दृष्टिकोण सांप्रदायिक और संकीर्ण नहीं है। तुलसी हर अत्याचारी और आततायी का विरोध करते हैं, चाहे उसकी कोई जाति और धर्म हो। तुलसी ने अनुभव किया है कि "आर्थिक दुर्व्यवस्था और ग़रीबी सबसे बड़े अभिशाप हैं। आर्थिक रूप से हीन व्यक्ति का न कोई आचार होता है और न कोई धर्म। उच्च वर्ण में जन्म ले लेने से भी उसकी स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। साधन-संपन्न लोगों की गुलामी उनकी नियति है।" (पृष्ठ 93) लेखक की टिप्पणी है 'यह बात मध्यकाल में जितनी सत्य थी, उससे अधिक आज सच है। आर्थिक स्वाधीनता के बिना शेष सभी अधिकारों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। नारों से बहुत से अन्य कार्य तो संपन्न हो सकते हैं, किंतु साधारण लोगों की आर्थिक स्थिति नहीं बदली जा सकती।" (पृष्ठ 93) तुलसी की यह इतिहास-दृष्टि आज भी प्रासंगिक है। कलिकाल के माध्यम से भी तुलसी ने मध्यकालीन इतिहास की विकराल स्थितियों और प्राकृतिक आपदाओं का सजीव चित्रण किया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था टूट रही थी, जिसको लेकर तुलसी दुःखी हैं। तुलसीदास समझ नहीं पाते हैं कि यह वर्णाश्रम-व्यवस्था धीरे-धीरे अपनी ऐतिहासिक भूमिका खोती जा रही है और तुलसी के चाहने से इतिहास का रथ पीछे तो नहीं मुड़ सकता था।

डॉ. कुँवरपाल सिंह आज के संदर्भ में तुलसी की प्रासंगिकता पर विचार करते हैं और मानते हैं कि तुलसी ने जिन बुराइयों के ख़िलाफ़ संघर्ष किया, वे आज भी हैं। हम इस जनतंत्र में जाति और धर्म की आड़ लेकर इन्सानों का रक्त बहा रहे हैं, पूजा और उपासना-स्थलों को लेकर सत्ता की राजनीति का खुला खेल, खेल रहे हैं। प्रेम के स्थान पर घृणा के बीज बो रहे हैं। लेकिन अपनी करनी पर न खेद है और न ग्लानि। तुलसी आज हमें इसलिए याद आते हैं, क्योंकि उन्होंने इस संकीर्णता और विभेद प्रवृत्ति का अंतिम समय तक विरोध किया। उनके लिए मंदिर तो पूज्य हैं, लेकिन मस्जिद भी उन्हें उतनी ही प्रिय है।" (पृष्ठ 106) लेखक तुलसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि को प्रजातांत्रिक, सह अस्तित्वपरक और समदर्शी मानता है। 'रामचरितमानस' को संदर्भ बनाकर लेखक ने तुलसी की मूल्य चिंताओं, सामाजिक आदर्शों तथा मान्यताओं को सहज रूप में प्रस्तुत किया है।

''मीरा' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में सामंती-परंपरा के विरुद्ध पहली चिंगारी हैं, जो समय के साथ-साथ और अधिक प्रासंगिक हो गयी।' डॉ. सिंह ने मीरा की विद्रोही आत्मा की पहचान उनकी जीवन-रेखाओं के माध्यम से की है। जिस प्रकार से सूफ़ी कवियों को इस्लाम का प्रचारक कहकर संप्रदायवादियों ने उन्हें लांछित किया, उसी प्रकार से सामंती सोच के लोगों ने मीरा की अनदेखी की या उन पर आरोप लगाये। ''मीरा के बारे में इनका विचार है कि मीरा ने राणा परिवार की कुल मर्यादा को तिलांजलि देकर, भारतीय पतिव्रता नारी का अपमान किया है।'' (पृष्ठ 125) लेखक स्पष्ट करता है कि राजपूत वंशों में किसी कन्या का नाम मीरा नहीं रखा जाता। कैसी विडंबना है कि वे मीरा को देवी रूप में तो स्वीकार करते हैं, परंतु मीरा को मनुष्य रूप में एक विद्रोही नारी का न्यायसंगत स्थान देने को आज भी तैयार नहीं है। भारतीय संस्कृति के इन पुरोधाओं के अंतर्विरोध धर्म और पाखंड के आवरण में ढक जाते हैं। मीरा का संघर्ष, उनकी गिरधर गोपाल के प्रति निष्ठा, रणछोर मंदिर की घटना और मीरा से संबंधित घटनाओं, किंवदंतियों के आधार पर लेखक ने उनके विद्रोही रूप को हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

गुरु नानक भक्ति-काव्य के ऐसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं, जो साधारण जन और नारी की दुर्दशा के लिए तत्कालीन शासकों को उत्तरदायी मानते हैं। गुरू नानक की कविता सामाजिक कुरीतियों, पाखंड, छुआछूत, धार्मिक अंधविश्वासों पर कठोर प्रहार करती है। डॉ. कुँवरपाल सिंह गुरु नानक के जीवन-साक्ष्यों के आधार पर उनकी जीवन-दृष्टि की खोज करते हैं, गुरु नानक छुआ-छूत और ऊँच-नीच में विश्वास नहीं करते थे। वे सभी को समान समझते थे। नानक ने अपनी रचनाओं में समन्वय पर विशेष बल दिया है। कबीर की तरह समाज की विकृतियों पर प्रहार करते हैं। वस्तुतः गुरु नानक ने सिद्धांत और व्यवहार की खाई को कभी गहरा न होने दिया। उन्होंने जीवन भर दलित, पीड़ित और वंचितों के लि संघर्ष किया। निश्चय ही गुरु नानक का अवदान मनुष्यता अमूल्य निधि है।

संत दादू दयाल भक्ति-काव्य के ऐसे कवि हैं, जो मानव-मु के स्वप्नद्रष्टा कहे गये हैं। लेखक ने उनकी रचनाओं में कबीर प्रभाव को स्वीकार किया है। निश्चय ही दादू की कविता दार्शनिक पक्ष बहुत ही सशक्त है। सूफ़ी मत का प्रभाव भी उन रचनाओं में देखने को मिलता है। यहाँ तक कि उनकी भ माधुर्य भाव से भी प्रभावित है। लेखक ने दादू के जीवन दर्शन विस्तार से खोज की है—''संत दादू ने मानव-जीवन में आवश्य उन गुणों का वर्णन किया है, जो उसे एक सफल नागरिक ब में सफल हो सके। संभवतः दादू एक दार्शनिक के स्थान पर दूरवर्शी एवं सफल वैद्य थे, जो जन-शक्ति की नाड़ी पर हाथ उसकी त्रुटियों को समझते हुए उसमें प्राण-संचार के लिए औ रूपी गुणों का बखान करते हैं।'' (पृष्ठ 159)

'भक्ति-आंदोलन और लोक-संस्कृति' के माध्यम से कुँवर सिंह ने भक्ति-काव्य की उपलब्धियों, अंतर्विरोधों और सामाजि चिंताओं को तार्किक ढंग से पहचानने का प्रयत्न किया महत्त्वपूर्ण यह है कि लेखक उन ग़लत-अनैतिहासिक तथ्यों खंडन करता है, जो भक्ति-काव्य की अंतर्वस्तु को समझने में बड़ी बाधा हैं। वह भक्ति-काव्य की धर्म-निरपेक्ष छवि को सामने लाता है। निश्चय ही यह अध्ययन भक्ति-काव्य को सम में हमारी सहायता करता है।

हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्या
सागर-470

श्री के.पी. सिंह और श्री राही मासूम रज़ा मेरे बहुत पुराने मित्र थे, जब मैंने 1962-63 में 'लय' नामक मासिक पत्रिका निकाली थी तो उसमें इन दोनों का बहुत दिनों तक मुझे सहयोग मिलता रहा। कुछ दिनों बाद मैं बंबई चला गया और उस पत्रिका के प्रकाशन आदि का प्रबंध करने वाले श्री रवीन्द्र सक्सेना भी अलीगढ़ से मैनपुरी चले गये और पत्रिका नौ अंकों के बाद बं हो गई। लेकिन फिर भी के.पी. सिंह से मेरा संबंध निरंतर बना रहा और उनका प्रेम और सहयोग मुझे सदैव मिलता रहा। आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, लेकिन उनका रचित साहित्य कालजयी है और वो सदैव ही प्रगतिशील लेखकों के बीच ही नहीं पूरे साहित्यिक समाज में चर्चा का विषय बना रहेगा और सम्मान के साथ पढ़ा और याद किया जायेगा। आना जाना तो जीवन का क्रम है और मृत्यु एक ध्रुव सत्य है, उसे न स्वीकार करते हुए भी स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि

रुके नहीं कोई यहाँ, नामी हो कि अनाम
कोई जाए सुबह को, कोई जाए शाम

जो आये ठहरे यहाँ थे न यहाँ के लोग
सबका यहाँ प्रवास है, नदी नाव संजोग

गोपाल दास नीरज, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. कुँवरपाल सिंह का जीवन-बोध

जीवन सिंह

र्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की प्रमुख स्थापनाओं से सीख लेकर जिन आलोचकों और साहित्य-चिंतकों ने हिन्दी-साहित्य र्जनात्मक कला और अपने समय को जाँचने-परखने का किया है, उनमें डॉ. कुँवरपाल सिंह की महत्त्वपूर्ण जगह है। अपने जीवन-व्यवहार तथा वैचारिक स्तरों पर उन्होंने र प्रयत्न किया कि साहित्य को थोथे कलावाद और -निरपेक्ष स्थितियों की संकीर्णताओं और चमत्कारवाद से कर उसके विकल्पात्मक एवं समाज-सापेक्ष सर्जन के महत्त्व स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहा जाए। इस काम के उन्होंने विद्वानों की शास्त्रनिष्ठ और चक्करदार भाषा से अपनी एक सहज, सरल और दो टूक भाषा ईजाद की। जानते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा की समझदारी लेकर लेखकों ने साहित्य और समय की विवेचना करने का स किया है, उनको विचारधारा के स्तर पर लगातार संघर्ष ना पड़ा है। उनका यह संघर्ष उनके लेखन में सीधे झलकता डॉ. कुँवरपाल सिंह की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि उनके साहित्य, जीवन और अपने समय में कोई दूरी नहीं रहती। ैत्यिक विशुद्धता के लिए उनके यहाँ कोई जगह नहीं।

डॉ. कुँवरपाल सिंह का दृढ़ विश्वास रहा है कि वस्तुसंगत यथार्थवादी विचारधारा को अपनाकर ही देश, समाज और क्ति को सच्चे अर्थ में सृजनात्मक स्वाधीनता प्रदान की जा ती है। केवल व्यक्तिवादी क़िस्म की स्वाधीनता से पूरा समाज स्वाधीनता का उपभोग नहीं करता। उनकी मान्यता है "इतिहास में व्यक्ति की सीमित भूमिका होती है। महत्त्वपूर्ण का जनसंगठनों, संघर्षों और अपने दर्शन में अटूट आस्था ही संभव है। सोवियत संघ के विघटन के बाद डॉ. सिंह मौक़ापरस्त बुद्धिजीवियों में नहीं रहे, जो यह मानने लगे यह मार्क्सवादी विचारधारा की विफलता भी है। अब मार्क्सवाद कोई भविष्य नहीं है। इसके विपरीत डॉ. सिंह का दृढ़ ास रहा है कि "यह असफलता प्रयोग करने वाले व्यक्तियों संस्थाओं की है, मार्क्सवाद की नहीं।" भारत को लेकर तो का मानना है कि "जहाँ करोड़ों लोग भय, आतंक और संदेह छाया में जी रहे हैं। जहाँ इक्कीसवीं शताब्दी में भी धर्म के प पर हज़ारों लोगों की हत्या कर दी जाती है। ग़रीबी की संख्या निरंतर बढ़ रही है। ऐसे लोगों के लिए मार्क्सवाद और उस पर आधारित व्यवस्था ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।"

डॉ. कुँवरपाल सिंह का क्लैसिकल मार्क्सवाद में गहरा विश्वास है। वे अपने साथियों को आगाह करते हुए लिखते हैं कि उनको यूरोप के नव-मार्क्सवादियों को अपनी विचारधारा का आधार नहीं बनाना चाहिए। इनमें भविष्य-निर्माण की दिशा दिखाने का दर्शन, शक्ति और सामर्थ्य नहीं है। आज मार्क्सवादी विचारधारा में जो गतिरोध नज़र आता है, उसका कारण भी वे यही मानते हैं कि क्लैकिसल मार्क्सवाद को समझने में कोताही बरती गयी है। इस विचारधारा का रिश्ता करोड़ों मेहनतकशों के जीवन और उनके सपनों से है। कुँवरपाल सिंह ने जनमुक्ति के सवालों के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतकों और उनकी चिंतन-परंपरा से अपना जीवन-बोध सृजित किया है, जिसमें वे यांत्रिक तरीक़े से मार्क्सवाद को समझने वालों से अपनी खुली असहमति प्रकट करते हैं। उनके लिए दुनिया और देश का अतीत, परंपरा और विरासत उपेक्षा की चीज़ नहीं है। हमारे देश के हज़ारों वर्ष के इतिहास में ऐसी बहुमूल्य सामग्री मौजूद है, जिससे हम अपने वर्तमान को सही दिशा दे सकते हैं। सामान्य जन को अपनी परंपरा, इतिहास और स्मृति से एक ख़ास तरह का लगाव होता है, लेकिन उसमें सब कुछ ऐसा नहीं होता जो हमारे वर्तमान एवं भविष्य को सँवार सके। इसलिए, यहाँ भी उन पुरातनपंथी, दकियानूस और मनुष्य-विरोधी संकीर्णतावादी-सांप्रदायिक ताक़तों से संघर्ष करना आवश्यक होता है, जो सामान्य जन को विभाजित कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। डॉ. कुँवरपाल सिंह मानते हैं कि मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दर्शन है और वह जितना अंतरराष्ट्रीय है, उतना ही राष्ट्रीय भी। अंतरराष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता के दोनों बिंदु मनुष्यता के बिंदु पर आकर एकरूप हो जाते हैं, इनमें कोई अंतर्विरोध नहीं रहता। अंतर्विरोध बुर्जुआ जीवन-दर्शन के अंतर्गत रहता है, जहाँ यह वर्ग दूसरे वर्गों और राष्ट्रों की प्राकृतिक एवं मानवीय संपदा का दोहन-शोषण एवं उत्पीड़न करके अपने देश की वैभव-वृद्धि करता है।

डॉ. कुँवरपाल सिंह के साहित्य-चिंतन में उनके जीवन-बोध के अनेक सूत्र मौजूद हैं। उनका साहित्य-चिन्तन और जीवन-बोध,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलावादी चिंतकों की तरह अंतर्विरोधी नहीं है। मसलन, साहित्य में यथार्थवादी सोच की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो पाती है, जब तक कि वैज्ञानिक चिंतन और प्रायोगिकता का विकास नहीं होता। विज्ञान की भूमिका न होती, तो विश्व समाज स्वाधीनता व समानता की ओर शायद ही आगे बढ़ पाता। आज भी ज़्यादातर वे देश और समाज पिछड़े हुए हैं, जहाँ अतार्किकता और मिथकीयता के प्रति सामूहिक आग्रह का अतिरेक है। आज भी जो लोग अपने सांप्रदायिक आग्रहों पर एकजुट होकर अपने समाज और देश का संचालन कर रहे हैं, वे दुनिया की दौड़ में बहुत पीछे हैं। डॉ. सिंह मानते हैं कि हमारे अपने देश भारत में भी इस दृष्टि से उन्नीसवीं सदी की अत्यंत महत्त्वपूर्ण जगह है। यह समय भारत में पूँजीवादी एवं औद्योगिक विकास को गतिशील बनाता है। यद्यपि, अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक शासन से पूर्व ही यहाँ व्यापारिक पूँजीवाद का एक आधार बन चुका था, जिसे औपनिवेशिक शासन ने अपने हित में पहले तो छिन्न-भिन्न किया और बाद में उसी के स्थान पर अपने औपनिवेशिक हितों के लिए सीमित स्तर पर औद्योगिक पूँजीवाद के रूप में स्थापित किया तथा उसकी ज़रूरतों की आपूर्ति के लिए पराधीन-तंत्र के विकास हेतु शिक्षा का एक सतही एवं ऊपरी ढाँचा तैयार किया। लेकिन, इस समय तक दुनिया ने मार्क्सवादी दर्शन की नयी एवं वैज्ञानिक स्थापनाओं से पूँजी और श्रम के द्वंद्व और उत्पादन-संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझ लेने की एक नयी दिशा का आविष्कार भी देख लिया था। इसी का परिणाम रहा कि औपनिवेशिकता से मुक्त होने के लिए बुर्जुआ वर्ग की मुक्ति के साथ सामान्य जन की मुक्ति के सवाल भी दरपेश हुए। यह अलग बात है कि हमारे देश के बुर्जुआ वर्ग की सजगता, वर्ग-हित और चालाकियों से जो स्वाधीनता देश को मिली, उसमें सबसे बुरी बात देश का विभाजन होना और जनमुक्ति के सवालों का अधरझूल में रह जाना हुआ। लेकिन, यह मार्क्सवादी दर्शन की ही कुव्वत एवं ताकत है कि वह इन परिस्थितियों के अंदरूनी यथार्थ, व्यक्ति एवं वर्ग-चरित्र की एक-एक परत को उघाड़कर दिखला देता है। इसीलिए, डॉ. सिंह की दृढ़ मान्यता बनी कि जनमुक्ति के सवालों को मार्क्सवादी विचारधारा से ही हल किया जा सकता है।

डॉ. कुँवरपाल सिंह ने बतलाया है कि यथार्थवादी दृष्टि वाले लोग वस्तु को प्राथमिक मानते हुए चेतना को उसी के गुण के रूप में स्वीकार करते हैं, लेकिन वस्तु और चेतना का गतिशील रिश्ता तभी बनता है, जबकि उसमें द्वंद्वात्मकता बनी रहती है। इसका मतलब है कि वस्तु जितनी चेतना को प्रभावित करती है उतनी ही चेतना भी वस्तु को रूपांतरित करने में अपनी भूमिका अदा करती है। उन्नीसवीं सदी के यथार्थवादियों की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि डॉ. कुँवरपाल सिंह यह मानते हैं कि "उन्होंने सामंती समाज के भ्रष्ट आदर्शों और पतनशील रूप को सच्चाई के साथ चित्रित किया और विकसित होते हुए पूँजीवाद के नकारात्मक स्वरूप को पहचानते हुए उसकी तीखी आलोचना की।" यथार्थवाद को उन्होंने आदर्शवादी और व्यक्तिवादी सोच एवं जीवन-दृष्टि से पृथक् करते हुए बतलाया है कि "ज़िंदगी इतनी हसीन नहीं है, जितनी आदर्शवादी मानते हैं और उतनी भयानक एवं विकृत भी नहीं है, जितनी व्यक्तिवादी प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक यथार्थ इन दोनों के बीच की संतुलित कड़ी है।" डॉ. सिंह ने उन लोगों से असहमति व्यक्त की है, जो मार्क्सवादी विचारधारा में व्यक्ति की भूमिका को अस्वीकार करते हैं। उन लोगों से भी उनकी सहमति नहीं है, जो मार्क्सवाद को केवल आर्थिक दर्शन के रूप में सीमित करके देखते हैं।

डॉ. कुँवरपाल सिंह ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत स्थापनाओं का विवेचन करते हुए जो बातें लेखक के संदर्भ में कही हैं; उनका जितना संबंध लेखक से है, उतना ही व्यक्ति से भी। जो लोग अपने जीवन में वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया से अनजान रहते हैं या उसे नहीं समझते, वे लोग ही बुर्जुआ राजनीतिक विभ्रमों के शिकार रहते हैं। वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया ही व्यक्ति को अपने वर्ग-हितों की चेतना प्रदान करती है। इसके अभाव में जो लोग पारंपरिक तौर पर अपनी सोच एवं दृष्टि निर्मित करते हैं, वे जाति, संप्रदाय एवं पूँजी के प्रपंचों से बाहर नहीं निकल पाते। हालात यहाँ तक बने रहते हैं कि मेहनतकश वर्ग भी अपने समय के सामंती व पूँजीवादी रिश्तों से मुक्त नहीं हो पाता। सामंती सोच की प्रचलित प्रणालियों में आज भी व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता ईश्वर, परमात्मा, अल्लाह, गॉड आदि को मानकर चलता है। इस तरह के प्रभावों से व्यक्ति आसानी से उबर नहीं पाता, जबकि सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि के लिए मनुष्य स्वयं अपने इतिहास एवं भाग्य का निर्माता होता है। इस संसार के विभिन्न देशों और समाजों-समुदायों का इतिहास बतलाता है कि उसमें वर्ग-संघर्ष की मुख्य भूमिका रही है।

जब जीवन और राजनीति के बीच रिश्ते की बात आती है, तो अनेक लोग राजनीति से दूर रहने का तर्क देने लगते हैं; जबकि हम देखते हैं कि राजनीति से जीवन का केवल ऊपरी ही नहीं, वरन् अंदरूनी एवं गहरा रिश्ता होता है। किसी भी देश-समाज के दिशा-निर्धारण का निर्णय सत्ता की राजनीति करती है, इसलिए ज़रूरी है कि समाज का हर नागरिक राजनीति के प्रति जागरूक रहकर अपने निर्णयों को अंजाम दे। यह अलग बात है कि कोई व्यवहारगत दलीय राजनीति में शामिल न हो। राजनीति एक तरह की विचारधारा ही होती है। साहित्य और राजनीति के रिश्ते पर चर्चा करते हुए डॉ. कुँवरपाल सिंह सुपरमैन की राजनीति की असलियत भी बतला देते हैं। सुपरमैन की जो अवधारणा ख़ासतौर से फ़िल्मों में; अमिताभ बच्चन को महानायक बनाकर, जिस तरह फैलायी गयी है, वह स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्यवादी एवं पतनशील पूँजीवादी राजनीति का हिस्सा है कि लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए ऐसी कोई संगठित एवं यथार्थनिष्ठ राजनीति न करने लगें कि सामंती एवं पूँजीवादी गठजोड़ से चल रही राजनीति के पाये हिल जाएँ। जैसे साहित्य में राजनीति विचारधारा के रूप में आती है, वैसे ही व्यक्ति के जीवन में भी। वही व्यक्ति राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखे गये साहित्य का सच्चा पाठक होगा, जो अपने जीवन में राजनीतिक सोच का निर्माण करने से परहेज़ नहीं करेगा।

डॉ. कुँवरपाल सिंह के दृष्टिकोण की ख़ासियत रही है कि अपनी धारणाओं के निर्माण में सरलीकरण का ख़तरा उठाकर भी वे दो टूक फ़ैसला लेते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर उनके मन में कोई संशय नहीं है। इसकी वजह है कि इसका वैज्ञानिक दृष्टि से संगत तथा सामान्य मेहनतकश जन की दृढ़ता एवं संबद्धता में होना। दुनिया की कोई दूसरी विचारधारा नहीं है, जो दुनिया के उत्पादन-संबंधों का विश्लेषण, इतनी व्यापकता एवं गहराई के स्तर पर करने की क्षमता रखती हो। इसी विचारधारा की ताक़त से डॉ. सिंह ने साहित्य में व्यक्तिवादी-पूँजीवादी मूल्यों की मेहनतकश विरोधी राजनीति करने वाले अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि के साहित्य की राजनीति पर अपनी राय इन शब्दों में दी—"अज्ञेय, धर्मवीर भारती की साख अब हारे हुए जुआरी की होकर रह गयी है, इसलिए अपनी लड़ाई कुछ नौसिखिये अतिक्रांतिकारियों-लफ़्फ़ाज़ों के माध्यम से लड़ रहे हैं।" जगदंबा प्रसाद दीक्षित और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के दृष्टिकोण के बारे में लिखा कि "ये रोमानी लोग हैं, जो अति क्रांतिकारी होकर इस देश की राजनीतिक वास्तविकता को ही नकारते रहे हैं।"

'वर्तमान साहित्य' के 'समय-संवाद' स्तंभ के अंतर्गत डॉ. सिंह लगातार अपने समय की चुनौतियों तथा जन-विरोधी निर्णयों पर अपनी टिप्पणी लगातार करते रहे हैं। इनसे भी हमें उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण एवं उनकी विचारधारा का पता चलता है। हिन्दी साहित्य में जिस हस्ती ने उनको सर्वाधिक प्रभावित किया है—वे हैं मुंशी प्रेमचंद। प्रेमचंद का ज़िक्र मात्र ही, उनको भीतर से पुलकित एवं रोमांचित कर देता है। प्रेमचंद का साहित्य डॉ. सिंह का दृष्टि-निर्माता भी है। किसी भी महत्त्वपूर्ण दृष्टि-बिंदु की शुरुआत वे प्रेमचंद के प्रमाण से करते हैं। तुलसी की भाँति प्रेमचंद का साहित्य भी हिन्दी जगत में एक अद्‌भुत प्रमाण-शास्त्र बन गया है। वही साहित्य अमर है, जो लोगों की ज़िंदगी के लिए प्रमाण बन जाए। डॉ. सिंह ने उपन्यास और कथा-साहित्य पर सोचने-विचारने का मन जब कभी बनाया होगा, उसका कारण भी प्रेमचंद का साहित्य अवश्य रहा होगा। प्रेमचंद का साहित्य उनके लिए हर दृष्टि से साहित्य का प्रतिमान है, क्योंकि उसका आधार संसार एवं मनुष्य-जीवन है। प्रेमचंद ने अपनी सारी रचना सामान्य जन की मुक्ति के सवाल और चुनौतियों को लेकर की है। डॉ. कुँवरपाल सिंह के साहित्य-चिंतन एवं जीवन-बोध में भी इनकी झलक साफ़ देखी जा सकती है।

डॉ. कुँवरलाल सिंह के जीवन-बोध का पता उनकी अपनी भाषा से भी चलता है। वे उन साहित्य-चिंतकों में नहीं हैं, जो अपनी बातों की कृत्रिम गंभीरता के प्रदर्शन हेतु भाषा में गुत्थियाँ डालते चलते हैं। ऐसे साहित्य-चिंतकों की अपनी कोई ज़मीन नहीं होती। डॉ. सिंह के जीवन-बोध का निर्माण उनकी अपनी ज़मीन और जीवनानुभवों की भूमि पर हुआ है, इसलिए उनके यहाँ कोई लाग-लपेट नहीं होती। उनका गद्य एक सच्चे व्याख्याता का गद्य है, जिसमें वक्तृता की ओजस्विता क़दम-क़दम पर देखने को मिलती है। उनके गद्य के समानांतर जीवन का प्रवाह भी एक छोटी नदी की तरह चलता है। उनके गद्य में व्याख्यान जैसी गति बनी रहती है। उनको अपने जीवन-बोध की साधारणता पर जितना दृढ़ विश्वास है, उतना ही उसकी व्यापकता पर। वे मित्रों के मित्र हैं और अभिमानी के नगद दामाद भी। 'सूधेन सौ सूधे, महाबाँके हम बाँकेन सौ' की भारतेंदुवादी जीवन-नीति के क़ायल हैं डॉ. कुँवरपाल सिंह। उनके गद्य में जीवन-बोध के दो-एक उदाहरण देकर मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ :

"बुद्ध की संस्कृति जनता की संस्कृति थी। पहली बार उन्होंने संगठित रूप से पुरोहित वर्ग, उसकी संस्कृति और उपासना-पद्धति को छह सौ साल तक हाशिये पर रखा। चार्वाकों ने भी इस सामंती संस्कृति के विरुद्ध समता की संस्कृति के बिरवे को रेगिस्तानी हवाओं के विरुद्ध सींचा और जीवित रखा।"

"कुछ पेशेवर आलोचकों और कलावादियों को यह उपन्यास (कितने पाकिस्तान : कमलेश्वर) अच्छा नहीं लगेगा। वे साहित्य में स्पष्ट विचारों को देखने-परखने के आदी नहीं हैं। उनकी स्थिति उस भावुक भक्त की तरह है, जो हर मूर्ति को प्रणाम करते हुए चलता है।"

अरावली हिल्स, अलवर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये नवजागरण के लिए

चमन लाल

प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी और आलोचक डॉ. कुँवरपाल सिंह की इस पुस्तक (मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32, 2006) में संकलित 15 निबन्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित या गोष्ठियों में प्रस्तुत हो चुके हैं। भूमिका में डॉ. सिंह द्वारा भारत की संस्कृति को मूलतः 'सामासिक' या 'मिश्रित' संस्कृति बताते हुए आज 'रूढ़ विचारों' को 'संस्कृति' के नाम पर थोपने की स्थितियों पर चिन्ता व्यक्त की गयी है। उनकी चिन्ता 'हिन्दी क्षेत्र में एक नया नवजागरण' पैदा करने की भी है और ये आलेख इसी दिशा में उनके प्रयास का हिस्सा हैं।

इनमें आठ निबन्ध हिन्दी के चर्चित उपन्यासों व उपन्यासकारों पर केन्द्रित हैं और छह निबन्ध संस्कृति से सम्बन्धित कई ज्वलन्त मुद्दों पर, जिनमें दलित साहित्य काफी महत्त्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरा है। एक आलेख में कवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य के प्रगतिशील पक्ष को रेखांकित किया गया है। डॉ. सिंह ने गुप्त जी के काव्य में भारतीय किसानों की दारुण दशा के चित्रण को रेखांकित कर उन्हें जनवादी धारा का कवि कहा है।

संग्रह का पहला आलेख संस्मरणात्मक है, जिसमें अपने व्यक्तिगत अनुभव से डॉ. सिंह ने कुलीन संस्कृति बनाम जन संस्कृति का भेद स्थापित किया है तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर पनप रही कुलीन प्रवृत्तियों को स्पष्टता से रेखांकित किया है। इस निबन्ध में उन्होंने शहीद सफदर हाशमी व उनके पिता हनीफ़ हाशमी को जन संस्कृति का अंग माना है और सफ़दर हाशमी की स्मृति में स्थापित 'सहमत' संस्था को 'कुलीन' मार्क्सवादियों की संस्था करार दिया है। डॉ. सिंह ने स्पष्ट संकेत किया है कि निम्न मध्य वर्ग से आने वाले प्रतिभाशाली युवक अच्छी नौकरियाँ पाकर 'प्रतिबद्ध मार्क्सवादी' से 'कुलीन मार्क्सवादी' में रूपान्तरित हो जाते हैं, जिनके पास कुमार विकल की कविता के 'तरक्की राम' की सारी सुविधाएँ होती हैं—अच्छा मकान, गाड़ी, सत्ता में भागीदारी और मार्क्सवाद का 'टैग'।

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी में दस्तक दे रही दलित साहित्य की चेतना के विकास पर दो आलेखों में विचार करने के साथ-साथ डॉ. सिंह ने हिन्दी के उन कतिपय विशिष्ट उपन्यासों की समीक्षा प्रस्तुत की है जिनमें दलित जीवन केन्द्र में है। इनमें जगदीश चन्द्र का 'नरक कुंड में वास', मदन दीक्षित का 'मोरी की ईंट' व मन्नू भंडारी का 'महाभोज' विशेष हैं। डॉ. सिंह, दलित चेतना के विकास में प्रेमचन्द के योगदान को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी कहानयाँ 'सवा सेर गेहूँ', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति' आदि का वे इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेख करते हैं और उनके उपन्यास 'कर्मभूमि' को तो वे 'दलित चेतना का महाकाव्य' ठहराते हैं। 'महाभोज' में वे उभरती दलित चेतना को रेखांकित करते हैं। दीक्षित को, जिन्होंने 70 की आयु में अपना पहला उपन्यास 'मोरी की ईंट' लिखा, वे प्रामाणिक दलित साहित्यकार मानते हैं। जगदीश चन्द्र के उपन्यास 'नरक कुंड में वास' को वे 'भूमिहीन श्रमिक जीवन की त्रासदी का कलात्मक दस्तावेज' मानते हैं और इसकी उपेक्षा पर दुःख प्रकट करते हैं। यह उपन्यास उनकी वृहद् उपन्यास त्रयी—'धरती धन न अपना' (1972) 'नरक कुंड में वास' (1993) व 'ज़मीन अपनी तो थी' (2002) के बीच की कड़ी है।

डॉ. सिंह ने साम्प्रदायिकता और छद्म राष्ट्रवाद पर आधारित फसीवाद का पर्दाफाश करने के लिए कमलेश्वर के नये उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' की भी जी खोलकर प्रशंसा की है। उन्होंने नागार्जुन, रांगेय राघव व राही मासूम रज़ा के उपन्यासों पर इस संग्रह में विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। नागार्जुन के 'बलचनमा' व 'वरुण के बेटे' उपन्यासों को वे हिन्दी के कालजयी उपन्यासों में स्थान देते हैं। रांगेय राघव के 44 उपन्यासों में से उन्होंने 'घरौंदे', 'मुर्दों का टीला', 'सीधा सादा रास्ता', 'हुजूर' व 'कब तक पुकारूँ' पर विशेष ध्यान दिया है। रांगेय राघव को वे प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी परम्परा को सुदृढ़ करनेवाला उपन्यासकार मानते हैं। राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' को वे हिन्दी का श्रेष्ठ उपन्यास ठहराते हैं। राही के उपन्यासों में से 'हिन्दुस्तान की तलाश' को रेखांकित करते हैं। 'आधा गाँव' को वे 'आधी दुनिया के अनजाने सच' के रूप में भी एक मानते हैं। इस उपन्यास को डॉ. सिंह बीसवीं सदी के हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में भी एक मानते हैं। लेकिन इस उपन्यास की विडम्बना यह भी रही कि 1972 में जोधपुर विश्वविद्यालय और 1992 में औरंगाबाद विश्वविद्यालय में इस पर अश्लीलता के आरोप लगाये गये, यहाँ तक कि जोधपुर में प्रोफ़ेसर नामवर सिंह को इस उपन्यास को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि में लगाने के कारण कुछ संकीर्णतावादी शक्तियों का कोपभाजन भी बनना पड़ा था।

डॉ. सिंह आलोचना को रचनात्मक लेखन का अंग मानते हैं। काशीनाथ सिंह की एक पुरानी पुस्तक 'आलोचना भी रचना है' के सन्दर्भ में वे काशीनाथ सिंह की आलोचना में सृजनात्मकता के साथ-साथ तर्कसंगत और निष्पक्ष आलोचक के गुणों को भी अंकित करते हैं।

कुल मिलाकर डॉ. सिंह अपने इन निबन्धों से विवेकसम्मत आलोचना के पक्षधर के रूप में उभरते हैं। इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण दौर में तर्क और विवेक ही अन्धकार को हटाकर प्रकाश का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। लेकिन अन्धकार और प्रकाश में एक लम्बा युद्ध है, जिसमें यह पुस्तक प्रकाश के पक्ष में एक सैनिक की भूमिका निभाने वाली है।

भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू., दिल्ली

कल अख़बार पढ़ते-पढ़ते मन में ज़ोरदार हूक सी उठी...पल भर के लिए तो जैसे विश्वास ही नहीं हुआ...अरे! अभी कुछ दिन पहले तो हमारी फ़ोन पर बातें हुई थीं। उनकी वो धीर-गंभीर आवाज़....वो स्नेहसिक्त उदारमना व्यक्तित्त्व की विशालता और निश्छल व्यवहार... ऐन मौक़े पर अचानक जे.एन.यू. में पी-एच.डी. का वो वाइवा याद आने लगा—"तुमने बहुत चुनौतीपूर्ण विषय लिया है...प्रवासी भारतीय पर काम करने के लिए क्या-क्या किया ? बताओ तो. .." एक के बाद एक पूछे जाने वाले सवाल और बड़े सहज ढंग से सुनते रहे सिंह साहब। इन्टरव्यू के दौरान् थोड़ी देर पहले जो अफ़रा-तफ़री भरा माहौल था अनायास हल्का होने लगा। धुंध के बादल छँटने लगे थे।

"इसी विषय पर अब तुम आगे भी काम करती रहना... ।" दस मिनट बाद वे इतने सरल प्रोफ़ेसर में बदल गये थे—"तुम्हारी भाषा बहुत अच्छी है रजनी..." फिर लगभग 20 साल बाद बैंक के काम से अलीगढ़ जाना हुआ। सुबह के 5 बजे होंगे और मैं रिक्शे से चल पड़ी उनके घर.... फिर हमारी साहित्यिक चर्चाएँ शुरू होने लगी थीं।

अपने बेबाक अंदाज़ में वे पूरी निघड़ता से बोलते रहे—"नहीं, ऐसा मत सोचा करो कि तुम्हें कोई नहीं पढ़ रहा। ज़रूर कहीं न कहीं कोई न कोई तुम्हारे लिखे को पढ़ रहा होता है। यह अलग बात है कि तुम्हें इसका पता न चले।"

नमिता दीदी और के.पी. के बीच ख़ूब मधुर और गहरे आत्मीय रिश्ते देखकर में काफ़ी ख़ुश थी। मैंने नमिता जी से कहा भी—"आप बहुत लकी हैं।" अपनी बड़ी मधुर मुस्कान बिखेरते हुए वे किचन में नाश्ता बनाने में जुट गयी थीं। दोनों के बीच सुंदर रिश्ते थे ।

दीदी,

अब मैं किन शब्दों में आपसे क्या कहूँ ? कुछ भी तो समझ में नहीं आ रहा। अलीगढ़ शहर आप दोनों का पर्याय बन गया था हम हिन्दी लेखकों के लिए। आप दोनों की आपसी समझदारी भी सराहनीय थी। इतने बड़े विद्वान और इतनी सरलता? ऐसी उदारता! अभिमान का 'अ' भी वहाँ नहीं था। मैं पहली बार अलीगढ़ स्थित आपके घर में... लेकिन चंद घंटों (शायद 3 घंटे) में ही ऐसा लगा जैसे मैं यहाँ कई बार आ चुकी हूँ।

सिंह साहब... बस यही कहती थी मैं उनसे। सोचते ही मन डूबने लगा।

अब मेरी नमिता दीदी अकेली रह गयी। कैसे... किन शब्दों में मैं ऐसा क्या वह लिख सकती हूँ जिसे पढ़कर वे. .. । नहीं, कोई झूठा आश्वासन भी नहीं... बस, यही... इतना ही कहना है कि हमारे सिंह साहब की जो भी अधूरी हसरतें, इच्छाएँ यदि कोई रह गयी हों, तो उन्हें पूरा करने में हमसे जो भी बन पड़ेगा, हम तैयार हैं। इस घड़ी में मैं आपके साथ हूँ। बस यही कर सकती हूँ। दीदी, हौसला रखना, क्योंकि सिंह साहब ख़ुद एक मज़बूत इच्छा शक्ति के धनी व्यक्ति थे। उनके लेखन-चिंतन और सामाजिक सरोकारों के बारे में तो सारा हिन्दी संसार जानता है, मगर वे अपने विद्यार्थियों के लिए भी उतने ही आत्मीय और सरल गुरु थे।

ईश्वर से प्रार्थना है कि इस दुख की घड़ी में आप सभी लोग हिम्मत और धीरज से मिल जुलकर इस मुश्किल वक़्त को गुज़ारें। अपना विवेक, संयम और अंदरूनी ताक़त के सहारे... सिंह साहब को याद करते हुए... उन्हें बार-बार नमन।

रजनी गुप्त, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. कुँवरपाल सिंह का समीक्षात्मक चिंतन

रामवीर सिंह

"साहित्य और इतिहास को व्यक्ति और सत्ता कभी-कभी कुछ समय के लिए अपने हित में इस्तेमाल कर लेते हैं। बहुत से शासकों ने इतिहास और साहित्य को अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए और सत्ता पर वर्चस्व क़ायम करने के लिए जब जैसा चाहा इस्तेमाल किया, लेकिन न इतिहास किसी के हाथ का खिलौना बना, न साहित्य। दोनों सही मूल्यांकन करते हैं और न्याय की कसौटी पर व्यक्ति और उसके समय को कसकर देखते-परखते हैं। इस प्रक्रिया में देर हो सकती है, परंतु अंधेर नहीं। इतिहास सदैव उन लोगों को महत्त्व देता है, जिन्होंने जनकल्याणकारी कार्य करके मनुष्य को नया मार्ग और दृष्टि देने का कार्य किया है। हर प्रकार की संकीर्णता, भेदभाव, विद्वेष और दंभ से निरंतर लड़ने वाले लोग ही इतिहास और साहित्य के प्रिय पात्र होते हैं। इस देश की संस्कृति में बहुजन हिताय–बहुजन सुखाय का मंत्र ही सार्वभौम रूप से स्वीकृत है।"

यह संकेत प्रो. कुँवरपाल सिंह जी ने 'वर्तमान साहित्य' के यशपाल विशेषांक में अतिथि संपादक की ओर से कुछ बातें...के संदर्भ में प्रथम पृष्ठ के प्रथम अनुच्छेद में पाठकों के सामने प्रस्तुत किये थे। इस अनुच्छेद में उन्होंने भाषा की रवानगी को लोचदार बनाने के लिए साहित्य, इतिहास, खिलौना, जनकल्याण, संकीर्णता, भेदभाव, देश, संस्कृति, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय जैसे पदबंधों का वैसा अनुप्रयोग नहीं किया, जैसाकि आमतौर पर सुनने और किताबों में पढ़ने को मिलता रहता है, जिनमें इन पदबंधों के प्रयोक्ता के विचार नब्बे फ़ीसदी इनकी व्यावहारिकता से मेल नहीं खाते। हर आविष्कार और विचारधारा का पहला सिरा इन्हें वेदों और पुराणों से ही निकलता हुआ दिखायी देता है। 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' के नाम पर इन्हें सदैव अपने घर की चौखट ही दिखायी देती है। देश और संस्कृति के नाम पर केवल और केवल अपना धर्म और अपनी जाति दिखायी देती है। लेकिन, प्रो. कुँवरपाल सिंह ने अपने चिंतन में इन शब्दों और वाक्यों को प्रयोग करके, उनके पदबंधों के मायने अच्छी तरह समझकर साहित्य के विद्यार्थियों को समझाने का प्रयास किया है। उनके लिए साहित्य शोभा, अलंकार और शारीरिक सौंदर्य को अभिव्यक्त करने का माध्यम नहीं है। इतिहास उनके लिए राजा-रानी के क़िस्सों की किताब नहीं है। जन-कल्याण केवल चोटी और दाढ़ी की परिधि का क्षेत्र नहीं है। उनके लिए देश कभी धर्म, संस्कृति और जाति का पर्याय नहीं बना। उनके लिए साहित्य सदैव बहुसंख्यक बेज़ुबानों, मेहनतकशों और सताये हुए लोगों की दास्तानों का दस्तावेज़ है। इतिहास उनके लिए अमानुषिक सत्ता से होने वाले संघर्ष का शिलालेख है। देश का अभिप्राय सबके हिस्से की बराबर की नागरिकता है और संस्कृति का नाम तीर्थराज है, जहाँ नदियों का जल एक-दूसरे को नहलाकर पवित्रता का बोध कराता है। तभी सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय की आवाज़ गूँजने लगती है।

यह सच है कि आलोचना का कार्य कविता, कहानी, उपन्यास या अन्य विधाओं से बहुत कठिन होता है। रचनाकार के रजिस्टर का हिसाब आलोचक को ही देखना होता है। रचना और रचनाकार के इशारों को सामान्य पाठक को समझाने का दायित्व उसका है। प्रो. कुँवरपाल सिंह ने आलोचक के इस दायित्व को बड़ी ईमानदारी के साथ अपनी संतुलित समीक्षा-दृष्टि से निभाया है और आधुनिक आलोचना के बीच अपना स्थान सुनिश्चित किया है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के महत्त्वपूर्ण एवं समीक्षणीय प्रसंगों एवं रचनाकारों पर उनकी शोधपरक दृष्टि बहुत संतुलित एवं वैज्ञानिक रही है।

सारा हिन्दी-जगत जानता है कि प्रो. कुँवरपाल सिंह का चिंतन समाज-सापेक्ष है। उन्होंने किसी आग्रह या इशारे पर अपने लेखन को आगे नहीं बढ़ाया, बल्कि आवश्यकता के आधार पर अपने लेखन को आगे बढ़ाया और वास्तव में उनकी यह आवश्यकता परंपरावादी समीक्षा से अलग हटकर रही है, जिसमें आधुनिक एवं वैज्ञानिक सोच है, हिन्दी साहित्य का मध्यकाल है। 'ईश्वर है और नहीं है' के बीच जिस तरह रोजाना मल्लयुद्ध का अखाड़ा बना और बड़े-बड़े बाहुबली अपने-अपने अखाड़ों की झंडियाँ लेकर दिग्विजय का अनुभव करते रहे और अपने चेलों का भी केश-लुंचन कराया–उन धुरंधरों के बीच प्रो. कुँवरपाल सिंह ने 'ईश्वर नहीं है' वाले कबीर को रूपायित करने वालों के लिए यह जवाब देना मुनासिब समझा था कि ईश्वर सबका है और 'ईश्वर है' कहने वाले तुलसी और सूर को नवधा भक्ति से बाहर न निकलने देने वालों को अपनी लेखनी से समझाया कि तुलसी का ईश्वर उस जगह नहीं है, जहाँ बताया जा रहा है। तुलसी के प्रगतिशील चिंतन को जिन लोगों ने चूल्हे की आग की तरह दबाकर रखने का मज़बूत इंतज़ाम कर रखा था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ तुलसी के कथन द्वारा कड़कदार आवाज़ में अपनी बात प्रस्तुत करते :

"कबीर, सूर, जायसी, तुलसी आदि सभी में जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था, धार्मिक संकीर्णता और बाह्याडंबर के प्रति तीव्र आक्रोश मिलता है। निम्न वर्ण, नारी, पीड़ितजन तथा आदिवासियों के प्रति उनकी सहज और मानवीय दृष्टि व्यक्त होती है। जिस तुलसी को कुछ संकीर्ण लोगों ने पुराणपंथी सिद्ध करने का प्रयास किया है, वही तुलसी जाति-पाँति; धार्मिक और सामाजिक संकीर्णता के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट करते हैं। उन्होंने जातिवादी और वर्णवादी व्यवस्था पर सशक्त प्रहार किये हैं...तुलसी की जीवन-दृष्टि यथार्थ के ठोस और वास्तविक स्तर पर व्यक्त हुई थी। वह छल और पाखंड को तार-तार कर देती है।"

कबीर की संवेदना का स्वर तो तुलसीदास से भी कई गुना ऊँचा है। मध्यकाल में होते हुए भी उनकी आधुनिकता आज के तथाकथित आधुनिकों को भी लज्जित करती है। प्रो. कुँवरपाल सिंह इसी रास्ते के राहगीरों के विद्यार्थी बने, उन्होंने अपने व्यक्तित्त्व में कबीर जैसे महानायक, महाकवियों के आदर्शों को आत्मसात किया है। कबीर पर भी यही इल्जाम लगा कि वे ईश्वर को नहीं मानते हैं, नारी की निंदा करते हैं, समाज में वैमनस्य पैदा करते हैं, गाली-गलौज़ पर उतरकर इज़्ज़त उतारते हैं, उच्च वर्ग को दूसरे रास्ते (आन राह) से पैदा होने की बात करते हैं और न जाने क्या-क्या विशेषण प्रयोग किये जाते हैं। परंतु, याद रखना होगा कि कबीर ने कभी सामाजिक सौहार्द्र नहीं बिगाड़ा, वे ईश्वर के सबसे बड़े उपासक थे—'तेरा साईं तुज्झ में' अथवा 'मोको कहाँ ढूँढे रे बंदे मैं तो तेरे पास में' की बात क्या किसी दूसरे ने कबीर के नाम से कह दी? 'पतिव्रता मैली भली' कबीर की कुटिया में ही संतोष से रहती है। यही नहीं, किसानों-मज़दूरों की आशा-निराशा, व्यापारियों की घटतोली; बेगारियों की चीख़, पटवारी, कारिंदों के कारनामे; निरंकुश शासन की बदचलनी जैसे अनेक तत्कालीन उदाहरण अभी तक पाठ्यपुस्तकों में नहीं आने दिये गये। प्रो. कुँवरपाल सिंह का इतिहास-बोध कबीर के इस पक्ष को अधिक प्रबल मानता है। 'समाज जैसा दिखे, रचनाकर वैसा लिखे' का सम्मान प्रो. सिंह की समीक्षा-दृष्टि बराबर करती रही है। कबीर, दादू, रैदास जैसे महामानव उनके आदर्श रहे हैं :

"कबीर को और भी अनगढ़ और अक्खड़ व्यक्तित्त्व मिला था। वे सत्ताश्रयी धर्म और उसके जन-विरोधी स्वरूप पर बेलाग और सीधी चोट करते हैं। वे सहजता और निष्कपटता पर बल देते हैं। वे धर्म के उसी रूप को वरेण्य समझते हैं, जो मानवीय है तथा जिसमें किसी प्रकार की संकीर्णता का ग्रहण नहीं लगा है। वे उस पांडित्य को भी व्यर्थ समझते हैं, जो केवल बोझ बनकर रह जाता है तथा मनुष्य के जीवन में जिसका कोई रचनात्मक उपयोग नहीं है। ऐसा पांडित्य जन-साधारण को भ्रमित करता है तथा उसे जड़ बनाता है। ऐसे ही ज्ञानियों के दंभ पर चोट करते हुए वे लिखते हैं..."

कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने मंदिर और मस्जिद का रास्ता किसी को भी नहीं बताया। मन्दिर और मस्जिद की ओर जाने के लिए किसी को प्रेरित नहीं किया। वे जानते थे कि वहाँ जाकर व्यक्ति जीवन के प्रति, सामाजिक दायित्व के प्रति और देश के प्रति उदासीन हो जाता है। कबीर भक्तिकाल के ऐसे कवि हैं, जिन्होंने कर्म पर बल दिया, तर्क पर बल दिया; इसलिए इन्हें ज्ञानमार्गी कहा जाता है और ठीक भी क्योंकि ज्ञान ही कालातीत होता है। प्रो. कुँवरपाल सिंह अध्ययन के आधार पर कबीर और अन्य ज्ञानमार्गी संतों पर ऐसा ही आदर भाव प्रकट करते हैं :

"उल्लेखनीय है कि भक्तिकाल के रचनाकारों ने धर्म का संकीर्ण रूप प्रस्तुत नहीं किया है। सभी कवि धर्म और जाति की संकीर्णता को त्यागने और परस्पर प्रेम और सहयोग को दृढ़ करने पर बल देते हैं। वे एक ऐसी सर्वमान्य नैतिकता के विकास पर बल देते हैं, जिसका आधार किसी प्रकार की संकीर्णता न हो, अपितु जिसकी केंद्रीय दृष्टि परस्पर सहयोग, सद्भावना, सादगी के आधार पर विकसित हुई हो। उन्होंने मनुष्य मात्र की एकता को बलपूर्वक रेखांकित किया है। निरंकुशता के प्रति समान प्रतिरोध मिलता है। वे बार-बार मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। उसकी सुंदर छवि को गढ़ने के लिए ही वे अपनी प्रतिभा का रचनात्मक उपयोग करते हैं।"

सभी जानते हैं कि प्रो. कुँवरपाल सिंह मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक रहे हैं और हों भी क्यों नहीं, मार्क्सवाद समाज में सम्मान के साथ बराबरी से जीने का रास्ता बताता है। शोषण और अन्याय के प्रति इस विचारधारा में घनघोर आक्रोश होता है। सताये हुए की मदद और दबे हुए को आवाज़ देना इस सिद्धांत की मूलभूत अवधारणा है। नारी, किसान, मज़दूर, छोटी जाति के लोगों का आर्थिक एवं शारीरिक शोषण सुनकर इस विचारधारा के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और इसके निराकरण के लिए संगठन, संघर्ष, आंदोलन तब तक नहीं रुकते, जब तक समानता का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लिया जाता। प्रो. कुँवरपाल सिंह ने अपने विद्यार्थी जीवन से ही इस सिद्धांत को व्यावहारिकता दी। इस विचारधारा के सौंदर्य-शास्त्र के आलोक में अनेक शोध-परियोजनाओं को क्रियान्वित किया। उनका मानना है कि यदि लेखन को वैज्ञानिकता और जीवंतता प्रदान करनी है, तो उसे यथार्थ के धरातल पर उतरना होगा। लेखक को दुहरी नागरिकता से दूर रहकर जनता और वास्तविकता से सीधा संवाद क़ायम करना होगा और अपनी विरासत का संरक्षण उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता होनी ही चाहिए :

"अपनी ऐतिहासिक विरासत का अध्ययन हमें मार्क्सवादी तरीक़े से करके उससे आलोचना-निष्कर्ष निकालने चाहिए। हमारे देश का हज़ारों वर्ष पुराना इतिहास है, जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं और बहुमूल्य सामग्री भी। अतः हमें अपने इतिहास के अंशों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ-तहाँ से काटकर अलग नहीं कर देना चाहिए। हमें गौतम बुद्ध से लेकर राष्ट्रीय आंदोलन तक के भारतीय इतिहास से निष्कर्ष निकालने चाहिए और इनमें से महत्त्वपूर्ण विरासत को स्वीकार करना चाहिए। आज के संदर्भ में यह बात और भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतीय बुर्जुआ और सामंती तत्त्व मिलकर भारतीय इतिहास को तोड़-मरोड़कर और विकृत रूप में जनता के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। वे अतीत को पुनरुद्धारवादी संकीर्ण और सांप्रदायिक दृष्टि से हमारे सामने पेश कर रहे हैं और उसे पवित्र धरोहर के रूप में पुकार रहे हैं। इतिहास की एक कुत्सित व्याख्या और विरासत का जनता को बाँटने वाला यह विकृत रूप है। मार्क्सवाद विरासत के इस प्रकार के स्वरूप का विरोध करता है। मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दर्शन है, लेकिन राष्ट्रीय विशिष्टताओं से अलग करके उसकी चर्चा नहीं की जा सकती। वह जितना अंतरराष्ट्रीय है, उतना ही राष्ट्रीय भी है।''

प्रो. सिंह ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को भारतीय दर्शन और आवश्यकता से मिलाकर देखा। अपने लेखन पर उसके सैद्धांतिक पक्ष को स्वीकार तो करते रहे, लेकिन व्यावहारिकता में अपनी विरासत के साथ उसकी परिणति को अपनाया। प्रो. इरफ़ान हबीब, प्रो. नूरुल हसन, प्रो. सतीश चंद्र, राही मासूम रज़ा, मलखान सिंह सिसौदिया आदि अनेक साम्यवादियों के साथ साहित्य और समाज को नयी दिशा देने का प्रयास अनवरत जारी रखा है। पार्टी की आजीवन सदस्यता को हेज कर रखना आज के चकाचौंध और प्रलोभन से भरे ज़माने में आसान नहीं होता, परंतु प्रोफ़ेसर साहब ने उसे आज भी उतनी ही सहजता से सँजोकर रखा है, जितनी सहजता से स्वीकार किया था।

प्रो. कुँवरपाल सिंह के प्रिय लेखक प्रेमचंद रहे हैं। इसका कारण भी कोई छिपा हुआ रहस्य नहीं है। प्रो. कुँवरपाल सिंह का झुकाव वैचारिकता और व्यावहारिकता में किसानों, मज़दूरों, दलितों, नारी-शोषण, अन्याय, असमानता जैसे सामाजिक सरोकारों की ओर विद्यार्थी जीवन से ही रहा है। उनकी यह पृष्ठभूमि इतनी सशक्त और प्रभावशाली है कि समीक्षा के धरातल पर अपने पाठक से तदाकार कर देती है। इसीलिए, प्रेमचंद पर उन्होंने बहुत लिखा, संपादित किया, शोध-कार्य कराया और अपने व्याख्यानों के माध्यम से सांस्थानिक चेतना पैदा की। प्रेमचंद के साहित्यिक सौंदर्य पर उनके विचार स्वागतयोग्य हैं :

''हिन्दी में प्रेमचंद ने नये जनवादी सौंदर्यशास्त्र की स्थापना की और उसे विकसित किया। व्यक्ति-पूजा; उच्च वर्ग की संस्कृति, उसके क्रियाकलाप; भक्ति, वैराग्य और अध्यात्म के संसार से साहित्य को निकालकर साधारण मनुष्यों के संसार और उनके क्रियाकलापों से उसका सक्रिय संबंध स्थापित करना प्रेमचंद के ही बूते की बात थी। जन-संघर्षों में प्रेमचंद ने सौंदर्य-बोध के दर्शन किये। साहित्य को एक व्यापक जीवन-दृष्टि दी। सौंदर्यशास्त्र की संकीर्ण परिभाषाओं को, जो शताब्दियों से साहित्य के मानदंड निर्धारित करती थीं, प्रेमचंद ने इस कलात्मक ढंग से तोड़ा कि वह हिंदी साहित्य की बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो गयी। आलोचकों ने प्रेमचंद की इस उपलब्धि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। साहित्य के जनवादी सौंदर्यशास्त्र के जन्मदाता हैं। उन्होंने संकीर्ण दृष्टि का विरोध करके साहित्यकारों से एक विस्तृत और स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया और ऐसे सौंदर्यशास्त्र का सृजन करने का आग्रह किया, जो मनुष्य का विरोधी न हो, बल्कि मानव-मुक्ति में सक्रिय सहयोग करे।''

प्रेमचंद के बाद के रचनाकारों में प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह रांगेय राघव को बहुत आगे पाते हैं। वास्तव में, रांगेय राघव प्रेमचंद की परंपरा की अगली सशक्त कड़ी हैं, जिनमें जनवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति (उपन्यास और कहानी-साहित्य में) भरपूर मिलती है। रांगेय राघव ने सामाजिक विद्वेष और दलित-जीवन को बड़ी निकटता से देखा था। धर्म और नैतिकता के नाम पर अँधेरे में होने वाले खेल से प्रेमचंद की तरह वे भी परिचित थे। अतः प्रो. कुँवरपाल सिंह प्रेमचंद के बाद चार लेखकों में रांगेय राघव को राहुल जी के बाद दूसरा स्थान देते हैं :

''यदि प्रेमचंद के बाद हिन्दी के चार बड़े रचनाकारों का नाम लिया जाए, तो रांगेय राघव का नाम राहुल जी के बाद निश्चित रूप से लिया जाएगा। यशपाल और मुक्तिबोध अन्य प्रमुख रचनाकार हैं। मुक्तिबोध ने कविता को, यशपाल ने कथा-साहित्य को नये आयाम प्रदान किये। रांगेय राघव हिन्दी के ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने परंपरा का मूल्यांकन मार्क्सवादी दृष्टि से पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया। इसके साथ ही उन्होंने समाजशास्त्रीय आलोचना को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी पुस्तकें 'गोरखनाथ और उनका युग' तथा 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' हिन्दी आलोचना में मील के पत्थर हैं...उन्होंने बंगाल के अकाल पर मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज लिखकर एक नयी विधा को जन्म दिया।''

प्रो. कुँवरपाल सिंह ने नव जागरण के लेखन में भारतेंदु के लेखन को बहुत ही चुटीला और कारगर माना है। आलोचकों के कई दल हालाँकि भारतेंदु को कहीं समझौतापरस्त और कहीं अंग्रेज़परस्त कहने में नहीं सकुचाये थे, परंतु प्रो. कुँवरपाल सिंह उन्हें पूरा सम्मान देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह अंग्रेज़ी ज़माना था। अंग्रेज़ों की स्ट्रेटेजी का जवाब स्ट्रेटेजी से ही दिया जा सकता है और भारतेंदु में यह कला थी। इसलिए, अपनी इसी युक्ति से उन्होंने आम जनता तक अपनी बात नाटक, कविता, निबंध और पत्रकारिता के माध्यम से पहुँचा दी थी, जो जन-चेतना के लिए उस समय बहुत आवश्यक था :

''भारतेंदु यह अच्छी तरह समझ गये थे कि विदेशी शासन से लड़ना बहुत कठिन, जटिल और अंतर्विरोधी प्रक्रिया है–कहाँ समर्थन करना है और कहाँ समझौता। उस युग की माँग के अनुसार ही भारतेंदु और उनके समकालीनों के संघर्ष को हमें देखना चाहिए और उस युग की वास्तविकता को परखना चाहिए। उस युग को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की देखना चाहिए, जहाँ कोई जन-संगठन नहीं थे। 1857 ई. में भारतीय जनता की संगठन-शक्ति को अंग्रेज़ बुरी तरह कुचल चुके थे। उस समय इन लेखकों ने जनता में विश्वास भरा। ब्रिटिश सरकार की संपूर्ण नीतियों और उसकी शासन-पद्धति के यथार्थ से परिचित कराया। समाज-सुधार, प्रगति और राष्ट्रीय नवजागरण का संदेश जन-साधारण तक पहुँचाने का भागीरथ प्रयत्न किया। इस नवजागरण में साहित्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था सभी कुछ शामिल हैं।...वे राष्ट्रीय नवजागरण के अग्रदूत तो हैं ही, लेकिन हमारे राष्ट्रीय सम्मान और भारतीयों को उनके अधिकार मिलें, इसके भी वे हिन्दी क्षेत्र में प्रथम प्रवक्ता हैं।''

स्पष्ट है कि प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह के निष्कर्ष जल्दबाज़ी या आवेश में आकर कहने का परिणाम नहीं होते। अपने निष्कर्षों के पीछे उनका अध्ययन होता है, वे युगीन इतिहास और तज्जन्य परिवेश और परिस्थिति का आकलन भी करते हैं। एक और बात जो उनके निष्कर्षों पर प्रभावी होती है, वे कभी भी रचनाकार की आलोचना पढ़कर आलोचना नहीं लिखते, उसके मूल पाठ का अध्ययन उनकी पहली और सर्वोच्च प्राथमिकता होती है। इस बात को वे सीख के लिए प्रायः दुहराते भी हैं।

राही मासूम रज़ा के साहित्य की विशिष्टता को जग-जाहिर करने के लिए प्रो. कुँवरपाल सिंह को बख़ूबी जाना जाता है। बाबरी मस्जिद और रामजन्म भूमि से उपजी सांप्रदायिकता पर 'राही और उनका रचना संसार' ग्रंथ में उनकी दो टूक टिप्पणी दृष्टव्य है :

''देश में क्षेत्रवाद और सांप्रदायिकता का जो विस्तार हो रहा है, राही उससे बहुत चिंतित थे। यह प्रवृत्ति देश की एकता के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है। देश की जनता मूल समस्याओं से जूझ रही है, आधी से अधिक जनता को पीने का पानी नसीब नहीं है। पचास प्रतिशत से अधिक लोग अशिक्षित हैं। अस्सी प्रतिशत लोगों को स्वास्थ्य-सेवाएँ उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जनता को मंदिर-मस्जिद के झगड़े की आग में धकेल दिया।''

राही साहब का 'आधा गाँव' सांप्रदायिकता और भारत-विभाजन के उस यथार्थ का दस्तावेज़ है। इसे फ़ायदेमंद, लेकिन कड़वी दवा के रूप में जाना जाता है, इसीलिए यह उपन्यास अपने प्रकाशित होने के दिन से ही लोगों की आँख की किरकिरी बना। असली बात यह थी कि इसकी चेतना को प्रसारित न होने दिया जाए, क्योंकि दकियानूसी हिन्दू और मुसलमान, जो अपने सीने तक कीचड़ में सने हैं, उन्हें इसकी सफ़ेदी से चिढ़ थी। प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह इसी सफ़ेदी को रेखांकित करते हुए अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं :

'आधा गाँव' में राही ने शिल्पी-वर्ग के पाकिस्तान-समर्थन को बहुत सूक्ष्मता से चित्रित किया है। राकी तथा जुलाहों का एक वर्ग जो संपन्न हुआ और जिसके नौजवान अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पढ़कर शिक्षित हुए, वह भी पाकिस्तान के समर्थन में संलग्न थे। इसका कारण सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अधिक है। 'आधा गाँव' में राही विस्तार से चर्चा करते हैं कि इस्लाम सिद्धांततः जाति-पाँति और वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है, परंतु व्यवहार में छोटी-बड़ी जाति का प्रश्न हिन्दू धर्म की तरह प्रखर है। सैयद, शेख़ और पठान जुलाहों, राकियों, कसाइयों, कुंजड़ों आदि को भी हिन्दुओं की छोटी जातियों के समकक्ष ही रखते हैं। अब्बास अली सैयद हैं, जो ऊँची जाति की परंपराओं में पले-बढ़े हैं। फ़ारूक़ सिद्दीक़ी राकी हैं। दोनों अलीगढ़ विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं। फ़ारूक़ अब्बास का सीनियर है और अखिल भारतीय मुस्लिम स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन का उपाध्यक्ष है, लेकिन अब्बास फारूक़ के घर जाकर नहीं मिल सकता।''

प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह ने उनकी काव्य-रचनाओं पर बड़े विस्तार से 'राही की कविता : साझी संस्कृति की विरासत' में खुलकर लिखा है :

''राही ने कबीर की तरह जोख़िम उठाया, लेकिन संघर्ष का रास्ता नहीं छोड़ा। वे देश के साधारण जन से संवेदना के स्तर पर निरंतर जुड़े रहे। उसके सुख-दुख में भागीदार रहे। उन्हें न बम्बई की चकाचौंध अपनी ओर आकर्षित कर सकी और न प्रसिद्धि से मनुष्यता का दामन छोड़ा। राही की ये कविताएँ हमें आश्वस्त करती हैं कि जब तक हमारे ख़्वाब ज़िंदा हैं, तब तक हम ज़िंदा रहेंगे और स्वर्णिम भविष्य का निर्माण करेंगे। देश और इसकी जनता ने इतिहास में बहुत दुर्दिन देखे हैं।...वे मीर, ग़ालिब़ और नज़ीर बनारसी के पास सीखने के लिए जाते हैं। 1976 के लगभग वे तुलसी और जायसी को अपना उस्ताद स्वीकार करके 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' पर लंबे लेख लिखते हैं। भक्तिकाल में कबीर उनके आदर्श रहे हैं।''

वास्तव में, प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह की समीक्षात्मक यात्रा बड़ी लंबी रही है। कविता में कबीर, रैदास, दादू, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन से और आगे तक जाती है। गद्य में भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद, रांगेय राघव, नागार्जुन, राही मासूम रज़ा तक गतिमान है। मार्क्सवादी चिंतन में परिपक्व प्रोफ़ेसर सिंह ने हिन्दी साहित्य को समझने के लिए एक परंपरा की शुरूआत कर उसकी परिणति तक अपना संरक्षण प्रदान किया। हिन्दी समीक्षा-जगत में उनका स्थान सुनिश्चित है। समाज और उसका विकास, देश और उसका शोषणविहीन जीवन, नारी और उसका उत्थान, सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता जैसे सरोकार उनकी समीक्षा के केंद्रीय और आकर्षक सोपान हैं। वे ऐसे साहित्य के पक्षधर हैं, जिसमें आदमी आदमी की तरह दिखायी दे। वह राक्षस न बने और देवता भी न हो जाए।

निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीय गद्य की शक्ति

विजेन्द्र

कुँवरपाल सिंह एक प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक हैं। एक अत्यन्त निष्ठावान संगठनकर्ता और नेक इन्सान। आदमी तो सब ही होते हैं, लेकिन वे अच्छे इन्सान भी हों ज़रूरी नहीं। शायद ग़ालिब ने यही सोचकर कहा है—'आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना।' सच में, ऐसे लोग अब विरल होते जा रहे हैं। मेरा-उनका परिचय लगभग तीस-पैंतीस साल से है। मेरा आज तक का अनुभव है कि कुँवरपाल सिंह किसी की मदद करके उसको ऐसा कभी महसूस नहीं होने देते कि उसके ऊपर कोई बड़ा अहसान किया है। मेरा उनसे परिचय कैसे हुआ, इसकी बड़ी दिलचस्प कहानी है। मैं भरतपुर में था। एम.एस.जे. राजकीय कॉलेज में अंग्रेज़ी का प्राध्यापक। तब मैं कुँवरपाल सिंह को नहीं जानता था। संयोग से मेरा परिचय स्व. सव्यसाची जी से हुआ। मैं कविताएँ लिखता था। प्रलेस का सक्रिय सदस्य था। भाकपा का भी अघोषित रूप में। सरकारी कर्मचारियों को किसी दल का सदस्य होने की अनुमति नहीं थी। सव्यसाची मार्क्सवाद की तत्त्व-मीमांसा की बातें कम करते थे। उनका ज़ोर संगठन से प्रतिश्रुति, कार्यकर्ता और लेखक तैयार करना था। भले ही लेखन बहुत अच्छा न हो। मैं उनसे मार्क्स की तत्त्व-मीमांसा और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के बारे में अपनी जिज्ञासाएँ रखता था। वे उनसे थोड़ा कतराते थे। एक दिन उनसे बड़ी झड़पीली बहस हो गयी। वह कविता में विचार पर ज़ोर दे रहे थे। मेरा ज़ोर था कि विचार को कविता में भाव की मांसपेशियों से गुज़रकर आना चाहिए। उन्होंने भाव का विरोध किया। मुझे रूमानी संस्कारों का बताया। मैंने उन्हें लेनिन का एक वाक्य दिखाया, जिसमें बताया था कि बिना भाव या तेज़ मनोवेग के कोई वैचारिक संघर्ष मुमकिन नहीं। उस समय उन्होंने मेरी पीठ थपथपायी, बड़े प्यार से। फिर कहा विजेन्द्र जी, आप हमारे बड़े काम के आदमी हो, पर आपकी पटरी मुझसे कम कॉमरेड कुँवरपाल सिंह से ही बैठ सकती है। यह पहली बार था कि मैंने कुँवरपाल सिंह का नाम वैचारिक बहस के बीच सुना। उसी दिन से मुझे जिज्ञासा हुई कि मैं इस व्यक्ति से मिलूँ, पर तत्काल यह सम्भव नहीं हुआ। इस दौरान् मुझे राही मासूम रज़ा का विख्यात उपन्यास 'आधा गाँव' हाथ लगा। यह उपन्यास कुँवरपाल सिंह नाम के व्यक्ति को ही समर्पित था। मैंने सोचा यह कोई और कुँवरपाल सिंह होंगे। बात आयी-गयी हो गयी। एक बार सव्यसाची जी ने मथुरा में मुक्तिबोध पर कोई गोष्ठी रखी। मुझे भी बुलाया। उसमें कुँवरपाल सिंह भी आने को थे, यह बात मुझे सव्यसाची जी ने ही बतायी। यह भी कहा कि वे मेरा परिचय उनसे कराएँगे। मुझे प्रसन्नता हुई। गोष्ठी होने से पहले हल्का-सा परिचय कुँवरपाल सिंह से हुआ। अध्यक्षता उस गोष्ठी की वे ही कर रहे थे। जब मैंने उनका अध्यक्षीय व्याख्यान सुना, तब मुझे लगा कि कुँवरपाल सिंह रचना की कलात्मक उत्कृष्टता, भावों की गहराई तथा वैचारिक संवेदना के तीख़ेपन पर भी बहुत ध्यान देते हैं। उन्होंने अपने व्याख्यान में लेखकों को संकेत दिया कि निरे प्रचार और नारेबाज़ी से एक लेखक को सावधान रहना चाहिए। यानी, जब कृति का मूल्यांकन होगा, तो उसके प्रतिमान सौन्दर्यशास्त्रीय ही होंगे। विचारधारा उसकी पृष्ठभूमि में होगी। उन्होंने कविता में भाव के महत्त्व को अपनी तरह से महत्त्व दिया। साथ में यह संकेत भी था कि अगर हम मार्क्सवादी हैं या होना चाहते हैं, तो मार्क्सवाद का अध्ययन गम्भीरता से करें। उसे फ़िर यान्त्रिक ढंग से रचना पर लागू न करें। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के नियम लचीले हैं, उन्हें गहराई से समझने की ज़रूरत है। गोष्ठी के बाद उनसे और बातचीत हुई। थोड़ा परिचय बढ़ा। पर, उसमें कोई सघनता जैसी चीज़ न थी। यह मेरे कवि का निर्माण-काल ही था। बस उन्हें इतना बताया गया कि मैं कविताएँ लिखता हूँ। मार्क्सवादी हूँ। प्रलेस का सक्रिय सदस्य। जब चलने लगे, तो कुँवरपाल सिंह ने बड़े स्नेह से मेरे कन्धे पर हाथ रखा। कहा, "बन्धु आपसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई।" क्योंकि अपनी समझ से मैं भी मुक्तिबोध पर बोला था। फिर बोले, "कहाँ कीचड़ में पड़े हो। जलेस में आओ। यहाँ आपको बड़ा अच्छा वातावरण मिलेगा।" मैंने कहा, "मैं संगठन में ज़रूर हूँ, पर मैंने रचना चुनी है। उसी में ज़्यादा वक़्त देना चाहता हूँ।" यह बात न तो सव्यसाची को पसन्द थी, न कुँवरपाल सिंह को। बोले, "बन्धु, निरे लिखने से क्या होगा।" मैंने कहा कि संगठन की क्षमताएँ मुझमें नहीं हैं। मैंने संगठन को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी कवि-कर्म को ही प्राथमिकता दी है। कुँवरपाल सिंह का कहना था कि जनसंघर्षों में शरीक होने से कवि का व्यक्तित्त्व निखरता है। उसे जनता से एकात्म होने की ज़रूरत है। ये सब बातें सही होते हुए भी मैं संगठन में उतना सक्रिय नहीं हो पाया। इस कारण से मेरा विरोध प्रलेस में भी था। मैं जनता को क़रीब से देखता रहा हूँ, अपने ढंग से। वैसे जब भी संगठन की साहित्यिक गतिविधियाँ हुईं, मैं उनमें शरीक हुआ। पर, सव्यसाची और कुँवरपालसिंह की इससे ज़्यादा अपेक्षाएँ थीं। वे दोनों अपनी जगह ठीक थे, पर मैं अपनी सीमाएँ जानता था। कॉलेज में पढ़ाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद मुझे जितना भी समय मिला, मैं भरतपुर के वन-बीहड़ों में
चाप घूमा-फिरा। गाँवों के आदमियों से मिला। उन्हें बोलते-बतलाते
ा। उनसे कच्ची ब्रजभाषा सीखी। फिर घने (भरतपुर का प्रसिद्ध
ी विहार।) में पूरे-पूरे दिन घूमा। मुझे प्रकृति में मनुष्य के
रमना बहुत अच्छा लगता था। बहुत दिनों तक मुझे लगता
कि जाने क्यों मार्क्सवादी प्रकृति से दूर रहना चाहते हैं। मुझे
है, एक बार कुँवरपाल सिंह और नमिता जी भरतपुर का पक्षी
ार देखने गये थे। लौटकर मुझसे मिले। उस समय उनके एक
ार्थी उनके साथ थे, वह थे—हिन्दी के समीक्षक और कथाकार
सूरज पालीवाल। मैंने जब पूछा कि कुँवरपाल सिंह, बताइए
ा लगा, तो बोले, "बन्धु, बेजोड़ चीज़ है। यह भी कहा कि हर
क को इसे पोर-पोर देखना चाहिए। मुझे लगा एक मार्क्सवादी
प्रकृति से उछटता था, उसके क़रीब आ रहा है। बाद में मेरे एक
ता-संग्रह 'घना है पांखी' की जब कुँवरपाल सिंह ने चाहकर
क्षा की, तो प्रकृति के प्रसंगों को सराहा।

इस प्रकार मेरा परिचय बढ़ता गया। इसमें गाढ़ापन आया।
सर विश्वास जगा। हालाँकि मैं प्रलेस में था, पर कुँवरपाल सिंह
मुझे सदा बड़ा स्नेह दिया। जब कभी मैंने उनसे मदद माँगी, तो
ा दोबारा कहे वह काम किया। मुझे याद है, मेरी बड़ी पुत्री जब
ुत छोटी थी—उसकी एक आँख का आप्रेशन होना था। लोगों ने
ा अलीगढ़ में आँखों का बड़ा अच्छा अस्पताल है। वहाँ उस
य आँखों के इलाज के लिए प्रो. हमीदा बेगम बहुत प्रसिद्ध थीं।
संकोच करते हुए कुँवरपाल सिंह से अपनी परेशानी बतायी।
होंने कहा, इसकी चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। मैं प्रो. हमीदा
समय लेकर आपको सूचित करता हूँ। मैंने सोचा इतनी व्यस्तता
कौन किसका ध्यान रखता है। मेरा उस समय ऐसा कोई स्तर
न था, जिसका ध्यान रखा जाए। पर मुझे आश्चर्य हुआ—बेहद
नता—जब सहसा एक दिन कुँवरपाल सिंह का पत्र मिला कि
होंने प्रो. हमीदा से समय ले लिया है। एक तारीख़ दी, उस पर
पहुँचना था। मैंने अनुभव किया कि कुँवरपाल सिंह में कितनी
वीयता है। अक्सर लोग बातों में तो बढ़-चढ़कर बोलते हैं, पर
आने पर कन्नी काटते हैं; वैसा कुँवरपाल सिंह ने कभी नहीं
या। बाद में पता लगा कि हमीदा स्वयं स्व. श्री सज्जाद ज़हीर
परिवार से जुड़ी हैं। जब उन्हें पता लगा कि मैं भी लेखक हूँ।
ज़बान उर्दू है, तो उन्होंने रशीदा बेगम की कहानियों की एक
ाब मुझे भेंट की। मैं भूल रहा हूँ, उन्होंने उनसे अपना रिश्ता
बताया। मेरी बेटी की आँख के ऑप्रेशन को उन्होंने बड़ी
मिकता से किया। उनके मन में प्रो. कुँवरपाल सिंह के लिए
ा आदर था।

इसी दौरान् 'ओर' पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। मुझे
के सम्पादन का भार सौंपा गया। मैंने शर्त रखी कि यदि मुझे
ादित करना है, तो किसी का हस्तक्षेप न होगा। दूसरे, मैं
धर्मी चेतना को प्राथमिकता दूँगा। जब मेरी ये शर्तें मान ली
ीं, तो पत्रिका शुरू हुई। सामग्री के लिए सबसे पहले मैंने
रपाल सिंह को ही लिखा। उन्होंने तत्काल राही मासूम रज़ा की
अच्छी नज़्में, कुछ ग़ज़लें, असग़र वजाहत का एक लघु नाटक,
अपना एक आलेख आदि सामग्री मुझे भेजी। लम्बे सम्पादन-कर्म में मुझे बड़ा ख़राब अनुभव रहा है। जनवादी लेखक कहते तो बहुत हैं, पर करते बहुत कम हैं। सबसे ज़्यादा मेहनत मुझे जनवादियों से सामग्री पाने में ही हुई, पर कुँवरपाल सिंह उसका अपवाद हैं। उनका मानना था कि भले ही हम लोगों के संगठन अलग-अलग हैं, पर मोटे तौर पर हम लोग मार्क्सवादी हैं। उद्देश्य एक ही है। लोक यानी आज के लोकतन्त्र में सर्वहारा संस्कृति के मूल्यों की प्रतिष्ठा। कलावाद से संघर्ष। रूपवाद का विरोध। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ एक संयुक्त मोर्चे का गठन। साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध में जनवादी लेखकों, बुद्धिजीवियों और चेतनाशील व्यक्तियों को संगठित करना। मैंने इस दौर में पाया कि कुँवरपाल सिंह वैचारिक स्तर पर अपने कार्य को मिशनरी चेतना से करते हैं। उनके दिमाग़ में हर समय जलेस संगठन और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्य कौंधते रहते हैं। इन सब कामों के बाद भी वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए समय निकाल पाते हैं। मैंने अनुभव किया कि नमिता जी का साथ उनके लिए बड़ा वैचारिक सम्बल है। वे भी उन्हीं की तरह पूरी तरह समर्पित हैं—अपनी मार्क्सवादी विचारधारा और सांगठनिक गतिविधियों के लिए।

एक और गोष्ठी का प्रसंग याद आता है। स्थान मथुरा ही था। जब गोष्ठी समाप्त हो गयी, तो हम लोग एक छोटे-से चायघर में बैठे चाय पी रहे थे। सव्यसाची, कुँवरपाल सिंह और उनके कुछ अन्य साथी। बात चेतना और पदार्थ के रिश्तों पर चल पड़ी। सव्यसाची का ज़ोर था कि उत्पादन और उत्पादन की प्रणालियाँ हमारी चेतना को निर्धारित करती हैं, इसलिए हमें चेतना से ज़्यादा ध्यान अपने परिवेश और उत्पादन प्रणालियों पर देना चाहिए। मैंने बड़ी विनम्रता से हस्तक्षेप करते हुए कहा कि हमारी चेतना बाहर से प्रभावित होकर भी सापेक्ष स्वायत्तता बनाये रहती है। इसलिए, हमें उसकी इस स्वायत्तता पर ध्यान देना चाहिए। सव्यसाची थोड़े उग्र हुए, बोले—बुर्जुआ लेखक अपनी स्वायत्तता और स्वैरता बनाये रखने को ऐसी बातें करते हैं। मैंने कहा—नहीं। ऐसा नहीं है। मार्क्स की तत्त्व-मीमांसा की यह बहुत ही बुनियादी और अहम बात है, और कवि को तो इसे जानना बहुत ज़रूरी है। पर, सव्यसाची अड़े हुए थे। अन्त में बात यहाँ तक आ पहुँची कि इसे किसी से समझा जाए। मैंने कहा कि हमारी चेतना परिवेश से प्रभावित होती है, निर्धारित नहीं। दोनों के फ़र्क़ को समझना चाहिए। कुँवरपाल सिंह हमारे इस विवाद को बड़ी तल्लीनता से सुन रहे थे। मुस्करा भी रहे थे। मैंने कहा, यदि हमारी चेतना बाहर से निर्धारित होती तो एक ही परिस्थिति में रहकर हम सब एक सा ही सोचते। तो सव्यसाची ने कहा कि अलग-अलग तो इसलिए सोचते हैं कि हमारे वर्ग अलग-अलग हैं। सोच अलग-अलग हैं। विचारधाराएँ अलग-अलग हैं। एक मार्क्सवादी और बुर्जुआ एक-सा कैसे सोच सकते हैं। मैंने कहा मैं, आप और प्रो. कुँवरपाल सिंह तो मार्क्सवादी हैं, फिर भी अलग सोच रहे हैं। बोले—हममें से एक ऐसा है, जो मार्क्सवाद को गहराई से नहीं समझता। मैं यह बात कैसे मान लूँ कि चेतना को परिवेश निर्धारित नहीं करता। मैंने कहा, देखिए यदि चेतना सापेक्षतः स्वायत्त न होती, तो हम फिर एक-सी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ लिखते—एक ही दृश्य को, घटना या चरित्र को देखकर। बात जब काफ़ी आगे बढ़ गयी, तब कुँवरपाल सिंह ने हस्तक्षेप करके कहा कि "सव्यसाची जी विजेन्द्र ठीक कह रहे हैं। अगर हम द्वन्द्वात्मकता में यकीन करते हैं, तो हमें यह भी बताना पड़ेगा कि जब परिवेश चेतना को प्रभावित करता है तो वह परिवेश को कैसे प्रभावित करेगी।" बात मुझ पर डाली गयी कि विजेन्द्र इसे बताएँ। मैंने कहा कि देखिए श्रम के दो रूप होते हैं। एक तो स्थूल। दूसरा सूक्ष्म। मसलन किसी टीले को ढहाना है, पेड़ काटना है, पहाड़ तोड़ना है और नदी मोड़नी है, तो यह काम स्थूल श्रम से श्रमिक लगकर कर देंगे। पर, कवि को तो शब्दों से बाहरी दुनिया को अपने मन के अनुसार बदलना पड़ता है। सव्यसाची बोले, "वह कैसे।" मैंने कहा—हम कविता में रूपकों, उपमाओं, विशेषणों का जो प्रयोग करते हैं, वह एक प्रकार से इस दुनिया को अपने अनुसार शब्दों में बदलना ही है। हमारे यहाँ कहा भी गया है—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापति
यथास्मै रोचते दिश्वं तथेदं पारिवर्त्तते।

अपनी रचनाशील कल्पना द्वारा वैसा ही रूपान्तरित कर लेता है। यहाँ देखने की बात है कवि का अपने संसार को अपनी तरह रूपान्तरित करना। कविता यही तो करती है। उसे ही हम संसार की—मनुष्य की—पुनर्रचना कहने लगते हैं। इससे यह भी लगता है कि चेतना अपने को व्यक्त ही नहीं करती, वह उसे रचती भी है। बहरहाल और अनेक बातें चलती रहीं। अन्त में, कुँवरपाल सिंह ने मेरा पक्ष लेते हुए उसे सही बताया। यह भी कहा कि हर कवि को ऐसी चीज़ें जाननी चाहिए। इससे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की बुनियादी समझ पैदा होती है। उन्होंने यह भी कहा, यह उन बुर्जुआ लेखकों को बेहतर जवाब भी है, जो कहते हैं कि मार्क्स चेतना की स्वायत्तता में यकीन नहीं करता। यही वैज्ञानिक है। अगर हम चेतना को सापेक्षतः स्वायत्त नहीं स्वीकारते, तो हम अपने लेखन में यान्त्रिक होंगे। उसमें विविध रंग नहीं आ पाएँगे जीवन के। दूसरे, हमारी निजता भी कैसे व्यक्त हो पाएगी? ये सब बातें कुँवरपाल सिंह ने जब कहीं तो सव्यसाची ने कहा, "अगर तुम कहते हो तो माने ले रहा हूँ। पर इस पर सोचना ज़रूर चाहूँगा।" बहरहाल—

कुँवरपाल सिंह की एक समर्थ मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में ख्याति है। उन्होंने कविता की अपेक्षा कथा-साहित्य पर काम ज़्यादा किया है। हालाँकि मेरा उनसे सदा यही आग्रह रहा कि उन्हें कविता के समीक्षाशास्त्र या उसके सौन्दर्यशास्त्र पर गहराई से काम करना चाहिए। वह कहते भी रहे, पर कुछ हालात और कुछ अभिरुचि के कारण वह सब सम्भव नहीं हो पाया। पिछले दिनों मेरे विशेष आग्रह पर 'कृति ओर' पत्रिका के लिए 'प्रस्तुति' स्तम्भ उन्होंने नियमित लिखा। इसके अन्तर्गत हम किसी नये कवि को उसकी कविता के साथ प्रस्तुत करते थे। कुँवरपाल सिंह का चयन होता था। कविताओं पर सारगर्भित टिप्पणी भी। यह काम बहुत लोकप्रिय हुआ। दूरदराज़ जनपदों में लिखने वाले अनेक कवि सामने आये। कुँवरपाल सिंह ने यह ज़रूर ध्यान रखा कि कविताएँ लोकधर्मी हों। उनकी जनपक्षधरता मुखर हो। किसी कलावादी या रूपवादी कविता या कवि को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। मैंने उस दौरान् उनका गद्य पढ़ा। वैसे भी उनका गद्य पढ़ता रहा हूँ। वे बहुत ही सुथरा और ख़ूबसूरत गद्य लिखते हैं। मुझे ऐसा लगता रहा है कि कविता से भी कठिन है अच्छा गद्य लिखना। हिन्दी में ढेर सारा गद्य ऐसा लिखा जा रहा है, जो आज की बहुत सारी कविता की तरह समझ में ही नहीं आता। कुँवरपाल सिंह बहुत ही स्पष्ट गद्य लिखते हैं। उनका गद्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. रामविलास शर्मा की परम्परा का, स्फटिक की तरह पारदर्शी और मोहक होता है। सबसे बड़ी बात है वह रोज़मर्रा की बोलचाल के बिल्कुल क़रीब है। दूसरे, उसमें ठेठ हिन्दी का अपना ठाठ होता है। शब्द भी वे जीवन-क्रियाओं से उठाते हैं। सामाजिक विषयों पर लिखते समय उनके गद्य में मुद्राएँ नहीं होतीं, न कोरी वाग्मिता। वे जो बात कहना चाहते हैं, उसे पहले ही सोच-विचार लेते हैं। अतः उनके गद्य में कहीं कोई उलझाव या पहेलियाँ नहीं होतीं। कुछ लेखक अपनी उलझनों को लिखते समय ही सुलझाते हैं। उसके लिए संघर्ष करते हैं। उसका परिणाम होता है कि चीज़ें उलझती हैं, कहीं-कहीं हम अपनी बात को ही काटते हैं। ऐसा कुँवरपाल सिंह के गद्य में कहीं नहीं मिलता। हिन्दी में एक और रिवाज़ है—अंग्रेज़ी या अमरीकी लेखकों के नामों से आतंकित करना, उनके बड़े-बड़े उद्धरण देना। यहाँ तक आते-आते उसमें उनकी मौलिकता ही नष्ट हो जाती है। कुँवरपाल सिंह अपनी बात कहते हैं। उनकी बात में एक ख़ास क़िस्म का पैनापन होता है। वैचारिक दृढ़ता होती है। वे उन लेखकों में नहीं हैं कि लिखने से पहले यह सोचें कि कहीं यह लिखने से हमारे कैरियर को तो हानि नहीं होगी। कुँवरपाल सिंह ने अपने कैरियर की कभी चिन्ता नहीं की। अगर वह मार्क्सवादी हैं तो उसके लिए उन्हें किसी बचाव या प्रतिरक्षा की ज़रूरत नहीं। सोवियत रूस के पतन के बाद हिन्दी में जाने कितने दिग्गज मार्क्सवादी अपना चेहरा बदल बैठे या मार्क्स में कलावादी संशोधन कर उसे अपनी उदारता बताने में जुट गये। मैंने कुँवरपाल सिंह को मार्क्स के सिद्धान्तों से न तो भटकते देखा, न विचलित होते। यही वजह है उनके गद्य में बड़ी ऊर्जा है। एक रचनात्मक समृद्धि। ग़ौर से देखने पर उनके गद्य का स्थापत्य अपनी अलग पहचान बनाता है। जैसे सिद्ध कवि की पंक्तियाँ पहचान ली जाती हैं, हम कुँवरपाल सिंह के गद्य को पहचान लेते हैं। यह काम कठिन है। यह तभी मुमकिन है जब आप अपना सारा व्यक्तित्व अपनी आस्था के दाँव पर लगा दें। आज जैसे कविता में अपनी जातीय पहचान खोने को है, ठीक वैसे ही गद्य में वह खोती जा रही है। कुँवरपाल सिंह का गद्य हमें हर समय अपनी जातीयता और उसकी ताक़त का अहसास कराता रहता है। यह सब निरायास होता है। सहज होता है। इसीलिए, उनके गद्य में जो वास्तुशिल्पीय सुन्दरता है, वह औरों के गद्य से उसे भिन्न और अलग करती है।

पिछले दिनों मुझे सूरज पालीवाल ने बताया कि कुँवरपाल सिंह की तबीयत ठीक नहीं है। इसका मुझे बड़ा अफ़सोस है। वे महत्त्वपूर्ण कार्य करने को स्वस्थ-प्रसन्न बने रहें—सदा, यही मेरी शुभकामना है।

सी-133, वैशाली नगर, जयपुर-302021

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुँवरपाल सिंह स्मृति-सभा

"कुछ अजब ही और अलग इन्सान था वह,
वो जिया तो अपनी शर्तों पर जिया
कोई समझौता कहाँ उसने किया
ज़िंदगी के खेल में सच है यही
मौत तू जीती है... वो हारा नहीं।"

अपने मित्र, हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और समालोचक, विचारक-चिंतक और समाज सेवी तथा 'वर्तमान साहित्य' के संपादक प्रो. कुँवरपाल सिंह की याद में आयोजित स्मृति सभा में जब सुप्रसिद्ध शायर शह्रयार ने खचाखच भरे हॉल में अपनी नज़्म की ये पंक्तियाँ पढ़ीं, तो सभी की आँखें नम हो आयीं। स्मृति-सभा की अध्यक्षता करते हुए हिन्दी के प्रख्यात कवि नीरज ने कहा कि वे उनके पुराने मित्र थे। उनका चिंतन वैज्ञानिक था और अपने चिंतन, विचार और कर्मों से सदैव हमारे बीच जीवित रहेंगे। अध्यक्ष-मंडल में सम्मिलित उर्दू के सुप्रसिद्ध कथाकार क़ाज़ी अब्दुल सत्तार जहाँ भावाकुल होकर कुछ नहीं बोल सके, वहीं दिल्ली राज्य कमेटी, कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के सचिव का. जोगेन्दर शर्मा ने कहा कि एक सच्चे कम्यूनिस्ट के रूप में उनका पूरा जीवन जन-साधारण के लिए समर्पित था। जो भी उनके संपर्क में आता, उनके अपनत्व की डोर से बँध जाता। इसी क्रम में उनकी कथाकार पत्नी नमिता सिंह ने कहा कि उनके जीवन में सर्वोपरि स्थान उनके शिष्य-मित्रों का था। दूसरे नंबर पर पेड़-पौधे, पर्यावरण का और तीसरे नंबर पर उनका घर-परिवार था। वैचारिक प्रतिबद्धता का पाठ उन्होंने घर से लेकर बाहर तक सबको पढ़ाया। सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. इरफ़ान हबीब ने कहा कि वे हर प्रकार की साम्प्रदायिक शक्तियों से जूझने वाले अप्रतिम योद्धा थे और बेहद निडर व्यक्ति थे।

'उद्भावना' पत्रिका के संपादक अजेय कुमार (दिल्ली) ने कहा कि वे सदैव जन-संस्कृति के पक्षधर रहे और उन्हें चिंता थी कि मध्यवर्गीय कुलीनतावाद जनता से दूर होता जा रहा है और जनसंघर्ष धीमे हो रहे हैं।

किसान सभा के डॉ. ब्रजमोहन शर्मा ने कहा कि वे किसानों के आंदोलन के प्रति बेहद संवेदनशील थे और उनकी प्रेरणा से ही वे जन-आंदोलनों से जुड़ा। का. इदरीस ने कहा कि के.पी. सिंह ने सदैव मुझसे कहा कि तुम किसान के बेटे हो तो किसानों के दुख-दर्द को समझो और उनके बीच काम करो। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के जिला सचिव डॉ. मदीहउर्रहमान शेरवानी तथा उ.प्र. की कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के प्रदेश महासचिव डॉ. एस.पी. कश्यप ने उन्हें निरंतर संघर्ष करने वाला योद्धा कहा। भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रदेश महासचिव डॉ. गिरीश शर्मा ने कहा कि साम्प्रदायिकता की राजनीति और भूमंडलीकरण के इस दौर में के. पी. सिंह जैसे संघर्षशील नेतृत्व की सबसे अधिक ज़रूरत है। बिजली एम्पलाईज़ यूनियन के ओ.पी. शर्मा, बी.एस.एन.एल. के का. सुखबीर सिंह तथा लाइफ इंश्योरेंस ऑफ़ इंडिया आफ़िसर्स यूनियन के डॉ. नरेन्द्र पचौरी ने उनके प्रेरणादायी व्यक्तित्त्व का स्मरण किया। जनवादी लेखक संघ के कार्यकारी सचिव डॉ. आशिक़ बालौत ने कहा कि वे सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध सदैव निडरता से खड़े रहे।

जन संस्कृति मंच के प्रांतीय सचिव आशुतोष कुमार ने कहा कि उनकी वर्ग-दृष्टि बेहद स्पष्ट थी और सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक चिंतन को उन्होंने आत्मसाद किया। प्रगतिशील लेखक संघ के जिला सचिव श्री सुरेश कुमार ने कहा कि नौजवानों को उन्होंने निरंतर लिखने की प्रेरणा दी। काम को शुरू करके उसे अंजाम तक पहुँचाने की शिक्षा उन्होंने सभी नौजवानों को दी। ए.एम.यू. एम्पलाईज़ यूनियन के प्रो. वसी हैदर ने कहा कि का. के.पी. सिंह सभी के प्रिय थे और उनके संपर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उन्हें प्रिय था। उन्होंने सांप्रदायिकता, जातिवाद और धार्मिक पाखंड का सदैव पुरजोर विरोध किया। हिन्दी विभाग के शोध-छात्र शहबाज़ अली खाँ ने कहा कि वे सदैव धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध थे और जो वे कहते थे वह उनके आचरण में था। भारत ज्ञान विज्ञान समिति की डॉ. सीमा मसूद ने कहा कि विज्ञान आंदोलन में उनकी अहम भूमिका थी और उत्तर प्रदेश ज्ञान विज्ञान समिति के वे संस्थापकों में थे। उनका प्रिय वाक्य था-"चिंता छोड़ो और संघर्ष करो।", जन नाट्य मंच का प्रतिनिधित्व करते हुए अशोक तिवारी ने कहा कि वे नौजवानों के प्रेरणा स्रोत थे और सदैव काम करने और संघर्ष करने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने उन्हें एक ऐसा व्यक्तित्त्व बताया, जिसने अनगिनत नयी प्रतिभाओं को आगे बढ़ाया। धर्म समाज महाविद्यालय के डॉ. अनिरुद्ध कुमार सिंह ने कहा कि मैंने उनके जीवन से बहुत कुछ सीखा है। उनके नन्हें दोस्त आसिम रिज़वी ने अपने के.पी. चचा का भावभीना स्मरण किया। बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी के हिन्दी विभाग के प्रो. वशिष्ठ अनूप ने कहा कि प्रो. कुँवरपाल सिंह ने सिद्धांतों और शब्दों को अपने जीवन में सार्थक बनाया। इस विशाल सभा का संचालन उनके शिष्य और हिन्दी विभाग के वरिष्ठ अध्यापक तथा 'वर्तमान साहित्य' के सह-संपादक श्री अजय बिसारिया ने किया। सभा में श्रद्धांजलि अर्पित करने वालों में समाजवादी पार्टी के डॉ. रक्षपाल सिंह, कांग्रेस महिला नेत्री श्रीमती प्रतिमा सिंह, मेडीकल फैकल्टी के डीन प्रो. अबरार हसन, पद्मश्री प्रो. ज़िल्लुर्रहमान, प्रो. रिज़वान हुसैन, प्रो. सईदुर्रहमान, भारत ज्ञान विज्ञान समिति की राष्ट्रीय महासचिव आशा मिश्रा, मथुरा जलेस के सचिव और लेखक हनीफ़ मदार और आगरा से आये ज्ञान विज्ञान समिति के श्री नवाबुद्दीन सहित अनेक लोग शामिल थे।

प्रस्तुति : शहबाज़ अली खाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धांजलि-सभा

अपने प्रिय के.पी. (डॉ.कुँवरपाल सिंह) के आकस्मिक निधन पर जनवादी लेखक संघ ने 17 नवंबर, 2009 को श्रद्धांजलि-सभा का आयोजन किया। इसमें राजधानी क्षेत्र के तमाम रचनाकारों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों ने हिस्सा लेते हुए न केवल के.पी. से जुड़ी अपनी यादों को ताज़ा किया, बल्कि के.पी. के कामों को आगे बढ़ाने और उनसे प्रेरणा लेने का संकल्प भी लिया। जलेस महासचिव चंचल चौहान ने सभा का संचालन करते हुए के.पी. सिंह के जीवन और उनके व्यक्तित्त्व का संक्षिप्त ब्यौरा दिया और उनकी प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों का उल्लेख किया। के.पी. सिंह के निधन को आंदोलन के लिए भारी क्षति बताते हुए उन्होंने कहा कि के.पी. सिंह जनवादी लेखक संघ के संस्थापक सदस्यों में से एक तो थे ही, साथ ही पहले कोषाध्यक्ष भी थे।

शुरूआत में ज़हूर सिद्दीकी ने के.पी.सिंह के साथ अपने संबंधों को बेहद अंतरंगता के साथ रखा। कांतिमोहन ने के.पी के साथ अपने गहरे जुड़ाव को व्यक्त करते हुए कहा कि के.पी. जनवादी लेखक संघ को खड़े करने वाले स्तंभ के रूप में थे। असग़र वजाहत ने अलीगढ़ में के.पी. के साथ गुज़ारे अपने दिनों को शिद्दत से याद किया। उन्होंने अलीगढ़ में मौजूद उस कुलीन संस्कृति का भी ज़िक्र किया, जिसका सामना के.पी. सिंह ने अपने जीवन में किया तथा उन्हीं स्थितियों में अपने जनवादी काम को आगे बढ़ाया। इब्बार रब्बी ने सत्तर के दशक में के.पी. सिंह के काम को रेखांकित करते हुए के.पी. द्वारा उनके लिए व्यक्तिगत तौर पर ए.एम.यू. में नौकरी के लिए किये गये प्रयासों को याद किया। उन्होंने के.पी. सिंह द्वारा बीमारी की हालत में शील जी पर होने वाले कार्यक्रम में शरीक होने एवं अन्य जनवादी कार्यक्रमों में हिस्सा लेते रहने को उनकी प्रतिबद्धता से जोड़कर देखा तथा छेदालाल मूढ़, खेमसिंह नागर या हरपाल सिंह आदि जनकवि एवं लोककवियों के ऊपर के.पी. सिंह के पहली बार क़लम चलाने को जनवादी सांस्कृतिक सजगता के तौर पर देखा।

जवरीमल्ल पारख ने इस अवसर पर कहा कि उन्हें खेद है कि व्यक्तिगत कारणों के चलते पिछले माह हुए के.पी.सिंह के अभिनंदन समारोह में वे नहीं जा सके। के.पी सिंह के साथ उनके रिश्ते की गरमाहट उनके वक्तव्य में थी। उन्होंने के.पी. सिंह और नमिता सिंह द्वारा 'वर्तमान साहित्य' पत्रिका की ज़िम्मेदारी ऐसे वक़्त में लेने को एक चुनौती के तौर देखा, जब वह अपने कठिन दौर से गुज़र रही थी। 'जन नाट्य मंच' की ओर से अशोक तिवारी ने के.पी. के जाने को जनवादी-सांस्कृतिक आंदोलन के लिए एक गहरा आघात बताते हुए कविता 'पहाड़' पढ़ी, जो उन्होंने अपने प्रिय के.पी. के निधन पर लिखी थी। दिल्ली जलेस की ओर से सचिव बली सिंह ने अपनी बात रखी। इशरत आलम ने के.पी. सिंह को अपने विद्यार्थी जीवन से लेकर आख़िरी दिनों तक याद किया। उन्होंने के.पी. सिंह के द्वारा विभिन्न मोर्चों पर किये गये कामों को भी रेखांकित किया।

निर्मला जैन ने यह अफ़सोस जताया कि वे के.पी. सिंह पर निकलने वाले अभिनंदन ग्रंथ के लिए लेख न लिख सकीं। उन्होंने के.पी.सिंह द्वारा राखी बँधवाने की घटना का भी ज़िक्र किया। के. पी. का जाना उन्होंने एक भारी क्षति के तौर पर देखा। राजेंद्र यादव ने के.पी. सिंह को साहित्य का एक महान व्यक्तित्त्व बताया।

इस अवसर पर रेखा अवस्थी ने शोक-प्रस्ताव पढ़ा। कार्यक्रम में उपस्थित अन्य हस्ताक्षरों में महासचिव मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, दिल्ली जलेस की कार्यकारी अध्यक्ष मैत्रेयी पुष्पा, कथाकार संजीव, अजय नांवरिया, देवेंद्र चौबे, हीरालाल नागर, नीरज, बृजेश मोहन, संजीव कौशल आदि प्रमुख थे।

अशोक तिवारी

मूल्यनिष्ठा और प्रतिबद्धता के लिए प्रभाष जोशी और कुँवरपाल सिंह याद किये गये

कौशल किशोर

लखनऊ के लेखकों व संस्कृतिकर्मियों ने वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी व मार्क्सवादी आलोचक कुँवरपाल सिंह को याद किया और कहा कि प्रभाष जोशी और कुँवरपाल सिंह अपनी मूल्यनिष्ठा व प्रतिबद्धता के लिए हमेशा याद किये जाएँगे तथा इनकी जगह लंबे समय तक भरी नहीं जा सकेगी। जन संस्कृति मंच ने 10 नवंबर, 2009 को इनकी याद में लेनिन पुस्तक केंद्र, (लालकुआँ) लखनऊ में शोकसभा का आयोजन किया।

इस अवसर पर जसम के संयोजक व कवि कौशल किशोर, जनवादी लेखक संघ के डॉ गिरीशचंद्र श्रीवास्तव, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर रमेश दीक्षित, नाटककार राजेश कुमार, अखिलेश मिश्र ट्रस्ट की वंदना मिश्र, 'अलग दुनिया' के के.के. वत्स, कवि भगवान स्वरूप कटियार व बी.एन.गौड़, डॉ. राही मासूम रज़ा अकादमी के रामकिशोर, लेनिन पुस्तक केंद्र के प्रबंधक [illegible] प्रसाद, लेखक सुभाषचंद्र कुशवाहा व रवींद्र कुमार सिन्हा, पत्रकार शालिनी वाजपेई, 'कलम विचार मंच' के प्रतुल जोशी आदि ने अपनी शोक संवेदनाएँ प्रकट कीं।

प्रभाष जोशी के प्रति शोक प्रकट करते हुए वक्ताओं ने कहा कि हिन्दी के वे अपने जातीय व ठेठ बुद्धिजीवी थे और आज के मीडिया के बाजारू व पतनशील पक्ष पर जीवन के अंतिम समय तक उन्होंने लिखा और अभियान चलाया। बाबरी मस्जिद गिराये जाने के समय, जब मीडिया का अच्छा-खासा हिस्सा संघ व भाजपा के सांप्रदायिक अभियान में शामिल था, प्रभाषजी इस अभियान के ख़िलाफ़ डटकर खड़े हुए। प्रभाष जी कभी-कभी अपने चाहने वालों के बीच भी अपने कुछ विचारों को लेकर विवादित रहे, लेकिन इन विवादों से ज़्यादा उनकी ईमानदारी, सादगी और लोकतांत्रिक निष्ठा की अपील रही। लोकतांत्रिक व नागरिक मूल्यों की हर क़ीमत पर हिफ़ाजत जैसी दुर्लभ दृढ़ता उन्हें हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बनाती है।

कुँवरपाल सिंह को याद करते हुए वक्ताओं का कहना था कि उन्होंने साहित्य, समाज व राजनीति के क्षेत्र में करीब पाँच दशक के आसपास काम किया। वे बैठकखानों में बैठकर मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य लिखने तथा गोष्ठियों व सम्मेलनों में उस पर चर्चा करने तक अपने को सीमित कर देने वाले लेखक नहीं थे, बल्कि सामाजिक जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र रहा हो, जहाँ कुँवरपाल सिंह की सक्रियता न रही हो। सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ संघर्ष का प्रश्न हो या धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की स्थापना के लिए पहल लेनी हो, लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार हो या जनता के मुद्दों पर बतौर एक नागरिक हस्तक्षेप का सवाल हो—एक कर्मनिष्ठ व मूल्यनिष्ठ बुद्धिजीवी के रूप में वे हमारे सामने आते हैं। इसीलिए अपने इर्द-गिर्द उन्होंने लोकतंत्र पसंद तथा संघर्षशील मित्रों की अच्छी कतार खड़ी कर ली थी। इस कतार में छात्र, कर्मचारी, लेखक, संस्कृतिकर्मी, शिक्षक, राजनीतिज्ञ आदि शामिल थे।

वक्ताओं का कहना था कि उन्होंने न सिर्फ़ हिन्दी साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की, बल्कि वे एक अच्छे संगठनकर्ता तथा एक्टिविस्ट भी रहे। जहाँ 'नदी के द्वीप' में बसने वालों की कुंठा, संत्रांस और अजनबीपन के प्रति कुँवरपाल सिंह की आलोचना का निर्मम रुख़ रहा, वहीं 'बलचनमा', 'मुरदाघर', 'धरती धन न अपना' आदि कृतियों में उन्हें नयी रचनाशीलता का विकास दिखता है। वे सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में जनवादी लेखकों को संगठित करने के उस राष्ट्रीय अभियान का हिस्सा थे, जिसकी परणति जनवादी लेखक संघ की स्थापना में हुई थी। वे माकपा से जुड़े थे और कई बार यह उनकी सीमा बन जाती थी, फिर भी आज जब वैचारिकी को पार्श्व में धकेला जा रहा है प्रगतिशील लेखन में विचारधारा को गौण बनाया जा रहा है, विचार से विचलन व फिसलन हिन्दी लेखकों में प्रवृत्ति का रूप लेती जा रही है ऐसे समय में कुँवरपाल सिंह वामपंथ के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिक दृढ़ता तथा विचार व व्यवहार की एकरूपता के लिए हमेशा याद किये जाएँगे। उनकी यह विशेषता प्रेरक है।

नाटककार राजेशकुमार ने उनके व्यक्तित्त्व की चर्चा करते हुए कहा कि कुँवरपाल सिंह संवाद करने, विचारों का आदान-प्रदान करने तथा कॉमन मुद्दों पर मिलकर काम करने में विश्वास करते थे। वे जानते थे कि राजेश कुमार जन संस्कृति मंच से जुड़े रचनाकार हैं, लेकिन जसम से जुड़ा होना कभी भी उनके साथ काम करने में बाधा नहीं बना। वे संवाद, आलोचना व आत्मालोचना की पद्धति में विश्वास करते थे। अपने इन्हीं गुणों की वजह से वे अपने विरोधियों के बीच भी स्वीकृत और सम्मानित थे।

कौशल किशोर

संयोजक, जन संस्कृति मंच, लखनऊ

जनवादी लेखक संघ मुरादाबाद

प्रख्यात साहित्यकार, समालोचक व साहित्य,कला और सोच की पत्रिका, वर्तमान साहित्य के संपादक प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह के लंबी बीमारी के बाद दिनांक 8 नवंबर को अलीगढ़ में हुये निध न पर शोक सभा का आयोजन, जनवादी लेखक संघ मुरादाबाद के तत्वाधान में जिगर कालौनी मुरादाबाद में किया गया जिसकी अध यक्षता गीतकार श्री माहेश्वर तिवारी ने की। शोक सभा में श्री कुँवरपाल सिंह को श्रद्धांजलि देते हुये श्री ओंकार सिंह 'ओंकार' ने कहा, 'प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह ने 'वर्तमान साहित्य' नामक पत्रिका का संपादन करके जन-भावनाओं को सरल, सरस और सटीक शब्दों में अभिव्यक्ति दी। उन्होंने साहित्यकारों के जनवादी विचारों को जन-जन तक पहुँचाने का कठिन कार्य सफलतापूर्वक किया। प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह ने विपरीत परिस्थितियों में भी सांप्रदायिकता, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ वैचारिक युद्ध जारी रखा। वे हमेशा अपने लेखो में किसानों, मज़दूरों, दलितों और महिलाओं की हिमायत करते रहे।

श्री बलवीर सरन रस्तोगी ने कहा कि प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह समाजवादी मूल्यों के अथक योद्धा थे। वे देश के असंतुलित विकास का कारण सत्ताधारियों की पूँजीवादी व जनविरोधी नीतियों को मानते थे जो व्यक्ति के जीवन को पूँजी-केंद्रित बना रहीं हैं।

ज़िला संयोजक मुशर्रफ़ अली ने कहा कि चूंकि उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोगों की सारी मानवीय संवेदना को समाप्त कर दिया है इसलिये उनके लेखन में हमेशा मानवीय पक्ष प्रबल रहा है। उन्होने अपनी वसीयत में यह लिखा कि मेरे मरने के पश्चात मेरा शरीर मेडीकल कालिज को दान कर दिया जाये ताकि छात्र मेरे मरने के बाद मेरे शरीर का इस्तेमाल चिकित्सकीय ज्ञान को हासिल करने के लिये करें। दिनांक 8 नवंबर, 09 को उनकी मृत्यु के बाद उनकी वसीयत का पालन करते हुये उनका शरीर मेडीकल कालिज को दे दिया गया। उनका यह कार्य उनके विचारों को व्यवहार में उतारने का ही नतीजा था।

सभा में कामरेड भगवानदास शर्मा, का. शरीफ़ अहमद, वी. डी. शर्मा विकास नेगी, चन्द्रपाल सिंह आज़ाद, डाक्टर मज़हर अली आदि उपस्थित रहे।

शोक सभा का समापन करते हुये अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री माहेश्वर तिवारी ने कहा कि प्रोफ़ेसर कुँवरपाल सिंह ने प्रेमचंद, नागार्जुन, राहुल आदि की परंपरा को आगे बढ़ाया और उसे आम आदमी तक पहँचाने मे सफल रहे। आज उनके लिये सच्ची श्रद्धांजलि उनके अधूरे कामों को पूरा करके ही दी जा सकती है।

मुशर्रफ़ अली

संयोजक जनवादी लेखक संघ, मुरादाबाद

म.गां. अं. हिं. वि.वि., वर्धा में श्रद्धांजलि सभा

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में प्रो. कुँवरपाल सिंह के असामयिक निधन पर श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति प्रो. नदीम हसनैन ने श्रद्धांजलि देते हुए कहा कि "प्रो. सिंह आजीवन उन मूल्यों के लिए लड़ते रहे, जो मूल्य एक सच्चे कम्यूनिस्ट को ईमानदार और साहसी बनाते हैं। उन्होंने कहा कि वे हमेशा साहित्य को घाटे का सौदा कहते रहे और मानते भी रहे।"

साहित्य विद्यापीठ के अधिष्ठाता प्रो. सूरज पालीवाल ने कहा कि "प्रो. सिंह उन अध्यापकों में थे, जो अपने विद्यार्थियों और अपने साथियों को परिवार से भी ज़्यादा मानकर चलते थे, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका परिवार बहुत बड़ा था। विश्वविद्यालय में ऐसे परिवारों की अध्यापक कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन उम्मीद वे ऐसी ही करते हैं। लेकिन, प्रो. सिंह इस मामले में अपवाद थे। हम लोग उनके प्रिय शिष्यों में रहे हैं और उनके इस आचरण के प्रति गर्व का अनुभव करते हैं।'' 'इप्टा' से लंबे समय तक जुड़े रहे और विश्वविद्यालय में विशेष कर्त्तव्याधिकारी के रूप में कार्य कर रहे श्री राकेश ने प्रो. सिंह को याद करते हुए कहा कि ''मैं उनसे भारत ज्ञान विज्ञान समिति और लेखक संगठनों में निरंतर मिलता रहा, उन्हें सुनता रहा, उनमें जो निष्ठा विचार के प्रति थी, वह दुर्लभ है। इसलिए, वे जब-जब मिले, तब-तब मेरी आस्था उनके प्रति और अडिग हुई। इस अवसर पर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. के.जी. खांमरे, मास कम्यूनिकेशन के प्रो. अनिल चमड़िया, डॉ. कृपा शंकर चौबे तथा विश्वविद्यालय के अन्य कर्मचारी व छात्र बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

अमित विश्वास, वर्धा

प्रो. कुँवरपाल सिंह के निधन से हिन्दी-जगत को अपार क्षति हुई है। वनस्थली विद्यापीठ के हिन्दी विभाग से तो उनका विशेष जुड़ाव रहा। लगभग ढाई दशक तक वे विभाग की विभिन्न गतिविधियों में सक्रिय सहयोग एवं मार्गदर्शन करते रहे। हमें निरंतर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते रहे।

प्रो. सिंह का व्यक्तित्त्व कबीर की तरह साफ़गोई से युक्त था उनके अंदर किसी तरह का द्वंद्व नहीं देखा। कथनी-करनी की एकता उनकी विशेषता रही। प्रो. सिंह ने हिन्दी को जनवादी परंपरा से जोड़ते हुए लोक-संस्कृति और सामाजिक-संस्कृति को साहित्य में प्रमुखता दी। सांप्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद जैसी संकीर्णताओं का विरोध किया।

प्रो. सिंह का सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त व्यक्तित्त्व हमारे लिए सदैव प्रेरणास्रोत रहेगा। साहित्य के माध्यम से वे सदैव हमारे बीच रहेंगे। हम विभाग के सभी साथी एवं छात्राएँ उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

डॉ. मीनाक्षी श्रीवास्तव, वनस्थली विद्यापीठ

It is with deep sorrow that I learnt of a towering comrade,Prof. K.P. Singh's demise.The news had been a great shock and brought with it a deep sense of grief which I experienced amidst recalling the sweet memories of the times which we spent together during more than 25 years of our relationship.

Very hardly I could gather the courage to come in terms with the reality and write a condolence letter to his family which for me is an extended family as well.My deepest condolences to his family.

The Lord has a reason for every thing, he does so take it that it was his time to go home.He will always be remembered and his life be an ongoing process,be it not by him living it but by the way he lived it.

K.P. has served AMU and his people with zeal and enthusiasm during all crisis.It must sometimes have been desperately difficult to keep going, as one who was there,I know what burdens we used to place upon him and how lovingly he responded.He was an elected member of Executive council with highest vote.

Without an iota of doubt I would say that KP had dedicated his whole life to the cause of humanity,wheather be it demolition of Babri Masjid,attack on Iraq or riots he would always take initiatives to demonstrate against all kinds of injustice and oppression.He often used to organise candle peace marches to restore mutual confidence n brotherhood. He organised the largest protest march against USA(ATTACK ON IRAQ). I can never forget the speach made by him at AMU staff club on demolition of Babri Masjid. He was really crying.There are innumurable incidents which provide testimony to the fact that KP was a real fighter, never bothered the consequences n repercussions which may have harmed him.

He surely was a hero, who in a way has elevated to a higher level of immortality in the greater scheme of things. May his wisdom guide us as we collectively strive to make this world a better place for future generations. Always desired a hate free socity. It pains me to send condolences to his family b'cos it makes this reality more real for me. Neverth less I was privileged to have known a true soldier, a patriot to the end.

I pray that his family finds the courage and determination to bear this irrepareable loss by accepting the fact that KP had served the human kind n brought justice , fairness and equality to many.

With his death AMU has lost a tall scholar and a sincere almuni & alas the void thus created can never be filled. To hand over his body to JNMC,AMU infact exihibit his degree of attachment and love with his alma mater.

" Hazaroan saal nergis apni benoori pe roti hai'
Badi mushkil se hota hai chaman mein deedawer paida
May his humble sprit live on and his soul rest in peace.

Hasan Mateen ul Islam
SOUTHE DEPARTEDL

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY

Condolence Resolution on the sad demise of Prof. K. P. Singh

This meeting of the Aligarh Muslim University community expresses its deep sense of grief and sorrow on the demise of noted Hindi critic and scholar, Prof. K. P. Singh, former Chairman, Department of Hindi and former Dean, Faculty of Arts, who expired on 8th November 2009 after a prolonged illness. He was 74.

Born on 6th June 1937 in a farmer family in Kailora Village, Aligarh district, Prof. Singh obtained the degree of BA in 1959, MA in 1961 and Ph.D. in 1969 from AMU. He joined the University services as Lecturer in 1966, became Reader in 1977 and Professor in 1985. For him teaching was not merely a means of compulsive routine but an important tool of building character and transforming students into a worthwhile instrument to the accelerate the course of change in the society for the benefit of the country.

Professor Singh was a good researcher and prolific writer. He has made invaluable contribution to the enrichment of academic life. He had authored six books and edited nine books. He was also Editor and Co-editor of several Hindi magazines and produced 15 research scholars. He has edited six books of Dr. Rahi Masoom Raza and his monograph on Dr. Raza was published by the National Academy of Letters.

Dr. K. P. Singh was elected as a member of all the AMU statutory bodies like Academic Council, Executive Council and the University Court. He served the University as a Chairman, Department of Hindi, Dean Faculty of Arts, Provost MRSC, Coordinator NSS, Chief of University Employment Bureau, Member Incharge Public Relations and Coordinator of University Extension Lecture.

He was member of several Selection Committees of the Public Service Commission and other Universities. Prof. Singh played an important role in promoting communal harmony. He considered illiteracy and communalism as a national threat and dedicated his life for the eradication of the scourge. He was an advocate of composite culture and organized several symposium and workshops to promote Urdu language and literature as well. The great ideals and traditional values of Aligarh Muslim University lived in his persona and he remained to be an epitome of the **Aligarianism** that an **Aligarian** is known for the world over.

On October 25, 2009 he announced in a public function to donate his body to the Jawaharlal Nehru Medical College Hospital for dissection and students' learning. He has created a history and set an example for others by donating his body for the noble purpose of medical studies and higher learning in this field and thus helping the humanity in his own characteristic unassuming way. He joined the communist movement in order to fulfill his quest for some panacea for the suffering of the humanity.

Prof. Singh is survived by his wife Dr. Namita Singh, former Principal, Tikaram Girls College, son Sourabh Singh, a Bio-scientist in USA and daughter Sumita Singh, both alumni of this great seat of learning.

This meeting of staff and students of Aligarh Muslim University mourns his sad demise and places on record heartfelt condolences. We express our deep sympathy to his bereaved family. May his soul rest in peace and give courage to the family members to bear the irreparable loss and vacuum created by his untimely departure.

Presented By : Registrar, AMU, Aligarh

DEPARTMENT OF MODERN INDIAN LANGUAGES

A condolence meeting was held on 10.11.09 at the Department of Modern Indian Language to express grief and sorrow on the demise of Prof. K.P. Singh.

Prof. K.P. Singh will be remembered for his love and affection towards the department and his efforts for the development of Modern Indian Languages, as a member of Board of Studies and Dean, Faculty of Arts, A.M.U., Aligarh. We express our deep sorrow on the sad demise and convey our condolences to the bereaved family.

Dr. S.R. Siras
Chairman,

UGC ACADEMIC STAFF COLLEGE, AMU, ALIGARH

On behalf of the UGC Academic Staff College, AMU, Aligarh I convey to you our heartfelt condolence on the said demise of Professor K.P. Singh. His patronage of our Academic Staff College had been a source of great strength and inspiration for all of us. Kindly convey my personal condolence to your daughter Sumita as well. I share your grief.

Prof. A.R. Kidwai, Director

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ख़ामशी पे ख़त्म-ए-सफ़र का गुमां न कर...

8 नवंबर.... दोपहर... पहली बार हुआ, जब नमिता जी, मैं और पिछले दिनों उनकी सेवा में रत कालीचरण—कोई भी समझ नहीं पा रहा था कि प्रो. कुँवरपाल सिंह क्या कह रहे हैं। वे बार-बार कुछ कहते, पर ध्वनि में वर्णक्रम पकड़ में नहीं आता। ध्वनि की तीव्रता बढ़ती, आरोह-अवरोह आते, पर उच्चरित अक्षरों को पहचान पाना लगभग असंभव था। लगता था जैसे सारे अक्षर मिलकर एक हो गये हों, अक्षरों का एक कोरस हो... क्या पता कि हम बार-बार उनसे बात करने की कोशिश कर रहे हों, लेकिन उनका संवाद 'समय' से हो रहा हो...हम कोशिशों में लगे रहे उन्हें सुनने की...डॉक्टरों को बुलाने की...एम्बुलेंस मँगाने की...

सहसा लगा कि समय थम गया, शायद उसने भी रुककर ख़ुद से संवाद करने वाले को सुनना चाहा... मगर हमारे देखते-देखते समय से संवाद करने वाला यह शख़्स समय पर सवार हुआ और ऐड़ लगाकर सरपट दौड़ पड़ा...

सामने का गतिशील दृश्य स्टिल में बदल गया... हमने देखा कि उत्ताल तरंगों वाला समुद्र जैसे ऐन ज्वार के वक़्त थम गया... द्रुत में बजता राग सहसा रुक गया... लुकाठी हाथ में लिए गरजती आवाज़ मौन हो गयी... जैसे सभी दिशाओं में फैल गयी... प्रकृति की अनुगूँज में बदल गयी... और हम उस अनुगूँज में डूबे सन्नाटे के शिलाखंड पर एक विराट् शून्य में गहरे उतरते गये...

मेरी कल्पना में चित्र उभरता है एक नौजवान का, जो सुदूर देहात से अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय जैसी महान अकादमिक और नवाबी तहज़ीब के लिए जानी जाने वाली संस्था में पढ़ने के लिए आया है। यह माहौल उसके अब तक के संसार से बिल्कुल भिन्न है.. उठने-बैठने, बोलने-चालने, पहनने-ओढ़ने, खाने-पीने, मिलने-जुलने, आस्था-विश्वास—सभी में भिन्न। इसका न यहाँ कोई भाई-बंधु है, न रिश्तेदार, न अज़ीज़। यह इदारा है, जहाँ (उस समय) अमीर-उमरा के ख़ानदानी तहज़ीब और ज़बान की बारीक़ी को तरज़ीह देने वाले तालिब इल्म हैं और ऐसे ही माहौल में पले-बढ़े और घिस चुके उस्ताद हैं। मुमकिन था कि यह नौजवान 'टोपी शुक्ला' ही होकर रह जाता, पर वह तो 'समय से संवाद' करने पर आमादा था। उसने वही किया... और वह विश्वविद्यालय की धड़कन बन गया। यहाँ तक कि वह विश्वविद्यालय से पहचाना जाने लगा और विश्वविद्यालय उससे।

वाक़ई यह हैरतअंगेज़ है कि 'के.पी.' अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के केंद्रीय व्यक्तित्त्व बने रहे। विश्वविद्यालय के अनेक विभागों और पदों को तो सँभाला ही, उसकी सभी विधिक संस्थाओं के लिए उन्होंने चुनाव लड़े और पहले नंबर पर जीते, इतने वोटों से कि दूसरा प्रत्याशी उनके आधे वोट बमुश्किल पाता। लेकिन, विश्वविद्यालय उनकी पहली और आख़िरी मंज़िल नहीं रहा।

उनकी समूची जीवनचर्या और विचार-प्रक्रिया में 'समय' और 'लोकतंत्र' महत्त्वपूर्ण हैं। जिस समय में हम हैं, उसमें लोकतंत्र सबसे बड़ा मूल्य है। के.पी. साहब ने लोकतंत्र के एक-एक पाठ को अपने भीतर उतार रखा था। अनेक रूपों में यही मूल्य था, जो उनको बेचैन करता था और जिसका वे ख़्वाब देखा करते थे। उनके लेखन और कर्म दोनों में अशिक्षा, अज्ञान और अंधविश्वास तथा जाति, वर्ण, धर्म और लिंग भेद के विरुद्ध संघर्ष और कुलीन बनाम जन-संस्कृति एवं धनी बनाम निर्धन का जो विमर्श है, वह लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के सपने को सच करने का ही प्रयास है।

उन्होंने ख़ुद अंतर्जातीय विवाह किया, तो अपनी बेटी को भी वह हक़ दिया। पत्नी को कॉमरेड के रूप में स्वीकारा और आजन्म इसी रूप को निबाहा। हमने दोनों के बीच हर मुद्दे पर आसानी से ख़त्म न होने वाली बहसें देखी हैं, मगर उनके 'पुरुष' को कभी हावी होते नहीं पाया। यह भी उल्लेखनीय है कि नमिता जी ने भी इस कॉमरेडशिप का कीर्तिमान स्थापित किया। मैं अक्सर यह सोचा करता हूँ कि इस घर में 'निजी' या 'व्यक्तिगत' क्या है ? दोपहर तीन-साढ़े तीन बजे सिंह साहब घर लौटते और सर्दियों में पाँच बजे एवं गर्मियों में छह बजे से लोगों का आना-जाना शुरू... यह क्रम रात तक चलता... सहकर्मी, दोस्त, छात्र, विभिन्न संगठनों के सदस्य... उनके लिए यह सब एक कुनबा था। उनकी ज़िंदगी के सभी अहम कामों, निर्णयों में हम सबकी भूमिका होती... इस घर की हवा में यह भाव घुला-मिला था, तभी तो उनके बीमार होने और न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय हमीं लोगों ने लिये और ने उन्हें स्वीकार किया। इन निर्णयों में किसी भी तरह कोई उत्तर-कार्य न किये जाने का निर्णय भी था, यद्यपि कुछ रिश्तेदारों की राय अलग थी। डॉक्टर साहब के के निर्णय से सहमति व्यक्त करने के बावजूद सौरभ सुमिता द्वारा कोई हिचक न दिखाना उनकी ट्रेनिंग का हान था... सच कहूँ, तो उनका शरीर मेडीकल कॉलिज को सौंपते और काग़ज़ों पर दस्तख़त करते कुछ तो मेरे ा भी हो रहा था, गोकि इस बात को प्रकट नहीं होने दिया

"मज़बूत बनो... पोलाइट बट फ़र्म..." डाक्सा'ब के शब्द हैं... अधिकांश लोगों का मत था कि के.पी. सिंह बहुत हैं... चट्टान की तरह... लेकिन जो लोग उनके नज़दीक हैं, वे जानते हैं कि वैचारिक रूप से अडिग रहने वाले इस ानी व्यक्तित्त्व के कंधे के बिल्कुल पास एक विशाल निर्मल थी, जो असंख्य स्नेह-निर्झरों का स्रोत थी; जिससे न जाने ने अपनी प्यास बुझा चुके थे। इसमें अकूत-अक्षय जल-राशि , जो ज़रूरत से ज़्यादा उँड़ेलने की आदी थी और यही वह ह थी, जिससे कुछ लोग उनके विरोधी बन जाते थे। ये वे हैं जो अपनी पात्रता से अधिक पाते रहे और उस 'पाने' कृतज्ञता अनुभव करने की जगह 'पाते रहने' को अपना मान बैठे। ज़िंदगी में सिर्फ़ एक बार मैंने उन्हें 'रिग्रेट' के में देखा, जब उन्होंने कहा था—"क्या करता अजय, मेरी ंग पार्टी की ट्रेनिंग है... मैंने हमेशा पार्टी को, उसके सदस्यों प्राथमिकता दी है... लेकिन आज लगता है कि 'व्यक्ति' भी देखना चाहिए...।"

मगर, यह बस एक बार था। आत्मालोचन वे सदैव करते , मगर पछतावा नहीं। 'उन स्थितियों में वही सबकी राय थी, ठीक था...।' सबकी राय उनके लिए महत्त्वपूर्ण थी, मसले विभाग के हों, समाज के हों, राजनीति के हों, पत्रिका के या फिर परिवार के... हर मसले पर विचार-विमर्श करते और निर्णय या एक्शन वही होते, जो उस दौरान् उभरते।

'एक्शन' उनके लिए महत्त्वपूर्ण था। 'गोदान' के संवाद प्रायः उद्धृत करते, कहते—"काश, तुम्हारी ज़बान में जितनी कत है, उसकी आधी बाजुओं में होती...।" मुझे तो अक्सर ाड़ते—"आइडियाज़ तो बहुत हैं, पर उन्हें कार्यान्वित तो करो. ।" जो विचार कार्य रूप में परिणत न हो सके वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। कुछ लोग प्रायः कहा करते कि "यह के.पी. सिंह ने क्या किया..." वे नहीं जानते थे कि के.पी. सिंह लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विश्वास रखने के कारण सौ फ़ीसदी की तो सोचकर ही नहीं चलते, और काम्य दिशा में आगे बढ़ने को उपलब्धि मानते थे—'देयर विल बी नो ड्रास्टिक चेंज... बढ़ते रहो...।' सचमुच, लोकतांत्रिक व्यवस्था में छोटी-छोटी सफलताएँ हासिल करते रहना ही बड़ी बात है। हमने देखा है कि किस तरह क्रांतिकारी लफ़्फ़ाज़ी करने वाले व्यक्ति पदों पर बैठे लोगों के सामने अपनी बात कह पाने के हक़ को भी एसर्ट नहीं कर पाते।

रिटायरमेंट के काफ़ी बाद, जब उनका स्वास्थ्य भी गिरने लगा था, उन्होंने एक मीटिंग बुलायी। 'वर्तमान साहित्य' अलीगढ़ से निकालने का प्रस्ताव और यदि निकाला जाए, तो उसका स्वरूप क्या रहे—यह एजेन्डा था। उर्दू और हिन्दी के अध्यापक—विश्वविद्यालय के भी और शहर के भी, इनके अतिरिक्त जनवादी लेखक संघ के कुछ सक्रिय सदस्य। राय हुई कि द्विमासिक निकले, मगर उन्होंने कहा कि मासिक निकलता रहा है, मासिक ही निकलेगा। प्रारूप फिर लोकतांत्रिक मूल्य पर आधारित था—हम दूर-दराज़ के इलाकों में रहने वाले साहित्यकारों को मंच देंगे... छोटे शहरों और क़स्बों की सांस्कृतिक उपलब्धियों को प्रकाश में लाएँगे... अभी हमारे देश का बहुलांश अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं के लिए जूझ रहा है, हम अत्याधुनिक विमर्शों में नहीं जाएँगे... दिल्ली के लिए हर चीज़ पुरानी पड़ जाती है, पर हमारी बड़ी जनसंख्या के लिए पिछली सदी में मिले क़ानूनी हक़ भी संघर्ष के मुद्दे हैं...

'वर्तमान साहित्य' निकला... मासिक निकला। कुछ लोगों ने मज़ाक में कहा—"दो-एक अंक निकलेंगे...।" मगर यह लोगों की भूल थी। हाथ तो कुँवरपाल सिंह के नौजवानी में भी काँपते थे, पर इरादे बहुत मज़बूत थे। वे सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक थे, अतः संगठन की शक्ति को जानते थे। संगठन बनाना और चलाना भी जानते थे। तभी तो वे समय से संवाद करने की स्थिति में थे।

'समय संवाद' करने वाले प्रो. कुँवरपाल सिंह अब मेडीकल छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिए उनके बीच मौजूद हैं और हमारे पास हैं, उनके विचार और कभी हिम्मत न हारने वाले उनके हौसले की विरासत... यह कॉलम उन्हीं का था और उन्हीं को शोभा देता था... मैंने इस बार उनको दोहराया भर है... यह इस कॉलम की अंतिम कड़ी है, कुँवरपाल सिंह के 'समय-संवाद' की नहीं, क्योंकि :

इस ख़ामशी पे ख़त्म-ए-सफ़र का गुमां न कर
आवारगान-ए-शौक नयी मंज़िलों में हैं।

अजय बिसारिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. कुँवरपाल सिंह का वक्तव्य

इस अवसर पर मैं अत्यंत प्रसन्नता महसूस कर रहा हूँ। ऐसा समारोह मित्रों एवं शिष्यों के द्वारा ही संभव है। ऐसे मित्र एवं शिष्य आज के उपभोक्तावादी समाज में बहुत कम देखने को मिलते हैं। उपभोक्तावादी समाज में मनुय 'व्यक्ति' हो सकता है सामाजिक प्राणी नहीं।

इस कार्यक्रम के बारे में मुझे ज़्यादा ज्ञात नहीं था, मुझे शिष्यों एवं मित्रों ने बताया कि आपको 25 अक्तूबर को एक कार्यक्रम में चलना है। लेकिन जहाँ तक मेरे संज्ञान में आया है कि इस आयोजन का बीज मित्र प्रो. प्रदीप सक्सेना ने बोया एवं मित्रवत् मेरे शिष्य श्री अजय बिसारिया ने रूपरेखा बना दी। मेरे अति आत्मीय शिष्यों में प्रो. रामवीर सिंह ने तो इसे अपना मुख्य ध्येय बना लिया और प्रो. सूरज पालीवाल, डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा, डॉ. राजीव शुक्ला और डॉ. देवेन्द्र गुप्ता ने इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए हरसंभव प्रयत्न किया। इस अवसर पर प्रकाशित ग्रंथ में शिष्यों, मित्रों एवं विद्वानों के लेख एवं संस्मरण है। मैं सबके प्रति आभारी हूँ।

मैं किसी कुलीन घराने में नहीं पैदा हुआ। कुलीन लोग जल्दी समझौता कर लेते हैं और कठिन समय में अपनी राह आसान कर लेते हैं। मैंने एक किसान परिवार में जन्म लिया और संघर्ष करता रहा हूँ। मेरी वास्तविक जन्म तिथि 2 अक्टूबर 1936 है, सर्टीफिकेट के अनुसार 6 जून 1937 है, इस प्रकार 8 महीने की डग्गेमारी।

मैं हाथरस से इण्टरमीडिएट कर सीधा अलीगढ़ चला आया। यहाँ पढ़ाई में मेरी प्रो. सतीशचन्द्र ने बहुत मदद की और प्रो. नुरुल हसन एवं बेगम हसन को अपने अभिभावक के रूप में पाया। और राही के रूप में एक अच्छा दोस्त मिला।

मैं किसान का बेटा था। गाँव में किसान आंदोलन से बचपन से ही जुड़ गया। इसी क्रम में वामपंथी राजनीति से नाता जुड़ा। सन् 1955 में अठारह वर्ष की आयु में पार्टी का सदस्य बना और फरवरी 1957 में पार्टी ने पूरी सदस्यता दे दी। पहले हाथरस में काम किया फिर अलीगढ़ में। छात्र संगठन एस.एफ.आई., शिक्षकों, मजदूरों और कर्मचारियों के संगठनों में कार्य किया। मेरे चालीस साल विश्वविद्यालय में व्यतीत हुए और आज मैं कहता हूँ कि मेरे सीने में उन चालीस वर्षों की संघर्ष यात्रा की यादें हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से मेरा रिश्ता व्यावसायिक न रहकर भावात्मक रहा है। विश्वविद्यालय से भी मुझे पूरा मान-सम्मान मिला। सभी संभव अकादमिक एवं प्रशासनिक पदों पर रहकर मुझे विश्वविद्यालय की सेवा करने का अवसर मिला। मुझे खुशी है कि मुझे अपने सहयोगियों से सहयोग एवं भरपूर स्नेह मिला।

अलीगढ़ सांप्रदायिक दंगों के लिए बदनाम रहा है। वास्तव में सांप्रदायिकता एक सामाजिक कोढ़ है। यह मनुष्यता विरोधी है। मनुष्य को मनुष्य से दूर करती है। सांप्रदायिक सद्भाव कायम रखने के लिए मैंने निरंतर प्रयास किया। इसे अपने सामाजिक क्रिया-कलापों एवं लेखन में प्रमुखता प्रदान की। मेरा व्यावसायिक जीवन हिन्दी विभाग से संबद्ध रहा। जिस समय मैंने हिन्दी विभाग में प्रवेश किया, उस समय हिन्दी विभागों की जो हालत थी उन पर ब्राह्मणवादी संस्कृति हावी थी। इससे देश का कोई विभाग अछूता नहीं था चाहे वह दिल्ली हो, अलीगढ़ हो अथवा जयपुर। इस संस्कृति के कर्णधार किसी भी प्रगतिशील व्यक्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, गैर ब्राह्मण और कम्युनिस्ट का तो सवाल ही नहीं। इन प्रतिक्रियावादी एवं रूढ़िवादी लोगों से कड़ा संघर्ष करना पड़ा।

131843

मैं विगत पाँच वर्ष से 'वर्तमान साहित्य' से जुड़ा रहा हूँ। 'वर्तमान साहित्य' जब अलीगढ़ से निकलने का निश्चय हुआ तो कुछ लोगों ने कहा कि इन काँपते हाथों से कैसे निकलेगा। यह बात मेरे कुछ शिष्यों एवं मित्रों को बुरी लगी और उन्होंने इसका प्रतिवाद किया लेकिन इस तरह की बात करने वाले भी कुछ शिष्य एवं मित्र ही थे। 'वर्तमान साहित्य' के 'समय-संवाद' में मेरा उद्देश्य अपने समय से टकराना ही है। ऐसी रचनाएँ लिखने की निरंतर कोशिश करूंगा, यदि जीवित रहा तो।

Central Library Gurukul Kangri University Haridwar-249404 (U.P.)

मैं बचपन की बात नहीं जानता, लेकिन पिछले पचास-पचपन सालों से मेरा जो सामाजिक दृष्टिकोण बना है, मैंने कोशिश की है कि मेरे व्यवहार और सोच में अंतर न रहे। मैं किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकांड में विश्वास नहीं करता। धार्मिक कर्मकांड और पाखंड का मैंने भरसक विरोध किया है। **मैं यह घोषणा करना चाहता हूँ कि मेरे बाद किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान न किया जाय और मेरा शरीर मेडिकल कालेज को विद्यार्थियों के अध्ययन के लिये दे दिया है। इस कार्य में मेरे परिवारीजनों की पूरी सहमति है। आशा है मेरे मित्र, सहयोगी और शिष्य मेरी इस भावना को पूरा करने में मदद करेंगे।**

बाहर से मेरे स्नेहीजन इस अवसर पर यहाँ आये हैं। यह मेरे लिये गौरव का विषय है। एक बार पुनः आप सबका आभार कि आपने मुझे इतना स्नेह एवं सम्मान दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुँवरपाल सिंह : अन्तिम यात्रा
(8 नवम्बर, 2009)

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./6

सृजन स्मरण

उठो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

जयशंकर प्रसाद

(1889 - 1937)

◇◇

दिल्ली सरकार
दिल्ली टीम - स्वच्छ करे सरकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar